आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ

भूमिका लेखक
राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद

सम्पादक मण्डल

१. डा० सतकरि मुखर्जी
२. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी
३. डा० हीरालाल जैन
४. प्रो० तान युन शान
५. डा० नथमल टाँटिया
६. मोहनलाल बाँठिया
७. जयचन्दलाल कोठारी
८. शुभकरण दसाणी

प्रबन्ध सम्पादक
कन्हैयालाल दूगड़

तेरापन्थ द्विशताब्दी के उपलक्ष में

प्रकाशक

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता—१

प्रथमावृत्ति

सन् १९६१

वि० सं० २०१८

प्रति संख्या

११००

मुद्रक

उमाकान्त मिश्र

युनाइटेड कमर्सियल प्रेस लि०

१, राजा गुरुदास स्ट्रीट,

कलकत्ता-६.

समर्पण

संयम श्रुत अध्यात्म ओजमय,
जीवन था जिनका अवदात।
आत्म-समर में जो जूझे थे,
सम्बल साहस का ले हाथ।
तेरापथ के आद्य प्रणेता,
जिन-शासन के सत् शृंगार।
उन ऋषिवर्य भिक्षु गणपति की,
संस्मृति में यह श्रुत उपहार।
उनके नवम पदानुग नायक,
तेरापथ के प्राणाधार।
श्री तुलसी के कर-कमलों में,
करते हैं अर्पित साभार।

—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

भूमिका

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।

दिसम्बर २३, १९६१

पौष २, १८८३ शक:

भारत भूमि की यह एक विशेषता रही है, जब जब जैसा आवश्यक हुआ, वहां महापुरुष उत्पन्न हुये हैं। जिन्हों ने अपने समय में फैली हुई बुराइयों और विकारों से लोहा लिया। उनका उन्मूलन करने के लिये जीवन भर लड़े। आचार्य श्री भिक्षु भी एक ऐसे ही महापुरुष थे। आत्म-साधना उनके जीवन का साध्य था। वे एक सन्त थे जो आम जनता की भाषा में बहुत सरल शब्दों में तत्व की खरी बात कहा करते थे। वे कोई काव्य सर्जन करना नहीं चाहते थे पर जो कुछ उन्हों ने कहा, वह साहित्य की एक बहुमूल्य निधि बन गया। अध्यात्म की जो बात उन्हों ने कही, आज दो शताब्दियां बीत रही हैं, महत्व जरा भी कम नहीं हुआ। आचार्य श्री तुलसी उनके नौंवे उत्तराधिकारी हैं।

आचार्य भिक्षु के अभियान की दो सदियों की पूर्ति पर आयोजित तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अवसर पर उस महापुरुष की स्मृति में आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ के प्रकाशन का निर्णय स्तुत्य है, और मैं इसका स्वागत करता हूं।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन कर श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ने उस दिवंगत महापुरुष के जीवन-सत्य और जैन दर्शन के नवनीत को जगत के सामने रखने का सुन्दर प्रयास किया है। मैं इस प्रयास की सराहना करता हूं और स्मृति-ग्रन्थ के विद्वान लेखकों तथा सम्पादक मंडल को बधाई देता हूं।

राजेन्द्र प्रसाद

PREFACE

...... Acharya Bhikshu Commemoration Volume is now being presented to the public, both academic and extra-academic. It is a veritable chrestomathy of interesting and informative articles written by students of Jainology in its various branches. We must congratulate the sponsors of the publication, on the occasion of the Bicentenary Celebrations, on their decision to invite scholars of different parts of India for contributions to this volume. The articles cover a large range of subjects bearing on Jaina culture and religion. They are in Hindi and English. The majority of the contributions are based on the individual researches of the writers who propound their views and theories which serve to throw light on various aspects of Jainology. It is too much to expect that the views expressed by the contributors, particularly on problems of controversial nature will be accepted as the last word. The Editorial Board have not thought proper to take liberties and give their reactions. The policy adopted by the Board is one of detachment which has permitted free expression of opinions without censorship. It may not be far from truth to hope that the articles, inspite of their speculative character, will stimulate thought and criticism, and in this way prepare the way for reappraisal of the value of Jaina culture. The contributions at any event give an idea of the encyclopedic character of Jaina literature and there has been no genire of literary and intellectual interest which does not find expression in the writings of the past Jaina authors. A dispassionate student of Indian thought has to admit that the community of Jaina monks have been indefatigable in their literary pursuits from very ancient times down to the recent period. The Jaina literature in its various branches has, therefore, appeal to all classes of intellectuals. The Editorial Board will consider that their labour has borne fruit if the present volume be regarded as a fitting tribute of homage to the Founder and First Pontiff of the Terapanth School. In conclusion the Board of Editors express their sincere gratitude to the learned contributors for their co-operation.

Nava Nalanda Mahavihar,
Nalanda.
7-11-61

—Satkari Mookerjee

दो शब्द

अठारहवीं शती के महान् क्रान्तिकारी सन्त तेरापंथ के प्रवर्तक प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री भिक्षु द्वारा की गई अध्यात्म-क्रान्ति को आज दो शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। उस महामानव द्वारा लगाया गया अध्यात्म का वह छोटा-सा पौधा आज सहस्रशाखी वट वृक्ष के रूप में पल्लवित, पुष्पित, और सुफलित है।

इन गौरवशाली दो शताब्दियों की पूर्णता के उपलक्ष में जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह की विराट् आयोजना की गई। इस अवसर की शाश्वत स्मृति के लिए आचार्य श्री भिक्षु की समस्त तात्त्विक कृतियों व साहित्यिक शैली में पौराणिक आख्यानों तथा भारतीय संस्कृति व जैन दर्शन सम्बन्धी साहित्य के प्रकाशन की एक बृहत योजना बनाई गई। इसके साथ-साथ यह विचार भी उभरा कि इस ऐतिहासिक अवसर पर उन गौरवास्पद महामहिम के कृतित्व के अनुरूप एक स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन भी किया जाना चाहिए। विचार बड़ा उपयोगी एवं सामयिक था। फलतः महासभा ने इस उपलक्ष में 'आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रंथ' के प्रकाशन का निश्चय किया।

एक ओर जहाँ आचार्य भिक्षु के जीवनवृत्त, उनकी आध्यात्मिक व साहित्यिक देन, उनकी संघ-परम्परा, उनके प्रति भाव भीनी-श्रद्धांजलियाँ आदि के विषय प्रस्तुत ग्रन्थ में रखे गए, वहाँ दूसरी ओर जैन दर्शन, जो सूक्ष्म गवेषणापूर्ण तत्त्व की दृष्टि से जगत् के दार्शनिक वाङ्मय में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, के विविध तात्त्विक पहलुओं एवं विवेचनीय स्थलों पर भी शोधपूर्ण तुलनात्मक सामग्री को इस ग्रंथ द्वारा प्रस्तुत करने का अभिप्रेत बना।

परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी एवं उनके आज्ञानुवर्ती श्रमण-श्रमणी वृन्द के आशीर्वाद एवं आध्यात्मिक प्रेरणा का परिणाम ही इस ग्रंथ का निर्माण है। सूझ-बूझ के धनी मुनिश्री नगराजजी तो आचार्यवर की ओर से नियुक्त हमारे मार्ग-दर्शक थे ही। ग्रन्थ की रूपरेखा-निर्धारण में उनका उर्वर चिन्तन ही क्रियान्वित हुआ है। उनकी अनवद्य प्रेरणा से ही मुझे आध्यात्मिक बल और आत्मविश्वास मिला है।

ग्रंथ के सम्पादन का एक गुरुतर दायित्व सामने था, जिसे निभाने में अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हुईं; पर उन कठिनाइयों को पार कर आज हम इस ग्रंथ को आपके समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

यह हमारा सौभाग्य रहा है कि इस ग्रंथ की गरिमा के अनुरूप ही देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों का सम्पादक मण्डल के रूप में हमें महत्त्वपूर्ण सहयोग एवं साहचर्य प्राप्त हो सका। विशेष रूप से नव नालन्दा महाविहार के डाइरेक्टर, जैन, बौद्ध व वैदिक दर्शन के मार्मिक विद्वान् डा० सतकरि मुखर्जी, वैशाली प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीच्यूट के भूतपूर्व डाइरेक्टर, जैन दर्शन के उद्‌भट विद्वान् डा० हीरालाल जैन और नव नालन्दा महाविहार के रिसर्च प्रोफेसर, वैशाली प्राकृत जैन रिसर्च इन्स्टीच्यूट के वर्तमान डाइरेक्टर एवं भारतीय वाङ्मय एवं दर्शन के प्रखर विद्वान् डा० नथमल टाँटिया ने इस महान् साहित्यिक कार्य की सम्पन्नता में जो अहर्निश श्रम किया, वह सर्वदा स्मरणीय रहेगा।

इसी प्रकार सम्पादक मंडल के अन्य सम्मान्य विद्वानों ने भी इस कार्य को अपना समझते हुए हमें जो योग दिया, वह सर्वथा स्तुत्य है।

सम्पादक मंडल के सदस्य, विचारक व तत्त्ववेत्ता श्रद्धेय श्री मोहनलाल बाँठिया एवं तेरापंथ दर्शन के अधिकृत विद्वान् व जैन भारती के भूतपूर्व सम्पादक श्री जयचन्दलाल कोठारी, तथा साहित्य वेत्ता श्री शुभकरण दसाणी का भी मैं चिर आभारी हूँ जो समय-समय पर ग्रंथ व निर्माण-व्यवस्था में उचित परामर्श व योग्य निर्देशन देकर कार्य को उत्तरोत्तर आगे बढ़ाते रहे।

देश के उन विद्वानों के भी हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपनी गवेषणापूर्ण रचनाएँ इसमें दीं, जिनके कारण यह ग्रन्थ तत्त्वज्ञानमूलक व अनुशीलनीय सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हो सका है।

महासभा के तत्कालीन अध्यक्ष व सुदीर्घ समाज सेवी श्रीमान नेमचन्दजी गधैया की समय-समय पर दी गई प्रेरणास्पद शिक्षाओं ने ग्रन्थ को सांगोपांग सुन्दर बनाने में काफी मदद की है। अतः मैं उनका तो सदा कृतज्ञ हूँ ही।

श्रद्धेय श्री मोहनलाल बैद (भूतपूर्व उपमंत्री, महासभा), श्री भीखमचन्द दूगड़ तथा श्री केवलचन्द नाहटा (वर्तमान उपमंत्री, महासभा) ही इस ग्रंथ के आयोजन एवं उस आयोजन की सफलता के वास्तविक हकदार हैं। इन्हीं के धैर्य, साहस और अथक परिश्रम का यह फल है कि हम इस ग्रंथ को आपके सामने इस रूप में रखने में समर्थ हो सके हैं। वैशाली प्राकृतिक जैन रिसर्च इन्स्टीच्यूट के रिसर्च स्कालर भाई विमल प्रकाश जैन, श्री जगदीश प्रसाद, श्री दामोदर शास्त्री तथा श्री छगनलाल शास्त्री भी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने ग्रंथ की सजावट व प्रूफ संशोधन आदि में अथक परिश्रम किया है।

तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था की उपसमिति के तत्कालीन संयोजक श्री प्रभुदयाल डाबड़ीवाला का भी इस कार्य में विशेष सहयोग रहा है। समाज के अन्यान्य साथियों के भी हम कम कृतज्ञ नहीं हैं, जिन्होंने प्रतिदिन इस कार्य में अपना सौहार्दपूर्ण सहयोग प्रदान किया।

एक बात के लिए हम अपने पाठकों, साहित्य के ग्राहकों तथा अन्य महानुभावों से क्षमा चाहेंगे कि ग्रंथ को निश्चित अवधि तक आपलोगों के समक्ष हम प्रस्तुत नहीं कर पाये। मुद्रण आदि को लेकर ऐसी कठिनाइयाँ हमारे सामने रहीं कि चाहते हुए और अथक प्रयत्न करते हुए भी हम वैसा नहीं कर सके। पाठक हमारी विवशता को दृष्टि में रखते हुए हमें इस विलम्ब के लिए क्षमा करेंगे।

अनेक बाधाओं और विघ्नों को पार कर अब इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को तत्वानुरागी पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। आशा है विद्वत्समाज में यह समुचित स्थान पाएगा एवं इससे वे अन्तःस्फूर्ति एवं आत्म-जागरण की प्रेरणा ग्रहण करेंगे।

नेशनल के० एण्ड फ० वर्क्स,
कंकर बाग रोड, पटना-१
दीपावली, वि० सं० २०१८,
दिनांक : ७-११-६१।

कन्हैयालाल दूगड़

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

THIRD SECTION

प्रथम खण्ड

अभिनन्दन

एवं

श्रद्धाञ्जलियाँ

प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा

आचार्य श्री तुलसी

प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा ।
बढ़े चलें, हम रुकें न क्षण भी यह दृढ़ संकल्प हमारा ॥ध्र०॥
प्राणों की परवाह नहीं है प्रण को अटल निभायेंगे ।
नहीं अपेक्षा है औरों की स्वयं लक्ष्य को पायेंगे ।
एक तुम्हारे ही वचनों का भगवन् ! प्रतिपल सबल सहारा ॥१॥ प्र० ॥

ज्यों-ज्यों चरण बढ़ेंगे आगे स्वतः मार्ग बन जायेगा ।
हटना होगा उसे, बीच में जो बाधक बन आयेगा ।
रुक न सकेगी, मुड़ न सकेगी, सत्य क्रान्ति की उज्ज्वल धारा ॥२॥

आत्म-शुद्धि का जहाँ प्रश्न है, सम्प्रदाय का मोह न हो ।
चाह न यश की और किसी से भी कोई विद्रोह न हो ।
स्वर्ण विघर्षण से त्यों सत्य, निखरता संघर्षों के द्वारा ॥३॥

आग्रहहीन गहन चिन्तन का द्वार हमेशा खुला रहे ।
कण-कण में आदर्श तुम्हारा पय मिश्री ज्यों घुला रहे ।
जागें स्वयं जगायें जग को हो यह सफल हमारा नारा ॥४॥

नया मोड़ हो उसी दिशा में नई चेतना फिर जागे ।
तोड गिरायें जीर्ण-शीर्ण जो अन्ध रूढ़ियों के धागे ।
आगे बढ़ने का यह युग है बढ़ना हमको सब से प्यारा ॥५॥

शुद्धाचार विचार भित्ति पर हम अभिनव निर्माण करें ।
सिद्धान्तों को अटल निभाते, निज पर का कल्याण करें ।
इसी भावना से भिक्षु का "तुलसी" चमका भाग्य सितारा ॥६॥
प्रभो ! तुम्हारे पावन पथ पर जीवन अर्पण है सारा ।

आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री बुद्धमल जी

हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा।
तुमने यहाँ बहाई जन जीवन में शम रस धारा॥

(१)

किसी कल्पनामय जीवन को, तुमने सत्य किया था।
और शन्यता को संयम की तुमने अंक दिया था॥
तभी मनुजता श्रद्धानत हो, चरणों में आई है।
युग युग के बन्धन टूटे हैं; नवजीवन पाई है॥
श्रद्धा के डगमग पैरों को, तुमने दिया सहारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको, यगवन्दन करता सारा॥

(२)

अपमानों के गरल घूंट तुमने शिव हो पी डाले।
किन्तु ढालते रहे मनज के लिए सुधा के प्याले॥
जनहित में निज जीवन को तुमने बलिदान किया था।
टूटे हुए नीति नभ को तुमने ही थाम लिया था॥
कांटों का पथ चना; फूल से करते रहे किनारा।
हे यगवन्द्य ! आज तुमको, युगवन्दन करता सारा॥

(३)

उठते थे वातूल; धरा यह डोल डोल जाती थी।
मन के भीषण ज्वार देख; मति भी मूर्च्छा पाती थी॥
फिरती हुई निराशाएँ यों व्यूह रचा करती थीं।
हो न अंकुरित कोई आशा, क्षारमयी धरती थी॥
फिर भी तुमने नव्य चेतना का अस्तित्व उभारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा—

(४)

बढ़े तुम्हारे चरण; धन्य हो गया स्वयं यह पथ भी।
हुई असंयम की 'इति' संयममय जीवन का अथ भी॥
इन पद-चिन्हों ने जीवन के पथ को सुगम बनाया।
इसीलिए जनवृन्द आज यह अनुगामी बन पाया॥
प्रभो ! तुम्हारे आदर्शों ने सबका जन्म संवारा।
हे युगवन्द्य ! आज तुमको युग वन्दन करता सारा॥
तुमने यहाँ बहाई जन जीवन में शम रस धारा॥

युग पुरुष आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री नगराजजी

हे महाप्राण युगपुरुष तुम्हारे, अथक चरण चलते थे।

गरज रहा था महाकाल-सा मेघ इसी अम्बर में
तीव्र अमा का तमो वेग था इस ब्रह्माण्ड विवर में

बरस रहे थे घोर घनोपल जगती के प्रांगण में
क्रूर हृदय इस पथ के भी प्रतिशोध छिपा कण कण में
विद्युत से तब दीप तुम्हारे साहस के जलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ।।१।।

मंजिल कितनी ऊँची है, कितनी है मार्ग विषमता
आरोहण था लक्ष्य बने क्यों अवरोहण से ममता
साथी कितने साथ रहे, कब झाँका तुमने मड़कर
वायु वेग से बढ़ते खग ज्यों , अंतरिक्ष में उड़कर
श्वास छोड़ते साथ, किन्तु विश्वास सभी पलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष ! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ।।२।।

कौन वह दुर्वेग कि तुमने रोका वह न रुका हो ?
कौन वह दुर्धर्ष कि तुमने झांका वह न झुका हो ?
कौन वह था सुमन कि तुमने सींचा वह न खिला हो ?
कौन वह था सत्य कि तुमने खोजा वह न मिला हो ?
प्रण की बात कहाँ तेरे तो स्वप्न सदा फलते थे,
हे महाप्राण युगपुरुष ! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ।।३।।

स्थितप्रज्ञ-सी सौम्य साधना संयम की अविकलता
कोसों तुमसे दूर रही अस्पृश्य मान कर खलता
प्रत्यत्पन्न मनीषा तेरी कभी न विचलित होती
शास्त्र सिन्धु को छान पिरोए मानवता में मोती
संघर्षों की अनल वृष्टि में स्मित मुख पर ढलते थे
हे महाप्राण युगपुरुष ! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ।।४।।

बना भूत का विषय आज पार्थिव अस्तित्व तुम्हारा
वर्तमान है किन्तु तुम्हारी दिव्य ज्ञान की धारा
तुम चले गए पर यहीं तुम्हारा धर्म-स्तूप खड़ा है
प्यार बने हैं जो कि विषम उद्‌गार तुम्हें मिलते थे
हे महाप्राण यगपुरुष ! तुम्हारे, अथक चरण चलते थे ।।५।।

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने

मुनि श्री पुष्पराज जी

वीर-भिक्षु आये भूतल पर, जीवन का संगीत सुनाने—
नई जागृति नवल क्रान्ति, औ नई चेतना लेकर आये,
नैतिकता की नवल रोशनी का, सुन्दर सन्देशा लाये।
जीवन क्या है? कैसे जीना? इन तत्त्वों का ज्ञान कराने

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥१॥

गरल द्वेष का उगल रहा था, मानव भी दानव सा बनकर,
मानवता भी काँप रही थी, स्वयं मनज के सम्मख घर घर।
सूई से मैत्री धागे में बिछड़े जनगण-हृदय पिरोने ॥

वीर भिक्षु आये भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥२॥

शोषण व अत्याचारों का, तुमुल तिमिर छाया धरती पर,
भूल रहा था मुक्ति लक्ष्य को, भटक रहा था मानव दर-दर।
आत्मिकता की विमल-ज्योति से, नैतिकता के दीप जलाने

वीर भिक्षु आय भूतल पर जीवन का संगीत सुनाने ॥३॥



हे ज्योतिपुञ्ज ! हे भिक्षुराज !!

मुनि श्री सुखलालजी

हे ज्योतिपुंज ! हे भिक्षु राज !
तेरे सुचरित संकेतों पर जन कोटि-कोटि चल रहे आज,
तुमने जो अगणित कष्ट सहे उनकी यह छत्री साक्षी है,
यहाँ से अथ ही होता है इतिहास अभी तक बाकी है,
सचमुच मुनि पुंगव भिक्षु प्रभो, तुम एक संत अलबेले थे,
तुम शीश हथेली पर रखकर, जीवन के रण में खेले थे,
उस तप औ सिद्ध साधना पर, हैं झुके अनेकों आज ताज ॥१॥

वादों के तुमल महारव में जब तुमने शंख बजाया था,
घनघोर आपदाओं में जब तुमने मस्ती से गाया था,
गिर पड़ी बहुत सी दीवारें जो भार नहीं सह सकती थीं :
ढह पड़ी बहुत सी मीनारें जो कभी नहीं ढह सकती थीं !
उसकी ही अमर प्रतिध्वनि यह तेरापथ में है व्यक्त आज ॥२॥

वह क्या साधक, जो शुष्क-हृदय जीवन का रस भी ले न सके,
अपने जीवन की गति विधि से जो नई प्रेरणा दे न सके,
देने लेने वालों को ही यह जगती सदा पूजती है,
उनके भ्रूके संकेतों पर वह हँसती और धजती है,
तेरे पावन पद चिन्हों पर चल पड़ा इसलिए जन समाज ॥३॥

रुकने वालों रस्ता छोड़ो, बढ़ने वालों को आने दो,
तुम अगर नहीं बढ़ सकते तो, जानेवालों को जाने दो,
यदि रोकेंगे भी तो उनको, वे कभी नहीं रुक सकते हैं,
जो खड़े स्वयं के पैरों पर वे कभी नहीं झुक सकते हैं,
तेरी इस वाणी में सचमुच चैतन्य जलधि है रहा गाज ॥४॥

आने वालों को आने दो मत धर्म द्वार को बंद करो,
पर याद रखो मत गले सड़े लोगों से अपना पंथ भरो,
जो सहज भाव से आता है मत रोको उसको आने दो,
जो सहज भाव से जाता है मत रोको उसको जाने दो,
तेरे इन विशद विचारों पर किस जन को होगा नहीं नाज ॥५॥

तुमने कब कष्टों के खातिर अपनी गति को अवरुद्ध किया ।
तुमने अपने इस मानस को धो-धो कर कितना शुद्ध किया,
बस इसीलिए तेरी वाणी वह भले कड़ी हो सकती थी,

पर कायरता उसमें अपना मुख छिपा नहीं सो सकती थी,
गुरुका क्या नहीं देव का भी रह सकता था उसमें लिहाज ॥६॥

आंखें खोलो सोचो समझो मत बुद्धि द्वार को बंद करो।
मत रूढ़ि-जाल में फंस करके आपस में कोई द्वंद्व करो
श्रद्धा का अपना स्थान अचल पर मत उसको बदनाम करो,
मत धर्म नाम पर भोलों को ठग-ठग कर अपना धाम भरो,
खुद तरे दूसरों को तारे ऐसे ही तुम तो थे जहाज ॥७॥

अथक और गतिशीलचरण इतिवृत्त नया गढ़ जाते !

मुनि श्री सुमेरमलजो "सुमन"

अथक और गतिशील चरण इतिवृत्त नया गढ़ जाते ॥ध्रुव०॥

चिन्तन का आलोक धरा पर दिव्य रूप पा जाए॥
तिमिर स्वयं हट जाय सत्य ज्योतिर्मय बनकर आए॥
नत है मस्तक विज्ञ, उसे केवल वे ही पढ़ पाते
अथक.............................गढ़ जाते॥

अगणित आवर्त्तों में मानव दिग् विमूढ़ बनता है।
कैसे पाये पार ज्ञेय-अज्ञेय द्वन्द्व ....ठनता है॥
समाधिस्थ हो प्रश्न, सुदृढ़ तम तरणी पर चढ़ पाते॥
अथक.............................गढ़ जाते॥

वर्तमान में सहज नहीं है श्रेय, भूत यों कहता।
इसीलिए हर महापुरुष जीवन में संकट सहता॥
मूल्य भविष्य गर्भ में, पर वे जन-जन में मढ़ जाते
अथक.............................गढ़ जाते॥

उप्त बीज शत शाखी बन वे फल परिपूरित होते।
भीषण तूफानों में जो क्षण भर भी कभी न सोते॥
स्मृति रहती अवशेष मगर बढ़ने वाले बढ़ जाते॥
अथक.............................गढ़ जाते॥

सत्य दृष्टि से तुमने उसको जोड़ दिया था !

मुनि श्री मोहनलालजी शार्दूल

युग की वेगवती लहरों में सब बहते हैं,
पर तुमने तो लहरों को ही मोड़ दिया था,
परम्पराएँ जो जीवन को बाँध रहीं थीं,
तुमने उनकी कड़ियों को ही तोड़ दिया था।

नभ जैसा विशाल मानस तुमने पाया था,
इसीलिये ही रुके न पथ में चरण तुम्हारे,
विद्वेषीजन कदम-कदम पर तीखी शूलें,
बिछा बिछा कर अपने आप स्वयं ही हारे,
निर्झर की गति रोके कभी न रुक सकती है,
जिसने तोड़ दिया बंधन पर्वत-काराका,
कौन थमा सकता है शक्ति लगा करके भी,
प्रखर वेग उसकी अविरल बहती धारा का,
आँख मीच कर गतानुगति से सब चलते हैं,
आँख खोल चलने का तुमने मोड़ लिया था ॥१॥

तुमने उद्‌घोष किया जब तक रवि विद्यमान
अन्धेर धरा पर कभी न टिकने पायेगा,
"पूरा संयम पल न सके पंचम आरक में"
यह कथन स्वयं ही आज कि कल मर जायेगा,
समता की पटरी पर तुमने जो कदम बढ़ाया,
इसीलिए वह नहीं कहीं पर स्खलित हुआ था,
बल-प्रयोग का चक्र घमाना व्यर्थ यहां पर,
जीवन का सुख इसी तथ्य में फलित हुआ था,
तुमने गहराई के इस पीयूष सिंधु में,
अपने मन का वसन स्वयं खंगाल लिया था ॥२॥

क्या-क्या बाधाएँ यमुना गंगा के पथ में,
आई नहीं, किन्तु वे फिर भी नित चलती हैं,
क्या न हुए हिमपात, कौन तूफान न मचले ?
किन्तु निरन्तर वैसे ही कलियाँ खिलती हैं,
तुम एकाकी और विरोधी लोग अनेकों,

किन्तु कभी क्या कोई मगपति घबराता है ?
उसका एक नाद ही वन को थर्रा देता,
स्वयं विजय का ऊँचा झंडा फहराता है,
जन साधारण तो जन मत से भय खाता है,
परंतु तुमने जन-मत को ही झकझोर दिया था ॥३॥

तुमने कहा अर्थ से मत मानव को आँको,
छोटे मोटे ऊँच नीच का भेद न डालो,
और विषमता की खाई को मत बढ़ने दो,
मन में हीन-भावना को तुम तनिक न पालो,
वैर-विरोधों में रहकर तुम उठ न सकोगे,
ऊसर में गिर बीज कभी न उभर पाता है,
तुच्छ बिंदु का तिरस्कार करते रहने पर,
सारा का सारा ही सिंधु बिखर जाता है,
टूट रहा था मानव अपने ही वादों में,
सत्य दृष्टि से तुमने उसको जोड़ दिया था ॥४॥

प्रतिपल-प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतियां

मुनि श्री पानमलजी

लिये आत्म विश्वास चले निर्भीक श्रेय के पथ पर,
सही सही शास्त्रों से सार निकाला तुमने मथ कर,
अनजाने लोगों ने रोका, और विरोध किया था
पर उन सब को तुमने सही दिशा का बोध दिया था,
तभी हमारी ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रही संस्कृतियाँ
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मतियाँ ॥१॥

लिखे सहस्रों पद्य समज्ज्वल लोह्-लेखिनी द्वारा,
जैन जगत में अविरल गति से बही क्रांति की धारा,
कोटि-कोटि जन आज तुम्हारे चरण चिन्ह पर चलते,
श्रेय मानकर सिद्धान्तों को जन हैं उनमें ढलते,
एक एक तेरी रचनाएँ बनी हैं अनुपम कृतियाँ
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मृतियाँ ॥२॥

तिमिराछन्न विश्व में तुमने अद्भुत दीप जलाये,
तूफानों के संघर्षों में भी सन्मार्ग दिखाए,
धरा हुई कृत कृत्य तुम्हारे जैसा मानव पाकर,
शत शत श्रद्धांजलियाँ अर्पित करते शीश झुकाकर,
ओ श्रद्धेय भिक्षु सब तेरी अमर बनी अनुकृतियाँ,
प्रतिपल प्रतिक्षण याद आ रहीं आज तुम्हारी स्मतियाँ ॥१३॥

आचार्य भिक्षु के प्रति

मुनि श्री नथमलजी

स्वामिन्! राह बता रे,
मार्ग दिश मार्ग दिश की ध्वनि,
अन्तर की सुन पा रे।
पथ उत्पथ सा लगता जिनको,
उनको कुछ समझा रे।
तूने ही तो समझाई थी,
धर्म मर्म की वाणी,
तुमसे ही तो एक आत्मता,
समझ सका था प्राणी,
प्राणी प्राणी की वह ममता,
आगे और बढ़ा रे।
ऊँच नीच के भेद भाव को
था तुमने तब तोला
पहन रखा था जब कि न्याय ने,
चंद बड़ों का चोला,
कौन व्यथा सुनता छोटों की
अन्तर दाह बुझा रे।
तुमसे मूक उपेक्षा पाते
अर्थ कि इसका होगा,
वही मिलेगी तुम्हें बड़ों से,
करतब साफल होगा,
बहुत कहा तूने थोड़े में
सफल हुई प्रतिभा रे।
जो कुछ तूने देखा, देखा
अन्तर दृष्टि सहारे,
इसीलिए तुमको कहती है,
बहिर दृष्टि दुनियाँ रे,
महावीर के तुमकि विरोधी,
जिन पर प्राण उबारे॥

ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !!

मुनि श्री मांगीलालजी 'मधुकर'

ओ ! राजस्थानी रत्न ! दिखाई तूने सुन्दर राह नई,
तम दूर हटाया दिनकर ज्यों, , तव ज्योति जगत में फैल गई ।
भीषण तूफानों से लड़कर, संदेश, सुनाया नगर ग्राम ।
ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !

खेला विपत्तियों से डटकर अपना सा मुंह ले स्वयं चली,
जीवन भर चलता रहा सत्य के आदर्शों पर आत्मबली,
तेरे नयनों का दिव्य-तेज आकर्षित कर लेता प्रकाम ।
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम ।

तुझ सा निस्पृह विरला ही मिल सकता इस भमंडल पर,
निर्भयता प्रकटित करती है जीवन घटनावलियां सुन्दर,
प्रिय शिष्य-हेम से भी बोले 'आलोचन से क्या तुझे काम'
ओ ! भिक्षुराज ! शत-शत प्रणाम !

हो मोह विवश बोली बआ मर जाऊंगी खाकर कटार,
'हलुवा पूरी तो नहीं' देव का उत्तर कितना वजनदार,
था जादू का सा असर अजब, तेरी वाणी में शान्ति धाम ।
ओ ! भिक्षराज ! शत शत प्रणाम !

'अवगण निकालते लोक' 'किसे रखने' सस्मित निकला मख से,
दोषों की झड़ी लगी सम्मख लिखता खुद बैठा अति सुख से,
कब आत्मान्वेषी अपयश सुन, अपने पथ से लेता विराम,
ओ ! भिक्षराज ! शत शत प्रणाम !

"आदर्श पुस्तकों तक सीमित मत रक्खो, जीवन में लाओ,
ओ ! महावीर की संतानो ! अब........ कायरता को छिटकाओ,
घर बार विभव तज कर निकले, कलयग कह कर बचना हराम"
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

यह गूंज रहा गंभीर घोष नव जोश सदा दिल में भरता,
निद्रित चिर मूर्च्छित मानस में चेतनता संचारित करता,
'मधकर' हृदयालय में सब के स्वर्णांकित तेरा अमर नाम,
ओ ! भिक्षुराज ! शत शत प्रणाम !

युगके महादानी रहेगा अमर तुम्हारा दान

मुनि श्री सम्पतमलजी

युग के महादानी रहेगा अमर तुम्हारा दान,
चिर ऋणी संसार रहेगा पाकर तेरा ज्ञान,
तीर्थंकर के तुल्य तुम्हारा होगा अति सम्मान,
जन-जन के प्रतिपालक बनकर तुमने जो उपकार किया है,
जन भाषा में आगम अनुदित कर तुमने जो सार दिया है,
आधार बनेगा जीवन का यह करने को उत्थान।
कला विज्ञ जीवन के हित तुमने क्या क्या निर्माण किया,
कला वही है जिसने क्षण क्षण जन मानस को त्राण दिया,
वैज्ञानिक विश्लेषक बन कर किया बहुत संधान,
एक एक है वाक्य तुम्हारा अटल और अनमोल,
सहज सरलता झलक रही देखें आँखें जो खोल।
कहना करना तुल्य रहा है नहीं कपट व्यवधान ।।
स्तुति सुन उत्कर्षित नहीं होते, नही भूलते मर्यादा,
महापुरुष भिक्षु का था जीवन, कितना सीधा सादा,
क्या कहकर मैं बतलाऊँ तुमको ओ युग के भगवान् !
जीना जीने के हित ही नहीं हुए तुम इस जग में,
कर दिया न्योछावर जीवन तुमने अपना संयम मग में,
प्रथम स्वयं आचरण किया,फिर दिया विश्व पर ध्यान ।।
शान्ति का सुन्दर सुपथ, तुमने अद्भुत तैयार किया,
चलकर चलना बतलाया था, चलने वाले से प्यार किया,
इसीलिए तुम बने महत् अरु दिया विश्व को विशद ज्ञान।
सत्य गवेषक अन्वेषक तेरा अनुप्राणित जीवन था,
एकाचार विचार एक औ ऐक्य परम जीवन धन था,
श्रद्धांजलि में स्वयं समर्पित हैं 'संपत' के तन मन प्रान ।।

हे प्रभु ! है यह तेरा पंथ

श्री रामकृष्ण भारती एम०ए०, बी० एल०,शास्त्री, साहित्य रत्न, विद्या वाचस्पति ।

यह है मेरा, यह है तेरा,
यह केवल दिखलावा है।
ये सब तो कहने की बातें,
यह सब मन का दावा है ॥

मेरे प्रभु का पंथ निराला,
नहीं कहीं वैषम्य यहां।
वैर नहीं, छल नहीं, कहीं भी,
तृष्णा, भय और राग कहां ?

ऊँच-नीच का भेद नहीं है,
बाल, वृद्ध नर औ नारी।
सब का है स्वागत इस मग में,
लड़ लड़ कर वसुधा हारी ॥

आओ, इक संसार बसाएँ,
जहां वास हो प्रियतम का।
ईर्ष्या, कलह, दूर हो जावें,
औदार्य, ममत्व जगे हिय का ॥

हे प्रभु, तेरा पंथ निराला,
प्यार, दया' ममता इसमें।
सत्य, अहिंसा का पथ है यह,
बकरी-सिंह चलें संग में ॥

यह तो पथ है सिद्धजनों का,
खाला का घर-बार नहीं।
निजता को यदि भूल सको तो,
पैर बढ़ाना तभी यहीं ॥

अहंभाव को चूर करोगे,
तब ही अधिकारी होगे।
पाहन-स्थल मिलेंगे पथ में,
पर तुम फूल कली दोगे ॥

क्षमा-भाव से, मित्र भाव से,
सबको गले लगाना तुम।
विष के प्याले पीने होंगे,
फिर भी बस मुस्काना तुम॥

हँस-हँस कर फाँसी झूलोगे,
तब भी तुम मुसकाओगे।
तेरा पथ है कठिन, कठिनतम,
यहाँ न मन बिलगाओगे॥

ईसा से पूछो कैसे वह,
हँस कर फाँसी झूला था।
सुनो, उधर सुकरात खड़ा है
पी विष-प्याला झूमा था॥

उधर खड़ा फरहाद दिवाना,
सौदाई मजनूं झूमे।
प्रेम-दिवानी मीराबाई,
तेरी प्रतिमा को चूमे॥

पूछ देख चैतन्य राम[1] से
पूछो विद्यापति ही से।
चण्डी दास, ताज[2] से पूछो,
जेबन्निसा कुमारी[3] से॥

हनूमान, शवरी से पूछो,
पूछो राधा प्यारी से॥
विप्र सुदामा से तुम पूछो,
पूछो नरसी भाई[4] से॥

धन्ना, पीपा, नामदेव से,
ज्ञानदेव से ही पूछो।
गांधी से पूछो, हे साथी,
संत बिनोबा से पूछो॥

१—स्वामी रामतीर्थ।
२—राजकुमारी ताज।
३—औरंगजेब की पुत्री॥
४—गुजराती के कवि॥

गौतम से पूछो, हे साथी,
महावीर श्री स्वामी से।
तुलसी, सूरदास से पूछो,
पूछो तुम रसखानी[5] से ॥

आलम से पूछो अथवा तुम
पूछो शेख पठानी से।
नानक से पूछो दादू से,
जाकर पूछो बन्दे[6] से ॥

पूछो गुरु गोविन्द सिंह से,
अथवा उसके लालों से।
भीखण[7] स्वामी से तुम पूछो,
छज्जू भक्ति अमी चंद से ॥

बाल हकीकत, ध्रुव, प्रह्लाद से,
अभिमन्यु शैदाई से।
दुर्गावती लक्ष्मीबाई से,
पूछो तुम नेताजी से ॥

पूछो विडसर[8] से जाकर तुम,
पूछो भक्त कन्हाई[9] से।
तेरा पंथ सभी से ऊँचा,
अद्भुत, उत्तम है सबसे ॥

वास यहीं है मेरे प्रभु का,
त्याग भाव का दर्पण है।
हे प्रभु, है यह तेरा ही पथ,
तेरे ही बस अर्पण है ॥

तेरा पंथ कहाता है यह,
तू इसका रक्षक स्वामी।
मेरा मुझ में नहीं कहीं कुछ,
तेरे अर्पण सब नामी ॥

कृपा करो हे नाथ, दयामय,
तेरे पथ पर चले चलें।
शूल फूल सम अपनाएं हम,
तेरी चरण शरण पकड़ें॥

५—हिन्दी के भक्त पठान कवि।
६—बन्दा वैरागी।
७—श्रीभिक्षु स्वामी—तेरापंथ के प्रथम आचार्य ॥
८—भूतपूर्व अष्टम एडवर्ड ॥
९—बंगला के भक्तकवि

महान् अभि निष्क्रमण

श्री रामकृष्ण भारती, शास्त्री, एम० ए०

जब-जब धर्म-ग्लानि होती है,
पाप निरन्तर बढ़ जाता।
तब-तब कोई महापुरुष,
धरती पर है भेजा जाता॥

स्वार्थ भाव से भरे सभी हम,
पर सार्थक जीवन उसका।
चिन्ता अपनी तनिक न जिसको,
जग परिवार बना जिसका॥

चले राम बनवासी बनकर,
मात-पिता आज्ञा मानी।
पाण्डव घूमे फिरे बनों में,
नहीं तनिक विपदा जानी॥

गौतम ने निज घर को छोड़ा,
राज्य तजा निज गृहिणी को।
सुत की ममता को भी त्यागा,
सुखी बनाया धरणी को॥

महावीर स्वामी की यात्रा,
भूल सका क्या मानव दल।
प्रियदर्शी अशोक-सुत-यात्रा,
अंकित सब के अन्तर पर॥

राजकुमारी संघमित्र[1] ने,
घर छोड़ा, वैभव त्यागा।
भाई को गुरु माना उसने,
लंका में था अलख जगा॥

शंकर, रामानुज, वल्लभ ने,
घर छोड़ा, परिवार तजा।
कष्टों की परवाह नहीं की,
फहराई थी धर्म-ध्वजा॥

१—राजकुमारी संघमित्रा॥

नानक, दादू, तुलसी ने भी,
पथ अपनाया शूलों का।
हार न मानी अडिग रहे वे,
मार्ग बनाया फूलों का ॥

दयानन्द, गांधी ने भी,
अपनाया मार्ग तपस्या का।
सत्य, अहिंसा को फैलाया,
मार्ग न पकड़ा हिंसा का ॥

भीखण स्वामी[२] की यात्रा का,
आज अनोखा अभिनंदन।
वे निकले थे ध्येय साधने,
तन, मन सब करके अर्पण ॥

नहीं दबाई अन्तर-वाणी,
आत्मा की आवाज अमर।
प्रकट हुई आचार-भिन्नता,
छोड़े सब वे आडम्बर ॥

धर्म-शिथिलता सह न सके वे,
वैचारिक मत-भेद हुआ।
समझौता स्वीकार न उनको,
मन में तनिक न खेद हुआ ॥

चैत्र-शुक्ल-नवमी के दिन वे,
निकल पड़े अपने पथ पर।
नहीं मिला था वास कहीं भी,
चल निकले वे छोड़ नगर ॥

आँधी औ तूफान भयानक,
बढ़ न सके आगे स्वामी।
बगड़ी गाँव रुके आकर वे,
छत्री ही आश्रय मानी ॥

था श्मशान का भीषण स्थल वह,
पर न तनिक भी भय माना।
बाधाओं, विघ्नों को सहकर,
विकट साधनों को ठाना ॥

२—आचार्य श्री भिक्षु स्वामी ॥

एकाकी चल पड़े मार्ग पर,
कष्टों की परवाह न की।
क्रान्ति-मार्ग के बने पथिक वे,
वैभव सुख की चाह न की॥

अन्तः श्रेयस पथ को पकड़ा,
क्रांति-मार्ग-अभियान किया।
सुधरी की नगरी से ही—
भीखण ने अभिनिष्क्रमण किया॥

धन्य आज वह छत्री, जिसमें,
स्वामी ने विश्राम किया।
साधु-सन्त-जीवन की शुचिता
पर पूरा बल, ध्यान दिया॥

सत्य, अहिंसा, प्रेम अमर हैं,
तीर्थंकर-संदेश अमर।
अमर क्रांति-सन्देश भिक्षु का,
आज भिक्षु का नाम अमर॥

गतानुगतिक रीति-विद्रोही,
धन्य भिक्षुवर, तुम्हें प्रणाम।
धन्य तुम्हारे तुलसी-गणिको,
धन्य धन्य है तेरा नाम॥

क्रान्ति-दूत आचार्य भिक्षुवर,
क्रान्ति-यज्ञ यह अमर रहे।
सुधरी का गौरवशाली दिन,
हमको कभी नहीं बिसरे॥

तुलसी जैसे सन्त-जनों की—
जीवन-वाणी हो प्रेरक।
अणुव्रत, महाव्रतों का पालन—
करने में जग हो उद्यत॥

धन्य तुम्हारी मात, कि जिसने,
तेरे जैसा लाल दिया।

धन्य पिता, गुरु, जिसने तुझको,
पाल पोस कर बड़ा किया ॥

पुण्य भूमि भारत है जिसमें,
जनमें ऐसे सन्त महान् ।
जिनका जीवन जग-हित अर्पित,
धन्य धन्य हे ! सन्त महान् ॥

लो वन्दन शत वार !

मुनि श्री रूपचन्दजी

संयम-धन के प्रहरी ! भिक्षो ! स्मृतियों के आधार,
दृढ़-प्रतिज्ञ कर्तृत्व तुम्हारा निखर रहा साकार ।

वृक्षों के झुरमुट से झाँका जब इस अवनी-तल पर,
मरझायी-सी, कान्तिहीन सी, देख इसे तुम जलधर !
आँसू बनकर ढुलक पड़े तुम धर मन में अनुकम्पन,
अनप्राणित हो नाच उठा प्यासी धरती का कण-कण,
इसके प्रति-अणु में अन्तर्हित तेरा ही आकार ।

तृषित वासना का संगम ही क्या मानव का जीवन ?
लहरों के जो सबल थपेड़ों से झुक जाए नत बन,
वह दीपक क्या स्नेह-सिक्त बन जलने को ललचाए ?
एक झकोरे से अपना जो चिर अस्तित्व लटाए,
तुम तो थे अभिताप ! जले बस अपने ही आधार ।

आज बने तुम केवल बस मानस की एक पहेली,
जीवन की नश्वर प्याली में अमृत घूंट उँडेली ।
अपने श्वासों के रथ पर ही प्राण-देव ! तुम आए,
तभी गगन मण्डल में अगणित ये तारे छितराए ।
इसीलिए युग नत-मस्तक है लो वन्दन शत वार ॥

ज्योतिर्मय के प्रति

मुनि श्री मणीलाल जी

ज्योतिर्मय ! अपनी किरणों से
अंधकार को
दूर भगाकर
जनमानस में
नवजीवन का
श्रोत बहा कर
एक नया
आलोक दिखाया।
घोर विपिन में
तमा-अमा थी
दिशा-प्रेत से काले बादल
विद्युत-लीला
साँय साँय करती भीषण रव
था पग पग पर
व्याकुल बाधाएँ
चलना मुश्किल
क्योंकि
कंटकाकीर्ण
और
ऊबड़ खाबड़
उजड़ा पथ था।
राह कहाँ
फिर भी
महामानव !
बढ़े चले तुम
प्यास लिए
विश्वास लिए
दिल में अभिनव उल्लास लिए
आभास लिए
आशा का मदु संचार लिए
पाने मंजिल
फिर हुआ उजेरा
नई किरण का
नया सबेरा।
फैली लाली
बाल-सूर्य की
आया—नभमें
उसे देखकर
सबके दिल में
फिर से नई चेतना जागी
सुस्थिर होकर
एक नजर मे
मुड़ कर देखा
साथी बिछुड़ गये हैं कितने
प्रगति के शिखरारोहण में
कोई रहा तलहटी पर ही
कोई थककर गिरा पड़ा है सम्मूर्च्छित सा,
गिरि-चट्टानों से टकरा कर लुढ़क गया है
शूलों की शय्या पर कोई
अतल अछोर खड़े खालों में
कराहता है कोई कोई।
देख दशा दु:खित दुनिया की
द्रवित हृदय
निर्भीक सदय
अपनी वाणी से
जन मानस के
हृदय-पटल पर
अमृत सींचा।
मुरझी कलियाँ
एक बार फिर से मुस्काई
अपने सौरभ से
सुरभित कर
मूर्च्छित जन को।
किया सचेतन

एक नया पथ
फिर से पाया
भूला भटका विस्मृत मानव
फिर से अपने घर पर आया
इसीलिए
संसार आज
नत मस्तक है
हे योगिराज !
लो कोटि कोटिशः
अभिनन्दन
लो भक्ति भरा
अनुरक्ति भरा
संयम से सशक्ति भरा।
यह अभिवन्दन
यह अभिनन्दन
ओ ! योगिराज !
ओ ! भिक्षु राज !!

सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल

मुनि श्री हर्षचन्द्रजी

भिक्षु ! तुम कर्म से ही नहीं नाम से भी भिक्षु थे, कहा जा सकता है कि तुम जन्मजात ही भिक्षु थे। भिक्षुत्व तुम्हारे रग-रग में, शोणित के कण-कण में, व्यवहार की कड़ी-कड़ी में रमा हुआ था, फिर भी वह कितना आश्चर्य था कि मरणान्तक परिस्थिति में भी तुमने जीवन की भिक्षा नहीं माँगी। तुम्हें वस्त्र, स्थान और आहार जैसी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संघर्ष करना पड़ा, विरोधों के उड़ा देने वाले तूफानों को सहना पड़ा, अभिशापों को मिटा देने वाले भूचालों से गुजरना पड़ा और वह भी उस समय जब कि सत्य के थोड़े से बलिदान पर तुम्हारे लिए समग्र सुविधाएँ उपलब्ध थीं, समाज का यश और सम्मान तुम्हारे मस्तक का मुकुट बनने को तत्पर था, लक्ष-लक्ष शुभाशीर्वाद तुम्हारे जीवन पथ के लिए तोरण द्वार बनने को लालायित थे, पर तुमने जीवन की भिक्षा नहीं माँगी। इससे भी आगे तुमने भिक्षु होकर भी भिक्षा देना प्रारम्भ किया। तुमने जीवन की भिक्षा दी, भटकते हुओं को आलोक दिया, बहते हुओं को द्वीप दिया, गिरते हुओं को चेतना दी और उसी दान में तुम्हारा भिक्षुत्व सहस्र गुणित होकर निखर उठा। भिक्षुत्व का प्रकाश उसी में तो है जो जीवन की नगण्य सी आवश्यकताओं की पूर्ति संग्रह और परिग्रह से उन्मुक्त रह कर भिक्षा से करता है और देता है जीवन को चेतना, आलोक और सजगता। भिक्षु ! तुम्हारे चरणों में अर्पित की जाने वाली श्रद्धांजलि भारतीय तप, त्याग और अध्यात्म वाद के लिए है। इन्हीं महान् श्रेयों की अर्चा के लिए, आराधना के लिए, अभिनन्दन के लिए तुम्हारा अर्चन, आराधन और अभिनन्दन किया जाता है। तथ्य-तो यह है कि तुम अपने जीवन से, आचार से और विचार से इस प्रकार के ज्योतिपुंज बने कि तुम स्वयं ही लक्ष-लक्ष जन-समूह के लिए श्रेय, आराध्य और उपास्य बन गए।

भिक्षु ! तुम असाधारण थे। तुम शरीर से असाधारण थे तभी तो तुम्हारी सारी काया शुभ लक्षणों, चिन्हों और रेखाओं से संकुलित थी। तुम जीवन से असाधारण थे तभी तो तुम्हारी चरण धूलि से अपने सिर को पवित्र करने के लिए सहस्रों लोग समुत्सुक रहते थे। तुम विचारों से असाधारण थे तभी तो युगों के पश्चात् भी असंख्य जनवन्द तुम्हें जानने, सुनने और समझनेको लालायित हैं। तुम निराले थे, अलौकिक थे। तुम जन्मे भी महान् बन कर, जीये भी महान् बनकर और आज सशरीर विद्यमान न हो कर भी अमर और महान् हो। लोग कहते हैं कि तुम चले गए परन्तु मुझे तो लगता है कि आज भी तुम उपस्थित हो, बन रहे हो, बना रहे हो अनगिनत भव्यजनों के जीवनों को। भिक्षु तुम शब्दों से—ऊपर हो, ध्वनि से दूर हो, आकृति से विलग हो। तुम्हारे पावन जीवन के प्रति मैं भी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ; और जैसे कि तुम हो, मेरी यह श्रद्धांजलि भी शब्दों से, ध्वनि से और आकृति से ऊपर, दूर और अलग ही है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल।

युग पुरुष आचार्य भिक्षु के प्रति

श्री श्रमण सागर जी

तुमने तो युग को आँक लिया, युग आंक नहीं तुमको पाया ।
तुमने तो युग को झांक लिया, युग झांक नहीं तुमको पाया ।।ध्रुव।।

(१)

युग स्रष्टा तुम इस नवयुग के नवस्रष्टा बन कर आये थे ।
भावी युग के संकेतों का, आलोक अनोखा लाये थे ।।
युग समझ नहीं पाया तुमको, तुमने तो युग को समझाया ।
तुमने तो युग को आँक लिया, युग आँक नहीं तुम को पाया ।।

(२)

अंकित की नई दृश्य रेखा, तुमने युगके प्राचीरों पर ।
रख दिया नये युग का लेखा, वाणी के तीखे तीरों पर ।।
युग अपना नहीं सका उसको, तुमने तो युग को अपनाया ।
तुमने तो युग को आँक लिया, युग आँक नहीं तुमको पाया ।।

(३)

तुमने अतीत के गीतों को, था वर्तमान में बाँध लिया ।
तुमने भविष्य के धागों को, था वर्तमान से साँध लिया ।।
युग उलझ रहा था उलझन में, पर तुमने युग को सुलझाया ।
तुमने तो युग को आँक लिया, युग आँक नहीं तुमको पाया ।।

(४)

युग से समझौता कर चलना, यह सत् पुरुषों की रीति रही ।
कुछ उसे ढालना; कुछ ढलना, युग पुरुषों की यह नीति रही ।।
युग सीख नहीं पाया तुमसे, तुमने तो युग को सिखलाया ।
तुमने तो युग को आँक लिया, युग आँक नहीं तुमको पाया ।।

आचार्य भिक्षु के प्रति

श्री सुपारस पगारिया 'चंचल'

(१)

युग से पीड़ित जन मानस था, युग की गंगा का जल खारा ।
और बहुत इनसान विवश था, बन करके असहाय बेचारा ॥
मंजिल उसकी दूर जहाँ पर, उसका सुन्दर रूप सलौना ।
तब तुम आये इस धरती पर, इस मिट्टी को करने सोना ॥

(२)

संस्कारों की कुछ रेखाएँ, बचपन की मिट्टी में खींचो ।
मुरझा कहीं न जाये किसलय, इतना मत पानी से सींचो ॥
उठी तरंगें इस मानस में, बदला ढाँचा फिर जीवन का ।
कब भय होता है नाहर को, बन में फिर एकाकीपन का ॥

(३)

शूल बिछाये निर्दय युग ने, बढ़नेवाले चरण रुके कब ।
तूफानों के घेरों में फिर, उठने वाले शीश झुके कब ॥
यही सत्यता इस जीवनके, संघर्षों से खेल रही है ।
उठनेवाली लहर कूल की; हर कठोरता झेल रही है ॥

(४)

तम को काली जंजीरों में, यह आलोक नहीं बँध सकता ।
इतनी गहरी नींवें जमी है, यह विश्वास नहीं हिल सकता ॥
मंजिल पर बढ़ने पैरों को, रुकना कभी नहीं भाता है ।
कार्यसिद्ध कर लें या फिर, उसमें ही जीवन मिट जाता है ॥

(५)

नया प्रवाह दिया तुमने था, संयम की बहती धारा को ।
ढहा दिया तुमने निज बल पर, स्थितिपोषकता की कारा को ॥
योग साधना का आलोकित, पथ तुमने ही किया धरा पर ।
सत्य तुम्हारे हर स्पन्दन में, निखर उठा हो; व्यक्त यहाँ पर ।

3/-15

ये स्वर अभिनन्दन बन जायें !

साध्वी श्री चन्दनबालाजी

चले गये तुम किन्तु तुम्हारे कार्य अमर बंदन बन आयें,
देव तुम्हारी कुसुमांजलि में ये स्वर अभिनन्दन बन जायें ।
शुष्क भूमि सरसब्ज बनाने महामेघ जब उमड़ पड़े तुम,
श्वेत हिमाचल में पल भू पर महावेग से बढ़े चले तुम ।
भीष्म दरारें प्रस्तर कांटों के चुभनों ने तुमको रोका,
झंझाओं के कड़े थपेड़ों ने देना चाहा था धोखा ।
साहस-वीर धीर कब रुकता विपदाएँ स्यन्दन बन जायें ॥१॥

जिन वाणी का टिम-टिम करना स्नेह दीप बुझनेवाला था,
स्नेह तुम्हारा आत्म समर्पण का दीवट में तब आला था ।
उतर पड़े थे महासमर में अपने को उत्तीर्ण बनाने,
विमल साधना से जीवन के कण-कण को आकीर्ण बनाने ।
इसी हेतु यह संघ संगठन जन-जन का जीवन बन जाए ॥२॥

संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है

साध्वी श्री कानकुमारी (सरदार शहर)

संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥ ध्रुव ॥
तेरे पथ पर इस धरती ने तीखे तीखे शूल लगाए ।
क्रान्त चरण के तीव्र गमन ने उन शूलों को फूल बनाए ॥
कोमल पथ पर चलने वालों का कब पद चिन्हित रहता है ।
संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥

जिस पथ में कजरारे बादल ने घनघोर तिमिर फैलाया ।
ज्योति किरण ! तेरे कण-कण ने उसमें नव आलोक जलाया ॥
तिल तिल कर जलने वालों का नाम सदा जीवित रहता है ।
संघर्षों में जीनेवालों का इतिहास अमर रहता है ॥

युग की निर्मित रेखाओं पर तब तक मानव चलता आया ।
जब तक तेरे नव चिन्तन बिन जग था सत्पथ से भरमाया ॥
इसीलिए संसार तुझे सदियों से युग स्रष्टा कहता है ।
संघर्षों में जीने वालों का इतिहास अमर रहता है ॥

भिक्षो ! तेरे पावन चरणों में है नत संसार

साध्वी श्री जयश्री

भिक्षो तेरे पावन चरणों में है नत संसार ।।ध्रुव ।।

आदि काल में किसने तेरा सत्य रूप पहिचाना ।
ज्योतिपुंज ! पर जग ने तुमको तिमिर रूप कर माना ।।
बूंद लिए आए थे लेकिन सागर बन लहराए ।
एक किरण से सकल विश्व यों आलोकित बन आए ।।
किसने सोचा बन पाओगे आशा के आसार ।

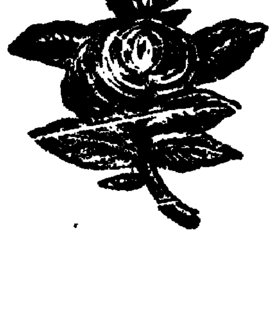
भिक्षो .... है नत संसार ।।

फूलों का संमोह त्याग जब शूलों पर थे चलते ।
घोर अमा में दीपक बनकर जगमें तुम थे जलते ।।
कष्टों से लोहा लेने को धरती पर तुम आए ।
अथवा जाने स्वर्ग लोक को यहां बसाने आए ।।
सदियों से भूले जीवन की तुमने ली संभार ।

भिक्षो .... है नत संसार ।।

दो तेरे चरणों के पीछे लाखों चरण बढ़े थे ।
दो तेरे वर्णों के पीछे लाखों वर्ण गढ़े थे ।।
तेरा पंथ बना है तेरे दर्शन का नवनीत ।
तेरा जीवन ही बन पाया इसका नव संगीत ।।
तुमको समझ सके इतना सा मिल पाए उपहार ।

भिक्षो .... है नत संसार ।।



भेंट में चिन्तन का नवनीत

साध्वी श्री कमलश्री

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ भिक्षु तुम्हारे गीत।
टूटे इन तारों से कैसे निकलेगा संगीत ॥ध्रुव॥

तेरे चेतनता के जग से, अब तक दूर कहीं हूँ।
किन्तु पहुँचने को उस तक मैं दृढ़ संकल्प रही हूँ॥
चरणों का इतिहास तुम्हारा, क्यों फिर भी अनधीत।
टूटे............... संगीत॥

ये अरमान सदा इस ओर अरे! ढलते आए हैं।
तेरी किरणोंमें मेरे ये प्राण सदा पलते आए हैं।
भौतिकता यह कभी न मुझ पर पा सकती है जीत।
टूटे............... संगीत॥

ऊषा की नीरवता में उठती हूँ तुमसे पाने।
विजन गुफाओं में जाती हूँ तुमको व्यथा सुनाने॥
तेरी लौ में जुड़ी न लेकिन स्खलित हृदयकी प्रीत।
टूटे............... संगीत॥

नहीं निराशा मुझे सताये, पथ को जान लिया जो।
संघर्षों से बनता जीवन, मैंने मान लिया जो॥
देव! चढ़ाऊँ चरण भेंट में चिन्तन का नवनीत।
टूटे............... संगीत॥



वही बना श्रद्धेय हमारा !

साध्वी श्री फूल कुमारीजी

वही बना श्रद्धेय हमारा !

सतत् साधना महासमर में अड़ा खड़ा जो वीर,
संघर्षों के बीहड़ पथ पर, जो चलता मति धीर,
सूत्रों के मन्थन चिन्तन में, उतरा जो बनकर गंभीर,
मरुस्थली को सरस बनाने, बहा सदा जो बन कर नीर,
कर्मवीर के कृत कृत्यों पर, चलना ही हो ध्येय हमारा,
वही बना श्रद्धेय हमारा।

निहित अहिंसा में ही सारी, दान दया पावन मीमांसा,
जगत बना तेरा आभारी, पाकर यह अभिनव परिभाषा,
समाधान समुचित पाते थे, आते जो लेकर जिज्ञासा,
परोपकृति में जुटे हुए थे, कभी नहीं फल की प्रत्याशा,
कर सर्वस्व समर्पण तुमने, लिया वीर वाणी का सहारा,
वही बना श्रद्धेय हमारा।

जो कल तक प्रतिकूल रहा, अनुकूल वही बनकर मिलता है,
कर्ण कटुक था वाक्य शूल जो, आज फूल बनकर खिलता है,
वही अमा का घोर तिमिर अब, सप्त शिखा बन कर जलता है,
सम्प्रदाय का अधिनायक जो, यदि सेवक बनकर पलता है,
अभिनन्दन शतबार उसी को, आज बना नयनों का तारा,
वही बना श्रद्धेय हमारा।

मेरा भी स्वीकार करो अभिवन्दन निश्छल

साध्वी श्री कनक प्रभाजी

प्रभो ! तुम्हारे चरण चिन्ह की रेखाओं पर,
आज मनुज के चरण स्वयं बढ़ने को तत्पर ।
तेरे युग नेत्रों से लक्षित साध्य सौध पर,
दृष्टि टिकी है आज मनुज की फिर से अविचल ।
तेरी युग्म भुजाओं में वह अनुपम बल था,
जिससे टूट पड़ी बन्धन की कुलिश बेड़ियाँ ।
तेरे चिन्तन मनन और अनुशीलन से थी,
जुड़ती जाती जैन जगत की टूटी कड़ियाँ ।
इसीलिए तेरे जीवन के पावन क्षण वे,
आज मनुज मन में करते हैं अभिनव हलचल ॥१॥
गति में था गांभीर्य किन्तु वह शिथिल नहीं थी,
मति में तीव्र विराग निराशा थी कब छाई ।
शक्ति स्वयं तेरी अर्पित रहती उपकृति में,
तृप्ति सदा तुमने संयम में ही थी पाई ।
तेरे शुभ कृत्यों पर स्तंभित है जग सारा,
मेरा भी स्वीकार करो अभिवन्दन निश्छल ॥२॥

आचार्य भिक्षु के प्रति

साध्वी श्री मञ्जुलाजी

महाप्रलय की दीर्घ निशा में एक दीप टिम-टिम जलता था,
जिसने जलने का व्रत ले आलोक दिया धुंधले जग को ।
जिसने चलने का व्रत ले चलना सिखलाया हम सबको
निष्क्रियता औ दीर्घ सूत्रता से वह मानव टलता था ॥१॥

अनुस्रोत में बहने वालों का इतिहास नहीं रहता है,
अमर रहा इतिवृत्त उसी का, प्रतिस्रोत में जो बहता है ।
फूलों का पथ छोड़ अरे वह अंगारों पर ही चलता था ॥२॥

संघर्षों को सहते-सहते जीवन में ज्योतिः भर आती,
विपदाओं में बहते-बहते अपने आप शक्ति मिल जाती,
संघर्षों में तेज पुंज बन कर वह एकाकी पलता था ॥३॥

स्नेहसिक्त ममता को पाकर उसका वज्र हृदय कब पिघला,
भीषण बाधाओं के आगे, दृढ़ निश्चय से वह कब बदला,
साध्य सरोवर में ही उसका, बस अन्तर मानस खिलता था ॥४॥

तेरापंथ की उद्भवकालीन स्थितियां

आचार्य श्री तुलसी

तेरापंथ एक सम्प्रदाय है जो आज से दो सौ वर्ष पहले प्रादुर्भूत हुआ। मैं जैन शासन को तेरापंथ से और तेरापंथ को जैन शासनसे भिन्न नहीं मानता हूँ। जैन शासन में अनेक सम्प्रदाय हैं। अनेक सम्प्रदायों का जो एक संहृत रूप है वह जैन शासन है। वृक्ष को शाखाओं से और शाखाओं को वृक्ष से भिन्न कौन कैसे मान सकता है ? शाखाएँ अनेक होती हैं पर वृक्ष की शोभा बढ़ाने के लिए उनमें अनेकता नहीं होती। एक महान् शासन की भी अनेक शाखाएं हुई हैं। जब वे शासन की श्री-वृद्धि में एक थीं तब तक अनेक होकर भी एक थीं। भगवान् महावीर के नौ गणधर थे, अनेक आचार्य थे, अनेक उपाध्याय थे (अनेक अन्य) और आचार और विचार में अनेकता नहीं थी, यह भी नहीं; सहस्रावधि श्रमण सर्वथा एक रूप हों, यह कोई मानस शास्त्री कैसे माने ? किन्तु अनेकता में समन्वय का धागा ऐसा था कि एकता अनेकता को अपनी शोभा बनाए चल रही थी। समय बीता, स्थितियाँ परिवर्तित हुई—अनेकता ने अपना आसन आगे बिछा लिया। आचार और विचार का चीवर फटता गया और समन्वय का धागा टूटता गया। इस स्थिति में जो सम्प्रदाय प्रादुर्भूत हुए वे व्यवस्था की दृष्टि से किये हुए विभाग नहीं हैं किन्तु परिस्थिति की देन हैं। तेरापंथ एक जैन सम्प्रदाय है। उसका उद्भव भी विशेष परिस्थिति में हुआ है।

भारत की अन्तर-आत्मा को जितना धर्म ने स्पर्श किया है उतना राज्य ने नहीं। भारतीय जीवन को धर्म ने जो मोड़ दिये, वे राज्य ने नहीं दिये। भारतीय मानस का सर्वोपरि आकर्षण धर्म रहा है, इसलिए उसने जितना रस धर्म-चर्चा में लिया है, उतना दूसरी चर्चा में नहीं।

चर्चा उसी की होती है जिसका महत्त्व होता है। धर्म का महत्त्व इसलिये है कि वह आत्मा का आलोक है। वह सम्प्रदाय में प्रतिबिम्बित होता है। धर्म व्यक्ति की साधना है और सम्प्रदाय है सम विचार तथा आचार की समन्विति। सम्प्रदाय में धर्म साकार होता है, और धर्म को पाकर सम्प्रदाय महत्त्वपूर्ण बनता है।

आचार्य भिक्षु स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। आठ वर्ष तक उसमें रहे। आगमों का ज्ञान प्राप्त किया, गुरु का वात्सल्य और संघ की श्रद्धा प्राप्त की। पर इस प्राप्ति में भी उन्हें एक अप्राप्ति का अनुभव हुआ। उन्हें लगा कि सूत्रों में मुनि का जो आचार बताया गया, वह मुनियों के जीवन में नहीं है। भगवान्-महावीर ने जो संयम का विचार दिया, उसका भी सम्यक् प्ररूपण नहीं है। यह एक तीव्र प्रतिक्रिया थी। इसीने तेरापंथ को जन्म दिया।

इतिहास का विद्यार्थी परिवर्तन के क्रम से अपरिचित नही होता। वह जानता है कि विश्व में ऐसा तत्त्व कोई नहीं है जो नये सिरे से उत्पन्न हो या सर्वथा विच्छिन्न हो जाए। जो हैं, वे हैं, और जितने हैं, उतने ही हैं। उनमें न तो राई मात्र घटता है और न तिल मात्र बढ़ता है। तो फिर प्रश्न होता है जो आज है, वह कल नहीं रहता और जो कल नहीं है, वह आज हो जाता है, यह क्या है ?

यही परिवर्तन का सिद्धान्त है। इतिहास इसीके आधार पर बनता है। जो जैसे हैं, वह वैसे ही रहें तो इतिहास किसका बने ? अपरिवर्तन और परिवर्तन दोनों एक साथ चलते हैं, इसीलिए नई-नई घटनाएं होती हैं और नया-नया इतिहास बनता है।

तेरापन्थ के प्रादुर्भाव का इतिहास भी घटनावलियों से रिक्त नहीं है। राजनगर के श्रावकों को समझाने के लिए आचार्य रघनाथ जी ने सन्त भिक्षु को भेजा। द्वन्द्व दोनों ओर था। श्रावकों के मन में मुनियों की आचार शिथिलता के प्रति रोष था। सन्त भिक्षु को आचार और विचार दोनों में खामी का अनुभव हो रहा था। श्रावकगण साधुओं को वन्दना करना छोड़ चुके थे। सन्त भिक्षु गण में विद्यमान थे। श्रावक आचार्य का विश्वास खो चुके थे। सन्त भिक्षु आचार्य के विश्वासपात्र थे। वे चाहते थे कि साध्य भी सधे और विग्रह भी न बढ़े। श्रावकोंमें सन्त भिक्षु के प्रति

विश्वास था और वे बुद्धि वैभव के धनी थे। उन्होंने श्रावकों को समझाया। वे भिक्षु की बात मान गए और पुनः वन्दना करने लगे। सन्त भिक्षु ने उनका भार अपने पर ओढ़ लिया। उनका अन्तर्द्वन्द्व प्रज्वलित हो गया। वे अपने आचार्य रुघनाथ जी के स्नेह-सूत्र में बँधे हुए थे। एक ओर वे और आचार्य के साथ रहना चाहते थे दूसरी ओर वे आचार का विकास चाहते थे। आचार्य उनकी बात मानें तभी इन दोनों स्थितियों का समाधान हो सकता था। राजनगर में रहते-रहते उन्होंने आगमों का गम्भीर अध्ययन किया। दीर्घ-चिन्तन के बाद भी उन्हें लगा कि जो विचार उन्होंने स्थिर किया है, वह भ्रान्त नहीं है। चातुर्मास पूरा हुआ। उन्होंने आचार्य के पास जाने को विहार किया। मार्ग में गांव छोटे थे। सुविधा की दृष्टि से सन्त भिक्षु ने वीरभाण जी को अलग भेज दिया। "पहले पहुँच जाओ तो राजनगर की स्थिति की चर्चा मत करना", यह उन्हें समझाया गया। पर समझ तो आखिर अपनी ही काम देती है। वे पहले पहुँचे। आचार्य ने पूछा– क्यों श्रावकों की शंकाएँ मिट गईं? वीरभाण जी बोले—उन्हें शंका थी कहां? वे सचाई पर थे। शंका कोई हो तो मिटे? हम भूल पर हैं। जानबूझकर अनाचार का सेवन जो कर रहे हैं। आचार्य स्तब्ध रह गए। वीरभाण जी अब भी मौन नहीं थे। वे बोले—यह तो नमूना है, पूरी जानकारी तो संत भिक्षु देंगे। सन्त भिक्षु की योजना को विफल करने का यह पहला प्रयत्न था। वीरभाणजी ने जो किया वह विरोधी भाव से नहीं किया। सारे कार्य विरोधी भाव से ही विफल नहीं होते। बहुधा अविवेकपूर्ण प्रयत्न भी स्थिति को उलझा देते हैं। जो बात को न पचा सके, असमय में ही प्रकाशित या प्रसारित कर दे वह मित्र भी शत्रु का काम करता है।

वीरभाणजी ने ऐसा ही किया। सन्त भिक्षु की योजना में बाधा उपस्थित हो गई। वे आचार्य की भावना में अपनी भावना को मिठास में घोल देना चाहते थे, वह नहीं हो सका। उनकी कला को अपना कर्तृत्व दिखाने का अवसर ही नहीं मिला। उन्होंने प्रथम दर्शन में आचार्य को असन्तुष्ट पाया। उन्होंने आचार्य को प्रसन्न करने का यत्न किया. अपनी भावना को नम्रता के साथ रखा। पर जो स्थिति जटिल हो चुकी थी, वह सुलझी नहीं। एक दिन अन्तर्द्वन्द्व सिमट गया। सन्त भिक्षु अपने आचार्य से पृथक हो गए। थोड़े-थोड़े मतभेदों को प्रधानता दे संघ से पृथक हो जाना, जैन परम्परा को विभक्त करना कैसा है? यह प्रश्न बहुत ही सहज है। जितना सहज है उतना ही चिन्तनीय। चिन्तनीय इसलिए है कि सब जगह मतभेद गूढ़ तत्त्वों से ही सम्बन्धित नहीं होते। बहुत बार मतभेद होते ही नहीं, कोरा आचार पालन का प्रश्न होता है। परन्तु आचार्य भिक्षु के सामने दोनों स्थितियां थीं। विचार भेद था ही और आचार पालन का ज्वलन्त प्रश्न भी। आधाकर्मी आहार (मुनि के निमित्त बनाया हुआ आहार) मुनि न ले, यह आचार है। इसमें कोई मतभेद नहीं था। आचार्य ने कहा—अभी इसे छोड़ना कठिन है, सन्त भिक्षु ने कहा—साधु जीवन सरल नहीं है, तब यह कठिन कैसे न हो? कठिनाई का वरण कर हम जो निकले हैं तो फिर कठिन मार्ग पर चलने में हमें भय क्यों हो? और भी ऐसे अनेक आचार थे, जिनके पालन में शिथिलता बरती जाती थी। वह आचार्य भिक्षु को सह्य नहीं हुई।[1] उस समय के साधु जो करते, उसे सिद्धान्त सम्मत मानकर करते, तब स्थिति दूसरी होती। उसमें चिन्तन को बहुत आगे चलाना होता। किन्तु यह स्थिति उसके विपरीत थी, बहुत स्पष्ट थी। इसलिए आचार्य भिक्षु को अपना पथ चुनने का निर्णय करना पड़ा। वि. सं. १८१७ चैत्र शुक्ला ९, के दिन धर्म क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। आचार्य भिक्षु के चरण नई दिशा में बढ़े। नियतिने एक नए सम्प्रदाय की नीवँ डाल दी। उस समय उसका भाग्य स्पष्ट नहीं था। उसकी सारी रेखाएँ भविष्य के गर्भ में थीं। वर्तमान जैसे-जैसे अतीत होता जाता है वैसे वैसे भविष्यवर्तमान बनता जाता है। एक दिन तेरापन्थ का उदय हुआ। आचार्य भिक्षु ने सुना कि जोधपुर में इस संघ का नामकरण हुआ है। उन्होंने उसे स्वीकार किया और तेरापन्थ का आलोक फैलने लगा।

प्रत्येक घटना पूर्व स्थिति की प्रतिक्रिया होती है। विलास-वैभव की प्रतिक्रिया ने भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध जैसे हजारों राज-पुत्रों को त्याग-प्रतिष्ठापन की ओर प्रेरित किया।

महर्षि दयानन्द ने मूर्ति पूजा का विरोध किया और आर्य-समाज की स्थापना की, वह कर्मकाण्डों की बाढ़ की प्रतिक्रिया थी। साधुओं की सुखशीलता और अनुशासनहीनता की प्रतिक्रिया ने तेरापन्थ को जन्म दिया।

१– उपदेश की चौपई ढाल

आचार्य भिक्षु ने अपनी रचनाओं (१८१ बोल की हुण्डी, साधां रै आचार री चौपई) में आचार शिथिलता पर प्रहार किया है। उन कृतियों से उस समय के साधुओं की आचार सम्बन्धी स्थिति पर पूरा प्रकाश पड़ता है। उनकी शेष रचनाएँ मुख्यतया वैचारिक मतभेद से सम्बन्धित हैं। संगठन को एक सूत्र में बांधे रखने और अनुशासन को मूल्यवान बनाने की उनकी सूझ मौलिक है या नहीं, यह विवादास्पद हो सकता है, किन्तु उसे क्रियान्वित करने और उसमें सफल होने का श्रेय आचार्य भिक्षु को है, यह निर्विवाद सत्य है।

आचार्य भिक्षु ने वि. सं. १८१७ (आषाढ़ पूर्णिमा को) तेरापन्थ की दीक्षा स्वीकार की।[1] इस कार्यक्रम में उनके साथ तेरह साधु थे। चार उनके पास थे और शेष नौ दूसरे गांवों में थे। इनमें से छः साधु ही (आचार्य भिक्षु सहित) तेरापन्थ में रहे, शेष सात उससे पृथक हो गए। संख्या और शुद्धि ये दो विकल्प हैं। आचार्य भिक्षु ने इनमें दूसरा विकल्प चुना। संख्या भले ही कम हो, शुद्धि अधिक रहे, इसी भित्ति पर उन्होंने तेरापन्थ का भवन खड़ा किया। पदलोलुपता के निवारण के लिए उन्होंने यह सूत्र दिया कि आचार्य एक हो। संगठन व्यवस्थित रहे, इसलिए उन्होंने मर्यादावलि का निर्माण किया। समसूत्रता के लिए उन्होंने अनुशासन को प्रोत्साहित किया। आचार और विचार की समरेखाओं के निर्माण में उनकी लेखनी ने अपना पूरा कौशल दिखाया। एक आचार्य, समान आचार और समान विचार, तेरापन्थ की ये तीन विशेषताएँ हैं। चिन्तन की पूर्ण स्वतन्त्रता है, किन्तु गण की मान्यता के प्रतिकूल हर सदस्य को विचार संस्थापन की स्वच्छन्दता नहीं है। उसके लिए प्रत्यक्षतः आचार्य की और परोक्षतः गणकी स्वीकृति लेनी होती है। विचार भेद होता है, यह सहज है, किन्तु अपने-अपने विचार का आग्रह हो तो संगठन का आधार सुदृढ़ नहीं रह सकता। अपने चिन्तन पर सत्य का विश्वास होता है, पर दूसरे का चिन्तन सत्य नहीं इसका आधार क्या? सत्य का निर्णय व्यवहार दृष्टि से होता है। निश्चय दृष्टिप्राप्त न हो उस स्थिति में एकान्तिक आग्रह का अधिकार भी कैसे प्राप्त हो सकता है। हमारे पास सत्य का मापदण्ड व्यवहार ही है, तब हम अपने चिन्तन को मृदु क्यों न रखें। इस चिन्तन के आधार पर आचार्य भिक्षु ने इस मर्यादा का निर्माण किया कि कोई नया तथ्य मिले तो बहुश्रुत मिलकर उसपर चिन्तन कर लें, अपना चिन्तन आचार्य तक पहुंचा दें और आचार्य जो अन्तिम निर्णय दें उसे मान्य कर लें[2]। यह व्यवस्था संगठन का सुदृढ़ आधार है। इससे आग्रह की भावना टूटती है और समन्वय बुद्धि में चलने का पथ प्रशस्त होता है।

चिन्तन की स्वतन्त्रता न हो तो श्रद्धा जड़ बन जाती है और श्रद्धा विकसित न हो तो चिन्तन उच्छृंखल बन जाता है। जहां चिन्तन की स्वतन्त्रता होती है और श्रद्धा का विकास होता है वहां अहिंसा होती है और समन्वित रूप में चलने की क्षमता का उदय होता है।

तेरापन्थ की उदयोन्मुखता में इस व्यवस्था ने बहुत बड़ा योग दिया है। एक समय छः साधु रहे, इसकी चर्चा हो चुकी है। आज लगभग छः सौ पचास (६५०) हैं। तेरह साधु और तेरह श्रावकों की संख्या के आधार पर एक कवि ने 'तेरा-पन्थ' नाम रखा, वही पन्थ आज लाखों का पन्थ है। आचार्य भिक्षु ने इस संज्ञा को 'हे प्रभो! यह तेरा पन्थ' इस रूप में स्वीकार किया।[3] यह पन्थ पथिकों का नहीं है, भगवान् का है। किसी पथिक ने इसे निर्मित नहीं किया है, इसका निर्माण भगवद्वाणी की कंकरीट से हुआ है। यह कोई नया पन्थ नहीं है। इसका आधार बहुत पुराना है। पुराने को नया रूप मिला है, इसलिये यह नया भी है।

व्यक्ति की तीन परिधियां हैं—समाज, राज्य और धर्म। गत दो शताब्दियों में इन सभी क्षेत्रों में परिवर्तन हुए हैं, क्रान्तियां हुई हैं। हिन्दुस्तान शताब्दियों से पराधीन था, इसलिए सामाजिक या राज्य-क्रान्ति की ओर उसकी गति नहीं

१– संवत् अठारै सतरै समै, पंचांग लेखै पिछाण। आषाढ़ सुदी पूनम दिने, केलवे दीक्षा कल्याण।
(भिक्षु यश रसायण ढाल गा. ३)

२– लिखत १८५०–५९

३– लोक कहै तेरापन्थी। भिक्खु सवली भावै हो। हे प्रभु! ओ पन्थ है। और दाय न आवै हो। मन भ्रम मिटावै हो। सो ही तेरापन्थ पावै हो। पंच महाव्रतपालता शुद्ध सुमति सुहावै हो। तीन गुप्त तीखी तरै। भल आतम भावै हो। चित्त सूं तेरा ही चाहवै हो।—भिक्षु यश० ढाल ७.

हुई। स्वतन्त्रता की लड़ाई में जो प्रवृत्ति चली, उसपर निवृत्ति का पूरा पूरा प्रभाव था, इसलिए उसे अहिंसक लड़ाई का रूप मिला। बाह्य-सत्ता जो आती है, वह केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं करती, विश्वासों में भी परिवर्तन लाना चाहती है। मुसलमान और ब्रिटिश जाति ने भारतीय क्षेत्र को शासित किया तो इस्लाम और ईसाइयत ने भारतीय मानस को शासित करने का यत्न किया। राजनीतिक पराधीनता का अनुभव जितना हो रहा था, उससे मानसिक पराधीनता का अनुभव कुछ भी कम नहीं था। समय समय पर कुछ व्यक्ति हुए और उन्होंने जनता को मानसिक पराधीनता से उबारने का प्रयत्न किया। २० अगस्त, १८२८ ई० को राममोहनराय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। वे विश्व मानवता का विकास चाहते थे। उनकी दृष्टि में पश्चिमी जगत् के द्वारा पूर्वी-जगत् की उपेक्षा हो रही थी, सबल मनुष्य के द्वारा निर्बल मनुष्य की उपेक्षा हो रही थी।

उस समय कर्मकाण्ड और सगुणोपासना का आकर्षण मिट रहा था। पौराणिक अवतारवाद, बुद्धिवाद को चुनौती दे रहा था। ईसाइयतका सेवाभाव और भ्रातृत्वभाव जनताके अन्तःकरण को छू रहा था। इन परिस्थितियों ने ब्रह्म समाज को जन्म दिया। उसने निराकार ब्रह्म की प्रतिष्ठा की, अवतारवाद को अस्वीकार किया और मूर्तिपूजा का बहिष्कार किया। परिस्थितियों ने करवट ली। प्रार्थना-समाज की स्थापना हुई। भारत के पूर्वी अंचल में कलकत्ते में ब्रह्म-समाजका उदय हुआ और पश्चिमी अंचल में उसीकी शाखा का प्रार्थना-समाज के नाम से उदय हुआ। इसके संस्थापक थे केशवचन्द्र सेन इस संस्था के चार उद्देश्य थे—

(१) जाति प्रथा का विरोध (२) विधवा विवाह का समर्थन (३) बाल विवाह का अवरोध (४) स्त्री-शिक्षा का प्रचार

भारतीय-धर्म दो दार्शनिक धाराओं में विभक्त है—द्वैत और अद्वैत। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म एक है और समूचा चेतना-चेतनात्मक जगत् ब्रह्ममय है। द्वैत के अनुसार सब आत्माएँ समान हैं। सब आत्माओं को एक ही ब्रह्म का अंश मानने वाले और सब आत्माओं को समान मानने वाले धार्मिक, मनुष्य के प्रति जितनी घृणा करते हैं, जितना तुच्छता का भाव रखते हैं, उतना एक अधार्मिक भी नहीं रखता।

श्रमण परम्परा के तीर्थंकरों या प्रवर्तकों ने जातिवाद का तिरस्कार किया था। परन्तु आगे चलकर उनके अनुयायी जातिवाद के समर्थक बन गए। इस्लाम और ईसाई धर्म जातिवाद के कीटाणुओं से अस्वस्थ नहीं थे। यह इनका बहुत बड़ा आकर्षण था। जातिवाद का प्रतिरोध किये बिना उसे तोड़ा नहीं जा सकता था। इस परिस्थिति के पार्श्व में "एकैव मानुषी जाति" का घोष पुनः अभिव्यक्ति में आया और महात्मा गांधी के परिसर में वह गूंज उठा। १० अप्रैल, १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द ने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होंने पौराणिक हिन्दुत्व की आलोचना की। अपने पूर्वजों की निन्दा और विदेशियों के अनुकरण को उन्होंने घातक बताया। यह स्थिति स्वदेश भक्ति की न्यूनता में ही पनप सकती थी, इसलिए उन्होंने उसके कर्म की ओर जनता का ध्यान खींचा[१]। इस प्रकार वैदिक धर्म में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों की एक सुदीर्घ परम्परा है।

श्रमण परम्परा की क्रान्ति का इतिहास जटिलता से भरा हुआ है। उसमें निवृत्ति का स्वर सदा प्रधान रहा है। "सन्यास लिये बिना मुक्ति नहीं"—संक्षेप में निवृत्ति का सिद्धान्त इतना ही है। जैन, बौद्ध, तापस और आजीवक आदि सभी श्रमण शाखाएं इसका समर्थन करती रही हैं। वेदान्त के प्राण प्रतिष्ठापक आचार्य शंकर ने सन्यास को श्रमण-परम्परा जितना ही महत्त्व दिया। उनके प्रच्छन्न बौद्ध कहलाने का एक कारण यह भी रहा होगा?

आजीवकों की परम्परा विच्छिन्न हो गई। सांख्य और तापस वैदिक धारा में विलीन हो गए। कालक्रम से विदेशों में जाकर बौद्ध धर्म का रूप अत्यधिक परिवर्तित हो गया। उसका प्रारम्भ हीनयान के रूप में हुआ था। सम्राट् अशोक तक उसका यही रूप था। उसमें मन्दिर व मूर्ति-पूजा का प्राधान्य नहीं था। सम्राट् अशोक के काल में महायान शाखा का उदय हुआ। उसमें आडम्बरों की प्रधानता थी। उसका देश व विदेशों में द्रुतगति से व्यापक प्रसार हुआ। यह न तो श्रमण-परम्परा की संयममूलक प्रतिष्ठा को स्थिर रख सकी और न वैदिक-परम्परा की प्रवृत्ति जैसा आकर्षण प्राप्त कर सकी। फलतः उसकी मनोवैज्ञानिक पराजय हुई और बौद्ध धर्म भारतीय धर्मों में इतिहास का विषय बन गया।

१— सत्यार्थ प्रकाश उल्लास ११ पृ० २४५.

जैन श्रमण दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो शाखाओं में विभक्त हुए। दिगम्बरों में भट्टारक और श्वेताम्बरों में चैत्यवासी जो हुए उनमें महायान जैसी प्रवृत्तियां विकसित हुईं। दिगम्बर-तेरापन्थी शाखा ने भट्टारकों की और संविग्न शाखा ने चैत्यवास की प्रवृत्तियों का प्रतिरोध किया[1]।

लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा का सर्वथा वहिष्कार कर दिया। स्थानकवासी और तेरापन्थी शाखाओं ने उसीका समर्थन किया। इस्लाम में मूर्ति-पूजा मान्य नहीं है, अतः मुसलमानों के शासनकाल में मूर्ति-पूजा के वहिष्कार का भाव प्रबल हुआ ऐसा माना जाता है। इसमें क्वचित् सत्यांश हो भी सकता है। किन्तु मूर्ति-पूजा के विरोध का मूल हेतु उसीके परिपार्श्व में विकसित आडम्बर है। मूर्ति, एकाग्रता के आलम्बन के रूप में स्वीकृत हुई, परन्तु आगे चलकर उसने साध्य क रूप ले लिया। यहां से उसकी प्रतिक्रिया का बीज-वपन हो गया और मूर्ति के विरोध में स्वतन्त्र शाखाओं का विकास हुआ। तेरापन्थ उन्हींमें से एक है।

मूर्ति-पूजा का प्रश्न स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदाय के सामने समान है। तेरापन्थ का उद्भव भिन्न परिस्थितियों में हुआ। उस समय के मुनि क्रय-विक्रय जैसी प्रवृत्तियों में फंसते जा रहे थे। जीमनवार से भिक्षा लेने लगे थे। गृहस्थों को धन देने की प्रेरणा करते थे। शिष्यों को मोल लेते थे; "मेरे पास ही दीक्षा लेना और किसीके पास नहीं", इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलाते थे। साधु अकेले रहने लगे थे। आचार्य भिक्षु ने "साधां रै आचार री चौपई और १८१ बोल की हुण्डी" में इन स्थितियों का विशद् चित्रण किया है। आचार के इन मूल प्रश्नों ने ही उन्हें स्थानकवासी सम्प्रदाय से सम्बन्ध विच्छेद करने को बाध्य किया।

दान और दया के धार्मिक स्वरूप में भी मतैक्य नहीं था। जैन साधु प्रवृत्ति की ओर झुकते जा रहे थे, यह आचार्या भिक्षु को सिद्धान्त-सम्मत नहीं लगा। व्रताव्रत, जिनाज्ञा, सावद्य-निरवद्य क्रिया, लब्धि-प्रयोग आदि विषय दया-दान के ही खण्डन-मण्डन में प्रयुक्त हुए हैं।

मुनि आहार करता है, नींद लेता है, वह धर्म है या नहीं—इन प्रश्नों में भी मतभेद था। मिथ्यात्वी की क्रिया धर्म है या नहीं? एक ही क्रिया में थोड़ा पाप और बहुत निर्जरा (धर्म) होती है या नहीं? ऐसे महत्वपूर्ण प्रश्न भी विवादास्पद थे। इनमें कुछेक विषय ऐसे हैं, जो सम्प्रदाय भेद के निमित्त बने और कुछेक ऐसे हैं जिनका समाधान पाने के लिए सम्प्रदाय-भेदआवश्यक नहीं होता।

धर्म साधन है, साध्य है मोक्ष। मोक्ष प्रत्यक्ष नहीं है इसलिए वह एक पहेली है। धर्म यद्यपि प्रत्यक्ष है, फिर भी उसका स्वरूप एक नहीं है, इसलिए वह भी एक जटिल पहेली है। यह सब लोग जानते हैं कि धर्म की आराधना के लिए सम्प्रदाय बनता है, सम्प्रदाय के विकास के लिए धर्म नहीं बनता। किन्तु सम्प्रदाय की जड़ें सुस्थिर बन जाती हैं तब धर्म के लिए सम्प्रदाय नहीं रहता, सम्प्रदाय के लिए धर्म बन जाता है। आचार्य भिक्षु सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। फिर भी उनकी दृष्टि में धर्म और सम्प्रदाय एक नहीं थे। धर्म शाश्वत सत्य है। सम्प्रदाय उसकी एक व्याख्या है, उसकी एक आराधना है। आराधना करने वाला धर्म को पा सकता है, पर उसके लिए वह किसी कारागार का निर्माण नहीं कर सकता। इसी सत्य के आलोक में आचार्य भिक्षु ने कहा—"एक मिथ्या दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का आराधक है और एक सम्यग्-दृष्टि भी मोक्ष-मार्ग का विराधक है।" भगवान् महावीर की भाषा में पुरुष चार प्रकार के होते हैं:—

(१) शील-सम्पन्न, श्रुत-सम्पन्न नहीं
(२) श्रुत-सम्पन्न, शील-सम्पन्न नहीं
(३) श्रुत-सम्पन्न, शील-सम्पन्न . .
(४) न श्रुत-सम्पन्न, न शील-सम्पन्न[2]।

मोक्ष की आराधना के दो तत्त्व हैं—श्रुत और शील। तीसरे पुरुष की आराधना इसलिए पूर्ण होती है कि उसमें श्रुत भी होता है और शील भी। तात्पर्य की भाषा में वह सम्यग्-दृष्टि भी है, व्रती भी है। चौथा पुरुष न सम्यग्-दृष्टि होता है और

१– संवाद्रुम, जैन साहित्य का इतिहास
२– चत्तारि पुरिसा जाया पन्नत्ता —स्था० ४ उद्दे० ३.

न व्रती, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का पूर्ण विराधक होता है। दूसरा पुरुष सम्यग्-दृष्टि होता है पर आचार-सम्पन्न नहीं होता, इसलिए वह मोक्ष-मार्ग का पूर्णतः आराधक नहीं होता, अंशतः विराधक भी होता है। पहला पुरुष सम्यग्-दृष्टि नहीं होता पर आचार-सम्पन्न होता है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का पूर्णतः विराधक नहीं आराधक भी होता है। इसी नय दृष्टि के आधार पर आचार्य भिक्षु ने धर्म को सम्प्रदाय-मुक्त प्रमाणित किया। निश्चय में सम्यग्-दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि की भाषा उलझन से भरी है। व्यवहार की भाषा में अपने सम्प्रदाय का अनुगमन करे, वह सम्यग्-दृष्टि, उसका अनुगमन न करे वह मिथ्या-दृष्टि। "मिथ्या-दृष्टि अर्थात् दूसरे सम्प्रदाय का अनुयायी भी धर्म की आराधना कर सकता है। इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में धर्म के सम्प्रदायातीत स्वरूप की उदात्त घोषणा है[१]।" तेरापन्थ एक सम्प्रदाय है किन्तु प्रचलित अर्थ में जो साम्प्रदायिकता है, वह उसमें नहीं है।

—धर्म का व्यापक प्रयोग—

धर्म की आराधना का अधिकार सबको है, इस दृष्टि से वह व्यापक है। धर्म की एक निश्चित मर्यादा है, जो कुछ आवश्यक है, वह सब धर्म नहीं है, इस दृष्टि से वह व्यापक नहीं भी है। प्रवृत्ति जीवन की आवश्यकता है। निवृत्ति जीवन की आवश्यकता नहीं है, यदि है तो एक सीमित अर्थ में। प्रवृत्तिवाद का क्षेत्र विस्तृत हुआ और आवश्यकता ने धर्म का रूप ले लिया। निवृत्ति के क्षेत्र में धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से था। प्रवृत्ति के क्षेत्र में उसका सम्बन्ध जीवन की आवश्यकताओं से जुड़ गया। आचार्य भिक्षु ने उसी विस्मृत सत्य की पुनः याद दिलाई। उन्होंने कहा—"जो आवश्यक है वह-सब धर्म नहीं है और जो धर्म है, वह जीने या जिलाने के लिए आवश्यक नहीं है।" उनकी भाषा में "जीओ और जीने दो।" का कोई धार्मिक मूल्य नहीं है।

धर्म है संयम, धर्म है व्रत। जो संयमी है, व्रती है, वह धार्मिक है। जो असंयमी है, अव्रती है वह धार्मिक नहीं है।[२] इस संयम की कसौटी पर जब धर्म को कसा तो दया और दान पूर्णतः खरे नहीं उतरे। उन्होंने देखा दया धर्म भी है, दान धर्म भी है और नहीं भी है।

दया और अहिंसा एक है। अहिंसा का उद्‌गम स्थल संयम है। जहां संयम है, वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है, वहां दया है। यह दया का धार्मिक स्वरूप है। जहां संयम और अहिंसा नहीं हैं, वहां जो करुणा है, उसका स्वरूप धार्मिक नहीं है। इसी प्रकार दान का भी संयम और असंयम के आधार पर विभाजन होता है।

आचार्य भिक्षु ने दया-दान का जो विशेष विवेचन किया, वह अज्ञानपूर्ण कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया का परिणाम है। उस समय के धार्मिक रूढ़िवाद से ग्रस्त होते जा रहे थे। धर्म का आचरण करने से जी चुराते थे। धर्म को खरीदना शुरू कर दिया था। गरीबों को धन देते और उनकी क्रिया का फल हमें मिलेगा—इस आस्था से स्वयं कुछ भी नहीं करते, मुक्त भाव से अधर्म का आचरण करते। दान और दया के आचरण में नैतिक व चारित्रिक जीवन कुण्ठित हो रहा था। यह स्थिति चरमविन्दु तक पहुँच चुकी थी। इस स्थिति के आलोक में हम देख सकते हैं कि आचार्य भिक्षु ने दया-दान की जो शल्य-चिकित्सा की, वह अहेतुक नहीं है।

धर्म का मूल समभाव है। दया और दान का स्वरूप विषमता की भित्ति पर परिपालित हुआ है। दया करने वाला बड़ा और जिसपर दया की जाए वह छोटा, दान देने वाला बड़ा और जिसे दिया जाय वह छोटा, यह बड़प्पन और छुटपन की रेखा चौड़ी हो रही थी। जो समर्थ नहीं, जिसके पास शक्ति नहीं, वह क्या दया करे और क्या दे? और जो न दया करे और न दान दे वह क्या धार्मिक? समूचा धर्म दया और दान की परिधि में ही सिमट रहा था। धर्म का मापदण्ड शक्ति और धन के पैमाने से हो रहा था।[३] आचार्य भिक्षु ने इस चक्रव्यूह को तोड़ डाला। उन्होंने कहा—"धन से धर्म नहीं होता, बल प्रयोग से धर्म नहीं होता।" ये घोष नवयुग की धर्म-क्रान्ति के महान् घोष थे। ये नये नहीं थे। भगवान् महावीर की वाणी में ये अभिव्यक्ति पा चुके थे। एक परिस्थिति में जो तत्त्व कभी अभिव्यक्त होता है, वह दूसरी परिस्थिति

१— भ्रम विध्वंसन मिथ्यात्वी करणी निर्णय—
२— सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २ अ० २
३— धणेण किं धम्मधुराहिगारे ——उत्तरा० अ० १४ गा० १७.

में अव्यक्त हो जाता है। जो तत्त्व कभी अव्यक्त होता है, वह उससे भिन्न परिस्थिति में व्यक्त हो जाता है। आचार्य भिक्षु ने अव्यक्त तत्त्व को अभिव्यक्त किया और ऊंहापोह का सूत्रपात हो गया। साधारण धार्मिक जिस घटना या वस्तु को धर्म की दृष्टि से देखते थे उसीको आचार्य भिक्षु ने शुद्ध सामाजिक दृष्टि से देखा। सामाजिक विषमता या ऊँच-नीच के वर्ग-भेद पर जो दया-दान फल रहे थे और जिन्हें धर्म का रूप मिल रहा था, उन्हें आचार्य भिक्षु ने "लौकिक" कहा।

धर्म का स्वरूप समता है। अहिंसा धर्म है। विषमता उसका आधार नहीं हो सकती। सब आत्माएं समान हैं, सुख-दुःख की अनुभूति सबको होती है, अपना किया कर्म सबको भुगतना होता है, अपने संयम से ही व्यक्ति मुक्त होता है—यह समता का विचार है। किसी जीव को मारने का अर्थ है अपनी हिंसा और किसीको न मारने का अर्थ है अपनी दया। जो अपनी दया करता है, वह किसी की हिंसा नहीं करता और जो अपनी दया नहीं करता, वह किसी की दया नहीं करता। दूसरे प्राणी को दयनीय मानकर दया की जावे, वह समता नहीं है। अहिंसा और हिंसा का सम्बन्ध जीने और मरने से नहीं है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव जीते हैं यह दया या अहिंसा नहीं है। जीव मरते हैं, वह हिंसा नहीं है। जो मारता है वह हिंसक है, मारना हिंसा है। जो नहीं मारता वह अहिंसक है, नहीं मारना अहिंसा है।[1] इस धर्म को उन्होंने लोकोत्तर धर्म या आध्यात्मिक धर्म कहा। धर्म-संस्थाएं धन और शक्ति का संग्रह कर सामाजिक विकास को कुण्ठित कर रही थीं। फलतः धर्म का स्वरूप विकृत हो रहा था, समाज की चेतना मन्द हो रही थी, समाज-हित के चिन्तन की दृष्टि क्षीण हो रही थी। इस द्वन्द्व की स्थिति में आचार्य भिक्षु ने जो दर्शन दिया वह सर्वथा निरुपद्रव था। यदि इसका सम्यग्-रूपेण विकास हुआ होता तो मार्क्स को जो धर्म की मादकता का अनुभव हुआ, वह नहीं होता। धर्म का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और समाज का जो सामुदायिक दृष्टिकोण है, उनमें सर्वथा विरोध नहीं है तो सर्वथा सामंजस्य भी नहीं है। समाज के लिए जैसे अपेक्षित है कि धर्माराधना समाजहित में बाधक न बने वैसे व्यक्ति के लिए अपेक्षित है कि समाज व्यक्ति की स्वतन्त्रता का सर्वथा अपहरण न करे। इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए धर्म और सामाजिकता की मर्यादा के बीच भेद-रेखा खींचनी आवश्यक है, आचार्य भिक्षु ने वही कार्य किया। उन्होंने धर्म के मौलिक रूप को विकृत नहीं होने दिया और सामाजिक चेतना पर कोई आवरण भी नहीं डाला। उनका दर्शन बहुत ही सूक्ष्म है, गूढ़ है। मैं नहीं कह सकता, उनके अनुयायी भी उसे कितनी दूर तक समझते हैं और उनके दृष्टिकोण को कितनी यथार्थता से ग्रहण करते हैं। वैज्ञानिक-मूर्धन्य आईंस्टीन के सापेक्षवाद ने जैसे विज्ञान के जगत् में नया युग ला दिया, वैसे ही आचार्य भिक्षु का संयमवाद धार्मिक-जगत् में युगान्तकारी परिवर्तन ला देता, यदि उसे समझने या समझाने का सम्यक् व समर्थ प्रयत्न किया गया होता। यह सही है कि भारतीय जनता चिरकाल से सब स्थितियों को धर्म के मानदण्ड से मापती रही है। विशुद्ध सामाजिक या राजनीतिक दृष्टिकोण बहुत कम रहा है। स्मृतिकारों व अर्थशास्त्र के निर्माताओं ने सामाजिक व राजनीतिक चेतना को जगाने का यत्न किया, पर धर्म शब्द से दूर रह कर वे नहीं चले। उन्होंने मोक्ष-धर्म और राज-धर्म, श्रेणी-धर्म, पूग-धर्म आदि शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रयोग किए। पर जनता ने इनका एक ही दृष्टि से अंकन किया। परिणाम यह हुआ कि धर्म शब्द स्वयं उलझन बन गया। आचार्य भिक्षु ने इस उलझन की समाप्ति में अपूर्व मनोबल का परिचय दिया। उन्होंने कहा—गाय एवं भैंस का दूध, आक और थूहर का रस, दूध कहलाता है, पर उनके गुण धर्म समान नहीं होते। इसी प्रकार पदार्थ का जो स्वभाव होता है, उसे धर्म कहा जाता है, पर सभी पदार्थों के स्वभाव एक रूप नहीं होते। आत्मा का स्वभाव अनात्मा के स्वभाव से भिन्न है। उसके विकास की प्रक्रिया अनात्मा के स्वभाव—विकास की प्रक्रिया से भिन्न है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। उसके विकास की प्रक्रिया है चैतन्य-रमण। इसके तीन साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। ज्ञान श्रुत है, जो चैतन्य से प्रस्फुटित होता है और चैतन्य में विलीन हो जाता है। दर्शन चैतन्योन्मुख दृष्टि है। आत्मा और अनात्मा का जो विवेक है, वही दर्शन है। चैतन्य के विकास से उसका उदय होता है और चैतन्य के विकास में वह विलीन हो जाता है। पदार्थों से उपरति और आत्मा में रति होती है, वही है चारित्र। भगवान् ने कहा—धर्म के दो रूप हैं—(१) श्रुत और चारित्र। मोक्ष-धर्म यही है। आत्म-विकास की प्रक्रिया में यही विवक्षित है। शेष धर्म जो हैं, वह व्यवहार परिचालन

१– जीव जीवेते दया नहीं, मरेते हो हिंसा मत जाण।
मारण वाला ने हिंसा कही, नहीं मारे ते दया गुणखाण॥ —अनु० ढाल ५ गा० ११.

के लिए है। समाज-विहित कर्तव्य धर्म है—यह व्यवहार सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि अविरति और दुष्प्रवृत्ति का जो प्रत्याख्यान है, वही धर्म है[1]।

धर्म की इस व्याख्या के अनुसार कर्तव्य और धर्म सर्वथा एक नहीं हैं। कर्तव्य का निर्णय समाज-शास्त्र के आधार पर होता है और धर्म का निर्णय अध्यात्म-शास्त्र के अनुसार। कर्तव्य समाज की उपयोगिता है। वह देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। धर्म-बन्धन-मुक्ति का तत्त्व है। वह शाश्वत है। वह देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप नहीं बदलता।

इसका फलित यह होता है कि जीवन का सारा व्यवहार धर्म नहीं है। चैतन्य-रमण की परिधि में जो किया जाता है, वही धर्म है, शेष नहीं। इस भाषा ने विचारकों के सम्मुख एक प्रश्न उपस्थित कर दिया। यह जीवन का विभाजन है। इस व्याख्या के अनुसार जीवन के टुकड़े हो जाते हैं। वह अखण्ड है। उसे इस प्रकार विभक्त क्यों किया जावे ?

प्रश्न का कलेवर जैसा जटिल है वैसा उसका आन्तरिक रूप नहीं है। जीवन का अर्थ ही है देह और आत्मा का योग। जहां आत्मा के साथ दैहिक अपेक्षाएँ जुड़ी हुई हैं, वहां विभाजन स्वयं प्राप्त है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मवादी देह-मुक्ति के लिए धर्म की आराधना ही क्यों करता ? अनासक्त भाव या ईश्वरार्पण की भावना से व्यवहार चलावे, वह धर्म है। इस व्याख्या में भी जीवन अविभक्त नहीं है। आसक्ति या स्व की भावना से जो व्यवहार का परिचालन होता है, वह अधर्म है। जहां धर्म और अधर्म दोनों की मान्यता है, वहां जीवन अविभक्त कैसे होगा ? जीवन अविभक्त वहां हो सकता है, जहां सब व्यवहारों को धर्म या अधर्म ही माना जाए। कोई भी धर्म सम्भवतः ऐसा नहीं मानता। सच यह है कि आचार्य भिक्षु की व्याख्या में विभाजन का दोष नहीं है, कसौटी का भेद है। उनके अभिमत में अनासक्ति, ईश्वरार्पण या सुख-प्राप्ति, ये धर्म की कसौटियां नहीं हैं। उसकी कसौटी है संयम। जहां संयम है—बाह्य भाव की उपरति है, अन्तश्चैतन्य का स्पर्श है—वहां धर्म है। जहां असंयम है—बाह्य-भाव का स्पर्श और अन्तश्चैतन्य की उपरति है, वहां धर्म नहीं है। धर्म की इस विशुद्ध व्याख्याकी भित्ति पर तेरापन्थ का अभ्युदय हुआ।

जैन शासन में तीर्थ-व्यवस्था है। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका ये चार तीर्थ हैं[2]। तेरापन्थके उद्भवकालमें दो तीर्थ थे—साधु और श्रावक। तीसरा तीर्थ (श्राविकाएँ) शीघ्र ही हो गया। चौथा तीर्थ (साध्वियां) तीन वर्ष तक नहीं हुआ। लोगों ने हा—भीखण जी के तीन ही तीर्थ हैं। आचार्य भिक्षु ने कहा—लड्डू असली है, भले वह पूरा न हो। तीन वर्ष बाद चार तीर्थ हो गए।

आचार्य भिक्षु को गुण प्रिय था, इसलिए तीर्थ की पूर्णता होने में कुछ समय लगा। जब वे अपने लक्ष्य की ओर बढ़े तब उन्हें विश्वास नहीं था कि उनके विचारों का अनुगामी कोई संघ होगा, साधु-साध्वियां दीक्षित होंगी, श्रावक-श्राविकाएं अनुगमन करेंगी। वे अपने साध्य की सिद्धि के लिए चले थे। अपनी साधना में लीन थे। अपने सम्प्रदाय के लोग उन्हें विद्रोही की दृष्टि से देखते थे। नये सम्प्रदाय की उन्हें कोई कल्पना नहीं थी। वे यदा-कदा लोगों को अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करते। परिणाम अनुकूल नहीं हुआ। उन्होंने केवल आत्म-शोधन का निश्चय कर लिया। कठोर तपस्या में लीन हो गए। उसकी प्रतिक्रिया अनुकूल हुई। लोगों ने समझा—ये आत्मार्थी हैं। ये अपने सिद्धान्त के लिए जी रहे हैं। लोक-संग्रह का इन्हें कोई मोह नहीं है। जहां मोह है वहां अशान्ति का व्यूह स्वयं बन जाता है। जहां मोह नहीं है, वहां परम शान्ति है। जहां परम शान्ति है, वहां सब कुछ है। मुनि युगल (थिरपालजी और फतेहचन्दजी) की विनीत प्रार्थना सुन उन्होंने पर-कल्याण का फिर एक प्रयत्न शुरू किया। वह विफल नहीं हुआ। लोक-संग्रह हुआ। तेरापन्थ एक गण बन गया। तेरापन्थ के लिए 'गण' शब्द का सर्वाधिक प्रचलित प्रयोग है। इसे एक सम्प्रदाय भी कहा जा सकता है। सम्प्रदाय शब्द का इन वर्षों में कुछ अपकर्ष हुआ है। वास्तव में यह गुरु-परम्परा का वाचक है। तेरापन्थ में गुरु परम्परा को बहुत महत्त्व दिया गया। इसलिए यह एक महान् सम्प्रदाय है।

१— काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता-तं-अणुवरय काय किरिया चेव, दुप्पउत्त काय किरिया चेव।
—स्था० २, सू० ६० प० ३९।

२— चउविहे संघे पन्नते —स्था० स्था० ४ उद्दे० ४.

जैन दर्शन का तत्त्व ज्ञान गूढ़ है। उसे हृदयंगम करना एक समस्या है। तेरापन्थ में प्रतिबिम्बित उसकी व्याख्याओं को पढ़ना और भी जटिल समस्या है। लोक-संग्रह जितना दृश्य आकर्षण से होता है, उतना तत्त्व-ज्ञान का परिचय पाकर नहीं होता।

तेरापन्थ में न मूर्ति पूजा का आकर्षण था, न स्थानकों का, न धन के द्वारा धर्म करवाने का तथा न अन्य प्रकार के आकर्षण थे। इसलिए एक साथ लोक संग्रह नहीं हुआ। यह कार्य बहुत धीमी गति से हुआ। साधु बने, गण का विधान १६ वर्ष के बाद बना। आचार्य भिक्षु का अनुशासन कठोर था। उसे सहन करना सामान्य बात नहीं थी। तीन वर्षों तक साध्वियां नहीं बनीं, उसका हेतु यही है। उन्होंने प्रारम्भिक साध्वियों के लिए जो नियम-पत्र लिखा, वह एक कसौटी है। साध्वियां तीन से कम नहीं रह सकतीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—आज तुम तीनों दीक्षित होना चाहती हो। किसी कारणवश दो रह जाओ तो क्या होगा? क्या अनशन के लिए तैयार हो? उन्होंने सहर्ष स्वीकृति दी। त्याग की भावना में तेरापन्थ का उद्भव हुआ और त्याग ही उसकी प्रधान विशेषता है। त्याग और संगठन का आकर्षण बढ़ा। जन-मानस तेरापन्थ की ओर आकृष्ट होने लगा। श्रावकगण बढ़े। साधु-साध्वियों का समुदाय भी बढ़ा; तेरापन्थ की नींवें सुदृढ़ हो गईं। आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि संगठन साधु-साध्वियों की योग्यता पर टिकता है। उनकी योग्यता का प्रश्न दीक्षा और शिक्षा से जुड़ा हुआ है। शिष्य-शाखा को समाप्त किये बिना अयोग्य दीक्षा का प्रवाह रोका नहीं जा सकता। उन्होंने नियम बनाया—तेरापन्थ में सब शिष्य आचार्य के हों। कोई साधु अपना शिष्य न बनावे।[1] दीक्षा योग्य को दी जावे, दीक्षित करने पर कोई अयोग्य निकल जावे तो उसे गणसे पृथक कर दिया जावे। अयोग्य दीक्षा पर उन्होंने बहुत तीखा प्रहार किया। शिष्य-परम्परा का इतिहास बहुत पुराना है। आचार्य भिक्षु ने उसमें जो परिवर्तन किया, वह संगठन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। शिक्षा का कार्य उन्होंने स्वयं संभाला। अपने साधु-साध्वी वर्ग को उन्होंने शिक्षित किया। उनके शिष्य शान्ति सहिष्णुता, कष्ट सहन की क्षमता और अनुशासन-पालन में अत्यन्त निष्णात हुए। इन विशेषताओं के बिना विरोधी वातावरण को अनुकूल नहीं बनाया जा सकता था। इनकी अपेक्षा थी; उनके शिष्यों ने उसे पूर्ण किया और वे अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु का जीवन लक्ष्य की पूर्ति के लिए मर मिटने की ज्वलन्त कहानी है। कठिनाइयां अनगिनत थीं। पर वे आचार्य भिक्षु को, उनके शिष्यों को, पथ से विचलित नहीं कर सकीं। मुनि भिक्षा जीवी होते हैं। स्थान और वस्त्र भी उन्हें भिक्षा द्वारा उपलब्ध होते हैं। इनकी अत्यन्त दुर्लभता का अनुभव उन्हें हुआ। उन्होंने अप्राप्ति को दुर्भाग्य नहीं माना, उसे वरदान समझा। कष्ट आते गये। साधु वर्ग उन्हें सहता गया। तेरापन्थ का रूप निखर उठा।

तेरापन्थ क्या है? परिस्थितियों के सामने घुटने न टेकने का जो महान् संकल्प है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? आचार-शिथिलता को जो चुनौती है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? अनुशासनहीनता के प्रति जो विद्रोह है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? संगठन की महान् प्रेरणा जो है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या जो है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? धर्म के स्वरूप को अविकृत रखने का प्रयत्न जो है, वही है तेरापन्थ।
तेरापन्थ क्या है? सत्य-शोध की सतत प्रवृत्ति जो है, वही है तेरापन्थ।

१– लिखित सं० १८५९
२– आचार की चौपई ढाल २८

आचार्य भिक्षु : जीवन पर एक दृष्टि

(लेखक—श्री छगनलाल शास्त्री—स० 'अणुव्रत पाक्षिक,' कलकत्ता)

वह धर्म-संक्रान्ति का युग था। सत्य के चरण लड़खड़ा रहे थे। याथार्थ्य के प्राचीर ढहने को उतारू थे। रूढ़ परम्पराओं का परिपोषण व जाड्य-जर्जर स्थितियों का संरक्षण मानव का अभिप्रेत बनता जा रहा था। साधना की ज्योति धूमिल बन टिमटिमा रही थी। अध्यात्म का भविष्य तमिस्रा से भयाक्रान्त था। समय के इस झंझावात के मध्य राजस्थान की वीरप्रसू भूमि में आचार्य भिक्षु का आविर्भाव हुआ। जोधपुर प्रमण्डल के अन्तर्गत छोटे से गाँव कंटालिया को उन्हें जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वह विक्रमाब्द १७८३ आषाढ़ शुक्ल त्रयोदशी का पुण्य दिवस था।

आचार्य श्री भिक्षु का जन-प्रचलित नाम भीखन था। उनके पिता शाह बल्लूजी संकलेचा एक कर्मठ व्यवसायी थे। छोटा सा गाँव, उसमें अपना छोटा सा व्यवसाय, जिसके आधार पर वे संतोषपूर्वक जीवन-यापन करते थे। उनकी माता श्री दीपांबाई एक धर्मनिष्ठ महिला थीं। भीखनजी को पुत्र रूप में प्राप्त कर वे हर्ष से फूली नहीं समाती थीं। जसी कि जन-श्रुति है, भीखनजी के कुक्षिगत होने के समय उन द्वारा देखा गया सिंह का स्वप्न उन्हें पुनः पुनः बालक के गरिमागर्भित भावी जीवन को स्मरण करा आनन्दविभोर बना देता था।

भीखनजी प्रारम्भ से ही एक ओजस्वी शिशु थे। उनकी वृत्ति में सहज वैराग्य की झलक थी। माता की स्नेह-संपूरित गोद में उनका शशव बीता। स्वच्छन्द और निर्द्वन्द्व बाल-क्रीड़ाओं का आनन्द लेते शुक्ल पक्ष के चन्द्र की तरह वे बढ़ने लगे। स्थानीय स्थिति के अनुरूप साधारण पठन-पाठन हुआ, वे क्रमशः युवा हुए। माता-पिता ने उन्हें पहले ही परिणय-संस्कार में आबद्ध कर दिया था। उनके एक पुत्री का जन्म हुआ। नैपुण्य के साथ वे अपने गार्हस्थ्य का उत्तरदायित्व वहन करते जा रहे थे। उनका गृही-जीवन ऐसे अनेक घटनाक्रमों से जुड़ा है, जिसमें उनकी सहज बुद्धिमत्ता और प्रत्यग्र प्रतिभा का पर्याप्त परिचय मिलता है। वे गार्हस्थ्य में जुते थे पर उनका अन्तरतम किसी अनिर्वचनीय सत्य का साक्षात्कार करने के लिए तड़फड़ा रहा था, जिसे प्राप्त किये बिना उन्हें जरा भी अन्तःतुष्टि नहीं थी।

भीखनजी की वैराग्य-वृत्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रही। उनके माता-पिता- गच्छवासी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। वे उस ओर विशेष रस लेने लगे। पर उनका मानस इससे परितुष्ट नहीं हुआ। वे पोतियाबन्ध सम्प्रदाय की ओर उन्मुख हुए। सत्य की जो उज्ज्वल ज्योति पाने के लिए उनकी आत्मा तिलमिला रही थी, वह उन्हें मिल नहीं सकी। तब उनका झुकाव स्थानकवासी संघ की एक शाखा विशेष के आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय की ओर हुआ। उनकी विरक्ति बढ़ती गई। अन्ततः संसार के माया-जाल का परित्याग कर संयम जीवितव्य अपनाने को उनका मानस स्वतः उत्प्रेरित हो उठा। उनकी अर्द्धांगिनी उनके इन विचारों में बाधिका नहीं प्रत्युत साधिका सिद्ध हुई। उसने भी जिस प्रकार गार्हस्थ्य में वह पति का अनुसरण करती रही थीं, संयम-साधना में भी उनका सह-वर्तन करेंगी, यह व्यक्त कर यथार्थतः अपने को उनकी अर्द्धांगिनी सिद्ध कर दिया। पति-पत्नी ब्रह्मचर्य की साधना करने लगे। भरे-पूरे यौवन में बड़ा दुष्कर व्रत यह था, जिसे हँसते-हँसते उन्होंने अंगीकार किया। साथ ही साथ अनेक त्यागमूलक कठिन नियमों एवं व्रतों को वे निभाने लगे।

काल बड़ा दुरतिक्रम है। स्थिति ऐसी बनी—भीखनजी की पत्नी का देहावसान हो गया। पारिवारिक जनों ने पड़ोसियों ने, गाँववासियों ने उनसे बहुत अनुरोध किया, वे पुनः विवाह करलें पर उन्हें भला वह कब स्वीकार्य था। पत्नी के असामयिक देहावसान ने उन्हें एक मूक, पर उद्‌बुद्ध संकेत दे दिया था, इस देह की नश्वरता का, जिससे आज तक कोई बच नहीं पाया है। उन्होंने स्पष्ट रूप में उद्‌घोषित किया, वे दूसरा मार्ग अपनायेंगे, जो भोग का नहीं त्याग का है, वासना का नहीं विरक्ति का है, ऐहिक अर्जन का नहीं विसर्जन का है। उनके पिता का स्वर्गवास हो चुका था। माता उनके प्रस्ताव से सहमत नहीं थीं। भीखनजी उनके इकलौते पुत्र थे। वे उनकी आशाओं के एकमात्र आधार थे। यही कारण था, वे उन्हें घर छोड़ प्रव्रजित होने की स्वीकृति देने में अपने को सर्वथा असमर्थ पा रही थीं।

आचार्य रुघनाथजी को ज्ञात हुआ, भीखनजी उनके पास दीक्षित होना चाहते हैं। उन्होंने प्रयास किया, जिससे भीखन जी को स्वीकृति प्राप्त हो सके। माता ने अपने द्वारा देखे सिंह के स्वप्न की चर्चा करते हुए कि उसके फलानुसार यह कोई अत्यन्त वैभवशाली पुरुष होगा, दीक्षा के लिए स्वीकृति देने में जब आनाकानी प्रगट की, तब आचार्य रुघनाथजी ने कहा कि श्रमण बन कर यह सिंह की तरह गूंजेगा, ओजस्वितापूर्वक धर्म का उद्द्योत करेगा, स्वप्न का यथार्थ फलित तो वहाँ होगा। अन्ततः भीखनजी की माता ने उन्हें दीक्षा की स्वीकृति दे दी। आचार्य रुघनाथजी के हाथ से बगड़ी में उनकी दीक्षा हुई। उस समय वे पच्चीस वर्ष के तरुण थे।

दीक्षित होकर उन्होंने अपने आपको शास्त्र-अनुशीलन एवं तत्त्व अर्जन में सर्वतोभावेन झोंक दिया। शास्त्रों के गंभीर अवगाहन से उन्हें कभी-कभी आभासित होता, धर्म-संघ में शुद्ध निष्ठा और चर्या के रूप में जो वाञ्छनीय है, वह यथार्थतः उपलब्ध है नहीं। ऐसे भाव मन में उद्वेलित होते, फिर तिरोहित हो जाते। तत्त्व-चर्चन के मध्य यदा कदा वे गुरु के समक्ष ऐसे प्रश्न उपस्थित करते जिनका यथार्थ समाधान उन्हें नहीं मिल पाता।

आचार्य रुघनाथजी के वे प्रीति-पात्र शिष्य थे। उन्हें (आचार्य रुघनाथजी को) उनकी बुद्धि पर बड़ा गर्व था। लगभग सात वर्ष तक उनका यह सम्बन्ध अविच्छिन्न रूप में चलता रहा। अनेक लोग ऐसी भी संभावना करते थे, स्यात् आगे संघ का उत्तरदायित्व भीखनजी पर आ जाय।

मेवाड़ का अन्तर्वर्ती राजनगर शहर आचार्य रुघनाथजी के प्रमुख क्षेत्रों में से था। साधुओं की शिथिलचर्या, आचार और अनागमीय श्रद्धा व प्ररूपणा के कारण वहाँ के श्रावकों ने साधुओं को वन्दन-नमस्कार करना छोड़ दिया था। आचार्य रुघनाथजी ने उन्हें समझाने के लिए भीखनजी को राजनगर भेजा—वहीं चातुर्मासिक प्रवास करने का निर्देश भी किया।

भीखनजी राजनगर आये। श्रावकों के साथ उनका वार्तालाप हुआ। उन्हें मन ही मन लगा, श्रावक जो कह रहे हैं, वह अयथार्थ नहीं है पर उन्हें तो अपने गुरु की बात रखनी थी इसलिए श्रावकों को जिस किसी तरह समझा-बुझा, अपने प्रभाव से वन्दन-नमस्कार के लिए सहमत बना लिया।

एक विशेष घटना घटी, उसी दिन भीखनजी दाह-ज्वर से पीड़ित हुए। उनका रोम-रोम मानो अग्नि-कणों से बिंधा जा रहा था। अन्तर-मन्थन चला। सोचने लगे—मैंने कितना अनौचित्य एवं अनर्थ किया। श्रावक सत्य पर आरूढ़ थे। मैंने गुरु और सम्प्रदाय के मोह से भगवद् वचनों के विपरीत प्ररूपणा की, उन्हें गलत समझाया यदि ऐसी स्थिति में मेरा देह-पात हो जाए तो मैं कितनी निम्न गति में जाऊँ! उन्होंने मन ही मन यह निश्चय किया कि यदि मैं इस व्याधि से मुक्त हो गया तो श्रावकों को अविलम्ब याथार्थ्य से अवगत करा दूंगा—वैसा ही हुआ। दूसरे दिन ज्वरमुक्त होते ही उन्होंने श्रावकों के समक्ष सत्य को स्पष्ट रूप में रखा और कहा कि गुरु के सामने सब बातें रखेंगे, उनसे अनुरोध करेंगे, मान्यता और चर्या में वे सत्य के आग्रही बनें।

चातुर्मास परिसमाप्त हुआ। उस समय आचार्य रुघनाथजी सोजत में थे। भीखन जी वहाँ आये। गुरु-शिष्य में वार्तालाप हुआ पर गुरु सहमत नहीं हुए। पंचम आरे में शुद्ध संयम का यथावत् पालन किया जा सकता है, पर उन्हें स्वीकार नहीं था। विचार-विमर्श चलता रहा। कोई परिणाम नहीं निकला। अन्ततः कोई चारा न देख भीखनजी अपने चार साथियों सहित बगड़ी में उनसे (आ० रुघनाथजीसे पृथक्) हो गये, निर्मल संयम की आराधना उनका चरम ध्येय जो था।

यह संघर्ष का आदि काल था। ज्यों ही वे पृथक् होकर बगड़ी की श्मशान-स्थित छत्रियों में ठहरे, आचार्य रुघनाथजी अपने साधुओं सहित वहाँ आये, बातें हुई। पर भीखनजी पंचम आरे का सहारा ले अखण्ड संयम की आराधना से पराङ्मुख हो पुनः संघ में आने को कदापि तत्पर न थे। इससे आ० रुघनाथजी के अभिमान पर ठेस पहुँची। क्षुब्धता लिये वे वापिस लौट आये। यहीं से भीखनजी के लिए अनवरत विरोधों का मानो सूत्रपात हो गया। पर इससे भला वे कब विचलित होने वाले थे। पुनः बरलूमें आ० रुघनाथजी के साथ उनकी चर्चा हुई। भीखनजी अपने विचारों पर अडिग रहे।

जोधपुर की घटना है। कुछ श्रावक, जो श्री भीखनजी में निष्ठावान् थे, स्थानक के बजाय एक दूकान में सामायक कर रहे थे। जोधपुर के तत्कालीन दीवान श्री फतेचन्दजी सिंघी ने यह देखा। उन्होंने कौतूहलवश इस सम्बन्ध में पूछा। श्रावकों ने सारी स्थिति से उन्हें अवगत कराया। श्रावकों से यह जान कर कि अभी श्री भीखनजी आदि साधु भी तेरह हैं और श्रावक भी तेरह, सिंघीजी कहने लगे—अच्छा संयोग बना है, तेरह ही साधु और तेरह ही श्रावक। एक भोजक कवि

पास ही में यह सब सुन रहा था। उसने तत्काल एक पद की रचना कर उन्हें 'तेरापंथी' नाम से अभिहित किया। श्री भीखनजी के पास यह बात पहुँची, नामकरण में उन्हें कोई विशेष रस नहीं था पर जब देखा कि नामकरण हो ही गया है तो उन्होंने इसे व्यापक अर्थ में स्वीकार किया: 'तेरापंथ अर्थात् हे भगवन् ! तेरा—तुम्हारा पन्थ यह है।"

उन्होंने दूसरी तरह तात्त्विक विश्लेषण करते हुए इसे पाँच महाव्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्तिमय संयम-आराधना के पथ के रूप में स्वीकार किया।

प्रातिकूल्य बढ़ता रहा। कार्यार्थी मनस्वी भला इसे कब सोचता है। वे उत्तरोत्तर अपने गन्तव्य पर अग्रसर होते रहे। विक्रमाब्द १८१७ आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को उन्होंने केलवा में अंधेरी ओरी में भगवत् साक्षी से नव दीक्षा स्वीकार की। अपने साथियों सहित संयम की अखण्ड आराधना में लग गये।

वे जहाँ भी जाते, प्रवास करते, सर्वत्र विरोध ही विरोध दृष्टिगत होता। यहाँ तक कि यथेष्ट भिक्षा मिलना भी दुर्लभ था। पर विघ्नों और बाधाओं के बातूल उन्हें विचलित नहीं कर सके, वे अपने मार्ग पर अविकल भाव से बढ़ते रहे। वे स्वयं अपने सहवर्तियों सहित संयम साधना में सम्पूर्ण रूपेण स्थिर थे पर उन्होंने जब यह देखा, लोग समझ नहीं रहे हैं तो उन्होंने अपने को घोर तपस्या और कठोर साधना में झोंक दिया। वृक्षों की छाया में आहार-पानी रख देते। नदी की बालू में आतापना लेते। सायंकाल गाँव में आ जाते। यह क्रम चलता रहा। उनके सहवर्ती श्रमण श्री थिरपालजी एवं श्री फतेहचन्दजी ने उनसे निवेदन किया कि आप में बहुत बड़ी शक्ति है, लोगों को सन्मार्ग पर लाने की असीम क्षमता आप में है। तपस्या हमें संभलाइये और आप लोकोद्धार के कार्य में लगिये। मुनिद्वय के प्रेरक निवेदन पर आचार्य श्री भिक्षु ने अपना रुख बदला। वे एक बार पुनः लोक-जागरण के कार्य में जुट पड़े। लोग उनके सम्पर्क में आने लगे, समझने लगे, सत्य तत्त्व को स्वीकार करने लगे। यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया, सहस्रों उनके अनुगामी हो गये।

आचार्य भिक्षु एक लोकोद्धारक महापुरुष थे। लोक-भाषा में वे बोलते थे। सत्तत्त्व लोगों को सरलता से आत्मसात् हो सके, इसके लिए वे सरल लोक-प्रचलित राजस्थानी में रचनाएँ करते थे। अन्यान्य जीवन-क्रमों के साथ उनका यह एक सहज क्रम था। कवित्व की उनमें सहज व्याप्ति थी। लोक-जनीन और साथ ही साथ अत्यन्त निगूढ़ और गंभीर विषयों पर उन द्वारा रचे गए लगभग ३८ हजार पद्य आज हमें उपलब्ध हैं, जो राजस्थानी भाषा एवं अध्यात्म-वाङ्मय को उनकी अप्रतिम देन है।

आचार्य भिक्षु एक महान् तत्त्वद्रष्टा थे, प्रखर चर्चावादी थे। अनेक लोग उनसे चर्चा करने आते, कभी-कभी व्यवहार में उग्रता लिये भी आते पर वे अत्यन्त धैर्य के साथ उनसे तत्त्व-चर्चा करते। तर्क तथा युक्तिपूर्वक किसी विषय को सरल से सरल ढंग से प्रस्तुत करने में उनकी प्रतिभा निराली थी। व्यवहार्य दृष्टान्तों, उदाहरणों आदि द्वारा जिस स्पष्टता के साथ वे अपने पक्ष का निरूपण करते, वह सुननेवाले पर सद्यः प्रभावकारी होता।

वे एक कुशल व्यवस्थापक थे। दिन पर दिन विकास और अभिवृद्धि पाते धर्म-संघ के लिए उन्होंने अनेक ऐसी मर्यादाओं का निर्माण किया कि दो शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने के पश्चात् आज भी उनका वही महत्त्व है, जो तब था। तेरापंथ के सर्वतोमुखी विकास और अभ्युदय में इन मर्यादाओं ने जो योगदान किया है, वह असाधारण है।

इस प्रकार एक सत्यशोधक साधक, क्रान्तिकारी महापुरुष, महान् कवि, प्रबुद्धचेता दार्शनिक एवं धर्मनायक के रूप में बहुविध व्यक्तित्व के धनी आचार्य श्री भिक्षु ७७ वर्षों का आयुष्य प्राप्त कर विक्रमाब्द १८६० भाद्र शुक्ल त्रयोदशी को सिरियारी में स्वर्गवासी हुए।

उस धार्मिक विश्रृंखला के युग में आचार्य भिक्षु ने एक श्रृंखला का सर्जन किया; अहिंसा, दया, दान आदि अनेक तात्त्विक पहलुओं का तलस्पर्शी परिशीलन, विश्लेषण तथा गंभीर मन्थन कर भगवान् महावीर के दृष्टिकोण को यथावत् रूप में जगत् के समक्ष प्रस्तुत किया, सत्य की प्रतिष्ठापना की, अध्यायात्म के टिमटिमाते प्रदीप को अपनी साधना के स्नेह से सींच ज्योतिर्मय बनाया।

जिस सूक्ष्म परख, ओजस्वी प्ररूपण, निर्भीक विवेचन और उन्मुक्त चिन्तन का सतत साहचर्य लिये उन्होंने सत्य को अभिव्यक्त किया, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि यदि वे पाश्चात्य देशों में कहीं उत्पन्न होते तो कान्ट और हेगल जैसे महान् दार्शनिकों की कोटि में आते।

तेरापंथ और उसके प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु

(श्री जैनेन्द्र कुमार)

प्रश्न – तेरापन्थ संगठन के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

उत्तर– जो कुछ मैं जानता हूँ उससे उस संगठन के प्रति मुझमें विस्मय का भाव होता है। कारण उसके केन्द्र में सत्ता नहीं है। सत्ता को अधिकार, हथियार और सम्पत्ति से सुरक्षित और समर्थ बनाया जाता है।

प्रश्न – क्या हर संगठन अधिकार या सम्पत्ति के द्वारा ही सुरक्षित रहता है ?

उत्तर– आजकल जो संगठन दीखने में आते हैं, लगभग सभी सत्ता और सम्पत्ति में केन्द्रित हैं।

प्रश्न – तेरापन्थ के पास में कोई सत्ता का बल नहीं फिर भी जनता पर विशेष प्रभाव जमाए है, आपके इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं ?

उत्तर– तभी तो मैंने कहा कि मेरे लिए यह विस्मय का विषय है और शायद अध्ययन का भी।

प्रश्न – कुछ ऐसे परम तत्त्व होते हैं जो सत्ता और सम्पत्ति के बिना भी संगठन को मौलिकता प्रदान करते हैं ? क्या इसके उदाहरण स्वरूप तेरापन्थ को रखा जा सकता है ?

उत्तर—हाँ, मुझे उससे प्रसन्नता होती है। कारण मैं आस्तिक हूँ। आस्तिक का मतलब कि मैं समष्टि को चित् केन्द्रित और चित्-संचालित मानता हूँ। यह चित् अस्तित्व का सार है। वह भार युक्त या ठोस वस्तु नहीं है। मेरी श्रद्धा है कि जहाँ संगठन के केन्द्र में यह चित् तत्त्व है, वही संगठन जीवन्त है और शुभ है। अन्यथा संगठन में संदिग्ध का मेलहोता है और उससे फिर जीवन का अहित होने लगता है। मानव संगठन के सम्बन्ध में यह श्रद्धा आज खत्म हुई सी जा रही है कि बिना सत्ता और सम्पदा के वह उदय में आ सकता है या कायम रह सकता है। दूसरे क्षेत्रों में यह विश्वास उतना अगम नहीं है। सौर मण्डल को लीजिए—अनन्त काल से वह मण्डल अपनी कक्षानुसार वर्तन कर रहा है। आधारभूत उसमें क्या है ? क्या कोई कान्स्टीट्यूशन है ? अधिपतित्व है ? नहीं, केवल एक आन्तरिक विवशता है। अपनी इस पृथ्वी को ही लीजिए, पृथ्वी के अन्तर-गर्भ में केवल तेजोमय अग्नि ही तो है। उसी के बल से यह ठोस पिंड टिका हुआ है। पदार्थ को विज्ञान ने अणु तक विखण्डित करके जाना तो अन्त में क्या मिला ? यही कि मूल में चिन्मयता है, जड़-तत्त्व उसी के साथ जुटा रह कर हमको ठोसपन की प्रतीति देता है। जिसको प्रकृति में, पदार्थ क्षेत्र में, हम सहज स्वीकार कर पाते हैं, वही विश्वास मानो मानव-क्षेत्र और समाज-क्षेत्र में हमारे लिए दुर्गम बन उठा है। अपने सार्वजनिक नेताओं और कार्यकर्ताओंको लगता है कि बीच में कोई बड़ा फंड हो, या वैधानिक करारनामा या सत्ता हो, तब संघ रूप से काम चल सकता है। जैसे आदमियों को मिलानेवाली चीज अधिकार और भोग ही हो सकती है। इस पद्धति से जो हम मानव समुदायों को जुटाने और उठाने का प्रयास करते आए हैं उसमें देखते हैं कि स्पर्धा और वैमनस्य भी बढ़ा है। उन्नति भी हुई हो सकती है, लेकिन वह मानो मानसिकता के क्षेत्र में नहीं हुई है, केवल भौतिक क्षेत्र में दीखती है। इस अनास्था को टूटना चाहिए और मालूम होना चाहिए कि कुछ और ही तत्त्व है, चिन्मय तत्त्व, आध्यात्मिक तत्त्व, नैतिक तत्त्व कि जिसके चारों ओर मानव संघटना हो सकती है और होनी चाहिए। यदि ऐसा हो तो मेरा विश्वास है कि हम देख पाएंगे कि यह संघटना काल को भेदती हुई स्थायी बनती है, उसमें उगने और बढ़ने के बीज रहते हैं। दूसरे प्रकार के संगठन मानो सदा बिखरने और फटने को उद्यत दीखते हैं, बड़े यत्न से ज्यों-त्यों उसे जुटाये रखना पड़ता है। पर मेरी दृढ़ मान्यता है कि चिन्मयता को केन्द्र में लेकर बनने वाली संघटना बिखरेगी नहीं, बल्कि स्वाभाविक और सहज रूप से बढ़ती और पलती जाएगी। यदि कभी अपनी इस छोटी सी दुनिया को एक होना है, और उस एकता को ऐसा होना है, कि वह आगे भी विस्तार पाती जाये, तो यह काम राजनीतिक या प्रशासनिक संगठन से नहीं होगा बल्कि ऐसे किसी संगठन से होगा जिसके मूल में प्रेम है और इसीलिए भोग की जगह त्याग है।

प्रश्न—तेरापंथ की जो शासन प्रणाली चालू है, उसे कुछ लोग डिक्टेटरशाही कहते हैं, इसे आप कैसा समझते हैं ?

उत्तर—यह मेरे अध्ययन का विषय होना चाहिए और सम्मति देने का मेरा अधिकार नहीं है। लेकिन डिक्टेटरशाही के कुछ बाह्य उपकरण भी होते हैं, वे तो मैं तेरापंथ में नहीं देखता।

प्रश्न—बाह्य उपरण से आपका तात्पर्य ?

उत्तर—कुछ देशों में डिक्टेटरशिप है। डिक्टेटर के पास अधिकार है, फौज है, पार्टी है, पुलिस और अदालत है। सम्पत्ति वहाँ से मिल सकती है या छिन सकती है। वे पद दे सकते हैं और चाहें तो जान ले सकते हैं। इस प्रकार के बाह्य उपकरण डिक्टेटर के पास रहते हैं। वैसा कुछ इधर भी है क्या ?

प्रश्न—भिक्षु स्वामी के व्यक्तित्व में आप क्या विशेषता देखते हैं ?

उत्तर—भिक्षु स्वामी के चरित्र का मैंने पूरा अध्ययन नहीं किया है। पर मेरे मन पर छाप है कि सत्य से बढ़कर दूसरा उनके लिए कुछ नहीं था। वे उसके लिए मान, प्रतिष्ठा यहाँ तक कि जीवन भी निछावर कर सकते थे। वह सत्यवीर थे, अडिग और निर्भीक थे। साथही जिसको मैं बड़ी बात मानता हूं वह स्व-रत और स्व-लीन नहीं थे। इसीसे वे प्रणेता और प्रवर्तक हो सके।

प्रश्न—आचार्य भिक्षु ने संघ का प्रवर्तन क्यों अनिवार्य समझा ?

उत्तर—वह चाह कर भी अकेले हो नहीं पाए। लोग उनके साथ हुए ही। इसी को संघ कहना चाहिए। पीछे कोई उनका नाम लेवा संघ रहे ऐसी उन्होंने चिन्ता की होगी, यह मैं नहीं मान सकता हूँ। हाँ, जो उनके संग अनायास उपजा और बढ़ता चला गया उस संघ की चिन्तना तो उनसे कैसे छूट सकती थी ? वह उन्होंने किया और योग्य कार्य किया। इसमें मैं कोई राग-भाव नहीं देखता हूँ।

प्रश्न—क्या उनका यह कदम क्रान्तिकारी कहा जा सकता है ?

उत्तर—अनिवार्य रूप में वह कदम क्रान्तिकारी हो जाता है जिसमें संसार का राग विसर्जित होता है और सत्य का प्रेम प्रतिष्ठित होता है।

प्रश्न—आचार्य भिक्षु के पास सत्य को प्रसारित करने के स्वल्प-उपकरण थे और अनेक लोग विरोधी थे। फिर भी अटूट साहस से वे अपने पथ पर डटे रहे और उन्होंने सत्य को आगे बढ़ाया इस में उनकी आन्तरिक शक्ति के अतिरिक्त और क्या नजर आता है ?

उत्तर—मैं अन्तर-बाह्य को सर्वथा दो सत्ताएँ मान कर नहीं चलता। अर्थात् जो अपने अन्तरतम के साथ अभिन्न होता है उसे प्रयोजन की भाषा में अलग से कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं प्रकाशमय होता है। प्रकाश के लिए अपने को प्रकाशित करने जैसा अलग काम नहीं रह जाता। प्रकाश स्वयं प्रकाश्य है। इसलिए कहा जा सकता है कि बाधाएँ, अड़चनें, विपदाएँ ही उनको फैलानें में साधन और माध्यम बन जाती हैं। यह तो आम अनुभव है कि विरोध में से व्यक्ति विस्तारित होता है। उनकी ज्वलन्तता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि विरोध उद्दीप्त हुआ। धूप हम तक क्यों आ जाती है ? क्यों तारे हमको दीखते हैं ? कारण सिवा इसके क्या कहा जा सकता है कि सूरज सूरज है और तारे प्रकाशरूप हैं। भिक्षु स्वामी आत्मारूढ़ और सत्यमय होते गए, इसके अतिरिक्त उन्हें करने को ही क्या था। यही महत् पुरुषार्थ है और उनकी प्रतिभा का मर्म इससे पृथक् किसी लोक-दक्षता में देखने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न—मनुष्य प्रकाश का इच्छुक रहता है, जब उसे प्रकाश मिलना शुरू होता है तब विरोध क्यों कर उठता है ? क्या उसे कहीं भ्रान्ति रह जाती है ?

उत्तर—प्रकाश अंधकार को समझ नहीं सकता। अब अंधकार क्या करे ? प्रकाश अपने को अपने में रोक नहीं सकता अर्थात् स्वभाव से ही प्रकाश को बढ़ना और अंधकार को हटना होता है। यह विरोध मौलिक है। उसका आगे और विश्लेषण भी क्या हो सकता है ? इतिहास में कभी नहीं हुआ, न होगा कि प्रकाशमान पुरुषों को पराभव न सहने पड़े हों। उसके औचित्य के लिए तर्क को कहीं ढूंढने जाना नहीं है, वह वस्तु स्थिति में ही गर्भित है।

प्रश्न—सारे संघ में एक ही आचार्य का अनुशासन चलना चाहिए तेरापंथ के ये विचार क्या व्यक्ति स्वातन्त्र्य के अनुकूल हैं ?

उत्तर—मुझे विशेष प्रतिकूलता नहीं दीखती। मैं स्वतन्त्रता शब्द को बहुत ऊंचा नहीं मानता। मेरे निकट स्वतंत्रता की सार्थकता सर्वथा देने में है, लेने में तनिक भी नहीं। अर्थात मुझे प्रेम प्रिय है। अपनी स्वतन्त्रता उस नाते मुझे अप्रिय भी हो सकती है। आचार्य तो चलो एक के बजाय अनेक भी हो सकते हैं, लेकिन क्या आदमी में अन्तःकरण और विवेक भी दो हो सकते हैं? क्या विवेक के आधिपत्य को स्वतन्त्रता की बात कहना होगा? यदि आचार्य सत्ता भोगी नहीं है, उस संघ या समाज के अन्तः करण का प्रतीक है तो इसमें मैं पूरा औचित्य देख सकता हूं।

अन्तः करण की ओर से आया हुआ अनुशासन इन्द्रियों को या दूसरे अंगोपांगों को कुछ अप्रिय भी लग सकता है लेकिन मुझे उसमें कोई अनुपयुक्तता दिखाई नहीं देती। बल्कि यह तो अनिवार्य है।

प्रश्न—विचार भेद होने पर कोई भी सदस्य जब चाहे तभी संघ से अलग होने में स्वतन्त्र है। पर जब तक संघ में रहता है तब तक उसे संघ के नियमानुसार ही रहना आवश्यक है। तेरा पंथ का यह नियम क्या व्यक्ति स्वातन्त्र्य की सीमा को लांघता है या उसे बनाता है?

उत्तर—व्यक्ति यदि स्वतन्त्र है कि वह संघ में चाहे तो रहे, न चाहे तो न रहे तो संघ की अन्तरंग मर्यादाएं उसकी स्वतन्त्रता का हनन करने वाली नहीं कही जा सकतीं। वे मर्यादाएँ तब उसके आत्मानुशासन का अंग बन जाती हैं।

प्रश्न—वे मर्यादाएं आत्मानुशासन रूप ही हैं तो फिर संघीय क्यों कहलाती हैं?

उत्तर—संघ को जब हम स्वेच्छा से आत्मीय बनाते हैं तो संघानुशासन आत्मानुशासन जैसा आप ही प्रतीत होगा। यह अवश्य है कि संघ का बल बढ़ेगा तभी जब, और जितना, सदस्यों का समर्पण उसके प्रति हार्दिक होगा। हार्दिकता में त्रुटि रहने पर व्यक्ति संघ के, साधक की जगह बाधक हो चलते हैं।

प्रश्न—तेरापंथ की मर्यादा है कि सिर्फ आचार्य ही दीक्षा दे सकते हैं। परन्तु इतर जैन सम्प्रदायों में यह नियम नहीं है। वहां हर कोई अपना शिष्य बना सकता है। आप की दृष्टि में श्रमण संघ की उन्नति के लिए कौन सी पद्धति अधिक उपयुक्त लगती है

उत्तर—मेरा झुकाव पद्धति के प्रति नहीं है, आत्मवत्ता के प्रति हैं। पद्धति कोई वहीं तक उपादेय और हितकर रहती है जहां तक भीतर उसके आत्मा विद्यमान हो। आचार्य पद पर मान लीजिए आगे कभी अपात्र व्यक्ति आ जाता है तो क्या केन्द्र की यह अपात्रता सारे व्रत को शिथिल और क्षीण नहीं कर देगी? गुरु शिष्य सम्बन्ध पवित्र और हार्दिक सम्बन्ध है। वैधानिक रूप में वह उपयोगी बना रहेगा तभी तक जब तक उसकी हार्दिकता और प्रसन्नता कायम रहेगी। आप ऐतिहासिक दृष्टि से चाहें तो मानें कि तेरापन्थ का बल इस एक-केन्द्रिता के नियम के कारण एकत्रित और सुरक्षित रहा। वह हो भी सकता है, लेकिन मेरी आस्था है कि केन्द्र की अध्यात्मप्राणता के कारण यह सम्भव रहता आया होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि व्यवस्था के नाते केन्द्र एक रहे तो अच्छा है। अन्तः करण आदमी के पास एक होता है। विवेक एक होता है, हृदय एक होता है। द्विहृद् शब्द सगर्भावस्था के लिए है जब भीतर अन्य जीव की भी स्थिति होती है। व्यवस्था में आचार्य अथवा गुरु पद एक हों तो व्यवस्था सुचारु रहती है। लेकिन गुरु तो माता के समान है। संस्था उसके लिए अपत्य के समान है। उसका चिन्तन और पोषण वह अपने से भी अधिक ममता से करता है। डिमोक्रेटिक होने की मांग भी इस तरह उससे पूरी-पूरी निभ जाती है। आज्ञाशाली एकमात्र होने पर भी डिक्टेटर-शिप का भाव कहीं नहीं आ पाता। किन्तु यह अध्यात्म प्राणता में ही सम्भव है। इस प्रकार की सत्ता को सम्पदा से शून्य सम्वेदन से एक ही साथ युक्त और मुक्त कोई स्वत्वातीत पुरुष ही साध सकता है। माता के लिए ही दोहृद् अवस्था भूषण है क्योंकि अपने से अधिक वह अपने गर्भ में रह सकती है। लेकिन स्वत्व आदमी जब दुचित्ता बनता है तो उसका हाल बे-हाल हो जाता है। डेमोक्रेटिक लीडर या डिक्टेटर की दुर्गति इसी से देखने में आती है। समाज वह भाग्यवान् है जिसको ऐसा सम्वेदनशील आत्मिक केन्द्र प्राप्त है। जिस समाज को वह सुविधा नहीं है उसको वैधानिकता के जोर से यों संभाला कितना भी जाय पर वह सम्भला रहता नहीं है। शिष्य अनेक हों और वे भिन्न-भिन्न आचार्यों को मानें तो इन सबको मिलाकर समाज को एक बनाये रखना कठिन होगा। अधिकांश

होगा यह कि अमुक आचार्य को केन्द्र मान कर जो समुदाय एकत्र होगा उसका कुछ अपना स्थापित हित और स्वार्थ पनपने लग जाएगा। इससे कठिनाई हो सकती है।

प्रश्न—तेरापंथ में हर गतिविधि के केन्द्र आचार्य हैं। आचार्य को लांघकर कोई कुछ भी नहीं कर सकता। कुछ व्यक्ति इस स्थिति को विकास में बाधा मानते हैं। पर साधुजन ऐसा कुछ महसूस नहीं करते। आपकी दृष्टि में क्या यह बाधा है?

उत्तर—जिनके लिए प्रश्न हो वे ही यदि उन्हें बाधक रूप में अब तक महसूस नहीं कर पाये हैं तो यह विचार केवल शाब्दिक रह जाता है, सारभूत नहीं होता। मैं आज्ञा या आदेश पालन को विकास में बाधा नहीं मानता हूँ। उल्टे यह विनय वृत्ति सहायक ही होती है।

लेकिन केन्द्र का आशय कुछ अधिक स्पष्ट होना चाहिए। हमारे शरीर में बुद्धि मस्तिष्क में केन्द्रित है। भावना हृदय में केन्द्रित मानी जाती है। लेकिन आत्मा का केन्द्र कहाँ है? आत्मा तो वैसे शरीर भर में व्याप्त है। कहीं एक जगह नहीं है और हर जगह है। आचार्य के प्रभाव को भी मैं इसी तरह काम करता हुआ मानना चाहता हूँ। सम्भव हो भी सकता है कि शरीर का अमुक अंगोपांग मस्तिष्क के नियंत्रण के कारण, अथवा हृदय की बाधा के कारण अविकसित रह जाए, पर किसी भी अंग-प्रत्यंग की आत्मा से तो वैसी पृथक्ता मानी नहीं जा सकती। आचार्य संघ में आत्मा के सदृश व्याप्त हों तो उस तरह की आशंका के लिए स्थान नहीं बचता।

प्रश्न—तेरापंथ की मर्यादा के अनुसार याचित या निर्मित प्रत्येक वस्तु समस्त श्रमण संघ के नेश्राय में होती है। व्यक्ति विशेष का उस पर कोई आधिपत्य नहीं रहता। ऐसी अवस्था में भी संघ में इन सबका निरन्तर विकास होता नजर आता है। इसमें आप क्या रहस्य देखते हैं?

उत्तर—मेरी दृष्टि से यह स्वाभाविक है। सृष्टि प्रेम से होती है। प्रेम में आत्मदान है। साधु लोग आत्मदान का तृप्ति लाभ पाते हैं जब—अपना सर्वश्रेष्ठ वे अपनी रचना में डालते हैं और उसे संघ के स्वत्व में अर्पण करते है।

प्रश्न—तेरापंथ के विरुद्ध अनेक निन्दात्मक बातें दूसरे समाजों की ओर से मुद्रित, प्रचारित और प्रसारित की जाती रही हैं परन्तु तेरापंथ समाज ने वापिस वसा नहीं करने की नीति पर ही अमल किया है। आप इसे तेरापंथ के लिए ठीक समझते हैं या खराब?

उत्तर—निन्दा को मैं भला समझता हूँ निन्दित के लिए। नुकसान उसमें केवल निन्दक का है। निन्दा उपकार है, क्योंकि वह अमुक व्यक्ति अथवा समाज को अपने दोषों के प्रति जगा रखने में सहायक होती है।

तेरापंथ की ओर से अगर किसी की निन्दा नहीं की गई, और निन्दा का उस भाषा में उत्तर नहीं दिया गया, तो यह अच्छा ही है। लेकिन मैं इससे भी आगे जाना चाहूँगा और वह यह कि निन्दा की और निन्दक की अवज्ञा भी न मन में आने दी जाय। तेरापंथ की ओर से यदि आप बतायें कि ऐसा भी किया गया है तो मेरे लिए हर्ष की बात होगी।

ऊपर जो कहा इसमें यह तो आ ही जाता है कि निन्दा न करना और प्रतिनिन्दा द्वारा उत्तर न देना उचित और सराहनीय है। तेरापंथ ने ऐसा करके स्वास्थ्य का ही प्रमाण दिया है। क्योंकि निन्दा में हम दोष-दर्शन के स्तर पर उतर आते हैं। लाभ गुण—दर्शन में से होता है। इस सृष्टि में गुण-दोष से हीन तो है क्या? दोष देखने चलो तो हर कहीं मिल जाएंगे। पर दोष दर्शन की इस सुविधा से जीवन-यात्री को लाभ भला क्या होने वाला है? तीर्थ-दर्शन और पुण्य-दर्शन की भावना में से ही उसे उत्कर्ष और आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसलिए मेरा विचार तो यहाँ तक जाता है कि निन्दक के भी हम गुण देखें और उसकी भी सराहना करें।

इसका मतलब मैं किसी निर्बलता का समर्थन करता हूँ यह नहीं है। प्रेम में से जितनी दृढ़ता प्राप्त हो सकती है, उसका अनुमान भी कठिन है। उस प्रेम में अनन्त प्रतिकार की शक्ति है। इस तरह अहिंसा को पराक्रम की वृद्धि मानता हूँ और उसमें से शासन की अपूर्व क्षमता आ सकती है। शमन-दमन-दण्ड ये सब कुछ आ सकता है। इसलिए मेरी आशा है कि तेरापंथ की ओर से जो निन्दा-प्रतिनिन्दा में न उतरने का प्रण रखा गया, उसमें बल ही काम कर रहा है, कोई दौर्बल्य नहीं।

प्रश्न—आप तेरापंथ के साधुओं में अन्य जैन श्रमणों से अपेक्षाकृत कोई विशेषता पाते हैं?

उत्तर—यह कि उनके पास आश्रम के लिए कहीं कोई अपना स्थल नहीं है, दूसरे का हृदय और दूसरे का आवास ही उनके लिए शरण है। इस कारण उनमें कुछ और भी विशेषताएँ अनायास विकसित होती जा सकती हैं।

प्रश्न—तेरापंथ के वर्तमान आचार्य श्री तुलसी तथा उनके विभिन्न साधुओं से आपका यदा-कदा जो सम्पर्क आता रहा है, उससे तेरापंथ के लिए आपकी सद्भावनाएँ विकास पाई हैं या ह्रास? विकास पाई हैं तो उसके कारणों का विवेचन कीजिए ह्रास पाई हैं तो भी?

उत्तर—ह्रास का मैं कायल नहीं हूँ। सम्बन्धों में स्नेह हो, दूसरी किसी प्रकार की अपेक्षा न हो, तो वह सम्बन्ध फले फूलेगा ही, घटेगा क्यों?

मैं अन्तिम रूप से व्यक्ति को मानता हूँ। पन्थ, संघ आदि व्यक्तियों के प्रकाश से प्रकाशित या उनकी जड़तासे जड़ित बनते हैं। आचार्य तुलसीजी को मैंने जागरूक प्रसन्न और व्यक्तित्व सम्पन्न कुशल पुरुष पाया है। स्निग्ध और सुलझ दूसरे मुनियों में भी प्रमाद नहीं देखा बल्कि प्रयास देखा कि विकास और गति की प्रत्येक लहर से अवगत हों और आगे बढ़ें। कहना होगा कि दूसरे (पंथ के) साधुओं में अपेक्षाकृत मुझे यह कम देखने को मिला।

आचार्य भिक्षु : एक महान् कवि

(लेखक—श्री छगनलाल शास्त्री)

सन्त साहित्य का स्थान—

सन्त साहित्य भारतीय वाङ्मय का जीवन-सत्त्व है, यों कहना अतिरंजन नहीं होगा। साधना के पथ पर निरन्तर आगे बढ़ते आत्म-बल के धनी सन्तों ने जो सत्य पाया, उनकी सहज, सरल तथा बोधगम्य वाणी का आश्रय पा वह सर्वजन भोग्य बन गया। आत्म-संगीत के उद्गाता, जीवन-काव्य के कवयिता ये सन्त अपनी वाणी के रूप में जो अमूल्य विचार-निधि अपने पीछे छोड़ गये, वह युग-युग तक मानव को अन्तः श्रेयस् की ओर अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती रहेगी। हृदयस्पर्शी पदों के रूप में सन्तों द्वारा संजोई गई वह अमर ज्योति कभी बुझेगी नहीं सदा जलती ही रहेगी। उसका प्रकाश जीवन की पगडंडी पर आगे बढ़ते पथिकों को शाश्वत काल तक पथ-दर्शन देता रहेगा। सन्तों द्वारा काव्य-सुरसरी के रूप में अवतारित वह जीवन रस कभी सूखेगा नहीं, बहता ही रहेगा, जिसका सेवन कर युग-युग तक मानव अमरत्व का आस्वाद लेता रहेगा।

आचार्य भिक्षु : एक महान् सन्त—

आचार्य भिक्षु एक युग प्रवर्तक, क्रान्तद्रष्टा महान् सन्त थे। वे विकारों से जूझे थे, रूढ़ियों से लड़े थे, जड़ परंपराओं और स्थितिपालकताओं के विरुद्ध उन्होंने विद्रोह का शंख फूंका था। विपरीतताएँ उन्हें डिगा नहीं सकीं, विरोध उन्हें हिला नहीं सके, वे मेरु और हिमाद्रि की तरह अडोल रहे। इन सब स्थितियों ने उनके जीवन में एक अद्भुत सहिष्णुता, निर्भीकता एवं स्पष्टवादिता का विशेष संचार कर दिया। सत्य को कड़े से कड़े रूप में प्रस्तुत करने में वे कभी नहीं हिचकिचाये। यही कारण है, उनकी कविता में कबीर की तरह फक्कड़पन है, एक स्वाभाविक ओज तथा संवेग है, जो सन्त-काव्य की अपनी विशेषता है।

एक जन्मजात कवि—

कवि बनाये नहीं जाते, वे उत्पन्न होते हैं। आचार्य भिक्षु का जीवन इसका ज्वलन्त निदर्शन है। उन्होंने विधिवत् रीति-ग्रंथ, अलंकार-शास्त्र आदि का अध्ययन कर कवित्व का शिक्षण पाया हो, ऐसा नहीं था। हृदय में भावों का उद्वेलन हुआ, वे बाहर निकलने को तिलमिला उठे, अन्तःसारपूर्ण शब्दों का सम्बल पा मूर्त्त रूप में आविर्भूत हो चले। यही तो उनकी कविता थी।

संस्कृत के अति प्रसिद्ध रीतिकालीन आचार्य, साहित्य दर्पण के प्रणेता श्री विश्वनाथ ने कहा था कि शब्द और अर्थ तो कविता का केवल कलेवर है, उसकी आत्मा तो रस है। यही वह तत्त्व है, जो मानव को सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करता है। आत्म-शून्य शरीर की जो दशा होती है, वही दशा रस-शून्य कविता की होती है। गहराई से परखने पर हम पायेंगे, आचार्य भिक्षु की पदावलियाँ काव्य-रस से छलाछल भरी हैं। मानो उनमें निर्वेद (शान्त रस) का दिव्य निर्झर बह रहा हो।

भाषा—

आचार्य भिक्षु का जन्म राजस्थान के जोधपुर प्रमण्डल में हुआ था, जिसे मारवाड़ कहा जाता है। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः जोधपुर तथा उदयपुर प्रमण्डल, दूसरे शब्दों में मारवाड़ एवं मेवाड़ रहा। इसीलिए उन्होंने अपनी कविता में जिस, भाषा का प्रयोग किया है, वह मारवाड़ी एवं मेवाड़ी का मिश्रित रूप है। मेवाड़ गुजरात का सीमावर्ती भूखण्ड है अतः वहाँ की भाषा पर गुजराती का ठीक उसी तरह प्रभाव है, जैसा मेवाड़ी का गुजराती पर*। अतएव आचार्य भिक्षु द्वारा प्रयुक्त राजस्थानी में गुजराती की भी एक हल्की-सी पुट हम पाते हैं।

---

* कुछ शताब्दियों पूर्व एक समय था जब गुजराती और राजस्थानी एक ही भाषा थी। देश, काल आदि के भेद से उत्तरोत्तर भिन्नत्व होता गया। इसके बावजूद भी इन दोनों भाषाओं में बहुत अधिक नैकट्य है।

चूंकि आचार्य भिक्षु एक निःस्पृह साधक थे, उस शाश्वत सत्य को जन-जन तक पहुंचाना उनका अभिप्रेत था, जिसे उन्होंने आत्मसात् किया था, न कि कवित्व-प्रख्यापन द्वारा कीर्ति-अर्जन। वास्तविक स्थिति तो यह थी, कविता उन्होंने की नहीं, बन पड़ी और अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी। उन्होंने उन दिनों प्रचलित राजस्थानी के लोकजनीन, सरल एवं बोधगम्य शब्दों का प्रयोग किया है, जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्तल तक पहुँच सकें।

रचनाएं :—

आचार्य भिक्षु का जीवन अनेक संघर्षों से संकुल था। वे अध्यात्म-क्रान्ति के महान् स्रष्टा थे। पग-पग पर कठिनाइयां उनका स्वागत करने खड़ी थीं। अनेक बार आधी-आधी रातों तक वे लोगों को समझाने में लगे रहते थे। फिर भी आश्चर्य है, उन्होंने अपने जीवन में इतना लिखा, जिसकी स्यात् हम कल्पना भी नहीं कर सकते। लिखा भी अत्यन्त उत्तम कोटि का। दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल शब्दावली की माला में सरसता एवं सफलतापूर्वक ग्रथित कर देना उनकी अद्भुत प्रतिभा और नैसर्गिक कवित्व का स्पष्ट परिचायक है।

जैन तत्त्व ज्ञान, आचार-विश्लेषण, जीवन-चर्या, धर्म-शास्त्र की मर्यादाएँ आदि मौलिक विषयों पर आचार्य भिक्षु की जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे श्रमण और गृही वर्ग के लिए निःसंदेह उनकी एक अप्रतिम देन हैं। अध्यात्म-वाङ्मय में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

तेरापंथ के चतुर्थ पट्टधर श्री जयाचार्य ने अपने धर्म-संघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के जीवन-चरित्र के रूप में अपने द्वारा रचित 'भिक्षु जस रसायन' नामक ग्रन्थ में उनके द्वारा ३८ हजार गाथाओं के रचे जाने का उल्लेख किया है। उनकी अधिकांश रचनाएँ पद्यबद्ध हैं, कुछ गद्य बद्ध भी। उनके द्वारा रचित पद्यात्मक रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

१—नव पदारथ २—श्रावक ना बारे व्रत ३—कालबादी री चौपई ४—इन्द्रियवादी री चौपई ५—परजायवादी री चौपई ६—टीकम डोसी री चौपई ७—निक्षेपां री चौपई ८—निन्व री चौपई ९—मिथ्याती री करणी री चौपई १०—एकल री चौपई ११—जिनाग्या री चौपई १२—पोतियाबन्ध री चौपई १३—निन्व रास १४—विनीत अविनीत री चौपई १५—विनीत अविनीत री ढाल १६—उरण री ढाल १७—मोहणी कर्म-बंध री ढाल १८—दशवें प्राछित्त री ढाल १९—जिण लखणा चारित आवे न आवे तिणरी ढाल २०—सूंस भंगावण रा फल री ढाल २१—सांमधर्मी सांमद्रोही री ढाल २२—शील की नव बाड़ २३—समकित री ढालां २४—गणधर सिखावणी २५—दांन री ढालां २६—वैराग री ढालां २७—जुआ री ढाल २८—ब्याहुलो २९—तात्त्विक ढालां ३०—अणुकम्पा री चौपई ३१—विरत इविरत री चौपई ३२—श्रद्धा री चौपई ३३—आचार री चौपई ३४—अवनीत रास ३५—गोसाला री चौपई ३६—चेडा कोणक री सिंध ३७—तामली तापस रो बखांण ३८—उदाइ राजा रो बखांण ३९—सकडाल पुतर रो बखांण ४०—सुबाहुकुमार रो बखांण ४१—मृगा लोढा रो बखांण ४२—उंबरदत्त रो बखांण ४३—धना अणगार री चौपई ४४—मल्लिनाथ रो बखांण ४५—थावचा पुतर रो बखांण ४६—द्रौपदी रो बखांण ४७—तेतली प्रधान रो बखाण ४८—जिनरिख जिनपाल रो बखांण ४९—नंद मणिहार रो बखांण ५०—पुण्डरीक कुंडरीक रो बखांण ५१—भरत चरित ५२—जंबूकुमार चरित ५३—सुदर्शन-चरित ५४—चेलणा रो चोढालियो ५५—सास बहु रो चोढालियो

शैली :—

आचार्य भिक्षु की अधिकांश रचनाएँ राजस्थान में प्रचलित विभिन्न राग-रागिणियों में हैं। साथ-साथ दोहे, सोरठे आदि छन्दों का भी प्रयोग है। तत्त्व-दर्शन जैसे गूढ़ विषय को अत्यन्त सरल एवं सरस गीतों में उन्होंने जिस निपुणता से ग्रथित किया, वह वास्तव में एक आश्चर्य की वस्तु है। गीत सर्वसाधारण को प्रिय होते हैं। उनके माध्यम से गंभीर तत्त्व भी सहज ही जन-जन तक पहुंचाये जा सकते हैं। लोग इन्हें सरलता से स्मृति में रख सकते हैं, गाकर प्रेरणा और आनन्द ले सकते हैं। उनके द्वारा गीत्यात्मक शैली को अपनाये जाने का सम्भवतः यह भी एक कारण रहा हो।

शब्दों में प्रसाद :—

उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि शब्दों के प्रयोग में वहाँ प्रयत्न साध्यता नहीं है, सहज गम्यता है। भावों के अनुकूल जो शब्द सहजतया उद्‌गीर्ण हुए, उन्हें ही अपनी रचनाओं में उन्होंने प्रयुक्त किया। प्रसाद उनकी शैली में स्वभावतः सध पाया है।

विनयमूलक धर्म का निरूपण करते हुए उन्होंने कितने सरल एवं प्रसादमय शब्दों में कहा है—

"विनयमूल धर्म जिन कह्यो, ते जाणे विरला जीव।
ते सतगुरु रो विनय करे त्यां दीधी मुक्ति री नींव ।।
जे कुगुरु तणो विनय करे, ते किम उतरे भव पार।
ज्यां सुगुरु कुगुरु नहीं ओलख्या, ते गया जमारो हार ।।
कोई अज्ञानी इम कहे, गुरु ने बाप एक होय।
भूंडा भला ते गुरु कह्या, त्यांने न छोड़ना कोय ।।
जिण आगम मांहि इम कह्यो गुरु करणा गुण देख।
खोटा गुरु ने नहीं सेवणा, त्यांरी कीमत करणी विशेष ।।

अर्थात् भगवानने धर्म का मूल विनय बताया है। पर बहुत कम लोग ऐसे हैं, जो उसे यथार्थतः समझते हैं। विनय सत् गुरु का किया जाना चाहिए, जो मुक्ति की नीवें गाड़ने वाले हैं। जो कुगुरु का विनय करते हैं, वे भव समुद्र को कैसे पार कर सकेंगे? जिन्होंने सत्गुरु और कुगरु की पहचान नहीं की, वे मनुष्य जीवन हार गये—उनका मनुष्य भव निष्फल गया। कई अज्ञानी ऐसा कहते हैं कि गुरु और बाप तो एक ही होते हैं। अच्छे बुरे जो भी हैं, जिन्हें हम गुरु कहते हैं, उन्हें नहीं छोड़ना चाहिए। पर भगवान् द्वारा प्ररूपित आगमों में तो यों कहा है कि गुण देखकर गुरु करने चाहिए। कुत्सित—झूठे गुरु का सेवन नहीं करना चाहिए और न बहुमान ही।

इन पद्यों में सुगुरु-कुगुरु-विवेक पर कवि ने जिस अन्तःस्पर्शिनी शैली और सहज बोध्य शब्दों द्वारा प्रकाश डाला है, वह सहसा पाठक के हृदय को झकझोरे बिना नहीं रहता। 'गया जमारो हार', 'गुरु ने बाप एक' आदि उक्तियों का प्रयोग कर जिस प्रकार उन्होंने विषय का विशदीकरण किया है, यह उनकी लेखनी की अपनी विशेषता है। अर्थ की रमणीयता स्वतः बन पड़ी है। कवि को जरा भी प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। रस गंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने रमणीय अर्थात्मक शब्दावली को ही तो काव्य कहा है।[1]

अलंकार :—

संस्कृत क्षेत्र में अलंकार-शास्त्र के अग्रणी विद्वान् आचार्य मम्मट ने कविता के लिए अलंकारों को आवश्यक माना है पर साथ ही यह भी कह दिया है कि यदि वे कहीं कहीं न भी हों तो कोई बात नहीं।[2] हिन्दी के अति प्रसिद्ध रीतिकालीन आचार्य केशव ने भी कविता और वनिता की शोभा के लिए अलंकारों की आवश्यकता अनुभव की है।[3]

इस पर जरा सूक्ष्मता से सोचें—माना कि अलंकार कविता के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं पर कब? जब कि सहज रूप में उनका प्रयोग हो। जहाँ काव्य की सुन्दरता को बढ़ाने के लिए खोज-खोज कर अलंकार लादे जाते हैं, वहा कविता शोभित और विलसित नहीं होती, उनके भार से दब (मूर्च्छित हो) जाती है। महाकवि केशव के साथ यही तो हुआ। उन्होंने अपने महाकाव्य 'राम चन्द्रिका' में जहाँ तरह-तरह के जटिल और ग्रंथिल अलंकारों को ठूंसने का प्रयत्न किया, वहाँ उस महा काव्य के अन्तःस्रोत को ही शुष्क बना दिया। तभी तो वे 'काव्य के प्रेत' कहे जाते हैं।

आचार्य भिक्षु एक अध्यात्म-साधक थे। लोगों को जीवन-रस से आप्लावित करना उनको अभिप्रेत था, सुन्दर शब्दों की खोज में जुड़े रहना नहीं, अलंकारों को घड़ने में बुद्धि दौड़ाना नहीं। पर फिर भी शब्दों की सुसज्जा, अर्थानुकूल प्रयोग,

---

१—रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
(रस गंगाधर)

२—तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
(काव्य प्रकाश)

३—भूषण बिना न सोहइ कविता वनिता मित्त।
(कवि-प्रिया)

अन्तःस्पर्शी ध्वन्यात्मकता सहज भाव से ही उनकी कविता में सध गई हैं। यही बात अलंकारों के सम्बन्ध में है। जहाँ अभिप्रेत निरूपण में तन्मय हो वे लिखने बैठते हैं, अलंकारों का एक सहज समा बँध गया है। जैसे—

एक ही क्रिया में पुण्य और पाप दोनों होते हैं, एतन्मूलक मिश्र प्ररूपण का परिहार करते हुए उन्होंने बड़े सुन्दर रूप में कहा है—

"सांभर केरा सींग में, सींग सींग में सींग।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में, धींग धींग में धींग॥
बाजर खेत बावे जरे, बूंट बूंट में बूंट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में, झूठ झूठ में झूठ॥
चोर मिले उजाड़ में, करे झपट झपट में झपट।
ज्यूं मिश्र परूपे त्यांरी बात में, कपट कपट में कपट॥"

अर्थात् सांभर के एक सींग में से दूसरा, उसमें से तीसरा, इसी प्रकार एक एक से अनेक सींग निकले रहते हैं। जो पुण्य-पाप की मिश्र प्ररूपणा करते हैं, उनकी बात में एक ही दुराग्रह नहीं होता, उत्तरोत्तर निकलते अनेक दुराग्रह उसके साथ जुड़े रहते हैं।

जब बाजरी का खेत बोया जाता है, प्रत्येक पौधे की एक शाखा में से दूसरी, उसमें से तीसरी, और भी इसी प्रकार अनेक शाखाएँ निकलती जाती हैं। उसी प्रकार मिश्र प्ररूपणा वाले के एक झूठ में से दूसरा झूठ, उसमें से तीसरा—इसी तरह अनेक झूठ प्रसूत होते रहते हैं।

बियावान जंगल में चोर मिल जाते हैं, उनका हर झपट्टा उत्तरवर्ती झपट्टों से युक्त रहता है। इसी प्रकार जो मिश्र प्ररूपणा करते हैं, उनकी बात में मानो छल की एक शृंखला जुड़ी रहती है।

सीधे-सादे शब्दों में, पर सधी हुई आलंकारिक सरणिपूर्वक कवि ने कितना रोचक एवं मनोरम वर्णन यहाँ किया है। मिश्र प्ररूपणा के साथ जुड़े दुराग्रह, मिथ्याचार और कापट्य का उद्घाटन जिस सुन्दरता से किया है, देखते ही बनता है।

'हिंसा में धर्म की मान्यता' पर अत्यन्त ओजस्वी शब्दों में अपना अभिप्राय प्रस्तुत करते हुए वे एक स्थान पर लिखते हैं—

"लोही खरड्यो जे पीताम्बर, लोही सूं केम धोवायो।
तिम हिंसा में धर्म किहां थी, जीव उज्ज्वल किम आयो॥
हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नांहीं।
दया ने हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो न छाहीं॥
और वस्तु में भेल हुवे, पिण दया में नहीं हिंसा रो भेलो।
ज्यूं पूरब ने पश्चिम रो मारग, किण विध खावे मेलो॥"

अर्थात् खून से लथपथ पीताम्बर खून से कैसे धोया जा सकता है? उसी प्रकार हिंसा द्वारा धर्म कहाँ से होगा और उससे आत्मा कैसे उज्ज्वल बनेगी?

हिंसा के कार्य में दया नहीं होती और दया के कार्य में हिंसा नहीं होती। उनका वैसा ही पार्थक्य है, जैसा धूप और छाया का।

और और वस्तुओं में मिलावट हो सकती है पर दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती। पूर्व और पश्चिम का मार्ग किस प्रकार मिलेगा?

यहाँ खून से रंगे पीताम्बर का दृष्टान्त कितना मर्मस्पर्शी है, सुज्ञ पाठक इसे स्वयं अनुभव करेंगे। धूप और छाया के पार्थक्य की उपमा द्वारा कवि ने दया और हिंसा का अलगाव बड़ी सुन्दर रीति से प्रस्तुत किया है। पूर्व और पश्चिम का मार्ग कभी तीन काल में भी मिल नहीं सकता क्योंकि दोनों परस्पर विपरीत दिशाओं में जानेवाले हैं। इस दृष्टान्त द्वारा दया और हिंसा के सार्वदिक प्रातिकूल्य का अत्यन्त प्रभावक चित्र कवि ने अंकित किया है।

वस्तु-निरूपण :—

आचार्य भिक्षु की निरूपण-पद्धति का यह सहज वैशिष्ट्य है, वे ऐसे चुभते शब्दों में अपना प्रतिपाद्य कहते हैं, जो कुशल

धनुर्धारी के बाणों की तरह कभी खाली नहीं जाते। साथ ही साथ उनके रचना-क्रम की यह दूसरी विशेषता है कि वे अपने विषय का इतना सुन्दर भाव-चित्र प्रस्तुत करते हैं कि वह दृश्य मानो मूर्तिमान् बन आ उपस्थित होता है।

आचार्य भिक्षु की एक कृति है 'शील की नव बाड़'। जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य के सम्यक् परिचालन के लिए नौ रक्षा-पंक्ति और दशवीं परिखा (कोट) का निरूपण है। आचार्य भिक्षु ने इसी विषय का इस कृति में अत्यन्त सरल एवं उद्बोधक शब्दों में वर्णन किया है।

एक स्थान पर वे (चतुर्थ बाड़ के अन्तर्गत) दृष्टि दोष का विवेचन करते हुए कहते हैं—

"एक क्षत्री आंणो लेजावतांरे, मारग मांहे मिलीयो चोर।
तिणने क्षत्री बाण बाया घणांरे, चोर फरसी सूं न्हांख्या तोड ॥
हिवें एक बांण बाकी रह्यो रे, जब अस्त्री निज रूप दिखाय।
ते चोरतिण रें रूप विलंबीयोरे, जबक्षत्रीबाणसूंदीयोढाय ॥
चोर पड्यों ते देखनें रे, क्षत्री करवा लागों मांण।
चोर कहे गरबे किसूं रे, म्हांरे नारी नयणां रा लागा बांण ॥"

अर्थात् एक क्षत्रिय गौना कर अपनी पत्नी को लिये जा रहा था। मार्ग में एक चोर मिला। (लूटने पर उतारू होने पर) क्षत्रिय ने उस पर बहुत से बाण छोड़े पर चोर ने फरसे (परशु) से उन्हें तोड़ डाला। अब क्षत्रिय के पास केवल एक बाण बाकी रहा। तब नारी ने अपना रूप दिखलाया (घूंघट खोला)। चोर उसके रूप में आसक्त हो ज्यों ही उसकी ओर एकटक देखने लगा, क्षत्रिय ने उसे बाण से गिरा दिया। चोर को गिरा देख क्षत्रिय गर्व करने लगा। चोर उससे बोला—तुम किस बात का गर्व कर रहे हो? मुझे नारी के नयनों का बाण लगा है। यानी मैं तुम्हारे बाण से आहत नहीं हुआ हूँ, इस नारी के नयन-बाण से आहत हुआ हूँ।

दृष्टि-विकार की कितनी दुःखद परिणति होती है, कवि ने क्षत्रिय और चोर के दृष्टान्त द्वारा उसका प्रत्यक्ष रूप पाठकों के समक्ष उपस्थित कर दिया है। 'म्हारे नारी नयणां का लाग्या बाण' पद से जो ध्वनि निकलती है, निःसंदेह काव्य-पारखियों को वह आकृष्ट किये बिना नहीं रहेगी। यह कवि के भावाभिव्यक्ति के वैदग्ध्य का एक ज्वलन्त उदाहरण है।

"आचार री चौपई' में आचार्य भिक्षु ने आचार की महत्ता, जीवन-व्यवहार में उसका समावेश, आचार के नाम पर अनाचार का पोषण आदि पर अन्तरतम को झकझोर देनेवाले जो भावगरिमापूर्ण पद कहे हैं, तात्त्विक महत्त्व के साथ-साथ उनमें काव्य-सुषमा भी छलाछल भरी है। एक स्थान पर वे कहते हैं—

"साथे लीयां फिरे पुस्तक पोथा, आचार पालण जावक थोथा।
ते फँस रह्या माया जालो, एहवा भेषधारी पाँच में कालो ॥
करणी करतूत माहें पोला, बले अरड बरड मिरषा बोला।
त्यांरे झूठ तणो नहीं टालो, एहवा भेषधारी पाँचमें कालो ॥
नांम धरावे साध सती, पिण लषण न दीसे एक रती।
मूंडे झूठ तणों वेंहरह्यों नालो, एहवा भेषधारी पाँचमें कालो ॥
केई पदवीधर बाजें मोटा, चलगत उंधी लषणां खोटा।
कण रहित एकंत परालो, एहवा भेषधारी पाँच में कालो ॥
एक एक तणा दोषण ढांके, अकारज करता नहिं सांके।
त्यां ने कोइ नहिं हटकणवालो, एहवा भेषधारी पाँच में कालो ॥"

अर्थात् पुस्तकें, पोथियाँ साथ लिये घूमते हैं पर शुद्ध आचार के परिपालन में वे बिल्कुल थोथे हैं, प्रायः जाल में फँसे हुए हैं। इस पंचम आरे में—कलिकाल में इस प्रकार साधु-वेष की विडम्बना करने वाले अनेक लोग हैं।

सत् करणी करने में जो सर्वथा निष्क्रिय हैं और झूठी बातें बकते रहते हैं, असत्य वर्जन का जिनके कोई विचार नहीं है, इस कलिकाल में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो साधु का वेष स्वीकार किए हुए हैं।

नाम से तो साधु-साध्वी कहलाते हैं पर जिनमें साधुत्व का रंचमात्र भी लक्षण नहीं है, मुख से मानो झूठ का नाला बह रहा है, इस पंचम काल में ऐसे लोग साधु का वेष बनाये हुए हैं।

कोई ऊँचे-ऊँचे पद धारण करने वाले कहलाते हैं पर उनकी गति-विधि उल्टी है, उनकी आदतें खोटी हैं। वे धान्यरहित निस्तत्त्व भूसे के तुल्य हैं। इस पंचम काल में वे भी साधु नाम से अभिहित होते हैं।

परस्पर एक-दूसरे के दोषों को छिपाते रहते हैं, अकार्य करते जरा भी नहीं सकुचाते। उन्हें कोई रोकनेवाला भी तो नहीं है। ऐसे वेषधारी इस कलिकाल में हैं।

ये पद नहीं हैं, जाज्वल्यमान स्फुलिंग हैं, अन्तरतम को वेध देने वाले तत्त्व-बाण हैं। आचार की विडम्बना करनेवाले तथाकथित साधुओं को जिन जोशीले शब्दों में कवि ने फटकारा—दुतकारा है, वह शुद्ध आचार-मर्यादा को यथावत् रूप में पाले जाते देखने की उनकी आभ्यन्तरिक टीस का परिचायक है। प्रत्येक शब्द आचार के नाम पर पोषित होते अनाचार पर एक करारी चोट करने वाला है। विचारों की द्रढ़िमा दृढ़तम शब्दों का परिधान पा मानो निखर उठी है। सधे हुए शब्द, लोकजनीन सरणि और शृंखलित भाव-क्रम ने एक अद्भुत प्रभावकारिता यहाँ उत्पन्न कर दी है।

विनय के आराधन और अविनय-वर्जन पर आचार्य भिक्षु की एक अति महत्त्वपूर्ण कृति है 'विनीत अविनीत री चौपई"। इसमें प्रस्तुत विषय का जिस मार्मिकता तथा सूक्ष्मता से उन्होंने विवेचन किया है, वह निःसंदेह उनकी लेखनी का चमत्कार है। अविनीत का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"कुह्या कानां री कूतरी, तिणरे झरे कीड़ा राध लोही।
मगले ठाम सू काढ़े हुडहुड करें, घर में आवण न दे कोई॥
कुत्ती बिगाड़े रमणीक आंगणों, न्हांखे कीड़ा राधने लोही।
वास दुरगंध आवे अति बुरी, तिणने धुर-धुर करे सर्व कोई॥
जेहवी कुह्या कानां री कूतरी, तेहवा अविनीत नें अभिमानी।
तिणरो पाडुओ शील ने मुख अरी, तिणसूं सगलाई दे जाए कांनी॥
अविनीत रा मुख मांसूं नीकलें, ते तों कुवचन कीड़ा सम जांणो।
रमणीक आंगणा ज्यूं सुध साध नें, पाप लगावे क्रोध उठाणो॥
थिर करण मांहे राखे तेहने, छिद्र ग्रहे हुवे द्रोही।
तिणनें कुह्या कानां री कूतरी ज्यूं, गण बारें काढें सर्व कोई॥"

अर्थात् एक सड़े कानों की कुतिया है, जिसके कानों से खून और मवाद टपक रहा है। वह जहाँ भी जाती है, दुतकार के साथ बाहर निकाल दी जाती है। अपने घर में उसे कोई नहीं आने देता। वह कुतिया सुन्दर आंगन को बिगाड़ देती है। वहाँ कीड़े, खून और मवाद गिरा देती है। उससे बड़ी दुर्गन्ध आती रहती है। सभी उसे दुर-दुर कर निकाल देते हैं। अविनीत और अभिमानी साधु सड़े कानों की कुतिया जैसा है। उसे शील का तो पालन करना है पर उसका मुंह अपना स्वयं का वैरी है। सभी उससे दूर-दूर रहते हैं। अविनीत के मुंह से जो कुवचन निकलते हैं, उन्हें कीड़ों के समान जानो। सुन्दर आंगन की तरह शुद्ध साधु को वे क्रोध उत्पन्न करवा कर, पाप लगाते हैं। उसे (अविनीत को) स्थिर करने के लिए यदि धर्म-संघ में रखा जाता है तो वह छिद्र ढूंढ़ता है तथा डाह करता है। सड़े कानों की कुतिया की तरह उसे सभी धर्म-संघ से बाहर कर देते हैं।

अविनय की कालिख से पुते जीवन का कितना अन्तःस्पर्शी विवेचन यह है। कुतिया का बीभत्स वर्णन करते हुए कवि ने जीवन के अविनयमूलक असत् पक्ष की जो भर्त्सना की है, वह निःसंदेह अपनी सूक्ष्म दृष्टि को हृदयग्राह्य और प्रभावोत्पादक शब्दावली में अनुस्यूत कर डालने की उनकी अद्भुत मेधा का परिचायक है। कुतिया के दृष्टान्त को सांगोपांग रूप में अविनीत के जीवन के साथ घटित कर उन्होंने अविनय का एक सजीव भाव-चित्र प्रस्तुत किया है, जो संयम मार्ग पर चलने वाले साधकों के लिए प्रेरणा का एक दिव्य पाथेय है।

चरित्र-चित्रण :—

जैसा कि उल्लेख किया गया है, आचार्य भिक्षु एक निर्भीक सन्त थे। बिना किसी अवलेप, पक्ष और कालुष्य के उनकी

चिन्तन-धारा बही। उसमें सत्य जिस रूप में प्रतिभासित हुआ, उन्होंने खरे-खरे शब्दों में उसे ज्यों का त्यों रख दिया पर उसके साथ उनका विवेक सदैव जागत रहा। यही कारण है, जहाँ-जहाँ जैसा औचित्य था, उन्होंने चरित्र-चित्रण किया। इसलिए यह आवश्यक होता है कि उनके हार्द को आत्मसात् करने के लिए उनके द्वारा दिये गये विवेचन की पृष्ठभूमि को यथावत् रूप में जाना जाए। उदाहरणार्थ उन्होंने एक स्थान पर नारी के लिए 'नारी कूड़ कपटनी कोथली', 'नारी लाखणां नाहरी', 'नारी पूरी कलेषणी', 'स्त्री अनरथ मूल', 'बिचरी तो बाघण स्यूं बुरी' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। वहाँ सहसा यह नहीं समझ लेना चाहिए कि नारी-जाति के प्रति उनका बड़ा अवहेलनापूर्ण दृष्टिकोण था। इन विशेषणों के पीछे पृष्ठभूमि यह है—ये विशेषण उनके द्वारा वहाँ प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ उन्होंने कुसती नारी का विवेचन किया है। 'नहिं सरीखी सगली नार' उनके द्वारा कहा गया यह पद स्पष्टतया व्यक्त करता है कि नारी मात्र के लिए उनका उक्त अभिमत नहीं था। उन्होंने सती नारी के लिए तो आदरपूर्ण शब्दों में कहा है कि सती सोलह गुण की खान होती है, सती सीता के सदृश होती है, जिसका वर्णन जिनेश्वर देव भी करते हैं।

आचार्य भिक्षु द्वारा विरचित 'भरत चरित' एक अत्यन्त सुन्दर काव्य है। उसकी एक घटना है, चक्रवर्ती सम्राट् भरत अपनी छोटी बहन ब्राह्मी के सौन्दर्य पर मुग्ध हो उससे विवाह कर लेना चाहते थे। ब्राह्मी वैराग्यवती थी। वह सन्यस्ता होकर संयम जीवितव्य अंगीकार करना चाहती थी। एक जटिल समस्या सामने आ उपस्थित हुई। भरत को रोके कौन, निषेधे कौन ? इस प्रसंग पर आचार्य भिक्षु ने नारी के चरित्र को जिस उच्चता की पराकाष्ठा पर पहुँचाया है, वह देखने जैसा है। जिस सौन्दर्य पर सम्राट् मुग्ध है, तपस्या और साधना की अग्नि में उसे होम देना चाहिए, ब्राह्मी यह सोच अपने को तपस्या में लगा देती है। आचार्य भिक्षु ने इस प्रसंग पर लिखा है—

"भरत नहीं लेवण देवे दीक्षा, ब्राह्मी शील तणी मांडी रक्षा।
रूप देखी भरत रे वंछा आई।।
सती बेले-बेले पारणो कीनो, एक लूखा अन पाणी में लीनो।
फूल ज्यूं काया पड़ी कुमलाई।।
भरत री विषय सूं जाणी ममता, तिण सूं ब्राह्मी झाली तपसा।
साठ हजार बरस री गिणती आई।।
भरत छोड़ दीनी मन री ममता, सती रो सरीर देखीने आई समता।
पछे दीपती दीक्षा दराई।।"

अर्थात् भरत दीक्षा नहीं लेने देते हैं, यह सोच ब्राह्मी शील की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गई। ब्राह्मी का सौन्दर्य देख भरत उस पर आसक्त थे। सती ब्राह्मी ने द्वयह्निक (दो दो दिनों का) उपवास प्रारंभ किया। पारणे में वह केवल रूखा अन्न और पानी लेती थी। फलतः उसकी फूल-सी कोमल काया कुम्हला गई (सौन्दर्य विलुप्त हो गया)। भरत की वासना जन्य ममता देख ब्राह्मी ने यह तपःक्रम स्वीकार किया था। साठ हजार वर्षों की लम्बी अवधि तक यह चलता रहा। परिणाम यह हुआ, सती का (तपस्या की अग्नि में झुलसा) शरीर देख भरत की वैषयिक आसक्ति मिट गई और उसमें समता का उदय हुआ। भरत ने ब्राह्मी को आनन्दोल्लासपूर्वक दीक्षा दिलवाई।

संयम के माध्यम द्वारा हृदय परिवर्तन का एक अनूठा उदाहरण यह है, जो आचार्य भिक्षु की लोकजनीन लेखनी का आश्रय पा और अधिक निखार पा गया है। संयमोन्मुख आदर्श नारी के उदात्त चरित्र का यह एक ज्वलयमान उदाहरण है।

'भरत चरित' का वह प्रसंग भी कम प्रेरक नहीं है, जहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी महान् योद्धा और अब महान् साधक अपने भाई बाहुबलि को प्रतिबोध देने उपस्थित होती हैं।

घटना यों है—भरत और बाहुबलि का भयावह द्वन्द्व युद्ध होता है। विजेता बाहुबलि का मानस अध्यात्म-विजय की ओर मुड़ जाता है। अपने ज्येष्ठ बन्धु भरत पर दुर्धर्ष प्रहार करने को उठी हुई उनकी बलिष्ठ मुष्टि अपने बालों पर पहुँच जाती है। वे पंचमुष्टि लोचकर संयम पथ पर अग्रसर हो जाते हैं पर उनके पैर अपने पूज्य पिता, धर्म नायक भगवान् ऋषभ अपने श्रमण-परिवार सहित जहाँ थे, उस ओर नहीं बढ़ते। मन में एक संकोच था, अपने अट्ठानवें छोटे भाई, जो पहले

दीक्षित हो चुके हैं, दीक्षा-पर्याय की ज्येष्ठता के कारण जो वन्दनीय हैं, उन्हें (अपने से छोटों को) मैं कैसे वन्दन करूँ। बाहुबलि गिरि-कन्दरा में घोर तप करने लगते हैं। वे अनवरत ध्यान में निरत हो जाते हैं, बाह्य जगत् से दूर.... बहुत दूर; यहाँ तक कि उनके बालों में पक्षी घोंसले बना लेते हैं और हाथ तथा पैर वन्य लताओं द्वारा वेष्टित हो जाते हैं। इस घोर तप के बावजूद भी उन्हें कैवल्य लाभ नहीं होता क्योंकि अभिमान का दुर्भेद्य शल्य अब भी उनके अन्तरतम में गड़ा था।

भगवान् ऋषभ के निर्देश पर श्रमणी ब्राह्मी एवं सुन्दरी वहाँ आती हैं और अपने भाई बाहुबलि को आत्म-निरीक्षण की प्रेरणा देती हैं। इस प्रसंग पर आचार्य भिक्षु लिखते हैं :—

"वीरा म्हारां गज थकी ऊतरो, ब्राह्मी सुन्दरी इम गावे।
बाहुबल ने समझायवा, आमी सामी झंगी मांहि धावे॥
थे राज रमण रिध परहरी, बले पुत्र त्रिया अनेको।
पिण गज नहिं छूट्यो ताहरो, तूं मन मांहि आण विवेको॥
वीरा म्हांरा गज थकी ऊतरो, गज चढिया केवल न होयो।
आपो खोजो आपरो, तो तूं केवल जोयो॥"

अर्थात् भैया! अभिमान के हाथी से उतरो, ब्राह्मी तथा सुन्दरी यों गाती हैं। आपने रमणीय राज्य छोड़ा, ऋद्धियाँ छोड़ीं, पुत्र छोड़े, पत्नियाँ छोड़ीं पर आपसे अभिमान का हाथी नहीं छूटा, मन में विवेक जगाइये।

भैया! अभिमान के हाथी से उतरो। इस पर चढ़े कैवल्य नहीं पाओगे। आप अपने अन्तरतम की गवेषणा कीजिए, कैवल्य का दर्शन मिलेगा।

कवि ने सीधी-सादी और संक्षिप्त सी शब्दावली में मानो अपना हृदय उंडेल दिया है। गज के रूपक से भाव-उन्नय उत्कृष्टता की जिस कोटि तक पहुँच गया है, वह कथन का नहीं, अनुभव का विषय है। एक-एक शब्द से कोमल, पर निःस्पृह, सरल पर भावभरित प्रेरणा-पुंज निःसृत होने लगते हैं।

उक्ति-वैशिष्ट्य :—

आचार्य भिक्षु महान् तत्त्वद्रष्टा थे और थे जीवन के साक्षात् पारखी। उन्होंने स्वयं देखा, परखा, जाँचा, अनुभव किया, फिर लोगों के समक्ष उसे प्रस्तुत किया। इसलिए उनके निरूपण-क्रम में एक वैशिष्ट्य रहा, वह संघटन रहा, जिससे उनकी कविताएँ तत्क्षण लोक-मानस के अन्तस्तल तक अपने भाव पहुँचा सकें। आचार्य भिक्षु की कविताओं में एक ओर जहाँ सरलता है, वहाँ गहनता भी है पर उनके निरूपण-वैशिष्ट्य के कारण गहनता सरलता में परिवर्तित हो गई है। काव्य-सर्जन में लोक जनीनता की ओर उनका सदैव ध्यान रहा है। उनके कतिपय पद नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनमें उनके उक्ति वैशिष्ट्य का आभास हो सकेगा :—

"आभो फाटे थीगड़ी, कुछ छे देवणहार।
ज्यूं, गुरुसहित गणबिगड़ियां, त्यांरे चहुँदिसपड़िया बघार॥

यदि आकाश फट जाए तो उसके कौन पैबन्द लगा सकता है? यदि गुरु सहित धर्म-संघ बिगड़ जाए तो उसमें चारों ओर बड़े-बड़े छिद्र हो जाते हैं। (वहाँ पैबन्द लगने की कोई गुंजाइश नहीं रहती।)

"अविनीत नें अविनीत श्रावक मिले ए, ते पामें घणो मन हरष।
ज्यूं डाकण राजी हुवे ए, चढ़वाने मिलियां जरख॥"

यदि अविनीत साधु को अविनीत श्रावक मिल जाए तो वह (साधु) मन में ऐसा हर्ष मानता है मानो डाकिन को चढ़ने के लिए जरख मिल गया हो। (डाकिन स्वयं विकराल होती है और सवारी के लिए जरख के मिल जाने से उसकी विकरालता और बढ़ जाती है।)

"साधने श्रावक रतनांरी माला, एक मोटी दूजी नान्हीं।
गुण गूंथ्या चारूं तीरथ ना, इवरत रह गई कानी॥"

साधु और श्रावक रत्नों की मालाएँ हैं, एक छोटी है, दूसरी बड़ी। इनमें (साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप) चारों तीर्थों के व्रतरूप गुण का ग्रथन किया गया है। अव्रत तो एक ओर छूट गया है।

"जिय कोई घृत तमाख विणजे, बासण री विगत न पाड़े ।
घृत लेइ तमाख में घाले, ते दोनंइ वस्तु बिगाड़े ।।"

एक व्यक्ति घृत और तम्बाकू का व्यापार करता है पर वह बर्तनों के उपयोग पर ध्यान नहीं देता । घृत को तम्बाकू के बर्तन में डाल देता है । परिणाम यह होता है—दोनों ही वस्तुएँ बिगड़ जाती हैं । (न घृत काम का रहता है और न तम्बाकू ही)

"जीभ रो औषध आंख्या में घाल्यो, आंख्या री औषध जीभ में घाल्यो ।
तिण री आँख फूटी जीभ ई फाटी, दोनूं इन्द्रिय खोय चाल्यो ।।"

एक व्यक्ति के पास दो औषधियाँ थीं—एक आँखों में डालने की तथा एक जीभ पर लगाने की । उसने जीभ पर लगाने की औषधि आँखों में डाल ली और आँखों में डालने की औषधि जीभ पर लगाली । फल यह हुआ उसकी आँखें फट गई और जीभ फट गई । इस प्रकार वह दोनों इन्द्रियों से हाथ धो बैठा ।

"कुगुरु भड़भूंजा सारीखा, त्यांरी सरधा खोटी भाड़ समान ।
भारी करमा जीव चीणा सारीखा, त्यांने झोके खोटी सरधा में आण ।।"

कुगुरु भड़भूंजों के समान हैं । उनकी मिथ्या श्रद्धा भाड़ के तुल्य है । भारी कर्मों वाले जीव चनों जैसे हैं । कुगुरु उन्हें मिथ्या श्रद्धा की भाड़ में ला झोंकते हैं ।

"सोनां री छुरी चोखी घणी, पिण पेट न मारे कोय ।
ए लौकिक दृष्टांत सांभली, तूं हिरदे विमासी जोय ।।"

सोने की छुरी देखने में बड़ी सुन्दर लगती है पर उसे पेट में कोई नहीं मारता । इस लौकिक दृष्टान्त को सुन अन्तःपर्यवेक्षण कीजिए कि जो देखने में सरस पर परिणाम में विरस है, क्या उसे अंगीकार करना चाहिए ?

"खेत खाधो लोकां तणो, पहर नाहर री छाल ।
ज्यूं भेख लियो साधां तणो, पिण चाले गधारी चाल ।।"

सिंह का चमड़ा पहन गधे ने लोगों के खेत चर लिये । वही स्थिति उनकी है, जिन्होंने वेष तो साधुओं का ले रखा है पर जो चाल गधे की चलते हैं ।

"रूंख जिम भव जीवड़ा, बागवान भगवान ।
वाणी जलधारा जिम जाणज्यो, घाले भव जीवां रे कान ।।"

संसार के जीव वृक्ष के समान हैं और भगवान् बागवान के समान । भगवान् की वाणी जलधारा के तुल्य है, जिसे वे सांसारिक प्राणियों के कानों में डालते हैं ।

"जल बिन सूखे रूंखड़ा, कुमलावे कूंपल पान ।
त्यांने सींचे जल त्यागनो, बागवान बुधवान ।।"

जल के बिना वृक्ष सूख जाते हैं । उनकी पत्तियाँ और कोंपलें कुम्हला जाती हैं । बुद्धिमान बागवान उन्हें त्याग के जल से सींचता है ।

"मोट के खिम्या करणी दोहिली, कृपणनें दोहिलो दान ।
भर जोवन शील दोहिलो, कायर ने चरित्र निधान ।।"

तथाकथित बड़ों के लिए क्षमा करना कठिन है । वैसेही कृपण के लिए दान देना, भरी जवानी में ब्रह्मचर्य स्वीकारना और कायर (आत्म-बल शून्य)) के लिए चारित्र्यमय निधि को अपनाना कठिन है ।"

"मच्छ गलागल लोक में , सबल निबल ने खाय ।
तिण मांहि धर्म परूपियो, कुगुरु कुबुद्धि चलाय ।।"

संसार में मच्छगलागल (बड़ी मछली छोटी को खा जाती है, उत्तरोत्तर बड़ी को उससे बड़ी) न्याय चलता है । बलवान् दुर्बल को खाता है । कुगुरु अपनी कुबुद्धि लगाते हुए उसमें धर्म की प्ररूपणा करते हैं ।

"कण संचो कीड़ी करे, ते कण तीतर चुग जाय ।
ज्यूं कृपण रे धन संचियो, यूं ही जावे बिललाय ।।"

चींटी कण-कण संचय करती है, तीतर लेकर उड़ जाता है। इसी प्रकार कृपण द्वारा संचित धन यों ही नष्ट हो जाता है।

"बांध्यो काला री पाखती गोरियो, वर्ण नावे पिण लखण आवे ।
ज्यूं विनीत अविनीत कने रहे, तोऊ कांयक कुबद सिखावे ।।"

काले के पास सफेद को बाँधा। यद्यपि काला वर्ण तो उसमें (सफेद में) नहीं आता है, पर उसके संसर्ग से उसके लक्षण उसमें आ जाते हैं। उसी प्रकार विनीत अविनीत के पास रहता है तो वह (अविनीत) उसे (विनीत को) कुछ एक बुरी प्रवृत्तियाँ तो सिखा ही देगा।

"कांदां ने सौ बार पाणी सूं धोविया, तोही न मिटे तिणरी बास ।
ज्यूं अविनीत ने गुरु पिण उपदेश दियो घणों, पिण भूल न लागे पास ।।"

प्याज को सौ बार पानी से धो दिया जाए तो भी उसकी गन्ध नहीं मिटती। इसी प्रकार अविनीत को गुरु कितना ही अधिक उपदेश दे, वह उसके पास तक नहीं फटकता।

इन पदों से पाठक यह स्पष्टतया जान पायेंगे कि कितनी अधिक तलस्पर्शिनी दृष्टि, मार्मिक अभिव्यंजना, भावानुरूप प्रांजल शब्द-योजना आदि आदि में कवि का अपना वैशिष्ट्य है; जिस विषय को लिया, अपने प्रतिभा-बल से उसे अतीव प्रभावक तथा उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया।

लोकोक्तियों का सुन्दर सन्निवेश :—

वर्ण्य वस्तु के वैशद्य एवं स्पष्टत्व में लोकोक्तियाँ मानो जीवन डाल देती हैं और सर्वजनोपयुज्य लोकजनीन काव्य में तो इनका और भी अधिक महत्त्व है। जन-जन की जिह्वा पर जो उक्तियाँ सदा से बैठी आ रही हैं, वे जन-साधारण के मानस पर असाधारण प्रभाव उत्पन्न करती हैं। उनके द्वारा समर्थित वस्तु-विषय जहाँ लोगों के लिए अधिक आकर्षक और प्रेरणा-प्रद हो जाता है, दूसरी ओर उसके अर्थ-गौरव में भी एक वैशिष्ट्य आ जाता है।

जैसा कि लिखा जा चुका है, आचार्य भिक्षु एक लोक कवि थे। उन्होंने जन-जन में प्रचलित लोकोक्तियों का अपनी कविताओं में अत्यन्त सुन्दर रूप में प्रयोग किया है। लोकोक्तियों के संचयन में उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से काम लिया है। उनके (लोकोक्तियों के) पदानुकूल संघटन (शब्दों के रूप में प्रस्तुत करने) में भी उनका वैदग्ध्य स्पष्ट दृष्टिगत होता है।

आचार्य भिक्षु द्वारा अपने काव्यों में प्रयुक्त लोकोक्तियों में से नमूने के रूप में कुछ एक उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत की जाती हैं:—

"बाप तलाई जाण ने, खावे गार गिंवार।" —यह मेरे बाप द्वारा बनवाई हुई तलैया है, यह जान मूर्ख उसका कीचड़ खाता है।

"छाती फाटे सूमरी, देतां देखे दान।" —कृपण की छाती फटने लगती है, जब वह दान देते देखता है।

"चाकर कूकर बिन्दु सरीखा, धणी चलावे ज्यूं चाले।" —सेवक और कुत्ते बूंद के तुल्य हैं। उनका स्वामी जिधर चलाता है, उधर ही वे चलते हैं।

"कण सहित कूंडो छोड़ने, भिस्टो भखे भंडसूरो" —भंडसूरा अन्न से भरा बर्तन छोड़कर विष्ठा खाता है।

"बिगड़्यो बिगाड़े सड़ियो पान।" —सड़ा पान स्वयं बिगड़ता है, और पानों को बिगाड़ता है।

"पूत रा पग जाणो पेट मांही।" —सपूत के पैर गर्भ में ही पहचान लिये जाते हैं।

"मिंडी अनेक मांडी देखो, आंकां बिन लागे लेखो।" —अनेक बिन्दियाँ लिख कर देख लो, अंकों के बिना उनकी गणना नहीं होती।

"धन पापी रो परले जाय।" —पापी का धन नष्ट हो जाता है।

"रेत री न हुवे खांड।" बालू की शक्कर नहीं होती।

"बाप बेटा आप आपरा, कीधा भुगते कर्म ।।" —पिता-पुत्र —सब अपने कर्मों का फल भोगते हैं।

"जका घड़ी जावे ते आवे नहीं।" —जो वेला चली जाती है, वह लौट कर नहीं आती।

आचार्य भिक्षु के काव्यों में इसी प्रकार स्थान-स्थान पर अनेक लोकोक्तियों का उनकी (आचार्य भिक्षु की) अपनी शैली,

संघटना और पद-विन्यास पूर्वक प्रयोग हुआ है, जिससे अर्थ गरिमा में वैशिष्ट्य आने के साथ-साथ पद्य सारस्य में भी कम अभिवर्द्धन नहीं हुआ है।

उपसंहार :—

परम विश्रुत काव्य-मर्मज्ञ आचार्य मम्मट के शब्दों में कवि की सृष्टि अनन्य-परतंत्रा[1] होती है। उस पर उसका अपना एक छत्र साम्राज्य होता है। विधाता के नियम भी उसे बाँध नहीं पाते। क्योंकि हृदय के उत्स से प्रवाहित होने वाला भावोच्चय ही तो कविता कहलाता है, जब वह अनुकूल, सरस और श्लक्ष्ण शब्दों का कलेवर पा जाय। वहाँ कैसा बन्धन, कैसा पारतन्त्र्य !! आचार्य भिक्षु एक ऐसे ही सर्वतन्त्र स्वतन्त्र कवि थे। छन्दों में, शब्दों में, शैली में उन्होंने अपना स्वातन्त्र्य बरता है, जिसमें कविता का अन्तःस्वरूप विकृत नहीं हुआ है, अधिक उद्दीप्त बना है। साधना की कसौटी पर खरे उतरे साधक की वाणी होने से सहसा कहीं कहीं कार्कश्य का आभास भी स्यात् होने लगता है, पर वहाँ काव्य गौरव के नाते कार्कश्य अवांछनीय नहीं है। सत् के नाम पर पोषण पाते असत् को जब वे आड़े हाथों लेते हैं तो प्रतीत होता है, वे उसके अंग-अंग को कुरेद डालना चाहते हैं।

भारत के आध्यात्मिक वाङ्मय को वास्तव में आचार्य भिक्षु की बहुत बड़ी देन है, जो उन्हें युग-युग तक स्मरणीय रखेगी।

आचार्य भिक्षु एक धर्म-संघ के प्रणेता और संचालक थे। नायक का जीवन उत्तराधिकारियों के लिए आदर्श होता है। आचार्य श्री भिक्षु द्वारा संप्रवर्तित तेरापंथ के पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने जहाँ अपने आराध्य अधिनायक से विरासत में अन्य अनेक महत्ताएँ लीं, वहाँ इस काव्य-परंपरा को भी उन्होंने ग्रहण किया। फलतः सभी आचार्यों की रचनाएँ आज हमें उपलब्ध हैं। उनके चतुर्थ पट्टाधिकारी श्रीमत् जयाचार्य ने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख गाथाएं लिखीं। भगवती सूत्र जैसे महान् आगम का राजस्थानी गीतिकाओं में उन द्वारा किया गया भावानुवाद राजस्थानी साहित्य को उनकी अनुपम देन है। तेरापंथ संघ के अनेक श्रमण-श्रमणियों ने भी बहुत लिखा है। आज वह परंपरा सर्वतोमुखी विकास के साथ पल्लवित एवं पुष्पित है।

संस्कृत का एक सुभाषित है—

जयन्ति ते सुकृतिनो, रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये, जरामरणजं भयम्॥

वे रससिद्ध सुकवि सदा विजयशील हैं, जिनके यशरूपी शरीर को न बुढ़ापे का भय है और न मौत का।

शताब्दियाँ बीत जाती हैं। सहस्राब्दियाँ गुजर जाती हैं पर कवि अपने शब्दों के रूप में जन-जन के बीच सदा अमरत्व भोगता रहता है।

आचार्य श्री भिक्षु आज भी उन सब को, जिन्हें अध्यात्म में रस है, एक दिव्य प्रेरणा दे रहे हैं। उनकी वाणी, उनकी कविता ऐसा करती रहेगी शताब्दियों, सहस्राब्दियों........तक।

१—नियतिकृतनियमरहितां, ह्लादैकमयीमनन्य परतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितमादधती, भारती कवेर्जयति॥ (काव्य-प्रकाश)

तेरापंथ के मौलिक मन्तव्य और उनका आगमिक आधार

(लेखक—मुनि श्री नगराजजी)

किसी भी धर्म और सम्प्रदाय की कुछ अपनी मौलिक मान्यताएँ होती हैं और वे ही उसके स्वतन्त्र अस्तित्व का आधार बनती हैं। वर्तमान जैन धर्म मख्यतया दो विभागों में बँटा है—श्वेताम्बर और दिगम्बर। स्त्री-मुक्ति और सर्वज्ञ मुक्ति, निर्वस्त्र मुनित्व, सवस्त्र मुनित्व आदि कुछ ही मन्तव्य उक्त दो सम्प्रदायों के भेद के मल कारण बन रहे हैं। दिगम्बरों में पुष्प-पूजा और अचित्त द्रव्य-पूजा आदि मन्तव्यों पर बीस पंथ और तेरह पंथ टिके हुए हैं। श्वेताम्बरों में मूर्तिपूजक, स्थानक वासी, तेरापंथ ये तीन प्रमुख सम्प्रदाय हैं। मूर्तिपूजक सम्प्रदाय जैसा कि नाम से विदित होता है मूर्तिपूजा में विश्वास करता है। शेष दो सम्प्रदाय मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते। दया-दान, मिथ्यात्व-क्रिया, स्थानक परम्परा आदि बातों को लेकर स्थानकवासी तेरापंथ सम्प्रदाय में मतभेद है। तेरापंथ का यही मतभेद लगभग अन्य जैन सम्प्रदायों से है और यही उसके स्वतंत्र सम्प्रदाय होने का आधार है।

आगम मान्यता

तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदायों का आधार आगम-ग्रन्थ है। न्यूनाधिकता से तीनों सम्प्रदाय आचारांग, सूत्रकृतांग आदि आगमों को समान रूप से प्रामाणिक मानते हैं। मूर्तिपूजकों की आगम संख्या ४५ है और स्थानकवासी तथा तेरापंथ की आगम संख्या ३२। निष्कर्ष यह रहा, ३२ आगम ऐसे हैं जिन्हें तीनों ही श्वेताम्बर सम्प्रदाय समान रूप से अपने आधार ग्रन्थ मानते हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में आगम ग्रंथों की मान्यता नहीं है। उनका कथन है—आगम-ग्रंथ लुप्त हो चुके हैं। आगम ग्रंथों के नाम से जो आजकल उपलब्ध होते हैं, वे प्रामाणिक नहीं हैं। दिगम्बर आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथ -सन्दोह ही उसका आधारभूत साहित्य है। तथापि आगमोक्त तात्त्विक व सैद्धांतिक विषय लगभग ज्यों के त्यों मान्य हैं। क्योंकि आगमों और दिगम्बर सम्प्रदाय के आधार ग्रन्थों के उक्त विषयों में विशेष मतभेद नहीं है।

तेरापंथ की मौलिक मान्यताएं तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु द्वारा प्रवर्तित हुई हैं। आचार्य श्री भिक्षु विशिष्ट आगम अनुयायी थे। उन्होंने जो कुछ कहा या लिखा उन सब का आधार आगम अवश्य रहे हैं। प्रस्तुत निबंध में तेरापंथ के मौलिक मन्तव्यों के आगमिकआधार बतलाए जा रहे हैं।

अब तक तेरापंथ के सिद्धांत विभिन्न जैन सम्प्रदायों के बीच ही कसौटी पर कसे जाते रहे हैं। अब वह युग आया है जब कि अनुसंधान प्रधान दृष्टि से तटस्थ विद्वानों के सम्मुख उन्हें प्रस्तुत करने की अपेक्षा हुई है

दान

तेरापंथ की दृढ़-मान्यता है—असंयत जीवों की जीवन-कामना राग है, मरण-कामना द्वेष और उनको इस भव सिन्धु से तर जाने की जो कामना है, वह वीतराग प्ररूपित धर्म है। तेरापंथ की दया और दान सम्बन्धी जितनी भी मीमांसाएँ हैं, वे सब इसी एक सूत्र पर आधारित हैं। इस सूत्र का उन सब में समान रूप से निर्वाह होता है। तात्पर्य हुआ—तेरापंथ की मान्यता के अनुसार षष्ठ गुणस्थानवर्ती या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती सुपात्र संयमी को यथाविधि दिया गया दान ही धर्म तथा धर्मानुगत पुण्य का मार्ग है। भव भ्रमण को अल्प करनेवाला है। अतिरिक्त दान असंयम पोषक होने के कारण लौकिक तथा भव वृद्धि का हेतु है। आचार्य श्री भिक्षु की भाषा में—

× × × ×

"सुपात्र' ने दियां संसार घटे छे, कुपात्र ने दियां वधे संसार।
ए वीर वचन साचा कर मानों, तिण में शंका नहीं छे लिगार ॥"

अर्थात् सुपात्र को देने में संसार घटता है, कुपात्र को देने से संसार बढ़ता है, यह यथार्थ वीर वचन है। इसमें शंका

के लिए तनिक भी स्थान नहीं है। आगम ग्रंथों में उक्त मन्तव्य के पोषक पर्याप्त आधार मिलते हैं। भगवती सूत्र के अष्टम शतक के ६ उद्देशकों में गौतम स्वामी भगवान् श्री महावीर से पूछते हैं—

भगवन् ? यदि कोई श्रमणोपासक जिसने पाप-कर्म का प्रत्याख्यान नहीं किया है, ऐसे असंयती, अव्रती को प्रासुक, अप्रासुक एषणीय, अणेषणीय "असण" "पाण" आदि चतुर्विध आहार देता है तो वह क्या उपार्जन करता है? इस पर भगवान् श्री महावीर ने उत्तर दिया—वह एकांत पाप-कर्म का उपार्जन करता है। उसे जरा भी निर्जरा नहीं होती।[२]

इस प्रश्नोत्तर प्रसंग से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्ण संयति और पूर्ण व्रती अर्थात् षष्ठ या षष्ठोत्तर गुणस्थानवर्ती साधु को जो प्राशुक और एषणीय दान दिया जाता है, वही दान मोक्ष मार्ग का हेतु है। अन्य प्रकार का दान आध्यात्मिक दृष्टि से पाप-बन्धन का कारण ही है।

ज्ञाता सूत्र के १३ वें अध्ययन में नन्दन मणिहारे का वर्णन मिलता है। नन्दन मणिहारे ने दानशाला की स्थापना की। नन्दा पुष्करणी बनवाई। जहाँ सहस्रों लोग आते और शान्ति प्राप्त करते और नन्दनमणिहारे की यशोगाथा बोलते थे। अन्त में नन्दन मणिहारे के शरीर में सोलह भयंकर रोग उत्पन्न हुए और वहाँ मर कर वह उसी नन्दा पुष्करणी में दर्दुर रूप में पैदा हुआ[३]। इस समग्र आख्यान को पढ़ने से सहज ही भान होने लगता है कि शास्त्रकारों का ध्येय तथा प्रकार के असंयति दान की हेयता सिद्ध करने का है।

निशीथ सूत्र के १५ वें उद्देशक में कहा गया है—'जो भिक्षु अन्यतीर्थों को, गृहस्थ को चतुर्विध आहार का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है[४]?"

जो साधु अन्यतीर्थों को, गृहस्थ को, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद, प्रमार्जक का दान करता है या करते हुए का अनुमोदन करता है तो उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है[५]।

साधु अन्य तीर्थों या गृहस्थ को किसी भी स्थिति में भोजन, पानी या वस्त्र, पात्र का दान नहीं कर सकता और किए जाने वाले दान का अनुमोदन भी नहीं कर सकता। इस कठोर प्रतिबन्ध का एकमात्र हार्द यही हो सकता है कि असंयती दान को भगवान् श्री महावीर ने धर्म और मोक्ष का अंग नहीं माना है। धर्म का अंग यदि उन्होंने माना होता तो साधु के लिए सर्वस्व दान की भी वे निर्विरोध आज्ञा देते। एक साधु दूसरे सतीर्थ्य साधु को अपनी उपलब्ध सामग्री से कुछ भी दान करे इसका विरोध न शास्त्र ही करते हैं और न वर्तमान परम्पराएँ ही, जब कि साधु असंयति गहस्थ को अपनी किसी वस्तु विशेष का दान करे उसमें शास्त्रीय निषेध तो अन्यत्रोक्त पाठ के अनुसार होता ही है और लगभग सभी जैन परम्पराओं में भी तथा प्रकार के दान का प्रतिषेध है। गृहस्थ भी सामायिक, पोषध आदि में संयति (साधु) को दान दे सकता है और साधु से इतर किसी को वह दान नहीं कर सकता। यह जो एक प्राचीन परम्परा जैन समाज में चली आ रही है, वह भी लौकिक दान को धर्मदान न होने का संकेत करती है।

सूत्रकृतांग, श्रुतस्कन्ध २ अध्ययन २२ में अन्य तीर्थी लोगों ने कहा है—हे आर्द्रकुमार जो दो सहस्र स्नातक ब्राह्मणों को नित्य प्रति भोजन कराते हैं वे पुण्य स्कंध का उपार्जन कर देवत्व को प्राप्त करते हैं, ऐसा वेद वाक्य है। इस कथन[६] का कठोरता

१—व्रताव्रत चउपइ गीति १६ गाथा ५७।

२—समणो वासगस्स णं भंते? तहारूवं अंसजयं अविरय पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणेसणिज्जेण वा असण पाण जाव कि कज्जइ? गोयमा! एगंतसो से पांवे कम्मे कज्जइ नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ।

३—ततेणं णंदे मणियोर तेहिं सोलसेहिं रोयायं-केहिं अभिभूते समाणे णंदा पोक्खरणीए मुच्छिए ४ तिरिक्ख जोणिएहिं निबद्धाउते बद्धपए सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे काल मासे कालं किच्चा नंदाए पोक्खरणीएदद्दुरीए कुच्छिंसि-दुद्दुरत्ताए उववन्ने ॥२६॥

४—जे भिक्खूअण्णउत्थियस्सवा गारत्थियस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देइ, देंतं वा सातिज्जति ॥७५॥

५—जे भिक्खू अण्णउत्थियस्सवा गारत्थियस्सवा वत्थंवा पडिग्गहंवा कंबलंवा पाय पुंच्छणंवा देइ देन्तं वा सातिज्जति

६—सिणायगाणं तुदु वे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं।
से गच्छति लोलुव संपगाढे तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥४४॥

से खण्डन करते हुए आर्द्रकुमार ने कहा—तथा प्रकार के कुलाटक दो सहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराने वाले उन लोलुप ब्राह्मणों सहित नरकगामी होते हैं।[१] उस समय की सामाजिक स्थितियों में वैदिक संस्कृति का प्राधान्य था और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ पात्र माना जाता था। श्रमण संस्कृति के उपासक आर्द्रकुमार ने तथा प्रकार के दान की जो भर्त्सना की है, वह दान-पुण्य की प्रचलित परंपरा को स्पष्ट चुनौती देने वाली है।

उत्तराध्ययन अध्ययन १४ में भृगु पुत्रों को जब उनके पिता ने वेदाध्ययन और विप्र भोजन का महत्त्व बताया तो प्रति बुद्ध पुत्रों ने उत्तर दिया। अधीत वेद त्राण नहीं होते। ब्राह्मणों को भोजन कराना मनुष्य को नरकप्राप्ति कराने वाला है।[२]

सूत्रकृतांग, श्रुतस्कंध १ अध्ययन ११ में तथा प्रकार के सम्बन्ध में कहा गया है—जो दान की प्रशंसा करता है, वह प्राणियों का वध चाहता है।[३]

उपासकदशांग अध्ययन ७ में बतलाया गया है सगडाल पुत्र आजीवक धर्म का उपासक था। गोशालक को वह महामाहण मानता था। भगवान् श्री महावीर के पास तत्त्वचर्चा कर वह निर्ग्रन्थ धर्म का उपासक हो गया। यह संवाद जब गोशालक को मिला, वह सगडाल पुत्र के पास आया। सगडाल पुत्र ने उसे आदर-सत्कार नहीं दिया और न शय्या संस्तारक ग्रहण करने के लिए आवेदन किया। गोशालक ने उसे अपनी ओर प्रभावित करने के लिए भगवान् महावीर का यश वर्णन किया तब सगडाल पुत्र ने उसे शय्या संस्तारक ग्रहण करने के लिए आवेदन किया। उस समय सगडाल पुत्र ने यह कहा—हे देवानुप्रिय! तुमने मेरे धर्माचार्य का यथार्थ गुणवर्णन किया। इसलिए मैं तुम्हें शय्या संस्तारक आदि के लिए निवेदन करता हूँ। न कि धर्म और तप के लिए।[४] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् श्री महावीर का उपासक सगडाल पुत्र भगवान् महावीर और उनके अनुयायी साधुजनों को दान करने में ही धर्म और तप मानता रहा है और वही निर्गन्थ धर्म का मन्तव्य रहा है।

ठाणांग सूत्र के नवमें ठाणं में ९ प्रकार के पुण्य बतलाए गए हैं। अन्नपुण्य, पानीयपुण्य, स्थान पुण्य, शयनासन पुण्य, वस्त्र पुण्य, मन पुण्य, वचन पुण्य, काय पुण्य और नमस्कार पुण्य।[५] पुण्य पदार्थ के इस निरूपण से ही यह स्पष्ट होता है कि जैन आगमों में सुपात्र दान को ही पुण्य बन्धन का कारण माना गया है। यहां एक भी ऐसे हेतु का उल्लेख नहीं किया गया है जो साधु-जीवन से संबंधित न हो। इस प्रकार जैन आगमों में अनेकानेक कथन भरे हैं जो षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधु को ही दान करने में धर्म और पुण्य होने का संकेत करते हैं और इतर दान को प्रवृत्ति प्रधान होने के कारण पाप-बन्धन का हेतु बतलाते हैं।

दया—

दया के सम्बन्ध में श्रीमद्भिक्षु गणी ने कहा है—

छः काय हणा वे नहीं, हणीयां भलौ न जांणें ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥"[६]

१—दयावरं धम्म दु गंच्छमाणा वहावहं धम्मपसंसमाणा।
एगंपि जे भोययति असीलं णियोणिसंजाति कुओ सुरेहिं॥४५॥

२—वेया अहीया न भवंति ताणं भुत्ता दिया निन्ति तमंतमेणं।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं कोणाम ते अणुमन्नेज्जएयं॥

३—जेयदाणं पंसंसति वह मिच्छंति पाणिणं॥२०॥

४—जम्हाणं देवाणुप्पिया। तुब्भे मम धम्मायरियस्स जाव महावीरस्स संतेहिं तच्चेहिं तहि एहिं सब्भूएहिं भावेहिं गुण कित्तणं करेह, तम्हाणं अहं तुब्भे पाडिहारिएणं पीढ जाव संथारएणं उवनिमंतेमि नो चेवणं धम्मोत्तिवा तवोत्तिवा।

५—णवविहे पुण्णे पं० तं० अण्ण पुण्णे, पाणपुण्णे, वत्थपुण्णे, लेणपुण्णे, सयणपुण्णे, मणपुण्णे, वयपुण्णे, कायपुण्णे नमोक्कारपुण्णे।

६—अनुकम्पा चउपई ढा० ८ दो० १

अर्थात् पृथ्वी कायिक आदि षट्कायिक जीवों का न तो हनन् करना, न करवाना और न करते हुए का अनुमोदन करना, यही आप्तोक्त दया है।

अतिरिक्त दया के विषय में उन्होंने कहा[1]—
'वांछे मरणों जीवणों, तो धर्म तणों नहिं अंस।
ए अणुकम्पा कियां थकां, बधें कर्म नो बंस ॥१॥"
'मोह अणुकम्पा जे करै, तिण में राग नें धेष।
भोग बधें इन्द्रियां तणो, अन्तर ऊंडो देख ॥२॥"

अर्थात् असंयत् जीवों का जीना या मरना चाहने में धर्म का जरा भी अंश नहीं है प्रत्युत पाप परम्परा की वृद्धि होती है। मोहात्मक अनुकम्पा राग और द्वेष से परिपूर्ण होती है, उससे इन्द्रियों के भोग बढ़ते हैं। तेरापंथ की मान्यता को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं :—हृदय परिवर्तन रूप जो आत्मशुद्धि पोषक दया है वह पारमार्थिक है, क्योंकि उससे ज्ञानादि चतुष्क की वृद्धि होती है। इतर दया जिसमें साध्य और साधन शुद्ध नहीं है, वह मात्र लौकिक है।

दया के विषय में भी आगमों का दृष्टिकोण सर्वथा निवर्तक रहा है। बौद्ध मान्यताओं में जहाँ माता-पिता की सेवा[2] करो, दुखियों के दुख दूर करो[3] आदि प्रवृत्ति प्रधान उपदेश मिलते हैं वहाँ जैन आगमों में माता-पिता का अविनय न करो, किसी प्राणी को कष्ट न दो आदि निवृत्ति प्रधान उपदेश ही मिलते हैं। विधायक दया के विषय में जहाँ असंयत जीवन आकांक्षा का सम्बन्ध है, वहाँ बहुत ही स्पष्ट निषेध प्रधान आदेश मिलते हैं।

निशीथ सूत्र के १२ वें उद्देशक में कहा गया है—जो साधु त्रस (जंगम) प्राणियों को अनुकम्पा के निमित्त तथा तृण पास से, काष्ठ पास से, चर्म पास से, वेत्र पास से, रज्जु पास से, सूत्र पास से बांधता है, बंधवाता है और बांधनेवाले का अनुमोदन करता है उसे चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[4]

इसके अनन्तर ही कहा गया है—जो साधु उक्त प्रकार के पाशों से बंधे हुए प्राणियों को अनुकम्पा के निमित्त से खोलता है, खुलवाता है, तथा खोलते हुए का अनुमोदन करता है, उसे भी चातुर्मासिकप्रायश्चित्त आता है।[5] इस निवर्तक उक्ति को केवल यह कह कर कि यह तो साधु निमित से कही गई बात है, टाला नहीं जा सकता। यदि जैन आगमों को वह प्रवृत्ति प्रधान अनुकम्पा मान्य होती तो वे अवश्य साधु को भी तथा प्रकार की अनुकम्पा के लिये स्पष्ट रूप से प्रेरित करते। तथोक्त दया अध्यात्म का अंग हो और मुनि उसे न कर सकें यह किसी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। गृहस्थ ऐसी अनुकम्पा करें और साधु उसका अनुमोदक मात्र होने से चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी हो, यह इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि गृहस्थों द्वारा तथा प्रकार की अनुकम्पा का किया जाना भी जैनागमों में अध्यात्म सम्मत नहीं माना गया है।

नावास्थित साधु के विषय में आचारांग, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन ३ उद्देशक १ में कहा गया है—साधु या साध्वी छिद्र से नावा में आते हुए पानी को देखे और क्रमश: नावा को डूबती देखे तो गृहस्थ के समीप आकर ऐसा न कहे—हे आयुष्मान् गृहस्थ ! तुम्हारी नावा में छिद्र से पानी आ रहा है और क्रमश: नावा डूब रही है ऐसा जताने के लिए तथा प्रकार से मन व वचन का भी प्रवर्तन न करे। अविमनस्क व अबहिर्लेश्य रहता हुआ एकान्त में जाकर, वह समाधिस्थ होकर शुभ अनुष्ठान में प्रवृत्त हो।[6]

१—अनुकम्पा चउपई ढा० ३ दो० १, २

२—ब्रह्मगिरि शिलालेख २,४, ८

३—सप्तम स्तम्भ शिलालेख।

४—जे भिक्खू कोलुणपडियाये अण्णयरिं तस पाण जाइंतण-पासएणवा मुंजपासएणवा कट्ठपासएणवा चम्मपासएणवा, वेत्तपासएणवा, रज्जुपासएणवा, सुत्तपासएणवा बंधति बंधंतंवा सातिज्जति ॥१॥

५—जे भिक्खू बद्धेल्लयंवा मुंचति मुंचंतंवा सातिज्जति ॥२॥

६—से भिक्खू वा भिक्खु णीवाए उत्तिंगेणं उदयं आसवमाणं पेहाए उवरुवरि णीवं कज्जलावेमाणं पेहाए णो परं उवसंकमित्तु एवं बूया" "आउंसतो गाहावइ, एयंते णावाए उदयं उत्तिंगेणं आसवति उवरुवरिवा णावाकज्जलावेति" एतप्पगारं मणं वा वायं वा णोपुरओ कट्ट विहरेज्जा। अप्पुस्सुए अबहिलेस्सेगंतिगएणं अप्पाणं विपोसेज्ज समाहीए, तओ संजयामेव णावासंतारिमे उदए आहारियं रीएज्जा।

उपासकदशांग अध्ययन ३ में वर्णन है चूल्लणीपिया श्रावक ने पोषध शाला में पोषध किया। एक मिथ्यादृष्टिदेव ने उसे पोषध व्रत से डिगाना चाहा। देवमाया से उसने चूल्लणी पिया श्रावक को यह दिखलाया कि उसके पुत्रों में से एक एक को उसकी आँखों के सामने लाकर मार रहा है।[1] चूल्लणीपिया श्रावक डिगा नहीं। अन्त में उसने देखा कि मेरी माता को भी वह दुष्ट मार रहा है। माता की अनुकम्पा के लिये चूल्लणीपिया उठा और उस पुरुष को पकड़ने के लिये चला। देव चला गया और उसके हाथ में एक थम्भा आ गया, जिसे पकड़-कर वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसका रोदन सुन कर उसकी माता आई और उसे कहने लगी। कोई ऐसा पुरुष नहीं है जिसने तुम्हारे पुत्रों को तुम्हारे सम्मख मारा हो। यह सब किसी ने तुम्हारे लिये उपसर्ग रूप किया था। इसलिये अब तू भग्न व्रत, भग्न नियम, भग्नपोषधोपवास हो गया है। इसलिये हे पुत्र। तू अपने इस पाप स्थान की आलोचना कर। तब चल्लणीपिया श्रावक ने माता के कथन को स्वीकार कर अपने पाप स्थानक की आलोचना की।[1]

निर्वर्तक दया का उत्कृष्ट उदाहरण नमि राजर्षि का है जो उत्तराध्ययन सूत्र के ९ वें अध्ययन में बतलाया गया है—नमि राजा ने रानियों को, महलों को और मिथिला के समग्र राज वैभव को छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। इन्द्र परीक्षा के लिये आया। देव माया से उसने ऐसा दिखलाया कि समग्र मिथिला धायंधायं कर जल रही है और उसने नमि राजर्षि से कहा—हेभगवन् ? इस अग्नि और वायु के द्वारा यह मन्दिर जल रहे हैं, तथा आपका अन्तःपुर भी दग्ध हो रहा है, फिर आप क्यों इसकी ओर दृष्टि नहीं करते।[2]

नमि राजर्षि ने उस समय कहा—मैं सुख में रहता हूँ, सुख में जीता हूँ। मेरा कुछ भी नहीं है। मिथिला के जलने से मेरा अपना कुछ नहीं जलता। पुत्र कलत्र आदि छोड़ देने वाले निर्व्यापार भिक्षु के लिए कुछ भी प्रिय नहीं है और कुछ भी अप्रिय नहीं है।[3]

इस प्रकार अनेकानेक स्पष्ट असन्दिग्ध आधार आगमों में मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि दया दान आदि विषयों पर श्रीमद्भिक्षुने जो निरूपण किया है वह नितान्त शास्त्र-सम्मत है।

कुछ एक विचारकों का अभिमत है कि तेरापन्थ निकेवल निर्वर्तक धर्म है। कुछ भी हो भगवान् श्री महावीर के युग में समग्र निर्ग्रन्थ धर्म (जैन धर्म) ही इससे कोई परे की बात रहा हो ऐसा आगमों से परिलक्षित नहीं होता। प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी का मत है—विधायक रूप में प्रेम तत्त्व पर महात्मा बुद्ध ने जोर दिया। इससे अहिंसा का विधायक मार्ग प्रवर्तक रूप निकला। भारत के बाहर अहिंसा के प्रवर्तक मार्ग का विकास ईसा के द्वारा हुआ। हमारे देश में इसका विकास कुछ और देर से हुआ। अशोक के राज्य-काल का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनके व्यवहार में निवर्तक कार्यों के साथ-साथ प्रवर्तक कार्यों पर बल दिया गया। हिंसा निवत्ति के साथ-साथ धर्मशाला बनवाना, पानी पिलाना, पेड़ लगाना आदि परोपकार के कार्य भी हुए। अशोक ने प्रचार किया हिंसा न करना तो ठीक है, पर दया-धर्म करना भी उचित है। इसमें शक नहीं कि हमारे देश में दानशालाएँ, पिंजरापोल आदि बड़ी संख्या में खुले फिर भी हमें स्वीकार करना होगा कि हमारे

१— नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ नीणेइ नीणित्ता तव अग्गओ घाएइ, एसणं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एसणं तुमेविदरिसणे दिट्ठे। तंणं तुमं इयाणिं भग्ग-नियमे, भग्गपोसहे, विहरसि। तंणं तुमं पुत्ता एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि ॥१४७॥ तएणं से चुलणि पिया समणोवासए अम्मगाए तहत्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव पडिवज्जइ ॥१४८॥

२— एस अग्गी य वाऊ य, एयं उज्झई मन्दिरं।
भय वं अन्तेउरं तेणं, कीस णं नावपेक्खह ॥१२॥

३— सुहं वसामो जीवामो जेसि मो नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए न मे उज्झइ किंचण ॥१४॥
चत्त पुत्त कलत्तस्स निव्वावारस्स भिक्खुणो।
पियं न विज्जई किंचि अप्पियं पि न विज्जई ॥१५॥

देश में प्रवर्तक धर्म की अपेक्षा निवर्तक धर्म ही अधिक फैला।[1] निवर्तक धर्म श्रेष्ठ है या प्रवर्तक, यह प्रस्तुत लेख का आलोच्य विषय नहीं है। प्रश्न तो यह भी रह जाता है कि तेरापन्थ की व तत्सम अन्य मान्यताओं को जो कि शुभ योग की प्रवृत्ति को निर्जरा का हेतु मानती है, उन्हें क्यों निवर्तक धर्म के नाम से अभिहित किया जाये। हिंसा और अशुभ योग मूलक पाप कार्यों से बचने के अर्थ में तो सभी धर्म निवर्तकधर्म की कोटि में माने जा सकते हैं। प्रस्तुत निबन्ध का आलोच्य विषय तो यही है, तेरापन्थ की मान्यताएँ आगमानुकूल हैं या नहीं ? शास्त्रीय उल्लेखों, ऐतिहासिक दृष्टिकोणों से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि माहवीर की अहिंसा निवृत्ति प्रधान रही है न कि प्रवृत्ति। भगवान् श्री महावीर का यह उद्घोष वस्तु स्थिति की ओर भी स्पष्ट कर देता है—जो अरिहन्त भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान हैं और भविष्य में होंगे, वे सब यही कहते हैं "यावत् प्ररूपणा करते हैं—सर्वप्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्व तत्त्व की हिंसा मत करो, उनपर अनुशासन मत करो, उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो, उन्हें परिताप न दो, उन्हें कष्ट न दो, उन्हें उपद्रव मत करो। यही धर्म ध्रुव नित्य और शाश्वत है ?"[2]

वर्तमानकाल में भी प्रवृत्ति मूलक उपकारों में कोई भी जैन-सम्प्रदाय संवर निर्जरात्मक धर्म होने की मान्यता नहीं रखता। तात्पर्य यह हुआ प्रवृत्ति मूलक लोकोपकारी कार्य मोक्ष मार्ग नहीं है और बन्धन के हेतु रूप है, यहां तक तेरापन्थ और इतर जैन-सम्प्रदाय एकमत हैं। अन्तर केवल यही है कि तेरापन्थ उन असंयम पोषक और हिंसामूलक प्रवत्तियों को पाप बन्ध का निमित्त मानता है और इतर-सम्प्रदाय उन्हें लोकोपकारी होने से पुण्य बन्ध के निमित्त मानते हैं। सम्भावित वस्तुस्थिति तो यह है कि प्रारम्भ में जैन-धर्म की यही मान्यता रही है जो आज तेरापन्थ की है। कालान्तर में बौद्ध, हिन्दू आदि धर्मों से प्रभावित होकर या उसके सामने लोक प्रतिकूल मान्यताओं को बनाये रखने में समर्थ न होने के कारण जैन-धर्म ने इस पुण्य निमित्तक मान्यता को स्थान दिया। दूसरे धर्म भले ही उन प्रवत्तियों को मोक्ष प्राप्ति का हेतु मानते हों पर जैन-सम्प्रदाय आज भी ऐसा मानने को प्रस्तुत नहीं हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जैन-सम्प्रदायों ने भव बन्धन का हेतु मानते हुए भी केवल पुण्य रूप में उन लौकिक प्रवृत्तियों को स्वीकार कर लोक-व्यवहार के साथ संगति बिठाने के लिए मध्यम मार्ग का अनुसरण किया है।

मिथ्या दृष्टि क्रिया

तेरापन्थ की मान्यता है—मिथ्यादृष्टि के दान, शील, तप आदि अनवद्य अनुष्ठान मोक्ष प्राप्ति के ही हेतु हैं और निर्जरा धर्म के अन्तर्गत हैं। इतर जैन सम्प्रदाय मानते हैं कि मिथ्या दृष्टि के उक्त अनुष्ठान भव भ्रमण अर्थात् संसार वृद्धि के हेतु हैं और संवर निर्जरात्मक धर्म नहीं हैं। तेरापन्थ और इतर जैन-सम्प्रदायों में यह एक मौलिक मतभेद है। एक ओर तो दया दान आदि को लेकर तेरापन्थ को लोक गर्हा में लाने के लिए नितान्त असामाजिक और अमनोवैज्ञानिक प्रश्न गढ़े जाते हैं और जिज्ञासा की जाती है कि इन प्रवृत्तियों में पुण्य होता है या पाप ? पुण्य और पाप दोनों ही बन्धन रूप हैं और भव-भ्रमण के हेतु हैं। इसलिए ये प्रश्न अधिक महत्त्व के नहीं रह जाते हैं। स्थिति यह है कि मिथ्या दृष्टि की क्रिया को लेकर तेरापन्थ की मान्यता लोक विश्वास के अनुकल हो जाती है और इतर जैन सम्प्रदायों की मान्यता लोक धारणा के सर्वथा प्रतिकूल। जितने प्रश्न तेरापन्थ के सामने प्रस्तुत किये जाते हैं वे ही प्रश्न इस भाषा में अन्य सम्प्रदायों के सम्मुख रखे जा सकते हैं कि इतर धर्मों में विश्वास रखने वाले अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि का आचरण करें और अनुकम्पा व दान में प्रवृत्त हों उनका वह आचरण धर्म है या अधर्म, मोक्ष की ओर ले जाने वाला है या संसार की ओर ?

मिथ्या दृष्टि की मोक्ष आराधकता के विषय में निम्न प्रकरण आधारभत हैं। भगवती शतक आठ उद्देशक १० में

१– अहिंसा के आचार और विचार का विकास पृ० ७–८

२– से बेमि—जेअईया, जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा, अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूविंति, सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघितव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा।

भगवान् श्री महावीर गौतमस्वामी को सम्बोधन कर कहते हैं—गौतम ! मैं भी यह कहता हूँ यावत् प्ररूपणा करता हूँ कि चार प्रकार के पुरुष होते हैं जैसे एक पुरुष शील सम्पन्न (क्रियायुक्त) होता है और श्रुत-सम्पन्न (ज्ञानयुक्त) नहीं होता। एक पुरुष शील सम्पन्न नहीं होता और श्रुत सम्पन्न होता है। एक पुरुष, श्रुत सम्पन्न भी होता है और शील-सम्पन्न भी और एक पुरुष न शील-सम्पन्न होता है और न श्रुत सम्पन्न। उनमें शील करके सहित और ज्ञान करके रहित जो पाप से निवृत्त होनेवाला व धर्म को नहीं जानने वाला प्रथम पुरुष है उसे मैं देश आराधक अर्थात् मोक्ष मार्ग का आंशिक आराधक कहता हूँ। उसमें शील करके रहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाला व धर्म को जानने वाला दूसरा पुरुष है, उसे मैं देश-विराधक कहता हूँ। उसमें शील करके सहित और ज्ञान करके सहित जो पाप से निवृत्त होने वाला व धर्म को जानने वाला तीसरा पुरुष है, उसे मैं सर्व आराधक कहता हूं। उसमें शील करके रहित और ज्ञान करके रहित, जो पाप से निवृत्त नहीं होने वाला व धर्म को नहीं जानने वाला चौथा पुरुष है उसे मैं सर्व विराधक कहता हूँ।[1]

सुप्रसिद्ध टीकाकार श्री अभयदेव सूरी उक्त प्रसंग की टीका करते हुए लिखते हैं:—"देसाहएति—स्तोकमंशं मोक्ष मार्गस्याराधयती त्यर्थः। सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रिया परत्वात्—श्रुत शब्देन ज्ञान दर्शनयोर्गृहीतत्वात्।"

अर्थात् श्रुत शब्द से ज्ञान दर्शन का ग्रहण होता है। सम्यग् ज्ञान रहित होने के कारण और क्रिया करके सहित होने के *कारण वह पुरुष देश आराधक अर्थात् मोक्ष मार्ग के स्वल्प अंश की आराधना करने वाला है।*

ज्ञाता अध्ययन १ में बताया गया है—मेघकुमार ने अपने पिछले हाथी के भव में शशक की निर्वतंक अनुकम्पा की। मिथ्यात्व दशा में ही उसने अपने भव भ्रमण को परिमित किया और मनुष्य का आयुष्य बांधा। मिथ्या दृष्टि की सत् क्रिया मोक्ष हेतुक ही है, इस विषय में वह एक ज्वलन्त प्रमाण है। घटना इस प्रकार है—मेघकुमार राजा श्रेणिकका पुत्र था। भगवान् श्री महावीर के पास उसने दीक्षा ग्रहण की थी। प्रथम रात्रि में ही वह साधु परिषहों से कतरा कर अपने घर जाने के लिए समुद्यत हो गया। साधुचर्या को छोड़ देने के संकल्प से जब मेघकुमार भगवान् श्री महावीर के सम्मुख आया, तो भगवान् ने बहुत सारा प्रेरणाप्रद उपदेश करते हुए कहा—हे मेघकुमार ? जब तू पशु योनि में था, सम्यक्त्व का लाभ तुझे नहीं मिला था, उस स्थिति में भी तुमने उस शशक की अनुकम्पा के लिए अपना पैर ऊँचा उठाए रखा, अब तो तेरा कहना ही क्या ?[2] हे मेघकुमार तब तुमने उस प्राणानुकम्पा से संसार परिमित किया और मनुष्य का आयष्य बाँधा।[3]

१—अहं पुण गोयमा ! एवं आइक्खामि जाव परूवेमि एवं खलु मए चत्तारि पुरिस जाया पण्णत्ता। तंजहा—सील संपण्णे णामंएगे णो सुय संपण्णे, सुयसंपण्णे नामंएगे नो सील संपण्णे, एगे सील संपण्णेवि सुयं संपण्णे, वि, एगे णो सील संपण्णे नो सुय संपण्णे ॥

तत्थणं जे से पढमें पुरिस जाए सेणं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसेदेसाराहए पण्णत्ते ॥२॥

तत्थणं जे से दोच्चे पुरिस जाए सेणं पुरिसे असीलवं सुयवं अणवरए विण्णाय धम्मे एसणं। मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते ॥३॥

तत्थणं जे से तच्चे पुरिस जाए सेणं पुरिसे सीलवं सुयवं उवरए विण्णा य धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ॥४॥

तत्थणं जे से चउत्थे पुरिस जाए सेणं पुरिसे असीलवं असुतवं अणुवरए अविण्णाय धम्मे एसणं गोयमा ! मए पुरिसे सव्व विराहए पण्णत्ते ॥५॥

२—तंजइ ताव तुमे मेहा ? तिरिक्ख जोणिय भाव मुवागएणं अपड़िलद्ध सम्पत्तरयण लंभेणं से पाएपाणाणुकंपयाए जाव अन्तरा चेव संधारिएणों चेवेणं णिक्खित्ते किमंग पुण तमे मेहा। इयाणिं विपुल कुल समुब्भवेणं।

३—तएणं तुमं मेहा। ताए पाणाणुकंपयाए ४ संसारे परित्तीकए मणुस्साउए निबद्धे।

सुख विपाक अध्ययन प्रथम में बतलाया गया है—सुबाहु कुमार ने अपने पिछले सुमुख गाथापति के भव में सुदत्त नामक अनगार को शुद्ध दान दिया और परिमित संसार किया। शास्त्रकार कहते हैं :—उस समय उस सुमुख गाथापति ने सुदत्त अनगार को द्रव्य शुद्ध और त्रिविध और त्रिकरण शुद्ध दान दिया और उसने संसार परिमित करके मनुष्य का आयुष्य बाँधा।

भगवती शतक ९ उद्देशक ३१ में असोच्चा केवली के संबंध में बताया गया है—बाल तपस्वी (मिथ्यादृष्टि तपस्वी) जिसने कि कभी वीतराग धर्म सुना ही नहीं है, वह भी अपनी तपस्या से व अन्य सद्‌गुणों से सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है, यावत् केवली हो जाता है। जो जीव निरन्तर तपस्या करता हुआ, सूर्य के सम्मुख अपनी भुजाओं को उठाकर आतापन भूमि में आतापना लेता है, भद्रता, शांति और क्रोध, मान, माया, लोभ की अल्पता, मृदुता, विनीतत्व, इन्द्रिय-निग्रह इन गुणों से किसी समय शुभ अध्यवसाय, शुभ परिणाम और शुभ लेश्याओं से विभिन्न ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होता है और विभंग ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने से ईहा, अपोह मार्गणा और गवेषणा करते हुए साधु को विभंग नामक अज्ञान उत्पन्न होता है। उस विभंग अज्ञान से वह जीव जघन्य अंगुली के असंख्य भाग को और उत्कृष्ट असंख्य हजार योजन तक के पदार्थों को जानता है और देखता है। वह जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है। पाषंडी को आरंभ परिग्रह सहित जानता है, क्लेश मान जानता है, विशुद्ध मान जानता है। वह चारित्र प्राप्ति के पहले सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् श्रमण धर्म को पसंद करता है और तत्पश्चात् चारित्र प्राप्ति करके लिंग को ग्रहण करता है।[1] सूत्रकृतांग, श्रुतस्कंध १ अध्ययन १ गाथा १९ तथा २० में बताया गया है—वे दर्शन ही अपने-अपने दर्शन में मुक्ति का कारण बताते हैं वे कहते हैं—चाहे गृह में निवास करते हों, चाहे अरण्य में, चाहे वे प्रव्रजित हों, हमारे मत में आ जाने से उन्हें मोक्ष मिलता है। ऐसे लोग कर्म की संधि को नहीं जानते हुए भी दुःख से मुक्त होने को उद्यत होते हैं। परन्तु वे यति धर्म को नहीं जानने वाले असमंजस भाषी संसार सिन्धु से पार नहीं हो सकते।[2]

यहाँ स्पष्ट रूप से अपने ही मत में आ जाने से कल्याण मानने वाले मतों की भर्त्सना की गई है। आगमों में ऐसे अनेक सुदृढ़ प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो मिथ्यात्वी की सत् प्रवृत्ति को मोक्ष मार्ग का निमित्तभूतसिद्ध करते हैं। यदि ऐसा न हो तो मिथ्या दृष्टि से सम्यक् दृष्टि के होने का रास्ता ही रुक जाता है। बिना किसी सत् प्रवृत्ति का शुभ परिणाम पाए सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र उपलब्ध ही कैसे हो सकते हैं?

तेरापन्थ के आचार्य श्री भिक्षु गणी ने विचार क्रान्ति के साथ आचार क्रान्ति भी की थी। उस आचार क्रांति का एक ठोस परिणाम तेरापन्थ सम्प्रदाय में उपाश्रयों व स्थानकों का न होना है। श्री भिक्षु गणी ने साधुओं के निमित्त से बनने वाले और साधुओं की प्रेरणा से बनाये जाने वाले उपाश्रयों व स्थानकों का कठोरता से निराकरण किया है। उनकी स्पष्ट धारणा थी—

१—तस्सणं भंते। छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खितेणं तवो कम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहस्स आयावण भूमीए, आयावे-माणस्स पगति भद्दयाए पगइ उवसंतयाए पगति पयणु कोह माण माया लोभयाए, मिउमद्दव संपन्नयाए अल्लीणयाए, भद्दयाए, विणीययाए, अन्नया कयावि सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेस्साहिं विसुज्झमाणीहिं २ तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहाऽपोह मग्गणगवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुपज्जइ। सेणं तेणं विभंगनाणेणं समुपन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जति भागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयण सहस्साइं जाणइ, पासइ सेणं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जीवेविजाणइ अजीवेविजाणइ पांसडत्थेसारम्भे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणेवि जाणइ विसुज्झमाणे वि जाणइ सेणं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ सम्म पडिवज्जित्ता समणधम्मं रोएति समणधम्मं रोएत्ता चरित्तं पडिवज्जति चरित्तंपडिवज्जित्ता लिंगं पडिवज्जइ।

२—अगार मावसंतावि अरण्णा वावि पव्वया
इमं दरिसण मावण्णा सव्वदुक्खा विमुच्चइ ॥१९॥
तेणावि संधि णच्चाणं, नते धम्मविओ जणा
जे ते उवाइणो एवं, ण ते ओहंतराहिया ॥२०॥

तथा प्रकार के निर्माणों में आधा कर्म, परिग्रह आदि बड़े दोषों का सेवन होता है। तेरापन्थ परम्परा में वे ही स्थान साधु साध्वियों द्वारा उपयोग में लाए जा सकते हैं जिनका निर्माण गहस्थ अपने प्रयोजनों से करते हैं। भोजन और पानी की तरह साधु स्थान की भी याचना करते हैं और गहस्थ अपनी आवश्यकताओं को सीमित कर सुपात्र दान की बुद्धि से उन्हें ठहरने के लिए निवेदन करते हैं। शास्त्रकारों ने भी उद्दिष्ट स्थानों के लिए अनेकधा निषेध किया है।

निशीथ सूत्र के ५ वें उद्देशक में कहा गया है—जो साधु अपने निमित्त से बने हुए स्थान में प्रवेश करता है व प्रवेश करने वाले का अनुमोदन करता है उसे मासिक प्रायश्चित्त आता है[1] —

इस प्रकार तेरापन्थ के प्रत्येक मन्तव्य के लिए दृढ़ आगमिक आधार है।

१—जे भिक्खू उद्देसियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा सातिज्जति।

आचार्य भिक्षु के साहित्य में रहस्यवाद

(लेखक—मुनि श्री पुष्पराज जी)

कला जीवन के लिए है, न कि कला के लिए जीवन (Art is for life, not life for art)। वास्तविक कलाकार वही है जो वस्तुओं की सत्यता का (वास्तविक स्थिति का) सुस्पष्ट दर्शन करा दे। कविता भी एक कला है, और कवि कलाकार। कवि वह है जो जन-जीवन की गूढ़ समस्याओं को छूलेता है और उनका सही समाधान भी ढूंढ निकालता है। जब कवि की आभ्यन्तरानुभूति कलात्मक रूप लेती हुई वाणी से निकलती है, तब वह कविता का रूप धारण कर लेती है।

आधुनिक कविता साहित्य क्षेत्र में प्रमुख रूप से (प्रधानतः) रहस्यवाद, छायावाद, प्रतीकवाद, प्रगतिवाद, आदर्शवाद और यथार्थवाद की प्रचुरता है। प्रस्तुत निबंध में तेरापंथ के आद्य संस्थापक "आ० भिक्षु के साहित्य में रहस्यवाद" पर कुछ कहने का प्रयत्न किया गया है। यह निर्विवाद सत्य है कि "छायावाद और रहस्यवाद" आलोचना क्षेत्र में हिन्दी आलोचकों के बीच एक पहेली-सा बना रहा और आज भी है। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री दीनानाथ शरण अपनी "हिन्दी में छाया-वाद" नामक पुस्तक में लिखते हैं—"छायावाद और रहस्यवाद के संबंध में अगणित भ्रांतियाँ फैली हुई हैं।[1]...... किसी ने छायावाद को रहस्यवाद का पर्यायवाची समझा, तो किसी ने छायावाद को रहस्यवाद से बिलकुल अलग माना। कुछ लोगों ने तो "छायावाद का रहस्यवाद" की स्वतंत्र कल्पना की।....... हिन्दी के विद्वान् आलोचक डा० रामकुमार वर्मा ने छाया-वाद को रहस्यवाद बतलाते हुए "उसकी छाया में शान्त का अनन्त से मिलाप" देखा है। उनका विचार है कि "कबीर जलालुद्दीन, रूमी और सेंटऑगस्टाईन की कविताओं में यही छायावाद का रंग गूंजता है।"[2]

आलोचना क्षितिज के उज्ज्वल नक्षत्र श्री रामचन्द्र शुक्ल भी इसी विचार को पुष्ट करते हैं। वे भी छायावाद को रहस्यवाद मानते हैं। उनके अनुसार रहस्यवाद के अर्थ में कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन मान कर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम का अनेक प्रकार से चित्रण करता है।[3]

आधुनिक रहस्यवाद की प्रमुख लेखिका श्री महादेवी वर्मा भी अपनी 'यामा' की भूमिका में छायावाद और रहस्यवाद की एकत्र चर्चा करते हुए लिखती हैं कि —"छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये जो प्राचीन काल से बिम्ब प्रतिबिम्ब के रूप में चला आ रहा था। और जिसके कारण मनुष्य को अपने दुःख में प्रकृति उदास, और सुख में प्रकृति पुलकित जान पड़ती थी। छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गई। अतः अब मनुष्य के अश्रु मेघ के जल कण और पृथ्वी के ओस बिन्दुओं का एक ही मूल्य है। प्रकृति के लघुतृण और महान् वृक्ष, निविड़ अन्धकार और उज्ज्वल विद्युत रेखा, मानव की लघुता, विशालता, कोमलता, कठोरता और मोह ज्ञान का केवल प्रतिबिम्ब न होकर एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर है। जब प्रकृति की अनेकरूपता में परिवर्तनशील विभिन्नता में कवि ने ऐसा तारतम्य खोजने का प्रयास किया जिसका एक छोर किसी असीम चेतन और दूसरा उसके असीम हृदय में समाया हुआ था, तब प्रकृति का एक अंश अलौकिक व्यक्तित्व लेकर जाग उठा।

परन्तु इस सम्बन्ध में मानव हृदय की सारी प्यास बुझ न सकी; क्योंकि मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुराग जनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता तब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक वे सरस नहीं हो पाते, जब तक मधुरिमा सीमातीत नहीं हो जाती तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। इसीसे इस अनेकरूपता के कारण पर एक मधुरतम व्यक्तित्व

१—हिन्दी काव्य में छायावाद—ले० श्री दीनानाथ शरण, पृ० ५१

२—कविता (साहित्य समालोचना) डा० रामकुमार वर्मा।

३—हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ६६२।

का आरोप कर उसके निकट आत्मनिवेदन करना इस काव्य— छायावाद का दूसरा सोपान बना जिसे रहस्यमय होने के कारण ही रहस्यवाद नाम दिया गया।[1]

इस विषय में आज के प्रसिद्ध निष्पक्ष समालोचक डाक्टर नगेन्द्र का अत्यन्त सुस्पष्ट मत है। "पहला भ्रम उन लोगों ने फैलाया है जो छायावाद और रहस्यवाद में अन्तर नहीं कर पाते। आरंभ में छायावाद का यही दुर्भाग्य रहा।.......... यहाँ तक कि स्वयं महादेवीजी ने भी छायावाद के ऊपर सर्वात्मवाद का भारी बोझ लाद दिया है।"[2]

छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में इस प्रकार अगणित भ्रांतियाँ हैं, जिसमें सबसे बड़ा विभ्रम यह है कि कुछ चिन्तकों ने छायावाद को प्रकृति काव्य और रहस्यवाद को एक अखण्ड परमात्मासत्ता की संकीर्ण सीमा में आबद्ध कर दिया। यह स्पष्ट है कि आज के प्रगतिशील विचारक इस चिन्तन को किसी प्रकार अगांभीर्ययुक्त एवं अनुपयुक्त घोषित किये बिना नहीं रह सकते। उनका चिन्तन अपने आप में स्पष्ट है कि क्या एक अखण्ड परमात्मसत्ता किंवा अध्यात्म विषय में विश्वास नहीं रखने वाला लेखक रहस्यवादी साहित्य लिख ही नहीं सकता ? इस पर डा० नगेन्द्र का सुस्पष्ट उत्तर है "उस पर (छायावादपर) रहस्यसाधना अथवा रहस्यानुभूति का आरोप करना अनर्थ करना है, भ्रांतियों का पोषण करना है।.....उसका (छायावादका) जन्म साधना से—यहाँ तक कि अखंड आध्यात्मिक विश्वास से भी नहीं हुआ।.....छायावाद के कतिपय कवि और समर्थक छायावाद के सुकुमार शरीर पर से आध्यात्मिक चिन्तन का मृगचर्म उतारने को तैयार नहीं हैं। रामकुमारजी आज भी कबीर के योग की शब्दावली में अपने काव्य का व्याख्यान करते हैं। महादेवीजी की कविता के उपासकगण भी प्रकृति और पुरुष के रूपकों में उलझे बिना उसका महत्व समझने में असमर्थ हैं।[3]...."प्रकृति पर मानव व्यक्तित्व का आरोप छायावाद की मूल प्रवृत्ति नहीं है; क्योंकि स्पष्टतः छायावाद "प्रकृतिकाव्य" नहीं है। और इसका प्रमाण यह है कि छायावाद में प्रकृति का चित्रण नहीं है वरन् प्रकृति के स्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठें उनका चित्रण है।"[4].. सर्वात्मवाद को छायावाद का उद्‌गम श्रोत मानना संगत नहीं होगा। छायावाद का कवि आरंभ से ही सर्वात्मवाद की आध्यात्मिक अनुभूति से प्रेरित नहीं हुआ। पल्लव, नीहार, परिमल, आँसू आदि की मूलवर्ती वासना अप्रत्यक्ष और सूक्ष्म तो अवश्य है, परन्तु सर्वथा उदात्त और आध्यात्मिक नहीं है। आज के बुद्धिजीवी कवि के लिए वासना को सूक्ष्मतर करना तो साधारणतः संभव है। परन्तु आध्यात्मिक अनुभति का होना उसके लिए सहज संभव नहीं है; और यह स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि गत महायुद्ध के बाद जिन कवियों के हृदय से छायावाद की कविता उद्‌भूत हुई उन पर उस समय किसी प्रकार आध्यात्मिक अनुभूति का आरोप नहीं किया जा सकता।"[5].......यही बात रहस्यानुभूति के विषय में कही जा सकती है।.......छायावाद की रहस्योक्तियां एक प्रकार से जिज्ञासाएँ हैं......परन्तु वे धार्मिक साधना पर आश्रित नहीं हैं। उनका आधार कहीं भावना, कहीं दर्शन, चिन्तन और आरम्भ में कहीं-कहीं मन की छलना भी हैं।"[6]

प्रो० विश्वम्भरनाथ एम० ए० साहित्य रत्न ने तो यहां तक कह दिया है कि यह "परिभाषा सांप्रदायिक है, क्योंकि सृष्टि को ब्रह्म की अभिव्यक्ति सभी विचारक नहीं मानते।"[7]

इन आधुनिक हिन्दी जगत् के प्रमुख विचारकों एवं आलोचकों का यह नवीन चिन्तन स्पष्ट प्रमाणित करता है कि—"छायावाद और रहस्यवाद को केवल छाया चित्र एवं उलझन भरे किसी एक परमात्मा विशेष की संकीर्ण सीमा में आबद्ध करना उनके साथ उचित न्याय नहीं होगा।

१—यामा (भूमिका से) महादेवी वर्मा—हिन्दी काव्य में छाया वाद, पृष्ठ —५३
२—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—ले० डा० नगेन्द्र, पृष्ठ १३
३—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ—पृ० १४
४— ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० ११
५—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० १२
६—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ पृ० १३
७—हिन्दी साहित्य के प्रमुखवाद और उनके प्रवर्तक पृ० ७७

छायावाद का अर्थ है—मानसिक संवेदना द्वारा प्रकृति के संस्पर्श से मन में जो छायाचित्र उठें उन्हें उनको प्रकृति की रूपकता के माध्यम से अभिव्यक्त करना।

कवि जब जीवन-संघर्ष से विकल हो उठता है, तब दुःख भुलाने की आकांक्षा से प्रकृति के सुनहरे स्वप्नों में वह जो कुछ गुनगुनाता है वही अनुभूत्यात्मक छायाचित्र हमारे सामने छायावादी कविता का रूप लिये आते हैं।"

प्रकृति की सहज प्रक्रिया में परम रहस्य को प्रगट करना रहस्यवाद है। सरल शब्दों में इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि —"ससीम का असीम की खोज में व्यग्र हो जाना ही रहस्यवाद है।"

आचार्य भिक्षु आगमिक कोटि के विद्वान् थे। उनका कवित्व भी आगमिक मान्यताओं के विश्लेषण में मुख्यतः प्रवाहित हुआ है, फिर भी उनके अनेक पद्यों में असाधारण कोटि का रहस्यवाद उभर आया है। उन्होंने अपन जीवन-काल में लगभग अड़तीस हजार पद्यों की रचना से राजस्थानी भाषा के साहित्य को समृद्धिशाली एवं गौरवान्वित किया है। उनकी कविता में सहज सौन्दर्य, ओज और माधुर्य का अनुपम त्रिवेणी संगम है। वे केवल "अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है"[1]—के सिद्धान्तानुसार भावाभिव्यंजना में ही कुशल नहीं थे। वरन् "सत्याभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही तो कला है"[2] के अमर उपासक थे।

यही कारण है कि उनकी सहज साधारण रचनाओं में भी स्थान-स्थान पर रहस्यवाद असाधारण रूप से झलक रहा है।

कवि ने एक स्थल पर जलद में होनेवाली सहज प्रक्रिया के माध्यम से मानव मानस का कितना रहस्यमय चित्रण किया है।

"इक मेघ गाजेंने बरसणो, इक गाजे पण बरसे नहीं कांय।
इक गाजे नहीं पिण बरसे घणों, इक गाजे बरसे नांय॥"[3]

यहाँ—ससीम जलधर की नैसर्गिक प्रवृत्ति में असीम मानव मानस की उदार अनुदार भावना का प्रकटन हुआ है।

कल्पना जगत के उपवन पें विहार करते करते कवि की दृष्टि सूखे आम्र तरु एवं पुष्पित पल्लवित धतूरे पर केन्द्रित हो जाती है। तत्काल कवि हृदय बोल उठता है—

"केइ रूंख बाग में होय, आंब धतूरा दोय। फल नहीं सारिखा ए, कर ज्यों पारिखा ए॥
आंबा सूं लिवलाय, सींचे धतूरो आय। आसामन अति घणीए, अंब लेबा नणी ए॥
पिण आंब गयो कुमलाय, धतूरो रह्यो डहिडाय। आपनें ओवें जरेंए नेंणा नीर झरेंए॥

यहां कवि ने व्यक्तियों की असीम संयम वृत्ति और असंयम वृत्ति (श्रावक के व्रत और अव्रत) की छाया ससीम आम्र और धतूरे की स्वाभाविक प्रकृति में सन्निहित की है। बाह्य ससीम बागवान का आरोपण असीम अन्तरात्मा में और उसकी अभिलाषाओं को मानसिक कल्पनाओं के साथ एकीभूत कर परिणाम का रहस्य फल रूप में अभिव्यंजित किया है।

इसी प्रकार कवि की कल्पना लहलहाते राजस्थान के बाजरे के खेत में विहार करती है। वहाँ मुक्ताफल जड़ित गजरों के सदृश धान्यकणों से परिपूरित बूंटों (पौधों) में से प्रशाखा रूप में उभरते हुए बूंटों का अवलोकन कर हृदयगत गूढ़तत्त्व प्रक्षेप करते हुए अत्यन्त सहज शब्दों में कह उठते हैं—

"बाजर खेत बावें तरे, बूंट बूंट में बूंट।
ज्यूं मिश्र परूपें त्यांरी बात में, झूठ झूठ में झूठ॥"[4]

यहां सर्वत्रग मिश्र सिद्धान्त के खण्डन तत्त्व का आरोप एक देशीय बूंटों के माध्यम से प्रतिपादित हुआ है।

ठीक इसी प्रकार कवि दीपक में पतंग के झंपापात की प्रकृतिगत घटना से भी उपर्युक्त सिद्धान्तवादी की अन्तः प्रवृत्तियों को इन शब्दों में एकरस बना देते हैं।

१—"साकेत"—(राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त)
२—कला की परिभाषा—(वेष्टरल)
३—भिक्षु ग्रंथरत्नाकर, खण्ड—१, रत्न—३१, विरत इविरत री चौपई ढाल ५, दो ६,७,८, पृष्ठ ५८९।
४—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड १, रत्न ३२, मधारी चौपई—ढाल १ पद्य १६ पृ० ६५९।

"बलतो दीवो तिहां आव नैं रे, मरे पतंगीयो झांप रे।
ज्यूं मिथ धर्म नें थापवा रे, पापी मारे फांकां में फांक रे ॥[1]

इस प्रकार आचार्य भिक्षु के साहित्य में सहज ससीम प्रकृति के छाया चित्रों द्वारा असीम आत्म-परमात्म, धर्म-अधर्म आदि विभिन्न गहन तत्त्वों का रहस्यमय चित्रण सहज शब्दों में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है।"

आचार्य भिक्षु की काव्य-चेतना का धरातल विशुद्ध अध्यात्मवाद रहा है जिस पर दर्शन की गहरी छाप है। उनकी कविता प्रमुखत: सात्त्विक और दार्शनिक भाव वहन करती हुई भी रहस्यवादी बन जाती है। उसकी अभिव्यक्ति हमें "व्याहुलो" में अतिशय अध्यात्मवादी भावात्मक दृष्टिकोण से उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में विश्लेषणीयवाद सहज रूप में समुद्भूत हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु कविने अध्यात्म काव्य क्षेत्र में उक्तवाद के प्रति उपेक्षा के भावों का परिष्कार कर उसे उन्नयन करने का प्रभावी शब्दों में सफल प्रयत्न किया है। वह इन स्वरों में स्पष्ट सुनाई देता है।

"अछता नें ओपमा छती, छते अछती होय।
इम जांणी नें गुण ग्रहो, झगड़ो म करो कोय ॥"[2]

उपमा अलंकार क्षेत्र में असत् में सत् की कल्पना है और सत् में असत् की। अत: हमें चिन्तन की कुण्ठा से उत्पन्न दुराग्रह का परित्याग कर मूलभूत गुण आधार तत्त्वों को ग्रहण करना चाहिये। इसकी और अधिक संपुष्टि करते हुए कवि लिखते हैं :—

"कद कूंपल बोली हँसी, पांन दीयो कब जाब।
वीर बखांणी ओपमां, समझे लोग सताब ॥"[3]

यहाँ कोंपल के सहज खिलने का उन्मुक्त हास्य के साथ तादात्म्य एवं जीर्ण-पत्र के गिरने की ध्वनि का, प्रति प्रश्न में आरोपण वीर वाणी द्वारा समर्थित किया गया है।

एक जगह कवि परमार्थ की खोज में अत्यन्त व्यग्र होकर लिखते हैं —

"साखी शब्द कहे घणा, सीखी अकल उठांण।
परमारथ खोजे तिके, ते नर विरला जांण ॥[4]

अपनी प्रस्फुरणशील मनीषा के बल पर अनेक ललित साखी शब्दों का संचयन करते हैं। परन्तु उन प्रकृति के छाया-चित्रों में परमार्थ, परम रहस्यमय तत्त्वों को कोई बिरला ही ढूंढ पाता है।

इस प्रकार प्रत्यक्षत: मूल भूत प्रकृति के संस्पर्श से समुद्भूत अनुभूति के प्रकृति स्पंदनों में रहस्यमय चित्र उद्दीप्त हुए हैं— उनकी रहस्यमयी कविता पद्यावलि में एक विवाह बेला का परम अर्थमय उत्कृष्ट रहस्य चित्रण निम्न प्रकार है।

जब पाणी-ग्रहण के लिए दूल्हा उद्यत होता है, तब बधाईदार को आगे भेजना, वधूपक्ष वालों से बधाईदार को रुपये देना, फिर दूल्हे का आना, तोरणपर तलवार का प्रहार करना, वधू के भ्राता द्वारा वर पर लाल गुलाल का उछालना, सास के द्वारा जामाता की नाक खींचकर दही का टीका चढ़ाना, आदि सहज प्रचलित परम्पराओं में छिपे हुए गूढ़ अध्यात्म-पक्षीय रहस्य का उद्घाटन कवि ने इन शब्दों में किया है :—

"प्रांणी चाल्यो परणवा, जब आगूंच दीयो जताय। तोरण तारा छोहड़ी, किम कर बांध्यो जाय ॥
जो तूं बेटो शाहनों, करें कसाई कांम। तो तुमने परणावस्यां, इण विध मेले दांम ॥
तोही विषें में अंध हुओ, तुरंत छडी ले देत। साला न्हांखे धूल सिर, चेत अबें ही चेत ॥

१—भिक्षुग्रंथरत्नाकर—खंड—१, रत्न—३२, ब्रह्मचारी चौपई—ढाल —१, पद्य—१०१, पृष्ठ ६६०
२—भि० ग्रंथ रत्नाकर—खंड १, रत्न—२८—व्याहुलो—पद्य—४, पृष्ठ ४९९
३—भिक्षु ग्रंथरत्नाकर, खंड—१, रत्न—२८, व्याहुलो—पद्य—२, पृ० ४९९
४— ,, ,, ,, ,, ,, ,, १, पृ० ४९९

नाक तांण दही चोड़ियो, अब तो हुवो अधिराज।
भोग थकीं नरके गयो, नकटा अब तो लाज॥"[1]

बधाईदार को आगे भेजने के छल से दूल्हा यह सूचित करता है कि मैं इन तारों की छाया में अर्थात् संध्या वंदन की पावन बेला में (शादी प्रायः रात्रि को ही हुआ करती है) तोरण मारने का निन्द्य कार्य कैसे कर सकता हूँ। (तोरण पर मोर चिड़िया, तोता, मैना, आदि की आकृतियाँ चित्रित रहती हैं, उन पर तलवार द्वारा प्रहार किया जाता है) तब वधू पक्ष वाले यह स्पष्ट कहलवाने के लिये बधाईदार को रुपये (रिश्वत) देते हैं कि तुम शाह के सुपुत्र हो यह ठीक है। फिर भी यदि तुम्हें विवाह करना है तो यह कसाई कार्य (चिड़ियों के मारने का) करना ही पड़ेगा। इतना होने पर भी विषयान्ध दूल्हा तोरण पर छड़ी मार ही देता है। यह देख कर वधू का भाई उसके मस्तकपर गुलाल डालने के मिस से धूल उछालता है। इधर सास आती है और नाक खींच कर दही लगा देती है, मानों नाक काट कर दही के बहाने चूना लगाती हुई शिक्षा प्रदान करती है कि इन्हीं विषय भोगों में लिप्त होकर तुम्हें भीषण नारकीय यातनाएँ झेलनी पड़ी थीं। ओ! निर्लज्ज! अब तो कुछ लज्जा का अनुभव करो।"

यहाँ स्थूल प्रचलित रीति-रिवाजों में सूक्ष्म आत्म तत्त्व की भावना के आधार पर रहस्य की अभिव्यंजना हुई है।

आगे महाकवि ने सास को मुद्रार्पण एवं आरती उतारने का आरोपण सर्वत्र व्याप्त विषाद निवारण व उत्कर्ष उपलब्धि में इस प्रकार किया है :—

साले धूलो न्हांखियो, सासू खांच्यो नाक। सालो सुसरो स्यूं करे, डर लाग्यो तिण धाक॥
रुपियासेती राजवी, बस हो जावे तेह। तो स्यूं छे आ बापड़ी, नांणे धरसी नेह॥
इम चिन्तव आधाकीया, घ्याला रुपिया रोक। तुरंत उतारे आरती, इचरज पाम्यां लोक॥"[2]

धनजन, मन को वश में करने का अमोघ मंत्र है, यह चिन्तन कर अपमानित दूल्हा चाँदी की मुद्राएँ निकालता है और लाँच देकर अपने लक्ष्य में सफल हो जाता है। उसी क्षण आरती उतरने लग जाती है। अप्रतिम उल्लासमय वातावरण एवं अप्रत्याशित परिवर्तन देखकर एकत्रित जन-समूह आश्चर्यचकित रह जाता है।

"जातादिक तेड़ाव सूं, दुनियां हरषित थाय।"

से प्रीति भोज का रहस्योद्घाटन किया है कि अपनी बेइज्जती पर पर्दा डालने के लिए मिष्टान्न भोजन की रिश्वत देकर जाति-बन्धुओं को सुप्रसन्न किया जाता है।

कवि सूक्ष्म कल्पना से और रहस्य को ढूंढने से व्यग्र होता है और और धूसर (जुआड़ा) में गृहस्थ का एवं वृष्य में दूल्हे एवं चाबुक में वचन का आरोपण करती हुई उसकी कल्पना इस प्रकार अभिव्यक्त होती है :—

घर में सेंठों घाल नें, नांख्यो माया जाल। आगे मेल्यो धूसरो, अब तो सुरत संभाल॥
बदल तणी परि खांचसी, सगला घरनों भार। आलस करनें बेससींतो, देसी वचन प्रहार॥
छेड़डे छेहड़ो बांधियो, नास न सकें जाय। छोड़ी नासे ठाव को, तो सेंठो हाथ संभाय॥
बीच मेंदी घाली बली, दागल कीयो तीवार। देखो कांम विडम्बनां, ओ लाजें नहीं लिगार॥
ओलख लेस्यां आप स्यूं, मेंदी रे एलांण। लाखां हजारां लोक में पकड़ लेसां तांण॥[3]

'माया' के सम्मुख गाड़ी के जुए को रखने का तात्पर्य है बैल रूप से तुम्हें गृहस्थ गाड़ी में जुतकर समस्त गृह के उत्तरदायित्व का बोझ खींचना पड़ेगा। अगर कभी आलस्य वश विश्रान्ति के लिए समुद्यत हुआ तो वचन-चाबुकों का प्रहार होगा। जिम्मेदारिओं से उद्विग्न होकर भाग न जाये, इस पलायन की अप्रीति के कारण वर की चादर का छोर वधू की साड़ी के छोर से बाँध दिया जाता है। इसी को विशेष दृढ़ करने के लिए वधू वर का कर पकड़ लेती है। इस प्रकार पाणीग्रहण (हथलेवे)

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खंड—१, रत्न —२८, ब्याहुलो, पद्य—११, १२, १३ १६, पृष्ठ—४९९—५००,
२—भि० ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड —१, रत्न—२८, ब्याहुलो-पद्य—१७–१८–१९ पृष्ठ ५००
३—भि० ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड १, रत्न—२८, ब्याहुलो—पद्य—२८, २९, ३०, ३१, ३२

का गूढ़ रहस्य प्रगट हुआ है। फिर भी पलायन का अविश्वास समाप्त नहीं होता, अतः हाथों के बीच में मेंहदी लगाकर दागी (चिन्हित) बना दिया जाता है, ताकि यदि दौड़ कर कभी चला भी गया तो इस मेंहदी के दाग के लक्षण से सहस्रों मानव समूह में सुलभता से पकड़ा जा सकेगा।

आगे आचार्य भिक्षु ने ससीम चँवरी के चार कोण, धागे के बन्धन, तीन वेणु, नवकलश में असीम चार गति, कर्मबन्धन, कुगुरु, कुदेव और कुधर्म तथा पाँच प्रकार के स्थावर एवं चार प्रकार के जंगम जीव, सृष्टि का रहस्यमय प्रगटन इन शब्दों में किया है :—

"चिहुँगति चँवरी जांण ज्यों, बन्धन डोर छे कर्म।
थोथा तीनूं बांसड़ा, कुगुरु, कुदेव, कुधर्म ॥
पाँच थावर च्यार त्रस, ए नव घाटी जोय।[1]

चँवरी के चार कोने चार गति के प्रतीक हैं। विवाह के समय में चतुष्कोण में नव मिट्टी के कलसों को तीन बांसों के बीच रखकर ऊपर सूत के धागे से बांध दिया जाता है। इस दृश्य पर कवि अपनी कल्पना द्वारा रहस्य का मर्मोल्लेख करता है। धागे का बन्धन—कर्मों का निविड़ बंधन है। तीनों पोलेवेणु—कुगुरु—कुदेव और कुधर्म हैं। नव कलसे, पाँच स्थावर और चार त्रस इन नव घाटियों के सूचक हैं जिनमें जीवात्मा अनन्त काल से परिभ्रमण कर रही है।"

यह है आचार्य श्री भिक्षु की निर्मल -लेखनी द्वारा प्रवाहित, सहज समुद्‌भूत रहस्यवाद का संक्षिप्त नमूना और परम्परागत (रूढ़िगत) रीति-रिवाजों में परम आत्म तत्त्व का रहस्योद्‌घाटन। विवाह का प्रसंग जहाँ उत्कृष्ट शृंगार रस का उत्प्रेरक बन सकता है, वहाँ उन्होंने चरम वैराग्य रस का साक्षात्कार किया, उनका प्रत्येक पद रहस्यमय छाया चित्रों द्वारा उनकी आत्मानुभूत विरक्ति के रहस्य को स्पष्ट कर रहा है और जन-मानस में संयम की विमल धारा प्रवाहित कर शान्ति रस से आप्लावित कर रहा है।

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर, खण्ड —१, रत्न—२८, व्याहुलो पद्य—३३-३४ पृष्ठ ५०१।

तेरापंथ की विचारधारा और वर्तमान लोकचिन्तन

(ले० मुनि श्री बुद्धमलजी)

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भीखणजी ने तत्त्व चिंतन की गहराई में पैठकर अनेक मौलिक तथ्यों का उद्घाटन किया था। वे जैन धर्म की मूल मान्यताओं को विशद विवेचन के साथ जनता में रखना चाहते थे। अतः निर्भयतापूर्वक अपने मंतव्य को प्रकट कर देने में उन्हें कभी किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं हुई। आत्मानुभूति से उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसे उन्होंने भगवान् की पवित्र वाणी समझ कर सबके सम्मुख रक्खा।

साधारण जन प्रायः तत्त्व की गहराई को कम पकड़ता है और उसके बाह्य स्वरूप को अधिक। इसीलिए युग के प्रायः प्रत्येक महापुरुष को समाज की ओर से पहले पहल निराशा अधिक मिलती है, सहानुभूति कम और सहयोग तो उससे भी कम। परन्तु इस स्थिति से आज तक कोई भी क्रान्त द्रष्टा महर्षि न तो घबराया है और न पराजित ही हुआ है। स्वामी भीखणजी के मार्ग में भी अनेक विरोध और बाधायें आई, परन्तु उन्होंने उन सब को गौण करके अपने सत् लक्ष्य पर ही ध्यान केन्द्रित किया। उन्होंने अपने तत्त्व चिंतन के फलित को सर्व जन हिताय जनता में प्रसारित किया। यद्यपि उनके सभी विचार अपनी पृथक् मौलिकता और गहराई लिये हुये थे, फिर भी दान और दया इन दोनों विषयों पर उन्होंने जो कुछ कहा—वह इतना क्रांतिकारी था कि तत्कालीन जनता उसे आत्मसात् करने में आशंकित हो उठी। उन विचारों के कारण स्वामीजी को दान और दया का विरोधी तथा धर्मद्रोही तक कहा गया। धीरे-धीरे युग ने करवट ली, सामाजिक परिस्थितियां पलटीं, लोक चिन्तन में विशेष जागरूकता तथा गंभीरता आई। आज दो सौ वर्षों के पश्चात् हम पाते हैं कि इस युग के लोकचिंतन में उन विचारों का समर्थन हो रहा है। स्वामीजी के वे विचार आध्यात्मिकता की भूमिका पर अवस्थित थे, जब कि आज का लोक चिंतन मुख्यतः सामाजिक और राजनीतिक आधार पर अवस्थित है। समाज और राजनीति अध्यात्म के विचार-क्षेत्र से सर्वथा बाहर के विषय नहीं हैं, अतः वे अनेक स्थानों पर अध्यात्म से अविरोधी भी पाये जाते हैं। भूमिका का यह भेद तो साध्य-भेद होने के कारण है, किन्तु तथ्यान्वेषण में वे सब प्रायः एक ही स्थान पर पहुँचें, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यद्यपि किन्हीं भी दो विचारकों में शत प्रतिशत विचार-ऐक्य होना प्रायः असंभव ही होता है, फिर भी स्वामी जी के विचारों से वर्तमानयुगीन विचारकों के विचार काफी अंशों तक मेल रखते हैं। आज यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वर्तमान चिंतन की धारा स्वामीजी तथा उनके धर्म संघ तेरापंथ की विचारधारा के अनुकूल दिशा की ओर प्रवहमान है। हम यहां स्वामीजी के उन मौलिक मंतव्यों को वर्तमान विचार-धारा की दृष्टि से क्रमशः देखना चाहेंगे।

दान

संभावित प्रारम्भ—मनुष्यों में जब तक संग्रह करने की भावना जागृत नहीं हुई थी, तब तक दान करने की भी प्रवृत्ति नहीं थी। वन में निर्द्वन्द्व भाव से रहने वाले मनुष्य को संग्रह की आवश्यकता ही नहीं थी। धीरे-धीरे जब वह ग्राम-संस्कृति में आया, परिवार बनाकर दूसरे अनेक परिवारों के साथ रहने लगा, वन के फल-फूलों की अनिश्चित प्राप्ति की परवशता से हट कर अपनी खुराक पर अपना नियंत्रण रखने के लिए कृषि कर्म पर जीने लगा, संभवतः तभी से उसमें संग्रहवृत्ति की अभिव्यक्ति हुई उसने तब अतिरिक्त धान्य को किसी विपत्ति के समय में काम में लेने के लिए सुरक्षित रखना प्रारंभ किया।

व्यष्टि जीवन से समष्टि जीवन की ओर मनुष्य का यह प्रथम पदन्यास था। उस समय प्रत्येक मनुष्य अल्पेच्छ और परिश्रमी था। अतः न कोई याचक था और न दानी। कालान्तर में संयोग वशात् उस समाज में कुछ व्यक्ति निर्बल और अपंग हुए। वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति स्वयं नहीं कर सकते थे। तब पहले पहल सारे समाज के सामने यह स्थिति एक समस्या बन कर आई। तत्कालीन व्यवस्थापकों ने उनके जीवन-यापन की व्यवस्था के लिए जो उपाय या समाधान सोचा वह यह था कि समाज के अन्य व्यक्ति अपने-अपने संग्रह में से यथेच्छया कुछ उन व्यक्तियों को दान करें।

इस 'दान' के सूत्र ने अपंगों और निर्बलों की समस्या को एक बार के लिये तो समाहित कर दिया; क्योंकि वैसे व्यक्ति विरले ही थे। किन्तु धीरे-धीरे जब मनुष्य की इच्छाएँ बढ़ीं; परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के भाव जागे, तब उस कशमकश में शक्ति और अवसर का संतुलन बना नहीं रह सका। कुछ व्यक्ति अपने चातुर्य से शक्ति और अवसरों पर अधिकार जमा बैठे; तथा कुछ उस कार्य में पिछड़ गये। फलस्वरूप कुछ व्यक्ति स्वामी बने और कुछ सेवक। कुछ धनी बने और कुछ निर्धन निर्धनों की स्थिति जब इतनी गिर गई कि वे अपनी उदर पूर्ति में भी असमर्थ हो गये, तब उन्हें भी अपंग व्यक्तियों के समान ही धनिकों के सामने याचना के लिये हाथ फैलाना पड़ा। परिस्थितिवश जब ऐसे व्यक्तियों की संख्या आगे से आगे बढ़ती ही गई; तब देने वालों के हाथ भी रुकने लगे। तब फिर एक बार समाज के सामने वह स्थिति एक विकट समस्या बनकर उपस्थित हुई। व्यवस्थापकों ने तब उस समस्या को धर्म के साथ जोड़ा और पारलौकिक लाभ का प्रलोभन बताकर धनिकों को इस ओर उन्मुख किया। धनी व्यक्ति अपने धन के बल पर लौकिक सिद्धियाँ तो पाता ही था, अब पारलौकिक सिद्धियाँ भी दान के माध्यम से उसी के नियंत्रण में हो गईं। गरीब न लौकिक अभिसिद्धियों का अधिकारी बन सका और न पारलौकिक का। उसका कर्त्तव्य तो केवल धनिकों के द्वारा प्रदत्त दान को ग्रहण कर, उन्हें पुण्यार्जन का अवसर देते रहने का रह गया।

दान या अधिकार

एक ओर जब पुण्यार्जन के लिए दान की होड़ लगी, तब यह आवश्यक था कि दूसरी ओर लेने वालों का स्रोत भी निरंतर चालू रहे, वह कभी सूखने न पाये, क्योंकि उसके अभाव में पुण्यार्जन और पारलौकिक ऐश्वर्य को रिजर्व (सुरक्षित) करने का माध्यम समाप्त हो जाता। इस प्रकार एक ऐसा ही दल तैयार हो गया जो कि दूसरों को पुण्यार्जन का अवसर देकर अपनी जीविका चलाने लगा। एक वर्ग अपने परलोक की समस्या हल होने से संतुष्ट था, तो दूसरा अपनी जीविका की समस्या हल होने से। इस परस्परोपग्रह से यह परम्परा बहुत लम्बे समय तक चलती रही।

सहस्राब्दियों बाद मानव जाति में एक नई चेतना जागृत हुई। सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का अतिसूक्ष्म विश्लेषण से पुर्ननिरीक्षण किया गया। फलस्वरूप शोषक और शोषित का भेद उत्पन्न करने वाली सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के विरुद्ध आवाज उठने लगी। वे स्थितियाँ एक वर्ग को शोषण का अधिकार प्रदान करतीं और दूसरे वर्ग को उसी की कृपा पर जीने की स्थिति को मान्यता। इस वैचारिक उथल-पुथल से जो परिष्कृत विचार सामने आये उनका निष्कर्ष यह था कि—समाज के किसी भी व्यक्ति को शोषण करने का तथा शोषण से प्राप्त सम्पत्ति में से अल्पांश का दान कर शोषण के क्रम को सदैव चालू रखने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। दान के चालू रहने का अर्थ है—शोषण चालू रहे, अमीरी और गरीबी चालू रहे। अमीरी की इमारत इसी शर्त पर खड़ी रह सकती है कि उनके लिए बहुत से गरीबों के श्रम को खरीदने का अवसर सदैव बना रहे। जहाँ यह अवसर समाप्त कर दिया जाता है, वहाँ अमीरी की नींव ढह जाती है, फलतः गरीबी सब में बँट जाती है। जिन्हें यह अभीष्ट नहीं है, वे इस विभेद के उपादान को अजर-अमर बनाकर रखना चाहते हैं। किन्तु उनके इस प्रयास से शोषण के विरुद्ध उभड़ने वाली भावनाओं की आग शान्त हो जावेगी, ऐसी संभावना कम ही है।

शोषण तभी मिट सकता है जब कि असंग्रह की भावना हो। संग्रह के साथ शोषण का अविनाभाव संबंध है। जो व्यक्ति शोषण करता है और उनमें से कुछ दान देकर यह समझता है कि वह शोषण के पाप से मुक्त हो गया है, वह वस्तुतः बहुत बड़े भुलावे में है। जो व्यक्ति तथा प्रकार के दान को बढ़ावा देते हैं, वे एक प्रकार से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष शोषण को ही बढ़ावा देते हैं। आज की जागृत चेतना शोषण को बनाये रखने के इस अप्रत्यक्ष प्रलोभन के भुलावे में आना नहीं चाहती। दाता के अहंभाव और याचक के हीन भाव को परिपुष्ट करने वाला यह दान उसे नहीं चाहिये। वह तो संविभाग के आधार पर उस पर अपना अधिकार मानती है।

एक व्यापार

आज कल की दान प्रथा अपने आप में एक व्यापार जैसी प्रवृत्ति बन गई है। जिस प्रकार व्यापार में अपने साधारण माल से भी अधिक से अधिक लाभ कमाने की भावना रहती है, वैसे ही प्रायः देखा जाता है कि दान के क्षेत्र में भी अल्प से अल्प और निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु देकर उसके बदले में उत्कृष्ट से उत्कृष्ट फल की अभिलाषा की जाती है। एक निर्बल

और क्षीण दुग्धा गाय ब्राह्मण को देने वाला व्यक्ति अगले जन्म में कामधेनु के स्वामित्व का पुण्यार्जन चाहता है। रेजगारी में आये हुए खोटे सिक्के भी वह किसी गरीब की हथेली पर रखकर उससे खरी कृतज्ञता खरीदने की कोशिश करता है या फिर उन सिक्कों को भगवान् के चरणों में चढ़ाकर अखंड पुण्य की कामना करता है। इसके अतिरिक्त दाता अपनी दान की राशि से यथा संभव अधिक नाम और यश भी खरीदना चाहता है। किसी भी संस्था आदि में दान देनेसे पहले वह यह सौदा तय कर लेता है कि उसका नाम शिलालेख में कहाँ दिया जायेगा। यह सब व्यापार नहीं तो और क्या है ?

एक बार गांधीजी से एक व्यक्ति ने कहा—"आप जानते हैं कि पचास हजार का दान देकर मैंने एक धर्मशाला बनवायी, पर बेईमान दुनिया ने अब मुझे ही उसकी प्रबन्ध समिति से हटा दिया। धर्मशाला नहीं थी तो कोई नहीं था, पर अब पचास-अधिकार बताने वाले आ गये।" गांधी जी ने गंभीर होते हुए कहा—"तुम्हें निराशा 'दान' का अर्थ न समझनेसे हुई। वस्तुतः किसी चीज को देकर कुछ प्राप्त करने की इच्छा दान नहीं; व्यापार है। जब तुमने व्यापार किया तो लाभ-हानि की संभावना तो रहेगी ही ?" इस घटना तथा इस उत्तर के प्रकाश में यदि आज के दानवीर अपने आप को टटोलेंगे तो प्रायः यही पायेंगे कि वे दान के नाम पर धड़ल्ले से एक नये प्रकार का व्यापार चला रहे हैं।

केवल दाता ही व्यापारी नहीं हो गया है, किन्तु आदाता (गृहीता) भी उसी वृत्ति से चलने लगा है। संस्था विशेष के लिए चंदा करने वाले व्यक्ति दाता के सामने चाटुकारिता से काम लेते हैं। नाम और यश की तृप्ति का प्रलोभन देते हैं,. सिफारिश और दबाव का भी उपयोग करते हैं। प्रतिद्वन्द्विता की भावना को उत्तेजना देते हैं। धर्म और पुण्यार्जन का अभूतपूर्व अवसर तो वे उसके सामने उपस्थित करते ही हैं। इसके अतिरिक्त जो भीख मांगने वाले हैं वे दाता के मन में करुणा का भाव जगाने का प्रयास करते हैं। अनेक बार तो वे छद्म भाव से कोढ़ी तथा अपंग बन जाते हैं। कई व्यक्ति कोई दुःखान्त घटना गढ़कर उसे कारुणिक ढंग से सुना सुनाकर सहायता मांगते हैं। ऐसी घटनायें अनेक व्यक्तियों के साथ घटती ही रहती हैं, पर मैं यहाँ स्वयं मेरा ही एक अनुभव बताऊँगा, जो इस प्रकार है—

दिल्ली में एक बार ; जब कि मैं नया बाजार में ठहरा हुआ था, व्याख्यान समाप्ति के बाद एक बहन आई और कहने लगी कि वह अपनी सास के साथ गाँव से आई थी, पर यहां अचानक ही सास की मृत्यु हो गई। उसके पास न तो कफन के लिए पैसा है और न वापस अपने ग्राम पहुँचने के लिए ही। आखिर विवशता से उसे फिर किसी के सामने हाथ फैलाना पड़ रहा है। अपनी बात को वह रो रो कर ऐसे कारुणिक ढंग से कह रही थी कि उपस्थित व्यक्तियों में से शायद ही कोई प्रभावित हुए बिना रहा हो। उन्होंने उस बहन को आवश्यकतानुसार कुछ द्रव्य दिया और वह वहाँ से चली गई। संयोग से अगले वर्ष भी मैं वहीं ठहरा हुआ था। वह फिर आई और उसी घटनावलि को उसी कारुणिक ढंग से दुहराती हुई सहायता प्राप्त करके चली गई। मैंने उसे पहचान अवश्य लिया था पर कुछ कहा नहीं। उसके पश्चात् मैं राजस्थान में आगया और करीब दो वर्ष तक वहां रहकर फिर दिल्ली गया। उस वर्ष भी वह आई और उसी घटना के आधार पर सहायता प्राप्त की। इस बार जब वह जाने लगी तो मैंने उससे पूछ लिया—क्यों बहन ! यों तुम्हारे कितनी सास हैं। कम से कम तीन बार तो तुम्हें उसके कफन के लिए यहाँ से सहायता माँगते मैंने देख लिया है। वह एक दम सकपका गई और कुछ लड़खड़ाती सी आवाज में अपने प्रथम बार ही आगमन की सूचना देती हुई वह तत्काल वहाँ से चली गई। उसके बाद मैंने उसे दिल्ली में तो कई बार देखा है, पर नया बाजार के उस मकान में आते फिर कभी नहीं देखा। शायद अब भी उसकी सास उसी प्रकार मरती होगी और कफन के लिए उसे नये-नये व्यक्तियों के पास से बन्दोबस्त करना ही पड़ता होगा।

कुछ व्यक्ति ऐसे व्यापार को चलाने में छोटे बालकों से काम लेते हैं। इसलिये यहाँ बालकों को उड़ाने वाले अनेक गिरोह बने हुए हैं। उनमें से कई पकड़े भी गये हैं। उनसे पता लगा है कि वे लोग पहले बालकों को उड़ाकर लाते हैं। और फिर उन्हें भीख माँगने की कला सिखाते हैं। वे दिन भर में जो कुछ इकट्ठा करते हैं; वह सब लेकर वे उन्हें सामान्य भोजन और कपड़ा देते रहते हैं। बीच-बीच में वे उन्हें मारने तक की धमकी भी देते रहते हैं, ताकि वे अधिक पैसा लाते रहें और किसी के सामने उनका भेद खोल देने से डरते रहें। दिल्ली में एक बार मुनि श्री नगराज जी के सामने एक भाई १०—१२ वर्ष के एक ऐसे ही बालक को लेकर आया था। उसने अपनी घटना सुनाते हुये बताया था—"दक्षिण में बंगलौर के पास रहने वाले मिल मजदूर का बालक हूँ। एक गेरुए वस्त्रधारी साधु ने मुझे मिठाई खिलाने, सिनेमा दिखाने और फिर वापिस

घर पहुँचा देने का लालच देकर उड़ाया। कई दिन अच्छी तरह से खिला पिला कर एक दिन किसी शून्य स्थान में लेजाकर उसने बलात् मेरी जिह्वा में एक छेद कर दिया। कई दिनों तक असह्य पीड़ा के बाद जब छेद का घाव ठीक हो गया तब दिल्ली में लाकर मुझे भीख मांगने के लिए बाध्य किया गया। जिह्वा के उस छेद में त्रिशूल लटका दी जाती और उस विचित्र रूप में मैं बहुत दिनों तक भीख माँगता रहा। पर आये दिन अधिक पैसे लाने की उसकी माँग को जब मैं पूरी नहीं कर सका तो मुझे तरह-तरह की धमकियाँ दी जाने लगीं। तब मुझे बड़ा भय हुआ। दूसरे दिन जब हमारी टोली चाँदनी चौक में से भीख माँगने को निकली तो सबकी आँख बचाकर मैं माली वाड़े की ओर चला गया। मुझे भय लग रहा था कि कहीं फिर उसी जाल में न फँस जाऊँ, पर यह भी पता नहीं था कि बचाव के लिये क्या किया जाए? आखिर जो उपाय सूझा उसी के अनुसार मैं मुहल्ले में आकर चिल्लाने लगा "मुझे कोई बचाओ! मुझे कोई बचाओ। मैं मारा जाऊँगा।" लोग इकट्ठे हो गये। उनमें से ये भाई (साथ लाने वाले भाई की ओर इशारा करते हुए) मुझे अपने घर ले गये। सारी स्थिति पूछी और फिर मेरा वह भिखमंगी का चोंगा उतरवाकर दूसरे कपड़े दिये तथा अपने बालक की तरह खिला पिला कर यहाँ ले आये हैं।" वहाँ उपस्थित बहुत से व्यक्तियों ने देखा कि उसकी जिह्वा के मध्य भाग पर एक बड़ा सा छेद था।

उपर्युक्त घटनाओं के प्रकाश में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि दान और भीख अब व्यापार बन गये हैं। उसमें व्यापार जैसी ही चालाकियों और चतुराइयों का प्रयोग होने लगा है। अब प्रायः दान उतना दिया नहीं जाता जितना कि लिया जाता है। देने वाले पीछे हटने का मार्ग खोजते हैं, तो लेने वाले चिमटने का। आखिर बला टालने की स्थिति में कुछ देकर पीछा छुड़ाया जाता है। छांदोग्योपनिषद् में वर्णित 'श्रियादेयम्, भियादेयम्, संविदादेयम्' अर्थात् जो कुछ देना है उसमें व्यवहार का सौंदर्य लेनेवाले की आवश्यकता से कहीं कम तो नहीं होगा—ऐसा भय, तथा लेने वाले की प्रतिष्ठा का ज्ञान अवश्य होना चाहिये आज कल के दान में प्रायः यह भावना देखने को भी नहीं मिलती।

वर्तमान-चिन्तकों की दृष्टि में दान

भारत में दान को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। भिखमंगे भी यहाँ बहुत बड़ी संख्या में हैं। उनकी संख्या ७० लाख करीब बतलाई जाती है। यहाँ का प्रायः प्रत्येक तीर्थस्थल और शहर भिखमंगों के बाहुल्य से आक्रान्त है। सरकार को अनेक बार उनके विरुद्ध कार्रवाही करनी पड़ती है। प्रायः प्रत्येक प्रांतीय शासन भिक्षावृत्ति निरोध करने की ओर चिन्तन करने लगा है। वर्तमान के जन नायकों तथा अन्य विशिष्ट चिंतकों की दृष्टि में भी अब तथाकथित दान कोई बहुत महत्त्व पूर्ण कार्य नहीं रह गया है। वे अब गरीबी की समस्या को दान से हल करने में विश्वास नहीं कर पा रहे हैं। यहाँ उनके एतद् विषयक कुछ विचार उद्धृत किये जा रहे हैं जो कि इस विषय पर अभीष्ट प्रकाश डालते हैं।

महात्मा गांधी कहते हैं—

"बिना प्रामाणिक परिश्रम के किसी भी चंगे मनुष्य को मुफ्त में खाना देना मेरी अहिंसा बर्दाश्त नहीं कर सकती। अगर मेरा वश चले तो जहाँ मुफ्त खाना मिलता है, ऐसा प्रत्येक 'सदाव्रत' या 'अन्न छेत्र' में बन्द करा दूं"[1]

आचार्य विनोबा कहते हैं—

"बिना पर्याप्त परिश्रम किये लेने वाले और उन्हें देने वाले दोनों पाप करते हैं।"[2]

अन्यत्र भी वे "त्याग और दान" शीर्षक से अपने एक लेख में दो व्यक्तियों की मिसाल देते हैं। एक व्यक्ति धर्म-देश तथा नाम के लिये अपने द्रव्य का खुले हाथों दान करता है तथा दूसरा व्यक्ति अपने द्रव्य को फिजूल का कूड़ा समझकर गंगा में प्रवाहित कर देता है—उसका त्याग कर देता है। विनोबा उस दान से इस त्याग को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए लिखते हैं—

"पहली मिसाल दान की है तथा दूसरी त्याग की। आज के जमाने में पहली मिसाल जिस तरह दिल पर जमती है, उस तरह दूसरी नहीं, लेकिन वह हमारी कमजोरी है।"[3]

१—गांधीवाणी पृष्ठ १५३

२—हिन्दुस्तान टाइम्स ११ अप्रैल, १९४९, शरणार्थी कैम्प में दिया गया भाषण

३—विनोबा के विचार

"सच्चा धर्म, प्रधान धर्म, दान नहीं किन्तु त्याग है। समाज द्रोह करके धन इकट्ठा करना और उसमें से थोड़ा सा विपद्ग्रस्तों को देकर अपने को पुनीत मानना, यह अपने को और समाज को धोखा देना है।"

भगवानदास केला लिखते हैं—

"कुछ आदमी सोचते हैं कि हमें अपने काम से इतनी आय होनी चाहिये कि हम दान-धर्म तीर्थ यात्रा आदि अच्छी तरह कर सकें। समय समय पर ब्राह्मण-भोजन व जाति-भोज कराके उसका पुण्य ले सकें। यह समझ ठीक नहीं। अनुचित धन कमाना और उस धन से कुछ पुण्य प्राप्त करने की कोशिश करना वैसा ही है जैसा कि कीचड़ में पांव रख पीछे उसे धोने की कोशिश करना। सात्त्विक, ईमानदारी या मेहनत का काम करने वालों को दान-पुण्य आदि की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये।"[1]

दादा धर्माधिकारी लिखते हैं—

"कोई यह न समझे कि हम सभी भले बुरे उपायों से धन कमाते जायेंगे और बिनोबा के सम्पत्ति दान यज्ञ में अपनी सहूलियत के मुताबिक दान देकर इहलोक में कीर्ति और परलोक में सद्गति भी प्राप्त कर लेंगे। पुराने सम्पत्ति दान में मन्दिर बनवाना, घाट बनवाना, धर्मशालाएँ बनवाना, अस्पताल और स्कूल खोल देना इत्यादि कई तरह के लोक कल्याणकारी कामों का समावेश होता था। बिनोबा का सम्पत्ति दान यज्ञ केवल लोक-कल्याणकारी आंदोलन नहीं है, वह लोक-जीवन में क्रांति करना चाहता है। इसीलिये जिस दिन वह सफल होगा, उस दिन न संग्रह के लिये अवसर होगा और न उस प्रकार के दान के लिए अवकाश ही होगा।"[2]

प्राध्यापक आर० आर० कुमरिया अपनी पुस्तक, 'साइकोलोजिकल फाउंडेशन आफ दी स्टेट' में समाज सेवा और दान शीर्षक से लिखते हैं—"दान कष्टों का नाश नहीं करता, वह दुःखी को क्षणिक संतोष देता है। जनतांत्रिक समाज के निर्माण में हमें सामूहिक प्रयत्नों द्वारा कष्टों का समूल अन्त करना है। क्योंकि यहाँ सबका सुख अभीष्ट है, इसीलिये सबका प्रयत्न भी अपेक्षित है। सब लोगों के सुख निर्माण में सब लोगों ने भाग लिया, अतः कोई किसी का अहसानमन्द नहीं है। इस प्रकार मानव का व्यक्तित्व सुरक्षित है।"

एतद् युगीन कुछ विचारकों के उपर्युक्त मंतव्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चालू दान प्रथा, समाज की सुव्यवस्था के लिए साधक नहीं, किन्तु बाधक ही बन रही है। आज का कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र यह नहीं चाहेगा कि देश के लाखों व्यक्तियों की आजीविका कुछ लोगों की दानवीरता के आधार पर चलती रहे। उस समाज व्यवस्था में अवश्य ही कोई न कोई कमी है जिसमें कि कुछ व्यक्तियों को दानजीवी तथा कुछ को दानवीर बनने का अवसर मिलता है। ऐसी स्थिति में दान और दीनता का इतरेतराश्रयी संबंध तब तक चलता रहता है जब तक कि उस व्यवस्था को ही न बदल दिया जाये। आज के विचारक गण का स्वर ऐसा संकेत ही नहीं, किन्तु स्पष्ट घोषणा करता हुआ सुनाई देने लगा है।

तेरापंथ और दान

दान के विषय में तेरापंथ के अपने विशिष्ट विचार हैं। वह एक धार्मिक संगठन है, अतः उसके चिन्तन का माध्यम आध्यात्मिकता को लिये हुए होना अनिवार्य है। प्रत्येक क्रिया को वह आध्यात्मिकता की कसौटी पर कसता है, उस पर खरी उतरनेवाली क्रिया ही उसके लिये आदेय की कोटि में आ सकती है। सामाजिकता की कसौटी उससे भिन्न होती है। यह आवश्यक नहीं है कि आध्यात्मिक कसौटी पर ठीक उतरनेवाली क्रिया सामाजिक कसौटी पर तथा सामाजिक कसौटी पर ठीक उतरने वाली क्रिया आध्यात्मिक कसौटी पर एक ही समान उतरे। यदि ऐसा होता तो इन कसौटियों का कोई विभिन्न अस्तित्व नहीं रह जाता। ऐसा तो हो सकता है कि किसी बिन्दु विशेष पर कभी दोनों का मार्ग मिल जावे और कभी बहुत दूर हो जावे। सामाजिक दृष्टिकोण हर बात का मूल्य प्रमुख रूप से समाज की भौतिक उन्नति तथा सुख-सुविधा से आंकता है, जब कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण आत्मोन्नति से तथा साध्य-साधन के ऐक्य की भाषा में कहें तो संयम की उन्नति से आंकता है। आध्यात्मिकता के मार्ग का चरम लक्ष्य होता है—पूर्णरूपेण आत्म-विकास। आत्मविकास का साधन होता

१—सर्वोदय दैनिक जीवन पृष्ठ ४०

२—मानवीय क्रान्ति पृष्ठ ५९

है संयम। इसलिए जो दान संयम का स्तम्भन करता है, वही आध्यात्मिक पक्ष में वस्तु वृत्यावान कहा जाता है। इस के अतिरिक्त दान का महत्त्व लौकिक या सामाजिक पक्ष में हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में नहीं। इसी तत्त्व चिन्तन के आधार पर तेरापंथ की मान्यता है कि दान के लिए उपयुक्त पात्र केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो पूर्णत: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के व्रतों की साधना करता है। ऐसा व्यक्ति समाज से लेता कम है, देता अधिक है। आचार्य विनोबा के शब्दों में यों कहा जा सकता है—"दुनिया में बिना शारीरिक श्रम के भिक्षा मांगने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। सच्चे सन्यासी को, जो ईश्वर-भक्ति के रंग में रंगा हुआ है—ऐसे सन्यासियों को ही यह अधिकार है, क्योंकि ऊपर में देखने से यह भले ही मालूम पड़ता है कि यह कुछ नहीं करता पर अनेक दूसरी बातों से वह समाज की सेवा करता है।"[1] साधु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति चाहे वह अपंग हो या अनाथ, दीन हो या दु:खी, समाज का एक अंग होने के नाते दान का पात्र न होकर संविभाग का पात्र है। उसमें आध्यात्मिकता की कसौटी नहीं, विशुद्ध सामाजिकता की कसौटी ही उपयुक्त हो सकती है।

यद्यपि यहाँ के सामाजिक क्षेत्र में संविभाग का विचार उदित हो चुका है, फिर भी अभी तक वह कार्य क्षेत्र में आरूढ़ नहीं हो पाया है। लोग अब भी सामाजिक समस्याओं का हल दान में खोजते हैं। तेरापंथ के आद्य-प्रवर्तक स्वामी भीषणजी ने इन विचारों को ध्यान में रख कर ही दान के दो भेद कर दिये। एक आध्यात्मिक धार्मिक या लोकोत्तर दान, जो कि सत्पात्र को दिया जाता है और दूसरा सांसारिक व्यावहारिक या लौकिक दान, जो कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए दिया जाता है। दोनों ही प्रकार के दानों का अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व हो सकता है, पर जहां धर्म की भावना का प्रश्न है, वह तो केवल पात्र दान से ही संबद्ध है।

दान के क्षेत्र में यह भेद केवल तेरापंथ ने ही नहीं किये हैं, किन्तु प्राय: प्रत्येक धर्म में शब्दान्तर से ऐसे ही भेद प्रतिपादित किये गये हैं। गीताकार ने दान के तीन भेद किये हैं[2]—सात्त्विक, राजस और तामस। इनमें से देश काल और पात्र के विवेक-पूर्वक दिया जाने वाला दान सात्विक, प्रत्युपकार और फलाकांक्षा से दिया जाने वाला राजस तथा देश और काल का विचार किये बिना अपात्र को दिया जाने वाला दान तामस होता है। तीनों प्रकार के दानों में से विशुद्ध धर्म का हेतु तो केवल सात्विक दान ही हो सकता है।

महात्मा बुद्ध ने दान के भेद यों प्रतिपादित किये हैं—

"भिक्षुओ! ये दो दान हैं।"

"कौन से दो?"

"भौतिक दान तथा धर्म दान"

"भिक्षुओ! ये दो दान हैं! इन दोनों में धर्मदान श्रेष्ठ है।"[3]

१—विनोबा के विचार पृष्ठ १२०

२—दातव्यमिति यद् दानं, दीयतेऽनुप कारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुन:।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसस्मृतम्॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते।
असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम्॥ (गीता. १७।२०,२१,२२)

३—अंगुत्तर निकाय, प्रथम भाग पृष्ठ ९४-९५

भगवान् महावीर ने कहा है—

"सत्पात्र को विशुद्ध दान देने वाले तथा सत्पात्रता का जीवन जीने वाले व्यक्ति थोड़े ही होते हैं। जो ऐसे होते हैं वे सद्गति प्राप्त करते हैं।"[1]

उन्होंने दान के क्षेत्र में पात्र तथा अपात्र के फल का भेद दिखलाते हुए कहा है—

"जो संयम तथा अनासक्ति का जीवन जीता है; उसे यदि प्रासुक भोजन पानी आदि का दान दिया जाए तो वह एकांततः मुक्ति का ही कारण बनता है, बंधन का नहीं।"[2]

"जो असंयम तथा आसक्ति का जीवन जीता है; उसे शुद्ध या अशुद्ध चाहे जिस प्रकार का भी भोजन पानी आदि का दान क्यों न दिया जावे; पर वह एकांततः पापकर्म के बंधन का ही हेतु बनता है, मुक्ति का नहीं।"[3]

उक्त प्रकार के ये भेद धर्मग्रंथों में शास्त्रकारों ने तो किये ही हैं, किन्तु यहाँ के विभिन्न आचार्यों ने भी दान के विषय में पात्रापात्र का विवेक आवश्यक माना है।

आचार्य अमित गति ने कहा है कि—"जो असंयतात्मा को दान देकर पुण्य फल की कामना करता है, वह तो जलती हुई—आग में बीज डालकर धान पैदा करना चाहता है।"

इसी प्रकार आचार्य सोमदेव सूरि के मतानुसार "अपात्र को दान देना राख में आहुति देने के समान व्यर्थ है।"[5] उन्होंने दान की जो परिभाषा की है, वह वस्तुतः उसके दो भेद कर देती है। एक लौकिक फल प्राप्ति के लिये दिया जाने वाला दान, तथा दूसरा लोकोत्तर फलप्राप्ति के लिए दिया जाने वाला दान।[6] इसी आधार पर उन्होंने पात्र के भी तीन भेद कर दिये हैं—धर्म पात्र, कार्यपात्र और काम पात्र।[7] इनमें से एक धर्म पात्र को तो लोकोत्तर फल के लिये दान दिया जाता है और शेष दो को लौकिक फल के लिये।

उन्होंने अपंग, दीन और अनाथ आदि व्यक्तियों को करुणा के आधार पर दिये जाने वाले दान का यहां कोई उल्लेख नहीं किया है। दान के उपयुक्त पात्रों में भी स्थान नहीं नहीं दिया है। लगता है कि वे उनको लौकिक या लोकोत्तर फल के हेतु दिये जाने वाले दान के लिये पात्र नहीं मानते थे।

यहां एक आशंका अवश्य की जा सकती है कि संभव है उन्होंने उनको धर्म पात्र माना हो, पर ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वहीं पर पात्र के तीनों भेदों की व्याख्या करते हुए टिप्पणी में धर्म पात्र का वर्णन यों किया है —*

"विविध न्याय और हेतुओं से जो सद्धर्म मार्ग का प्रतिपादन करते हैं, तथा माता की तरह सद्‌हित शिक्षा देते हैं, उन्हीं को

१—दुल्लहाओ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सुग्गई॥ (दशवैकालिक, ५,१००)

२—समणोवासगस्सणं भंते! तहारूवं समणं वा माहणं वा फासु एसणिज्जेणं असण-पाण-खाइम-साइमेणं पडिला भेमाणस्सकिं कज्जति? गोयमा! एंगतसोसे निज्जरा कज्जइ, नत्थिय से पावेकम्मे कज्जति।
(भगवती शतक ८—उद्देशक ६)

३—समणोवासगस्सणं भंते! तहारूवं असंजयं-अविरय-पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मं फासुएण वा अफासुएण वा एसणिज्जेण वा अणे सणिज्जेण वा असण पाण जाव किं कज्जइ? गोयमा! एंगतसो से पावेकम्मे कज्जइ, नत्थि से काइ निज्जरा कज्जइ। (भगवती, शतक ८ उद्देशक ६)

४—वितीर्य यो दानमसंयतात्मने, जनः फलं कांक्षति पुण्यलक्षणम्।
वितीर्य बीजं ज्वलिते स पावके, समीहते शस्यमपास्त दूषणम्॥
(अमितगति श्रावकाचार, परिच्छेद ११)

५—भस्मनि हुतमिवापात्रेष्वर्थव्ययः (नीतिवाक्यामृत धर्मसमुद्देशसूत्र ११)

६—ऐहिकामुत्रिक फलार्थमर्थ व्ययस्त्यागः (,, ,, ,, १०)

७—पात्रं च त्रिविधं-धर्म पात्रं, कार्यं पात्रं, कामपात्रं चेति। (नीतिवाक्यामृत धर्म समुद्देश सूत्र १२)

धर्मपात्र कहा जाता है।"[1] इसी प्रकार से कार्यपात्र तथा कामपात्र में भी उनके समावेश की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि वहां कार्य पात्र में भृत्य वर्ग तथा काम पात्र में स्त्री वर्ग को ग्रहण किया है। उनको दिया जाने वाला दान संभवतः वही है जिसको कि वर्तमान की भाषा में पारितोषिक कहा जाता है।

एक नीतिकार के मतानुसार तो "पात्र और अपात्र में गाय और सर्प जितना अंतर होता है। गाय को सूखे तृण खिलाने पर भी वह दूध देती है और सर्प को दूध पिलाने पर भी वह उससे विष की ही परिणति करता है।"[2]

इस प्रकार दान के विषय में पात्रापात्र का विवेक प्रायः सभी ने किया है। स्वामी भीखणजी ने भी दान के विषय में यही बात कही थी कि दान के सभी प्रकार धर्म के अंग नहीं होते। जो उन सब को एक मानते हैं, उन्हें जिन-धर्म की शैली का पता नहीं है। आक और गाय के दूध केवल 'दूध' शब्द से अभिहित होने मात्र से क्या कभी एक हो सकते हैं ?[3] उनमें जो अन्तर है वैसा ही अन्तर पात्र और अपात्र दान में भी है।

पात्र और अपात्र के ये भेद लोकोत्तर दृष्टि से किये गये हैं। इनमें से प्रथम दान मोक्ष का तथा दूसरा संसार का कारण बनता है। दान देने वाले व्यक्ति के सामने जहाँ लोकोत्तर साधना रहती है, वहाँ सामाजिक आवश्यकताएँ भी रहती हैं। वह दोनों ही प्रकार का दान देता है, किन्तु उसके सामने यह स्पष्ट रहना चाहिए कि दोनों ही प्रकार के दानों का उद्देश्य तथा फल पृथक् पृथक् हैं।[4]

लौकिक दान को संसार का हेतु बताने का तात्पर्य उसका निषेध करना नहीं है, किन्तु उसका यथावत् ज्ञान कराना है। देते हुए व्यक्ति को देने से रोकना निषेध करना होता है; जब कि यथावत् जानना सम्यक् ज्ञान है[5]। इन दोनों भावों को व्यक्त करने वाले शब्द पृथक् हैं, अतः उन्हें एक मानना उचित नहीं कहा जा सकता। तेरापंथ पर कुछ व्यक्ति प्रायः ऐसा आक्षेप करते हैं कि वे दान आदि का निषेध करते हैं। किन्तु स्वामीजी ने इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कहा कि आगम में एक बात तो यह आई है कि साधु को अगर कोई गृहस्थ अपने घर में आने का निषेध कर दे तो वह वहाँ न जावे और दूसरी बात यह आई है कि यदि कोई कठोर बातें कहता हुआ भी उसे दान दे तो वह ले ले[6]। जिस प्रकार यहाँ कठोर बात कहना और निषेध करना भिन्न बातें हैं, उसी प्रकार निषेध करना तथा यथावत् ज्ञान कराना भी भिन्न है। ऐसी यथावत् स्थापना स्वयं तीर्थंकरोंने की है।

दया

अध्यात्म क्षेत्र और दया—अध्यात्म क्षेत्र में 'दया' अहिंसा का ही एक पर्यायवाची नाम है। जैन आगम 'प्रश्न-व्याकरण'

१—विचित्र भावैर्नय हेतु दर्शनैः सद्धर्म मार्गं प्रतिपादयन्ति ये।
मातेव शिक्षामनुबद्धकारिणीं, तान् धर्म पात्रं प्रवदन्ति साधवः॥ (नीति धर्म समु० सू० १२ टिप्पण)

२—पात्रापात्र विभेदोस्ति, धेनुपन्नगयोरिव।
तृणात् संजायते क्षीरं, क्षीरात् संजायते विषम्॥

३—समचैंदान में धर्म कहें तो, नांइ जिन धर्म सेली।
आक नें गाय रो दूध अग्यांनी, कर दीयो भेल संभेली॥ (व्रताव्रत–२–१४)

४—सुपातर ने दीयां संसार घटे छें, कुपातर नें दीयां वधें संसार। (व्रताव्रत–१६–५७)
ए वीर वचन साचाकर जांणों, तिण में संका नहीं छें लिगार॥

५—दांन देतां ने कहे तूं मत दें इण नें, तिणपाल्यों निषेद्यों दांनोंरे।
पाप हुंतो ने पाप बतायों, तिणरो छें निरमल ग्यांनो रे॥ (व्रताव्रत ३–३९)

६—साधां नें वरज्यों तिण घर में न पेसें, करडा कह्या तिण घर मांहें जावें रे।
निषेद्यों नें करडो बोल्यां ते, दोनूं एकण भाषा में न समावे रे॥
ज्यूं कोइ दांन देतां वरज राखें, कोइ दीधां में पाप बतावें रे।
ए दोनूं ई भाषा जुदी जुदी छें, ते पिण एकण भाषा में न समावें रे॥ (व्रताव्रत ३–४२,–४३)

में अहिंसा के ६० नाम गिनाये हैं, उनमें 'दया' भी एक है । दया के क्षेत्र में किसी भी प्रकार की हिंसा को स्थान नहीं मिल सकता और जहां हिंसा का प्रसंग होता है, वहां दया का निर्वाह नहीं हो सकता । इन दोनों के मार्ग पूर्व और पश्चिम की तरह एकदम विपरीत हैं जो कहीं भी मेल नहीं खा सकते ।[1] दया और हिंसा की क्रियाओं में उतनी ही पृथक्ता है जितनी की आतप और छाया में ।[2]

जैनागमों में सब प्राणियों के प्रति संयम भाव को अहिंसा कहा है ।[3] उसी प्रकार आगम प्रवचन का उद्देश्य बतलाते हुए कहा है कि भगवान् ने सब प्राणियों की दया के लिए प्रवचन किया है ।[4] निष्कर्ष के रूप में यों कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सब जीवों की हिंसा से बचे —इसीलिए भगवान् ने उपदेश किया है । सब प्राणियों की दया तभी हो सकती है जब कि सब प्राणियों के प्रति समभाव हो । इसीलिए तात्पर्य की भाषा में अहिंसा और दया की एकरूपता ही सिद्ध होती है ।

अहिंसा निषेध परक शब्द है और दया विधि परक । 'किसी को मत मारो' और 'सब पर दया करो' दोनों ही शब्दावलियां एक ही भावको व्यक्त करती हैं । इसीलिये मुनि को 'सर्व जीव-रक्षक' कहा जाता है । सब को अभय देकर ही वह सबका रक्षक बन सकता है है, अन्यथा नहीं । उसने अपने जीवन में सब प्रकार की पाप वृत्तियों का परित्याग भी जगत् के सब प्राणियों की दया के लिए ही किया है ।

जन व्यवहार में मरते हुए या मारे जाते हुए प्राणी की प्राणरक्षा को दया कहा जाता है । पर इस व्याख्या से 'सर्वभूत दया' की बात संभव नहीं रह जाती, क्योंकि न तो सब मरने वालों को बचाया जा सकता है और न सब मारे जाने वालों को । साथ ही यह भी बात है कि सब मारे जाने वाले होते भी नहीं । उपर्युक्त व्याख्या के आधार पर 'सर्वभूत दया' का कभी किसी को अवसर प्राप्त हो ही नहीं सकता । वह संभाव्यता की कोटि से बाहर की बात हो जाती है । इस व्याख्या में दया की परिधि तो सीमित तथा छोटी हो ही जाती है, पर वह किसी भी व्यक्ति के लिए स्वयं व्यवहार्य भी नहीं रह जाती ।

प्राणातिपात विरतिरूप अहिंसा का पालन करते हुए प्राण रक्षा स्वयं ही होती है । यदि इसी आनुषंगिक प्राणरक्षा को दया कहा जावे तब तो इसकी स्वयं व्यवहार्यता भी बनी रहती है और प्राण रक्षा की स्थिति भी । पर यदि केवल प्राण रक्षा पर ही मुख्य बल हो तो अध्यात्मक्षेत्र में उसे प्रमुख स्थान नहीं मिल सकता ।

प्रति दिन संख्यातीत प्राणी जन्म लेते हैं और उसी प्रकार मरते भी हैं । जन्म लेने वाला हर एक प्राणी एक अवधि तक जीवित भी रहता है, ; पर यह कोई दया नहीं है । इसी प्रकार जन्म लेने वाला हर एक प्राणी एक अवधि के बाद मरता भी है; पर यह कोई हिंसा नहीं है । हिंसा तो तब होती है, जब कोई किसी को मारता है, और दया तब होती है जब कोई नहीं मारने का संकल्प करके अभय प्रदान करता है । किन्तु इस हिंसा और अहिंसा तथा मारने और न मारने के बीच में एक तीसरी बात और उठती है, वह है बचाने की, प्राण रक्षा करने की । एक विचार है कि मारना शुद्ध हिंसा है, न मारना शुद्ध अहिंसा है और बचाना है—दया । यही अहिंसा और दया का भेद भी है ।

उपर्युक्त प्रकार से दया और अहिंसा का भेद अध्यात्म को कोई अमान्य नहीं हो सकता। लेकिन उसमें उसकी शर्त अवश्य रहती है । वह शर्त है उस दया को अध्यात्म की अपनी कसौटी स्वीकार होने की । अध्यात्म हर एक क्रिया को अहिंसा या संयम की कसौटी पर कस कर ही अपने क्षेत्र में प्रविष्ट होने देता है । यदि उपर्युक्त प्रकार की दया को वह स्वीकार हो तो अध्यात्म को भी वैसी दया स्वीकार्य है । तात्पर्य यह कि बचाने में यदि हिंसा या असंयम को किसी प्रकार का प्रश्रय नहीं मिलता हो तो वह बचाना अध्यात्म क्षेत्र के अंतर्गत ही है । बचाना शब्द यद्यपि उसकी देहाभिमुखता व्यक्त करता

१—"ओर वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो ।
ज्यूंपूर्व नें पिछम रो मारग, किण विध खायें मेलो ॥"

२—"हिंसा री करणी में दया नहीं छें, दयारी करणी में हिंसा नांहीं ।
दया नें हिंसा री करणी छें न्यारी, ज्यूं तावडो नें छाँहीं ॥" (अनुकम्पा ९–७१–७०)

३—"अहिंसा निउणादिट्ठा, सव्व भूए सुसंजमो" । (दशवैकालिक ६–९)

४—"सव्व जगजीव रक्खणं दयट्ठयाए, पावयणं भगवया सुकहियं" (प्रश्न व्याकरण संवरद्वार सूत्र १)

५—सव्वेसजीवाण दयट्ठणाए, सावज्ज जोगं परिवज्जयंता" । (सूत्र कृतांग २–६–४०)

है, परन्तु जहाँ हिंसा या असंयम का अभाव हो वहाँ अंतरंग में आत्माभिमुखता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता।

इसके अतिरिक्त यदि दया को अध्यात्म की उपर्युक्त कसौटी स्वीकार नहीं होती और यदि उसे एक की दया के लिये अनेक दूसरे छोटे प्रोणियों का वध तथा असत्य आदि का प्रयोग स्वीकार्य होता है, तो ऐसी दया को अध्यात्म क्षेत्र में मान्यता नहीं मिल सकती। लोकोपयोगी होने पर सामाजिक क्षेत्र चाहे उसे कितनी भी मान्यता क्यों न प्रदान करता हो।

सामाजिक क्षेत्र और दया—

सामाजिक क्षेत्र में दया प्रायः 'प्राणरक्षा' तथा 'कष्टनिवारण' के रूप में प्रयुक्त होती है। अध्यात्म क्षेत्र में दया के साथ अहिंसा और संयम की मर्यादा अक्षुण्ण रहने की शर्त लगी हुई है। किन्तु सामाजिक क्षेत्र में ऐसी कोई शर्त उसके साथ नहीं है। वहाँ केवल सामाजिक उपयोगिता ही कसौटी के रूप में मान्य है। किसी की प्राण रक्षा तथा कष्ट निवारण के लिये यदि कुछ हिंसा, असत्य तथा परिग्रह का प्रयोग किया जाता है, तो सामाजिक क्षेत्र वैसा करने की छूट देता है।

समाज केवल मनुष्यों का ही होता है, अतः वहाँ सारी उपयोगिता मनुष्य को केन्द्र में रखकर ही मापी जाती है। जो कार्य मनुष्य जाति के सुख तथा समृद्धि के लिए सहायक होता है, वह उचित है, और शेष अनुचित। मानव-ज्येष्ठता के इस सिद्धान्त में सर्वप्रथम मनुष्यों तथा उसके बाद मनुष्य के उपयोग में आने वाले प्राणियों की चिंता की जाती है। जो मनुष्य के काम नहीं आते और उसे नुकसान पहुँचा सकते हैं, ऐसे सर्प आदि प्राणियों को मार देना भी सामाजिक क्षेत्र में निर्दिष्ट होता है। क्वचित् वह भी दया का ही एक अंग मान लिया जाता है। समाज में रहता हुआ व्यक्ति स्वार्थ हिंसा भी करत है और परार्थ भी। उसे अपनी और अपने परिवार की आवश्यकताओं तथा सुख-सुविधाओं के साथ ही, अपने समाज तथा राष्ट्र की आवश्यकताओं तथा सुख सुविधाओं का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। उसमें वह सूक्ष्म जीवों की हिंसा को तो टाल ही नहीं सकता, किन्तु दूसरे स्थूल प्राणियों का वध करने की स्थिति भी उसके सम्मुख आ सकती है। सामाजिक दृष्टि कोण ऐसे अवसरों पर प्रायः सहमति ही नहीं किन्तु प्रोत्साहन भी देता है। मुख्यतः खाद्य के लिये, न्याय के लिये और राष्ट्र रक्षा के लिए तो ऐसे प्रोत्साहनों के बिना उसका काम ही नहीं चल सकता।

कृषि में असंख्य सूक्ष्म जीवों की हिंसा होती है, इसमें तो किसी के इन्कार करने की गुंजाइश ही नहीं है। किन्तु उसकी सुरक्षा के लिए टिड्डी आदि छोटे तथा बन्दर हरिण आदि बड़े जीवों का भी वध किया जाता है। यह सब इसलिए किया जाता है कि मानव समाज को अन्न की सुलभता हो। मनुष्य के प्रति दया और सुरक्षा की इस भावना के साथ अन्य प्राणियों का वध भी छिपा हुआ है। पर समाज उसकी चिंता न कर केवल मनुष्य की ही चिन्ता करता है। मनुष्य की खाद्य समस्या को हल करने के लिये वह केवल कृषिजन्य साधारण हिंसा को ही नहीं, किन्तु पशु और पक्षियों के मांस का व्यापार बढ़ाने तथा बूचड़ खाने कायम करने में भी किसी प्रकार की हिचक नहीं करता। आज की नगरपालिकाएँ यह सब आवश्यकता के अनुसार करती ही हैं। इसके पीछे भी वही मनुष्य के हित की भावना सन्निहित होती है।

समाजशास्त्र अपने दण्ड-विधान में अनेक प्रकार की हिंसा को वैध करार देता है। वह आततायी तथा आक्रामक को आत्मरक्षार्थ मारने में कोई दोष नहीं मानता। उसमें मृत्युदण्ड को भी मान्य किया गया है। कोई मनुष्य जब समाज के लिए खतरनाक हो जाता है, तब उस एक का वध करके अनेक की सुरक्षा करने को समाजशास्त्र ने वैधता की कोटि में ही माना है। यह क्रम अभी का नहीं; बहुत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। 'नाततायिवधे दोषो, हन्तुर्भवति कश्चन' कहकर भारत के प्राचीन विधान कर्त्ता महर्षि मनु ने आततायी का वध करने वाले को निर्दोष घोषित किया है। समाज की सुरक्षा के लिये ऐसे दण्ड विधानों की उपयोगिता हो सकती है, इससे समाज का हित भी हो सकता है। पर समाज शास्त्र की इन बातों का अध्यात्म शास्त्र कैसे अनुमोदन कर सकता है? उसका तो सारा दण्ड-विधान अहिंसा और हृदय परिवर्तन पर आधारित है।

राष्ट्र रक्षा के नाम पर भी युद्ध के रूप में अपार मानव हिंसा की जाती है। समय-समय पर भड़क उठने वाले इन युद्धों में किये जाने वाले नर संहारों को आज तक के किसी भी राष्ट्र ने अवैध घोषित नहीं किया है। हर राष्ट्र अपने द्वारा किये गये नरसंहार को शान्ति तथा सुरक्षा के लिये किया जाने वाला एक उचित कार्य ही घोषित करता है। अतः उन राष्ट्रों तथा उनके विधि-विधानों के अनुसार वह सब भी मानव-जाति के हित के लिये ही किया जाता है।

उपर्युक्त कार्यों के समान ही और भी अनेक कार्य हैं। जिनमें मानव समाज की सुरक्षा और यहां तक कि प्रसाधन के लिये भी हिंसाएँ की जाती हैं और वे सब वैध होती हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र में दया को उपयोगिता के आधार पर ही स्थान प्राप्त है, सिद्धान्त के आधार पर नहीं।

दया से सहयोग तक—

आम तौर पर समाज में करुणा की भूमिका पर उत्पन्न हुई वृत्ति को दया कहा जाता है। जब किसी व्यक्ति को संकट में देखा जाता है, तब तत्काल उसके प्रति करुणा उमड़ती है और आदमी उसकी सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। किसी निर्बल को सबल के द्वारा दबाया जाता देखते ही निर्बल का सहयोगी बन कर उसे बचाने की कोशिश सहज रूप से हर कोई करता ही है। किसी की गरीबी, अज्ञान या विवशता आदि पर भी दया उत्पन्न होती है और उनका प्रतिकार करने का प्रयास किया जाता है।

दया के ये उपर्युक्त सभी प्रकार समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, अतः समाज में उनका महत्त्व है। कालान्तर में जब कि एक ऐसा युग आया जिसमें जीवन की हर अनिवार्यता तथा आवश्यकता को धर्म शब्द की परिधि में ले लिया गया, उस समय इस सामाजिक आवश्यकता को भी धर्म का रूप मिला। धर्म जो कि केवल अध्यात्म का ही द्योतक था, तब से सामाजिक कर्तव्यों का भी द्योतक हो गया। धर्म की आत्मोदयपरक व्याख्या के साथ भौतिक उदय-अभ्युदय को भी शामिल किया जाने लगा।

पहले धर्म का क्षेत्र उन्हीं व्यक्तियों से अनुप्राणित होता था जो अधिक से अधिक त्याग और तपस्यामय जीवन बिताते थे तथा आत्मरत रहा करते थे। किन्तु पीछे वह उनसे भी अनुप्राणित होने लगा, जो अधिक अभ्युदय कर सके थे तथा दूसरों के अभ्युदय में सहायक बन सकते थे। अभ्युदय इन्द्रिय सुखों की प्राप्ति में प्रमुख सहायक था, अतः हर एक व्यक्ति का उस ओर झुकाव होना स्वाभाविक था। परन्तु चातुर्य, सामर्थ्य तथा अवसरों के भेद ने किसी को अभ्युदय क्षेत्र में आगे कर दिया और किसी को पीछे। जो अभ्युदय में आगे रहे वे अधिक सबलता अर्जित कर सके तथा संकटों पर विजयी बन सके और जो पीछे रह गये थे वे निर्बल तो बने ही, पर साथ ही संकटों से भी घिरते रहे। ऐसी स्थिति में उन्हें दूसरों की दया पर अवलम्बित होना पड़ा। इस प्रकार समाज में दयावान् और दयापात्र का क्रम प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे इस क्रम ने दयापात्र या दयनीय में हीनता और दयावान् में अहंता की भावना उत्पन्न करदी।

जब यह भावना यहाँ तक बढ़ गई कि हर दयापात्र व्यक्ति को अपने दयालु व्यक्तियों के अहसान से दब कर ही चलने के लिए बाध्य होना पड़ा और उनकी दया पर जीना उसके लिए अपमानजनक ही नहीं, किन्तु मरने से भी अधिक दुखद हो गया, तब समाज के उदार विचारकों ने दया शब्द के स्थान पर उपकार शब्द को महत्त्व देना प्रारंभ किया। उस शब्द में भी जब धीरे-धीरे वे ही वृत्तियां पनपने लगीं, तब उसके स्थान पर 'सेवा' शब्द प्रचलित हुआ। सेवा शब्द दूसरे किसी की हीनता अभिव्यक्त न कर सेवा करने वाले को ही उसकी सेवकाई की याद दिलाता है। सेवकाई और अहंता दोनों साथ-साथ नहीं पनप सकतीं, अतः यह शब्द उनकी अहंता पर नियंत्रण करने के लिये भी उपयोगी समझा गया। पर यह शब्द भी अधिक दिनों तक नहीं चल सका। लोग सेवा के बल पर स्वामी बनने का उपाय सोचने लगे। जनतंत्र के वातावरण ने शीघ्र ही वैसा अवसर उपस्थित भी कर दिया। अब बहुत से व्यक्ति सेवा के नाम पर जनप्रिय बनते हैं और फिर प्रतिफल-स्वरूप मत बटोर कर स्वामी बन जाते हैं।

जब समाज के विचारक कर्णधारों को इस सेवा शब्द में भी वही अहंता की बू आने लगी जो कि दया में थी, तब उन्होंने दोनों में से किसी भी एक की हीनता या उच्चता की अभिव्यक्ति को हटाने के लिए परस्परोपग्रह की भावना को पनपाने के लिए 'सहयोग' शब्द को काम में लेना प्रारंभ किया। सहयोग में किसी भी एक की नहीं, किन्तु दोनों की ही शक्ति का सम्मिलन रहता है, अतः उसमें न किसी को उपकृत करने, तथा न किसी से उपकृत होने की ही आवश्यकता रह जाती है। केवल उसमें यही भावना विद्यमान रह जाती है कि आवश्यकता होने पर सहयोग करो और सहयोग पाओ। योग में एक से काम नहीं चलता। कम से कम दो तो होने ही चाहियें, किन्तु वे सहयोग के क्षेत्र में तुल्य बल होकर ही युक्त हो सकते हैं। पिछले सभी शब्दों में एक की प्रबलता और एक की निर्बलता का योग ही निर्दिष्ट होता था, पर सहयोग में दोनों का तुल्य बल निर्दिष्ट है।

वस्तुत: सामाजिक क्षेत्र में दया, उपकार और सेवा आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण सहयोग की भावना है। यह भावना एक पक्ष की सबलता और दूसरे पक्ष की निर्बलता की अभिव्यक्ति पर स्थापित न होकर, दोनों पक्षों की समकक्षता पर स्थापित होती है। यहाँ पर आकर उसकी वह मूल सामाजिकता फिर से निखरती हुई नजर आ रही है और स्थापित धार्मिकता का महत्त्व समाप्त होता जा रहा है।

तेरापंथ और दया—

तेरापंथ अपने अध्यात्मपरक विचारों के आधार पर ही हर वस्तु को अहिंसा और संयम की कसौटी पर कसता है। अत: उसकी दृष्टि में दया के दो रूप हैं—एक आध्यात्मिक और दूसरा लौकिक। दया के सभी रूपों को वह अध्यात्म नहीं मानता, इसीलिये उसका इस क्षेत्र में विचार करने का अनुरोध रहा है। उसका कथन है कि दया एक उत्कृष्ट धर्म है[1] अवश्य, पर जो उसकी सीमा का अच्छी तरह से विवेक पूर्वक पालना करते हैं, मुक्ति के समीप वे ही होते हैं।[1] अविवेकपूर्वक उसकी पालना नहीं हो सकती।

विशुद्ध और परिपूर्ण दया वही है जिसमें किसी प्रकार की जीव हिंसा को स्थान नहीं है, उसी को आध्यात्मिक दया कहा जाता है।[2] सभी प्राणी जीवित रहने की कामना करते हैं, मरने की कामना कोई नहीं करता, इसीलिये प्राणिवध को सर्वथा वर्जनीय माना गया है।[3] जिस दया में प्राणिवध का प्रसंग साथ में आता हो, वहाँ उसका विशुद्ध रूप टिक नहीं पाता। हिंसा जीवन के लिए अनिवार्य हो सकती है, किन्तु क्या जीवन की उस अपूर्णता को ज्ञान के क्षेत्र में भी रहने देना चाहिये? अहिंसा की आराधना पूरी न की जा सके तो कम से कम उसका स्वरूप-ज्ञान तो किया ही जा सकता है। ज्ञान सदैव क्रिया से आगे रहे, तभी तो आगे से आगे मनुष्य की प्रगति कायम रह सकती है और एक दिन अन्तिम बिन्दु पर जाकर क्रिया भी उसकी समकक्षता प्राप्त कर लेती है। वहीं पर मनुष्य कृत कृत्य होता है। उससे पहले ज्ञेय की सम्पूर्णता होने पर भी कृत्य अवशिष्ट ही रहता है। हिंसा और अहिंसा का विवेक तो सम्यक् ही होना चाहिये, चाहे फिर वह उस अहिंसा को जीवन में उतार पाये या नहीं। हिंसा करे और उसे अहिंसा समझे तो यह दुहरी भूल होगी।

प्राणी अपने प्राणों का पालन करने के लिए दूसरों का प्राणापहार करता है।[4] दूसरे शब्दों में इसे यों भी कहा जा सकता है कि हर जीवन दूसरों के जीवन हरण पर ही आधारित है।[5] परन्तु यह एक तथ्योक्ति ही है। इस प्रकार की अपरिहार्य हिंसा कोई अहिंसा तो नहीं बन जाती? यदि यहाँ के जीवन के लिए सर्वत्र 'मात्स्य न्याय' प्रवर्तित है और हर सबल अपने से निर्बल को अपना आहार बनाता है,[6] तो क्यों न उसे शरीर-धारण की एक मजबूरी या आवश्यकता मानकर उसी रूप में स्वीकार कर लिया जावे। यह क्या आवश्यक है कि उसे अहिंसा या धर्म का रूप दिया जावे? यदि ऐसा किया जाता है तो उसे दुर्मति-विलसित ही समझना चाहिए।

१—दया दया सह को कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी, त्यांनें मुगत नजीक॥ (अनुकम्पा ८–१)

२—छ काय हणावें नहीं, हणियां भलो न जांणे ताय।
मनवचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥ (अनुकम्पा ८–३)

३—सव्वे जीवावि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणि वहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंतिणं॥ (दसवैकालिक–६–११)

४—पाणी पाणा किलेसंति

५—जीवो जीवस्य जीवनम्

६—मच्छ गलागल लोक में, सबला ते निबलां नें खाय,
तिण में धर्म परूपियो, कुगुरां कुबुद्ध चलाय। (अनुकम्पा—७–१)

छोटे या बड़े किसी भी प्रकार के प्राणी की हिंसा में जो व्यक्ति धर्म बुद्धि करते हैं, वे आगमिक भाषा के अनुसार मंद बुद्धि हैं।[1] तेरापंथ के मंतव्यानुसार दया एक आत्म गुण है, अतः उसमें जहाँ देहाभिमुखता आती है वहाँ वह आध्यात्मिक न रह कर लौकिक हो जाती है। देहाभिमुखता होने पर उसमें असंयम या मोह आदि की प्रवृत्तियाँ साथ में जुड़ जाती हैं, जो कि केवल लौकिक प्रवृत्तियाँ ही हैं। स्वामीजी ने ऐसी दया को मोह दया, मोहानुकम्पा या लौकिक उपकार आदि नामों से पुकारा है। दया के इन दोनों प्रकारों को यों समझा जा सकता है—कोई कसाई बकरे को मारता है, तब वहां दया करने वाले व्यक्ति की तीन प्रकार की प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। एक तो बकरे का मांस आदि बेचने से जो आर्थिक लाभ कसाई को होता है उतना द्रव्य देकर वह उसे छुड़ा सकता है। दूसरे कसाई को डरा-धमका कर या मार पीट कर छुड़ा सकता है। तीसरे—कसाई को हिंसा का पाप समझाकर हृदय परिवर्तन से वह उसे छुड़ा सकता है। इन तीनों में प्रथम दो प्रकार केवल लौकिक हैं, क्योंकि उनमें प्राणरक्षा का ध्यान प्रमुख है, साधन- शुद्धि और आत्माभिमुखता का नहीं। प्रथम प्रकार में परिग्रह का प्रयोग किया जाता है; जो कि कसाई के हिंसात्मक परिणामों में कोई परिवर्तन न करते हुए केवल उसमें बिना किसी प्रकार का परिश्रम किये लाभ मिल जाने का लोभ पैदा करता है और आगे के लिए उसके उस व्यापार को बढ़ावा ही देता है। दूसरे प्रकार में स्वयं दया करने वाला ही हिंसक बन जाता है। डराना, धमकाना या मार पीट करना हिंसा की ही प्रवृत्तियां हैं। केवल एक तीसरा प्रकार ही ऐसा है, जो कि हृदय-परिवर्तनकारी होने के कारण विशुद्ध है। उसमें स्वयं कसाई हिंसा को छोड़ने का संकल्प करता है और फलस्वरूप बकरे के जीवन की भी रक्षा हो जाती है। दया का यही प्रकार मूलग्राही होता है। दूसरे प्रकारों में केवल देहाभिमुखता होने से औपचारिक दया ही रहती है। बकरे को बचाने का दृष्टिकोण मुख्य होगा, वहाँ केवल अपने सम्मुख मारा जाने वाला बकरा ही बचाया जा सकेगा, जब कि कसाई की आत्मा को बचाने के दृष्टिकोण में उसके द्वारा जीवन भर में मारे जाने वाले शत सहस्र बकरों की प्राणरक्षा स्वतः हो जायगी। आत्मरक्षा के स्थान पर देह-रक्षा या प्राणरक्षा की बात स्थूल होने के कारण मन पर अधिक सरलता से बैठती जरूर है, परन्तु जिन्होंने इस तत्त्व को गहराई से सोचा है वे अच्छी तरह से जानते हैं कि दोनों में कितना बड़ा अन्तर होता है। आत्मा को जब गौण कर दिया जाता है तब देह के प्रेम में मोह का सम्मिश्रण अवश्यम्भावी है। "शुद्ध प्रेम देह का नहीं आत्मा का ही संभव है।"[2] महात्मा गांधी का यह वाक्य भी इसी बात की पुष्टि करता है।

महात्माजी ने अन्यत्र भी एक बार उनकी सुरक्षा के लिये पिस्तौल साथ में रखनेवाले अपने मित्र "केलन बैक" को समझाते हुए देहरक्षा और आत्मरक्षा का अंतर बतलाते हुए कहा था—"मेरे मित्र! यदि तुम मेरे सच्चे स्नेही होते तो इस शरीर पर तुम्हारा इतना मोह होना संभव नहीं था। स्नेह केवल शरीर की ही रक्षा नहीं करता, आत्मा की भी रक्षा करता है शरीर आज नहीं तो कल अवश्य नष्ट हो जायेगा। स्नेह के लिए क्षणभंगुर वस्तु पर आसक्ति रखना अनुचित है।"[3] महात्मा जी ने अपने अन्तिम अनशन के समय भी ऐसी भावना व्यक्त की थी। अन्तिम अनशन के दौरान में उनके पुत्र देवदास गांधी ने उन्हें अनशन छोड़ देने के विषय में तर्क देते हुए अन्त में प्रार्थना करते हुए लिखा था—"आप जीवित रहकर जो काम कर सकते हैं—उसे आपकी मृत्यु पूरा नहीं कर सकेगी; इसीलिए मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि आप मेरी विनती स्वीकार करें और अपना उपवास छोड़ दें।" महात्माजी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—"तुम्हारा अन्तिम वाक्य तुम्हारे प्रेम का मोहक प्रतीक है, लेकिन तुम्हारे प्रेम का आधार मोह अथवा अज्ञान है। मोह कभी ज्ञान नहीं बन सकता, चाहे वह सार्वजनिक कार्यों से ही संबंधित क्यों न हो। जब तक कोई मनुष्य अपने मोह का पूर्णतया त्याग नहीं कर देता और जीवन-मरण में कोई भेद नहीं समझता, यह सोचना कि उसके जीवित रहने से ही कोई महान् कार्य सम्पूर्ण होता है, केवल अहंकार मात्र है। जब तक जियो तब तक प्रयत्न करते रहो, यह एक सुन्दर कहावत है; पर इसमें एक कमी है। प्रयत्न को मोह-रहित भावना से करना चाहिये। शायद अब तुम समझ गये होगे कि मैं तुम्हारी प्रार्थना क्यों स्वीकार नहीं करता।"[4]

१—धम्महेउं तसे पाणे थावरेय हिंसति मंदबुद्धी (प्रश्न व्याकरण)

२—गांधीवाणी पृष्ठ ८२

३—हमारे राष्ट्र निर्माता—पृष्ठ २३७

४—दैनिक 'हिन्दुस्तान', ११ अगस्त १९५७

शरीर रक्षा की भावना के साथ मोह का जो छिपा सम्बन्ध होता है, उसकी ओर इंगित करते हुए—हरिभाऊ उपाध्याय भी एक जगह लिखते हैं—गांधीजी ने जब-जब उपवास किये हैं, तभी लोगों को उनके प्राणों की अधिक चिन्ता हुई है। यह स्वाभाविक जैसा तो है, पर इसमें छिपे हमारे मोह को हमें समझ लेना चाहिए, नहीं तो उपवास आदि का मर्म हम ठीक ठीक न समझ पायेंगे।

केवल शरीर रक्षा में ही नहीं, किन्तु अनेक बार प्राण हरण में भी मोह का सम्मिश्रण होता है। वहाँ भी करुणा एवं दया की भावना वैसी ही दिखाई दे सकती है जैसी कि शरीर रक्षा में। अनेक बार ऐसे प्रसंग सामने आ सकते हैं जब कि खाद्याभाव या रोग प्रसार के समय अपने आश्रित पशु को भूख या रोग से तड़प तड़प कर मरने देने की अपेक्षा कष्टरहित मृत्यु के लिए उसे गोली मार कर या विष देकर मार दिया जाता है। इसी प्रकार घुड़दौड़ आदि में भाग लेने वाले बहुमूल्य घोड़े आदि को भी जब घातक चोट लग जाती है तब उसे उस यंत्रणा से मुक्त करने के लिए गोली मार दी जाती है। ऐसा करते समय उनके स्वामियों के मन में उनके प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं, किन्तु प्रेम व करुणा के ही भाव हो सकते हैं तो क्या प्रेम और करुणा से उत्प्रेरित इस कार्य को अहिंसा या अध्यात्म में गिना जा सकता है? यदि नहीं तो इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सभी प्रकार की करुणा या दया अहिंसा के शुद्ध रूप में समाविष्ट नहीं हो सकती। वस्तुतः मोहरहित दया या करुणा ही अहिंसा है। शेष सब केवल व्यवहार मात्र है। अध्यात्म की कोटि का स्पर्श व्यवहार से नहीं, किन्तु वास्तविकता से ही हो सकता है। संक्षेप में यही तेरापंथ की दया-विषयक मान्यता है।

वर्तमान चिंतक और दया

अहिंसा या दया का सिद्धान्त यों तो बहुत गहन है परन्तु उस सिद्धान्त को यदि हम थोड़े से शब्दों में बाँधना चाहें तो इतना ही है कि किसी को पीड़ा न पहुँचाओ।[1] ज्ञानार्जन का समस्त सार भी इसमें है। अहिंसा शब्द की व्युत्पत्ति यद्यपि निषेध-परक है; परन्तु हर निषेध के साथ विधि और हर विधि के साथ निषेध लगा ही होता है। केवल विधि या केवल निषेध कुछ हो ही नहीं सकता। इसीलिए अहिंसा में जहाँ हिंसा का निषेध व्याप्त है, वहाँ विश्व मैत्री की भावना भी उसमें समाविष्ट है। किसी को पीड़ा न पहुँचाने का संकल्प करने वाला वस्तुतः उसी समय सबके साथ में मैत्री भाव रखने का भी संकल्पी बन जाता है। इसी दृष्टि से अहिंसा के उपासक को आगमकारों ने सब प्राणियों से मैत्री रखने का संदेश दिया है।[2]

अहिंसा की इस साधना में हृदय का सहज सारल्य और समवृत्ति अपेक्षित है, अन्यथा अल्पविकसित या अल्पसत्त्व प्राणियों का वध करके, विकसित या सत्त्वशील प्राणियों की सुरक्षा करने में उसे अहिंसा के ही दर्शन होने लगेंगे। विषमवृत्ति के कारण वह अपने सम्यग् दर्शन के अभाव को पकड़ नहीं सकेगा और उसी मान्यता को पुष्ट करने का साहस करने लगेगा। अनेक व्यक्तियों ने ऐसा किया भी है। उनकी मान्यतानुसार बड़े प्राणियों की रक्षा के लिये अल्प सत्त्व प्राणियों का वध धर्म हीहै। उस कार्य-निष्पत्ति में पानी, वनस्पति आदि सूक्ष्म प्राणियों के अस्तित्व को तो वे गिनेंगे ही क्या, जब कि हिंस्र पशु तथा विषैले जन्तुओं तक को मार देने में वे हिंसा नहीं मानते। हिंसा और अहिंसा के विषय में जो नाना विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, उन सब के सूक्ष्म निरीक्षण से यह तो स्पष्ट ही सिद्ध मान लेना चाहिए कि यहां सभी प्राणियों को जीवित रहने का समान अधिकार है, तब फिर किसी भी प्राणी के लिए दूसरे के प्राणों की बलि लेने का किसी को कैसे अधिकार हो सकता है? स्वयं अपना बलिदान देने का अधिकार प्रत्येक को हो सकता है; पर दूसरे का बलिदान लेने का नहीं। इसीलिए जहां किसी भी छोटे या बड़े प्राणी की हिंसा होती है या उसको आघात पहुँचता है, वहाँ वस्तुतः अहिंसा या दया नहीं हो सकती। दया के लिए भी यदि हिंसा करनी होगी तो फिर उस दया से व्यवहार भले ही सधे, किन्तु अध्यात्म तो नहीं ही सध सकता। इन्हीं विचारों को पुष्ट करने वाले कुछ एतद् युगीन चिंतकों के विचार भी मननीय हैं। सर्वप्रथम हम अहिंसा के मर्मज्ञ महात्मागांधी के विचार यहाँ उद्धृत करना चाहते हैं—

१—एवं खु णाणिणो सारं, जंन हिंसइ किं चणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया (सूय गडांग)

२—"मेत्ती भूएसु कप्पए"

"पूर्ण अहिंसा सम्पूर्ण जीव धारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है, इसलिये वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।"[१]

"प्लेग के चूहे और चींचड़ भी मेरे सहोदर हैं। जीने का जितना अधिकार मेरा है, उतना ही उनका है। हालांकि 'बोरसद' के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर चूहे चींचड़ के विनाश का समर्थन किया, तथापि मैंने जीव-मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम-धर्म का शुद्ध रूप भी बतलाया। इसका पूर्णता से पालन मुझसे इस जन्म में न हो सके तथापि इस सम्बन्ध की मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।"[२]

"मनुष्यब ाह्य हिंसा के बिना जी नहीं सकता; खाते पीते उठते-बैठते इच्छा से या अनिच्छा से कुछ न कुछ हिंसा करता ही रहता है। इस हिंसा से छूट जाने का वह महान् प्रयास करता है। उसकी भावना में केवल अनुकम्पा हो, वह सूक्ष्म जंतु का भी नाश न चाहता हो तो समझना चाहिये, वह अहिंसा का पुजारी है।"[३]

खेती जैसे लोकोपकारी कार्य में भी गांधी जी ने स्पष्ट रूप से हिंसा का होना स्वीकार किया है। उस हिंसा को अनिवार्य तथा क्षम्य हिंसा की कोटि में गिनाते हुए भी वे उसे अहिंसा मानने को तैयार नहीं थे। वे एक समाज या राष्ट्र के मार्गदर्शक थे, अतः उन्हें अनेक बार आवश्यकता होने पर अनिवार्य हिंसा का समर्थन करना आवश्यक हो जाया करता था, फिर भी वे अपने अहिंसा विषयक ज्ञान की विशुद्धि में कोई अन्तर नहीं पड़ने देना चाहते थे। इस सम्बन्ध में उनकी श्रद्धा अविचल थी। इसी श्रद्धा के बल पर उन्होंने हिंसा को हिंसा कहने का सामर्थ्य पाया था।

खेती के विषय में वे कहते हैं—"यह बात सच है कि खेती में सूक्ष्म जीवों की अपार हिंसा है। कार्यमात्र, प्रवृत्तिमात्र, उद्योग मात्र, सदोष है। खेती इत्यादि आवश्यक कर्मोंमें शरीर-व्यापार की तरह अनिवार्य हिंसा है। उसका हिंसापन चला नहीं जाता है।[४] किसान जो अनिवार्य जीव नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय, किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।"[५]

महात्मा जी ने अहिंसा के सूक्ष्म विवेचन में वनस्पति के सूक्ष्म जीवों की भोजन निमित्त की जाने वाली हिंसा को भी हिंसा ही माना है। खेती को खराब करने वाले जीव तथा उत्पात मचाने वाले बन्दर आदि प्राणियों को मारना तो स्पष्ट हिंसा है ही, परन्तु उन्हें खदेड़ कर भगाने में भी उन्होंने शुद्ध हिंसा ही देखी। समाज-पीड़क मनुष्य को मारने में नहीं; किन्तु अन्त तक हृदय परिवर्तन में ही उन्हें औचित्य लगा। समाज-हितार्थ भी खेती नाशक जीव तथा समाज-द्रोही मनुष्य को मारने में उन्हें समाज का स्वार्थ ही दृष्टिगत हुआ और उन्होंने उस स्वार्थ को हिंसा ही कहा। जहाँ उत्तम और निम्न श्रेणी के दो प्राणियों में से किसी एक को मार कर दूसरे को बचाने का प्रसंग आ पड़े तो वहाँ उन्होंने निम्न श्रेणी के प्राणी को मा रकर उत्तम श्रेणी के प्राणी को बचा लेने की वकालत न करके, उस प्रसंग से बचने और दोनों को ही न मारने को दया धर्म कहा है। उनके उपर्युक्त विचारों को व्यक्त करने वाली उनकी शब्दावलि इस प्रकार है—

"निरामिष आहारी, वनस्पति खाने में हिंसा है— ऐसा जानते हुए भी निर्दोषता का आरोपण कर, मन को संतोष देते अर्थात् फुसलाते हैं।"[६]

"बन्दर को मार कर भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ। यह भी स्पष्ट है कि उन्हें अगर मारना पड़े, तो उसमें अधिक हिंसा होगी। यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जावेगी। उसमें बन्दर के हित का विचार नहीं है, किन्तु आश्रम के ही हित का विचार है।"[७]

१—गांधी वाणी पृष्ठ ३७

२—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ९–१०

३—युद्ध और अहिंसा पृष्ठ १७५.

४—अहिंसा—प्रथम भाग, पृष्ठ ३५–३६

५—अहिंसा—पृष्ठ ५७

६—व्यापक धर्म भावना पृष्ठ ३०८

७—अहिंसा, पृष्ठ १२८

एक बार महात्माजी से किसी ने पत्र द्वारा प्रश्न पूछा—"कोई मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय लोगों के बड़े भाग को कष्ट पहुँचा रहा हो, दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो, तब उस का नाश करें तो यह अनिवार्य समझ कर अहिंसा में खपेगा या नहीं ?.... फसल का नाश करने वाले जीवों के नाश को आपने हिंसा नहीं गिना है, उसी भाँति मानव-समाज का नाश करनेवाले आदमी के नाश को क्या आप अहिंसा न मानेंगे ?[१] इसका उत्तर देते हुए महात्माजी ने फसल का नाश करने व जीवों के नाश को हिंसा न मानने की बात को सर्वथा अस्वीकार किया है और आगे लिखा है—"किसान की (किसान द्वारा की जाने वाली।) हिंसा में या लेखक ने जो दृष्टान्त दिया है उसमें रही हुई हिंसा में समाज का स्वार्थ छिपा हुआ है, अहिंसा में स्वार्थ को स्थान नहीं है। पत्रलेखक के प्रश्न का मिलान बंदरों के प्रश्न से जरूर किया जा सकता है, मगर तो भी दोनों में बहुत भेद है। बन्दर का हृदय परिवर्तन करने का कोई सामाजिक उपाय हमारे पास नहीं है, इसलिए उसका प्राणहरण शायद क्षम्य गिना जाए। किन्तु पापी से भी पापी मनुष्य का हृदय-परिवर्तन हमेशा शक्य है।"[२]

"मछली खाने वाले को जबर्दस्ती मछली खाने से रोकने में बहुत ज्यादा हिंसा है। जबर्दस्ती करनेवाला घोर हिंसा करता हैं। बलात्कार अमानुषी कर्म है।"[३]

"तब क्या गाय को बचाने के लिए मैं मुसलमानों से लड़ूंगा या उनकी हत्या करूँगा। ऐसा करके तो मैं मुसलमान और गाय दोनों का ही दुश्मन बनूंगा।"[४]

"उसका (अहिंसावादी का) रास्ता तो सीधा है। एक को बचाने के लिये वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ और कर्तव्य तो केवल विनम्रता के साथ समझाने बुझाने में है।"[५]

"माणस ने मारी ने मांकड ने उगारवो ए धर्म होय, एवो प्रसंगपण आव वो शक्य होय छे, हूँ तो एवन्ने जातना प्रसंग माँ थी उबरी जावां नो मार्ग कहूँ छूं, ते दया धर्म छे।"[६]

सेवा; जो कि दया या अहिंसा का ही एक अंग मानी जाती रही है, महात्मा जी की दृष्टि से वह सर्वत्र अहिंसा में नहीं खप सकती। कुछ ऐसी सेवाओं को जो कि हिंसा को प्रोत्साहन देती हैं तथा हिंसा से प्रेरणा प्राप्त कर सकती हैं, उन्होंने दोष-युक्त माना है। वे कहते हैं—

"अहिंसा की दृष्टि से, शस्त्र धारण कर मारने वालों में और निःशस्त्र रहकर घायलों की सेवा करने वालों में कोई फर्क नहीं देखता हूँ। दोनों ही लड़ाई में शामिल होते हैं और उसी का काम करते हैं। दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।"[७]

"जो मनुष्य बंदूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता, जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो, तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिए उतना ही जिम्मेवार है, जितना कि वह खुद डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है वह युद्ध के दोषों से मुक्त नही रह सकता।"[८]

"अस्पताल तो पाप की जड़ हैं। उनके कारण मनुष्य अपने शरीर की तरफ से लापरवाह हो जाता है और अनीति

१—अहिंसा पृष्ठ ५७
२—अहिंसा पृष्ठ ५७
३—हिन्दुस्तान
४—हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ ७७
५—हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ ७९
६—नवयुग, पृष्ठ १५९१ अंक १७, दिनांक २४-११-१९२१
७—हिन्दी नवजीवन २० सितम्बर १९२८
८—आत्मकथा—भाग ४

बढ़ती है। अंग्रेज डाक्टर तो सबसे गये-बीते हैं, वे शरीर की झूठी सावधानी के लिये हर साल लाखों जीवों की जान लेते हैं। जीवित प्राणियों पर वे विभिन्न प्रयोग करते हैं।"[१]

कानजी स्वामी जीवदया के विषय में यों कहते हैं—"जीव दया मां जीव ने टकावी राखवो छे, के विकार ने ? जीवने जीव पणे टकावी राखवो अने विकारपणे नथवा देवो—एनुं नाम जीव दया छे। अने जीव ने जीव पणे न ओलखता विकारी मानवो, अने शरीरवालो मानवो तेनुंज नाम जीव हिंसा छे। जीवकोने कहेवाय ते तने खबर छे ? जीवतो पोताना ज ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुणां नो पिण्ड छे। हरेक जीव पोतानां गुण थी पूरो छे। पर जीवो पोता पोता ने स्वभाव ने ओलखी ने पर्याय मां शुद्धता प्रकट करे तो तेमनी दया थाय। मारूँ ते मां कांई चाले नहीं-आम जाणी ने ज्ञानी ओ पोताना आत्मा ने विकार थी बचावे छे, एज जीव दया छे।"[२]

क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी कहते हैं —

"राग, द्वेष, मोह-ये तीनों आत्मा के विकार हैं, ये जहाँ पर होते हैं वहीं आत्माकलि (पाप) का संचय करता है। दुखी होता है। नाना प्रकार के पापादि कार्यों में प्रवृत्ति करता है, कभी मंद राग हुआ तब परोपकारादि कार्यों में व्यग्र रहता है। तीव्र राग-द्वेष हुआ, तब विषयों में प्रवृत्ति करता है या हिंसादि पापों में मग्न हो जाता है—कहीं भी इसे शान्ति नहीं मिलती। जहाँ आत्मा में राग-द्वेष नहीं होते, वहीं पूर्ण अहिंसा का उदय होता है। अहिंसा ही मोक्ष मार्ग है।"[३]

जीव दया के विषय में काका कालेलकर ने एक ऐसा प्रश्न उठाया है, जो शायद प्रत्येक सूक्ष्म चिंतक के सामने उठता रहा होगा। वे 'जीव-दया' नामक निबन्ध में लिखते हैं—"बहुत वर्ष पहले की बात है, मन में यह मंथन चल रहा था कि प्राणियों को मरने से बचाना चाहिये या नहीं ? यदि यह निश्चय हो जाए कि बचाना चाहिये और यही एक धंधा बन जाए तब क्या किया जाए ?"[४] इसी बात को वे आगे बढ़ाते हुए कोचरब आश्रम में मेहमान के रूप में आये हुए स्वामी सत्यदेव के विषय में लिखते हैं कि उनकी खड़ाउओं के नीचे एक छिपकली दब कर मर गई। तब उन्हें उसका दुःख हुआ, किन्तु वह दुःख जीव हत्या का नहीं; किन्तु कीड़ों का कष्ट दूर करने में मदद देने वाली उपयोगी छिपकली के मर जाने का था। किसी ने वह सारी बात गांधीजी के सामने रक्खी और जीवों को बचाने न बचाने की चर्चा छेड़ दी इस पर गांधी जी ने जो कुछ कहा उसे लेखक ने अपने निबन्ध में यों उद्धृत किया है—"सभी प्राणियों को बचाने का हमारा धर्म नहीं है। छिपकली कीड़ों को खाती है, यह क्या मैंने देखा नहीं है ? छिपकली अपनी खुराक ढूंढ़ती है। इस प्राकृतिक व्यवस्था में पड़ने का कर्त्तव्य मैंने नहीं माना। जिन जानवरों को हम अपने स्वार्थ या शौक के लिए पालते हैं, उनको बचाने का धर्म हमने अपने ऊपर लिया है। इससे आगे जाना हमारे लिए संभव नहीं है।" महात्माजी के इस उत्तर पर भी उन लोगों में परस्पर काफी चर्चा चली। आखिर उस चर्चा का जो निष्कर्ष किशोरीलाल भाई ने निकाला उसे यहां यों उद्धृत किया गया है—"मन तटस्थ अथवा उदासीन हो, तब बचाने का प्रयत्न नहीं किया जाए। जीव को बचाने की वृत्ति जागृत हो, दया भाव उमड़े, तभी उसे बचाने का प्रयत्न करना अच्छा।"[५]

महात्माजी के सामने ऐसा प्रश्न एक बार ही नहीं किन्तु अनेक बार उपस्थित हुआ लगता है। वे स्वयं एक ऐसे भाई का प्रश्न उद्धृत कर उसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"

"एक भाई पूछे छे—नाना जंतुओ एक बीजानो आहार करतां अनेक बार जोइए छीए। मारे त्यां एक घरोली ने एवो शिकार करतां रोज जोवुं छूं। अने बिलाड़ी ने पक्षीओ नो। शुं ए मारे जोवा करवो ? अने अटकावतां बीजानीं हिंसा करवी ? आवी हिंसा अनेक थयाज करेछे। आमां अपणे शुं करवुं ?"[७]

१—हिन्द स्वराज्य, पृष्ठ ९२

२—आत्मधर्म वर्ष ४ प्रथम श्रावण २४७३

३—आत्मधर्म वर्ष ४, प्रथम श्रावण २४७३

४—अनेकान्त, जून, १९४८

५—नवनीत, जनवरी १९५९ पृष्ठ ४८

६—नवनीत—जनवरी, १९५९. पृष्ठ ४९

७—अहिंसा पृष्ठ २७

उत्तर—मैं आवी हिंसा नथी थती जोई शूं । घणी ये वार घरोली ने वांदा नो शिकार करती अने वांदा ने बीजा जंतुओं नो शिकार करतां, मैं जोया छे । पण ए "जीवो जीवस्य जीवनम्" तो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानुं मने कदी कर्त्तव्य नथी जणायुं ।"

तेरापंथ के आद्यप्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी के सामने भी जीवरक्षा सम्बन्धी ऐसे ही प्रश्न अनेक बार उठाये गये थे । वे उसका जो उत्तर दिया करते थे उसका संक्षिप्त आशय यह है कि हिंसा का जो परित्याग हृदय-परिवर्तन के द्वारा होता है, वही वस्तुत: शुद्ध अहिंसा हो सकती है । इसके अतिरिक्त भय दिखाकर, धन देकर, प्रलोभन देकर या अन्य किसी प्रकार के अशुद्ध साधन के प्रयोग से यदि हिंसा को रोका जाता है; तो वह स्वयं अपने आप में एक प्रकार की हिंसा है । एक हिंसा को रोकने के लिये यदि दूसरी हिंसा का प्रयोग किया जाता है, तो वह अहिंसा या दया नहीं बन जाती । अहिंसा का निषेधात्मक रूप है—किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाना और विधेयात्मक रूप है—प्राणी मात्र से मैत्री भाव रखना तथा परिपूर्ण औदार्य के साथ सभी छोटे-बड़े प्राणियों के जीवनाधिकार को अपने ही समान मूल्यवान समझना ।

आचार्य भीखणजी और उनके प्रत्युत्पन्न दृष्टान्त

(ले० मुनि श्री दुलीचंदजी)

आचार्य सन्त भीखणजी का समय एक तात्त्विक प्रश्नों की जटिलता का समय था। उस समय जैन-धर्म अनेक सम्प्रदायों में बँटा हुआ था। सम्प्रदायों में परस्पर छोटे-बड़े अनेक मतभेद चलते थे। स्वामीजी ने इन मतभेदों में से एक मूल मार्ग दिखलाया। वे तत्त्व व आचरण सम्बन्धी प्रत्येक प्रश्न का उत्तर आगमानसार देते थे। उनके सामने प्रति दिन नए-नए प्रश्न आते। उनका उत्तर वे सुगम और आशुबोध भाषा में देते थे। उनके शीघ्र-से-शीघ्र दिये हुए उत्तर में भी एक प्रकार का विशेष चमत्कार रहता था। उनके उत्तर अधिकतर हृदयग्राही उदाहरणों को लिये हुए होते थे। इसीलिये वे अनपढ़ लोगों के लिए भी सहज बोधगम्य होते थे। उनकी वाणी सूर्य के समान प्रकाशमयी थी। उससे गूढ़-से-गूढ़ प्रश्न का छन्नपट भी इस प्रकार हट जाता था, जिस प्रकार सूर्य के किरण जाल से तम-पट। उदाहरणों के द्वारा प्रश्नों का समाधान कर देने की उनमें एक विचित्र क्षमता थी। स्वामीजी को उन स्फूर्तिदायक उदाहरणों के लिए सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं होती थी। जिस प्रकार सिने-पट पर कथासूत्र के अनुसार चित्र आते रहते हैं, उसी प्रकार स्वामीजी के मस्तिष्क में प्रश्नोत्तरों के अनुरूप उदाहरण उभर आते थे। दूसरों को ऐसा अनुभव होता, मानो यह कोई पहले ही काम में लिये हुए उदाहरण हों। उनके उदाहरण अकाट्य और युक्तिपुरस्सर, हृदय को स्पर्श करने वाले और एक वैज्ञानिक ढंग से विषय का विश्लेषण करने वाले तथा प्रश्नकर्त्ता के हृदय को दिव्य आलोक से आलोकित करनेवाले होते थे।

स्वामीजी प्रत्युत्पन्न प्रज्ञा के धनी थे। उनके विभिन्न स्थलों में दिये गये उदाहरणों को पढ़ने से पता लगता है कि वे किस प्रकार की अलौकिक शक्ति अपने आप में समेटे हुए थे। उनके वे उदाहरण भी उनकी आशु-प्रज्ञा के ही द्योतक हैं। निबन्ध के विषय के अनुरूप यहाँ उनके कुछ प्रत्युत्पन्न—तत्काल रचकर दिये हुए उदाहरणों का संकलन किया गया है, वह इस प्रकार है—

मेरा ज्ञान-चारा

बूंदी शहर में एक व्यक्ति चर्चा करने के लिए आया। एक प्रश्न का उत्तर पूरा न हो, उससे पहले दूसरा और दूसरे से पहले तीसरा—इस प्रकार स्वामीजी के उत्तरों के प्रति उपेक्षा कर वह प्रश्न करता चला जा रहा था। स्वामीजी ने कहा—गाय, महिषादि के सामने अधिक चारा डालने से वे चारे को कचरे में परिणत कर देती हैं। यह सुनकर वह उत्तेजित हो उठा, कहने लगा—आप तो मुझे पशु बता रहे हैं। स्वामीजी ने हँसते हुए कहा—इस हिसाब से मेरा ज्ञान भी तो चारा बना जा रहा है।[1]

बच्चेके मुंह पर चपत

द्वेष-भावना को मनुष्य पहचान जाता है; किन्तु राग-भावना को पहचानने में कुछ कठिनाई होती है। एक बार इस प्रकार का एक प्रसंग आया, तो स्वामीजी ने इस विषय को इस प्रकार समझाया कि किसी ने बच्चे के मुंह पर चपत लगाई, देखने वाले कहते हैं, भले मनुष्य ! बच्चे को चपत क्यों लगाते हो ? किन्तु बच्चे के हाथ में अगर कोई लड्डू देता है, तो उसे कोई नहीं रोकता। जिस प्रकार चपत लगाने का दुःख होता है, उसी प्रकार लड्डू देकर बच्चे में पराई वस्तु लेने की बुरी प्रवृत्ति डालने का दुःख भी होना चाहिए था। किन्तु राग की प्रवृत्ति इतनी शीघ्र मनुष्य के पकड़ में नहीं आती। स्वामीजी ने इस उदाहरण से बताया कि मनुष्य जितना द्वेष के प्रति जागरूक रहता है, उतना ही राग के प्रति भी रहे। राग और द्वेष दोनों ही कर्मों के बीज हैं।[2]

मुझे अवगुण रखने भी कहाँ हैं

स्वामीजी अपना विरोध सुनकर सहज वृत्ति में रहते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने आकर कहा—दूसरे सम्प्रदाय वाले

१—भिक्षु दृष्टान्त ?
२—भिक्षु दृष्टान्त ६

आप में अवगुण निकालते हैं। स्वामीजी ने कहा—अवगुण डालते तो नहीं? यह तो अच्छा ही है, मुझे अवगुण रखने भी नहीं हैं? कुछ मैं निकालूंगा, कुछ वे और मेरा काम सरलता से बन जाएगा। इस प्रकार स्वामीजी विरोध की बातों को भी विनोद में परिणत कर लेते थे।[1]

तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक जाता है

एक बार आचार्य भीखणजी मारवाड़ जिले के देसूरी गाँव की ओर विहार करते हुए जा रहे थे। घाणेराव की ओर जाने वाले कुछ महाजन उन्हें मार्ग में मिले। उन्होंने पूछा— आप का नाम। स्वामीजी ने कहा—मेरा नाम भीखण। उन्होंने फिर पूछा क्या भीखण तेरापंथी? स्वामीजी ने कहा—हाँ वही हूँ। आवेश में आकर एक ने कहा—तुम्हारा मुंह देखने वाला तो नरक में जाता है। स्वामीजी ने भी लगते ही पूछा—क्यों भाई! फिर तुम्हारा मुंह देखने वाला कहाँ जाता है? उसने कहा—मेरा मुंह देखने वाले को तो स्वर्ग मिलता है। स्वामीजी ने कहा—यद्यपि मेरी यह मान्यता नहीं है कि किसी का मुंह देखनेसे स्वर्ग व नरक मिलता है। किन्तु तुम्हारा मुंह मैंने देखा है और मेरा तुमने अब अपने कथनानुसार स्वयं ही सोच लो कि मैं कहाँ जाऊँगा और तुम कहाँ। इस प्रकार के कटु शब्द सुनकर कोई विरले ही व्यक्ति होंगे जो तमक न जाएं। किन्तु आचार्य भीखणजी ने ऐसे अवसरों पर भी अपना संतुलन बनाए रखा। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आचार्य भीखणजी ने पूर्ण कठोरता से सामने आने वाले व्यक्ति को भी किस प्रकार मृदुता से निरुत्तर किया।[2]

झालर बजती है, तो कुत्ते रोते हैं

स्वामीजी ने विक्रम सम्वत् १८४५ का चातुर्मास जोधपुर जिले के पिपाड़ गाँव में किया था। चातुर्मास मे अनेक नये लोग श्रद्धालु बने। उपकार के दृष्टिकोण से यह विशेष अच्छा कहा जा सकता था। दैनिक व्याख्यानों का क्रम चालू था। अनेक नागरिक व्याख्यानों में भाग लेते रहे। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो व्याख्यान न सुनकर कहीं एकान्त में बैठ कर निन्दा किया करते थे। किसी ने आकर स्वामीजी को यह सारी स्थिति निवेदन की। स्वामीजी ने उसी क्षण एक उदाहरण देते हुए कहा– कि उन लोगों को वस्तु-स्थिति का पता नहीं है, अतः ऐसा करते हैं। मन्दिरों में झालर बजती है, तो कुत्ते रोते हैं। वे इस बात का भेद नहीं कर पाते कि यह झालर किसी बूढ़े की मौत पर बजाई जा रही है या भगवान् की पूजा में। इसी प्रकार ये लोग भी व्याख्यान की हितप्रद बातों के महत्त्व को नहीं आंक पाते, इसलिए निन्दा करते हैं।[3]

दुःख भरी रात बड़ी लगती है

एक इसी प्रकार की दूसरी घटना और भी है। रात्रिकालीन व्याख्यान स्वामीजी स्वयं दिया करते थे। अनेक लोग व्याख्यान में रस लेते थे। परन्तु कुछ विरोधी लोग इससे नाराज भी हुआ करते थे। वे प्रहर रात आने से पहले ही कहने लगते कि देखो डेढ़ प्रहर रात चली गई है, फिर, भी ये व्याख्यान दे रहे हैं। साधु को इतनी रात तक व्याख्यान देना कहाँ कल्पता है, आदि आदि। आचार्य भीखणजी को जब इसका पता चला तो उन्होंने कहा—दुःख भरी रात बड़ी ही लगती है। सूर्यास्त होने के पहले अगर किसी के घर में मृत्यु हो जाती है, तो वह रात उसे और भी बड़ी लगती है। मेरे व्याख्यान और प्रचार से जिन्हें दुःख होता है, उन्हें वह समय अधिक लगे तो, कोई आश्चर्य नहीं।[4]

वस्त्र रखना व्रत भंग नहीं

आचार्य भीखणजी में चर्चा करने की भी एक अद्भुत कला थी। वे किसी भी चर्चावादी से भय नहीं खाते थे। प्रत्येक विषय की चर्चा के लिये हर समय प्रस्तुत रहते थे। सामने के व्यक्ति को इस प्रकार निरुत्तर करते कि उसके लिए संभलना कठिन हो जाता। एक बार कुछ सरावगी लोग, जो कि दिगम्बर थे, चर्चा के लिए आए। उन्होंने प्रश्न किया कि साधुओं को तार मात्र भी वस्त्र नहीं रखना चाहिए। अगर कोई साधु वस्त्र रखते हैं तो वे परिषह– सहन करने के व्रत का भंग करते हैं। यह एक प्रकार की कायरता भी है।

स्वामीजी ने पूछा—परिषह कितने हैं? उत्तर मिला—बाईस। स्वामीजी ने फिर पूछा—पहला परिषह कौन-सा है? उन्होंने कहा—भूख का। स्वामीजी ने सस्मित कहा—आपके मुनि महाराज भोजन करते हैं या नहीं?

१–भिक्षु दृष्टान्त १३
२–भिक्षु दृष्टान्त १५
३–भिक्षु दृष्टान्त १९
४–भिक्षु दृष्टान्त १८

उत्तर मिला—हाँ, एक समय करते हैं। स्वामीजी ने कहा—इस अपेक्षा से आपके मुनियों ने पहले परिषह को सहन करने का व्रत भंग किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा—भूख लगने पर आहार तो करते हैं। स्वामीजी ने फिर पूछा—पानी पीते हैं या नहीं? उन्होंने कहा—पानी भी पीते हैं। स्वामीजी ने कहा—तो यह भी परिषह का व्रत भंग हुआ। उन्होंने कहा—प्यास लगने पर पानी तो पीना पड़ता है। स्वामीजी ने कहा—यदि भूख लगने पर "आहार" और प्यास लगने पर "पानी" आदि के द्वारा परिषह का व्रत भंग नहीं होता, तो फिर शीत आदि के निमित्त वस्त्र पहनने से व्रत भंग कैसे हो सकता है? वे निरुत्तर होकर लौट गए।[१]

धनी होने से तत्त्वज्ञानी नहीं हो जाता

मारवाड़ में एक आहुवा गांव है, स्वामीजी एक बार वहाँ पधारे। एक भाई स्वामीजी के निकट आकर कहने लगा कि भगवन्! आप तो मूर्ति पूजाका निषेध कर रहे हैं, और उधर हम देखते हैं कि प्राचीन काल में बड़े-बड़े लक्षाधीशों तथा कोट्याधीशों ने मन्दिर बनवाए हैं। वे कोई मूर्ख आदमी तो थे ही नहीं? स्वामीजी ने कहा—तुम्हारे पास यदि पचास हजार रुपये हो जाएँ, तो तुम मन्दिर बनवाओगे या नहीं? उसने कहा—हाँ, नहीं क्यों; अवश्य बनवाऊँगा! स्वामीजी ने लगते हाथ एक तात्त्विक प्रश्न भी पूछ लिया कि तुम्हारे में जीव के भेद गुण-स्थान, उपयोग, योग, लेश्या आदि कितने-कितने हैं? वह बेचारा हतप्रभ-सा हो गया और स्वामीजी से निवेदन करने लगा कि भगवन्! इस विषय में तो मैं कुछ भी नहीं जानता। स्वामीजी ने कहा कि तुम्हारे प्राचीन काल के लक्षाधीश कोट्याधीश भी ऐसे ही तत्त्वज्ञानी रहे होंगे। अतः मन्दिर आदि बनवाने से कोई तत्त्व ज्ञानी थोड़े ही बन जाता है। इस प्रकार स्वामीजी में चर्चा करने के विषय में अनेक विशेषताएँ थीं। वे चर्चा करते समय कतराते नहीं थे, धैर्यपूर्वक जिसकी बात होती उसी की बात से उसे समझा दिया करते थे।[२]

नदी और फूल

एक मन्दिर मार्गी भाई ने स्वामीजी से कहा—आप के लिए नदी पार करने में धर्म है, तो हमारे लिए भी फूल चढ़ाने में धर्म है। स्वामीजीने कहा—एक नदी में कमर तक पानी है, एक में जानु तक और एक बिल्कुल सूखी है। ऐसी स्थिति में हम सूखी नदी वाले रास्ते से जाएँगे; किन्तु पानी वाली नदी से अंबलाई लेकर भी बचने का प्रयत्न करेंगे। आपके सामने कुछ सूखे फूल हैं, कुछ अलसाए फूल और कुछ काची कलियाँ हैं, इनमें से आप कौन-से चढ़ायेंगे। उसने कहा—हम तो कच्ची कलियाँ चुन-चुन कर चढ़ायेंगे। स्वामीजी ने कहा—अतएव आपके हिंसा के परिणाम ठहरे, और हमारे अहिंसा के। इसलिये यह फूलों का दृष्टांत नदी के साथ संगत नहीं बैठता।[३]

गाय चारा खाती है और दूध देती है

स्वामीजी में जिस प्रकार विद्वानों को समझा लेने की कला थी, उसी प्रकार साधारण व्यक्तियों को भी। सामने का व्यक्ति कैसा भी क्यों न हो, पर वह उनसे प्रभावित हो जाता था। घटना काफरला गाँव की है। एक बहन के घर प्रासुक पानी था। साधु उसके घर गए और गवेषणा की। पर वह बहन किसी भी प्रकार उस धोवण पानी को देने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका तर्क था कि तुम्हें धोवण पानी दूँगी तो मुझे अगले जन्म में पीने को ऐसा ही पानी मिलेगा। मेरे से ऐसा पानी नहीं पीया जा सकता। अतः कुएँ से लाया हुआ ताजा पानी आप चाहें जितना लेलें पर यह पानी में नहीं दे सकती। इधर साधुओं के लिए भी कठिनाई थी कि वे कुएँ आदि का सचित्त पानी ले नहीं सकते थे। गर्मी के दिन थे। पानी की अत्यन्त आवश्यकता थी। अतः साधुओं ने निवास-स्थान पर आकर स्वामी जी से सारा हाल कह सुनाया।

स्वामीजी उसके घर गए। धोवण माँगने पर वही उत्तर था कि महाराज! मेरे से धोवन नहीं पीया जा सकता। अतः मैं यह पानी नहीं दूँगी। स्वामीजी ने कहा—बहन! तुम गाय को क्या खिलाती हो? उसने कहा—चारा। गाय तुम्हें बदले में क्या देती है? उसने कहा दूध। स्वामीजी ने कहा—इसी प्रकार यदि तुम साधुओं को धोवन दोगी

१—भिक्षु दृष्टान्त ३०

२—भिक्षु दृष्टान्त ३९

३—भिक्षु दृष्टान्त ९७

तो भी तुम्हें उसका सुफल ही मिलेगा । यह बात उस बहन की समझ में बिल्कुल ठीक उतर गई और उसने प्रसन्नता पूर्वक पानी देना स्वीकार कर लिया । स्वामीजी के दो शब्दों ने उस पर जादू का सा काम किया ।[1]

नंगे कितने और ढके हुए कितने

स्वामीजी से किसी ने पूछा—विभिन्न सम्प्रदाय हैं, अनेक मतमतान्तर हैं । उनमें साधु कौन है एवं असाधु कौन ? स्वामीजी ने कहा—किसी अंधे ने एक वैद्य से पूछा—इस शहर में नंगे कितने हैं और ढके कितने हैं ? वैद्य ने कहा—तुम्हारी आंखों में औषध डाल कर ठीक बना दूं, फिर तुम ही देख लेना कि कितने नंगे हैं और कितने ढके हुए ।

स्वामीजी ने तत्त्व बतलाते हुए कहा कि किसी को व्यक्तिगत रूप से साधु या असाधु ठहराने का मेरा काम नहीं है । मैं तो साधु तथा असाधु की पहचान बतला देता हूँ, फिर साधु कौन है, असाधु कौन है, यह तुम स्वयं ही देखो ।[2]

ढंढण के अन्तरायोदय

विक्रम सम्वत् १८५९ में स्वामीजी ने देवगढ़ चातुर्मास किया । साथ में चौदह साधु थे और चौदह ही आर्या । दूसरे सम्प्रदाय वाले साधुओं ने कहा—भीखणजी ! हमें यहाँ तीन साधुओं का भी आहार पानी पूर्णतया उपलब्ध नहीं होता, आपको इतने साधुओं के लिए आहार कैसे प्राप्त होता होगा ? स्वामीजी ने कहा—द्वारका में सहस्रों साधुओं को आहार पानी मिलता था, किन्तु ढंढण मुनि गोचरी से खाली हाथ ही लौटते रहे थे । वह उनके ही अन्तराय कर्म का उदय था ।[3]

कपास और भेड़ को नमस्कार

साधुत्व व्यक्ति की वृत्तियों व आचार से सम्बन्धित है । एक बार किसी अनभिज्ञ व्यक्ति से स्वामीजी का पाला पड़ा । साधुओं का आचार सम्बन्धी प्रश्न आया तो कहने लगा—हम तो ओघा (रजोहरण) मुखपति को नमस्कार करते हैं । चाहे आचार कैसा भी हो हमें क्या पड़ी । स्वामीजी ने कहा—ओघा ऊन से बनता है और ऊन भेड़ों की होती है । अतः यदि ओघे को नमस्कार करने से निस्तार होता तो पहले भेड़ों को नमस्कार करना चाहिए । क्योंकि ओघे को जन्म देने वाली वे ही तो हैं; और यदि मुखवस्त्रिका को नमस्कार करने से कल्याण होता है, तो पहले कपास के पौधे को नमस्कार करना चाहिए, क्योंकि मुखवस्त्रिका का कपड़ा कपास से बनता है और कपास पौधों पर लगता है । इस प्रकार स्वामीजी केवल वेश पर श्रद्धा रखने वाले लोगों को विभिन्न युक्तियों से समझाते थे ।[4]

तांबे पर चांदी का झोल

आचार के बिना केवल वेश में रहने वालों को स्वामीजी ने तांबे पर चांदी के झोल के समान कहा है । एक साहूकार की दूकान में एक ग्राहक आया । उसने एक पैसे का गुड़ लेना चाहा । सेठ ने पैसा लेकर उसे गुड़ दे दिया । उसने सोचा, बोहनी अच्छी हुई है. पहले पहल तांबे का पैसा मिला है ।

दूसरे दिन फिर वह किसी वस्तु की खरीद के लिए एक रुपया लेकर आया । साहूकार ने रुपया लेकर उसे आवश्यक वस्तु दे दी । साहूकार ने आज भी शुभ माना, क्योंकि पहले पहल उसे चांदी के दर्शन हुए थे । तीसरे दिन फिर वही ग्राहक किसी वस्तु के लिये एक खोटा रुपया लेकर आया । साहूकार ने उसे हाथ में लेकर देखा, रुपया खोटा था, नीचे तांबा और ऊपर चांदी का झोल लगा हुआ था । साहूकार ने रुपये को नीचे गिराते हुए कहा—आज तो बहुत बुरा हुआ । बोहनी के समय खोटे रुपये के दर्शन हुए हैं ।

ग्राहक ने कहा—सेठजी ! नाराज क्यों होते हैं ? परसों मैंने जब तांबे का एक पैसा देकर गुड़ खरीदा, तो आप बहुत प्रसन्न हुए । कल मैंने एक चांदी का रुपया देकर आप से सौदा लिया, तब भी आप अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में दिखाई पड़े । आज मैं जो रुपया लाया हूँ, उसमें तांबा और चांदी दोनों हैं । अतः आज तो आप को अधिक प्रसन्न होना चाहिए था ।

सेठ ने झल्लाते हुए कहा—मूर्ख ! परसों तू जो पैसा लाया था, वह केवल शुद्ध तांबे का था । तांबे का पहले पहल मिलना शकुन माना गया है, इस लिए प्रसन्न हुआ था । कल केवल शुद्ध चांदी का खरा रुपया था, अतः उसे भी बोहनी के समय अच्छा माना गया है, इसलिये प्रसन्न हुआ था । आज तू जो रुपया लाया है वह न तांबा है और न चांदी । इसके

१–भिक्षु दृष्टान्त ३४
२–भिक्षु दृष्टान्त ९९
३–भिक्षु दृष्टान्त ११०
४–भिक्षु दृष्टान्त २९४

नीचे तांबा है और ऊपर चाँदी का झोल लगा हुआ है, इसलिए यह खोटा है। खोटे सिक्के से तो अपशकुन ही हो सकते हैं।

स्वामीजी ने इसका हार्द समझाते हुए कहा—गृहस्थ पैसे के समान हैं। साधु रुपये के समान हैं। साधु का केवल वेश धारण करने वाला झोल चढ़े हुए रुपये के समान है; जो नखालिस तांबा है और न चाँदी। वह तो केवल धोखा ही है।[१]

उछाला पत्थर तो गिरेगा ही

एक बार किसी भाई ने स्वामीजी से पूछा—भगवन्! साधुओं को असुख क्यों होता है? जब कि वे किसी को भी दुःख नहीं देते।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने पत्थर उछाल कर सिर नीचे किया है, वह तो उस पर गिरेगा ही। आगे नहीं उछालेगा तो नहीं गिरेगा। अर्थात् पहले जो दुःख दिया है, वह तो भुगतना ही होगा। अब दुःख नहीं देते हैं, तो आगे दुःख नहीं पाएँगे।[२]

जीव की उन्नति अवनति के कारण

विहार करते-करते आचार्य भिक्षु एक बार सिरयारी गाँव में पधारे। वहाँ निवास करने वाले एक श्रावक ने प्रश्न किया, भगवन्! जीव को नरक कौन ले जाता है? स्वामीजी ने कहा—जिस प्रकार कोई भारी पत्थर अपने ही बोझ से अपने आप पेंदे में बैठ जाता है, उसी प्रकार कर्म रूपी भार से जीव नरक (अधोगति) की ओर अग्रसर होता है।[३]

उसने दूसरी बार फिर पूछा—भगवन्! जीव ऊँचा स्वर्ग की ओर कैसे उठता है? स्वामी जी ने कहा—जिस प्रकार काठ के टुकड़े को कोई सरोवर के पेंदे में जाकर छोड़े तो वह हल्का होने के कारण अपने आप ही ऊपर उठ आता है और किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार जो आत्मा कर्मों से जितनी हल्की होती है, वह उतनी ही ऊँची स्वर्ग की ओर उठती रहती है।[४]

तीसरी बार फिर उसी व्यक्ति ने एक प्रश्न किया—भगवन्! आत्मा संसार समुद्र से पार कैसे पहुँचती है? स्वामीजी ने कहा—पैसे को पानी में डालने से वह डूब जाता है, किन्तु उसी पैसे को तपाकर एक कटोरी बना ली जाए, वह पानी पर छोड़ने से तैरने लगती है, उसके अन्दर यदि एक पैसा रखा जाए तो, उसे भी वह तैरा लेती है। इसी प्रकार संयम और तप के द्वारा आत्मा हल्की तथा सत्पात्र होने पर ही संसार समुद्र से पार होती है और अपने सम्पर्क में आने वाले को भी पार करने में सफल होती है। स्वामीजी की बुद्धि कितनी प्रखर थी, उनका ज्ञान कितना निर्मल और स्पष्ट था, इसका आभास उपर्युक्त प्रसंगों से मिलता है। दुर्गम आध्यात्मिक तत्त्वों को उन्होंने कितनी सरलता से समझाने का प्रयत्न किया है।[५]

रोग कैसे हटे

एक रोगी को एक वैद्य ने कहा—यह औषधि पीलो, तुम्हारा रोग दूर हो जाएगा।

रोगी ने कहा—इस औषधि को मैं पेट में नहीं पीकर शरीर पर डाल लूं तो कैसा? यदि औषधि में गुण होगा, तो वह शरीर पर डालने से भी लाभ ही करेगी।

स्वामीजी इसको ऐसे कहते—जिस प्रकार पेट में डालने की औषधि को शरीर पर डालने से कोई लाभ नहीं होता, उसी प्रकार सन्तों की वाणी सुनकर उस पर श्रद्धा लाए बिना अज्ञान का रोग दूर नहीं होता।[६]

गाड़ीऔर गवहा

एक बार किसी भाई ने स्वामीजी से प्रश्न किया—साधु विहार करते-करते रास्ते में थक गया हो और उधर से कोई बैल-गाड़ी सहजतया ही आ रही हो, तो उस गाड़ी में साधु को बैठा कर लाया जाए तो कैसा?

१—भिक्षु दृष्टान्त २९५
२—भिक्षु दृष्टांत १२२
३—भिक्षु दृष्टान्त १४१
४—भिक्षु दृष्टान्त १४२
५—भिक्षु दृष्टान्त १४३
६—भिक्षु दृष्टान्त २६९

स्वामीजी ने कहा—गाड़ी के बदले यदि सहजतया गदहा मिल जाए और उसके ऊपर बैठाकर लाया जाए तो कैसा ? प्रश्नकर्ता झुंझलाकर बोला—आप गदहे की बात बीच में क्यों लाते हैं ? स्वामीजी ने कहा—साधु के लिये गदहे पर चढ़ना जितना हास्यास्पद है, उतना ही गाड़ी पर चढ़ना ।[1]

ब्रह्मचर्य और खेत

ब्रह्मचर्य पालने वाले को बहुत बचकर चलना पड़ता है । ब्रह्मचर्य का पालन कोई सहज कार्य नहीं है । स्वामीजी ने कहा है—ब्रह्मचारी पूर्णतः मर्यादित जीवन बिताता हुआ ही अपने ब्रह्मचर्य को सुरक्षित रख सकता है; अन्यथा नहीं । गाँव से सटा हुआ यदि किसी का खेत है, तो उसके चारों ओर बाड़ कर देने पर ही वह सुरक्षित रह सकता है अन्यथा पशु उसे नष्ट कर देते हैं । इसी प्रकार ब्रह्मचारी के लिए अपने मन, वचन और क्रिया को तो पवित्र रखना ही चाहिए, पर साथ-ही-साथ कुछ व्यवहारों की बाड़ भी लगानी चाहिए जिससे कि विपरीत लिंगी व्यक्ति का आकर्षण उसे अपने पथ से विचलित न कर सके । ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए खेत से भी अधिक सावधानी की आवश्यकता है ।[2]

नींबू की बात जैसा

ब्रह्मचारी को उपदेश देते समय स्वामीजी समझाया करते कि अपने से विपरीत लिंगी व्यक्ति के साथ क्रिया-कलाप विषयक चर्चा करने से भी बचना चाहिए । वह कार्य नींबू की बात जैसा ही होता है । जिस प्रकार नींबू की बात करते रहने से उसके स्वाद की ओर रुचि पैदा होती है और स्वभावतः ही मुंह में पानी भर आता है । इसलिए ऐसी चर्चा भी व्यक्ति की रुचि को बदलने वाली तथा विचलित कर देने वाली हो सकती है ।[3]

आटा और काचर

ब्रह्मचारी के लिए अपने से विपरीत लिंगी के साथ एक आसन पर बैठना वर्जित है । स्वामीजी उसे समझाने के लिए कहते हैं कि गूंदे हुए आटे के साथ काचर या कोहले की फांक रख देने से उसका लस नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार शरीर की चमड़ी फट जाती है, उसी प्रकार रोटी बनाते समय वह फटने लगता है । उसके किनारे बराबर नहीं रह पाते । ठीक इसी तरह ब्रह्मचारी यदि विपरीत लिंगी के साथ एक आसन पर बैठता है, तो ब्रह्मचर्य के प्रति उसके मन की एकाग्रता का खंडित हो जाना संभव हो जाता है ।[4]

सन्निपात में दूध-मिश्री

ब्रह्मचारी के लिए अति गरिष्ठ भोजन वर्जनीय है । फिर वही यदि निरन्तर होने लगे, तो फिर उसके दुष्परिणामों का कहना ही क्या ? स्वामीजी ऐसे भोजन को सन्निपात रोग में दूध-मिश्री के तुल्य बतलाया करते थे । सन्निपात में दूध और मिश्री के पीने से वायु का प्रकोप बढ़ जाता है और रोगी उसके द्वारा अधिक पागल हो उठता है । इसी प्रकार निरन्तर गरिष्ठ आहार काम को उद्दीप्त कर देता है ।[5]

पेट और हांडी

ब्रह्मचारी मात्रा से अधिक आहार न करें । मात्रा से अधिक आहार करना ब्रह्मचारी के लिए खतरे से खाली नहीं है । स्वामीजी ने इस विषय पर एक उदाहरण देते हुए कहा है— सेर भर अन्न पकाने वाली हांडी में कोई सवा सेर अन्न पकाने का प्रयत्न करता है, तो वह हाँडी और अनाज दोनों से ही हाथ धो बैठता है । जब अधिक अन्न भरने से हांडी फूट जाती है, तो अधिक भोजन से पेट पर बुरा असर कैसे नहीं पड़ेगा ? अतिभोजी का पेट फटने लगता है, नाना प्रकार के रोग उसे अपना अड्डा बना लेते हैं । जीभ की लोलुपता उसे अन्य इन्द्रियों के विषय में भी लोलुप बना देती है । यदि वह उस अधिक आहार को हजम भी कर लेता है, तो उसके शरीर में तेजस् की वृद्धि होने से ब्रह्मचर्य खण्डित होने की स्थिति पैदा हो सकती है । इस प्रकार हर दृष्टि से अति आहार वर्जनीय है ।[6]

१–भिक्षु दृष्टान्त १५३
२—शील की नवबाड़
३–शील की नवबाड़ ढा० ३ गा० २
४–शील की नवबाड़ ढा० ४ गा० १२
५–शील की नवबाड़ ढा० ८ गाथा १४
६–शील की नवबाड़ ढाल नवमी गाथा ३७

दरिद्र का रत्न

ब्रह्मचारी को अपने शरीर की शोभा विभूषा में आसक्ति नहीं होनी चाहिए। बना-ठना रहने वाला व्यक्ति साधना के मार्ग में खप नहीं सकता। स्वामीजी कहा करते थे कि अपने आपको सुन्दर दिखाने का प्रयास करना एक मानसिक दुर्बलता है। उसके अंतर्गत में कहीं-न-कहीं अवश्य ही अपने से विपरीत लिंगी के प्रति एक अज्ञात आकर्षण छिपा होता है। वह अपने बनाव से उसको अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है। वह मानसिक कमजोरी उसके ब्रह्मचर्य को नष्ट करने देने वाली हो सकती है। जिस प्रकार किसी दरिद्र के पास रत्न हो तो दूसरा सबल व्यक्ति सहज ही उसे छीन सकता है। क्योंकि कमजोर व्यक्ति के पास प्रतिशोध करने की कोई शक्ति नहीं होती। उसी प्रकार मानसिक कमजोरी वाले व्यक्ति के पास रहा हुआ शील रूपी रत्न भी सुरक्षित नहीं रह सकता। उसकी शारीरिक विभषा आदि से आकृष्ट होकर कोई भी विपरीत लिंगी उसे विचलित कर सकता है और उसके ब्रह्मचर्य को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए ब्रह्मचारी को विभूषाप्रिय न होकर सादगी से ही रहना चाहिए।[१]

स्वामीजी के साहित्य में इस प्रकार अनेकानेक उदाहरण भरे पड़े हैं। विविध प्रसंगों पर दिये गए ये उदाहरण शिक्षाप्रद तो हैं ही, साथ-ही-साथ इनके पढ़ने से मस्तिष्क भी उर्वर हो उठता है। स्वामीजी अपने उस युग के आगम द्रष्टा के रूप में एक महान् पुरुष थे। उन्होंने अपने जीवन में अनेक प्रकार के कष्ट सहन करके भी साहित्य साधना की। उनका साहित्य अत्यन्त सरल है। लोक भाषा में संदर्भित होने के साथ-साथ गहन तत्त्व को सिखाने वाला भी है। उनका अधिकांश साहित्य राजस्थानी गीतों की चालों में रचित है। गायन करते समय उनका यह साहित्य ऐसे ही प्रिय लगता है, फिर उसमें यह विभिन्न प्रकार के दृष्टान्त तो सोने में सुगन्ध का-सा काम करते हैं। अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि के द्वारा तत्काल दृष्टान्तों का निर्माण करने में तथा समय पर हृदय में पूरी तौर से बैठ जाने वाली खरी बात कहने में स्वामीजी के समकक्ष आने वाले बिरले ही व्यक्ति मिलेंगे। यहाँ पर स्वामीजी के तत्काल दिये हुए उदाहरणों तथा उत्तरों का थोड़ा-सा संकलन किया गया है। पूरा रसास्वाद चाहने वालों को तो स्वामीजी के मूल ग्रन्थों से ही लाभ उठाना चाहिए। जो ऐसा नहीं कर सकते, उनको थोड़ा सा आस्वाद तो इस लेख के द्वारा अवश्य प्राप्त होगा।

१—शील की नववाड़ ढा० १० गा० ८

आ० भिक्षु के चर्चा प्रसंग

(ले० साध्वी श्री मंजुलांजी)

जिज्ञासा अविकसित चेतना का सहज धर्म है। इसलिए मनुष्य सदा अस्पष्ट को स्पष्ट करता आया है। इसीलिए वाद की उत्पत्ति हुई है। आचार्य शंकर ने 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' कह कर मनुष्य की जिज्ञासा के अनवरत जागरण को ज्ञानवृद्धि का संकेत कहा है, तो आचार्य हरिभद्र ने 'आचार्य शिष्ययोः पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहात् या कथाभ्यास हेतुः स्यादसौवाद उदाहृतः' कह कर वाद को एक अविकृत जिज्ञासा का परिधान दिया है। पर मनुष्य ने उसे अविकृत ही रहने दिया है, यह कहना जरा कठिन है। क्योंकि जिज्ञासा के साथ-साथ मनुष्य में मोह भी होता है। मोह बन्धन पैदा करता है और उससे पैदा होता है आग्रह। जहाँ आग्रह होता है, वहाँ सत्यशोध की भावना नहीं रहती। अपने आपको प्रकट करने की भावना रहती है। इसीलिये वाद के साथ-साथ वितण्डावाद तथा छल-निग्रह स्थानों के विकास ने भी तर्कशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। यद्यपि जैन मनीषियों ने उन्हें ज्ञान-बोध के लिए अनिवार्य नहीं माना, पर फिर भी वह अपवाद इतना महाप्राण था कि उससे दर्शन की सारी पद्धतियाँ प्रभावित हो सकती थीं। फलतः छल-निग्रह-स्थान आदि ने भी मनुष्यों को अपराजेय बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है।

वर्तमान की विचार पद्धति इससे भिन्न है। जय और पराजय के सीमातीत विकास ने अंत में तटस्थता को जन्म दिया, जो वर्तमान की अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि है। आज कोई भी व्यक्ति उलझना नहीं चाहता; सुनना और सुनाना चाहता है। यद्यपि सबको अपने साथ ले चलने की मानव की मनोभावना अब भी बूढ़ी नहीं हुई है, पर विचारों की बढ़ती हुई गरिमा को सहने के लिए उसका तरुण तन भी अब सक्षम नहीं रहा है। आचार्य भिक्षु में भी अपने विचारों के प्रति असीम आस्था थी, पर वे उसे दूसरों पर थोपना पसन्द नहीं करते थे। क्योंकि विचारों का उच्चतम विकास जितना अपने आप में दृढ़ होता है, उतना ही वह दूसरों की दृढ़ता का समर्थक होता है। पर आचार्य भिक्षु के सामने एक दूसरी परिस्थिति थी। दूसरे लोग जो उनके विचारों को सहन नहीं कर सकते थे, वे उनसे बार-बार चर्चा करते तो आचार्य भिक्षु को भी अनिच्छित रूप से उसमें भाग लेना पड़ता था। यद्यपि जहाँ तक होता वे चर्चा को टालने का यत्न करते, पर एक समुदाय के संरक्षक होने के नाते वे उससे सर्वथा बच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार उनके जीवन की विविधताओं पर से कोई एक निष्कर्ष निकालना कठिन अवश्य हो सकता है, पर वह विविध नहीं हो सकता, यह निःसंदेह है।

मनुष्य जन्म से ही विद्वान् नहीं होता; अतः पहले उसे अभ्यास करना आवश्यक होता है। आचार्य भिक्षु ने भी आचार्य रूघनाथजी के चरणों में बैठ कर शास्त्रों के अनन्त आकाश में उड़ने का एक सुनियोजित अभ्यास किया था। इस बीच में स्वयं आचार्य तथा उनके विबुध परिकर से उनका शुद्ध वाद होता रहता होगा, यह निःसंदेह है। पर शास्त्रार्थ में भाग लेने का उनका पहला अवसर राजनगर में ही था, ऐसा प्रतीत होता है। संवत् १८१५ की बात है। राजनगर के श्रावकों के मन में साधुचर्या को लेकर अनेक प्रश्न पैदा होने लगे थे। इसीलिए उन्होंने साधुओं को वन्दन-नमस्कार करना छोड़ दिया। आचार्य रूघनाथजी को जब यह पता चला तो एक आचार्य होने के नाते उनके लिए श्रावकों को शान्त करना आवश्यक हो गया। इसीलिये उन्होंने अपने शिष्य समुदाय पर दृष्टि दौड़ाई और संत भीखणजी को असंतोष प्रतिकार के लिए उपयुक्त समझा। आचार्य का आदेश पाकर संत भीखणजी अपने सहयोगी साधुओं को लेकर राजनगर की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर उन्होंने श्रावकों के प्रश्नों को ध्यानपूर्वक सुना। उनमें से ये प्रमुख प्रश्न थे—

(१) साधुलोग आधाकर्मी—अपने लिये बनाये हुए आहार तथा स्थानक का उपयोग करते हैं।

(२) अपने लिये खरीदे हुए वस्त्र लेते हैं।

(३) वस्त्र, पात्र आदि उपधि, मर्यादा से अधिक रखते हैं।

(४) अभिभावकों की आज्ञा लिये बिना ही दीक्षार्थी को दीक्षा देते हैं। इन प्रश्नों के साथ-साथ दान-दया को लेकर भी उन लोगों में काफी विचार-भेद था।

आचार्य भिक्षु ने उनके प्रश्नों को सुना तो मन में एक स्पन्दन हुआ। अपनी चर्चा के दूसरे पक्ष पर विचार करने पर उन्हें लगा कि सिद्धान्त और आचार में स्पष्टत: ही एक भेद रेखा है। पर वे एक विचार पद्धति से जुड़े हुए थे; अतः सहसा उसके विरुद्ध कुछ कहने का भी उनका साहस नहीं हुआ। पर वे सत्य को अस्वीकार भी कैसे कर सकते थे। अतः आचार्य भिक्षु को भी श्रावकों के प्रश्नों के सामने झुकना पड़ा। इस नम्रता ने श्रावकों को भी द्रवित कर दिया और उन्होंने संत भिक्षुपर श्रद्धा कर पुन: वन्दना करनी प्रारम्भ कर दी।

लोग व्यवहार से अधिक झुकते हैं, सिद्धान्तों से कम। आचार्य भिक्षु के व्यवहार ने लोगों के मन में श्रद्धा के भाव जागृत कर दिये, अत: उन्होंने उन पर विश्वास कर लिया। आचार्य भिक्षु पर एक गुरुतर उत्तरदायित्व आ पड़ा कि वे सत्य को प्रकट करने के लिये किस मार्ग का अनुगमन करें। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने निर्णय किया—"मुझे आचार्य तक इन प्रश्नों को पहुँचा देना चाहिए तथा उनसे विनय कर यथासाध्य इनका हल निकालने का प्रयास करना चाहिये।"

सत्य क्या है? इसका निर्विकल्प निर्णय तो सर्वज्ञ ही कर सकते हैं, पर हमारी अपनी बुद्धि भी नयनहीन नहीं है, यह स्पष्ट है क्योंकि सर्वज्ञ के हाथों में निर्णायकता की डोर सौंपना मनुष्य की अपनी निर्णायकता की ओर ही एक संकेत है। पर उस निर्णायकता में भी इतने स्तर हैं कि उसे किसी एक केन्द्र पर लाकर नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिये परस्पर विवाद होते हैं। सत्य एक है, पर दृष्टियाँ अनेक हैं। इसलिये वह भी अनेक हो जाता है। आचार्य रूघनाथजी ने सत्य को जिस केन्द्र स्थान पर से देखा था; आचार्य भिक्षु उसे उस स्थान पर से नहीं देख पा रहे थे, अत: दोनों में दृष्टि भेद हो गया। आचार्य भिक्षु ने लगातार दो वर्षोंतक उस भेद को मिटाने का प्रयत्न किया, पर वे उसमें सफल नहीं हुए। उनका यह आग्रह नहीं था कि मैं जो देखता हूँ, वही सही है। पर दूसरा जो कुछ देखता है वही सही है, इसका क्या प्रमाण है? कोई उन्हें अपनी बात समझाता तो शायद वे उसे भी स्वीकार कर लेते, पर असत्य के साथ सन्धि करना उन्हें अच्छा नहीं लगा। इसलिये शास्त्रों पर निर्णायकता का बोझ आ पड़ा। जैन आगम गुरु और शिष्य दोनों को समान रूप से मान्य थे। अत: उनके माध्यम से विचार-चिंतन चलता रहा। अंत तक कोई हल सामने नहीं आया,तो सत्य ने उन्हें अपना भिन्न मार्ग अपनाने की स्वतंत्रता दे दी।

आचार्य भिक्षु सर्वज्ञ थे, यह कहा नहीं जा सकता, पर उनकी दृष्टि निर्विकार थी, ऐसा कहने के बहुत से प्रमाण हैं। भिन्नता तो उसमें भी हो सकती है, क्योंकि वह बुद्धि का धर्म है। पर दो-तीन वर्षों तक लगातार किसी एक विचार पर आ जाने का उनका प्रयास ऐसा नहीं लगता कि वह भेदमूलक ही था। आचार्य रूघनाथजी से अलग हो जाने के बाद भी उन्हें यह विश्वास नहीं था कि वे किसी नये संघ के प्रणेता बनेंगे, तब फिर उस समय तो उनमें गुरु भाव उत्पन्न ही कैसे हो सकता था? उन्होंने अपनी कृतियों में स्थान-स्थान पर कहा है—मुझे तो अमुक विषय में ऐसा भासित होता है, पर किसी दूसरे को इसमें कुछ अन्तर जान पड़े तो वह उसे सुधारने के लिये स्वतंत्र है। यह सब प्रमाण उनकी अनाग्रह बुद्धि के लिये प्रयुक्त किये जाएँ, तो शायद अनुपयुक्त नहीं होगा। आ० रूघनाथ जी का आ० भिक्षु पर अत्यन्त स्नेह था, इसीलिये जब वे उनसे अलग हुए, तो आ० रूघनाथजी को बहुत अखरा। आचार्य भिक्षु भी यदि सत्य के प्रबल समर्थक नहीं होते तो, उस स्थिति के प्रवाह में बह जाते। किन्तु एक दिन ऐसा आया कि आ० भिक्षु आ० रूघनाथजी के समुदाय से अलग हो गये।

क्रान्ति सदा अल्पमत से होती है। उसे सदैव भारी बहुमत का विरोध सहना पड़ता है। आ० रूघनाथजी के साथ सारा समाज था और आ० भिक्षु के साथ कुछ इने-गिने लोग। इसीलिए बहुमत ने जोर लगाया और उन्हें सर्वप्रथम 'बरलू' में आ० रूघनाथजी से चर्चा करनी पड़ी। चर्चा का विषय था—"साधु लोग आगमोक्त विधि से आचार का पालन नहीं कर रहे हैं।" आ० भिक्षु ने शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत करते हुए बताया कि साधु लोग कैसे आचार का पालन नहीं कर रहे हैं। तथ्य इतना अनावृत था कि उसे टालना संभव नहीं था। अत: आ० रूघनाथजी ने कहा—यह तो ठीक है, पर क्या पाँचवें दुःषम आरे में शुद्ध साधुत्व पाला जा सकता है?

आ० भिक्षु ने कहा—पाला क्यों नहीं जा सकता। भगवान् महावीर ने स्वयं आचारंग में कहा है—शिथिल और वेशधारी साधु ही ऐसा कहेंगे कि पाँचवें आरे में संयम नहीं पाला जा सकता है। भगवती सूत्र तो यहाँ तक साक्षी देता है कि पाँचवें आरे के अन्त तक शुद्ध साधुत्व का पालन हो सकता है।

आ० भिक्षु को शुष्कतर्क में विश्वास नहीं था। उन्हें जहाँ शुद्ध जिज्ञासा के दर्शन होते वहाँ वे सारी रात ही चर्चा में

बिता देते थे। जिज्ञासु लोग अधिकतर रात में ही उनके पास आते थे। समाज का इतना कड़ा आतंक था कि दिन में तो लोग उनके पास आने में ही डरते थे। दिन में अगर उनके पास कोई चला जाता, तो उसके लिये सामायिक का दण्ड-विधान तत्कालीन संघ ने कर दिया था। इसलिये लोग लुक-छिप कर ही उनके पास आते थे। एक बार रात के समय एक व्यक्ति उनके पास आया और उनसे तत्त्व चर्चा करने लगा। चर्चा करते-करते काफी रात चली गई, पर स्वामीजी तत्त्व चर्चा में निमग्न रहे। साधुओं ने थोड़ी देर प्रतीक्षा भी की पर आखिर जब देखा कि यह चर्चा तो काफी लम्बी चलेगी, तो सोने की तैयारी करने लगे। स्वामीजी ने भी उन्हें सो जाने के लिये कहा। इसलिए साधु सो गए। स्वामीजी और आगंतुक व्यक्ति निश्चित रूप से चर्चा करते रहे। इस प्रकार चर्चा करते-करते रात को दो-तीन बज गये। जाने चर्चा पूरी हुई या नहीं पर आगन्तुक व्यक्ति को इस भय से कि प्रकाश में उसे कोई देख लेगा; चला जाना पड़ा। वह चला गया तो स्वामी जी ने देखा अब तो रात थोड़ी ही शेष रही है, अतः अब सोकर क्या करेंगे, बैठे-बैठे स्वाध्याय करने लगे। थोड़ी देर में साधु लोग उठे, तो देखा कि स्वामीजी तो स्वाध्याय रत हैं। उन्होंने पूछा—आप तो बहुत जल्दी उठ गये? स्वामीजी ने मुसकराकर कहा—सोया ही कब था? सब साधु विस्मय विस्फारित नेत्रों से उनकी ओर देखते ही रह गये।

अब हम उनके कुछ ऐसे चर्चा प्रसंग उद्धृत कर रहे हैं जिनसे पाठकों को स्वयं ही उनके विचार अवगत हो जाएँगे। कोई व्यक्ति विवाद के लिये उनके पास आता तो वे टालने का ही प्रयत्न करते। एक बार उदयपुर में एक व्यक्ति उनके पास आया और बोला —भीखणजी! मुझसे चर्चा करो। स्वामीजी ने गंभीर स्वर में कहा—तुम हमारे स्थान पर आये हो, अतः तुम से क्या चर्चा करें। तब वह कहने लगा—नहीं, कुछ तो चर्चा करनी ही पड़ेगी। स्वामीजी कुछ मुसकराये और कहने लगे—अच्छा तुम सन्नी[1] हो या असन्नी[2]?

व्यक्ति—सन्नी हूँ।

स्वामी जी—कैसे?

व्यक्ति—नहीं, नहीं, मिच्छामिदुक्कडं, मैं तो असन्नी हूँ।

स्वामीजी—कैसे?

व्यक्ति—नहीं, नहीं, मिच्छामिदुक्कडं, मैं तो सन्नी-असन्नी दोनों ही नहीं हूँ?

स्वामीजी—कैसे?

अब तो उससे रहा न गया। गुस्से में आ गया और स्वामीजी की छाती में एक मुक्का मारकर चलता बना।

आमेट में पुरके कुछ भाई-बहन स्वामीजी के दर्शनार्थ आये। उनमें एक प्रसंग को लेकर परस्पर विवाद छिड़ गया। विवाद प्रसंग यह था कि छः पर्याप्ति तथा दश प्राण जीव हैं या अजीव? कुछ लोग कहते—जीव हैं और दूसरे कुछ लोग कहते अजीव हैं-दोनों पक्षों के अपने-अपने प्रमाण थे। खूब प्रमाण सामने आये, पर कोई निर्णय नहीं हो सका। बढ़ते-बढ़ते विवाद इतना बढ़ गया कि अंत में उन्हें निर्णय के लिये स्वामीजी के पास आना पड़ा। स्वामीजी ने दोनों पक्षों की बात सुनी और कहने लगे—ऐसे विषय जो विवादग्रस्त हों, हम अगर बिना समझे ही छोड़ दें, तो हमारी कोई हानि नहीं होती। स्वाध्याय के लिये हमारे पास ऐसे अनेक विषय हैं कि अगर हम उनका विचार-विश्लेषण करें तो वर्षों तक कर सकते हैं। तब उन्हें छोड़कर विवाद में क्यों पड़ा जाय?

उस समय जब कि स्वामीजी के साथियों की संख्या बहुत ही थोड़ी थी, कुछ साथी फिर अलग हो गए तथा उन्होंने अपना स्वतंत्र प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। स्वामीजी के एक प्रिय शिष्य मुनि श्री वेणीरामजी ने उनसे निवेदन किया—आपकी आज्ञा हो तो मैं उनसे चर्चा करने के लिये जाऊँ। स्वामीजी ने उन्हें रोकते हुए कहा—नहीं। अभी समय नहीं है। चर्चा तभी करनी चाहिये जब कि करने वालों में जिज्ञासा हो। बिना जिज्ञासा के चर्चा करना अच्छा नहीं होता।

उन्हें अपने आचरणों और सिद्धान्तों पर पूरा विश्वास था, अतः हार और जीत को वे विशेष महत्त्व नहीं देते थे। बहुधा कुछ लोग उनके पास केवल इसलिये आते थे कि वे बाहर जाकर यह गर्वोक्ति कर सकें कि उन्होंने भीखणजी से चर्चा

१—समनस्क

२—अमनस्क

की है। पर स्वामीजी किसी से लड़ाई करना नहीं चाहते थे। जैसा वे देखते, उससे उसी प्रकार से निर्वाह कर लेते। टीकमडोसी नाम का एक अच्छा जानकार श्रावक उनके पास चर्चा के लिये आया। स्वामीजी ने उससे बातचीत प्रारम्भ कर दी। पर टीकमडोसी में यह एक विशेषता थी कि वह अपनी बात अधिक कहता और दूसरों की कम सुनता। पर स्वामी जी भी एक ही माहिर थे। उन्होंने एक रास्ता निकाल लिया। टीकमडोसी उनसे जो प्रश्न पूछता, वे उसका लिखकर उत्तर दे देते। इस प्रकार चर्चा वाग्जाल से जटिल होने से बच जाती और टीकमडोसी के जिज्ञासु मानस को भी शान्ति मिल जाती।

वे शुद्ध ज्ञान के हामी थे, वितण्डा के नहीं। पर उन्हें ऐसे व्यक्तियों से भी पाला पड़ जाता था कि जो केवल विरोध के लिये ही चर्चा करना चाहते थे। उस समय स्वामीजी उन्हें किस प्रकार उत्तर देते उसके कुछ उदाहरण ये हैं.—एक बार हीरजी नाम के एक व्यक्ति ने उनसे प्रश्न पूछा। स्वामीजी ने उसका प्रश्न सुना और कोई प्रत्युत्तर नहीं दिया। हीरजी कहने लगे—मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिये। स्वामीजी ने कहा—कोई अपवित्र (विष्टाभृत) फटी हांडी (ठीकरा) लेकर आये और कहे मुझे इसमें घी तौल दो, तो कौन समझदार व्यक्ति उसमें घी तौल देगा ? इसी प्रकार जो अशुद्ध भावना से प्रश्न करता है, उसे मैं उत्तर नहीं देना चाहता।

एक व्यक्ति पूछने लगा—भीखणजी ! संसार में साधु कितने हैं और असाधु कितने हैं ? स्वामीजी के सामने कठिन समस्या आई। किसको साधु कहें और किसको असाधु। वह व्यक्ति भी इसलिये आया था कि यदि भीखणजी किसी को असाधु कह दें तो मैं लोगों को उनके विरुद्ध भड़काऊँ। पर स्वामीजी भी बड़े चतुर थे। उन्होंने उसे एक उदाहरण दिया—एक वैद्य के पास एक अंधा आदमी आया और पूछने लगा—वैद्यराजजी ! संसार में नंगे लोग कितने हैं तथा कपड़े पहने हुए कितने ? वैद्य ने उसका अन्धापन मिटा दिया जिससे वह स्वयं देख सके। इसी प्रकार मैं तुमको साधु और असाधु के लक्षण बता देता हूँ। तुम स्वयं देख लेना संसार में साधु कितने और असाधु कितने हैं।

एक व्यक्ति स्वामीजी के पास आया और बोला—भीखणजी अमुक विषय में आप तो ऐसा कहते हैं तथा दूसरे साधु ऐसा कहते हैं, यह परस्पर विरोध क्यों ? आपको इसका तार (निर्णय) निकालना चाहिये। स्वामीजी कुछ हँसे और बोले—भाई जिन्हें हाथी ही नहीं दीखता, उन्हें चींटी कैसे दिखाई देगी। धर्म का तत्त्व बड़ा गहन है, उसे समझनेवाले बिरले ही आत्मार्थी होते हैं। जो स्पष्ट रूप से हिंसा करते हैं, उन्हें हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मता तक ले जाने से क्या लाभ हो सकता है ? आगन्तुक यह उत्तर पाकर इतना संतुष्ट हुआ कि वह सदा के लिये उनका ही हो गया।

पीपाड़ का एक व्यक्ति 'मालजी' एक बार स्वामीजी के पास चर्चा करने के लिये आया। कहने लगा आप किसी प्यासे को पानी पिलाने में पाप कैसे कहते हैं ? स्वामीजी ने उसी से पूछ लिया—कोई व्यक्ति किसी जीव को मार कर खाये तो उसे पाप हुआ या धर्म ?

मालजी—पाप ! स्वामीजी—यदि कोई दूसरे को खिलाये तो ! मालजी—पाप। यह सुनते ही उन्होंने भारमलजी से कहा—भारमलजी ! स्याही और पत्र लाओ और लिखो कि दूसरे को खिलाने में मालजी पाप कहते हैं। मालजी तो बिचारा आश्चर्यचकित रह गया। कहने लगा मैंने तो खिलाने में पाप कहा है। पानी पिलाने में पाप कहाँ कहा है। स्वामी जी—पानी में क्या जीव नहीं होते ? जब स्वयं के पानी पीने में पाप है, तो दूसरों को पानी पिलाने में धर्म कहाँ से होगा ? अब तो मालजी को अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी। पर मताग्रह मनुष्य को यों सीधे से सत्य का दर्शन कहाँ होने देता है। कहने लगा—पाप है तो मेरा नाम मत लिखियेगा।

दान और दया का प्रसंग स्वामीजी के विचारों की एक नई अभिव्यंजना थी। इसलिये लोग उसको सहसा समझ नहीं पाते थे। छोटी समझ वाले लोग उसमें उलझ जाते और स्वामीजी को बुरा-भला कहने में कुछ कमी नहीं रखते। भला किसी जीव को बचाना भी धर्म नहीं होगा तो फिर धर्म होगा ही क्या ? इन्हीं विचारों को लेकर एक व्यक्ति स्वामीजी के पास चर्चा करने के लिये आया और पूछने लगा—कीड़ी को बचाना दया है या नहीं ?

स्वामीजी ने अपने गहन सिद्धान्त को उसे कितनी सरलता से समझा दिया, यह उनके इस प्रसंग से कितना स्पष्ट है—जो सचमुच ही मनन योग्य है।

स्वामीजी—कीड़ी को कीड़ी जाने यह ज्ञान है या स्वयं कीड़ी ज्ञान है ?

जिज्ञासु—कीड़ी को कीड़ी जानना ज्ञान है।

स्वामीजी—कीड़ी को कीड़ी सरधना यह सम्यक्त्व है या कीड़ी स्वयं सम्यक्त्व है ?

जिज्ञासु—कीड़ी को कीड़ी सरधना ही सम्यक्त्व है।

स्वामीजी—कीड़ी को मारने का त्याग किया वह दया है या कीड़ी बच गई वह दया ?

जिज्ञासु—कीड़ी बच गई वह दया।

स्वामीजी—मान लो कीड़ी बच गई। थोड़ी देर बाद जोर से हवा आई और कीड़ी हवा में उड़ गई, तो क्या उसे बचाने वाले की दया भी उड़ गई ?

जिज्ञासु कुछ सोचकर बोला—कीड़ी बच गई यह दया नहीं है। उसे मारने का त्याग किया, यही दया है।

स्वामीजी—तो कीड़ी को बचाने का उपाय करना चाहिये। या उसे मारने का ?

अब तो जिज्ञासु स्वयं ही समझ गया और बोला—बचा हम किस-किस को सकते हैं ; हम नहीं मारें यही दया है। इसलिये किसी को नहीं मारना ही दया है।

इस प्रकार आचार्य भिक्षु के जीवन के ऐसे अनेक चर्चा प्रसंग हैं, जो उनके व्यक्तित्व को अनायास ही प्रकट कर देते हैं। पर उन सब का यहाँ उल्लेख संभव नहीं है। फिर भी इनके आधार पर हम यह तो जान ही सकते हैं कि वे एक अत्यन्त अनाग्रही तथा सम्यक् धर्म नेता थे। यद्यपि उनके जीवन में अनेक शास्त्रीय चर्चाओं का भी अवसर आया है, जिनमें टीकमडोसी की चर्चा, वडलू चर्चा आदि प्रमुख हैं, पर वह उनके जीवन का सैद्धांतिक पक्ष था। अतः यहाँ पर हम उन्हें छेड़ना नहीं चाहेंगे।

महामहिम आ० भिक्षु का विहार क्षेत्र और उनके अनुयायी

(ले०—साध्वी श्री छगनांजी)

साधक सीमा के बंधन में नहीं रहते। वे विस्तृत होकर विस्तार करते हैं। उनका बहिरंग विस्तरण ही श्रमण संस्कृति में विहार संज्ञा से अभिहित होता है। विहार साधना का एक वह रम्य पहलू है, जो उसे निखार देता है, परिष्कृत कर देता है, गति देता है, चेतना देता है। किसी कवि ने साधक के लिये कितना सुन्दर चित्रण किया है—

पानी तो बहता भला, पड़ा गन्दीला होय।
साधु तो रमता भला, दाग न लागे कोय॥

महामहिम आ० भिक्षु भी श्रमण परम्परा के महान साधक थे। पद विहार उनकी साधना की दृढ़तम संकल्प था। उनका व्यक्तित्व विचित्र था जो परिश्रम की बूंदों से स्थापित हुआ और संघर्षों की चोटों से चमका था। वे चिन्तन के धनी थे। उनका बौद्धिक और शारीरिक श्रम अतुलनीय था। उनकी सूक्ष्म मनीषा ने शास्त्रों का अपूर्व चिन्तन मन्थन करके हमको दिव्यालोक दिया। दूसरे पक्ष में उनके चरणारविन्दों ने विशाल भू भाग का स्पर्श कर, सहस्रों मनुष्यों के मानस में क्षीर-नीर सा विवेक जागृत कर अविरल मानवीय संस्कृति को उपकृत किया है।

वेपच्चीस वर्ष की वय में दीक्षित हुए। ७० वर्ष की आयु पूर्ण करके दिवंगत हुए। ५० वर्ष तक साधु पर्याय में रहे। ८ वर्ष तक रूघनाथजी के संघ में रहे। १८१७ में तेरापंथ की भागवती-दीक्षा स्वीकार की।

यद्यपि पद विहार आपका यावज्जीवन का व्रत था, फिर भी आपने जब इस नूतन महा पथ को ग्रहण किया तब जन-कल्याण का मार्ग अप्रशस्त दिखाई दे रहा था। आपके शब्द स्वयं इस बात के प्रतीक हैं।

'मरण शुद्ध मग गह्यो
लोक समझता दीसैं नहीं, करस्यां खेवो पार।"

स्वामीजी स्वसाधना में लगे, तपस्या करते और सरिता के संतप्त बालुकणों में आतापना लेते; पर महापुरुष के जीवन से यह विश्व कुछ पाना चाहता है। थिरपालजी और फतेहचन्दजी दो बड़े संत, जिनको स्वामीजी के जीवन में आशा की किरण दिखाई दी; लोकान्तिक देवों की तरह उनकी सेवा में उपस्थित हुए और करबद्ध होकर प्रार्थना की—भगवन्! तपस्या का कार्य तो हम भी कर सकते हैं पर आपसे इस विश्व के उपकृत होने की संभावना है। आपकी मनीषा में अद्भुत क्षमता है—सत्पथ अभिव्यंजित करने की, जनमानस का मंथन करने की, और उन्हें समझाने की, अतः आप जनोद्धार के लिए कुछ करें।

दोनों सन्तों की अनन्य प्रेरणा से निराशा के बादल फट गये। उनकी दिव्य वाणी ने उनके हृदय को हिला दिया। स्वामीजी की गति ने एक नया मोड़ लिया। भगवान् महावीर व गौतम बुद्ध और राजकुमार महेन्द्र की तरह जनकल्याण की पवित्र भावना को लेकर उन्होंने भ्रमण किया। राजस्थान के विशाल वक्षस्थल पर घूमे। 'चरैवेति-चरैवेति' ही उनकी साधना का लक्ष्य बना। वे अन्तिम चातुर्मास तक वृद्धावस्था में भी चंक्रमण करते रहे। एक-एक ग्राम में कई बार पधारे। अतः आपका पद विहार राजस्थान में ससीम रहते हुये भी सुविस्तृत रहा है। आपके समग्र विहार को उस समय की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के आधार पर ५ विभागों में विभक्त कर सकते हैं :—

(क) मेवाड़ (ख) मारवाड़ (ग) ढूंढाड़ (घ) हाड़ोती (ङ.) थली।

मेवाड़, मारवाड़ दोनों ही क्षेत्रस्वामीजी के विहरण के मुख्य स्थल रहे हैं। दोनों ही वीर पुरुषों की भूमियाँ हैं। शस्य श्यामल अनेक शैलमालाओं से परिवृत हैं। जहाँ छोटी-छोटी पहाड़ियों में कल-कल करता हुआ मुक्त निनाद मनुष्यों के मुक्त चिन्तन का स्पष्ट प्रतीक है। जिनके कणों में योगिनी मीरा और महाराणा प्रताप जैसे वीर पैदा हुये, जहाँ भामाशाह जैसे दानवीर व उदारचेता उत्पन्न हुए, जहाँ सहस्रों वीरांगणाओं का सतीत्व जौहर की ज्वाला में चमक उठा। आचार्य भिक्षु ने प्रचार व विहार के लिए उसी भूमि को सर्वोत्तम समझा। वे लौह पुरुष की तरह पहाड़ियों, पत्थरों शैलमालाओं और

विषमोन्नत घाटियों में निर्भीक होकर विचरे। अरावली की सुदीर्घ विषमोन्नत घाटियों में उनके चरण बढ़ते ही गये। कहीं रुके नहीं, अपितु चलते ही गये। उनकी गति में अपूर्व उत्साह था। भावना में अन्तश्चेतना का ओजस्वी स्फुरण था। जहाँ उपकार देखा आपके कदम उसी ओर चल पड़े। छोटे-छोटे ग्रामों में, शहरों में और नगरों में, धर्म की सत् स्रोतस्विनी प्रवाहित की। मेवाड़ मारवाड़ के कण-कण में नई चेतना भर दी। आज भी वहाँ की शैल-श्रेणियों में, निर्झरों के प्रमुक्त गीतों में मानो स्वामीजी के पद-चापों की प्रतिध्वनियाँ गूंज रही हैं।

नई दीक्षा के बाद आप के कुल ४४ चातुर्मास हुए जिनमें ४२ चातुर्मासों का सौभाग्य मारवाड़ व मेवाड़ की पुण्य स्थली को मिला जिनका विवरण इस प्रकार है :—

स्थान	संख्या	संवत्	देश
केलवा[1]	६	१८१७, २१, २५, ३८, ४९, ५८	मेवाड़
वरलू[2]	१	१८१८	मारवाड़
राजनगर	१	१८२०	मेवाड़
कंटालिया	२	१८२४, २८	मारवाड़
बगड़ी	३	१८२७, ३०, ३६	मारवाड़
माधोपुर	२	१८३१, ४८	ढूंढाड़
पीपाड़	२	१८३४, ४५	मारवाड़
आमेट	१	१८३५	मेवाड़
पादू	१	१८३७	मारवाड़
सोजत	१	१८५३	मारवाड़
श्रीजीद्वार	३	१८४५, ५०, ५६	मेवाड़
पुर	२	१८४७, ५७	मेवाड़
खैरवा	५	१८२६, ३२, ४१, ४६, ५४	मारवाड़
पाली	७	१८२३, ३३, ४०, ४४, ५२, ५५, ५९	मारवाड़
सिरियारी	७	१८१९, २२, २९, ३९, ४२, ५१, ६०	मारवाड़

मेवाड़-मारवाड़ में स्वामीजी के विहार स्थल निम्नोक्त हैं :—

कांकरोली, केलवा, आमेट, लावासरदारगढ़, देवगढ़, गोगुन्दा, गंगापुर, राजनगर, भीलवाड़ा, पुर, पीपली, कुंवाथल, देवरियां, कम्मेडी, कुरज, कुवारियां, रेलमगरा, घोइन्दा, बोरज, भाणो, नम्माणो, थामारों, कोठारिया, चारभुजा, सायरा, बोरीया पुर, केलवाज, नीमला, रींछेड़, जोधपुर, पाली, डेगाना, बोरावड़, चान्दारण, वरलू, जेतारण, सुधरी, सोजत, रामसिंह का गुढा, माण्डा, सांभर, मादड़ी, खेरवा, खीवाड़ा, भेसाणा, घाणेराव, पीतास लहारी, दूधोड़ वगैरह।

मेवाड़ और मारवाड़ के बाद आप ढूंढाड़ में पधारे। किशनगढ़ जयपुर, आपके पद-चिह्नों से पवित्र हो गये। ढूंढाड़ के छोटे-छोटे प्रदेशों को भी आपने ढूंढ निकाला। वहाँ आपके स्वल्पकालीन प्रवास में भी धर्मांकुर फूटे। एक से एक बढ़कर कर्मठ श्रावक तैयार हुए, जिनकी क्रियाशीलता अनुपमेय थी। जयपुर के लाला हरचन्द का नाम उल्लेखनीय है, जो स्वामीजी की अनुपस्थिति में भी सत्य का आराधन व प्रचार करते रहे। हाड़ोती में भी आपका पावन पदार्पण हुआ। कोटा बून्दी के सुषुप्त मानव समूह में चेतना की लहर दौड़ गई। आपके दिव्य आलोक से वह भू-भाग आलोकित हो उठा। जन-जन को एक नई राह मिली, पर एक चातुर्मास का सुदीर्घ समय भी हाड़ोती के भाग्य में नहीं बदा था। यदि ऐसा होता, तो वहाँ भी बहुत कुछ प्रचार की संभावना थी।

१—यहाँ स्वामी जी का प्रथम चातुर्मास अन्धेरी ओरी (काल कोठरी) में हुआ और भारमलजी स्वामी के चरणों में सर्प लिपट गया था।

२—यहाँ गुरु रुघनाथजी के साथ जोरदार चर्चा हुई थी।

थली प्रवेश

किसी विशेष स्थिति में स्वामीजी सं० १८३६ में थली भी पधारे। चन्देरी (लाडनूं) में श्री रामदेवजी के मन्दिर में ठहरे। फिर चाड़वास छापर होते हुए चूरू पधारे। पाँच दिन ठहरे। स्वामीजी की यह यात्रा ५००–६०० मील की थी। यद्यपि आज की दृष्टि से इतनी बड़ी यात्रा कुछ अधिक नहीं है, तथापि उस युग की परिस्थिति के अनुपात में, वह बहुत लम्बी यात्रा थी। स्वामीजी को एक ग्राम से दूसरे ग्राम में पहुँचने में भी भयंकर तूफानी संघर्षों से बाजी लेनी पड़ती थी। न स्थान मिलता और न पेट भर आहार ही मिला करता, प्रत्युत् जन-जन से पद-पद पर तिरस्कार भरे वचनों के तीखे प्रहार ही मिलते।

स्वामीजी की इस सुदीर्घ यात्रा में संघर्षों के पर्वत तो खड़े ही थे, चेचक की बीमारी ने भी आपके अदम्य उत्साह व आपकी वीरता को परखना चाहा। भारीमालजी स्वामी पर आक्रमण हुआ पर आपकी अविराम गति को कौन रोक सकता था? भारीमाल जी स्वामी और अन्य शिष्यों को वहीं छोड़ आपने केवल दो संतों के साथ इतनी लम्बी, शूलों से परिवृत संकरी पगडंडी पार की। इस दृष्टि से वह यात्रा आज की १५०० मील की यात्रा से भी भारी पड़ जाती है।

स्वामीजी वृद्धावस्था में भी विचरते रहे। एक बार यति कान्तिविजयजी मिले। परस्पर मधुर संलाप चल पड़ा:

यतिजी—आप तुंगिया नगरी पधारे या नहीं?

स्वामीजी—यतिजी! तुंगिया नगरी कौन-सी?

यतिजी (साहंकार)—मोटे गाँव।

यतिजी को यह गर्व था कि वहाँ हमारे श्रावकों का बाहुल्य है। भीखणजी की दाल वहाँ पर गलेगी नहीं; पर यतिजी के भावों को ताड़ते हुए स्वामीजी ने कहा—तुंगिया नगरी में भी जाने का विचार है। आखिर वहाँ दो बार पधारे। भारी उपकार हुआ। वहाँ के पोरवाल परिवारों ने स्वामीजी की श्रद्धा ग्रहण की। बहुत से लोग सुलभ बोधि बने।

शासन के अन्यतम स्तम्भ मंत्री मुनि, घोर तपस्वी मुनि श्री सुखलालजी जैसे अनर्घ्य रत्न उसी तुंगिया नगरी की खनि से निकले, जहाँ स्वामीजी के अथकश्रम की बूंदें गिरी थीं। दूसरी बार जब स्वामीजी मोटे गाँव पधारे उस समय अवस्था वृद्ध हो गई थी। चलने में अत्यन्त थकान का अनुभव होता था। स्वामीजी ने स्वयं इस स्थिति का वर्णन अपने सुललित पद्य में किया है:

"बाटी री घाटी चढ़णी दोहिली, दोहरो है भूताले रो घाट
मोड़ी तो पग मोड़ घणा, आगे है च्यार तीर्थ रा थाट
जिनेश्वर देवां, बुढ़ापा आयां हो चढ़णो दोहिलो।"

स्वामीजी के पावन चरणारविन्दों से पवित्र होनेवाले समग्र राजस्थान के भू-भाग को आजकी भौगोलिक स्थिति के आधार पर निम्नानुसार पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) उदयपुर, (२) जयपुर, (३) जोधपुर, (४) बीकानेर और (५) कोटा।

आप बीकानेर डिवीजन में चूरू, जयपुर डिवीजन में सवाई माधोपुर तथा कोटा डिवीजन में कोटा-बून्दी तक पधारे। आप उदयपुर और जोधपुर के अधिकांश भू-भागों में भी पहुँचे।

स्वामीजी के विहार के समय कितनी कठिन परिस्थितियाँ थीं, उनका चित्र इन पद्यों में आँका गया है:

"बोचाल्यो जद इण मार्ग पर, संसार हुयो लारे सारो,
रहण ने स्थान दियो कोनी, संकट सूं वीर नहीं हार्‌यो।
खाणे की गिनती कोणी ही, सोणे को सोच नहीं लाग्यो,
वो दुनियां ने समझावण ने, सारी सारी रातां जाग्यो।
छाती में सही धम्मकारी, माथां पर ठोलां री झेली,
गाल्यां रा बाण सहण ने वो, सागर की गहराई ले ली।

वो निगल गयो अंगारां ने, धग धगता सोलां पर चाल्यो,
कष्टां के भारी मेरू नें, वो कोमल कन्धा पर झाल्यो।"

इन पद्यों तथा आचार्य जयगणी के 'पांच वर्ष पहिचाण रे, अण पण पूरो ना मिल्यो
बहुलपणे वच जाण रे, घी चोपड़तो वाहिं रह्यो से स्पष्ट पता चलता है कि उनको किस तरह से बाधाओं को चीर कर आगे बढ़ना पड़ता था, पर सौभाग्य की बात है कि स्वामीजी के कदमों पर चलनेवाले जो अनुयायी थे वे अतुलनीय सिद्ध हुए।

वेणीरामजी स्वामी

अद्वितीय कर्मठ स्वामी वेणीरामजी जो इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में समुल्लेख्य हैं वे स्वामीजी की वाणी को राजस्थान तक ही सीमित न रहने देकर उनके दिव्य संदेश को लेकर मध्य भारत में पहुँचे।

ये स्वामीजी के प्रचार कार्य में अनन्य सहयोगी रहे। आपको आ० भिक्षु रचित सर्व ग्रन्थ कंठस्थ थे। सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी आप प्रवीण थे। चर्चा के विषय में भी आप से बाजी लेनेवाला कोई विरला ही मिल पाता। व्याख्यान देने की आपकी शैली अत्यन्त सुन्दर और मौलिक दृष्टान्तों से पूर्ण रहती थी। आपका एक-एक शब्द इतना मधुर होता कि वह चुम्बक की तरह श्रोता को खींच लेता। आपका साहस सराहनीय था। आप जब मालव में पहुँचे तब आपको एक दिन में तीन-तीन स्थानों में ठहरना पड़ा; पर आप तिल मात्र भी विचलित न हुए, प्रत्युत् अन्तर में उत्साह की लौ जलती ही रही। आप वहां सिंह की तरह गरजे। आपकी धाक कायरों को कम्पित कर देती तथा वीरों में साहस भर देती थी। आपकी सच्चाई के समक्ष कर्चीले तर्क हवा हो जाते। आपने मध्य भारत में खूब प्रचार किया।

आप निर्भीक थे। एक बार चोर संतों की पुस्तकें ले गये। तब आप चोरों के पद-चिह्न देखकर चोर पहल्ली में पहुँचे तथा रात भर वहीं ठहरे; एवं उन्हें समझाकर एक पात्र और कुछ चित्रों के पन्नों के अतिरिक्त और सब कुछ ले आये। तुंगिया नगरी में भी स्वामीजी ने सब दृष्टियों से सुयोग्य समझकर अपने से पहले वेणीरामजी स्वामी को भेजा था। स्वामीजी के प्रचारकों में सर्वप्रथम नाम आपका रहेगा।

मुनि थिरपाल और फतेहचन्द

ये दोनों ही स्वामीजी के शासन के चमकते सितारे एवं श्रद्धा के साकार रूप थे। इनमें स्वामीजी के प्रति अगाध भक्ति थी। दोनों ही विनयवान, घोर तपस्वी व निरभिमानी थे। जयाचार्य ने मुनि श्री थिरपाल को 'धर्म-मूर्ति' विशेषण से विभूषित किया। दोनों ने अपनी सुदीर्घ तपस्याओं से शासन की नींव को मजबूत किया है। धर्मवृद्धि के लिये आपने स्वामीजी को जो अपूर्व प्रेरणा दी थी, उसके लिये तेरापंथ शासन ही नहीं, अपितु समग्र मानव समाज युग-युगतक ऋणी रहेगा।

मुनि टोकरजी और हरनाथजी

मुनिश्री टोकरजी व हरनाथजी भी बड़े सुयोग्य संत थे। यद्यपि इन्होंने स्वयं विशेष प्रचार नहीं किया, फिर भी इन्होंने स्वामीजी के मनोनुकूल अपना जीवन बिताकर प्रचार-कार्य में सहायता दी है। स्वामीजी के मुखारविन्द से निकले शब्द—

"शुद्ध संयम-पालन में इनका कितना सहयोग रहा" स्पष्ट ही उनकी कुशल सहयोगिता के प्रतीक हैं।

मुनि खेतसीजी

मुनि खेतसीजी का भी नाम युग-युग तक अमर रहेगा, जिन्होंने कठोर अनुशासन प्रिय स्वामीजी की आन्तरकि कृपा अपने सुनम्र व्यवहार से प्राप्त की। वे रुग्णावस्था में उनकी सेवा के लिये खड़े-खड़े रात भर जाग कर भविष्य के लिये एक सुन्दर उदाहरण छोड़ गये। आपके आचार-विचार सहज पवित्र बालक की तरह व धवल दन्तपंक्ति की तरह निर्मल थे। इसी लिए स्वामीजी ने आपको 'सतयुगी' विशेषण से सम्बोधित किया। जयाचार्य ने गणाधार कह कर आपको बहुमान दिया और आपका जीवन चरित्र अलग लिखा। द्वितीयाचार्य भारमलजी की लेखनी द्वारा आपका नाम युवाचार्य के समकक्ष अंकित हुआ। ये स्वामीजी के अनन्य सफल सुयोग्य सहायक शिष्य थे। इन्होंने २२ वर्ष तक स्वामीजी की समरस होकर सेवा की।

मुनि हेमराजजी

स्वामीजी के सुयोग्य शिष्यों में ऋषि हेमराजजी का नाम भी कभी भुलाया नहीं जा सकता, जिनका जीवन एक नहीं, अनेक रूपों में निखरा है। गृहस्थीपन में ही इनकी योग्यता को देखकर स्वामीजी की इनपर दृष्टि पड़ी थी। आपकी मनीषा बहुत ही सूक्ष्म और कण्ठ सुरीला था। बचपन में गृहस्थावास में भी आप व्याख्यान देते। चर्चा करने में आप विचक्षण व निर्भीक थे। विपक्षी संतों के स्थान पर जाते और उन्हें परास्त करते। आप व्यापार के लिए पाली आदि क्षेत्रों में जाते तथा वहाँ अपने सम्पर्क में आने वाले मनुष्यों को समझाते और धर्म की तरफ आकृष्ट करते। आपने जब साधु-प्रतिक्रमण सीखना प्रारम्भ किया, तभी स्वामीजी ने भारीमालजी स्वामी को संकेत कर दिया—भारीमाल ! तुम अब निश्चिन्त रह सकोगे। इतने दिन मैं था। अब कभी चर्चा का काम पड़े, तो हेमराज को तैयार समझना। जयाचार्य के विद्यागुरु आप ही थे। जयाचार्य के अनेक पद्यों में सहज ही आपकी असाधारण योग्यता मुखरित हो रही है :

"उपशम समदम शील में हो, हेम सरीखा संत,
चौथे आरे पिण विरला होसी हो, साध महा गुणवंत।"

आप एक सच्चे आत्मार्थी और परोपकारी संत थे। आपने बहुतों को दीक्षा दी, बहुतों को श्रावक बनाया और बहुत से संतों को विज्ञ बना सुयोग्य साँचे में ढाला है। आप जिन शासन के स्तम्भ, कुशल गणाधार और स्वामीजी के सफल सन्देशवाहक थे।

भारमलजी स्वामी

उपर्युक्त सप्त मुनि स्वामीजी के कार्यक्षेत्र के सप्तर्षि नक्षत्र थे। इस सप्तर्षि मण्डल में भारमलजी स्वामी ध्रुव सितारे के समान थे, जिन्होंने धर्म-निष्ठा के कारण पिता के अमित स्नेह-बंधन को तोड़ा। नागपाश के बंधन से भी जिनका हृदय भयभीत नहीं हुआ। ये १८ वर्ष तक युवाचार्य रहे और स्वामीजी के अन्तर को परखने वाले थे। इन सुयोग्य शिष्यों से स्वामीजी को अपने प्रचार-प्रसार के कार्य में बड़ी सुविधा, प्रेरणा और सहायता मिली। पर कहना होगा कि स्वामीजी के शिष्य समुदाय की तरह श्रावक सम्पदा भी बेजोड़ थी। श्रावकों का नाम आते ही स्वामीजी के सन्देशवाहक टीकमजी डोसी और गेरूलालजी व्यास का नाम स्वतः स्मृति में उभर आता है, जिन्होंने स्वामीजी के सन्देशों को कच्छ देश में पहुँचाया।

श्रावक गेरूलाल और टीकम डोसी

गेरूलालजी व्यास जोधपुर के पुष्कर ब्राह्मण थे। स्वामीजी के शुद्ध आचार और परिष्कृत विचारों से प्रभावित होकर आपने श्रद्धा ग्रहण की। व्यासजी दृढ़ श्रावक बने पर उनके इस कार्य से ब्राह्मण उनके विरुद्ध हो गये। व्यासजी के पुत्र से कोई सम्बन्ध नहीं करता था, फिर भी व्यासजी की श्रद्धा अडिग थी। वे विरोधों से घबराने वाले नहीं थे। उन्होंने अपने पुत्र की शादी कहीं दूसरे गाँव में की। पुत्री के पिता ने विनोदवश दहेज में मुखवस्त्रिका, पूंजणी और आसन दिए। सब लोग ये चीजें देखकर व्यासजी की हँसी करने लगे। स्थिति को संभालते हुए व्यासजी ने कहा—मेरे सम्बन्धी चतुर हैं। उन्होंने सोचा कि मेरी लड़की वहाँ जायेगी तो वहाँ सामायिक पौषध आदि के लिये इन वस्तुओं की अपेक्षा रहेगी। उत्तर सुनकर सब अवाक् रह गये। यह थी उनकी विरोध को भी विनोद रूप में परिणत करने की और उत्तर देने की सुन्दर शैली।

व्यासजी एक बार किसी कार्य से कच्छ गये। माण्डवी बन्दर नामक स्थान पर ठहरे। वहाँ पर टीकम डोसी नाम के स्थानकवासी जैन रहते थे। वे ब्राह्मणों को आटा-चावल, घी आदि देकर सदाव्रत किया करते थे। व्यासजी भी टीकम डोसी के घर सदाव्रत लेने गये। उन्होंने उनको सदाव्रत दे दिया। पर व्यासजी लेने ही न गये कुछ देने भी गये थे। वे उनको सहज व सरल रीति से प्रत्यक्ष व्यवहारों के द्वारा धर्म तत्त्व समझाना चाहते थे। व्यासजी की अन्तर भावनाएँ शब्दों के माध्यम से बाहर आईं। परस्पर कुछ मधुर संलाप चल पड़ा।

व्यासजी—आप कौन से धर्म के अनुयायी हैं ?

टीकम डोसी—मैं जैन स्थानकवासी हूँ।

व्यासजी—मुझे सदाव्रत देने से आपको क्या फल हुआ ?

टीकम डोसी—एकान्त धर्म पुण्य।

व्यासजी—कैसे ?

टीकम डोसी—दान देने से एकान्त धर्म पुण्य निर्जरा होती है।

व्यास जी (साश्चर्य नयनों से)—आप जैन होते हुए भी कैसी बात करते हैं ? आपके पास क्या सूत्र है ?

टीकम डोसी—क्या आपको भगवद्गीता चाहिए ?

व्यासजी—यदि भगवती सूत्र है तो लाइये—मैं जैन हूँ।

टीकम डोसी भगवती सूत्र लेकर आये। व्यासजी ने श० ९, उद्देश ६०१ को सामने करते हुए संकेत किया—पढ़िये इसमें क्या लिखा है। उन्होंने पढ़ा :

अंसज्जयस्स पडिलाभेमाणस्स....पडिलाभेमाणस्स एगंतसो से पावेकम्मे कज्जइ नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ। और भी बहुत सैद्धान्तिक चर्चा हुई। आखिर टीकम डोसी समझ गये तथा उन्होंने व्यासजी से श्रद्धा स्वीकार कर ली। व्यासजी टीकम डोसी के हृदय में गहरी छाप छोड़ कर चले गये।

टीकम डोसी जहाँ बैठते मनुष्यों की भीड़ जुट जाती। उन्हें धर्म का गहरा और सही तत्त्व समझाते पर गेरूलालजी का नाम आगे रखते। अपने आपको 'गेरूपंथी' कहते। कच्छ में स्वामीजी का जितना भी प्रचार हुआ, वह टीकम डोसी के द्वारा हुआ। साधु समुदाय के नहीं पहुँचने पर भी आपने वहाँ तेरापंथ के नाम को प्रख्यात कर दिया। सं०१८५३ में स्वामीजी के मारवाड़ भूमि में दर्शन किये। विविध प्रश्नोत्तरों द्वारा धर्म के असली तत्त्व को समझा। २१ दिन तक सेवा की। वहाँ से आकर नगर सेठ मोहनजी आदि २५-३० घरों को समझाया। सं० १८५९ में योगों के विषय में आपको शंका हो गई। आपने स्वामीजी के दर्शन किये। इससे आपको समाधान मिला। कुछ वर्षों बाद फिर आपको शंका उत्पन्न हुई, पर स्वामीजी की सेवा का इस बार योग न मिल सका। एक बार वमन (उल्टी) होने पर शरीर के क्षणभंगुर धर्म को पहचान आपने चौविहार अनशन कर दिया। तृषा परीषह ने आपकी कड़ी परीक्षा ली। किन्तु आप अडिग रहे, पर आखिर एक शिक्षा दे गये। योगों की चर्चा और चौविहार अनशन इन दोनों में देखकर पड़ना चाहिए। टीकम डोसी और गेरूलालजी दोनों ही बड़े नामी श्रावक हुए। दोनों ने खूब ही धर्म का प्रचार किया।

श्रावक शोभजी

श्रावक शोभजी केलवा ग्राम, मेवाड़ प्रदेश के थे। वे ख्यातिप्राप्त श्रावक, धर्म प्रचारक और कुशल कवि थे। स्वामीजी के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। इनकी कविताओं में इनकी आन्तरिक श्रद्धा का प्रतिबिम्व झाँक रहा है। इनके द्वारा रचित श्लोक, छन्द, गीतिकाओं को पढ़कर पाठक आत्मविभोर हो जाता है। इनके सुललित पद्य वातावरण को तन्मय बना देते हैं। सुषुप्त मानस को झकझोर देते हैं :—

'भेंट भवि चरण ले शरण भिक्खु तणो,
मरण रो डरण सहु दूर भागे।
करण जोगाँ तणीं खबर पड़ियाँ थका,
स्वाम भिक्खु तणी छाप लागे।
काम करड़ो घणो, स्वाम श्रद्धा तणो,
हिय वेससी दोहिली, जाण भाई।
हिम्मत राखज्यो, बात विचारज्यो,
मरदमी राखज्यो, मन माँहि ॥

इनकी समग्र रचना तीन हजार पद्यों में गुम्फित है—ऐसा अनुमान है। इनके जीवन की घटनाएँ विचित्र हैं।

आप रजवाड़े में काम किया करते थे। किसी के कहने से ठाकुरों ने आपके हाथों में हथकड़ियाँ और पैरों में बेड़ियाँ डाल दीं। कवि का मन संवेदनशील होता है। वह किसी संवेदना में गुनगुनाता ही रहता है।

शोभजी के मन में स्वामीजी के दर्शन की उत्कट लालसा थी। वे अपने भावों को रोक न सके। भक्ति का निर्झर कविता के माध्यम से फूट पड़ा :—

'मोटो फन्दो इण संसार रो, कनक कामिनी दोय,
फंदे में फंस्यो निकल सकूं नहीं, दर्शण किण विध होय।'

कहते हैं भक्त की भक्ति भगवान को खींच लाती है। ठीक यही बात शोभजी के विषय में चरितार्थ हुई। स्वामीजी उसी ग्राम से विहार कर रहे थे। उन्होंने अपने कानों में ये शब्द सुने कि शोभजी के पैरों में बेड़ियाँ पड़ गई हैं। यह सुनते ही स्वामीजी के कदम उसी ओर चल पड़े। लम्बे मार्ग को स्वल्प समय में पारकर शोभजी के पास पहुँचे। शोभजी उस समय उपर्युक्त पद्यों को गुनगुना रहे थे कि स्वामीजी इन पद्यों को सुन कर बोल पड़े—'दर्शन इण विध होय'। शोभजी के मन में प्रसन्नता का सागर उमड़ पड़ा, क्योंकि श्रद्धा की मूर्ति सामने खड़ी थी। दृढ़ श्रद्धा के सामने लोहे की जंजीर टूट पड़ी। शोभजी की आन्तरिक निष्ठा ने आपके अनन्य विश्वास को प्राप्त किया। सहस्रों मनुष्यों को सुलभ बोधि बनाया। उदयपुर के केशरी चन्दजी भण्डारी, जो मेवाड़ के दस हजार गाँवों के न्यायाधीश थे; शासन के कामों में अच्छी सहानुभूति रखते थे। वे श्रावक शोभजी के द्वारा समझाये हुए प्रच्छन्न श्रावक थे। शोभजी बड़े ही कर्मठ और श्रद्धावान श्रावक थे।

माधो सिंहजी

स्वामीजी के अनुयायियों में माधो सिंहजी का भी नाम युग-युग तक अमर रहेगा। आप स्वामीजी के पूर्ण विश्वासी श्रावक थे। इनकी प्रचार करने की शैली अनूठी थी। आप घी का व्यापार करते थे। छोटे-छोटे ग्रामों में घी बेचने जाते। लोग आप के घृत की परीक्षा करते। उस समय भी आप जन मानस में एक भावना भर देते। कहते—तुम जैसे घृत की परीक्षा करते हो, वैसे ही धर्म की भी परीक्षा करो। सुनने वालों के हृदय में धर्म की जिज्ञासा देख धर्म का मर्म समझाते। लोग इनकी खरी बात से बड़े प्रभावित होते। इस तरह माधो सिंहजी ने खूब प्रचार किया और स्वामीजी को इनका सफल सहयोग रहा।

श्रावक विजय सिंहजी पटवा

विजय सिंहजी पटवा भी गण्यमान्य श्रावकों में से एक थे। इनको बनाने में स्वामीजी को रातोंरात जागना पड़ा, पर समझाने के बाद ये बड़े निष्ठावान हुए।

एक बार स्वामीजी पाली (मारवाड़) पधारे। विजय सिंहजी पटवा और वर्धमान श्रीमाल ये दोनों ही स्थानकवासी श्रावक थे। इन्होंने मन-ही-मन एक संकल्प किया कि भीखणजी यदि हमारे प्रश्नों का समाधान दे दें, तो हम उनके हो जायेंगे। अन्यथा उनको हम अपना बना लेंगे। रात्रि का सुन्दर समय था। दोनों स्वामीजी के पास गये। प्रहर रात्रि आने के बाद प्रश्नोत्तर प्रारम्भ हुए। एक या दो घड़ी रात अवशेष रही तब चर्चा पूर्ण हुई। विजय सिंहजी समझ गये। स्वामीजी ने सन्तों को जगाया। बोले—उठो! जागो!! प्रतिक्रमण का समय आ रहा है। संत करबद्ध होकर बोले—भगवन्! आप कब जागे?

स्वामीजी ने मुस्कुराते हुए कहा—पहले यह तो पूछो—कब सोये? संत यह सुनकर चित्रलिखित से रह गये। इस तरह स्वामीजी को श्रावकों को बनाने में अपने रक्त को सुखाना पड़ा, पर बाद में ये कितने दृढ़ श्रद्धालु हुए, जिनके विषय में स्वामीजी को कहना पड़ा कि विजय सिंहजी की श्रद्धा में क्षायक सम्यक्त्व के लक्षण मिलते हैं। विजय सिंहजी स्वयं इतना प्रचार-प्रसार नहीं कर सके जितना दूसरे श्रावकों ने किया। पर उनके हृदय की प्रबल श्रद्धा व दृढ़ निष्ठा चिर भविष्य तक शासन से विचलित होनेवाले अनुयायियों के पैरों को दृढ़ करती रहेगी, बल देती रहेगी और श्रद्धावान व्यक्तियों में भी प्राण भरती रहेगी।

इस तरह स्वामीजी के अनुयायी श्रावक समुदाय और साधु समुदाय स्वामीजी की तरह ही खपने वाले और पचने वाले थे। उन्होंने जिन क्षेत्रों में अपने धर्म के जो बीज बोये वे आज वट-वृक्ष की शाखा और प्रशाखाओं की तरह फैलते हुए शीतल छाया प्रदान कर रहे हैं।

तेरापंथ संघ के द्वितायाचार्य श्री भारमलजी स्वामी

(ले०—साध्वी श्री कमलश्रीजी)

"भारमल ! तेरा मुझ से अति निकट सम्बन्ध रहा है। ४४ वर्ष हम साथ रहे हैं। तूने गुरु के प्रति अगाध श्रद्धा और भक्ति का एक निदर्शन उपस्थित किया है। तेरे सहयोग से मैंने समाधिपूर्वक संयम की आराधना की। तुम्हारे जैसे होनहार, सुविनीत, आचार-निष्ठ शिष्य को पाकर में सदा प्रसन्नचित्त रहा। मेरा भी तेरे प्रति वात्सल्य रहा। ऐसा लगता था मानो तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध पूर्व भव के संस्कारों से जुड़ा हुआ हो।"

ये शब्द आचार्य भिक्षु ने भारमलजी स्वामी के प्रति उस समय कहे जब वे इस संसार को छोड़ कर स्वर्ग की ओर प्रयाण कर रहे थे।

भगवान् महावीर और गौतम स्वामी का जो सम्बन्ध था, उसी का प्रतिबिम्ब आचार्य भिक्षु और भारमलजी स्वामी के जीवन में मिलता है। जयाचार्य ने भी इस सम्बन्ध को "वीर गोयम नी जोड़ी ए" की उपमा दी है। उनकी प्रीति प्रगाढ़ प्रेम के लिये एक उपमा बन गई। "एहवी कीजे प्रीत री, जेहवी भीखू भारीमालो ए।"

आचार्य भिक्षु और भारमलजी स्वामी साध्य के एक सूत्र से बंधे हुए थे। यह स्पष्ट है पर इससे भी आगे उनका सम्बन्ध संस्कार-जनित था। एक दूसरे से अलग होना नहीं चाहते थे। यही कारण था कि भारमलजी स्वामी आचार्य भिक्षु के जीवन भर साथ रहे। विशेष परिस्थिति वश एक चातुर्मास में वे पृथक् रहे। उस वर्ष आचार्य भिक्षु का वर्षावास सिरीयारी और आपका बगड़ी में था। दोनों स्थानों में तीन कोसों की दूरी थी। इनके बीच बहती हुई नदी दोनों के मिलन में व्यवधान उपस्थित कर रही थी। दो-तीन दिनों के अन्तर से दोनों नदी के तट पर चले आते। एक तट पर आचार्य भिक्षु खड़े रहते, दूसरे पर भारमलजी स्वामी। शिष्य वंदन करता और गुरु आशीर्वाद देते। हाथों के संकेत से एक के पास दूसरे की भावना पहुंच जाती। नदी के सूखने पर वे एक दूसरे के पास आते तथा घंटों बातें करते।

जीवन-परिचय

भारमलजी स्वामी का जन्म मेवाड़ के मुंवों गाँव में ओसवंश के लोढ़ा परिवार में वि० सं० १८०३ में हुआ। आपके पिता का नाम किसनोजी और माता का नाम धारणी था।

दसवें वर्ष आपके वैराग्य के संस्कार जग उठे। आपने पिता से निवेदन किया। पुत्र की विरक्ति देख पिता का मन भी साधना की ओर मुड़ गया। वे दोनों दीक्षा के लिए तैयार हो गये। विचारों के अनुरूप संत भीखणजी का संयोग भी मिल गया। बागोर के वट वृक्ष के नीचे पिता-पुत्र दोनों ने उनके पास दीक्षा के व्रत स्वीकार किए। चार वर्ष बीत गए। संत भीखणजी ने जिस समय आचार्य रूघनाथजी से सम्बन्ध विच्छेद किया उस समय इन पिता-पुत्र ने भी उनका साथ दिया था। आगे चलकर १३ साधुओं में भी ६ ही साधु रह गये थे। भारमलजी स्वामी उन ६ में से एक थे। वे जीवन भर आचार्य भीखणजी के साथ रहे।

पिता का त्याग

भारमलजी स्वामी सहज और सरल विनीत शिष्य थे। आचार्य भिक्षु के आदेश को वे जीवन से भी अधिक मूल्यवान मानते थे। वे सत्य के पक्षपाती एवं गुणग्राही थे। स्वामीजी को उनके उज्ज्वल भविष्य के बारे में विश्वास था। दूसरी ओर उनके पिता की प्रकृति कठोर थी। इसलिए स्वामीजी उनको अपने पास नहीं रखना चाहते थे। इस बात को स्पष्ट करने के लिये एक दिन बिलाड़ा में आचार्य भिक्षु ने कहा—भारमल ! अब हम पुनः शुद्ध चरित्र लेने जा रहे हैं। विरोध वातूल आएगा, भूख और प्यास सहनी होगी। गालियों को भी हजम करना होगा। दूसरी ओर तुम्हारे पिता की प्रकृति कठोर है। वे क्रोधी भी हैं। कम संभव है कि वे विरोधियों के कठोर वचनों को सह सकें। संयम के पूर्ण योग्य नहीं हैं, इसलिए किसनोजी को मैं साथ नहीं रखना चाहता। तुम्हारी क्या इच्छा है ? अपने पिता के पास जाना चाहते हो या मेरे पास रहना ? भारमलजी स्वामी ने श्रद्धा भरे शब्दों में उत्तर दिया—गुरुदेव ! मुझे पिता से क्या लेना ? मैंने श्रामण्य की

आराधना के लिये घर छोड़ा है न कि पिता के लिये। यदि पिता से ही मोह होता, तो मैं गृहस्थी में ही रह सकता था। साधु बनने की क्या आवश्यकता थी ? मुझे संयम से प्रेम है, आप पर मेरी श्रद्धा है। मुझे विश्वास है कि आप संयम पथ पर मुझे अग्रसर करेंगे। इस दृष्टि से आप ही मेरे पिता हैं।

१४ वर्षीय भारमलजी स्वामी की संयम-साधना की ऐसी भावना को देख कर आचार्य भिक्षु बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने किसनोजी को टटोला। आचार्य भिक्षु ने किसनोजी से कहा—तुम्हारी वृत्ति से मैं अपरिचित नहीं हूँ। मुझे लगता है तुम मेरे साथ रह कर संयम में सफल नहीं हो सकोगे। हमारा भयंकर विरोध होनेवाला है, तुम उसे पचा नहीं सकोगे। इसलिये मैं तुम्हें साथ रखना उचित नहीं समझता हूँ। यह बात सुनते ही किसनोजी का पारा चढ़ गया। क्रोध से उनकी आँखें जलने लगीं। उन्होंने आवेश भरे शब्दों में कहा—यदि मुझे साथ नहीं रहने दोगे, तो मैं अपने पुत्र भारमल को भी ले जाऊँगा। आचार्य भिक्षु शान्त स्वर में बोले—भारमल पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। वह तो तुम्हारा पुत्र है, जैसा तुम चाहो वैसा कर सकते हो।

किशनोजी आचार्य भिक्षु की ओर से निर्बाध मार्ग समझ सीधे भारमलजी स्वामी के पास गए। आदेश की भाषा में उन्होंने कहा—भारमल ! चलो, उठो यहाँ से। 'क्यों ? कहाँ जाना है', भारमलजी स्वामी ने जिज्ञासा की। उनका उत्तर था—हम भीखणजी के साथ नहीं रहेंगे। यहाँ पर हमारा कोई मूल्य नहीं है। साधुत्व के लिए और अनेक सम्प्रदाय हैं।

भारमलजी स्वामी—नहीं, मैं तो इनके साथ ही रहूँगा। आप स्वतंत्र हैं। यदि जाना चाहें, तो आप जायें।

किशनोजी—नहीं, तुम्हें मेरे साथ चलना होगा। ऐसा कहते हुए पितृत्व अधिकार से वे उन्हें बलात् ले गए।

भारमलजी स्वामी ने अपना मार्ग पहले ही चुन रखा था। वे अपने निर्णय पर दृढ़ थे। भावना व्यक्त करते हुए नम्र शब्दों में पिता से बोले—मैं भिक्षु स्वामी के पास जाना चाहता हूँ। यदि आप मुझे अपने पास रखेंगे, तो मैं रह जाऊँगा। जीवन भर आहार जल ग्रहण नहीं करूँगा।

दृढ़ भावना को बालक का आवेश समझ कर किशनोजी ने सोचा—बालक है, आज नहीं तो कल, भूख लगने पर स्वयं भोजन कर लेगा। समय बढ़ता गया, सूर्यास्त हो गया, रात बीत गई। दूसरा दिन आया और वह भी चला गया। पिता ने समझाने की चेष्टा की, पर वे सफल नहीं हो सके।

पिता कभी स्निग्ध वाणी में कहता—देखो मैं बूढ़ा होने जा रहा हूँ। आशा के सहारे मैंने तुम्हें पाला-पोसा एवं बड़ा किया। सोचा था बुढ़ापे में सेवा करेगा। आज तू मुझे छोड़ रहा है। क्या तुम्हें दया नहीं आती ? क्या तू इतने कठोर दिल का है ? बुढ़ापे में मेरी क्या दशा होगी ? कभी तूने सोचा है ? छोड़, इस बालक हठ को छोड़ और भोजन कर ले।

पिता के दयार्द्र शब्दों से पुत्र का दिल नहीं पिघला। वह अपने संकल्प में दृढ़ रहा।

जब नम्रता से कार्य की सिद्धि नहीं हुई तब पिता ने दूसरा रूप धारण किया। वे आँखों को तरेरते हुए बोले—आहार करते हो या नहीं ? मर जाएगा तो भी मैं तुझे उनके पास जाने की अनुमति नहीं दूंगा। आज नहीं तो कल-परसों खाना ही पड़ेगा ? भूख किसकी सगी है। देखता हूँ कि कितने दिनों तक आहार नहीं करता है।

कभी कहता—अविनीत ! तू जब पिता की सेवा नहीं करता है, तो दूसरों की कैसे करेगा ? इस प्रकार डराया, धमकाया पर भारमलजी स्वामी अपने संकल्प से विचलित नहीं हुए। संकल्प का तीसरा दिन भी बीत गया। अंत में पितृ हृदय भूख के दारुण दृश्य को देख न सका। वे पास आकर कहने लगे—तू भोजन करले। जैसा कहेगा वैसा कर दूंगा। यदि तू भीखणजी के पास ही रहना चाहता है, तो उनके पास रह, पर तू भूखा मत रह।

भारमलजी स्वामी को लगा इसमें भी रहस्य है। उन्होंने कहा—मैं आचार्य भिक्षु के ही हाथ से भोजन करूँगा, आपके हाथ से नहीं। हार कर किसनोजी आचार्य भिक्षु के पास आए और भारमलजी स्वामी को सौंपते हुए बोले—स्वामीनाथ ! यह लो, यह आपके पास रह कर ही साधु जीवन व्यतीत करना चाहता है। आप इसे संयम में आगे बढ़ाएँ। यह तीन दिनों का भूखा है, आपके हाथ से ही पारणा करना चाहता है। इसे भोजन कराइए और अपने पास रखिए।

भारमलजी स्वामी आचार्य भिक्षु के पास रहे और किशनोजी के अनुरोध पर आचार्य भिक्षु ने उन्हें पूज्य जयमलजी को सौंप दिया। यह थी १४ वर्षीय भारमलजी स्वामी की दृढ़ता, जिन्होंने संयम-साधना के लिए धन, सम्पत्ति और परिवार की तरह पिता का भी मोह ठुकरा दिया।

साधना का पहला अध्याय

आचार्य भिक्षु ने वि० सं० १८१७ की आषाढ़ी पूर्णिमा को विशुद्ध चरित्र ग्रहण किया। उस समय भारमलजी स्वामी ने भी जीवन के एक नए अध्याय में प्रवेश किया। उनका पहला चातुर्मास आचार्य भिक्षु के साथ ही केलवा में था। आचार्य भिक्षु के निरन्तर सहवास से उनके गुणों का विकास धीरे-धीरे भारमलजी स्वामी में भी होने लगा। साधना के शैशव में भी वे कठोर परीक्षाओं में उत्तीर्ण होते रहे।

उसी वर्षावास की घटना है। अर्धरात्रि का समय था। देह चिन्ता के लिए भारमलजी स्वामी 'अंधेरी ओरी' से बाहर आए। जब वे वापस जाने लगे, तो एक सर्प ने उनको अपने पाश में जकड़ लिया। वे घबराए नहीं, निश्चल मन वहीं खड़े रहे। उस समय उनकी उम्र १४ वर्ष की थी। उन्हें बाहर खड़ा देख आचार्य भिक्षु ने पुकारा—भारमल ! बाहर क्यों खड़े हो, भीतर आ जाओ।

उन्होंने निर्भय मन से उत्तर दिया—"गुरुदेव ! मेरा मार्ग निर्बाध नहीं है। सर्प ने मुझे रोक रखा है।" आचार्य भिक्षु तत्काल समझ गए, यह कोई देव उपसर्ग है। अन्यथा वह साँप काटकर अपना मार्ग बना लेता। वे स्वयं उठे और दरवाजे के पास आए। सर्प को देव का सम्बोधन करते हुए बोले—"यदि तुम्हारी अनुमति न हो, तो हम तुम्हारे स्थान को छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं। स्पष्ट कह दो, पर इस प्रकार उपद्रव करना कैसे उचित होगा ? उसको नमस्कार महामंत्र सुनाया। सर्प बन्धन छोड़ कर चला गया। यह थी साधना की प्रथम परीक्षा, जिसमें १४ वर्षीय बालक मरणान्तक कष्ट को सहकर हँसता-हँसता उत्तीर्ण हो गया।

जीवन पर एक दृष्टि

भारमलजी स्वामी की शिक्षा और दीक्षा आचार्य भिक्षु के सान्निध्य में ही हुई। वे बचपन से ही स्थिर योगी, प्रज्ञावान और मनन श्रमशील थे। आपने थोड़े ही समय में सहस्रों श्लोकों को (गाथाओं को) कंठस्थ कर लिया। स्वाध्याय में विशेष रुचि थी। सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद एक प्रहर रात्रि तक खड़े-खड़े उत्तराध्ययन सूत्र की २००० गाथाओं का पुनरावर्तन कर लेते थे। वे लिपिकला में भी दक्ष थे। अक्षर इतने सुडौल होते थे कि देखने के लिए मन ललचा जाता। आचार्य भिक्षु ने एक बार कहा था "भारमल ! प्रत्येक ग्रन्थ की दो प्रतियाँ लिखा कर—एक मेरे लिए और एक अपने लिए।" उन्होंने वैसा ही किया। यही कारण है कि आज प्रत्येक ग्रन्थ की उनके हाथ की दो प्रतियाँ मिलती हैं। उनकी लेखनी सतत गतिमान रही। आचार्य भिक्षु जो रचना करते, शिक्षा देते, लेख व मर्यादा बनाते, वे उनको अक्षरों में लिखकर चिर-स्थायी बना देते। उन्होंने अपने जीवन में (लगभग १० पुस्तकें) पांच-छः लाख गाथाओं का लेखन किया। तेरापंथ संघ में आज तक किसी साधु ने इतने परिमाण में लेखन नहीं किया। उनका विश्वास था कि लेखन से मन की स्थिरता बढ़ती है और समय का सदुपयोग होता है। उनका जीवन एकांगी नहीं था। वे लेखन के साथ व्याख्यान कला में भी सिद्धहस्त थे। कण्ठ सरस था और ध्वनि प्रखर थी। रात को राजनगर में दिया गया व्याख्यान पीपरड़ा में जो डेढ़ कोस की दूरी पर स्थित है, सुनाई देता था।

प्रयोगशाला

भारमलजी स्वामी का जीवन आचार्य भिक्षु की प्रयोगशाला थी। कठोर से कठोर मर्यादाओं का प्रारम्भ इसी प्रयोगशाला में होता था, जिससे अन्य साधुओं को 'ननु न च' करने का अवकाश ही नहीं रहता था। आचार्य भिक्षु उनको साधना में सबसे आगे देखना चाहते थे। एक बार आचार्य भिक्षु ने भारमलजी से कहा—भारमल ! यदि कोई भी व्यक्ति तेरे में ईर्या-समिति की स्खलना बताए, तो तुझे प्रायश्चित्त स्वरूप एकतेला (तीन दिन उपवास) करना होगा। छोटी गल्ती का इतना कठोर दण्ड क्यों ? उन्होंने यह तर्क उपस्थित नहीं किया। उनकी साधनाशील भावना ने 'तर्थेति' कह उनकी आज्ञा को शिरोधार्य किया।

बात को स्पष्ट करते हुए भारमल जी स्वामी ने पूछा—गुरुदेव ! तेला गल्ती की सत्यता पर करना होगा या मिथ्या अभियोग में भी। समाधान की भाषा में आचार्य भिक्षु बोले—तेला तो करना ही होगा। गल्ती हो तो उसका प्रायश्चित्त समझना, त्रुटि न हो, तो कर्मों का उदय समझना। जिज्ञासा का समाधान हुआ। वे उस साधना के कठोर मार्ग पर चल पड़े। गुरु

की मर्यादा ने उनको और सजग कर दिया। वे बढ़ते ही गये। इसी का परिणाम था कि उनको जीवन भर में गल्ती के रूप में केवल एक तेला करना पड़ा। उसका निमित्त भी झूठा आरोप बना, वास्तविक नहीं।

आचार्य पद

आपकी योग्यता देख आचार्य भिक्षु ने वि० सं० १८३२ के मृगसर मास में आपको युवाचार्य के पद का भार सौंप दिया। अहंकार के पोषक पद और अधिकार आपके साधनाशील मन को कभी विचलित नहीं कर पाए। गुरु-सेवा में ही उनका तन और मन अर्पित था। यही उनकी साधना का एक लक्ष्य था जिसमें वे पूर्ण सफल हुए। संवत् १८६० की भादवा सुदी १३ को आचार्य भिक्षु के दिवंगत होने पर आपने आचार्य का उत्तरदायित्व संभाला।

विहार क्षेत्र और चातुर्मास

आचार्य भारमलजी स्वामी का विहार-क्षेत्र मारवाड़-मेवाड़ और जयपुर था। उस समय तेरापंथ का उदय काल था। साधुओं की संख्या भी अधिक नहीं थी। नए प्रतिबोध प्राप्त लोगों को संभालना भी आवश्यक था। इस दृष्टि से विहार-क्षेत्र अधिक व्यापक न हो सका। अपने शासनकाल में उन्होंने निम्न स्थानों पर चातुर्मास किए :—

वि०संवत् १८६१	पिसांगण	वि०संवत् १८७१	बोरावड़
,, ,, १८६२	पाली	,, ,, १८७२	सिरीयारी
,, ,, १८६३	खेरवा	,, ,, १८७३	पाली
,, ,, १८६४	केलवा	,, ,, १८७४	नाथद्वारा
,, ,, १८६५	नाथद्वारा	,, ,, १८७५	कांकरोली
,, ,, १८६६	आमेट	,, ,, १८७६	पुर
,, ,, १८६७	बालोतरा	,, ,, १८७७	नाथद्वारा
,, ,, १८६८	पाली	,, ,, १८७८	केलवा
,, ,, १८६९	जयपुर		
,, ,, १८७०	सवाई माधोपुर		

दूरदर्शिता

आपने अपने १८ वर्षीय शासनकाल में हजारों भाई-बहिनों को तत्त्व समझाया तथा ६२ व्यक्तियों को जिनमें १८ भाई और ४४ बहिनें थीं दीक्षा देकर संयम के कठोर पथ का पथिक बनाया। हेमराज जी स्वामी के शब्दों में—

आछो उपकार मेवाड़ देस में, होजी हुवे हद श्रीकार,
हजारां नरनारी समझिया, केइक थया अणगार।

उनका विश्वास था कि बालिकाओं को सत्य का मर्म समझाने से धर्म की वृद्धि अधिक होती है। अविवाहित अवस्था तक पीहर और बाद में ससुराल, दोनों स्थानों में उनके सम्पर्क से लोग धर्म के मर्म को समझते हैं। माता बनने पर उनकी सही समझ सन्तान को भी प्राप्त होती है।

अनुशासन प्रेमी

आचार्य भारमल जी स्वामी आचार्य होने के नाते कम बल्कि वे स्वभाव से ही अधिक अनुशासक थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन आचार्य भिक्षु के कठोर शासन में खपाया था। वे किसी भी आदेश को छोटा नहीं समझते थे। उनकी मान्यता में आदेश कोई छोटा या बड़ा नहीं होता था। आदेश आदेश है, उसका पालन अनिवार्य है। अनुशासनहीन संगठन आखिर कब तक चल सकता है?

एक बार की घटना है—संत मोजीरामजी विहार कर रहे थे। आचार्य भारमलजी राजनगर में थे। वे आचार्य के दर्शनार्थ आ रहे थे। मार्ग में लावासरदारगढ़ आया। वे वहाँ की स्थिति से अपरिचित थे। इसलिए वहाँ कुछ अधिक दिन ठहर गए। आचार्य भारमलजी ने इस कार्य को अपनी दृष्टि के प्रतिकूल समझा और अनुशासन का भंग माना। जब वे राजनगर में पहुँचे, दर्शन किए, उस समय आचार्य भारमलजी ने उपस्थित संतों को आदेश दिया कि वे मोजीरामजी को वंदन न करें। साधु आचार्य श्री की सेवा में बैठे रहे। वे न तो खड़े हुए और न उन्होंने आगन्तुक संत मोजीराम आदि के बोझ

लेने का ही प्रयास किया। मोजीरामजी ने वातावरण को पढ़ा तो उन्हें अनुभव हुआ कि आचार्य की दृष्टि कुछ और है। वे कारण न समझ सके, पर मुख म्लान हो गया। चेहरे पर चिन्ता की रेखा खिंच गई। उत्साह का स्थान शोक ने ले लिया। उन्होंने आगे बढ़कर वंदन तथा गुरु का चरण स्पर्श किया, पर गुरु ने न तो वत्सलता दिखाई और न मस्तक पर हाथ ही रखा। वे इस अकृपा का कारण जानना चाहते थे। अतः उन्होंने नम्रता भरे शब्दों में प्रार्थना की—गुरुदेव ! यदि भूल से कोई अपराध हुआ हो, तो क्षमा करें। गल्ती का दण्ड दें, उसे स्वीकार करूँगा, पर यह अकृपा भाव मुझसे नहीं सहा जाता। उनकी सरलता देख आचार्यश्री का मन सहम गया। अनुशासन के शब्दों में बोले—किसकी आज्ञा से तुम लावासरदारगढ़ गए और वहाँ इतने दिन ठहरे ? मोजीरामजी के पास मौन के सिवाय कोई उत्तर नहीं था। उन्होंने सिर को झुकाकर अपने अज्ञान का अनुताप किया तथा भविष्य में पुनः ऐसी गलती न करने का विश्वास दिलाया। तब आचार्य ने साधुओं को आदेश दिया कि वे मोजीरामजी को वंदन करें। सारा वातावरण मधुर प्रेम से भर गया।

सुझाव का सम्मान

आप समयज्ञ थे और आचार्य भी थे। विद्या और पद का योग पाकर भी वे अहंकार से कोसों दूर थे। जो कुछ मैंने किया वही ठीक है, ऐसा आग्रह नहीं था। अच्छे सुझावों के चिंतन के लिये मस्तिष्क का द्वार सदा खुला रहता था। आपने अपने उत्तराधिकारी के लिए दो साधुओं के नाम लिखे—खेतसी और रायचन्द। दोनों परस्पर सम्बन्धित थे, मामा और भानजा। सोचा दोनों स्वयं तय कर लेंगे। सभी साधुओं ने सुना पर सप्तदश वर्षीय जीतमलजी स्वामी को यह न जँचा। वे आचार्य के पास आए और उन्होंने नम्रता से प्रार्थना की—उत्तराधिकारी के लिए एक नाम होना चाहिए। उन्होंने सरलता से उत्तर दिया—मामा-भानजे ही तो हैं ?

फिर प्रार्थना की—आपका विचार ठीक है। यह मेरा नम्र सुझाव है कि नाम एक रहे तो अच्छा हो, चाहे किसी का हो। आचार्यजी को बात जँच गई। पद के क्षेत्र में संबंध टूटते देर नहीं लगती। उसी समय बालक के सुझाव का सम्मान कर उन्होंने एक नाम रायचन्दजी का रख दिया।

तपस्वी जीवन और अन्तिम अवस्था

आचार्य भारमलजी का प्रथम और अन्तिम चातुर्मास केलवा में ही हुआ। प्रथम चातुर्मास आचार्य भिक्षु के साथ और अन्तिम आचार्य अवस्था में। चातुर्मास से पूर्व आपका शरीर अस्वस्थ रहने लगा। संतों से कहा—अब मैं तपःसाधना में अपने जीवन को खपाना चाहता हूँ।

संतों की हार्दिक सहानुभूति प्राप्त कर वे तपःसाधना में लग गए। सर्व प्रथम वैशाख वदी अष्टमी से दशमी तक तेला—तीन दिन का उपवास किया। फिर तो वे उपवास, बेला, तेला और चोला—चार दिनों का उपवास करते रहे। आषाढ़ शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक १० दिन का उपवास किया। पूर्णिमा रविवार को पारणा में अल्पाहार किया। चातुर्मास के प्रारंभ में तेला किया। फिर बेला, उपवास, ऊनोदरी तप, एकान्तर तप, लगातार दो दिनों तक न खाना आदि विविध-तपस्याएँ करते रहे। मुनि खेतसी जी, मुनि रायचंदजी, मुनि जीवोजी, मुनि रामचंदजी, मुनि विरधोजी, मुनि हीरजी, मुनि मोवजी, मुनि जीवोजी (छोटा) इन अष्ट मुनियों ने आपकी तन, मन से सेवा की।

• चातुर्मास समाप्ति के बाद भी आपको अस्वस्थता के कारण केलवा और रुकना पड़ा। इधर साधु-साध्वियां दर्शनार्थ आने लगे। कभी-कभी वे अपनी अस्वस्थता को भूल कर एक प्रहर तक संत-सतियों को शिक्षा देते। उनकी अंतिम शिक्षा थी—साधु-साध्वियो ! तुमने शुद्ध संयम को स्वीकार किया है, इसलिए उसकी अन्त तक शुद्ध मन से आराधना करना। ईर्या-समिति (चलने) और भाषा-समिति (बोलने) का विशेष ध्यान रखना। परस्पर विशेष प्रीति रखना। हास्य और कुतूहल कभी मत करना। मैंने संत खेतसी और हेमराजजी की सलाह से ब्रह्मचारी रायचंदजी को अपना उत्तराधिकार दिया है। तुम उसकी आज्ञा का अखण्ड पालन करना। इसके बाद उन्होंने श्रावक-श्राविकाओं को भी शिक्षा दी।

कुछ स्वस्थ होने पर वे राजनगर आ गये। वहाँ पर मालवा से आकर साध्वियों ने दर्शन किया। उनसे सुख पृच्छा करके वहाँ की स्थिति को ध्यान से सुना। तदनन्तर अस्वस्थता बढ़ने से आपने तिविहार अनशन [illegible]या। नौ प्रहर के अनशन के बाद माघ कृ[illegible] अष्टमी को आपका स्वर्गवास हुआ। उनके जीवन के पृष्ठों को उलटने से मि[illegible]गा कि उनको प्रशंसा की प्यास नहीं थी। वे [illegible] से दूर रह कर आत्म-साधना में रत रहते थे। जिस साधना के लिये चले थे, उसमें वे पूर्ण सफल हुए।

तेरापंथ के तृतीय आ० श्री रायचन्दजी स्वामी

(ले० साध्वी श्री जयश्री)

जन्म और मृत्यु —प्रत्येक देहधारी का साधारण क्रम है। किन्तु इस साधारणता में जो कुछ भी असाधारणता उत्पन्न कर दे, वही संसार की दृष्टि में महान् होता है। आचार्य श्रीमत् रायचन्दजी को भी यदि उन महापुरुषों की कोटि में रखें, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इन्होंने तेरापंथ की श्री-वृद्धि में अपना सर्वस्व समर्पित कर अपने आपको कृतपुण्य माना और तेरापंथ के इतिहास में कार्यनिष्ठा और नीतिज्ञता के सुनहरे पृष्ठ जोड़े। ऐसे महापुरुष के जीवनदर्शन पर मुझे कुछ लिखने का अवसर मिला, यह में अपना सौभाग्य मानती हूँ।

आपका जन्म वि० सं० १८४७ में रावलियां ग्राम (राजस्थान) के एक सम्पन्न परिवार में हुआ। पिता का नाम चतुरोजी और माता का नाम कुशलांजी था। दोनों ही सरल एवं शान्त प्रकृति के थे। धार्मिक संस्कार दोनों में मानो कूट-कूट कर भरे थे। ऐसे धर्मनिष्ठ परिवार में होनेवाली सन्तान भी तदनुरूप हो, यह स्वाभाविक ही है। आपका शारीरिक गठन भी असाधारण था। अवयवों की कोमलता, आँखों में प्रतिपल छलकने वाला निश्छल प्रेम, वाणी का माधुर्य और अधरों पर मुस्कान की स्फुट रेखाएँ सहज ही प्रत्येक हृदय के लिए आकर्षक थीं। इसके साथ-ही-साथ मानसिक विशदता तथा संस्कारों की पवित्रता से ओत-प्रोत अन्तर मानस ने मानो उनके सौन्दर्य को द्विगुणित कर दिया था।

बीज रूप में प्राप्त वंशानुगत संस्कार समय पाकर शतशाखी के रूप में उभरने लगे। यह सच है कि शैशव काल विचारों की दृष्टि से या यों कहिये निर्णय की दृष्टि से अपरिपक्वता व अस्थिरता का होता है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उस समय पड़े हुए संस्कार ही भविष्य के लिए नींव के पत्थरों का काम करते हैं। उनके उस समय जमे हुए संस्कार साधारण कार्यों में भी परिलक्षित होने लगे। बाल्य काल की सहज रम्य चपलता और क्रीड़ाओं की उपेक्षा कर आपने अपने प्रारंभिक क्षणों में प्रौढ़त्व को प्रश्रय दिया। बचपन में भी उस शांत व गंभीर मुद्रा को देखकर सहज ही रघुवंश का वह श्लोक स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता था—"तस्य धर्मरतेरासीद्, वृद्धत्वं जरसा विना"। इसीलिए अवस्था की अपेक्षा आप अधिक विवेकशील थे यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

११ वर्ष के अल्प वय में ही आपने तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से दीक्षा ली। दीक्षा का मूल प्रेरणा-स्रोत साध्वी श्री बरजूजी से उद्भव हुआ। वे एक कुशल व हृदय-स्पर्शी प्रवचन करनेवाली साध्वी थी। रायचंदजी प्रायः उनका व्याख्यान सुनते। फलस्वरूप संयम की भावना तीव्र हो उठी। वे विरक्त बने और आगे बढ़ने के लिए दृढ़-संकल्पी हुए। किन्तु माता की अमित ममता और पिता के वात्सल्य को ठुकराना भी तो सहज नहीं था। काष्ठ को भी छेदनेवाले भ्रमर के लिए कमल का कोमल बन्धन कितना अछेद्य होता है, यह किसी से छिपा नहीं। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी वे माता-पिता के समक्ष अपनी भावना व्यक्त करने में असफल रहे। किन्तु अन्त में एक दिन साहस करके आपने माँ के समक्ष अपने हृदय की बात रख ही दी; क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं था। माँ ने सुना। उदासीनता की अकल्पित रेखाएँ सहज ही उनके मुख पर उभर आई। वह गंभीर मुद्रा में बोलीं—तू अभी बच्चा है। श्रामण्य के उस अनजाने पथ पर कैसे चल सकेगा ? फिर मेरे बिना तू अकेला रहेगा भी कैसे ? बाल मन ने साहस बटोरते हुए कहा—माँ ! तुम भी कैसी भोली बातें कर रही हो। मैं इतना अनजान थोड़े ही हूँ कि यह भी न जानूं कि साधुत्व क्या है ? तुम से दूर तो अब मुझे ऐसे भी रहना पड़ेगा। जब मैं स्कूल जाऊँगा या व्यापार के लिए कहीं अन्यत्र जाऊँगा तो तुम मेरे साथ तो नहीं रह सकोगी। जब मेरा मन विरक्त ही हो गया तब ऐसा कोई कार्य नहीं, जो मैं नहीं कर सकता। बालक के विवेकपूर्ण उत्तर को सुनकर माँ चुप हो गई। बालक की विरक्ति ने उसके मन को झकझोर दिया। उसने अपनी और बालक की अवस्था की तुलना की तो उसे अपने आप पर ग्लानि हुई। जिसको अपनी संतान से अधिक धर्मनिष्ठ होना चाहिए था, वह आज अपने आपको हीन अनुभव कर रही थी। इसी आत्मग्लानि ने उसके मन में भी विराग का अंकुर उत्पन्न कर दिया। उसने तब बालक को स्वीकृति देते हुए साथ में स्वयं भी दीक्षित होने की बात रख दी। पुत्र ने जब माँ के भी ये विचार सुने, तो हर्ष से उसका दिल

बाँसों उछलने लगा। किन्तु दोनों के सम्मुख यह प्रश्न भी था कि चतुरोजी (रायचन्दजी के पिता) के पास यह बात कैसे रखी जाय।

किन्तु रायचन्दजी की प्रथम सफलता ने उनके उत्साह को द्विगुणित कर दिया था। वे अपनी माँ के साथ पिता के पास पहुँचे और उन्होंने सारी स्थिति स्पष्टतया उनके समक्ष रख दी। पिता सुनकर अवाक् रह गये। वार्धक्य का चक्र-व्यूह जहाँ उनके सामने मुंह बाये खड़ा था, वहाँ उन्हें यह भी विश्वास था कि उस व्यूह से लोहा लेनेवाला कोई-न-कोई अभिमन्यु भी है। किन्तु पुत्र की इस अकल्पित भावना ने उनके धैर्य के बाँध को तोड़ दिया और वे अपने आप को न संभाल सके। उनके लिए यह मर्मान्तिक पीड़ा बिलकुल असह्य थी। किन्तु वे केवल स्वार्थ-लिप्सु ही नहीं थे, मानव-हृदय के सच्चे पारखी भी थे। अत: श्रामण्य की बिभिषिकाएँ दिखाते हुए उन्होंने रायचन्दजी के हृदय की गहराई को मापना चाहा। यह प्रसिद्ध ही है कि स्वर्ण को जितनी बार तपाया जाएगा, वह उतना ही अधिक निखरेगा। उनके प्रत्येक परीक्षण में वे खरे उतरे। अन्ततः चतुरोजी ने भी उनके उज्ज्वल और पवित्रतम भविष्य को देखते हुए उन्हें संयम पथ पर बढ़ने की अनुमति दे दी। फिर सं० १८५७ की चैत्र पूर्णिमा को आचार्य भिक्षु के कर-कमलों द्वारा आपका और आपकी माता का दीक्षा संस्कार संपन्न हुआ।

दीक्षा के पश्चात् वे केवल ३ वर्ष ही आचार्य भिक्षु के निकट रहे। किन्तु उस अल्प आयु में और उस अल्पतम अवधि में भी उन्होंने जिस विवेकशीलता का परिचय दिया, उसे देखकर आचार्य भिक्षु के मुख से स्वयं निकल पड़ा कि यह तो आचार्य पद के योग्य लगता है। अत: आ० भिक्षु का अनुमान तेरापंथ के तृतीय भाग्य विधाता के रूप में साकार हुआ। विनयशीलता रायचन्दजी का सहज गुण था। वे गुरुदेव के प्रत्येक आशय को समझने और तदनुकूल कार्य करने का प्रयास करते। स्वामीजी भी उनकी प्रखर प्रतिभा और विवेक सम्पन्नता पर मुग्ध थे। स्वामीजी उन्हें ब्रह्मचारी कह कर पुकारा करते थे। स्वामीजी की अन्तिम अवस्था में शरीर की स्थिति देखकर बालक साधु रायचन्दजी स्वामी ने ही यह कहा था कि अब तो शरीर के पुद्गल ढीले पड़ते नजर आ रहे हैं। उनकी इसी बात पर स्वामीजी ने भारमलजी स्वामी आदि को बुलाया और आजीवन अनशन करने के विचार को कार्य रूप दिया। अपने अन्तिम समय को नजदीक देखते हुए स्वामीजी ने बालक रायचन्द स्वामी को साहस दिलाते हुए कहा था—ब्रह्मचारी ! मेरे प्रति किसी प्रकार का मोह मत करना। इस पर रायचन्दजी स्वामी ने अतिशय नम्र होते हुए कहा था, "प्रभो ! आप अपना कार्य सिद्ध कर रहे हैं, फिर मैं मोह क्यों करने लगा ?" इस उत्तर से पता लगता है कि बाल्यावस्था में भी उनमें जिस धैर्य, आत्म-विश्वास और निर्लिप्तता की विशेषता थी, वह अन्यत्र विरले ही मिलती है। स्वामीजी के पश्चात् वे भारमलजी स्वामी के पास भी वैसी ही नम्रता के साथ रहे थे। उन्होंने गुरु-शिष्य परम्परा को बहुत ही सुन्दर रूप से वहन किया था। सं० १८७७ में राजनगर में वे युवाचार्य बनाये गये थे और सं० १८७८ में द्वितीय आचार्य श्री भारमलजी के स्वर्गवास होने के पश्चात् अपने निखरते व्यक्तित्व को लिए आचार्य पद पर आसीन हुए।

सफल नेता वही होता है जिसे नेतृत्व की भूख नहीं होती, अपितु जिसे समाज स्वयं ही उसके स्वभावगत गुणों से आकृष्ट होकर नेतृत्व संभालने को बाध्य करता है। जो अपनी अहंता के बल पर समाज को अपना नेतृत्व स्वीकार करने को विवश करे, वह अपने अहंबल (जिसको मैं पाशविक बल ही कहूँगी) से सत्ता प्राप्त कर सकता है, किन्तु हृदय नहीं। वह समाज के सुखों और दु:खों के साथ एकात्म स्थापित नहीं कर सकता। इसलिए वह एक सफल व कुशल शासक नहीं बन सकता। स्वामी रायचन्दजी एक सफल अनुशासक थे; क्योंकि उनमें वे सभी गुण सहज ही आत्मगत थे जिनका एक सफल नेता में होना अनिवार्य है। वे एक निर्भीक प्रकृति के आचार्य थे। लोग जिन्हें भयंकर मानते, वैसे व्यक्ति भी उनकी ओजस्वी और चोट करती हुई बातों से दब कर नम्र हो जाते थे। यात्रा के दिनों की बात है। जैन मुनि की यात्रा वर्षा-वास के अतिरिक्त निरन्तर चालू रहती है। आप एक गाँव से दूसरे गाँव जा रहे थे। कुछ साधु आप से आगे निकल गये थे। थोड़ी ही दूर पर उन्हें कुछ डाकू मिले। उन्होंने संतों से सामान रख देने को कहा। इस पर एक साधु अपना कंबल बिछाकर उसपर बैठ गया। डाकू ने उसे खींच कर निकाल लेना चाहा। पीछे से आते हुए रायचन्दजी स्वामी दूर से ही यह सब देखकर डाकुओं की करामात समझ गये। उन्होंने वहीं से दहाड़ते हुए कहा, "है रे कोई राजपूतणी रो जायो, या सारा गोला ही गोला भेला हुआ है ?" (कोई सच्चा राजपूत का पुत्र भी है या सभी गोले ही गोले

इकट्ठे हुए हैं) । शब्द में अनन्त शक्ति होती है; और ये तो एक सफल तीरंदाज के तरकस से निकले हुए तीर के समान चोट करने वाले शब्द थे । सभी ने सुना और स्तंभित से रह गये । फिर उनमें से एक जो राजपूत था और उनका नेता था निकट आकर बोला, "कहिये महाराज ! आपको राजपूत से क्या मतलब है ?" आपने कहा, "तुम्हारे शरीर में एक राजपूत का खून है, फिर भी तुम्हें शर्म नहीं आती कि सन्तों के साधारण सामान पर भी तुम अपना हाथ डाल रहे हो। संतों के पास आखिर है क्या ? क्या धन या अन्य कोई मूल्यवान वस्तु भी है, जिसके लिए तुम लोगों ने उनको भी नहीं छोड़ा ? केवल पढ़ने-लिखने की वस्तुएँ और साधारण ओढ़ने-बिछाने के वस्त्रों के अतिरिक्त तुम्हें उनके पास मिलेगा भी क्या ?" वह बेचारा शर्मिन्दा होकर पैरों में गिर पड़ा और बोला, "महाराज ! आज तो गल्ती हुई, किन्तु अब फिर ऐसा कभी नहीं होगा।" इतना ही नहीं अपितु उसने अपना एक आदमी भी सन्तों के साथ भेजा ताकि पीछे आते हुए उनके साथियों में से फिर कोई ऐसी गल्ती न कर बैठे। यह छोटी-सी घटना इंगित करती है कि वे कितने निर्भीक तथा व्यवहार कुशल व्यक्ति थे।

उनके जीवन के एक और दूसरे लघु संस्मरण से यह स्पष्ट होता है कि उनकी नीतिमत्ता कितनी अनावृत थी। प्रायः मनुष्य में अपना दौर्बल्य छिपाने का व्यामोह होता है; क्योंकि वह प्रतिपल यही सोचता है कि मेरा ऐसा कोई कार्य कहीं उद्घाटित न हो जाय, जिससे मेरे अहं को धक्का लगे। किन्तु महान् वे होते हैं, जो अपनी अहंता को अपने पर हावी नहीं होने देते प्रत्युत् अपने नियंत्रण में रखते हैं। हाँ तो सं० १८७९ की यह घटना है। सायंकाल का समय था। अम्बर में श्यामल मेघों के घटाटोप से यह अनुमान लगाना भी असंभव-सा हो गया था कि सूर्य के अस्त होने में कितनी देर है; क्योंकि जैन साधु सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करते। अतः आपने कहा, "साधुओ ! एक बार सभी ठहर जाओ। मैं ऊपर जाकर निरीक्षण करता हूँ कि सूर्यास्त में कितनी देर है।" इतना कह कर सूर्य को देखने के लिए आप मकान की भित्ति पर चढ़े। सूर्यास्त में अभी काफी देर थी, अतः आपने संतों को आहार करने की अनुमति दे दी। पड़ोस में एक गान्धी परिवार रहता था जो कट्टर विद्वेषी था। उसने अपने जीवन में न जाने कितने मिथ्या आरोप तेरापंथ पर लगाए थे। उसने जब स्वयं आचार्य रायचन्दजी को ऊपर चढ़ते हुए देखा तो पूछ लिया, "क्यों आचार्यजी ! आज मकान की भित्ति पर क्यों चढ़े हैं ?" आपने सहज-भाव से उत्तर दिया, "यों ही बादलों के कारण मकान में कुछ अन्धकार अधिक हो गया था, इसलिए सूर्यास्त का संशय होने लगा था। सूर्यास्त में कितनी देर है, यही जानने के लिए ऊपर चढ़ा हूँ।" इस साधारण-सी बात ने युग-युग से परिपालित विद्वेष-ग्रन्थियों को जड़ों से हिला दिया; क्योंकि तथ्य केवल घटना तक ही सीमित नहीं रह जाता, बल्कि वह अन्तर गर्भित नीतिमत्ता और आचारकुशलता की गहराई तक पहुँचना चाहता है। मकान के अन्दर भोजन करने से उनको कौन मना कर सकता था ? एक आचार्य अपने नियमों की सत्यता से प्रेरित होकर ही भीत पर चढ़े थे। गुपचुप में चल सकनेवाली ढिलाई उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। इस प्रकार इस छोटी-सी घटना ने उस भाई के हृदय में एक ऐसी भावना भर दी, जिसमें सत्य के प्रति अखण्ड आस्था थी और सिद्धान्तों के प्रति अटूट विश्वास। वह विद्वेषी से भक्त बन गया। उसका सारा परिवार भी भक्त बन गया। इस घटना से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि नीतिमत्ता और अन्तर-बाह्य की एकरूपता के आधार पर ही धार्मिक संगठन चलते तथा वृद्धि पाते हैं।

आचार्य रायचन्दजी स्वामी लकीर के फकीर नहीं, अपितु अपने आप में एक वैचारिक क्रांति लिए हुए थे। उन्हें अपने कर्त्तव्य पथ से कोई बाधा विचलित नहीं कर सकती थी। एक बार उन्होंने अपना विहार निश्चित करके घोषणा कर दी थी। जिस दिन प्रस्थान करना था ज्योतिष के अनुसार वह निषेध तिथि थी। मेवाड़ के उच्चारण के अनुसार किसी मेवाड़ी ने निवेदन किया कि आज तो विहार नहीं होना चाहिए, नखेद तिथि है। किन्तु जब आपने यह सुना तो तत्काल अपनी प्रत्युत्पन्न मति का परिचय देते हुए कहा, "जब कि यह तिथि नखेद तिथि है, तो फिर हमें खेद करने की कहाँ आवश्यकता है ? 'नखेद' का अर्थ होता है जिसमें कोई खेद न हो। इससे तो यही सिद्ध होता है कि हमें विहार में कोई खेद या कष्ट नहीं होगा।" उन्होंने अपने निर्णयानुसार प्रस्थान कर दिया और उनकी वह यात्रा सचमुच ही बिना किसी खेद के सम्पन्न हुई।

महान् व्यक्तियों के लिए कहा जाता है कि वे दूरदर्शी होते हैं। प्रत्येक सूक्ष्मतम संकेतों के आधार पर भी वे अपनी दूरदर्शिता से भविष्य के उन अनागत तथ्यों को प्रकट कर देते हैं, जिनको सुनकर सामान्य व्यक्ति विश्वास भी नहीं कर सकता। किन्तु ऐसा होता है, यह निःसंदेह है। आपके उत्तराधिकारी श्रीमज्जयाचार्य आपसे सैकड़ों मील दूर थे। वहाँ उन्होंने मघवागणी (पंचम आचार्य) को दीक्षा दी। आचार्य रायचन्दजी ने यह सुना। ठीक

उसी समय पास में बैठे हुए एक साधु ने छींका। आपने कहा, "यह साधु अच्छी योग्यता वाला होना चाहिए।" तभी उसने दूसरी बार छींका तो आपने फिर कहा, "यह साधु अधिक योग्य और दीप्तिवान होगा।" इतने में उसने फिर छींका तो आपके मुख से निकल पड़ा, "यह साधु तो संघ का भार संभालने योग्य होगा।" यह अंकन बिलकुल सही निकला। देश, काल और परिस्थिति की इतनी दूरी के बावजूद और साधारण निमित्त के सहारे भी व्यक्ति के अनागत व्यक्तित्व को यथार्थ रूप में परखना एक अपूर्व विलक्षणता है। किन्तु आप में ये गुण सहज रूप में विद्यमान थे और इसीलिए आप महान् बने। क्रियाशीलता, नेतृत्वकला, अन्तर-हृदय को परखना आदि न जाने कितने गुण आपके अप्रतिम व्यक्तित्व को निखारनेवाले थे।

स्वाध्याय, अध्ययन और तपस्या ये साधुत्व के प्रमुखतम अंग हैं। कंठस्थ-प्रणाली भारत की प्राचीनतम प्रणाली है, जिसके आधार पर साधक ज्ञानाराधन के साथ-साथ जीवन के उच्चतम लक्ष्य के लिए प्रतिपल अप्रमत्त होकर विचरण करता है। एक-एक क्षण की अप्रमत्ता ही साधक को सिद्ध बनाती है। यह जैन-दर्शन का अपरिहार्य तत्त्व है, जो प्रत्येक भिक्षु को उसकी दीक्षा के समय जन्म-घूंटी के रूप में दिया जाता है। लम्बी-लम्बी पदयात्राओं में भी जैन साधु ज्ञानाराधन और अन्य मौलिक कार्यों में संलग्न रहते हैं। यह इसी का परिणाम है। आपने अपने जीवनकाल में बहुत लम्बी यात्राएँ कीं। मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान आदि प्रान्तों की पैदल यात्रा में भी आप जैन-वाङ्मय का विलोड़न करते रहे। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आवश्यक, बृहत्कल्प आदि जैन आगमों को कंठस्थ कर आपने प्राचीन मुखस्थ-परम्परा का आदर्श रखा।

आपके शासनकाल में संघ में दीर्घ तपस्या का सूत्रपात हुआ। तीन साधुओं ने एक साथ छः मास की लम्बी तपस्या 'आछ' (छाछ को गरम करने से एक प्रकार का पानी-सा जो ऊपर आता है) के आधार पर की। भगवान् महावीर के पश्चात् ऐसी दीर्घ तपस्याएँ इतिहास के पृष्ठों पर विरले ही मिलती हैं।

इस प्रकार तेरापंथ की श्री वृद्धि में चार-चाँद लगाते हुए आप ६२ वर्ष की अवस्था में सं० १९०८ की माघ कृष्णा चतुर्दशी को स्वर्ग सिधारे। आपने निम्नलिखित स्थानों पर अपने चातुर्मास किये :—

पाली में १२, श्री जी द्वार में ८, जयपुर में ७, उदयपुर में ४, लाडनूं, बीदासर व सिरियारी में २–२, केलवा में ३, और पीसांगण, खेरवा, पेटलावद, कांकरोली, गोगुन्दा, आमेट, माधोपुर, बालोतरा, बेरावड़, पीपाड़ तथा पुर में १-१।

तेरापंथ साहित्याकाश के उज्ज्वल नक्षत्र, चतुर्थ आ० श्री जीतमलजी स्वामी

(ले० मुनि श्री सुखलालजी)

अठारहवीं सदी के दूसरे दशक में आचार्य भिक्षु जैन परम्परा में एक नये उन्मेष के साथ अवतरित हुए। उन्होंने अपने जीवनकाल में कुछ ऐसे संकेत-बिन्दु युग के सामने रखे कि लोगों की दृष्टि अनायास ही उन पर टिके बिना नहीं रह सकी। आचार, विचार तथा संगठन की उनकी सूझ-बूझ अपने ढंग की एक निराली ही थी। फिर भी उनका कार्यक्षेत्र अधिक विस्तृत नहीं हो पाया। सौ वर्षों के बाद उनके चतुर्थ उत्तराधिकारी आ० जीतमलजी (जयाचार्य) के रूप में संघ को पुनः एक प्रतिभाशाली नेतृत्व मिला। श्रीमज्जयाचार्य की प्रतिभा अत्यन्त बहुमुखी तथा प्रखर होने के कारण वे द्वितीय भिक्षु ही कहे जाने लगे। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जयाचार्य आ० भिक्षु के एक कुशल भाष्यकार थे। आ० भिक्षु ने जो कुछ कहा, उसका जयाचार्य ने इतने सुन्दर ढंग से भाष्य कर दिया कि कई स्थानों पर तो सहसा एक शंका हो जाती है कि यह जयाचार्य का वाक्य है या आ० भिक्षु का। सचमुच वे आ० भिक्षु के जीवन में इतने समा गये थे कि उनसे अलग उनकी कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती। संगठन की दृष्टि से तो उन्होंने संघ को बहुत कुछ दिया ही था, पर साहित्याराधना की दृष्टि से उन्होंने जो कार्य किया, वह युग-युग तक जैन-परम्परा में आलोक स्तंभ का काम करेगा। सम्प्रति हम उनके साहित्यिक जीवन पर थोड़ा प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

साहित्यकार बनाया नहीं जाता, स्वयं बनता है। ठीक इसी प्रकार जयाचार्य भी स्वयं जात और जन्मसिद्ध साहित्यकार थे। ११ वर्ष की शैशवावस्था में, जब कि बच्चे पढ़ने में व्यस्त रहते हैं, उन्होंने 'संत गुणमाला' नाम के एक काव्य का निर्माण कर दिखाया था। तदनन्तर उनका शास्त्र-स्वाध्याय और साहित्य-निर्माण साथ-साथ चलता रहा। इसी बीच जब वे १८ वें वर्ष में पहुँचे तो उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसने उनकी गति को साहित्य-सर्जन की ओर मोड़ दिया। संवत् १८७८ में, जब वे सामान्य साधु ही थे, अपना चातुर्मासिक प्रवास अन्यत्र बिताकर तृतीयाचार्य श्री रायचन्दजी के दर्शनार्थ पहुँचे, और उन्होंने अपने हाथों से रंगा हुआ एक पात्र आचार्यवर के सामने प्रस्तुत किया। उन्हें अपनी हस्तकला पर संतोष था। अतः उस आशा के अनुरूप आचार्य से उन्हें संतोष ही मिला। पर वहाँ बैठी हुई एक साध्वी (दीपांजी) ने व्यंग्य कस दिया—"पात्र को क्या दिखाते हैं, यह तो हम जैसी साध्वियाँ भी कर सकती हैं। आप तो किसी सूत्र की टीका करके लाते तो बहादुरी होती।" बस यह बात जयाचार्य के हृदय में तीर जैसी बैठ गई। दूसरे ही वर्ष जब कि उनकी अवस्था केवल १९ वर्ष की थी, उन्होंने 'पन्नवणा' जैसे गहनतम आगम का राजस्थानी भाषा में सरस पद्यानुवाद कर डाला। फिर तो उनके अन्दर का साहित्यकार जाग पड़ा और उन्होंने इतना लिखा कि अन्तिम समय तक उनका साहित्य साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण की सीमा तक पहुँच गया। सचमुच ही उनका साहित्य राजस्थानी भाषा की एक अमूल्य निधि है।

शैली और भाषा

जयाचार्य जैन-परम्परा के एक आचार्य थे। अतः अध्यात्म परिपूरित उनकी वाणी में जैन तत्त्व दर्शन ही यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिले, यह स्वाभाविक ही है। यद्यपि अनेक ग्रंथों में उन्होंने अपनी दर्शन-सिद्ध स्वतंत्र अनुभूति का भी शब्द चित्र बनाया है, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे, पर उनके साहित्य का बहुत बड़ा भाग जैन आगमों की व्याख्या तथा आ० भिक्षु के ग्रंथों का पद्यानुवाद करने में ही कृतार्थ हुआ है। उनके प्रत्येक प्रतिपादन में भगवान् महावीर के प्रति निश्चल आस्था और भक्ति स्वयं फूट पड़ी है। उनकी कविता माधुरी का परिणमन प्रसाद गुण प्रधान है। वे जिस विषय को छूते उसकी पुष्टि के लिए प्रमाणों के इतने ढेर लगा देते कि पढ़ने वाले को लगता मानो सारे आगम ही उसके सामने पड़े हैं। मिथ्यात्वी की धर्माराधना भगवान् की आज्ञा में है या नहीं, इस विषय को लेकर अपनी एक कृति 'प्रश्नोत्तर सार्धशतक' में एक जगह वे शास्त्रीय प्रमाण देते हुए कहते हैं—

प्रश्न—कोई कहै प्रथम गुण ठाणा रा धणीरी निरवद्य करणी आज्ञा माहे के बारे ?

उत्तर—(१) श्री भगवती शतक ८ उ० १० ज्ञान बिना करणी करे तिण ने देश आराधक कह्यो; (२) तथा ज्ञाता अध्ययन १ मेघ कुमार नो जीव हाथी ने भवे दया करी परित्त संसार करी, मनुष्यनो आउखो बांध्यो कह्यो; (३) तथा विपाक प्रथम सुख विपाक में, सुमुख गाथा पति सुदत्त अणगार ने दान देइ परित्त संसार करी, मनुष्य नो आउखो बांध्यो कह्यो; (४) तथा उत्तराध्ययन अ० ७ गा० २० मिथ्यात्वी ने निर्जरा लेखे सुव्रती कह्यो; (५) तथा भगवती श० ३ उ०१ तामली नी अनित्य चितवणा कही; (६) तथा पुष्फीया उपांगे अ० ३ सोमल ऋषिनी अनित्य चितवणा कही; (७) कोई अनित्य चितवणा ने अशुद्ध कहे तो भगवती श० १५ भगवन्त महावीर नी अनित्य चितवणा कही; (८) वलि उववाइ में अनित्य चितवणा धर्म ध्यान रो भेद कह्यो ; (९) तथा भगवती श० ९ उ०३१ असोच्चा केवली ने अधिकारे प्रथम गुणठाणा रा धणी रा शुभ अध्यवसाय शुभ परिणाम विशुद्ध लेश्या अर्थ में धर्म ध्यान अने धर्म री चितवणा कही; (१०) तथा जम्बू द्वीप-पण्णत्ती में कह्यो, भला पराक्रम थी व्यंतर सुख पाम्या ते व्यंतर में मिथ्यात्वीज उपजै; (११) तथा ठाणांग ठाणे ४ उ० २ गोशालारा स्थविरां रे ४ प्रकारे तप कह्या उग्र तप १ घोर तप २ रस परित्याग ३ रस-इन्द्री प्रति संलीनता ४; (१२) तथा उववाई में रस-इन्द्री प्रति संलीनता निर्जराना बारह भेदां में कह्यो; (१३) तथा भगवती श० २ उ० १ भगवान ने वंदणा करणरी खंधक सन्यासी ने गोतम जी आज्ञा दी थी; (१४) तथा दशवैकालिक अ० १ संयम अने तप ए बिहुं धर्म कह्या; (१५) तथा रायप्रसेणी सूर्याभना अभियोगिया ने भगवान वंदणा करवारी आज्ञा दी थी; (१६) तथा उपासग दशांग में अ० ७ सकडालपुत्र गोशाला रे श्रावक भगवान ने वंदणा की थी (१७) तथा भगवती श० ८ उ० ९ कह्यो प्रकृति भद्रिक १ विनीत २ दयापरिणाम ३ अमच्छरभाव ४ ए च्यार प्रकारे मनुष्या नो आउखो बांधे; (१८) तथा सराग संयम १ संयमासंयम २ बालतप ३ अकाम-निर्जरा ४ ए च्यार प्रकारे देवायु बांधे ए सर्वकरणी शुद्ध छै इत्यादिक प्रथम गुण ठाणारा धणी निर्वद्य करणी आज्ञा माहे कही ।

इस प्रकार एक प्रसंग पर उन्होंने अठारह प्रमाण इकट्ठे कर दिये हैं। प्रश्नोत्तर सार्धशतक में डेढ़ सौ प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। धर्म विध्वंसन, संदेह विषौषधि, प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध आदि ग्रंथों में भी इसी प्रकार प्रमाणों के ढेर पड़े हुए हैं। उनका सूत्र-स्वाध्याय कितना प्रगाढ़ था यह इससे स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि उनकी भाषा राजस्थानी थी (उसमें कहीं-कहीं गुजराती भी मिश्रित हो जाती है) उसका प्रवाह इस प्रकार समरस बहता जाता है कि पाठक उसमें बहता हुआ एक बार तो नितांत विचारक ही बन जाता है। बहुधा एक बोली कहकर राजस्थानी की लोग उपेक्षा कर देते हैं। पर राजस्थानी में कितना साहित्य रचा पड़ा है, यह अभी तक स्वयं राजस्थानियों को भी पता नहीं है। सचमुच अध्यात्मोच्छ्वास के लिए राजस्थानी भाषा एक बहुत ही समृद्ध भाषा है, जिसको प्रयुक्त कर जयाचार्य ने उसके गौरव में चार चाँद लगा दिये हैं।

जयाचार्य के गद्यांश में वाक्य बिलकुल छोटे-छोटे होते हैं। पद्यांशों में अधिकतर उन्होंने गीतिका छन्दों को चुना है, जो अपनी सरस स्वर-लहरी में दर्शन के गूढ़तम सिद्धांतों को भी एक बार सरल बना देते हैं। प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध में प्रतिमा को देखकर मन में वैराग्य-भावना उमड़ पड़ती है, इसलिए वह वन्दनीय है। इस तर्क को लेकर जयाचार्य कहते हैं—

कोइ कहै वैराग्य नो, हेतु प्रतिमा एह ।
जिन प्रतिमा देखी करी वर वैराग्य लहे ह ॥१॥

ते माटे वन्दनीक है जिन प्रतिमा जग माँह ।
हिव तेहणों उत्तर कहूँ, सांभलज्यो चित्त ल्याय ॥२॥

वृषभ देखि प्रतिबूजियो, करकंडू नरराय
दुमुह इन्द्रध्वज स्तम्भ प्रति, देख संवेग सुपाय ॥३॥

चूड़ी सूं प्रतिबूजियो, नामे नृपति तिहकाल ।
अंब देख प्रतिबूजियो, नगइ नाम भूपाल ॥४॥

उत्तराधियण इकवीस में, समुद्रपाल संवेग ।
पायो तस्कर देखनें , देखो तज उद्वेग ॥५॥

संवेग पाठ तणो अर्थ, अवचूरी में ख्यात ।
संवेगनां हेतु भणी, संवेग चोर कहात ॥६॥

["तंपासिऊण संवेगं, समुद्दपालो इण मब्बवी। अहो असुहाणं कम्माणं, निज्जाणं पावगं इमं ॥१॥ अर्थ—शास्त्र सूत्र उत्तराध्ययन अध्येन ३१ में गाथा नौमी में एहनो अर्थ अवचूरी में कियो ते लिखियै छे॥ 'तमिति तथा विधं द्रव्यं दृष्ट्वासंवेगः संसार वैमुख्यतो मुक्त्यभिलाषस्तद्धेतुत्वात् सोऽपि संवेगस्तं समुद्रपाल इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। यथा अशुभानां पापकानां कर्म्माणां निर्याणामवसानं पापकं अशुभं इदं प्रत्यक्षं असौ वराकोऽवधार्थमित्थं नीयते इति भावः' इहां कह्यो)" (दूहा)

संवेगनो हेतु कह्यो, तस्कर नें अवलोय।
पिण गुण नहि छै ते भणी, वंदण योग्य न कोय ॥७॥
वृषभादिक देखी करी, करकंडू आदेय।
बूझ्या पिण वृषभादिते, वंदनीक न कहेह ॥८॥
मुनि वेषे ते पासत्थो, तसु देखी नें सोय।
संवेग पावे पिण तिणो, वन्दन योग्य न कोय ॥९॥
तिम जिन प्रतिमा देखनें, पावै जे वैराग्य।
पिणते वंदन योग्य नहिं, देखो मत पक्ष त्याग ॥१०॥
ज्ञान दर्शन चारित्र तणां, गुण नहिं छै जे मांहि।
ते संवेगनों हेतु हुवै, पिण वन्दनीक नहिं थाय ॥११॥
मुनिवर प्रति देखी करी, द्वेष धरै मन कोय।
तो द्वेष तणो हेतु मुनि, पिण निंदनीक नहिं होय ॥१२॥
श्रवानुभूति मुनि तणां, बचन सुणी गोसाल।
कोप्यो शीघ्र उतावलो, भस्म कियो ते काल ॥१३॥
कोप तणों हेतु मुनि, पिण गुण सहिम्न सुसंत।
ते माटै निन्दनीक नहिं, देखोजी बुद्धिवंत ॥१४॥
सुनक्षत्र नां बचन सुण, धर्यूं गोसाले द्वेष।
द्वेष तणो हेतु तिको, पिण निंदनीक नहिं पेख ॥१५॥
बीर प्रभुनां बचन सुण, कोप्यो शीघ्र गोसाल।
कोपतणां हेतु प्रभू, पिण निन्दनीक मत न्हाल ॥१६॥
छद्मस्थ बीर प्रति देखनें, जन बहु द्वेष धरेह।
दुःख दिया अति आकरा, आल्यो धुर अंगेह ॥१७॥
द्वेष तणा हेतु प्रभु, पिण ते गुणां सहीत।
तिण सूं ते निंदनीक नहिं, देखो जी धर प्रीत ॥१८॥
वस्तु जे गुण सहित प्रति, देखी द्वेष लहेह।
द्वेष तणों हेतु तिको, पिण निंदनीक नहिं तेह ॥१९॥
वस्तु जे गुण हीण प्रति, देख संवेग लहेह।
संवेग नो हेतु तिको, पिण वंदनीक नहिं तेह ॥२०॥

यहाँ भी एक प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने अनेक प्रमाण इकट्ठे कर दिये हैं तथा प्रांजल पद्य-प्रवाह ने तत्त्व को इतना सुगम बना दिया है कि एक साधारण व्यक्ति भी उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। रागिनियों की वे इतनी टोह रखते थे कि जब कभी भी नई रागिनी को सुनते तो तत्काल उसे ग्रहण कर लेते थे। अनेक बार रात्रि के समय जब स्त्रियाँ अपने घरों में गीत गातीं तो जयाचार्य उस देशी राग को उसी समय धारण कर लेते और प्रातः काल उठकर उस पर अपनी नई गीतिका बना लेते थे। यही कारण है कि अनेक छोटे लोगों से देशी राग धारण करते उन्हें संकोच नहीं होता था। अनेक अवसरों पर उन्होंने डोमों से भी नई-नई राग-रागिनियाँ धारण की थीं।

एक कुशल भाष्यकार

जयाचार्य जैन आगमों के एक कुशल भाष्यकार थे। यह इससे बहुत अच्छी तरह जाना जा सकता है कि उन्होंने अकेले ही सात आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं। भगवती सूत्र जैसे अर्णव आगम पर टीका लिखकर राजस्थानी साहित्य को तो गौरवान्वित किया ही है, साथ ही जिज्ञासुओं के लिये भी उन्होंने इतनी सामग्री एकत्र कर दी है कि उसे पढ़ लेनेवाले के लिए आगे का पथ स्वयं ही स्पष्ट होता चला जाता है।

जयाचार्य से पहले तेरापंथ संघ में संस्कृत भाषा का प्रसार नहीं जैसा था। उन्होंने ही सं० १८८१ में सर्वप्रथम संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारंभ किया था। इसीलिए उन्होंने आगमों पर जो टीकाएँ लिखी हैं, उनसे ऐसा लगता है कि उनकी तत्त्वग्रहण शक्ति बड़ी ही प्रबल थी। शब्द में से अभिप्रेत अर्थ को वे इस खूबी से टटोलते थे, जो उन्नीद्र मेधा के बिना सर्वथा असंभव ही थी। अकेले भगवती (सूत्र) के अनुवाद में ८० हजार श्लोक प्रमाण पद्य हैं, जो अपनी गौरवार्हता का स्वयं प्रमाण है। कविता-शक्ति इतनी सधी हुई थी कि एक दिन में वे तीन सौ पद्य तक बना लिया करते थे। यही कारण है कि भगवती जैसे आकर ग्रंथ की टीका भी उन्होंने पाँच वर्षों में कर ली।

आ० भिक्षु के तो वे अनन्य भाष्यकार थे। उन्होंने जो कुछ लिखा उसे आधार मानकर ही जयाचार्य ने अपने साहित्य को पल्लवित किया है। वह वीथि जिसमें से होकर आ० भिक्षु निकले हैं, जयाचार्य ने अछूती नहीं छोड़ी। यदि कहीं आचार्य भिक्षु ने गद्य में लिखा है तो जयाचार्य ने उसे पद्यभूषा से अलंकृत कर दिया है। यहाँ तक कि जयाचार्य ने आचार्य भिक्षु के व्यक्तिपरक आदेश-निर्देश को भी बिना पद्याकृति दिये नहीं छोड़ा है। आ० भिक्षु ने संघ व्यवस्था के लिए कुछ मर्यादाएँ बनाईं तो जयाचार्य ने 'हाजरी' का रूप देकर उन्हें पद्यों में ग्रथित कर दिया। यदि कहीं आ० भिक्षु ने पद्य में लिखा तो जयाचार्य ने उसे आगम-समन्वित कर 'सिद्धान्तसार' के नाम से उन्हें शास्त्राधार कृति बना दिया है। सचमुच ही उस युग में जब कि तुलनात्मक अध्ययन की कोई कल्पना ही नहीं होती थी, जयाचार्य ने स्वामीजी के पद्यों को आगम ध्वनि बनाकर एक नई धारा को जन्म दिया था। अब तो तुलनात्मक अध्ययन की एक धारा ही चल पड़ी है। अनेक लोगों ने ऐसे प्रयत्न किये हैं। पर उस युग में जयाचार्य ने जो संकेत प्रस्तुत किये थे, वे निःसंदेह अपने आपमें एक अनूठे संकेत थे।

आ० भिक्षु ने संघ-व्यवस्था के लिए अनेक मर्यादाएँ बनाई थीं, पर वह सारा गद्य-भाग था। जयाचार्य ने समय-समय पर बनाई हुई मर्यादा को संकलित कर उन्हें पद्य का रूप दे दिया है। उनका पद्यानुवाद मूल से कितना सन्निकट है इसका एक उदाहरण इस प्रकार है :

ऋषि भिखन सर्व साधा नै पूछनै सर्वसाध-साधवीयां री मरजादा बाँधी ।१। ते साधां नै पूछनै साधाकना थी कहवाय नै लिखियं छै ।२। सर्व साधु साधवीं भारमलजी री आज्ञा मांहे चालणो विहार चौमासे करणो, ते भारमलजी री आज्ञा सूं करणो ।३। दिख्या देणी ते भारमल जी रा नाम दिख्या देणी ।४। चेलारी, कपड़ा री, माताकारी या खेत्तर री आदि देइनै ममता करनै ।५। अनंता जीव चारित्र गमाय नै नरक निगोद मांहे गया छै ।६। तिण सूं शिष्यादिक री ममता मिटावण रो वैनै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीवो छै ।७। विनय मूल धर्म नै न्याय मारग चालण रो उपाय कीधो छै ।८। भेलधारी विकलानै मूंड भेला करै ते शिष्यांरा भूखा एक-एक रा अवर्ण बोलै ।९। फारा, तोरो करे, कजीया राड़ करै, एहवा चरित देखनै साधां रै मर्यादा बांधी ।१०। शिष साधारो संतोष कराय नै सुखे संजम पालणरो उपाय कीधो साधां पिण इमहि ज कह्यो भारमलजी री आज्ञा में चालणो ।११। शिष्य करणाते भारमलजी रै करणा ।१२। भारमलजी घणा रजाबंध होय नै और साधनै चेलो सूं पै तो करणो बीजूं करण रो अटकाव कीधो छै ।१३। भारमलजी पिण आपरै चेलो करै ते पिण तिलोकचन्दजी चन्दरभाणजी आदि बुधवान साधु कहै ओ साधपण लायक छै ।१४।

जयाचार्य का पद्यानुवाद

—ढाल—

(लय—सीहल नृप कहे चंद नै)

ऋष भीखण सर्व साधां भणी ।मु०। पूछी धर अहलाद हो
सर्व साधु साधवीयां तणी ।मु०। बांधी वर मरजाद हो।

गणपति गुणाकर सोभता ।मु०। छिन-छिन भीखू स्वाम हो ।।१।।
ते साधां नैं पूछनें ।मु०। साधांकना थी कहिवाय हो ।
आगल ते लिखिये अछै । मर्यादा सुखदाय हो ।।२।।
सर्व साधुनें साधवी ।मु०। भारमलजी री आण हो ।
विहार चोमासो करणो तिको ।मु०। करणो आण प्रमाण हो ।।३।।
दिख्या देणी ते इण विधे ।मु०। भारमलजी रै नाम हो ।
सर्व साधु साधवीयां तणी, मरजादा अभिराम हो ।।४।।
चेलारी नैं कपड़ा तणी, साताकारीया खेत्रानीं ताहि हो ।
आदि देइ बहु वस्तुनीं, ममताकरी मन मांहि हो ।।५।।
जीव अनंत मूर्छा थकी, चरित्र ज्ञान गमाय हो ।
नरक निगोद मांहि गया, इम भाख्यो जिनराय हो ।।६।।
तिण सूं ममत शिष्यादिक तणी, मिटावण तणो उपाय हो ।
चरित्र चोखो पालण तणो, उपाय कीयो सुखदाय हो ।।७।।
विनय मूल ए धर्म नैं, न्याय मार्ग चालणरो उपाय हो ।
कीधो छै समय देखी करी, इम कह्यो लिखत रै मांहि हो ।।८।।
भेषधारी विकलाभणी, मूंडी नै भेला करंत हो ।
ते शिष्या रा भूखा एक एकरा, अवर्णवाद बोलंत हो ।।९।।
ते माहो मांहि फारा तोरो करै, करै कजीया राड़ असमाध हो ।
एह चरित त्यारां देखनै, बांधी छै मर्याद हो ।।१०।।
शिष्य शाखारी संतोष करायनैं, सुखे संजम पालण री उपाय हो ।
साधां पिण इमहि ज कह्यो , रहिणो भारमलजी आज्ञा मांय हो ।।११।।
शिष्य करणा ते सर्वही, भारमलजीरे नाम हो ।
अखण्ड आण तसु पालवी, ए मर्याद अमाम हो ।।१२।।
भारमलजी रजाबंध होय नैं, और साधु नें सुन्याव हो ।
चेलो सूंपै तो करणी अछै, बीजू करण रो कीयो अटकाव हो ।।१३।।
भारमलजी पोतारै चेलो करै,ते पिण त्रिलोकचंद चंद्रभाण हो ।
आदि बुधवान साधु कहै, ओ संजम लायक जाण हो ।।१४।।

साधनारत साहित्यकार

जयाचार्य एक अध्यात्म प्राण महापुरुष थे । अतः उनकी कृतियों में आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतिविम्ब रहे यह स्वाभाविक ही है । अध्यात्म को कुछ लोग पलायनवाद कह सकते हैं पर यह एक सिद्धान्त का प्रश्न है । उसके पीछे आस्तिकवाद और नास्तिकवाद के सिवाय अनुभूतियों की परस्पर अनुपलब्धि का भी बहुत बड़ा हाथ है जिसे हम यहाँ नहीं छूना चाहते ! हम यही मान कर चलते हैं कि जयाचार्य एक अध्यात्म-रत महापुरुष थे । तत्त्ववाद के गहन रत्नाकर में उनके अवगाहन का प्रमाण तो उनकी टीकाएँ देती ही हैं, पर उनकी आत्मोन्मुखी वृत्ति की प्रतिध्वनि भी हमें स्थान-स्थान पर समुपलब्ध होती है । अध्यात्म भावना का पहला सूत्र है आत्मा और पुद्गल का पार्थक्य समझकर अपने आप में स्थिर होना । इसी भावना को उन्होंने अपनी एक कृति चौबीसी (चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति) में अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

वंदूं बे कर जोड़ने, जुग आदि जिणंदा,
कर्म रिपु गज ऊपरे, मृगराज मुनिन्दा,
प्रणमूं प्रथम जिणंद ने, जय जय जिन-चंदा ।।१।।

अनुकूल प्रतिकूल सम सही, तप विविध तपंदा।
चेतन तन भिन लेखनी, ध्यान शुक्ल ध्यावंदा ॥२॥
पुद्गल सुख अरि पेखीया, दुख हेतु भयाला।
विरक्त चित्त विघट्यो, इसो, जाणै प्रत्यक्ष जाला ॥३॥
संवेग सरवर झूलता, उपशम रसलीना।
निंदा स्तुति सुख दुख में, समभाव सुचीना ॥४॥
वासी चंदन समपणे, थिरचित्त जिन ध्याया।
इम तण सार तजी भी करी, प्रभु केवल पाया ॥५॥
हूं बलिहारी तांहरी, वाह वाह जिनराया।
उवा दिशा किण दिन आवसी, मुझ मन्न उमाया ॥६॥

सुमधुर संगीत की स्वर-लहरी में जब एक मुमुक्षु इस गीत को गाता है तो एक बार वह इतना भाव-विभोर हो जाता है कि अपने आपको किसी अनिर्वचनीय आनन्द में डूबा हुआ-सा पाता है।

उस स्थिति में जब कि एक साधक प्राणापहारी वेदना से अपने आपको परिवृत पाता है, जयाचार्य ने उसे सबोध देते हुए आराधना नामक कृति में कहा है—

अनंत मेरु मिश्री भाखी, पिण तृप्त न हुआ लिगार,
इम जाणी मुनि आदरे, अनसण अधिक उदार।

वही वेदना जब अत्यन्त असाध्य हो जाती है तो जयाचार्य उसे कहते हैं—

पुण्य-पाप पूर्वकृत सुख दुःखना कारण रे,
पिण अन्य जन नहीं इम करै विचारण रे।
भावे भावना पूर्वकृत अघ जे भोगवियाँ मुकाई रे,
पिण वेधां बिनां नहीं छूट को थाई रे।
जै नरक विषै म्हें, दुख सह्या अंनतोरे,
तो मनुष्याना किंचित दुख हुंतोरे।

जीवन की अन्तिम घड़ियों में जब मनुष्य अनेक विकल्पनाओं से अपने आपको घिरा हुआ पाता है, उन क्षणों के लिए 'आराधना' सचमुच एक जीवित प्रेरणा जीवन बूटी है। हमने अनेक अवसरों पर इसका प्रभाव देखा है, जब कि मरणासन्न साधक भी इस भावधारा और संगीत सुधा से तृप्त समाधिस्थ होकर मस्ती में झूमने लगता है। इसीलिए चौबीसी और आराधना का तेरापंथ संघ में इतना प्रसार है कि हजारों लोगों को ये कंठस्थ रहती हैं।

साधक को समाधिमार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए जयाचार्य ने और भी अनेक कृतियाँ लिखी हैं, जिनमें 'ध्यान' प्रमुख है। जैन योग की दृष्टि से साधना की चौदह सीढ़ियाँ होती हैं। अन्तिम सीढ़ी में साधक शैलेशी पर्वत के समान निस्पन्द-अकम्प अवस्था को प्राप्त करता है। उस अवस्था प्राप्ति के लिए जयाचार्य ने अपने काव्य में जो संकेत किया है वह उनके जीवन की प्रतिध्वनि ही है। वैसे एक संघ के आचार्य होने के कारण उन पर संघ का बड़ा उत्तरदायित्व था, किन्तु वह उनके लिये एक वरदान ही सिद्ध हुआ। यही कारण था कि जीवन के अत्यन्त व्यस्त क्षणों में भी उन्होंने इतना विपुल साहित्य लिख डाला। उससे उनकी एकाग्रता स्वयं ही प्रतिभासित होती है। वे जब लिखते थे तो एकान्त स्थान में बैठ जाते और अपने कानों में रुई भर लेते थे, जिससे बाहर का कोलाहल उनके कार्य में अवरोधक नहीं बन सके। जीवन के अन्तिम वर्षों में तो उन्होंने एक प्रकार से शासन कार्य से निवृत्ति लेकर साहित्य-साधना तथा योग-साधना को ही अपना लक्ष्य बना लिया था। जब कोई भाई उनके दर्शन करने आता तो जयाचार्य उसे अपने उत्तराधिकारी मुनि श्री मघराजजी की ओर संकेत कर देते और स्वयं अपनी साहित्य साधना तथा योग-साधना में व्यस्त रहते थे। उनके पीछे की व्यवस्था भी बड़ी वैज्ञानिक थी, जिसकी चर्चा यहाँ प्रासंगिक नहीं होगी।

जयाचार्य की कविता का मूल भक्ति है। भक्ति का अर्थ है अपने श्रद्धेय के प्रति अचल आस्थावान् होना। इस दृष्टि से देखें तो जयाचार्य को हम एक उत्कृष्ट भक्त कवि कह सकते हैं। भगवान् महावीर के प्रति तो उनकी आस्था अत्यन्त प्रगाढ़ है ही। इसीलिए वे पग-पग पर उन्हें नहीं भूलते। पर आचार्य भिक्षु के प्रति उन्होंने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, वे सहज ही उनके (आ० भिक्षु के) साथ उनकी अभिन्नता को प्रकट करते हैं। आचार्य भिक्षु को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए वे एक जगह लिखते हैं :—

हो जी म्हारे भिक्षु ऋषि सूं लागी प्रीत जी,
जीवडो रे ललचाणो स्वामी जी सूं ओ लगे रेलो।
हो जी म्हारे स्वामी सरीखो कुण छै दुनिया मांहि जो,
देखणरो मुज मनडो अधिक उमंगे रेलो।
हो जी मोने विविध प्रश्नरा उत्तर अनोप जो,
दे हर्ष धरी अति भलो रेलो।
हो जी म्हें तो पंचम आरे साम्प्रत पारस सारिसो,
पायो रे बड़भाग प्रमाणे पोरसो रेलो।
हो जी हूँ तो सुपनें सुरत पेख्यां परमानन्द जो,
जी आवे रे अति हर्ष वंण सुणियां थको रेलो।
हो जी मन उल्लसे प्रत्यक्ष कद पेखूं दीदार जो,
मनरा रे मनोरथ सफला कद हुवे रेलो।

इन पंक्तियों में जयाचार्य ने स्वामीजी से मिलने की आतुरता प्रकट की है। यह सचमुच ही उनकी एकात्मकता को प्रकट करती है। इससे बढ़कर एक भक्त और क्या कह सकता है? स्वामीजी के नाम को ही वे एक मंत्राक्षर समझते थे। उसकी ही एक ध्वनि उनकी गीतिका में है—भिक्षु म्हारें प्रगट्या जी भरत खेतर में, ज्यारों ध्यान धरूं अन्तर में, मंत्राक्षर सम नाम तुम्हारो। इस तरह यह गीतिका भावों से सराबोर तथा अनन्य प्रेम को प्रकट करनेवाली है।

'भिक्षु जस रसायण' नाम से उन्होंने आचार्य भिक्षु का एक जीवन-वृत्त भी लिखा है। सचमुच वह जीवन वृत्त भी अपने ढंग की एक विशेष कृति है। उसकी आलोचना भी अपने आप में एक विशेष स्थान की अपेक्षा रखती है। यहाँ हम उसका स्पर्श नहीं करना चाहते।

भक्त का हृदय अपने प्रिय में तो लीन रहता ही है, साथ ही साथ जहां भी उसे महत्ता के दर्शन होते हैं, वह वहीं झुक जाता है। यही कारण है कि एक आचार्य होते हुए भी उन्होंने अपने शिक्षा गुरु तथा गुरु भाइयों की मुक्त कंठ से इतनी प्रशंसा की है, जो दूसरों के लिए एक प्रेरणा दीप का काम करती है। अपने शिक्षा गुरु मुनि श्री हेमराजजी के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए वे एक जगह कहते हैं :—

हेमाचल सारखा हेम ऋषीश्वर, धुरवाल ब्रह्मचारी,
जगत् उद्धारक तारक स्वामी, आप थया अवतारी।
गावत म्हें तो हेमतणा गुण भारी, ज्यांरी सूरत री बलिहारी,
ज्यांरी करणी री बलिहारी,
अन्तर्यामी आप उजागर, सागर जेम उदारी।
गुण ना गागर नागर निर्मल, धर्म आगर धुनधारी,
सो समुद्रा सुखदाई दीठां, हिवडो हरखे अपारी
नाम सुण्या तन मन हुलसावे, उत्कृष्टा उपकारी।
सुपना में तुम सूरत देख्यां, आणंद होय अपारी
प्रत्यक्ष देखण नो स्यूं कहणो, जे जाणें जिनसारी।

याद आया सूं चक्षु हुवै आर्द्रक, आप ऐसा उपकारी,
पुण्य प्रमाण मिल्यो मुज वल्लभ, सतीदास सुखकारी ।

इसी प्रकार सतीदासजी स्वामी के प्रति (जिनका उपनाम सतयुगी था) अपनी सहज गुणज्ञता को शब्द रूप देते हुए जयाचार्य लिखते हैं—

सतयुगी स्वामी, थे गणपालक अन्तर्यामी,
सतयुग सारीखा सतयुगी जाण, खेतसी जी गुण रत्नांरी खाण ।
वारूं रे क्षमा गुण आपरो पेख, याद आयां हियो हर्ष विशेष ।
आछी रे सतयुगी थांरी मुद्रा एक, पेखत पामैं चितमां चैन ।
तूं गिरवो गुणवंत सुथंभ, तूं थो जिनमतनो थंभ ।

इतना ही नहीं साध्वियों के प्रति भी उनकी गीतिका ने वही अजस्र प्रवाह लिया है—

कल्लूजी मोटी सती, धार्‌यो है सती चरण निधान
कै धन्य-धन्य कल्लू जी सती ।
उणोदरी अधिकीकरी, अट्ठम आसरे पच्चास कै,
एक फलका रै आसरै, पारणै बहुत पणै सुनिमास कै ।
चौथे आरै सांभल्यो, एहवो तपने उणोदरी जाणकै,
पंचम और पेखियो, कल्लूजी नी तपस्या सुविहाण कै ।
मोसूं उपगार कियो घणो, संजम साज दियो तहतीक कै,
तिण कारण गुण समरूं हर्षधरी, ने कहूं इम जीत कै ।

अरिहंत भगवान के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करते हुए एक स्थान पर उनसे वे विनती करते हैं—

जुगमंदरजी ने समरीयै, बस रहनाजी म्हारा हिवडो रे मांहि,
अर्ज करे जी म्हारी अखियां, दर्शण दीज्योजी प्रभु देखण चाहि ।
मोहि लियोजी मन मांहिलो, देखणने जी तरसै म्हांराजी नैण,
वाल्हो नाहीं तुम सारीखो प्रभुजी सारिखा म्हारै नहीं कोई सैण ।
दूरां देशां थी तुम सू आंतर्‌यो,नवली बांधीजी म्हे तो तुम सूं प्रीत,
साहिब कैरे सेवक घणा, चाहिजै जी म्हांसू राखी जै रीत ।
शीतल चन्दन सारिखी, वाहली लागैजी थांरा मुखडा री बात,
मीठी लागै जी सूरत आपरी,उन्हालै जी जाणै ओला नी बात ।

भक्ति के इस अथाह समुद्र में आकण्ठ निमग्न होकर न जाने कितने महापुरुषों का उन्होंने स्मरण किया। यह तो उनका सारा साहित्य पढ़कर ही जाना जा सकता है ।

अलंकार साहित्य का परिधान है । उसके बिना साहित्य आकर्षक नहीं लगता । इसलिए जयाचार्य ने अपने साहित्य में स्थान-स्थान पर अलंकारों का भी उपयोग किया है । शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों को ही उन्होंने अपनाया है जो कि सरस साहित्यकार में होना ही चाहिए । अपनी एक कृति "यशोभद्र रो व्याख्यान" में कामान्ध की वृत्तियों की आलोचना करते हुए उन्होंने कहा है—

"घूघू नवि देखे दिने, निशि नवि सूझै काग
कामांधने सूझै नहीं, दिन निशि विषै सुभाग ।"

अर्थात् उल्लू दिन में नहीं देख सकता, कौआ रात में नहीं देख सकता पर कामान्ध मनुष्य तो रात और दिन में कभी भी अच्छे मार्ग नहीं देखता । इसी प्रकार अपने छोटे भाई की पत्नी पर यशोभद्र के मुग्ध हो जाने पर और उससे अनुचित प्रार्थना करने पर वह कहती है—

तूं मुज जेठ रक्षाकारी नृप, भय तेहथी किम भारी।
अमृत विषै जहर किम उपजैं, रवि थी किम अंधकारी ॥
चन्द्र थी किम अंगारा वृष्टि, जल थी अग्नि सरोष।
उत्तम नर उन्मार्ग आचरे, विकल तणो स्यूं दोष ॥

अपने पात्रों के मुख से जयाचार्य ने जो कहलाया है वह नैतिक मानदण्डों को तो समुन्नत करता ही है, साथ ही काव्य की दृष्टि से भी वह कम मूल्यवान नहीं है।

'भरत बाहुबलि' काव्य में दूत सुषेण बाहुबल से भरत के शौर्य की प्रशंसा करते हुए कहता है—वे बहुत ही बलवान् सम्राट् हैं, उनके सामने आपकी सेना आपकी कुछ भी रक्षा नहीं कर सकेगी। हाथी जब वृक्ष को गिराता है, तो सुन्दर पत्ते उसकी किसी प्रकार रक्षा नहीं कर सकते¹।

उसी प्रकार युद्ध छिड़ जाने पर सैनिकों की मनोदशा की ओर संकेत करते हुए वे उनके मुंह से कहलाते हैं—

कृपण तणा द्रव्यनी परे, अम्ह अफल बल एह।
इम चिंतवतां आवियो, रण उत्सव अधिकेह ॥
शस्त्रनी अग्रधारी करी, युद्ध विषै तनु जास।
व्रण ते घाव सहित थयो, तेहि ज वीर विभास ॥
जिम अग्नि विषै न्हाखी करी, ताडित घन मुद्गरेह।
थयूं विशुद्ध-मल रहित जे, सुवर्ण कहिये तेह ॥
आज ताई भार तुम तणो, मुज वपु करिने वहेहा।
तसु भाड़ो मुजनैं देवो तुम्हें, इम शस्त्र ने तेज चढ़ेहा ॥

अर्थात् कृपण मनुष्य के धन की तरह हमारे बल का भी अब तक कोई उपयोग नहीं हो सका है। ऐसा सोचते बड़ी कठिनता से यह रणोत्सव समुपस्थित हुआ है। जिस प्रकार आग में तपा कर भारी मुद्गरों से पीटने पर मलरहित होकर ही सोना स्वर्ण बनता है उसी प्रकार तीक्ष्ण शस्त्रों की अग्रधार से संग्राम में जिसका शरीर क्षत हो चुका है, वास्तव में वही वीर है। शस्त्रो ! आज तक हमलोगों ने अपने शरीरों पर तुम्हारा भार ढोया है। उसका प्रतिदान आज तुम्हें चुकाना है। यह कहते हुए सैनिक लोग अपने शस्त्रों पर धार कर रहे हैं। इस प्रकार सैनिकों की युद्ध के प्रति उत्कण्ठा का बड़ा ही सुन्दर चित्र उन्होंने यहाँ खींचा है।

कवि का मनोविज्ञान में प्रवीण होना भी आवश्यक है। जब तक वह अपने पात्रों की मनोदशाओं का सम्यक् चित्रण न कर सके, तब तक उसके कवित्व में वेग नहीं आ सकता। इस दृष्टि से यदि हम जयाचार्य के काव्य को परखें, तो ऐसा लगता है कि वे इस परिप्रेक्ष्य में बहुत सफल हुए हैं। एक स्थान पर दुष्ट प्रकृति के साधु का चित्रण करते हुए वे लिखते हैं—

करे चालतां वात कहै कोई ते भणी, ठीक न कहै बोले और खोड़ी ली प्रकृति नो धर्म,
आहार करतां पूरी जयणा नांय करैं को जतावणी, तो पाछो ओडो दे जाण।
चूकं पडिले हण करत दीर्घ शीख तेमणी, फैरे मूढानो नूर
एक दिन में चूकां बहुवार, करैं को जतावणी कहै लागो म्हारी लार।
पाणी ना तड़का पड़ता देख कह्यां लाली थगी कहै पोतारा क्यूं न पेखंत।
इसी प्रकार अच्छी प्रकृति के साधु का वर्णन करते हुए वे आगे कहते हैं—

करैं चालतां बात कहै कोई ते भणी,
कर जोड़ तथा कहै ठीक चोखी प्रकृति को धणी।
आहार करतां अजयणा देख करैं को जतावणी,
ओड़ो न दे कहै ठीक।

---

१ जिम गज तरु नै उपाडता तास पत्र अभिरामो, रक्षा करिवा तेहनी आडा नावै तामो।

चूकै पड़िलेहणा करंत दीपैं शीख ते भणी ।
हरस सहीत करै अंगीकार,
एक दिन में चूकां बहुवार करै को जवाबणी ।
कहै तौ सम कुण मुझ सैण ।
पाणीरा तड़का पडतां देख, कह्यां रीस ने छहणी ।
ठीक कहै तसु अभिप्राय ।

यद्यपि यह प्रकरण बहुत लम्बा है, पर इसमें जयाचार्य ने सुविनीत और अविनीत मानस का जो चित्रण किया है, वह सचमुच ही बड़ा मर्मस्पर्शी है । एक राग-विद्ध (परिचय युक्त) साधु की मनोभावनाओं का चित्रण करते हुए जयाचार्य लिखते हैं—

परचो (राग) राखै ते नर भोला, तिणरो जीव करै डावांडोला ।
परचा सूं ओलम्भो पावै, तिण री क्यां ही शोभा नहीं थावै ।
परचा वालो खेत्र भलावै, तो मन रलिया यत थावै ।
परचा वाला खेत्र नहीं मेलै, तो दाव कपट बहु खेलै ।
पछै आमण दुमण थको जावै, पिण मन में बहु दुख पावै ।
रात्रि दिवस जावै हीं जरनां, परचावाला रो ध्यान ज धरतां ।
परचा वाला री भावना भावै, जाणै दर्शण करना कद आवै ।
आयां देख हीयो अति हरखै, जाणै जँवरी नगने परखै ।

इससे सहज ही यह पता चल जाता है कि जयाचार्य मानव मन के कितने पारखी थे । वे उसकी भावनाओं को कितनी उण्डी (गहरी) तह तक जाकर छूते थे ।

महिपाल चरित्र में एक स्थान पर मुग्ध कुमारिका चन्द्ररेखा की स्थिति का चित्रण जयाचार्य कितने संयत शब्दों में करते हैं —

कुमारी बैठी शय्या उपरै, याद करै महिपाला ।
चेष्टा विविध प्रकार नी, करवा लागी बाला ।
कबहुं राग पंचम करै रे, कब धरै जोगी ज्यूं ध्यान ।
खिण मांहै फिकर करै, खिण मांहै हर्ष असमान ।
हार नै कहै आज मो मणी, दग्धकारी हुवो सोय ।
चन्दा नै कहै कर चाँदणी रै, बालण लाग्यो मोय ।
इम बहु विरतंत देखने, चिंतवै मां मन मांहि ।
आज किणहि पुरुष उपरे रे, रक्त थर दीसै ताहि ।
भीतर आय पुत्री मणी, माय पूछै धर नेह ।
कहो परमार्थ मो मणी, कांय चेष्टा करे एह ।
चन्द्र लेहा मन चिंतव्यो, विण कह्यां किम हुवै काम ।
इम जाणी सहु मां तनै, बात कही अभिराम ।

हालांकि वे एक संत पुरुष थे, पर मनुष्य की भावनाओं को वे कितनी दूर रहकर भी पकड़ सकते थे, यह इसका एक सुन्दर उदाहरण है ।

उनकी काव्य-शक्ति सहज थी । जिस किसी चीज को वे देखते और जो कोई नया अनुभव उन्हें होता, वे झट उस पर कविता कर देते । यहाँ तक कि संस्कृत व्याकरण को भी उन्होंने पद्यों में बांध दिया । पंचसंधि तथा कृदन्त को उन्होंने जैसा पद्यरूप दिया है, उसका थोड़ा-सा अंश हम यहाँ देना चाहते हैं । परिभाषा प्रकरण में ह्रस्व-दीर्घ और प्लुत की परिभाषा करते हुए वे कहते हैं—

एक मात्र ते ह्रस्व है, द्विमात्र ते दीर्घ ।
रेखात्रिमात्र प्लुत कहीजिए, मात्रा काल संपेख ।१।
'ए ऐ ओ औ' ए चिहुं, संध्यक्षर सुखदाय ।
हिवं चवदै स्वरहूँ कहूँ; नि सुणो निर्मल न्याय ।२।
'अ इ उ ऋ लृ' ए पंचना, ह्रस्व दीर्घ दश होय ।
चिहुँ संध्यक्षर दश चतुर प्लुत सहित ए जोय ।३।
'अ आ' स्वर वर्ज द्वादश स्वर, संज्ञानामी निहाल ।
प्रत्याहार कहूँ हिवै, व्यंजन स्वर सुविशाल ।४।

इसी प्रकार प्रकृति भाव सन्धि प्रकरण के क्लिष्ट अंश को उन्होंने कविता का रूप दिया है—

कहूँ व्यंजन कार्य चपा, अवे जवा पदतीन ।
पदांत चपनो जब हुवं अब परछतैं सुचीन ।१।
षट् अत्र कैरो षडत्र है, अच् अंत अजंत सत् ।
वाक् यथानो वाग्यथा, तत् एतत् तदेतत् ।२।

इसी प्रकार से कृदन्त प्रकरण का भी उन्होंने पद्यानुवाद कर डाला है। उन्होंने यह टीका जिस प्रकार लिखी है, वह आज भी प्रत्येक अध्येता और विद्वान् के लिये एक अविस्मरणीय व अनुकरणीय दृष्टान्त है। वे रात में जो कुछ सीखते, उसी को दिन में पद्यबद्ध कर डालते। यह वृत्ति किसी भी जिज्ञासु शिक्षार्थी अथवा विद्वान को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाये बिना न रहेगी। उनकी इसी वृत्ति का यह सुफल हुआ कि "उपदेश रत्नकोष" नाम का एक बृहत् कथासंग्रह वे सरलता से तैयार कर सके। 'उपदेश रत्नकोष' औपदेशिक कथाओं, दोहों, श्लोकों, गीतिकाओं तथा विविध सामग्रियों से सुसज्जित एक महान् संग्रह है। यह ग्रन्थ लगभग चार-पाँच सौ पृष्ठों का है। व्याख्याताओं के लिए यह एक अमूल्य रत्नकोष है। जैन परम्परा में कथाओं का बड़ा ही महत्त्व रहा है। 'समराइच्च कहा' आदि कथाओं की तरह 'उपदेश रत्नकोष' भी उसी परम्परा का एक बहुमूल्य उपहार है। प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत में लिखे हुए प्राचीन कथा-ग्रंथों के समान राजस्थानी में रचित यह कथासंग्रह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में केवल कथाएँ ही नहीं हैं, अपितु दोहों, गीतिकाओं आदि का भी इसमें सुन्दर संकलन हुआ है। कथाओं में सरसता के साथ कोई-न-कोई विशेष शिक्षा देने का उद्देश्य भी रहा है। इसलिये यह छोटे-बड़े सभी के लिये, बल्कि बालकों के लिये विशेष रूप से रुचिकर और हितावह है। यहाँ कथाओं का उदाहरण देकर निबन्ध का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

जयाचार्य के व्यक्तित्व में साहित्यकार और संघ-संचालन का एक मणि-कांचन संयोग था। उनके नेतृत्व के विषय में यहाँ कुछ कहना प्रासंगिक नहीं होगा; पर इतना अवश्य कथनीय है कि उनके कवित्व ने उनके नेतृत्व को बहुत बड़ा बल दिया था। उन्हें जिस किसी बात को संघ में महत्त्व देना होता, वे उसकी कविता बना देते थे। ऐसा किये बिना संघ-संचालन में बड़ी कठिनाई हो सकती थी। उदाहरण के लिए—पहले तेरापंथ संघ में यह आवश्यक नहीं था कि सारे साधु-साध्वी वर्ष में एक बार एक स्थान पर मिलें ही, जैसा कि आजकल अनिवार्य है। सब साधु-साध्वी आचार्य के आदेशानुसार विहार करते थे, पर उनका आपस का सम्मिलन नहीं हुआ करता था। जयाचार्य को यह अनुभव हुआ कि वर्ष भर में एक बार साधु-साध्वियों का मिलना अत्यन्त आवश्यक है। पर वे अपनी बात को किसी पर बलात् थोपना नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने एक मार्ग निकाला और वह यह था कि जो भी साधु-साध्वी (विशेषतः साध्वियाँ) वर्ष भर में आचार्य की सेवा में उपस्थित होतीं, उनका अपनी कविताओं में वे गुणगान करना प्रारंभ कर दिया करते। फलतः 'आर्या रा दर्शन' नाम की एक कृति तैयार हो गई। सभी साधु-साध्वी इस ओर आकृष्ट होने लगे। फिर तो विधिवत् मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर सबका आचार्य की सेवा में उपस्थित होना अनिवार्य हो गया।

इसी प्रकार तपस्या के विषय में भी उन्होंने यही मार्ग अपनाया। जो साधु-साध्वी तपस्या करते, जयाचार्य उनकी बड़ी प्रशंसा करते। स्वभावतः सभी इस ओर आकृष्ट होने लगे। यही कारण था कि उनके युग में उनके घोर तपस्वियों ने अपनी

तपस्या द्वारा संघ की आन्तरिक स्थिति को सुदृढ़ किया। उनके 'साधु-साध्वी गुण वर्णन,' 'शिक्षा की ढालें' आदि कविता-संग्रह इसी के प्रमाण हैं।

उनके काव्य की सबसे बड़ी उत्कृष्टता उसकी चमत्कारिता है। अनेक अवसरों पर जब कोई विषम परिस्थिति उनके सामने आ जाती, तो उनकी कविता अजस्र प्रवाह में फूट पड़ती और उस प्रवाह में संकट अपने आप बह जाते। ऐसा ही एक विकट क्षण उनके जीवन में आया था, जिसे सुनते ही रोमांच हो आता है। कहते हैं एक बार बीदासर में रात के समय जहाँ जयाचार्य ठहरे हुए थे, वहाँ अचानक अंगार वृष्टि होने लगी। रात का समय था। कोई भी श्रावक वहाँ था नहीं और होता भी तो क्या करता? सब साधु घबरा गये। कुछ साधु तो बेहोश भी हो गये। जयाचार्य के सामने एक भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गई। ऐसी परिस्थिति में किया भी जावे तो क्या? सहसा जयाचार्य का कवित्व फूट पड़ा —

'मुणिन्द मोरा भिक्षु ने भारीमाल, वीर गोयमरी जोड़ी रे, स्वामी मोरा अति भला रे मोरा स्वाम'......। यह गीतिका काफी लम्बी है तथा इसमें संघ के सभी प्रभावक तथा तपस्वी साधु-साध्वियों का स्मरण किया गया है। कहते हैं धीरे-धीरे उपद्रव शान्त होने लगा और अन्ततः वह बिलकुल शान्त हो गया। कुछ लोगों को यह घटना अस्वाभाविक लग सकती है, पर शब्द शक्ति में विश्वास करनेवालों के लिये यह कोई नई बात नहीं है। पहले भी जैनाचार्यों ने ऐसे प्रयोग किये हैं, जो इतिहास में आज भी सुरक्षित हैं। इसी प्रकार अनेक उपद्रवों को उन्होंने अपने कवित्व-बल से जीता, यह उनके साहित्य से स्वतः प्रमाणित होता है। यही कारण है कि तेरापंथ संघ में उनकी ये गीतिकाएँ संकट के समय बच्चे-बच्चे के मुंह पर नाचने लगती हैं और बहुत से मुमुक्षु लोग तो प्रातःकाल अनिवार्य रूप से इसका पाठ भी करते हैं। आज भी अनेकों को ऐसा अनुभव होता है कि न जाने इन गीतिकाओं में कौन-सी ऐसी शब्द-शक्ति है जिससे अनेक संकट अपने आप टल जाते हैं। इसमें मनुष्य की श्रद्धा तो विशेष फलवती होती ही है गुणीजनों का गुणोत्कीर्तन तथा काव्य-शक्ति भी कम फलप्रद नहीं होती।

इतिहास के विद्यार्थी और निर्माता

इतिहास को इतिहास के ढंग से सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति धर्म संघों में बहुत कम देखी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व तक तो यहाँ इतिहास को महत्त्व ही नहीं दिया जाता था। लोग इसे व्यर्थ का धंधा समझते थे। जयाचार्य ने प्रारम्भ से ही इतिहास को बड़ी जागरूकता से पकड़ा है। उन्होंने जैन-इतिहास को स्पष्ट करने के प्रयत्नों के साथ-साथ तेरापंथ के इतिहास को भी सुरक्षित रखने का विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' आदि ग्रंथों में उन्होंने जैन-इतिहास के अनेक अनुपलब्ध पृष्ठों के संकेत दिये हैं। अपनी एक कृति में उन्होंने जैन-इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डाला है। दुर्भाग्य से उनकी यह महत्त्वपूर्ण रचना अधूरी ही रह गई।

आ० भिक्षु के बारे में जो कि उनसे लगभग सौ वर्ष पहले हुए थे, उन्हें जो कुछ भी मिला, उसे उन्होंने संगृहीत कर लिया। स्वामीजी के बारे में उनकी श्रद्धा अत्यन्त प्रगाढ़ थी। अतः उनके जीवन की छोटी-से-छोटी घटना को भी जयाचार्य ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उपस्थित किया है। वही आज 'भिक्खु दृष्टान्त' नाम से एक महत्त्व की सामग्री बन गई है। मनोविनोद के साथ स्वामीजी गहन तत्त्व को कितना सुगम बना देते थे, यह उनसे सहज ही जाना जा सकता है। स्वामीजी का जीवन-चरित्र 'भिक्षु जस रसायण' भी अपने ढंग का एक उत्तम जीवनवृत्त है। पुराने जमाने में राजा लोगों के जो जीवनवृत्त लिखे जाते थे उनमें केवल गुणानुवाद को ही अधिक स्थान मिलता था, पर जयाचार्य ने उसे घटनात्मक तथा सिद्धान्तात्मक बनाने का अधिक प्रयत्न किया है। इसीलिये उसे पढ़ते समय पाठक अनुभूतियों और चिन्तन के सागर में गोते लगाने लगता है। इसी प्रकार जयाचार्य ने और भी अनेक आचार्यों, साधु तथा साध्वियों के जीवन-चरित्र लिखे हैं। यहाँ तक कि श्रावक-श्राविकाओं के बारे में भी उन्हें जो कुछ मिला, उसे भी उन्होंने लिपिबद्ध कर लिया। यही कारण है कि तेरापंथ संघ का इतिहास आज भी बहुत सुव्यवस्थित है। वे जो न लिख सके, वह फिर लिखा ही नहीं जा सका। सदा के लिये छूट ही गया। फिर भी जो कुछ लिखा जा चुका है, वह भी कम नहीं है। आगे के लिए लिखने का एक क्रम ही बन गया और संघ का इतिहास बहुत ही सुव्यवस्थित हो गया। एक-एक साधु-साध्वी ने अपने जीवन में जो भी विशेष कार्य किये हैं, उन सबका विवरण सुरक्षित रखा जाता है। यह सब जयाचार्य की इतिहासप्रियता का ही परिणाम है।

जयाचार्य के जीवन का अधिकांश आगम साहित्य के अध्ययन में ही बीता। यहाँ तक कि आठ वर्ष में उन्होंने ८६,६७,८०० गाथाओं का स्वाध्याय किया था। इसीलिए उनके साहित्य का बहुत बड़ा भाग आगमों की चर्चा से पूर्ण है।

इसके साथ-साथ इसका एक और भी कारण यह था कि तात्कालिक जैन-सम्प्रदायों में प्रमुख रूप से शास्त्र-चर्चा ही एक विषय रहा करती थी। अतः जयाचार्य को भी उनके खण्डन-मण्डन के लिये वैसे ही साहित्य का सृजन करना पड़ा। उनमें से 'भ्रम विध्वंसन', 'संदेह विषौषधि', 'कुमति विहंडन', 'प्रश्नोत्तर सार्धशतक', 'प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध' आदि प्रमुख हैं।

टीकाओं के अतिरिक्त द्रव्यानुयोग पर स्वतंत्र रूप से भी उन्होंने बहुत कुछ लिखा है, जिनमें 'झीणी चर्चा', 'झीणो ज्ञान', 'जिनाज्ञा को चौढ़ालियो' आदि ग्रंथ प्रमुख हैं। सामयिक प्रश्नों का भी वे कविता की भाषा में ही उत्तर दिया करते थे। अतः अनेक सामयिक प्रकरणों को भी उन्होंने कविताबद्ध कर दिया है। उनका एक-एक प्रकरण वास्तव में एक-एक स्वतंत्र विषय की सामग्री प्रस्तुत कर देता है। साधु का आहार करना आगम विहित है या नहीं? इस विषय पर उन्होंने एक लम्बी गीतिका लिख दी। इसी प्रकार साधु को नींद लेनी चाहिए या नहीं? नदी उतरना चाहिए या नहीं? आदि अनेक विषयों पर उन्होंने बड़ी विद्वत्तापूर्ण कृतियां लिखी हैं, जिन पर स्वतंत्र आलोचना की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त जयाचार्य ने फुटकर रूप से इतना कुछ लिखा है कि उसकी गणना एक व्यक्ति के लिए बहुत कठिन है। चार-चार, पांच-पांच अंगुल के कागज के टुकड़ों पर भी उन्होंने इतने महत्त्व की बातें लिख डाली हैं कि दूसरों के लिये उनको संभालना भी एक समस्या बन जाती है। ऐसा लगता है, उनकी लेखनी ने कभी विराम नहीं लिया। उनके सम्पूर्ण विराट् व्यक्तित्व का एक पहलू भी पूर्णरूप से लोकमानस के सामने आ नहीं सका है। जैसे-जैसे उनके जीवन के भिन्न-भिन्न पक्ष प्रकट होते जावेंगे, वैसे-वैसे हमें उनका सर्वांग संपूर्ण परिचय आनन्द और आश्चर्य के साथ प्राप्त होता जायगा।

तेरापंथ के पंचम आ० श्री मघवागणी के जीवन-पृष्ठ

(ले०—साध्वी श्री यशोधराजी)

सामान्य व्यक्ति कहाँ और कब जन्म लेता है, उसका लालन-पालन कैसे होता है, वह कैसे जीता है—इसकी किसी को कोई जिज्ञासा नहीं होती। किन्तु जब वही व्यक्ति व्यष्टि की सीमा को लांघकर समष्टिमय बनता है, अपने कार्य-क्षेत्र को विस्तीर्ण करता है, अपनी विचार-धारा को 'सर्व जन हिताय' बहा देता है तो उसके जीवन के एक-एक क्षण की जानकारी अभिप्रेत हो जाती है। लोगों का मन उसे जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। उसका प्रत्येक चरण अनन्त आशाबन्धों को प्रेरित करता हुआ, जन-मानस में जिज्ञासाओं को उत्पन्न करता हुआ आगे बढ़ा चला जाता है। उसकी शारीरिक चेष्टाएँ, मानसिक व्यापार तथा बौद्धिक चिन्तन के आलोक सहस्रावधि व्यक्तियों में बिखरते हैं और उनमें नव-जीवन फूंकते हुए सुषुप्त भावनाओं को जाग्रत करते हैं। दूसरे शब्दों में वह सबके लिए आदर्श बन जाता है, और उस आदर्श तक पहुँचने के लिए सहस्रों जन उत्कट भावनाओं से निरन्तर चलते रहते हैं।

तेरापंथ शासन के 'पंचम अधिनायक मघराजजी' स्वामी का जीवन एक 'आदर्श जीवन' था। वे जानते थे कि साध्य खपने से मिलता है; अतः उन्होंने शरीर, मन और वाणी को संघ हित के लिए खपाया। वे जानते थे, साध्य सहने से मिलता है, अतः उन्होंने शरीर, मन और वाणी के अनुकूल या प्रतिकूल परीषहों को सहा। वे जानते थे कि साध्य अर्पण से मिलता है; अतः उन्होंने शरीर, मन और वाणी को संघपति के श्री चरणों में समर्पित कर दिया। उनका जीवन समुद्र की तरह अथाह, आकाश की तरह अनन्त और पृथ्वी की तरह विस्तृत था। वे स्वयं के लिए नहीं, दूसरों के लिए जीये। उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति सूक्ष्म हो या स्थूल, संघहित से अनुस्यूत रहती थी। संघ ने उन्हें शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित किया, तो उन्होंने भी अपने अनवरत कार्यकलापों से संघ को विकासोन्मुख किया।

'मघवा' का जन्म सं० १८९७ की चैत्र शु० ११ को 'बीदासर' में हुआ था। 'मघा' नक्षत्र में जन्म होने के कारण उनका नाम 'मघराज' रखा गया। उनके पिता का नाम 'पूरणमलजी' बेगवाणी और माता का नाम 'बन्ना देवी' था। उनकी छोटी बहन का नाम "गुलाब कंवर" था, जिसने आगे चलकर साध्वी प्रमुखा के पद पर अधिष्ठित होकर तेरापंथ शासन की अपूर्व सेवाएँ कीं। लोग इनके बाह्य सौन्दर्य और आन्तरिक मृदुता, कोमलता तथा विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हें 'सरस्वती का अवतार' कहते थे। मघराजजी जब छोटी अवस्था में थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई। माता का मन दुःखों से उद्वेलित हो उठा, किन्तु परम्परागत धार्मिक संस्कारों से उनके मन में सहज सहिष्णुता के भाव पनपे। वैधव्य का दुःख भारी नहीं हुआ। वर्षों से की जानेवाली धार्मिक क्रियाओं का विचार प्रस्फुटित होने लगा। आर्त्त-रौद्र ध्यान के कटु विपाक ने उन्हें धर्म ध्यान की ओर प्रेरित किया। वैराग्य के अंकुर फूट पड़े। व्यवहार में वैराग्य की अभिव्यक्ति हुई। बच्चों पर भी इस अभिव्यक्ति का परिणाम हुआ। घर का वातावरण वैराग्य के रंग में रंजित हो उठा। वैराग्य को स्थायित्व देनेवाले अनेक प्रसंग आते रहे। एक बार सरदार सती बीदासर में इन्हीं के निवास स्थान पर ठहरी। निकट सम्पर्क से बालकों में तत्त्व ज्ञान की वृद्धि हुई तथा साधु-साध्वियों के कठोर जीवन के प्रति उनमें एक अव्यक्त अनुराग उत्पन्न हुआ।

वि० सं० १९०८ का चातुर्मास श्रीमज्जयाचार्य ने बीदासर में किया। उस समय आप युवाचार्य पद पर थे। साथ में १२ संत थे। युवाचार्य को अपने बीच पा बीदासर की जनता हर्ष-विह्वल हो रही थी। धार्मिक प्रवृत्तियों में दिन-दिन वृद्धि होती रही। सभी छोटे-बड़े नर-नारी युवाचार्य की ओजस्वी वाणी से अमृतानन्द का अनुभव कर रहे थे। इसी चातुर्मास में बन्नाजी तथा दोनों बालकों (मघ तथा गुलाब) के मन में दीक्षा लेने की भावना प्रबल हुई। तीनों एक साथ दीक्षित होना चाहते थे, परन्तु एक बाधा उन्हें रह-रहकर अखर रही थी। उस समय कुमारी गुलाब की अवस्था छोटी थी। उसे दीक्षा का 'कल्प' नहीं आया था। अतः माता बन्नाजी ने यह निश्चय कर लिया कि जब तक गुलाब को दीक्षा का कल्प न आ जाय तब तक दीक्षा नहीं लूंगी। परन्तु बालक मघराजजी का मन वैराग्य से भर गया था। उन्हें घर में रहना प्रतिकूल सा लगने लगा। बहन को कल्प आने तक की प्रतीक्षा उन्हें असह्य जान पड़ी। उन्होंने अपनी माता को समझा-बुझाकर उनसे

पहले दीक्षित होने की सहमति ले ली। आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने युवाचार्य से विनय की। अपनी माँ तथा बहिन की भावनाओं को उनके सामने रखा। श्रीमज्जयाचार्य को बालक 'मघराज' में अपूर्व तेज दीख पड़ा। बालक की 'होन-हारता' पर वे मुग्ध हो गए। उसे दीक्षित करने की बात मन में जँच गई। बालक मघराज का प्रौढ़ विवेक तथा एक सहज घटना श्रीमज्जयाचार्य के मन को उसे दीक्षित करने के लिए प्रेरित कर रही थी। वह घटना यह थी कि एक बार बालक मघराज अपने साथियों के साथ खेल रहे थे। साथी बालकों को यह पता लग गया था कि मघराज साधु बनेगा। उनके परस्पर खेलते समय मघराज को सम्बोधित कर एक बालक कहता "मत्थेण वंदामि मघजी स्वामी।" मघराज जी मौन रहते, पर कोई दूसरा बालक उनका प्रतिनिधित्व करता हुआ कहता 'जी'। तब सारे लड़के एक साथ कहते—

'थारे पातरे में घी, बैठ्यो ठंडो पाणी पी'

युवाचार्य ने यह खेल आते-जाते कई बार देखा था। बालकों के मुख से निकलने वाले ये वाक्य उन्हें शुभ जान पड़े। 'मघराज' के उज्ज्वल भविष्य का उन्हें निश्चय हो गया। चातुर्मास समाप्ति के बाद मार्गशीर्ष कृष्णा पंचमी को दीक्षा देने की घोषणा हुई। दीक्षा की तैयारियाँ होने लगीं। करणीय सभी विधियाँ की गईं। पंचमी का सूर्य उदित हुआ। बालक मघराज घोड़े पर सवार हो दीक्षा-स्थल पर पहुँचने के लिए घर से निकला। मार्ग में अप्रत्याशित घटना घटी। कुछ पिशुन व्यक्तियों ने 'मघराज' के चाचा के कान भरे। निरर्थक आक्षेपों से उनकामन क्षुब्ध हो उठा। वे संतुलन खो बैठे। हठात् बालक मघराज को घोड़े से खींचकर गोदी में उठाए वे पास ही के एक गढ़ में चले गए। नगर के संभ्रान्त व्यक्तियों ने कारण पूछा, पर उन्होंने इतना ही कह कर सबको टाल दिया कि 'मुझे दीक्षा नहीं दिलानी है।' अनेक लोगों ने उन्हें समझाया, पर सब व्यर्थ। श्रीमज्जयाचार्य को यह बात मालूम हुई। उन्होंने तत्काल वहाँ से लाडनूं की ओर विहार कर दिया; क्योंकि दीक्षा न होने के कारण चातुर्मास के बाद वहाँ रहना नहीं कल्पता था।

इस घटना से बालक मघराज को अत्यन्त दुःख हुआ। परन्तु वे हताश नहीं हुए। निराशा में भी आशा को बनाए रखना उनका अपना गुण था। उन्होंने अपने चाचा को समझाया और उन्हें लाडनूं चलने के लिए तैयार कर लिया। वे सभी जयाचार्य की सेवा में लाडनूं आए। पुनः दीक्षा की प्रार्थना की गई। सं० १९०८ मृ० कृ० १२ को हजारों व्यक्तियों की उपस्थिति में लाडनूं के बाहर 'पीरजी के स्थान' पर बालक मघराज की दीक्षा सम्पन्न हुई। गृहस्थ जीवन से नाता टूट गया। वे मुनि संघ में जा मिले। वह संघ के भाग्योदय का दिन था। सब में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। श्रीमज्जयाचार्य को विशेष प्रसन्नता हुई; क्योंकि उस बालक में उन्हें अपने उत्तराधिकारी बनने की योग्यता दीख रही थी। तेरापंथ के आचार्य अपने यथेष्ट उत्तराधिकारी को पाये बिना निश्चिन्त नहीं होते। आज उन्हें संतोष का अनुभव हो रहा था।

तेरापंथ के तृतीय आचार्य ऋषिराय उन दिनों मेवाड़ में थे। जब बालक मघराज की दीक्षा के समाचार उन तक पहुँचे तो अचानक ही ऋषिराय को तीन छींकें आईं। उन्होंने प्रथम छींक पर तो कुछ नहीं कहा पर दूसरी छींक आते ही कहा—लगता है यह बालक साधु दीपनेवाला होगा। इतने में ही तीसरी छींक आते ही आपने कहा—यह तो जीतमल का भार संभाल ले तो आश्चर्य नहीं। सहज भाव से निकले हुए आचार्य के ये वचन बाल मुनि के लिए वरदान सिद्ध हुए।

पूज्य श्री ऋषिराय का स्वर्गवास सं० १९०८ माघ कृ० १४ को हो चुका था। श्रीमज्जयाचार्य ने शासन का कार्य-भार संभाला।

मघराजजी स्वामी की संसार पक्षी माता बन्नाजी तथा बहिन गुलाब कँवरजी की दीक्षा उसी वर्ष फाल्गुन कृ० ६ को श्रीमज्जयाचार्य के हाथों सम्पन्न हुई।

मघराजजी स्वामी का व्यक्तित्व अनेक विशेषताओं को लिए हुए पनप रहा था। बचपन से ही वे गंभीर थे। उनका हृदय अत्यन्त पवित्र और निश्छल था। श्रामण्य के प्रति उनकी निष्ठा अत्यन्त दृढ़ और बलवती थी। उनके चरित्र के पर्यव निर्मल और विशुद्ध थे। अष्टमाचार्य श्रीमत् कालूगणी उनके बाह्य व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए कहते, "मघवागणीजी जैसी सुन्दर आकृतिवाला व्यक्ति मैंने अपने जीवन-काल में नहीं देखा।" गंभीरता, पाप-भीरुता, अनुद्वेग तथा सहनशीलता के आप धनी थे। प्रत्येक परिस्थिति में संतुलन बनाये रखने में आप निपुण थे।

स्वभाव की कोमलता और हृदय की निर्मलता से आपने सबको मुग्ध कर लिया था। विशेषतः श्रीमज्जयाचार्य आपसे बहुत प्रसन्न थे। दोनों का सम्बन्ध अनन्य था। जहाँ सम्बन्ध का अनुबन्ध गुणाश्रित होता है वहाँ उसमें स्थिरता और

पवित्रता रह सकती है अन्यथा वह संबंध स्वस्थ नहीं रहता। श्रद्धा, प्रेम और वात्सल्य के संस्कार जब जगते हैं और अपने श्रद्धेय में एकरस हो जाते हैं तब अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होता है और श्रद्धालु अपने श्रद्धेय के साथ इतना तन्मय हो जाता है कि उसे श्रद्धेय का क्षणिक विरह या विरह की बुद्धिगत कल्पना भी असह्य हो उठती है। मघराजजी स्वामी की अपने श्रद्धेय श्रीमज्जयाचार्य के प्रति अगाढ़ भक्ति और अनन्य प्रेम था। श्री मज्जयाचार्य का भी अपने शिष्य के प्रति अप्रतिम वात्सल्य था।

मुनि मघराजजी सदा श्रीमज्जयाचार्य के पास ही रहे। गुरु-विरह से होनेवाली कटु अनुभूति से वे अपरिचित थे। परन्तु एक बार उन्हें आचार्य श्री से बिलग रहना पड़ा। वियोग की कटु अनुभूति से वे विह्वल हो उठे। श्री मज्जयाचार्य का भी मन शिष्य की विह्वलता से उद्विग्न उठा। घटना इस प्रकार है—

वि० सं० १९३१ का चातुर्मास रतलाम में सम्पन्न कर श्रीमज्जयाचार्य इन्दौर पधारे। मुनि मघराजजी को 'मोतीझरा' (छोटी चेचक) निकल आया। उपचार किए गए। एक महीना बीत गया, पर रोग से मुक्ति नहीं मिली। तब मज्जयाचार्य ने वहाँ कुछ सन्तों को मुनि श्री मघराजजी की सेवा में रख कर उज्जैन की ओर विहार कर दिया। मुनि श्रीमघराजजी के लिए आचार्य प्रवर से अलग रहने का यह पहला अवसर था। वे कुछ अनमने से हो उठे। अलग रहना असह्य जान पड़ा। उन्होंने आचार्य वर से यह प्रार्थना करवाई कि उन्हें भी ज्यों-त्यों साथ ले लिया जाए। श्रीमज्जयाचार्य इंदौर से २ कोस दूर पर अवस्थित थे। उन्हें ये समाचार मिले। साथ में ले चलने की बात ठीक लगी, परन्तु वैद्यों ने आचार्य वर से यह प्रार्थना की कि मुनि श्री को इस अवस्था में उठाकर ले जाने में खतरा है। श्रीमज्जयाचार्य को यह बात जँच गई। उन्होंने उज्जैन जाने का अपना कार्यक्रम बदल दिया और वे पुनः इन्दौर पधार गए। मुनि श्री का हृदय हर्ष से गद्गद् हो उठा। उपचार पूर्ववत् चलता रहा। व्याधि से मुक्ति मिली, परन्तु व्याधि-जन्य शारीरिक दुर्बलता से अभी छुटकारा नहीं मिल पाया था। समय बहुत निकल गया। अतः श्रीमज्जयाचार्य ने वहाँ से विहार कर दिया और इन्दौर से उज्जैन तक मुनि मघराजजी को साधु उठाकर ले गए। उज्जैन में उपचार चला और कुछ ही दिनों में मुनि श्री स्वस्थ हो गए। इसी प्रकार वि०सं० १९३३ का चातुर्मास पाली में सम्पन्न कर श्रीमज्जयाचार्य कालू पधारे। मुनि मघराजजी को पुनः चेचक हो गई। मर्यादा महोत्सव सन्निकट था। साधु-साध्वी दर्शनार्थ आ रहे थे। गाँव छोटा था। फिर भी वहाँ २७ दिन रुकना पड़ा। इतने साधु-साध्वियों को वहाँ भिक्षा प्राप्त होना सुलभ नहीं था। अतः आस-पास के १२ गाँवों से गोचरी की जाती। इतना होने पर भी जयाचार्य वहाँ २७ दिनों तक रुके और मुनि मघराजजी के स्वस्थ हो जाने पर उन्हें साथ ले वहाँ से चले। मुनिश्री के प्रति जयाचार्य के वात्सल्य का यह स्फुट निदर्शन है।

आचार से विचार पवित्र बनते हैं और विचारों से आचार में स्थिरता आती है। दोनों की प्रौढ़ता शिक्षा से सम्पन्न होती है। ग्रहण और आसेवना शिक्षा के धनी मुनि श्री मघराजजी जयाचार्य के शिक्षण की प्रयोगशाला थे। जयाचार्य की यह चिर अभिलाषा थी कि संघ में संस्कृत भाषा का प्रसार हो। साधन अल्प थे। यदि संस्कृत भाषा सिखानेवाले नहीं थे, तो सीखनेवाले भी नहीं थे। जयाचार्य की उत्कट अभिलाषा मुनि मघराजजी में संक्रान्त हुई। वे संस्कृत भाषा के अध्ययन में जुट पड़े। साधनों की अल्पता ने परिश्रम को शतगुणित कर दिया। वे तेरापंथ संघ में संस्कृत के प्रथम विद्वान् बने। उन्होंने संस्कृत भाषा में रचनाएँ कीं। उन्होंने सारस्वत व्याकरण का पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्ध कण्ठस्थ किया। चान्द्र तथा जैनेन्द्र व्याकरणों का भी अध्ययन किया। अनेक काव्य पढ़े। उन्होंने किरातार्जुनीय, भट्टी, दुर्घट काव्य, विदग्धमुख मंडन, न्याय दीपिका, परीक्षा मुखमंडन, समाधितन्त्र, योगशास्त्र आदि ग्रन्थों का सांगोपांग अध्ययन किया। व्याख्यान में आप संस्कृत काव्यों को पढ़ते और जनता को मंत्रमुग्ध कर देते थे। राजस्थानी भाषा के उन्होंने रामचरित्र, शालीभद्र, जम्बूकुमार, अमर कुमार, सुरसुन्दरी, नेमचरित्र आदि काव्य कंठस्थ किए। आपकी बुद्धि अत्यन्त पटु और तीव्र थी। आपने आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, प्रथम आचारांग और बृहत्कल्प—ये पाँच आगम कण्ठस्थ किए और सदा उनका स्वाध्याय करते रहते। बत्तीस आगमों का आपने कई बार पारायण किया तथा कुछ टीकाएँ भी पढ़ीं।

आपकी स्मृति अविकल और ग्रहणशक्ति सुस्थिर थी। जो कुछ एकबार कंठस्थ कर लेते वह आपके स्मृति-पटल पर अमिट रह जाता। आपकी स्मृति इतनी तीव्र और स्थायी थी कि कण्ठस्थ किए हुए ग्रंथों को वर्षों तक बिना दुहराये भी याद रख लेते थे। वि० सं० १९४८ के अपने जयपुर चातुर्मास में आपने पंडित दुर्गादत्त जी को सारस्वत व्याकरण का

कुछ अंश सुनाया। पंडित जी ने पूछा—क्या आप अभी भी व्याकरण दुहराते हैं? मघवागणी ने कहा, "वि० सं० १९२२ के पाली चातुर्मास में एक बार मैंने जयाचार्य को सारस्वत व्याकरण का सारा पूर्वार्ध सुनाया था। उसके बाद उसे कभी नहीं दुहराया।" पंडितजी इस कथन से आश्चर्यान्वित रह गए। २६ वर्ष तक बिना दुहराए भी व्याकरण जैसे कठिन विषय को अविकल स्मरण रख लेना, वस्तुतः स्मृति का चमत्कार है।

संघ के साधु-साध्वी आपको 'पंडित' कह कर बुलाते थे। यह उपाधि निष्कारण नहीं थी। एक बार जयाचार्य विहार कर 'जेतारण' पधार रहे थे। जो साधु कुछ आगे चल रहे थे, वे जेतारण के गाँव के पास एक वृक्ष के नीचे जयाचार्य की प्रतीक्षा में विश्राम कर रहे थे। एक साधु ने उपस्थित साधुओं से निम्नोक्त पहेली का अर्थ पूछा—

"आगे जैतारण लारे जैतारण, बीच में चालां आपां।
इण पहेली को अर्थ बतावै, तिण ने पंडित थापां॥"

मुनि मघराजजी ने यह सुना और तत्काल इसका अर्थ बतलाते हुए कहा, 'यहाँ से आगे जैतारण नामक गाँव है, हमारे पीछे जनता को तारने वाले जै अर्थात् जयाचार्य हैं और साधु हम सब दोनों के बीच में चल रहे हैं।" इस प्रत्युत्पन्न मति से साधु अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसी दिन से साधु उन्हें 'पंडित' के नाम से संबोधित करने लगे। श्रीमज्जयाचार्य के पास जब कोई संस्कृत का पंडित आता तो आप यही कहते कि हमारे यहाँ तो संस्कृत के पंडित एक 'मघजी' ही हैं।

कुछ संस्कृत रचनाओं को छोड़कर आपकी सारी रचनाएँ राजस्थानी भाषा में हैं। किसी भाषा विशेष से आप प्रतिबद्ध नहीं थे। जन भाषा के प्रति आपका अनुराग था और वे उसको सदा सम्मान की दृष्टि से देखते थे। कुचामन की बात है। स्थानीय लोग एक पंडितजी को लेकर आए। उन्होंने संस्कृत में प्रश्न पूछे। मघवागणी ने राजस्थानी में उन प्रश्नों के उत्तर दिए। पंडितजी ने कहा, "संस्कृते वाच्यम्"। मघवागणी ने कहा, "संस्कृत भाषा में यहाँ के लोग समझ नहीं सकते। मुझे आपको ही नहीं, यहाँके लोगों को भी समझाना है। अतः यहाँ की जन भाषा—राजस्थानी भाषा में बोलना ही उचित होगा। अच्छा हो कि आप भी अपने प्रश्न राजस्थानी भाषा में ही करें।" पंडितजी ने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया। वे संस्कृत में प्रश्न पूछते और मघवागणी राजस्थानी भाषा में उत्तर देते। संस्कृत बोलते समय एकबार पंडितजी कहीं स्खलित होने लगे तो मघवागणी ने उन्हें सावधान करते हुए कहा—पंडितजी! पंडितजी इस संकेत से तत्काल संभल गए और सावधानी से बोलने लगे। कुछ देर बाद पुनः स्खलना हुई और मघवागणी ने पुनः उन्हें सचेत किया। पंडितजी कुछ लज्जित हुए और राजस्थानी में बोलने लगे। प्रश्नोत्तर चले। जनता ने पूर्ण रस लिया। पंडितजी ने मघवागणी की विद्वत्ता का लोहा माना और अपनी अकड़ को भूलकर उन्होंने जाते समय मघवागणी के चरणों में झुककर तथा हाथ जोड़कर निवेदन किया—"आप बड़े उदार हैं। आपने मेरी लाज रख ली। यदि आप चाहते तो परिषद् में मुझे अपमानित कर सकते थे। पर आपने वैसा नहीं किया, यह आपकी महानता है।"

बड़ा कौन? यह चार अक्षरों का प्रश्न बड़ा जटिल और रहस्यमय है। वैज्ञानिक, दार्शनिक, कवि, प्रवक्ता, नेता, आचार्य आदि सभी अपने-अपने क्षेत्रों में बड़े माने जाते हैं, परन्तु युक्तियुक्त यह है कि सबसे बड़ा है विवेक। जिसका विवेक अविकल होता है, वह सदा जाग्रत रहता है और वही बड़ा है; फिर चाहे वह कोई भी क्यों न हो।

मुनि मघराज जी विवेक के धनी थे। विवेक का सम्बन्ध अवस्था से नहीं, संस्कारगत विशेषताओं से है। उस समय उनकी अवस्था १४ वर्ष की थी। विवेकपूर्ण जाग्रत था। उन्हें समस्त साधु-समाज का विश्वास प्राप्त था। दूसरों की बात मानने में आनाकानी करनेवाले साधु भी उनकी बात मानने के लिए तैयार हो जाते थे। वि० सं० १९११ की बात है। श्रीमज्जयाचार्य 'खाचरोद' में विराज रहे थे। वहाँ की घटना है। एक साधु के किसी अपराध पर दण्ड निर्धारण करने के लिए श्रीमज्जयाचार्य ने पाँच सन्तों को नियुक्त किया। परस्पर विचार-विमर्श हुआ। दण्ड निर्धारित हुआ। घोषणा की तिथि निकट थी। परन्तु उस साधु ने जयाचार्य से प्रार्थना की कि मुझे यह पूर्ण विश्वास नहीं हो पा रहा है कि ये पाँचों पंच मुझे उचित दण्ड दे सकेंगे? अतः आप कोई दूसरी व्यवस्था करें। श्रीमज्जयाचार्य ने उसे मानसिक तोष दिलाते हुए पूछा, "तुझे किस पर विश्वास है? क्या तू 'मघजी' के निर्णय को मान लेगा?" उस साधु ने तत्काल स्वीकृति देकर 'मघजी' के प्रति अपना विश्वास प्रकट किया। जयाचार्य ने मुनि मघजी को बुला भेजा और पाँचों पंचों पर उन्हें 'सरपंच' स्थापित किया।

क्षमा आत्मा का गुण है। वह प्रत्येक व्यक्ति में होता है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति विरलों में ही उपलब्ध होती है। जिसमें यह गुण अभिव्यक्त होता है वह मनुष्य इतर मनुष्यों से बहुत ऊँचा उठ जाता है, और उसमें अनेक गुण समाविष्ट हो जाते हैं। मुनि मघवा में यह गुण सहज था। जयाचार्य को इसका अनुभव अनेक बार हो चुका था, फिर भी उसकी जानकारी दूसरों को देने के लिए आपने एक प्रयोग किया। एक बार आपने एक साधु को बुला कर कहा—जाओ, मुट्ठी भर रेत मुनि मघराजजी के शरीर पर डाल आओ। उस समय मुनि मघराजजी युवाचार्य के पद पर थे और एक ओर (भींत की तरफ मुंह किए हुए) बैठ कर लिख रहे थे। जयाचार्य का यह आदेश पा मुनि स्तब्ध रह गया। वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना हुआ बगलें झांकने लगा। जयाचार्य ने कहा—जाओ आज्ञा का पालन करो। साधु सकपका गया। धीरे-धीरे जाकर उसने मुट्ठी भर रेत लेकर मुनि मघराज जी के शरीर पर डाल दी। मुनि मघराजजी को यह पता नहीं चला कि यह जान-बूझ कर किया गया है। वे उठे और रेत को शरीर से पोंछ कर पुनः लिखने में लीन हो गए। श्रीमज्जयाचार्य यह सारी घटना देख रहे थे। उन्होंने पूछा—मघजी! क्या कर रहे हो? तत्काल उठते हुए हाथ जोड़ कर आपने कहा—भंते! पीठ पर थोड़ी-सी धूल गिर गई थी, उसे झटक रहा हूँ।

आचार्य—धूल कहाँ से आई? इसकी एषणा की या नहीं?

मघजी—भगवन्! ठीक-ठीक तो पता नहीं है, किन्तु अभी-अभी इधर से एक मुनि गुजरे थे; संभव है कि उन्हीं से यह धूल गिर गई हो।

जयाचार्य—मघजी! ठीक पता तो लगाते कि धूल कहां से आई, अथवा किसने गिराई?

मघजी—भंते! मैं इसकी जाँच-पड़ताल करने में क्यों समय गँवाता? किसी ने जान-बूझ कर तो गिराई नहीं है। असावधानी से गिर गई है। यों तो आँधी आदि में सारा शरीर धूल से भर जाता है। उसका दोष किसे दें? जैसे उसे झाड़ कर साफ कर देते हैं, उसी प्रकार इसे भी झाड़ कर साफ किए देता हूँ।"

जयाचार्य—ठीक है।

यह घटना भले ही छोटी हो, किन्तु इससे उनकी क्षमावृत्ति का स्पष्ट पता चलता है।

जयाचार्य क्रान्तदर्शी थे। उनका समूचा शासनकाल संघर्षों में बीता। क्रांति के बीज लेकर वे आए और अपने शासन-काल में उन बीजों को अंकुरित करने में उन्होंने असाधारण सफलता प्राप्त की। इस सफलता का श्रेय मुनि मघराजजी को था; क्योंकि जयाचार्य जो भी नए नियम या विधान बनाते उनका प्रथम प्रयोग मुनि मघजी से होता था। उस समय के साधु-साध्वी नए-नए प्रयोगों को समझने में अपने आपको असमर्थ पाते थे और इस असमर्थता से वे परोक्ष रूप में जयाचार्य के विचारों में गतिरोध पैदा कर देते थे। जयाचार्य विचारों में लौह पुरुष थे। जो विचार उन्हें सम्यक् लगता, जिस नए विधान में उन्हें संघ-हित दीख पड़ता, उन विचारों को तथा नए विधानों को चालू करने में वे कभी हिचकिचाहट नहीं करते। वे उसे प्रारम्भ कर देते। मुनि मघराजजी उन नए विचारों को समझने-समझाने में पूर्णतः सफल हो जाते। सर्वप्रथम उन्हीं पर वे विचार लागू होते। मुनि मघजी उन विचारों का अक्षरशः पालन करते और अन्यान्य साधुओं को उन विचारों का रहस्य समझाते। समस्त साधु-समाज के वे विश्वासपात्र थे। मुनि मघजी के कथनानुसार अन्यान्य साधु उस नई व्यवस्था के अनुरूप अपने आपको ढालने में प्रस्तुत करते और इस प्रकार जयाचार्य के नए प्रयोग सफल होते। इस विधि से जयाचार्य ने अनेक नई बातें कार्यान्वित कीं और तेरापंथ शासन को विकास की ओर अग्रसर किया।

मुनि मघराजजी में 'सेवा वृत्ति' का अपूर्व गुण था। यह उनकी स्वभावगत विशेषता थी। अनेक साधुओं को वे अयाचित सेवाएँ देते, और सहज ही उनके हृदय को जीत लेते। सेवावृत्ति का उपादान है नम्रता। नम्रता चापलूसी नहीं, आत्मा की सहज विनय है। जो इसमें रच-पच जाता है वह स्वयं झुकते हुए सहस्रों को अनायास ही झुका लेता है। मुनि मघराज जी विनयशील थे, इसीलिए सेवाभावी थे। वे वृद्ध, ग्लान आदि की तन-मन से सेवा करते और उसे अधिकाधिक समाधि उत्पन्न करने का प्रयास करते। जो साधु नई व्यवस्था के प्रथम दर्शन से घबराजाते, उनके लिए वे सहायक बनते और उनके कार्यों में हाथ बँटाते। इस सहायता से साधुओं का कार्यभार हल्का हो जाता और उन्हें नई व्यवस्था सरल प्रतीत होने लगती। जयाचार्य ने साधु समाज में अर्थ तथा आहार के सम-विभाग की प्रवृत्ति का प्रवर्तन किया। उस समय मुनि मघराजजी की

सेवावृत्ति साधुओं के लिए परम सहायक बनी। वे अपने विभाग का आहार दूसरों को दे देते और उनके विभाग में आए हुए रोटी के टुकड़े स्वयं ले लेते। प्रतिदिन के इस व्यवहार से देनेवाले साधु स्वयं हिचकिचाते और वे स्वयं अपने विभाग में आए हुए टुकड़ों को खाने में आनन्द मानते। सम-विभाग की व्यवस्था पचने लगी। मुनि मघराजजी कहते—जो साधु आहार की 'सीतें' (रोटी के टुकड़े जो भोजन करते समय यदा-कदा नीचे गिर जाते हैं) खाता है उसे विद्या आती है। यह कथन धीरे-धीरे प्रसृत हुआ और साधुओं ने देखा कि स्वयं मघजी अन्यान्य साधुओं के मुंह के आगे पड़ी हुई सीतें खाते हैं। ऐसा करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता। साधुओं ने यह भी अनुभव किया कि इस लघुता से मुनि मघजी दिनोंदिन विकास की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। तब यह कहावत सी बन गई कि 'सीतें खाने से विद्या आती है।' आजतक साधु-साध्वी समाज में यह परम्परा चली आ रही है और आचार्य श्री तुलसी इस कहावत को अनेक बार दुहराते हैं।

अपनी इन प्रकृतिगत विशेषताओं के लिए मुनि मघजी तेरापंथ तीर्थ-चतुष्टय के अपूर्व आकर्षण-केन्द्र बन गये थे। अब उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति अन्यान्य साधुओं में आदर्श बन कर प्रतिबिम्बित होती थी। दूसरे सदा यह कामना करते कि उनमें भी मुनि मघजी जैसी विनय, सेवावृत्ति, क्षमाशीलता और विवेक का समावेश हो। प्रत्येक व्यक्ति उनके पद-चिह्नों पर चलने के लिये लालायित रहता था। वास्तव में उनका जीवन व्यहार और परमार्थ का समवाय था। उनके विचार अध्यात्म-संकेतों से परिपूर्ण थे। उनकी प्रवृत्तियों में सहज सारल्य और आत्म-भाव प्रतिबिम्बित होता था। जो कुछ वे करते, वह किसी नीति-विशेष से प्रेरित होकर नहीं, अपितु स्वभावगत आत्म-भाव की परिपूर्णता से करते। अतः उसमें कृत्रिमता का लेश भी नहीं दीखता। नैसर्गिक गुणों से प्रेरित होकर प्रत्येक प्रवृत्ति जन-मानस को आकृष्ट कर लेती है— इस तथ्य का प्रत्यक्षीकरण मुनि मघजी में सहज ही हो जाता था।

कई व्यक्तियों को जीवन-विकास का अवसर ही नहीं मिलता। वे 'मन्द भाग्य' हैं। कई व्यक्तियों को अवसर मिलता है, पर वे उस अवसर का उचित लाभ नहीं उठाते। अतः वे 'हत भाग्य' हैं। कई व्यक्ति अवसर का समुचित लाभ उठाते हैं और उसे अपने पुरुषार्थ से फलवान् बनाते हैं, वे 'धन्य-भाग्य' हैं। मुनि मघराज जी 'धन्य-भाग्य' थे। जयाचार्य ने उन्हें विकास करने के अनल्प अवसर दिए। मुनि मघजी ने उन अवसरों को सदा फलवान् बनाया, अपना विकास किया और अपने आपको उन अवसरों द्वारा प्रदत्त गुरुतर उत्तरदायित्वों को निभाने योग्य बनाया। उनकी गति सदा प्रगति के चरण चूमती हुई आगे बढ़ती रही। प्रतिगति के स्वप्न भी उन्हें नहीं आए। वे बढ़ते गए। उन्होंने रुकने का कभी नाम भी नहीं लिया। गतिशील व्यक्ति में अनायास ही सहस्रों गुण आ मिलते हैं। वे गुणों के पिण्ड बन गए। मुनि मघजी की स्वाभाविक लघुता ने जयाचार्य की कृपा को शतगुणित कर दिया। वे इन्हें आगे बढ़ने का सदा अवसर देते रहे। चौदह वर्ष की लघु अवस्था में 'सरपंच' बनना सचमुच एक विलक्षण व्यक्तित्व का परिचायक था।

वि० सं० १९१२ में जयाचार्य की आँखों में कुछ गड़बड़ी हुई। खेरवै (मारवाड़) की बात है। वहाँ साधुओं को हाजरी सुनाने का अवसर आया। जयाचार्य ने यह कार्य मुनि मघजी को सौंपा। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में यह गुरुतर उत्तदायित्व अति विलक्षण व्यक्तित्व की ओर संकेत करता था। वि० सं० १९१९ में जयाचार्य ने मुनि मघजी को उनकी शासन-सेवा से प्रभावित होकर उन्हें समुच्चय के भार तथा कार्य-विभाजन की प्रणाली से प्राप्त सभी कार्यों से मुक्त कर दिया। उत्तरोत्तर आगे बढ़नेवाले ये गतिशील चरण मुनि मघजी के व्यक्तित्व में सफलता की कड़ियाँ जोड़ते चले जा रहे थे।

वि० सं० १९२० की बात है। उस समय मुनि मघराज जी २४ वर्ष के थे। जयाचार्य चातुर्मासिक स्थिति में चूरू में विराज रहे थे। भगवती जोड़ का कार्य चालू था। परन्तु जयाचार्य को निर्विघ्न समय नहीं मिल पा रहा था। उनका चिन्तन चला और उन्हें शासन-भार से मुक्त होने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। यह गुरुतर कार्य अवश्य था, पर इसका विचार कई वर्षों से चलते-चलते अब परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका था। जयाचार्य ने वर्षों पूर्व मन ही मन अपने उत्तराधिकारी को चुन लिया था। उसे वैधानिक रूप देने की भावना उनमें जगी और उन्होंने उसे मूर्त रूप देने का निश्चय कर लिया। तेरापंथ की शासन-प्रणाली एकतन्त्र की परिक्रमा करते हुए चलती है। कुछ कार्य एकतन्त्र के आधार पर होते हैं और कई कार्य समाजवाद के आधार पर। एकतन्त्र और समाजवाद का यह सह-अवस्थान तेरापंथ संघ के विकास का मूल मंत्र है। तेरापंथ में कुछ कार्य आचार्य ही कर सकते हैं। दूसरा व्यक्ति उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जयाचार्य

अपने कार्यों से मुक्त हो साहित्य साधना में अधिक समय देना चाहते थे। पर यह तब तक संभव नहीं था, जब तक कि वे 'युवाचार्य' की घोषणा नहीं कर देते। जयाचार्य ने 'युवाचार्य' का नाम घोषित करने के लिए आश्विन कृष्णा १३ का दिन निश्चित किया और इससे पूर्व कुछ वैधानिक कार्य सम्पन्न किए। सर्वप्रथम स्वामीजी के प्रथम लेख पत्र की प्रतिलिपि करवाई और उसमें उन्होंने भावी आचार्य के स्थान पर 'मघवागणी' का नाम अंकित किया। तदन्तर चातुर्मास में उपस्थित समस्त साधु-साध्वियों के हस्ताक्षर लिए गए। सभी ने अत्यन्त विश्वस्त-भाव से उस पत्र पर हस्ताक्षर किए। भावी आचार्य निर्धारण की वैधानिक विधि सम्पन्न हो चुकी थी। त्रयोदशी के दिन तो केवल औपचारिक क्रियाएँ अवशिष्ट थीं।

आश्विन कृष्णा १३ का दिन उगा। संघ-चतुष्टय में हर्ष की लहर व्याप्त थी। सहस्रों नर-नारी अपने संघ के भावी अधिनेता को देखने के लिए उत्कंठित नयनों से उपस्थित हुए। युवाचार्य पद देने के उपलक्ष्य में किए जाने वाले क्रिया-कलापों की प्रत्यक्ष झाँकी पाने के लिए लोग लालायित थे। श्रीमज्जयाचार्य परिषद् में पधारे। सभी साधु-साध्वी उपस्थित हुए। सर्वप्रथम जयाचार्य ने शिक्षा देते हुए संघ-चतुष्टय को अपने-अपने कर्तव्यों से अवगत कराया और संघहित की प्रत्येक प्रवृत्ति में सदा जागरूक रहने के लिए शिक्षा दी। जयाचार्य का प्रत्येक वचन जन-मानस में उत्सुकता भरता चला जा रहा था। वातावरण के कण-कण में सजीवता और उन्मेष था। इस प्रसन्न वेला में जयाचार्य ने अपने शरीर पर धारण की हुई नई 'पछेवड़ी' उतारी और उसे मघवा को धारण करने के लिए दे दी। 'युवाचार्य' पद समर्पण की विधि सानन्द सम्पन्न हुई। तीर्थ-चतुष्टय के जयनाद से सारा आकाश गूंज उठा। मुनि मघवा ने इस गुरुतर दायित्व के चीवर को मूक सहमति और व्यक्त विनय के साथ धारण किया और आचार्य के अप्रतिम प्रसाद को पा मन ही मन उनकी कृपा-परता की सराहना की।

अब जयाचार्य कई कार्यों से निवृत्त हो गए। प्राय: सभी कार्य युवाचार्य मघवा को करने होते। अवस्था अल्प थी। उत्तरदायित्व गुरुतर था। फिर भी उन्हें कभी इस गुरुता का भार महसूस नहीं हुआ; क्योंकि जयाचार्य का साहस और बुद्धि-कौशल उनके साथ था। अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी की कार्य-संचालन विधि को देख वे संतुष्ट थे। इसी अप्रतिम संतोष को संजोकर वे साहित्य साधना में जुट गये और आगम मन्थन से जो रत्न प्रसूत हुए वे आज भी जैन जगत् के प्रकाशमान दीपक हैं। शासन-भार मुक्ति के पश्चात् उस एकान्त चिन्तन से जो निष्कर्ष आचार्य ने दिए वे आज भी जैन-विद्वानों के पथ-प्रदर्शक हैं। उनकी कृतियों में जिन वाणी का यथार्थ रूप स्पष्ट प्रतीत होता है। उनकी सेवा तेरापंथ के लिए ही नहीं समूचे जैन समाज के लिए वरदान स्वरूप है। एक सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध होते हुए भी व्यक्ति किस प्रकार समन्वय की भावनाओं को पल्लवित कर सकता है, यह जयाचार्य के साहित्य से जाना जा सकता है।

पद की गुरुता से दायित्व भी बढ़ चुका था। साथ ही साथ गुणों में भी अति वृद्धि हुई। नम्रता और सरलता के स्फुट दर्शन होने लगे। अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए आपको अनेक कार्य करने पड़ते। गल्ती करनेवाले साधु को उपालम्भ भी देना पड़ता। परन्तु आप हृदय से यह कभी नहीं चाहते कि किसी को कठोर वचन कहा जाए या कोई भी उपालम्भ का भागी बने। प्रारम्भ से ही आपकी प्रकृति शान्त और भद्र थी और यह प्रकृति सभी अवस्थाओं में (युवाचार्य या आचार्य अवस्था में) बराबर की रही। शासक अवस्था में जब किसी को उपालम्भ देना पड़ता तो आप गल्ती करनेवाले साधु-साध्वियों को अत्यन्त कोमलता से कहते, "मुझे उपालम्भ देते स्वयं कष्ट होता है। यदि तुम ऐसा काम नहीं करते, गल्ती नहीं करते तो मुझे तुम्हें क्यों कुछ कहना पड़ता ?" इन शब्दों से टपकनेवाले वात्सल्य से गल्ती करनेवाला व्यक्ति भींग जाता और इस सहज सरल आत्मा को अकारण ही कष्ट देने पर अपने आपको धिक्कारता। इस सहज कोमलता से ही वे सबके प्रिय बन गये और कोई भी व्यक्ति उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहा ? वे जो कुछ कहते वह सबके लिए बिना 'अनुनय' के स्वीकार्य हो जाता था। स्वयं जयाचार्य ने उनके सौभाग्य की प्रशंसा करते हुए कहा, "मघजी बड़े भाग्यशाली हैं। जितने संघर्ष होने थे वे मेरे शासनकाल में होकर निपट गए। मघजी के लिए अब कोई झंझट शेष नहीं रहा है।"

अठारह वर्ष के इस युवाचार्य काल में उनकी योग्यता के अनेक रूप सामने आए। साधु आपकी क्षमावृत्ति और विनय-पूर्ण व्यवहार से स्तब्ध रह जाते और असमंजस में पड़ जाते कि आप इस गुरुतर पद पर आसीन रह कर भी इतने नम्र और सरल क्यों हैं ? पर ये तो आपके स्वभावगत गुण थे।

लाडनूं की घटना है। जयाचार्य ऊपर बैठे साहित्य साधना में लीन थे। साध्वी श्री गुलाबांजी सेवा में उपस्थित थीं। जयाचार्य के पद्यों को वे लिपिबद्ध कर रही थीं। युवाचार्य 'मघजी' व्याख्यान देने नीचे पधारे। प्रवचन प्रारम्भ हुआ। प्रवचन करते-करते कहीं स्खलित हुए। जयाचार्य का ध्यान स्खलना की ओर गया। आपने गुलाब सती से कहा, "तुम्हारे भाई को व्याख्यान देना भी नहीं आता। जाओ, तुम व्याख्यान दो।" साध्वी श्री गुलाबांजी असमंजस में पड़ गईं। एक ओर आचार्य के आदेश पालन का प्रश्न था दूसरी ओर युवाचार्य को व्याख्यान के बीच से उठाकर स्वयं व्याख्यान देना था। वे सकपका गईं। कभी एक पैर आगे रखतीं, कभी पीछे। न जाने को दिल चाहता था और न आचार्य के आदेश को टालने की भावना थी। जयाचार्य ने पुनः प्रश्न करते हुए कहा—क्यों व्याख्यान में नहीं गई ? साध्वी श्री गुलाबांजी ने प्रार्थना की—प्रभो ! क्या ही अच्छा हो कि आप स्वयं व्याख्यान में पधारें। लोग आपको अपने बीच पा कृतकृत्य हो जायंगे। जयाचार्य को बात जँच गई। वे स्वयं व्याख्यान में पधारे। लोगों ने जय-जयकार से आपका स्वागत किया। जयाचार्य उच्चासन पर विराजे और युवाचार्य श्री मघजी को प्रवचन में स्खलित हो जाने के कारण आपने कड़ा उपालम्भ दिया। सुननेवाले सारे लोग स्तम्भित रह गये। सभी असमंजस में थे कि एक साधारण स्खलना पर किस प्रकार युवाचार्य को उपालम्भ दिया जा रहा है। इतनी कठोर अनुशासना पर भी युवाचार्य केवल 'तहत्' ही कहकर सारी बातें स्वीकार करते जा रहे थे। उन्हें हर्ष मिश्रित खेद हो रहा था ? हर्ष इसलिए कि पूज्य गुरुदेव ने उन्हें अपनी भूल के परिमार्जन का सुन्दर अवसर दिया था और खेद इसलिए कि अपनी असावधानी के कारण पूज्य गुरुदेव को इतना कष्ट उठाना पड़ा था। वे बद्धांजलि हो गुरुदेव के मुखारविन्द को अनिमेष निहारते हुए उन की वाणी को सावधानी से सुन रहे थे।

दूसरे दिन श्रीमज्जयाचार्य व्याख्यान में पधारे। सभी साधु-साध्वी उपस्थित थे। आप गत दिवस की वार्ता को दुहराते हुए युवाचार्य श्री मघजी की सहनशीलता, तितिक्षा तथा आचार्य के प्रति समादरता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए अपने योग्य उत्तराधिकारी के गुणों पर मुग्ध हो गए। परिषद् ने देखा कि उपालम्भ में विषाद न पानेवाले तथा प्रशंसा व हर्षातिरेक से मुग्ध न होनेवाले युवाचार्य श्री मघजी के चेहरे पर आज भी कल की ही भाँति गम्भीरता और नम्रता है। उनके अन्तस्तल में रहा हुआ महान् भाव लोगों के हृदय में गूंज उठा।

आचार्य के रूप में

वि० सं० १९३८ की भाद्रपद शुक्ला २ को जयपुर में मघवागणी ने तेरापंथ के शासन भार को पाँचवें आचार्य के रूप में विधिवत् संभाला। तीर्थ चतुष्टय आपके उदार विचार तथा पवित्र आचार से प्रभावित ही था। अब आपका अनुशासन पा वह कृतकृत्य भी हो गया। श्रीमज्जयाचार्य के निधन से एक क्रांतिकारी चरण की परिसमाप्ति हुई। कभी रूढ़ न बननेवाले जयाचार्य ने तेरापंथ में अनेक परिवर्तन लाकर उसकी नींव को सुदृढ़ता प्रदान की। उनके द्वारा प्रवर्तित नूतन विधानों तथा अकल्पित परिवर्तनों को साधु-समाज पचाने लग गया था। संघर्ष मिट चुके थे और जो एक-आध चिनगारी अवशिष्ट थी वह भी मघवागणी के शीतल स्वभाव से हतप्रभ ही हो चुकी थी। जयाचार्य क्रांति के चरणों का निर्माण करते हुए जीवन भर आगे चलते रहे। उन्होंने पीछे मुड़कर यह कभी नहीं देखा कि उनके चरण चिह्नों का अनुगमन करनेवाले व्यक्ति किस प्रकार वहाँ कष्ट का अनुभव करते हैं और उन चरणों की भाषा को न समझ सकने के कारण प्रति चरण पर उद्भव होनेवाले संघर्ष क्या-क्या नहीं कर लेंगे। वे क्रान्ति के बीज बोते और उन्हें अंकुरित कर के ही साँस लेते थे। वे जानते थे कि जो संगठन देश कालोचित परिवर्तनों को करने में सक्षम नहीं होता, वह रूढ़ बन जाता है। उसके चैतन्य का उत्स सूख जाता है और वह केवल एक रूढ़िवाद का पोषक निर्बल तंत्र मात्र रह जाता है। ऐसे संगठनों से विकास की आशा नहीं की जा सकती। परन्तु वे यह भी जानते थे कि परिवर्तन यदि ध्रौव्य की परिक्रमा किए चलता रहा तो वह संगठन या संस्था का हित साध सकता है। अन्यथा वह अकार्यकर बन जाता है। उन्होंने मौलिकता को सुरक्षित रखते हुए अनेक परिवर्तन किए। मघवागणी इन परिवर्तनों के समर्थक ही नहीं, प्रसारक भी थे। धीरे-धीरे परिवर्तन हजम होने लगे। मघवागणी को इन परिवर्तनों के अनुसार कार्य-संचालन में कभी कोई बाधा नहीं आई। समूचे संघ का विश्वास उन्हें मिल चुका था।

जयपुर का चातुर्मास समाप्त कर मघवागणी थली प्रदेश की ओर पधारे। इससे पूर्व थली प्रदेश छोगजी, चतुर्भुजजी

आदि गण-बहिष्कृत साधुओं का प्रचार-क्षेत्र बना हुआ था। अनेक क्षेत्र में उनका प्रभाव स्पष्ट प्रतीत हो रहा था। परन्तु वर्तमान में उनका संगठन छिन्न-भिन्न हो गया था। मघवागणी वहाँ भी पधारे। लोगों ने हृदय से आपका स्वागत किया और हजारों नर-नारियों ने गुरु धारणा की। सरदारशहर जो बहिनों का क्षेत्र माना जाता था, वहाँ भी सैकड़ों भाइयों ने गुरु धारणा की और तेरापंथ संगठन के प्रति उत्तरदायी रहने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार अनेक क्षेत्रों में अनेक परिवारवालों ने गण बहिष्कृत की धारणाओं को तिलांजलि दे मघवागणी की अनुशासना स्वीकार की। तीन वर्ष तक आप थली प्रदेश को अध्यात्म वाणी से आप्लावित करते रहे। वहाँ का कण-कण आपको पा हर्ष-विभोर था। वहाँ से आप मारवाड़ पधारे। वि० सं० १९४१ का चातुर्मास जोधपुर में सम्पन्न हुआ। शान्त-दान्त आचार्य को पा मरुधर के वासी अपने भाग्य को सराह रहे थे। महासती श्री गुलाबां जी साथ थीं। पौष में उनका स्वर्गवास हो गया। मघवागणी पाली पधारे और साध्वियों का भार महासती नवलां जी को सौंपा गया। वहाँ से अनेक नगरों का स्पर्श करते हुए वे मेदपार की ऊँची-नीची पथरीली भूमि को पार कर देवगढ़ पधारे। कुछ दिन पूर्व ही यहाँ के रावजी के कुँवर दिवंगत हो गए थे। सारे शहर में शोक छाया हुआ था। सभी आमोद-प्रमोद बन्द थे। परन्तु जब रावजी ने मघवागणी के पदार्पण के समाचार सुने तो उन्होंने नगर के लोगों को यह कहलाया कि मघवागणी के पुण्य पदार्पण पर लोग खुशियाँ मनाएँ, गाजे-बाजे के साथ उनका स्वागत करें और पूज्य आचार्य जी के साथ रहनेवाले यात्रियों को ठाठ से जिमाएँ। जीमनवार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस कथन से देवगढ़वासी लोग बहुत प्रसन्न हुए। पूर्ण ठाठ-बाट के साथ नगरवासियों ने आचार्य श्री का हृदय से स्वागत किया। रावजी की प्रार्थना पर आप गढ़ में पधारे। दूर तक रावजी सामने आए और अत्यन्त आदर व श्रद्धापूर्वक मघवागणी को अन्दर ले गए। आचार्य श्री की शान्त और सुधारसमय वाणी से शोक संतप्त परिवार को सान्त्वना मिली। सहानुभूति के दो शब्द सुन सारा परिवार दुःखद दर्द को भूल सा गया। यह सत्य है कि दुःखी अवस्था में संवेदना के दो शब्द भी दुःख व दर्द को हल्का कर देते हैं।

वि० सं० १९४३ का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। शहर के लोग धार्मिक प्रवृत्तियों में तन्मय होते जा रहे थे। यहाँ के प्रमुख नागरिकों तथा राज्याधिकारियों का सम्पर्क बढ़ा और जन-जन में मघवागणी के शान्त-दान्त व्यक्तित्व की चर्चा होने लगी। चातुर्मास के बाद एक दिन महाराणा फतेहसिंहजी आचार्य श्री के दर्शन करने कविराज सांवलदासजी की बाड़ी में आए। कविराजजी की प्रेरणा से ही वे आज यहाँ दर्शनार्थ आए थे, परन्तु पूर्व निर्धारित समय से कुछ विलम्ब हो जाने के कारण उन्हें कुछ संकोच सा हो रहा था। उन्होंने मघवागणी के पास जाकर विलम्ब के लिए क्षमा-याचना की। मघवागणी ने उन्हें प्रेम भरे शब्दों में उपदेश दिया। वे उत्कर्ण हो अत्यन्त अवधानता पूर्वक अध्यात्म-वाणी का रसास्वादन कर रहे थे। लगभग २२ मिनट का समय बीत गया। प्रतिक्रमण की बेला आई। मघवागणी ने उपदेश बन्द किया। सभी साधु प्रतिक्रमण में लग गए। महाराणा फतेहसिंहजी महलों की ओर चल पड़े। लोगों को लगा कि महाराणा साहब अप्रसन्न होकर लौट गए हैं। पर मघवागणी को इसकी कोई चिन्ता ही नहीं थी। किसी की बातचीत की अपेक्षा उन्हें अपनी क्रिया की अक्षुण्णता का विशेष महत्त्व जान पड़ता था। लोग घबराए। पर महाराणा फतेहसिंहजी ने अपने स्थान पर पहुँच कर कहा, "संत बड़े फक्कड़ हैं। अपने नियमों के पालन में इतने पक्के हैं कि क्रिया-कलाप का समय आ जाने पर वे हर किसी को इन्कार कर सकते हैं।"

जिस संगठन में व्यक्ति का स्वार्थ संघ के हित के नीचे रहता है, वही संघ विकास कर सकता है। जिस संघ का अधिनेता संघ-हित के लिए अपने व्यक्तिगत हितों की आहुति दे देता है वह संघपति संघ को उन्नति के शिखर पर पहुँचा देता है। मघवागणी व्यक्तिगत हित की अपेक्षा संघ हित को विशेष महत्त्व देते थे। मेवाड़ से थली की ओर पधारते समय आप अजमेर पधारे। अजमेर में कई स्थानकवासी आर्याओं ने प्रार्थना की कि उन्हें तेरापंथ गण में दीक्षित कर लिया जाए। कई दिनों तक यह प्रयास चला। परन्तु मघवागणी ने इस प्रसंग को टालते हुए उन्हें कहा, 'तेरापंथ की दीक्षा अत्यन्त कठोर है। एक गुरु के अनुशासन में जीवन अर्पित किए चलना उनके लिए कठिन हो जाता है जो वर्षों से स्वच्छन्दता पूर्वक रहते रहे हों।" आर्याओं ने बात मान ली और फिर कभी आग्रह नहीं किया।

वि० सं० १९४९ का चातुर्मास रतनगढ़ में था। प्रारंभ में साधारण प्रतिश्याय हुआ। धीरे-धीरे उसका प्रकोप बढ़ा। शरीर रोगाक्रान्त हुआ। ज्वर रहने लगा। लगभग सारा चातुर्मास अस्वास्थ्य में बीता। अशक्त होते हुए

भी चातुर्मास समाप्ति के बाद आप चूरू होते हुए सरदारशहर पधारे। व्याधि बढ़ रही थी। मघवागणी को यह विश्वास हो गया कि अब पुनः स्वास्थ्य लाभ होना कठिन है। व्याधि की वृद्धि के साथ-साथ यह विश्वास भी दिनोदिन दृढ़ होता गया। मार्यादा महोत्सव का कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ। साधु-साध्वियों ने अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों की ओर विहार किया। व्याधि बढ़ने लगी। शासन-भार की चिन्ता प्रबल हुई। मुनि माणकलालजी को आपने युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। कुछ निश्चिन्तता का अनुभव हुआ। तीन दिन बीते। चौथे दिन खाँसी का प्रकोप बढ़ा। साधु चिन्तित हो उठे। मघवागणी ने कहा, "चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं है। अब यह कष्ट अधिक समय का नहीं है।" कुछही देर बाद खाँसी का प्रकोप घटा। मघवागणी ने मुनि माणकचन्द जी को बुलाया। सभी संतों को जगाया गया। जब सभी एकत्र हो गए, तब मघवागणी ने अत्यन्त अशक्त होते हुए भी अन्तिम शिक्षा फरमाते हुए युवाचार्य को गण की धारणा करने के लिए अनेक बहुमूल्य बातें कहीं। उपस्थित साधुओं को भी शिक्षा दी और आचार्य के प्रति एकनिष्ठ रहने की बात कही। बोलते-बोलते आप थक गये थे। अतः आपने कुछ देर तक विश्राम किया। कुछ देर बाद उनकी आँखों की पुतलियाँ बदल गईं। बड़े कालूजी स्वामी ने 'संथारा' (आजीवन अनशन) पचखाया। कुछ देर बाद बैठे-बैठे 'देवलोक' हो गए। इस प्रकार वि० सं० १९४९ की चैत्र कृष्णा ५ की रात्रि को आपका समाधि-मरण हुआ।

कुछ ज्ञातव्य विवरण

जन्म—वि० सं० १८९७ की चैत्र शु० ११ को बीदासर में।

दीक्षा—वि० सं० १९०८ की मृगशिर कृ० १२ को लाडनूं में।

युवाचार्यपद—वि० सं० १९२० की असौज कृ० १३ को चुरू में।

आचार्य पद—वि० सं० १९३८ की भाद्रपद शु० २ को जयपुर में।

स्वर्गवास—वि० सं० १९४९ की चैत्र कृ० ५ को सरदारशहर में।

चातुर्मास

आपने साधारण साधु तथा युवाचार्य की अवस्था में ३० चातुर्मास जयाचार्य के साथ ही किए। आचार्य पद प्राप्ति के बाद ११ चातुर्मास ८ शहरों में किए जिनका विवरण यों है:—

बीदासर	३ चातुर्मास	वि० सं० १९३९, ४४ एवं ४७
चूरू	१ ,,	वि० सं० १९४०
सरदारशहर	२ ,,	वि० सं० १९४१ एवं ४५
जोधपुर	१ ,,	वि० सं० १९४२
उदयपुर	१ ,,	वि० सं० १९४३
लाडनूं	१ ,,	वि० सं० १९४६
जयपुर	१ ,,	वि० सं० १९४८
रतनगढ़	१ ,,	वि० सं० १९४९

दीक्षाएँ

मघवागणी के शासन काल में ११९ दीक्षाएँ हुईं (३६ साधु तथा ८३ साध्वियाँ)। २२ साधु तथा ४५ साध्वियों को आपने स्वयं दीक्षित किया और अन्य दीक्षाएँ दूसरे-दूसरे साधु-साध्वियों द्वारा हुईं। उनके शासन काल में ९ साधु तथा ६ साध्वियाँ गण से अलग हो गईं। उनके दिवंगत होने के समय भिक्षु शासन में ७१ साधु तथा १९३ साध्वियाँ विद्यमान थीं।

तेरापंथ के षष्ठ आचार्य श्री माणकगणीजी

(ले०—मुनि श्री मांगीलालजी 'मधुकर')

वैराग्य किसी अवस्था विशेष से बँधा हुआ नहीं होता। एक जराजीर्ण वृद्ध, जिसका यौवन बरसाती नदी के पूर की तरह उतर चुका होता है, अपनी वासनाओं पर नियंत्रण नहीं कर पाता और एक युवक, जिसके सामने अगणित प्रलोभन और जीवन के नाना सुनहरे स्वप्न होते हैं, उनकी तरफ आकर्षित होना तो दूर, आँख उठाकर भी देखना पसन्द नहीं करता, और संयम के कण्टकाकीर्ण पथ पर अपने कदम बढ़ा देता है। इस भावना के पीछे पूर्व संस्कारों का ही हाथ हो सकता है। आचार्य माणकगणी ऐसे ही एक पूर्व संस्कारी पुरुष थे।

राजस्थान के सुप्रसिद्ध नगर जयपुर में सं० १९१२ की भाद्रपद कृष्णा ४ के दिन जौहरी परिवार में आचार्य माणकगणी का जन्म हुआ था। आपके पिता का नाम हुकुमचन्दजी खारड़ और माता का नाम छोटांजी था। बचपन में ही माता-पिता दोनों का देहावसान हो जाने के कारण आपका लालन-पालन आपके बाबा लक्ष्मण दासजी की देखरेख में शुरू हुआ। लाला लक्ष्मणदास जी स्नेही, धर्मनिष्ठ और विशाल हृदयवाले व्यक्ति थे। वे अपने बालक की तरह ही उन्हें समझते थे और हर तरह से इनका ध्यान रखते थे। इस तरह सब प्रकार की सुविधाओं के बीच माणकगणी का अध्ययन प्रारंभ हो गया।

माणकगणी बचपन से ही विनीत एवं सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। वे लाला लक्ष्मणदासजी का बहुत सम्मान किया करते थे। वे उनके विचारों के अनुकूल ही अपने आपको ढालते थे। यही कारण था कि धार्मिकता, अनुशासन-प्रियता आदि अनेक सद्गुण उनके जीवन में स्वतः ही समाविष्ट हो गये जो अन्य बालकों में मुश्किल से ही मिलते हैं।

सं० १९२८ में जब कि माणकगणी केवल सोलह वर्ष के ही थे श्रीमज्जयाचार्य का जयपुर में चातुर्मास के लिये पावन-पदार्पण हुआ। यह चातुर्मास उनके लिए वरदान स्वरूप सिद्ध हुआ। लाला लक्ष्मणदासजी द्वारा वपित धर्म भावना के बीजों को अंकुरित होने का पूर्ण सुअवसर मिला। वे अध्ययन के अतिरिक्त अपना सारा समय प्रायः साधुओं की सेवा में ही बिताया करते थे। जयाचार्य के प्रति उनका सहज अमित आकर्षण था। अतः उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का उन पर एक अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ रहा था। जब वे जयाचार्य के वैराग्य भाव से सराबोर व रस-भीने प्रवचन सुनते तो बहुधा उनके मन में एक प्रकार की उथल-पुथल मच जाती और वे गहरे चिन्तन समुद्र में गोते लगाने लग जाते। इसी चिन्तन ने उन्हें विरक्ति की ओर बढ़ने के लिये अत्यधिक प्रेरित किया।

कुछ दिन तक उनकी यह भावना अन्दर ही अन्दर पनपती रही और एक दिन जब जयाचार्य एकान्त में विराजमान थे, माणकगणी ने अपने विचार व्यक्त किये और दीक्षा की भावभरी विनम्र प्रार्थना की। जयाचार्य ने जब यह सुना तो उन्हें तत्त्व ज्ञान बढ़ाने के लिये विशेष प्रेरणा दी। फलस्वरूप माणकगणी एकनिष्ठ होकर उसी कार्य में जुट गये, और थोड़े ही समय में उन्होंने काफी शास्त्र कण्ठस्थ कर लिया।

जयाचार्य एक महान परीक्षक थे। माणकगणी पर जबसे उनकी दृष्टि पड़ी तभी से वे उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का बारीकी से अध्ययन कर रहे थे; और संभव है, उन्हीं दिनों जयाचार्य ने यह निश्चय कर लिया था कि तेरापंथ के लिये यह एक होनहार साधु होगा। वस्तुतः उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन और आचार-व्यवहार जयाचार्य की कसौटी पर खरे उतरे थे।

जयाचार्य जानते थे कि लाला लक्ष्मणदासजी का माणकगणी पर अत्यन्त मोह है। अतः अचानक यह चर्चा चलने से इनके हृदय पर गहरी चोट सी लगेगी। संभव है उसे सहन करना उनके लिये कठिन हो। अतः उन्होंने माणकगणी को समझाया कि पहले भूमिका तैयार किये बिना यह कदम उठाना ठीक नहीं रहेगा। इसके लिये तुम्हें उचित अवसर की ही प्रतीक्षा करनी चाहिये। माणकगणी इस इंगित को समझ गये और वे उपयुक्त अवसर की खोज में रहने लगे। इस प्रकार ज्ञानार्जन और आंतरिक साधना में ही वह सारा चातुर्मास सानन्द सम्पन्न हो गया तथा जयाचार्य का वहाँ से विहार हो गया।

जयपुर से विहार कर जयाचार्य जब "कुचामण" पधारे तब लाला लक्ष्मणदासजी भी सपरिवार सेवा में ही थे। माणक गणी ने इसी अवसर को अत्युत्तम जान कर आचार्य से निवेदन किया कि अगर ध्यान हो तो अब इस विषय से लालाजी को अवगत कर अनुमति प्राप्त करने की चेष्टा करूँ और सबसे अच्छा तो यह हो कि आपके द्वारा ही यह कार्य प्रारंभ हो।

जयाचार्य ने उनके इस कथन के औचित्य पर ध्यान दिया एवं उसे ठीक भी समझा। अतः एक दिन वार्तालाप के दौरान में लालाजी से आपने कहा कि अगर तुम्हारा माणक दीक्षा स्वीकार करे तो अवश्य ही जिन शासन की शोभा बढ़ानेवाला साधु साबित हो सकता है। लालाजी ने जब ये शब्द सुने तो गद्‌गद् विह्वल होते हुए बोले—महाराज! इस कार्य के लिये कठोर साधना और मानसिक भावना भी तो चाहिये। वह जब तक न हो आपके अमूल्य शब्द कैसे फलीभूत हो सकते हैं? जयाचार्य बोले—अगर माणक तैयार हो तब तो तुम अनुमति दे दोगे न? लालाजी ने पुनः कहा—आर्यश्रेष्ठ, संयम पालना, नंगी खड्ग पर खेलने जैसा है। एक सुकोमल बालक जिसका जीवन सब प्रकार की सुविधाओं के बीच बीता हो, साधुत्व के सैकड़ों संकटों का सामना कैसे कर सकेगा? पैदल चलने का भी जिसको कभी कार्य न पड़ा हो, वह अपना सारा वजन कंधों पर लेकर हजारों कोस कैसे विहरण-विचरण कर सकेगा? यह तो और भी कठिन लगता है।

जयाचार्य बोले—जब मनुष्य का मन मजबूत हो जाता है तब वह असाध्य को सुसाध्य बना डालता है। भयंकर बाधाएँ उसे रोक नहीं सकतीं, प्रत्युत् उसमें दुगुने वेग से कार्य करने की क्षमता पदा कर देती हैं। फिर माणक के लिये तुम इतनी चिन्ता क्यों करते हो? अपना रजोहरण लेकर तो वह चल ही सकेगा? आज तक तुम जिस कार्य को आगे बढ़ाने में दत्तचित्त रहे हो, उसी कार्य को गति देने के लिए तुम्हारे ही परिवार का एक सदस्य जीवन समर्पण करता है, यह तो और भी हर्ष का विषय है। क्या तुम इसमें साधक नहीं बनोगे? जिस धर्म संघ की वृद्धि के लिये मैं उद्यत हूँ, उसका उत्तरदायित्व संभालने के लिये तो मघजी (मघवागणी) तैयार हैं पर मघवाजी के पीछे भी तो आवश्यकता रहेगी?

जयाचार्य की इस महत्त्वपूर्ण वाक्यावली से माणकगणी के सुनहरे भविष्य की सहज ही कल्पना की जा सकती है? वह शासन प्रेमी लालाजी से भी छिपी नहीं रही। वे कहने लगे—महाराज, यदि आप माणक को इतना योग्य और संघ के लिए उपयुक्त समझते हैं और वह स्वयं भी इस विकट पथ का पथिक बनकर जीवन निर्माण करना चाहता है तब फिर अनुमति देने में मुझे कोई बाधा नहीं हो सकती।

इस प्रकार जब लालाजी की आज्ञा मिल गई तब जयाचार्य ने वि०सं० १९२८ की फाल्गुन शुक्ला एकादशी के दिन लाडनूं में हजारों नर-नारियों के बीच माणकगणी को भागवती दीक्षा प्रदान की।

माणकगणी एक मेधावी बालक थे। वे प्रत्येक वस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करना चाहते थे। अतः दीक्षित होते ही वे सिद्धान्तों का गहन अध्ययन करने में जुट गये। जयाचार्य की दृष्टि तो उन पर प्रारम्भ से ही थी। अतः समय-समय पर सुशिक्षा उन्हें स्वयं सहजता से ही मिल जाती थी। अध्ययन की लगन के अतिरिक्त विनय वृत्ति, प्रकृति-चारुता नियमानुवर्तिता आदि अनेक सद्‌गुण भी उनके जीवन के सहज अंग बन गये थे। इन्हीं विशेषताओं के कारण तीन वर्ष के अत्यल्प काल में ही उन्हें अग्रगण्य या दलपति बना दिया गया था।

अग्रणी बनने के बाद उनमें ज्ञान पिपासा और अधिक जग उठी। यही कारण था कि वि० सं० १९४३ में जब उनका चातुर्मास जयपुर में था, उन्होंने संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ किया, तथा 'शब्द बोध', 'सिद्धान्त चन्द्रिका' आदि कठिनतम ग्रन्थों को कंठस्थ कर लिया। जहाँ वे अपना ज्ञान-कोष बढ़ाने में तत्पर थे वहाँ समागत जनता को भी पूरा लाभ मिले इसका विशेष ध्यान रखते थे। अतः उनका व्यक्तित्व स्वयं ही चमक उठा। उन्होंने जयाचार्य के उपर्युक्त शब्दों को पूर्ण चरितार्थ करके दिखला दिया।

वि०सं० १९३८ में जयाचार्य के स्वर्ग प्रयाण करने पर शासन की बागडोर मघवागणी ने संभाली। जयाचार्य की तरह मघवागणी भी उन्हें प्यार व सौहार्द की दृष्टि देखते और विशेष महत्त्व देते थे। समय-समय पर होनेवाली विशेष घटनायें इस तथ्य पर प्रयाप्त प्रकाश डालती हैं।

एक बार जब मघवागणी उदयपुर में थे उस समय कविवर सांवलदासजी, जो उदयपुर के महाराणा फतहसिंह द्वारा सम्मानित व्यक्तियों में से एक थे, मघवागणी की काफी सेवा किया करते थे। तेरापंथ संघ को वे बहुत ऊँची दृष्टि से देखा

करते थे। एक दिन वार्तालाप के दौरान में उन्होंने मघवागणी से पूछा—महाराज, अपने उत्तराधिकारी के बारे में आपने क्या निर्णय किया है ? इस प्रश्न को उस समय तो मघवागणी ने यह कहकर टाल दिया कि इस पर हम फिर कभी बात करेंगें। परन्तु जब दुबारा उदयपुर पधारना हुआ तब भी कविराज ने वही प्रश्न सामने रखा। उसके उत्तर में जिस व्यक्ति का नाम आया वे ख्यातनामा माणकगणी ही थे।

माणकगणी का प्रभाव ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा था, त्यों-त्यों वे अधिकाधिक विनयी और गुरु सेवा-परायण होते चले जाते थे। निम्न घटना से प्रत्यक्ष जाना जा सकता है कि वे गुरु-सेवा के लिये कितने लालायित रहा करते थे।

वि० सं० १९४६ में उनका चातुर्मास जोधपुर में था। वहाँ उनके पैर में कीडी नगरा नामक एक भयंकर रोग हो गया। रुग्णावस्था के कारण चातुर्मास के बाद भी उनकी स्थिति विहार करने की न थी। फिर भी गुरुदर्शन की इतनी उत्कंठा थी कि वे अपने मन को वहाँ रहने के लिये मना नहीं सके और उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। यद्यपि वह मार्ग काफी कठिनाई से कटा था, तथापि बीदासर में गुरुदर्शन करके ही उन्होंने विश्राम ग्रहण किया था। वहाँ आने पर वह रोग भी शीघ्र ही शांत हो गया था। इसके बाद तो वे प्रायः मघवागणी की सेवा में ही रहने लगे थे।

वि० सं० १९४९ में सरदारशहर मर्यादा महोत्सव के बाद मघवागणी की शारीरिक स्थिति काफी कमजोर होने लगी थी। विविध औषधोपचार के बाद भी जब स्वस्थ नहीं हुए तब शासन के भावी प्रबन्ध में कठिनाई न आवे इसके लिए फाल्गुन शुक्ला ४ के दिन युवराज पद पत्र लिखकर उन्होंने तत्कालीन साध्वी प्रमुखा महासती नवलांजी को सौंप दिया। चैत्र कृष्णा द्वितीया के दिन सहस्रों नर-नारियों के समक्ष जम्मड़ जी के प्रांगण में उन्हें युवराज पद प्रदान किया गया।

चैत्र कृष्णा पंचमी की रात्रि में मघवागणी के गात में वेदना ने उग्र रूप धारण कर लिया पर आत्मबली मघवागणी अन्तिम समय में भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति पूर्ण सजग थे। वे शासन-प्रबन्ध की प्रत्येक घटना से माणकगणी को अवगत करा देना चाहते थे। अतः रात्रि के ग्यारह बजे जो-जो शिक्षाएँ फरमायी थीं, वे आज भी तेरापंथ शासन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये उनकी अन्तिम शिक्षाएँ थीं। शिक्षा के अनन्तर ही जब वे विश्राम के लिये सोने लगे तो अचानक तीन हिचकियाँ आईं और जैन शासन का एक अद्वितीय सूर्य इस धराधाम से सदा के लिए अदृश्य हो गया। माणकगणी को युवराज बने पाँच भी दिन नहीं हुए थे कि संघ का सारा भार उनके कंधों पर आ गया।

वि० सं० १९४९ की चैत्र कृष्णा ८ के दिन आचार्य पद महोत्सव मनाया गया। साधु-साध्वियों के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं ने भी अपनी भक्ति कुसुमांजली अर्पित की। श्रद्धा के उद्‌गार समर्पित किये। उस समय माणकगणी अपने जीवन के ३८ वें वर्ष में प्रवेश कर रहे थे। गौर वर्ण, लम्बा कद, सौम्य मुखमुद्रा, मधुर कंठ आदि उनकी बाह्य विशेषताएँ भी ऐसी थीं जो आगन्तुक व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थीं।

वे यात्रा प्रेमी थे। दस-पन्द्रह मील चलना तो उनके लिये साधारण-सी बात थी। धर्म-प्रचार के साथ-साथ यात्रा में भी अनेक व्यक्ति तेरापंथ की प्रगति से सहज ही परिचित हो सकते हैं इसी भावना से प्रेरित होकर जहाँ अन्य आचार्यों का पदार्पण भी नहीं हुआ था वहाँ पर उन्होंने काफी समय लगाया और यह श्रेय हरियाणा प्रान्त को विशेष रूप से प्राप्त हुआ था।

लोग उनके प्रति इतने आकर्षित थे कि जिस क्षेत्र में उनका पदार्पण होता उधर एक मेला सा लग जाता था। रेल आदि साधनों की बहुलता न होने पर भी दूर-दूर के सैंकड़ों यात्री उनके दर्शनार्थ आया करते थे। वि० सं० १९५२ के जयपुर चातुर्मास में बीस हजार यात्रियों का आगमन इसका स्पष्ट प्रमाण है।

माणकगणी एक उदार प्रकृति के आचार्य थे। शासन को उनसे बहुत कुछ प्राप्त होने की आशा थी; किन्तु दुर्भाग्य से उन्हें बहुत ही थोड़ा आयुष्य प्राप्त हुआ था। आचार्य अवस्था में वे केवल पाँच ही चातुर्मास कर सके थे। क्रमशः सरदारशहर, चुरू, जयपुर और बीदासर में चातुर्मास करने के बाद वि० सं० १९५४ में उनका अन्तिम चातुर्मास सुजानगढ़ में हुआ था। वहाँ आश्विन मास में ज्वर और पेचिस की साधारण-सी बीमारी हुई और धीरे-धीरे वह बढ़ती गयी। नाड़ी विशेषज्ञ से स्थिति की गंभीरता को समझकर मुनि मगनलाल जी स्वामी आदि प्रमुख संत शासन-प्रबंध के लिए चिन्तातुर हो उठे और उन्होंने सुव्यवस्थित ढंग से आचार्य देव के सामने आगामी व्यवस्था करने की प्रार्थना की।

परन्तु भूतकाल की प्रायः सभी बातें यथातथ्य मिलने के कारण माणकगणी अपनी जन्मकुंडली पर अधिक विश्वास करते थे। अतः साधुओं की इस विनीत विज्ञप्ति पर विशेष गौर नहीं किया गया।

इस शारीरिक क्षीणता के दौरान में कार्तिक तृतिया के दिन वे बेहोश हो गये और रात्रि के करीब ११ बजे तीन हिचकियों के साथ केवल ४२ वर्ष की अवस्था में ही वे स्वर्ग प्रयाण कर गये।

यह एक ऐसी अनहोनी घटना थी जिसका प्रभाव संघ के सभी सदस्यों पर पड़ा और यह स्वाभाविक भी था। जिस संघ ने एक-एक आचार्य के नेतृत्व में करीब डेढ़ सौ वर्षों से निरन्तर प्रगति की थी, उसी के सामने इस असामयिक निधन ने एक ज्वलन्त प्रश्न खड़ा कर दिया था। पर तत्कालीन व्यवस्थापक संतों की सूझ-बूझ के कारण सारे संघ ने जिस प्रकार की अनुशासन-प्रियता का परिचय देकर एक आचार्य का चुनाव किया वह विश्व के समस्त धर्मों के इतिहास में शायद अपने ढंग का पहला ही था।

यद्यपि माणकगणी ने साढ़े चार वर्ष तक ही शासन प्रबन्ध किया था, फिर भी उनकी दयालुता और स्नेहशीलता ने संघ के सदस्यों को मंत्र-मुग्ध सा कर लिया था। जहाँ वे साधु-साध्वियों की मांगों पर ध्यान देते थे वहाँ वे अपनी ओर से भी उन्हें यथोचित सुविधा देने में नहीं चूकते थे। संघ की उन्नति के लिये न जाने कितनी नवीन योजनाएँ थीं पर आयुष्य की स्वल्पता के कारण संघ उन सब से लाभान्वित नहीं हो सका। फिर भी थोड़े समय में उन्होंने जो कुछ दिया वह तेरापंथ के इतिहास में सदा अजर अमर रहेगा।

तेरापंथ के सप्तम आचार्य श्री डालगणी

(मुनि श्री ताराचन्दजी)

जीवन काल में जीने और मरने के साथ ही मर जाने के इस क्रम का अपवाद बनना किसने सीखा ? विरला व्यक्ति ही मर कर जीना जानता है। जो मर कर जीते हैं, वे भौतिक शरीर से नहीं, अपितु अपनी मौलिक विशेषताओं के कारण ही जीते हैं। उनकी सहज भाव से की जानेवाली साधना के सुवास से असंख्य लोग सुवासित होते हैं। इतिहास के पृष्ठ ऐसे ही विशिष्ट व्यक्तियों के लिए सुरक्षित रहते हैं। तेरापंथ के सप्तम आचार्य श्री डालगणी का जीवन अनेक विशेषताओं का संगम स्थल था। उनका आकर्षक व्यक्तित्व असाधारण था। उनके कर्तृत्व ने उनके व्यक्तित्व को निखारा। साधना के प्रथम चरण से ही उनकी प्रगति का अध्याय प्रारंभ हुआ। वे अपने विचारों के दृढ़ साहसी एवं निर्भीक पुरुष थे। प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनकी प्रगति में रोड़ा बनना चाहा किन्तु वे निर्बाध गति से आगे ही बढ़ते गए। उनका व्यक्तित्व वट वृक्ष की भाँति सदा विस्तार ही पाता गया। उनकी वरिष्ठ योग्यता का ज्वलंत प्रमाण है—तेरापंथ संघ द्वारा आचार्य पद के लिए उनका निर्विरोध निर्वाचित होना।

किशोरावस्था और प्रव्रजन

आपका जन्म विक्रम सं० १९०९ की आषाढ़ शुक्ला ४ को भारत की ऐतिहासिक नगरी उज्जयिनी में हुआ था। पिता का नाम कनीरामजी (पीपाड़ा) और माता का नाम जड़ावांजी था। बाल्यावस्था में ही पिता का देहान्त हो गया था। लालन-पालन का सारा दायित्व माता पर आ गया। माता ने बालक को स्नेह-दान से ही पुष्ट नहीं किया, अपितु उन्होंने अपने धार्मिक संस्कारों से भी उन्हें संस्कारित किया।

बालक जब ११ वर्ष का हुआ तब माता का मन संसार से उद्विग्न हो उठा। प्रव्रजित होने की अभिलाषा ने साकार रूप लेना चाहा। माता ने बालक का भार अपने परिजनों के कन्धे पर रख कर वि० सं० १९२० की आषाढ़ शुक्ला १३ को पेटलावद में साध्वी श्री गोमोजी के पास भागवती दीक्षा स्वीकार की।

संस्कारी माता का पुत्र भी संस्कारी हो यह स्वाभाविक ही है। माता के दीक्षा-ग्रहण के तीन वर्ष बाद ही (डालगणी जब चौदह वर्ष के हुए) आपका मन माता द्वारा गृहीत मार्ग का अनुसरण करने को आतुर हो उठा। आपने अपनी विरक्त भावना परिवारवालों के समक्ष रखी और दीक्षा ग्रहण करने की स्वीकृति चाही। परिवार, वालों ने पहले तो हिचकिचाहट की। पर अन्त में बालक के दृढ़ संकल्प के आगे उन्हें झुकना पड़ा।

मुनि श्री हीरालाल जी (प्रथम) उन दिनों (इन्दौर) में चातुर्मास कर रहे थे। विरक्त बालक ने उनसे तात्त्विक ज्ञान सीखा और दीक्षित होने की अपनी उत्कट अभिलाषा निवेदित की। उन्होंने बालक के तीव्र वैराग्य को परखा और घरवालों की अनुमति से इन्हें वि० सं० १९२३ की भाद्रपद कृष्णा १२ को दीक्षा प्रदान की।

ज्ञानार्जन के क्षणों में

डालगणी की बुद्धि अति तीव्र थी। साथ में ज्ञान की उत्कट पिपासा भी थी। दोनों ने मिलकर ज्ञान-साधना का पथ प्रशस्त किया। चार वर्ष (विक्रमाब्द १९२५ से २८) तक उन्हें जयाचार्य का सान्निध्य उपलब्ध होता रहा। प्रतिभा ने साथ दिया। चार वर्षों में ही वे शास्त्रों के मर्मज्ञ बन गए। ज्ञान को मुखस्थ रखने में आपकी अप्रतिम आस्था थी। फलस्वरूप आपने दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, एवं बृहत्कल्प सूत्रों को कंठाग्र किया। इसके अतिरिक्त वक्तृत्व कला में निष्णात बनने के लिए आपने अनेकों पद्य, प्रबन्ध व सहस्रों संस्कृत व राजस्थानी श्लोकों को मुखस्थ किया। वे मुखस्थ ज्ञान का स्वाध्याय अस्खलित रूप से स्पष्ट उच्चारण के साथ करते थे। वे कुछ ही वर्षों में एक सफल प्रवक्ता के रूप में जन-साधारण के सामने उदित हुए। जयाचार्य ने आपकी इन बहुमुखी योग्यताओं से प्रभावित होकर आपको वि० सं० १९३० में २१ वर्ष की उम्र में ही अग्रणी बना दिया।

वाक्कौशल और निर्भीकता

वह चर्चा का युग था। एक दूसरे को चर्चा के लिए ललकारता था। चर्चाएँ होतीं, किन्तु जय-पराजय की भावनाओं का उनमें प्रामुख्य न होता था। अतः इनका कोई अभीष्ट परिणाम नहीं होता था। फिर भी चुनौती को अस्वीकार करना हीनता का द्योतक समझा जाता था। डालगणी में सैद्धांतिक ज्ञान का प्राचुर्य था। वक्तृत्व कला और तार्किक प्रतिभा के बल पर वे चर्चावाद में निष्णात थे। चर्चा-प्रसंग में आप किसी का अधिकार हस्तक्षेप सहन नहीं करते थे। चाहे वह कैसा भी प्रभावशाली क्यों न हो, वे उसे करारी फटकार देते थे। देवरिया (उदयपुर डिवीजन) का एक प्रसंग है। एक जैन मुनि प्रतापजी के आह्वान पर आपने उनसे चर्चा करना स्वीकार किया। चर्चा का विषय था 'दया'। दोनों ओर से तर्क सहित अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत किया गया। वहाँ पर सांडा गाँव के नायब हाकिम पन्नालाल जी हिरण भी उपस्थित थे। वे मुनि प्रतापजी के अनुयायी थे। उन्होंने मुनि जी के पक्ष को बलवान बनाने के लिए अपने व्यक्तित्व का उपयोग प्रारंभ किया। डालगणी को वह कब सह्य होता ? एक दो बार कहने पर भी जब उन्होंने अपना हस्तक्षेप बन्द नहीं किया तब आपने उनसे कड़े शब्दों में कहा—आपकी हुकूमत यहाँ पर चलनेवाली नहीं है। आपको नहीं, अपितु जैनागमों को प्रमाण मान कर चर्चा हो रही है। सत्यासत्य का निर्णय आगमों के आधार पर होगा, आपके अनुमोदन से नहीं। हाकिम साहब ने फिर बीच में बोलने का साहस नहीं किया। डालगणी ने आगमों के ऐसे अनेक सबल प्रमाण प्रस्तुत किये कि मुनिजी के पास उनका कोई उत्तर न होने के कारण चर्चा वहीं समाप्त हो गई।

विक्रमाब्द १९३३ में मघवागणी का उदयपुर में चातुर्मास था। उस वर्ष आप भी आचार्य देव के साथ ही थे। वहाँ विरोध का वातावरण उग्र था। अतः मघवागणी ने साधुओं से कहा—यहाँ के विरोध को देखते हुए लगता है कि कुछ लोग सन्तों से द्वेष रखते हैं। संभव है वे छल-छिद्र देखेंगे। वैसी स्थिति में वाद-विवाद के द्वारा हमें द्वेष को बढ़ावा नहीं देना है। कोई इनमें कमी बतलाए तो उसे स्वीकार कर बात वहीं समाप्त कर देनी चाहिए। संतों ने मघवागणी की सीख को विनम्रभावेन स्वीकार किया।

एक दिन की घटना है। डालगणी पानी लेने के लिए बाजार जा रहे थे। पीछे से एक भाई जोर से बोला, "देखो-देखो मुनिजी के पात्र में पानी गिर रहा है। यह साधु के लिए अकल्प्य है"। उसने लोगों का ध्यान अपनी बात की ओर आकृष्ट करने के लिए उसी बात को जोर-जोर से दो-तीन बार दुहराया। उसके हल्ले ने पथिकों के पग थाम लिए। कुछ भीड़ एकत्र हो गई। उस समय डालगणी ने एक दूकान की चौकी पर खड़े होकर लोगों से कहा, "यह भाई मेरे विषय में जो कुछ कह रहा है वह कहाँ तक सही है इस पर आप भी थोड़ा ध्यान दीजिए। पात्र में पानी हो तो उसके गिरने की बात सच भी हो सकती है, किन्तु उसके अभाव में गिरने की बात कहना कहाँ तक संगत हो सकता है। झूठ की तो कोई सीमा नहीं होती है"। आपने झोली में से पात्र निकाला और उसे औंधा कर के लोगों को दिखाया। "अभी तो यह पात्र पानी से भींगा भी नहीं है। ऐसी स्थिति में पानी के गिरने के आक्षेप में कितनी यथार्थता है यह लोग स्वयं सोच सकते हैं।" डालगणी के उक्त स्पष्टीकरण से लोगों को यह समझने में देर नहीं लगी कि वह भाई द्वेष के आवेश में ही बकवास कर रहा था। भीड़ ने अपनी राह पकड़ी और डालगणी भी गोचरी से पानी लेकर स्थान पर लौट आए। मघवागणी के समक्ष सारी घटना प्रस्तुत कर आपने निवेदन किया कि आपके आदेश का स्मरण था, किन्तु परिस्थिति-वश मुझे बोलना पड़ा। मघवागणी ने कहा—ऐसी स्थिति में स्पष्टीकरण अपेक्षित ही था। मेरे आदेश का यह अभिप्राय नहीं था कि कहीं बोला ही न जाय। इस प्रकार डालगणी विरोधियों के आक्षेपों का निर्भीकता से खंडन करते थे।

कच्छ की ओर

आपने अपने अग्रणी काल में कच्छ की तीन बार यात्राएँ कीं। इन यात्राओं में आपने वहाँ पाँच वर्षावास व्यतीत किए। इस बीच आपने सौराष्ट्र का भी अल्पकालीन किन्तु प्रभावशाली प्रवास किया। कच्छ की जनता पर आपके व्यक्तित्व का अत्यधिक प्रभाव था। वहाँ की जनता में आप कच्छ के श्री पूज्य कहलाने लगे। लोगों में आपके प्रति इतना आकर्षण था कि उन्होंने कई बार मघवागणी के चरणों में आपको कच्छ भेजने का विनम्र अनुरोध किया।

विक्रमाब्द १९४१ में आपने कच्छ की प्रथम यात्रा की। इस यात्रा में गाँव-गाँव के लोग आपको अपने यहाँ ले जाने का प्रयत्न करते रहे। प्रत्येक स्थान पर आपका भारी स्वागत होता रहा। प्रवचन सुनने को जनता उमड़ पड़ती थी। आपने

अपना पहला चातुर्मास (बेलामें) अत्यधिक धर्म प्रभावना के साथ संपन्न किया। तदन्तर आप फतहगढ़ अंजार होते हुए भुज पधारे। वहां नान्दी पक्ष (स्थानकवासी सम्प्रदाय का एक उप सम्प्रदाय) के सुप्रतिष्ठित श्रावक वीरचन्द भाई शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। वे एक दिन डालगणी के पास आए और उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। आपने उनका समुचित समाधान किया और उन्हें तेरापंथ के विधि-विधानों से अवगत कराया। वे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें तेरापंथ के मंतव्य तर्कसंगत लगे। डालगणी ने उनसे कहा—तुम शास्त्रसम्पन्न मन्तव्यों को महत्त्व दोगे या चिरपोषित अपनी धारणाओं को ?

वीरचन्द भाई बोले—मुझे शास्त्रानुमोदित मन्तव्य ही मान्य होगा। मेरी इच्छा है कि मैं अपने साधुओं से भी इन विषयों में विस्तृत बातचीत कर लूं और उसके बाद सत्यासत्य का निर्णय करूँ। आप इसमें दोमत नहीं थे। वीरचन्द भाई ने नान्दी पक्ष के मुनि वींजपालजी से बातचीत की और फिर डालगणी के पास आकर कहा—मुझे उनकी अमुक-अमुक बातें ठीक जँचती हैं। आपने कहा--अच्छा हो यदि मेरी और वींजपालजी की बातचीत हो जाए, जिससे सत्यासत्य के निर्णय में तुम्हें सुविधा हो। फिर वीरचन्द भाई के प्रयत्न से यह व्यवस्था भी हो गई। मुनिजी के साथ काफी लम्बी चर्चा चली। वीरचन्द भाई मूक श्रोता बन कर दोनों ओर के तर्क-वितर्कों पर मनन करते रहे। आखिर एक प्रसंग ऐसा आया जिसमें मुनि जी मौन रह गए ? उत्तर देने में उनके समक्ष कठिनाई यह थी कि उससे उनकी मान्यता का खंडन होता था। वीरचन्द भाई के लिए उनका मौन सत्यासत्य का निर्णय करने में संबल बन गया। उसी समय उन्होंने परिषद् में खड़े होकर डालगणी को अपना गुरु स्वीकार किया। यह चर्चा जनता के लिए भी बड़ी ज्ञानवर्धक रही। आप वहाँ कई दिन और ठहरे। प्रवचन में लोगों की उपस्थिति बहुत होती थी। वहाँ से विहार कर आप मांडवी पधारे। वहाँ भी जनता में बहुत आकर्षण रहा। अनेक लोग तेरापंथ के अनुयायी बने।

इस वर्ष का चातुर्मास आपने फतहगढ़ में किया। चातुर्मास समाप्ति के बाद दो मास कच्छ में और विराज कर लोगों को आध्यात्मिक संदेश दिया। फिर वहां से विहार कर आपने मारवाड़ में मघवागणी के दर्शन किए। वि० सं० १९५० में आपने कच्छ की दूसरी यात्रा की। इस यात्रा में आप को मार्ग में काफी कष्ट सहने पड़े। आप मारवाड़ से आबू पर्वत होते हुए अहमदाबाद पधारे। जिस दिन आबू पधारे उस दिन आपने २४ मील का विहार किया और कल्प्य भोजनाभाव में आपको भूखा भी रहना पड़ा। यह कसौटी थी। शरीर को कष्ट हुआ किन्तु मन कष्ट की अनुभूति से परे रहा। संत जीवन का यही तो आदर्श है। अहमदाबाद में भी तीन घण्टे की खोज के बाद आपको धर्मशाला में बसेरा मिला। वहाँ से वढ़वाण कंप और मोरवी होते हुए आप कच्छ में पधारे। पूर्व परिचित जनता ने आपका हृदय से स्वागत किया। चातुर्मास के पूर्व वहाँ आपने दो व्यक्तियों को दीक्षा प्रदान की। वर्षा ऋतु का प्रवास आपने 'बेला' में किया। दो दीक्षाएँ हो जाने से इस बार आप पाँच साधु एक साथ थे। कच्छ में आपका प्रभाव इतना व्यापक हो गया था कि कोई विरोधी विरोध के लिए शिर भी ऊँचा नहीं करता था। चातुर्मास में धर्म जागृति अभूतपूर्व रही। इस प्रकार आपने कच्छ की दूसरी यात्रा सम्पन्न की। इस यात्रा में वहाँ आपने एक ही चातुर्मास किया; क्योंकि चातुर्मास के पूर्व मघवागणी (पंचम आचार्य) के स्वर्गवास हो जाने के कारण आप चातुर्मास समाप्ति के बाद थली (चूरू) में लौट आए। वहाँ आपने मघवागणी के उत्तराधिकारी माणकगणी के दर्शन किये।

तीन वर्ष के पश्चात् विक्रमाब्द १९५३ में आपने कच्छ की शस्य-श्यामला भूमि को तीसरी बार पावन किया। इस यात्रा का प्रारंभ पंचपदरा से हुआ। पंचपदरा से आप जालोर पधारे। वहाँ तेरापंथ का कोई अनुयायी नहीं था। फिर भी स्थानीय जनता पर आपके प्रवचनों का भारी प्रभाव पड़ा। एक महीने तक वहाँ प्रवास हुआ। सहस्रावधि लोग प्रवचन में उपस्थित होते थे।

जालोर से बाव होते हुए राधनपुर पधारे। वहाँ एक घर में आप गोचरी के लिए गए। घरवाले भाई ने कहा—यदि आप वन्दना का उत्तर 'धर्मलाभ' दें तो मैं आपको भिक्षा दूंगा अन्यथा नहीं।

सस्मित डालगणी ने कहा—हम धर्म का लाभ बता सकते हैं किन्तु भोजन के लिए नहीं। आपकी शर्त किसी भिखारी को स्वीकार हो सकती है, जैन मुनि को नहीं। यह कह आप भिक्षा के लिए अन्यत्र चले गए। इस प्रकार मार्ग के कड़वे-मीठे अनुभवों के साथ आप कच्छ पहुँचे। इस बार का पहला चातुर्मास फतहगढ़ में हुआ। एक दीक्षा चातुर्मास के पूर्व और एक बाद में हुई।

सौराष्ट्र का प्रवास

वहाँ से डालगणी ने सौराष्ट्र की तरफ प्रस्थान किया । सर्व प्रथम वे मोरजी बंदर पधारे । ठहरने की व्यवस्था दूकान में हुई और प्रवचन जिनशाला में हुआ करता । प्रवचन का आकर्षण लोगों में दिन प्रति दिन बढ़ता गया और उपस्थिति अधिकाधिक बढ़ने लगी । उन दिनों वहाँ विभिन्न सिंघाड़ों की तेरह साध्वियाँ थीं । उन्होंने आपके पास आकर प्रवचन सुनने की उत्कण्ठा व्यक्त की और साथ ही यह भी निवेदन किया—हममें से कुछ साध्वियाँ बूढ़ी होने के कारण जिनशाला की दुरूह सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकती हैं, अतः आप यदि स्थानक में प्रवचन करने का कष्ट करें तो हम लाभान्वित हो सकती हैं । डालगणी ने उनकी प्रार्थना पर स्थानक में प्रवचन देना शुरू किया । साध्वियाँ प्रति दिन व्याख्यान सुना करतीं । सरस विवेचन के साथ आपने वहाँ अनाथी मुनि का प्रवचन किया और साधु के आचार-विचार पर सुन्दर प्रकाश डाला । १५ दिन ठहरने पर भी जनता अतृप्त थी । आप वहाँ से विदा हुए । बिदाई का दृश्य बड़ा ही अपूर्व था । जनमेदिनी उमड़ पड़ी । साध्वियाँ भी नगर से बाहर तक पहुँचाने आईं; और आपको भव्य विदाई दी गई । वहाँ से टंकारा राजकोट और जूनागढ़ होते हुए आप गिरनार पधारे । वहाँ दिगम्बर मन्दिर में ठहरे । रात्रि में कई श्वेताम्बरी लोग आए । उन्होंने कहा—आप श्वेताम्बर हैं । अतः श्वेताम्बर मन्दिर में चलिये । आपका दिगम्बर मन्दिर में ठहरना हमें शोभा नहीं देता । आपने कहा—हमारे लिए दिगम्बर और श्वेताम्बर मे कोई भेद नहीं है । किसी भी उपयुक्त स्थान में ठहरने में हमें आपत्ति नहीं हो सकती । निष्कारण और वह भी रात्रि में स्थान परिवर्तन करना उपयुक्त नहीं होगा । आपके सही दृष्टिकोण ने लोगों को प्रभावित किया ।

वहाँ से आप भावनगर होते हुए सिहोर पधारे । अन्यत्र स्थान न मिलने से आप धर्मशाला में ठहरे । वहाँ तेरापंथी साधुओं के प्रति सद्भावना का वातावरण नहीं था । भिक्षा के लिए साधु गए । एक व्यक्ति ने उनसे कहा—यह घर ओसवालों का है । इसमें भिक्षा के लिए पधारिये । ज्योंही साधु भीतर गए त्योंही वह भाई मकान को बाहर से बन्द कर चलता बना । साधु समझ गए कि इसने मुझसे मखौल किया है । साधु ने जोर-जोर से आवाजें दीं तब एक दूसरे भाई ने आकर द्वार खोला और संत बाहर चले आए । बहुत गवेषणा करने पर भी उस दिन पर्याप्त भोजन का योग नहीं हुआ । उसी दिन १२ कोस का विहार कर पाली ताणा पधारे । वहाँ भी शहर में स्थान न मिलने से धर्मशाला में ठहरे । वहाँ से 'शत्रुंजय पर्वत' पर चढ़ते हुए आप को मार्ग में संवेगी मुनि 'क्षान्तिसागर' मिले । उन्होंने हँसते हुए व्यंग्योक्ति में डालगणी से कहा—आज सिद्ध क्षेत्र में आ गए हो; तीर्थयात्रा अच्छी तरह कर लेना । यही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ एक बार आने से जीव सिद्धत्व को प्राप्त हो जाता है । डालगणी ने मुस्कुराकर कहा—आपका जीव यहाँ कितनी बार उत्पन्न हुआ ? मुनिजी ने कहा—अनन्त बार । डालगणी ने कहा—अनन्त बार उत्पन्न होने पर भी आप सिद्ध न बन सके तो फिर एक बार आने मात्र से किसी को सिद्धत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? हम तो इसे पर्वत मान कर यहाँ आए हैं, सिद्ध क्षेत्र मानकर नहीं । इस प्रकार उनसे विनोदपूर्ण बातचीत कर पहाड़ पर चढ़े ।

वहाँ से लींबड़ी पधारे । लींबड़ी में उस समय उत्तमचन्दजी आदि १० स्थानक मुनि आये हुए थे । उनके विशेष अनुरोध पर आप स्थानक में पधारे । वहाँ पहले से काफी लोग एकत्र हो गए थे । संतों एवं श्रावकों ने आपका हार्दिक स्वागत किया । वहाँ आपका प्रवचन हुआ । उनकी विशेष जिज्ञासा पर आपने तेरापंथ का परिचय दिया । कार्यक्रम बहुत रुचिकर रहा । जनता और मुनियों ने आभार माना । नान्दी पक्ष के साधुओं को पता चलने पर उन्होंने भी अपने यहाँ प्रवचन करने का भाव भरा अनुरोध किया । आपने उनकी इच्छा को भी पूरा किया ।

अमरसी ऋषि से मधुर मिलन

वहाँ से बढ़वाण कैंप होते हुए आपने ध्रांगध्रा पधारने का निश्चय किया । कुछ लोगों का सुझाव रहा—वहाँ जाना उपयुक्त नहीं है । वहाँ 'अमरसी ऋषि' निवास करते हैं, जो यंत्र-मंत्र के अच्छे ज्ञाता हैं । अतः उनकी इच्छा के प्रतिकूल जो साधु वहाँ चला जाता है उसे कष्ट उठाना पड़ता है । आप निर्भीक थे । अतः लोगों का सुझाव आपको न जँचा । आखिर ध्रांगध्रा' पधारे । प्रवचन और भोजनान्तर आपने अमरसी ऋषि से मिलने के लिए एक संत को भेजा । संत ने ऋषिजी को डालगणी के आगमन से सूचित किया । ऋषिजी ने अपनी इच्छा व्यक्त की कि वे यहाँ आएँ तो मुझे उनसे मिलकर प्रस-

म्रता ही होगी। ऋषि जी का रुख जान लेने के पश्चात् डालगणी उनके आश्रम में पधारे। ऋषिजी ने आपका स्वागत किया और अपने उपाश्रय में ठहरने का अनुरोध किया। आपने कहा—यहाँ ठहरने में हमें क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु भाइयों ने पहले ही कहीं स्थान बताया। अत: हम वहीं ठहर गए। प्रारंभिक परिचय के बाद आपने उनको तेरापंथ का विशद परिचय दिया। इसके साथ ही अन्यान्य सौहार्द्रपूर्ण बातें हुईं।

ऋषिजी ने मिलन की इस पुण्य स्मृति में आपको अपना एक विशिष्ट 'रजोहरण' देना चाहा। डालगणी ने उसे अस्वीकार करते हुए कहा—यह आपका बढ़िया रजोहरण हमारे पास कितने दिन तक सुरक्षित रह सकेगा? निरन्तर काम में लेने से जल्दी टूट जाएगा। आपके यहाँ तो यह खोली में ढँका हुआ सुरक्षित रहता है। अत: वर्षों तक भी नहीं बिगड़ेगा। ऋषिजी ने कहा—आप ठीक कहते हैं। मैं दिन में एक बार जब दरबार को मंगल पाठ सुनाने जाता हूँ तभी इसे हाथ में लेता हूँ और वापस आकर खूंटी पर रख देता हूँ। उन्होंने अपने लौह पात्र दिखाए और उनमें से एक जो सुन्दर चित्रों से चित्रित था लेने को कहा। डालगणी ने कहा—हम तीन पात्र से अधिक नहीं रखते और तीन पात्र में यदि आपका पात्र रख लेते हैं तो इसे प्रति दिन काम में लाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अल्प काल में ही इसकी सुन्दरता नष्ट हो सकती है। ऋषि जी ने अपने पास से कुछ वस्त्र देना चाहा। उन्होंने बताया कि वे वर्ष में एक बार कपड़ा जाँचते हैं। उन्हें जितने कपड़ों की आवश्यकता होती है, वे उतने केलिए दरबार से कह देते है। उन्हें बढ़िया से बढ़िया वस्त्र मँगा दिया जाता है। डालगणी ने कहा—अभी हमें वस्त्र की आवश्यकता नहीं है और हम मर्यादा से अधिक रख भी नहीं सकते। इसके बाद ऋषिजी ने अपने शास्त्र भंडार में से ३१ पन्नों की एक बहुत सुन्दर प्रति लेने का विशेष अनुरोध किया। वह प्रति उनके गुरु के हाथ की लिखी हुई थी और उसमें आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी तथा एक अन्य सूत्र लिखा हुआ था। डालगणी ने जब इसे भी ग्रहण नहीं किया तब ऋषि जी को बहुत आश्चर्य हुआ और वे कहने लगे—आपको किसी भी चीज की आवश्यकता नहीं है। ऐसे निर्लोभी साधु मेरे देखने में कभी नहीं आए।

इस प्रकार ऋषि के साथ बहुत देर तक बातें हुईं। डालगणी ने जब स्थान पर आकर सारी बातें श्रावकों को सुनाईं तब वे बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—महाराज! आप बड़े पुण्यवान हैं! अमरसी ऋषि जैसे व्यक्ति ने आपका इस प्रकार समादर किया। इनके भय से तो यहाँ कोई साधु आने का साहस भी नहीं करता है।

ध्रांगध्रा से विहार कर डालगणी कच्छ आए। चातुर्मास की पूर्व वेला में कस्तूरचन्दजी को दीक्षा प्रदान की। वि० सं० १९५४ का चातुर्मास ६ संतों के साथ आपने 'बेला' में किया। इसी चातुर्मास में माणकगणी का सुजानगढ़ में स्वर्गवास हो गया। अत: चातुर्मासान्तर आपने भी थली की तरफ विहार कर दिया।

आचार्य का निर्वाचन

तेरापंथ संघ की व्यवस्था के अनुसार भावी आचार्य का निर्वाचन वर्तमान आचार्य करते हैं, किन्तु आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने के कारण माणकगणी ऐसा नहीं कर सके। अत: संघ के साधु-साध्वियों का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। साधु-साध्वियों के सिंघाड़े विभिन्न गाँवों में रुके हुए थे। अत: इस विषय में सामूहिक चिन्तन करना तथा कोई निश्चित कदम उठाना संभव न था। पूर्व योजनानुसार साधु संघ लाडनूं में एकत्र होने लगे। जब तक आचार्य का निर्वाचन न हो जाए तब तक अन्तरिम काल के लिए आज्ञा-धारणा का अधिकार दीक्षा-ज्येष्ठ मुनि को दिया गया। संघ का सारा कार्य व्यवस्थित रूप में चलने लगा। बड़े कालूजी स्वामी वय-स्थविर होने के साथ-साथ दूरदर्शी और निपुण शासन सेवी थे। उनकी बहु-मुखी प्रतिभा ने शासन को अपनी अमूल्य सेवाएँ अर्पित की थीं। वे भी उदयपुर से विहार करते हुए वहाँ पहुँच गये थे। आपने शासन के प्रभावशाली प्रमुख सन्तों से आवश्यक परामर्श किया। सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात साधुओं की एक सभा आयोजित की गई। सभा का उद्देश्य था—सर्वसम्मति से आचार्य का निर्वाचन करना।

सभा में कालूजी स्वामी ने खड़े होकर कहा—साधुओ! हमें एक आचार्य की आवश्यकता है। अत: यह भार किसे सौंपना चाहिए सभी इस विषय में सोचें। आपके इस कथन से कुछ देर तक वातावरण में काफी हलचल हुई। तदनन्तर कुछ संतों ने अपना सुझाव रखा कि हम सब में कालूजी स्वामी काफी पुराने और अनुभवी हैं। अत: अच्छा हो एतद्विषयक निर्णय का भार उनको ही सौंपा जाय और आपके द्वारा जो निर्णय हो वह सभी को मान्य हो। उस समय उपस्थित सभी मुखों से उक्त सुझाव को समवेत स्वर में समर्थन मिलने पर कालूजी स्वामी ने खड़े होकर सन्तों से फिर पूछा—क्या आप सब मुझे

यह अधिकार देते हैं कि मैं आचार्य का नाम घोषित करूँ और वह आप सबों को मान्य होगा ? सब संतों ने सहर्ष अपनी स्वीकृति प्रदान की ।

कालूजी स्वामी ने शासन और आचार्यों के गुणगान करते हुए कहा—आप सब ने मुझे यह गुरुतर दायित्व देकर जो विश्वास व्यक्त किया है इसके लिए मैं आप सबका हृदय से आभार मानता हूँ । ऐसे आज मैंने शासन के प्रमुख सन्तों से इस विषय में काफी विचार विमर्श किया और हम सब इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हमें सर्व-सम्मति से आचार्य का चुनाव करना चाहिए और वह हमारे संघ को मान्य होगा । यह भार अभी जो आपने मुझे दिया है उसके आधार पर मैं कहना चाहूँगा कि हमें आचार्य भिक्षु के सातवें पद पर "डालचन्दजी" की नियुक्ति को मान्य करना चाहिये । वे कच्छ से विहार कर जल्द ही इधर आनेवाले हैं ।

इस घोषणा के साथ सारा वातावरण आनन्द से मुखरित हो उठा । सब साधुओं ने अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की और उस दिशा में वंदन किया, जिस दिशा से डालगणी का आ रहे थे । सभा स्थल के बाहर विशाल मानव मेदनी नव-निर्वाचित आचार्य का नाम सुनने की उत्सुकता को लिए खड़ी हुई थी । ज्योंही उसने उक्त निर्णय सुना, त्योंही वह हर्ष से झूम उठी । सारे शहर में बिजली की भाँति खबर दौड़ गई । सबके मुंह पर विजय शासन की श्लाघा नाच उठी और स्थान-स्थान पर इसी चर्चा ने रंग जमाया कि तेरापंथ के साधु-साध्वी बड़े नीतिमान और आत्मार्थी हैं । सब ने मिल कर एक मत से आचार्य चुना है । सारे संघ की चिन्ता प्रसन्नता में परिवर्तित हो गई ।

इस समाधान से उन व्यक्तियों को बड़ी निराशा हुई जो तेरापंथ संघ की बहुमुखी प्रगति से अहर्निश जलन रखा करते थे । इस समय पुन: उन्होंने बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ की थीं कि अब तेरापंथ में एक आचार्य के अभाव में सब साधु अपने-अपने अधिकार के लिए आपस में लड़ेंगे । सारी व्यवस्था व एकता लड़खड़ा जाएगी । तेरापंथ का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा । वस्तुत: इस प्रकार की कल्पना करनेवाले व्यक्ति तेरापंथ की गहराई से सुपरिचित नहीं थे ।

आचार्य पद की बधाई

उस समय डालगणी कच्छ से विहार करते हुए जोधपुर के निकट पहुँच गए थे । डालगणी को आचार्य चुनने की सूचना जोधपुर में पहले ही पहुँच चुकी थी । लिछमणदासजी भंडारी आदि १५-२० श्रावक डालगणी के सामने गए । उस दिन डालगणी जोधपुर से तीन कोस दूर चोपासणी गाँव में पधार गए थे । वहां जाकर उन्होंने दर्शन किए । उन्होंने आचार्योचित शब्दों में गुणगान करते हुए जोर से वन्दना की । तत्काल डालगणी ने उनको रोकते हुए कहा—भंडारीजी ! समझदार श्रावक होकर आचार्य पद के अनुरूप शब्दों का प्रयोग साधारण साधु के लिए कैसे कर रहे हो ? तुम जानते हो अभी हमारे संघ में आचार्य का चुनाव नहीं हुआ है । जो शब्द जहाँ प्रयुक्त करने योग्य हों वे वहीं किए जाने चाहिए, अन्यत्र नहीं ।

भंडारीजी बोले—गुरुदेव आप ठीक ही फरमा रहे हैं । हम उचित स्थान में ही उपयुक्त शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं । आपको ज्ञात होना चाहिए कि समग्र संघ ने मिलकर आचार्य पद के लिए आप का ही चुनाव किया है । इसका प्रमाण लाडनूं से प्राप्त यह तार है । तार को देख कर डालगणी ने कहा—भंडारी जी ! इसका अभी प्रचार नहीं होना चाहिए । हम लाडनूं ही जा रहे हैं ।

भंडारीजी ने कहा—आचार्य देव ! इसका प्रचार तो सर्वत्र हो चुका है । हमें करने की आवश्यकता ही कहाँ है ? हम तो आपके आचार्य पद की बधाई लेकर आए हैं । इसके उपलक्ष में हमें आपके चातुर्मास की बख्शीश मिलनी चाहिए । डालगणी ने उन्हें आश्वासन अवश्य दिया किन्तु कोई निर्णीत घोषणा नहीं की । उसी दिन विहार कर आप जोधपुर पहुँचे । वहाँ आपका स्वागत हुआ । श्रावकों के विशेष अनुरोध पर वहाँ सात दिन ठहरे । वहाँ से विहार कर नागोर होते हुए आप लाडनूं पधारे । लाडनूं में चतुर्विध संघ बड़ी उत्सुकता से आपकी बाट निहार रहा था । कुछ साधु आपकी अगवानी करने के लिए नागोर तक चले आए थे । लाडनूं में प्रवेश का दृश्य अपूर्व था । श्रमण-श्रमणी वृन्द की भावना आज नवाचार्य के चिर प्रतीक्षित दर्शन से तृप्त हो गई ।

माघ कृष्णा २ को आचार्य पदारोहरण का उत्सव आयोजित किया गया, जिसमें चतुर्विध संघ ने अपनी अत्यधिक भावभरी श्रद्धाएँ अभिव्यक्त कीं । अपने इस सर्वसम्मत चुनाव से स्वयं डालगणी भी विस्मित थे । अपने उस विस्मय को उन्होंने यों व्यक्त किया था :—

"कुंड कुंडरो न्यारो पानी , लुंड लुंड री न्यारी वाणी ।
थां सगलां री सरीखी होई, आ तो बात अजब में जोई ?"

ओजस्वी आचार्य

आप एक महान् आचार्य थे । कुशल वक्तृता तथा निर्भीकता आदि विशेषताओं के कारण पहले से ही सारे समाज पर आपका विशेष प्रभाव था । आपने नव निर्वाचित आचार्य की भाँति नहीं, अपितु एक चिर अनुभूत आचार्य की भाँति शासन का कार्य-भार संभाला । साधु-साध्वियों ने भी वैसा ही अनुभव किया । वे सब पहले जब एकत्र हुए थे तब उनके मानस पर आचार्य के अभाव में काफी खिन्नता का भाव था किन्तु अब वह पूर्णतः तिरोहित हो गया था । महोत्सव के बाद वापस जाते समय सबके हृदयों में नवउल्लास और नव पौरुष का उद्रेक था । आत्मसंतोष लिए हुए वे अपने-अपने आदिष्ट स्थानों की ओर विदा हुए थे ।

डालगणी एक ओजस्वी आचार्य थे । उनकी शरीर संपदा भी ओज लिए हुए थी । साधारण व्यक्ति उनसे बोलने का साहस भी नहीं कर सकता था । रात-दिन सम्पर्क में आनेवाले भी उनका चरण-स्पर्श करने के लिए एक क्षण के लिए ठिठक कर सोचते थे । उनका सिंह जैसा व्यक्तित्व स्वतः ही दूसरों पर छाया रहता था । वे स्वयं कष्ट सहिष्णु थे । वे शरीर की विशेष परवाह नहीं किया करते थे । वे एक प्रकार से उस ओर से लापरवाह ही रहा करते थे । इस संबंध में उनकी लापरवाही कितनी थी यह इस घटना से स्पष्ट हो जाती है । विक्रमाब्द १९५९ का चातुर्मास आपने जोधपुर में किया था । चातुर्मास के अनन्तर बालोतरा, पंचपदरा, प्रभृति गाँवों को पवित्र करते हुए जब आप मेवाड़ पधार रहे थे तब बीच में ही "पानीझरा" निकल आने से पाली में आपको १७ रात ठहरना पड़ा । कुछ स्वस्थ होते ही उन्होंने तत्काल वहाँ से विहार कर दिया और राणकपुर के मार्ग से उदयपुर पधार गये ।

उस वर्ष का मर्यादा महोत्सव उदयपुर में मनाया गया । वहीं राजमुसद्दी बछराजजी सिंघी ने आपके दर्शन किए । तेरापंथ के आचार-विचार और मर्यादाओं से प्रभावित होकर कुछ ही दिनों में वे डालगणी के प्रति श्रद्धालु बन गए । उदयपुर से विहार कर आप भुवाना पधारे । सिंघीजी वहाँ भी दर्शन के लिए आए । वे मजाक करने के कुछ आदी थे । उन्होंने डालगणी से निवेदन किया—अभी पिछले ज्वर की कमजोरी से आप निवृत्त ही नहीं हुए हैं फिर भी विहार कर दिया । इस प्रकार शरीर की उपेक्षा कर आप कष्ट सहन कर रहे हैं । कभी-कभी आपके नियमों और कष्टों को देख कर सोचने लगता हूँ कि खाने-पीने और मौज करने की मेरी मान्यता सच निकली तो आपका यह सारा आयास निरर्थक हो जाएगा । डालगणी ने मुस्कुरा कर कहा—सिंघीजी, आप ठीक कह रहे हैं । आपकी मान्यता यदि सही निकली तो हमारा सारा प्रयत्न निष्फल हो सकता है । इससे अधिक तो कुछ हानि होनेवाली नहीं है ? किन्तु हमारा मन्तव्य यदि सत्य ठहरा तब आपका क्या होगा ? सिंघीजी हँस कर बोले—तब तो हमारे इतने जूते पड़ेंगे कि धरती भी नहीं झेल सकेगी ।

वस्तुतः डालगणी का शरीर अभी पिछली कमजोरी से मुक्त नहीं हो पाया था । अतः वह संघ के लिए चिन्ता का विषय था ; किन्तु डालगणीकी दृष्टि में उसका कोई अधिक महत्त्व नहीं था । महान व्यक्ति स्वभावतः ही शरीर परक साधना से उदासीन और कर्त्तव्य परक साधन में दत्तचित्त होते हैं । यह कहना अधिक संगत होगा कि इसीसे उनकी महत्ता और व्यक्तित्व निखरता है ।

कठोरता और कोमलता का समन्वय

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए कठोरता और कोमलता दोनों तत्त्व अपेक्षित होते हैं । निरी कोठरता विकास के मार्ग में बाधक बनती है तो निरी कोमलता भी उसका सम्बल नहीं बन सकती । मात्रा के औचित्य से दोनों की फलवत्ता है । डालगणी को पढ़ लेने के पश्चात् उन्हें कठोरता का उपासक कहना भूल नहीं तो यथार्थ भी नहीं है । उनका मानस अनुशासन के क्षेत्र में वज्र कठोर था तो श्रद्धान्वित चेता के लिए कुसुम सुकुमार भी था । वस्तुतः डालगणी का जीवन कठोरता और कोमलता के समन्वय का प्रतीक था ।

देवगढ़ की घटना है । डालगणी वहाँ से विहार कर सरल पथ से थली जाना चाहते थे । उस समय भीलवाड़ा, गंगापुर, प्रभृति गाँवों में ५०० व्यक्तियों का एक शिष्टमंडल आया था । उसने अपने क्षेत्रों में पधारने के लिए अत्यधिक भावभरी प्रार्थना की । भक्तिभरा आग्रह भला डालगणी को कैसे प्रभावित न करे ? आपने कहा—इन दिनों में शरीर से अशक्त

हूँ यह तुम्हें भली भाँति विदित है। थली जाना मैं घोषित कर चुका हूँ। तुम्हारे उधर होकर जाने से काफी लम्बा प्रवास करना पड़ेगा। अब तुम्हीं सोच लो कि मुझे क्या करना चाहिए। क्षण भर के लिए सभी लोग अवाक् बन कर सोचने लगे, गुरुदेव के इस अशक्त शरीर को कष्ट देना कैसे उचित होगा? इतने में एक व्यक्ति के इन शब्दों ने लोगों को मुखर बना डाला कि भगवान रीझ गए फिर भी वरदान माँगने में झिझक रहे हो? जो चाहो वर मांग लो। एक साथ सैकड़ों कंठ बोल उठे, "श्रद्धेय! आपको कष्ट अवश्य होगा फिर भी हमें अनुगृहीत कर कृतार्थ करें।" डालगणी ने लोगों की सुकुमार भावना को मूर्त रूप दिया और वही हुआ जो भक्तों को इष्ट था। यह उनकी कोमलता ही थी कि शरीर के अशक्त होते हुए भी लोगों की भक्ति पर इतना बड़ा चक्कर लेकर उधर पधारे।

एक नया प्रयोग

पग-पग पर जो नवीन बनता जाए वही रमणीयता है। महाकवि कालिदास की इस उक्ति के अनुसार डालगणी सदा रमणीय थे। वे नवीनता का सर्जन करने में बहुत दिलचस्पी रखा करते थे। अपने अनुशासन में भी वे कभी-कभी ऐसे नये प्रयोग करते कि सबको चकित रह जाना पड़ता था।

घटना विक्रमाब्द १९६३ की है। मर्यादा महोत्सव सरदारशहर में सम्पन्न हुआ। महोत्सव की सम्पन्नता के साथ सन्तों के विहार व चातुर्मास का निर्णय प्रसारित न हो यह अतीत को स्वीकार नहीं रहा था। किन्तु इस वर्ष विवशता या स्ववशता से वह स्वीकार करना ही पड़ा। डालगणी ने विहार किया। वे राजलदेसर पधारे। संत समुदाय वहीं था। फाल्गुन ने विदा ली। फिर भी सन्तों को विहार का न निर्देश मिला, न संकेत। किधर और कब विहार करना है यह सबके लिए अज्ञात था। एक दिन अचानक आदेश हुआ, "अन्यत्र विहार करनेवाले सब सिंघाड़े (दल) तैयार होकर आ जाएँ। अभी उन्हें विहार करना है"। आदेश ने सबको आश्चर्य में डाल दिया, पर आदेशानुसार तैयार होकर तो आना ही था। थोड़ी ही देर में कन्धों पर भार लिये सब सिंघाड़े तैयार होकर डालगणी के चरणों में उपस्थित हो गए। एक के बाद एक अग्रणी को खड़ा कर चातुर्मास की घोषणा के साथ उन्हें चोखलापत्र (चातुर्मास के अनिश्चित काल में विहार करने के लिए ग्रामों की लिखित सूची) देकर विदा किया गया। संघ ने इस पद्धति का पहली बार दर्शन किया। इसलिए उसका आश्चर्यान्वित होना सहज ही था।

महान् आत्मविश्वास के धनी

आत्मविश्वास अचिन्त्य शक्ति का अक्षय कोष है। वह अपने में अमंगल को मंगल के रूप में परिणत कर देने की क्षमता रखता है। उसके अभाव में शुभ मुहूर्त भी इष्ट सिद्ध करने में असमर्थ ही रहते हैं। महान वह है जो आत्मविश्वास का धनी है। सिद्धियाँ और सफलता उसका अनुगमन करने के लिए स्वतः लालायित रहती हैं। डालगणी मुहूर्तों के प्रति कितने विश्वस्त थे यह कहना कठिन है। यह सच है कि उनका आत्मविश्वास में अटूट विश्वास था।

एक बार वे सुजानगढ़ पधारे। आषाढ़ का महीना था। आपका विचार वहाँ से विहार कर बीदासर चातुर्मास करने का था। किन्तु स्थानीय लोगों का विशेष अनुरोध था। अतः चातुर्मास करने की घोषणा कर दी। सुजानगढ़ में प्रवेश के समय 'ज्वालामुखी' योग था। अतः श्रीचन्दजी गधैया ने निवेदन किया "गुरुदेव! आप एक दिन गाँव के बाहर विराज जाएँ और शुभ मुहूर्त में पुनः नगर-प्रवेश करें तो ठीक रहे"। आपने मुस्कुराकर कहा—शुभ मुहूर्त के लिए इस साताकारी स्थान को छोड़ने का कष्ट तो पहले ही हो जाएगा, फिर भविष्य में उसका शुभ फल ही होगा, यह कैसे कहा जा सकता है? हमने जिस योग में नगर प्रवेश किया उस समय हमारा आत्मविश्वास दृढ़तम था। अतः जो हुआ वह अच्छा हुआ और उसका परिणाम भी अच्छा ही होनेवाला है। डालगणी की धारणा के अनुसार वह चातुर्मास धार्मिक और शारीरिक दृष्टि से भी बहुत अच्छा रहा, जब कि चातुर्मास से पूर्व आपका शरीर कुछ अशक्त था।

डालगणी का चेहरा

जिस प्रकार डालगणी का शरीर तेजोमय था उसी प्रकार उनका अन्तःकरण भी आत्मशक्ति से उद्दीप्त था। वे जन-मानस के लिए जहाँ परम श्रद्धेय बन गये थे वहाँ उनका नाम भी परम चमत्कारी बन गया था। कई बार लोगों द्वारा उनके नाम का मंत्र की तरह प्रयोग किया गया। उन प्रयोगों में उन्हें विचित्र चमत्कार के दर्शन हुए। उनमें से एक घटना का उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

सीकर (जयपुर डिवीजन) की घटना है। वहां एक मुसलमान परिवार के मुखिया 'गुलाब खाँ' को सांप ने काट लिया। विभिन्न उपचारों के बावजूद भी जहर नहीं उतरा। परिवार के सारे लोग बहुत घबराए। उस समय एक तेरापंथी श्रावक ने उन्हें सान्त्वना दी और कहा--मैं एक मंत्र जानता हूँ वह किए देता हूँ। मुझे विश्वास है कि जहर उतर जाएगा। उसने एक कागज पर डालगणी का नाम लिखा और उसे पानी में घोल कर गुलाब खाँ को पिलाया। डालगणी का पुनः नामोच्चार करते हुए उसने झाड़ा भी दिया। जहर उतरा और वह पूर्ण स्वस्थ हो बैठा। घरवालों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उन्होंने इस अकल्पित चमत्कार के कारण को जानना चाहा। वह भाई बोला--यह मेरी शक्ति नहीं, मेरे गुरु डालगणी के नाम की अमोघ शक्ति है। अतः बीदासर में जाकर तुमलोगों को उनके एक बार दर्शन कर आना चाहिए। उस भाई के परमार्थ से गुलाब खाँ अपने परिवार को साथ लेकर बीदासर दर्शन करने गया। उसने समझा था कि वहां डालगणी का कोई देहरा होगा। उसने अपनी धारणा के अनुसार ही स्थानीय लोगों से पूछा--डालगणी का देहरा (मन्दिर) कहाँ है? लोग उसकी बात को समझ ही नहीं पा रहे थे। अतः बताते भी तो क्या बताते? गुलाब खाँ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहाँ के लोग इतने बड़े गुरु का देहरा भी नहीं जानते। आखिर एक व्यक्ति ने इन लोगों के आने का पूरा कारण जानकर कहा--भाई! डालगणी का कोई देहरा नहीं है। डालगणी स्वयं ही विद्यमान हैं। उसने उन्हें स्थान बतलाया। उसी के अनुसार उन्होंने वहाँ जाकर डालगणी के दर्शन किए। गुलाब खाँ कुछ भेंट भी चढ़ाना चाहता था किन्तु उसे यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि यहाँ श्रद्धा की भेंट ही स्वीकृत होती है। वह वहाँ कुछ दिन ठहरा। उसने साधुओं के आचार-विचार को समझा। डालगणी की पावन प्रेरणा से उसने सपरिवार मद्य-मांस का आजीवन परित्याग किया और वह जैन श्रावक बन गया।

जीवन की संध्या

डालगणी का आचार्य काल द्वादश वर्षीय रहा। अन्तिम वर्षों में काफी अस्वस्थता हो जाने से उन्हें लाडनूं में ही रहना पड़ा था। आपने वहाँ से विहार करने का कई बार प्रयास किया किन्तु शरीर ने साथ नहीं दिया। इसलिए आपके अन्तिम दो चातुर्मास (१९६५-६६) लाडनूं में ही हुए। लगभग दो वर्षों तक आप विभिन्न रोगों के साथ जूझते रहे।

आपकी सहिष्णुता बेजोड़ थी। दीन मनोभाव को आपने कभी आदर नहीं दिया। इसीलिए शारीरिक कष्ट में भी आपकी मानसिक समाधि अक्षुण्ण बनी रही। उस रुग्णावस्था में भी, यहाँ तक कि स्वर्गवास से दो मास पूर्व तक आप नियमित रूप से प्रवचन किया करते थे। यह आपके तीव्र मनोबल का ही परिचायक था कि जब आप चलने-फिरने से भी असमर्थ हो गए तब भी अपने में प्रवचन करने की पूर्ण सामर्थ्य अनुभव करते थे। आप कहते--मैं अब चलने-फिरने में असमर्थ हो गया हूँ फिर भी यदि प्रवचन के स्थान में मुझे बिठा दिया जाय तो मैं दो घंटे तक प्रवचन कर सकता हूँ।

क्रमशः शारीरिक अस्वस्थता बढ़ती गई। कोई भी उपचार अनुकूल फल नहीं लाया। ऐसी स्थिति में अपने जीवन के संध्याकाल को लक्षित करते हुए उन्होंने अपने उत्तराधिकारी का चुनाव किया और सबको बतला दिया कि मैंने जिस व्यक्ति को चुना है उसका नाम लिख कर रख दिया है। समय आने पर उसको देख लिया जायगा। इस प्रकार शासन के प्रति अपने कर्तव्य को पूर्ण कर वे विक्रमाब्द १९६६ की भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को दिवंगत हो गये। आपने हर प्रकार से संघ की अभिवृद्धि में अपने जीवन का पूरा योगदान दिया था। संघ आप जैसे विशिष्ट आचार्य को पाकर धन्य बना।

विराट् व्यक्तित्व के धनी— तेरापंथ के अष्टम आचार्य श्री कालूगणी

(ले०–मुनि श्री छत्रमलजी)

विक्रम संवत् १९८४ की वसंत पंचमी के समय की बात है। उस समय चूरू हजारों नर-नारियों का आकर्षण केन्द्र बना हुआ था। देश-विदेश से हजारों श्रद्धालु श्रावक मर्यादा महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए चूरू की ओर चले आ रहे थे। उन्हीं आनेवालों में एक मैं भी था। मैं अपने बड़े भाई श्री जीवनमलजी सुराणा के साथ कलकत्ते से चूरू आया था। जब दोपहर को दर्शन करने के लिए गया तो सैकड़ों साधु-साध्वियों और हजारों श्रावकों के बीच अमल-धवल वस्त्र पहिने, उच्च पट पर आसीन परमाराध्य आचार्य प्रवर श्री कालूगणी को देखा। गौर वर्ण, लम्बा कद, गठा हुआ शरीर, प्रशस्त ललाट और गोल-गोल चमकती वात्सल्यभरी आँखें—यह था उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व जिसे मैं एक अज्ञात प्रेरणा एवं भक्ति के वश हुआ टकटकी लगाए कुछ क्षणों तक देखता रहा। फिर बार-बार चरण स्पर्श करके स्वयं को धन्य मानने लगा। दूसरे ही क्षण एक भावना बिजली-सी कौंध गई, "मैं तो इनका शिष्य बनूंगा। इन्हीं के चरणों में बैठ कर जीवन बिताऊँगा।" मेरी तरह ही न जाने किन-किन हृदयों में आकर्षण की ये तरंगें उठी होंगी उस चुम्बकीय व्यक्तित्व के प्रति।

जीवन परिचय

आज से तिरासी वर्ष पूर्व वि० सं० १९३३ की फाल्गुन शुक्ला २ को बीकानेर राज्य में तालछापर के कोठारी परिवार में आपका जन्म हुआ था। पिता का नाम था मूलचन्दजी और माता का नाम छोगांजी। इकलौता पुत्र माता-पिता के लाड़-प्यार में जीवन की पगडंडियों पर पहला चरण रख कर चलने का अभ्यास कर ही रहा था कि पिताजी चल बसे। कहा जाता है कि—आपके दादा बुधसिंहजी कोठारी जब जन्म समय लिख कर एक वृद्ध अनुभवी ज्योतिषी को दिखलाने को ले गए तो उसने बतलाया कि इस जातक (संतान) के ३३ वें वर्ष में द्वार पर हाथी बँधेगा। प्रतापी नरेशों के बीच में इसकी कुर्सी लगेगी। माता इसी सुनहली आशा पर अपने नौनिहाल को लिए कभी पीहर तो कभी ससुराल की छाया में बैठ कर आशा के दीप संजोती रहती। पूर्व जन्म के संस्कार बीजानुकूल वातावरण पाकर अंकुर रूप में फूटने लगे। खेल-कूद, खान-पान आदि के प्रति उतनी आसक्ति जगी ही नहीं कि उसे मिटाने की चेष्टा करनी पड़े। माता की धार्मिक वृत्तियाँ, पड़ोस का धर्मानुप्राणित वायुमंडल, और फिर संत जनों का संपर्क उन्हें उत्कट विरक्ति की ओर मोड़ने में सहायक हुआ। तेरापंथ के पंचमाचार्य श्री मघवागणी के निकट ११ वर्ष की उम्र में आप अपनी माँ व बहन (मौसी की पुत्री) के साथ वि० सं० १९४४ की आश्विन शुक्ला ३ के दिन आर्हती दीक्षा स्वीकृत कर 'सर्वारंभ परित्यागी' मुमुक्षु बने।

यह प्रायः निश्चित है कि बाल्यकाल के सूक्ष्म संस्कार ही भविष्य में विकसित होते हैं। कालूगणी के बीदासर में दीक्षा लेने के शुभ अवसर पर उसकी बरनौली (जुलूस) निकाली गई थी। नगर के प्रतिष्ठित सेठ शोभाचंदजी बैंगाणी ने आपके गले में एक कंठा (गले का आभूषण) पहनाने का आग्रह किया। आपने स्पष्ट इन्कार करते हुए कहा, "मैं दूसरों के गहनों से अपनी झूठी शान-शौकत बढ़ाना नहीं चाहता।" उस ११ वर्षीय बालक की वह निरपेक्षता समय पाकर प्रखर सिद्धांतवादिता के रूप में प्रस्फुटित हुई।

दीक्षा के बाद जीवन में नया संस्कार आता तथा नया दर्शन मिलता है। कालूगणी प्रारम्भ से ही मघवागणी के प्रिय शिष्य रहे। वे स्वर्गीय मंत्री मुनि श्री मगनलालजी के अनन्य साथी भी थे। आपकी प्रज्ञा बड़ी प्रखर एवं तत्त्व-मनीषा बड़ी ही सूक्ष्म थी। आप दिन-रात एक तीव्र अध्यवसाय के साथ ज्ञानार्जन में जुटे रहे।

माणकगणी के स्वर्गवास के बाद एक साधु ने आपके अन्तर मन की भावना जाननी चाही। उसने प्रश्न किया, "आचार्य कौन बनेगा ?" कालूगणी निस्पृह भाव से बोले, "तेरी और मेरी तो संभावना नहीं है, फिर इस चर्चा से क्या ?" इससे आपकी निस्पृहता स्पष्ट प्रकट होती है।

डालगणी जैसे कठोर अनुशासक की देख-रेख में वे बारह वर्ष तक रहे, पर मिलने को उलाहना भरा एक शब्द भी नहीं मिला—यही उनकी आचार शुद्धि का जीवंत प्रमाण है। मंत्री मुनि मगनलालजी के साथ उनका संबंध बड़ा ही गहरा था। डालगणी ने जब उनकी योग्यता को आंका एवं भविष्य की संभावनाएँ उनमें देखीं तब से स्वर्गवास होने तक संघ की जिम्मेदारी के लिए उन्हें स्वयं कुछ नहीं कहा करते। जो कुछ कहना होता वह मंत्री मुनि मगनलालजी स्वामी के द्वारा ही कहा जाता।

आचार्य काल

वि० सं० १९६६ की भाद्रपद शुक्ला १२ को डालगणी का निधन हुआ। और्ध्वदैहिक संस्कारों के बाद समूचे संघ ने मिलकर आपसे प्रार्थना की, 'आप आचार्य के पट पर विराजें।" आपने बिलकुल रूखा सा उत्तर दिया—पहले पूर्वाचार्य द्वारा लिखा पत्र देखो, किसका नाम है ? संघ की भक्ति भरी मनुहारें, और विनय भरा आग्रह भी आपको नहीं पिघला सका। आखिर जब पत्र पढ़नेवालों ने यह दृढ़ विश्वास दिलाया कि आप ही का नाम है, आप पट्ट पर बैठिए हम पत्र सुनाते हैं तभी आपने पद ग्रहण किया। यह थी उनकी पद की अपेक्षा कर्तव्य को ऊँचा मानने की प्रकृति।

कालूगणी का शासन-काल तेरापंथ का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस काल में ज्ञान-साधना, प्रचार-क्षेत्र, साधु-साध्वियाँ, श्रावक समाज आदि प्रत्येक क्षेत्र में अभूतपूर्व वृद्धि व उन्नति हुई। यह हमने अपनी आँखों से देखा।

संस्कृत का अध्ययन व प्रचार

तेरापंथ संघ में संस्कृत विद्या का प्रचार व प्रसार अभी तक नहीं के बराबर था। पूज्यपाद जयाचार्य ने कठिन श्रम से संस्कृत का अंकुर रोपा जरूर था पर वह अनुकूल सुयोग न मिलने से न पल्लवित हुआ और न पुष्पित ही। कालूगणी के मन में शुरू से ही संस्कृत के अध्ययन की एक तीव्र उत्कंठा थी, पर समस्या यह थी कि कौन पढ़ाए। और इस समस्या का मूल यह था कि उस समय ब्राह्मण विद्वान् जैन साधुओं को संस्कृत पढ़ाने में सकुचाते थे। किन्तु कालूगणी का तीव्र अध्यवसाय था। इसलिए उन्हें एक निस्पृह पंडित का योग मिल गया। उनका नाम था पंडित घनश्यामदासजी। वे बगड के रहनेवाले थे और चूरू आया-जाया करते थे। उन्होंने जातीय विरोध को सहकर भी कालूगणी को सारस्वत चन्द्रिका पढ़ानी शुरू की।

एकबार बीदासर के ठाकुर हुकुमचन्दजी ने आपके पास एक संस्कृत श्लोक अर्थ करने के लिए भेजा। उसके ३२ अक्षरों में १५-२० से कम अशुद्धियाँ नहीं थीं। उसका अर्थ न हो सका। उसी असफलता ने सफलता का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उन्हीं दिनों पं० रघुनन्दन जी का संयोग मिला और आपके संस्कृत के अध्ययन का कार्य द्रुतगति से आगे बढ़ा। कालूगणी की विद्यमानता में ही 'भिक्षु शब्दानुशासन' (महाव्याकरण) और 'कालूकौमुदी' (लघुव्याकरण) का उन्हींके शिष्य मुनि चौथमलजी द्वारा निर्माण हुआ। कालूगणी ने अपने अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न विषयों के—षड्दर्शन, प्रमाणनय तत्त्वलोकालंकार, स्याद्वादमंजरी, हैमकोष (अभिधान चिंतामणि), सारस्वत चंद्रिका व्याकरण, वृत्तरत्नाकर, श्रुतबोध (छंद विषयक ग्रंथ), और पांडव चरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य, शान्तिनाथ चरित्र आदि काव्य ग्रन्थ चुने थे।

सम्पर्क

संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

"सूतेम्भः कमलानि तत्परिमलं वाता वितन्वन्ति यत्"—जल तो सिर्फ कमल पैदा करता है, उसके परिमल को तो पवन ही फैलाता है। कालूगणी के उच्च चारित्र्य और विद्वत्ता की महिमा विदेशों तक पहुँच गई थी। इटालियन विद्वान् टेसीटोरी, शिकागो के डा० गिल्की, १८ भाषाओं के पंडित सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० हर्मन जैकोबी आदि अनेक विदेशी विद्वानों ने श्रद्धा और जिज्ञासा भरे हृदय से उनके दर्शन किए तथा उनसे तत्त्व चर्चाएँ कीं। डा० जैकोबी तो इतने प्रभावित हुए कि जाते-जाते उन्होंने हर्षाभिव्यक्ति करते हुए कहा, "इस बार की यात्रा में मुझे भगवान महावीर की शुद्ध परंपरा के श्रमण के दर्शन हुए।"

राजस्थान की विभिन्न रियासतों के नरेश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में आपके वर्चस्वी व्यक्तित्व से अत्यन्त प्रभावित थे। जहाँ उदयपुर के महाराणा भोपाल सिंहजी ने उदयपुर चातुर्मास में होनेवाली दीक्षा के समय मेवाड़ की चिर प्रचलित रूढ़ि (मेवाड़ में यह रिवाज था कि वहाँ दीक्षा लेनेवाला व्यक्ति वापस गाँव में नहीं आ सकता था उसको वहीं से दूसरे गाँव जाना पड़ता था) को तोड़कर आपके प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की, वहाँ जोधपुर व बीकानेर नरेशों ने अपनी रियासत में बननेवाले कानून में "तेरापंथी साधुओं को गवाही के लिए कचहरी में न बुलाया जाय और न उन पर सम्मन जारी किया जाय" यह अपवाद

रखकर बहुत गहरी आस्था दिखलाई। इस प्रसंग में यह नहीं भूलना चाहिए कि जब कालूगणी के स्वर्गवास का दुःखद समाचार बीकानेर नरेश गंगासिंह जी ने सुना, तो उन्होंने समूचे बीकानेर राज्य में सरकारी छुट्टी व अपने महलों में भोजन के समय गाए जाने वाले गीत तीन दिनों तक बंद रख कर राजकीय शोक मनाया।

राज्यों पर आपका इतना अधिक प्रभाव होते हुए भी आप राज्याश्रय के कट्टर विरोधी थे। धर्म-नीति के लिए राज्याश्रय को मधु संपृक्त छुरी से कम भयावह नहीं मानते थे। एक बार जब बीकानेर राज्य के आई० जी० पी० किसी विशेष काम के लिए आपकी सेवा में आए और कुछ गलत व्यवहार करने लगे तो आपने उनको सावधान करते हुए कहा—

"सुण हाकम संग्राम कहै, आंधो मत होवै यार !
औरां रै दो आँख है थांरे चाइजे च्यार।"

शासक को प्रलोभन में नहीं आना चाहिए, बल्कि विवेक से काम लेना चाहिए।

आपकी स्पष्टोक्तियाँ सच्चाई का पुट लिए और अनुभव पर टिकी हुई होतीं। एक बार आप से बातचीत करते हुए एक नाजिम ने कहा, "महाराज आपके श्रावक गवाही देने में बहुत झूठ बोलते हैं।" आपने कहा, "आप लोग बुलवाते हैं, तभी तो बोलते हैं।"

"सो कैसे ?"

"आप लोगों का ढंग ही ऐसा है। गवाह से पूछते हैं, 'चोर का मुंह किधर था ?' 'वह कितने गज की दूरी पर था ? उसकी कमीज का रंग कौन-सा था ?' जिसका माल चोरी जाता है वह बेचारा चोर को पकड़वाने की सोचता है या आपके इन अदालती पेंचों को ?"

आपकी स्पष्टवादिता में चरित्र का तेज झलकता; और तभी तो उनके सामने जन-जन का शिर झुक जाता था। कालूगणी जन-साधारण के बीच बहुत सादगी और सरलता से आत्मीय भाव का स्रोत बहाते थे। निकट संपर्क में आनेवाले लाखों व्यक्ति उनके स्नेहिल व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते। एक बार वे मारवाड़ के एक ग्राम (पंचपदरा) में विहार करके पधारे। एक किसान मैले-फटे पुराने कपड़े पहने, कंधे पर कृषि का उपकरण लिए आपके निकट आकर खड़ा हो गया। जब आपने उससे आने का कारण पूछा तो उसने कहा, "महाराज ऊनो पानो देखाणो।"

कालूगणी ने अपना पुट्ठा मँगवाया, और महीन अक्षरों का वह पत्र जिसमें एक पत्र में करीब पच्चीस सौ श्लोक लिखे हुए थे, निकाल कर किसान के सामने किया। देखनेवाला आश्चर्यचकित हो उठता है, पर किसान की भाव-भंगिमा ऐसी थी कि जैसे उसको कुछ भी समझ नहीं पड़ा। आपने पूछा—क्यों, देख लिया ?

किसान ने कहा—महाराज यह नहीं। वह कुम्हार के गधेवाला, जिसमें गधा खो गया है और कुम्हार खोजता है। आस-पास खड़े लोग इसकी ऋजु जड़ता पर हँस पड़े, पर कालूगणी ने तत्क्षण वह चित्र मँगवाकर उसे दिखाया। देखकर वह प्रसन्न हो उठा, और महान् व्यक्तित्व के प्रति मूक श्रद्धा से गद्‌गद् हो गया। आपके जीवन में इस प्रकार के एक नहीं अनेक प्रसंग आए, जब आनेवाले व्यक्ति संकोच लिए आते और आपके हृदय की सहज आत्मीयता को पाकर धन्य कहकर जाते।

आपको बातचीत का बड़ा शौक था। आप वाद-विवाद नहीं, संवाद पसंद करते थे। किन्तु फिर भी यदि कोई भूला-भटका पंडित, मानी या संप्रदायाभिनिवेशी आ जाता तो उससे बातें करनी ही होतीं। वह "वादे वादे जायते तत्वबोधः" की मान्यता का जमाना था। स्याद्वाद, समन्वय और सर्वधर्म सद्‌भाव जैसे सिद्धांतों का व्यवहार के साथ मेल ही नहीं हुआ था। शास्त्रार्थ में पराजित करने की महत्त्वाकांक्षा यहाँ तक पहुँच गई थी कि बातचीत के मध्य किसी को 'मिच्छामिदुकूंड' दिलाने वाला इतना हर्षोन्मत्त हो जाता कि जैसे उसने कोई दिग्विजय की हो।

'वाद' को पसन्द नहीं करते हुए भी आप वाद कुशल थे। आपकी मान्यता थी, 'शास्त्रार्थ से आज लों हुआ न निर्णय नव्य।' शांति से सुनना, शीघ्र ग्रहण करना, और थोड़े शब्दों में उचित समाधान देना आपकी वाद-नीति के तीन सूत्र थे। छल-कपट करना बुरा है, किन्तु छल-कपट को नहीं समझ कर बुद्धू बनना और भी बुरा है। भीनासर चर्चा, चूरू चर्चा आदि अब भी समाज के कानों में गूंज रही हैं, जहाँ प्रतिपक्ष से प्रभावित मध्यस्थों ने भी इनके निर्भीक सत्य की प्रशस्ति गाई है।

पाण्डित्य के अभिमान में चूर एक विद्वान आपके निकट आए। बात चल रही थी कि प्रसंग पर मुनि श्री सोहनलालजी ने एक जिज्ञासा की "रघुवंश के इस श्लोक में 'कथं द्वयेषामपिमेदिनी भृतां' में 'द्वयेषां' का प्रयोग क्यों और कैसे हुआ ?" पंडितजी

का वाग्वैदग्ध्य चोट खाए हुए साँप की तरह फुंकार उठा। धारा-प्रवाह संस्कृत में बोलते-बोलते रुके ही नहीं—आखिर कालूगणी ने टोका—पण्डितजी ! बहुत बोलनेवाले को मैं पण्डित नहीं मानता और कम बोलनेवाले को मूर्ख नहीं मानता। पंडित जी चुप हो गए। दूसरे दिन व्याख्यान मंडप में आकर वे बोले—

सायंतने गतदिने भवदीय शिष्यैः,
साकं विवाद विषयेऽत्र यते प्रवृत्ते।
यत्किंचिदल्पमपि जल्पितमस्तु कोष्णं,
क्षन्तव्यमेव भवता कृपया परेण।

वास्तव में यह 'विद्या ददाति विनयं' का आदर्श उनके अनुकूल ही था।

एक नौसिखिया व्याकरणाचार्य आपके पास आकर अपनी शेखी बघारने लगा, "मैंने पाणिनी व्याकरण का अध्ययन किया है। वह सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है" आदि।

आपने सीधे ढंग से कहा, "वास्तव में व्याकरण सुन्दर है, तथा उसका क्रम भी अच्छा है।" पंडितजी ने फिर कहा, "ऐसा एक भी शब्द नहीं जो पाणिनीय से सिद्ध नहीं होता हो।" "'तुच्छ' शब्द कौन से सूत्र से सिद्ध होता है," आपने धीमे से पूछा। उसने सूत्रों को खूब उलट-पलट कर याद किया, पर याद नहीं आया। इस प्रकार आप ज्यादा तर्क-वितर्क में उलझना पसन्द नहीं करते थे, पर यदि कोई आकर अड़ना चाहता तो उसे उत्तर देना भी जानते थे।

संघर्ष और सफलता

कालूगणी अत्यन्त शीतल व मधुर स्वभाव के थे। कैसा भी क्रोधादि का प्रसंग उपस्थित होता, पर वे अपने सौम्य स्वभाव से थोड़ा भी विचलित नहीं होते। विक्रम संवत् १९७९ का चातुर्मास बीकानेर में था। वहाँ का विरोध तब तक के इतिहास में पहला था। वहाँ मनुष्य मनुष्य का ही नहीं आप जैसे महापुरुष के भी खून का प्यासा बन गया था ? एक दिन आप शौच के लिए बाहर गए थे। सहसा एक विशालकाय आदमी हाथ में पिस्तौल लिए सामने आ खड़ा हुआ। पिस्तौल का घोड़ा दबने को ही था कि आपके तेजोमय ललाट और मनमोहक चेहरे को देखकर पिस्तौल हाथ से गिर पड़ी। शरीर पसीना-पसीना हो गया। वह काँपता हुआ आकर आपके चरणों में झुक गया।

"मेरा घोर अपराध क्षमा करो ?" उसकी आँखें डबडबा आईं। "क्या बात है ? किसलिए आए हो ?" कालूगणी ने सब कुछ समझते हुए भी उससे पूछा। उसने सारी की सारी रामकहानी कह सुनाई और इस षड्यंत्र के पीछे किन-किन का हाथ है यह भी बता दिया। उसने आवेश भरे शब्दों में कहा, "प्रभो ! मैं चाँदी के टुकड़ों के लिए यह अत्याचार करने पर उतारू हुआ; पर आपका चमकता हुआ ललाट देखकर मेरे हृदय में अपूर्व श्रद्धा जग उठी। भगवान की इस जीवित मूर्ति पर मैं पापी हत्यारा पिस्तौल चलाऊँ ? इतना कमीना मैं नहीं।"

वह चला गया। कालूगणी ने अपने श्रावकों से तो दूर बहुत दिनों तक तो साधुओं से भी इस घटना की चर्चा नहीं की। यह है उनकी महानता का एक छोटा सा दृष्टान्त।

इस घटना से हमें सहसा भगवान बुद्ध की वह कहानी याद आ जाती है, जब देवदत्त विद्रोही बन कर अजातशत्रु के सहयोग से बुद्ध की हत्या करने के लिए शस्त्रधारी पुरुष को भेजता है। वह शस्त्रधारी ज्योंही बुद्ध के निकट जाता है वह भयभीत, उद्विग्न एवं शून्यवत् खड़ा हो जाता है। फिर चरणों में झुककर अपने घोर कर्म पर पश्चात्ताप करता हुआ क्षमा माँगता है (विनय पिटक पृ० ४८४)।

शांति के फल मीठे होते हैं, पर वे देर से लगते हैं। संघर्ष में शान्ति का उपदेश, मन का संतुलन, आचार व्यवहार की स्पष्टता कालूगणी के जीवन में पग-पग पर छाई हुई है। तभी तो बीकानेर के तत्कालीन प्रधान रिडकन साहब ने कुछ व्यक्तियों पर कानूनी कार्रवाई करते हुए कहा था, "आप (तेरापंथी) लोगों ने शांति रखी, एक पेंफलेट भी किसी के प्रतिपक्ष में नहीं निकाला। उसी का यह फल है।" एक नहीं अनेकों ऐसे प्रसंग आए जब आपके जीवन में "अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति" की सूक्ति पूरी-पूरी चरितार्थ हुई है।

कालूगणी के मुंह पर बहुत बार ये शब्द आ जाते थे—अगर हमारा घर सच्चा है, तो हमें क्या चिन्ता है ? यही उनके निर्भीक जीवन का मंत्र था। वास्तव में वे खुली पुस्तक की तरह बिल्कुल स्पष्ट रहते थे। आपकी प्रत्येक गति विधि में

विचार और व्यवहार का सामंजस्य रहता। दीक्षा-प्रणाली को ही ले लीजिए। दीक्षार्थी की इतनी कठोर परीक्षा ली जाती और उससे इतनी कठोर साधना करवाई जाती कि कच्चे-कच्चे तो यों ही झड़ जाते, पर आपको इसकी कोई चिन्ता नहीं थी। इसीसे प्रभावित होकर बड़ोदा राज्य जब बाल दीक्षा-विरोधी कानून पास करने जा रहा था तो उसके तत्कालीन मुख्य मंत्री ने उद्‌गार प्रकट किए "जिस तरीके से तेरापंथियों में परीक्षा पूर्वक दीक्षा होती है वैसे ही यदि सब जगह होती तो हमें कानून बनाने की कोई जरूरत ही नहीं रह जाती।"

अनुशासनकर्ता का कठोर हृदय आप में था, तो गुरु का वात्सल्य भरा मक्खन सा कोमल मन भी। जहाँ कुछ गल्ती को लेकर पाँच-पाँच साधुओं को संघ से निकालते प्रसन्न मुद्रा में देखे गये, वहाँ एक दूरस्थ मुनि के चोट लगने पर उनके मन में चिन्ता और चेहरे पर खिन्नता आते भी। रोगी, अस्वस्थ मुनि, सतियों की कुशल परिचर्या के लिए उन्हें उतावले होते भी देखा और दोषी को कठोर से कठोर दंड देकर गंभीर बने भी देखा। उनका यह रूप हमें बतलाता है कि उनका जीवन बीकानेरी मिश्री की तरह काठिन्य और माधुर्य का अद्‌भुत संगम था। अब भी जब उनकी वत्सलता व कृपा की चर्चाएँ चलती हैं, तो हजारों का मन खिल उठता है, वाणी मुखर हो उठती है, और आँखें गीली हो जाती हैं। उनके संपर्क में आनेवाला प्रत्येक व्यक्ति स्वतः यह अनुभव करने लग जाता है कि आचार्य प्रवर की सर्वाधिक कृपा मेरे ऊपर ही है। अपने ६० वर्षीय तपस्वी जीवन के पूंजीभूत यश, श्रद्धा और गौरव को एक बाईस वर्ष के तरुण साधक में सन्निहित करके आप संवत् १९९३ की भाद्रपद शुक्ला ६ को भूलोक से द्युलोक की ओर महाप्रयाण कर गए। हजारों आँखों में और लाखों हृदयों में अब भी उनकी स्मृति सहज श्रद्धा और भक्ति का स्रोत बहा देती है।

तेरापंथ के वर्तमान नवमाचार्य— श्री तुलसी और उनका साहित्य

(मुनि श्री श्रीचन्दजी)

कवि पर काव्य नहीं, काव्य पर कवि छाया रहता है। यही आचार्य श्री तुलसी के कवि-कर्म का मूल है। उनके कवित्व में व्यक्तित्व व व्यक्तित्व में कवित्व इस तरह समाहित हो गया है कि जल-तरंग की तरह उनका पृथक्-पृथक् अंकन नहीं किया जा सकता। प्राचीन व नवीन दृष्टि एवं शैली के स्वरों में उनका अपना नया कंपन है, लय है और है संगीत भी।

व्यक्तित्व

आचार्य श्री तुलसी धर्म व संस्कृति के एक प्रतीक, दार्शनिक, संत और कवि हैं। उनका व्यक्तित्व विभिन्न रंगों में रंजित एक रंगीन कला चित्र की तरह रमणीय है। उपदेष्टा, धर्म संघ के शासक और नीति के पुनः अनुष्ठान कर्ता के रूप में उनका तेजस्वी व्यक्तित्व सामाजिक, दैशिक और राष्ट्रीय सीमाओं को लांघकर अन्तरराष्ट्रीय क्षितिज पर एक जाज्वल्यमान नक्षत्र की भांति चमक रहा है। उनका चिंतन जहां सहस्राक्ष बन कर जीवन व जगत् की गहराइयां का सहज उद्घाटन करता है, वहाँ उनकी कल्पना सहस्र पक्ष धर कर भावलोक के कोमल-कांत चित्रों को शब्दों की रंगीनी में सँवार कर उपस्थित करती है।

वे पेशेवर साहित्य स्रष्टा नहीं हैं। आज के बाजार में साहित्य के नाम से चलनेवाली पुस्तकें और साहित्यकार के नाम से पलनेवाले जीव उनके आलोच्य हैं। इसलिये वे कहते हैं, "साहित्य लिखना मेरा कर्म नहीं, धर्म (स्वभाव) है। जब कभी बुद्धि की ठोकर खाकर अनुभूत संवेदनाओं की फुहार उछल पड़ती है, तभी वह कागज पर अंकित होकर साहित्य बन जाती है।"

साहित्य

आचार्यश्री के साहित्य की समीक्षा करने से पहले हमें उनके साहित्य के अंतरंग मर्म को समझ लेना होगा। विषय की दृष्टि से उनके साहित्य को दार्शनिक व काव्य—इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। यदि दर्शन की अपनी शैली है, अपना क्षेत्र है तो कविता का भी अपना स्वतंत्र परिवार है। जहाँ दर्शन का महत्त्व मौलिकता के साथ-साथ परंपरा से जुड़ा रहने में है, वहाँ काव्य का चमत्कार नई ध्वनि, नए संकेत व नई शैली में व्यक्त होने में है। दर्शन ग्रंथों में दो नाम मुख्य रूप से लिये जा सकते हैं—'जैन-सिद्धान्त दीपिका' और 'श्री भिक्षु न्याय कर्णिका'। दोनों ही संस्कृत की प्रांजल भाषा और प्राचीन सूत्र शैली में लिखे गए हैं। जैन दर्शन और जैन न्याय के गंभीर ज्ञान को छोटे-छोटे सूत्रों में परिभाषा, स्वरूप, विषय, भेद-प्रभेद आदि के द्वारा स्पष्ट रूपेण समझाया गया है।

कविता और कल्पना के मधुवन में रमनेवाले रसज्ञों के लिए दर्शन और न्याय का मार्ग ऊबड़-खाबड़ बीहड़ जंगलकी भाँति नीरस एवं दुर्गम होता है, परन्तु आचार्य श्री के कवि मानस ने भाषा व शैली संबंधी काँटे व कंकड़ों को झाड़-बुहार कर इसे सरल व सुगम बना दिया है।

'दीपिका' में जैन सिद्धान्तों का तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। इसके नौ प्रकाश हैं। पहले के आठ प्रकाशों में आत्मा, कर्म, लोक, संवर, निर्जरा, मोक्ष, गुण-स्थान आदि का विस्तार से वर्णन करने के बाद, नौवें प्रकाश में जैन न्याय की सामान्य परिभाषा, स्याद्वाद, नय आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। कहीं-कहीं तो परिभाषाएँ इतनी सरल व सारगर्भित हो उठी हैं कि ऐसा लगता है जैसे गागर में सागर भर दिया गया हो। धर्म की परिभाषा को ही लीजिये। आज तक अनेक

परिभाषायें[1] हुई हैं, पर उन सब में धर्म के समग्र रूप को व्यक्त करने वाली—"आत्म शुद्धिसाधनं धर्मः (७।२३)" वाली परिभाषा मुझे अधिक सारपूर्ण और परिष्कृत लगी है। इसी प्रकार प्रमाण का लक्षण भी जहाँ आचार्यों ने अनेक रूपों[2] में विवक्षित किया है, वहाँ भिक्षु न्यायकर्णिका में—"यथार्थ ज्ञानं प्रमाणं (१।१२)" के द्वारा वह बहुत ही स्पष्ट, सरल और निर्विवाद रूप में बतलाया गया है। इस प्रकार उन्होंने अनेक सुगम परिभाषाओं एवं नवीन चिंतन के द्वारा दर्शन साहित्य की श्री वृद्धि की है। अब हम उनके कवि रूप को देखने का प्रयास करेंगे। इसमें कहीं कल्पना की ऊँची-ऊँची उड़ानें हैं, कहीं प्रकृति का सरस सजीव चित्रण है, कहीं शब्दों की सुकुमार लड़ियाँ बिखरी हुई हैं, तो कहीं जीवन और जगत के चिंतन पर नए-नए उन्मेष भी खुले हैं।

कालुयशोविलास—आचार्य श्री तुलसी की सबसे पहली काव्यकृति है 'कालुयशोविलास।' इसकी रचना २५ वर्ष की अवस्था में प्रारंभ की गई थी तथा इसकी भाषा संस्कृत बहुल राजस्थानी है। किन्तु गुजराती की पड़ोसिन होने से कहीं कहीं उसका भी असर आ गया है। यों तो तेरापंथ के राजस्थानी साहित्य में, विशेषकर जयाचार्य और उनके उत्तरवर्ती साहित्य में गुजरात की मिश्र शैली एवं भाषा का काफी प्रभाव दीख पड़ता है। अेटले, छे, माटे, शूं, एम, केटला आदि विशेषण एवं अव्ययों के साथ-साथ अनेक क्रियाएँ भी मूल रूप में प्रयुक्त हुई हैं। यद्यपि राजस्थान की वर्तमान बोल-चाल की भाषा में इनका कोई प्रयोग नहीं रह गया है, तथापि साहित्य में तो वे सुरक्षित स्थान पा ही चुकी हैं। काव्य की भाषा संस्कृत एवं अपभ्रंश बहुल होने से ओज, प्रवाह और पद-पद पर अनुप्रासों की झड़ी सी लग गई है। राजस्थानी गीतों के मधुर गंभीर लय में जब ये पद गाये जाते हैं तो श्रोता झूम उठते हैं। इसकी कथावस्तु एक अत्यन्त अर्वाचीन महापुरुष की जीवन-गाथा है। और वे हैं—तेरापंथ के स्वर्गीय अष्टमाचार्य श्री कालूगणी। वे एक धर्माचार्य थे तथा उनका जीवन अपने आप में दर्शन, धर्म और नीति का महाकोष था। अपने जीवन में किस प्रकार एक सामान्य मुनि की भूमिका से उठकर संघ के आचार्य बने और सैकड़ों मुनि जनों व लाखों श्रद्धालु श्रावकों का सफल धार्मिक नेतृत्व करते हुए संयम व निःश्रेयस की साधना में रत रह कर समस्त साम्प्रदायिक विरोधों को अत्यन्त धैर्य व शान्ति के साथ सहते हुए वे सदैव आगे बढ़ते रहे—इन समस्त विषयों का सरस एवं रोमांचक वर्णन 'कालुयशोविलास' में हुआ है। इसी के साथ प्रसंगानुसार राजस्थान की भीषण गर्मी, मेवाड़ और मारवाड़ की पथरीली, कंटीली और रेतीली भूमि का सजीव चित्रण भी यहाँ मिलता है। जीवन कथा धारा प्रवाह रूप में चलती है। कथानक, संवाद आदि परस्पर संगठित, संबद्ध और सुरुचिपूर्ण हैं। कहीं-कहीं घटनाओं व तिथियों आदि का पूरा का पूरा विवरण संकलित करने की चेष्टा करने से काव्य का प्रवाह बहता-बहता कुछ शिथिल हो गया है। अलंकार की दृष्टि से अनुप्रास, उपमा, रूपक आदि तो पद-पद पर भरे पड़े हैं। वक्रोक्ति, श्लेष, यमक, अपह्नुति, अतिशयोक्ति आदि अलंकार शास्त्र के प्रायः सभी उदाहरण यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते हैं। भक्ति व शांत रस के साथ-साथ कहीं-कहीं वीर एवं करुण रस भी प्रवाहित हुआ है। आलंबन व उद्दीपन अधिकतर शांत रस के ही मिलते हैं। काव्य की धमनियों में ... विशिष्ट संस्कृति, सभ्यता व परंपरा का ऊर्जस्वित रक्त बहता है जो उसके जातीय गुणों को उद्दीप्त करने में अधिक सफल हुआ है। इस तरह 'कालुयशोविलास' राजस्थानी भाषा का एक सुन्दर और सरस काव्य है। कवि की सूक्ष्म कल्पना प्रकृति-चित्रण करने की अपेक्षा मानवीय भावों का आलेखन करने में अधिक कुशल रही है।

कहीं-कहीं कवि की कल्पना इतनी तीव्र अनुभूतियाँ लिये चलती है कि अनायास ही दिल सिहर उठता है। जब मेवाड़ के

१—धारणात् धर्म उच्यते (महाभारत—कर्ण पर्व)
यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः (कणाद—वैशेषिक दर्शन)
वत्थु सहावो धम्मो (कुंदकुंदाचार्य)
चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोह क्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ (प्र० सार, १।७)

२—प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाध विवर्जितम् (सिद्धसेन न्यायावतार)
स्वपर व्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् (वादिदेव)
सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् (हेमचन्द्र—प्रमाणमीमांसा)

अनन्त श्रद्धालु जन अपने आराध्यदेव के चरणों में मेवाड़ पधारने की भाव-भीनी विनती करते हैं तब कवि मेवाड़-मेदिनी में विरहिणी का आरोप करके उसकी अन्तर्वेदना व तड़प को किस मार्मिकता के साथ व्यंजित करता है जरा देखें तो—

पतित उद्धार पधारिये, संगे सबल ही ठाठ।
मेद पाटनी मेदिनी जोवै खड़ी खड़ी वाट ॥४॥
सघन शिलोच्च नें मिषै रे, ऊँचा करि करि हाथ।
चंचल दल शिखरी मिषै, दै झाला जगनाथ ॥५॥
नयणां विरह तुम्हारड़ै झरै निझरणा जास।
भ्रमरा-राव भ्रमे करी लहै लांबा निःश्वास ॥६॥
कोकिल कूजित व्याज थी क्षतिराज उड़ावै काग।
अरघट खट-खट का करि, दिल खटक दिखावै जाग ॥७॥
मैं अबला अचला रही, किम पहुँचे मम संदेश।
इस झुर झुर मनु झूरणां संकोच्यो तनु सुविशेष ॥८॥
(कालूयशोविलास, उल्लास २, ढाल ५, गा० ४–८)

इसे पढ़ते-पढ़ते मेवाड़ की हरी-भरी ऊँची पर्वत शृंखलाएँ, सघन बीहड़ जंगल, कलकल करते निर्झर, भंवरों की मधुर गुंजार, कोकिल की मीठी कुहक और रहट की अविरल खट् खट आँखों और कानों के बीच ध्वनि-चित्र बन कर खड़ी हो जाती हैं। पर्वतों की ऊँचाई को हाथ ऊँचा करने में, पवन से चंचल वृक्षों को हाथ हिला-हिला कर मधुर निमंत्रण देने में, भँवरों के गुंजन में दीर्घ साँस लेकर गर्म आहें भरने में, कोकिल के कूजन में काक उड़ाने का अभिनय करने आदि में कवि कल्पना का मौलिक चमत्कार निखरा है। रहट की घड़ियों की खटखटाहट में दिल की टीस, रात्रि जागरण की कल्पना में मर्म वेदना जैसे फूट-फूट कर बाहर झाँक रही है। मेवाड़ मेदिनी की विरह-व्यथा से दुबली-पतली देह में वहाँ की भौगोलिक स्थिति का सही-सही अंकन हुआ है।

एक जगह कवि ग्रीष्म ऋतु को आलंबन बनाकर गर्मी में होनेवाली हैरानी, आलस्य और आरामतलबी की कितनी सजीव—अभिव्यक्ति करता है, यह नीचे के पद्य से स्पष्ट है—

ज्येष्ठ महीनो हो ऋतु गरमी नो।
मध्यम गीनो हिवै हठ भीनो।
लूहर झालां हो अति विकरालां।
वह्णि ज्वालां हो जिम चोंकालां ॥२५॥
भू थइ भट्ठी हो तरणी तापैं।
रेणु कट्ठी हो तनु संतापैं।
अजिन रू अट्ठी हो मट्टी व्यापैं।
अति अति दूर घट्टी हो घट्टी मापैं ॥२६॥
स्वेद निझरणां हो रूं रूं झारैं।
चीवर करना हो लूह लूह हारैं।
अंगे उघड़ै हो फुणसी फोड़ा।
भूं पै उघड़ै हो जिम भूं फोड़ा ॥२७॥
कोमल काया हो पासे माया।
जननी जाया हो बाहर न आयां।
भोंहरे घर के हो पौढ़े खाटा।
जलसूं छरकै हो खस खस टाटा ॥३०॥

मंदिर मूंदी हो खोलै पंखा ।
कर धर तूंदी हो सोत निसंका ।
विद्युत योगे हो जल शीतलियो ।
बरफ प्रयोगे हो बा सो गलियो ॥३१॥

(कालूयशोविलास, उल्लास ३, ढाल १७, गाथा २५–३१)

जेठ के महीने को ग्रीष्म ऋतु के शरीर का सीना बताना, गर्म लू को अग्नि की उछलती हुई ज्वालाओं के रूप में देखना, सूर्य के घोर आतप से धरती का भड़भूंजे की भट्ठी व रसोई के तवे जैसा जलने लगना, गर्म धूल का पसीना झरते हुए शरीर पर चिपक कर ऐसे फोड़े-फुन्सी पैदा करना है, जैसे जमीन पर जगह-जगह भूँफोड़े निकल आए हों तथा ऐसे समय में धनी-मानी व्यक्तियों का भोंहरों में छिप-छिप कर खसखस की टट्टियाँ लगाना, पंखे चलाना और गुदगुदे गद्दों पर लेटकर तोंद पर हाथ फेरना दिखाकर कवि ने विषम जन-जीवन का जीता-जागता चित्र उपस्थित किया है।

कालुयशोविलास में कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण भी बड़ा ही सजीव बन पड़ा है। जिन प्रदेशों के वर्णन अब तक कवियों की कलम से अछूते रहे हैं, उन्हें कल्पना के धनी कवि ने बड़े ही सौष्ठव के साथ चित्रित किया है। बालू के हिलते-डुलते पर्वतोंवाले थली प्रदेश का रम्य चित्र देखिये—

निकट निकट बहु सहर सुरंगा इक रंगा जिहँ देशे।
बेलू पर्वत पर्वत सवया प्रवया परिणत वेशे ॥२॥
रयणिये रेणु कणां शशि किरणा चलकै जाणक चांदी।
मन हरणी धरणी यदिन हुवै अति आतप अरु आँधी ॥३॥

(कालूयशोविलास, उल्लास १, ढाल ३, गाथा २-३)

थली में एक ओर जहां गर्म लूएं व आँधियां चलती हैं, वहाँ रात्रि के समय मखमल से कोमल रेतीले टीलों पर शीतल शुभ्र चाँदनी बिखर कर बालुकणों को चाँदी की पहाड़ियों का रूप दे देती है।

इसी प्रकार मारवाड़ व मेवाड़ के बीच की घाटी जहाँ नीचे तलहटी पर फौलाद की चौकी है और ऊपर अरावली की पर्वतमालाएँ सिर उठाए खड़ी हैं, वहां आचार्य श्री कालूगणी पद-यात्रा के सिलसिले में रात्रि-विश्राम करते हैं। रात को शेर, चीते, सियार आदि वन्य जंतुओं की डरावनी ध्वनियों से जंगल आक्रांत हो उठता है। इसका वर्णन कवि ने यों किया है—

चहूँ ओर चंग जुड़ी झंगि भारी ।
जहँ जंगि जंगि बटांरी जटांरी ।
कहिं निम्ब कादम्ब जम्बाम्ब झारी ।
खरी शूल बम्बूल जीहाँ जमांरी ॥१॥
कहिं खक्खराटी हुवै खक्खरांरी ।
कहिं घग्घराटी हुवै वग्घरांरी ।
धहूड़ा लहूड़ा महूड़ा मरांरी ।
कहिं दंड थूरा व कूरां वरांरी ॥२॥
किते फेत कारां फरक्कत फेरू ।
किते फूंफणा रा अरक्कत्त एरू ।
किते घूक संघाट घुग्घाट घेरू ।
किते वुक्क वुक्काट केरू वनेरू ॥३॥
किते गह्वरां गोड गूंजां गडक्कै ।
किते केहरं कैंवों निक्कुंजा धडक्के ।
किते टोल खंडोल खड्डां खड़क्के ।
किते पायठड्डां जु रेणू रड़क्के ॥४॥

खड़ी एक तो मेद घट्टी निकट्टां ।
बड़ी बिखड्डी हैत है ही बिकट्टां ।
कहीं चाढ वाढं कहीं ताढ गाढं ।
कहीं पाहाढ पाढं पढै ठाढ ठाढं ॥५॥
विचालां खुगालां छड़ी छाक छालां ।
करालां विशालां जड़ी खाल जालां ।
भणक्के भणंणांट सूं भट्ट भेड़ा ।
झंणके झणंणांट सू नीर तेडां ॥६॥
सणंके सणंणाट वारी वगहां ।
रणंके रणं रेलगाड़ी रगहां ॥
कहीं बोझ बोझां कहीं रोझ मोजा ।
कहीं पांथ फोजां वहै खोज खोजा ॥७॥
झणं झंकरावां अटव्बी अटारी ।
खणं खंखरावां सके कोन....ठारी ।
कहूँ कातरां री करारी कटारी ।
थवा काल क्यारी घटारी मठारी ॥८॥

(कालूयशोविलास, उल्लास ४, ढाल १२, गा० १–८)

इसे पढ़ते-पढ़ते लगता है कि चंदवरदाई कहीं पृथ्वीराज के साथ शिकार खेलने गया हो और वहाँ के भीषण कोलाहल का आँखों देखा वर्णन लिखने बैठ गया हो। यही तो है कवि का चमत्कार जो परोक्ष अनुभूतियों को भी प्रत्यक्ष करा देता है, निर्जीव को सजीव एवं मूक को वाचाल बनाकर सामने लाकर खड़ा कर देता है।

इस प्रकार कालुयशोविलास इस युग की राजस्थानी भाषा का एक अद्वितीय काव्य कहा जा सकता है। धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर जहाँ मानवीय गुणों का पूर्ण विकास हुआ है वहाँ परंपरा, इतिहास आदि के सर्वांगीण चित्रण से तत्कालीन समाज व सभ्यता आदि पर भी पूरा-पूरा प्रकाश डाला गया है।

माणक महिमा—यह कवि की राजस्थानी भाषा की दूसरी काव्यकृति है। इसमें तेरापंथ के छठे आचार्य श्री माणकगणी की जीवन-गाथा ग्रथित हुई है। काव्य की दृष्टि से 'माणक महिमा' के अनेक स्थल बड़े चमत्कारी और कला पूर्ण हैं। कहीं-कहीं तो अनुभूतियाँ बड़ी तीव्रता के साथ हृदय को संस्पर्श करके झंकृत कर देती हैं। एक प्रसंग लीजिये—जब माणकगणी अपना कोई उत्तराधिकारी नियुक्त किए बिना स्वर्गवासी हो जाते हैं, तब मुनिजन मिल कर संघ से माँग करते हैं अपनी आदर्श रीति-नीति के अनुरूप किसी महान् आचार्य की। उनकी एक अज्ञात मनोव्यथा तथा भाव-भंगिमा को बड़ी चतुरता के साथ कवि ने छन्दोबद्ध किया है—

विचारो सन्ता ! सब मिल बात क नाथ कठासूं ल्यावांला ।
आपांरो गण गौकुल संता गौवा खड़ी विशाल ।
बड़ी दीदारू और दुधारू पिण नहिं रह्यौ गोवाल ।
संता ! बिनां गोवाल गउवां की गति कांइ आपां पावांला ।
ग्रह नक्षत्र चमकता सारा तारां की झमकोल ।
पिण अंबरियो सूनो लागै बिना चाँद चमकोल ।
सन्ता ! बिना चाँद की रजनी स्यूं आपां तुल जावांगा ।
जातिवान द्रुम पेडरू पौधा विटपी लता वितान ।
फलफूलां सूं लड़ालुम्ब है, माली बिना बगान ।
सन्ता ! बिन माली के उपवन की उपमां बन जावांला । (माणक महिमा ढाल १८)

कालू उपदेश वाटिका—यह आचार्य श्री के भाव प्रवण राजस्थानी गीतों का एक संग्रह है। इसमें सरल सुबोध भाषा तथा सरस लोक गीतों के लय में आज के भ्रांत जन-जीवन को मार्ग-दर्शन देने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। यह भी कालुयशोविलास की तरह अभी तक अप्रकाशित ही है।

अणुव्रत गीत—यह आचार्य श्री के नैतिक मूल्यों से समन्वित एवं जीवनोत्थान के लिए आवश्यक शिक्षाओं से पूर्ण गीतों का एक संग्रह है। आज हम उस संक्रांति युग में चल रहे हैं जिसमें जीवन की पुरानी मान्यताएँ व पुराने मूल्य बदल कर उनकी जगह नये विश्वास व नये मूल्य प्रतिष्ठित हो रहे हैं। मानव भूला-भूला जीवन क्षेत्र में भटक रहा है। वह नीति के मानदंड तोड़कर विशृंखल हुआ सा चल रहा है, जिसके परिणामस्वरूप समाज में अनीति, भ्रष्टाचार, पक्षपात आदि दुर्गुणों की बाढ़ आ गई है।

आचार्य श्री तुलसी ने अणुव्रत आंदोलन के माध्यम से मानवता से च्युत होते हुए मानव को रोका और बाँह पकड़ कर उन्हें समझाने का प्रयास किया है। जब वे विभिन्न वर्गों के बीच बैठ कर एक-एक वर्ग की बुराइयों का विश्लेषण कर उनके जीवन को झकझोरते हैं तब सचमुच ही उनके मुख से निःसृत ये गीत जीवन के अंतर में पैठकर उसे स्पंदित कर देते हैं। तथाकथित धार्मिकों की जीवन व्यवहार-गत उपासना और कर्म के द्वैध पर करारी चोट करते हुए वे कहते हैं—

अरे ! धार्मिको किस प्रवाह में अब भी बहते जाते हो ?
मन्दिर में जा भक्त बने, प्रह्लाद भक्त से भी बढ़कर।
हिरण्यकश्यप से क्रूर कर्मकारी बन जाते घर आकर।
तो होगा यह प्रभु से धोखा, केवल मन बहलाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को, खोते या रख पाते हो ॥१॥
कीर्तन, सत्संगत में 'मीरा', 'सूर' तुल्य रस लेते हो।
पर आचरणों में तो 'शूर्पणखा' का परिचय देते हो।
सत्संगत में जो पाते, क्या वहीं छोड़कर आते हो ?
सत्य-धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥२॥
गुरुद्वारे में ग्रंथ साहब का पाठ प्रेम से खूब किया।
बाहर आकर पी शराब यदि भाई का भी खून किया।
तो सोचो गुरु-वाणी को, कितना जीवन में लाते हो।
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥३॥
मस्जिद में जाते नमाज की रखते पूरी पाबन्दी।
लेकिन यदि नापाक रहा दिल और वृत्तियाँ भी गन्दी।
तो बोलो तुम हुक्म खुदा की अदा कहाँ कर पाते हो ?
सत्य धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥४॥
सदा चर्च में जा इशुक्राइस्ट-प्रार्थना हो करते।
पर एकांगी कट्टरता संकीर्ण भावना हो भरते।
बने विलासी बाइबिल की शिक्षाएँ कहाँ अपनाते हो।
सत्य-धर्म की सही शान को खोते या रख पाते हो ॥५॥
सामायिक, स्वाध्याय, संत-दर्शन तो धर्मस्थानों में।
जालसाजियाँ, धोखेबाजी, करते बैठ दुकानों में।
दर्शन-सेवा, शास्त्र-श्रवण का, क्या यह लाभ उठाते हो ?
सत्य-धर्म की सही शान को, खोते या रख पाते हो ॥६॥

(अणुव्रत गीत, पृ० ६)

इसी प्रकार विद्यार्थी वर्ग जो देश के सामने एक विकट समस्या बन कर खड़ा है, को संबोधन करते हुए कवि स्पष्ट रूप से पूछता है—

जरा सोच विद्यार्थियो रे ! किधर तुम जा रहे हो।
लक्ष्य अपना शिक्षार्थियो रे क्या सफल बना रहे हो ?॥१॥
विद्यार्थी जीवन ही सारे जीवन की है नींव,
दिखलाना है तुम्हें देश को जो आदर्श सजीव।
क्या वह दिखला रहे हो ? ॥२॥
आज देश में बड़ी समस्या, छात्रों का आतंक,
यह उच्छृंखलता विद्या का सबसे बड़ा कलंक।
क्या इसे मिटा रहे हो ? ॥३॥

(अणुव्रत गीत, पृ० २)

आगे वे आज की परीक्षा में होनेवाले आतंक, उत्पात और परीक्षा फल सुनने के बाद असफल विद्यार्थियों की आत्मघाती प्रवृत्ति पर वात्सल्य भरा उलाहना देते हैं–

छोटी-छोटी बातों पर, कितना होता उत्पात,
विद्यालय में करनी पड़ती, आज पुलिस तैनात।
क्या दृश्य दिखा रहे हो ? ॥४॥
जो अध्ययन कसौटी थी, वह बन गई आज कृपाण,
हाय ! परीक्षा ले लेती है; कितनों ही के प्राण।
क्यों शान गँवा रहे हो ? ॥५॥

(अणुव्रत गीत, पृ० ३)

अणुव्रत गीत में उन्होंने हर वर्ग को आड़े हाथों लिया है, झकझोरा है और दो खरी-खरी बातें कहकर कर्तव्य का संदेश दिया है। आज के श्रमिक वर्ग की समस्याओं का वास्तविक कारण और उनका सही समाधान परक दृष्टिकोण देते हुए वे कहते हैं–

अरे ओ भारत के मजदूर !
है तेरा कर्तव्य सदा, रहना व्यसनों से दूर॥
तो भी पूरा पेट न भरता।
तन पर चिथड़ा फटा पुराना,
घर का भी है नहीं ठिकाना।
(पर) तुझे चाहिए रोज सिनेमा,
हो शराब में चूर। ॥१॥

(अणुव्रत गीत, पृ० १६, गाथा १)

कालूयशोविलास का कल्पनाशील कवि अणुव्रत गीत में आकर बिल्कुल यथार्थवादी और क्रांत द्रष्टा बन कर युगचेतना को जाग्रत करता है, तथा जन-जन को कर्तव्य बोध का पाठ देकर उसे नैतिक आदर्शों की ओर गतिशील करता है। जनवर्ग के साथ-साथ नेतृवर्ग को भी उद्बोधित करके इतिहास में हुई उसकी भयंकर भूलों का चित्र सामने रखता हुआ कवि कहता है–

देख दशा औरों की अपना कुछ तो करो विकास।
अरे शासको ! अब भी जागो, जगा रहा इतिहास॥
दलबन्दी की दल-दल में फँस, करो न खींचातान,
छिद्रान्वेषण एक दूसरे का करता नुकसान।
इसी फूट ने हिन्दूशाही का कर दिया विनाश॥१॥

हो आराम-तलब ऐयाशी में हरदम मशगूल,
क्या अपना कर्तव्य ? इसे तुम कभी न जाना भूल।
मुगल राज्य के दुखद अन्त का कारण बना विलास ॥२॥
बात-बात में छलना, चलना सदा दुरंगी चाल,
जनता को गुमराह करो मत, गूंथ-गूंथ कर जाल।
इन सबसे अंग्रेजी शासन ने खोया विश्वास ॥३॥
अहंभाव में चूर, स्वयं को ईश्वर का अवतार-
मान मनोगत दुराचार से, कभी न करना प्यार।
बड़े-बड़े राज्यों की सत्ता का इससे व्यपनाश ॥४॥
(अणुव्रत गीत, पृ० २१, गाथा १–४)

कवि के जीवन में अध्यात्म का तेज निखरा हुआ है और उसकी वाणी में तपस्या का ओज उभर रहा है। उसी साधना और तपश्चर्या के पावन जल से जन-जीवन को आप्लावित करने के लिए कवि कोमल संगीत में ये भाव भरे पद सुनाता है।

नई शैली और नई चिंतन-धारा में अभी-अभी आचार्य श्री ने तीन खण्ड काव्य लिखे हैं। एक है 'भरत मुक्ति' दूसरा 'आषाढ़ भूति' और तीसरा है 'अग्नि परीक्षा'। पहले में भगवान् आदिनाथ के पुत्र रत्न भरत चक्रवर्ती की गौरवमय जीवन कथा है। कर्म-युग के प्रारंभ की रीति-नीति व साधना का सुन्दर भावपूर्ण वर्णन इसमें हुआ है।

आषाढ़ भूति एक धर्माचार्य थे, पर धीरे-धीरे शंका प्रति शंकाओं के बहाव में वे इस तरह बहे कि घोर नास्तिकता की दलदल में जा गिरे। जीवन के नैतिक आदर्शों से आँखें मूंद कर वे बड़े से बड़े क्रूर एवं जघन्य कृत्य कर बैठे। अन्त में अपने देव-शिष्य से प्रतिबुद्ध होकर पुनः स्वस्थ व आत्मस्थ होकर अध्यात्म साधना में जुट गए। इस काव्य में ऐसे कई स्थल हैं, जिन्हें पढ़कर व्यक्ति कवि की भावनाओं से तादात्म्य स्थापित कर कवि के तात्पर्य को सही-सही पकड़ लेता है। साधु के वेश की ओट में भोली जनता को ठगनेवाले, श्रद्धा के नाम पर सिद्धि करनेवाले नामधारी साधुओं के कुकृत्यों का उद्घाटन करते हुए कवि कहता है—

पग-पग पर संकट झेले है जब मैं पहना यह बाना।
अब इससे ही मुझे चाहिये लाभ उठाना मनमाना ॥३३॥
यही वेश ऐसा है जिस पर श्रद्धानत सारा संसार।
इसी वेश के द्वारा सारी हो सकती आशा साकार ॥३४॥
लाखों के हृदय-स्थल में मेरे प्रति पूरी निष्ठा है।
सभी मान करके परमेश्वर रखते पूर्ण प्रतिष्ठा हैं ॥३५॥
अज्ञानी हरिणों का जीवन हरने का यह साधन संगीत।
फुसलाने जग की जड़ता को, है यह मुनि का वेश पुनीत ॥३६॥
इसी वेश में अब सारे एकत्रित करने साधन हैं।
क्रिया-काण्ड दिखलाकर मुनि का पाना मन वांछित धन है ॥३७॥
धूल झोंक सबकी आँखों में काम बना लूं मैं अपना।
स्वर्ग-मोक्ष केवल सपना, फिर क्यों इसके पीछे खपना ? ॥३८॥
बन श्रमण पाप करते अनर्थ, ऐसे संयम से पतित संत।
वे ढोंग जमा लें एक बार, होता है उनका बुरा अन्त ॥३९॥
इससे साधु-सन्तों के प्रति, जन-आस्था आज फिसलती है।
इन आदर्शों की छाया में, पापों की दुनिया पलती है ॥४१॥
(आषाढ़ भूति, विश्राम २)

मनुष्य का अपराध अभिव्यक्त होने पर उसकी स्थिति का यथार्थ चित्रण कितना प्रस्फुटित हुआ है--

घुटनों में डाल रखी गरदन, थर-थर कांप रहा है तन ,
गुरुजी के दोनों बन्द नयन, करते हैं मन ही मन चिन्तन ।
देखे कुछ ऊँची दृष्टि उठा यह साहस तक कैसे होता ?
अपने अकृत्य पर रह-रह कर उनका अन्तस्तल है रोता ।।१।।
फट जाए यदि धरा समा में जाऊँ ,
नभ टूट पड़े तो में उसमें छिप जाऊँ ।
रस्सी भी पास न यदि गल फाँसी खाऊँ ,
(बतलाओ हे भगवान कहाँ अब जाऊँ ?)
क्या करूँ स्वयं की कैसे लाज बचाऊँ ।।२।।

(आषाढ़भूति, विश्राम ४)

एक कमजोरी के घुसने पर चारों ओर से उस पर आक्रमण होने लगता है । वे सब मिल कर जीवन को क्षत-विक्षत कर देते हैं । बुढ़ापा स्वयं अभिशाप है । कवि कहता है--

व्यथा कोई एक है क्या ? व्यथा से जीवन सना ,
हो रहा शत-खण्ड मानस जर्जरित यह तन बना ।
सब भाँति बुढ़ापा सताने लगा ।।९५।।

(आषाढ़भूति. विश्राम १)

'अग्नि परीक्षा' कवि की नव्य कृति है । उसमें राम की लंका विजय के बाद सीता की अग्नि परीक्षा का वर्णन है । प्राचीन विश्वासों में नारी और दास ये दोनों सदा पद-दलित रहे हैं । उनमें भी दास की विवशता के बंधन से होनेवाली मनोदशा का विश्लेषण कवि ने कितने हृदयस्पर्शी शब्दों में किया है--यह यहाँ दिखाया गया है :

नहीं कृत्याकृत्य कुछ भी, सोच सकता भृत्य है,
जो कहे स्वामी वही बस कृत्य उसका नित्य है ।
दृष्टि के विपरीत उसका बोलना भी पाप है,
दासता मनुजत्व का सबसे बड़ा अभिशाप है ।।७८।।
दीन से भी दीन होना श्रेष्ठ अपर-अधीन से ।
हीन से भी हीन होना श्रेष्ठ अपर-अधीन से ।
भली सूखी रोटियाँ परतन्त्र के पकवान से ।
भला है बलिदान इस परतन्त्र के वरदान से ।।७९।।

(अग्नि परीक्षा, खण्ड ३।७८, ७९)

नारी के प्रति किये गये व्यवहारों का स्पष्ट उद्घाटन करते हुए आपने लिखा है--

अपमानों से भरा हुआ है नारी जीवन ,
अरमानों से भरा हुआ है नारी जीवन ।
अभियानों से डरा हुआ है नारी जीवन ,
बलिदानों से घिरा हुआ है नारी जीवन ।।९।।
पुरुषों में नारी का कोई स्थान नहीं है ,
पुरुषों में नारी का कोई मान नहीं है ।
पुरुषों का नारी पर कुछ भी ध्यान नहीं है ,
इसीलिये कर पाती वह उत्थान नहीं है ।।११।।

जिसने दुख में भी पुरुषों का साथ निभाया,
रही सदा अर्द्धांगिनी तन के पीछे छाया।
पर पुरुषों ने यह उसका आभार चुकाया,
सुख में जूठी पत्तल ज्यों उसको ठुकराया ॥१२॥
अबला उसे बनाकर रक्खा अधिकारों में,
जकड़ दिया हा कृत्रिम लज्जा के तारों में।
पलने नहीं दिया निसर्गज संस्कारों में,
फलने नहीं दिया यदृच्छा-व्यवहारों में ॥१३॥

(अग्नि परीक्षा, खण्ड ४।९, ११, १२, १३)

पुरुष का हृदय परुष हो सकता है पर स्त्री अपने कर्तव्य से च्युत नहीं होती –

पुरुष हृदय पाषाण भले ही हो सकता है।
नारी हृदय न कोमलता को खो सकता है॥
पिघल-पिघल उनके अन्तर को धो सकता है।
रो सकता है किन्तु नहीं वह सो सकता है ॥१६॥

(अग्नि परीक्षा, खण्ड ४।१६,)

आचार्य श्री की कई छोटी-छोटी संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी रचनाएँ, स्तुति, उपदेश, कर्तव्य आदि विषयों पर प्रांजल भाषा और भावपूर्ण शैली में समय-समय पर पाठकों के समक्ष आती रही हैं।

पद्य साहित्य की तरह उनका गद्य साहित्य भी बहुत सुन्दर और चिंतन पूर्ण है। यद्यपि कहानी, उपन्यास, नाटक, गद्य गीत आदि के विषय में उनकी कोई स्वतंत्र कृति अभी तक प्रकाश में नहीं आई है, फिर भी उनका प्रवचन-साहित्य इतनी विशाल मात्रा में हमारे समक्ष है कि उसकी एक स्वतंत्र समीक्षा हो सकती है।

उनके चिंतन की शत-शत धाराएँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को छूती हुई बहती हैं। उनकी ओजस्विनी वाणी हजारों लाखों के लिये जंगम तीर्थ बन रही है। जन मानस को स्पंदित करता हुआ जब भी उनके स्वरों का स्रोत निकलता है तो अनुभवों की परतों के नीचे छिपी हुई संस्कारों की ऊष्मा जाग्रत हो उठती है।

'नैतिकता की ओर', 'शांति के पथ पर' (दो भाग), 'धर्म संदेश,' 'प्रवचन डायरी' (कई भाग) आदि विविध रूपों में उनकी 'प्रवचन साहित्य-माला' के मनोरम पुष्प प्रस्फुटित हो रहे हैं। गांधी वाणी की तरह तुलसी वाणी का एक सरस और सार पूर्ण संकलन अभी-अभी मैंने तैयार किया है। उसमें आचार्य श्री के करीब ५०१ वचन हैं, जो देश काल की सीमाओं से परे जीवन के हर पथ पर गति देते हैं, मोड़ देते हैं, और देते हैं चिंतन का तत्त्व भी। सांस्कृतिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनयिक आदि प्रत्येक विषय पर उनका चिंतन चलता है। उसके कुछ स्थल देखिए–

"ज्ञान का गुण जानना है; पर जो ज्ञान व्यक्ति को दुराग्रही और अहंवादी बनाता है वह किस काम का? ज्ञान के साथ ऋजुता रहे, सत् की ओर उसकी गति हो–यही उसकी (ज्ञान की) सार्थकता है।"

"देश का किसान, जो चिलचिलाती धूप और कड़कड़ाती सर्दी में कड़ी मिहनत करता है, वह भूखा क्यों? पैदा करने-वाला दरिद्र क्यों? वह इधर कमाता है और उधर गँवाता है। शराब की बोतल में उसकी पसीने की कमाई बह जाती है। मृतक-भोज, दहेज और ठहराव जैसी घातक प्रथाएँ उसको अंदर ही अंदर घुन की तरह खा रही हैं।"

"आलोचना और निंदा में बहुत कम अंतर है। आलोचना सत्य, स्पष्ट और सभ्य होती है। निंदा में ये तीनों ही नहीं हो सकते।"

"संसार के समूचे धन को जल में बहा देने से भी कुछ नहीं होगा, जब तक ममत्व न मिटे, 'मेरापन' न जाए।"

"हिंसा, भय, कायरता और अशान्ति–इनका कार्यकारण-भाव है। हिंसा से भय, भय से कायरता, कायरता से अशान्ति–यह दुख की परंपरा है।"

"जब तक स्वार्थ-संघर्ष, पद व प्रतिष्ठा की भूख, बड़प्पन की लालसा, अधिकार व सत्ता का भार, शोषण और संग्रह का जूआ, सत्ता व कूटनीति का उन्माद दूर न हो जाए, शान्ति आए भी तो कैसे ?"

"दर्शन की पवित्रता के दो कवच हैं—मोक्ष का लक्ष्य और अहिंसा की साधना।"

"आचार और विचार की रेखाएँ बनती और मिटती हैं। जो बनता है वह निश्चय ही मिटता है। पर मिटकर भी जो अमिट रहती है, अपनी छाप छोड़ जाती है, वह है संस्कृति !"

इस प्रकार आचार्य श्री तुलसी के विराट् व्यक्तित्व के अनेक रूपों में उनका साहित्यिक रूप अति परिष्कृत, उच्च एवं विलक्षण है। वे धर्म-संघ और अणुव्रत आन्दोलन का भार अपने ऊर्जस्वी कंधों पर लिये चलते ही हैं, विविध उत्तरदायित्वों, नैतिक जागरण की प्रवृत्तियों की व्यस्तता के बीच समय निकाल कर साहित्य जगत् को अपनी नई-नई कला-कृतियाँ भी देते रहते हैं। और हमें आशा करनी चाहिये कि इसी तरह दीर्घ काल तक हम उनकी साहित्य-साधना के अमर-फलों का रसास्वादन करते रहेंगे।



तेरापंथ की अग्रणी साध्वियाँ

(साध्वी श्री राजमती जी)

विक्रम की १९ वीं शताब्दी का पूर्वार्ध चल रहा था। विचार क्रान्ति के बीज लिये आचार्य भिक्षु स्थिति पालन की चार दीवारी को तोड़कर बाहर आए। आचार्य भिक्षु का अन्तर्द्वंद्व सिमट चुका था। अपनी साधना के प्रत्येक चरण में उन्हें आलोक दीख रहा था। फिर भी उन्हें बाह्य विरोध का सामना करना पड़ा। पृष्ठभूमि दृढ़ होती गई। आत्मालोचन और सत्य चिन्तन के आलोक में प्राचीन तथ्यों को नये रूप में रखा गया। तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाते। आचार्य भिक्षु अपनी प्रत्युत्पन्न मति से जवाब देते। एक व्यक्ति ने कहा, "भीखण जी ! तुम्हारा तीर्थ अधूरा है।"

भीखणजी ने पूछा—कैसे ?

उसने कहा—तुम्हारे तीर्थ में साधु-श्रावक और श्राविकायें ही हैं। साध्वियाँ नहीं हैं।

तब तक तेरापंथ में बहिनें दीक्षित नहीं हुई थीं। तीर्थ वास्तव में अधूरा था। वि० सं० १८२१ में तीन बहिनें एक साथ प्रवज्या लेने के लिए आचार्य भिक्षु के सम्मुख उपस्थित हुईं। बहिनों की विरक्ति में तनिक भी सन्देह नहीं होते हुए भी उनके सामने एक समस्या थी। इसलिये उन्होंने पूछा—यदि संयोगवश तुममें से किसी एक की मृत्यु हो जाय तो शेष दो को आजीवन संलेखना करना पड़ेगा; क्योंकि आगमानुसार संघ में तीन साध्वियों से कम को रहना कल्पता नहीं है। क्या यह मंजूर है ? यह प्रश्न आत्म-शक्ति को कसौटी पर कसने वाला था। तत्क्षण तीनों ने एक स्वर में कहा, "महाराज हमें आपकी शर्त मंजूर है।" आचार्य भिक्षु ने तीनों बहिनों को प्रव्रजित कर दिया। साध्वी समाज संख्या वृद्धि के साथ-साथ गुणात्मक विकास भी करता गया।

आज तेरापंथ के दो गौरवशाली शतक पूरे हो रहे हैं। इस अवधि में लगभग १३०० बहिनों ने दीक्षा ली और आत्म-साधना के साथ-साथ उन्होंने जन-हित में भी पूर्ण योग दिया। तेरापंथ का इतिहास उनके कर्तृत्व की घटनाओं से भरा पड़ा है। उनके विकास का एकमात्र सूत्र था विवेक पूर्ण श्रद्धा की अभिव्यक्ति तथा गुरु चरणों में सर्वार्पण की भावना।

आचार्य भिक्षु ने साध्वी समाज की व्यवस्था में भी आशातीत सफलता प्राप्त की। परवर्ती आचार्यों ने समय-समय पर उसको संवर्धित किया और आज भी उसके सर्वांगीण विकास के लिए आचार्य श्री तुलसी प्रयत्नशील हैं।

साध्वी जीवन स्वयं एक आदर्श है, परन्तु उसमें भी कर्म-विलय के आधार पर तारतम्य होता है। मैं इस लेख में केवल उन साध्वियों का जीवन प्रस्तुत कर रही हूँ जिन्होंने साध्वी समाज का नेतृत्व करके अपनी बुद्धि और विवेक के बल पर नारी-जाति के जागरण में योग दिया है।

तेरापंथ धर्म-शासन एक आचार्य, एक सामाचारी, एक विचार और एक संगठन के लिये प्रसिद्ध है। शासन का समस्त कार्यभार आचार्य के कंधों पर रहता है। वे संघ के सर्वांगीण संवाहक होते हैं। साधुओं का उनसे अत्यन्त निकट सम्पर्क रहता है, परन्तु साध्वियों से इतना निकट सम्पर्क नहीं रहता। अतः आचार्य अपने इच्छानुकूल साध्वी समाज में से एक योग्य साध्वी का चुनाव करते हैं और उसको साध्वी समाज की 'प्रमुखा' के रूप में स्थापित करते हैं। 'प्रमुखा' साध्वी में कोई विशेष अधिकार सन्निहित नहीं रहता। वह तो केवल अन्यान्य साध्वियों की प्रार्थनाओं को आचार्य तक और आचार्य के आदेश को साध्वियों तक पहुँचाया करती है। 'प्रमुखा' होने के नाते कुछ व्यावहारिक अधिकार होते हैं, जिनका वह स्वतंत्रता से उपयोग कर सकती है।

अब तक तेरापंथ शासन में १० साध्वी प्रमुखायें हुई हैं :—

१—महासती वरजूजी	६—महासती नवलांजी
२—महासती हीरांजी	७—महासती जेठांजी
३—महासती दीपांजी	८—महासती कानकुमारी जी
४—महासती सरदारांजी	९—महासती झमकूजी
५—महासती गुलाबांजी	१०—महासती लाडांजी

इनमें प्रथम तीन साध्वियाँ प्रमुख पद प्राप्ता नहीं थीं; अपितु उन्होंने साध्वी प्रमुखा की तरह ही सारा कार्य किया था। अन्य ७ साध्वियों को आचार्यों ने 'साध्वी प्रमुखा' पद पर स्थापित कर समस्त साध्वी समाज की देखरेख करने का कार्य सौंपा था। अब मैं इनमें से उन साध्वियों का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करती हूँ, जिनका विवरण उपलब्ध है।

१—महासती दीपां जी (साधनाकाल वि० सं० १८७२–१९१८)

साध्वी श्री दीपांजी का जीवन महत्ताओं से परिपूर्ण था। वह इसलिये नहीं कि वे 'प्रमुखा' थीं, अपितु इसलिये कि उनमें सहज श्रद्धा का उद्रेक था। चरित्र के प्रति निष्ठा थी, संयम के प्रति अनुराग था और सहधार्मिकों के प्रति सहज स्नेह और वात्सल्य था।

आप अत्यन्त निडर थीं, इसलिये अहिंसक थीं; और अहिंसक थीं इसलिये निडर थीं। एक बार आप विहार कर जा रही थीं। साथ में १०-१५ साध्वियाँ थीं। रास्ते में एक डाकू मिला। वह जैन-साध्वियों से अपरिचित था। उसने तलवार निकालते हुए कहा—यदि तुम जीवित रहना चाहती हो तो सारा सामान मुझे दे दो। साध्वियों के पैर रुक गए। सभी ने सारा सामान नीचे रख दिया। डाकू तलवार रख सामान बाँधने लगा। साध्वी श्री दीपांजी ने उपाय ढूंढ़ निकाला। उन्होंने नंगी तलवार अपने हाथ में ले ली। डाकू सकपका गया। अपनी भूल पर उसे पश्चात्ताप हुआ। उसने जीवन की भीख माँगी। साध्वी श्री दीपांजी ने उसे इस प्रकार के कुकृत्य न करने का उपदेश दिया। डाकू का हृदय बदला। उसने अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा-याचना की और तलवार लेकर वह चला गया।

एक बार एक और डाकू से साक्षात्कार हुआ। उसने साध्वियों को लूटना चाहा। आपने ओजपूर्ण शब्दों में कहा हम, "जैन साध्वियाँ हैं। हम पुरुष का स्पर्श नहीं करतीं। छूना मत। हम अपना सामान स्वयं रख देती हैं।" लुटेरा मान गया। सभी साध्वियों ने अपना-अपना सामान नीचे रख दिया। एक वृत्त बनाकर सभी साध्वियाँ बैठ गयीं। साध्वी श्री दीपांजी उनके बीच में जा बैठीं और उच्च स्वर से 'नमस्कार महामंत्र' का जाप करने लगीं। लुटेरों ने आपके ओजस्वी भाव से यह समझा 'यह तो किसी देवी की आराधना कर रही है, मंत्रवादी है। न मालूम मेरी क्या दशा होगी। वह डर कर सामान छोड़कर भाग गया।

उनका वचन कौशल अपूर्व था। उसके प्रत्येक शब्द में निर्णयता और स्पष्टता रहती। चिकनी-चुपड़ी बातें बना कर दूसरों को प्रसन्न रखने की भावना से आप नहीं बोलतीं। जो कुछ कहना होता वह स्पष्ट कह देतीं। एक बार तेरापंथ के चतुर्थ गणी श्रीमज्जयाचार्य, जब वे बाल्यकाल में सामान्य साधु की भूमिका में थे, एक पात्र रँगकर लाये। साधु-साध्वियों ने उस कला की बहुत प्रशंसा की। साध्वी श्री दीपांजी ने भी वह पात्र देखा। कला के प्रति खिंचाव होते हुए भी आपने कहा, "मुनिवर! हमें तो प्रसन्नता तब होती जब आप सूत्रों की टीकाएँ बनाते, नये साहित्य का सृजन करते। यह आपने कौन सा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है? पात्र तो हम साध्वियाँ भी रंग लेती हैं।" इन व्यंग पूर्ण तीखे वचनों ने जयाचार्य को मोड़ा। व्यंग उनके लिए वरदान बन गया। कुछ ही महीने बाद महा मेधावी श्रीमज्जयाचार्य ने 'पन्नवणा सूत्र' की जोड़ प्रस्तुत की। साध्वी श्री दीपांजी ने श्रीमज्जयाचार्य के हृदय में ज्ञान के प्रति लगन पैदा की। उसी का आज यह सुफल है कि तेरापंथ शासन आचार के साथ-साथ ज्ञान के क्षेत्र में भी परिपूर्ण और आत्म-निर्भर है।

लावा सरदारगढ़ में एक बार अन्य सम्प्रदाय के साधु के साथ चर्चा का प्रसंग आ गया। वहाँ के ठाकुर ने मध्यस्थता का दायित्व लिया। मध्याह्न का समय था। चिलचिलाती धूप में सारी परिषद् 'गढ़' में जम गई। साधु जी आए और अपना आसन बिछाकर भूमि पर बैठ गए। साध्वी श्री दीपांजी अपनी साध्वियों के साथ परिषद् में आईं। आपने आस-पास के वातावरण को देखा और पास में ही पड़े एक पट्ट को बिछाकर उसके ऊपर बैठ गईं। दर्शक हार और विजय की

कल्पनाओं को संजोये बैठे थे। साध्वी श्री की कार्य-कुशलता और प्रत्युत्पन्न मति पर ठाकुर प्रसन्न हो रहे थे। चर्चा प्रारम्भ हुई। साध्वी श्री परम प्रसन्नता से मधुर वचनों में उत्तर दे रही थीं। मुनि जी उत्तेजित हो गए। आवेश बढ़ता गया। साध्वी श्री मधुर वचनों से उन्हें उनके कथन का भान करा रही थीं। लोग व्यग्र हो रहे थे। ठाकुर साहब ने स्थिति का विश्लेषण करते हुए लोगों को धैर्य रखने के लिये कहा। आखिर निरुत्तरता की अवस्था आने पर मुनि जी ने मौन ग्रहण कर लिया। सभी स्थिति को समझ गए। चर्चा समाप्त हुई। ठाकुर साहब ने साध्वी श्री का बहुत सम्मान किया और उनके प्रत्युत्पन्नमतित्व पर उन्हें बधाई दी तथा उन्हें दूर तक पहुँचाने के लिये उनके साथ गए।

वही सफल वक्ता है जिसका वाक्य प्रयोग हृदय के मर्मस्थल को छू सके। साध्वी श्री दीपांजी में वचन-कौशल अभिव्यक्त था। उनके एक वचन ने, एक उन्मेष ने तपस्या का द्वार खोल डाला। आमेट की घटना है। १३ साध्वियों के साथ साध्वी श्री दीपांजी वहाँ चातुर्मास कर रही थीं। आपके संकेत पर कई साध्वियाँ तप के लिए प्रस्तुत हुई और उपवास, बेला, तेला आदि में 'मासखमण' (एक मास की तपस्या) तक की तपस्या करने की अपनी भावना व्यक्त की। साध्वी श्री ने कहा, "नहीं, मैं कुछ और चाहती हूँ।" साध्वी श्री की उत्कट भावना को समझ तीन साध्वियां छः मास तक की तपस्या के लिए तैयार हुईं। इससे प्रेरित होकर दो अन्य साध्वियों ने भी छःमासी तपस्या के लिए निवेदन किया। साध्वी श्री ने उन पांचों साध्वियों को तपस्या 'पचखा' दी और आप उन तपस्विनी सतियों की सेवा में रत हो गईं। तेरापंथ शासन में इससे पूर्व छः मास की तपस्या नहीं हुई थी। साध्वी प्रमुखा श्री दीपांजी की गति, मति और स्थिति गुरु-दृष्टि के अनुसार होती थीं। पठन-पाठन में आपकी विशेष रुचि थी। जोजावर आपकी जन्मभूमि थी। १६ वर्ष की छोटी अवस्था में वि० सं० १८७२ में भारमलजी स्वामी के पास आपने दीक्षा ग्रहण की। पचास वर्ष तक साधना कर आप वि० सं० १९१८ की भाद्रपद कृष्णा ११ को आमेट में २० प्रहर के अनशन में स्वर्ग सिधारीं।

२—महासती सरदारां जी (साधना काल वि० सं० १८ ७–१९२७)

संकल्प में बल होता है और आशा में जीवन। उसी का संकल्प फलवान होता है जिसके संकल्प में आत्मनाद हो, आत्म-विश्वास का घोष हो। सरदारसती का जीवन संकल्प और आशा की रेखाओं का स्पष्ट चित्र है। आपका जन्म वि० सं० १८६५ में चूरू में हुआ। दस वर्ष की बाल्यावस्था में ही आपका विवाह कर दिया गया। विवाह के चार मास बाद ही उल्कापात हुआ। सरदारसती के पति चल बसे। सुकुमार हृदय पर वज्राघात सा हुआ। विवाह के प्रसंग पर पहने गये मांगलिक चीवर तथा आभूषण उतार दिये गये। यह सब नाटक की भाँति घटित हो गया। दोनों परिवारों के नयनों में तमिस्रा सी छा गई।

आपका प्रथम साधु सम्पर्क चन्द्रभाण जी के शिष्य शिवरामजी से हुआ। आपने उन्हें धर्म गुरु स्वीकार किया। संयोग वश तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्री रायचन्द जी महाराज उसी समय चूरू पधारे। आप उनके सम्पर्क में भी आईं! प्रतिदिन व्याख्यान सुनतीं और यदा-कदा पोषध भी करतीं। उसी वर्ष मुनि जीतमलजी ने अपना चातुर्मास चूरू में किया। सरदारसती ने उस चातुर्मास में अपनी जिज्ञासाओं का समुचित समाधान पा एवं तत्त्वों की वास्तविकता को समझ तेरापंथ की श्रद्धा स्वीकार की।

आपने १३-१४ वर्ष की आयु में यावज्जीवन चौविहार (रात्रि में पानी भी न पीना और प्रत्येक चतुर्दशी को उपवास करना) का व्रत ले लिया था। सचित्त पानी न पीना, खुले मुंह न बोलना, सचित्त वस्तु न खाना आदि-आदि प्रतिज्ञाएँ आपके उत्कट वैराग्य की सूचक हैं। दीक्षा का संकल्प दृढ़ होता जा रहा था। आपने साधना-पथ को परखना चाहा। तपस्याएँ प्रारम्भ कीं। ८० बेले (दो दिन का उपवास) किये, पारणे के दिन आचाम्ल की तपस्या की। कई महीनों तक 'एकान्तर-तप' (एक दिन के अन्तर से भोजन लेना) किया। एक वर्ष तक बेले-बेले का चौविहार तप तपा। प्रतिमास एक चोला तथा एक पंचोला चौविहार करने का संकल्प किया। एक बार १० दिन का चौविहार उपवास किया। जीवन का अधिक समय तपस्या में बीतने लगा। विचारों की प्रौढ़ता से आचार के प्रति निष्ठा बढ़ी। दीक्षा ग्रहण की भावना उत्कट हुई। उन्होंने यह बात अपने परिवारवालों से कही।

तेरापंथ की दीक्षा परिवारवालों की स्वीकृति के बिना नहीं होती। ससुर का स्वर्गवास हो गया था। घर में प्रथम 'ज्येष्ठ' बहादुर सिंहजी थे। दीक्षा की आज्ञा उन पर निर्भर थी। सरदारसती ने उनसे प्रव्रज्या की बात कही। उन्होंने

उसे टाल दिया। सरदारसती की भावना को ठेस लगी। कुछ दिन बीते। फिर उनसे दीक्षा की बात कही। नम्रता से उन्हें समझाया पर वे अपने विचारों पर अटल थे। आपने सोचा—जैसे आज्ञा देने में मेरे 'जेठ' स्वतन्त्र हैं, उसी प्रकार साधना करने में मैं भी स्वतंत्र हूँ।

विधिवत् साध्वी बनना आज्ञा के बिना असम्भव था, परन्तु आपने गृहस्थ वेश में ही साधु-जीवन के नियमों की साधना प्रारम्भ कर दी। एक दिन आपने अपने 'जेठ' से कहा, "आज से मैं प्रतिज्ञा करती हूँ कि जब तक आप मुझे दीक्षा ग्रहण करने की स्वीकृति नहीं देंगे, तब तक मैं आपके घर का अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। मैं दूसरे घरों से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करूँगी।" समस्या उलझती गई। जेठ ने घर से बाहर जाने की रोक लगा दी ताकि वे अपना निश्चय अपने आप बदल देंगी।

सरदारसती ने ६ दिन तक अन्न-जल कुछ भी नहीं लिया। 'जेठ' का कठोर हृदय पिघला। उन्होंने कहा—दासी से भिक्षा मँगवाकर काम चलाओ। तुम्हारी प्रतिज्ञा भी भंग नहीं होगी और हमें भी दुःख नहीं होगा। कई दिनों तक यह क्रम चला, परन्तु सरदारसती को यह नहीं जँचा। एक दिन आप स्वयं भिक्षा के लिये बाहर गईं। बहादुरसिंहजी को मालूम होने पर उन्होंने द्वारपाल से कहा—देखो, ध्यान रखना, कल सरदारसती बाहर जाए तो उसे रोक देना।

दूसरे दिन सरदारसती भिक्षा के लिये बाहर जाने लगीं। द्वारपाल ने रोका। सती ने बाहर जाने के अनेक प्रयत्न किये, जिससे बहादुरसिंह जी का रोष बढ़ा। उन्होंने नौकरानी से कहा—इसे कमरे में बन्द कर ताला लगा दो। वैसा ही हुआ। सरदारसती एक बन्द कमरे में थीं। भावनाओं का वेग बढ़ा। आपने सन्दूक से सफेद वस्त्र निकाले और साध्वी का वेश बना लिया। हाथों से केश लुंचन करने लगीं। बच्चों ने छिद्रों से यह देख अपने पिता बहादुरसिंहजी को कहा—"पिताजी! कमरे में चाची नहीं हैं, एक साध्वी बैठी है। वह लुंचन कर रही है।" बहादुरसिंहजी ने कमरा खोला और अपनी पत्नी से कहा, "इसका यह वेश उतार लो। लुंचन मत करने दो, हाथ पकड़ लो। ज्योंही वह आगे बढ़ी सरदारसती ने कहा, "खबरदार! अगर हाथ लगाया तो परिणाम अच्छा नहीं होगा।" सब सकपका गये। बहादुर सिंह ने मीठे शब्दों में कहा, "बहुत अच्छा, तुम साध्वी बनकर हमारे घर में बैठी रहो। अब हम घर बैठे ही दर्शन करते रहेंगे। साधना पूर्ववत् चलती रही। एक दिन जेठानी ने कहा, "मैं तुम्हारी साधना देखकर विस्मित हूँ। मैंने तो आज भी तुम्हारे जेठ को इस विषय में समझाया पर वे कहते हैं कि तपस्या करते-करते मृत्यु हो जायगी तो घर बैठे आँसू बहा लूंगा पर दीक्षा की स्वीकृति नहीं दूंगा। यह सुनते ही उन्होंने प्रतिज्ञा की कि जब तक आज्ञा-पत्र नहीं मिलेगा तब तक मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी।

दस दिन बीत गये। कठोर साधना से शरीर शुष्क लकड़ी-सा हो गया। गर्मी बढ़ने से मुंह से खून निकलने लगा, पर जेठ का मन नहीं पिघला। जेठानी तथा अस्सी वर्षीया सासु भी सरदारसती के पक्ष में हो गईं। दोनों ने संकल्प किया कि जब तक सरदारसती अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी तब तक हम भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगी। जेठ का कठोर हृदय मातृ-स्नेह से द्रवित हो गया, और उन्होंने स्वीकृति पत्र लिख कर उन्हें पीहर भेज दिया। पिता ने आज्ञा देने से इन्कार कर दिया। अन्न-जल परित्याग की प्रतिज्ञा दुहराई गई। अन्त में भाइयों के सहयोग से पिता की भी स्वीकृति मिल गई। वि० संवत् १८८७ की मृगशिर कृष्णा चतुर्दशी को उदयपुर में सरदारसती की दीक्षा श्रीमज्जयाचार्य (मुनि अवस्था में) के द्वारा हुई और उन्होंने अपने हाथों ही लुंचन किया।

जब प्रथम बार आपने तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्री रायचन्द जी स्वामी के दर्शन किये तब आचार्य श्री ने आपको औपचारिक रूप से 'अग्रगण्या' बना दिया। तीन वर्ष बाद निशीथ आदि सूत्रों का वाचन कर लेने पर आपने अग्रगण्या के भार को विधिवत् संभाला। दीक्षा के १३ वर्ष बाद आपको 'साध्वी प्रमुखा' का पद मिला। जयाचार्य को आपकी योग्यता व विवेक पर विश्वास था। प्रखर बुद्धि के कारण एक दिन में आप २०० पदों को कंठस्थ कर लेतीं। आपको सहस्रों पद कंठस्थ थे। उन दिनों तेरापंथ में हस्तलिखित प्रतियों पर साधु-साध्वियों का स्वतंत्र स्वामित्व था। जो जितना लिखता वह उसका होता। श्रीमज्जयाचार्य ने सोचा कि पृथक-पृथक स्वामित्व की भावना से संघ की एकता सुरक्षित नहीं रह सकती। आवश्यकतानुसार वस्तुओं का उपयोग नहीं हो सकता। अतः शासन विकास में कुण्ठा आ जाती है। आप इस विचार पर पहुँचे कि हस्तलिखित पुस्तकों का संघीकरण होना चाहिये। बात मामूली थी

पर इसकी कार्यान्विति में अनेक अड़चनें थीं। एक शताब्दी के प्राचीन संस्कारों को सहसा मिटा देना सहज नहीं था। आपने एक उपाय ढूंढ़ निकाला। इससे सारी पुस्तकें सरदारसती को अर्पित हो गईं। सरदारसती ने वे सभी पुस्तकें श्रीमज्जयाचार्य के चरणों में भेंट कर दीं। श्रीमज्जयाचार्य ने उन सबका आवश्यकतानुसार संघ में वितरण कर दिया।

साध्वी-समाज की एक और समस्या थी। साध्वियों के गण सम संख्यात्मक नहीं थे। किसी गण में ९ साध्वियाँ रहतीं तो किसी में केवल तीन ही। सरदारसती ने इस विषमता को मिटाना चाहा। विवेक और बुद्धि द्वारा साध्वियों का हृदय-परिवर्तन कर समस्या सुलझाई गई। साध्वियों का संघीकरण हुआ।

कुशल व्यवस्थापिका

हृदय का अनुशासन स्थायी होता है। सरदारसती का अनुशासन अपनी विशेषताओं को लिये हुए था। सम्पूर्ण साधु-साध्वी समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। आचार्यों का आपके कार्यों के प्रति असंदिग्ध भाव था। एक दिन श्रीमज्जयाचार्य ने सरदारसती से कहा—साध्वियों की योग्यता के अनुसार कई 'संघाटक' (सिंघाड़े) तैयार करो। आदेश पा आपने एक रात में ५३ साध्वियों के १० संघाटक तैयार कर श्रीमज्जयाचार्य से निवेदन किया। आचार्य श्री आप की कार्य तत्परता व कुशलता पर बहुत प्रसन्न हुए। यह व्यवस्था इतनी सहज नहीं थी जितनी प्रतीत होती है, परन्तु यह सरदारसती के व्यक्तित्व का ही परिणाम था कि सब कुछ आसानी से हो गया।

आहार के सम विभाग की परम्परा का श्रेय भी सरदारसती को ही है। साधु-साध्वियों की समस्त भिक्षा आचार्य के समक्ष एकत्र की जाती और उसमें से साधु जितना चाहते उतना रख लेते, शेष साध्वियों को दे देते। सरदारसती को यह बात अखरी। उन्होंने श्रीमज्जयाचार्य से उचित परिवर्तन की प्रार्थना की। तदनुसार सम विभाग की व्यवस्था चालू हो गई।

साध्वी-जीवन में आपने विविध तपस्याएँ कीं। अनेक साध्वियों को तपस्या करने के लिये प्रोत्साहित किया। अन्त में वि० सं० १९२७ की पौष कृष्णा ८ को आजीवन अनशन (पाँच प्रहर के अनशन) में आपका स्वर्गवास हो गया।

विवेक और बुद्धि की धनी, गुरु के इंगित आकार को समझने में अत्यन्त निपुण महासती सरदारसती का तेरापंथ चिर ऋणी रहेगा।

३—महासती गुलाबांजी (साधनाकाल वि० सं० १९० –१९४२)

हृदय की कोमलता, भाषा की मधुरता और आँखों की आर्द्रता—ये नारी के सहज गुण हैं। साध्वी श्री गुलाबांजी में नारी के ये सहज गुण तो थे ही, साथ-साथ उनमें व्यक्तित्व का अपूर्व सुयोग भी था।

श्रीमज्जयाचार्य के पास आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की। महासती सरदारांजी की देख-रेख में आपने सामाचारी ज्ञान प्राप्त किया और आपका पठन-पाठन भी वहीं हुआ। आपकी ग्रहण शक्ति तेज थी। कुछ ही समय में आप ने शिक्षा में अच्छी प्रगति की और अपनी सहपाठिनी साध्वियों से आगे निकल गईं!

लाडनूं में साध्वी श्री गुलाबांजी बालवय में अन्यान्य साध्वियों के साथ श्रीमज्जयाचार्य की सेवा में बैठी थीं। बाल-स्वभाव के कारण वे इधर-उधर चक्कर काटने लगीं। श्रीमज्जयाचार्य ने वात्सल्य भरे उपालम्भ में कहा, "गुलाब! इधर-उधर क्यों फिरती है? जा 'आले' में बैठ जा और स्वाध्याय कर।" तत्क्षण गुलाबांजी वहाँ जा बैठीं। कई घंटे बीत गये। व्याख्यान हुआ। गोचरी आई। आहार का समय हुआ। श्रीमज्जयाचार्य ने पूछा—गुलाब कहाँ है? ढूंढ़ने पर पता नहीं चला। आचार्यवर ने कहा—मैंने उसे आले में बैठने को कहा था, सम्भव है वह वहीं हो। आले में ही वे स्वाध्याय कर रही थीं। उन्हें कहा गया—गुरुदेव याद कर रहे हैं? तत्क्षण वे गुरुदेव के पास आईं। आचार्य श्री ने पूछा—गुलाब! तू वहाँ इतनी देर कैसे टिक सकी? गुलाब ने कहा—आपके आदेश से। आचार्य श्री ने कहा—वहाँ से उठी क्यों नहीं?

गुलाब—आपने बैठने का ही तो आदेश दिया था।

आचार्य श्री की मंद मुस्कान में गुलाब सती का विवेक झलक रहा था।

सहज सौन्दर्य

जिसका जीवन विवेक रूपी सौन्दर्य से विभूषित है वही वास्तव में सुन्दर है। शारीरिक सौन्दर्य केवल बाह्य है। आत्मिक सौन्दर्य, अनभिव्यक्त रह कर भी अध्यात्मपूर्ण जीवन के कार्य कलापों में अभिव्यक्त होता रहता है। साध्वी

श्री गुलाबांजी में बाह्य और आन्तरिक दोनों सौन्दर्य का सहज सुमेल था। शरीर की कोमलता, अवयवों की सुन्दर संघटना और सुन्दर संस्थान तथा गौरवर्ण—यह था आपका हृदयग्राही व्यक्तित्व। मिलनसारता, विद्वत्ता, सौहार्द, वात्सल्य और निश्छल भाव था आपका आन्तरिक व्यक्तित्व।

वि० सं० १९४२ का मघवागणी का चातुर्मास जोधपुर में था। एक दिन कवि गणेशपुरी जी आचार्य श्री के दर्शनार्थ आये। तात्त्विक चर्चाएँ चलीं। प्रश्न और समाधान आनन्दपूर्वक होते रहे। जब कविजी जाने लगे तो आचार्य श्री ने कहा—साध्वियों के दर्शन नहीं किये ? अवश्य करने चाहिए। कविजी ने साध्वियों के स्थान पर जाकर साध्वी श्री गुलाबांजी के दर्शन किये। वार्तालाप हुआ। वहाँ से लौटकर वे मघवागणी के पास वापस आये और कहा—महाराज ! यदि मैं उनके दर्शन नहीं करता तो मन में रह जाती। मैंने देखा वे नारी नहीं, सरस्वती की साक्षात् अवतार हैं। उनकी गुण-सम्पन्नता अपूर्व है।

ज्ञान की आराधना

साध्वी श्री गुलाबांजी का पठन-पाठन महासती सरदारांजी तथा श्रीमज्जयाचार्य के कुशल नेतृत्व में हुआ। संस्कृत काव्य तथा व्याकरण का अध्ययन हुआ। मेधावी तीव्रता और ग्रहण-पटुता से आप कुछ ही समय में विदुषी बन गईं। श्रीमज्जयाचार्य ने भगवती सूत्र की राजस्थानी भाषा में पद्यबद्ध टीका करनी प्रारम्भ की। आचार्य श्री पद्य फरमाते और साध्वी श्री एक बार उन्हें सुनकर लिपिबद्ध कर लेतीं। एक साथ ६-७ पद्यों को सुनकर वे याद रख लेतीं। आपकी लिपि सुघड़ और स्पष्ट थी। आपने अनेक ग्रंथों को लिपिबद्ध किया।

बोलते सब हैं परन्तु बोलने की कला विरलों में ही मिलती है। साध्वी श्री गुलाबां जी की वाणी में स्वाभाविक ओज था, और था एक सहज आकर्षण भी। आप के व्याख्यानों की जन-मानस पर गहरी छाप पड़ती थी; क्योंकि उनका मुख्य हेतु थी उपदेशानुरूप क्रिया। आपका संगीत चलते हुए पथिक को रोक लेता था। कंठ की मधुरता बेजोड़ थी। साथ-साथ पांडित्यपूर्ण विवेचन भी आकर्षण का निमित्त बनता था।

एक दिन आप साधुओं के स्थान पर व्याख्यान देने गईं। प्रतिपाद्य विषय था 'ब्रह्मचर्य'। साधुओं ने व्याख्यान सुना। विषय के प्रतिपादन की शैली और नये तथ्यों के प्रकटीकरण से सुननेवालों का मन प्रफुल्लित हो उठा।

वि० सं० १९२७ में आपने 'साध्वी प्रमुखा' का कार्य संभाला। १५ वर्ष तक आप इस पद पर रहीं। आप में शरीर की सुकुमारता और प्रकृति की कोमलता स्पर्द्धा करती हुई सी प्रतीत होती थीं। समस्त साध्वी समाज का आपको विश्वास प्राप्त था। आपके अनुशासन में वात्सल्य मूर्तिमान हो जाता था। आप अक्सर कहतीं—दोषों का प्रतिवाद करना मेरा दायित्व है। मैं ही उसे न निभाऊँ तो यह मेरा अपराध होगा। मघवागणी ने आपके लिए फरमाया—

सारणा वारणा प्रतिपालना, करण घणी सावधान।
पूज्य भक्त आराधना, डाही घणी बुधवान ॥
बखाण वाणी वाचण में गणी ने, साहाज हुंत श्रीकार।
कंठ कला वारू पंडिताई, जिन कहे अधिक गुण च्यार ॥

आपका स्वर्गवास वि० सं० १९४२ की पौष कृष्णा नवमी को हुआ।

४—महासती जेठांजी (साधना काल वि० सं० १९१९–१९८१)

जन्म—वि० सं० १९०१ चूरू
दीक्षा—वि० सं० १९१९ चूरू
प्रमुखापद प्राप्ति—वि० सं० १९५५ लाडनूं
स्वर्गवास—वि० सं० १९८१ राजलदेसर

व्यक्तित्व जीवन की धुरी है, जिसके केन्द्र में जीवन की सफलता और असफलता का लेखा-जोखा लिखा रहता है। व्यक्तित्व स्वयं में एक ज्योति है, वह स्वयं प्रकाशशील है।

साध्वी श्री जेठांजी व्यक्तित्व की धनी थीं। शरीर सम्पदा से आपकी आन्तरिक सम्पदा कहीं अधिक महान थी। यही

कारण था कि आपका जीवन उत्तरोत्तर आदर्श बनता गया और उसने आपको तपस्या को अपने में मूर्त कर शरीर के प्रति अममत्व की भावना का पाठ पढ़ाया। मझोला कद, सुडौल शरीर, गौरवर्ण, प्रसन्न वदन और सहज कान्ति–यह था आपका बाह्य व्यक्तित्व और मिलनसारता, बड़ों के प्रति विनय, छोटों के प्रति स्नेह, स्वयं के प्रति विश्वास, साधना के प्रति निष्ठा और सर्वार्पण की भावना–यह था आपका आन्तरिक व्यक्तित्व।

आपके दो दशक गृहस्थावास में बीते। इस अल्प अवधि में भी संसार की अनेक सुख-दुखात्मक अनुभूतियां आपको हुईं। आपका कुटुम्ब बहुत ही समृद्धिशाली था। आपका विवाह हुआ, परन्तु उन्नीसवें वर्ष में प्रवेश पाते ही आपको पति का वियोग हो गया और आपका सर्वस्व लुट गया। सब कुछ खोकर भी आप ने वह पाया जो अमर आनन्द देनेवाला था। आपमें विरक्ति के भाव जगे और बढ़े। दुःख वैराग्य की सुखमय अनुभूति में बदल गया।

वि० सं० १९१९ में श्रीमज्जयाचार्य के कर-कमलों द्वारा आपका दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। श्री सरदारसती की देख-रेख में आपका शिक्षण चला। आपकी रुचि एकनिष्ठ थी। आपने महासती सरदारांजी के वैयावृत्य और शासन के कतिपय कार्यों का दायित्व स्वयं ले लिया।

वैयावृत्य–सेवा की भावना व्यक्ति की दयार्द्रता का प्रतिबिम्ब है। इसका उपादान है विनय। विनय विवेक से फलवान बनती है। मनीषियों ने गाया है–सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः। सेवा धर्म अत्यन्त दुष्कर है। वह आज भी रहस्य ही है। साध्वी श्री जेठांजी ने सेवा-व्रत को अपने जीवन का अंग बना लिया। ग्लान साधु-साध्वियों के लिये औषधि का सुयोग मिलाने का कार्य आपने पूर्ण तत्परता से निभाया।

नवदीक्षित साधु-साध्वी का जीवन बच्चों का-सा जीवन होता है। उन्हें चलना, बैठना, खाना, पीना, बोलना, आदि शारीरिक क्रियाओं का समुचित शिक्षण देना होता है। नव दीक्षिता साध्वियों को आपकी देख-रेख में रखा जाता। आप उन्हें सामाचारी का समुचित ज्ञान करातीं, गुरु भक्ति का महत्त्व समझातीं, साधना की विधि बतलातीं और उन्हें जीवन की महत्ता और पवित्रता का ज्ञान करातीं। आप उन्हें कष्ट-सहिष्णुता का मर्म समझातीं।

गुरु के इंगित और आकार को समझनेवाला शिष्य ही गुरु की आराधना कर सकता है। साध्वी श्री जेठांजी गुरु के इंगित और आकार को समझने में दक्ष थीं। आचार्य की दृष्टि के अनुसार आपकी गति, मति और स्थिति होती। आपको आचार्यों का बहुमान प्राप्त था। तत्कालीन साधु-समाज पर भी आपके व्यक्तित्व की छाप थी। आप जब साधुओं के स्थान पर पधारतीं तब साधु अधिक सावधान हो जाते। वे जेठांजी से सकुचाते। तेरापंथ के सप्तमाचार्य श्रीमत् डालगणी ने आपको साध्वी प्रमुखा पद पर स्थापित किया। इस पद-प्राप्ति से पूर्व आप को न विषाद था और न पद-प्राप्ति के बाद आप को कोई उल्लास ही हुआ। सारा कार्य पूर्ववत् ही चलता रहा। आपकी सेवाओं के विषय में श्रीमत् डालगणी कहते, "जेठांजी की सेवाएँ अनुकरणीय हैं। इन्होंने आचार्यों तथा साधु-साध्वियों की बहुत सेवाएँ की हैं। इनसे सेवा करना सीखो।"

तपस्या से जीवन निखरता है, परन्तु यह पथ कंटकाकीर्ण है। परन्तु जो वीर होता है वह कांटों के पथ पर चलकर अपनी बलि देकर भी लोगों के लिये पथ प्रशस्त कर देता है। साध्वी श्री जेठांजी ने १७ और २ की तपस्या को छोड़कर उपवास से बाईस दिनों तक चौविहार तपस्या की। तेरापंथ शासन में चौविहार तपस्या का यह उत्कृष्ट उदाहरण है।

आपका सहज सौजन्य, कर्तव्य-निष्ठा और गुरुभक्ति सब को सहज ही आकृष्ट कर लेती थी। कालूगणी कहते, "जेठांजी की देख-रेख में कितनी भी साध्वियों को रखा जाय, उनकी व्यवस्था के विषय में मुझे चिन्ता नहीं करनी पड़ती है।" इन वचनों में उत्तरदायित्व के प्रति उनकी निष्ठा एवं अपने आश्रितों के प्रति वात्सल्य की पूर्ण झलक है।

५–महासती कानकुंवरजी (साधना काल वि० सं० १९४४–१९९३)

जन्म–वि० सं० १९३० श्री डूंगरगढ़
दीक्षा–वि० सं० १९४४ बीदासर
प्रमुखा पद प्राप्ति–वि० सं० १९८१ चूरू
स्वर्गवास वि० सं०–१९९३ राजलदेसर।

अहिंसा और अभय एकार्थक हैं । जहाँ अहिंसा है वहाँ अभय है और जहाँ अभय है वहीं अहिंसा के भाव फलते-फूलते हैं । महासती कानकुँवरजी का जीवन अहिंसा और अभय का समवाय था । उनमें यदि नारी की सुकुमारता थी तो साथ-साथ पौरुष का कठोर अनुबन्ध भी था ।

एक बार ग्रामानुग्राम विहार करती हुई आप मन्दसोरा गयीं । शहर में रहने के लिए स्थान नहीं मिला । अत: आप गाँव के बहिरिका में रहीं । कुछ दिन बीते । एक दिन मध्य रात्रि में दो चोर वहाँ आये । 'कासीद' बाहर सोए हुए थे । उन्हें रस्सी से बाँध दिया । दरवाजे बन्द थे । कपाटों की खड़खड़ाहट से अन्दर सोई हुई साध्वियों ने चोरों का अनुमान लगा लिया । साध्वी श्री कानकुंवर जी ने अन्य साध्वियों को 'नमस्कार' मंत्र का जाप करने के लिए कहा और स्वयं उठकर किवाड़ खोल दिया । साध्वी श्री ने पूछा-कौन हो भाई ! चोरों ने कहा–हम चोर हैं । सारी सम्पत्ति हमें दे दो अन्यथा अनर्थ हो जायगा । साध्वी श्री ने अपने पास के कुछ पन्ने उनके सामने रखते हुए कहा–यह है हमारी सम्पत्ति । चोरों ने पूछा–इनमें क्या है ? साध्वी श्री ने अवसर का समुचित लाभ उठाते हुए कहा–इनमें अमूल्य रत्न हैं । तुम ले लो । उन्होंने एक स्वर में कहा–सारे रत्न निकाल कर यहाँ रख दो । जल्दी करो । साध्वी श्री ने एक पन्ना हाथ में लिया और मन्द स्वर से एक गीतिका उन्हें सुनाई । संगीत की थिरकती हुई स्वर लहरी चोरों के कानों में गूंजने लगी । वे चित्रवत् बैठे रहे । एक गीतिका पूरी हुई फिर दूसरी आई । इस प्रकार कई गीतिकायें, जिनमें मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विवेचन था, उन्हें सुनाईं । चोर साध्वी श्री के संगीत से मुग्ध हो गए । चोर हो या साहूकार हृदय की आर्द्रता सब में होती है । चोरों का मन पिघल गया । उन्हें अपनी भूल का भान हो आया ? वे साध्वी श्री को प्रणाम कर धृष्टता व अपने अनौचित्य के लिए क्षमा-याचना कर चले गये ।

कला जीवन का उदात्त पक्ष है । कला कला के लिये न हो, जीवन के लिये हो–यह जिसने कहा वही सही अर्थ में कला-विद है । जो व्यक्ति जीने की कला में निपुण है वह सभी कलाओं में निपुण है ।

साध्वी श्री का जीवन स्वयं एक कला की स्फुट अभिव्यक्ति था । जीवन की कला के साथ ही अन्यान्य कलात्मक वस्तुओं के निर्माण का शिक्षण देना भी आप अपना कर्तव्य समझती थीं । अपने पास रहनेवाली साध्वियों को आप सभी प्रकार की कलाएँ सिखातीं । अपने एक बार के चातुर्मास काल में आपने ११ रजोहरण बनाये । वे अपनी कला मे बेजोड़ थीं ।

आप कुशल अनुशासिका भी थीं । जो व्यक्ति के हृदय को जीतता है वही सफल अनुशासक है । योगवाशिष्ठ में अनुशासक की नीति के लिये कहा है–बहि:कृत्रिमसंरम्भोऽन्तर्संरम्भवर्जित:" । साध्वी श्री कानकुँवरजी का जीवन ऐसा ही था । जब कोई साध्वी दोष करती तो उसपर वे अनुशासन करतीं और कठोर उपालम्भ देतीं । परन्तु उपालम्भ में हृदय होता था, अपनत्व होता था । यह अपनत्व पूर्ण उपालम्भ व्यक्ति को खींच लेता, उसे अपना बना लेता । आप में 'भीत परिषद' का अपूर्व गुण था । सारी साध्वी परिषद् आपके व्यक्तित्व का आदर करती, और भय मानती थी ।

आप साध्वी-प्रमुखा के पद पर थीं । आप पर दोषों का प्रतिकार करने का गुरुतर दायित्व था । प्रतिकार में कठोरता भी बरती जाती है । परन्तु आपका हृदय इतना कोमल था कि किसी को अपराध के लिए दंड अथवा उपालंभ देने पर जब तक आप उससे क्षमा-याचना नहीं कर लेतीं तब तक आपको चैन नहीं पड़ती । आप आहार करने बैठतीं और यदि याद आ जाती कि आज मैंने अमुक को कुछ कहा है और अभी तक 'खमत-खामना' नहीं किया है, तो आपका कौर हाथ में ही रह जाता । भोजन पड़ा ही रहता । आप पहले उस साध्वी से जाकर क्षमा-याचना करतीं ।

स्वाध्याय-प्रेम

ज्ञान की विस्मृति न हो जाय यह स्वाध्याय का मुख्य पक्ष नहीं, गौण पक्ष है । स्वाध्याय का प्रधान पक्ष है तत्सम आनन्द की अनुभूति । साध्वी श्री सदा स्वाध्याय में लीन रहतीं । आपको छ: आगम कंठस्थ थे । अनेक थोकड़े, भजन, स्तवन तथा व्याख्यान भी याद थे । रात में घंटों तक इनका स्वाध्याय करतीं । दिन में आगमों का पठन-पाठन चलता । वाचन के रूप में वर्ष में एक बार ३२ आगमों का वाचन हो जाता । भाई-बहिन तात्त्विक जिज्ञासा के लिए आपसे घंटों बातचीत करती, परन्तु सांसारिक झंझटों की बातों से तथा अनावश्यक वृत्तान्तों को सुनने-सुनाने से आप सदा दूर रहतीं । कभी कुछ बात करनी पड़ी तो आप कहतीं–इतना समय व्यर्थ ही बीता । यदि स्वाध्याय होता तो कितनी आनन्दानुभूति होती ।

समस्त साध्वी समाज का विश्वास आपको प्राप्त था। इसका मूल हेतु था आपका अप्रतिम और निश्छल वात्सल्य। शैक्ष, ग्लान तथा वृद्ध साध्वियों की 'चित्त समाधि' के लिये आप सतत प्रयत्नशील रहतीं तथा उनकी आवश्यकताओं को पूर्ण करतीं। दूसरों की 'चित्त समाधि' के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने में भी आप आगे रहती थीं। जोधपुर में एक बार ऐसा ही प्रसंग आ गया। आपने श्रीमत् कालूगणी से अत्यन्त अनुनय विनय कर वृद्धा साध्वी श्री कस्तूरां जी के लिए एक आज्ञा ली, जिससे कि वृद्धा साध्वी को असमाधि न हो।

आपकी व्याख्यान-कला प्रभावोत्पादक थी। जब आप साधुओं के स्थान पर मध्याह्न में व्याख्यान देतीं तब साधु आप का व्याख्यान सुनते। श्रीमत् कालूगणी कहते—साध्वी कानकुंवरजी का व्याख्यान कितना सरस और हृदयग्राही होता है। कई साधुओं से भी इनकी व्याख्यान शैली सुन्दर है। जब कोई साध्वी व्याख्यान ठीक नहीं देतीं, तो बीच में ही आप कम्बल लेकर परिषद् में चली जातीं और व्याख्यान प्रारम्भ कर देतीं। साधु आपके सामने व्याख्यान देने में सकुचाते थे। साधुओं के हृदय में आपके प्रति बहुमान था। सभी साधु आपका यथोचित सम्मान करते थे।

आचार्य श्री तुलसी ने अपने 'कालूयशोविलास' महाकाव्य में लिखा है—

संचालन शैली सुघड़, ज्ञान ध्यान गलतान।
कानकंवर गण में लह्यो, गुरु कृपा सम्मान॥
निमल नीतियुत पालियो, चरण-रमण सुविलास।
बाल्यकाल ब्रह्मचारिणी, वर्षे गुण पचास॥
श्रुति स्वाध्याय विलासिनी, ह्रासिनि कर्म कठोर।
विकथावाद विनाशिनी, आश्वासिनी मन मोर॥
अति सुख पूर्व समापियो, निज संयम जीतव्य।
वाह वाह सती महासती, अवसर लह्यो अलभ्य॥

आपके पेट में एक बड़ी गाँठ थी। साध्व्योचित मर्यादा के अनुसार आपरेशन असंभव था। आपको ३ वर्ष तक 'स्थिर-वास' रहना पड़ा। वि० सं० १९९३ की भाद्रपद कृष्णा ५ को अत्यन्त समाधिस्थ अवस्था में आपका स्वर्गवास हुआ।

६-महासती झमकूजी (साधना काल वि० सं० १९६५-२००२)

'झमकूजी' का जन्म राजस्थान के रतन नगर—थेलासर में हुआ। जब आप गर्भ में आईं तब आपकी माता ने स्वप्न में लक्ष्मी को देखा। स्वप्न में ही माँ ने पूछा—यह क्या? उत्तर मिला—तेरे गर्भ से एक कन्या का जन्म होगा, जो समूचे कुल का शृंगार बनेगी। आपका जन्म हुआ। परिवार में जन-धन की वृद्धि हुई। आपत्तियाँ मिट गईं। माता-पिता के अतुल स्नेह और वात्सल्य से पालन-पोषण हुआ। बचपन बीता। अल्पवय में ही पाणि-ग्रहण हो गया। ससुराल में जन-धन की वृद्धि हुई। सभी ने इन्हें लक्ष्मी के रूप में ग्रहण किया। योग्यता के कारण कुछ दायित्व भी सामने आये। कुछ ही वर्ष बीते थे कि अचानक ही पति का वियोग हो गया। आशाएँ नष्ट हो गईं। पुत्री के वैधव्य की बात सुन पिता तीन दिन तक मूर्छित रहे। स्वप्न में एक आवाज सुनाई दी, "चिन्ता मत करो। यह अप्रत्याशित दुःख इसके जीवन को चमकायेगा, अमरत्व देगा।"

एक बार साध्वी श्री गंगाजी ने आपका हाथ देखकर कहा—तुम्हारा जीवन अध्यात्म शासन की सेवा में बीतेगा। तुम संघ की आराधना करोगी ऐसा लगता है। झमकूजी ने कहा—महाराज! ऐसा भाग्य कहाँ? एक बार आपने स्वप्न में फलों से लदे आम्रवृक्ष को देखा। आपने मन ही मन दीक्षा का संकल्प कर लिया। माता-पिता का स्नेह या सास-श्वसुर का अनुराग उन्हें बाँध नहीं सका। वि० सं० १९६५ में श्रीमत् डालगणी के पास आपने भागवती दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षा से पूर्व पति-गृह की रखवाली का भार आप पर था। अवस्था छोटी थी परन्तु विवेक वृद्ध थे। दीक्षा के समय आपके 'जेठ' ने कहा—अपने कनिष्ठ भ्राता की मृत्यु पर मुझे इतना दुःख-दर्द नहीं हुआ था, जितना आज तुम्हारी दीक्षा पर हो रहा है। अब मेरे घर की रखवाली कौन करेगी? जन-धन को कौन संभाल कर रखेगी? ये उद्गार दायित्व के प्रति आपकी निष्ठा तथा कुशलता के परिचायक हैं।

प्रारम्भ से ही आपको कला के प्रति आकर्षण था। प्रत्येक कार्य को आप कलात्मक ढंग से करतीं। कला के साथ-साथ स्फूर्ति और विवेक भी था। यही कारण था कि आप सबसे छोटी बहू होने पर भी समूचे घर की जिम्मेवारी आप पर थी। दीक्षा के बाद कला में और अधिक विकास हुआ। १५ मिनट में चोल पट्टे को सीना, एक दिन में रजोहरण की २५ कलिकाओं को गूंथना आपकी स्फूर्ति के परिचायक हैं। आपने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी अनेक साध्वियों को सूक्ष्म सिलाई सिखाई।

आप स्वाध्याय में रस लेतीं। ६-७ हजार गाथाएँ कंठस्थ थीं। उनका आवर्तन-प्रत्यावर्तन, चिन्तन-मनन होता रहता। शैक्ष, ग्लान, वृद्ध की परिचर्या में आपको विशेष आनन्द आता। जब कभी साध्वियों में चीर-फाड़ आदि का प्रसंग आता, तो आप उसे अपने हाथों से सम्पन्न करतीं। हाथ हल्का था, साथ-साथ कार्य करने की कुशलता भी थी।

गुरु-भक्ति आपके जीवन का व्रत था। आप सदा शासन-हित को प्रधानता देतीं। शासन-हित के लिये अपने बड़े से बड़े स्वार्थ का भी बलिदान करने में आप पीछे नहीं रहतीं। यही भावना तेरापंथ संगठन की रीढ़ है। एक बार विहार करते हुए मार्ग में ही वर्षा आ गई। सारे कपड़े भींग गए। स्थान पर आकर सभी साध्वियां अपने-अपने कपड़ों को सुखाने में लग गईं। आपने अपने आर्द्र शरीर या कपड़ों की ओर ध्यान नहीं दिया। सर्व प्रथम शासन की पुस्तकें खोलीं। एक-एक पन्ना देखा। उसे ठीक किया, तब निश्चिन्त हुईं।

आपके प्रत्येक कार्य में स्फूर्ति तथा चाल में तेजी थी। एक बार श्रीमत् कालूगणी चातुर्मास के लिये चूरू पधार रहे थे। नगर प्रवेश का मूहुर्त ७॥ बजे का था और दूरी ६ मील की थी। आचार्य श्री किसी भी तरह वहाँ उस समय नहीं पहुँच सकते थे। अतः प्रस्थाना रूप आपको भेजा गया। आप एक घंटे में ६ मील पहुँच गईं।

आपकी स्मृति और पहचान अविकल थी। एक बार जिस आकृति को देख लिया, जिसके स्वर सुन लिए, उसे वर्षों बाद भी आप सरलता से पहचान लेती थीं। अन्धकार में भी स्वरों से उस व्यक्ति को जानकर नामोच्चारण पूर्वक वन्दना की स्वीकृति देतीं। दर्शनार्थी हर्ष से गद्गद् हो जाते और अपना आना सार्थक मानते।

आप उदार अवश्य थीं, परन्तु देते समय विवेक आगे रहता था। उसका देना भी क्या देना, जिसके देने में कृपणता झलके या लेनेवाले को हीनता का अनुभव हो। उसका देना भी क्या देना, जिसको मूर्ख बना कर लिया जाय? आप साधु-साध्वियों की माँग पूरी करतीं। जिस वस्तु का अभाव होता या यदि आप देने में असमर्थ होतीं तो माँगनेवाले को इस प्रकार से संतुष्ट करतीं मानो उसे अपनी इष्ट वस्तु प्राप्त हो गई हो। आप सबके लिये मातृ स्थानीया थीं। सब के लिये आपकी आँखों से माता की ममता टपकती थी।

सहिष्णुता अहिंसा का परिणाम है। सहना अहिंसा है। सहते सब हैं परन्तु जो सहने में आनन्द मानता है वही सहिष्णु है। उस समय आप 'साध्वी प्रमुखा' के पद पर नियुक्त थीं। रात्रि का समय था। आप पट्ट पर सो रही थीं। नींद आ गई थी। एक काला सर्प आपके पेट पर चढ़ा और धीरे-धीरे नीचे खिसक गया। आपने देखा, परन्तु आप निश्चल रहीं। अपने प्रति जिसको पूर्ण विश्वास होता है वही ऐसा कर सकता है। आपको सर्प के आरोह-अवरोह से तनिक भी भय नहीं लगा। आपने पास में सोनेवाली साध्वी को जगाया और कहा—अभी-अभी यहाँ से एक सर्प गुजरा है, सावधान रहना।

हर्ष से विह्वल और शोक से उद्विग्न होनेवाले अनेक हैं, परन्तु दोनों अवस्थाओं में समरस व संतुलित रहनेवाले विरले ही मिलेंगे। तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्रीमत् कालूगणी का स्वर्गवास हुआ। चारों तीर्थ शोक से विह्वल हो उठा। साधु-साध्वियों में भी गुरु के प्रति स्नेह जग उठा। सबका मन भीतर-भीतर रोने लगा। ऐसी विकट स्थिति में आपने धैर्य का परिचय दिया। सब में साहस का मंत्र फूंका और वह शोक अभिनव आचार्य पद प्राप्त श्री तुलसीगणी के अभिनन्दन में हर्ष बन कर उपस्थित हुआ।

तेरापंथ शासन की आपने ३७ वर्षों तक सेवा की। आचार्यों का विश्वास, साधु-साध्वियों का अनुपम अनुराग व स्नेह, श्रावक-श्राविकाओं की अविकल भक्ति और श्रद्धा को स्वीकार करती हुई, साधना की आनन्द मुक्ताओं को समेटती

बिखेरती आप वि० सं० २००२ में पूर्ण समाधि में इस संसार से चल बसीं। आज उनकी केवल स्मृति रह गई है, जो अनेक कार्यों में प्रतिबिम्बित होकर विस्मृत को स्मृत बना रही है।

७–महासती लाडांजी (साधना काल वि० सं० १९८२–)

जन्म–वि० सं० १९६० लाडनूं
दीक्षा–वि० सं० १९८२ लाडनूं
प्रमुखापद प्राप्ति–वि० सं० २००२

आपके गृहस्थ जीवन में तरतमता आती रही। आपकी आयु जब विवाह के अनुरूप हुई तो आपका विवाह हुआ; परन्तु विवाहित जीवन आप अधिक समय तक नहीं बिता सकीं और आपको पति का वियोग हो गया। इस घटना से ही आपके जीवन में परिवर्तन आया। वैराग्य भाव बढ़े और आप दीक्षा के लिये प्रस्तुत हुईं। आपकी दीक्षा श्रीमत् कालूगणी के कर-कमलों द्वारा लाडनूं में आचार्य श्री तुलसी के साथ ही हुई। उस शुभ घड़ी व शुभ मुहूर्त को किसने देखा था? किसने ऐसा ख्याल किया था कि उस समय के ये दो दीक्षित कालान्तर में शासन के संचालक बनेंगे? श्रीमत् कालूगणी राज का स्वर्गवास हुआ। श्रीमत् तुलसी आचार्य पद पर आसीन हुए। महासती लाडांजी को राज में रखा गया। थोड़े ही वर्षों के बाद साध्वी प्रमुखा श्री झमकू जी का स्वर्गवास हो गया और उनका काम आचार्य श्री ने महासती लाडांजी को सौंपा। परन्तु स्थान की उच्चता के साथ-साथ दायित्व की गुरुता भी बढ़ी। अनेक कठिनाइयाँ सामने आईं। वे सतियों के दायित्व को पूरी तरह से निभाने में पूर्ण सजग रहीं।

महासती लाडांजी का जीवन आचार्य श्री तुलसी के कार्य-कलापों से सम्पृक्त रहा है। अत: उसके परिणामों से वह लाभान्वित होता आया है। आचार्य श्री तुलसी का जीवन क्रांति का जीवन है। उसमें एक ओर संघर्ष है तो दूसरी ओर उसके सुपरिणामों की अभितृप्ति भी। आचार्य श्री के कुशल नेतृत्व में साधुओं ने अनेक क्षेत्रों में विकास किया। साध्वियों को भी उनके नेतृत्व का लाभ मिला। साथ-साथ महासती लाडांजी के अनुपम सहयोग ने उस लाभ को शतगुणित कर दिया। पहले गुरु कुल में साध्वियों को प्रधानतः विविध कार्यों के लिये ही रखा जाता था। परन्तु आज गुरु कुल में अधिकांश साध्वियों को शिक्षा के लिये रखा जाता है। आचार्य श्री की इस सूझ-बूझ से साध्वियों ने शिक्षा के क्षेत्र में बहुत प्रगति की है। इस प्रगति का श्रेय महासती लाडांजी को है, जिन्होंने समय-समय पर शिक्षा पाने के लिये उत्कंठित साध्वियों को सत्प्रेरणाओं तथा उल्लास वर्धक शब्दों में प्रेरित किया है। आपकी शिक्षा कम है, परन्तु शिक्षा के लिये दूसरों को प्रेरित करने तथा शिक्षा का मूल्य आँकने में आप निपुण हैं।

आचार्य श्री पुरुष और स्त्री दोनों को उपदेश देते हैं, परन्तु उनका जितना सीधा सम्बन्ध पुरुषों से है उतना स्त्रियों से नहीं। इसकी पूर्ति साध्वियाँ कर लेती हैं। महासती लाडांजी स्वयं स्त्रियों को रूढ़ियों से दूर रहने के लिये समझाती हैं। स्थान-स्थान पर साध्वियों को भेजती हैं और नारी जाति में व्याप्त बुराइयों को मिटाने में पूर्ण प्रयत्नशील रहती हैं। अभी-अभी मेवाड़ में आपने सैकड़ों स्त्रियों को बुराइयों के कुपरिणामों से बचाया है, और उनके जीवन को संयममय बनाने में सहयोग दिया है।

जो कष्ट की संवेदना को बाँट सके, जो दुःख की दाहकता को सान्त्वना के शीतल जल से सींच सके वह आत्मीय बन जाता है। एक व्यक्ति रोगी है। उसे औषध से जितनी शान्ति मिलती है, उससे कई गुनी अधिक शान्ति उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने से मिलती है।

रोगी के प्रति जागरूक रहना, उसकी चित्त समाधि को विचलित न होने देना तथा उसे उचित औषधोपचार की सुविधाएँ देना आदि संगठन के कतिपय सूत्र हैं। महासती लाडांजी ने इनका विकास किया। अभी-अभी एक साध्वी को एक गाय ने नीचे गिरा दिया। अनेक स्थानों पर चोटें आईं। एक साध्वी ने उनका प्राथमिक उपचार किया। चारों ओर से खून बह रहा था। महासती लाडांजी आदि से अन्त तक पास में खड़ी रहीं। उनके कपड़ों पर भी खून के छींटे पड़े। साध्वियों ने कहा—आप अन्दर पधार जाएँ और खून के छींटें धो लें। महासती लाडांजी ने कहा जल्दी ही क्या है? पहले रोगी की परिचर्या ठीक से हो जाय, मेरे कपड़े के ये दाग तो पीछे भी धुल जायंगे। यह सुन कर सभी साध्वियाँ गद्गद् हो गईं।

अपने दोष को स्वीकार कर लेना बड़प्पन है, पर आश्रितों के दोषों को स्वयं ओढ़ कर उसका प्रायश्चित्त करने में भी तत्पर रहना महानता है। गंगाशहर की घटना है। कई साध्वियाँ 'कालूयशोविलास' के पन्ने पढ़ रही थीं। कुछ पन्ने नीचे पड़े थे। पास में ही पानी पड़ा था। अकस्मात् पानी का पात्र लुढ़क गया और सारे पन्ने गीले हो गये। सभी साध्वियाँ व्याकुल हो गईं। कठोर उपालम्भ की सम्भावनाओं से जी दहल उठा। महासती के पास बात गई। उन्हें भी भय लगा। आचार्य प्रवर तक बात पहुँची। उपालम्भ मिला, परन्तु महासती ने साध्वियों से कुछ नहीं कहा और सब स्वयं सहन कर लिया।

एक बार आपने एक साध्वी को एक गीतिका देते हुए कहा—इसकी राग बताओ, पर वह साध्वी राग बताने में असमर्थ थी। उसकी भावना को ताड़ते हुए आपने कहा—यह मेरी कमी है कि मैंने साध्वियों को इस विषय में कभी प्रेरित ही नहीं किया। इन प्यार भरे शब्दों से सब का जी भर गया।

स्वास्थ्य की ओर विशेष जागरूक, आचार्य के इंगित को समझने में निपुण, साध्वी समाज को ज्ञानाराधना की ओर प्रेरित करनेवाली महासती लाडांजी आज नारी जागृति के लिये प्रयत्नशील और नारी-जीवन में व्याप्त बुराइयों को नामशेष करने में दत्तचित्त हैं।



तेरापंथ की आंतरिक व्यवस्था

(मुनि श्री श्रीचन्दजी 'कमल')

व्यवस्था सभ्य समाज की प्रतीक है। समाज जितना सुसंस्कृत होगा, व्यवस्था भी उतनी ही विकसित होगी। कार्य शीघ्र, सुन्दर और सुविधापूर्वक सम्पन्न करने के लिये व्यवस्था का जन्म हुआ। उसके अभाव में उचित समय में कार्य सम्पन्न नहीं होता, सदस्यों में परस्पर प्रेम नहीं बढ़ता और कामचोरी की वृत्ति पनपने लग जाती है। अन्ततोगत्वा संगठन का ढांचा बिखर जाता है। इसलिये व्यवस्था का प्रत्येक क्षेत्र में स्वागत होता है।

तत्कालीन धर्म सम्प्रदायों की अव्यवस्था की अनुभूति ने आचार्य भिक्षु को व्यवस्था के लिये सजग कर दिया। उन्होंने उनके अनुभवों से लाभ उठाया और इस विषय में लिखा।

आदि काल में सात साधु थे। उस समय भी उन्होंने व्यवस्था की अवहेलना नहीं की। इसीलिये आज वह सदस्यों के जीवन में घुल-मिल कर सहज बन गई है। संघ व्यवस्था के बाद उनकी दृष्टि दैनिक व्यवस्था की ओर मुड़ी। वहाँ उन्होंने ज्ञान चक्षु से देखा कि संगठन में छोटी-छोटी बातों से परस्पर मतभेद बढ़ता है। मन की दूरी पैदा ही न हो, इसलिये आचार्य भिक्षु ने उनका सूक्ष्मता से अध्ययन किया। फिर उस पर लेखनी भी चलाई।

खाना, पीना, रहना, सोना और बैठना—इन बातों से परस्पर मनमुटाव बढ़ता है। देखने में यह छोटी बात है कि भिक्षा में प्राप्त रोटी के लिये क्या लड़ाई ? पर यह भी विग्रह का कारण बन जाती है। अतः उन्होंने चर्या के छोटे से छोटे अंग को भी व्यवस्था के बन्धन में बांध दिया।

साझ

खाने-पीने, बैठने और सोने की व्यवस्था साझ के माध्यम से की जाती है; व्यक्तिशः नहीं। व्यवस्था की सुविधा के लिए साझ का निर्माण हुआ। आचार्य श्री के साथ जो साधु रहते हैं, उनको कई भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रत्येक भाग को 'साझ' कहते हैं। भाग में एक मुखिया होता है जिसे 'साझपति' कहते हैं। 'साझ' का सारा कार्य 'साझपति' के निर्देश में चलता है। प्रत्येक सदस्य की सामान्य व्यवस्था का दायित्व 'साझपति' पर होता है। रुग्ण अवस्था में सेवा करना सभी साधुओं का कर्तव्य होता है, किन्तु उसका दायित्व मुख्यतया अपने साझ के साधुओं पर होता है। अपने 'साझ' के रुग्ण साधु की सेवा करना उसका अनिवार्य कर्तव्य होता है; क्योंकि वे सारे चित्त समाधि के एक सूत्र में बँधे होते हैं। वैसे तो 'साझ' के सदस्यों को परिवर्तित करने के लिये आचार्य श्री को निवेदित करना पड़ता है, पर रुग्ण अवस्था में वैसा नहीं होता है। 'साझ' के सदस्य एक स्थान पर उठते, बैठते और भोजन करते हैं। अतः उनका कार्य परस्पर संबंधित होता है। 'साझपति' 'साझ' सम्बन्धी दैनिक कार्य सदस्यों में विभक्त कर देता है। प्रत्येक कार्य के लिये सदा कहने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयं अपना दायित्व समझते हैं। स्थान और वस्त्र की सफाई तथा पानी उठाने का कार्य सामूहिक रूप में होता है। 'साझ' का प्रत्येक सदस्य कार्यशील होता है और साझ में किसी कार्य को तुच्छ नहीं माना जाता। इसलिए परस्पर ईर्ष्या और हीनता के भाव नहीं पनपते। 'साझ' के सदस्यों की संख्या निर्धारित नहीं होती। वह आचार्य की इच्छा पर आधारित होती है। दो साधुओं का भी 'साझ' हो सकता है; और एक 'साझ' में १० से २० साधु तक भी रह सकते हैं। आचार्य आवश्यकतानुसार सदस्यों का 'साझ' परिवर्तन भी कर देते हैं। 'साझ' संज्ञा आचार्य श्री के साथ रहनेवाले साधुओं के भाग की ही है। अन्यत्र विहार करनेवाले भाग (दल) की 'सिंघाड़ा' संज्ञा है। चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब साधुओं की संख्या बढ़ती है तब 'साझ' भी बढ़ जाता है।

कार्य विधि

'साझ' के अतिरिक्त कई कार्य सामूहिक समुच्चय के होते हैं जो प्रत्येक साधु के लिए करणीय होते हैं। यदि कोई परस्पर गाथा देकर कार्य विनिमय करना चाहे तो पहले आचार्य से निवेदन करना होता है। स्वीकृति के बाद ही वैसा कर सकता है, अन्यथा नहीं। शारीरिक अस्वस्थता के कारण यदि कोई उस समय कार्य नहीं करे तो पूर्ण स्वस्थ्य होने के

बाद उसे दूना कार्य करना होता है। समुच्चय के कार्यों का विभाजन नहीं होता। उनका क्रम चलता है। क्रम का माध्यम दीक्षा होती है। जो दीक्षा में बड़ा होता है वह प्रथम करता है, फिर उससे छोटा। कार्य की अवधि एक दिन की होती है। दूसरे दिन वह अपने से छोटे साधु को कार्य का संकेत दे देता है। जिस साधु का आज कार्य हो, वह यदि विहार कर जावे तो शेष कार्य गाथा लेकर यदि दूसरा साधु करना चाहे तो वह कर सकता है, अन्यथा उससे छोटा साधु करता है। यदि कोई 'सिंघाड़ा' आचार्य श्री के पास से अल्प समय के लिये विहार करके स्वयं दूसरे स्थान पर जाय, ५ दिनों में उन साधुओं में काम का क्रम आता हो और वे १५ दिनों के भीतर आचार्य श्री के पुन: दर्शन कर लें तो उन साधुओं को उस 'समुच्चय' का काम करना होता है। यदि आचार्य श्री स्वयं किसी 'सिंघाड़े' को कार्यवश भेजें तो उनको ५ दिनों के भीतर आनेवाला कार्य नहीं करना पड़ता है।

सिंघाड़ा

आचार्य श्री की सेवा से अन्यत्र विहार करनेवाले वर्ग (दल) को 'सिंघाड़ा' कहते हैं। साधारणत: 'सिंघाड़े' में ३ साधु या साध्वियां होती हैं। 'सिंघाड़े' में एक प्रमुख होता है, जिसे 'अग्रगण्य' कहते हैं। शेष उसके अनुगामी होते हैं। 'अग्रगण्य' के निर्देशन में सारा कार्य चलता है। क्षेत्र का दायित्व प्रमुखतया उसी पर होता है। वह आचार्य का प्रतिनिधि होता है। अग्रगण्य की नियुक्ति आचार्य करते हैं। अनुगामी 'अग्रगण्य' से दीक्षा में छोटे ही हों, ऐसा कोई नियम नहीं है। यह सब आचार्य की इच्छा पर निर्भर होता है। वे एक दिन के दीक्षित को भी 'अग्रगण्य' बना सकते हैं।

जब साधु-साध्वियों के 'सिंघाड़े' विहार करते हैं तब आचार्य श्री 'अग्रगण्य' को उनके भावी कार्यक्रम की रूप रेखा दे देते हैं। वह उसी के अनुसार प्रचार आदि कार्य करता है। अग्रगण्य चातुर्मास और शेष काल का प्रवास आचार्य श्री के आदेशानुसार करता है। प्रत्येक 'सिंघाड़े' के लिए चातुर्मास की समाप्ति के बाद विशेष परिस्थिति के बिना आचार्य श्री की ओर विहार करना अनिवार्य है। विशेष आज्ञा प्राप्ति के बिना वह मार्ग में एक रात से अधिक नहीं ठहर सकता है।

आचार्य के दर्शन के बाद 'अग्रगण्य' अपना अधिकार आचार्य को इन शब्दों में समर्पित करता है—ये पुस्तकें और अनुयायी साधु जो आपने मुझे उपयोग के लिये दिया था, उनको आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। मैं भी आपके चरणों में समर्पित हूँ। आप मुझे जहाँ रहने का आदेश दें वहीं रहने को तैयार हूँ। यह विज्ञप्ति करने के पश्चात् ही वह आहार और पानी का उपभोग कर सकता है, अन्यथा नहीं।

यदि आहार के विभाग से पहले आवे तो उसी दिन, पीछे आवे तो दूसरे दिन 'अग्रगण्य' 'साझ' के लिये आचार्य से निवेदन करता है, "किस साझ के साथ आहारादि का विभाग लूं?" आचार्य इच्छानुसार किसी 'साझ' के साथ या स्वतंत्र 'साझ' के रूप में जैसा आदेश देते हैं, वह वैसा ही करता है। ५ दिन के भीतर एक विवरण पत्र निवेदन करना होता है जिसे 'तेरह बोलों की हाजरी' कहते हैं। उसमें लिखा जाता है—किस गाँव में कितने दिन ठहरे, किस गृहस्थ के यहाँ से क्या वस्त्र पात्रादि लिये, किस भाई-बहन को क्या धर्म-तत्त्व सिखाया, किस साधु ने क्या तपस्या की, आदि-आदि। इस पत्र से आचार्य को सारी स्थिति की जानकारी मिल जाती है। समय-समय पर 'अग्रगण्य' अपने अनुभव और संस्मरण आचार्य को निवेदन करता है, जिससे आचार्य को भावी चातुर्मासादि के निर्देश में सहयोग मिलता रहता है। कोई भी श्रावक साधु-साध्वी का नामोल्लेख पूर्वक चातुर्मास की प्रार्थना नहीं कर सकता।

गाथा प्रणाली

जयाचार्य ने मन में सोचा—संघ में पुस्तकों की और अधिक आवश्यकता है; उनकी वृद्धि हो ऐसा प्रयत्न होना चाहिये। इस दृष्टि से उन्होंने हस्तलिपि के लिये सन्तों को प्रोत्साहित किया। जो 'अग्रगण्य' साधु थे उनपर कर लगाया कि जितने दिन वे 'अग्रगण्य' के रूप में विहार करें, प्रति दिन २५ 'गाथाएँ' लिखकर संघपति को समर्पित करें। ३२ अक्षरों की एक 'गाथा' मानी गई। जितना कम लिखें उतने के बदले उन्हें चाकरी करनी होगी। साधु साध्वियों के द्वारा वस्त्रों की सिलाई और पात्रों की रंगाई कराते। उस पर भी गाथाओं का कर लगा दिया गया। जैसे—

चोलपट्टा की सिलाई के लिए २५ गाथाएँ

पछेवड़ी की सिलाई के लिए ५१ गाथाएँ

छोटी पात्री के प्रतिलेप की रंगाई के लिए १३ गाथाएँ

बड़ी पात्री के प्रतिलेप की रंगाई के लिए १५ गाथाएँ

आवश्यकतानुसार समय-समय पर इन करों में वृद्धि भी होती रही—चोलपट्टों के लिए ३५ गाथाएँ और पछेवड़ी के लिए ७५ गाथाएँ आदि।

अग्रगण्या साध्वियों के लिए २५ गाथाएँ प्रतिदिन लिखने का प्रतिबन्ध नहीं था। उन पर दूसरा ही कर था। वे प्रतिवर्ष एक रजोहरण, २ प्रमार्जनी, ३ टोकसी, डोरी आदि संघपति के लिये उपहार लातीं। रजोहरण आदि संतों में वितरण कर दिये जाते और पुस्तकें साध्वियों को दे दी जातीं। जो अनुगामी साधु थे, वे यदि लिख कर संघपति को समर्पित करते तो उनके नाम से गाथाएँ जमा हो जातीं। जो 'अग्रगण्य' कर से अधिक लिखते उनकी भी गाथाएँ जमा हो जातीं।

जयाचार्य की दूरदर्शिता से लिखने का प्रवाह चल पड़ा। तब दूसरा कदम उठाया गया कि जिनके अक्षर सुडौल और शुद्ध होंगे उन्हीं को स्वीकृत किया जायगा और उन्हीं की पूर्ण गाथाएँ जमा होंगी। मध्यम कोटि के अक्षरों की पूर्ण गाथाएँ जमा नहीं होंगी तथा अशुद्ध और रद्दी अक्षर तो स्वीकार ही नहीं किये जायंगे। संतों का ध्यान अक्षरों की सुडौलता की ओर खिंच गया। धीरे-धीरे अक्षर जमाने का संस्कार गाढ़ा होता गया। संघपति को समर्पित करनेवाली प्रति पर आदि से लेकर वर्तमान आचार्य तक के नामों की मुद्रा रहती है। उस पर लिखनेवाले व्यक्ति का अधिकार नहीं रहता। वह संघपति के नेश्राय में होती है। जिसको आवश्यकता होती है आचार्य उसे दे देते हैं। धीरे-धीरे लिखने का विकास होने लगा। कई संतों ने अपने जीवन में एक लाख से भी अधिक गाथाएँ लिखीं।

प्रत्येक साधु की गाथाओं के आय-व्यय का हिसाब रखने के लिये एक साधु को नियुक्त किया जाता है। जो साधु सिलाई और रंगाई कराना चाहे, वह पहले उक्त साधु को कहे—अमुक कार्य में साध्वियों से करवा रहा हूँ। वह साधु निश्चित गाथाओं के अनुसार उनके नाम लिख देता है। फिर सिलाई करानेवाला आचार्य श्री से अनुमति लेकर वह वस्तु साध्वियों को देता है। साध्वियाँ सिलाई या रंगाई करके उसको आचार्य श्री के पास लाती हैं। आचार्य श्री उस साधु को बुलवा कर उसे दे देते हैं। साधु भी परस्पर गाथाएँ देकर कार्य कराने लगे। यदि कोई साधु अपने गाथा-कोष को बढ़ाना चाहे तो वह अपने विभाग के अतिरिक्त समुच्चय का कार्य करता है; या दूसरे साधुओं के विभाग का काम करता है और उसके बदले गाथाएँ लेता है। कार्य की स्वीकृति पहले आचार्य श्री से लेनी होती है। समुच्चय के प्रत्येक कार्य की गाथाएँ निर्धारित होती हैं, पर साधुओं के विभाग की नहीं। यदि कोई साधु अपने विभाग का कार्य न करे तो उसे गाथाएँ देनी होती हैं। जो गोचरी नहीं जाता है, उसे प्रतिदिन गाथाएँ देनी होती हैं। प्रत्येक सदस्य को संघ का निश्चित भार वहन करना होता है। जो न उठाए तो उसे गाथाएँ देनी होती हैं। यदि कोई शाम को उष्ण आहार साध्वियों से मँगावे तो गाथाएँ देनी होती हैं।

दो साधु आचार्य द्वारा नियुक्त होते हैं। वे प्रतिवर्ष गाथाओं के आय-व्यय का हिसाब करते हैं। यह कार्य साझ के अनुक्रम से होता है। साझ का प्रत्येक सदस्य पहले आचार्य के पास जाकर स्वीकृति लेता है, फिर वह उन साधुओं के पास जाकर लेखा-जोखा कराता है। वे प्रत्येक ग्रंथ का नामोल्लेख पूर्वक आय-व्यय का हिसाब करके अन्तिम रूप एक पत्र में लिख देते हैं। पत्र लेकर वह साधु पुनः आचार्य के पास जाता है और उनको दिखाता है। आचार्य देखकर उसे वापस दे देते हैं। उस पत्र को वह अपने पास रखता है। हिसाब रक्षक साधु भी एक पत्र में प्रत्येक साधु का हिसाब लिखकर संघपति को निवेदन कर देते हैं। व्यक्ति के पास जो पत्र रहता है, वह यदि भूल से इधर-उधर हो जाय तो उसका हिसाब उस पत्र से मिल जाता है।

आहार

जयाचार्य तक आहार की प्रणाली यह थी कि साधु-साध्वियों को भिक्षा में जो प्राप्त होता, उसमें से इच्छानुकूल साधु रखते; शेष साध्वियों के लिए रह जाता। कम या अधिक का परिणाम साध्वियाँ भोगतीं। सरदार सती की प्रार्थना पर जयाचार्य ने ध्यान दिया और इस प्रणाली में कुछ परिवर्तन किया गया। अब आहार का विभाजन होने लगा। साधुओं को विभाग कुछ अधिक मिलता और साध्वियों को कुछ कम। कुछ समय बाद फिर इस प्रणाली में एक मोड़ आया। साध्वियों को सम-विभाग मिलने लगा। जो कुछ भी आता साधु और साध्वियों की संख्या मिलाकर उसका उतना विभाजन हो जाता। विभाजन का कार्य आचार्य के सामने होता। पहले क्रमशः साधु अपना विभाग लेते फिर क्रमशः साध्विय।

विभाजन करने का कार्य पहले साधु वर्ग करता, फिर क्रमशः साध्वियां करतीं। माघ के महीने में पांच सौ से अधिक साधु-साध्वियों के आहार का विभाजन एक स्थान पर होता। आचार्य श्री तुलसी ने इसमें परिवर्तन किया—साध्वियाँ भिक्षा में जो लावें, आचार्य को दिखाकर अपने स्थान पर ले जावें। साधु अपने स्थान पर रक्खें। कतिपय द्रव्यों का सम विभाग हो जाता। कुछ दिनों बाद उसमें भी परिवर्तन आया। इस व्यवस्था के अनुसार साधु व साध्वियों के विभाग पूर्ण स्वतंत्र हो गये।

व्यवस्था

विशेष परिस्थिति के बिना साधु और साध्वी एक गाँव में नहीं रहते। यदि किसी कारणवश रहना हो तो वे वहाँ गाँव की सीमा बाँट लेते हैं। एक ओर साधु जाते हैं और दूसरी ओर साध्वियाँ। आचार्य श्री की सेवा में साधु और साध्वी दोनों रहते हैं। वहाँ भी यही व्यवस्था है। जिस गाँव में वे जाते हैं, वहाँ पहले दिन ही ग्राम की दो सीमाएँ निर्धारित कर ली जाती हैं। एक सीमा में साधु जाते हैं और दूसरी में साध्वियाँ। यदि विशेष कारण से दूसरे की सीमा में जाना आवश्यक हो तो उसके लिए पहले आचार्य श्री से अनुमति लेनी होती है। उनकी स्वीकृति के बाद ही वह उस सीमा में जा सकता है। अन्यथा नहीं।

साधु अपनी सीमा को भी विभाजित करते हैं। जितने साधु गोचरी आहार लानेवाले होते हैं, उस सीमा को उतने भागों में बाँट लिया जाता है। इस विभाजन प्रणाली से कोई भी गंतव्य घर शेष नहीं रहता और किसी भी घर में दूसरा साधु नहीं जाता। आचार्य श्री की विशेष अनुमति के बिना साधु भी परस्पर एक दूसरे की सीमा में नहीं जाते।

विभाजन के लिये भी एक व्यवस्था है। गोचरी करनेवाले जितने साधु होते हैं, उनमें जो दीक्षा में ज्येष्ठ होता है, वह पहले दिन विभाजन करता है; दूसरे दिन उससे जो दीक्षा में छोटा है वह। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। विभाजक साधु सीमा का विभाजन करके साधुओं के सामने प्रस्तुत करता है। विभाजक के अतिरिक्त जो गोचरी वाले साधु होते हैं, वे क्रमशः इष्ट विभाजन को ले लेते हैं। शेष विभाग विभाजन करनेवाले साधु के लिये रह जाता है। इस क्रम में गोचरी करने वाला प्रत्येक साधु विभाजक बन जाता है।

व्याख्यान समाप्ति के बाद आचार्य श्री विभाग पत्र को देख कर एक साधु को आहारादि का परिणाम कह देते हैं। वह साधु उसका विभाजन करके गोचरीवाले साधुओं को कह देता है। गोचरीवाले भिक्षा लाकर पहले आचार्य को दिखाते हैं। अमुक घर से अमुक द्रव्य लाया हूँ, और अमुक नहीं, आदि सारी आवश्यक बातें आचार्य श्री को निवेदित कर देते हैं। फिर वह साधु विभाग स्थान पर जाता है। वहाँ विभागपत्र वाला एक 'मंडलिया' एक वस्त्र बिछाकर तैयार रखता है। गोचरी वाला कहता है—इस भिक्षा में से अमुक द्रव्य इतना लाने के लिये कहा था, वह तुम इसमें से ले लो। वह उसके कथनानुसार वह द्रव्य उसमें से ले लेता है। शेष भिक्षा लेकर गोचरीवाला पुनः आचार्य श्री के पास जाता है और दिखाता है। आचार्य श्री की स्वीकृति लेकर वह अवशिष्ट भिक्षा अपने 'साझ' में ले जाकर अपनी व्यवस्थानुसार खा लेता है। सारी गोचरी वालों के अपनी बात सुनाने के बाद आचार्य श्री स्वयं निर्णय करते हैं कि किस घर से क्या और कितना द्रव्य मँगवाना है। वे उसी के अनुसार गोचरीवाले को आदेश देते हैं। कब किसका क्या लाये थे, यह सब आचार्य की दृष्टि में रहता है।

समुच्चय

जो साधु 'समुच्चय' से आहार लेते हैं, वे विभाग पत्र में अपनी पाँति नहीं लिखते। वे आवश्यकतानुसार विभाग होने से पहले आहारादि ले लेते हैं। ऐसा करने का अधिकार उन्हें ही होता है जो शैक्ष—नवदीक्षित या बीमार साधु हों और आहार की पाँति से जिन्हें मुक्त कर दिया गया हो। रुग्ण अवस्था मे जो 'समुच्चय' से लेता है, उसे प्रतिदिन पाँच विगयों का वर्जन करना होता है। विभाग की व्यवस्था में कोई गड़बड़ी न हो, सहज ही समुच्चय में से लेने की भावना उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से ऐसा किया गया है।

'समुच्चय' में भी विभाग होता है। कल्पना कीजिये—समुच्चय में एक सेर मूंग की दाल आई। चार बीमार साधु समुच्चय से वह लेना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में सम विभाग करके वह चारों को दे दी जाती है। यह एक सामान्य व्यवस्था है। जहाँ व्यवस्था सम्बन्धी जटिलता उत्पन्न हो जाती है, वहाँ आचार्य श्री जो व्यवस्था देते हैं, वह सर्वमान्य होती है।

समुच्चय से जो आहार लेते हैं, उनके लेने के बाद अवशिष्ट आहार को विभाग पत्रवाला विभाजन स्थान पर ले जाता है और विभागपत्र के अनुसार उसका विभाजन कर देता है। वह फिर दीक्षा में बड़े साझवालों को बुलाकर क्रमशः विभागपत्र के अनुसार उनको विभाग लेने के लिए कहता है। साझवाला उसी द्रव्य को लेने का अधिकारी है, जिसको अपनी साझ की ओर से विभागपत्र में पाँति लिखी है।

चौकों का विभाजन

शीतकाल में साधुओं की संख्या सौ से ऊपर हो जाती है। उस समय आहार के विभाजन का कार्य साझ के चार-चार, पाँच-पाँच साधुओं की संख्या के अनुपात से सम्पन्न होता है। विभाग के अधिक होने के कारण ४-४ के विभाग के द्वारा द्रव्यों का विभाजन होने से उसका नाम 'चौका' विभाजन पड़ गया। साझों में जो दीक्षा पर्याय में बड़ा होता है, वह पहले दिन विभाजन करता है। कल्पना कीजिये कि एक दिन में ४ साधुओं का कार्य चलता है। यदि उस साझ में ९ साधु हों तो वह साझ २ दिनों तक पूरा कार्य करेगा। तीसरे दिन संयुक्त साझ कार्य करेगा—एक कार्य पहले साझवाला और तीन कार्य दूसरे साझ वाला। इस प्रकार संत संख्या के आधार पर क्रम से सभी साझों में काम चलेगा। विभाजन 'विभाग पत्र' के द्वारा होता है। विभाग देने में साझों के क्रम का उल्लंघन नहीं होता। यदि अपनी सुविधा के लिए कोई क्रम का उल्लंघन करे तो वह विभाग देनेवाले की गल्ती मानी जाती है। यदि साझ में बड़ा साधु उपवासादि करता है तो शेष आहार करनेवाले के क्रम से पाँति आती है। विभाजन देने के बाद यदि किसी द्रव्य का विभाग घट या बढ़ गया हो तो उसे आचार्य श्री को निवेदन करना होता है। आचार्य श्री की स्वीकृति से उन शेष द्रव्यों का पुनः विभाजन किया जाता है। विभाजन के बाद स्थान की सफाई की जाती है। आचार्य श्री द्वारा नियुक्त साधु से स्थान का निरीक्षण कराया जाता है। जहाँ वह स्निग्धता बताये उसको पुनः साफ किया जाता है। सफाई की अवधि दूसरे दिन भिक्षा आने से पूर्व तक की है।

विभाजन लेकर साधु अपने-अपने साझ में चले जाते हैं। साझ में उपलब्ध सामग्री का सम विभाग किया जाता है। यदि साझ का कोई सदस्य अमुक द्रव्य के लिये साझपति को निवेदन कर देता है कि मुझे नहीं चाहिये, तो उसे उसका विभाग नहीं मिलता है। साझपति भी विभागपत्र में उसका विभाग कम कर देते हैं। साझ में सारा कार्य साझपति के निर्देशन में चलता है।

हाजरी

साझ के किसी सदस्य को अधिक मात्रा में आने से या रुचि विशेष न होने से यदि कोई द्रव्य बढ़ता है तो वह पहले साझ के सदस्यों को कहता है—यह द्रव्य किसी को चाहिये तो वह ले ले। कोई न ले तो वह फिर साझपति की आज्ञा ले दूसरे साझ में जाता है। दूसरे साझ में सदस्य भी अपने साझपति की आज्ञा से उसको लेते हैं। आवश्यकता न होने पर यदि कोई साझवाला न ले तो वह अपने साझ में वापस चला आता है। थोड़ा-बहुत बढ़ने पर साझपति उसे साझ के सदस्यों में बाँट देता है। यदि सभी सदस्यों को वही द्रव्य बढ़ता हो तब एक दूसरा मार्ग है। साझपति या उसका एक प्रतिनिधि आचार्य श्री के पास जाता है। अमुक द्रव्य इतनी मात्रा में बढ़ता है—वह ऐसा निवेदन करता है। इस निवेदन को हाजरी कहते हैं।

तृतीय प्रहर की समाप्ति—प्रतिलेखन-शब्द से पूर्व तक हाजरी दी जा सकती है। कालावधि के बाद देने पर ५ 'परठाणा' का दण्ड मिलता है। चतुर्थ प्रहर में हाजरी के द्रव्य को प्रत्येक साझवाला आचार्य श्री के पास ले जाता है। आचार्य श्री उसे साधु या साध्वी को आवश्यकतानुसार दे देते हैं। किसी की आवश्यकता न हो तो वे प्रत्येक साधु को आमंत्रित कर अपने हाथ से उसका वितरण कर देते हैं। इस तरह सुगमता से वह द्रव्य उठ जाता है।

विहार आदि विशेष अपवाद के बिना साधारणतया दूसरे प्रहर में भिक्षा होती है। कारणिक, बीमार और समुच्चय वालों के लिए सायंकालीन भिक्षा होती है। यदि कारणिक साधु शाम को उष्ण आहार लेना चाहे तो वह आचार्य श्री से निवेदन करे—अमुक कारण से मैं उष्ण आहार लेना चाहता हूँ। आचार्य श्री की स्वीकृति ले वह शाम को गोचरी जानेवाले से कहे कि मुझे शाम को अमुक द्रव्य चाहिये। वह उसका ध्यान रखता है। शाम की गोचरी में समुच्चय लेनेवालों के बाद यदि कुछ शेष रहे तो उसका विभाजन हो जाता है। शाम का अपना उष्ण आहार स्वयं आकर लावे तो उसको गाथाएँ नहीं लगतीं। जिस दिन उष्ण आहार छोड़े उस दिन वह पुनः आचार्य श्री को निवेदन करके छोड़े। तीन दिनों के बीच

एक पत्र लिख कर निवेदन करना पड़ता है—अमुक कारण से अमुक दिन तक समुच्चय का आहार लिया, अमुक दिन तक विगय का वर्जन किया या अमुक दिन तक करना है। आचार्य श्री उसको देखकर उसकी स्वीकृति दे देते हैं।

विभाग पत्र

कौन साधु, किस दिन, कितना, क्या खाना चाहता है, यह प्रति दिन प्रत्येक साधु से पूछकर याद रखना कठिन ही नहीं, दुष्कर कार्य है। इस समस्या को सरल बनाने के लिये विभाग पत्र का सहारा लिया गया। द्रव्यों की सूची बनाई गई। एक ओर ऊपर से नीचे तक द्रव्य लिखे गये, दूसरी ओर प्रथम पंक्ति में सीधी लाइन में साझ के नाम लिखे गये। जिसमें विभाग पत्र का कार्य होता, वह साधु प्रत्येक (साझपति) के पास जाता है। प्रत्येक साझपति उसमें अपने साझ की आवश्यकतानुसार विभाग लिख देता है। वह उन सब का योग कर के आचार्य श्री के पास वह पत्र ले जाता है। आचार्य श्री उस पत्र के अनुसार आहारादि द्रव्य भिक्षा में मँगवाते हैं। विभागपत्र का चित्र यह है :—

साझों के नाम	द्रव्यों के नाम	अमुक	अमुक	अमुक	कुलयोग
		२	१	५	८
	आहार	१/२	१	१/२	२
	रंध	१/२	०	१/२	१
	सप्पी	१/२	५	३	८ १/२
	दूध	१/२	३	२	५ १/२
	दही	५	३	११	१९
	वि० विगँ	—	—	—	—
	व्यंजन	१	१/२	२	३ १/२
	मिष्टान्न	०	०	१/२	१/२
	माखन	०	०	०	०
	राइतो, खीर	०	१	०	१

एक समय में द्रव्यों के ३० नाम थे—

१—आहार
२—व्यंजन
३—रन्ध
४—सप्पी
५—दूध
६—दही
७—पापड़
८—विगँ
९—बिनाविगँ
१०—माखण
११—मिष्टान्न
१२—क० चिनी
१३—क० मीठी
१४—क० फीको
१५—राइतो मीठो
१६—राइतो फीको
१७—दाल
१८—चावल
१९—बड़ा-घृत
२०—बड़ा-तैल
२१—भुजिया-घृत
२२—भुजिया-तैल
२३—खीर
२४—खोपरा
२५—चबिणो
२६—सुपारी
२७—सीरो उष्ण
२८—सीरो सेंका हुआ
२९—तैल री वस्तु
३०—गुड़ री वस्तु

उस समय प्रत्येक वस्तु का विभाग होता था। कालान्तर में परिवर्तन होता गया। आज यह चित्रांकित १०-१२ द्रव्यों में टिका हुआ है। शेष द्रव्यों का विभाग नहीं होता। यदि किसी को आवश्यकता हो तो वह लाये ; अन्यथा नहीं। विभाग पत्र में लिखित द्रव्यों के कुल योग से आवश्यकता की जानकारी मिल जाती है। उसी के आधार पर आचार्य श्री एक साधु को आहारादि का परिमाण कह देते हैं। विभागपत्र के अनुसार काम वाला प्रत्येक साझ को आमंत्रित करके विभाग दे देता है।

जल का विभाग

साधु जैसे आहार भिक्षा द्वारा प्राप्त करते हैं, वैसे जल भी। प्रत्येक आहार की गोचरी के साथ पानी लानेवाले होते हैं। जो गृह-सीमा आहार लानेवालों की है, वही पानी लानेवालों की भी है।

पानी लाने का कार्य भी दीक्षा ज्येष्ठ के क्रम से चलता है। पानी का कामवाला पहले विभाग स्थान को चुनता है। फिर आचार्य श्री से स्वीकृति ले पानी लाने वालों को विभाग स्थान की सूचना दे देता है। साथ में अमुक सीमा तक अमुक-अमुक कलसिया (पानी मापक पात्र) लाने का संकेत भी कर देता है। काम वाला विभाग स्थान की सफाई करता है और कलसिया वहाँ रख देता है। गोचरीवाले आते हैं और वे वहाँ पानी रखकर अपने स्थान को चले जाते हैं।

जल के विभाग से पूर्व प्रत्येक साधु एक-एक कलसिया स्वच्छ, गर्म या ठण्डा जैसा वह चाहे ले सकता है। काम वाला प्रत्येक साझ में जाकर पूछता है—विभाजन से पूर्व कितना कलसिया लाए हो ? भिक्षा में निर्धारित कलसिया आया या नहीं ? वह दोनों प्रकार की जानकारी प्राप्त करता है। यदि विभाग स्थान पर पात्र खाली देखे तो वह और पानी मँगा सकता है। प्रत्येक साझ को अपना जलपात्र वहाँ रखना होता है। पानी का कामवाला एक पात्र खाली रखता है। उससे वह सब पानी को एक बार फिर छानता है। समुच्चयवाले विभाजन से पूर्व जल लेते हैं। शेष का विभाजन किया जाता है। चौविहार तपस्यावालों का विभाग नहीं होता। कभी-कभी चूना, मिट्टी, धोवन, प्रासुक गर्म और गोबर के पानी का भी विभाजन किया जाता है। विभाजक विभाग करके दीक्षा में बड़े साझवालों को क्रमशः विभाग लेने के लिये आमंत्रित करता है। प्रत्येक साझ का एक सदस्य आकर विभाग ले जाता है। विभाग का जल यदि दूसरे साझ के पात्र में हो तो विभाग लेने वाले को पात्र खाली करना होता है। वह अपने साझ के पात्र कामवाले से खाली करवा लेता है। आवश्यकतानुसार दो साझ के सदस्य पात्र का परस्पर विनिमय भी कर लेते हैं। किसी के पात्र कम हों तो दूसरा पात्र देकर सहयोग भी कर देता है। कभी-कभी इस उलट-पलट में बहुत समय लग जाता है ; क्योंकि खाली पात्र का अभाव रहता है। सभी सदस्यों के पानी ले जाने के बाद कामवाला स्थान की सफाई करता है। फिर आचार्य के पास जाकर निवेदन करता है—प्रत्येक साधु के इतना-इतना पानी विभाग में आया है। काम से मुक्त होकर वह अपने साझ में चला जाता है। चौथे प्रहर में प्रतिलेखन के बाद पुनः कामवाला आचार्य श्री से स्वीकृति ले प्रत्येक साझ में जाता है। प्रत्येक साझ में जल का काम करनेवाला एक साधु होता है। वह उससे पूछता है—तुम्हारे साझ में कितना पानी चाहिये ? निर्धारित पानी आया या नहीं ? कितना लाना बाकी है ? सभी साझों से जानकारी ले वह पुनः आचार्य श्री के पास जाता है। इतने कलसिया जल संतों को चाहिये और इतना लाना अवशेष है। आचार्य श्री समय और आवश्यकता को देख कर उसे स्वीकृति देते हैं। काम वाला पहले उन साधुओं से पानी मँगाता है जिनके कम आया है। यदि लानेवाले कलसियों की संख्या अधिक हो और आवश्यकता कम तो लाने वालों को उसी हिसाब से कम कह दिया जाता है और आवश्यकता अधिक हो तो लानेवालों से पूरा मँगाकर शेष निकट के गोचरीवालों से मँगाया जाता है। निकट में जितनी गोचरी होती है, उनको विभाग करके कह दिया जाता है। जैसे, ३ गोचरी से ३० कलसिया जल लाना है। प्रत्येक को १०-१० कलसिया लाना है। दो गोचरी से बीस कलसिया आया और एक से नहीं। उस समय शेष १० कलसिया भी उन दोनों से ५-५ करके मँगाया जायगा। १० कलसिया और न आ सके तो दूसरी सीमावाले गोचरियों से उसी क्रम से मँगाया जायगा। जितना आता है उसे छान कर प्रातःकाल की तरह उसका विभाग कर दिया जाता है। यह है जल के विभाग की परम्परा।

अभी इन वर्षों में आचार्य श्री तुलसी ने इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया है। प्रत्येक साझवाले आवश्यकतानुसार अपना जल ले आते हैं, और यदि वह सबको सुलभ न हो तो वही प्राचीन व्यवस्था लागू हो जाती है।

पाट-बाजोट

सभी साधु जमीन पर ही बैठते और सोते हैं। उनके लिए पाट बाजोट की आवश्यकता नहीं होती। आचार्य जमीन पर बैठें, यह शिष्यों को मान्य नहीं। इसलिये वे आचार्य के लिये 'पाट-बाजोट' की गवेषणा करते हैं। जो वस्तु काम के लिये लाई जाती हैं, उन पर साधु स्मृति के लिये गृहस्थ का नाम लिख देते हैं ताकि वापस देने में भूल न हो। प्रतिदिन एक साधु का यह कार्य होता है। सूर्योदय के बाद कामवाला सारे बाजोटों का प्रतिलेखन करता है।

सूर्योदय से लेकर सोने तक जहाँ भी आचार्य विराजें या प्रवचन सभा आदि में जावें, वहाँ भी व्यवस्था करना उसी का कार्य है। साथ-साथ आचार्य के उठने-बैठने के उपकरणों को ले जाना और लाना भी उसी कार्य का अंग है। यदि आचार्य प्रवचन के लिए या किसी भाई की प्रार्थना पर दूसरे स्थान पर सोवें और सूर्योदय के बाद अपने स्थान पर वापस आ जावें तो ऐसी स्थिति में सूर्योदय होने पर भी पाट बाजोट को वापस देना पूर्व दिन वाले का कार्य है। बाजोट आदि मूल स्थान पर वापस लाने हों, तो उन्हें आज के दिन के कार्य वाला लाता है। विहार के समय पहले दिन जिसका कार्य हो वही उन्हें गृहस्थों को वापस करता है। वे जिनके हों उनके घर जा कर दे आता है। स्मृति के लिये जो नाम दिया हुआ होता है, उसे साफ कर देता है। जिस दिन आचार्य विहार करें उस दिन का कार्यवाला दूसरे दिन के सूर्योदय के बाद भी एक प्रहर तक और कार्य करता है। आचार्य एक दिन में जितने गाँवों में जावें या जितने स्थानों में जावें, उन स्थानों पर पाट-बाजोट लाने और वापस देने का दायित्व कामवाले पर है।

चौकी

साधु अपने उपकरणों की सावधानी रखते हैं। फिर भी जहाँ अनेक साधु एक साथ रहते हों, वहाँ किसी का कोई वस्त्र का टुकड़ा इधर-उधर गिर ही पड़ता है। अगर उसको न उठाया जावे तो वह इधर-उधर पड़ा रहता है, और उसका प्रतिलेखन भी नहीं होता है। संभव है कोई वस्त्र का टुकड़ा बाहर के खुले स्थान में ही रह जाये, इस दृष्टि से एक व्यवस्था की गई है कि प्रति दिन एक साधु चौकी दे। वह निवास स्थान पर और आसपास में पड़े हुए साधुओं के छोटे-मोटे वस्त्रों को उठा ले। ६० साधुओं तक चौकी देने वाला एक साधु होता है। उससे ऊपर की संख्या के अनुपात से दो-तीन साधु चौकी देते हैं। एक से अधिक साधु चौकी देने वाले होने पर वे स्थान का विभाजन कर लेते हैं। काम वाले साधुओं में जो छोटा होता है, वह विभाजन करता है। दीक्षा क्रम से विभाग लेने के बाद शेष भाग विभाग करने वाले के लिये रह जाता है। जितने मकानों में साधु रहते हैं, उन स्थानों में ऊपर नीचे तथा आसपास की गली में सभी स्थानों पर चौकी दी जाती है। चौकी का कार्य सूर्योदय से लेकर छाया न पड़े—प्रकाश रहे, तब तक है। सुबह और शाम दो समय तो सारे स्थानों पर घूमकर चौकी देनी ही होती है। दूसरे दिन वह अपने से छोटे साधु को कार्य संभला देता है। दूसरे दिन वाला साधु प्रात: प्रकाश होने पर चौकी देता है। यदि खुले में कोई उपकरण रह जाये तो उसकी 'आलोयणा' करनी होती है। जो दण्ड प्राप्त होता है, उसकी सूचना पहले दिन वाले साधु को दे दी जाती है। चौकी में जो भी वस्त्रादि आये वह भी उसे दे देता है। इस क्रम से चौकी का कार्य चलता है।

साधारणत: साधु अपने उपकरण न मिलने पर चौकी वाले के पास खोजता है। वह न भी खोजे तो भी चौकी वाला चौकी में आये हुए वस्त्रादि को लेकर प्रत्येक साधु के पास जाता है और उनको दिखाता है। साधु अपना-अपना पहचान कर ले लेते हैं। कई उपकरण एक सरीखे होते हैं। वे परस्पर मिल न जावें, इसलिये प्रत्येक साधु अपने प्रत्येक उपकरण पर अपना नाम लिख देता है। चौकी वाला यदि प्रत्येक साधु के पास जाकर दिखाना न चाहे तो वह दूसरा मार्ग अपनाता है। चौकी में आये हुए उपकरणों के नाम देखता है। नामांकित किसी एक साधु को वह सारे उपकरण दे देता है। यदि बिना नाम का कोई उपकरण अपना स्वीकार करे तो वे सारे उपकरण उसे मिलते हैं, क्योंकि उसने नामांकन परम्परा की उपेक्षा की है। रात में जो उपकरण गिर जाता है, सुबह यदि वह चौकी में आवे तो उसके पीछे चौकी के सारे उपकरण नहीं मिलते। जिसे सारे उपकरण मिलते हैं, यदि वह प्रत्येक साधु के पास जाकर दिखाना न चाहे तो वह उपकरणों में नामों को खोजता है। जितने नाम मिलते हैं, उनका उतना विभाग कर लिया जाता है। विभाग लेकर वह प्रत्येक साधु को दिखाता है। फिर भी यदि शेष रह जावे तो उनको आचार्य श्री से स्वीकृति लेकर विधिवत् खपा दिया जाता है। चौकी के उपकरण यदि बिना प्रतिलेखन के रहें, तो उसकी आलोयणा चौकीवाला लेता है।

चौकी में बिना नाम के उपकरण अधिक आने से चौकीवाला आचार्य श्री को निवेदन करता है। आचार्य श्री साधुओं के उपकरणों पर नाम देखने के लिए किसी साधु को आदेश देते हैं। प्रत्येक उपकरण के नाम न मिलने पर दण्ड भी मिलता है। विहार काल में जहां अनेकों स्थानों पर ठहरे हुए हों वहाँ सब स्थानों पर चौकी नहीं देनी होती। जहाँ आचार्य श्री विराजते हैं और आहार का विभाग होता है, उन स्थानों पर चौकीवाला चौकी देता है। शेष स्थानों पर ठहरे हुए संत स्वयं चौकी देते हैं। विहार के समय चौकी वाला सबसे पीछे चौकी देकर विहार करता है। चौकी देने के बाद यदि उस स्थान पर कुछ रहता है तो उसका दण्ड चौकीवाले को मिलता है। एक दिन में जितने स्थान परिवर्तन हों, उस दिन उन स्थानों पर चौकी देना चौकीवाले का ही काम है।

शयन-व्यवस्था

एक गाँव से दूसरे गाँव या एक मकान से दूसरे मकान का स्थान परिवर्तन होने पर पहले दिन सोने और बैठने की व्यवस्था की जाती है। बैठने के लिये जितना स्थान मिलता है, उसमें से आचार्य के लिये सुरक्षित रखकर शेष स्थान को आचार्य श्री साझ के अनुक्रम से विभक्त कर देते हैं। प्रत्येक साझ के सदस्य अपने साझ के विभाग में प्राप्त स्थान में रहते हैं। सोने की व्यवस्था भी कभी-कभी इसी क्रम से होती है। बहुधा दूसरे प्रकार से होती है। वह इस प्रकार है—आचार्य श्री के आदेश से एक साधु शब्द करता है। सारे साधु उपस्थित हो जाते हैं। स्थान की परिधि निश्चित होने पर कार्य आगे चलता है।

दीक्षा के अनुक्रम से एक साधु नामों का उच्चारण करता है। नाम वाला व्यक्ति खड़ा होकर अपना स्थान निश्चित कर देता है। समुच्चयवाले सबसे पहले अपना स्थान निश्चित करते हैं। फिर शेष साधु अपना-अपना स्थान निश्चित कर लेते हैं। स्थान अल्प होने पर दूसरे स्थान की खोज की जाती है। दूसरा स्थान मिलने पर यदि कोई बड़ा साधु पूर्व निश्चित स्थान को छोड़ कर वहां जाना चाहे तो वह जा सकता है। स्थान निश्चित होने के बाद यदि कोई स्थान परिवर्तन करना चाहे तो उसे पुनः आचार्य श्री को निवेदन करना पड़ता है। वह स्वीकृति के बाद ही वहाँ जा सकता है, पर उसका नम्बर सबसे पीछे आता है; चाहे वह दीक्षा में उनसे बड़ा ही क्यों न हो।

सेवा

दव्वेण भावेण वा जं अप्पणो परस्स वा
उवकार करणं तं सव्वं वेयावच्चं

निशीथ चूर्णि ४. ३७५

द्रव्य और भाव से अपना स्वयं का तथा पर का जो उपकार किया जाता है, वह सबका सब सेवा ही है। संघीय जीवन में सेवा आवश्यक होती है। अपेक्षित सहयोग से आत्मतुष्टि की अनुभूति होती है और वह संघीय व्यवस्था का सुपरिणाम होता है। संघ में कोई रुग्ण होता है तो कोई तपस्वी। कोई वृद्ध होता है, तो कोई शैक्ष[1]। उन्हें अपना सारा कार्य करने में असामर्थ्य का अनुभव होता है। उन्हें सहयोगी की अपेक्षा होती है। उसे आचार्य पूरा करते हैं। जो साधु वृद्ध होते हैं, विहार नहीं कर सकते हैं, उन्हें एक स्थान पर रखा जाता है। उनकी सेवा के लिये आचार्य यथावश्यक सिंघाड़ों को भेजते हैं। जिस अग्रगण्य के सिर चाकरी हो, उसे सेवा में नियुक्त करना है या दूसरों को, यह आचार्य की इच्छा पर है। रोगी साधु रुग्ण अवस्था में जो कार्य स्वयं नहीं कर सकता है वह प्रत्येक कार्य चाकरी वाला करता है। विहार में यदि कोई साधु कारणवश स्वयं चलने में असमर्थ हो जावे तो दूसरे साधु उसे उठाकर ले जाते हैं।

भिक्षा में जो प्राप्त होता है, उसमें से आवश्यक वस्तु रोगी को पहले दी जाती है। आवश्यक वस्तु न आवे तो यथा-साध्य उसकी गवेषणा की जाती है। उसके विभाग के कार्य भी दूसरे साधु कर देते हैं। उनकी मानसिक समाधि का पूरा पूरा ध्यान रक्खा जाता है।

शब्द-संकेत

सामूहिक कार्य की सूचना 'शब्द' द्वारा दी जाती है। आचार्य के आदेश से एक साधु 'शब्द' करता है। वह इस बात का ध्यान रखता है कि कार्य की सूचना प्रत्येक साधु तक पहुँच जाय। शब्द न सुनने के कारण यदि कोई साधु सामूहिक कार्य

१—नवदीक्षित साधु

में भाग न ले सके तो शब्द करने वाले की त्रुटि मानी जाती है। यदि एक कमरे में एक साधु शब्द को सुन लेता है और दूसरा नहीं सुन पाता है तो ऐसी स्थिति में शब्दकर्ता की त्रुटि नहीं मानी जाती।

सूर्योदय से एक मुहूर्त पहले और सूर्यास्त के समय वंदना का शब्द होता है। प्रातःकालीन वंदना से पूर्व उपस्थित साधु खड़े होकर 'लेख पत्र' को दोहराते हैं।

प्रातः प्रतिक्रमण के पश्चात् और तृतीय प्रहर के बाद प्रतिलेखन का शब्द होता है।

आचार्य श्री के मध्याह्नकालीन भोजन के पश्चात् "गत दिवस वार्ता" का शब्द होता है। उस समय प्रत्येक साधु अपने गत दिन की चर्या निवेदन करता है।

सूर्यास्त के लगभग बीस मिनट पूर्व "जल पीना हो तो पी लो" की सूचना दी जाती है। फिर लगभग १० मिनट के बाद त्याग का शब्द होता है। इसके पश्चात् कोई साधु जल भी नहीं पी सकता।

एक प्रहर रात्रि बीतने पर शब्द होता है, जो सोने के समय की सूचना देता है।

आचार्य किसी भी कार्य के लिये स्थान से बाहर जायं तो उसके लिये शब्द होता है। साधु यथासंभव आचार्य के साथ जाते हैं। कार्य हो तो द्वार तक जाकर उनका सम्मान करते हैं।

आचार्य किसी कार्यवश सभी साधुओं को बुलाना चाहें या विशेष कार्य की सूचना देना चाहें, तो उस समय शब्द होता है। व्यक्तिगत कार्य के लिये शब्द नहीं होता। साधु स्वयं आचार्य के पास जाकर उनकी आज्ञा प्राप्त करते हैं।

यह हमारे गण की दिनचर्या का स्थूल शब्दांकन है। इसमें व्यवस्था है और उसके पीछे चिन्तन भी है। जिस संघ में छोटी-छोटी बातों पर चिंतन नहीं होता, छोटी बातों के लिये व्यवस्था नहीं होती, वहाँ विग्रह होता है; कहना अधिक होता है और कार्य कम। आचार्य भिक्षु तथा उनके परवर्ती आचार्यों ने इन परिस्थितियों को सूक्ष्म दृष्टि से देखा और उनका समाधान दिया। यह उसी का सुपरिणाम है कि कार्य सहज भाव से होता है तथा प्रेम बना रहता है। आचार्य या अग्रगण्य को इसके लिए बहुत समय व्यय नहीं करना होता। इस सुव्यवस्थित पद्धति को पाकर समूचा संघ संतुष्ट और प्रगतिशील है।



तेरापंथ की परंपरा में सेवा-भावना

(मुनि श्री चम्पालालजी)

व्यक्ति व्यक्ति है, और संघ संघ। दोनों की अलग-अलग मर्यादाएँ हैं। परस्परोपग्रह की भावना का आधार समुदाय है, व्यक्ति नहीं। अकेला व्यक्ति स्वतंत्र होता है। उसे न दूसरे की अपेक्षा होती है और न उसकी उपेक्षा दूसरों को प्रभावित ही करती है। इसका कारण है उसकी व्यक्तिवादी स्थिति। समुदाय में ऐसा नहीं होता। इसमें समस्त व्यक्ति एक दूसरे से सम्बन्धित रहते हैं। एक के दुःख-सुख में सब और सबके दुःख-सुख में एक का सिद्धान्त वहीं फूलता-फलता है। अपेक्षा और उपेक्षा भी वहीं पनपती हैं। संगठन में व्यक्ति निरपेक्ष नहीं रह सकता। उसका रहन-सहन, चिन्तन-मनन सभी अपेक्षा की परिक्रमा किए चलता है और यही तत्त्व उसे जीवित रखता है। दूसरे शब्दों में जिस संगठन में परस्परोपग्रह की भावना का विकास होता है, और जहां इस भावना को आदर की दृष्टि से देखा जाता है वहाँ संगठन की नींव दृढ़ हो जाती है और वह चिर काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखती है। यह भावना सदस्यों में निश्चिन्तता ला देती है, जो साधु-जीवन का एक प्रमुख तत्त्व है। जिस संघ के सदस्य अपनी जीवन वृत्तियों के प्रति निश्चिन्त हैं, जिन्हें जीवन का संरक्षण प्राप्त है, उनकी साधना निखरती है और वे समाधि का अनुभव कर सकते हैं। समाधि की अनुभूति साधना का परिणाम है। यह तभी संभव है जब कि संघ का प्रत्येक सदस्य एक-दूसरे से संबंधित रहता है। इस संबंध का आधार भौतिक नहीं, आध्यात्मिक होता है। आध्यात्मिकता में एकत्व होता है, भौतिकता में विभेद।

तेरापंथ संगठन अध्यात्म क्रांति का एक चेतनावान संगठन है। इसके प्रगतिशील दो सौ वर्षों में लगभग दो हजार मुमुक्षु व्यक्तियों ने आत्म-साधना की। अपनी अनवरत साधना से जैन तत्त्ववाद तथा साधना पद्धति का विकास और चित्त-समाधि का अनुभव करते हुए वे साध्याभिमुख हुए। दो सौ वर्षों की इस अवधि में भी यह संगठन अपनी अखंडता को लिए चल रहा है। इसका रहस्य है सदस्यों की परस्परोपग्रह की भावना का विकास। तेरापंथ के आचार्यों ने इस भावना की पुष्टि के लिए समय-समय पर नए-नए उपक्रम प्रस्तुत किए और संघ के प्रत्येक सदस्य को 'सेवाभावी' बनने की प्रेरणा दी।

सेवा—दो अक्षरों का यह छोटा सा शब्द भी कितना गूढ़ है, यह अविदित नहीं है। इसके अनेक रूप हैं। प्रत्येक रूप अपने मूल से संबंधित है। आज सहयोग के अर्थ में 'सेवा' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह कुछ भ्रांति उत्पन्न कर देता है। सहयोग और 'सेवा' दो शब्द हैं, जिनका स्वरूप अत्यन्त भिन्न रहा है। सहयोग विनिमय की भावना को पनपाता है और इसमें सहयोग लेनेवाला तथा सहयोग देनेवाला—दोनों एक दूसरे के स्वार्थों के सूक्ष्म तारों से बंधे रहते हैं। कहीं-कहीं यह सूक्ष्मता दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु सहयोग का अनुबंध स्वार्थ पर ही टिकता है। 'सेवा' में विनिमय का भाव नहीं रहता। उसमें आत्मा का विवेक होता है और वह सेवा चाहनेवाले के साथ जुड़कर तादात्म्य स्थापित कर देता है। तादात्म्य से अहंभाव टूट जाता है। सहयोग अहम्मन्यता का पोषक है। अहंकार से दूसरों को हीन समझने के भाव पनपते हैं और इससे आत्मा की पवित्रता नष्ट हो जाती है।

सेवा का अधिष्ठान है—विनीत आत्मा। विनीत वह होगा सो सरल होगा। सरलता भद्रता पर अवलंबित है। भद्र व्यक्ति सहज ही हल्का होता है। उसका हृदय स्वच्छ होता है। उसमें पड़ने वाला प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ और निष्कपट होता है। वह दूसरों में अपनी सरलता को जोड़कर आत्मदर्शन करता है।

श्रद्धा विनय का आधार है। उसके अभाव में कोई झुकना नहीं जानता। अश्रद्धालु में अहं होता है। अहं नम्रता को हड़प जाता है। उच्छृंखलता और जड़ता आती है। जड़ता व्यक्ति को 'सेवा' की परिधि में नहीं आने देती।

शिष्य का एक नाम विनेय भी है। विनय अध्यात्म का मूल है। विनय को चापलूसी माननेवाले अज्ञान का पोषण करते हैं। विनय को हीनता से जोड़नेवाले भी जड़ हैं। विनय आत्मा का गुण है। जिस शासन में विनय है, वह शासन प्राणवान है। सेवा और विनय दो नहीं, एक हैं।

जहां संघीय व्यवस्था है वहाँ व्यक्ति के स्वार्थ गौण हो जाते हैं। संघ का हित पहले है और व्यक्ति का बाद में। व्यक्ति

और संघ दो होते हुए भी एक हैं। व्यक्ति-व्यक्ति से संघ बनता है और संघ का अणु-अणु व्यक्ति का आभारी है। संघ का उत्तरदायित्व किसी एक पर ही नहीं होता। प्रत्येक सदस्य उसके उत्तरदायित्व को वहन करता है। संघ में बौद्धिक भेद भले ही हों व्यवस्था सम्बन्धी भेद नहीं रहते। विद्वान हो या अल्पशिक्षित, बड़ा हो या छोटा, शासक हो या शासित, अधिकृत हो या अधिकारी, बुद्धिजीवी हो या श्रमिक—सभी व्यवस्था की दृष्टि से एक हैं। यही तेरापंथ व्यवस्था की विशेषता है। आज तेरापंथ साधु-साध्वियों के मानस इसी तथ्य से अणुप्राणित हैं। अतः वहाँ परस्परोपग्रह की भावना भी सहज है। सेवा करने वालों में न अहं के भाव पनपते हैं और न सेवा लेने वाला ही अपने में हीनता का अनुभव करता है।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु ने कहा, "सगला रे मगला साधु ने साध्वी, राखजो हेत विशेष"। संघ समृद्धि का यह मूल मंत्र बन गया। प्रेम सेवा को सहज बना देता है। आज तेरापंथ की तपःपूत परम्परा में किसी भी सदस्य को यह चिन्ता नहीं रहती कि आगे क्या होगा ? बुढ़ापा कैसे बीतेगा ? आदि-आदि। तेरापंथ के विधान की भाषा है—जब तक तुम में शक्ति है तुम संघ की सेवा करते रहो। जब तुम्हारा बल क्षीण हो जाएगा, शासन तुम्हारी सेवा करेगा। यही सूत्र तेरापंथ को सुसंगठित तथा विकासशील रखने में उपयोगी सिद्ध हुआ है।

शरीर भौतिक है। उसमें उपचय और अपचय होते ही रहते हैं। जब विजातीय द्रव्यों का आधिक्य होता है, वह रोग से ग्रस्त हो जाता है। अस्वास्थ्य व्यक्ति में नाना कल्पनाओं को उभार देता है। उस समय उसमें समाधि की चाह प्रबल बन जाती है। समाधि आत्मा का गुण अवश्य है, पर उसकी अभिव्यक्ति बाह्य निमित्त सापेक्ष होती है। रुग्णावस्था की दाहकता सहानुभूति की एक बून्द पाकर मिट जाती है। सहानुभूति जब हृदय से निकलती है तभी वह दूसरे को शान्त कर सकती है। बाह्याचार निभाने के लिए दिखाई जानेवाली सहानुभूति वंचना है, धोखा है। तेरापंथ के आचार्यों ने तथा उत्तरदायी साधु-साध्वियों ने अपने शिष्यों तथा सहयोगियों में यह भावना भरी कि प्रत्येक व्यक्ति का यह चिन्तन होना चाहिये और उसे इसी रुप में सोचना-समझना चाहिए कि मैं कम से कम सेवा लूं और ज्यादा से ज्यादा दूं। यह विनिमय व्यापार की दृष्टि से भले ही घाटे का सौदा लगता हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से यही लाभदायी है। जहाँ लेने में कम और देने में अधिक का ध्यान रहता है वहाँ लेनेवाला स्वयं ही अल्पतम लेने का प्रयास करता है। और जहाँ लेनेवाला अधिक लेना चाहे और देने वाला कम देना चाहे वहाँ संघर्ष होता है।

सेवा देने वाला आवश्यकता वश सेवा लेता भी है। देने लेने की दोनों स्थितियों में उसे संतुलन रखना चाहिये। सेवा लेते समय हर्ष और देते समय विषाद को प्राप्त हो जाना साधना की दुर्बलता है।

तेरापंथ संघ में आज भी लगभग ६५० साधु-साध्वियाँ आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में आत्मजागरण के साथ-साथ जन-जागरण का महान कार्य ले भारत के कोने-कोने में घूम रहे हैं। उनमें कई वर्षों के रोगी हैं, कई अपंग हैं, कई अचक्षु हैं। इन्हें यथासंभव स्थिरवास में रखा जाता है और व्यवस्था के अनुसार (सेवा—चाकरी के लिए) संघ के स्वस्थ साधु व साध्वियाँ वहाँ पहुँचकर उनकी सेवा करती हैं। यदि कोई सदस्य सेवा (चाकरी) से मुंह मोड़ने का प्रयत्न करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी बनता है। यथावसर आचार्य उसे संघ से अलग भी कर देते हैं। सेवा से इन्कार करने मात्र से संघ से अलग कर देने की बात कुछ अटपटी-सी लगती है, परन्तु हमारा शासन सेवा को अत्यधिक महत्त्व इसलिए देता है कि संघ का समूचा आचार-विचार सेवा में ही फूलता-फलता है।

अर्ध शताब्दी पहले की घटना है—हरियाणा प्रान्त के अन्तर्गत 'अमरा' ग्राम में मुनि श्री चिरंजीलालजी का चातुर्मास था। उनके सहयोगी थे मुनि तिरखारामजी। चातुर्मास काल प्रारंभ हुआ। मुनि चिरंजीलाल जी रोगाक्रान्त हुए। वमन और दस्तों का प्रकोप बढ़ा। साधु गृहस्थ से शारीरिक सेवा नहीं ले सकता। साधु ही उसकी सेवा कर सकता है। रोग बढ़ा। मुनि तिरखारामजी ने 'सेवा' करने से इन्कार कर दिया। मुनि चिरंजीलालजी में जब तक शक्ति रही वे स्वयं सफाई वगैरह करते रहे। दिन प्रति दिन शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगा। लोगों ने मुनि तिरखारामजी को समझाया पर उन्हें वमन तथा टट्टी साफ करते घृणा होती थी। उन्होंने यह कार्य करने से स्वयं को बचाये रखा। आयुष्य की अवधि पूर्ण होते ही उसी चातुर्मास में मुनि चिरंजीलालजी स्वर्ग सिधार गये। मुनि तिरखारामजी आचार्य डालगणी (तेरापंथ के सातवें आचार्य) के पास आये। आचार्य को पूरा वृत्तान्त पहले से ही ज्ञात था। आचार्य ने उन्हें सेवा न देने के लिये उपालम्भ देते हुए कहा—तुमने रुग्ण मुनि की सेवा न कर शासन का महान् अपराध किया है। उनकी सेवा शासन की सेवा थी, आचार्य

की सेवा थी, मानवता की सेवा थी। यह अपराध अक्षम्य है। तुम्हें इसका गुरुदण्ड भोगना होगा। सेवा न करने के अभियोग में तुम्हें संघ से बहिष्कृत करता हूँ। तिरखाराम संघ से अलग कर दिये गए। उसके ज्ञातिजनों ने तथा स्वयं उन्होंने भी डालगणी से पुनः संघ में सम्मिलित करने के लिये बहुत अनुनय-विनय की। पर डालगणी ने कहा—जो सेवा से जी चुराता है वह तेरापंथ के संघ का सदस्य नहीं रह सकता। ज्ञान-ध्यान की अपेक्षा सेवा का अवष्टम्भ ही शासन के लिये अधिक महत्त्व का है।

व्यक्ति समष्टि का पूरक है। वह उसी का एक अंग है। व्यक्ति की स्वस्थता समष्टि की स्वस्थता है। आचार्य श्री भिक्षु ने कहा—वह रोगी सेवा माँगता है पर वह संघ को परितापित नहीं करता। वह सेवा का उपकार मानता है, सेवा करने वाले का आभारी रहता है और संयमी जीवन का उपष्टम्भ देनेवाले आचार्य का जन्म-जन्म तक ऋणी रहता है। आचार्य का यह परम कर्तव्य होता है कि वे उसे यथासंभव यथायोग्य सुविधाएँ देने का प्रयास करें। यह सत्य है कि सुविधाएँ कल्प्य और अकल्प्य की परिधि में ही होंगी, फिर भी उनसे साधना में सहयोग मिलता है। शरीर के रोगी के लिये यह पथ्य है। मन का रोगी बुरा होता है, अचिकित्स्य होता है। वह संघ में अहितकर होता है, उसे संघ से अलग कर दो।

रोगी की सेवा धर्म इसलिये है कि सेवा करने वाला स्वयं लाभान्वित होता है। सेवा का मुख्य फल है आत्मगुणों का विकास और गौण फल है रोगी का स्वास्थ्य लाभ। सेवा मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। कर्म निर्जरा का अर्थ है—पवित्रता। पवित्र आत्मा में ही धर्म ठहरता है। सेवा धर्म का उपष्टम्भ है। धर्म तीर्थ चतुष्टय में अभिव्यक्ति पाता है।

आचार्यों ने कहा, "जो संघ सेवा-शुश्रूषा की भावना को नहीं जानता, उसे प्रश्रय नहीं देता, जिस संघ के आचार्य अपने संघ के सदस्यों के सुख-दुख निवारण की विधि नहीं जानते, रोगी की चिकित्सा विधि से अजान हैं, वह संघ छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है[1]।"

रोगाक्रान्त व्यक्ति संकल्प-विकल्प की उधेड़बुन में संलग्न रहता है। यदि उसकी वैयावृत्य न हो तो उसे समाधि कैसे मिले? समाधि के बिना विकल्पों से छुटकारा नहीं मिलता। रोगोपचार के बिना उसका धर्म-ध्यान नहीं बढ़ता। अतः सहधार्मिकों को चाहिए कि वे ग्लान या रुग्ण व्यक्ति की अग्लान भाव से सेवा करें, उसे सान्त्वना दें।

सेवा के तीन प्रकार हैं—स्वसेवा, पर सेवा और स्वपर की सेवा। सेवा का अर्थ है आज्ञा की आराधना। जब व्यक्ति आज्ञा में संलग्न रहता है, वह अपनी सेवा करता है। इस प्रकार स्वयं का कार्य भी सेवा है यदि वह आज्ञानुरूप किया जाय। दूसरों का कार्य भी सेवा नहीं है यदि वह केवल करने के लिए किया जाय या वह यशोलिप्सा से उपप्रेत हो। व्यवहार भाष्य में सेवा के दस प्रकार बताये गए हैं। वहाँ कहा गया है कि आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, सहधार्मिक, कुल, गण और संघ की वैयावृत्य करता हुआ मुनि महानिर्जरा तथा महापर्यवसान का लाभ उपार्जित करता है। आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि के प्रति आदर बहुमान रखना तथा उनके अनुकूल प्रवृत्ति करना सेवा का उत्कृष्ट रूप है। तपस्वी को तपस्या में सहयोग देना भी सेवा है। नवदीक्षित को श्रामण्य के विधि-विधानों से अवगत कराना भी सेवा है। रोगी को औषधोपचार से प्रतिलाभित करना भी सेवा है। कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति के प्रति सहानुभूति दिखानाभी सेवा है। सहधार्मिक को धर्म पथ पर अग्रसर करना या उनकी जीवन-विधि के प्रत्येक चरण में सहयोगी बनना भी सेवा है। कुल, गण और संघ की प्रभावना के लिए सतत प्रयत्नशील रहना भी सेवा है। केवल कष्टाभिभूत व्यक्ति को कष्टों से छुटकारा दिलाना ही सेवा नहीं, सुखी व्यक्ति को धर्म की ओर अग्रसर करना भी सेवा है। केवल रोगी को रोगमुक्त करना ही सेवा नहीं, उसको रोग के उपादानों से परिचित कराना भी सेवा है।

गणधर गौतम ने भगवानसे पूछा—भगवन्! वैयावृत्य करने से जीव क्या लाभ पाता है? भगवान ने कहा—गौतम! वैयावृत्य करता हुआ जीव तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन कर लेता है[2]। यही है सेवा का परिणाम।

तपस्वी अपनी खाद्य-अभिलाषा का संवरण करता है। दमितात्मा अपने मन तथा इन्द्रियों का दमन करता है, परन्तु

१—उप्पण्णे गेलाणे जो गणधारी न जाणई ते गिच्छं।
दीसं तत्तो विणासो सुह दुक्खा तेण उच्चता॥ —व्यवहार भाष्य, ५।१२८

२—उत्तराध्ययन, २९।४३

सेवाभावी व्यक्ति अपने समस्त कार्यों का रोगी-ग्लान के लिए उत्सर्ग करता है। यह उत्तम तपस्या है। अपनी इच्छाओं का दमन कर दूसरों के मनोनुकूल निःस्वार्थ भाव से बर्ताव करना समर्पण का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इच्छाओं का त्याग ही सबसे बड़ा त्याग है, तपस्या है। इसीलिए भगवान महावीर ने सेवा को कर्म-निर्जरण का एक महान् हेतु बतलाया है।

वैयावृत्य अनेक प्रकार से की जा सकती है। भाष्यकार ने उसके तेरह प्रकार कहे हैं—भक्त, पान, शय्या, संस्तारक, आसनादि देना, क्षेत्र का प्रतिलेखन करना, पाद का प्रमार्जन करना, ग्लान-रोगी को औषधि का लाभ देना, पथिकों के अनुग्रह के लिए व्यवस्था करना, राजा आदि के कोपभाजन हुए व्यक्तियों का निस्तार करना, शरीर उपाधि आदि का संरक्षण करना, अतिचार विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना, ग्लानको समाधि उत्पन्न करने तथा अपने सहधार्मिकों का उच्चार-प्रश्रवण आदि के पात्रों की व्यवस्था करना—ये सभी सेवा के विभिन्न प्रकार हैं[1]।

ग्लानकी उपेक्षा भयंकर अपराध है। आचार्य भिक्षु ने अपने वि० सं० १८४५ के विधान पत्र में लिखा—यदि कोई साधु बीमार हो, आँखों से असहाय हो, अवस्था से परापेक्षी हो, तो दूसरे मुनि उसकी अग्लान वृत्ति से वैयावृत्य करें। उसे अनशन या तपस्या के लिए बाध्य न करें। उसकी वैराग्य भावना विकसित हो, ऐसा उपक्रम करें। आँखों से असहाय मुनि को विहार में अकेला न छोड़ें, दूसरों के भरोसे न रहें, उसे सावधानी से चलाएँ, रोगी हो तो उसका भार स्वयं उठावें। ऐसा करें कि उसके परिणाम अच्छे रहें। जब तक वह मुनि धर्म पालन की इच्छा रखे, उसे येन-केन प्रकारेण निभाएं। उसका तिरस्कार न करें। यदि वह स्वेच्छा से आमरण अनशन करे तो उसे सहयोग दें। अनशन अवस्था में उसे विशेष विशेष समाधि उत्पन्न करने का प्रयास करें। यदि कोई साधु किसी ग्लान मुनि की वैयावृत्य करते-करते ऊब जावे, तो संघ के अन्य मुनिगण उस ग्लान की वैयावृत्य तन-मन से करें। जो सेवा करने से जी चुराये, उसे कड़ा उपालंभ दें। जो सेवा देता ही नहीं, उसे सेवा लेने का अधिकार ही क्या ?

यह विधान विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दि के पूर्वार्ध में बना। इसमें सेवा के उपकरण रूप में जो नियम निर्दिष्ट किये गये हैं वे कितने मार्मिक हैं यह पाठक स्वयं जान लें। रोगी को अनशन के लिए बाध्य नहीं करना यह सेवा करने की भावना की उत्कृष्ट सीमा है।

रोगी के लिये औषधि जितनी उपयोगी है, उतना ही उपयोगी है उसका पथ्य-विवेक। पथ्य के प्रति जागरूकता रखना भी सेवाभावी का परम कर्तव्य है। जो इसमें अजागरूक रहता है वह रोगी की उपेक्षा करता है। आचार्य भिक्षु इस विषय में कितने जागरूक रहते थे इसका स्फुट निदर्शन आचार्य भिक्षु के जीवन प्रसंग से अवसेय है। नाथद्वारा की बात है। मुनि भारमलजी ज्वर से पीड़ित हुए। मुनि हेमराजजी भिक्षाचरी के लिये गए और कुछ असावधानी या पात्रों की कमी के कारण दो प्रकार की दाल एक ही पात्र में ले आए। चने की और मूंग की दाल को मिली हुई देख आचार्य भिक्षु ने उपालम्भ दिया। मुनि हेमराजजी ने अपनी भूल स्वीकार की। स्वामीजी ने कहा—देखो ! रोगी के पथ्य का ध्यान पहले होना चाहिये। हमें उसके पथ्य की प्राप्ति के लिये एक बार, दो बार, दस बार जाना पड़े तो भी कोई बात नहीं। हमें उसकी सुविधा को महत्त्व देना है। अपने आलस्य से उसको तनिक भी असमाधि हो, यह प्रमाद अक्षम्य है। कभी-कभी रोगाक्रान्त मुमुक्षु इतना क्षीण हो जाता है कि उसे मीलों तक उठाकर ले जाना पड़ता है। जैन मुनि वाहनों का उपयोग नहीं करते हैं। अतः साधु साधु को उठा ले जाते हैं और साध्वी को साध्वियाँ। दो सौ वर्षों के इस इतिहास में अनेक प्रसंग ऐसे आये, जिनमें १००-१५० मील तक साधु-साध्वियों को उपचारार्थ ले जाना पड़ा।

मैंने यह पहले ही उल्लेख किया है कि जो साधु-साध्वी चल-फिर नहीं सकते, उन्हें एक ही स्थान पर रख दिया जाता है। साधुओं की परिचर्या के लिए साधु और साध्वियों की परिचर्या के लिए साध्वियां भेजी जाती हैं। वर्तमान में सबसे बड़ा स्थिरवास लाडनूं (राजस्थान) में है। वहाँ ३०-४० साध्वियाँ उपचारार्थ रहती हैं और प्रति वर्ष ८-९ साध्वियों का एक संघाटक वहाँ जाता है। जब-जब आचार्य प्रवर वहाँ पधारते हैं तब-तब समस्त साध्वियों को एकत्र कर उनकी परिचर्या के विषय में पूछा जाता है। यदि उनकी परिचर्या में तनिक भी कमी जान पड़ती है तो परिचर्या में रहनेवाली

१—भत्ते पाणे सयणासणे य पडिलेह पाय मच्छिमद्धाणे ।
राया तेणे दण्डग्गेह य गेलण्ण मत्ते य ॥ —व्यवहारभाष्य

साध्वियों को उपालम्भ मिलता है, कभी-कभी दण्ड भी भोगना पड़ता है। यह जागरूकता सर्वत्र बरती जाती है। आज एक शताब्दि से इस स्थिरवास में रुग्ण व ग्लान साध्वियों की सेवा हो रही है। तेरापंथ विधान का एक नियम है कि साध्वियों के प्रत्येक संघाटक को एक वर्ष तक वहाँ सेवा देनी होगी। इस अनिवार्यता ने साध्वियों के हृदय में एक ऐसी भावना उत्पन्न कर दी है कि दसों संघाटक प्रतिवर्ष अपना आवेदन आचार्य श्री के चरणों में उपस्थित करते हैं और आचार्य श्री उनमें से किसी एक संघाटक को सेवा में भेज देते हैं। जिस उत्साह और तन्मयता से सेवा की जाती है वह अन्यत्र सुलभ नहीं होती। हमने अनेकानेक उपचारगृह देखे हैं, परन्तु जिस निःस्वार्थ बुद्धि से यहाँ सेवा की जाती है, तथा रुग्ण या ग्लान मुमुक्षु को समाधि पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है वह अदृष्टपूर्व है। यह सारी सेवा श्रामण्य की परिक्रमा किये चलती है। अतः करनेवाली तथा करानेवाली दोनों को आनन्द की अनुभूति होती है। जहाँ तादात्म्य होता है, वहाँ स्व व पर का भाव नहीं टिकता। सब सबके हैं—यह भावना सेवा में तादात्म्य उभारती है।

लाडनूं का स्थिरवास सबसे बड़ा है। छोटे-छोटे स्थिरवास भी हैं जहाँ साधु-साध्वियों को उपचारार्थ रखा जाता है। रोगी को उपयुक्त औषधि कहाँ मिलेगी, पथ्य के लिये कौन सा क्षेत्र अनुकूल है, आदि का ध्यान आचार्य को रखना होता है और तदनुकल व्यवस्था करनी पड़ती है।

२५ वर्ष पूर्व की घटना है। मुनि श्री पन्नालालजी को लकवा मार गया। मुंह पर लकवे का असर अधिक था। उनकी परिचर्या करनेवालों ने अपूर्व आदर्श उपस्थित किया। मुनि श्री मगनजी उनकी टट्टी उठाते, शुचि करवाते तथा अन्यान्य कार्य भी करते। उन्हें न ग्लानि होती थी और न घृणा ही। उन्हें वे खाना खिलाते। लकवे के कारण वे खा नहीं सकते थे; आधा खाते आधा मुंह से निकल जाता। मुंह से निकला हुआ भोजन वे सेवाभावी मुनि स्वयं खा जाते, और उन्हें दूसरा भोजन देते। इस घटना को पढ़नेवालों में कुछ घृणा का भाव उभर सकता है, परन्तु ग्लान व्यक्ति के प्रति अग्लान भाव का क्या यह बेजोड़ उदाहरण नहीं है? क्या यह तादात्म्य का उत्कृष्ट आदर्श नहीं है?

मुनि कोदरजी घोर तपस्वी थे। अस्वाद वृत्ति के वे अनन्य उपासक थे। वे निरन्तर तपस्या करते और 'पारने' में बाजरे की रोटी और साग-सब्जी के स्थान पर गरम पानी का उपयोग करते। यह क्रम एक-दो मास का नहीं जीवनभर का बन गया था। उपवास से भी आचाम्ल की तपस्या कठिन होती है। पर तपस्वी कोदर जी के लिए यह कुछ साधारण बन गया था। बीकानेर की बात है। मुनि कोदरजी जयाचार्य (मुनि अवस्था में) के साथ चातुर्मास में स्थित थे। चातुर्मास के प्रारंभ में इस तपस्वी ने एक प्रतिज्ञा की कि चार महीनों तक कोई भी मुनि भिक्षा के लिए न जाए। मैं अकेला सबके भोजन तथा पानी की व्यवस्था करूंगा। सब की सेवा का भार मैं लेता हूँ। सभी मुनि अवाक् रह गए। इतने मुनियों केलिए घर-घर से भिक्षा तथा पानी लाना कोई साधारण कार्य नहीं था परन्तु तपस्वी मुनि ने इसे पूर्णतः निभाया। स्वयं तपस्या भी करते और साथ-साथ सहधार्मिक मुनियों की सेवा भी।

घोर तपस्वी मुनि श्री सुखलालजी उत्कृष्ट सेवाभावी थे। उन्हें स्वयं जितना खाने में आनन्द नहीं आता उतना आनन्द दूसरों को खिलाने में आता। कार्य करने में उन्हें आमोद होता। ५-६ दिन के उपवास में भी भिक्षा के लिये जाते और सभी प्रकार से मुनियों की वैयावृत्य करते। उन्हें जब यह पता लग जाता कि कोई मुनि रुग्ण है, तो वे शीघ्रता से उसके पास पहुँच जाते और बिना कहे-सुने सेवा में संलग्न हो जाते।

बाल मुनियों की सेवा में मुनि श्री ईशरजी का नाम सदा स्मरणीय रहेगा। बाल मुनि को तैयार करना, रीति-नीति से उसे अवगत कराना, उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना, श्रामण्य में वह रच-पच जाए ऐसा उपक्रम करना आदि उनकी साधना का ध्येय बन गया था। अपने पास जो होता उसको दूसरे के लिए समर्पित कर ही वे आनन्द मानते थे। इसी प्रकार मुनि श्री बेनीरामजी, खेतसीजी, टोकरजी, आचार्य भारमलजी, सतीदासजी, आदि-आदि की सेवाएँ भी अनुकरणीय हैं।

आज्ञा की आराधना ही सेवा है। आज्ञा के संवाहक आचार्य होते हैं। अतः उनकी आराधना भी सेवा ही है। मंत्री मुनि श्री मगनलालजी ने इस दिशा में एक आदर्श उपस्थित किया। उन्होंने पाँच आचार्यों की आराधना की। आचार्य मघवागणी से उन्हें संस्कार मिले। आचार्य माणकगणी की उन्हें मृदुता मिली। आचार्य डालगणी के उपालंभों ने उन्हें अनुशासन में रहने और शासन करने की कला सिखाई। आचार्य श्री कालूगणी के साहचर्य में उन्होंने जीवन-सत्त्व पाया

और आचार्य श्री तुलसी के सहयोग से उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य साध लिया। आचार्य की दृष्टि के पीछे उनकी दृष्टि रहती। कार्य के पीछे कार्य और विचार के पीछे विचार रखते हुए, 'इंगीयागार सम्पन्ने' की आप्तवाणी को जीवन के अणु-अणु में प्रतिबिम्बित कर उन्होंने हमें एक अनूठा मार्ग दिखाया है।

तेरापंथ के आचार्य संघ के सर्वेसर्वा होते हैं। उनमें संघ-संचालन की सर्वसत्ता निहित होती है। संघ के सदस्य उनके वचनों को 'पत्थर की लकीर' मानते हैं और उनके वचनों के अनुसार अपने जीवन को बनाने में अपना सौभाग्य मानते हैं। उनके एक-एक शब्द पर मर मिटने की भावना सेवा का साकार रूप है। हमारे कितने ही साधु-साध्वियों ने प्राणों का उत्सर्ग करके भी आचार्य के आदेश का पालन किया है। "आज्ञा परम धर्म है" जो ऐसा मानकर चलता है उसमें श्रद्धामूर्त बन जाती है और वह लक्ष्य को सरलता से साध लेता है।

वि० सं० .... की बात है। मर्यादा महोत्सव सुजानगढ़ में था। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी ने साध्वी श्री छगनां जी को देवगढ़ (मेवाड़) में चातुर्मास करने के लिये फरमाया। सुजानगढ़ से देवगढ़ १५० मील है। साध्वी श्री अन्यत्र अस्वस्थ थीं। आचार्य को यह ज्ञात नहीं था। गुरुदेव का आदेश पा साध्वी श्री ने विहार किया। दो दिन में ६ मील पहुँचीं। जब आचार्य श्री को यह पता लगा कि साध्वी अत्यन्त अस्वस्थ हैं, तब चातुर्मास का क्षेत्र परिवर्तित कर देने की बात कही। परन्तु साध्वी श्री ने कहा—एक बार जो गुरु मुख से निकल गया मैं तो उसी का पालन करूँगी। अटूट श्रद्धा और अप्रतिम आत्म-बल के साथ साध्वी श्री छगनांजी लगभग ५ महीने में देवगढ़ पहुँचीं। वहाँ पहुँचते ही आपने कहा—आज मैं हलकी हो गई हूँ। गुरुवर का आदेश पालन कर मैं अपूर्व आनन्द का अनुभव करती हूँ। मैं यथादिष्ट स्थान पर पहुँच गई। यह मेरे लिए परम प्रमोद का विषय है। साधक के लिए गुरु आज्ञा से बढ़ कर और क्या हो सकता है, आदि-आदि। उसी रात में आपने गुरु की साक्षी से समस्त साध्वियों के समक्ष आमरण अनशन कर लिया और समाधिपूर्ण मृत्यु को पाकर आज्ञापालन का एक अनूठा निदर्शन प्रस्तुत किया।

संघीय हित के लिए अपने बड़े से बड़े लाभ का भी बलिदान कर देना बहुत बड़ी सेवा है। तेरापंथ का विधान है कि आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करते हैं। तेरापंथ के छठे आचार्य माणकगणी का अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। आचार्य किसे चुना जाय—यह प्रश्न संघ को झकझोरने लगा। उस समय मुनि श्री कालूगणी का सभी क्षेत्रों में प्रभाव था। संघ का विश्वास था कि वे आचार्य बनेंगे। आचार्य-निर्वाचन का कार्य उन्हें दिया गया। उन्होंने शासन हित की दृष्टि से दूसरे मुनि का नाम आचार्य पद के लिये घोषित कर दिया। किसी ने पूछा—कालूगणी क्या तुम आचार्य बनोगे? उन्होंने कहा—मुझ में इतनी योग्यता ही कहाँ है? हमारे शासन में अनेकों अच्छे-अच्छे विद्वान, श्रुतशील व ज्ञानसम्पन्न मुनि विद्यमान हैं। मुझ में ऐसा है ही क्या कि मैं आचार्य बनूं? मेरा मुंह तो तवे के पेंदे जैसा है। मुनि कालू जी चाहते तो आचार्य बन सकते थे, क्योंकि समूचे संघ का उन्हें विश्वास प्राप्त था। परन्तु शासन हित की दृष्टि से उन्होंने यह त्याग किया जो तेरापंथ के दो सौ वर्षों में एक नवीन इतिवृत्त है।

कई मुनि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि उन्हें कहीं भी, कभी भी, किसी की भी सेवा में नियुक्त कर देने पर वे उसकी मनाही नहीं करेंगे व ग्लान व्यक्ति की सेवा करते-करते अपना जीवन सहर्ष पूरा कर देंगे। उनमें से कुछ एक के नाम हैं—मुनि श्री बनेचन्दजी, मुनि श्री शिवराजजी, मुनि श्री अमृतमलजी, मुनि श्री हीरालालजी, मुनि श्री भवानजी, मुनि श्री छोगसीजी आदि-आदि।

साधु-समाज की तरह साध्वी समाज भी सेवा-भावना में बेजोड़ है। विगत दो सौ वर्षों में रुग्ण साध्वियों की परिचर्या में जो कुछ उसने बलिदान किया है, वह समय-समय पर मूर्त बनता जा रहा है। साधुओं की अपेक्षा साध्वी समाज बड़ा है। अतः रुग्ण आदि की संख्या उसमें अधिक है। परन्तु जिस तन्मयता और आत्मीयता से सेवा हुई है और आज भी हो रही है वह अन्यान्य सेवाभावी संस्थाओं में अलब्धपूर्व है। एक रुग्ण साध्वी की परिचर्या के लिए १०-२०-५० साध्वियाँ भी तत्पर रहती हैं। यह कोई कम बात नहीं है।

सेवा भावी साध्वियों में साध्वी श्री सोहनां जी, साध्वी श्री संतोका जी, साध्वी श्री भत्तूजी आदि का नाम उल्लेखनीय है।

दूसरे की रक्षा के लिए स्वयं को मृत्यु के मुख में डाल देना अपार आत्मबल का सूचक है। स्वयं के उत्सर्ग की भावना

तब पनपती है जब व्यक्ति उसी उत्सर्ग में अपने लक्ष्य के दर्शन करता है। तेरापंथ समाज के मुनियों के आत्म उत्सर्ग की भावना के वृत्तान्त से गढ़ा गया है और आज भी यह भावना उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

वि० सं० १८८४ की घटना है। तेरापंथ के तृतीय आचार्य श्री ऋषि रायचन्द जी मलावा पधार रहे थे। मुनि जीतमलजी (श्रीमज्जयाचार्य) साथ थे। वे भाबुआ की सघन झाड़ियों से होकर गुजर रहे थे। मुनि जीतमलजी ने एक रीछ को ऋषि रायचन्दजी की ओर आते देखा। वे लपक कर ऋषि राय के आगे हो गए और गुरुदेव को अपनी आड़ में रखते हुए निडरता से आगे चलते रहे। संयोगवश रीछ ने अपना मार्ग बदल दिया और वह धीरे-धीरे झाड़ियों में अदृश्य हो गया।

मेरे जीवन में भी ऐसे कई प्रसंग आए हैं, जिनमें मैंने अपने आपको खतरे में डालकर आचार्य श्री को चोट आने से बचा लिया है। अभी-अभी कानपुर में भी ऐसी ही एक घटना हुई थी जिसमें गाय ने मुझे काफी चोट भी पहुँचाई। फिर भी मुझे प्रसन्नता थी कि मैंने अपना कर्तव्य सतर्कता से निभाया है। इसी प्रकार जोधपुर, चुरू आदि में भी ऐसा मौका मिला था और मैं स्वयं कर्तव्यपालन से प्रसन्न था।

उपर्युक्त विवरण में मैंने 'सेवा' के विविध रूपों की चर्चा की है। वह इसलिये कि केवल शारीरिक सुख पहुँचाना ही सेवा नहीं, उसके अतिरिक्त कार्य भी सेवा में आ जाते हैं। अनेक प्रवाहों में बहती हुई सेवा-भावना अन्ततः आत्मतुष्टि के महा-समुद्र में जा मिलती है, जहाँ साधक को आनन्द ही आनन्द दीखता है।

तेरापंथ की तपस्वी परम्परा में सेवाभावी साधु-साध्वियों ने शासन के वृक्ष को जितना सींचा है, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब आज के तेरापंथ के प्रगतिशील चरणों में प्रतिभासित होता है। आज भी अनेक साधु-साध्वी अपनी सेवा-भावना से शासन की प्रभावना कर रहे हैं। उनके इस सत्कार्य के लिए शासन उनका शतशः अभिवादन करता है।

तेरापंथ में संस्कृत विद्या का विकास

(मुनि श्री चन्दनमलजी)

किसी भी नव्य वस्तु को समाज में लाना, सुस्थिर बनाना और उसे फैलाना आसान नहीं है ; क्योंकि वहाँ न तो उसके अनुकूल वातावरण ही होता है और न समुचित साधन ही। प्राथमिक प्रयास प्रायः विफल सा दिखाई देने लगता है। वहाँ यदि मनुष्य हताश हो जाए तो वह प्रयास प्रयास मात्र ही रह जाता है। महापुरुष उन्हीं को कहा जाता है जो विघ्नों के थपेड़ों से कभी नहीं घबराते और अपने संकल्प में आगे बढ़ते जाते हैं। भिक्षु शासन में संस्कृत विद्या का विकास इसी ओर संकेत करता है। महामहिम श्री भिक्षु स्वामी जिस समाज से पृथक् हुए थे, उस समाज में उस समय संस्कृत विद्या का नाम भी नहीं था। अतः स्वामीजी को इस विद्या की आनुवंशिक प्राप्ति नहीं हुई और न तो आगम ज्ञान का अगाध पाण्डित्य रखते हुए वे भविष्य में इस विद्या को अपना ही सके; क्योंकि उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग संघर्ष में ही बीता था। द्वितीय पदाधिकारी भारमलजी स्वामी को भी इस विद्या की प्राप्ति का सुअवसर नहीं मिला।

संस्कृत विद्या का बीजारोपण

तृतीय आचार्य श्री रायचन्दजी स्वामी के शासन काल में भावी आचार्य श्री जीतमलजी स्वामी ने संस्कृत विद्या का बीजारोपण किया। उन दिनों आप श्री हेमराजजी स्वामी के साथ रहते हुए शास्त्रों का गंभीर अध्ययन कर रहे थे। आप की कुशाग्र मेधा आगमामृत का पान करती हुई तृप्ति का अनुभव करती थी। फिर भी शब्दों की व्युत्पत्ति अथवा उसका अर्थ समझने की अभिलाषा लगी ही रहती थी। आपने यह निःसन्देह जान लिया था कि आगमगत सूक्ष्म विचारों का पौर्वा-पर्य संबंध जोड़ने तथा तत्कालीन आचार्यों की मान्यताओं को जानने के लिए टीका, वृत्ति, दीपिका, चूर्णि, भाष्य आदि का सम्यक् अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यह संस्कृत और प्राकृत बोध के बिना होना असम्भव है। अतः इसकी प्राप्ति का यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिए।

प्रयत्न करने पर भी उस समय उचित योग का मिलना आसान नहीं था। वैतनिक पंडितों से पढ़ना जैनागम निषिद्ध है। अतः भक्तिपूर्वक विद्या-दान देनेवाले संस्कृतज्ञ का योग मिलने से ही काम बन सकता था।

वि० सं० १८८१ में श्री हेमराजजी स्वामी का चातुर्मास जयपुर में था। उस समय जयाचार्य २१ वर्ष के एक युवक साधु थे। चाह को राह मिलती है। इस जनोक्ति के अनुसार उन्हें वहाँ एक जैन श्रावक के लड़के का सुयोग मिला। वह उन दिनों संस्कृत पढ़ रहा था। वह कभी-कभी आपकी सेवा में भी आया करता था। एक दिन किसी बात के प्रसंग में उसने अपने संस्कृत पढ़ने का जिक्र किया। अवसरज्ञ जयाचार्य ने उससे कहा—प्रतिदिन तुम जितना पाठ पढ़ते हो उतना रात को मुझे सुना दिया करो। इससे तुम्हारा अध्ययन परिपक्व हो जायगा और मुझे भी देववाणी का परिचय प्राप्त करने का अवसर मिल जायगा। उसने स्वीकार करते हुए कहा—भगवन् ! यह तो मेरे लिए बड़े सौभाग्य की बात है। एक तो मुझे आपकी सेवा का लाभ मिलेगा, दूसरे जिस साधनिका को दोहराने में आलस्य किया करता हूँ वह आपके संयोग से सुचारु रूप में दोहराई जायगी। बस यह क्रम चलने लगा। रात को वह आपकी सेवा में आता और दिन में की हुई साधना यथा स्मृति सुनाने का प्रयत्न करता। आप दिन में व्याकरण पाठ कण्ठस्थ कर लेते और रात को उसकी साधनिका को बड़ी तत्परता से सुनते।

व्याकरण का पढ़ाना कोई साधारण बात नहीं है। बड़े-बड़े पंडित भी इसमें चक्कर खा जाते हैं। उसमें भी संस्कृत की प्रथम कक्षा का छात्र ! भला वह क्या व्याकरण की साधनिका करवाये। उससे आपकी जिज्ञासा शान्त नहीं होती थी। आप उसे जहाँ कहीं गंभीरता से पूछते—वहाँ वह 'पंडितजी ने तो ऐसा ही कहा था' कहकर चुप हो जाता। कभी-कभी तो वह स्वयं भी इतना उलझ जाता कि अगले दिन पूछ कर बतलाने के लिए कहता। फिर भी आप 'कुछ नहीं' से तो 'कुछ' अच्छा ही होता है, ऐसा मान कर ही अपना अध्ययन चालू रखते। कभी-कभी सही भावार्थ समझ में नहीं आने से आप स्वयं अपनी

बुद्धि से कुछ दूसरा अर्थ बतलाते। वह छात्र आपकी मेधा पर आश्चर्यचकित होकर तत्काल कहता—हाँ मुनिजी, मैं भूल गया। आप जो कहते हैं यही सही अर्थ है। गुरुजी ने ऐसा ही समझाया था। अब मुझे स्मरण आ रहा है।

इस भाँति आपने संस्कृत भाषा ज्ञानोदधि में चंचु प्रवेश किया। पंच सन्धि, षट्लिङ् आदि के अध्ययन के साथ ही आपने साधना सहित राजस्थानी भाषा में उसके दोहे भी बना दिये। * यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि आप अपने सतत प्रयास और प्रतिभा के द्वारा निर्युक्ति, टीका, चूर्णि, भाष्यादि का तात्पर्यार्थ समझने में अच्छे समर्थ हो गए।

आपने अपने अनेक ग्रन्थों में सूक्ष्म विषयों का विवेचन करते हुए तद्विषयक अन्यान्य संस्कृत ग्रंथों के उद्धरण दिये हैं। उनका पारायण करने वाला व्यक्ति स्थान-स्थान पर ऐसा वाक्य पायेगा कि इस विषय में टीकाकार का यह मत है, चूर्णि व भाष्यकार ऐसे प्रतिपादित करते हैं, संघपट्टक में जिन वल्लभ सूरि यों फरमाते हैं आदि। इस तरह आपकी सूक्ष्म ग्रहण शक्ति का स्वतः परिचय मिल जाता है। इतना होने पर भी हमें मानना पड़ेगा कि वह भिक्षु शासन में संस्कृत विद्या के बीज-वपन का ही समय था।

संस्कृत भाषा के प्रथम विद्वान्

पंचम आचार्य श्री मघवागणी को गुरु-परम्परा से संस्कृत विद्या का लाभ मिला। आप बाल्यकाल से ही जयाचार्य के द्वारा आगम ज्ञान के साथ संस्कृत अध्ययन में अग्रसर किये गये थे। आपकी बुद्धि बहुत ही तीक्ष्ण थी। सीखने के बाद भूलना तो मानो आप जानते ही नहीं थे। सारस्वत का पूर्वार्ध तथा चन्द्रिका का उत्तरार्ध आपने कंठस्थ किया था। इसके अतिरिक्त चान्द्र और जैनेन्द्र व्याकरणों का भी आपने सांगोपांग अध्ययन किया था। शिशुपाल वध, किरातार्जुनीय, भट्टी काव्य, दुर्घट, यशस्तिलक (चम्पू), अभिज्ञान शाकुंतलम् आदि काव्य ग्रंथों तथा समाधितन्त्र, विदग्ध मुखमण्डल, न्याय दीपिका, योगशास्त्र आदि शास्त्रों की अनेक टीकाओं का आपने गहन अनुशीलन, अध्ययन व मनन किया था।

प्रातःकालीन शास्त्र व्याख्यान के साथ आप भरत बाहुबलि आदि महाकाव्य भी फरमाया करते थे। आपकी व्याख्या के साथ वे काव्य इतने रुचिकर प्रतीत होते थे कि सुननेवाले श्रोताजन मंत्रमुग्ध हो जाया करते थे। बड़े-बड़े पंडित भी आपकी असाधारण विद्वत्ता के समक्ष नत मस्तक हो जाते थे। इस तरह आचार्य मघवागणी को तेरापंथ शासन में संस्कृत का प्रथम विद्वान् माना जाता है।

संस्कृत विद्या शास्त्रीय ज्ञान की कुंजी है

परमाराध्य अष्टमाचार्य श्री कालू गुरुदेवजी की दीक्षा भी मघवागणी के द्वारा सम्पन्न हुई थी। उस समय आपकी अवस्था लगभग साढ़े दस वर्ष की थी। होनहार लघु शिष्य पर मघवागणी की असाधारण कृपा थी। आपने दशवैकालिक आदि शास्त्रों को कण्ठस्थ कराने के साथ-साथ उन्हें व्याकरण पढ़ाना भी प्रारंभ कर दिया था। आप समय-समय पर अपनी शिष्य मंडली को शिक्षामृत पिलाते हुए फरमाते—शिष्यो ! संस्कृत विद्या शास्त्रीय बोध के लिए एक चाबी है। जिस प्रकार हथौड़े से भी कठिनता से खुलनेवाले ताले चाबी से क्षण भर में खुल जाते हैं, उसी प्रकार ऋषि-महर्षियों के विचार रत्न इस विद्या के द्वारा अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

बीज बीज रूप में रहे पर नष्ट नहीं हुए

यद्यपि कालूगणी की संस्कृत विद्या का प्रारम्भ बाल्यकाल में ही हो चुका था फिर भी मघवागणी के शीघ्र ही दिवंगत हो जाने के कारण उन्हें गुरुचरण की सेवा का लाभ स्वल्प ही मिल पाया। इसलिये बोये हुए संस्कृत विद्या के बीज फलित नहीं हो सके, क्योंकि जल, आतप व हवा आदि सहकारी कारणों के बिना बीज श्रेष्ठ होते हुए भी फलित नहीं हो सकते—यह निर्विवाद सिद्ध है। फिर भी क्षेत्र अत्यधिक उर्वर होने के कारण वे बीज बीज रूप में सुरक्षित रहे, नष्ट नहीं हुए।

षष्ठाचार्य श्री माणकगणी भी सारस्वत चन्द्रिका के पाठी थे। किन्तु उन्होंने आचार्य पद साढ़े चार वर्ष ही संभाला। उसमें भी आपका देश-विदेशों में पर्यटन बहुत हुआ। अतः उस समय का लाभ भी कालूगणी को नहीं मिल सका। इस भाँति चिर काल तक अध्ययन का संयोग न मिलने से बाल्यकालिक अभ्यास विस्मृतप्राय हो गया।

सुषुप्त वृत्तियाँ जाग उठीं

सप्तमाचार्य श्री डालगणी वि० सं० १९६० में बीदासर विराजते थे। वहाँ के ठाकुर हुकुमसिंहजी संस्कृत के विद्वान तो नहीं थे पर वे संस्कृत भाषा से अच्छा प्रेम रखते थे। उन्होंने एक संस्कृत श्लोक जो पूरा शुद्ध नहीं था लिखकर डालगणी

के पास भेजा और उसका अर्थ जानना चाहा। डालगणी ने उसे संस्कृत अध्येता सन्तों को दिया। सभी ने उसका अर्थ जानने का प्रयत्न किया। वह समझ में न आ सका। कालूगणी को संस्कृत विद्याभ्यास की यह कमजोरी बहुत अखरी। उनकी दीर्घकाल से मूर्च्छित व सुषुप्त वृत्तियाँ जाग उठीं और उन्होंने निश्चय किया कि अब मुझे इसका अधिकार पूर्ण अध्ययन करना चाहिए। छिटपुट विद्या किसी भी काम की नहीं है। तभी आपने इस पावन अन्तःप्रेरणा से प्रेरित होकर सारस्वत का पूर्वार्ध कण्ठस्थ करना शुरू कर दिया।

पंडित घनश्याम दास का सुयोग

उसी वर्ष डालगणी वहाँ से विहार करते हुए चूरू पधारे। वहाँ बगड़ निवासी पं० घनश्याम दासजी ने रिद्धकरणजी व रामचन्दजी सुराणा की प्रेरणा से डालगणी के दर्शन किए। वे कालूगणी से भी परिचित हुए और बहुधा उनके पास उठ बैठ करने लगे। संस्कृत विद्याभ्यास की आपकी अभिलाषा का जब उन्हें पता चला तो उन्होंने अपनी अवैतनिक सेवा देने का वचन दिया और वे बड़ी भक्ति के साथ उन्हें व्याकरण पढ़ाने लगे।

इस बात का जब कुछ ईर्ष्यालु पंडितों को पता चला तो उन्होंने बहुत विरोध किया। उन्होंने कहा, "यह तुम क्या करते हो, साँपों को दूध क्यों पिलाते हो"। पर वे इस प्रकार के बहकाव में नहीं आये।

मैं मुख-पट्टी भी बाँध लूंगा

स्वपक्ष वाले भी कुछ लोग जब "ये तो खुले मुंह बोलते हुए पढ़ाते हैं। इनसे पढ़ना नहीं चाहिए"—ऐसी शंकाएँ करने लगे तब पंडिजी ने कहा, "मैं मुंह पट्टी भी बाँध लूंगा, पर पढ़ाना नहीं छोड़ूंगा"। इतनी तत्परता के साथ उन्होंने चूरू चातुर्मास में सेवा की और यह अध्यापन क्रम अविच्छिन्न चलता रहा। चातुर्मास के बाद भी यथासमय चूरू वालों के साथ अविछिन्न सेवा में आते रहते। इधर आप अपना पाठ कण्ठस्थ करके रखते। ऐसे आपने सारस्वत और चन्द्रिका का अध्ययन किया।

वि० सं० १९६४ के बीदासर चातुर्मास में आपने कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा विरचित अभिधान चिंतामणि (हेमकोश) को कण्ठस्थ किया। इसमें करीब डेढ़ हजार पद हैं और यह जैन परम्परा का एक विशिष्ट कोश है। इसका सर्वप्रथम तेरापंथ में आपने ही श्रीगणेश किया। इससे पहले प्रायः अमरकोश का ही प्रचलन था।

वि० सं० १९६६ में आप आचार्य पद पर आसीन हुए। समूचे तेरापंथ शासन का उत्तरदायित्व आपके कंधों पर आया। फिर भी आपने विद्याध्ययन को गौण नहीं किया। अनेक जिम्मेदारियों को निभाते हुए भी आप एक विद्यार्थी बालक की तरह एकान्त में बैठ कर घंटों पाठ याद करते रहते। आचार्य होने के बाद भी आपने अनेक संस्कृत ग्रंथों को मुखाग्र किया था।

सूखा वृक्ष हरा-भरा बना

एक बार आपने एक स्वप्न में देखा कि एक सूखे वृक्ष में टहनियाँ फूटने लगीं और देखते-देखते ही पत्र पुष्पों और फूलों से वह सुशोभित हो उठा। जब आप जाग्रत हुए तो उस स्वप्न का यह अर्थ लगाया कि जिस विद्या वृक्ष का जयाचार्य ने बीज बोया था वह मघवागणी के समय में एक छोटे वृक्ष के रूप में पनप गया; किन्तु सहकारी कारणों के अभाव से इस मध्यकाल में वह सूख गया था। वह फिर हरा-भरा होगा। आपने अनुमान लगाया कि अब संस्कृत भाषा का विशेष रूप से प्रचार होना चाहिये। तभी से आपने अपने शिष्य समुदाय में विशेष रूप से संस्कृत अध्यापन का प्रसार करना शुरू किया। आप स्वयं शिष्यों को साधनिका करवाते। संयोग मिलने पर कभी-कभी पं० घनश्याम दासजी भी साधुओं को पढ़ाते।

बढ़ते हुए चरण

ज्यों-ज्यों आपका व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान बढ़ने लगा, त्यों-त्यों सारस्वत, चन्द्रिका के कतिपय स्थल अपूर्ण प्रतीत होने लगे। किसी बड़े व्याकरण के लिए आपका मन लालायित रहने लगा। अनायास किसी प्राचीन यति-भांडार से एक व्याकरण की प्रति हाथ लगी। इसका नाम सारकौमुदी था, जिसे किसी प्राचीन जैनाचार्य ने प्रक्रिया रूप में बनाई थी। उसे देखकर आपको काफी संतोष मिला। उसकी प्रतिलिपि करवाकर आप उसका ध्यानपूर्वक अध्ययन करने लगे। कभी-कभी उसके कुछ सूत्र आप हाथ से अलग लिखकर सिद्धान्त चन्द्रिका के समास आदि कुछ अपूर्ण स्थलों की पूर्ति भी करते रहते।

एक रोज आपने इसी अध्ययन प्रसंग में फरमाया कि यदि सार-कौमुदी की अष्टाध्यायी मिल जाए तो कितना अच्छा हो, क्योंकि पाणिनीय की तरह अष्टाध्यायी क्रम से यदि इसका अध्ययन किया जाए तो बहुत सुन्दर विकास हो सकता है।

श्री कालूगणी ऐसे भाग्यशाली व सिद्ध हुए सन्त थे कि उनका संकल्प संकल्प रूप में न रह कर तत्काल मूर्त रूप धारण कर लेता था। ऐसे अनेक अनुभव हैं।

विशाल शब्दानुशासन की प्राप्ति

भादरा के रावतमल जी पारख के पास यतियों की कुछ प्राचीन पुस्तकें थीं। चम्पालालजी स्वामी (राजनगरवाले) वहाँ देखने गये तो विशाल कीर्तिगणी विरचित विशाल शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) उनकी नजर में आया। आपने सोचा कि यह कहीं वही ग्रन्थ तो नहीं है जिसके लिए आचार्य श्री ने फरमाया था। आपने उस प्रति को लाकर गुरुदेव को भेंट की। गुरुदेव उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने फरमाया कि जिस चीज की आवश्यकता थी वह मिल गई। वे उसका बड़ी तल्लीनता से अध्ययन करने लगे। पर कहीं-कहीं तात्पर्यार्थ की गहराई तक पहुँचने में कुछ कठिनता प्रतीत होने लगी।

पंडित रघुनन्दनजी का आगमन

वि० सं० १९७८ में सरदारशहर चातुर्मास करने के पश्चात् कालूगणी चूरू पधारे। एक रोज वहाँ के संस्कृत प्रेमी यति रावतमलजी जो तेरापंथ शासन से बड़ा संपर्क रखते थे आपकी सेवा में आये और विनती करने लगे—आचार्य प्रवर आजकल यहाँ अलीगढ़ के पास के सुरामई गाँव में रहनेवाले एक पं० रघुनन्दनजी आये हुए हैं। वे आयुर्वेद के आचार्य हैं और व्याकरण के शास्त्री भी हैं। उनकी कवित्व शक्ति तो इतनी अद्भुत है कि वे एक दिन में ५०० श्लोकों की रचना विविध छन्दों में कर सकते हैं। उनकी अप्रतिम काव्य प्रतिभा से प्रसन्न होकर विद्वत् धुरंधरों ने उन्हें आशुकवि रत्न की उपाधि से विभूषित किया है। वैसे तो वे युवक ही हैं पर विद्या से प्रौढ़ हैं।

इन सब विशेषताओं को सुनकर कालूगणी ने फरमाया—यतिजी, आप जो इतनी प्रशंसा करते हैं वह ठीक है; क्योंकि आपने वैसा ही अनुभव किया होगा। पर आप कहीं केवल बाह्य उपाधियों को सुनकर ही तो प्रसन्न नहीं हुए हैं; क्योंकि आजकल संसार में उपाधियां व डिगरियाँ बहुत हैं पर वास्तविकता कम है। एक दिन में पाँच सौ श्लोकों को बनाना साधारण बात नहीं है। मुस्कराते हुए यति जी ने कहा—भगवन्! मैंने तो कहीं गुरुदेव मेरी बात को अतिशयोक्ति नहीं मान लें इस संकोचवश पांच सौ श्लोकों की ही बात कही है। वे तो एक दिन में १००० श्लोक बना सकते हैं। विशेष क्या कहूँ, वे श्लोक बोलते जायेंगे, लिखने वाले की कलम नहीं रुक सकेगी। यह निर्णीत सत्य है। यदि अवसर मिला तो श्री चरणों में उन्हें लाऊँगा और आपको इस तथ्य का प्रत्यक्षतः विश्वास दिलाऊँगा।

यतिजी पं० रघुनन्दनजी के पास आये और कहने लगे—पंडितजी, यहाँ जैन धर्मान्तर्गत तेरापंथ शाखा के अष्टमाधिनायक श्री कालूरामजी महाराज पधारे हुए हैं। वे स्वयं संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान हैं और संस्कृतज्ञों की बड़ी कद्र करनेवाले हैं। यदि आपकी इच्छा हो तो उनके दर्शन के लिए चलिए तथा अपनी विशिष्ट प्रतिभा से उन्हें अवगत कराइये। ऐसा सुनकर पंडितजीने कहा—आप मुझे कहाँ ले जा रहे हैं, उनके विषय में तो मैंने बहुत कुछ सुना है। लेकिन वे दान-दया को नहीं मानते। किसी गरीब की सेवा के लिए वे निषेध करते हैं। कूप-तड़ाग आदि बनाने में अवरोध करते हैं, ब्राह्मणों को जिमाने में पाप मानते हैं और गये हुए विद्वान का अपमान करते हैं आदि-आदि। भ्रांतियों का निवारण करते हुए पुनः यतिजी ने कहा—पण्डितजी! ये सब विरोधियों की फैलाई हुई भ्रांतियाँ हैं जो वास्तविकता से कोसों दूर हैं। सत्य क्या है, उसका निर्णय आप स्वयं वहाँ जाकर करिए। मेरा ऐसा दृढ़ विश्वास है कि परस्पर वार्तालाप से आपकी ये भ्रांत धारणाएँ तत्काल नष्ट हो जावेंगी। श्री कालूगणी महाराज बड़े प्रभावशाली आचार्य हैं। उनका निखरा हुआ व्यक्तित्व है, उनकी आँखों में अमृत है और उनकी वाणी हृदयग्राहिणी है। मेरे कहने से आप एक बार उनके दर्शन अवश्य करिये।

ऐसे बहुत समझाने से पं० रघुनन्दनजी यतिजी के साथ आचार्य श्री के दर्शनार्थ गये। वे गुरुदेव की शान्त मुद्रा, आँखों में सात्त्विक स्नेह तथा ललाट पर ब्रह्मचर्य का ओज देख कर बहुत प्रभावित हुए। उनका मस्तक तत्काल झुक गया और वे बद्धांजलि हो गुरुवर्य के सम्मुख बैठ गये।

प्रसन्न मुद्रा में देववाणी में आचार्य श्री ने पूछा—किमभिधानं? कुत्रत्या भवन्तः? कथमत्र समागमनं जातं? कस्मिन् विषये भवतां प्रभुत्वपूर्णमध्ययनम्? वार्तालाप इतना सौहार्दपूर्ण और तात्त्विक हुआ कि वे एक दूसरे का अन्तरंग परखने में पूर्णतः समर्थ हुए। आचार्य श्री ने पण्डितजी में असाधारण विद्वत्ता पाई। विद्वत्ता के साथ प्रायः न मिलनेवाली निरभिमानता और सरलता भी देखी। बहुरत्ना वसुन्धरा की उक्ति यथार्थ प्रतीत हुई।

पंडितजी तो आचार्य चरण में वार्तालाप करके मंत्रमुग्ध से हो गये। भ्रांत धारणाओं का यथार्थ समाधान पाकर विरोधियों की बुद्धि पर वे तरस खाने लगे। घण्टों लम्बे इस प्रसंग में उन्हें सन्तों के आहार-विहार, रहन-सहन, पठन-मनन आदि क्रिया कलापों का सही ज्ञान प्राप्त हुआ। वहाँ से जाकर उन्होंने तत्काल एक साधुशतक नाम का काव्य तीन घंटों में तैयार किया (आरंभोऽस्य तथा पूर्ति जाता घण्टा त्रयेण हि)।

दूसरे दिन उस काव्य को लेकर यतिजी के साथ फिर पण्डितजी आचार्यश्री की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने वह नव निर्मित साधुशतक काव्य आचार्य श्री के सम्मुख सभी को सुनाया। इसमें साधुओं की जीवनचर्या का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया था। इस प्रकार पं० रघुनन्दनजी आचार्य श्री के सम्पर्क में आए। सम्पर्क इतना गाढ़ा हुआ कि गुरुवर्य को वे अपनी सेवा देने को भी तत्पर हुए। अपना आयुर्वेदिक कार्य करते हुए वे एक श्रद्धालु की भांति यथासमय सन्तों को विद्या पढ़ाने लगे। आचार्य श्री की सेवा से पंडितजी का श्रावक समाज में भी अनायास परिचय बढ़ गया। उनके हाथों से ऐसे-ऐसे असाध्य इलाज भी साध्य बने कि उनका सुयश सारे समाज में फैल गया और वे माने हुए वैद्यों की गणना में आ गये।

भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण

मुनि श्री भीमराजजी, सोहनलालजी स्वामी (चूरू), कानमलजी स्वामी और नथमलजी (बागोर) ने पंडितजी के पास हेमशब्दानुशासन व बृहत्वृत्ति का अध्ययन शुरू किया। इधर मुनि श्री चौथमलजी, संगतमलजी और श्री मांगीलालजी आदि कई सन्तों ने विशाल शब्दानुशासन का अध्ययन प्रारंभ किया। हेमशब्दानुशासन के अपने आपमें परिपूर्ण व सांगोपांग होने के कारण उसका अध्ययन अस्खलित रूप में होने लगा। परन्तु विशाल शब्दानुशासन अष्टाध्यायी के रूप में ही था। उसकी लघुवृत्ति व बृहत्वृत्ति आदि कुछ भी नहीं थी। केवल सार कौमुदी नाम की एक प्रक्रिया थी। अतः पढ़ने व पढ़ाने में काफी कठिनाई प्रतीत होने लगी। एक दिन इसी प्रसंग में वार्तालाप करते हुए आचार्य श्री ने फरमाया—कितना अच्छा हो अगर इसकी बृहत्वृत्ति बन जाये। फिर क्या था, पं० रघुनन्दनजी इस महान् कार्य को करने के लिए कृत संकल्प हो गए। मुनि श्री चौथमल जी गणपति की तरह उनका लेखन करने को तत्पर हो गये। वि० सं० १९८१ के चूरू चातुर्मास में इस महान कार्य का श्रीगणेश हुआ। पंडितजी सिद्धान्त कौमुदी, पाणिनीय अष्टाध्यायी, सार कौमुदी, सारस्वत, सिद्धान्त चन्द्रिका और हेमशब्दानुशासन आदि अनेक वृत्तियों पर ध्यान देते हुए वृत्ति तैयार कर बोलते और श्री चौथमलजी स्वामी उसे स्पष्ट अक्षरों में लिखते जाते। यह कार्य रोजाना आठ-आठ घण्टे तक चलता।

आचार्य श्री की इच्छा ऐसी थी कि सूत्रों का क्रम सारस्वत व चन्द्रिका की तरह सरल रखा जाय। पर व्याकरण में न्यूनता कहीं न रह पाये अतः सवृत्तिक सूत्र तैयार होने लगे। श्री चौथमलजी स्वामी के लिखे हुए कच्चे खसड़े को श्री सवतमलजी स्याही से लिखते रहते। और उससे फिर पढ़ानेवालों का पाठ चलता, लेकिन पढ़ाते समय कई शंकाएँ उत्पन्न होतीं। उससे सूत्र और वृत्ति में फिर कुछ परिवर्तन अपेक्षित हो जाता। इसी प्रकार वर्षों तक यह कार्य चलता रहा। वे तो चौथमलजी स्वामी ही ऐसे स्थिराशयवाले कर्मठ साधु थे जो इस महान् कार्य को अविछिन्न गति से करते रहे। अन्यथा उस नीरस कार्य से ऊब जाना तो एक साधारण सी बात थी। पंडितजी तो केवल लिखानेवाले ही थे। बाकी सब भार श्री चौथमलजी स्वामी पर ही था। कौन-सा सूत्र कहाँ पर आया है, इस सूत्र में परिवर्तन होने से कितने सूत्रों में कहाँ-कहाँ परिवर्तन करना होगा आदि कार्य बिना आलस्य के आप अनवरत करते रहे। कहना जितना सहज होता है उतना करना नहीं। कहने में केवल जीभ हिलती है; किन्तु करने में अथक परिश्रम करना पड़ता है। कार्य कैसे किया जाता है यह करनेवाला ही जानता है। हैमी और विशाल का जो पाठ दिन में पढ़ाया जाता रात्रि के समय आचार्य श्री स्वयं उसका श्रवण करते। विविध प्रकार की व्याकरण संबंधी गंभीर शंकाएँ उठाई जातीं; क्योंकि व्याकरण सम्बन्धी ज्ञान गुरुवर्य का बहुत विशद था। कारण, आप घिस-घिस कर महादेव बने थे। साथ-साथ संस्कृत भाषा बोलने का भी प्रयास चलता। एक ही विषय पर वादी और प्रतिवादी के रूप में वार्तालाप चलाया जाता और उससे बड़ा ही हृदयग्राही वातावरण बन जाता। ऐसे संस्कृत भाषा बोलने का अभ्यास बढ़ने लगा। कुछ संत संस्कृत में कविताएँ भी करने लगे। सर्वप्रथम मुनि श्री सोहनलालजी (चूरूवाले) ने श्री मानतुङ्गाचार्य रचित आदिनाथ स्तोत्र भक्तामर की समस्या पूर्ति रूप उसका चौथा चरण लेकर कालूगणी की स्तुतिमय कालूभक्तामर की रचना की, जो संस्कृत भाषा की सफलता में विशेष महत्त्व रखती थी। फिर बाद में मुनि श्री कानमलजी ने उसी का द्वितीय चरण लेकर समस्यापूर्ति करते हुए कालूभक्तामर की रचना की। ऐसे संस्कृत के साहित्य में क्षेत्र का भी विकास होने लगा।

इधर बृहत्वृत्ति का कार्य करते हुए मुनि श्री चौथमलजी स्वयं व्याकरण के विषय में प्रकाण्ड पण्डित हो गये थे; क्योंकि कार्य ही कार्य को सिखलाता है। पं० रघुनन्दनजी की महीनों लम्बी अनुपस्थिति में भी आपका कार्य चलता रहता। वर्तमान आचार्य श्री तुलसीगणी, मुनिश्री धनराजजी और मैं (चन्दन मुनि) मुनिश्री चौथमलजी के पास बृहत्वृत्ति पढ़ने लगे। तब फिर नई-नई अनेक शंकाएँ उत्पन्न होती रहतीं। फिर सूत्रों और वृत्तियों में परिवर्तन करना पड़ता। परिणाम यह हुआ कि विशाल शब्दानुशासन के मूल सूत्र प्रायः परिवर्तित से हो गये। तब नाम भी परिवर्तित करना उचित समझा गया। विशाल शब्दानुशासन की जगह उसका नाम परमाराध्य श्री भिक्षु स्वामी के नाम पर 'भिक्षु शब्दानुशासन' रखा गया। उसके कर्ता श्री चौथमलजी स्वामी के अक्षुण्ण परिश्रम का ही यह परिणाम था। सच कहा जाये तो वे इसी कार्य में युवा से वृद्ध हो गये थे। उनकी आँखें और घुटने इसी कार्य में कमजोर पड़ गये थे। बृहवृत्ति के कर्ता तो पंडितजी थे ही, पर उसमें भी मुनि श्री चौथमलजी स्वामी का पूरा हाथ था।

इधर पढ़नेवाला शिष्य समुदाय बहुत बढ़ चुका था। उसके प्राथमिक ज्ञान के लिए भिक्षु शब्दानुशासन की प्रक्रिया की कमी बहुत अखरने लगी। अतः इसकी पूर्ति के लिये भी चौथमलजी स्वामी ने अपने परमोपकारी श्री कालूरामाचार्य के नाम से कालू कौमुदी नाम की प्रक्रिया बनाई। यद्यपि व्याकरण का विषय बहुत जटिल होता है फिर भी प्राचीन व्याकरणों की अपेक्षा यह प्रक्रिया बहुत सरल और सुबोध बनी है यह निःसंकोच कहा जा सकता है।

इसे (कालूकौमुदी) सर्वप्रथम मुनि श्री नथमलजी, श्री बुद्धमलजी, श्री पूनमचन्दजी (गंगाशहरवाले) आदि छोटे सन्त कण्ठस्थ करने लगे। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी बहुत बढ़ने लगीं। कालूगणी की देख-रेख में कालूकौमुदी के अध्ययन कराने का कार्य श्रीतुलसीरामजी (वर्तमानाचार्य) सम्भालने लग गये थे।

पाँच कालू कल्याण मंदिर बने

वि० सं० १९८० में मुनि श्री नथमलजी स्वामी (बागोरवाले) ने श्री सिद्धसेन दिवाकर रचित पार्श्वनाथ स्तोत्र कल्याण मंदिर की समस्या पूर्ति रूप द्वितीय और चतुर्थ चरण लेकर दो कालूकल्याण मन्दिर बनाये। ऐसे ही पृथक्-पृथक् चरण लेकर एक श्री धनराजराजी स्वामी ने, एक मैंने (चन्दन मुनि) और एक श्री तुलसीरामजी (वर्तमान आचार्य) ने बनाये। शीतकाल में जब हम सब बीदासर में आचार्य श्री की सेवा में अपना-अपना काव्य क्रमशः सुनाने लगे तब वयोवृद्ध मंत्री मुनि श्री मगनलालजी स्वामी ने एक साथ पाँच समस्या पूर्ति के श्लोकों को सुनकर फरमाया—गुरुदेव ! एक वह समय था जब एक सामान्य संस्कृत श्लोक का सही अर्थ समझनेवाला भी इस समाज में कोई साधु नहीं था और एक आपके अमोघ परिश्रम का आज यह सुपरिणाम है कि एक साथ पाँच-पाँच समस्या पूर्ति रूप सुन्दर काव्य बन रहे हैं।

अभी न्याय का अध्ययन बाकी है

तब श्री गुरुदेव ने फरमाया—अभी एक व्याकरण की दिशा में अपने को सफलता मिली है। तर्कशास्त्र (न्याय) की दिशा में अभी बहुत कुछ करना है। उसके बिना शास्त्रों की टीका को समझने में काफी कठिनता होती है। अतः उसका अध्ययन भी परमावश्यक है।

किस अध्ययन के लिए कौन-कौन सा ग्रंथ परमावश्यक है इसके सुझाव में आप (कालूगणी) बड़े कुशल थे। अतः आपने अपने अध्ययनशील शिष्यों को न्याय का अध्ययन कराने के लिए आचार्य हरिप्रभ द्वारा विरचित षड्दर्शन समुच्चय, श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा विरचित अन्य योग व्यवच्छेदिका और वादि देव सूरि विरचित प्रमाणनय, तत्त्वालोकालंकार आदि ग्रंथ रत्न तथा प्राकृतिक भाषा के अध्ययन के लिए हेमचन्द्र का अष्टमाध्याय कण्ठस्थ करवा दिया था। ऐसे इतर अनेक सहकारी विद्याओं का बीज वपन कर के वि० सं० १९९३ में वे स्वर्गवासी बन गये।

संस्कृत विद्या का विस्तार

नवमाचार्य श्री तुलसी ने पट्टासीन होकर विशेष रूपसे इस विद्या वृक्ष को सींचा। न्यायशास्त्र का बड़े श्रम से आपने अध्ययन किया और शिष्यों को करवाया। सबसे बड़ा कार्य आपने सती समाज को संस्कृत शिक्षा में अग्रसर करने का किया। यद्यपि कालूगणी के समय कुछ साध्वियाँ सारस्वत व सिद्धान्त चन्द्रिका का आंशिक अध्ययन करती थीं फिर भी उस समय उसमें विशेष विकास नहीं हुआ था। इस कमी की आपने पूर्ति की। समय की अति अल्पता होते हुए भी आपने साध्वियों को पढ़ाने में समय लगाया और कालूकौमुदी की तीनों वृत्तियाँ साध्वियों ने कंठस्थ कीं। उसकी साधनिका आपने

करवाई। इसका परिणाम सुन्दर निकला। श्री भिक्षु शब्दानुशासन की बृहत्‌वृत्ति तो बन चुकी थी परन्तु अभी तक लघुवृत्ति नहीं थी। अब सतियों को पढ़ाने के लिए उसकी बहुत आवश्यकता प्रतीत होने लगी। वैसे तो लघुवृत्ति बनाने का कार्य कालूगणी के समय श्री तुलसी गणी ने ही प्रारंभ कर दिया था। लेकिन अचानक ही शासन का भार आपके कंधों पर आ जाने से वह प्रारंभ प्रारंभ ही रह गया था। आखिर उस कार्य को शीघ्र ही सम्पन्न करने के लिए धन मुनि और मुझे सौंपा गया; जो कि उसी वर्ष में पूर्ण कर दिया गया। लघुवृत्ति का अध्ययन भी सतियों में विशेष रूप से चलने लगा। बाद में कतिपय सतियाँ बृहत्‌वृत्ति का भी अध्ययन आचार्य श्री तथा पं० रघुनन्दन जी के पास करती रहीं। परिणाम स्वरूप अनेक साध्वियाँ विदुषी बन गईं। धारा प्रवाह रूप संस्कृत में बोलने तथा कविता करने में भी उन्होंने काफी प्रगति कर ली। दर्शनशास्त्र के अध्ययन में भी आज अनेक साध्वियाँ गतिशील हैं।

संस्कृत में सर्वतोमुखी विकास

किसी संस्कृत कवि ने कहा है—

नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

प्रथम तो नर तन दुर्लभ है, उसमें विद्या दुर्लभ है। उसमें भी कवित्व दुर्लभहै। कवित्व में भी (कवित्व) शक्ति अति दुर्लभ है। आज तेरापंथ समाज में संस्कृत में कविता बनानेवाले अनेक संत व सतियाँ हैं। ऐकाह्निक शतक भी अनेकों विज्ञ साधु और साध्वियों ने बनाये हैं। कइयों ने तो एक ही दिन में दो सौ, पाँच सौ तथा हजार श्लोक तक भी बनाये हैं। इसके अतिरिक्त विशिष्ट प्रज्ञा के धनी आशुकवि भी हैं जो दिये गये विषय पर नाना छन्दों में तत्काल कविता बोल सकते हैं। वि० सं० २०११ में आचार्य श्री तुलसी पूना पधारे। वहाँ के विशिष्ट विद्वानों द्वारा वहां की प्रख्यात वाग्वर्धिनी सभा में संस्कृत गोष्ठी का आयोजन रखा गया। संस्कृत में भाषणों का कार्यक्रम चलने के बाद आशुकविता का कार्य क्रम रहा। डाक्टर एन० वाट वे, एम० ए० पीएच० डी० ने विषय प्रदान करते हुए कहा—

समयज्ञापकं नित्यं नव्यानां हस्तभूषणम्।
स्रग्धरावृतमालम्ब्य, घटीयंत्रं विवर्ण्यताम्॥

अर्थात् आधुनिकों का हस्तभूषण जो नित्य समय ज्ञापन करने वाला घटीयन्त्र है, उसका स्रग्धरावृत्त में वर्णन करिये।

संस्कृत भाषा के मर्मज्ञ ही जानते हैं कि घड़ी के ऊपर आशुकविता करना कितना कठिन है। लेकिन विशिष्ट मेधावी मुनि श्री नथमलजी ने आचार्य श्री की आज्ञा पाकर दिये गये विषय पर स्रग्धरा छन्द में चार श्लोक तत्काल रच सुनाये। विद्वानों के आश्चर्य का पार न रहा। इसी प्रकार तिलक विद्यापीठ में भी समस्यापूर्ति का प्रभावोत्पादक वातावरण रहा।

काशी के संस्कृत महाविद्यालय में भी स्याद्वाद के विषय में धारा प्रवाह एक लम्बे संस्कृत भाषण के उपरान्त तत्काल दिए गए विषय पर इन्हीं मुनि ने आशुकविता रचकर विद्वानों को मंत्रमुग्ध बनाया।

इसी प्रकार वि० सं० २००८ में अम्बाला छावनी के कालेज मे आचार्य श्री के भाषण के पश्चात् आशुकविता का कार्यक्रम रखा गया। मुनि श्री बुद्धमलजी खड़े हुए और वहाँ के प्रिन्सिपल महोदय ने आधुनिक विद्या के विषय पर कविता करने को कहा। मेधावी मुनि ने प्रदत्त विषय पर अस्खलित श्लोक बोलना शुरू किया। श्रोता मन्त्रमुग्ध हो सुनने लगे। कई श्लोक बोलने पर प्रिन्सिपल ने कहा—ठहरिये! मैं दूसरा विषय देता हूँ। शायद उन्हें यह भ्रम हो गया था कि कहीं ये पूर्व निर्मित श्लोक तो नहीं बोल रहे हैं। अतः उन्होंने कहा—मेकाले ने गवर्नर जनरल की कौंसिल में प्रस्ताव रखा था कि भारत में पाश्चात्य विषय का प्रसार किया जाय। उनके रंग रूप तो भारतीय ही हों किन्तु दिल व दिमाग पाश्चात्य बना दिये जायँ। इस प्रस्तावित शिक्षा का उद्देश्य नीची श्रेणी के अफसर तथा क्लर्क तैयार करना था इत्यादि बातों को कहते हुए उन्होंने एक लम्बा भाषण दे डाला और भाषण में कही गई बातों को ही पद्यबद्ध करने को कहा। इस तरह एक अपरिचित विषय पर तत्काल संस्कृत में कविता बोलना कोई मजाक की बात नहीं थी। लेकिन विशिष्ट अभ्यासी मुनि श्री बुद्धमल जी ने तुरत अपने पूर्वक्रम को बदलते हुए उनके भाषण को पद्यबद्ध कर डाला। उपस्थित विद्वद्वर्ग इससे बहुत ही प्रभावित हुआ और प्रिन्सिपल तो गद्‌गद् हो गया।

ऐसे ही आचार्य श्री के साथ राष्ट्रपति भवन में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद द्वारा प्रदत्त विषय "आत्मप्रकाश" पर इन्हीं कवि

श्रेष्ठ मुनि ने आशु कविता की। राजघाट पर विनोबा द्वारा दिये गये विषय पर भी इन्होंने सुन्दर कविता सुनाई थी। इसी तरह एक विद्वत् समाज में उन्हें शिखरिणी छन्द में फाउन्टेन पेन पर बोलने को कहा गया। उन्होंने तत्काल उसी विषय पर आशुकविता बोल कर अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया।

संस्कृत साहित्य की सेवा

तेरापंथ ने संस्कृत साहित्य से बहुत कुछ पाया है तो साथ-साथ उसने इसे दिया भी है। विद्वान् साधु-साध्वियां साहित्य-निर्माण द्वारा संस्कृत, प्राकृतिक, हिन्दी, गुजराती तथा पंजाबी आदि भाषाओं के साहित्य भंडार को भरने में अपनी ओर से यत्किंचित् सहयोग प्रदान कर रहे हैं। यहां केवल उनके संस्कृत साहित्य का दिग्दर्शन कराया जाता है। यद्यपि अनेक लेखकों की रचनाओं की सूची इसमें सम्मिलित नहीं की जा सकी है फिर भी प्रयासपूर्वक यथासम्भव जिन लेखकों की रचनाओं के नाम मैं प्राप्त कर सका हूँ उनकी सूची इस प्रकार है :

(१) आचार्य श्री तुलसी :

१—जैन सिद्धान्त दीपिका
२—भिक्षु न्याय कर्णिका
३—कर्तव्य षट्त्रिंशिका
४—श्री कालूकल्याण मन्दिरम्
५—शिक्षा षण्णवतिः
६—धर्म रहस्यम्
७—सौराज्य
८—कवि माहात्म्यम्
९—किं तत्त्वम्
१०—सर्वमस्ति नास्तिकिंचित्
११—दिशा संकेता
१२—कथा-कोषः

(२) मुनि श्री चौथमलजी :

१—श्री भिक्षु शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी)
२—कालूकौमुदी प्रक्रिया (पूर्वार्ध व उत्तरार्ध)

(३) मुनि श्री कानमलजी :

१—कालू कल्याण मन्दिरम् (द्वयम्)
२—कालू भक्तामर
३—पंच तीर्थी
४—गेय काव्यं
५—तुलसी न्याय प्रवेशिका

(४) मुनि श्री नथमलजी (बागोर):

१—श्री भिक्षु महाकाव्यम्
२—युक्तिवाद : (न्याय विषये)
३—अन्योपदेशः
४—तेरापंथ स्तोत्रम्
५—सत्संग महिमा
६—जिन चतुर्विंशिका
७—वैराग्य तरंगिणी

मुनि श्री नथमलजी (बागोर) (जारी)

८–अर्हदष्टकम्

९–तुलसीवचनामृतस्तोत्रम्

(५) मुनि श्री धनराजजी :

१–प्रास्ताविक श्लोक शतकम्

२–देवगुरुधर्म द्वात्रिंशिका (गेय काव्यम्)

३–कालू कल्याण मन्दिरम्

४–भिक्षु शब्दानुशासन (लघुवृत्ति)

५–ऐकाह्निक शतकम्

६–गणीगुण नवकम (गेय काव्यम्)

७–कालूगुणाष्टकम्

(६) मुनि श्री चन्दनजी :

१–श्री वैराग्यैकसप्तति: (पद्य)

२–प्रबोध पंच पंचाशिका ,,

३–आत्मभाव द्वात्रिंशिका ,,

४–अनुभूतिशतकम् ,,

५–उपदेशामृतम् ,,

६–कालू कल्याण मन्दिरम् ,,

७–केवलपंचविंशति : ,,

८–आम्र षोडशकम् ,,

९–पुष्प पंचदशकम् ,,

१०–पथिक पंचदशकम् ,,

११–आत्मगर्हाष्टकम् ,,

१२–वास्तविक विचार नवकम् ,,

१३–पिपीलिकाष्टकम् ,,

१४–वह्न्यष्टक ,,

१५–सत्संगति माहात्म्याष्टकम् ,,

१६–प्रात्यदिका: श्लोका: ,,

१७–पंचतीर्थी (गेयकाव्यम्)

१८–गीतिकात्रयोदशी ,,

१७–अर्जुनमालाकारम् (गद्य)

२०–प्रभवप्रबोध: ,,

२१–धर्म दशक विवेक: ,,

२२–निबन्धावलि: ,,

२३–भिक्षुलिंगानुशासनवृत्ति: ,,

२४–वीतरागस्तुति: (पद्य)

२५–समस्यापूर्ति श्लोका: ,,

(७) मुनि श्री डूंगरमलजी :

१–पाण्डव विजय: (पद्य)

मुनि श्री डूंगरमलजी (जारी)

२–अन्योक्ति संदोहः (पद्य)

३–गुरुगौरवम् (पद्य)

(८) **मुनि श्री सोहनलालजी** :

१–कालूभक्तामरस्तोत्रम्

२–कालूकल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

३–देवगुरु स्तोत्रम्

४–मातृकीर्तनम्

५–भगवत्स्तुतिः

६–तुलसीप्रभा प्रक्रिया

(९) **मुनि श्री नथमलजी (टमकोर)** :

१–अश्रुवीणा

२–मुकुलम्

३–संस्कृत भारतीयाः संस्कृतिश्च

४–तेरापंथचतुर्विंशतिः

५–रत्नपाल चरितम्

६–भिक्षुशतकम्

७–तुलसीस्तोत्रम्

८–संस्कृत वाक्य रचना भागत्रयम्

९–निबन्धावलिः

१०–कथाव्यूहः

११–न्याय पंचाशतिः

१२–षोडश द्वयम्

१३–जयपुरयात्रा

१४–श्लोकमाला

१५–अष्टाष्टकम्

१६–बोधिः

(१०) **मुनि श्री छत्रमलजी** :

१–कृष्णशतकम्

२–महावीर शतकम्

३–भिक्षुशतकम्

४–जयाचार्यशतकम्

५–कालू शतकम्

६–तुलसीशतकम्

७–तेरापंथ शतकम्

८–देवगुरु द्वात्रिंशिका

९–भिक्षु द्वात्रिंशिका

१०–तुलसी द्वात्रिंशिका

११–कामकुंभ द्वात्रिंशिका

मुनि श्री छत्रमलजी (जारी)

१२—तपःकुटी द्वात्रिंशिका
१३—मुल्यपत्र द्वात्रिंशिका
१४—मणिशेखर द्वात्रिंशिका
१५—सूक्ति द्वात्रिंशिका
१६—समवाद द्वात्रिंशिका
१७—प्रतिभा द्वात्रिंशिका

(११) **मुनि श्री तुलीचन्दजी 'शार्दूल'** :

१—तुलसी स्तोत्रम्
२—तुलसी शतकम्
३—मर्यादापंचकम्
४—ऐकाह्निकशतकम्
५—मेघाष्टकम्
६—समुद्राष्टकम्
७—गीतिसंदोहम्

(१२) **मुनि श्री बुद्धमलजी** :

१—निबन्ध सन्दोहः	(गद्य)
२—कथापेटकम्	,,
३—आत्ममीमांसा प्रवेशिका	,,
४—स्मितम्	,,
५—उत्तिष्ठ जाग्रत	,,
६—भारतीय संस्कृतिः	,,
७—चतुर्विंशति जिनस्तावः	(पद्य)
८—श्री तुलसी स्तोत्रम्	,,
९—सत्संग त्रिंशिका	,,
१०—मधुकर चतुर्दशकम्	,,
११—गुरुभक्ति चतुर्दशकम्	,,
१२—अन्योक्तिपंचाशिका	,,
१३—ऐकाह्निक शतकम्	,,
१४—रौहिणेयः	,,
१५—देवात्देवंबलीयः	,,
१६—मुक्तामाला	,,

(१३) **मुनि श्री पूनमचन्दजी** :

१—श्री तुलसी स्तोत्रम्
२—ऐकाह्निक सम्यक्त्व स्तोत्रम्
३—प्रकीर्णक श्लोकाः
४—श्री वैराग्यैकसप्तति (टीका)

(१४) **मुनि श्री नगराजजी 'बड़ा' (सरदारशहर)** :

१—भिक्षुशतकम्

मुनि श्री नगराजजी (सरदारशहर) (जारी)

२–माथेरान सुषमा

३–स्तबकम्

(१५) मुनि श्री मीठालालजी (लाडनूं) :

१–साप्तघटिकमाषाढ़भूतिशतकम्

२–अध्यात्म पंचविंशिका

३–चित्रबन्धकाव्यम्

४–कथासंग्रह

(१६) मुनि श्री चम्पालालजी (सरदारशहर) :

१–अणुव्रत शतकम्

२–धर्म शतकम्

(१७) मुनि श्री महेंद्रकुमारजी :

१–ऐकाह्निक पंचशती

२–भारीमालशतकम्

३–चन्दनबाला ऐकाह्निक नाटकम्

(१८) मुनि श्री मोहनलालजी 'शार्दूल' :

१–नमिनाथ नुतिः

२–कर्पूर काव्यम्

३–कल्पना

४–ऐकाह्निक शतकम्

५–समस्या निशष्ठिक

६–प्रयास प्रशस्तिः (गद्य)

७–भारतीय संस्कृति ,,

(१९) मुनि श्री पुष्पराजजी :

१–अर्धचन्द्रस्य चन्द्रिका (कल्पना काव्यम्)

२–ध्यान पुष्पम् (अनुभवात्मक काव्यम्)

३–तुलसी गीता श्लोक चतुर्दशीपरिमिता

४–कथा निकुंजः (गद्य)

५–चित्रमय काव्यम् (पद्य)

(२०) मुनि श्री मांगीलालजी 'मधुकर' :

१–समस्या शतकम्

२–पथिक पंचकम्

३–तुलसी सप्तकम्

४–सूर्याष्टकम्

(२१) मुनि श्री सुखलालजी :

१–ऐकाह्निक शतकम्

२–उन्निद्रम् (श्लोक संग्रह)

(२२) मुनि श्री बच्छराजजी :

१–ऐकाह्निक शतकम्

२–श्लोक संग्रह

(२३) **मुनि श्री राकेशकुमारजी :**

१–ऐकाह्निक श्लोक सहस्री
२–नैशं द्विशतकम्
३–ऐकाह्निक द्विशतकम्
४–श्लोक संग्रहः
५–परिमलम्
६–उन्मिषितम्

(२४) **मुनि श्री श्रीचन्दजी (टमकोर) :**

१–मर्यादाषोडशकम् (पद्य)
२–मेघाष्टकम् ,,
३–नद्यष्टकमाला ,,
४–समुद्राष्टकम् ,,
५–अव्यय निबन्धः (गद्य)
६–एकाक्षर निबन्धः ,,
७–कथामाला ,,

(२५) **पण्डित रघुनन्दनजी :**

१–भिक्षुशब्दानुशासन बृहत्वृत्तिः

(२६) **साध्वी श्री फूलकंवरजी :**

१–प्रतिज्ञा द्वात्रिंशिका (मन्दाक्रान्ता निबद्धा)
२–हरिश्चन्द्रकालिकम् द्विशतकम्
३–मर्यादाष्टकम्
४–चरित्रनिर्माण पंचकम्

(२७) **साध्वी श्री मोहनकुमारीजी :**

१–निबन्धमाला (गद्य)
२–शिक्षा षट्त्रिंशिका (पद्य)

(२८) **साध्वी श्री मालूजी (डूंगरगढ़) :**

१–ऐकाह्निक शतकम्

(२९) **साध्वी श्री जतनकंवरजी (उदयपुर) :**

१–ऐकाह्निक सम्बोधिशतकम्

(३०) **साध्वी श्री मानकंवरजी (लाडनूं) :**

१–ऐकाह्निक शतकम्

(३१) **साध्वी श्री सोहनाजी (राजलदेसर) :**

१–ऐकाह्निक शतकम्

(३२) **साध्वी श्री मंजुलाजी :**

१–गीतिसंदोहः

(३३) **साध्वी श्री कानकंवरजी :**

१–गीतिका
२–अहिंसा षोडशकम्
३–मेघाष्टकम्

साध्वी श्री कानकंवरजी (जारी)

४—सत्याष्टकम्

५—अध्यात्म दशकम्

६—मनस्विसप्तकम्

७—समता सप्तकम्

८—मर्यादा पंचकम्

(३४) **साध्वी श्री कनकश्रीजी** :

१—आत्मालोकन पंचाशिका

२—गुरुगरिमाष्टकम्

३—स्तुतिअष्टकम्

४—तुलसी अष्टकम्

५—शरीराष्टकम्

६—पृथ्वी शतकम्

७—त्याग पंचकम्

८—हृदयशुद्धि पंचकम्

(३५) **साध्वी श्री यशोधराजी** :

१—अणुव्रताष्टकम्

२—स्तवनाष्टकम्

३—समस्यापूर्तिपंचकम्

४—मेघाष्टकम्

५—समुद्राष्टकम्

(३६) **साध्वी श्री कमलश्रीजी** :

१—मर्यादापंचकम्

२—गीति गुम्फः

(३७) **साध्वी श्री स्नेहकुमारीजी** :

१—सत्य षोडशकम्

२—मेघाष्टकम्

३—संस्कृत गीतिमाला

४—मर्यादाष्टकम्

इस प्रकार साहित्य साधना का यह स्रोत अजस्र धारा के रूप में चालू है। यद्यपि यह धारा अभी तक एक पतली सी ही धारा है ; तथापि निरन्तर प्रगति करती और नवनवेन्मेषों को अपने में गर्भित करती हुई यह शीघ्र ही एक विशाल धारा का रूप लेकर नदी रूप में प्रवाहित होगी और संस्कृत साहित्य के समुद्र को भरने में अपना एक महत्त्वर्णपू स्थान बनायेगी, ऐसी आशा की जा सकती है।

तेरापंथ का वर्तमानकालीन काव्य साहित्य

(मुनि श्री रूपचन्दजी)

तेरापंथ की साहित्य परम्परा ने अपने युग का सफलतापूर्वक प्रतिनिधित्व किया है, यह निस्संदेह कहा जा सकता है। तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु से लेकर उनके वर्तमान उत्तराधिकारी आचार्य प्रवर श्री तुलसी तक का रचित साहित्य इसका जीवंत प्रमाण है। भले ही कुछ कारणों से यह साहित्य जनता के समक्ष न आया हो फिर भी इस साहित्य प्रधानयुग में हम उसे नजर अंदाज नहीं कर सकते। जीवन के शाश्वत मौलिक तथ्यों का अस्खलित रूपेण प्रकटीकरण आचार्य भिक्षु का सहज गुण था। अनेक गहन विषयों को सरल भाषा में गूंथ कर उन्हें व्यावहारिक रूपकों द्वारा हृदयंगम करा देना आपकी विमल प्रतिभा का परिचायक है।[1] जन्म और मृत्यु, बंधन और मुक्ति—मानव मन की स्पष्ट किन्तु उलझी रेखाएँ हैं, जिनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की अभिव्यक्ति में मनुष्य प्रायः असफल रहता है। उन्हीं रेखाओं का सहज समीकरण आपके साहित्य में झलकता है। आपने कहा, "जीवन और मृत्यु अपने आप में न काम्य हैं और न अकाम्य। ये परिवर्तन के अवश्यंभावी चरण हैं। पहले चरण में प्राणी नये जीवन के लिए आता है और दूसरे में नये जीवन के लिये चला जाता है। पुद्गल की भूमिका में जीवन काम्य है और मृत्यु अकाम्य। आत्मा की भूमिका में जीवन और मृत्यु न काम्य हैं और न अकाम्य। असंयममय जीवन और मृत्यु अकाम्य हैं तथा संयममय जीवन और मृत्यु काम्य।"[2] आपके साहित्य की सर्वाधिक विशेषता यह है कि आपने जीवन के सनातन सत्यों को परिभाषा के कृत्रिम बंधनों में बाँधने का कभी प्रयत्न नहीं किया। यही कारण है कि आपकी रचनाओं में साहित्य स्वयं सत्य का मूर्त रूप लेकर प्रकट हुआ है। तेरापंथ की प्रगति का एकमात्र यही कारण है कि उसने साम्प्रदायिक कदाग्रह और हठधर्मिता को कभी प्रश्रय नहीं दिया। आचार्य भिक्षु ने अनेक सैद्धान्तिक विवादास्पद तथ्यों पर अपना स्पष्ट चिंतन, सहमति और मतभेद प्रकट किया किन्तु उसमें भी उनकी विनम्रता और आग्रह-हीनता साकार होकर निखरी हैं।[3]

वर्षों की तपस्या और साधना के अनन्तर आपने लगभग ३० हजार पद्य रचे। उनमें समाज की कुत्सित रीति-रिवाज, धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्ध विश्वास और रूढ़ियों पर हमें तीखे व्यंग मिलते हैं। वर्तमान युग जिन-जिन कारणों से धर्म को अभिशाप घोषित करने का साहस करता है; आचार्य भिक्षु ने आज से दो शतक पहले ही उन्हें अपनी लेखनी का विषय बनाया था। इस तरह आचार्य भिक्षु को हम एक क्रांतिकारी संगठन-प्रणेता के रूप में ही नहीं, अपितु एक सफल साहित्यकार के रूप में भी पाते हैं।

इनके पश्चात् तेरापंथ के प्राण श्रीमज्जयाचार्य अपने आप में वैशिष्ट्य लिए आते हैं। आपने १८ वर्ष की अल्प आयु में ही प्रज्ञापनासूत्र (जैनागम विशेष) के गहन व क्लिष्टतम स्थलों का सफलतापूर्वक भाषानुवाद किया। आपने अपने जीवन काल में करीब तीन लाख पद्य रचे, जिनमें मौलिक तत्त्वों के निरूपण के साथ-साथ फुटकर आख्यान भी मिलते हैं। संघ का सदस्य, संघ और संघपति के प्रति एकनिष्ठ हो, संघ का वह दायित्व कैसे निभाये, संघ के लिये सर्वस्व समर्पण की भावना एकाकार हो आदि के सम्बन्ध में उन्होंने प्रचुर मात्रा में साहित्य लिखा जो काव्य की दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आपने मुख्यतः जैनदर्शन, सिद्धान्त, व्याख्यान, वैराग्यात्मक और भक्तिरस पूर्ण गीतिकाएँ लिखीं, जो आज भी लोक-प्रचलित हैं।

इनके बाद अष्टमाचार्य श्री कालूगणी अपनी काव्यप्रियता के लिये अति प्रसिद्ध हैं। अपने जीवन-काल में साहित्य-उत्कर्ष

१—व्रताव्रत, ढाल ४, गाथा १

२—भिक्षु विचार दर्शन, पृष्ठ ४८

३—भिक्षु विचार दर्शन, पृष्ठ १३

को आपने जो स्थायित्व प्रदान किया वह इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। वर्तमान समस्त साहित्य-संपदा का श्रेय आप को ही है, जिनके कारण तेरापंथ आज संसार के समक्ष उच्च मस्तक है। यद्यपि आपने बहुत कम रचनाएँ कीं तथापि उपलब्ध रचनाओं के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि आपकी रचना-शैली बहुत ही सरस, शिक्षाप्रद और मंजी हुई थी। अपने शिष्य साधुओं का आपने व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त और दर्शन के विषय में सफलतापूर्वक प्रवेश कराया।

अब आचार्य प्रवर श्री तुलसी गणी एक यशस्वी साहित्यकार के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होते हैं। आप जन्म जात प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। जीवन की अमर साधना में भींगा हुआ आपका साहित्य मरणशील व्यक्ति में निहित अमरत्व को साक्षात् देखना चाहता है। श्रद्धा और श्रद्धेय के माध्यम से वह स्रष्टा और उपभोक्ता के साथ जो एक तादात्म्य स्थापित करता है व ही उसकी महत्ता है। जहाँ श्रद्धा और श्रद्धेय एक रूप होकर काव्य क्षेत्र में उतरते हैं, वहाँ काव्य केवल कलेवर तक ही सीमित न रहकर जीवन के साथ एकात्मता स्थापित कर लेता है; और यही काव्य की सबसे बड़ी सफलता है। जहाँ श्रद्धा और श्रद्धेय अभिन्न हो जाते हैं, वहाँ श्रद्धा का प्रत्येक कण श्रद्धेय बनकर ही मुखरित होता है। यह अभिन्नता ही काव्य का प्राण होती है जो उसे अन्त तक सजीव बनाए रखती है। भौतिक शब्दों के माध्यम से उस 'विराट्' को व्यक्त कर देना ही कलाकार की दक्षता का मापदण्ड होता है। काव्य का मापदंड कभी कवि नहीं, किन्तु कवि का मापदण्ड काव्य होता है। उसकी संवेदनशीलता स्थूल जगत के सूक्ष्मतम अणुओं को किस निपुणता से प्रभावित करने में सक्षम है--इसका साक्षी काव्य ही होता है। अन्तश्चेतना से उद्भूत कुछ बिखरे स्वर ही समस्त जगती की चेतना को किस खूबी से अपने में समेट लेते हैं; यह उसकी ही अलौकिकता है। कवि का 'अहं' जब विस्तृत होकर काव्य में ढलता है तब वह अहं तक ही सीमित न रहकर सार्वजनिक बन जाता है। और वही काव्य लोकप्रिय बनता है। आचार्य प्रवर की यही विशेषता रही है कि उन्होंने काव्य के माध्यम से जो भी गाया वह काल्पनिक उड़ान मात्र नहीं; अपितु उसमें वास्तविकता मूर्त रूप लेकर उतरी है। उनके जीवन का प्रत्येक अणु संगीतमय है। उनका संगीत-स्वर अपने पीछे एक लम्बी गूंज छोड़ जाता है, जो जन मानस की कितनी ही लोल लहरियों को उद्वेलित करती हुई आगे बढ़ जाती है। आपकी भाषा सदैव भावानुगामिनी रही है।

कालूयशोविलास आपका राजस्थानी महाकाव्य है। उसके चरित्रनायक हैं आचार्य श्री कालूगणी, जो आपके आराध्य हैं। उसमें शिष्य परम्परा का वहन तो हुआ ही है, साथ ही साथ वर्तमान को अतीत और अनागत के साथ जिस विलक्षणता से बाँधा गया है उसमें सचमुच काव्य चमत्कार निखर उठा है। जरा देखें तो--

इक दिवस शीत ऋतु चमकाणी,
तब कालू-काया कम्पाणी,
थरहर थरहर जिम तरु पाणी।
जब मघवा-दृग दौलत जाणी,
निज गाती शिशु-तन पर ठाणी,
आपी मनु युव-पद निस्साणी॥

जीवन के अगणित छिद्रों से झांकनेवाला सत्य जब श्रद्धा व संवेदना से भर जाता है, तब कवि वेदना-विह्वल गा उठता है--

एक पक्खी प्रीत नहीं पड़ै कदी पार,
पिऊ पिऊ करत पपैयो पुकार,
पिण नहीं मुदिर नैं फिकर लिगार।

राष्ट्र के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' के अनुसार--केवल विचारों के छन्दोबद्ध होने मात्र से कविता में कवित्व नहीं उभरता। काव्य की सार्थकता तो तभी मानी जायगी जब विचार चित्रों में परिवर्तित कर दिये जायँ, रूपकों और उपमाओं के सहारे उनमें ऐंद्रियता उत्पन्न कर दी जाय। वही ऐन्द्रियता आपके काव्य ने प्रत्येक जड़ पदार्थ में भी उत्पन्न कर दी है। उदाहरण के लिये--

पतित उद्धार पधारिए, संगे सबल ही ठाठ।
मेद पाटनी मेदनी रे, जोवै खड़ी-खड़ी बाट॥

सघन शिलोच्चय ने मिषं रे, ऊँचा करि करि हाथ।
चंचल दल-शिखरी मिषं रे, दे झाला जगनाथ॥
नयणां विरह तुमार डे रे, झरै निझरणा जास।
भ्रमरा राव भ्रमं करी रे, लहै लाम्बा निःश्वास॥
कोकिल कूजत व्याज थी रे, व्रतिराज उड़ावै काग।
अरघट खट खटका करि रे दिल खटक दिखावै जाग॥
मैं अबला अचला रही रे, किम पहुँचै मम संदेश।
इम झुर झुर मनु झूरणां रे, संकोच्यो तनु विशेष॥

रूपकों और उपमाओं के सहारे जिस दक्षता से धरती के कण-कण को आपने अपने श्रद्धेय से परिव्याप्त कर दिया है, वह निःस्संन्देह आश्चर्यजनक है। ओज, माधुर्य और प्रसाद युक्त शब्दों के गुम्फन में जब सत्य शत-शत धाराओं में उमड़ता है तब पाठक भी तृषित चातक की तरह उसके लिए झूम उठता है—

डीले इपटी दुपटी, दीपै धवल प्रकाश।
पूज्य बदन रयणी धणी, प्रकटी ज्योत्सना जास॥
स्वंगी सप्तभंगी सुखद, जिन-मत संगी हेत।
व्यंगी अड़व्यंगी भणी, झंगी सो दुःख देत॥
संयम रंगे रंगिनी चंगिनी, सज मतंगिनी चाल।
शील सुरंगिनी उज्ज्वल रंगिनी, लंघिनी जग जंजाल॥

काव्य के माध्यम से कवि अपनी मानसिक अवगुण्ठना और अनुभूतियों का चित्रण मात्र ही नहीं चाहता, अपितु उन्हें विश्वजनीन स्तर पर समाहित करने का प्रयत्न भी करता है। जीवन के आरोहण अवरोहण का भी दिग्दर्शन मात्र ही काव्य का उद्देश्य नहीं होता, बल्कि उसमें उद्भूत चिरंतन सत्यों को वह उसके माध्यम से प्रकट करना चाहता है। काव्य का उपभोक्ता भी मानवीय दुर्बलताओं के उपशमन के लिये ही उसका उपयोग करता है, उसके उभार के लिये नहीं।

'भरत-मुक्ति' जैन वाङ्मय पर आधारित आपका एक खण्ड काव्य है। इसमें सम्राट् भरत और उनके अनुज बाहुबलि के बीच होनेवाले महान संग्राम का चित्रण है। आचार्य प्रवर ने इस प्रागैतिहासिक कथानक के आधार पर युद्ध और उसकी चिनगारियों के कारण उससे होनेवाली मानवीय दुरवस्था और अनिष्टकर परिणाम, अनागत संस्कृति पर पड़नेवाले उसके प्रभाव आदि विषयों को एतद्युगीन समस्याओं, मुख्यतः शीतयुद्ध और तृतीय विश्व महायुद्ध के स्तर पर सुलझाने का प्रयास किया है। युद्ध से होनेवाले भयंकर परिणामों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

मंदराद्रि विचलित हुआ, अविचल धृति को छोड़,
मानो अंबुधि अवनि पर, झपटा सीमा तोड़।
महा भयंकर रूप में प्रकुपित हुआ कृतान्त,
लगता ऐसा सन्निकट है अब तो कल्पान्त।
थर्र्र थर्राती धरा कम्पित हैं शशि अर्क,
नीली झाईं व्योम पर देख अनिष्ट उदर्क।
विश्व स्थिति का निकट अब लगता है अवसान,
लुटने को है आज इस मानवता का मान। (भरत-मुक्ति)

मुष्टि-प्रहार प्रकरण में बाहुबलि को अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत पर मुष्टि से प्रहार करते देखकर समस्त मानव मन महान् अनिष्ट की आशंकाओं से चीत्कार कर उठता है—

जिनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ,
वे भी यदि नाशक बन जाएँ,
जीवन हो, जीवन संहारे, अमृत भी यदि मारे।

सीमा तोड़ बहे जो सागर,
कहो, कहें फिर किसको जाकर,
शीतल जल प्रज्वलित करे यदि चन्द्र झरे अँगारे ॥
(भरत-मुक्ति)

कवि अपनी कल्पना शक्ति से काव्य को कितना अधिक निखार देता है; इसके लिये इसका प्रथम पद्य ही देखें जो संघ-समर्पण के लिये रचा गया है–

अब्धि से ले अम्बु रवि घन रूप कर आकाश में,
तान भव्य वितान लाता पुनः सलिल प्रकाश में।
लीन होकर स्वयं उसमें देखता है झाँक कर,
तृषित, आतुर और उत्कण्ठित जगत को आँककर ॥१॥
समझ आवश्यक समय की मांग सारी दृष्टि से,
स्वच्छ, शीतल, मधुर मधुमय वारि की वर वृष्टि से।
सिक्त कर भू सौंपता, वह नीर सिंधु-तरंग को,
संघ की यह वस्तु सादर, है समर्पित संघ को ॥२॥

इसके अतिरिक्त आपने आषाढ़ भूति, अग्निपरीक्षा, नीत रो प्यालो (राजस्थानी काव्य) आदि हिन्दी और राजस्थानी में सैकड़ों गीत रचे हैं, जिससे जन साधारण लाभान्वित हो सके।

तेरापंथ की आचार्य परम्परा ने साहित्य के क्षेत्र में जहाँ अपना पूर्ण योगदान दिया है, वहाँ उसने अपने शिष्य साधुओं को भी उस ओर अग्रसर करने का सतत प्रयास किया है। आचार्य प्रवर अनेकों बार कहा करते हैं, "ग्रन्थ निर्माण की अपेक्षा व्यक्ति निर्माण को मैं अधिक महत्त्व देता हूँ। साहित्यकार अपने जीवन-काल में ५० ग्रंथों की रचना की अपेक्षा यदि पाँच व्यक्तियों को साहित्यकार बनायें तो यह अधिक महत्त्वपूर्ण है।" इस तरह प्रारंभ से ही व्यक्ति-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया जिससे साहित्य स्रोत अविरल बहता रहे।

संत साहित्य मुख्यतः संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी इन तीन भाषाओं के माध्यम से प्रवहमान है। संस्कृत भाषा, में पद्य और पद्य साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया किन्तु इस भाषा के एतद्युगीन न होने के कारण यह साहित्य प्रकाश व प्रसिद्धि में न आ सका। राजस्थानी भाषा में हमें काफी समृद्ध साहित्य मिलता है। मातृभाषा होने से अनेकों संतों ने अधिकार पूर्वक अपनी लेखनी उठाई और इस भाषा में सफलतापूर्वक अनेकों गीति-काव्य रचे। इनमें मुनि श्री नथमलजी (बागोर), मुनि श्री धनराजजी, मुनि श्री चन्दनमलजी, मुनि श्री सोहनलालजी (चूरू) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। मुनि श्री चन्दनमलजी का साहित्य एक अपूर्वता लिए है जिसमें वे विषय की साधारणता में भी एक वैशिष्ट्य खोजते हैं। वे अपनी आनुप्रासिक भाषा में पाठक को उस गहनता में पैठने को विवश करते हैं, जहाँ पर व्यक्ति की सामान्य गति होते हुए भी वह उससे अनजान रहता है। मन की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं–

छारा घर बारा मात तात से भया जो न्यारा,
बाल शिर धारा है काल वन में गुजारा है।
मीठा रूखा रा पाथा भोजन हर बारा पुनि,
मौन इक धारा, धारा वाक्य ना उचारा है ॥
वस्त्र सब डारा परा ताप में उधारा फिर,
तीर्थों बीच पारा रु लपेट्या तन गारा है।
चन्दना पुकारा सहा कष्ट जो हजारां पर,
मन को न मारा तो जमारा ही बिगारा है ॥

× × × ×

एक सदन में पांच का पृथक् पृथक् आदेश
चन्दन सम्भव क्यों नहीं होना क्लेश विशेष ?

मुनि श्री सोहनलालजी अपने काव्य में पदलालित्य, उपमाएँ और स्वभाव चित्रण की दृष्टि से अति सफल रहे हैं। डिंगल भाषा में जिस रूप में आपका काव्य-सौष्ठव निखरा है वह सहज ही हृदयस्पर्शी है। 'सोहन बावनी' में गुरु का माहात्म्य गाते हुए वे कहते हैं--

नमन करत सब विघन टरत भव
उदधि तरत दुःख परत अलग है।
भरम मिटत जिन धरम पटत अव-
गुन सब दरत कटत अघ नग है।
वचन तहत करि गहत वहत वह
'कनक' कहत सुलहत शिव मग है।
सतदत व्रत मत जश युत इह विधि
गुरु गुन जलनिधि अनघ अथग है।

इसी प्रकार मुनि श्री नथमलजी, धनराजजी, आदि ने भी राजस्थानी भाषा में सहस्रों पद्य व गेय-काव्य रचे हैं जो काफी लोक प्रसिद्ध हैं।

इसके बाद हिन्दी युग प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तेरापंथ में हिन्दी का विकास १६ वर्षों से अधिक का नहीं है। किन्तु इस अल्प अवधि में भी जिसने गति से उसने विकास किया है कि उसमें अनेक लेखक और कवि साहित्यक्षेत्र में उतरे। उन्हों अपनी स्वतन्त्र शैली से साहित्य क्षेत्र को प्रभावित ही नहीं किया; उसमें एक नया मोड़ भी दिया है। काव्य-जगत को अधिक प्रभावित करनेवालों में मुनि श्री नथमलजी और मुनि श्री बुद्धमलजी विशेष रूप से सफल रहे हैं। यद्यपि प्रारंभिक रचनाओं में जीवन का सामान्य अनुभूत्यात्मक चित्रण मात्र ही मिलता है फिर भी आगे चलकर वे अधिक मौलिक और परिपक्व बन कर निखरी हैं। एक संत परम्परा का वहन करने के कारण उनकी रचनाएँ तदनुरूप हों यह स्वाभाविक ही है। फिर भी उनमें एक संगीत है जो धरती के प्रत्येक रन्ध्र को अपनी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेता है। उसमें जीवन की एक गति है, और उसके प्रति है एक उत्साह जिसमें उपभोक्ता स्वतः आनन्द विभोर हो उठता है और वह एक नई स्फूर्ति व चेतना का अनुभव करने लगता है। स्वयं राष्ट्र कवि मैथिलीशरण शरण गुप्त के शब्दों में--वे अहिंसा धर्म के अनुयायी हैं। इस कारण उनकी रचना तदनुरूप हो, यह स्वाभाविक ही है। परन्तु उसमें जीवन का उत्साह और परहित की भावना ......है।

मुनि श्री बुद्धमलजी की काव्य रचना में सहज गति है। उनके काव्य में आत्मविश्वास अपनी चरम सीमा तक झलकता है जो अनुत्साह और नैराश्य की अनन्त धूमिल रेखाओं को चीरता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँच कर ही विराम लेता है। आत्म-विश्वास के अभाव और हीनत्व वृत्ति को वे अभिशाप मानते हैं जिससे समाज जीवित होते हुए भी मृतक रूप में रहता है। उनके ही शब्दों में देखिये--

जो स्वयं काल से चरण मिला कर चलते हैं,
पथगत बाधाओं का अस्तित्व कुचलते हैं।
वे ही अपने निर्णीत लक्ष्य को हैं पाते,
मिट जाते हैं वे, जो कि बीच में रुक जाते।
है यहाँ प्रतीक्षा को कोई अवकाश नहीं,
है गति ही मान्य, यहां स्थिति पर विश्वास नहीं।
ठिठका जिसका पग, पिछड़ गया वह जीवन में,
मिल सकता उसको कहीं विजय-उल्लास नहीं।
जो हार चुका जीवन के इस समरांगण में,
उस जीवित मृत का जगत मरसिया पढ़ता है।
युग का रथ आगे बढ़ता है॥

शब्द संकलन उपयुक्त और मार्मिक होने के कारण वह प्रत्येक पाठक के साथ स्वयं तादात्म्य स्थापित कर लेता है। मानव की कुत्सित व घृणित प्रवृत्तियों के प्रति उनके मन में एक विद्रोह है जिनको मानव आदर्शों के आवरण में आच्छन्न रखना चाहता है—

दीप न जलता, लौ जलती है
आदर्शों की छाया में ही पापों की दुनिया पलती है।

'मंथन' (काव्य-संग्रह) की भूमिका में प्रसिद्ध कवि श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' लिखते हैं—कविता को सुनकर मैंने यह अनुमान लगाया कि बुद्धमल जी सस्ती भावुकता के प्रवाह में बहकर काव्य क्षेत्र में नहीं आ रहे हैं; वरन् उनके भीतर विचारों का तेज है जो कविता की पंक्तियों में बाहर आ रहा है। वैसे तो भावुक हुए बिना कोई व्यक्ति कवि नहीं हो सकता; किन्तु कविता ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, भावुकता विचारों के धरातल के अधिक निकट आती जाती है। इस प्रकार बुद्धमलजी बहुत कुछ उसी क्षितिज से उतर कर आ रहे हैं जो काव्याकाश का नवीनतम क्षितिज है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनि श्री के काव्य ने किस निपुणता से साहित्य क्षेत्र में अपना वैशिष्ट्य स्थापित कर लिया है। सुमित्रानन्दन पन्त ने तो 'मंथन' देख कर यहाँ तक लिख दिया—रत्नों का गट्ठर है। रचनाएँ भावपूर्ण होने के साथ-साथ विचारोत्तेजक भी हैं। वे वर्तमान युग की अनेक समस्याओं पर प्रकाश डालती हैं और बुद्धि को बल भी देती हैं। भाषा में संयम, सुथरापन तथा मधुर सारल्य है। मात्र भावों का लंगड़ाता सा अनुवाद नहीं है।

आगे चलकर आपका काव्य दर्शन से ओत-प्रोत हो जाता है। दर्शन और काव्य में क्या समन्वय संभव है यह एक बहु-चर्चित विषय है। हरिवंश राय 'बच्चन' लिखते हैं—दर्शन और काव्य में एक प्रकार का विरोधाभास माना जाता है, पर सत्य तो यह है कि ऊँची कविता बिना दर्शन का आधार लिये नहीं लिखी जा सकती। साथ ही यह भी सत्य है कि दर्शन का भार कविता के कोमल पंखों के लिए प्रायः असह्य हुआ करता है .... । मुनि बुद्धमलजी एक विशेष दर्शन से प्रभावित हैं। साथ ही उनमें कवित्व गुण भी यथेष्ट मात्रा में है। 'मंथन' की कविताओं में मुझे ऐसा लगा कि दर्शन कविता के ऊपर हावी है। मेरा कवि मन प्रायः यह स्वीकार करना नहीं चाहता, पर कवित्व जहाँ-जहाँ उभर उठा है वहाँ कविता मुझे मनोहर लगती है।

जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण उनके लिए प्रत्येक अणु गति-प्रेरक है। तृप्ति और अभावपूर्ति के लिये वह उसके समक्ष अवतरित होता है। और यह सच भी है कि प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व रूप में सभी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। यह उपभोक्ता पर ही निर्भर होता है कि वह उसका उपयोग कैसे करे। कवि के शब्दों में—

मैं तृषित हूँ, किन्तु मृग-तृष्णा मुझे क्या छल सकेगी?
जब कि मुझको प्रिय यहाँ का, सलिल ही क्यों? धूल भी है।

इस तरह साध्य के प्रति एक अदम्य उत्साह लिये, पथगत बाधाओं को उपेक्षित किये चलते रहना ही आपके काव्य के पदपद-से झलकता है। उसमें साधक को फल, अकांक्षा, साध्य की दूरी और समय का व्यवधान आदि नहीं खटकने चाहिये—

साध्य कितना दूर है यह सोचना क्या?
समय कितना लग चुका? आलोचना क्या?
जब कि मैं उस ओर प्रतिपल बढ़ रहा हूँ।

किन्तु क्या भाषा मानवीय उदात्त भावनाओं का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम है? क्या ये भौतिक शब्द उस अभौतिक चेतना को व्यक्त और उन आध्यात्मिक अमर अनुभूतियों का प्रकटीकरण कर सकते हैं? भाषा की इसी असामर्थ्य पर लिखी गई मुनि श्री की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

भौतिक हैं ये शब्द कि जिनसे बनती है यह भाषा,
भावों के फिर प्रतिनिधित्व की क्या कर सकते आशा?
चेतन की जड़ के हाथों में है नकेल, अवसाद!
भाषा क्या है? भावों का लँगड़ाता-सा अनुवाद॥

इस तरह मुनि श्री ने अनेकों महत्त्वपूर्ण विचार काव्य-जगत को दिया है। साथ ही साहित्य जगत में उन्होंने यह भी प्रमाणित कर दिया है कि अध्यात्म जैसा नीरस विषय भी काव्य क्षेत्र में कितना सरस बन कर उतर सकता है।

मुनि श्री नथमलजी एक सफल दार्शनिक हैं। प्रत्येक वस्तु का प्रकटीकरण वे दर्शन के माध्यम से चाहते हैं। उनका काव्य भी दर्शनमय हो, यह अधिक स्वाभाविक है। अपने काव्य संग्रह 'फूल और अंगारे' की भूमिका में वे स्वयं लिखते हैं—कविता मेरा प्रधान विषय नहीं है। मैंने इसे सहचरी का गौरव नहीं दिया। मुझे इससे अनुचरी का सा समर्पण मिला है। मैंने कविता का आलम्बन तब लिया जब चिन्तन का विषय बदलना चाहा, मैंने कविता का आलम्बन तब लिया जब थकान का अनुभव किया। संभव है मेरे मन का प्रमोद दूसरों को भी प्रमोद दे सके इसीलिये मुनि श्री दूलहजी ने इसका संकलन किया है। किन्तु दर्शन को काव्य के आकार में जिस रूप से बाँधने का प्रयत्न किया गया है उसमें आप सफल रहे हैं। धरा के प्रत्येक कण को उन्होंने दर्शन से ओत-प्रोत कर जिस रूप से काव्य में ढाला है वह वास्तव में अप्रतिम प्रतिभा का परिचायक है—

बीज में विस्तार होता, बीज क्या ? विस्तार क्या है ?
चित्त में संसार होता, चित्त क्या, संसार क्या है ?
मृत् सलिल का योग पाकर, बीज ही विस्तार बनता।
वासना का भोग पाकर चित्त ही संसार बनता॥

मैं तो उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह मानता हूँ कि अनादि काल से उलझे सत्य को आपने जिस विलक्षणता से काव्य में सुलझाया है वही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। एक ही पंक्ति में—

अन्त लोगे ? द्रौपदी का चीर बनने जा रहा हूँ
× × × ×
अतुल और अनन्त का मैं तीर बनने जानने जा रहा हूँ

आपका प्रत्येक कण श्रद्धा से परिव्याप्त है। जिस अखंड और अविचल श्रद्धा का भाव आपमें सन्निहित है वह विरल ही मिलता है। विद्वता के साथ-साथ विनम्रता और अटूट श्रद्धा का अद्भुत संगम जो आप में है, वह प्रत्येक के हृदय के लिये विस्मयकारक और प्रेरणादायी है—

हृदय है आधार इसके स्वत्व को तोला न जाए,
बुद्धि है प्राकार इसके द्वार को खोला न जाए।
मूल बन मिलते रहो तुम, फूल बन खिलता रहूँगा,
स्नेह बन मिलते रहो तुम, दीप बन जलता रहूँगा॥

जीवन की क्षणभंगुरता और सामान्य गति का चित्रण करते हुए वे कहते हैं—

छूटा धीवर के हाथों से कसा जाल में जाकर,
उससे निकला खाया बक ने आशादीप बुझाकर।
एक बार फँस जाता वह फिर फँसता ही जाता है।
× × × ×
जग अमिट रहता है जीवन मिटता ही जाता है॥

आज के इस विकासवादी युग में भी जब कि मानव विज्ञान के सहारे न जाने किन-किन रहस्यों को उद्घाटित करने में सफल हो रहा है, मानवीय जीवन और विश्वास कितना जटिल और विवादास्पद बन गया इसकी क्या कल्पना भी की जा सकती है ? इसी ओर संकेत करते हुए मुनि श्री ने अपनी सहज गम्य भाषा में एक भावपूर्ण रेखा-चित्र अपने काव्य में उपस्थित कर दिया है—

सहज सरल जीवन की पोथी,
बड़ा जटिल अनुवाद हो गया।

पद पद के लघु विश्रामों पर,
कैसा घोर विवाद हो गया।
× × . × ×
घटना है अत्यल्प; किन्तु यह
बहुत बड़ा संवाद हो गया।

इस प्रकार सूक्ष्म विचारों से अनुप्राणित आपका काव्य सौष्ठव काफी हृदयस्पर्शी बनकर निखरा है। दर्शन जैसे दुरूह विषय का समावेश होने के कारण कहीं-कहीं पाठक काव्य की अनुभूति से विलगता का भी अनुभव करता है; किन्तु एक दार्शनिक की कृति दर्शन से भला अस्पृष्ट भी कैसे रह सकती है ? दर्शन को भी काव्य के माध्यम से प्रकट करना उनकी अपनी विशेषता है।

इस प्रकार अन्य अनेकों संतगण भी इस ओर गतिशील हैं। काव्य वस्तु की दृष्टि से भी कई संत महत्त्वपूर्ण काव्य लिखते हैं, किन्तु एक लघु निबन्ध में इन सबका वर्णन-विवेचन संभव नहीं।

साध्वी समाज में भी इस ओर जागृति का एक वातावरण बन रहा है। यद्यपि साध्वी समाज का ज्ञानाराधन में योग अल्प ही रहा है तथापि वे भी अब आचार्य प्रवर के नेतृत्व में तीव्र गति से इस ओर बढ़ रही हैं। केवल शब्द संकलन ही नहीं, भावप्रधान काव्य-सर्जन में भी वे सफल रही हैं। जरा देखें तो–

झेलने वाला नहीं तो टपकना भी व्यर्थ होगा,
और उड़ने को नहीं नभ, पंख का क्या अर्थ होगा ?
बढ़ रहे जो चरण अविरल कौन जो पथ से हटाये ?
आँख के आँसू उमड़ कर, आँख में ही हैं समाये।
बुझ गई ज्वाला मगर ये कौन अंगारे बुझाये ?

(साध्वी मंजुलाजी)

सागर की उत्ताल तरंगें, जब तट से टकरा कर आईं,
माँझी की अपलक नजरें तब उन लोगों पर जा थम पाईं।
बड़वानल का महाताप जब, मुझे निगलने को ललचाया,
उलझाने के लिए तरी को, भँवर भँवर पर आ मचलाया।
मुझे नहीं था भान अरे, माँझी के पीछे कौन खड़ा था,
क्या तुम ही थे तब से अब तक नौका जो खेते आये हो ?

(साध्वी जयश्रीजी)

इस तरह आध्यात्मिक चेतना से अलंकृत काव्य की ओर तेरापंथ का श्रमण संघ, प्रतिदिन अग्रसर हो रहा है। वह साहित्य जगत को स्वस्थ और मौलिक साहित्य प्रदान करता रहेगा, ऐसी सम्भावना है।



तेरापंथ का लिपि-कौशल व अन्य कलाएँ

(श्रमण सागर)

जीवन कला नहीं पर कला ही जीवन है, यह सत्य है। जीते और मरते सब हैं पर कलापूर्ण जीना और मरना अपना महत्त्व रखता है। विशेषता सीखने से नहीं आती, वह तो सहज है। सहजता में जो आनन्द है वह अनूठा है। कला बाह्य नहीं वह तो अन्तसौंन्दर्य है। अंतर्भावनाओं का साकार रूप कला है। व्यक्ति की अनुपस्थिति में उसकी कृति ही उसका प्रतिनिधित्व करती है। सही अर्थ में तो जो भूत को वर्तमान में अनूदित करे वही कला है। कला के अनेक रूप हैं और वह अनन्त तथा अगम्य है।

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी सविशेष है। छोटे से छोटे जीव-जन्तु में भी कुछ ऐसे कलात्मक ढंग पाये जाते हैं कि उन्हें देखकर मानव चकित रह जाता है। उनके रहने और कार्य करने के प्रकार विचित्र, अनोखे और अपने आप में पूर्ण होते हैं। बया ने घोंसला बनाना कब सीखा, चींटी ने बिल खोदना कब से आरंभ किया, मधु-मक्खी के मधु-संचय व गृह निर्माण की आदि कथा क्या है, कोई नहीं बता सकता। उनका आरंभ सृष्टि के साथ जुड़ा है। सृष्टि अनादि और अनन्त है। विकास काल में वस्तु का विकसित रूप और विनाश काल में उसका अभाव दीख पड़ता है। उदय-अनुदय एक सामयिक बात है,पर वस्तु का मूल सदा सुरक्षित रहता है। पदार्थ के विशेष अंशों की क्षति—व्यय, कुछ विशेषता का आविर्भाव—उत्पाद और इन दोनों के बीच जो शाश्वत सत्य है वह ध्रौव्य है। इसे जैन दर्शन 'पर्यायवाद' कहता है। वस्तु का पर्याय परिणामन प्रतिक्षण होता है। यही विश्व स्वरूप है। न तो सर्वथा किसी वस्तु का विकास होना है, और न सर्वथा किसी वस्तु का उत्पादन ही। कुछ एक बाह्य अवस्थाओं का रूपान्तर ही वस्तु में नवीनता और प्राचीनता दिखाता है; और वही कला है।

लेख्य कला सब कलाओं में प्रमुख है। लेखन ही मानवता का सजीव इतिहास है। लिपि के आधार पर ही आज आचार और विचारों का अनुमान लगाया जा सकता है। व्यक्ति के अनुभव और चिन्तन का माप-तौल ही लेख है। लिपिकला कब से चली इसका इतिहास अधूरा है। आधुनिक इतिहासकार लिपिकला का प्रारम्भ वेदकाल या उसके आसपास से मानते हैं किन्तु जैन पुरातत्त्व इससे और आगे पहुँचता है। इसके आधार और प्राचीन मिलते हैं।

मानव सभ्यता के विकास के प्रारम्भ से ही लिपिकला की आदि कथा प्रारंभ होती है। आदि मानव भगवान ऋषभ ने मानवोचित कर्तव्यों,आचार-व्यवहारों और रहन-सहन की रीतियों का आदेश-उपदेश दिया था, ऐसा कहा जाता है। महामानव आदिनाथ ने अपनी दोनों पुत्रियों ब्राह्मी और सुन्दरी को अपनी गोद में बिठाया। ब्राह्मी भगवान की बायीं ओर बैठी और सुन्दरी दायीं ओर। भगवान ने ब्राह्मी का बायाँ हाथ अपने बायें हाथ में पकड़ा और अपने दायें हाथ से पूरी वर्णमाला लिखकर उसे सिखायी। तभी से वह तदोद्भव लिपि ब्राह्मी (नागरी) लिपि के नाम से प्रसारित हुई। सुन्दरी का दायाँ हाथ भगवान ने अपने दायें हाथ से पकड़ा और अपने बायें हाथ से उसे अंक विद्या सिखाई। वही अंक विद्या गणित के नाम से पुकारी जाने लगी। धीरे-धीरे लिपि और गणित का विकास मानवीय गुणों के साथ बढ़ता गया।

विक्रम की छठी शताब्दि से पूर्व प्रायः समस्त जैन और बौद्ध वाङ्मय गुरु-शिष्य परम्परा से कण्ठस्थ चला आ रहा था। तत्पश्चात् जैनाचार्य श्री देवर्द्धि गणी क्षमा श्रमण ने भविष्य को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित, गणधरों, आचार्यों एवं स्थिवरों द्वारा अनुग्रथित समस्त जैन वाङ्मय को पुस्तकारूढ़ करवाया। उस समय कागज बनने की विधि क्या थी यह कहना कठिन है। ऐसा लगता है कि कागज के अभाव में ही उन्होंने तालपत्र काम में लाये हों। तालपत्र पर लिखे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथों की लिपि-कला इस बात का प्रमाण देती है कि उस युग में लिपि-कौशल उत्कर्ष पर था। लिपि सौन्दर्य के साथ-साथ उनकी सुरक्षा और टिकाऊ रहने के जो प्रकार उन्होंने निकाले सचमुच ही वे तत्कालीन कलाकारों के दीर्घ चिन्तन व अभ्यास के अनुरूप थे। इन पिछले हजार वर्षों की लिपिकृतियों से अनुमान होता है कि लिपिकला किसी युग की प्रमुख कला थी। आज भी लिपि कला के कुछ उत्कृष्ट नमूने तेरापंथ संघ संसार के सामने प्रस्तुत करता है।

आज यांत्रिक युग है। सब काम यंत्रों से चलते हैं। खाने-पकाने से लेकर लेखा-जोखा तक पूरा दैनिक व्यवहार यंत्र से

से चलता है। वहाँ व्यक्ति अपने हाथों से लिखे और एक-एक अक्षर लिखे; कुछ अटपटा सा लगता है। आधुनिक विद्यार्थियों का ध्यान तो लिपि सुधार के लिये है ही नहीं। आज जितना बड़ा व जितना ऊँचा आदमी है उसकी लिखावट उतनी ही खराब पायंगे; मानो महापुरुषों की कोटि में गिने जाने की सरल कसौटी है लिपि का भद्दापन।

आज लिखने के साधन भी इतने अनुपयुक्त हैं कि उससे लिपि सौष्ठव बनता ही नहीं। भले ही वे साधन सर्व सुलभ, सुविधाजनक और टिकाऊ ही क्यों न हों पर हैं वे लिपि कला के उत्कर्ष के सर्वथा प्रतिकूल। अब से कुछ वर्ष पहले तक शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों हस्तलिपि के सुधार व सौन्दर्य पर ध्यान देते थे, परन्तु यह खेद का विषय है कि इधर कुछ वर्षों से टङ्कन यंत्र के अधिक प्रचार हो जाने से इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता है। विज्ञान प्रदत्त सुविधा का यथावश्यक उपयोग ठीक और उचित है, परन्तु उसकी पराधीनता अच्छी नहीं। उससे हम जीवन की एक बड़ी कला से हाथ धो बैठेंगे। अतः यह आत्म गौरव का विषय है कि हमारे पूर्वाचार्यों ने अपनी दूरदर्शिता से संघीय स्वातंत्र्य की दृष्टि से हमें लिपि-कौशल दिया।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षुगणी एक उच्च कोटि के महापुरुष थे। वे दार्शनिक, कवि और लेखक तो थे ही; साथ-साथ एक कुशल कलाकार भी थे। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी आचार्य भारमलजी की बचपन से ही लिपि कला की ओर अभिरुचि बढ़ाई। उनका अपना अनुभव था—बिना लिखे कला आती ही नहीं। वे स्वयं हाथ पकड़-पकड़ कर लिखना सिखाया करते थे। लिखते लिखते अक्षर स्वतः जम जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने अपने हाथ से अनेकों ग्रंथ लिखे। उन्होंने अपने जीवन-काल में लगभग ३८००० पद्यों की रचना की। आचार्य भारमल जी ने उनको लिपिबद्ध किया। वे मूल प्रतियाँ आज भी तेरापंथ संघ का प्राण बनी हुई हैं। उनका लिपि-सौन्दर्य देखते ही बनता है। उनकी लिपि शैली वही प्राचीन शैली है।

प्राचीन शैलियों में राजस्थान अपना ऊँचा स्थान रखता है। कालू, लूणकरण सर, पुगल, सूरतगढ़, उदयपुर, चाडवास (जो बीकानेर के समीप है) और खींवसर (मारवाड़) की हस्तलिपियां अत्यन्त सुन्दर, स्पष्ट और दर्शनीय मानी जाती हैं। प्राचीन भाण्डारों को देखने से पता चलता है कि उन लोगों के मनोयोग कितने सुस्थिर, हाथ कितने सधे हुए और विचार कितने मँजे हुए थे।

उन दिनों जैन शिल्प विज्ञान का स्थान बहुत उन्नत था। जैन कलाकार स्थापत्य, शिल्प, लिपि और जीवन की सभी कलाओं में निपुण थे। वे भारतीय कला के शृंगार रूप थे। समुपलब्ध जैन साहित्य को अगर साहित्य भाण्डार से अलग कर दिया जाय तो शेष भारतीय साहित्य कला में क्या रहेगा? जैन कला ने भारतीय कला में भोजन में नमक का काम किया है।

अबतक प्राप्त जैन प्रतियों में कागज पर लिखी प्रति वि०सं० १२ वीं शताब्दी की देखने में आती है। प्राचीन लिपि क्रम कुछ विचित्र सा है। मात्राएँ अक्षरों के पीछे हैं। अक्षरों में भी लिपि-भेद है।

तेरापंथ के तृतीयाचार्य श्रीमान् रायचन्द स्वामी तक वही प्राचीन शैली प्रचलित रही। तेरापंथ की एक शताब्दि के बाद जयाचार्य ने अनेकों परिवर्तन किये। उनमें लिपि कला भी एक है। वे करीब-करीब सब दृष्टियों से परिवर्तन प्रेमी थे। उनमें रूढ़िगत विश्वास नहीं थे। वे बड़े आत्मश्रद्धालु और अपनी धुन के पक्के थे।

आचार्य भिक्षु स्वामी एक बार गोगुन्दा पधारे। वहाँ के पोरवाल उपाश्रय में उन्हें भगवती सूत्र की एक प्रति मिली। प्रति अत्यन्त मनोहर और कलापूर्ण थी। उसकी पत्र संख्या १८०० और वजन लगभग ९ सेर था। भगवती की वह विशालकाय प्रति आज भी तेरापंथ के चल-भांडार में सुरक्षित व सुशोभित है। उसी प्रति से जयाचार्य को एक नवीन सूझ मिली। उन्होंने उसी लिपि के आधार पर अपने युवराज मघवागणी को लिपिकला सिखाई। वहीं से तेरापंथ के नवीन लिपि-क्रम का प्रारंभ होता है। मघवागणी की लिपि बहुत साफ, सुन्दर और शुद्ध थी। उन्होंने लिपि कला में एक और अध्याय जोड़ा कि अक्षर सूक्ष्म लिखे जावें। अक्षर जितने सूक्ष्म होंगे कागज उतने ही कम होंगे तथा वजन उतना ही हल्का रहेगा।

जैन मुनि आजीवन पैदल यात्री होते हैं। उनका बोझ उनके कंधों पर होता है। अपने हाथ पैर ही स्वयं मजदूर हैं। उनका कोई स्थान मकान नहीं होता। अतः साधु की वस्तु साधु के साथ चलती है। सर्वप्रथम आचार्य मघवागणी ने सूक्ष्माक्षरों का एक पत्र वि०सं० १९३३ की श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को लाडनूं (मारवाड़) में लिखा। इसमें एक ओर ३८ पंक्तियाँ

और दूसरी तरफ ४९ पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में १३२ के अनुपात से अक्षर हैं। श्लोक संख्या ३३० है। पत्र का मान लम्बाई में १०$\frac{1}{2}$ और चौड़ाई में ४$\frac{1}{2}$ इंच है। अक्षर ११५०० के करीब हैं। इससे पहले इतने बारीक अक्षर तो देखने में नहीं आए। इससे पूर्व मुनि श्री जीवराजजी अपनी जोड़ी के एक ही संत थे। वे अच्छे लिपिकार थे। उन्होंने भगवती सूत्र (सोलह हजार श्लोक प्रमाण ग्रंथ) को केवल चालीस पत्रों में लिखा था।

तेरापंथ के पंचमाचार्य श्री मघवागणी के प्रिय शिष्य श्रीकालूगणी (जो आगे चलकर अष्टमाचार्य हुए) के भी वे ही संस्कार थे। बचपन में जमे संस्कार परिपक्व होते हैं। संस्कारी के संस्कार क्रमशः बढ़ते जाते हैं। दीपक से दीपक जलता है। एक के संस्कार अनेकों में आए। अष्टमाचार्य श्री कालूगणी एक बड़े दिग्गज आचार्य थे। उनका प्रताप अखंड था। आपने अपने युग में तेरापंथ का अत्यधिक विकास किया। आपने क्षेत्र से, सम्पदा से, साधु-साध्वियों से, कला से और विद्या से तेरापंथ संघ को आगे बढ़ाया। आप के शासन काल में सैकड़ों साधु-साध्वियों ने इस दिशा में पर्याप्त प्रगति की। जहाँ राजस्थान की महिलाएँ निरक्षर होती हैं वहाँ अनेकों विदुषी साध्वियाँ लेखिकाएँ बनीं और सैकड़ों ग्रंथों की शुद्ध प्रतिलिपियाँ करने में सफल रहीं। लिपि-कला में साध्वी-समाज बहुत आगे बढ़ा। महासती गुलाबांजी (जो मघवागणी की संसारपक्षीय बहिन थीं) को भी वहीं से परिमार्जन मिला। उनकी लिपि अत्यन्त दर्शनीय और कलापूर्ण थी। जयाचार्य की प्रायः सभी रचनाओं की आदि प्रतियाँ उन्होंने ही लिखी थीं। शुद्धता उनके लेखन की विशेषता थी। वे बिना काट-छांट के साफ और निखोट विशुद्ध लिखा करती थीं। उनका मनोयोग बहुत ही सुस्थिर था। उनका लेखन यांत्रिक युग को चुनौती कहा जा सकता है।

वि०सं० १९७७ की कार्तिक कृष्णा १५ (दीपावली) को भिवानी (पंजाब) में फिर एक पत्र तेरापंथ के प्रसिद्ध लेखक मुनि श्री कुन्दनमलजी जावदवालों ने लिखा। पत्र का मान ९$\frac{1}{2}$×४$\frac{1}{2}$ इंच है। उसमें ११४ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में २८० अक्षर के लगभग हैं। कुल श्लोक संख्या २००० है। इस अनुपात से चौंसठ हजार अक्षर एक पत्र में लिखने का सफल प्रयोग हुआ है। इसके पूर्व अभ्यास काल में भी मुनिश्री ने अनेक छोटे-मोटे पत्र लिखे थे। मुनि श्री कुन्दनमलजी तेरापंथ के एक ख्यातनामा कलाकार थे। उन्होंने अपनी साठ वर्ष की वृद्धावस्था में भी लिखने का क्रम चालू रखा। वे सुबह से लेकर शाम तक लिखने में सतत प्रयत्नशील रहते। उन्हें लिखने का नशा सा था। उत्तराध्ययन जैसे विशाल सूत्र को एक पत्र में लिख देना इनकी निरन्तर लिपि-कला आराधना का ही सुफल मानना चाहिये।

शासन का भार आचार्य श्री तुलसी द्वारा संभालने पर लिपि-कला में एक बार और उफान आया। नब्बे प्रतिशत साधु व साध्वियाँ लेखक बनीं। प्रति वर्ष सैकड़ों प्रतियों की प्रतिलिपियाँ होकर आतीं और माघ महोत्सव के अवसर पर आदान-प्रदान का एक स्मरणीय चित्र बन कर रह जातीं। वि०सं० २००२ में भिवानी (पंजाब) में श्रावण शुक्ला ५ को पचास दिनों के अनवरत प्रयत्न से मुनिश्री नेमीचन्दजी ने एक पत्र प्रस्तुत किया। इसकी एक ओर १०६ पंक्तियाँ हैं। प्रति पंक्ति में ३४४ अक्षर अंकित हैं। कुल श्लोक संख्या २३०० है। ९$\frac{1}{2}$×४$\frac{1}{2}$ इंच के एक पत्र में इस तरह ७२००० अक्षरों का लिखना सचमुच ही आश्चर्यजनक है। तत्पश्चात् एक और प्रयत्न किया गया, जिसे संयोगवश बीच में ही छोड़ देना पड़ा। उसका अनुपात एक लाख अक्षरों का होता है। उन्होंने भी छोटे-मोटे कागज लिखे। मुनि श्री जशकरणजी, मुनि श्री आशकरणजी, मुनि श्री मानमलजी आदि अनेकों मुनियों ने एक-एक पत्र में सात-सात सौ श्लोक लिखे। मुनि श्री सोहनलालजी (सुजानगढ़) ने भी सूक्ष्म लिपि में अच्छा कौशल पाया। अभी-अभी एक पत्र मुनि श्री हरखलाल जी लाघूड़ा ने भी लिखा है जो ६८ पंक्तियों में है। प्रति पंक्ति में १८४ अक्षरों के हिसाब से अनुमानतः कुल २५०२४ अक्षर होते हैं।

उपर्युक्त सभी पत्र दोनों ओर से लिखे गए हैं। लेखकों की विशेषता तो इस बात में है कि नित्य नवीन स्याही से लिखने पर भी अक्षरों में फीकापन अथवा गहरापन प्रतीत नहीं होता। उन साधकों के मनोयोग की स्थिरता का परिचय कागज की सफाई देती है। इतने सूक्ष्म अक्षर लिखने पर भी कहीं एक भी अक्षर कटा हुआ अथवा छूटा हुआ या छोटा-मोटा-सा नहीं लगता। इससे भी अधिक आश्चर्य तब होता है, जब उस पत्र को आँखों से पढ़ा जाता है। किसी यंत्र या ऐनक की सहायता के बिना इतना बारीक अक्षर लिखना सचमुच ही संसार का आठवाँ आश्चर्य है। लेखकों की कलम वही पुरानी वट की कलम है। इतने पर भी पत्र का आद्योपान्त सौन्दर्य कम नहीं हुआ है। सूक्ष्मवेक्षण यंत्र के सहयोग से देखने पर पता चलता है कि पूरा कागज साफ-सुथरा, बिना काट-छांट के, सांगोपांग तथा पदच्छेद, अंक, अध्यायपूर्ति व प्रशस्ति से युक्त है।

अभी कुछ और साधु-साध्वियाँ इस दिशा में बढ़ने के प्रयत्न में हैं। देखें वे कहाँ तक बढ़ पाती हैं। कुछ वर्ष पूर्व साध्वी-समाज में भी सूक्ष्म लिपि का आकर्षण बढ़ा। अनेकों ऐसे छोटे-मोटे पत्र लिखे गये। बेल-बूटों, मोनोग्राम और अनेकों चित्रों को सूक्ष्म लिपिमय किया गया। देखने में वे सीधी-सादी काली पंक्तियाँ सी लगती हैं पर प्रयत्न से पता लगता है कि प्रत्येक पंक्ति सैकड़ों अक्षरों का समूह है। लगता है इस होड़ में साध्वियाँ साधुओं से कहीं आगे बढ़ जायेंगी। उन सूक्ष्माक्षर लेखिकाओं के नाम यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दे पा रहा हूँ; अतः उन लेखिकाओं से क्षमाप्रार्थी हूँ।

तेरापंथ संघ का लिपि विज्ञान अपना निर्जीव महत्त्व रखता है। इसमें अपूर्व सौन्दर्य है। उनके लिखने की साधन-सामग्री प्राचीन है। वे सांठी की पुरानी कलमों से लिखते हैं। कलम काटना भी एक अद्वितीय कला है। आचार्य कालूगणी के शब्दों में—जिसे कलम काटना नहीं आता वह अधूरा लेखक है। तेरापंथ की अक्षर जमाने की पद्धति भी अनोखी है। प्रारम्भ में सीधी जमीन पर रेत बिछाकर लेखक को अभ्यास कराया जाता है। जब उस रेत में लिखने का अभ्यास हो जाता है तब उसे लकड़ी की पाटी दी जाती है। एक लकड़ी की काली तख्ती पर पीली हरताल से मोटे-मोटे अक्षर लिख दिये जाते हैं। उन पर वार्निश कर दिया जाता है। उसी लिखी तख्ती पर अभ्यासी खड़िया मिट्टी से लिखता है। उसके बाद पतला गत्ता जो काली स्याही से लिखा होता है, अभ्यासी को दिया जाता है। उस गत्ते पर बारीक कागज लगाकर अभ्यासी अक्षरों पर अक्षर लिखता है। यों धीरे-धीरे वह स्याही से हाथ साध लेता है। अब उसे लिखने को कागज दिये जाते हैं। रफ कागज पर मोटे-मोटे अक्षर लिखते-लिखते वही सुन्दर लेखक बन जाता है।

एक गत्ते पर कपड़ा लगाकर उस पर क्रमशः धागे बाँध दिये जाते हैं ताकि प्रतिलिपि करते समय पंक्तियाँ सीधी रहें। धागों की दूरी समान रहती है। उस पर वार्निश कर दिया जाता है ताकि धागे हिल न सकें। वही साँचा 'फांटियों की पटड़ी' कहलाता है। लेखक कोरा कागज लेता है और फंटियों की पटड़ी पर उसे ठीक विधिपूर्वक जमा देता है—एक हाथ से उसे मजबूती से पकड़कर दूसरे हाथ से धीरे-धीरे उन धागों पर दबाव दिया जाता है। उभरे हुए धागे कागज पर जम जाते हैं। वे पंक्तियाँ सीध के चिह्न बन जाती हैं। उन्हीं चिह्नों के आधार पर लेखक लिखता रहता है। इस रीति से पंक्तियाँ सीधी, सुन्दर और इकसार रहती हैं। पेंसिल से अगर रूलिंग करें तो कागज पर दाग पड़ जाते हैं। उन्हें उठाने में अक्षरों का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इन सब कठिनाइयों का हल यह सुगम तरीका कर देता है। फांटियों की पटड़ी भी एक कला है। हस्तलिपि का साधन भी कलापूर्ण हो यह एक और विशेषता है।

लिखते समय कागज पर पसीना न लगे, अतः एक छोटा सा गत्ते जैसा टुकड़ा रखते हैं। वह भी हाथ से बनता है। उसे हम 'चिपनियों' कहते हैं। हमारे लेखक आधुनिक लेखक की तरह मेज कुर्सी का उपयोग नहीं करते। उनका लेखन दफ्तर उनके साथ ग्राम व नगर में सर्वत्र रहता है।

वे एड़ियों के बल बैठते हैं। दोनों घुटने कुछ खड़े सीधे रहते हैं। घुटनों पर एक लकड़ी की तख्ती रहती है। उस पर दो तह के कपड़े की पतली पटड़ी रहती है। उपर्युक्त लाईनदार कागज उस पर रखते हैं। पसीने से बचने के लिये, 'चिपनियाँ' उसके ऊपर रहता है। तेज हवा से कागज उड़ न जाए, अतः दो बन्दर (clip) उस पर लगा देते हैं। हाथ द्वारा सरलता से बनने पर भी बन्दर में उपयोगिता और कला का सहज दर्शन होता है। बाँस के एक टुकड़े के ऊपर और नीचे से दो चीर लगाये जाते हैं। इन दो चीरों में छोटे-छोटे दो तृणखंड फँसा दिये जाते हैं। जब दोनों चीरवाले भागों को हाथ से दबाया जाता है तो एक चीरवाला भाग खुल जाता है; और वही हमारा प्राचीन बन्दर बन जाता है।

लेखक अपने पास एक कलमदान भी रखता है जो कपड़े की ल्हाई से सटाकर हाथ से बनाया जाता है। कलमदान खूबसूरत और टिकाऊ होता है। कलमदान में पाँच-सात कलमें, दो-तीन पीछियाँ, बाँस शलाका, लकड़ी की एक छोटी-सी टोपसी में सफेदा, एक में हरताल और एक बड़ी टोपसी में हिंगलू घुला रहता है। लिखते-लिखते जब प्रमाद वश गल्ती लिख जाती है तब लेखक तुरन्त सफेदा या हरताल थोड़ा सा पानी में घोल कर लिखे अक्षर पर लगा देता है। वह अक्षर उस रंग से दब जाता है। सूख जाने पर उसे घोंटकर उसी स्थान में दूसरे अक्षर लिख दिये जाते हैं इससे पंक्तिभेद नहीं रहता और रिक्त स्थान भद्दा भी नहीं लगता है। देखने में पत्र का सौन्दर्य ज्यों का त्यों बना रहता है। सफेद कागज पर प्रायः सफेद और पीले रंग के कागज पर प्रायः हरताल लगाने की प्रथा है।

तेरापंथ का लेखन प्रायः काली स्याही से होता है। साध रात को स्याही गीली नहीं रखते। सूर्यास्त से पूर्व ही वे स्याही

को एक टोपसी में डाल कर उसमें कपड़ा छोड़ देते हैं। कपड़ा स्याही पी जाता है। दूसरे दिन नया कपड़ा डालकर उस स्याही को निचोड़ लेते हैं। वह निचोड़ी हुई स्याही एक दवात में छान कर ले ली जाती है। दवात भी कलात्मक होता है। छोटा सा लकड़ी का बना हुआ दवात होता है जिसे हम 'कूंपला' कहते हैं। कला तो वही है; नित्य नई स्याही से लिखने पर भी यह प्रतीत नहीं होता है कि स्याही दो प्रकार की हैं। प्रति के पदच्छेद, अंक, अध्यायपूर्ति, आदि लाल हिंगलू से दिये जाते हैं। इससे काली स्याही से लिखे पत्र का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। कुछ ध्रुवपद, स्थाई आदि हिरमच (सोनागेरू) से रंग दिये जाते हैं। इधर-उधर की छोड़ी हुई लाईन पर लाल लाईन रहती है जिसे 'फाँटिया' कहते हैं। फाँटिया देने की स्केल भी हाथ से बनी होती है। यह एक लकड़ी का लम्बा फुट होता है जो एक ओर से घिसा तथा दूसरी ओर से सही रहता है। सही सिरा ऊपर रखते हैं। नीचे की धार घिसी रहने के कारण कागज से ऊपर रहती है और उसी के आधार पर फांटिया दिया जाता है। कागज के ऊपर के खाली स्थान को 'जिह्वा' कहते हैं। दोनों बाजुओं के खुले स्थान में एक ओर प्रति का नाम व दूसरी ओर पत्र संख्या लिखी रहती है।

लिखे पत्रों की सुरक्षा के लिये लेखक 'पूठा' रखते हैं। पुट्ठा कपड़े का होता है। कागज को मुड़ने और बरसात आदि से बचाने के लिये पूठा एक उपयुक्त साधन है। पढ़ते समय विद्यार्थियों के हाथ का पसीना न लगे अतः हरी और सफेद दो तरह की पटड़ियाँ बनाई जाती हैं। हरी पटड़ियाँ कागज की और सफेद प्रायः कपड़े की होती हैं। वे भी कलापूर्ण ढंग से बनती हैं। एक लकड़ी की 'कामी' उन पत्रों के ऊपर होती है जो अंगूठे से कागज की रक्षा किया करती है।

स्याही, हिंगलू, हरताल, सफेदा, हिरमच, दवात, प्याला, हिंगलू व हरताल तथा सफेदे की टोपसी, पीछी, पाटी, पटड़ियां, पूठा, चिपनियाँ, कामी, फांटियों की पटड़ी, कलमदान, कलम, स्याही में पानी डालने के लिये एक नोजे के छिलके से बना हुआ छोटा चम्मच, बन्दर आदि कुल मिला कर जितनी भी सामग्री लेखक के लिए अपेक्षित है, वह सब प्रायः हाथों से ही बनती है। संघ की व्यवस्था के अनुसार प्रायः पूरा का पूरा कार्य साध्वी समाज करता है।

लेखक-लेखिकाओं का परिचय असंभव है। उनमें से कुछ विचित्र भी हो गये हैं जो ६ मास की कठोर तपस्या में भी ५०० पत्रों का लेखन कर चुके हैं। एक-एक दिन में पाँच-पाँच पत्रों को लिख देना उनकी आत्मसाधना का ही परिचय है। कई ने तो पूरी की पूरी "बत्तीशी" लिख डाली है। कई ने लाखों पद्यों को अनूदित कर दिया है और कुछ लेखकों ने पुस्तक की पुस्तक लिख दी। लिखे पत्रों को देखकर द्रष्टा मंत्रमुग्ध हो जाता है। पत्र मुंह बोलते हों--ऐसा लगता है। क्या ही सुन्दर लिपि है! यंत्र से छपे हुए अक्षरों में शायद फीका अथवा गहरापन, छोटा अथवा बड़ापन, नजदीकी और दूरी मिल सकती है पर इन पत्रों में नहीं। छपे पत्रों से भी वे हस्तलिखित पत्र कहीं बेहतर हैं। पत्रों के लिखने में एक और विशेषता यह है कि लेखक उनमें बीच-बीच में कुछ स्थान रिक्त छोड़ देता है। इसे हमलोग बावड़ी कहते हैं। बावड़ी भी कला का नमूना है।

आगम लेखन में मूल पाठ मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा जाता है और पाठ के ऊपर नन्हे-नन्हे अक्षरों में उसका 'टब्बा' (भाषान्तर)। सटीक आगम लेखन की पद्धति कुछ और ढंग की है। व्याख्यान और तरीके से लिखे जाते हैं। भजन-गायन लिखने की शैली कुछ और भिन्न है। पंजिका, चूर्णि आदि लिखने की डिजाइन कुछ और भिन्न है। कुछ पत्रों के मूल मोटे अक्षरों में, संस्कृत छाया लाल और टीका बारीक अक्षरों में लिखी जाती हैं।

संघ के प्रत्येक साधु-साध्वी किसी न किसी रचनात्मक कार्य में व्यस्त रहते हैं। वे साधारणतया दिन में खा-पीकर आराम से लेट नहीं सकते। उनकी चर्या व्यस्त चर्या रहे और वे निठल्ले होकर इधर-उधर घूमें नहीं, ऐसा विचारकर हमारे पूर्वाचार्यों ने मनोवैज्ञानिक ढंग से काम लिया। स्त्रियों की प्रायः सीने और बुनने में अधिक रुचि पाई जाती है। संघ की आवश्यकताएँ स्वावलम्बन से ही पूरी हो सकें, और अपनी अभिरुचि के अनुरूप उन्हें कार्यक्षेत्र मिलता रहे और कला में अभिरुचि बढ़े ऐसी प्रेरणाएँ समय-समय पर मिलती रही हैं।

जैन साधुओं के हाथ में एक रजोहरण (ओघा) रहता है। वह ऊन का बना होता है। ऊन की बनी कम्बलों से तार निकाल कर बट् बनाया जाता है। उसकी पूर्ति सुविधा से हो, अतः श्रीमज्जयाचार्य ने एक संविधान बनाया। बाहर घूमनेवाले प्रत्येक साध्वी-संघ को एक रजोहरण हर साल लाकर आचार्य श्री को समर्पित करना पड़ेगा। रजोहरण इससे पूर्व सीधा लिया करते थे। जयाचार्य ने इस प्रथा को यों मोड़ा। तब से तेरापंथ संघ अपना कार्य स्वावलम्बन पूर्वक

करने लगा। रजोहरण का उपयोग अहिंसा पालन में होता है। रात में चलते समय किसी प्राणी की हिंसा न हो जाय, अतः साधु रजोहरण से पूंज-पूंज (पोंछ-पोंछ) कर चलते हैं।

रजोहरण एक दर्शनीय कला का निदर्शन है। कलाकारों का कौशल उसकी मनोहारिता में है। लगभग डेढ़ इंच की बलभरी नाकी पर ४०-५० तार का एक पोटा बांधा जाता है। पोटा बिना सिलाई और गांठ के केवल आंट देकर बाँधते हैं। नाकी पर पोटा और पोटे के नीचे लटकते तार एक गुच्छक की भाँति प्रतीत होते हैं। नीचे तार तीन-तीन तारों को बल देकर बनाया जाता है जिसे हम 'फली' कहते हैं। दो सौ फलियों को एक डोरी में पिरोकर ओघा बनता है। नाकी और पोटे के बीच एक सूत की सांकली (शृंखला) डालते हैं। इसे देखकर सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि यह हाथ से बुना हुआ है। इन तारों को हाथ से बाँटा व गूंथा जाता है। फिर भी इनमें मैलापन नहीं पाया जाता। पोटों और नाकियों का उतार-चढ़ाव एक सुन्दर मुक्ताहार की भाँति सुशोभित होता है। रात को सोते समय या इधर-उधर करवट बदलते समय एक छोटी परिमार्जिनी भी (पूंजणी) रहती है। वह भी ओघे की भाँति ही बुनी जाती है। उसमें ५०-६० फलियाँ होती हैं। प्रतिवर्ष इस तरह के रजोहरण और पूंजणियाँ ६०-७० के लगभग आती हैं। माघ महोत्सव पर आचार्य श्री इन्हें यथावश्यक वितरित कर देते हैं। रजोहरण में पिरोई जानेवाली डोरियाँ संघ स्वयं बुनता है। ओघे की डांडी पर बँधे 'नीसिथिये' (रस्सी) की गूंथाई भी दर्शनीय है।

इसके साथ-साथ कुछ 'मुक्ता-मालाएँ' धागे में गूंथकर बनाई जाती हैं। माला के दाने या मणके अत्यन्त मनोहर और सुन्दराकृतियुक्त होते हैं। कुछ डोरियों को जो शास्त्र बांधने के काम आती हैं, देखकर दर्शक यह नहीं कह सकता कि यह हाथ की हैं। कुछ मोटी रस्सियाँ जिन्हें हम 'नांगला' कहते हैं, बुनकरों की कला का प्रदर्शन करती हैं। सिलाई का काम भी साधु संघ परस्पर करता है। साध्वियाँ जातिगत ही इस कला में निपुण हो जाती हैं। सिलाई की विशेषताएँ देखने योग्य होती है। कितना सूक्ष्म, कितना सीधा, कितना सुन्दर और कितना कलात्मक कार्य कलाकार करते हैं यह देखते ही बनता है। दो कपड़ों का जोड़ ऐसा होता है कि लगता है कि जोड़ है ही नहीं। बेचारी मशीन भी भला ऐसा क्या जोड़ सकेगी। केवल किनारे की धारी-सी दिख पड़ती है। 'बखिया' व 'ओटण' के उत्कृष्ट नमूने संघ की साधु-साध्वियाँ समाज के सामने प्रस्तुत करती हैं। यह सब कलाकृति जीवनोपयोगी कला हैं।

जैन साधु कोई भी धातुमय पदार्थ अपने पास नहीं रखते। उनके भोजन व पानी के पात्र भी लकड़ी, लाऊ, तुम्बा या मिट्टी के ही होते हैं। लकड़ी के पात्र पर वार्निश कर दिया जाता है जिससे लकड़ी सर्दी या धूप से घूम या तड़ककर फट न जाये। पात्र पर रोगन व रंग हाथ से लगाते हैं। पात्र-निर्माण कला भी तेरापंथ संघ की दर्शनीय कला है। प्रत्येक पात्र पर व्यक्तिशः अपना-अपना नाम लिखा होता है। इससे सैकड़ों पात्रों के सम्मिलित हो जाने पर भी वे एक दूसरे से मिलते नहीं, खोते भी नहीं, या बिना पते के इधर-उधर पड़े भी नहीं रहते। खराद पर के उतरे लकड़ी के पात्रों में से कुछ एक सीधे वार्निश से रंग दिये जाते हैं तो कुछ काले और सफेद रंगों में। इन रंगों में भी आध्यात्मिक उद्देश्य रहता है।

रंग-रोगन बिना ब्रुश (तूली) के अंगुली से ही लगाया जाता है। रोगन लगाकर उन्हें सुखाने का प्रयोग भी कलापूर्ण है। इन्हें ऐसा सुखाया जाता है कि जिससे वह रजकणों से बचा रहे। रंगे पात्र की पालिश में मुंह देखा जा सकता है। इतनी सुन्दर रँगाई फव्वारे से भी शायद ही हो पाये। यह अंगुली से रंगा गया है, देखने वाला सहसा यह मानने को तैयार नहीं होता। एक और विचित्र पात्र निर्माण कला पाठक तेरापंथ संघ में पाएँगे जिसे देख कर यह अनुमान लगाना कठिन है कि यह वस्तु क्या है। नारियल के ऊपर के छिलके से उन्हें बनाया जाता है। जिस नारेली को लोग फेंक देते हैं; साधु उसे उपयोग में लाते हैं। कलाकार की कला तभी प्रस्फुटित होती है जब कि निकम्मे से निकम्मे पदार्थ को भी सदुपयोगी बनाया जावे। नारेली को एक कटोरी या प्याली की आकृति में बनाया जाता है। इसे संत लोग पानी पीने के काम में लाते हैं। नारेली को कांच के टुकड़े से घिसकर बड़ा कर देते हैं। उस पर भीतर सफेद और बाहर लाल रंग लगाया जाता है। नीचे वह अच्छी तरह टिकी रहे, अतः एक वलयाकार नारेली का टुकड़ा या दूसरा राख आदि का बना हुआ बिलिया अत्यन्त कुशलता पूर्वक जोड़ दिया जाता है। उसे 'पिडगी' कहते हैं। पिडगी का जोड़ दर्शनीय होता है। प्याले को देखनेवाला "खराद से उतारा गया है" ऐसा कहेगा। प्याला के बाहर बेल-बूटों के रूप में शिक्षात्मक पद्य भी लिखे जाते हैं। यह देखने योग्य होता है। इस कला में साध्वी समाज प्रगति पर है। प्याले पर लिखना कठिन तो अवश्य है पर वे लेखिकाएँ दैवी शक्ति को मानवीय हस्त कला के रूप में प्रकट करती हैं।

नारियल की छोटी-छोटी टोपसियाँ भी बनती हैं। कुछ उनके सेट के सेट बनाते हैं। उन्हीं टोपसियों से चित्रकारों की 'कलर मंजूषा' भी बनाई जाती है। शाकादि पदार्थ लेने या रखने के लिये कुछ काले चम्मच के रूपक भी बनते हैं जिन्हें हम 'कल्प की टोपसी' कहते हैं।

हम कल्पना कर सकते हैं कि लकड़ी के इतने हल्के और पतले बरतन कितने जल्दी टूट जाते होंगे। पर संत समाज उन्हें सावधानी एवं चातुर्य से व्यवहृत करते हैं। जब कभी संयोगवश पात्र टूट जाता है तो उसका जोड़ कला-दर्शन का उत्कृष्टतम नमूना होता है। बरमे से छेद कर टूटे टुकड़ों को सुई के धागे से सी देते हैं और उसपर राख को वार्निश में मिला कर लगा दिया जाता है। यही हमारा घोल है। हम उसे 'मली' कहते हैं। पदार्थ उपयोगिता का भाण्डार है। उसे उपयोग में लेने वाला चाहिए। साध्वियाँ रंग-रोगन और जोड़ देने की कला में प्रवीण हैं। लाऊ–तुम्बा भी बड़े विचित्र ढंग से पानी रखने के लिए रखा जाता है। पीला और लाल रंग का बना तुम्बा जिसे हम 'लोट' कहते हैं देखते ही बनता है। दर्शक कल्पना नहीं कर सकता कि यह तुम्बा है। लोट इधर-उधर लुढ़क न जाए अतः उसके नीचे तीन पाये (गोटियाँ) लगा दिये जाते हैं। हम उसकी उपयोगिता को जरा आंकें। पिछले साल एक साध्वी ने तुम्बे के दो टुकड़ों को बीचो-बीच साँध कर एक तुम्बा बनाया था। इसे देखकर आश्चर्य हुआ। उसका जोड़ जब तक बताया न जाये मालूम नहीं होता था।

कभी-कभी जब टूटे हुए पात्रों के सफाई से जोड़ने की परस्पर प्रतियोगिता हो जाती है तब साध्वियाँ उन जोड़ के निशानों को इस तरह छुपा देती हैं कि ढूंढ़ने पर शायद ही उसका पता लगे। जोड़ देने की कला में साध्वी श्री रतनांजी (राजलदेसर) एक विलक्षण कलाकार हैं।

जब तक प्लास्टिक की थैलियों का आविष्कार नहीं हुआ था हमारी साध्वियाँ बारिश से पुस्तक के पन्नो की रक्षा के लिये मोमवस्त्र का प्रयोग करती थीं। मैण की खोलियाँ बनाने का ढंग भी अनोखा था। सहसा पानी और सीली हवा से शास्त्र की सुरक्षा का कार्य यों हुआ करता था।

बिना जूता पहने चलनेवाले पैदल यात्री इस बात का अनुभव करेंगे कि जब कभी काँटा लग जाये तो एक कदम भी चलना कितना दूभर हो जाता है। साधु कोई धातु की सुइयाँ अथवा चिमटी अपने पास नहीं रखते। वहाँ जंगल में काँटा निकालने का साधन जुटाना कठिन है। तेरापंथ के कलाकारों ने 'कंटकात् कंटकोधरेत्' को साकार बनाया। मारवाड़ में एक काँटेदार वृक्ष होता है जिसे 'हिंगोड़ा' कहते हैं। सूखे हुए हिंगोड़े के काँटों को एक कपड़े में लपेट कर उसे ऊपर से धागे से बाँध लेते हैं। वह हमारा शूलों का घर है। शूल से काँटा खोद लेते हैं और साथ ही एक चिमटी जो कि हाथ में लकड़ी या प्लास्टिक की बनी होती है, से खींच लेने का काम लेते हैं।

दन्तशोधनी और कर्णशोधनी भी देखने योग्य होती हैं। जैन चित्र कला कौशल प्रधान है। (तेरापंथ के) प्राचीन कलाकार उस शैली में काम लेते थे। आधुनिक चित्रकार प्राचीन शैली में कुछ नवीन शैली का मिश्रण कर शिक्षात्मक चित्र बनाते हैं।

कर्मफल संयुक्त स्वर्ग-नरक के चित्रों से साधारण जनता में अच्छा प्रभाव पड़ता है। जहाँ वक्ताओं की लच्छेदार भाषा काम नहीं करती वहाँ हमारे चित्र लोगों में मूक हृदयस्पर्शी ज्ञान जाग्रत करते हैं। पारलौकिक चित्रों के अतिरिक्त बौद्धिक व्यायाम के लिये कुछ प्रच्छन्न चित्र भी बनाए जाते हैं। इनमें से ढूंढ़ कर अभीष्ट आकृति निकाली जाती है। एक चित्रा-कृति में अनेक चित्राकृति भी एकाग्रता का एक उदाहरण है। उलट-पलट कर एक आकार को किसी दूसरे आकार में परिवर्तित करना भी एक हस्तकौशल है।

द्विशताब्दि समारोह के उपलक्ष में युगप्रवर्तक श्री तुलसी की विशेष आज्ञा तथा वयोवृद्ध मिष्टभाषी महामना श्री भाई जी महाराज (आचार्य श्री तुलसी के ज्येष्ठ बन्धु मुनि श्री चम्पालालजी स्वामी) के प्रेरणात्मक सहयोग और सतत परामर्श से आचार्य श्री भिक्षु की "जीवन-झाँकी" चित्रावली पिछले वर्ष चित्रित की गई। इससे ऐसा लगता है मानो आचार्य भिक्षु के कुछ अतीत जीवन-प्रसंग मूर्तमान हो उठे हैं। महापुरुषों के जीवन का अंकन बहुत बड़े प्रयत्न की अपेक्षा रखता है। अतः उसमें अनेकों माँगें अभी अधूरी हैं। फिर भी यह तेरापंथ के कलाकारों का अपना एक परिचय तो अवश्य है। इस चित्रावली के प्रमुख चितेरे श्री दुलीचन्दजी (सन्त दूल्ह) हैं। मुझे भी अपनी कलम चलाने का सौभाग्य मिला है। हम दोनों कृतकृत्य हैं। इस महान ग्रंथ में प्राचीन चित्रकारों के चित्र तो आधुनिक

प्रगतिवादी चित्रों की अनुकृति सी लगती है। इन आधुनिक भावचित्रों को देख कर वे प्राचीन चित्र याद आए बिना नहीं रह सकते। कथाचित्र, अनेक रूप चित्र और अन्यान्य श्लोक बन्ध आदि चित्र संघ में काफी प्रचलित रहे हैं। प्राचीन चित्रकारों में मुनि श्रीचाँदमलजी, मुनि श्री कुन्दनमलजी एवं मनि श्री सागरमलजी (भिवानी) तथा साध्वी श्री चिमनांजी प्रमुख रही हैं। चित्रकारों के ब्रुस (तूलिका) मोर पाँ के बाँधे हुए बालों के होते हैं।

तेरापंथ के आधुनिक चित्रकार मुनि श्री दुलीचन्दजी (सन्त दूलह) एक कुशल हस्त कलाविद् हैं। इन्होंने अनेक नवीन कलाओं को जन्म देने का श्रेय पाया है। मुनि श्री सोहनलालजी (चाड़वास) भी अपनी कोटि के एक कुशल कलाकार हैं। इन कलाओं की शैली राजस्थानी और रंग परम्परा नाथद्वारा की है। नाथद्वारा (मेवाड़) के एक कलाकार श्री खेमराज रूघनाथ ने उदारतापूर्वक निस्वार्थ सेवाएँ देकर अपनी कला भिक्षा के रूप में संघ को समर्पित की हैं।

वि० सं० २००० में बीकानेर में सन्त दूलह ने एक पेटी बनाई जिसमें ८ खन (घर) हैं। एक खन को ऊपर उठाने से सारे घर अपने आप ऊपर उठ जाते हैं। उसमें लोहे की कोई कील (मेख) नहीं है तथा वह गत्ते की बनी हुई है।

कलाकार श्री सन्त दूलह ने उसी वर्ष मसाज (मालिश) चिकित्सा करने का भी कार्य सीखा। वह भी एक हस्तकला है। अभी-एक साध्वी ने धागा लपेटने वाले भूणिये (चक्करी) को खोद कर आँख धोने का एक प्याला बनाया है। आँख में दवा डालने के लिये मोर की पांख को पिचकारी का रूप दिया गया है। हस्तकला के कितने प्रकार हैं; कहा नहीं जा सकता। कपड़े के कुछ उपयोगी डिब्बे और छोटे बक्स भी रंग वार्निश लगाकर बनाये जाते हैं। शास्त्र रखने की पेटियाँ कई ढंग की नवीन कलाओं से ओत-प्रोत होती हैं। अभी-अभी दो-तीन ऐसी मंजूषाएँ सन्त दूलह ने बनाई जिन्हें दर्शक पुस्तक मानकर खोलने का प्रयत्न करने लगा। एक साहित्य-मंजूषा, जिसमें आचार्य श्री अपनी व्यक्तिगत पुस्तकें, प्रतियाँ और कागजात रखते हैं बड़ी ही कुशलता से बनाई गई है।

तेरापंथ की साधु-साध्वियाँ मुख पर मुख वस्त्रिका बाँधती हैं। मुखवस्त्रिका बनाने की कला भी वर्णनातीत है। यह इस ढंग से मांड़ देकर धोई जाती है कि देखनेवाला प्लास्टिक या कागज का भ्रम करेगा। उस पर की हुई पालिश काँच सी होती है। यह भी कला की एक कड़ी है।

तेरापंथ साधु संघ का कोई भी सदस्य डाक्टरसे शारीरिक सेवा नहीं ले सकता। वह अस्पताल आदि में भर्ती नहीं हो सकता। रोगी की सेवा संघ का प्रत्येक सदस्य अपनी सेवा मानकर करता है। चीर-फाड़ की अपेक्षा आँख का कार्य बहुत हल्का और बारीक होता है। जयाचार्य के युग में स्वयं जयाचार्य की आँख का जाला उस प्राचीन सूची भेद चिकित्सा के आधार पर या ढंग से श्री कालू जी स्वामी ने निकाला था। श्री हेमराजजी स्वामी की आंख की चिकित्सा भी उसी पद्धति से हुई। श्रीमद् कालूगणी जी के युग में महासती कानकँवरजी की आँख भी उसी सोजती (मारवाड़) शैली से साध्वी श्री सन्तोकाजी (लाडनूं) ने बनायी थी।

सर्व प्रथम हमारे सुप्रसिद्ध कलाकार सन्त दूलह ने वही प्राचीन चक्षु-चिकित्सा सीखी। वि०सं० १९९६ में आचार्य श्री तुलसी ने उन्हें आंख की आधुनिक चिकित्सा पद्धति सीखने को भिवानी भेजा। डा० पुरुषोत्तमदास (भिवानी) ने दत्तचित्त होकर ६ महीने में उन्हें अपनी कला सिखाई और वहीं मुनि श्री ने संसारपक्षीय पिता मुनि श्री छोगजी स्वामी के मोतियाबिंद का आपरेशन किया। इसी तरह मुनि श्री भीमराज जी स्वामी का मोतिया भी आपने ही उतारा। आपने अपने हाथों से जीवनमलजी स्वामी की आँख का काला–मोतिया निकाला और अन्य अनेकों छोटे-मोटे आपरेशन सफलतापूर्वक किये। कई मौकों पर आपने आंख में बढ़ते हुए मांस को काटने में भी अपनी कला का परिचय दिया।

दो एक साध्वियों ने भी आँख का कार्य सीखा और किया। साध्वी प्रमुखा लाडांजी की आँख का मोतिया साध्वी श्री रतनकुंवरजी ने निकाला। साध्वी श्री कंचनकुमारीजी ने भी नेत्र चिकित्सा का अध्ययन किया।

कलाकार श्री महेन्द्र मुनि ने भी नेत्र चिकित्सा का कार्य सीखा और मुनि श्री शोभाचन्दजी की आँख का मोतिया निकाला। हमारे संघ में ऐसे अनेकों कुशल कलाकार हैं जिनके लिए चीरफाड़, टाँके, इन्जेक्शन, बेंडेज (मलहम पट्टी) और नाड़ी इंजेक्शन तो साधारण सी बात है।

आँख की चिकित्सा के बाद नजर टिकाने के लिए चश्मा आवश्यक है। काँच या पत्थर के चश्मे संघ में निषिद्ध हैं। अतः हमारे कलाकारों ने अनेक खोजों के बाद प्लास्टिक सीट पर नम्बर देना सीखा। सर्व प्रथम इसका श्रेय संत दूलहजी को मिला।

अनेकों को नजर के चश्मे मिले। धीरे-धीरे संघ के कई साधु-साध्वी चश्मे बनाने लगे और प्रति वर्ष इसकी पूर्ति इस तरह हाथ से बनी ऐनकों से होने लगी।

प्लास्टिक पर जब नम्बर बैठ गये तो उसका उपयोग और भी बढ़ा। संत दूलह ने एक कैमरा तैयार किया जो ठीक बिकाऊ कैमरों जैसा है। उससे फोटो निकाले जा सकते हैं। इसके पूर्व प्रयत्न में मुनि श्री महेन्द्रजी और मुनि श्री पुष्पराजजी ने काफी प्रयत्न किये थे। एक कार्ड बोर्ड का ढाँचा बनाया। उसमें प्लास्टिक का एक लेंस सेट किया गया और पचासों पत्र फोटो निकाले गए। कैमरे के इस नवीन प्रयोग ने रूढ़िगत धारणाओं को मिटाने में बहुत योग दिया। हमारे कुछ प्राचीन विचारकों का मत था कि फोटो लेने में अग्नि का प्रारंभ होता है। उसमें धूवां सा निकलता है। ये सब रूढ़िगत धारणाएँ हाथ से बने कैमरे ने दूर कर दीं।

सूर्य की किरणों को एकत्र कर उससे ताप (सेंक) देने की योजना से एक बहुत बड़ा प्लास्टिक का लेंस बनाया गया जो ६ इंच के व्यास का है। उसमें पानी में भी गरमी आ सके ऐसा अनुमान है।

प्लास्टिक के कुछ सूक्ष्म दर्शक ग्लास भी बनाये गये। कुछ फुट (स्केल) भी गए बनाये जो ग्लास की तरह नम्बरयुक्त हैं। चश्मा नाक पर चढ़ता है और कान को पकड़ता है किन्तु वह फुट कागज पर पड़ा-पड़ा अक्षरों को बड़ा बना देता है।

श्री संत दूलह ने एक दूरवीक्षण यंत्र भी बनाया जो आगे-पीछे खिसक कर ठीक फोकस देता है और लगभग चार मील दूरी की वस्तु दिखा सकता है। एक मीटर भी बनाया है जो बिना धातु का है। उससे चश्मों के नम्बर नापे जा सकते हैं। श्री सोहनलालजी स्वामी ने भी वैसा ही एक यंत्र कुछ दूसरे प्रकार से बनाया है जो ग्लासों के नम्बर देता है। ये मीटर मशीनरी से बने मीटरों की तरह सुन्दर और कान्तियुक्त हैं।

एक और आश्चर्य में डाल देनेवाली कला सामने आने को है। श्री संत दूलह ने एक टाईमपीस (घड़ी) का निर्माण किया है जिस के पूरे पुरजे लकड़ी के हैं और वह दोनों वक्त समय बतायेगी। यह जलघड़ी पानी के निकास के आधार पर चलेगी। उसके ऊपर लगी सुइयाँ समय का निर्देश करेंगी। पानी का दबाव समान रहे, अतः इसके लिए एक कंट्रोलर लगाया गया है। पानी के परिमित निकलने पर एक गिरारी चलेगी। उस गिरारी से दूसरी गिरारी चलेगी और उनके आधार पर सुइयाँ अपना काम करेंगी।

एक प्रति की अनेक प्रतियाँ बनाने के लिये कलाकार संत दूलह ने ब्लूपेन्ट प्रारम्भ किया। ब्लूपेंट के वे फेरी कागज भी वे हाथ से ही रँगते हैं।

एक बार एक लीथो भी बनाया गया; जो पेंसिल या स्याही के अनेक प्रतिपत्र निकालता था।

प्लास्टिक का चाकू, कैंची, प्लास्टिक और लकड़ी के गोलाकार बनाने का परकाल, पुस्तकें रखने की तिपाइयाँ, चश्मों के फ्रेम, चश्मों के घर, प्लास्टिक की 'सोमाणी' आदि बिना धातु के कुछ ऐसे छोटे-मोटे यंत्र आदि भी साधु-साध्वी अपने हाथों से बना लेते हैं।

संघ का जल ठंडा करने का भी प्रकार अद्‌भुत है। दो ईंटों पर पानी से भरा पातरा (पात्र) उलटा बांध कर रख दिया जाता है। ज्यों-ज्यों लू लगती है पानी ठण्डा होता जाता है। गँदले पानी को साफ करने के लिये ऊपर के बरतन से एक कपड़ा लटका देते हैं। कपड़े से बूंद-बूंद टपक कर आनेवाला जल स्वच्छ और ठण्डा होता है।

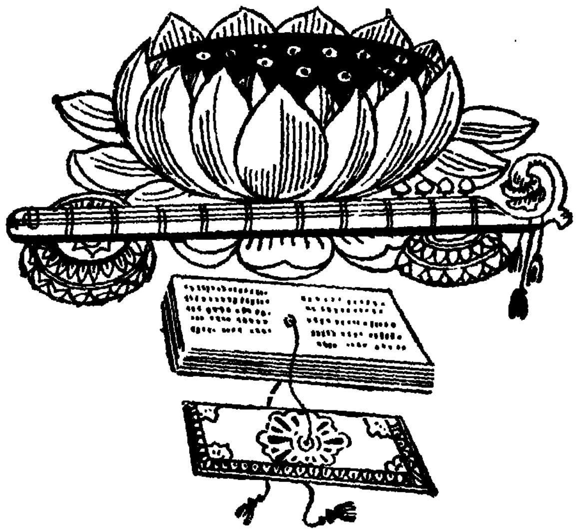
भोजन के पात्रों को साफ करनेवाले 'लूणें' व 'जोडी पल्ले' व झोलियाँ आदि धोने की विधि भी कलात्मक है। थोड़े पानी से और बिना सोडा-साबुन डाले कपड़ों को साफ धोना भी हाथ की चतुराई है।

साधुओं के रहने का प्रकार भी कलात्मक होता है। जहाँ पाँच-पाँच सौ ठाणों का आहार पानी होता है वहाँ इतनी सफाई से काम लिया जाता है कि थोड़ी देर बाद यह पता तक नहीं लगता कि यहाँ बैठकर पांच सौ व्यक्ति भोजन कर चुके हैं। कहीं एक सीतखण्ड या चिकनाहट का दाग भी नहीं पाया जाता है। भोजन-व्यवस्था भी तेरापंथ की निराली है। उसके जोड़े में दूसरी जगह ऐसी व्यवस्था नहीं मिल सकती।

महामना भाई जी महाराज श्री चम्पालालजी की अनन्य प्रेरणा से अभी हमारे कलाकार आचार्य श्री की चिर अभिलषित मनसा को साकार बनाने के लिये ध्वनिवर्धक यंत्र तैयार करने की योजना में सतत प्रयत्नशील हैं। उसका परिणाम शीघ्र ही जनता के सामने आनेवाला है। एक लाउड स्पीकर की भाँति मूंगला तैयार हो गया है। इसमें ५ रींगें व १० रीबें हैं जो सितार की तरह ध्वनित होती हैं। रींगों के बीच में चार गोलक बाँधे गये हैं जो ध्वनि को विस्तृत करेंगे।

गर्व नहीं पर आत्मगौरव के साथ कहा जा सकता है कि इतने बंधनों में जकड़े होते हुए भी हमारे तेरापंथ संघ ने जो २०० वर्षों में प्रगति की है वह किसी भी दृष्टि से कम नहीं कहा जा सकता है। आचार्य श्री तुलसी जैसे कुशल सेनानी के नेतृत्व में संघ चतुर्मुखी विकास कर रहा है।

जिस समाज में कला है तथा कला को प्रोत्साहन मिलता है वह समाज स्वतन्त्र है। बिना कला के दूसरों का मुंह ताकना समाज पर केवल बोझ बनना है। कला विकास में जितना अधिक शासकों का ध्यान आगे बढ़ेगा उतना ही समाज भी आगे बढ़ेगा। कलाकार के मस्तिष्क होता है, हाथ होता है, पर पैर नहीं होते। समाज में जितनी कला बढ़ी हैं वे पूर्वजों के प्रोत्साहन से ही बढ़ी हैं। समय-समय पर ऐसे प्रोत्साहन समाज ने कलाकारों को दिया है जिनसे शतबाहु होकर वे कार्य में जुटे और उन्होंने अपना हस्तकौशल दिखाया।



अणुव्रत आंदोलन

(आचार्य श्री तुलसी)

शक्ति का अस्तित्व अपना है, समाज का अस्तित्व व्यक्ति है। व्यक्ति वस्तुवाद है और समाज सुविधावाद। जब व्यक्ति की आवश्यकता अपने आप पूरी नहीं हुई तब सापेक्ष स्थिति का उद्गम हुआ। सापेक्षता ने समाज को जन्म दिया। समाज का आधार है 'परस्परोपग्रह'। 'एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के प्रति उपकार' का सिद्धान्त जितना वास्तविक है उतना ही व्यावहारिक भी है। जैन-दर्शन ने विश्व स्थिति की मौलिक समस्या--जड़-चेतन के सम्बन्ध की समस्या को सुलझाने के लिए इसका उपयोग किया[1]। पदार्थवाद के अनुसार जैसे विश्व संगठन का हेतु जीव और पुद्गल का परस्पर उपग्रह है वैसे ही समाजशास्त्र के अनुसार समाज संगठन का हेतु पारस्परिक सहयोग है। समाज की सहयोगी व्यवस्था और सापेक्ष स्थिति में बँधकर व्यक्ति व्यक्ति नहीं रहता; वह आदान-प्रदान का केन्द्र बिन्दु बन जाता है।

जब तक व्यक्ति व्यक्ति रहता है तब तक उसके सामने महत्त्वाकांक्षा, महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए परिग्रह या संग्रह, संग्रह के लिए शोषण या अपहरण, शोषण के लिए बौद्धिक या कायिक शक्ति का विकास, बौद्धिक और दैहिक शक्ति-संग्रह के लिए विद्या की दुरभिसंधि, स्पर्धा आदि-आदि समस्याएँ नहीं होतीं। समाज में प्रवेश पाकर व्यक्ति ज्यों-ज्यों अपनी दुर्बलता का प्रतिकार पाता है, त्यों-त्यों महत्त्वाकांक्षा और स्पर्धा उसे शक्ति-संग्रह के लिए प्रेरित करने लग जाती हैं। महत्त्वाकांक्षा शोषण को जन्म देती है और शोषण अव्यवस्था को। अव्यवस्था में समाज का ढाँचा डाँवाडोल हो जाता है और तब उसकी पुनर्व्यवस्था के लिए दण्डनीति, अनुशासन और न्याय जन्म लेते हैं।

व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीनता का प्रश्न नहीं उठता। सामाजिक जीवन में मर्यादाहीनता आती है, किन्तु समाज उसे सहन नहीं कर सकता। इसलिये समाज धर्म-संहिता और दण्ड विधान बनाता है। समाज का प्रत्येक सदस्य उसके अनुसार चलने के लिए बाध्य होता है। समाज की व्यवस्था के लिए समाज-व्रत या समाज-मर्यादा सफल होती है। सफलता की कुंजी है समाज-मर्यादा के पीछे रहने वाली राज्य शक्ति। शक्ति से नियंत्रित व्यक्ति उच्छृंखल नहीं हो सकता।

मनुष्य जाति का उर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन आगे बढ़ा। दार्शनिक चिन्तन का विकास हुआ। पूर्व जन्म और पुनर्जन्म का तत्त्व उसने समझा। इहलोक की सीमा से परे परलोक को उसने जाना। इस दशा में पहुँचकर फिर वह व्यक्तिवादी बना और इस भूमिका में निरपेक्ष जीवन-पद्धति का विकास हुआ। समाज की मर्यादा इस भूमिका में अमर्यादा बन गई। समाज जिस हिंसा को क्षम्य मानता है, वह यहाँ अक्षम्य बन जाती है। समाज जिस संग्रह को न्याय मानता है, वह यहाँ अन्याय बन जाता है। समाज जिस भोग-विलास को वैध मानता है, वह यहाँ अवैध बन जाता है। इस भूमिका में मर्यादा का नया स्रोत चला। उसीके नाम हैं व्रत, नियम, यम, शील, शिक्षा या संयम।

कई विचारक ऐसा मानते हैं कि धर्म, समाज-नियमन के लिए चला। किन्तु यह सत्य से परे है। धर्म का उद्गम आत्मा के अस्तित्व से हुआ। आत्म-शोधन की प्रक्रिया के रूप में उसका विकास हुआ। मोक्ष-प्राप्ति, आत्म-शुद्धि या आत्म-नियमन के लिए उसका व्यवहार हुआ। मुनि चारित्र-ग्रहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि मैं आत्म-हित के लिये पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विहार करूँगा।[2] व्रत का साध्य है आत्म-मुक्ति। प्रासंगिक फल के रूप में समाज का नियमन भी होता है, किन्तु वह धर्म का अनन्तर फल नहीं। ऐहिक और पारलौकिक आत्मसिद्धि के लिये धर्म करना विहित नहीं है।[3]

१--तत्त्वार्थाभिगम, ५।२१

२--इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयण वेरमण छट्ठाइं।
अत्तहिय ठियाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि॥ --दशवै० ४।१३

३--नो इहलोगट्ठयाए तवमहिठिज्जा।
नो परलोगट्ठयाए तवमहिठिज्जा॥--दशवै० ९।४

धर्म परलोक के लिये है, यह धारणा भी सदोष है। आत्म हित की दृष्टि से वह इहलोक और परलोक दोनों में श्रेयस्कर है[१]।

भारतीय चिन्तन की मुख्य धारा चतुर्थ पुरुषार्थ–मोक्ष की ओर बही। शब्दशास्त्र[२] व प्रमाणशास्त्र[३] का चरम उद्देश्य मोक्ष रहा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु कामशास्त्र में भी जीवन का चरम उद्देश्य मोक्ष बतलाया गया है[४]। उपनिषदों ने प्रेयस को बन्धन और श्रेयस् को मुक्ति माना है। प्रेयस् जीवन की अनिवार्यता है, फिर भी उसमें अनासक्ति होनी चाहिए। कारण यह कि श्रेयस की जो गति है, उसमें प्रेयस बाधक न बने। जैन दृष्टि के अनुसार आत्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं–संवर और निर्जरा। संवर निवृत्ति है और निर्जरा निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति; संवर विरोध है और निर्जरा शोधन। यह व्यक्ति की सहज मर्यादा है। इससे यह फलित होता है कि धर्म व्यक्ति के आत्म-नियमन का साधन है। इसे समाज के आपसी सम्बन्धों के नियमन का जो साधन बताया जाता है, वह आत्मवादी मानस की कल्पना है।

महाव्रत और अणुव्रत

भारतीय जीवन में व्रती जीवन का सर्वोच्च और गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ धन, ऐश्वर्य, भोग-विलास और दान से कोई बड़ा नहीं बना। नमिराजर्षि राज्य-वैभव और भोग-विलास को ठुकरा कर निर्ग्रंथ बने। इन्द्र ने उनसे कहा–आप दान दें, भोग करें और फिर दीक्षा लें। राजर्षि बोले–जो व्यक्ति प्रतिमास दस लाख गायों का दान करता है, उसकी अपेक्षा कुछ दान न करता हुआ भी संयमी श्रेष्ठ है[५]।

भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या संन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, किन्तु जीवन के आदि भाग में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है[६]। त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है, यह निरपवाद संयम मार्ग है। इसके लिये अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है, वह अणुव्रती बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है–भगवन्! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिये मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत–द्वादश व्रतात्मक गृहीधर्म स्वीकार करूँगा[७]। यहाँ शक्ति का अर्थ है–विरक्ति। जिसमें संसार के प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का महान् व्रत उसका जीवन धर्म बन जाता है। यह वस्तु सबके लिये संभव नहीं। व्रत का अणु रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन, शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है। अणुव्रत का विधान व्रतों का सीमाकरण या संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

अणुव्रत विभाग

अणुव्रत पाँच हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार संतोष और अपरिग्रह या इच्छा परिमाण।

अहिंसा–अहिंसा रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का निरोध या राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति है। पहला निषेधात्मक पक्ष है और

१–तेहिं आराहिया दुवे लोए। –उत्त० ८।२०

२–वैशेषिक दर्शन १।४, नाय दर्शन १।१

३–हैमशब्दानुशासन १।१।२ लघुन्यास।

४–स्थाविरे धर्म मोक्षं च–कामशास्त्र, अध्याय २

५–जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स विकिंचण ॥–उत्तरा० ९।४०

६–यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्। –जाबालोपनिषद्

७–नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि–उपासकदशांग–१

दूसरा विधेयात्मक। निषेधात्मक भावी शुद्धि के लिए है और भूत शुद्धि के लिए विधेयात्मक। वर्तमान शुद्धि दोनों में है।

अनिवार्य हिंसा या अर्थ हिंसा जीवन की अशक्यता का पक्ष है। अनर्थ हिंसा प्रमादवश होती है। मनुष्य जितनी कायिक हिंसा नहीं करता, उतनी मानसिक करता है। स्व-पर, बड़ा-छोटा, अस्पृश्य-स्पृश्य, शत्रु-मित्र आदि अनेक कल्पना के बंधनों में फँस कर मनुष्य इतना उलझा रहता है कि वह मानसिक हिंसा से सहज ही मुक्ति नहीं पा सकता। अहिंसा अणुव्रत का तात्पर्य है अनर्थ हिंसा से अथवा अनावश्यक, केवल प्रमादजन्य या अज्ञान जनित हिंसा से बचना।

सत्य—सत्य, अहिंसा का वचनात्मक या भाव प्रकाशनात्मक पहलू है। हास्य अथवा कुतूहलवश अयथार्थ बोलना भी असत्य है। यह उसका सूक्ष्म रूप है। यदि कोई इससे न बच सके तो कम से कम स्थूल असत्य से तो उसे अवश्य बचना चाहिये। जिस वाणी या भावाभिव्यंजना के पीछे बुरे विचारों का जाल बिछा रहता है, वह स्थूल असत्य है। सत्य अणुव्रत में ऐसे असत्य का त्याग आवश्यक होता है।

अचौर्य—अचौर्य अहिंसात्मक अधिकारों की व्याख्या है। पर-वस्तु हरण चौर्य है। वह हिंसा का अधिकार है। मनुष्य समाज के आपसी सम्बन्ध अधिकतर स्तेय वृत्ति के उपजीवी हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, वह उसे अपने अधिकार में लेता है, उसे दास बनाता है, उससे आदेश मनवाता है तथा उसका स्वत्व छीनता है। यह सब स्तेय वृत्ति है। सूक्ष्म दृष्टि से दूसरे का एक तिनका भी उसकी अनुमति के बिना लेना स्तेय है। अचौर्य अणुव्रत की मर्यादा है—जीवन के आवश्यक मूल्यों का अपहरण न करना।

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति में विवाहित पत्नी के अतिरिक्त अब्रह्मचर्य का परित्याग करना और पत्नी के साथ भोग की सीमा करना चतुर्थ अणुव्रत है।

अपरिग्रह—यह अहिंसा का परपदार्थ निरपेक्ष रूप है। गृहस्थ का जीवन अपरिग्रही बन नहीं सकता। इसलिए अपरिग्रह अणुव्रत का अर्थ है—इच्छा का परिमाण। परिग्रह का नियंत्रण सामाजिक नियमों से हो सकता है, किन्तु उससे इच्छा का नियंत्रण नहीं होता। व्रत वह है, जिसमें इच्छा के नियंत्रण के द्वारा परिग्रह का नियंत्रण हो।

अणुव्रत के अनुकूल वातावरण

व्रतों की उपादेयता में कोई दो मत नहीं। मत द्वैध है व्रतों की उपयोगिता में। आत्म-विरक्ति से स्वनियमन करने वाले विरले ही होते हैं। अधिकांश व्यक्ति तब तक हिंसा और परिग्रह को नहीं छोड़ते, जब तक वे वैसा करने के लिए बाध्य नहीं किये जाते। व्रत हृदय-परिवर्तन का फल है। जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नहीं होता। इसलिए समाज की दुर्व्यवस्था को बदलने के लिए व्रतों की कोई उपयोगिता नहीं। लगभग स्थिति ऐसी ही है। ऐसी क्यों है, यह चिन्तनीय विषय है। इस चिन्तन के परिणाम स्वरूप दो-तीन बातें हमारे सामने आती हैं। पहली बात तो यह है कि व्रतों की रचना समाज की आर्थिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिये नहीं हुई है। उनकी रचना हुई है उसकी आत्मिक दुर्व्यवस्था को मिटाने के लिये। आत्मिक दुर्व्यवस्था के मिटते ही आर्थिक दुर्व्यवस्था भी मिटती है; किन्तु व्रताचरण का वह गौण फल है। आत्मिक दुर्व्यवस्था की परिसमाप्ति का एक मात्र साधन हृदय-परिवर्तन है। जब व्यक्ति का हृदय बदलता है तो उससे आत्मिक दुर्व्यवस्था का अंत होता है। उससे समाज की दुर्व्यव्यवस्था भी मिटती है।

कानून के पीछे ऐसी शक्ति है कि मनुष्य उसका उल्लंघन नहीं कर सकता और यदि वह करता भी है तो उसे उसका फल भुगतना पड़ता है। व्रतों के पीछे ऐसा वातावरण नहीं है। उनका आचरण इच्छा-प्रेरित होता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य की आंतरिक वृत्तियाँ राग-द्वेषात्मक होती हैं। इनके फलस्वरूप व्यक्ति में अप्रिय वस्तु स्थिति के प्रति असहिष्णु वृत्ति, अपने को सर्वोच्च मानने की वृत्ति, दूसरों को ठगने की वृत्ति और संग्रह की वृत्ति, ये चार मुख्य वृत्तियाँ होती हैं[1]। यदि समाज का वातावरण और आसपास की स्थितियाँ इनके अनुकूल होती हैं, तो इन्हें उत्तेजना मिलती है और इनका कार्य तीव्र हो चलता है। बाहरी साधन की प्रतिकूल दशा में ये वृत्तियाँ दबी रहती हैं। समाज की अपेक्षा इतनी ही है कि ये दबी ही रहें। अध्यात्म की भूमिका और उसकी अपेक्षा है कि इनका मूलोच्छेद हो। जिनकी आत्मा उद्‌बुद्ध हो जाती है, वे पारिपार्श्विक स्थितियों पर विजय पाकर उनका मूलोच्छेद कर डालते हैं। किन्तु सर्व साधारण की स्थिति

१—कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थ दोसा।—सूत्रकृतांग, २।६।२६

ऐसी नहीं होती। समाज की भोगवादी मनोवृत्ति उन्हें उकसाती है। यही कारण है कि सर्व साधारण को व्रत पालन की सहज प्रेरणा नहीं मिलती। तीसरी बात यह है कि व्रत लेनेवाले व्रतों के कलेवर की सुरक्षा करते हैं पर उनकी आत्मा को नहीं छूते। वे व्रतों को अपने जीवन में लाते हैं, किन्तु जीवन को उनके आदर्शों पर नहीं ढालते। इसपर पुनर्विचार करना होगा कि अणुव्रती जीवन का आदर्श क्या और कैसा होना चाहिये ?

अणुव्रती जीवन का आदर्श

अणुव्रती जीवन का आदर्श है परिग्रह और आरम्भ का अल्पीकरण। भोगवाद से महारंभ और महापरिग्रह का जन्म होता है। अणुव्रती को महेच्छ और महारंभ नहीं होना चाहिये। महारंभ का हेतु महान इच्छा है। इच्छा जब स्वल्प होती है तब हिंसा अपने आप स्वल्प हो जाती है। यदि आरम्भ आवश्यकता के सहारे चलता है, तो वह असीम नहीं बनता। जब उसकी गति इच्छा के अधीन हो जाती है, तभी वह सीमित बनता है। पूंजी और उद्योग का केन्द्रीकरण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु इच्छा की पूर्ति के लिये होता है। अणुव्रती आदर्श के अनुसार इनका अपने आप विकेन्द्रीकरण हो जाता है। अणुव्रती दूसरे के श्रम और श्रमफल को न छीने, तभी वह अहिंसा और अशोषण के आदर्श पर चल सकता है। जब दूसरे के श्रम को छीनने की वृत्ति टूटती है, तब अपने आप उसका जीवन आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी और श्रमपूर्ण बन जाता है। जो व्यक्ति अपने श्रम पर निर्भर रहता है, वह कभी महारम्भी और महापरिग्रही नहीं बनता। महारंभ व महापरिग्रह की परिभाषा समझने में भूल हो रही है। उस पर फिर विचार करने की आवश्यकता है। सामान्यतया थोड़ी बहुत प्रत्यक्ष हिंसा के कार्य को लोग महारम्भ मान लेते हैं। वे परोक्ष हिंसा की ओर ध्यान नहीं देते। खेती में जीव मरते हैं, इसलिए वह आरम्भ का धंधा लगता है, किन्तु कूट माप तोल में प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दिखती, इसलिये वह महारम्भ नहीं लगता। महारम्भ और महापरिग्रह नरक के कारण हैं[1]। कारण साफ है, उनसे आर्त-रौद्र ध्यान बढ़ता है, उससे आत्मगुणों का घात होता है तथा आत्मा का अधःपतन होता है। आचार्य जिनसेन ने ब्याज लेकर आजीविका करने को आर्तरौद्र ध्यान का चिह्न माना है[2]। विषय संरक्षण रौद्र ध्यान है। इसका अर्थ है विषय और धन की प्राप्ति और उसके संरक्षण के लिए चिन्ता करना[3]। धार्मिक समाज में भी मानसिक हिंसा का प्राबल्य इसलिये हो गया कि उसमें प्रत्यक्ष हिंसा नहीं दिखती। यदि प्रत्यक्ष हिंसा की भाँति परोक्ष हिंसा से भी घृणा होती तो जीवन इतना असत्य निष्ठ और अप्रामाणिक नहीं बनता।

वृत्तियों की अप्रामाणिकता का हेतु महापरिग्रह है। महापरिग्रह के लिए महासावद्य उपाय प्रयोजनीय होते हैं। अणुव्रती अल्प परिग्रही होता है। इसलिए उसके जीवन उपाय अल्प सावद्य होते हैं[4]। इसीलिये उसे अल्प सावद्य कर्मार्य कहा जाता है। अल्प सावद्य कर्मार्य के सामने अप्रामाणिक बनने की स्थिति ही नहीं आती। अणुव्रती की जीवन वृत्ति संग्रहोन्मुख नहीं होती। वह कला या कर्म का आलम्बन इसलिये लेता है कि उसकी जीवन वृत्ति सुखपूर्वक चले। जब श्रम के द्वारा जीविका का सुख पूर्वक निर्वाह नहीं होता है, तभी चोरी आदि कुवृत्तियाँ बढ़ती हैं[5]। जटिल परिस्थितियाँ मनुष्य को बुरा बनने की प्रेरणा देती हैं। इसलिये समाज उन्हें सरल बनाने की बात सोचता है। अन्य स्थितियों की अपेक्षा इच्छा की अनियंत्रित दशा अधिक जटिल स्थिति है। अणुव्रती को उस पर अधिक ध्यान देने की अपेक्षा होती है।

संक्षेप में अणुव्रती का जीवन आदर्श है—इच्छा परिमाण, आरम्भ परिमाण। इस आदर्श को निभाने के लिए अणुव्रती को बड़प्पन व कल्पनालब्ध झूठे आदर्शों पर प्रहार करना होगा। श्रम को नीच मानने की भावना, वृत्ति के आधार पर ऊँच-नीच की कल्पना, धन के आधार पर बड़े-छोटे की कल्पना आदि को तोड़ना तथा जीवन के मापदण्डों को बदलना

१—महारंभयाए महापरिग्गहियाए, पंचिंदिय वहेणं कुणिहामरेणं।—भगवती शतक, ८।३।९

२—मूर्च्छा कौशील्य कैनाश्य कौसीद्यान्यति गृध्नुता।
   भयोद्वेगानु शोकाश्च लिंगान्यार्ते स्मृतानि वै ॥४०॥—महापुराण, २१।४०

३—भवेत् संरक्षणानन्दः स्मृतिरर्थार्जनादिषु।—महापुराण, २१।५१

४—अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च, विरत्यविरति परिणतत्वात्।—तत्वार्थराज वार्तिक ३।३६

५—कलाद्युपायेन प्राप्तसुखवृत्तिकस्य चौर्यादिव्यसनासक्तिरपि न स्यात्।—जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृ० २, वक्षस्कार।

होगा। जब तक जीवन के मूल्य न बदलें, राजसी धारा में अन्तर न आवे, तब तक अणुव्रत जीवन प्रेरक नहीं बनते। अणुव्रती को सादगी के आडम्बरों का और नम्रता के लिए मिथ्याभिमान का बलिदान करना होगा।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

भारतीय जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का प्राबल्य है। अध्यात्मवादी धारा में व्यक्ति का विशेष महत्त्व बढ़ता है। संयम के क्षेत्र में यह आवश्यक है। 'जब समाज संयमी नहीं बनता तब मैं क्यों बनूं' यह मनःस्थिति संयम के स्वीकरण में बाधक बनती है। समाज संयमी न बने तो भी व्यक्ति को संयमी बनना चाहिए। संयम समाज का कानून नहीं, वह तो व्यक्ति की स्व-मर्यादा है।

जहाँ सामाजिक रीतिक्रम समाज नहीं करता, वहाँ यदि अकेला व्यक्ति अपना विशेषत्व दिखाता है, तो वह स्थिति समाज के लिए घातक बनती है। व्यक्ति की उच्छृंखलता समाज की मनोवृत्ति को उभाड़ने का निमित्त बनती है।

अध्यात्म की धारा यह नहीं है कि व्यक्ति असंयम में व्यक्तिवादी रहे। उसकी अपेक्षा है, व्यक्ति संयम साधना के लिये व्यक्तिवादी रहे। यह व्यक्तिवाद जो संयम से निखरता है, समाज या राष्ट्र के लिए घातक नहीं बनता।

धर्म समाज को व्यक्तिवादी दृष्टिकोण देता है, यह कहनेवाले उसकी सीमा को दृष्टि से ओझल किये देते हैं। सही अर्थ में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण बनने का प्रधान कारण सामन्तशाही है। भोगवादी मनोवृत्ति, संग्रहवादी मनोवृत्ति, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति और परिवारवादी मनोवृत्ति सामन्तशाही के निश्चित परिणाम हैं। भारत धर्म का मुख्य उद्गम स्रोत रहा है। इस दृष्टि से भले ही वह धर्मप्रधान कहलावे। धर्माचरण की दृष्टि से धर्म प्रधान कहलाने की क्षमता कम से कम आज तो उसमें नहीं है। सौभाग्य से व्रतों की दृष्टि अब भी सुरक्षित है। यदि उनका जीवन में प्रयोग बढ़ा, व्यक्तिवादी मनोवृत्ति भोग, असंयम और अहम् पोषण से हटकर संयम की ओर मुड़ी तो अवश्य ही अनैतिकता की बाढ़ रुकेगी।

अणुव्रत आन्दोलन

अणुव्रत स्वयंसिद्ध शक्ति है। भोगवाद की एकछत्र शक्ति के प्रतिरोध के लिये वही सफल साधन है। अपेक्षा यह है कि वह शक्ति संगठित बने। असंयुक्त दशा में दो नौ के अंकों का जोड़ अठारह होता है। संयुक्त दशा में वही 'निनानवे' का हो जाता है। संयुक्त स्थिति का लाभ उठाने के लिए अणुव्रत आन्दोलन का प्रसार कर व्रतशक्ति को संगठित करने का प्रयत्न किया गया।

स्थापना

अणुव्रत आंदोलन का प्रवर्तन विक्रम सं० २००५ की फाल्गुन शुक्ला २ को सरदारशहर (राजस्थान) में हुआ। पहले दिन लगभग ८० अणुव्रती बने। आज की भाषा में प्रगति व विकास का मापदण्ड पदार्थ विस्तार है। जड़वादी युग के पदार्थ-परक विकास के सामने चैतन्य विकास का जो प्रतिरोध अपेक्षित था उस दिशा में यह सफल कदम प्रमाणित हुआ है।

ह्रास या विकास

मनुष्य की बाहरी स्थितियाँ विकसित हुई, यह जितना सत्य है, उतना ही सत्य यह भी है कि उसकी आन्तरिक वृत्तियाँ मंद पड़ गई हैं। तंदुल वेयालिय में अवसर्पिणी युग के मनुष्य की अन्तर्वृत्ति और व्यवहार के अवसर्पण का चित्र खींचते हुए लिखा है—मनुष्य की क्रोध, मान, माया और लोभ की वृत्तियाँ क्रमशः बढ़ेंगी। माप-तौल के अप्रामाणिक उपकरण बढ़ेंगे, तुलाका वैषम्य, मान का वैषम्य, राजकुल का वैषम्य तथा वर्षा आदि के वैषम्य इस प्रकार बढ़ेंगे कि धान्य बलहीन हो जायगा, उससे मनुष्यों की आयु कम होगी।

ज्यों-ज्यों आन्तरिक वृत्तियों का विकार बढ़ता है, त्यों-त्यों स्थितियाँ जटिल बनती जाती हैं। रोग का मूल अन्तर का क्षय है। मनुष्य बाहरी विकार से चुंधिया गया है। वह अभी इस प्रश्नवाचक चिह्न का उत्तर नहीं पा सका है कि वर्तमान युग विकास का युग है या ह्रास का।

उद्देश्य

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तन का उद्देश्य है जीवन के मूल्यों को बदलना। यह कार्य सरल नहीं है। यह एक प्रकाश की रेखा अवश्य है। युद्ध और शीत-युद्ध के थपेड़ों और अस्त्र-शस्त्रों की स्पर्धा से मनुष्य जर्जर बन गया है। उसके सामने आन्तरिक वृत्तियों को पवित्र बनाने के सिवाय दूसरा विकल्प नहीं रहा है। अब दीख रहा है कि आन्तरिक वृत्तियाँ यदि यों ही

चलीं तो प्रलय दूर नहीं है ! इस आंदोलन की ये अपेक्षाएँ हैं–मनुष्य शस्त्रनिष्ठ न बन कर अहिंसा निष्ठ बने। वह भौतिक विकास को मुख्य न मान कर आध्यात्मिक चेतना को जगावे। भोगी न बन कर वह व्रती बने। स्टैण्डर्ड अफ लिविंग (sdandard of living) को गौण मानकर स्टैण्डर्ड अफ लाइफ (standard of life) को ऊँचा उठावे। एक शब्द में आन्तरिक साम्य को शक्तिशाली बना कर वह वैषम्य का अन्त करे।

प्रगति की ओर

अणुव्रत आंदोलन क्रमशः प्रगति की ओर बढ़ रहा है। अणुव्रतियों की संख्या अधिक नहीं हुई है। यद्यपि संख्या की दृष्टि से यह कोई ज्यादा प्रगति नहीं है, फिर भी भोगवाद के विरुद्ध संयम की ध्वनि का बल बढ़ रहा है। जनता का दृष्टिकोण बदल रहा है और नैतिक क्रान्ति की भूमिका बन रही है। ये ही सफलता के शुभ चिह्न हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि इस आंदोलन ने वातावरण को प्रभावित किया है।

समन्वय की दशा

अणुव्रत आंदोलन जाति, वर्ग तथा देश के भेदों को गौण मानता है। यही नहीं, धर्म-भेद के प्रति भी इसका दृष्टि बिन्दु सद्भावी और सहिष्णु है। किसी भी धर्म को माननेवाला इसका सदस्य बन सकता है। इतना ही नहीं, इसकी रचना के आधारभूत तत्त्व भी सर्वसाधारण हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह ये सर्वधर्म सामान्य तत्त्व हैं। इन्हें कोई अस्वीकार नहीं करता। सांख्ययोग में इन्हें 'यम' कहा जाता है। पतंजलि ने 'यम' को उसी अर्थ में रखा है, जिस अर्थ में जैन सूत्र अणुव्रत का प्रयोग करते हैं। महाव्रत शब्द दोनों की भाषा में एक है। पतंजलि ने जाति, देश, काल समयानवच्छिन्न नियमों को महाव्रत कहा है।[1] जैन भाषा में आगार रहित पूर्ण त्याग महाव्रत कहलाता है। दोनों का तात्पर्य सर्वथा एक है। महात्मा बुद्ध ने किंचित् परिवर्तन के साथ इन्हें पंचशील कहा है। श्रमण अणु और स्थूल दोनों प्रकार के पापों को वर्जता है। जब गृहस्थ स्थूल पापों[2] को वर्जता है तब उसका व्रत अपने आप अणुव्रत हो जाता है। इस्लाम और ईसाई धर्म में अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की मर्यादा और शिक्षा है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक धर्म, मुमुक्षु के लिये जैसे संन्यास का विधान करता है वैसे ही गृहस्थ के लिये अणुव्रत धर्म का।

अणुव्रत आंदोलन में अणुव्रत शब्द जैन-सूत्रों से लिया गया है किन्तु भावना में कुछ अन्तर है। जैन परम्परा की भावना के अनुसार अणुव्रती वह बन सकता है जो सम्यक् दृष्टिवाला हो। इसीलिये अणुव्रतों को सम्यक्त्वमूलक[3] कहा गया है। इस आन्दोलन में यह भावना नहीं है। जैन दृष्टि को स्वीकार करनेवाला ही अणुव्रती बने, ऐसा नहीं है। इसके सम्यक् दर्शन की परिभाषा है–अहिंसानिष्ठ दृष्टि। अणुव्रती वह बन सकता है जिसकी अहिंसा में निष्ठा हो। यह आंदोलन सब धर्मों को अहिंसा में केन्द्रित करता है। वास्तविक धर्म अहिंसा ही है। सत्य आदि शेष व्रत उसी के पोषक या सहायक

१–अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः ।३०।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौममहाव्रतम् ।३१।

व्याख्या–उक्त अहिंसा आदि का अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ, सब जगह और सब समय समान भाव से किया जाता है, तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे, किसी ने नियम लिया कि मछली के सिवाय अन्य जीवों की हिंसा नहीं करूँगा, तो यह जाति अवच्छिन्न अहिंसा है। इसी तरह कोई नियम ले कि मैं तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, तो यह देश अवच्छिन्न अहिंसा है। यदि कोई यह नियम करे कि मैं एकादशी, पूर्णिमा, और अमावस्या को हिंसा नहीं करूंगा, तो यह कालावच्छिन्न अहिंसा है। यदि कोई नियम करे कि मैं विवाह के अवसर के सिवाय अन्य किसी निमित्त से हिंसा नहीं करूँगा, तो यह समयावच्छिन्न (निमित्त से सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी भेद समझ लेने चाहिये। ऐसे ये यम व्रत तो हैं, परन्तु सार्वभौम न होने के कारण वे महाव्रत नहीं हैं। उपर्युक्त प्रकार का प्रतिबन्ध न लगा कर जब सभी प्राणियों के साथ, सब देशों में, सदा सर्वदा इसका पालन किया जाय, किसी भी निमित्त से इनमें शिथिलता आने का अवकाश न दिया जाय, तब ये सार्वभौम होने पर 'महाव्रत' कहलाते हैं। (पातांजल योग दर्शन, साधनापाद २)

२–धम्मपद, १८।१०

३–उपासक दशांग १

हैं[1]। अहिंसानिष्ठ व्यक्ति आत्मशुद्धि के लिये व्रतों को स्वीकार करेगा; भौतिक अभिसिद्धि के लिये नहीं। व्रतों का अपना स्वतन्त्र मूल्य है। भौतिक सिद्धि के लिये उनका प्रयोग उनकी उच्चता का अपमान है। अर्थ व्यवस्था असंयम से सुधर सकती है, तब भला कौन उसके सुधार के लिए व्रत का कठोर मार्ग अपनावेगा? अर्थ के लिये व्रत को अपनानेवाला अर्थनिष्ठ हो सकता है, व्रतनिष्ठ या अहिंसानिष्ठ नहीं। इसीलिये व्रती बनने का उद्देश्य मात्र आत्मशुद्धि होनी चाहिये। अन्तर की शुद्धि बाहरी वातावरण को शुद्ध बनावेगी। उससे आर्थिक और भौतिक व्यवस्था अपने आप शुद्ध होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अणुव्रत आंदोलन केवल जीवन-शुद्धि की सामान्य भूमिका का समन्वय ही नहीं करता वह धार्मिक मतभेदों के प्रति सहिष्णु भी बनाता है। यह अहिंसावादियों का सार्वजनिक मंच है। इसके सहारे अहिंसा का उच्च घोष किया जा सकता है। सब धर्मों का विचार-भेद मिटे यह कठिन है, किन्तु उनका विरोध घटे यह अपेक्षित है; और यह संभव भी है। अणुव्रत आन्दोलन इस का माध्यम है। धर्म और व्यवहार की खाई को पाटकर उनका समन्वय करना इसका दूसरा उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त तीसरी दृष्टि यह है कि धर्म, जो बुद्धि, विचार और भाषा का धर्म बन रहा है, वह जीवन का धर्म बने।

व्यावहारिक लाभ

वर्तमान की मुख्य समस्या आर्थिक है, ऐसा माना जाता है। अर्थशास्त्री इसका समाधान प्रचुर उत्पादन बताते हैं। बाहरी रूप में कुछ हल सा हुआ लगता है। किन्तु जब तक महालोभ है तब तक यह समस्या सुलझ जावेगी, ऐसा नहीं लगता। इसका निरपवाद समाधान संयम है। व्रती जीवन जहाँ आत्मशान्ति पैदा करता है वहाँ वह आर्थिक समस्या का भी समाधान देता है। व्रती जीवन वर्तमान युग की सर्वोच्च आवश्यकता है। इसके अनुकूल वातावरण बनाना सब का कर्तव्य है। जब व्रतों की प्रतिष्ठा बढ़ेगी तब मुख्य रूप में शुद्धि बढ़ेगी और व्यवहार में श्रम और स्वावलम्बन की प्रतिष्ठा भी आयगी। श्रम निष्ठा के बाद भी व्रत निष्ठा शेष रहती है, किन्तु व्रत निष्ठा में श्रम निष्ठा अपने आप पालित हो जाती है।

अणुव्रत आंदोलन संयम की न्यूनतम साधना का आंदोलन है। देश, काल और परिस्थिति जनित बुराइयां अपने-अपने ढंग की अलग-अलग होती हैं। किन्तु मनुष्य की जो शाश्वत दुर्बलता है, वह सभी देश, काल और परिस्थितियों में एक सी रही हैं। जब तक मूल हरा रहता है, तब तक शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प और फल बनते बिगड़ते रहते हैं। असंयम सब बुराइयों का मूल है। हिंसा, असत्य, चोरी, भोग विलास और संग्रह ये सभी दोष उसी के नाना रूप हैं। इन पर एक साथ नियंत्रण पा लेना बहुत ही कठिन है। पर इन पर कोई अंकुश ही न हो, यह तो और भी भयंकर है।

मैं बहुधा शान्ति और मैत्री के प्रश्नों पर सोचा करता हूँ। इनकी चर्चाएँ भी मुझे करनी होती हैं। मैं एक धर्माचार्य हूँ और अणुव्रत आंदोलन के उद्देश्यों का जनता को परिचय देता हूँ। इसलिये बार-बार मेरे सामने ये प्रश्न आते रहते हैं। भारतीय और अभारतीय सभी प्रकार के लोग मुझ से मिले हैं और उन्होंने शान्ति एवं मैत्री के विषय में जिज्ञासाएँ की हैं। मेरे अनुभव में ये व्यापक जिज्ञासाएँ हैं। कोई पूछता है, कोई नहीं पूछता है। पर शान्ति कैसे मिले—यह प्रश्न लगभग सभी के मन में है। और यह होना भी चाहिये। प्रत्यक्ष में जीवन का सर्वोपरि साध्य शान्ति ही तो है। वह नहीं मिली तो बहुत-कुछ पाकर भी मनुष्य ने कुछ नहीं पाया। वह मिली तो कुछ भी न पाकर वह सब कुछ पा लेता है। बहुत-कुछ प्राप्त हो जाता है। उसका सम्बन्ध आवश्यकता पूर्ति से है। शान्ति इससे आगे की चीज है। उसके लिये भय-मुक्त होने की आवश्यकता है।

शान्ति यदि जीवन का सर्वोपरि साध्य है, तो उसका सर्वोपरि साधन है भय-मुक्ति। इसके बिना न मैत्री होती है और न शान्ति। वैज्ञानिक आविष्कार भय-मुक्ति की दिशा में असफल हुए हैं, बल्कि भय उनसे बढ़ा ही है। शक्ति और सत्ता में सदा प्रतिस्पर्धा रहती है। इसी के फलस्वरूप शस्त्रों की संहारक शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है।

अब मनुष्य समाज के सामने दो ही विकल्प शेष हैं—या तो वह भयमुक्त बने या विध्वंसक शस्त्रों के विस्फोट से स्वयं ही नष्ट हो जाय।

१—ज्ञानार्णव—सत्य महाव्रत; योगशास्त्र, दूसरा प्रकरण।

यदि यह विश्व जाति, वर्ण और भौगोलिक सीमाओं में बँटा हुआ नहीं होता, यहाँ संग्रह और अधिकार करने का मनोभाव नहीं होता, तो न सन्देह होता, न भय और न अशान्ति ही। यदि मनुष्य को शान्ति से रहना है तो उसे एक दिन ऐसा करना ही होगा। किन्तु अभी इस मनःस्थिति को विकसित होने में बहुत समय लग सकता है। वर्तमान की अपेक्षा यह है कि व्यक्ति संयम का अभ्यास करे। वह दूसरों के स्वत्व पर अधिकार न करे। जो उद्योगपति हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे श्रमिकों के श्रम पर अधिकार न करें। जो राष्ट्र नेता हैं, उनसे यह अपेक्षा है कि वे दूसरे राष्ट्रों पर अधिकार करने या बनाये रखने की बात न सोचें, शक्तिहीन राष्ट्रों को धमकियाँ न दें तथा अपने ढंग की शासनप्रणाली को मान्य करने के लिये विवशता उत्पन्न न करें। अपने स्वार्थ को ही प्रमुखता देनेवाला न केवल दूसरों के स्वार्थ को हानि पहुँचाता है, अपितु वह अपना स्वार्थ भी विघटित करता है। राजनयिक लोग बहुत गहराई से सोचते हैं, किन्तु स्वार्थ की भूमिका में वह गंभीर चिंतन भी समाधान नहीं देता, प्रत्युत् वह उलझनें उपस्थित करता है। इस वैज्ञानिक और शिक्षा बहुल युग में अब कूटनीति में अपने को घूंघट में छिपाये रखने की क्षमता नहीं रही है। आज प्रत्येक व्यक्ति व समाज ही नहीं, बल्कि प्रत्येक राष्ट्र सरलता से एक-दूसरे के साथ बर्ताव करने की नीति अपनावे। इसीमें सबका हित है।

भय-मुक्ति के लिये अणुव्रत आन्दोलन इन आचरणों को आवश्यक मानता है :

(१) जाति, वर्ण, और भौगोलिक भिन्नता के कारण मनुष्य मनुष्य से घृणा न करे।
(२) सत्ता या बल-प्रयोग से दूसरों के विचारों को कुचलने का प्रयत्न न करे।
(३) कम देकर अधिक श्रम लेने का प्रयत्न न करे।
(४) मनुष्य जाति की एकता, अविभक्तता और समान अनुभूतिशीलता में विश्वास करे।
(५) आक्रमण न करे।
(६) दूसरों के अधिकारों को हड़पने का यत्न न करे।
(७) दूसरों की प्रभु-सत्ता में हस्तक्षेप न करे।
(८) भूल से भी जो अन्यायपूर्ण कदम उठ जाए, उसके लिये क्षमा-याचना कर ले।
(९) विरोधी प्रचार न करे, व्यक्तिगत रूप से किसी को लांछित या अपमानित न करे।

भय मुक्ति का अर्थ है–विश्वास।
विश्वास का अर्थ है–मैत्री।
मैत्री का अर्थ है–शान्ति।
शान्ति का अर्थ है–जीवन के महान् साध्य की सिद्धि।



तेरापंथ-संविधान : एक तुलनात्मक अध्ययन

(शुभकरण)

सामुदायिक साधना के क्षेत्र में भगवान महावीर और गौतम के श्रमण संघों का व्यवस्थित इतिहास मिलता है। इनसे भी पूर्व धर्म संघों की परम्परा भारतवर्ष में रही है पर उसके व्यवस्थित विधि-विधान आज इतिहास में सुलभ नहीं हैं। भगवान श्री महावीर के तीर्थ (संघ) में १४ सहस्र साधु और ३६ हजार साध्वियों का अनुशासित समुदाय था। संगठन की दृष्टि से संघ की व्यवस्था निम्न प्रकार थी :-

९ गण, ११ गणधर और ७ पद। पद निम्नानुसार थे-

(१) आचार्य-संघ के सर्वोपरि अधिशास्ता, (२) उपाध्याय-अंग और उपांगों के पाठ्यक्रम के संचालक या प्रवचन संरक्षक, (३) गणी-मुनिगण के व्यवस्थापक, (४) गणावच्छेदक-विहरणशील साधु समुदाय के अग्रगण्य (५) स्थविर-वयस्क और ज्ञान ज्येष्ठ मुनि, (६) प्रवर्तक-संयम शुद्धि के प्रेरक और (७) प्रवर्तनी-साध्वी संघ की व्यवस्थापिका।

भगवान श्री महावीर के संघ में गौतम, अग्निभूति आदि गणधर थे। सती चन्दनबाला प्रवर्तनी थी।

भगवान बुद्ध का श्रमण संघ भी बहुत बड़ा था। ललित विस्तर के अनुसार श्रावस्ती में भगवान बुद्ध के साथ १२ हजार भिक्षु थे। 'सामंत्रफल सुत्त' के अनुसार राजगृह में भगवान बुद्ध के साथ १२५० भिक्षु थे। दीर्घनिकाय के अन्य आठ सूत्रों में भिक्षु संघ की संख्या केवल ५०० दी गई है। सारांश यह कि भगवान बुद्ध के धर्म संघ में एक बहुत बड़ा भिक्षु समुदाय था।

बुद्ध जब तक वर्तमान रहे उन्होंने संघ का संचालन किया। नई सूझ-बूझ वाले सारिपुत्त, तपस्वी और ऋद्धिमान मौग्गलायन, भक्तिनिष्ठ और विनयदर्शी आनन्द, वैयाकरण और व्याख्याकार कात्यायन प्रभृति उनके अग्रगण्य और सहयोगी शिष्य थे। भगवान बुद्ध का संघ समसामयिक अन्य संघों की अपेक्षा अधिक प्रचारक था। भगवान बुद्ध स्वयं उन्हें प्रचार करने की प्रेरणा देते रहते थे। बोधि प्राप्ति के पश्चात् सारनाथ में उन्होंने ६० भिक्षुओं को सम्बोधन करते हुए कहा, 'भिक्षुओ पाद विहार करो! एक रास्ते में दो मत जाओ! बहुजन के हित और सुख के लिए आदि कल्याण रूप, मध्य कल्याण रूप और अन्त कल्याण रूप धर्म का उपदेश करो'।"

धर्म प्रचार की यह लगन यहाँ तक लगी कि भिक्षु प्राणार्पण को भी अपनी ध्येय-निष्ठा में गौण समझने लगे। एक दिन गौतम बुद्ध ने अपने पूर्ण नामक शिष्य को बुलाकर कहा, "तुम्हें मैं वायव्य दिशा की ओर सूनापरान्त नामक जनपद में अहिंसा का संदेश पहुँचाने के लिए भेजना चाहता हूँ।

पूर्ण-मैं अपना अहोभाग्य समझूंगा।

बुद्ध-उस प्रान्त में मनुष्य तुम्हारे प्रति अत्यन्त कठोर वचनों का प्रयोग करेंगे, तब तुम क्या समझोगे?

पूर्ण-मैं समझूंगा कि वे भले हैं। मुझपर हाथ नहीं छोड़ते।

बुद्ध-यदि हाथ छोड़ बैठें तो?

पूर्ण-मैं समझूंगा मुष्टि प्रहार तो नहीं किया।

बुद्ध-यदि ऐसा भी उन्होंने कर दिया तो?

पूर्ण-मैं समझूंगा प्राणाघात तो नहीं किया।

बुद्ध-वे वैसा भी कर सकते हैं।

पूर्ण-उस शुभ कार्य को करते यदि ऐसा हुआ तो मैं इसे प्राण विसर्जन का अनुपम अवसर मानूंगा।

१-इस लेख में आये हुए भगवान बुद्ध सम्बन्धी समस्त संदर्भों के लिये देखिये साहित्य अकादमी से प्रकाशित 'भगवान बुद्ध' नामक पुस्तक।

साध्वियाँ भी प्रचार कार्य में दक्ष थीं। इनमें भद्रा, कुण्डलकेशा, गौतमी, पटाचारा, शैला, सोमा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

तेरापंथ की संघ संगठना आचार्य श्री भिक्षुगणी की अपनी निराली सूझ है। वह ज्यों की त्यों किसी परम्परा से नहीं ली गई है। वैसे तो तेरापंथ धर्म भगवान श्री महावीर के उपदेशों एवं निरूपणों पर आधारित है ही, परन्तु संघ व्यवस्था के विषय में आचार्य श्री भिक्षु ने देश व काल के अनुसार अपना स्वतंत्र प्रवर्तन ही किया। प्राचीन काल के सात पदों में से केवल आचार्य पद को ही उन्होंने प्रमुखता दी है। उसका तात्पर्य यह नहीं कि उन्होंने शास्त्रीय परम्परा की अवगणना की है। वास्तव में उन्होंने तो अतीत की परम्परा और वर्तमान के देश व काल का सामंजस्य किया है। जब किसी व्यक्ति ने उनसे पूछा—आपके संघ में आचार्य तो आप हैं, तो उपाध्याय कौन होते हैं? आचार्य श्री भिक्षु ने सस्मित भाव से उत्तर दिया—सातों ही पदों का कार्यभार में अकेला ही उठा रहा हूँ। लगता है, आचार्य श्री भिक्षु की यह धारणा थी कि उपाधियों और अधिक पदों का होना उच्चावचता के भाव पैदा करता है। इसलिये वह कम से कम रह सके, यही सुन्दर है। इसी धारणा का परिणाम हो सकता है जो आगे चलकर संघ में व्यवस्थाएँ विकसित हुईं, पद और उपाधियाँ नहीं। समग्र साध्वी संघ में एक साध्वी कार्य संचालन के लिए प्रमुखा के रूप में स्थापित की जाती है। पर उसे प्रवर्तनी नहीं कहा जाता। योग्य साधुओं को अध्यापन का कार्य सौंपा जाता है, पर उन्हें उपाध्याय नहीं कहा जाता। अग्रगण्य साधु-साध्वी जन अपनी टोलियों के साथ सुदूर प्रदेशों में विहार और धर्म संघ का विस्तार करते हैं, पर उन्हें गणवच्छेदक नहीं कहा जाता। परम्परा निर्वाह की दृष्टि से पूर्वोक्त सातों पद एक आचार्य में समाहित हैं। आचार्य श्री भिक्षु गणी ने इस परम्परा को वैधानिक रूप देकर इतना रूढ़ भी नहीं बना दिया कि भविष्य में बढ़ते हुए संघ की अपेक्षाओं को समझ कर पद विस्तार की बात सोची ही न जा सके। भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा था—मेरे द्वारा बताये गए विनय धर्म के साधारण नियमों को तुम देश-काल के अनुसार बदल सकते हो। आचार्य श्री भिक्षु ने अपने संविधान में लिखा—आचार्य नी बांधी मर्यादा आचार्य ने हाथ छे। अर्थात् शास्त्रीय नियमों के अतिरिक्त जो मर्यादाएँ मेरे द्वारा या किसी आचार्य के द्वारा रची गई हैं वे सदा के लिए आगामी आचार्यों के हाथ में हैं। वे देश-काल के अनुसार उनमें न्यूनाधिक्य कर सकते हैं। नवमाचार्य श्री तुलसीगणी ने मंत्री पद का सूत्रपात संघ में किया है। दिवंगत मंत्री मुनि श्री मगनलालजी प्रथमतः इस पद पर सुशोभित थे।

भगवान महावीर ने जहाँ श्रमण संघ के लिए सातों पदों की व्यवस्था की, वहाँ गौतमबुद्ध ने अपने पीछे किसी को भी अपना उत्तराधिकारी नहीं बनाना चाहा। उन्होंने कहा—सारा भिक्षु संघ ही मेरा उत्तराधिकारी होगा। कहा जा सकता है कि आचार्य श्री भिक्षु ने इस विषय में मध्यम मार्ग अपनाया है। उन्होंने अपने संघ की व्यक्ति परक सात पदों की व्यवस्था नहीं की और न संघ को नेतृत्वहीन स्थिति में ही छोड़ना श्रेयस्कर समझा। नेतृत्वहीन स्थिति का परिणाम माना जा सकता है कि बौद्ध धर्म भगवान बुद्ध से लेकर सम्राट अशोक तक, लगभग सौ वर्षों की अवधि में १८ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। समय-समय पर होनेवाले विभागों का मुख्य हेतु संगीतियों—भिक्षु-सभाओं में उठनेवाले विषयों पर एकमत न हो सकना था। संघ विभक्त न हो, इस विषय में आचार्य श्री भिक्षु ने अपने दूरदर्शितापूर्ण दृष्टिकोण से बहुत ही सुन्दर विधान रचा। उन्होंने लिखा श्रद्धा, आचार तथा कल्प के विषय में यदि कोई चीज हृदयंगम नहीं हो रही हो तो आचार्य तथा विद्वान् साधु जैसा कहे वैसा मान लेना चाहिए। यह भी शक्य न हो तो उस बात को केवलीगम्य कर देना चाहिए, परन्तु अपनी आशंकाओं का विस्तार कर दलबन्दी नहीं करनी चाहिए। सारांश यह हुआ कि तेरापंथ साधु-संघ में आचार्य कृत निर्णय अन्तिम रूप से मान्य होगा तथा कोई व्यक्ति या समुदाय संघ में रह कर उस निर्णय से असहमत रहने का अधिकारी नहीं होगा। आचार्य श्री भिक्षु ने इस विधान के पोषक और भी कुछ नियम उपनियम रचे, जिनका हार्द है कोई-कोई व्यक्ति या समुदाय आचार्य कृत को नहीं मान कर यदि संघ से पृथक् होता है तो साधु-साध्वियाँ और श्रावक-श्राविकाएँ उसे मान्यता न दें। इन्हीं विधि-विधानों का सुन्दर परिणाम है कि तेरापंथ अपनी पूर्ण अखंडता से अपने २०० वर्ष पूरे कर रहा है। इस बीच बहुत सारे साधु संघ से पृथक् हुए, पर वे संगठन को विभक्त न कर सके।

सामुदायिक व्यवस्था

प्राचीन जैन संघ में भिक्षोपलब्धि वैयक्तिक ही थी, ऐसा अनेकानेक आगमिक स्थलों से विदित होता है। तेरापंथ में भोजन, वस्त्र, पुस्तक आदि अपेक्षाओं से सम्बन्धित सारी व्यवस्थाएँ सामुदायिक बन गई हैं। इन अपेक्षाओं के लिए व्यक्तिगत

रूप से किसी साधु को चिन्तित नहीं होना पड़ता है। न ही यहाँ इसके लिए ही अवकाश है कि जीवन-व्यवहार की अनिवार्य अपेक्षा का किसी जगह ढेर लग जाए और कुछ लोगों को उससे कोरा रह जाना पड़े। संघ में हर साधु के लिए श्रम अपेक्षित है और जीवन सम्बन्धी अनिवार्य अपेक्षाएँ सुलभ हैं। व्यवस्थागत यह सामुदायिक विकास अनेक दृष्टियों से उपयोगी है और वर्तमान समाजवाद का एक सुन्दर रूपक है। रुग्ण साधु के लिए परिचर्या और औषधोपचार का दायित्व संघ पर है, और हर एक साधु मूत्रादि परिठन परिचर्या के लिए तत्पर रहता है। शरीर सेवा किसी गृहस्थ के द्वारा ग्राह्य नहीं है। सिलाई, धुलाई, सफाई आदि समस्त कार्य साधुओं के पारस्परिक सहयोग विनिमय पर आधारित हैं। इन व्यवस्थाओं को सामुदायिक रूप देने का श्रेय संघ के चतुर्थ अधिशास्ता श्रीमज्जयाचार्य को है। एक-एक व्यवस्था का सामुदायिक विकास उन्होंने किस कौशल से किया, इसका एक सुन्दर इतिहास है। आज से लगभग १०० वर्ष पहले जब कि समाजवाद जैसी पद्धतियों का भारतवर्ष में नामोल्लेख भी नहीं था, उस युग में भी सामाजिक संरक्षण और आचार-व्यवहार को इतना विकसित रूप देना, अवश्य ही एक अनोखी सूझ का द्योतक है।

मर्यादा महोत्सव

श्रीमज्जयाचार्य ने मर्यादा महोत्सव का प्रवर्तन किया। इसके अनुसार प्रतिवर्ष लगभग सभी साधु-साध्वियाँ आचार्य के सान्निध्य में सैकड़ों और सहस्रों मीलों से आ-आकर एकत्र होती हैं। मर्यादाओं का वाचन होता है तथा सामाचारी के एकत्व की शृंखला सुदृढ़ की जाती है। विगत वर्ष का कार्यविवरण आचार्य के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, और आगामी वर्ष का विहार निर्देश और कार्यक्रम उनसे लिया जाता है। वर्तमान में ५०० और इससे भी अधिक साधु-साध्वियों का यह सम्मेलन प्राचीन काल की बौद्ध संगीतियों और जैन वाचनाओं की याद दिलानेवाला होता है। भगवान बुद्ध ने संघ की अभिवृद्धि के लिये सात बातें बतायी थीं–

१–जब तक भिक्षु अनेक बार एकत्र होते रहेंगे।

२–जब तक भिक्षु एकमत से एकत्र होंगे, और कर्मों का विचार करके एकमत उठेंगे।

३–जब तक भिक्षु संघीय मर्यादाओं का मान करेंगे और उनके अनुसार चलेंगे।

४–जब तक भिक्षु वृद्धों और शीलवान नायक भिक्षुओं का मान रखेंगे।

५–जब तक भिक्षु तृष्णा से अभिभूत नहीं होंगे।

६–जब तक भिक्षुओं को एकान्तवास प्रिय लगता रहेगा।

७–जब तक भिक्षु नवागन्तुक ब्रह्मचारियों की धर्म-समाधि के लिए जाग्रत व सचेष्ट रहेंगे।

मर्यादा महोत्सव के पुनीत प्रसंग पर ये सभी संकेत सजीव और चरितार्थ हो उठते हैं। प्रति वर्ष का एकत्र होना एक सहज प्रसंग है ही। आचार्य द्वारा किये गये निर्णयों पर सहज समस्त एकमत होकर उठना विधान है ही। मर्यादाओं का मनन, वृद्धों एवं गुरुजनों का मान, ऐहिक अपेक्षाओं के प्रति निस्पृहता, शैक्ष भिक्षुओं का परिपालन आदि सभी बातें तेरापंथ संघ के मर्यादा महोत्सव में चरम उत्कर्ष पर मिलती हैं।

आचार्य श्री भिक्षु से भी किसी एक व्यक्ति ने पूछा–आपका संघ सुव्यवस्थित और सुगठित है, पर यह इसी प्रकार कब तक चलता रहेगा? आचार्य श्री भिक्षु ने उत्तर दिया–

१–संघ के साधु जब तक मान्यता और आचार में दृढ़ रहेंगे।

२–संघ के साधु जबतक संग्रही नहीं होंगे, अर्थात् वस्त्र, पात्र व अन्य उपकरण अमर्यादित रूप से संगृहीत नहीं करेंगे और स्थानक, उपाश्रय आदि खड़े कर उनमें नहीं बैठेंगे।

३–संघ के साधु जब तक संघीय मर्यादाओं को बहुमान देते रहेंगे।

संघ को निरन्तर और सुदृढ़ रखने के लिए आचार्य भिक्षु का यह त्रिपदी दृष्टिकोण बहुत ही यथार्थ और वास्तविक है।

शांतिप्रियता और स्वच्छता

बौद्ध श्रमण संघ की निःशब्द प्रियता इतिहास प्रसिद्ध है। गौतम बुद्ध स्वयं शान्तिप्रिय थे। कोलाहल उनके लिए अमनोज्ञ था। एक बार बहुत सारे भिक्षु किसी दूर क्षेत्र से विहार करके आए और अपनी रहन-सहन की व्यवस्था में संलग्न

होकर कुछ कोलाहल करने लगे। भगवान बुद्ध ने उन सब साधुओं को पुनः एकत्र कर तत्क्षण विहार कर जाने का आदेश दे दिया। बौद्ध मठों में सहस्रों भिक्षुओं के एक साथ निःशब्द भोजन करने के भी उल्लेख मिलते हैं। तेरापंथ साधु-संघ की शांतिप्रियता और परिपाटी को सराहा जा सकता है। सैकड़ों साधुओं का एकत्र भोजन होता है, एक ही मकान में उनका रहना होता है, फिर भी उनके आसपास के वातावरण में कहीं भी कोलाहल अथवा अस्वच्छता झाँकने को नहीं मिलती। कुछ एक निरीक्षक साधु नियुक्त होते हैं, जिनका कार्य ही स्वच्छता सम्बन्धी जाँच करते रहना होता है। सौ आदमियों की एक बारात किसी एक मकान में दो दिन के लिए ठहरे, और सौ साधु किसी मकान में दो दिन के लिए ठहरें, तो दोनों में अन्तर होगा। पहले स्थान को साफ सुथरा करने में दिन और सप्ताह लग जाय और दूसरा दो दिन के पश्चात् मूल से भी अधिक स्वच्छ स्थिति में मिल जाय।

दीक्षा

दीक्षा के विषय में बौद्ध संघ प्रवर्तन के आदि दिनों में यह व्यवस्था थी कि दीक्षार्थियों को कोई साधु अपने आप दीक्षित न करे। प्रचारार्थ गए हुए भिक्षु दीक्षार्थी को लेकर पुनः-पुनः गौतम बुद्ध के पास आते और दीक्षित करवाते। इससे प्रचारार्थ साधुओं को बहुत कष्ट होने लगा। अन्त में भगवान बुद्ध को यह आदेश देना पड़ा कि भिक्षु स्वयं जहाँ जिसे चाहें, दीक्षा दे सकते हैं। इस नियम से लाभ तो यह हुआ कि संघ बहुत शीघ्र विस्तार पा गया। बौद्ध धर्म के विश्वव्यापी होने में यह भी एक प्रमुख कारण हो सकता है। जहाँ-जहाँ भिक्षु पहुँचे, उस देश व उस प्रान्त के लोगों को वे भिक्षु बनाते गये। इससे सर्वत्र बौद्ध धर्म की जड़ें जम गईं। इस विधान से हानि यह हुई कि बौद्ध धर्म में शैथिल्य आने के सब रास्ते खुल गये। यह सच था कि दीक्षा प्रदान करने की इतनी मुक्तता में पात्रापात्र का विवेक कम ही रह सकता था। उनके अधिक व्यापक होने से स्वैराचार बढ़ गया और बौद्ध धर्म के प्रान्त-प्रान्त और देश-देश में पृथक्-पृथक् स्वरूप बन गए। आचार गौण और पंथ-विस्तार प्रमुख हो गया।

प्राचीन काल से एक ही संघ में रहते हुए पृथक्-पृथक् शिष्य बनाने की जो परम्पराएँ चल रही थीं, आचार्य भिक्षु ने उन्हें तेरापंथ के आविर्भाव के साथ-साथ समाप्त कर दिया। उन्होंने अपने शब्दों में व्यवस्था दी 'शिष्य करना ते भारिमालजी के नाम करना है, अर्थात् भारीमाल जी उनके उत्तराधिकारी थे। इसलिए उन्होंने उनके नाम से शिष्य करने का विधान किया। उस संघ विधान का शाश्वत स्वरूप बना—वर्तमान आचार्य के नाम पर ही किसी को दीक्षित करना। दीक्षा देने के सम्बन्ध में धीरे-धीरे विधान का रूप कठोर होता गया, और आज तो उसका सर्वसम्मत रूप यह है कि आचार्य के नाम पर भी बिना आचार्य की अनुमति पाये कोई किसी को दीक्षित नहीं कर सकता।

देश के किसी भाग से भी लगभग सभी दीक्षार्थियों को दीक्षा ग्रहण के लिए आचार्य के पास ही पहुँचना पड़ता है। गौतम बुद्ध के युग में यदि दीक्षार्थियों को उनके पास पहुँचने की यान-सुविधायें होतीं तो सम्भवतः वे दीक्षा-संस्कार को सभी भिक्षुओं के लिए मुक्त नहीं कर देते। आचार्य भिक्षु की निष्ठा में आचार धर्म की प्राथमिकता थी। आचार को खोकर विस्तार को पाना वे घाटे का सौदा समझते थे। इस दीक्षा नियम का ही सुपरिणाम है कि देश के कोने-कोने में फैल जानेवाले लगभग ६५० साधु-साध्वियों के इस श्रमण संघ में आचार की दृढ़ता और एकरूपता ज्यों की त्यों चल रही है।

तेरापंथ संघ में एकाएक किसी को दीक्षित नहीं कर लिया जाता है। पहले उसे वैराग्य में महीने और वर्ष बिताने पड़ते हैं। देश और काल के ज्ञाता नवमाचार्य श्री तुलसी ने व्यावहारिक दृष्टि से इस साधना-काल को और भी लम्बा कर दिया है। इस मध्य स्थिति में दीक्षार्थी भाई व बहिन क्रमशः वैरागी और वैरागिन कहलाते हैं। बौद्ध धर्म संघ में ऐसे लोगों की एक व्यवस्थित परम्परा रही है। उन लोगों को श्रामणेर और श्रामणेरियाँ कहा जाता था। भगवान बुद्ध के सामने अल्प वयस्क दीक्षा का लोकापवाद उठा। उन्होंने नियम बना दिया कि १५ वर्ष से पूर्व किसी को भिक्षु संघ में न लिया जाये। तब से उक्त परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। श्रामणेर भिक्षुओं के आश्रम में व उन्हीं के मार्ग-दर्शन में साधना करते और श्रामणेरियाँ भिक्षुणियों के आश्रम में अपनी साधनाएँ करतीं।

आचार और प्रचार का युगपत् विकास

बौद्ध भिक्षु संघ की तरह तेरापंथ साधु संघ भी प्रचार कुशल रहा है। आज के इस ज्ञान प्रधान युग में पाद-विहार का जैसा सामुदायिक विकास वर्तमान तेरापंथ में चल रहा है वैसा अन्य किसी धर्म संघ में नहीं मिलेगा। वर्तमान आचार्य श्री

तुलसी ने अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन कर और अपने साधु-साध्वियों को उसके विस्तार में दत्तचित्त कर मानो भगवान बुद्ध के 'चरत्थ भिक्खवे चारिकाम्, चरत्थ भिक्खवे चारिकाम्—पाद विहार करो, पाद विहार करो' के अढ़ाई हजार वर्ष प्राचीन इतिहास को दुहरा दिया है। इन वर्षों में वे स्वयं इतने उग्र विहारी रहे हैं कि इतिहास के पृष्ठों में भी ऐसा उदाहरण शायद ही मिले। उनकी प्रेरणाओं से साधु-साध्वियों ने भारतवर्ष के दुर्गम स्थानों में पाद-विहार कर गौतम बुद्ध के शिष्य भिक्षु 'पूर्ण' की आत्मोत्सर्ग भावना को चरितार्थ कर दिया है। तेरापंथ के साधु संघ की ये उल्लेखनीय विशेषतायें हैं। प्रचार के साथ आचार धर्म का तदनुकूल विकास ही हुआ है, ह्रास नहीं। अपनी मौलिक आचार-संहिता को ज्यों की त्यों अक्षुण्ण रखते हुए तेरापंथ साधु संघ ने जो पाया है, वह इतिहास के पृष्ठों में एक अपूर्व घटना है।

गौतमबुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को बहुत बाद में दीक्षित किया। अनेकों आग्रहों के बाद उन्होंने अपनी मौसी महा-प्रजापति गौतमी, जिसने कि माता के अभाव में गौतम बुद्ध का लालन-पालन किया था, को दीक्षा दी। वह दीक्षा भी कुछ विशेष संविधानों को मान्य करने की शर्त पर थी। उनमें से कुछ संविधान ये हैं—

१—भिक्षुणी छोटे-बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे।

२—जिस गाँव में भिक्षु न हो वहाँ भिक्षुणी न रहे।

३—हर पक्ष में उपोसत्थ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए कब आना है, ये दो वह बातें भिक्षु संघ से पूछ ले।

४—चातुर्मास के पश्चात् भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ से प्रवारणा स्वदोषज्ञापन की प्रार्थना करनी होगी।

५—किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को गाली-गलौज न दे और भिक्षु भिक्षुणियों को उपदेश दे।

आचार्य भिक्षु ने भी तेरापंथ के आविर्भाव के लगभग पाँच वर्षों बाद तीन स्त्रियों को साध्वी दीक्षा दी। उन्होंने उन तीनों के सामने यह शर्त रक्खी थी कि यदि संघ में अन्य साध्वी-दीक्षाएँ निकट भविष्य में न हों, और तुम तीनों में से कोई एक काल-धर्म को प्राप्त हो जाय तो शेष दो को आमरण अनशन करना अनिवार्य होगा। तीन से कम का साध्वी-संघ न रह सकेगा। लगता है कि स्त्रियों को संघ में दीक्षित करना हर एक प्रवर्तक ने आशंकापूर्ण माना है; और उन आशंकाओं के निराकरणार्थ कुछ विशेष नियम रचे हैं। आचार्य श्री भिक्षु ने भी इस विषय में व्यवहार शुद्धि की दृष्टि से एक सुदृढ़ व्यवस्था दी है, जिसके मुख्य अंग हैं—

१—जिस गाँव में साधु हों वहाँ साध्वियाँ और जहाँ साध्वियाँ हों वहाँ साधु न रहें।

२—विशेष स्थिति में यदि साधु-साध्वियों को एक ही गाँव में रहना पड़े तो वे एक दूसरे के स्थानों पर आवागमन न रखें। प्रवचन-श्रवण तथा पठन-पाठन भी एक-दूसरे के यहाँ न करें।

३—पाक्षिक पर्व में अगले दिन साध्वियाँ साधुओं के स्थान पर जाकर 'खमत-खामना' करें।

४—तिथि-विवरण पत्र तथा काँटा निकालने के साधन के अतिरिक्त वे किसी वस्तु का आदान-प्रदान न करें।

५—जो साधु-साध्वियाँ गाँव में पूर्व से हों, वे नवागन्तुक साधु-साध्वियों के लिए एक दिन के आहार पानी की व्यवस्था करें, अर्थात् उन्हें भिक्षा के लिए जाने का कष्ट न दें।

इन व्यवस्थाओं में, कुछ तो बौद्ध श्रमण संघ की व्यवस्था के समान ही हैं, और कुछ सर्वथा उनसे विपरीत हैं। बौद्ध संघ का नियम था कि जिस गाँव में भिक्षु न हों, वहाँ भिक्षुणियाँ न रहें। तेरापंथ का नियम है, जहां साधु हैं वहाँ साधारणतया साध्वियाँ न रहें। हो सकता है कि गौतम बुद्ध की दृष्टि साध्वियों के संरक्षण की ओर रही हो, और आचार्य श्री भिक्षु की पारस्परिक सम्पर्क स्वल्प रखने की रही हो। आचार्य श्री भिक्षु ने संघ-हित के लिए संपर्क स्वल्पता को ही यथेष्ट माना। यह उनके प्रत्येक नियमन से स्पष्ट होता है। फिर भी उन्होंने तत्सम्बन्धी नियमों को रूढ़ नहीं होने दिया। आचार्य और आचार्य के आदेश उक्त सारी व्यवस्था के अपवाद हैं। साध्वियाँ छोटे-बड़े साधुओं को वन्दन करें यह तो बौद्ध धर्म की तरह जैन धर्म की भी प्राचीन परम्परा रही है।

समानता प्रधान वर्तमान युग में ऐसी सभी परिस्थितियाँ चिन्तनीय हैं, जो पुरुष और नारी की उच्चावचता की द्योतक हैं। तेरापंथ साधु संघ में इतर जैन संघों की अपेक्षा साध्वियों के लिए विकास के बहुत अधिक अवसर हैं। शिक्षा, प्रवचन, विहार आदि विषयों में साधु और साध्वियों के अधिकारों में कोई अन्तर नहीं माना गया है। बहुत सारी साध्वियों ने तो उक्त विषयों में अपनी श्रेष्ठता का परिचय भी दिया है।

आधुनिक शासन प्रथाओं के साथ

आधुनिक शासन प्रणालियों के साथ ही तेरापंथ संविधान को परख लेना अप्रासंगिक और असंगत नहीं होगा। भले ही पंथ संविधान और प्रणालियाँ एक-दूसरे से दूर की बातें रही हों, पर धर्म संघों में भी प्रशासन तो एक प्रकार का प्रशासन ही है। आचार्य की सर्वाधिकार सम्पन्नता को देखकर सहसा यह लगेगा कि तेरापंथ का संविधान सर्वथा एकतंत्र प्रथा पर आधारित है। दूसरी ओर साधु-साध्वियों के सामुदायिक जीवन-क्रम तथा संविभाग पर आधारित अधिकार क्रम को देखकर सामाजिकता प्रधान समाजवाद की याद आयगी। संघ में व्यक्ति का अपना कुछ नहीं है। व्यक्ति स्वयं संघरूपी समाज का है, और उसकी समग्र अपेक्षाएँ समाज-सम्बद्ध हैं। एक के लिए सब और सब के लिए एक का उदार आदर्श यहाँ चरितार्थ देखने को मिलता है। आचार्य की सर्वाधिकार सम्पन्नता किसी भी डिक्टेटर या ऑटोक्रेट जैसी नहीं है। उसमें स्वच्छन्दता और नियमितता का मौलिक भेद है। एक आचार्य शास्त्रीय विधि-विधानों का उल्लंघन कर शासन चलाने के लिए स्वतंत्र नहीं है। वह शास्त्रीय संविधान के अनुसार ही किसी को प्रायश्चित्त दे सकता है। अधिक प्रायश्चित्त देकर स्वयं भी प्रायश्चित्तका भागी बनता है। आचार्य स्वयं पदारूढ़ नहीं हो जाता; वह अपने पूर्ववर्ती आचार्य द्वारा नियुक्त किया जाता है। नियुक्ति पत्र पर संघ के सभी साधुओं के हस्ताक्षर मांगे जाते हैं। संघ के प्रमुख कार्य योग्य साधुओं की सहमति लेकर करने का विधान है। निर्वाचन पद्धति अवश्य जनतांत्रिक पद्धति से बहुत कुछ दूर रहती है। किसी भी धर्म संघ के लिए ऐसा होना उचित भी है। जनतांत्रिक देशों में भी वर्तमान चुनाव प्रणाली अवैज्ञानिक सिद्ध हो रही है। विरोधी प्रचार, दलबंदियाँ आदि विभिन्न दलों में होनेवाले मनोमालिन्य देश की अखंडता को विभक्त और आशंकित करते हैं। जन जीवन चुनाव के दिनों में अत्यन्त अशान्त हो जाता है। अस्तु, धर्मसंघों में तथा प्रकार की निर्वाचन पद्धति का न आना ही श्रेयस्कर लगता है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि विभिन्न शासन प्रथाओं के सहज समन्वय से आविर्भूत यह एक स्वतंत्र शासन प्रणाली है। इसे हम 'राज्य सावयव सिद्धान्त' सहज रूप में कह सकते हैं। उस सिद्धान्त के विषय में राजनीति के प्राचार्य प्लेटो अपने रिपब्लिक (Republic) नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि सर्वोपरि शासन व्यवस्था वही है जिसकी बनावट तत्वज्ञ मनुष्यों की बनावट से समानता रखती है। जिस प्रकार शरीर के सावयव रूप किसी अवयव को चोट लग जाने से सारे शरीर को वेदना होती है और वह उस दुखित अवयव के साथ सहानुभूति दिखलाता है ठीक उसी प्रकार समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उन में से किसी एक को चोट पहुँचने पर समूचे समाज को धक्का लगता है।

आचार्य श्री भिक्षु ने रुग्ण और वृद्ध साधुओं की परिचर्या के लिए दशों नियमोपनियम रचे, जिनके अनुसार यथावश्यक हर एक साधु को रुग्ण और वृद्ध की परिचर्या में लगना पड़ता है। नियमोपनियम के साथ जो संस्कार संघ के साधु साध्वियों को दिये गये हैं, उनके आधार पर तेरापंथ की परिचर्या अत्यन्त श्लाघ्य हो रही है। थोड़े में कहा जा सकता है कि तेरापंथ शरीर की आत्मा आचार्य हैं, और साधु साध्वी जन उसके अवयव हैं। किसी एक अवयव की पीड़ा में दूसरा तत्क्षण सचेष्ट होता है। इस अवयवी शरीर में अनुभूति और संचालन सबके लिए समान और एक हैं।

अन्य विशेषताएँ

तेरापंथ संविधान की कुछ अन्य विशेषताएँ भी असाधारण और उल्लेखनीय हैं। यदि कोई साधु किसी अन्य साधु में त्रुटि देखे तो वह सौजन्यपूर्वक उस साधु से अपनी त्रुटि सुधारने के लिए कहे। वह इस बात के लिए प्रस्तुत न हो तो आचार्य से कहे; पर अन्यत्र उसका प्रचार न करे। इस अधिनियम से पारस्परिक व्यवहार बहुत शालीन रहता है। दोषी, दोषमुक्त होने के लिए प्रेरित होता है। दोषी को यथाविधि सावधान न किया जाए और अन्यत्र उसका प्रचार किया जाए, तो इससे वैमनस्य बढ़ता है और एक दूसरे को बुरा बताने में सारा संघ कलह ग्रस्त हो सकता है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में भी उक्त नियमों को चरितार्थ किया जाए तो अनायास उठनेवाले बहुत सारे कष्टों से बचा जा सकता है।

अनुशासन सारे संविधान का प्राण रहा है। अनेकानेक मर्यादाएँ इस पर बल देती हैं। व्यवहार में इसका स्वरूप और भी कठोर है। थोड़ा भी अनुशासन भंग क्षम्य नहीं माना जा सकता। अनुशासन का विषय है शास्त्रीय नियमों का

पालन, संघीय नियमों का पालन, आचार्य व अग्रगण्य के निर्देशों का पालन। कोई साधु इच्छानुसार संघ से पृथक् हो सकता है, पर वह यह नहीं कह सकता—अमुक निर्देश का पालन तो नहीं करूँगा, पर संघ में रहूँगा।

जानबूझ कर किये गए तनिक से आज्ञा भंग पर भी संघ से अलग कर देने की अनेक टनाएँ तेरापंथ के इतिहास में मिलती हैं। किसी असंतोष के कारण की जानेवाली दलबन्दियों के प्रति भी विधान का रूप अत्यन्त कठोर है। विधान का मूल स्वरूप आचार्य के लेखपत्रों एवं मर्यादाओं में है। वर्तमान आचार्य द्वारा की गई मर्यादाएँ भी उसका अंग बनती हैं। विशेषता यह है कि जितने भी नियमोपनियम बनाये जाते हैं वे संघ के साधु-साध्वियों को अन्तिम रूप देने से पूर्व हृदयगम कराये जाते हैं। अन्तिम रूप देने के बाद वे नाना अहिंसात्मक और मनोवैज्ञानिक उपायों द्वारा संस्कारगत किये जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि संघीय नियमन साधु व साध्वियों द्वारा भारभूत न माना जाकर आधारभूत माना जाता है।



तेरापंथ और अणुव्रत आंदोलन

(साध्वी श्री कानकुमारीजी)

पंथ क्षुण्ण होकर स्पष्ट होता है। पर साथ ही साथ अनुभव वृद्धता उसमें नये-नये सरल मार्ग भी निकालती रहती है। जीवनपथ की विविधता का यही एकमात्र कारण है। कौन-सा मार्ग सरल है, यह कहना जरा कठिन है। पर वे लक्ष्य प्राप्ति की एक आतुर आकांक्षा लेकर चलते हैं, इसमें सन्देह को स्थान नहीं हो सकता। लक्ष्य सदा मानव जाति के सामने रहा है, पर उस तक पहुँचने में उसने विविध मार्गों का अनुसरण किया है, यह सर्वथा अनावृत है। कुछ युग द्रष्टाओं ने पूर्व पदाक्रान्त पथ में जहाँ भी घुमाव देखा, उसे टालने का प्रयत्न किया है। अनेक लोगों ने उनका अनुसरण भी किया है। पर नहीं कहा जा सकता कि कौन मार्ग योग्य निर्देशक को पाकर अपनी लक्ष्यगामिता को साध सकता है। योग्य निर्देशक के अभाव में अनेक लोगों ने विपथ में भटक-भटककर अपनी जीवन यात्रा को वहीं समाप्त कर दिया है, ऐसे भी बहुत सारे प्रमाण हैं। पर अन्ततः कौन-सा मार्ग सही है और कौन-सा गलत है, यह निर्णय करना अब भी मनुष्य के लिये अशक्य है। तेरापंथ भी लक्ष्य तक पहुँचने के लिये एक मार्ग है। उसका अपना नम्र मत है कि वह भगवान महावीर के चरण चिह्नों का अनुगमन कर रहा है, पर उसमें आग्रह नहीं है। वह इसलिये कि दूसरे भी ऐसा कहने के लिये स्वतंत्र हैं। पर तेरापंथ का अनुगमन करनेवालों का अपना विश्वास उनके सुखद और सक्रिय वर्तमान में शतमुख होकर ध्वनित हो रहा है। इसमें शायद किसी के दो मंतव्य नहीं हो सकेंगे। तेरापंथ को जैन धर्म से अलग देखना सही नहीं होगा। पर चूंकि जैन धर्म आज अनेकमुख हो चुका है, अतः उसकी अनेकमुखता के नाम रूप की व्यवच्छिन्नता के लिए तेरापंथ को हम एक संकेत मान लेते हैं। आचार्य भिक्षु ने आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व इस शब्द का संकेत (निरुक्त) करते हुए कहा था—हे प्रभो ! यह तेरा ही पंथ है। आगे इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा—पाँच समिति, तीन गुप्ति और पाँच महाव्रतों का सम्यक् अनुशीलन ही तेरापंथ है। अतः उसमें ऐसी कोई अभिव्यक्ति नहीं है जो उसे जैन धर्म से पृथक् करे। पर परम्परा के प्रबल प्रवाह ने उसे ऐसा रूप जरूर दे दिया है जो जैन धर्म की अनेक शाखा-उपशाखाओं में अपना स्वतंत्र स्थान रखता है। अतः अणुव्रत के साथ उसके सम्बन्धों की पर्यालोचना करते समय हमें उसके मुख्य सिद्धान्तों और प्रणेताओं से भी परिचय पा लेना आवश्यक है।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु को ऐसा अनुभव हुआ कि जैन धर्म में अनेक विकृतियाँ स्थान पा रही हैं। उनके विरुद्ध उन्होंने जो क्रान्ति चरण उठाया, वही तेरापंथ की अभिधा से अभिहित हो गया। तब से लेकर आजतक वह एक सम्प्रदाय का रूप लेकर अविराम चलता रहा है। आचार्य भिक्षु के बाद वर्तमान अधिशास्ता आचार्य श्री तुलसी तक आठ आचार्यों ने सदा अपने नेतृत्व के अमृत से इस संघ के मूल को सींचा है, जिसका प्रमाण तेरापंथ का अपना सुदृढ़ संगठन स्वतः ही दे रहा है। किसी भी संघ का तेज उसके नेतृत्व पर आधारित है। तेरापंथ के लिये यह गौरव की बात रही है कि उसे प्रायः योग्य नेतृत्व सुलभ रहा है। अणुव्रत का इतिहास दस वर्षों से अधिक पुराना नहीं है। पर तेरापंथ दो सौ वर्षों से जो करता आया है वह अणुव्रत के विपरीत बात नहीं है, बल्कि ढाई हजार वर्ष पहले भगवान महावीर ने जो कुछ किया था वह भी अणुव्रत का ही एक प्रमुख अंग था। शब्द संज्ञा की दृष्टि से भी भगवान् महावीर ने अणुव्रत ध्वनि में जो अर्थ संकेत दिया था, आज भी प्रायः वही ध्वनि अणुव्रत आंदोलन में है। आज तो तेरापंथ और अणुव्रत आंदोलन एक व्यक्तित्व के नेतृत्व की दो धाराएँ हैं। कुछ लोग अणुव्रत आंदोलन को तेरापंथ का ही एक रूपांतर मानते हैं, तो कुछ लोग इसे तेरापंथ से सर्वथा असंयुक्त कह देते हैं। पर उसके प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी का मत इन दोनों से भिन्न है। इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने एक जगह कहा था—अणुव्रत तो एक जीवन निर्माण का आन्दोलन है। तेरापंथ भी जीवन निर्माण में विश्वास करता है। अतः वह अणुव्रत आन्दोलन से सर्वथा असंयुक्त रह ही कैसे सकता है ? बल्कि जीवन निर्माण में विश्वास रखने वाला कोई भी संघ या समाज अणुव्रत से भिन्न नहीं है। नाम और परिस्थिति ने इसे अणुव्रत की संज्ञा में बाँध दिया है पर भावना की दृष्टि से वह किसी भी चरित्रोत्थान के प्रयास से भिन्न नहीं है। व्यवस्था की दृष्टि से अणुव्रत भी तेरापंथ से उतना ही भिन्न है जितना कि दूसरे संघ या सम्प्रदाय। किसी भी प्रवृत्ति के एकांगी

दर्शन से हम उस के सम्यक्-मिथ्यात्व का सही आकलन नहीं कर सकते। अणुव्रत तथा तेरापंथ के सम्बन्ध के बारे में भी हमें इन दोनों दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिये।

दूसरे लोग अनैतिकता करें या न करें, पर अध्यात्म में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति अनैतिकता करे, यह भौतिकवादियों के लिये अध्यात्म में अविश्वास का एक प्रमुख तर्क था। हालांकि भूख तो सभी को लगती है, वातावरण में जब सभी लोग अनैतिकता के शिकारी हों तो अध्यात्मवादी लोग भी उससे कैसे बच सकते थे! पर सब जगह तर्क से काम नहीं चलता। अध्यात्मवादियों के आचरण में उनके विचारों का प्रतिबिम्ब आवे, यह सर्वथा अपेक्षणीय था। इसीलिए आज से दश वर्ष पूर्व आचार्य श्री तुलसी ने जीवन-निर्माण के कुछ सूत्र जनता के सामने रखे थे, जो अणुव्रत के रूप में सामने आये। चूंकि आचार्य श्री के सामने सारा देश था, अनीति का प्रसार किसी व्यक्ति या समाज में ही रहा हो ऐसा तो था नहीं; इसीलिए देश की सर्ववर्गीय परिस्थिति को देखकर आचार्य श्री ने अणुव्रत का विस्तार किया।

प्रारम्भ में इसे लोगों ने तेरापंथ का ही रूपान्तर बताया। इसलिये दिल्ली के एक पत्रकार सम्मेलन में एक पत्रकार ने प्रश्न पूछा—क्या एक अणुव्रती को आप (तेरापंथ के आचार्य) को नमस्कार करना आवश्यक है? आचार्य श्री ने उसका उत्तर देते हुए कहा—यह कोई आवश्यक नहीं कि एक अणुव्रती को तेरापंथ के आचार्य को नमस्कार करना ही पड़े। यह तो अपने-अपने धार्मिक विश्वासों पर निर्भर है। जिसे तेरापंथ में या किसी भी धर्म सम्प्रदाय में विश्वास हो, वह उसके आचार्य को वन्दन नमस्कार कर सकता है। पर यह कोई आवश्यक शर्त नहीं है। दूसरे धर्म पर विश्वास करने वाले उस धर्म के आचार्यों को नमस्कार करें तो अणुव्रत उन्हें मना नहीं करेगा। इसीलिये अणुव्रत आन्दोलन केवल तेरापंथ का ही आन्दोलन नहीं है; अपितु वह सब धर्म समाजों के लिये एक प्रेरक प्रयत्न है।

धर्म आत्मशुद्धि का साधन है। व्यवहार शुद्धि तो उससे अपने आप हो ही जाती है। पर लोग धर्म को उसके वास्तविक रूप में नहीं पकड़ते। वे उसे केवल रूढ़ि के रूप में ही ग्रहण करते हैं। इससे जीवन तो शुद्ध होता ही नहीं, व्यवहार भी बिगड़ जाता है। धर्म का नारा है—'आत्मवत् सर्वभूतेषु' प्राणी-मात्र को आत्मबुद्धि से देखो। पर क्या आज धार्मिक समाज ने प्राणीमात्र को तो छोड़ ही दें, मनुष्य को भी आत्मदृष्टि से देखा है? जाति-पाँति तथा भेद-भावों ने मानव जाति को आज अनेकानेक टुकड़ों में बाँट दिया है। यह निश्चय ही धर्म के उज्ज्वल भाल पर कलंक का एक टीका है। आत्मशुद्धि के साधक यहाँ पर आकर व्यवहार को भी अशुद्ध बना डालते हैं। इसीलिये आचार्य श्री ने अणुव्रत में एक नियम रक्खा—मैं किसी को भी अस्पृश्य नहीं मानूंगा। इस प्रकार अणुव्रत आन्दोलन न केवल मनुष्य को नैतिक ही बनाता है, अपितु वह धर्म के वास्तविक अर्थ को भी प्रकट करता है। अतः उसे हम न केवल नैतिक शुद्धि का ही आंदोलन कहें, बल्कि उसे धर्म शुद्धि का भी आंदोलन कह सकते हैं। आचार्य श्री स्वयं एक ऐसी मध्य रेखा पर बैठे हैं जहाँ से वे धर्म और नीति दोनों को परिमार्जित कर सकते हैं।

सामाजिक दृष्टि से देश में अनेक आंदोलन चलते हैं, पर सभी लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि वे अपेक्षित परिणाम नहीं ला पा रहे हैं। इसका कारण यही हो सकता है कि मनुष्य को आत्मस्थ बनाये बिना कोई भी ऊपरी प्रयास उसे सही सुखी और शान्त नहीं बना सकता। सामाजिक दृष्टि से सम्पन्न और शिक्षित व्यक्ति भी समय पर अनैतिक आचरण करते नहीं सकुचाते। यह क्या सामाजिक प्रगति की एकांगता की सूचना नहीं है? सामाजिक व्यक्ति के लिये समाज की सम्पन्नता होना आवश्यक है, पर वह साध्य नहीं है। साध्य तो शान्ति और संतोष ही है, जो धर्म का एक अविनाभावी अंग है। इसीलिये आज एक ऐसे आंदोलन की आवश्यकता है जो मनुष्य को आत्मस्थ होने की बात बताये। इहलोक और परलोक की चर्चा आत्मस्थता के लिये बाधक नहीं है। भले ही कोई व्यक्ति परलोक पर विश्वास न करे, पर उसे अपने आप में संतुष्ट होना तो सीखना ही पड़ेगा। यही प्रयत्न अणुव्रत के माध्यम से हो रहा है। तेरापंथ को इससे कोई विरोध नहीं हो सकता है और न इसे ही तेरापंथ से कोई विरोध हो सकता है; बल्कि तेरापंथ के संगठन ने अणुव्रत प्रसार में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। ६५० साधु-साध्वियों तथा लाखों श्रावक-श्राविकाओं के सामूहिक प्रयत्न ने स्थान-स्थान पर अणुव्रत भावना के प्रसार में अनेकविध सहयोग दिया है।

अणुव्रत के इस दश वर्षों के इतिहास में अनेक मोड़ आये हैं। प्रारम्भ में आचार्य श्री ने अपने श्रावकों में से केवल २५ व्यक्ति ऐसे माँगे जो किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन को अनैतिक आचरणों से बचाये रखने के लिये कृतसंकल्प हों। श्रद्धा

पूरित श्रावक समाज में से बहुत थोड़े प्रयत्न से ही ऐसे २५ व्यक्ति मिल गये जो आचार्य श्री के किसी भी आदेश के पालन के लिये कटिबद्ध थे। यह उस समय की बात है, जब योजना केवल विचारों में ही थी। उसका प्रारूप तैयार होते-होते तो ७५ व्यक्तियों ने एक साथ उस पर चलने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

भारतीय मानस की यह विशेषता है कि धर्म पक्ष से आनेवाले प्रायः सभी प्रयत्नों का वह हृदय से स्वागत करता है। इसीलिये बहुत थोड़े समय में ही हजारों-लाखों लोगों के मानस को अणुव्रत ने इतना आकृष्ट कर लिया। पर चलते-चलते अनुभव हुआ कि देश की समस्याएँ इतनी बढ़ी हुई हैं कि उसमें एकाएक यह लघु प्रयत्न सफल नहीं हो सकेगा। प्रत्येक कार्य के लिये अभ्यास और वैराग्य ये दोनों ही अपेक्षित रहते हैं। हालांकि लोगों में वैराग्य था, पर एक साथ वे सभी बुराइयों से दूर नहीं रह सकते थे। एक व्यक्ति के सुधरने का मतलब है उसके आसपास के वातावरण का भी सुधरना। जबतक आसपास का वातावरण नहीं सुधरता है तब तक व्यक्ति को सुधरने में भी अनेक कठिनाइयाँ सामने आती रहती हैं। अतः सोचा गया कि एक साथ यदि कोई सभी विकारों से दूर नहीं हो सके तो उसे थोड़ा-थोड़ा करके उनसे दूर होने का प्रयत्न करना चाहिये। इस विचार से अणुव्रत को तीन विभागों में बाँटा गया। प्रवेशक अणुव्रती, अणुव्रती और विशिष्ट अणुव्रती। प्रवेशक अणुव्रती के लिये केवल ११ नियम ही रखे गये। अणुव्रती के नियमों की संख्या ८६ से घटाकर ४४ कर दी गई। विशिष्ट अणुव्रती के लिये कुछ विशेष नियम बनाये गये; और इस प्रकार क्रमशः अणुव्रत का रथ अभ्यास के मार्ग पर धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया।

व्रत तो केवल संकल्प के लिये होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियाँ असंख्य होती हैं। वे सत् भी हो सकती हैं और असत् भी। अतः प्रत्येक असत् प्रवृत्ति के विरोध के लिये अलग-अलग व्रत बनाना संभव नहीं था। इसीलिये कुछ व्रतों के नियम दिशा सूचना के लिये रख लिये गये। अर्थात् कम से कम इतने तो पालन करने ही चाहिये। पर ज्यों-ज्यों भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले लोगों का सम्पर्क हुआ त्यों-त्यों ऐसा लगा कि सबको एक साथ बाँधना संभव नहीं होगा। इसीलिये भिन्न-भिन्न वर्ग के लोगों के लिये प्रारंभिक रूप में भिन्न-भिन्न नियम बनाये गये। उदाहरणार्थ व्यापारियों के लिये—चोरबाजारी नहीं करना, मिश्रण नहीं करना, कम माप-तोल नहीं करना, आदि-आदि। राज्य कर्मचारियों के लिये—रिश्वत नहीं लेना, अधिकारों का दुरुपयोग नहीं करना। आदर्श विद्यार्थियों के लिये—हिंसात्मक तथा तोड़-फोड़ मूलक कार्यों में भाग नहीं लेना। परीक्षा में अवैध तरीकों से उत्तीर्ण नहीं होना, धूम्रपान तथा मद्य- पान नहीं करना, आदि-आदि के नियम बनाए गए।

इसी कार्यक्रम को लेकर आचार्य श्री तथा उनके सहयोगी साधु-साध्वियों तथा उपासक वर्ग ने कड़ा परिश्रम किया। गरीब किसानों की झोपड़ियों से लेकर राष्ट्रपति भवन तक अणुव्रत की भावना ने प्रवेश पाया। करोड़ों लोगों ने अपनी सोई मानवता जगाने का आह्वान पाया और सचमुच देश में आज अणुव्रत को आशातीत सहयोग तथा सफलता मिल रही है। अब तो कल्पनाएँ और भी आगे पैर बढ़ा रही हैं। ऐसा लगता है जैसे अपने क्षेत्र में अणुव्रत की सेवाओं का उचित प्रतिफल सामने आवेगा। यद्यपि अणुव्रत के सामने अनेक समस्याएँ हैं, पर जिस प्रकार अतीतकाल में वह उन्हें पार करता आया है, उसी प्रकार आगे भी वह करता जायेगा यह निश्चित है। समाज के लोगों ने तथा दूसरे लोगों ने भी इसे उचित सहयोग दिया है। तेरापंथ की भूमिका ने जहाँ अणुव्रत प्रसार को एक अमूल्य अवसर दिया है, वहाँ अणुव्रत के माध्यम से अनेक लोगों ने तेरापंथ का भी परिचय पाया है। वह तेरापंथ समाज जो पहले जैन समाज में कुछ भी नहीं समझा जाता था, आज आध्यात्मिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है ऐसा लोग सोचने व समझने लगे हैं। अनेक भौतिकतावादी लोग भी अणुव्रत के माध्यम से निकट सम्पर्क में आये तथा उन्होंने तेरापंथ का तलस्पर्शी परिचय प्राप्त किया है।

पंचशील, शाब्दिक रूप में जैसे बौद्ध साहित्य और संस्कृत की उपलब्धि है, वैसे ही 'अणुव्रत' शब्द जैन साहित्य और संस्कृति की एक उपलब्धि है। भगवान महावीर ने साधना क्षेत्र में दो (एक महाव्रत तथा दूसरा अणुव्रत) मार्गों का निर्देश किया था। सब प्रकार के सावद्य कार्यों से निवृत्त होनेवाले व्यक्ति को महाव्रती कहा जाता था। उसके लिये पाँच महाव्रतों का पालन अनिवार्य था। यथाशक्य निवृत्त होनेवाले को अणुव्रती कहा जाता था। उसके लिये बारह व्रतों का निर्देश किया गया था। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। इस प्रकार बारह भागों में बँटी हुई प्रवृत्तियों का यथाशक्य निरोध करनेवाला व्यक्ति अणुव्रती कहलाता था। उसका सम्यकत्वी होना भी आवश्यक था। पर अणुव्रत आंदोलन जिस अर्थ में प्रयोग किया गया है वह उससे कुछ भिन्न है; क्योंकि इसमें प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिये जैन परिभाषा में

सम्यक्त्वी होने की अनिवार्य शर्त नहीं है। कोई भी व्यक्ति जो आत्म शुद्धि में विश्वास करता है, अणुव्रत आंदोलन का सदस्य बन सकता है। इसमें गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत का अलग से कोई विभाग नहीं है।

बयालीस व्रतों को पाँच अणुव्रतों में विभक्त कर दिया गया है। पाँच अणुव्रत हैं–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह[1]। यह सब भेद शब्द विश्लेषण की दृष्टि से है। भावना की दृष्टि से तो सभी धर्म और संस्कृतियों में कोई भेद है ही नहीं। उस दृष्टि से अणुव्रत भी कोई नया प्रयत्न नहीं है। बहुत लम्बे काल से चली आती हुई भारतीय संस्कृति का यह एक वर्तमान संस्करण है। तेरापंथ संघ ने उसके प्रचार व प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

१–अणुव्रतों की व्याख्या के लिये–'अणुव्रत आन्दोलन' नामक लेख (प्रथम खंड, पृ० २३३) देखिये।



तेरापंथ का विकास

(आचार्य श्री तुलसी)

प्रारम्भ का मूल्य भविष्य से आँका जाता है। यदि भविष्य उज्ज्वल हुआ तो प्रारम्भ भी उज्ज्वल हो जाता है। उसी का भविष्य उज्ज्वल होता है, जिसका प्रारम्भ विशुद्ध वातावरण में होता है। तेरापंथ का उद्भव विशुद्धि की भित्ति पर हुआ। विकास स्वयं लभ्य था। आचार्यों ने प्रयत्न किया। साधु-साध्वीगण ने अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। श्रावक-श्राविका संघ ने श्रद्धा और सेवाभाव की लौ जलाई। तेरापन्थ का तेज चमक उठा।

विकास अथवा विस्तार संख्या और गुण की दृष्टि से नापा जाता है। आदि में तेरह साधु थे। साध्वियाँ नहीं थीं। अभी उनकी संख्या ६५० है। श्रावक सैकड़ों की संख्या में थे; अब वे लाखों में हैं। जहाँ विहार-क्षेत्र मेवाड़ और मारवाड़ का कुछ ही भाग था वहाँ अब त्रावनकोर और आसाम को छोड़कर शेष सभी प्रान्तों में साधु और साध्वियाँ विहार कर रही हैं।

गुणात्म विकास की नाप-जोख करना शक्ति से परे है। ज्ञानदर्शन और चरित्र की जो आत्मगत अनुभूति है, उसे बाह्य दृष्टि आँक नहीं सकती। इसलिए उन्हें तारतम्य की परिधि में प्रवेश नहीं दिया जा सकता।

ज्ञान का गम्य रूप है—श्रुत। दर्शन का गम्य रूप है—व्यवस्था। चरित्र का गम्य रूप है—अनुशासन। इनमें नए-नए उन्मेष आए हैं। इसलिए व्यवहार की भाषा में कहा जा सकता है कि ज्ञान-दर्शन और चरित्र का विकास हुआ है।

विकास हमें दीखता है किन्तु उसके कारण छिपे रहते हैं। उसकी अपनी एक विशेष स्थिति होती है। आचार्य भिक्षु ने गण का विधान बनाया तो उसका उद्देश्य कोरा संगठन नहीं था। वैसा चरित्र-शुद्धि के लक्ष्य से किया गया था। इस विशुद्धि के आधार पर जो व्यवस्था बनी, जो अनुशासन विकसित हुआ, उसके गर्भ में विकास छिपा हुआ था।

लक्ष्य के प्रति जो आस्था होती है, वह व्यक्ति या समाज को आगे ले जाती है। जो दृष्टिकोण हमें मिला है—वह सम्यक् है। उसे जन-जन तक पहुँचाने का लक्ष्य बना। उसके प्रति आस्था आई। अनुगामियों की संख्या बढ़ी। विहार क्षेत्र विस्तृत हो चला। ऐसा सहज ही नहीं हो गया इसके लिए साधुओं ने अनेक कठिनाइयाँ झेलीं। सभी कष्ट अभिशाप ही नहीं बनते। उनमें से कुछ वरदान भी सिद्ध होते हैं। सुविधाओं में चैतन्य उतना विकसित नहीं होता, जितना कठिनाइयों में होता है। यदि कष्टों को सहने की मनःस्थिति मन्द पड़ने लगी है, तो इसका अर्थ यही है कि लौ बुझने के क्षणों में है। आचार्य भिक्षु को कठिनाइयों ने घेरा, उसमें अचरज जैसा कुछ नहीं है। वेणीरामजी स्वामी को एक दिन में अनेक स्थानों से निकाला गया, वह भी आश्चर्यपूर्ण नहीं है। आश्चर्य इस बात का है कि मेरे शासन-काल में ही मेरे शिष्यों के जीवन में उन कठिनाइयों की पुनरावृत्तियाँ हुई हैं, जिनका उल्लेख इतिहास में मिलता है। यह हमारे विकास का सर्वोपरि हेतु है।

ग्राम-विहार

आचार्य भिक्षु ने विधान की एक धारा लिखी—साधु-साध्वियाँ गाँवों में रहें। जहाँ सरस आहार मिलता है, वहाँ उपकार न होने की दशा में भी साधु-साध्वियाँ अड्डा डाले रहती हैं और जहाँ नीरस आहार मिलता है वहाँ उपकार होने की स्थिति में भी जाना उन्हें नहीं भाता। अभी तक यह स्थिति रही है किन्तु मेरे गण में ऐसा न हो। चातुर्मास के दीर्घकाल में छोटे-छोटे गाँवों में रहने की स्थिति न हो तो शेषकाल में अवश्य रहें।

इस धारा ने तेरापंथ को गाँव का धर्म बना दिया। उसका विकास गाँवों में हुआ है। हमारे अनुयायी नगरों में बहुत कम रहे हैं। आज जो नगरवासी हैं, वे इन्हीं वर्षों में विभिन्न परिस्थितियों में गाँवों को छोड़ कर नगरों में बसे हैं। ग्राम-विहार के सूत्र का जीवन दो सौ वर्ष का हो गया है; फिर भी वह उतना ही सद्यस्क और उतना ही महत्त्वपूर्ण है। मर्यादा-महोत्सव सम्पन्न होने पर जब साधु-साध्वियाँ विहार करती हैं तब उन्हें आचार्य चातुर्मास के क्षेत्र का निर्देश देते हैं। समीपवर्ती गाँवों के नाम लिखकर दिए जाते हैं। शेष काल में उन्हें वहीं रहना होता है। चातुर्मास के क्षेत्रों में वे विशेष आज्ञा से वहाँ रह सकते हैं। चातुर्मास की समाप्ति के बाद जब वे वापस आते हैं, तब वे किन-किन गाँवों में कितनी रात रहे, यह लिखकर आचार्य को निवेदन करते हैं।

दलबन्दी पर प्रहार

आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के साथ देखा कि साधुओं में भी दलबन्दियाँ हैं। उन्होंने विधान की एक धारा लिखी—गण का कोई साधु-साध्वी दलबन्दी न करे। विधान बना देना ही बस नहीं होता। उन्होंने विधान का प्रयोग होने से पूर्व साधु-साध्वियों के सहर्ष हस्ताक्षर भी प्राप्त किए। भावी सन्तति के लिए उन्होंने ऐसा साहित्य रचा कि उनके आदेश सबके संस्कारों में घुलते गए। इसका सर्वोपरि श्रेय उनके महान् भाष्यकार और व्यवस्थापक उत्तराधिकारी जयाचार्य को है। उनकी मनोवैज्ञानिक कृतियों में साधु-साध्वियों के मानस को शासन के रंग में रंगने की अपूर्व क्षमता है। जब व्यक्ति अपने या अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देता है तब दलबन्दी का प्रसंग उपस्थित होता है। जब सामुदायिक भावना विकसित होती है तब गुटबन्दी को अवसर नहीं मिलता। आचार्य ने व्यक्ति को कोरा व्यक्ति नहीं रहने दिया। उन्होंने उसे सामुदायिक बनाने का यत्न किया। फलतः 'जिल्लो संयम नं टिल्लो' (दलबन्दी संयम का विनाश है) यह हमारा घोष हो गया। तेरापंथ जो अभी तक संगठित रहा तथा उसने शाखाओं को जन्म नहीं दिया इसका मुख्य हेतु दलबन्दी की मनोवृत्ति को बदल देने का यही प्रयत्न है।

एक आचार्य

आचार्य भिक्षु ने चाहा कि साधु और साध्वियाँ एक आचार्य के अनुशासन में रहें। साधुओं ने भी यही चाहा। विधान बन गया कि आचार्य एक ही हों, शेष सब उनके आदेशवर्ती। अनुशासन का क्रम आगे बढ़ा। धीरे-धीरे आदेश व्यापक बन गया। अपना शिष्य कोई न बनाये यह सर्वमान्य हो चुका था। परन्तु उस समय किसी को दीक्षित करने का अधिकार आचार्य तक ही सीमित नहीं था। कोई साधु अथवा साध्वी किसी को दीक्षित करती तो उसे उन्हीं के पास रख दिया जाता। पुस्तक व पन्नों पर भी व्यक्तिगत अधिकार था। साधु-साध्वियों को एक सिंघाड़े से दूसरे सिंघाड़े में परिवर्तन करने की सुविधा भी नहीं थी। जयाचार्य की सूक्ष्म दृष्टि से ये कमियाँ बच नहीं पायीं। उन्होंने इन सारी परिस्थितियों में परिष्कार ला दिया। जयाचार्य के समय में अनुशासन और व्यवस्था का पथ प्रशस्त हो गया।

नई दिशाएँ

व्यवस्था व्यवहार की सुविधा के लिए है और अनुशासन जीवन की व्यवस्था के लिए। ये न कभी रूढ़ होते हैं और न सीमित। आचार्यों ने जब-जब यह आवश्यक समझा तब-तब उन्होंने व्यवस्थाएँ दीं और अनुशासन को व्यापक बनाया।

आचार्य भिक्षु हृदय परिवर्तन में विश्वास करते थे। अहिंसा और बल प्रयोग को वे उतना ही भिन्न मानते थे, जितना भिन्न कोई दो अत्यन्त विरोधी पदार्थ होते हैं। अहिंसा की परिधि में अनुशासन आत्मा का ही होता है। आत्मानुशासन का सम्बन्ध है अपनी समझ से। समझ का विकास श्रुत से होता है। श्रुतोपासना के दो अंग हैं—अध्ययन और नवनिर्माण। हमें इन दोनों को विकसित करने का उत्तराधिकार मिलता रहा है। प्रारम्भ में हमारा अध्ययन आगम-सूत्र व पुराणों तक ही सीमित था। जिस परम्परा से आदि सम्बन्ध था, उसमें सम्भवतः संस्कृत का अध्ययन प्रचलित नहीं था। बहुत सम्भव है कि व्याकरण की गणना पापश्रुत में थी, इसलिए उसे पढ़ना निषिद्ध भी माना जाता हो। जयाचार्य से पहले संघ में संस्कृत पढ़ने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। आचार्य भिक्षु ने गद्य और पद्य दोनों में कुल मिलाकर लगभग ३८ हजार श्लोक परिमाण का साहित्य लिखा। उसकी भाषा शुद्ध मारवाड़ी है। उनके साहित्य का एक बड़ा भाग आगमों पर आधारित है; इसलिए उसमें प्राकृत के प्रयोग हैं, पर संस्कृत के प्रयोग उसमें नहीं हैं। जयाचार्य ने संस्कृत में कोई रचना नहीं की। कई रचनाओं के मंगल श्लोक हैं, जो उन्होंने संस्कृत में रचे हैं। उन्होंने संस्कृत व्याकरण के कतिपय अंशों को मारवाड़ी दोहों में लिखा है। वे अपने उत्तराधिकारी मघराजजी को संस्कृत का विद्वान मानते थे। आचार्य मघराजजी ने संस्कृत का गम्भीर अनुशीलन किया। उनका एक लघु-स्तुति ग्रन्थ भी मिलता है।

जयाचार्य ने अपनी रचनाओं में अनेक संस्कृत ग्रंथों को उद्धृत किया तथा उनका अनुवाद किया है। लगता है, उस कार्य में दोनों—आचार्य और शिष्य का सम्मिलित प्रयत्न हो।

श्रुतोपासना के दो प्रयोजन होते हैं—१—जनहित संपादन और २—तत्त्व की उपलब्धि। जनहित संपादन की स्थिति में भाषा का प्रश्न गौण होता है। भगवान् महावीर की अनेकान्त दृष्टि उपयोगिता से सम्बन्धित रही। भाषावाद उन्हें प्रिय नहीं था।

उन्होंने जो कहा वह जनता की भाषा में कहा, प्रचलित भाषा में कहा। आचार्य भिक्षु मारवाड़ (आधुनिक राजस्थान) के थे। उन्होंने मारवाड़ी में लिखा। वह जनता के लिये बहुत प्रेरक बना। उस समय तक हमारा विहार-क्षेत्र बहुत व्यापक नहीं बना था और जनहित-सम्पादन में कोई कठिनाई नहीं थी। इसलिए संस्कृत के अध्ययन की ओर ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। संघर्षमय जीवन भी इस उपेक्षा का हेतु था।

जयाचार्य के समय संघर्ष अपनी कुछ सीमाओं को पार कर चुका था। वे आचार्य भिक्षु के द्वारा प्रदर्शित तत्त्व की विस्तृत व्याख्या करना चाहते थे। इस साध्य की सिद्धि के लिए तत्त्वों की उपलब्धि हो, यह उन्हें अपेक्षा थी। इस परिस्थिति के सन्दर्भ में उन्होंने संस्कृत का मूल्य आंका और उसकी सुदीर्घ परम्परा में जो तत्त्वोपलब्धियाँ हुईं उन्हें हस्तगत करने का प्रयत्न किया। वे अपने प्रयत्न में सफल हुए, पर उस परम्परा को प्रसरणशील बनाने में उन्हें सफलता नहीं मिली।

पूज्य कालूगणी तेरापंथ के आठवें आचार्य थे और शिक्षा के क्षेत्र में वे आचार्य मघराजजी के उत्तराधिकारी थे। उन्होंने जयाचार्य की दृष्टि से देखा और आचार्य मघराजजी की मनोभावना को पकड़ा। उन्होंने स्वयं तप तपा और दूसरों को इस तपस्या का मूल्य समझाया। इससे संस्कृत का मूल दृढ़ हो गया।

जैन आगमों की भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) है। उसे संस्कृत के माध्यम से पढ़ा जाता है। पर सच तो यह है कि संस्कृत से वह बहुत भिन्न है। यदि कोई आगम सूत्रों व प्राचीनतम व्याख्याओं को पढ़ना चाहे तो उसके लिए प्राकृत का अध्ययन अपेक्षित है। कालूगणी ने प्राकृत पढ़ने का पहला अवसर मुझे दिया। आचार्य हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण मैंने कण्ठस्थ किया और अपने विद्यार्थी मुनि नथमल को भी मैंने वह कण्ठस्थ करवाया।

अतीत जितना मूल्यवान होता है उतना ही मूल्यवान वर्तमान और भविष्य भी है। सचाई केवल वर्तमान है। अतीत और भविष्य वर्तमान बनकर ही सचाई प्राप्त करते हैं। अतीत को ही समझ कर मनुष्य वर्तमान को सम्पन्न बना सकता है। जो भविष्य के सुनहरे स्वप्नों को आकार न दे, उसका वर्तमान सम्पन्न नहीं हो सकता। जो सामने है उसे न समझे तो उसका वर्तमान सम्पन्न कैसे होगा? अतीत की भाषाओं के माध्यम से हमने वर्तमान को समझने का यत्न किया। वर्तमान को पकड़ने में विलम्ब हुआ, परन्तु बहुत नहीं। हिन्दी भाषा में श्रुतोपासना की गति और प्रगति को देखने का अवसर मुझे मिला। हमारे साधु-संघ के हिन्दी-साहित्य का इतिहास १६ वर्षों का है। इस अल्प अवधि में हमें जो सफलता मिली है वह हमारे अतीत की परम्पराओं का ही परिणाम है। भारतीय वाङ्मय में जैन-साहित्य का अग्रणी स्थान है। प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और तत्तद्देशीय भाषाओं में जैनाचार्यों व विद्वानों की लेखनी चिरकाल से प्रवहमान रही। सामग्री प्रचुर है। यदि उसे नया रूप मिले, तो लेखक का कौशल सहज ही रूप पा ले। मैंने अतीत के आलोक से भी वर्तमान को आलोकित रखने के लिये अपने शिष्यों को प्रेरणा दी है।

अंग्रेजी अपनी समृद्धि से अन्तरराष्ट्रीय भाषा है। वर्तमान के रूपाकलन का वह सर्वाधिक प्रभावशाली माध्यम है। उसकी ओर पर्याप्त गति नहीं हुई है, पर वह हमारी दृष्टि से ओझल भी नहीं है। जब कभी मैं प्रगति काल की गाथाओं को पढ़ता हूँ तो सचमुच अपने को विस्मय में पाता हूँ। पचास से कुछ ही वर्ष अधिक हुए होंगे—जब बीदासर (राजस्थान) के ठाकुर हुकुमसिंह ने एक संस्कृत श्लोक लिख भेजा था। उसका अर्थ समझने की स्थिति में एक भी साधु नहीं था। उस समय हमारे संघ की प्राणवत्ता कसौटी पर थी। अभिजात अश्व भला चाबुक को कैसे सह सकता था? पूज्य कालूगणी के दिल में एक चुभन हो गई और उन्होंने अपने जीवन में अनेक साधुओं को संस्कृत में काव्य निर्माण करते हुए देखा और देखा कि उनकी इच्छा के अनुरूप तेरापंथ का सांगोपांग संस्कृत व्याकरण सम्पन्न है। संस्कृत के आशुकवि साधुओं को देखने का अवसर उन्होंने मुझे दिया। वि० सं० २००२ की बात है। एक रात को मैं सपने में अपने विद्यार्थी शिष्यों को सुना रहा था। मैंने कहा—आज हमारे संघ का संस्कृत अध्ययन पच्चीस वर्ष का प्रौढ़ हो गया है फिर भी संस्कृत में व्याख्यान देने की जितनी व्यापक क्षमता होनी चाहिये, उतनी नहीं है। ठीक चार महीने के बाद मैंने सपने को साकार पाया और मुझे एक तुष्टि का अनुभव हुआ। मेरी अतृप्ति और साधुसंघ की सप्राणता—इन दोनों के मध्य में विकास के बीज छिपे हुए हैं।

विकास का स्रोत-परिवर्तन

विकास की सबसे बड़ी बाधा है—रूढ़िवाद। जब तक विचार प्रवहमान रहते हैं तब तक उनमें स्वच्छता रहती है। जहाँ उनका प्रवाह रुका कि वे पंकिल बन जाते हैं। रूढ़ियाँ अनावश्यक ही नहीं होतीं। व्यक्ति या समाज को जीवित

रहने के लिए देश-काल के अनुरूप रूढ़ि का भी आलम्बन लेना होता है। यह रूढ़िवाद नहीं है। रूढ़िवाद वह है जिसमें देश और काल के बदल जाने पर भी देश, काल जनित स्थिति को न बदलने का आग्रह किया जाय। मैं नहीं जानता कि कोई भी व्यक्ति अथवा समाज रूढ़िवाद से सर्वथा मुक्त होता है। किन्तु मैं यह मानता हूँ कि जिन्हें अनेकान्त दृष्टि प्राप्त होती है वे रूढ़िवादी नहीं हो सकते। यह निष्कर्ष निकालने में मुझे कोई कठिनाई नहीं कि जो रूढ़िवादी हैं उन्हें अनेकान्त दृष्टि प्राप्त नहीं है। वे अपने में सत्य को विकसित कर सकते हैं, यह समझने में कठिनाई होती है। सत्य का विकास हो सकता है, सम्प्रदाय का विकास न भी हो। सम्प्रदाय का विकास हो सकता है और सत्य का विकास न भी हो; पर एक सच्चा व्यक्ति सत्य के विकास को ही विकास मान सकता है। सत्य-विहीन सम्प्रदाय के विकास को वह कोई मूल्य नहीं देता।

आचार्य भिक्षु से पूछा गया—आपका गण कब तक चलेगा ?

आचार्य प्रवर ने उत्तर दिया—जब तक आचार और व्यवहार विशुद्ध रहेगा, तब तक मेरा गण चलेगा। उनका गण क्या है—आचार और विचार की जो विशुद्धि है, वही उनका गण है। उनका गण कोरी संख्या और कोरा आकार नहीं है।

तेरापन्थ के विकास का मूल आचार और विचार दोनों की विशुद्धि है। विचार की विशुद्धि का अर्थ है—अनेकान्त दृष्टि। इसके बिना आचार अनाचार बन जाता है। भगवान् महावीर ने आग्रह या एकान्त दृष्टि को अनाचार कहा है। अनाचार से आचार प्रकट नहीं हो सकता। आचार आचार में से ही उद्भूत हो सकता है। विकास अविकास की अनुभूति में से उपजता है। सत्य का विकास तब तक पूर्ण नहीं होता, जब तक कषाय का अंश शेष रहता है। हमारा गण वीतराग व्यक्तियों का गण नहीं है। साधु समुदाय जो है वह साधना के पथ पर है। साधना की तरतमता है। हमें इसका गर्व नहीं है कि हमारा विकास हुआ है। हमें इसका उल्लास है कि हमें जो पथ मिला है वह साध्य की ओर ले जानेवाला है। मैं इससे संतुष्ट हूँ कि मेरे गण के साधु-साध्वियों में श्रुत दर्शन और चरित्र की आराधना की अभिलाषा है। वे विकास चाहते हैं तथा देश व काल की समझ रखते हुए भी अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं।

देश व काल की समझ एक समस्या है। सब व्यक्तियों का बौद्धिक विकास इतना नहीं होता कि वे सारी स्थितियों का यथार्थ अंकन कर सकें। उन्हें गीतार्थ ही समझ सकते हैं। अनुभूत वाणी है—गीतार्थ कहे तो तुम हलाहल विष भी पी लो। मत सोचो कि क्या होगा ? वह विष जैसा लगता है, पर वास्तव में विष नहीं होता। उससे कोई मरता नहीं और यदि मरता भी है तो अमृत बन जाता है। अगीतार्थ के कहने से तुम अमृत भी मत पीओ। वह अमृत जैसा लगता है, पर वास्तव में वह अमृत नहीं होता। उसे पीनेवाला जीकर भी मृत जैसा हो जाता है।

मत ग्रहण के युग में स्थिति का निर्णय संख्या से होता है, पर साधना के क्षेत्र में बहुमत व अल्पमत का प्रश्न नहीं। सचाई का सम्बन्ध बहु या अल्प से नहीं होता। जो गीतार्थ हो, मध्यस्थ हो, वह अकेला भी सत्य के निकट होता है। अगीतार्थ अनेक होकर भी गण का हित सम्पादन नहीं कर सकते। विकास का पथ यह है कि गण गीतार्थ का अनुगमन करे। गण के साधु-साध्वियों ने ऐसा किया। उनकी प्रवृत्तियाँ सदा विकासोन्मुख रही हैं।

नव उन्मेष

हमने जो किया है अथवा जो पाया है वह पर्याप्त नहीं है, हम यह मानकर चलते हैं। इसीलिए हम विकास के अवसर को अपने हाथों में सुरक्षित रखे हुए हैं। अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्तन इस अपर्याप्त चिन्तन की भावना से हुआ है। मैं अनेक बार यह सोचा करता था कि हमारे सम्पर्क में आनेवालों के जीवन में कोई परिवर्तन आता है या नहीं। सुदीर्घ चिन्तन के पश्चात् मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण शुद्धि का नहीं है। आचरण शुद्धि के बिना उपासना का महत्त्व कितना होगा ? इस मानसिक द्वन्द्व ने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्रपात कर डाला।

आचरण शुद्धि की आवश्यकता हमारे अनुयायियों को ही है, ऐसा मैं नहीं मानता। आचरण शुद्धि की प्रेरणा भी उन्हें ही देनी चाहिए, ऐसा भी मैं नहीं मानता। मैं मानता हूँ कि पवित्र जीवन सबके लिए आवश्यक है तथा उसकी प्रेरणा सबको मिलनी चाहिए। इस विचार की भूमिका में आन्दोलन का स्वरूप ऐसा बना कि वह सर्वजन-प्रिय हो गया। मैं इस प्रवृत्ति को कोई सर्वथा नवीन नहीं मानता। इतना ही मानता हूँ कि इससे जनता और हम फलान्वित हुए हैं। जनता को एक

मार्गदर्शन मिला है। उसमें तेरापन्थ या जैन दर्शन को निकट से समझने का भाव बना है। और हमें धर्म को सम्प्रदायातीत रखने व सम्प्रदायों को एक-दूसरे के निकट लाने का अवसर मिला है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो असाम्प्रदायिक स्वरूप समझाया उसी का व्यवस्थित व विकसित रूप है अणुव्रत आन्दोलन—ऐसा मैं मानता हूँ।

क्षमता का विकास

जहाँ प्रशंसा है, वहाँ आलोचना भी है; और जहाँ समर्थन है वहाँ विरोध भी। वह पक्ष कैसे हो सकता है, जिसका प्रतिपक्ष न हो। आलोचना से हमारा विकास हुआ, यह मैं नहीं कह सकता और यह भी नहीं कह सकता कि विरोध से हमारा कोई बहुत बड़ा हित सधा है। यदि ये नहीं होते तो सम्भव है हमारा गण और अधिक आकर्षण का केन्द्र बनता। विरोधी वातावरण ने अवश्य ही गतिरोध उत्पन्न किया है—यह एक पहलू है। दूसरा पहलू यह है कि आलोचना और विरोध से हमने सीखा है तथा हमारी क्षमता का विकास हुआ है। हमें इस पर गर्व है कि हम विरोध का प्रतिकार विरोध से करना नहीं जानते। दो सौ वर्षों में हमने अभी तक किसी के विरोध में कुछ भी नहीं लिखा है। यह हमारे आत्म-विश्वास, सम्प्रदाय-निष्ठा और तितिक्षा का निदर्शन है। उसी प्रकार साम्प्रदायिक कट्टरता में हमारा विश्वास नहीं है, उसका भी उदाहरण है। यह शान्ति और सहिष्णुता की परम्परा आचार्य भिक्षु से जन्मी और अपनी गति से निरन्तर विकासशील बनती गई।

हमारा भविष्य

विकास की धाराएँ अनेक होती हैं। उनका अपना-अपना क्षेत्र होता है। कुछ क्षेत्रों में हमने विकास किया है, कुछ क्षेत्र ऐसे हैं जिनका किंचित् स्पर्श कर पाए हैं। और कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनका स्पर्श भी अभी तक न हुआ हो।

विकास के लिये व्यक्ति अनन्त चक्षु बने इस विचार को मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। हमें हमारी विशेषताओं का अनुभव हो यह अच्छी बात है। अपनी कमियों को हम न जान पाएँ, यह अच्छी बात नहीं। लोग मुझे जितना परिवर्तनवादी समझते हैं, सम्भवतः मैं उतना नहीं हूँ। मैं स्थिति में भी विश्वास करता हूँ। एकान्त दृष्टि को मैं उचित नहीं मानता, जिसे पकड़ कर कोई अपनी विशेषता ही देखे या कमियाँ ही देखे। गर्व जैसे विकास की बाधा है वैसे ही हीन भावना भी उसकी बाधा है। इन दोनों से बचा जाए—निर्बाध मार्ग यही है।

साधना के क्षेत्र में आज भी हमें पर्याप्त विकास करना है। जैन आगमों में अनशन की अपेक्षा ध्यान का अधिक महत्त्व है। अनशन बाह्य तप है, ध्यान आन्तरिक तप। बाह्य तप की उपादेयता कम नहीं है और उसकी साधना भी कम नहीं है। इन दो सौ वर्षों में हमारे तपस्वी साधु-साध्वियों ने घोर तपस्याएँ की हैं। देहासक्ति में लीन व्यक्तियों के लिए उनकी कल्पना भी कठिन है।

ध्यान का अभ्यास जैसा होना चाहिए वैसा नहीं है। यह महत्त्वपूर्ण प्रयत्न गत कई शताब्दियों से लुप्त सा रहा है। उसीका प्रभाव हमारे गण पर भी पड़ा। सर्वतोमुखी विकास के लिए अनशन और ध्यान का संतुलन अपेक्षित है।

अनशन, अस्वाद, आसन, संलीनता, विनय, वैयावृत्य सेवा, स्वाध्याय, ध्यान आदि तपोयोग के सभी अंगों का समुचित विकास करना हमारा ध्येय है। मुझे विश्वास है कि हमारी विनय-प्रधान परंपरा में इसकी पूर्ति सहज संभव होगी। उमास्वाति के शब्दों में—विनय का फल है सुश्रूषा, सुश्रूषा का फल है श्रुतज्ञान, श्रुतज्ञान का फल है विरति, विरति का फल है आस्रव—निरोध—संवर, संवर का फल है तप, तप का फल है निर्जरा, निर्जरा का फल है क्रिया-निवृत्ति, क्रिया-निवृत्ति का फल है अयोग-दशा, अयोग-दशा का फल है भव-सन्तति का क्षय और भव-सन्तति के क्षय का फल है मोक्ष।[1] सब कल्याण-हेतुओं का उद्गमस्थल विनय है। तेरापंथ के विकास का यही रहस्य है।

१—प्रशमरति—७२-७४

द्वितीय खंड

भ० ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता

(ले० कामताप्रसाद जैन)

"नाभिस्स णं कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छंसि एत्थ णं उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे पढम-केवली पढमतित्थंकरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जिज्जेज्जा।" अभिधानराजेन्द्र २।११२१

प्रथम राजा और प्रथम धर्मचक्रवर्ती

तीर्थंकर ऋषभ अथवा वृषभ श्रमणपरम्परा के मान्य पुरुष होने के साथ-साथ ब्राह्मण-परम्परा के भी आराध्यदेव थे। जैन ग्रंथों में उनको आदिपुरुष, आदिराजा और आदिधर्मचक्रवर्ती कहा गया है। वह कौशलदेश के नरपुंगव थे। जब चतुर्थकाल का अन्त हो रहा था, जिसमें मानव पाषाणकाय के विशेष प्रकार के वृक्षों से अपने जीवन की आवश्य-कताओं की पूर्त्ति करता था, अर्थात् वह वृक्षों के फल खाता और पाषाण की गुफाओं में रहता था, तब उस आदिकाल में ऋषभ अयोध्या में जन्मे थे। उस काल को आज के ऐतिहासिकों ने "पाषाण-युग" (स्टोन-एज) के नाम से ठीक ही पुकारा है। उससे भी पहले से मनुष्य एक ऐसा निर्द्वन्द्व जीवन बिता रहा था जिसमें प्रेम था और आनन्द था। शेर और हिरण भी साथ-साथ विचरते थे। परिग्रह नाम को न था---इसीलिये घर-गृहस्थी की परम्परा भी नहीं थी। न कोई मालिक था और न कोई दास। अहिंसा का एकछत्र राज्य था। किन्तु समय ने जनसंख्या बढ़ाई और काल के प्रभाव से कल्पवृक्षों की संख्या घटी। लोग हैरान हुए, उनमें असंतोष फैला, जिसने संघर्ष को जन्म दिया। उनमें जो विशेष बुद्धिमान और विवेकशील था उसने उनका समझौता किया। वह "मनु" कहलाया। चूंकि उसने लोगों को कुलों (कबीलों-clans) में बाँटा इसीलिए वह "कुलकर" भी कहा गया। कालक्रम से ऐसे १४ कुलकर हुए। अयोध्या के नाभिराय उनमें सर्वअन्तिम कुलकर थे। मरुदेवी उनकी रानी थीं। ऋषभ अथवा वृषभदेव उनके ही बेटे थे। माँ मरुदेवी ने जो शुभ स्वप्न देखे उनमें सबसे पहले एक सुन्दर सफेद बैल (वृषभ) था और शिशु ऋषभ जो जन्मे तो उनके उरु भाग पर भी बैल का आकार शोभ रहा था (उरुसु उसभ लंछन उसभं)। इसीलिये माता और पिता ने उनका नाम वृषभ अथवा ऋषभ रक्खा। ऋषभ उस संधिकाल में जन्मे जब पाषाणयुग-भोगभूमि की रचना मिट गई थी और मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हुआ एक मार्गदर्शक की प्रतीक्षा में था। ऋषभ ने मार्गदर्शन किया। तत्कालीन जनता के सामने भी खाद्य समस्या थी---आज से भी विकट। तब के लोग यह भी नहीं जानते थे कि वे खाद्यपदार्थ की पूर्ति कैसे करें? न वर्षा के लाभ वे जानते थे और न अग्नि का प्रयोग। बाँसों की रगड़ से जब वन में आग लगी तो वे भयभीत होकर भागे। सभ्य जीवन का निर्माण वे कैसे करें? ऋषभ को उन लोगों ने अपने में मेधावी पाया। वे उनकी शरण आये। सबसे पहले ऋषभ ने धरती और आकाश की देन धूप और वर्षा का उपयोग करने का पाठ पढ़ाया, और मनुष्य से कहा---"तू" मौज मजे उड़ाना छोड़ और श्रम करना सीख। जो श्रम करेगा, उसी को धरती माँ निहाल कर देगी।" उन्होंने पूछा---"क्या श्रम करें?" तो ऋषभ ने उनको खेती करना सिखाया---कृषि विज्ञान और अस्त्रों का आविष्कार किया। फिर इसके बाद मिट्टी के बर्तन बनाना, कपड़ा बुनना आदि शिल्प कलाएँ भी उन्होंने बताई। इसी-लिये आधुनिक विद्वान ऋषभ को कृषि काल (एग्रीकल्चरएज) का प्रवर्तक मानते हैं[1]। वह ठीक अर्थ में मानवों के प्रथम राजा थे। उन्होंने ही तो मनुष्य मात्र को ठीक से अनाज उगा और रोटी बनाकर पेट भरना सिखाया था और तन ढकने का उपाय भी बताया था। साथ ही कुलपरम्परा द्वारा सामूहिक श्रम और सहयोग का महत्व भी उन्होंने बताया था। यही कारण है कि पुरातन जन समाज में ऋषभ "कृषि के देवता" और "कृषिराज" के रूप में मान्य हुये थे। और धरती माता के वेष में कृषि देवता के रूप में जो उनकी मूर्तियाँ बनी उनमें सींग भी बनाये गये, क्योंकि उनका लांछन

---

१. व्हायस ऑव अहिंसा के भ० ऋषभ विशेषांक में डा० संकलिया का लेख देखिये।

बैल था। किन्तु ऋषभ लोगों को भौतिक उत्कर्ष के उपाय बताकर ही संतुष्ट नहीं हुये, क्योंकि वे जानते थे कि मानवीय मनोवृत्ति में जो असंतोष का विकार है और जिससे विषमता एवं संघर्ष पनपता है उसका इलाज भौतिक उत्कर्ष नहीं है। असीम इच्छाओं के असंतोष को सीमाबद्ध सामग्री संतुष्ट नहीं कर सकती। इसीलिये ऋषभ ने व्यक्ति को उसका यथार्थ रूप समझाया—मनुष्य हाड़-मांस का पुतला नहीं है, जो शरीर के साथ जन्मता और मरता रहे। इसकी आत्मा तो अजर और अमर है, और है आनन्द का भंडार। इच्छाओं के विकार ने उसके आनन्द को मिटा दिया है। वह इस विकार को दूर करे। इसीलिये ऋषभ ने उसे वस्तुस्वभाव रूप धर्मविज्ञान का पाठ पढ़ाया। अपनी देशना (धर्मोपदेश) रूपी जल से उन्होंने जगत की दुखाग्नि को शमन किया। (वर्षति सिंचति देशना जलेन दुखाग्निना दग्धं जगदिति) इसीलिये सामान्य लोगों ने उनको वर्षा का देवता माना। निस्संदेह वह पहले धर्मचक्रवर्ती थे, यही कारण है कि उनकी मान्यता सारे लोक में फैली हुई मिलती है।

जैन विवरण से स्पष्ट है कि ऋषभ अथवा वृषभ जन समाज के आदि उपकारक, राजा और धर्मप्रवर्तक थे। उस समय व्यक्ति-व्यक्ति में न तो कोई भेदभाव था और न कोई सम्प्रदाय ही। अतः साधारण जनता के वे राजा और कृषि देवता रहे और ज्ञानियों के लिये महान् धर्म प्रवर्तक महादेव। उनका ज्ञान अंग और पूर्वों में ग्रंथबद्ध होकर आज तक चला आ रहा है। ऋग्वेद (५२–३८) में जैन मान्यता के अनुरूप ही ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुखों का नाश करने वाला कहा गया है। उसमें लिखा है :—

"असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिमा अस्य शुरुधः सन्ति पूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे।"

"जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं, उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के शत्रुओं क्रोधादि का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएं अपने ही आत्मगुणों में चमकती हैं, अतः वे ही राजा हैं—वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्मपतन नहीं होने देते।" वर्षा के देवता की उपमा देकर वैदिक ऋषि भ० ऋषभ की देशनारूपी जल को ही महत्ता दे रहे हैं। जैन मान्यता में ही पूर्वगत ज्ञान और ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अतः ऋग्वेद के पूर्वज्ञाता ऋषभ तीर्थंकर-ऋषभ ही भासते हैं। ऐसा लगता है कि ऋग्वेदादि में उनको आदि-आराध्य मानकर उनका विशद वर्णन किया गया है, यद्यपि साम्प्रदायिक युग में भाष्यकारों ने अपना निराला ही अर्थ इन मंत्रों का किया। जब ऋषभ श्रमणों के ही परमाराध्य प्रथम तीर्थंकर बने तो भला परवर्ती वैदिक टीकाकार उनको कैसे मान्यता देते? किन्तु इससे असलियत मिट नहीं सकती। यही कारण है कि डा० राधाकृष्णन्, प्रो०विरुपक्ष वॉडियर प्रभृति विद्वान् वेदों में जैन तीर्थङ्करों का उल्लेख हुआ मानते हैं। हिन्दू पुराण ग्रंथों जैसे, विष्णु पुराण, भागवत, पद्मपुराण आदि में स्पष्टतः ऋषभ एवं अन्य तीर्थंकर नाम के महापुरुषों को आर्हत (जैन) धर्म का प्रवर्तक लिखा है। अतः वेदों में जो निम्न प्रकार भ० ऋषभ का उल्लेख होता माना जावे तो अनुचित नहीं है।

"ऋग्वेद" में ऋषभ को सर्वप्रथम पूर्वज्ञान प्रचारक और मर्त्यों में पहले अमरत्व अथवा महादेवकत्व पाने वाले महापुरुष ठीक जैनमान्यता के अनुरूप कहा है। देखिये :—

"मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्भि वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयाया ॥२।३४।२"

"हे आत्मदृष्टा प्रभू! परम सुख पाने के लिये मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली है—उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभू! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।"

तीर्थंकर भगवान् पूर्व-ज्ञान का प्रसार समवशरण-सभा में सभी जीवों के हित के लिये गणधरों आदि के मध्य बैठकर करते हैं। "ऋग्वेद" (मं० ३। अ० १। सू० १०) में इसका भी उल्लेख निम्न प्रकार मिलता है :—

"प्र होत्रे पूर्व्यं वचोऽग्नये भरता बृहत्।
विपां ज्योतींषि बिभ्रते न वेधसे ॥५॥७॥

"हे विद्वान् लोगो, आप लोग विद्वान् पुरुषों के बीच में ज्ञानमय ज्योतियों को धारण करने वाले परमश्रेष्ठ विद्वान् के समान ज्ञान प्रकाश और बहुत बड़े पूर्वों द्वारा अभ्यस्त वाणी को देने और धारण करने वाले परम विद्वान् और परमेश्वर के लिये वृहद् भेंट लाओ और बड़ा ज्ञान प्राप्त करो।"

और भी देखिये :—

"त्रीणी राजना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्वते गन्धर्वा अपि वायुकेशान् ॥" (ऋग्वेद २।३८।६)

"दोनों ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान में सभाओं के हित में चमकते हैं। वह सर्वथा निजज्ञान में जागरूक व्रतों के पालक हैं एवं वायुकेश गंधर्वों से वेष्टित रहते हैं। वे गंधर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओं को अवधारण करते हैं। हमें उनके दर्शन प्राप्त हों।" इस उल्लेख में "वायुकेश" विशेषण विशेष महत्वपूर्ण है। यह तीर्थङ्कर ऋषभ की तपस्या के एक खास प्रसंग को पुष्ट करता है,। तीर्थंकर ऋषभ ने लगातार छै-छै महीने का तप माढा था, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने केशलुंचन नहीं किया और उनके केश कंधों तक बढ़कर वायु में लहराने लगे—श्यामल अलकावलि उनके शिर पर सोहने लगी। इसी को लक्ष्य कर ऋषभ की मर्त्तियाँ भी जटाजूट और कंधों पर लहराती अलकावलि सहित बनाई जाने लगीं—अन्य तीर्थंकरों की मूर्त्ति की अपेक्षा उनकी मूर्ति में यह विशेषता है। श्री यतिवृषभाचार्य ने "तिलोयपण्णत्ति" में जटारूप मुकुट से सुशोभित आदि जिनेन्द्र की प्राचीन प्रतिमाओं का उल्लेख किया है (आदि जिणप्पडिमाओ ताओ जड-मउड सेहरिल्लाओ)। अनेकों प्राचीन प्रतिमाएँ इसीप्रकार की मिलती हैं। अतएव इससे स्पष्ट भासता है कि "ऋग्वेद" में ऋषभ और उनके गणधरों को वायुकेश इसीलिये कहा है कि उनके शिरों पर जटाओं के लम्बे-लम्बे बाल लहराते थे।

"ऋग्वेद" (४।५८।३) में भ० ऋषभ के आत्मा से परमात्मा-सामान्य मनुष्य से देव बनने के सिद्धांत का भी उल्लेख निम्न रूप में मिलता है :—

"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीती।
महोदेवो मर्त्यां आविवेश ॥"

अर्थात्—"मन, वचन, काय—तीनों योगों से बद्ध (संयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों में आवास करता है। अर्थात् प्रत्येक प्राणी के अन्तर में परमात्मा का आवास है। तीर्थंकर ऋषभने योग साधना करके इस परमात्म पद को स्वयं प्राप्त करके लोगों के समक्ष एक उदाहरण उपस्थित कर दिया था। इसीलिये "ऋग्वेद" में लिखा है कि "ऋषभ स्वयं आदि पुरुष थे, जिन्होंने सबसे पहले मर्त्यदशा में देवत्व की प्राप्ति की थी।"

तन्मर्त्यस्य देवत्वसजातमग्रः ३१।१७

"अथर्ववेद" में जिन ज्येष्ठ महाव्रात्य का वर्णन मिलता है वह तीर्थंकर ऋषभ की तपस्या के अनुरूप है, जिसके अन्त में वह महादेव (स महादेवोऽभूत) हुए। "अथर्ववेद" में उनको प्रेम के राजा लिखा है जिन्होंने उस संघतंत्र की स्थापना की जिसमें पशु भी मानव के समान माने जाते थे और उनको कोई मार नहीं सकता था। ("नास्य पशून् समानान् हिनस्ति")। अथर्ववेद (१९।४२।४) में इसीलिये ऋषभदेव का आह्वान करने की प्रेरणा की गई है :—

"अहो मुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विनां हुवे धिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं दत्तभोजः ॥"

अर्थात्—पापों से मुक्त, पूजनीय देवताओं में वृषभ व सर्वश्रेष्ठ, अहिंसक आत्मसाधकों में सर्वप्रथम तथा भवसागर के पोत को मैं हृदय से आह्वान करता हूँ। हे सहचर बन्धुओ, तुम आत्मीय श्रद्धा द्वारा उसके आत्मबल और तेज को धारण करो। पंच महाव्रतों का प्रचार करने के कारण ही वे महाव्रात्य भी कहे गये हैं। जैनी व्रतों के कारण अबतक "व्रती" कहे जाते हैं। अकबर के समय जेसूटपादरियों ने उनको व्रती ही कहा था। सारांशतः वैदिक परम्परा में जिन ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है वे जैनों के आदि तीर्थंकर हैं। सम्प्रदायातीत काल में होने के कारण वे सर्वमान्य रहे। इसीलिये वेदों और पुराणों में भी उन्हीं का यशगान किया गया है।

बौद्धों के "आर्य मंजुश्री मूलकल्प" नामक ग्रंथ में भारत के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-

पुत्र भरत को गिना है। उसमें लिखा है कि ऋषभ भगवान ने हिमालय से सिद्धि प्राप्त की थी। वह व्रतों को पालने में दृढ़ थे। वही निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्तदेव थे :—

"प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढ़व्रतः ॥३९०॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धोहैमवेत गिरो।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सोऽपि मंजतान तदा जपेत ॥ ३९१ ॥

– – – –

"निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि।"

इसप्रकार प्राचीन भारत के जैनेतर लोगों में भी ऋषभ की मान्यता थी। संभवतः ऋषभ के इस विशाल और विराट् रूप को देखकर ही कलिंग की प्रजा ने उनको अपने राष्ट्र का आराध्यदेव माना था और उनकी मूर्ति "कलिंग-जिन" के नाम से प्रसिद्ध हुई थी। जब नन्दराजा उस मूर्ति को मगध ले गये तो कलिंग उसके विछोह में तड़फता रहा। अंत में कलिंगचक्रवर्ती ऐल खारवेल ने मगध विजय करके इस राष्ट्रीय निधि को वापस कलिंग में लाकर पधराया था, यह बात उनके हाथीगुफा वाले शिलालेख से स्पष्ट है।

उसपर मात्र भारत में ही नहीं, हम तो देखते हैं कि ऋषभदेव की मान्यता विदेशों में भी रही। सभी देशों के लोगों ने उनको किसी न किसी रूप में अपना आराध्यदेव माना। भारत के लिये यह कुछ कम गौरव की बात नहीं। आज ऋषभ को राष्ट्रीय सम्मान दिये जाने की आवश्यकता है। भारतीय पुरातत्व और मोहनजोदड़ो की मुद्राओं से भी ऋषभ का अस्तित्व प्रमाणित होता है।[1] निस्संदेह वे एक ऐतिहासिक महापुरुष थे।

मानवता के आदि गुरू होने के नाते ऋषभ का लोकमान्य होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि भारतबाह्य देशों में भी वह किसी न किसी रूप में पूजे गये। कहीं वह "कृषि के देवता" हुए, कहीं "वर्षा के देवता" और कहीं "सूर्यदेव" मानकर पूजे गये। "सूर्यदेव" उनके केवलज्ञान का द्योतक है। पूर्व में चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी -त्रिपिटक में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rok'shab) कह कर पुकारते हैं। मध्य एशिया, मिश्र और यूनान में वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा और फोनेशिया में "रेशेफ" नाम से बैलचिन्ह की अपेक्षा कहलाये। मध्य एशिया में वृषभ (बैल) देव (Bull God) अर्थात् "बाड आल" नाम से उल्लिखित किये गये। फणिक लोगों की भाषा में "रेशेफ" शब्द का अर्थ "सींगोंवाला देवता" होता है, जो ऋषभ के बैल चिन्ह का द्योतक है—साथ ही "रेशेफ" शब्द का साम्य भी "ऋषभ" शब्द से है। प्रो० आर० जी० हर्षे ने "बुलेटिन आव दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट" (भा० १४, खंड ३, पृ० २२९–२३६) में एक गवेषणात्मक लेख लिखकर इस साम्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि अलासिफ (साइप्रस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व १२वीं शती की मूर्ति का अपर नाम "रेशेफ" (Reshef) उसके लेख से स्पष्ट होता है। यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय नरेश नाभिपुत्र होना चाहिये। यूनान में सूर्यदेव अपोलो की ऐसी नंगी मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनका साम्य ऋषभ भगवान की मूर्तियों से है। डा० कालीदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्त्ति का चित्र अपनी पुस्तक "डिस्कवरी आव एशिया" में दिया है जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल भ० ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्त्तियों के समान है। ऋषभ मूर्त्ति की विशेषता कंधों तक लहराती जटायें इसमें भी हैं। "आर्ग्रिव" शब्द का अर्थ कदाचित् अग्रमानव या अग्रदेव के रूप में लिया जाता रहा प्रतीत होता है।

फणिक लोग जैनधर्मभक्त भी थे, यह बात जैनकथाग्रंथों से प्रमाणित है। अतः फणिकों के "बाऽल" (Bull God) ऋषभ प्रतीत होते हैं। यह नाम प्रतीकवाद शैली का (Symbolic) है। फणिकों में प्रचलित एक प्राचीन

१. विशेष जानकारी के लिये देखिये "आदि तीर्थंकर ऋषभदेव, पृ० १३८–१४१; तथा "अहिंसा वाणी" का तीर्थंकर त्रय (भ० मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि) विशेषांक।

कविता रसशमरा नामक स्थान से मिली है, जो संभवतः प्रतीकशैली की अलंकृत भाषा में है। उसके एक अंश का अनुवाद निम्न प्रकार होता है :—

"बाऽल नगर-नगर घूमा, वह ग्राम-ग्राम डोला,
छयासठ नगर उसके हुए, सतत्तरग्राम उसके हुए।
हाँ अस्सी थे बादल——————
बल्कि नब्बे थे बादल——————

— — — —

बाऽल ने बादलों को चीरा,
उनकी पवित्र वाणी चहुँ ओर फैली—
बाऽल ने कहा——————
उसकी गरज से पृथ्वी की सभी उपत्यकायें काँपी। इत्यादि"

निस्संदेह ऋषभदेव ने अपने साधनाकाल में यत्रतत्र विहार किया था और कर्मप्रकृतियों का क्रमशः नाश करके वे पूर्ण-ज्ञानी हुये थे। तब उन्होंने सर्वत्र उपदेश दिया था। लगता है, भ० ऋषभ की इस जीवन घटना का उल्लेख उक्त कविता में है। ६६, ७७, ८० और ९० पर अधिकृत होने का अर्थ कर्म प्रवृत्तियों को जीतना हो सकता है। अतएव ऋषभ ने कर्मरूपी बादलों को चीर डाला था और सर्वज्ञता पाई थी। तब उनकी दिव्य ध्वनि—पवित्र वाणी—बादलों की गर्जना के समान होती थी, जो चारों ओर फैली थी। उसे सुनकर पाप भार से लदी हुई पृथ्वी काँप गई थी, इस प्रकार का भाव उपरोक्त कविता का हो सकता है। इन सादृश्यों से यह अनुमान तथ्यपूर्ण दीखता है कि इन विदेशों में भी तीर्थंकर ऋषभ मान्य हुए थे।



पालि वाङ्मय में भगवान श्री महावीर

(ले० मुनि श्री नगराज जी)

इतिहास के पृष्ठों पर यह एक निर्विवाद विषय है कि भगवान् श्री महावीर और भगवान् बुद्ध समकालीन थे। दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे। महावीर ज्ञातृवंश में उत्पन्न हुए थे, इसलिये उन्हें ज्ञातृपुत्र, प्राकृत भाषा में नातपुत्त कहा जाता है भगवान् बुद्ध शाक्यवंश में उत्पन्न हुए थे। इसलिए उन्हें शाक्यपुत्र कहा जाता था। दोनों ने ही युवावस्था में गृह त्याग कर भिक्षुचर्या का कठोर मार्ग अपनाया। दोनों के ही धर्मोपदेश बिहार प्रदेश में विशेषकर राजगृही, नालन्दा, श्रावस्ती के अंचल में होते रहे हैं। दोनों के ही वृहत् भिक्षु समुदाय था। आज ढाईहजार वर्षों की दीर्घ अवधि के पश्चात् भी दोनों महापुरुष कोटि कोटि जनों के श्रद्धा भाजन बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो जाते हैं कि कालक्षेप और जीवन-व्यापार से निकटतम होने वाले दोनों युगपुरुष क्या कभी परस्पर मिले नहीं होंगे ? यदि मिले हैं तो उनकी पारस्परिक चर्चाएँ क्या होंगी ? दोनों के अनुयायियों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे रहे होंगे ? प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं प्रश्नों पर कुछ विवेचन किया गया है।

भगवान् श्री महावीर और गौतम बुद्ध ने एक दूसरे का साक्षात्कार किया हो तथा एक-दूसरे से धर्मचर्चाएँ की हों, ऐसा जैन आगमों में तथा बौद्ध त्रिपिटकों में कोई प्रमाण नहीं मिलता। जैन आगमों में मंखलिपुत्त गोशालक के विषय में विस्तृत वर्णन मिलता है, परन्तु गौतम बुद्ध के विषय में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध त्रिपिटकों व अन्य आधार ग्रंथों में भगवान् महावीर का वर्णन यत्र तत्र अवश्य मिलता है। उस उपलब्ध वर्णन से भगवान् महावीर के व्यक्तित्व का पूरा मूल्यांकन करना संभव नहीं। उन वर्णनों से केवल यह जाना जा सकता है कि गौतम बुद्ध और उनके अनुयायी महावीर को किस दृष्टि से देखा करते थे तथा उनके प्रति उनके हृदय में कैसा भाव था। उन वर्णनों से दूसरा लाभ यह होता है कि हमें उस युग के इतिहास, तत्व चिन्तन संस्कृति या सभ्यता का थोड़ा सा आभास मिल जाता है, और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि महावीर और गौतम बुद्ध परस्पर नहीं मिले हैं, तथापि वे एक ही दिन या तिथि में एक ही ग्राम या नगर में बहुत बार रहते रहे हैं। उनकी प्रेरणा से या स्वतः उनके अनुयायी एक दूसरे से चर्चा वार्ता भी करते रहे हैं।

भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध दोनों ने ही तत्कालीन जन-भाषा में अपने उपदेश दिये थे। वह जन-भाषा मागधी थी। भगवान् महावीर ने जिस भाषा में उपदेश दिये वह अर्द्धमागधी कही जाती है। समग्र जैन आगम अर्धमागधी भाषा में ही संकलित हुए हैं। भगवान्बुद्ध के उपदेशों को मागधी भाषा में पलियाय कहा जाता था। समयान्तर से वही शब्द बुद्धवचनों की भाषा का द्योतक बन गया। रूपान्तर पाकर आज वह पालि भाषा के रूप में जन-जन के मुख पर आ गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है—भगवान् बुद्ध के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करने वाली पालि भाषा है। भगवान् बुद्ध के देह-त्याग के पश्चात् राजगृह में महाकाश्यप प्रभृति बौद्ध भिक्षुओं की बिराट संगीति हुई और बौद्ध धर्मके आधार ग्रंथ त्रिपिटकों व निकायों का संकलन हुआ। उस पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर के विषय में निम्नोक्त प्रकार के उल्लेख मिलते हैं। पालि साहित्य में भगवान् महावीर को निग्गंथनाथपुत्त (निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र) नाम से भी विशेषतः अभिहित किया गया है।

संयुक्त निकाय दहर सूत्र में बताया गया है—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के जेतवन आराम में विहार करते थे। तब कौशलराज—प्रसेनजित जहाँ भगवान् थे, वहाँ आया और भगवान् के साथ संमोदन कर आवभगत के शब्द समाप्त कर एक ओर बैठ गया।

एक ओर बैठ, कौशलराज प्रसेनजित ने भगवान् को यह कहा—आप गौतम क्या अनुत्तरपूर्ण बुद्धत्व को पा लेने का दावा नहीं करते ?

महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् कहे तो वह मुझ ही को कह सकता है। महाराज ! मैंने ही उस अनुत्तर पूर्णबुद्धत्व का साक्षात्कार किया है।

हे गौतम ! जो दूसरे श्रमण और ब्राह्मण हैं—संघ वाले, गणी, गणाचार्य, विख्यात, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत लोगों से सम्मानित, जैसे पूर्णकश्यप मक्खलि-गोशाल, निगण्ठनातपुत्र, संजयबेलट्ठिपुत्र, पकुधकच्चायन, अजितकेशकम्बलि—वे भी मुझसे पूछे जाने पर अनुत्तर सम्यक् सम्बुद्धत्व पाने का दावा नहीं करते हैं। आप गौतम तो आयु में भी छोटे हैं और नये-नये प्रव्रजित भी हुए हैं।

महाराज ! चार ऐसे हैं जिनको 'छोटे हैं' समझ अवज्ञा या अपमान करना उचित नहीं। कौन से चार ? (१) क्षत्रियों को छोटा है, समझ अवज्ञा या अपमान करना उचित नहीं। (२) साँप को छोटा है, समझ अवज्ञा या अपमान करना उचित नहीं। (३) आग को छोटा है समझ अवज्ञा या अपमान, करना उचित नहीं। (४) भिक्षु को छोटा है, समझ अवज्ञा या अपमान करना उचित नहीं।

संयुक्त निकाय निगन्थ सुत्त में बताया गया है—उस समय निर्ग्रन्थ नाथपुत्र मच्छिकाषण्ड में अपनी बड़ी मण्डली के साथ पहुँचा हुआ था। तब गृहपति चित्र कुछ उपासकों के साथ जहाँ निर्ग्रन्थ नाथपुत्र था, वहाँ गया और कुशल क्षेम पूछकर एक ओर बैठ गया।

एक ओर बैठे गृहपति चित्र से निर्ग्रन्थ नाथपुत्र बोला —गृहपति तुम्हें क्या विश्वास है श्रमण गौतम को भी अवितर्क अविचार समाधि लगती है ? उसके वितर्क और विचार का निरोध होता है ? भन्ते मैं श्रद्धा से ऐसा नहीं मानता हूँ कि भगवान् को अवितर्क अविचार समाधि लगती है।

इस पर निर्ग्रन्थनाथ पुत्र अपनी मण्डली को देख कर बोला—आप लोग देखें, गृहपति चित्र कितना सीधा है, सच्चा है, निष्कपट है। वितर्क और विचार का निरोध कर देना मानों हवा से ज्वाला को बुझाना है।

मज्झिम निकाय चूलदुक्खक्खन्ध सूत्र में बताया गया है—एक समय भगवान् शाक्य देश में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे। तब महानाम शाक्य जहाँ भगवान् थे, वहाँ आया। आकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठा। एक ओर बैठे महानाम शाक्य को भगवान् ने कहा—एक समय महानाम ! मैं राजगृह में गृद्धकूट पर्वत पर विहार करता था। उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन साधु) ऋषिगिरि की कालशिला पर खड़े रहने का व्रत ले, आसन छोड़, उपक्रम करते, दुःख, कटु, तीव्र वेदना झेल रहे थे। तब मैं महानाम ! सायंकाल ध्यान से उठ कर, जहाँ ऋषिगिरि के पास कालशिला थी, जहाँ पर कि वे निर्ग्रंथ थे, वहाँ गया। जाकर उन निर्ग्रन्थों से बोला—आवुसो निर्ग्रन्थों ! तुम खड़े क्यों हो ? आसन छोड़े, दुःख, कटु, तीव्र वेदना क्यों झेल रहे हो ? ऐसा कहने पर उन निर्ग्रन्थों ने कहा—आवुस निर्ग्रन्थ नातपुत्र (जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, अखिल, अपरिशेष ज्ञान दर्शन को जानते हैं। चलते, खड़े सोते, जागते सदा निरन्तर (उनको) ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है। वह ऐसा कहते हैं—निर्ग्रन्थों ! जो तुम्हारा पहले का किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी दुष्कर क्रिया (तपस्या) से नाश करो और जो इस वक्त यहाँ काय, वचन, मन से संवृत (पाप न करने के कारण रक्षित, गुप्त) हो, यह भविष्य के लिये पाप न करना हुआ। इसप्रकार पुराने कर्मों के तपस्या से अन्त होने से और नये कर्मों के न करने से भविष्य में चित्त अन-आश्रव (निर्मल) होगा। भविष्य में आश्रव न होने से कर्म का क्षय (होगा), कर्म क्षय से दुःख का क्षय, दुःख क्षय से वेदना (झेलना) का क्षय, वेदना क्षय से सभी दुःख नष्ट होंगे। हमें यह (विचार) रुचता है, खमता है, इससे हम संतुष्ट हैं।

मज्झिम निकाय चूल सारोपमसुत्तंत में बताया है—एक समय भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिण्डिक के आराम (जेतवन) में विहार करते थे। तब पिंगलकोच्छ ब्राह्मण जहाँ भगवान् थे वहाँ गया, जाकर भगवान् के साथ कुशल प्रश्न पूछ कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे पिंगलकोच्छ ब्राह्मण ने भगवान से यह कहा—भो गौतम ! जो ये संघपति, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर (मतस्थापक) हैं, जैसे कि पूर्णकाश्यप, मक्खलिगोशाल, अजितकेशकम्बली, प्रकुध कात्यायन, संजय—बेलट्ठिपुत्त, निगण्ठ नातपुत्त सभी अपनी प्रतिज्ञा (मत) को समझते हैं या सभी नहीं समझते, या कोई-कोई समझते हैं, कोई कोई नहीं समझते ?

बस ब्राह्मण रहने दे इसे। मैं तुझे धर्म का उपदेश करता हूँ। उसे सुन ! अच्छी तरह मन में कर, कहता हूँ।

मज्झिम निकाय सन्दक सुत्तंत में बताया गया है—"अच्छा भो !" (कह) सन्दक परिव्राजक ने आयुष्मान् आनन्द को उत्तर दिया। आयुष्मान् आनन्द ने कहा—(१) "सन्दक ! यहाँ एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञान दर्शन वाला

होने का दावा करता है—। चलते, खड़े होते, सोते, जागते, व सदा सर्वदा ज्ञानदर्शन मौजूद (प्रत्युपासित) रहता है।" (तो भी) वह सूने घर में जाता है। (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाता, कुक्कर भी काट खाता है, चंड हाथी से सामना पड़ जाता है, चंड घोड़े से भी सामना पड़ जाता है व चंड बैल से भी सामना पड़ जाता है। (सर्वज्ञ होने पर भी) स्त्री-पुरुषों के नाम गोत्र को पूछता है। ग्राम निगम का नाम और रास्ता पूछता है। (आप सर्वज्ञ होकर) यह क्या (पूछते हैं)। पूछने पर कहता है—"सूने घर में हमारा जाना बदा था, इसलिये गये। भिक्षा न मिलनी बदी थी, इसलिये न मिली। कुक्कुर का काटना बदा था, इसलिये काटा, हाथी से मिलना बदा था, इसलिए हाथी मिला। घोड़े का मिलना बदा था, इसलिए मिला, बैल का मिलना बदा था इसलिए मिला।" वहाँ सन्दक! विज्ञ पुरुष यह सोचता है—यह आप शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अशेष ज्ञानदर्शन होने का दावा करते हैं। (तब) वह यह ब्रह्मचर्य (पंथ) अनाश्वासिक (मन को संतोष न देने वाला) है यह जान उस ब्रह्मचर्य से उदास हो हट जाता है। यह सन्दक! उस भगवान् ने प्रथम अनाश्वासिक ब्रह्मचर्य कहा है।

मज्झिम निकाय सामगाम सुत्त में बताया गया है—"एक समय भगवान् शाक्य में सामगाम में विहार करते थे। तब चुन्द समणुद्देस पावा में वर्षावास कर जहाँ सामगाम था, जहाँ आयुष्मान् आनन्द थे, वहाँ गया। जाकर आयुष्मान् आनन्द को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे चुन्द श्रमणोद्देश ने आयुष्मान् आनन्द से कहा—हे भन्ते! निर्ग्रन्थ नाथपुत्र अभी अभी पावा में मरे हैं। उसके मरने पर निर्ग्रन्थ लोग दो भाग हो, मंडन कलह-विवाद करते, एक दूसरे को मुखरूपी शक्ति से छेदते विहर रहे हैं। नातपुत्तीय निगण्ठों में मानों युद्ध हो रहा है।"

ऐसा कहने पर आयुष्मान् आनन्द ने चुन्द श्रमणोद्देश से कहा—"आवुस चुन्द! भगवान् के दर्शन के लिए यह बात भेंट रूप है। आओ आवुस चुन्द! जहाँ भगवान् हैं वहाँ चलें। चल कर यह बात भगवान् को कहें।"

विनयपिटक में सिंह सेनापति की दीक्षा प्रकरण में बताया गया है—उस समय बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवी संस्थागार (प्रजातन्त्र सभागृह) में बैठे थे। एकत्रित हो बुद्ध का गुण बखानते थे, धर्म का, संघ का गुण बखानते थे। उस समय निर्ग्रन्थों (जैनों) का श्रावक सिंह सेनापति उस सभा में बैठा था। तब सिंह सेनापति के चित्त में हुआ—"निःसंशय वह भगवान् अर्हत सम्यग्-संबुद्ध होंगे, तब तो बहुत से प्रतिष्ठित लिच्छवि बखान रहे हैं। क्यों न मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग्-संबुद्ध के दर्शन के लिये चलूं।"

तब सिंह सेनापति जहाँ निर्ग्रन्थनाथपुत्र थे, वहाँ गया। जाकर निर्ग्रन्थनाथपुत्र से बोला—भन्ते! मैं श्रमण गौतम को देखने के लिये जाना चाहता हूँ।

"सिंह! क्रियावादी होते हुए तू क्या अक्रिया (अकर्म) वादी श्रमण गौतम के दर्शन को जाएगा। सिंह! श्रमण गौतम अक्रियावादी है, श्रावकों को अक्रियावाद का उपदेश करता है।"

यह सुन सिंह सेनापति की भगवान् के दर्शन के लिए जाने की जो इच्छा थी, वह शान्त हो गई।

दूसरी बार भी ऐसा ही हुआ।

तीसरी बार उसके चित्त में हुआ पूछूं या न पूछूं, निर्ग्रन्थनाथपुत्र मेरा क्या करेगा? क्यों न निर्ग्रन्थनाथपुत्र को विना पूछे ही, मैं उन भगवान् अर्हत् सम्यग् संबुद्ध के दर्शन के लिए जाऊँ?

तब सिंह सेनापति पाँच सौ रथों के साथ, दिन ही दिन (दोपहर) को भगवान् के दर्शन के लिए वैशाली से निकला। जितना यान (रथ) का रास्ता था, उतना यान से जाकर, यान से उतर कर, पैदल ही आराम में प्रविष्ट हुआ। सिंह सेनापति जहाँ भगवान् थे, वहाँ गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति ने भगवान् से यह कहा—"भंते! मैंने सुना है कि श्रमण गौतम अक्रियावादी है, अक्रिया के लिए धर्म-उपदेश करता है, उसी की ओर शिष्यों को ले जाता है, जो ऐसा कहता है—श्रमण गौतम अक्रियावादी है, क्या—वह भगवान् के बारे में—ठीक कहता है? झूठ से भगवान् की निन्दा तो नहीं करता? धर्मानुसार ही धर्म को कहता है? कोई सह-धार्मिक वादानुवाद तो निन्दित नहीं होता? भंते! हम भगवान् की निन्दा करना नहीं चाहते।"

"सिंह! ऐसा कारण है, जिस कारण से ठीक-ठीक कहते हुए ऐसा कहा जा सकता है, श्रमण गौतम अक्रियावादी है। मैं कायदुश्चरित, वचन दुश्चरित, मन दुश्चरित को तथा अनेक प्रकार के पाप बुराइयों को अक्रिया कहता हूँ, उसी के लिए धर्म उपदेश करता हूँ। उसी की ओर शिष्यों को ले जाता हूँ। इसीलिए अक्रियावादी हूँ, सिंह!"

"सिंह ! मैं काय सुचरित (अहिंसा, चोरी न करना, अव्यभिचार) वाक् सुचरित (सच बोलना, चुगली न करना, मीठे वचन, बकवाद न करना) मन सुचरित (अलोभ अद्रोह सम्यक् दृष्टि) अनेक प्रकार के कुशल (उत्तम) धर्मों को क्रिया कहता हूँ। सिंह ! यह कारण है, जिस कारण से श्रमण गौतम क्रियावादी है, ऐसा कहा जा सकता है। इसी तरह सिंह ! मुझे उच्छेदवादी जुगुप्सु, वैनयिक, तपस्वी और अपगर्भ कहा जा सकता है।"

"सिंह ! क्या कारण है जिस कारण से ठीक-ठीक कहने वाला मुझे कह सकता है—श्रमण गौतम अस्ससंत (आश्वसंत) है, आश्वास के लिये धर्मोपदेश करता है, उसके द्वारा श्रावकों को ले जाता है। सिंह मैं परम आश्वास से आश्वासित हूँ। आश्वास के लिये धर्म उपदेश करता हूँ, आश्वास के मार्ग से ही श्रावकों को ले जाता हूँ। यह कारण है जिससे ऐसा कहा जा सकता है।"

ऐसा कहने पर सिंह सेनापति ने भगवान् से कहा—"आश्चर्य भन्ते ! आश्चर्य भन्ते ! मुझे उपासक स्वीकार करें।"

"सिंह ! सोच समझकर करो। तुम्हारे जैसे सम्भ्रांत मनुष्यों का सोच समझ कर (निश्चय) करना ही अच्छा है।

भन्ते ! भगवान् के इस कथन से मैं और भी संतुष्ट हुआ। भन्ते ! दूसरे तीर्थिक मुझ जैसा शिष्य पाकर सारी वैशाली में पताका उड़ाते । सिंह सेनापति हमारा शिष्य (श्रावक) हो गया। लेकिन भगवान मुझे कहते हैं—सोच समझ कर सिंह ! करो। यह मैं भन्ते ! दूसरी बार भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षुसंघ की भी।"

"सिंह ! तुम्हारा घर दीर्घकाल से निगंठोंके लिए प्याऊ की तरह रहा है, उनके जाने पर पिंड न देना चाहिए, ऐसा मत समझना।"

"भन्ते ! इससे मैं और भी प्रसन्न मन, संतुष्ट और अभिरत हुआ। मैंने सुना था भन्ते ! कि श्रमण गौतम ऐसा कहता है—मुझे ही दान देना चाहिये, दूसरों को दान नहीं देना चाहिये। भन्ते ! भगवान तो मुझे निगंठों को भी दान देने को कहते हैं। हम भी भन्ते ! इसे युक्त समझेंगे। यह भन्ते मैं तीसरी बार भगवान की शरण जाता हूँ।"

तब भगवान् ने सिंह सेनापति को आनुपूर्वी कथा कही, जैसे दान कथा, शील कथा, स्वर्ग कथा, कामभोगों के दोष, अपकार और क्लेश और निष्कामता का महात्म्य प्रकाशित किया। जब भगवान् ने सिंह सेनापति को अरोग-चित्त, मृदु-चित्त, अनाच्छादितचित, उदग्रचित, प्रसन्न-चित जाना, तब वह जो बुद्धों की स्वयं उठाने वाली धर्मदेशना है, उसे प्रकाशित किया—दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। जैसे कालिमा रहित शुद्धवस्त्र अच्छी रंग पकड़ता है, उसी प्रकार सिंह सेनापति को उसी आसन पर विमल विरज धर्मचक्षु उत्पन्न हुआ—जो कुछ समुदय धर्म है, वह निरोध धर्म है।

सिंह सेनापति दृष्ट-धर्म-प्राप्त-धर्म-विदितधर्म-परि-अवगाढ़-धर्म, सन्देह रहित, वाद-विवाद रहित, विशारदता-प्राप्त शास्ता के शासन में स्वतन्त्र हो भगवान् से यह बोला।

भन्ते ! भिक्षुसंघ के साथ भगवान् मेरा कल का भोजन स्वीकार करें। भगवान ने मौन से स्वीकार किया। सेनापति भगवान् की स्वीकृति को जान, आसन से उठ, भगवान को अभिवादन कर, प्रदक्षिणा कर चला गया

तब सिंह सेनापति ने एक आदमी से कहा—

"हे आदमी ! जा तू तैयार मांस को देख तो।"

तब सिंह सेनापति ने उस रात के बीतने पर अपने घर में उत्तम खाद्य भोज्य तैयार कर भगवान को काल की सूचना दी। भगवान् पूर्वाह्न समय (चीवर) पहनकर पात्र-चीवर ले, जहाँ सिंह सेनापति का घर था, वहाँ गए। जाकर भिक्षु संघ के साथ बिछे आसन पर बैठे। उस समय बहुत से निर्ग्रन्थ (जैन साधु) वैशाली में एक सड़क से दूसरी सड़क पर, एक चौरस्ते से दूसरे चौरस्ते पर, बाँह उठा कर चिल्लाते थे—"आज सिंह सेनापति ने मोटे पशु को मारकर, श्रमण गौतम के लिये भोजन पकाया, श्रमण गौतम जान-बूझकर (अपने ही) उद्देश से किये उस मांस को खाता है।"

तब कोई पुरुष जहाँ सिंह सेनापति था, वहाँ गया। जाकर सिंह सेनापति के कान में यह बात कही।

सिंह बोला—"जाने दो आर्यो (अय्या)! चिरकाल से यह आयुष्यमान् (निर्ग्रन्थ) बुद्ध-धर्म-संघ की निन्दा चाहने वाले हैं। यह आयुष्मान् भगवान् की असत्, तुच्छ, मिथ्या, अभूत निन्दा करते नहीं शरमाते। हम तो (अपने) प्राण के लिये भी जानबूझ कर प्राण न मारेंगे।"

तब सिंह सेनापति ने बुद्ध सहित भिक्षु संघ को अपने हाथ से उत्तम खाद्य भोज्य से संतर्पित (कर) परिपूर्ण किया।

भगवान् के भोजन पात्र से हाथ खींच लेने पर, सिंह सेनापति—एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे हुए सिंह सेनापति को भगवान् धार्मिक कथा से संदर्शन करा—आसन से उठकर चल दिये।

तब भगवान् ने इसी सम्बन्ध में, इसी प्रकरण में धार्मिक-कथा कह भिक्षुओं को संबोधित किया—"भिक्षुओं ! जान बूझ कर (अपने) उद्देश से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुक्कट का दोष हो। भिक्षुओं ! अनुमति देता हूँ (अपने लिये मारे को) देखे सुने सन्देह युक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस (के खाने) की।"

इस प्रकार के और भी कुछ प्रसंग मज्झिम निकाय, संयुक्तनिकाय, दीर्घनिकाय, विनयपिटक और अंगुत्तरनिकाय आदि ग्रंथों में भगवान् श्री महावीर तथा जैनधर्म के सम्बन्ध में मिलते हैं। कुछ रोचक हैं, कुछ तात्विक हैं। पर सभी प्रकरणों की भाव, भाषा और शैली भगवान् बुद्ध को उच्चतम बनाने की रही है। एक-एक प्रकरण को यथार्थता की कसौटी पर कसना व उसकी गहरी मीमांसा में उतरना प्रस्तुत निबन्ध का विषय नहीं है। यहाँ तो मुख्य रूप से हमें यही देखना है कि पालि वाङ्मय में भगवान् श्री महावीर का क्या स्थान रहा है ? प्रसंगोपात्त इस प्रसंग पर थोड़ा-बहुत अवश्य सोचा जा सकता है कि जैन आगमों में भगवान् बुद्ध का क्या स्थान रहा है ? आश्चर्य यह है कि बौद्ध शास्त्र भगवान् श्री महावीर के विषय में जितने मुखर हैं, उतने ही भगवान् बुद्ध के विषय में जैन शास्त्र मौनाश्रयी हैं। भगवान् बुद्ध के नाम से वहाँ एक आध प्रसंग भी देखने को नहीं मिल रहा है। अवश्य सूत्रकृतांग आदि आगमों में जहाँ इतर मतों की मीमांसाएँ की गई हैं, वहाँ स्वल्पतम रूप से बौद्ध मान्यताओं की भी कुछ चर्चाएँ मिलती हैं। इस तथ्य की वास्तविकता पर यदि हम पहुँचना चाहते हैं कि दोनों ही प्रकार के शास्त्रों में मुखरता और मौनाश्रयिता की नितान्त प्रतिकूल स्थिति क्यों ? तो कुछ एक बुद्धिगम्य तथ्य हमारे सामने आते हैं—

(१) हो सकता है—शास्त्र संग्राहकों के चिन्तन में शास्त्र संकलन की अपनी-अपनी भिन्न मर्यादाएँ निश्चित की हुई हों। बौद्धों ने जिस शैली व स्तर को अभिमत किया हो, इस प्रकार की शैली व स्तर जैन शास्त्र रचयिताओं को मान्य न हुई हो।

(२) हो सकता है जैनशास्त्रों की संकलना बौद्ध धर्म के उदय से पूर्व हो चुकी हो।

(३) हो सकता है—बौद्ध-धर्म-संघ का जब उदय हुआ हो उस समय जैन-धर्म-संघ अपनी परिपूर्णता पर हो।

उक्त तीनों विकल्पों में भी तीसरा विकल्प वास्तविकताके अधिक निकट हो सकता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो परिपूर्ण और समर्थ होता है, वह बहुधा प्रतिपक्षी को साधारण समझकर उसकी उपेक्षा करता है। जो उदीयमान होता है, वह परिपूर्ण समकक्ष होने के लिये बहुधा आक्रामक भाव से प्रस्तुत होता है। जैन आगमों में जहाँ भगवान् बुद्ध के विषय में मौन स्थिति है, वहाँ मंखलीपुत्त गोशालक के विषय में वर्णन बाहुल्य भी है। जैन परंपरा में यह तो प्रचलित तथ्य है ही कि गोशालक का धर्म संघ भगवान् महावीर के धर्म संघ से बहुत बड़ा था। अस्तु इस सम्बन्ध में और भी अनेकों विकल्प गढ़े जा सकते हैं। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से बौद्ध त्रिपिटकों के रचनाकाल पर विचार करते हैं तो यह भी आभास होने लगता है कि भगवान् बुद्ध के निर्वाण के अनन्तर ही राजगृह में बौद्धभिक्षुसंघ की प्रथम संगीति हुई और वहीं वर्तमान त्रिपिटक साहित्य का संकलन हुआ। यह पूर्णतः यथार्थ नहीं है। हो सकता है, संगीति हुई हो, बुद्ध के वचनों का संकलन हुआ हो। किन्तु यह मान लेने के लिये पर्याप्त आधार है कि पालि वाङ्मय का वर्तमान त्रिपिटकों के रूप में उस समय संग्रह नहीं हुआ था। सम्राट् अशोक ने अपने शिलालेखों में भिक्षु भिक्षुणियों, उपासकों व उपासिकाओं को बुद्धवाणी में जिन संग्रहों को पढ़ने, सुनने और कंठस्थ करने की प्रेरणाएँ दी हैं, उनमें वर्तमान त्रिपिटक संग्रहों का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है, प्रारंभ में मगधराज अजातशत्रु के संरक्षण में भगवान् बुद्ध के प्रमुख शिष्य आर्यकश्यप, उपालि, आनन्द, प्रभृति पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओं की संगीति में बुद्धवाणी का जो संकलन हुआ, कालान्तर से होने वाली विभिन्न संगीतियों में रूपान्तर पाता हुआ भगवान् बुद्ध की संगृहीत वाणी का आज यह त्रिपिटकात्मक रूप है। इन आधारों पर हम यह भी कल्पना कर सकते हैं, पालि वाङ्मय में उपलब्ध भगवान् महावीर के जीवन प्रसंग कालान्तर से होने वाली संगीतियों में बढ़ते हुए साम्प्रदायिक मनोभावों के कारण कल्पना और परम्परागत आधारों से जोड़ दिये गये हों।

इन वृत्तान्तों को पढ़ने में एकमात्र यही उद्देश्य होना चाहिये कि हमें इतिहास और अनुसंधानकी दृष्टि से क्या कुछ उनसे प्राप्त हो सकता है।

इन्द्र-भूति

(ले० मुनि श्री दुलीचन्द जी)

संक्षिप्त परिचय—

'गौतम' भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य थे। उनका मुख्य नाम इन्द्रभूति था। गोतम उनका गोत्र था, किन्तु बोलन म सरल तथा संक्षिप्त होने के कारण गौतम उनके नाम के रूप में ही व्यवहृत होने लगा[1]। व्यक्ति को गोत्र के नाम से पुकारने पुकारने की परम्परा बहुत प्राचीन काल से चालू रही है, आज भी अनेक व्यक्ति व्यासजी, मुहतोजी, पाण्डेयजी आदि नामों से पुकारे जाते हैं[2]। इन्द्रभूति पूर्वाश्रम में ब्राह्मण थे। राजगृह नगर के निकट गोबर नाम के एक छोटे से कस्बे में ईस्वीपूर्व ६०७ में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम वसुभूति एवं माता का नाम पृथिवी देवी था। वे वेद-शास्त्रों के पूर्णत: विज्ञ ही नहीं किन्तु एक सुप्रसिद्ध अध्यापक भी थे। एक बड़ी संख्या में शिष्य उनके पास विद्याभ्यास करते थे।

एक-याज्ञिक—

उन्हीं दिनों में एक बार मध्य अपापा नगरी में सोमिल नाम के धनाढ्य ब्राह्मण ने यज्ञ प्रारम्भ किया[3]। उस यज्ञ में अनेक ब्राह्मण पण्डितों को दूर-दूर से आमन्त्रित किया गया था। उनमें इन्द्रभूति (गौतम) आदि ग्यारह विद्वान् प्रमुख थे। गौतम के आगमन से यज्ञ जनता के आकर्षण का केन्द्र बन गया था। इन्द्रभूति अपने सैंकड़ों शिष्यों के साथ इस यज्ञ में पहुँचे थे और पूर्ण दक्षता के साथ कार्य में जुटे हुए थे। इधर संयोगवश भगवान् महावीर को भी इसी अर्से में सर्वज्ञत्व प्राप्त हुआ, वे अपनी विहारचर्या के अनुसार चलते हुये अपापानगरी में आये, वहाँ शहर से बाहर महसेन उद्यान में समवशरण[4] रचा गया। अपार जनसमूह एवं देवगणों के बीच भगवान् महावीर ने धर्मोपदेश प्रारम्भ किया। विमानों में बैठकर जब अनेकानेक देव समवशरण भूमि की ओर जा रहे थे, तब उन्हें देखकर इन्द्रभूति समझे कि ये सब यज्ञ भूमि में आ रहे हैं। वे गर्वित होकर उपस्थित लोगों से कहने लगे कि देखा मेरे मंत्रों का प्रभाव ! यज्ञ की आहुति लेने के लिये देवताओं के झुण्ड के झुण्ड आ रहे हैं। किन्तु उन्होंने जब देवताओं को यज्ञभूमि पारकर, आगे निकलते देखा तो विस्मय का ठिकाना न रहा। अनेक मनुष्य भी यज्ञभूमि को छोड़कर भगवान् महावीर के देशनास्थल में पहुँच रहे थे। गौतम ने जब ये सुना कि ये सब देवता व मनुष्य सर्वज्ञ भगवान् महावीर के दर्शनार्थ समवशरण में जा रहे हैं, तो उनके गर्व को बड़ी ठेस पहुँची। वे मन ही मन सोचने लगे, अरे ! मेरे अतिरिक्त क्या और भी कोई सर्वज्ञ है ? नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता ! अवश्य ही कोई धूर्त्त मनुष्य इन सब मूर्खों को ठग रहा है, लगता है कि यह कोई धूर्त शिरोमणि है। इसने तो देवताओं को भी ठग लिया है। यही कारण है कि ये सब मेरी यज्ञाहुति को छोड़कर वहाँ जा रहे हैं। मैं इसे सहन नहीं कर सकता। भला एक म्यान में दो तलवार, एक आकाश में दो सूर्य और एक गुहा में दो सिंह कैसे रह सकते हैं ?

ज्ञान का उन्माद—

भगवान्[5] महावीर को वन्दन कर के आते हुए लोगों के मुँह से जब उनकी प्रशंसा सुनी तो इन्द्रभूति और भी भड़क उठे। उन्हें लगा कि महावीर कोई मायावी है, धूर्त है और इन्द्रजालिक है। उसने समस्त लोगों को भ्रम-जाल में फँसाया है।

१—गणधरवाद पृ० ५९—६६

२—महावीरनो संयमधर्म

३—गणधरवाद

४—देवताओं द्वारा रचित व्याख्यान भूमि

५—गणधरवाद

उसका प्रतिकार शीघ्र ही करना होगा। जिस प्रकार सूर्य तमजाल का, अग्नि स्पर्श करने वाले का, सिंह उसकी जटा को नोचनेवाले का, एवं क्षत्रिय अपने बैरी का उन्मूलन कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अब भगवान् महावीर के प्रभाव का उन्मूलन करके ही विश्राम लूंगा। मेरे सामने जब कोई भी विद्वान् नहीं टिक सका तो महावीर की क्या बिसात है? गौड़ देश के विद्वान् मेरे भय से प्रकम्पित हैं, इसी प्रकार गुर्जर वाले भी संत्रस्त हैं। मालव और तिलंक देश के लोग मेरे भय से जमीन में गड़ जाते हैं। उनके सामने यह बेचारा किस खेत की मूली है? मैंने इस संसार में वादियों का दुर्भिक्ष कर दिखलाया था, परन्तु मुद्गस्थली में कोरडू[1] की तरह न जाने यह कहाँ से बच गया है। इसको पराजित किये बिना मेरी समस्त विजय निष्फल है, क्योंकि अवशिष्ट रहा हुआ थोड़ा सा भी शल्य प्राण ले लेता है। छोटा सा छिद्र भी पोत को जलमग्न कर सकता है। नींव में थोड़ी सी भी पोल दुर्ग का अहित कर सकती है।

इस प्रकार भगवान् महावीर को चर्चा में पराजित करने का निश्चय कर लेने के बाद गौतम वहाँ जाने की तैयारी करने लगे[2]। उन्होंने तदनुकूल वस्त्रादि धारण किये और अनेक शिष्यों से परिवृत्त होकर समवसरण भूमि की ओर चल पड़े। उनके शिष्य वादि-कंसकृष्ण, वादि-मृगमृगारि, वादि-गणजीवक, वादि-शलभप्रदीपक, वादि-चक्रचूड़ामणि, पण्डित शिरोमणि आदि अनेक विशेषणों से उनकी प्रशस्ति करते हुए चल रहे थे।

इन्द्रभूति मार्ग में चलते हुए मन ही मन में सोच रहे थे कि इसने यह सर्वज्ञता क्या आडम्बर रच रखा है। क्या इस कलमुंहे को और कुछ करने को नहीं सूझा। खैर, खद्योत का प्रकाश जब तक सूर्य न आये तब तक ही रहता है। हरिण आदि पशु वन में तब तक ही कुलांचे, भरते हैं, जब तक मृगराज वहाँ न आ जाये। मेरे पहुँच जाने से महावीर का यह समस्त पाखण्ड अब नामशेष होनेवाला ही है।

मैं तर्क, व्याकरण, साहित्य, कोष, सिद्धांत, अलंकार आदि अनेक शास्त्रों का पारगामी हूँ, तीन लोक में जित्वर हूँ। मैं सबके लिये अजेय हूँ। मेरे सामने विवाद में रह यह एक क्षण भी नहीं टिक सकेगा। अतः अनायास ही जनता का समस्त भ्रम दूर हो जायेगा, और मेरे यज्ञानुष्ठान की अवज्ञा करके यहाँ आनेवालों को पश्चात्ताप ही नहीं, किन्तु लज्जित भी होना पड़ेगा।

समवशरण में—

इस प्रकार विचार करते हुए इन्द्रभूति ने भगवान् महावीर के समवशरण के प्रथम सोपान पर पैर रखा। वहाँ की अम्लान शोभा को देखकर वे चकित रह गये। स्फटिक सिंहासन पर आरूढ़ भगवान महावीर की विशालकाय दिव्यमूर्ति, ऊपर गहरा छाया हुआ अशोक वृक्ष, चारों ओर प्रकाश पुंज बिखेरता हुआ भामण्डल[3] तथा परितः उपदेशामृत पान करने को लालायित कोटि-कोटि मनुष्य, देव और तिर्यंचों का समुदाय—यह सब देख कर इन्द्रभूति सहसा असमंजस में पड़ गये। उन्हें अपनी विजय के मनसूबे कच्ची भीत की तरह ढहते हुये दिखाई देने लगे। अपने शिष्य वर्ग के साथ इस प्रकार वहाँ आ जाना उन्हें अविचारित कार्य मालूम होने लगा। वे मन ही मन सोचने लगे, मैंने यह कार्य ठीक नहीं किया। अगर मैं इस एकवादी को छोड़ भी देता तो क्या हानि थी? यह तो मैंने एक कील के लिये सम्पूर्ण प्रासाद को तोड़ गिराने जैसा कार्य कर डाला। अब पूर्वार्जित यश की रक्षा कैसे हो? जगज्जैत्र नाम की रक्षा कैसे हो? कैसे अब इसके पास जाऊँ, किस प्रकार बोलने का साहस करूँ? हाय! मैं तो एक विचित्र प्रकार के संकट में पड़ गया हूँ। "इतो व्याघ्र इतस्तटी" की परिस्थिति से निकलना मेरे लिये कठिन हो गया है। अगर वापिस जाता हूँ तो लोगों में अपयश होने का भय है और आगे जाता हूँ तो प्रत्यक्ष ही पराजय दिखाई दे रही है।

संशय-निवृत्ति—

इस प्रकार इन्द्रभूति सोच ही रहे थे कि भगवान् महावीर ने उन्हें संबोधित करते हुए कहा—इन्द्रभूते! गौतम!

१—उबालने पर भी जो कभी नहीं उबलता ऐसी किसी भी जाति के धान का दाना

२—गणधरवाद।

३—मुखाकृति के पीछे का ज्योतिर्वलय।

तुम आये हो ? इन्द्रभूति ने स्वीकृतिसूचक शिर हिलाया और सोचने लगे कि यह तो मेरा नाम भी जानता है। मन के अहंकार ने जोर मारा तो सोचने लगे कि—मुझे कौन नहीं जानता ? मैं तो जगत्प्रसिद्ध हूँ। इन्द्रभूति इस प्रकार अपने विचारों में डूबते -उतराते ही थे कि भगवान् महावीर ने दुबारा उन्हें सम्बोधित करते हुए कहा गौतम ! क्या तुम्हें आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में संशय है ? इन्द्रभूति भगवान् के इस कथन से बड़े चकित हुए, क्योंकि उन्होंने अपने संशय की बात आज तक किसी के सामने नहीं रखी थी। बिना कुछ बतलाये ही जब भगवान् ने उनके संशय को जान लिया, तब उन्हें स्वीकार करना ही पड़ा। वे बोले—हाँ ! भगवन् ! मुझे इस विषय में संशय बना ही रहता है, क्योंकि हमारे धर्मग्रन्थों में जहाँ "सर्वे अयमात्मा ज्ञानमयः" कहकर उसके अस्तित्व की बात कही है, वहाँ अन्यत्र "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय ताम्येवानु विनश्यति, न प्रेत्यसंज्ञास्ति" भी कह दिया है। इसलिये एक वाक्य से जहाँ ज्ञानमय आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, वहाँ दूसरे वाक्य से सिद्ध होता है कि[1] यह विज्ञानमय आत्मा भूत समुदाय से ही उत्पन्न होता है और उसी में विलीन भी होता है। उसके बाद उसका कोई अस्तित्व नहीं रहता जो कि परलोक की संज्ञा धारण कर सके। इस प्रकार विरोधी वाक्य ही मुझे आत्मा के सम्बन्ध में संशयशील बना देते हैं। भगवान ने उनके संशय को दूर करते हुए कहा—गौतम तुमने इसका जो अर्थ समझा है, वह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो वस्तुतः दूसरा ही होना चाहिये। तुम विज्ञानघन का अर्थ "पृथ्वी आदि भूत-समुदाय से उत्पन्न चेतना-पिण्ड" कहते हो, परन्तु उसका वास्तविक तात्पर्य विविध ज्ञान पर्यायों से है। आत्मा में प्रतिक्षण नवीन ज्ञान पर्यायों का आविर्भाव और पूर्वकालीन ज्ञान पर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जब एक मनुष्य घट पदार्थ को देखता है या उसका चिन्तन करता है, तब उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसे हम उस आत्मा की घट विषयक "ज्ञान पर्याय" कहते हैं। वही मनुष्य जब घट के पश्चात् पट आदि अन्यान्य पदार्थों का ज्ञान करता है, तब उसके पट विषयक ज्ञान का आविर्भाव तथा घट विषयक ज्ञान पर्याय का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विभिन्न पदार्थ विषयक ज्ञान पर्यायों को ही "विज्ञान घन" के नाम से पुकारा गया है। उपर्युक्त वाक्य में प्रयुक्त "भूत" शब्द में पृथ्वी आदि पाँच भूत ही न होकर ज्ञान के विषयभूत सभी जड़ और चेतन पदार्थ अंतर्गभित होने चाहिये[2]।

ज्ञान और ज्ञानी कथंचित् अभिन्न होते हैं, अतः यहाँ उसी दृष्टिकोण को सामने रखकर ज्ञान पर्यायों के आविर्भाव और तिरोभाव को विज्ञान घन आत्मा का आविर्भाव और तिरोभाव कहा गया है। "न प्रेत्य संज्ञास्ति" इसका भी तात्पर्य "परलोक नहीं है" न होकर, "पूर्व ज्ञान पर्याय का उपयोग नहीं है",ऐसा है, क्योंकि उपयोग वर्तमान पर्याय का ही रहता है, पूर्व ज्ञान पर्याय का नहीं, इस प्रकार उपर्युक्त वाक्य से आत्मा की असत्ता सिद्ध न होकर उसकी सत्ता ही सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त धर्माचरण के क्षेत्र में दम, दया, और दान का सर्वत्र महत्व रहा है। यदि आत्मा का अस्तित्व न होता तो फिर दम अर्थात् इन्द्रियादि पर नियंत्रण रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसी प्रकार दया भी किस की की जाती है ? जब आत्मा ही भूतजन्य हो तो किसी को मार देने या कष्ट पहुँचाने से क्या अनिष्ट होने वाला है ? दान देने में भी पात्रापात्र के विवेक की कोई कसौटी अवशिष्ट न रह जायेगी; क्योंकि आत्मा के अभाव में संयमी और असंयमी का ही अभाव हो जायेगा और फिर दान का साध्य स्वपरका कल्याण ही नहीं रहेगा, तब उस साधन की महत्ता ही क्या रह जावेगी ? अतः हे गौतम, आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। जिस प्रकार दूध और घृत, तिल और तैल, फूल और सुरभि, ऊपर से एक मालूम होते हैं, फिर भी पृथक् पृथक् हैं, उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी अलग-अलग हैं।

प्रथम-गणधर—

भगवान् महावीर के इस उपदेश से गौतम संशयमुक्त हुए और पाँच सौ शिष्यों सहित उनके पास दीक्षित हो गये। वे प्रथम गणधर के रूप में सामने आये। उनके[2] गण में अनेक आचार्य, उपाध्याय गणावच्छेदक आदि थे, और प्रत्येक आचार्य आदि के पास सैकड़ों शिष्य रहा करते थे।

१—गणधरवाद

२—गणधरवाद

गौतम यद्यपि भगवान् महावीर के सब से बड़े शिष्य थे, फिर भी वे भगवान् के निकट एक छोटे से अबोध बालक की तरह रहते थे। बड़ों के साथ किस प्रकार रहना चाहिये व किस प्रकार आचरण करना चाहिये, यह उनके जीवन से बहुत सुगमता से सीखा जा सकता है। वे बारह अंगों के रचयिता व वेद शास्त्रों के विशेष ज्ञाता थे। इतना होते हुए भी भगवान् महावीर के समीप साधारण से साधारण बात पूछते रहते थे। उनके प्रश्नों का ध्येय स्वयं विशेष जानकारी प्राप्त करने तथा साधारण लोगों में ज्ञान की अभिवृद्धि करने का रहता था। प्रश्न हर एक व्यक्ति नहीं कर सकता, किन्तु कोई समर्थ व्यक्ति यदि प्रश्न करता है तो उसका लाभ अनेक व्यक्ति उठा सकते हैं। गौतम जिस प्रकार सर्वजन उपयोगी एवं सरल शैली से प्रश्न रखते थे, उसी प्रकार भगवान महावीर उनके उत्तर भी अत्यन्त सुगम एवं आशुबोध भाषा में देते थे। गणधर गौतम एवं भगवान् महावीर के प्रश्नोत्तर मुख्यतया-प्रज्ञापना, तथा जम्बूदीपप्रज्ञप्ति आदि सूत्रों में देखने को मिलते हैं।

केशीकुमार श्रमण और गौतम—

गौतम स्वामी भगवान महावीर के सिद्धान्तों के अनुपम प्रसारक थे। उन सिद्धान्तों के विषय में की जाने वाली आशंकाओं का वे स्वयं इतना सरल और सरस उत्तर दिया करते थे कि जिज्ञासु व्यक्ति तत्काल ही उसके रहस्य को पा लेता था।

एक[1] बार भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के आचार्य केशीकुमार श्रमण विहार करते हुये श्रावस्ती नगरी के तिंदुक नामक उद्यान में ठहरे। उसीसमय गौतम स्वामी भी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उसी नगरी में आ पहुँचे, एवं नगर के बाहर कोष्ठक नामक उद्यान में ठहरे। दोनों एक ही नगरी में थे, अतः परस्पर दोनों के शिष्यों का भिक्षा आदि के समय मिलना स्वाभाविक ही था। जब उन्होंने परस्पर एक दूसरे के रहन सहन व क्रिया कलाप में भेद देखा तो एक प्रकार का ऊहापोह खड़ा हो गया। वे परस्पर एक दूसरे से कहने लगे कि भगवान् महावीर का उपदिष्ट यह पाँच महाव्रत (शिक्षाएँ) वाला धर्म कैसा? इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ का यह चार महाव्रत (चातुर्याम) वाला धर्म कैसा? इसी प्रकार अचेलता और सचेलता को लेकर भी यही ऊहापोह था। सभी सोचने लगे थे कि एक ही कार्य के लिये पराक्रम करने वालों में यह भेद क्यों हैं?

शिष्यों के मन में इस प्रकार की ऊहापोह देखकर केशीकुमार श्रमण तथा गौतम दोनों ने ही परस्पर मिलने का निश्चय किया। पार्श्वनाथ की परम्परा भगवान् महावीर से पहले की थी। इस कारण अपने से पर्याय में बड़े समझ कर गौतम स्वामी तिंदुक वन में आये।

केशीकुमार श्रमण ने उनका अच्छा सत्कार व सम्मान किया, बैठने के लिये उचित दर्भ आदि के आसन दिये। उससमय अनेक सम्प्रदायों के गृहस्थ लोग व साधु इस अपूर्व चर्चा को सुनने के लिये एकत्रित हुए। केशीकुमार ने गौतम से प्रश्न करते हुए कहा—भगवान् पार्श्वनाथ तथा महावीर एक ही पथ के पथिक हैं, फिर भी उनकी इस महाव्रतों की मान्यता में विभेद क्यों हैं? भगवान्[2] पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों की प्ररूपणा की, इसका क्या कारण हो सकता है?

गौतम स्वामी ने कहा—"भन्ते! अपनी-अपनी प्रज्ञा के अनुसार ही मनुष्य धर्मतत्व का निर्णय और आचरण कर सकता है। आदिकाल के मनुष्य ऋजु-जड़ होते थे। उनके लिये धर्म-तत्व समझना कठिन था, किन्तु उसका पालन करना सरल था। वर्तमान काल के मनुष्य वक्रजड़ होते हैं। उनके लिये धर्म समझना भी कठिन है और उसका पालन करना भी। अतः उन दोनों के लिये पाँच महाव्रत स्पष्ट बतलाने पड़े। परन्तु बीच के बाईस तीर्थंकरों के समय के साधु ऋजुप्राज्ञ होते थे। उनके लिये चार महाव्रतों का प्रतिपादन ही पर्याप्त था। ब्रहुचर्य व्रत का पृथक् उल्लेख न करने पर भी वे उसे उन्हीं महाव्रतों में अन्तर्गर्भित समझकर पालते थे।

गौतम के द्वारा अपने प्रथम प्रश्न का समाधान पाकर केशीकुमार श्रमण अत्यन्त संतुष्ट हुए। उन्होंने अपना दूसरा

१—महावीर नो अन्तिम उपदेश।

२—उत्तराध्ययन-अध्य० २३

प्रश्न सामने रखते हुए कहा कि भगवान् पार्श्वनाथ ने[1] सचेल धर्म का उपदेश दिया था, जबकि भगवान् महावीर[2] अचेल धर्म का उपदेश दे रहे हैं। दोनों के उपदेश में यह भेद क्यों है ?

प्रश्न का समाधान करते हुए गौतम ने कहा—दोनों तीर्थंकरों ने अपने-अपने विशिष्ट ज्ञान के द्वारा धर्म के पृथक् साधन बतलाये हैं। निश्चय (परमार्थ) से तो सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चारित्र यह तीन[3] ही मोक्षमार्ग के साधन हैं और इस सम्बन्ध में दोनों तीर्थंकरों का एक मत है। बाह्य वेशभूषा का प्रयोजन केवल इतना ही है कि यह साधु कौन से गच्छ व कौन से सम्प्रदाय का है, यह पहचान होती रहे एवं अपने आपको भी याद रहे कि में एक संयमी जीवन बिताने का संकल्प करने वाला साधु हूँ। इसके अतिरिक्त बाह्य वेशभूषा संयम निर्वाह में भी उपयोगी हो सकती है।

इस प्रकार केशीकुमार श्रमण ने और भी अनेक प्रश्न किये और गौतम स्वामी ने उन सब का यथार्थ समाधान किया। उत्तराध्ययन सूत्र में उन सब का अच्छा वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् केशीकुमार, श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा बताये हुए पाँच महाव्रत रूप धर्म में प्रविष्ट हो गये।

उदक और गौतम—

इसी[4] प्रकार नालन्दा नगरी का भी एक प्रसंग है। वहाँ लेप नाम के एक धनाढ्य गृहपति की शेष द्रव्या नामकी उदक शाला के ईशान कोण में स्थित हस्तियाम नामक उद्यान में भगवान गौतम ठहरे हुए थे। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य उदक पेढालपुत्र भी एक भाग में टिके हुये थे। एक बार वे भगवान् गौतम के सन्निकट आये और इस प्रकार कहने लगे—आयुष्मन् तुम्हारी मान्यताओं को स्वीकार कर चलने वाले कुमारपुत्र आदि श्रमण मनुष्यों को हठाग्रह से इस प्रकार नियम दिलवाते हैं कि—"मैं सम्पूर्ण प्राणियों की अहिंसा पालन नहीं कर सकता, किन्तु चलने फिरने, वाले त्रस प्राणियों की हिंसा नहीं करूँगा।" परन्तु विश्व के सभी प्राणी स्थावर व त्रस योनियों में चक्र लगाते रहते हैं। त्रस योनि से स्थावर में और स्थावर योनि से त्रस में अबाध गति से घूमते रहते हैं, अतः संसार का कोई भी प्राणी न तो मात्र[5] त्रस है और न मात्र[6] स्थावर ही। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त प्रतिज्ञा करने वाला गृहस्थ स्थावर प्राणियों की हिंसा की छूट समझकर उनकी हिंसा करता है, तो वह अपनी प्रतिज्ञा से च्युत होता है, क्योंकि इस समय जो प्राणी स्थावर हैं, वे अपने पूर्व जन्म में कभी त्रस हो चुके होते हैं। इस प्रकार की प्रतिज्ञा दिलाने वालों को क्या दोष नहीं लगता ? मेरा अभिमत है कि नियम की भाषा यों होनी चाहिये—"इस समय जो प्राणी जंगम के रूप में हैं मैं उनकी हिंसा नहीं करूँगा।

गौतम ने समाधान करते हुए कहा—महाभाग ! आपका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह बिल्कुल अयथार्थ है एवं दूसरों को भुलावे में गिराने जैसा है। संसार के समस्त प्राणी एक कोटि से दूसरी कोटि में घूमते रहते हैं, यह बिलकुल ठीक है, जो प्राणी इस वक्त जंगम के रूप में उत्पन्न दिखाई देता है, उसी के सम्बन्ध में यह नियम लागू पड़ता है। आप जिसे इस समय जंगम रूप उत्पन्न मानते हैं, उसे ही हम जंगम कहते हैं। जिसके जंगम बनने योग्य कर्म उदय प्राप्त हो, उसे ही जंगम प्राणी कहा जाता है।" इसी प्रकार स्थावर प्राणियों के विषय में भी समझना चाहिए। अतएव प्रतिज्ञा भंग होने तथा प्रतिज्ञा दिलाने वाले को दोष लगने की बात न्यायसंगत नहीं लगती।

गौतम ने इस स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए उदाहरण पूर्वक बतलाते हुए कहा कि—जिस प्रकार किसी व्यक्ति ने यह नियम लिया कि—मैं दीक्षित होकर जो साधु बन चुका होगा ऐसे व्यक्ति की हिंसा नहीं करूँगा, परन्तु गृहस्थ जीवन में

१—टीकाकारों ने सचेल का अर्थ मूल्य या प्रमाण की मर्यादा से रहित वस्त्र तथा रंगीन वस्त्र किया है।

२—टीकाकारों के मतानुसार अचेलक नञ् समास अल्पार्थक है, अतः इसका अर्थ मूल्य और प्रमाण में अल्प होने के कारण अल्पवस्त्र तथा केवल श्वेत वस्त्र है।

३—उत्तराध्ययन सूत्र अध्य० २३

४—महावीरनो संयमधर्म, सूत्र २, ७, ७० आदि

५—हिताहित प्रवृत्ति निवृत्यर्थं गमनशीला त्रसाः (जैन सिद्धान्त दीपिका)

६—पृथिव्यप् तेजो वायु वनस्पति कायिका एकेन्द्रिया : स्थावरा : (जैनसिद्धान्त दीपिका)

रहते हुए व्यक्ति की हिंसा न करने का नियम मुझे नहीं है। ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यक्ति साधु बना और कुछ ही समय के पश्चात् अपने आपको साधुता के अनुपयुक्त पाकर गृहस्थ बन गया, अब अगर उपर्युक्त नियम लेने वाला व्यक्ति इस गृहस्थ बने हुए व्यक्ति की हिंसा करता है, तो उसकी प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने केवल जंगम प्राणियों की हिंसा का प्रत्याख्यान किया हो, उसे इस जन्म में जो प्राणी स्थावर हैं, उनकी हिंसा करने पर भी प्रतिज्ञा भंग का दोष नहीं लगता।

एक अन्य प्रश्न करते हुये उदक पेढालपुत्र ने कहा—आयुष्मन् ! क्या ऐसा भी कोई समय हो सकता है जिसमें संसार के सब जंगम प्राणी स्थावर के रूप में उत्पन्न हो जावें और फिर जो जंगम प्राणियों की हिंसा न करना चाहते हों,उन्हें इस व्रत की आवश्यकता ही न रहे, अथवा उनके द्वारा जंगम प्राणियों की हिंसा होने की संभावना ही न रहे ?

गौतम ने प्रश्न का समाधान करते देते हुए कहा—आयुष्मन् ! ऐसा होना संभव नहीं, क्योंकि सभी प्राणियों की विचार-धारा व क्रिया पद्धति एक साथ ही इतनी हीन नहीं हो सकती, जिसके कारण सभी स्थावर के रूप में जन्म लें। प्रत्येक समय में पृथक्-पृथक् शक्ति व पुरुषार्थ वाले प्राणी अपने लिये भिन्न-भिन्न गति, स्थिति तैयार करते रहते हैं। जैसे कि कुछ लोग लोग अपने आपको दीक्षित होने में असमर्थ पाकर पोषध व अणुव्रतों के द्वारा देवता व मनुष्य आदि की शुभगति योग्य कर्म उपार्जन करते हैं। दूसरे कुछ अधिक लालसा वाले परिग्रही लोग नरक व तिर्यंच आदि की दुर्गति के योग्य कर्म उपार्जन करते हैं। कुछ दीक्षित साधु संत लोग उच्च कोटि के देवत्व के योग्य कर्मोपार्जन करते हैं। कुछ तथाकथित नामधारी कामासक्त साधु असुर व घोर पाप कर्म करने वाले स्थानों की तैयारी करते हैं। वहाँ से छूट कर भी वे अन्ध, मूक, वधिर अंगहीन रूप दुर्गति के कर्म उपार्जन करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न गतियाँ प्राप्त करता रहता है। तब यह कैसे हो सकता है कि सभी प्राणियों को एक समान ही स्थान, व गति मिले। दूसरे जहाँ विविध प्रकार के प्राणी हैं, वहाँ उनके आयुष्य में भी विविधता है। आयुष्य की विविधता का तात्पर्य है कि उनकी मृत्यु भी भिन्न-समय में होती है। भिन्न-भिन्न समय में मृत्यु होने का अर्थ है कि ऐसा कभी नहीं हो सकता कि सभी प्राणी एक ही साथ मृत्यु प्राप्त होकर एक समान गति प्राप्त करें, जिसके फलस्वरूप किसी को व्रत लेने व हिंसा करने का प्रसंग ही न आये।
इस प्रकार भगवान् गौतम उदकपेठालपुत्र के प्रश्नों का उत्तर देकर, उन्हें परामर्श के रूप में कहने लगे—आयुष्मन् ! उदक ! जो व्यक्ति पाप कर्मों से मुक्त होने के लिये सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्राप्त कर चुका हो, फिर भी यदि दूसरे किसी श्रमण-ब्राह्मणों की निन्दा करता है, तो चाहे वह अपने आपको उसका मित्र ही क्यों न समझे, फिर भी ऐसे व्यक्ति का परलोक नहीं सुधरता।

इन प्रश्नोत्तरों के पश्चात् पेढालपुत्र उदक किसी प्रकार का सत्कार व सम्मान किये बिना ही जब वापिस लौटने लगे, तब भगवान् गौतम ने उनसे कहा—आयुष्मन् ! किसी श्रमण निर्ग्रन्थ के पास से यदि एक भी शिक्षात्मक सुवाक्य सुनने को मिला हो तथा किसी ने उत्तम योगक्षेम व कल्याण का मार्ग दिखलाया हो, तो क्या उसके प्रति कुछ सत्कार सम्मान व आभार प्रदर्शित किये बिना ही चले जाना चाहिये।

आयुष्मन् ! मेरी दृष्टि से ऐसे पुण्य व्यक्ति को पूज्य बुद्धि से नमस्कार करना चाहिये एवं उसका सत्कार व सम्मान कर, कल्याणकारी मंगलमय देवता व चैत्य स्वरूप मानकर उसकी पर्युपासना करनी चाहिये।

पेढालपुत्र उदक गद्‌गद् होते हुए गौतम से कहने लगे—भगवान् ! मुझे कभी भी इस प्रकार की शिक्षा सुनने का अवसर नहीं मिला, अतः मैं ऐसा करने में असमर्थ रहा परन्तु अब मुझे आपके शब्दों से इस बात पर पूर्ण विश्वास व रुचि प्राप्त हुई। मैं इसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार करता हूँ। अब मैं इस चार महत्व वाले धर्म से पाँच महाव्रत वाले तथा निरन्तर प्रतिक्रमण किये जाने वाले धर्म में प्रविष्ट होना चाहता हूँ। गौतम के अनुमोदन पर उन्होंने वैसा ही किया और श्रमण भगवान् महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।

श्रमणोपासक आनन्द और गौतम

एक[1] बार भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम के दूतिपलाश नामक चैत्य में ठहरे हुए थे। उस समय गौतम स्वामी के

---

१ उपासकदशांग, अध्ययन १

दो-दो दिन के उपवास चल रहे थे। वे अपने आराध्य भगवान् महावीर के निकट आये—सभक्ति प्रणाम किया एवं विधिवत् उनकी अनुज्ञा से भिक्षाचरी के लिये नगर में गये। उच्च, मध्यम व निम्न श्रेणी के घरों से भिक्षाचरी करने के पश्चात् वे वापिस लौट रहे थे। जब वे कोल्लाग सन्निवेश के पास से गुजरे तो उन्होंने लोगों को परस्पर यह बात करते हुए सुना "देवानुप्रियो! भगवान् महावीर के अन्तेवासी श्रमणोपासक आनन्द ने जीवन के अन्तिम क्षणों में की जाने वाली तप: क्रिया स्वीकार की है। इस समय कोल्लाग सन्निवेश के ज्ञातृकुल के क्षत्रिय मुहल्ले में स्थित पौषधशाला में जीवन और मृत्यु की आकांक्षा से रहित केवल आध्यात्मिक भाव से आजीवन अनशन का अनुशीलन कर रहे हैं। यह बात सुनकर गौतम आनन्द से मिलने के लिय उत्कंठित हुए और तत्काल पोषधशाला की ओर चल पड़े। गौतम को आते देखकर आनन्द, श्रमणोपासक हर्ष और उल्लास से गद्‌गद् हो उठा। करबद्ध होकर उसने गौतम को नमस्कार किया और कहने लगा—भगवन्! में इस अपूर्व तप के कारण बहुत अशक्त हो चुका हूँ। अत: आपके चरण कमलों में मस्तक रख कर विधिवत् वन्दन करने में समर्थ नहीं हूँ। यदि आप कृपया आगे आवें तो मैं ऐसा करने में सफल हो सकूंगा।

आनन्द की अपूर्व-भक्ति देखकर गौतम आगे आये, तब उसने चरणों में शिर टेककर विधिवत् प्रणाम किया। कुछ औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् आनन्द ने पूछा—भगवन्! क्या किसी गृहस्थ को अवधिज्ञान प्राप्त हो सकता है?

गौतम ने उत्तर देते हुए कहा—हो सकता है। आनन्द ने कहा—भगवन्! मुझे भी घर में रहते हुए अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। मैं पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशा में लवणसमुद्र के पाँच सौ योजन तक के क्षेत्र को देखता हूँ एवं जानता हूँ। उत्तर दिशा में चुल्ल हिमवान् वर्षधर पर्वत तक देखता एवं जानता हूँ। ऊँची दिशा में सौधर्म देवलोक तक एवं नीची दिशा में रत्नप्रभा पृथ्वी के लोलुच्य नामक नरकवास तक देखता एवं जानता हूँ।

गौतम ने कहा—"आनन्द। गृहस्थ को अवधि ज्ञान हो तो सकता है किन्तु इतनी बड़ी सीमावाला नहीं हो सकता। अत: तुम्हारा यह कथन सत्य नहीं है। तुम्हें अपनी इस भूल के लिये प्रोयश्चित करना चाहिये।"

विनयपूर्वक आनन्द ने फिर कहा—"भगवन्! क्या कभी जैन शासन में सत्य कथन के लिये भी प्रायश्चित करना पड़ता है? यदि नहीं, तो फिर मुझे प्रायश्चित करने की कोई आवश्यकता नहीं है, कृपया इस संबंध में आप ही प्रायश्चित करें।"

आनन्द की बात से गौतम शंकाशील हुये और तत्काल वहाँ से चल कर भगवान् महावीर के पास आये। उन्होंने आते-जाते व भिक्षार्थ पर्यटन करते समय असावधानी से होने वाले संभवित दोषों की आलोचना की। उसके पश्चात् अपना लाया हुआ आहार भगवान् को दिखलाया। यह सब कार्य विधिवत् हो जाने के अनन्तर भगवान् को वंदना करके इस प्रकार पूछने लगे—"भगवान्! पूर्व पश्चिम की ओर दक्षिण में पाँच सौ योजन तक, उत्तर में चुल्ल हिमवान् पर्वत तक, ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे रत्नप्रभा के लोलुच्य नरकवास तक देख सकें—क्या इतना बड़ा अवधिज्ञान किसी गृहस्थ को हो सकता है? इस सम्बन्ध में मेरे और श्रमणोपासक आनन्द के बीच मतभेद है। वह कहता है कि मुझे उपर्युक्त प्रकार का अवधि ज्ञान प्राप्त हुआ है। मेरा कहना है कि गृहस्थ को इतना बड़ा ज्ञान नहीं हो सकता। अत: उसे इस असत्य वचन का प्रायश्चित लेना चाहिए। किन्तु वह इसके विपरीत मुझे ही प्रायश्चित लेने को कहता है। कृपया आप ही फरमावें कि प्रायश्चित किसे करना चाहिये!

भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! आनन्द का कहना ठीक है। अत: प्रायश्चित तुझे ही करना चाहिये। इस विषय में आनन्द के घर जाकर उससे क्षमा माँगनी चाहिये। गौतम ने अपनी भूल के लिये तनिक भी आनाकानी नहीं की और वे उसी क्षण क्षमायाचना के लिये आनन्द के घर पहुँचे और अपने कहे हुए के लिये आनन्द से क्षमा मांगी। यह था उनका निरहंकार और निश्छल जीवन।

महाशतक और गौतम

गौतम भगवान् महावीर के गणधर होने के साथ-साथ उनके संदेशवाहक भी थे। अनेक बार उन्होंने अपना विशेष संदेश देकर उन्हें स्थान विशेष पर भेजा था। श्रमणोपासक महाशतक के पास भी एक बार भगवान् महावीर ने उद्देश्य विशेष से उनको भेजा था। वह घटना इस प्रकार है—

श्रमणोपासक[1] महाशतक राजगृह निवासी था। वह एक बहुत बड़ा धनाढ्य व्यक्ति था। उसके तेरह स्त्रियाँ थीं। उनमें रेवती सबसे प्रमुख थी। विशेष कामासक्त होने के कारण उसने अपनी सब सौतों को मरवा डाला था। सारे सुखों की वह अकेली ही मालकिन हो गई थी। महाशतक भगवान् महावीर के पास श्रमणोपासक बनकर धार्मिक जीवन की ओर झुका। वह क्रमशः अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों का अनुशीलन करने लगा। कालांतर में उसने अपने बड़े लड़के को घर का भार सौंपा और स्वयं विशेष रूप से धार्मिक क्रियाओं में रहने लगा। जब वह भोगों से विरक्त होकर रहने लगा तो रेवती का दिल तिलमिला उठा। उसके लिये यह स्थिति दिन पर दिन असह्य होने लगी।

एक दिन वह कामातुर होकर लड़खड़ाती हुई महाशतक के पास पहुँची और स्त्री सुलभ हावभाव दिखलाती हुई कहने लगी—"महाशतक ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारे मन में आजकल धर्मनुराग जाग उठा है। तुम मुक्ति के इच्छुक हो उठे हो। परन्तु मैं समझती हूँ कि यदि तुम मेरे से आसक्त हो मेरी कामनाओं को तृप्त करते रहो, तो उससे अधिक मुक्ति फिर क्या वस्तु हो सकती है ? इस प्रकार दो तीन बार आग्रह पूर्वक कहने पर भी महाशतक अपनी साधना पर अडिग रहा। उसकी इस प्रार्थना पर किंचित भी ध्यान नहीं दिया और मौन रहकर उस अनुकूल परिषह का सामना करता रहा। क्रमशः अपनी ढलती हुई अवस्था के साथ-साथ उसने तपस्या भी प्रारंभ की। उससे उसका शरीर केवल अस्थिपंजर रह गया। अन्त में आजीवन अनशन का अनुशीलन करते हुए उसको अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। उस स्थिति म एक दिन फिर रेवती काम से पीड़ित होकर वहाँ आ पहुँची एवं पहले की तरह ही महाशतक से प्रार्थना करने लगी। पहली बार जब रेवती न इस प्रकार की भावना प्रकट की तब महाशतक कुछ नहीं बोला। दूसरी बार भी महाशतक उसी प्रकार अडिग रहा। परन्तु तीसरी बार जब रेवती कामान्ध होकर उसे धिक्कारने लगी और विचित्र प्रकार से आचरण करने लगी, तब महाशतक क्रुद्ध हो उठा। उसने रेवती को उसके अभद्र व्यवहार के लिये फटकारा और अपने अवधिज्ञान के बल पर उसको कहा कि—"तू सात दिन के अन्दर अन्दर रोग से पीड़ित होकर मरेगी एवं रत्नप्रभा के लोलुच्य नामक नरकवास में चौरासी हजार वर्ष की स्थिति प्राप्त करेगी।

महाशतक की इस आक्रोशपूर्ण भविष्यवाणी को सुनकर रेवती अत्यन्त भयाकुल और संत्रस्त होकर वापिस घर लौट आई। वह समझ गई कि अब महाशतक का उसके प्रति कोई अनुराग नहीं है। उसे इससे अत्यन्त दुःख हुआ। वह उस असमाधि के कारण रोगाक्रान्त हुई और सातवें दिन चल बसी।

भगवान् महावीर उस समय राजगृह में आये और गुणशील चैत्य में ठहरे। उन्होंने महाशतक को इस पापाचार से मुक्त करने के लिये गौतम को महाशतक और रेवती के विषय का सारा विवरण सुनाया और कहा कि—गौतम ! तुम वहाँ जाओ, और इस प्रसंग में जो महाशतक की आत्मा कलुषित हुई है, उसे प्रायश्चित देकर शुद्ध करो। भगवान् महावीर का आदेश प्राप्त कर गौतम वहां गये और महाशतक को समझा कर विशुद्ध किया।

गौतम और स्कन्धक[2]

कयंगला से थोड़ी दूर पर स्थित श्रावस्ती नगरी में गर्धभालीपरिव्राजक के शिष्य स्कंधक रहते थे। वे कात्यायन गोत्र के थे। वे चारों वेदों के तथा अन्य अनेक शास्त्रों के धुरन्धर विद्वान् थे। ब्राह्मणों और परिव्राजकों के दर्शन का उन्होंने गहरा चिन्तन किया।

उस समय श्रावस्ती नगरी में निर्ग्रन्थ प्रवचन को भली भाँति समझने वाला पिंगल नाम का निर्ग्रंथ रहता था। एक दिन वह कात्यायन गोत्री स्कन्धक के पास आया, साधारण वार्तालापके पश्चात् उसने स्कन्धक को सम्बोधन करते हुए उनके सम्मुख कुछ प्रश्न रखे। मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? जीवन शान्त है या अन्नत ? सिद्धि सान्त है या अनन्त ? सिद्ध सान्त हैं या अनन्त ? किस प्रकार के मरण से भवभ्रमण घटता है ? इन उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर मुझे ठीक दो, ताकि आगे मैं और भी तुमसे कुछ प्रश्न कर सकूं।

---

१ उपाशकदशांग, अध्ययन ८

२—भग० २, १, ९०–९६।

पिंगल के इस प्रकार पूछे जाने पर स्कन्धक शंकित हो उठे। वे पिंगल के प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ रहे। मागध को मौन देखकर वैशालिक पिंगल निर्ग्रन्थ ने फिर उसी प्रकार दो-तीन बार वही प्रश्न किये। किन्तु स्कंधक के लिये उनका उत्तर तो क्या, मुंह खोलना भी मुश्किल हो गया। वह किंकर्तव्यविमूढ़ की तरह खड़ा देख रहा था कि कुछ मनुष्यों की पारस्परिक बातें उसके कानों में पड़ीं। वे लोग परस्पर इस प्रकार कह रहे थे—देवानुप्रियो! भगवान् महावीर सर्वज्ञ व सर्वदर्शी आज ग्रामानुग्राम विहार करते हुए कयंगला के छत्रपलाश नाम के उद्यान में आकर ठहरे हैं। देवानुप्रियो! इस प्रकार की पवित्रात्मा के दर्शन, अभिवादन, अभिगमन आदि तो दूर रहे, केवल उसके नाम गोत्र सुनने मात्र से ही मनुष्य का कल्याण हो जाता है। अतः आज हम लोग सभी वहाँ चलें और उस पवित्रात्मा की पर्युपासना कर अपने आपको कृतार्थ करें। इस प्रकार राजा, युवराज कोट्टपाल, कौटुम्बिक, माण्डविक, सार्थवाह आदि अनेक प्रकार के लोग भी परस्पर बातें करते हुए श्रावस्ती के बीचों बीच होकर जा रहे थे।

यह सुनकर मागध के विचारों में भी एक कम्पन आया और सोचा कि मुझे भी वहाँ जाना चाहिये और उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर भगवान् महावीर से प्राप्त करना चाहिये। वह अपने रहने के स्थान पर आकर कुछ परिव्राजक सम्बन्धी उपकरण-त्रिदण्ड, रूद्राक्षमाला, कुण्डिका, आसन, कमण्डलु, आदि ग्रहण कर भगवान् महावीर के दर्शनार्थ चल पड़ा।

इधर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम को सम्बोधित करते हुए कहा—गौतम! क्या अपने चिर परिचित पूर्व जन्म के मित्र को देखना चाहते हो? गौतम आश्चर्यान्वित होकर पूछने लगा—भगवान्! मेरा चिर परिचित पूर्व जन्म का मित्र कौन है, और मुझे कब मिलेगा? भगवान् ने गौतम को सारा ब्योरा बतलाते हुये कहा—गौतम! अब वह तुम से अधिक दूर नहीं है। थोड़े ही समय में तुम से साक्षात् करने वाला है। गौतम ने फिर उत्कण्ठा भरे शब्दों में पूछा—भन्ते! क्या वो मेरा पूर्व जन्म का साथी आपके पास दीक्षित होगा? भगवान् इसका उत्तर दे ही रहे थे कि स्कन्धक जी वहाँ आ पहुँचे। गौतम उन्हें निकट आये जानकर शीघ्रता से खड़े होकर दस बीस कदम आगे चलकर उनके गण और उनसे मिलते हुए बोले—स्कन्धक! आप आ गये, आपके इस धर्माध्यवसाय का मैं स्वागत करता हूँ। इस प्रकार स्वागत करते हुए स्कन्धक जी के आने के कारण से अवगत हो गौतम उन्हें साथ में लेकर भगवान् महावीर के पास पहुँचे। स्कन्धक ने विधिवत् भगवान् महावीर को वन्दन किया और अपने मन के संदेहों का निराकरण करने के लिये अनेक प्रश्न पूछे। भगवान् महावीर ने अपनी अमृतमयी वाणी से उनके सब प्रश्नों का समाधान कर दिया। अन्त में स्कन्धक ने अपने आपको भगवान् महावीर के चरण-कमलों में समर्पित कर दिया।

दीक्षित होकर उन्होंने बारह अंगों का अध्ययन किया। जैन सिद्धान्तानुसार उन्होंने विविध प्रकार की तपस्याएं कीं। विविध प्रकार से आतापनायें कीं। उनकी तपस्या व आतापना का वर्णन वियाहपन्नत्ती सूत्र के दूसरे शतक में विशेष रूप से दिया गया है। इस प्रकार अति कठोर तपस्या व आतापना के द्वारा उनका शरीर केवल अस्थिपंजर मात्र रह गया, तब अन्त में उन्होंने अनशन किया और समाधिमरण प्राप्त कर बारहवें स्वर्ग में बाईस सागर की आयु वाले देवता हुए।

गौतम अपने चिर परिचित पूर्व जन्म के साथी को दिवंगत होने पर भी भूले नहीं थे। उन्होंने भगवान् महावीर से पूछा—स्कन्धक वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके कहाँ जायेंगे? भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! स्कन्धक वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके महाविदेह क्षेत्र में सिद्धत्व को प्राप्त करेगा। यह बात सुनकर गौतम अत्यन्त प्रसन्न हुए। वस्तुतः उन्हें किसी भी व्यक्ति के कल्याण में बहुत ही अभिरुचि रहा करती थी।

चिरन्तन सम्बन्ध

गौतम स्वामी के अनेक शिष्य केवल ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। पर उनको केवल ज्ञानप्राप्त नहीं हुआ था। अतः वे कई बार इस विषय को लेकर चिन्ताकुल हो जाया करते थे, ऐसा कुछ टीकाकारों का मत है। छद्मस्थ के लिये ऐसा होना असंभव भी नहीं है। कहा जाता है कि एक बार[1] गौतम को भगवान् महावीर ने कुछ अन्यमनस्कता में डूबे हुए देखा। उनकी इस अकारण उदासीनता को मिटाने के लिये उन्होंने तत्काल ही सम्बोधित करते हुए कहा—गौतम! क्या तुम्हें मालूम है कि अपना यह सम्बन्ध कितना चिरंतन है? तुम बहुत लम्बे समय से मेरे स्नेह से आसक्त होते आ रहे हो। अनेक

१—गणधरवाद प्रस्ता० पृ० ५९

जन्मों से तुम्हारा और मेरा सुमधुर सम्बन्ध है। गौतम ! अधिक क्या कहूँ, यहाँ से भी हम दोनों समान अधिकार, समान ऋद्धि और समान भावों को प्राप्त करेंगे। भगवान् के इस कथन से गौतम की उदासीनता मिट गई और वे आत्मतुष्टि पूर्वक अपनी साधना में लग गये।

कैवल्य प्राप्ति

भगवान् महावीर अच्छीतरह जानते थे कि गौतम का मेरे प्रति अगाध स्नेह भाव है और वह यत्र क्वचित् मोहयुक्त भी हो जाता है। वे उनके उस मोह भाव को छुड़ाना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने जब अपने मोक्षगमन का समय समीप देखा' तब गौतम को धर्मचर्चा के लिये अन्यत्र भेज दिया। उस अन्तिम रात्रि को वे भगवान् के पास नहीं रह सके। यही उनके मोहांत का कारण बन गया। भगवान् निर्वाण पद को प्राप्त हो चुके थे। गौतम स्वामी को यह संवाद पश्चिम रात्रि के समय में मिला तो उनके श्रद्धालु मन को बहुत बड़ा आघात पहुँचा। उस रात्रि में वहाँ आकर धर्म चर्चा करने का भी पश्चात्ताप हुआ। सबसे अधिक झुंझलाहट उन्हें इस बात से हुई कि भगवान ने स्वयं जान-बूझकर उन्हें अन्तिम समय में अपने से अलग कर दिया। उन्होंने मन ही मन भगवान् को अनेक उपालम्भ दे डाले। अपने आपको धिक्कारते हुए उन्होंने सोचा कि यदि मुझे इस बात का थोड़ा सा भी पता चल गया होता तो मैं एक क्षण के लिये भी उनसे विलग नहीं होता। परन्तु अब क्या किया जाये, जब कि भगवान् स्वयं ही धोखा देकर चले गये।

इस प्रकार बहुत देर तक गौतम मोहवश नाना संकल्प विकल्प करते रहे, किन्तु अन्त में उनकी मोह निद्रा भंग हुई। वे गहराई से सोचने लगे कि भगवान् तो वस्तुतः वीतराग थे। उनके लिये सारी दुनिया एक समान थी—वे भला मोहग्रस्त कैसे हो सकते थे ? किसी के शरीर के साथ प्रेम होना समझदारी की बात नहीं है। यह मोहकर्म की प्रबलता है। भगवान् निर्मोही थे। उनके लिये मुझे ऐसा चिन्तन करना उचित नहीं। फिर क्या था, मोह का परदा फट गया। भगवान् गौतम को उसी समय केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व

गौतम स्वामी एक महान् संत थे। उनका व्यक्तित्व सारे संसार के लिये एक आदर्श था। यद्यपि वे भगवान् महावीर से अवस्था में आठ वर्ष बड़े थे, फिर भी एक बालक की तरह सरल और विनम्र होकर रहा करते थे। भगवान के प्रथम गणधर शिष्य होने पर भी उनकी आत्मा को कहीं अहंकार छू तक नहीं पाया था। मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यय—ये चार ज्ञान उन्हें भगवान् की विद्यमानता में ही प्राप्त हो चुके थे। कैवल्य की प्राप्ति भी उन्हें भगवान के निर्वाण पद प्राप्त होने के तत्काल पश्चात् ही हो गई। जैन शासन ने में वे महान् लब्धिधारी साधु माने जाते हैं। आगमों में उनके लिये उग्र तपस्वी, घोर तपस्वी, दीर्घ तपस्वी, घोर गुणी, घोर ब्रह्मचारी, संक्षिप्त-विपुल तेजोलेश, सर्वाक्षिर-सन्निपाती आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, जो कि उनके आंतरिक व्यक्तित्व को प्रकाशित करने वाले हैं।

इसी प्रकार उनका बाह्य व्यक्तित्व भी बड़ा आकर्षक था। उनकी शरीर संपदा का वर्णन शास्त्रकारों ने इस प्रकार किया है प्रलम्ब शरीर, सुडौल आकृति, कसौटी पर खचित स्वर्णरेखा के समान गौरवर्ण, समचतुरस्र संस्थान (पद्मासन लगाकर बैठने से घुटने और सीने तक की लम्बाई और चौड़ाई की समानता), दृढ़ संहनन युक्त उनका शरीर था।

निर्वाण प्राप्ति

भगवान् महावीर के पश्चात् करीब बारह वर्ष तक कैवल्य अवस्था में विहार करते हुए वे इस धरा को पवित्र करते रहे। उनका अन्तिम प्रवास राजगृह नगर में हुआ जो कि उस समय भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। वहीं उन्हें निर्वाण पद प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने आयुष्य में से पचास वर्ष गृहस्थावस्था में, तीस वर्ष छद्मस्थ अवस्था में, और बारह वर्ष कैवल्य-अवस्था में व्यतीत किये। इस प्रकार उनको समग्र आयुष्य ९२ वर्ष का प्राप्त हुआ था। उनके निर्वाण प्राप्त होने से संसार का एक महान् संत उठ गया, किन्तु उनका आदर्श और उनका व्यक्तित्व आज भी उसी तरह से विद्यमान है तथा संसार के लिये एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह मार्ग दिखा रहा है।

१—गणधरवाद

प्राचीन जैन तीर्थ

(ले० पंडित कल्याणविजय गणी)

उपक्रम

पूर्वकाल में "तीर्थ" शब्द मौलिक रूप से जैन प्रवचन अथवा चतुर्विध संघ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ऐसा जैन आगमों से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकर्ता और जैनसंघ के संस्थापक होने से ही जिनदेव तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थ का शब्दार्थ यहाँ नदी समुद्र में उतरने अथवा उनसे बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग होता है। आज की भाषा में इसे घाट और बन्दर कह सकते हैं।

संसार समुद्र को पार कराने वाले जिनागम को और जैन-श्रमण संघ को भावतीर्थ बताया गया है, और इसकी व्युत्पत्ति 'तीर्यते संसार सागरो येन तत् तीर्थम्" इस प्रकार की गई है, एवं नदी समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को द्रव्य तीर्थ माना गया है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन-आगमों में कुछ और भी तीर्थ माने गये हैं, जिन्हें पिछले ग्रंथकारों ने स्थावर-तीर्थों के नाम से निर्दिष्ट किया है, और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गये हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचारांग आवश्यक आदि सूत्रों की निर्युक्तियों में मिलता है, जो मौर्यकालीन ग्रन्थ हैं।

(क) जैन स्थावर तीर्थों में (१) अष्टापद (२) उज्जयन्त (३) गजाग्रपद (४) धर्मचक्र (५) अहिच्छत्र पार्श्वनाथ (६) रथावर्त पर्वत (७) चमरोत्पात (८) शत्रुंजय (९) सम्मेदशिखर और (१०) मथुरा का देव निर्मित स्तूप इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैनसूत्रों तथा सूत्रों की निर्युक्ति व भाष्यों में मिलता है।

(ख) (१) हस्तिनापुर (२) शौरीपुर (३) मथुरा (४) अयोध्या (५) काम्पिल्यपुर (६) वाराणसी (काशी) (७) श्रावस्ती (८) क्षत्रियकुंड (९) मिथिला (१०) राजगृह (११) अपापा (पावापुरी) (१२) भद्दिलपुर (१३) चम्पापुरी (१४) कौशाम्बी (१५) रत्नपुर (१६) चन्द्रपुरी आदि स्थान भी तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण की भूमियां होने के कारण जैनों के प्राचीन तीर्थ थे, परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणक भूमियों में आज भी छोटे-बड़े जिन-मन्दिर बने हुए हैं, और यात्रिक लोग दर्शनार्थ जाते भी हैं। परन्तु इनका पुरातन महत्व आज नहीं रहा। इन तीर्थों को 'कल्याणक भूमि' कहते हैं।

(ग) उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए थे जिनमें से कुछ तो आज नाम शेष हो चुके हैं, और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी संक्षिप्त नाम सूची यह है—(१) प्रभास पाटन—चन्द्रप्रभ (२) स्तम्भ तीर्थ-स्तम्भनक पार्श्वनाथ (३) भृगुकच्छ अश्वावबोध शकुनिका विहार—मुनिसुव्रत (४) सूरपार्क (नालासोपारा) (५) शंखपुर-शंखेश्वर पार्श्वनाथ (६) चारूप—पार्श्वनाथ (७) तारंगहिल-अजितनाथ (८) अर्बुदगिरि (आबू माउन्ट) (९) सत्यपुरीय-महावीर (१०) स्वर्णगिरि-महावीर (११) करहेटक-पार्श्वनाथ (१२) विदिशा (भिलसा) (१३) नासिक्य-चन्द्रप्रभ (१४) अन्तरिक्ष—पार्श्वनाथ (१५) कुल्पाक-आदिनाथ (१६) खण्डगिरि (भुवनेश्वर) (१७) श्रवण बेलगोला इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें जो विद्यमान हैं, उनमें कुछ तो मौलिक हैं, तथा कतिपय प्राचीन तीर्थों के स्थानापन्न नवनिर्मित जिनचैत्यों के रूप में अवस्थित हैं। तीसरी श्रेणी के जैनतीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं। इनका प्राचीन जैन साहित्य में वर्णन न होने पर भी कल्पों, जैन चरित्रग्रंथों तथा प्राचीन स्तुति, स्तोत्रों में इनकी महिमा गायी गई है।

उक्त तीन वर्गों में से इस लेख में हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे।

सूत्रोक्त तीर्थ

आचारांग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैनतीर्थों का नाम निर्देश मिलता है।

दंसण नाण चरित्ते तववेरग्गे य होई उ पसत्था।
जा य तहा ता य तहा लक्खणं वुच्छं सलक्खणओ ॥३२९॥

तित्थगराण भगवओ पवयण पावयणि अइसइड्ढीणं।
अभिगमण नमण दरिसण कित्तण सूंपअणा थुणणा ॥३३०॥
जम्माभिसेय निक्खमण चरण नाणुप्पया य निव्वाणे।
दिय लोअभवण मंदर नंदीसर भोम नगरेसुं ॥३३१॥
अट्ठावयमुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास रहावत्तगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥३३२॥

अर्थात् दर्शन, सम्यक्त्व-ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, विनय-विषयक भावनाएं जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूँगा ॥३२९॥

तीर्थंकर भगवन्तों के, उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक प्रभावक आचार्यों के, केवल, मन, पर्यव, अवधिज्ञान, वैक्रियादि अतिशय लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणों का कीर्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य सम्बन्धी गुणों की शुद्धि होती है ॥३३०॥

जन्मकल्याणक स्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहार भूमि, केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान, और निर्वाण कल्याणक भूमि को तथा देवलोक असुरादि के भवन, मेरु पर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तरदेवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिनप्रतिमाओं को, तथा (१) अष्टापद (२) उज्जयंत (३) गजाग्रपद (४) धर्मचक्र (५) अहिच्छत्रास्थित पार्श्वनाथ (६) रथावर्त-पदतीर्थ (७) चमरोत्पात इन नामों से प्रसिद्ध जैनतीर्थों में स्थित जिनप्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूँ।

निर्युक्तिकार भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, विहार, ज्ञानोत्पत्ति, निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहाँ रहे हुए जिनचैत्यों को वंदन किया है। यही नहीं, परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, स्थानांग भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देव स्थित, असुर-भवन स्थित, मेरुपर्वत स्थित, नन्दीश्वर द्वीप स्थित, और व्यन्तर देवों के भूमिगर्भ स्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिनप्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा ३३२ वीं में निर्युक्तिकार ने तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन-तीर्थों को वन्दन किया है, जिनमें एक छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्न हो चुके हैं। फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण वृत्तान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है, उनके आधार पर इनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जावेगा।

(१) अष्टापद

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे, और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म-सभा में दर्शन वन्दनार्थ तथा धर्म श्रवणार्थ जाते थे। परन्तु वर्तमानकालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके। इसके कारण अनेक ज्ञात होते हैं। पहला तो यह है कि उत्तरदिग् विभाग में भारत से लगी हुई पर्वत श्रेणियां उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं, जितनी आज हैं। दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव और उनके गणधर तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओंने तीन स्तूप और भारत चक्रवर्ती ने सिंहनिषद्या नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थङ्करों की वर्ण-मानोपेत प्रतिमाएं प्रतिष्ठित करवाके, चैत्य के द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं, परन्तु पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिये शिखर पर पहुँचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग कर क्रमशः आठ मेखलाएँ बनवाई थीं, इसी कारण से पर्वत का अष्टापद यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद देव, विद्याधर, विद्याचारण, लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थी अष्टापद पर नहीं जा सकता था, और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मसभा में यह सूचन किया था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुँचता है, वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य स्तूप आदि को अपने पूर्वज वंश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारक के चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जलप्रवाह से भरवा दिया था, ऐसा प्राचीन जैन कथासाहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से हमारा अष्टापद तीर्थ जिसका निर्देश श्रुत केवली भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने अपनी आचारांग निर्युक्ति में सर्वप्रथम किया है, हमारे लिये आज अदर्शनीय और अलभ्य बन चुका है।

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है :—

अह भगवं भवमहणो पुव्वाणमणूणयं सयसहस्सं।
अणुपुव्वि विहरिऊणं पत्तो अट्ठावयं सेलं ॥४३३॥
अट्ठावयम्मि सेले चउदसभत्तेण सो महरिसीणं।
दसहिं सहस्सेहिं समं निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥४३४॥
निव्वाणं १ चिइगागिई जिणस्स इक्खाग-सेसगाणं च।
सकहा ३ थूभ जिणहरे ४ जायग ५ तेणाऽहिअग्गित्ति ॥४३५॥

तब संसार दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख पूर्ववर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे, और छः उपवास के तप के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए ॥४३३।४३४॥

भगवान् और उनके शिष्यों के निर्वाणान्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्नि संस्कारार्थ तीन चिताएँ बनवाईं। पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थंकर के शरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकुवंश्य गणधरों के, तथा महामुनियों के शवदाहार्थ बनवाई, और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोर चिता शेष श्रमणगण के शरीर संस्कारार्थ बनवाई, और तीर्थंकर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखकर अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्नि द्वारा सुलगाया, वायुकुमार देवों ने वायु द्वारा अग्नि को जोश दिया, और चर्म-मांस के जल जाने पर मेघकुमारों ने जलवृष्टि द्वारा चिताओं को ठंडा किया। तब भगवान् के ऊपरी बांयें जबड़े की शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने, तथा निचले जबड़े की बाईं तरफ की चमरेन्द्र ने, और दाहिनी तरफ की दाढ़ें बलीन्द्र ने ग्रहण कीं। इन्द्रों के अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियाँ ग्रहण कर लीं। तब वहाँ उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थंकर तथा मुनियों के शरीर दहन स्थानों की भस्मी को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया। चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये, और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थंकरों की वर्णमानोपेत सपरिकर मूर्त्तियाँ स्थापित करने योग्य जिनगृह बनवाये। उस समय जिन मनुष्यों को चिताओं से अस्थि, भस्मादि नहीं मिला था, उन्होंने उसकी प्राप्ति के लिये देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की, जिससे इस अवसर्पिणी काल में याचक शब्द प्रचलित हुआ। चिता कुण्डों में अग्नि चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि स्थापन करने का प्रचार चला, और वैसा करने वाले आहिताग्नि कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रों, चरित्रों, तथा (पौराणिक) प्रकीर्णक जैनग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु इन सबके वर्णनों द्वारा विषय को बढ़ाना नहीं चाहते।

(२) उज्जयन्त (ऊर्जयन्त)

उज्जयन्त यह गिरनार पर्वत का प्राचीन नाम है, इसका दूसरा प्राचीन नाम रैवतक पर्वत भी है, 'गिरनार' यह इसका तीसरा पौराणिक नाम है जो कल्पों, कथाओं आदि में मिलता है।

उज्जयन्त तीर्थ का नाम निर्देश आचारांग-निर्युक्ति में किया गया है, जो ऊपर बता आये हैं। इसके अतिरिक्त कल्पसूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध-अष्टमाध्ययन), आवश्यकसूत्र आदि में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। कल्पसूत्र में इस पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, केवल-ज्ञान तथा निर्वाण नामक तीन कल्याणक होने का उल्लेख किया गया है। आवश्यक सूत्रान्तर्गत सिद्धस्तव की निम्नोद्धृत गाथा में भी भगवान् नेमिनाथ के दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक होने की सूचना मिलती है, जैसे—

'उज्जिंत सेल सिहरे दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स।
तं धम्मचक्कवट्टिं अरिट्ठनेमिं नमंसामि ॥४॥

अर्थात्—उज्जयंत[1] पर्वत के शिखर पर जिसकी दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुआ, उस धर्म-चक्रवर्ती भगवान् नेमिनाथ को मैं नमस्कार करता हूँ ।

उज्जयंत तीर्थ के संबंध में अन्य भी अनेक सूत्रों तथा उनकी टीकाओं में उल्लेख मिलते हैं, परन्तु इन सबका यहाँ वर्णन करके लेख को बढ़ाना उचित न होगा। आचार्य जिनप्रभसूरिकृत उज्जयंत महातीर्थ कल्प, तथा अन्य विद्वानों के रचे हुए प्रस्तुत तीर्थ के स्तव आदि के कतिपय उपयोगी उद्धरण देकर इस विषय का निरूपण करना ही पर्याप्त समझा जाता है।

उज्जयंत पर्वत के अद्भुत खनिज पदार्थों से समृद्धिशाली होने के सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभ ने अपने कल्प में बहुत-सी बातें कही हैं, जिनमें से कुछ एक मनोरंजक नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं :—

अवलोअणसिहरसिलाअवरेणं तत्थ वररसो सवइ।
सुअपक्खसरिसवण्णो करेइ सुव्वं वरं हेमं ॥२७॥
गिरिपुज्जुन्नवयारे अंबिअआसमपयं च नामेण।
तत्थ वि पीआ पुहवी हिमवाए होइ वरहेमं ॥२८॥
वि० तीर्थ क० पृ० ८।

उज्जिंतपढमसिहरे आरुहिउं दाहिणेन अवयरिउं।
तिण्णि धणूसयमित्ते पूइकरं जं बिलं नाम ॥३०॥
उग्घाडिउं बिलं दिक्खिऊण निउणेन तत्थ गंतव्वं।
दण्डंतराणि बारस दिव्वरसो जंबुफलसरिसो ॥३१॥
वि० ती० क० पृ०८।

उज्जिंतेनाणसिला विक्खाया तत्थ अत्थि पाहाणं।
ताणं उत्तर पासे दाहिणयअहमुहो विवरो ॥३६॥
तस्स य दाहिणभाए दसधणुभूमीइ हिंगुलयवण्णो।
अत्थि रसो सयवेही विंधइ सुव्वं न संदेहो ॥३७॥
वि० ती० क० पृ०८।

१—सिद्धस्तव की यह तथा इसके बाद की "चत्तारिअट्ठ" यह दोनों गाथाएं प्रक्षिप्त मालूम होती हैं। परन्तु यह कब और किसने प्रक्षिप्त कीं, यह कहना कठिन है। प्रभावक चरित्रान्तर्गत आचार्य बप्पभट्टि के प्रबन्ध में एक उपाख्यान है जिसका सारांश यह है कि 'एक समय शत्रुंजय (उज्जयंत) तीर्थ की यात्रा के लिए राजा आम संघ लेकर उज्जयंत की तलहटी में पहुँचा। वहाँ दिगम्बर जैन संघ भी आया हुआ था। उन्होंने आम को ऊपर जाने से रोका। तब आम सैनिक बल का प्रयोग करनको उद्यत हुआ तो बप्पभट्टिसूरिने उसको रोककर कहा--धार्मिक कार्योंके निमित्त प्राणी संहार करना अनुचित है, इस झगड़े का निपटारा दूसरे प्रकार से होना चाहियें। उन्होंने कहा—दो कुमारी कन्याओं को बुलाना चाहिये, श्वेताम्बरों की कन्या दिगम्बर संघके पास और दिगम्बर संघकी कन्या श्वेताम्बर संघ के पास रखी जाय। फिर दोनों संघके अग्रसर धर्माचार्य, कन्याओं को तीर्थ का निर्णय करने के प्रमाण पूछें। आचार्य बप्पभट्टिसूरि ने श्वेताम्बर संघ की तरफ खड़ी दिगम्बर संघ की कन्या के मुख से अम्बिका देवी द्वारा (उज्जिन्त०) यह गाथा कहलायी और तीर्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का स्थापित किया। परन्तु यह उपाख्यान ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यवान नहीं है, क्योंकि आचार्य बपभट्टि विक्रम संवत् ८०० में जन्मे थे, और नवमी शताब्दी में उनका जीवन व्यतीत हुआ था, तथा आचार्य हरिभद्र सूरिजी, जो इनके सौ वर्ष से अधिक पूर्ववर्ती थे, सिद्धस्तव की टीका में लिखते हैं कि 'सिद्धस्तव की आदि की तीन गाथाएं नियमपूर्वक बोली जाती हैं। अन्तिम दो गाथाओं के बोलने का नियम नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि यह गाथाएं हैं तो हरिभद्रसूरि जी के पूर्वकाल की, परन्तु हैं प्रक्षिप्त, इसलिये आचार्यों ने इनका बोलना अनियत बताया है। हरिभद्रसूरिजी के पूर्ववर्ती आचार्य हेमचन्द्रसूरि आदि ने भी अपने ग्रंथों में यही आशय व्यक्त किया है

इय उज्जयंतकप्पं अविअप्पं जो करेइ जिणभत्तो।
कोहंडिकयपणामो सो पावइ इच्छिअं सुक्खं ॥४१॥

वि० ती० क० पृ० ९।

अर्थात्—अवलोकन शिखर की शिला के पच्छिम दिग् विभाग में शुक की पंख जैसा हरे रंग का वेधकरस झरता जाता है, जो ताम्र को श्रेष्ठ सुवर्ण बनाता है ॥२७॥

उज्जयंत पर्वत के प्रद्युम्नावतार तीर्थ स्थान में अम्बिकाश्रमपद नामक वन है, जहाँ पर पीतवर्ण की मिट्टी पाई जाती है, जिसे तेज आग का ताप देने से बढ़िया सोना बनता है ।२८।

उज्जयंत पर्वत के प्रथम शिखर पर चढ़कर दक्षिण दिशा में तीन सौ धनुष अर्थात् बारह सौ हाथ नीचे उतरना, वहाँ पूतिकरज नामक एक बिल अर्थात् भूविवर मिलेगा, उसको खोलकर सावधानी के साथ उसमें प्रवेश करना, और अड़तालीस हाथ तक भीतर जाने पर लोहे को सोना बनाने वाला दिव्य रस मिलेगा, जो जंबूफल सदृश रंग का होगा। ३०–३१॥

उज्जयंत पर्वत पर 'ज्ञानशिला' नाम से प्रख्यात एक बड़ी शिला है, जिसपर गण्डशैलों का एक जत्था लगा हुआ है, उससे उत्तर दिशा में जाने पर दक्षिण की तरफ जानेवाला एक अधोमुख विवर मिलेगा, उसमें चालीस हाथ नीचे उतरने पर दक्षिण भाग में हिंगुल का सा रक्तवर्ण शतवेधी रस मिलेगा, जो तांबे को वेधकर सोना बनाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। ३६ – ३७ ।

इस प्रकार जो जिनभक्त कुष्माण्डी (अंबा) देवी को प्रणाम करके मनमें शंका लाये बिना उज्जयंत पर्वत पर रसायन-कल्प साधना करेगा वह मनोभिलषित सुख को प्राप्त होगा ॥४१॥

जिनप्रभसूरि कृत उज्जयंत महाकल्प के अतिरिक्त अन्य भी अनेक कल्प और स्तव उपलब्ध होते हैं, जो पौराणिक होते हुए भी ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। हम इन सब के उद्धरण देकर लेख को नहीं बढावेंगे। केवल उपयोगी संक्षिप्त सारांश देकर लेख को पूरा करेंगे।

'रैवतकगिरि कल्प संक्षेप' में इस तीर्थ के विषय में कहा गया है—भगवान् नेमिनाथ ने छत्रशिला के समीप शिलासन पर दीक्षा ग्रहण की, सहस्राम्रवन में केवलज्ञान प्राप्त किया, लक्षाराम में धर्म देशना की, और अवलोकन नामक ऊँचे शिखर पर निर्वाण प्राप्त किया।

'रैवत की मेखला में कृष्ण वासुदेव ने निष्क्रमण आदि तीन कल्याणकों का उत्सव करके रत्नप्रतिमाओं से शोभित तीन जिन-चैत्य तथा एक अम्बादेवी का मन्दिर बनवाया। (वि० ती० क० पृ० ६) ।

रैवतकगिरि कल्प में कहा है—पच्छिम दिशा में सौराष्ट्र देश स्थित रैवत पर्वतराज के शिखर पर श्री नेमिनाथ का बहुत ऊँचे शिखरवाला भवन था, जिसमें पहले भगवान् नेमिनाथ जी की लेपमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित थी। एक समय उत्तरापथ के विभूषण समान कश्मीर देश से अजित तथा रत्ना नामक दो भाई संघपति बनकर गिरनार तीर्थ की यात्रा करने आये, और भक्तिवश केशर चन्दन आदि के घोल से कलशे भरकर उस प्रतिमा को अभिषिक्त किया, परिणामस्वरूप वह लेपमयी प्रतिमा लेप के गल जाने से बहुत ही बिगड़ गई। इस घटना से संघपति युगल बहुत ही दुःखी हुआ और आहार का त्याग कर दिया। इक्कीस दिन के उपवास के अन्त में भगवती श्री अम्बिका देवी वहाँ प्रत्यक्ष हुई और संघपति को उठाया। उसने देवी को देखकर जय-जय शब्द किया। देवी ने संघपति को रत्नमय प्रतिमा देते हुए कहा—लो यह प्रतिमा ले जाकर बैठालो। पर प्रतिमा को स्थान पर बैठाने के पहिले पीछे नहीं देखना। संघपति अजित सूत के कच्चे धागे के सहारे प्रतिमा को अन्दर ले जा रहा था। वह प्रतिमा के साथ नेमिभवन के सुवर्ण बलानक में पहुँचा, बिम्ब के द्वार की देहली के ऊपर पहुँचते ही संघपति का हृदय हर्ष से उमड़ पड़ा और देवी की शिक्षा को भूलकर सहसा उसका मुंह पिछली तरफ मुड़ गया, इससे प्रतिमा वहीं निश्चल हो गई। देवी ने जय-जय शब्द के साथ पुष्पवृष्टि की। यह प्रतिमा संघपति द्वारा नव-निर्मित जिन प्रासाद में वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को प्रतिष्ठित हुई। स्नपनादि महोत्सव करके संघपति अजित अपने भाई के साथ स्वदेश पहुँचा। कलिकाल में मनुष्यों के चित्त की कलुषता जानकर अम्बिका देवी ने उस रत्नमय प्रतिमा की झलहलती कान्ति को ढाँप दिया। (वि० ती० क० पृ० ९)

इसी कल्प में इस तीर्थ सम्बन्धी अन्य भी ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, जो नीचे दिये जाते हैं :—

"पुव्विं गुज्जरधराए जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्जणो दण्डाहिवो ठाविओ। तेण अ अहिणवं नेमिजिणिंदभवणं एगारससयपंचासिए (११८५) विक्कमरायवच्छरे काराविअं। मालवदेसमुहमंडणेणं साहुभावडेणं सोवण्णं आमलसारं कारिअं। चोलुक्कचक्किसिरिकुमारपालनरिंदसंठविअसोरट्ठदण्डाहिवेण सिरिसिरिमालकुलुब्भवेण बारससयवीसे (१२२०) विक्कम-संवच्छरे पज्जा काराविआ — — —। पज्जाए चडंतेहिं जणेहिं दाहिणदिसाए लक्खारामो दीसइ (वि० ती० क० पृ० ९)।

अर्थात् पूर्वकाल में गुर्जर भूमिपति चौलुक्य राजा जयसिंहदेव ने जूनागढ़ के राजा राखेंगार को मारकर दण्डाधिपति सज्जन को वहीं का शासक नियुक्त किया। सज्जन ने विक्रम संवत् ११८५ में भगवान् नेमिनाथ का नया भवन बनवाया, बाद में मालव भूमिभूषण साधु भावड ने उस पर सुवर्णमय आमलसारक बनवाया।

चौलुक्य चक्रवर्ती श्री कुमारपाल देव नियुक्ति श्री श्रीपाल कुलोत्पन्न सौराष्ट्र दण्डाधिपति ने विक्रम संवत् १२२० में उज्जयंत पर्वत पर चढ़ने के लिए सोपानमय मार्ग करवाया और उसके पुत्र धवल ने सोपान मार्ग में प्याऊ बनवाई। इस पद्या मार्ग से ऊपर चढ़ने वाले यात्रिक जनों को दक्षिण दिशा में लक्षाराम नामक उद्यान दीखता है।

इन कल्पों के अतिरिक्त उज्जयंत तीर्थ के साथ संबंध रखने वाले अनेक स्तुति स्तोत्र भी भिन्न-भिन्न कवियों के बनाये हुए जैन ज्ञान भाण्डागारों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें से थोड़े से श्लोक नीचे उद्धृत करके इस तीर्थ का वर्णन समाप्त करेंगे—

योजनद्वयतुंगेऽस्य शृंगे जिनगृहावलिः।
पुण्यराशिरिवाभाति शरच्चन्द्रा सुनिर्मला ॥४॥
सौवर्णदंडकलशामलसारकशोभितम्।
चारुचैत्यं चकास्त्यस्योपरि श्रीनेमिनःप्रभु ॥५॥
श्री शिवासूनुदेवस्य पादुकात्र निरीक्षता।
स्पृष्टार्ऽच्चिता च शिष्टानां पाप-व्यूहं व्यपोहति ॥६॥
प्राप्यराज्यं परित्यज्य जर-तृणामिव प्रभुः।
बन्धान् विधूय च स्निग्धान् प्रपेदेऽत्रमहाव्रतम् ॥७॥
अत्रैव केवलं देवः स एव प्रतिलब्धवान्।
जगज्जनहितैषी स पर्यणैषीच्च निर्वृतिम् ॥८॥

अर्थात् इस उज्जयंत गिरि के दो योजन ऊँचे शिखर बनवाने वालों की निर्मल पुण्य राशि की सी चन्द्रकिरण जैसी उज्ज्वल जिनमंदिरों की पंक्ति सुशोभित है। इसी शिखर पर सुवर्णमय दण्ड, कलश तथा आमलसारक से सुशोभित भगवान् नेमिनाथ का सुन्दर चैत्य दृष्टिगोचर हो रहा है। यहीं पर प्रतिष्ठित शैवेयजिन की चरण पादुका दर्शन, स्पर्शन और पूजन से भावुक यात्रिगण के पाप को दूर करती है। यहीं पर जीर्णतिनके की तरह समृद्ध राज्य तथा विशाल कुटुम्ब का त्याग कर भगवान् नेमिनाथ ने महाव्रत धारण किये थे। यहीं पर भगवान् केवलज्ञानी हुए तथा जगतहित चिन्तक भगवान् नेमिनाथ ने यहीं से निर्वाण पद पाया।

छंद :—अतएवात्र कल्याणत्रय मन्दिरमादधे।
श्री वस्तुपालो मन्त्रीशश्चमत्कारित भव्यहृत ॥९॥
जिनेन्द्रबिम्बपूर्णेन्द्रमण्डपस्था जना इह।
श्रीनेमेर्मज्जनं कर्तुमिन्द्रा इव चकासति ॥१०॥
गजेन्द्रपदनामास्य कुण्डं मण्डयते शिरः
सुधाविधैर्जलैः पूर्णं स्नानाहत्स्नपन क्षमं ॥११॥
शत्रुंजयावतारेत्र वस्तुपालेन कारिते
ऋषभः पुण्डरीकोऽष्टापदो नन्दीश्वरस्तथा ॥१२॥

सिंहयाना हेमवर्णा सिद्ध बुद्ध सुतान्विता ।
कम्राम्रलुम्बिभृत् पाणीऽत्राम्बा संघविघ्नहृत् ॥१३॥

(वि० ती० क० पृ० ७)

यहाँ पर भगवान् के तीन कल्याणक होने के कारण से ही मंत्रीश्वर वस्तुपाल ने सज्जनों के हृदय को चमत्कृत करने वाला तीन कल्याणक मन्दिर बनवाया। जिन प्रतिमाओं से भरे इस इन्द्र मण्डप में रहे हुए, भगवान् नेमिनाथका स्नपन कराने वाले पुरुष इन्द्र की शोभा पाते हैं। इस पर्वत की चोटी को गजेन्द्रपद नामक कुण्ड, जो अमृत जैसे जल से भरा और स्नपनीय जिन प्रतिमाओं का स्नपन कराने में समर्थ है, भूषित कर रहा है। यहाँ वस्तुपाल द्वारा कारित शत्रुंजयावतार बिहार में भगवान् ऋषभदेव, गणधर पुण्डरीक स्वामी, अष्टापद चैत्य तथा नन्दीश्वर चैत्य, यात्रियों के लिये दर्शनीय स्थल हैं। इस पर्वत पर सुवर्ण की सी कान्तिवाली, सिंहवाहन पर आरूढ़, सिद्ध-बुद्ध नामक अपने पूर्वभविक दो पुत्रों को साथ लिये, कमनीय आम की लुम्ब जिसके हाथ में है, ऐसी अम्बादेवी यहाँ रहती हुई संघ के विघ्नों का विनाश करती है।

उज्जयंत तीर्थ संबंधी उक्त प्रकार के पौराणिक तथा ऐतिहासिक वृत्तान्त बहुतेरे मिलते हैं, परन्तु उनके विवेचन का यह योग्य स्थल नहीं, हम इसका विवेचन यहीं समाप्त करते हैं।

(३) गजाग्रपद तीर्थ

गजाग्रपद भी आचारांग निर्युक्ति निर्दिष्ट तीर्थों में से एक है, परन्तु वर्तमान काल में व्यवच्छिन्न हो चुका है। इसकी अवस्थिति सूत्रों में दशार्णपुर नगर के समीपवर्ती दशार्णकूट पर बताई गई है। आवश्यकचूर्णि में भी इस तीर्थ को दशार्णदेश के दशार्णपुर के समीपवर्ती पहाड़ी तीर्थ लिखा है, और इसकी उत्पत्ति का वर्णन भी दिया है, जिसका संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

"एक समय श्रमण भगवान् महावीर दशार्ण देश में विचरते हुए अपने श्रमणसंघ के साथ दशार्णपुरके समीपवर्ती एक उपवन में पधारे। राजा दशार्णभद्र को उद्यानपालक ने भगवान् के पधारने की बधाई दी।

श्रीभगवन्त का आगमन सुनकर राजा बहुत ही हर्षित हुआ। उसने सोचा, कल ऐसी तैयारी के साथ भगवन्त को वन्दन करने जाऊँगा और ऐसे ठाट से वन्दन करूँगा जैसे ठाट से न पहले किसी ने किया होगा न भविष्य में कोई करेगा। उसने सारे नगरमें घोषणा करवा दी कि कल अमुक समय में राजा अपने सर्व परिवार के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने जावेगा, और नागरिकगण को भी उसका अनुगमन करना होगा।

राजकीय कर्मचारीगण उसी समय से नगर की सजावट, चतुरंगिणी सेना के सज्य करने तथा अन्यान्य समयोचित तैयारियाँ करने के कामों में जुट गये। नागरिकगण भी अपने-अपने घर, हाट सणगारने, रथ, यान, पालकियों को सजाने लगे।"

दूसरे दिन प्रयाण का समय आने के पहले ही सारा नगर ध्वजाओं, तोरणों, पुष्प मालाओं से सुशोभित था। मुख्य मार्गों में जल छिड़कावकर फूल बिखेरे गये थे, राजा दशार्णभद्र, उसका सम्पूर्ण अन्तःपुर और दास दासीगण अपने योग्य यानों (वाहनों) से भगवान् के वन्दनार्थ रवाना हुए, उनके पीछे नागरिक भी रथों, पालकियों आदि में बैठकर राजकुटुम्ब के पीछे उमड़ पड़े।

महावीर की धर्म सभा की तरफ जाते हुए राजाके मन में सगर्व हर्ष था। वह अपने को भगवान् महावीर का सबसे शक्तिशाली भक्त मानता था। ठीक इसी समय स्वर्ग के इन्द्र ने भगवान् महावीर के विहार-क्षेत्र को लक्ष्य करके अवधि-ज्ञान का उपयोग किया और देखा कि भगवान् दशार्णकूट पहाड़ी के निकटस्थ उद्यान में विराजमान हैं, और राजा दशार्णभद्र अद्वितीय सज-धज के साथ उन्हें वन्दना करने जा रहा है। इन्द्र ने भी इस प्रसंग से लाभ उठाना चाहा, वह अपने ऐरावत हाथी पर आरूढ़ होकर दिव्य परिवार के साथ क्षण भर में महावीरके पास आ पहुँचा। उसने तीन प्रदक्षिणा देकर दशार्णकूट पर्वत की एक लम्बी चौड़ी चट्टान पर अपना वाहन ऐरावण हाथी उतारा। दिव्य शक्ति से इन्द्र ने हाथी के अनेक दांतों पर अनेक-अनेक बावडियों में अनेक-अनेक कमल और कमलों की कर्णिकाओं पर देवप्रासाद और उनमें होने वाले बत्तीस पात्रबद्ध नाटकों के अद्भुत दृश्य दिखलाकर राजा की शक्ति और सजावट को निस्तेज बनाकर उसके अभिमान को नष्ट कर दिया। राजा ने

देखा इन्द्र की शक्ति के सामने मेरी शक्ति नगण्य है। भला सूर्यप्रकाश के सामने छोटा सा सितारा कैसे चमक सकता है ? उसने अपने पूर्व भव के धर्म कृत्यों की न्यूनता जानी और भगवान् महावीर का वैराग्यमय उपदेशामृत पाकर संसार का मोह छोड़ कर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया।

दशार्णकूट की जिस विशाल शिला पर इन्द्र का ऐरावत खड़ा था, उस शिला में उसके अगले पगों के चिन्ह सदा के लिये बन गये। बाद में भक्तजनों ने उन चिन्हों पर एक बड़ा जिन चैत्य बनवाकर उसमें भगवान् महावीरकी मूर्ति प्रतिष्ठित करवाई, तब से इस स्थान का नाम "गजाग्रपद" तीर्थ सदा के लिये अमर हो गया। आज यह 'गजाग्रपद' तीर्थ भूला जा चुका है। यह स्थान भारत भूमि के किस प्रदेश में था यह भी निश्चित रूप से कहना कठिन है, फिर भी हमारे अनुमान के अनुसार मालवा के पूर्व में और आधुनिक बुन्देलखण्ड के प्रदेश में कहीं होना सम्भवित है।

(४) धर्मचक्र तीर्थ

आचारांग निर्युक्ति सूचित चौथा "धमचक्रतीर्थ" है। इस तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण आवश्यक निर्युक्ति तथा उसकी प्राचीन प्राकृत टीका में नीचे लिखे अनुसार मिलता है :—

कल्लं सव्विड्ढीए पूए महऽदट्ठु धम्मचक्कं तु।
विहरइ सहस्समेगं छउमत्थो भारहे वासे ॥३३५॥

अर्थात् भगवान् ऋषभदेव हस्तिनापुर से विहार करते हुए पच्छिम में बहली प्रदेश की राजधानी तक्षशिला[१] के उद्यान में पधारे। वनपालक ने राजा बाहुवल को भगवान् के आगमन की बधाई दी। राजा ने सोचा कल सर्वऋद्धि विस्तार के साथ भगवान् की पूजा करूँगा। राजा बाहुबल दूसरे दिन बड़े ठाट बाट से भगवान् की तरफ गया, परन्तु उसके जाने के पूर्व ही भगवान् वहाँ से विहार कर चुके थे। अपने पूज्य पिता ऋषभ को निवेदित स्थान तथा उसके आस पास न देखकर बाहुबलि बहुत ही खिन्न हुआ, और वापिस लौटकर भगवान् रात भर जहाँ ठहरे थे, उस स्थान पर एक बड़ा गोल चक्राकार स्तूप बनवाया और उसका नाम धर्मचक्र दिया, भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थावस्था में एक हजार वर्ष तक विचरे।

आवश्यकनिर्युक्ति गाथा के विवरण में चूर्णिकार ने धर्मचक्र के संबंध में जो विशेषता बताई है वह निम्नलिखित है :—

"जहाँ भगवान् ठहरे थे उस स्थान पर सर्व रत्नमय, एक योजन परिधिवाला, जिस पर पाँच योजन ऊँचा ध्वजदण्ड खड़ा है, धर्मचक्र का चिन्ह बनवाया"।

बहली अंडवइला जोणग विसओ सुवण्ण भूमि अ।
आहिंडिआ भगवआ उसभेण तवं चरंतेण ॥३३६॥
बहली अ जोणग पल्लहगा य जे भगवआ समणुसिट्ठा।
अन्ने च मिच्छजाई ते तइआ भद्दया जाया ॥३३७॥
तित्थयराणं पढमो उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो।
अट्ठावओ एगवरो अग्ग (य) भूमि जिणवरस्स ॥३३८॥
छउमत्थप्परिआसो वाससहस्सं तओ पुरिमताले।
एगोहस्स य हेट्ठा उप्पण्णं केवलं नाणं ॥३३९॥
फग्गुण बहुले एक्कारसीइ अह अट्ठमेण भत्तेणं।
उप्पण्णम्मि अणंते महव्वयापंच पण्णवए ॥३४०॥

अर्थात् बहली (बल्ख-बाल्तरिया) अंडव-इला (अटक प्रदेश) यवन (यूनान) देश और सुवर्ण भूमि (ब्रह्म-प्रदेश) इन देशों में भगवान् ऋषभ ने तपस्वी जीवन में भ्रमण किया। बल्ख, यवन, पल्हग देशवासी भगवान् के अनुशासन से क्रौर्य का त्यागकर भद्रपरिणामी बने। तीर्थंकरों में आदि तीर्थंकर ऋषभ मुनि, सर्वत्र निरुपसर्गता से विचरे आदि। जिनकी अग्र-

---

१—आधुनिक पच्छिम पंजाब के रावलपिण्डी जिले में "शाह की ढेरी" नाम से जो स्थल प्रसिद्ध है वही प्राचीन तक्षशिला थी, ऐसा शोधकों ने निर्णय किया है।

विहार भूमि अष्टापद पर्वत बना रहा, अर्थात् पूर्व पश्चिम भारत के देशों में घूमकर, मध्य भारत में आते तब बहुधा अष्टापद पर्वत पर ही ठहरते। भगवान् ऋषभजिन का छद्मस्थ पर्याय (तपस्वी जीवन) हजार वर्ष तक बना रहा, बाद में आपको पुरिमताल नगर के वट वृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए केवलज्ञान प्रकट हुआ। उस समय आपने तीन निर्जल उपवास किये थे। फाल्गुण बदी एकादशी का दिन था, इन संजोगों में अनन्त केवलज्ञान प्रकट हुआ और आपने श्रमण धर्म के पंच महाव्रतों का उपदेश किया।

धर्मचक्र को बाहुबलि ने ऋषभदेव के स्मारक के रूप में बनवाया था, परन्तु कालान्तर में उस स्थान पर जिनचैत्य बनकर जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुईं, और इस स्मारक ने एक महान् तीर्थ का रूप धारण किया। प्रतिष्ठित जिनचैत्यों में चन्द्रप्रभ नामक आठवें तीर्थंकर का चैत्य प्रधान था, इस कारण से इस तीर्थ ने चन्द्रप्रभ के साथ अपना नाम जोड़ दिया और लम्बे काल तक वह इसी नाम से प्रसिद्ध रहा। महानिशीथ नामक जैन सूत्र में इसका वृत्तान्त मिलता है, जिसमें से थोड़ा सा अवतरण यहाँ देना योग्य समझते हैं—

अहन्नया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भण्णंति जहा णं जई भयवं तुमं आणवेही ताणं अम्हेहिं तित्थयत्तं करि (र) य तेणायरियेएं चंदप्पहसामियं वंदिया धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो ताहे गोयमा अदीण मनसा अएत्तालं गम्भीर महुराए भारतीए भणियं तेणायरियेणं जहा इच्छायारेणं न कप्पई तित्थयत्तं गंतुं सुविहियाएं ता जावएं बोलेइ जत्तं तावणं अहं तुम्हें चंदप्पहं वंदावेहामी। अन्नं च जत्ताए गएहिं असंजमे पडिज्जइ एएणं कारणेणं तित्थयत्ता पडिसेहिज्जइ।

अर्थात् (भगवान् महावीर कहते हैं) हे गौतम! अन्य समय वे साधु उस आचार्य को कहते हैं, भगवन्! यदि आप आज्ञा करें तो हम तीर्थयात्रा करने तथा चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन करने धर्मचक्र जाकर आजावें। तब हे! गौतम! उस आचार्य ने दृढ़ मन से सोच कर गम्भीर वाणी से कहा—जैसे इच्छाकार से सुविहित साधुओं को तीर्थ यात्रा[1] को जाना नहीं कल्पता, इस वास्ते जब यात्रा बीत जावेगी तब मैं तुम्हें चन्द्रप्रभ का वन्दन करा दूंगा। दूसरा कारण यह भी है तीर्थ यात्राओं के प्रसंगों पर साधुओं को तीर्थ पर जाने से असंयम मार्ग में पड़ना पड़ता है, इसी कारण से साधुओं के लिए यात्रा निषिद्ध की जाती है।

तक्षशिला का धर्मचक्र बहुत काल पहले से ही जैनों के हाथ से चला गया है। इसके कारण दो हैं। विक्रम की दूसरी तथा तीसरी शताब्दी में बौद्ध धर्म का पर्याप्त प्रचार हो चुका था, यही नहीं तक्षशिला विश्वविद्यालय में हजारों बौद्ध भिक्षुक तथा उनके अनुयायी छात्रगण विद्याध्ययन करते थे। इसी कारण से तक्षशिला तथा पुरुषपुर (पेशावर) के प्रदेशों में हजारों की संख्या में बौद्ध उपदेशक घूम रहे थे। इसके अतिरिक्त शशोनियन लोगों के भारत पर होने वाले आक्रमण की जैन संघ को पहले ही सूचना मिल चुकी थी, आज से तीसरी वर्ष में तक्षशिला का भंग होने वाला है, इससे जैन संघ धीरे-धीरे तक्षशिला से पंजाब की तरफ आ गया था। कुछ लोग दक्षिण की तरफ पहुँच कर जल मार्ग से कच्छ तथा सौराष्ट्र तक चले गये। जाने वाले लोग अपनी धन-सम्पत्ति को ही नहीं, अपनी पूज्य देव मूर्त्तियों तक को वहाँ से हटा ले गये थे। इस दिशा में अरक्षित जैन स्मारकों तथा मन्दिरों पर बौद्ध धर्मियों ने अपना अधिकार कर लिया। तक्षशिला का धर्मचक्र जो चन्द्रप्रभ का तीर्थ माना जाता था उसको भी बौद्धों ने अपना लिया था, और उसे बोधिसत्व चन्द्रप्रभ का प्राचीन स्मारक होना उद्घोषित किया।

१—यहाँ यात्रा शब्द तीर्थ पर होने वाले मेले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। महानिशीथ में ही नहीं, अन्य सूत्रों में भी जैन श्रमणों को तीर्थयात्रा के लिये भ्रमण करना वर्जित किया है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में लिखा है :—उत्तरावहे धमचक्कं मथुराए देव णिम्मिओ थूहो। कोसलाए वा जियंत पडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमियो एवमादि कारणेहिं गच्छन्तो णिक्कारणितो (२४३–२) अर्थात् उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देव निर्मित स्तूप, अयोध्या में जीवन्त स्वामी प्रतिमा, अथवा तीर्थंकरों की जन्मभूमियों इत्यादि कारणों से देश भ्रमण करने वाला साधु निष्कारिणिक कहलाता है। उक्त महानिशीथ के प्रमाण से मेले के प्रसंग पर तीर्थ पर जाना साधुओं के लिए वर्जित है। परन्तु निशीथ आदि आगमों के प्रमाणों से केवल तीर्थ दर्शनार्थ भ्रमण करना ही जैन श्रमण के लिये निषिद्ध बताया है। जैन श्रमण के लिए सकारण देश भ्रमण करना विहित है, और उस प्रमाण में आने वाली तीर्थ मूर्तियों का दर्शन वन्दन करना आगम विहित है।

बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग जो कि विक्रम की सातवीं शती में भारत में आया था, अपने भारत-यात्रा विवरण में लिखता है-"यहाँ पर पूर्वकाल में बोधिसत्व चंद्रप्रभ ने अपना मांस प्रदान किया था, जिसके उपलक्ष्य में मौर्य सम्राट् ने उसका यह स्मारक बनवाया है।

उक्त चीनी यात्री के उल्लेख से यह तो निश्चित हो जाता है कि धर्मचक्र विक्रम की सातवीं शती के पहले ही जैनों के हाथ से चला गया था। निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि शशेनियन लोग जो ईसा की तीसरी शती में आक्रामक बनकर तक्षशिला के मार्ग से भारत में आये, उस समय के लगभग ही धर्मचक्र में बौद्धों का स्मारक बन चुका होगा।

५—अहिच्छत्रापार्श्वनाथ

आचारांग निर्युक्ति सूचित पार्श्व-अहिच्छत्रा नगरी स्थित पार्श्वनाथ है। भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रजित होकर तपस्या करते हुए एक समय कुरु जंगल देश में पधारे। वहाँ शंखावती नगरी के समीपवर्ती एक निर्जन स्थान में आप ध्यान निमग्न खड़े थे, तब उनके पूर्वभव के विरोधी कमठ नामक असुर ने आकाश से घनघोर जल बरसाना प्रारम्भ किया। बड़े जोरों की वृष्टि हो रही थी। कमठ की इच्छा यह थी कि पार्श्वनाथ को जलमग्न करके इनका ध्यान भंग किया जाय। ठीक इसी समय धरणेन्द्र नागराज भगवान् को वन्दन करने आया और भगवान् पर मूसलाधार वृष्टि होती देखी। धरणेन्द्र ने भगवान् के ऊपर अपने फन को छत्र रूप से तान दिया और इस अकाल वृष्टि करने वाले कमठ का पता लगाया। यही नहीं उसे ऐसे जोरों से धमकाया कि तुरन्त उसने अपने दुष्कृत्यको बन्द किया, और भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में सिर नमाकर उसने धरणेन्द्र से माफी माँगी। जलोपद्रवके शान्त होने पर, नागराज धरणेन्द्र ने अपनी दिव्य शक्तिके प्रदर्शन द्वारा भगवान् की बहुत महिमा की। उस स्थान पर कालान्तर में भक्त लोगों ने एक बड़ा जिन-प्रासाद बनवाकर उसमें पार्श्वनाथ की नागफण—छत्रालंकृत प्रतिमा प्रतिष्ठित की। जिस नगरी के समीप उपर्युक्त घटना घटी थी, वह अहिच्छत्रानगरी के नाम से प्रसिद्ध हो गई।

"अहिच्छत्रा विषयक विशेष वर्णन सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता, परन्तु जिनप्रभसूरि ने "अहिच्छत्रा नगरी" कल्प में इस तीर्थ के संबंध में कुछ विशेष बातें कहीं हैं, जिनमें से कुछ एक नीचे दी जाती हैं—

(अहिच्छत्रा) पार्श्व जिन चैत्य की पूर्व दिशा भाग में सात मधुर जल के कुण्ड अब भी विद्यमान् हैं। इन कुण्डों के जल में स्नान करने वाली मृतवस्था स्त्रियों (निंदूओ) की प्रजा स्थिर (जीवित) रहती है। उन कुण्डों की मिट्टी से धातु–वादी लोग सुवर्ण सिद्धि होना बताते हैं।"

"पार्श्वनाथ की यात्रा करने आये हुए यात्रिक गण भी जब भगवान् का स्वप्न महोत्सव करते हैं, उस समय कमठ दैत्य यहाँ पर प्रचण्ड पवन, वृष्टि, बादलों की गड़गड़ाहट और विद्युत् की चमक द्वारा दुर्दिन कर देता है"।

"मूल चैत्य से थोड़ी दूर पर सिद्धक्षेत्र में धरणेन्द्र पद्मावती सेवित पार्श्वनाथ का मन्दिर बना हुआ है।"

"नगर के दुर्ग के समीप नेमिनाथ की मूर्ति से सुशोभित सिद्ध-बुद्ध नामक दो बालक रूपकों से समन्वित हाथ में आम्रफलों की डाली लिये सिंह पर आरूढ़ अम्बिका देवी की मूर्ति प्रतिष्ठित है।"

"यहाँ उत्तरा नामक एक निर्मल जल से भरी बावड़ी है, जिसके जल में नहाने तथा उसकी मिट्टी का लेप करने से कोढ़ियों का कोढ़ रोग शान्त हो जाता है।"

"यहाँ के धन्वन्तरि नामक कुएँ की पीली मिट्टी से आमनाय वेदियों के उपदेशानुसार प्रयोग करने से सोना बनता है।"

"यहाँ ब्रह्म कुण्ड के किनारे मण्डूक पर्णी ब्राह्मी पत्तों का चूर्ण एकवर्णी गाय के दूध के साथ सेवन करने से मनुष्य की बुद्धि और निरोगता बढ़ती है, और उसका स्वर गन्धर्व का-सा मधुर बन जाता है।"

"बहुधा अहिच्छत्रा के उपवनों में सभी वृक्षों पर बन्देक (चंदया) उगे हुए मिलते हैं, जो अमुक-अमुक कार्य साधक होते हैं। यही नहीं वहाँ के उपवनों में जयन्ती, नागदमणी, सहदेवी, अपराजिता, लक्ष्मणा, त्रिपर्णी, नकुली, सकुली, सर्पाक्षी, सुवर्णशिला, मोहनी, श्यामा, रविभक्ता (सूर्यमुखी), निर्विषी, मयूरशिखा, शल्या, विशल्यादि अनेक महौषधियाँ मिलती हैं।"

"अहिच्छत्रा में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, चण्डिकादि के मन्दिर तथा ब्रह्मकुण्ड आदि अनेक लौकिक तीर्थस्थान भी बने हुए हैं। यह नगरी सुगृहीत नामधेय कण्वऋषि की जन्मभूमि मानी जाती है।"

उपर्युक्त अहिच्छत्रा तीर्थस्थान वर्तमान में कुरु देश के किसी भूमिभाग में खण्डहरों के रूप में भी विद्यमान है या नहीं, इसका विद्वानों को पता लगाना चाहिए।

६—रथावर्त पर्वत तीर्थ

प्राचीन जैन तीर्थों में रथावर्त पर्वत को निर्युक्तिकार ने छठे नम्बर पर रखा है। यह पर्वत आचारांग टीकाकार शीलांक सूरि के कथनानुसार अन्तिम दश-पूर्वधर आर्य वज्र स्वामी के स्वर्गवास का स्थान था। पिछले कतिपय लेखकों का मन्तव्य है कि वज्रस्वामी के अनशनकाल में इन्द्र ने आकर रथ में बैठकर इस पर्वत की प्रदक्षिणा की थी, जिससे इसका नाम 'रथावर्त' पड़ा था। परन्तु यह मन्तव्य हमारी राय में प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि आर्य वज्रस्वामी के अनशन का समय विक्रमीय प्रथम शताब्दी का अन्तिम भाग है, जबकि आचारांग निर्युक्तिकार श्रुतधर भद्रबाहु स्वामी आर्य वज्रस्वामी से सैकड़ों वर्ष पहले हो गए हैं। इससे पर्वत का रथावर्त यह नाम भद्रबाहु स्वामी के पूर्व काल का है इसमें शंका को स्थान नहीं।

रथावर्त पर्वत किस भूप्रदेश में था, इस बात का विचार करते समय हमें आर्य वज्रस्वामी के अंतिम समयके विहारक्षेत्र पर विचार करना होगा। आर्यवज्र स्वामी अपनी स्थविर अवस्था में सपरिवार मालव देश में विचरते थे, ऐसा जैन-ग्रंथों के उल्लेखों से जाना जाता है। उस समय भारत में बड़ा भारी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष प्रारम्भ हो चुका था। साधुओं को भिक्षा मिलना तक कठिन हो गया था। एक दिन तो स्थविर वज्रस्वामी ने अपने विद्याबल से आहार मँगवाकर साधुओं को दिया, और कहा बारह वर्ष तक इसी प्रकार विद्यापिण्ड से शरीर निर्वाह करना होगा, इसप्रकार जीवन-निर्वाह करने में लाभ मानते हों तो वैसा करें, अन्यथा अनशन द्वारा जीवन का अन्त कर दें। श्रमणों ने एक मत से अपनी राय दी कि इस प्रकार दूषित आहार द्वारा जीवन निर्वाह करने से तो अनशन से देह त्याग करना ही अच्छा है। इस पर विचार करके आर्य वज्रस्वामी ने अपने एक शिष्य वज्रसेन मुनि को थोड़े से साधुओं के साथ कोंकण प्रदेश में विहार करने की आज्ञा दी, और कहा जिस दिन तुमको एक लक्ष सुवर्ण से निष्पन्न भोजन मिले तब जानना कि दुर्भिक्ष का अंतिम दिन है। उसके दूसरे ही दिन से अन्न संकट हलका होने लगेगा। अपने गुरुदेव की आज्ञा सिर चढ़ाकर वज्रसेन मुनि ने कोंकण देश की तरफ विहार किया और वज्रस्वामी ने पाँच सौ मुनियों के साथ रथावर्त पर जाकर अनशन धारण किया।

वज्रस्वामी के उपर्युक्त वर्णन से जाना जा सकता है कि वज्रसेन के विहार करने पर स्वामीजी स्वयं भी तुरंत वहाँ से अनशन के लिये रवाना हो गये हैं, और निकट प्रदेश में ही रहते हुए रथावर्त पर्वत पर अनशन किया। प्राचीन विदिशा नगरी (आज का भिलसा) के समीप पूर्व काल में 'कुंजरावर्त' तथा 'रथावर्त नामक दो पहाड़ियां थीं। वज्रस्वामी ने इसी रथावर्त नामकपर्वत पर अनशन किया होगा, और यही रथावर्त पर्वत जैनों का प्राचीन तीर्थ रहा होगा, ऐसा हमारा मत है।

७—चमरोत्पात

भगवान् महावीर छद्मावस्था के बारहवें वर्ष में वैशाली की तरफ से विहार करते हुए सुंसुमारपुर नामक स्थान के निकटवर्ती उपवन में अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ थे, तब चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र वहाँ आया और महावीर की शरण लेकर स्वर्ग के इन्द्र शक्र पर चढ़ाई करने गया और सुधर्मा सभा के द्वार तक पहुँचकर शक्र को डराने-धमकाने लगा। शक्रेन्द्र ने भी चमरेन्द्र को मार भगाने के लिए अपना वज्रायुद्ध उसकी तरफ फेंका। आग की चिनगारियों को उगलते हुए वज्र को देख कर चमर जिस रास्ते से आया था उसी रास्ते से भागा। शक्र ने सोचा चमरेन्द्र यहाँ तक किसी भी महर्षि तपस्वी की शरण लिये बिना नहीं आ सकता, देखें यह किसकी शरण लेकर आया है। इन्द्र ने अवधि ज्ञान से जाना कि चमर महावीर का शरणागत बनकर आया है, और वहीं जा रहा है। वह तुरन्त वज्र को पकड़ने दौड़ा। चमरेन्द्र अपना शरीर सूक्ष्म बनाकर भगवान् महावीर के शरणों के बीच घुसा, वज्र प्रहार होने के पहले ही इन्द्र ने वज्र को पकड़ लिया। इस घटना से सुंसुमारपुर और उसके आसपास के गाँवों में सनसनी फैल, गई लोगों के झुण्ड के झुण्ड घटनास्थल पर आये और घटना की वस्तु स्थिति को जानकर भगवान् महावीर के शरणों में झुक पड़े। भगवान् महावीर तो वहाँ से विहार कर गयें, परन्तु लोगों के हृदय में उनके शरणागत रक्षकत्व की छाप सदा के लिए रह गई, और घटनास्थल पर एक स्मारक बनवाकर शरणागत-वत्सल

भगवान् महावीर की मूर्ति प्रतिष्ठित की। उस प्रदेश के श्रद्धालु लोग उसे बड़ी श्रद्धा से पूजते तथा कार्यार्थी यात्रिक गण सार्थवाह आदि अपनी यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिये भगवान् की शरण लेकर आगे बढ़ते थे। यही भगवान् महावीर का स्मारक मन्दिर आगे जाकर जैनों का चमरोत्पात[1] नामक तीर्थ बन गया, जिसका श्रुत केवली भद्रबाहु स्वामी ने आचारांग निर्युक्ति में स्मरण-वन्दन किया है।

चमरोत्पात तीर्थ आज हमारे विच्छिन्न (भूले हुए) तीर्थों में से एक है। यह स्थान आधुनिक मिर्जापुर जिले के एक पहाड़ी प्रदेश में था, ऐसा हमारा अनुमान है।

८—शत्रुंजय तीर्थ

शत्रुंजय आज हमारा सर्वोत्तम तीर्थ माना जाता है, इसका महात्म्य गाने में शत्रुंजय महात्म्यकार ने कुछ कसर बटा नहीं रखी। यह पर्वत भगवान् ऋषभ देव का मुख्य विहार-क्षेत्र और भरत चक्रवर्ती का सुवर्णमय चैत्य निर्माण का स्थान माना गया है। परन्तु हमारे प्राचीन साहित्य, सूत्रादि में इसका विशेष विवरण नहीं मिलता। ज्ञाताधर्मकथांग के सोलहवें अध्ययन में पाँच पाण्डवों के शत्रुंजय पर अनशन कर निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्तकृद्दशांग सूत्र में भगवान् नेमिनाथजी के अनेकों साधुओं के शत्रुंजय पर्वत पर तपस्या द्वारा मुक्ति पाने का वर्णन मिलता है। इससे इतना तो सिद्ध है कि शत्रुंजय पर्वत हजारों वर्षों से जैनों का सिद्ध क्षेत्र बना हुआ है, और यह स्थान भगवान् ऋषभदेव का विहार स्थल न मानकर नेमिनाथ का तथा उनके श्रमणों का विहार क्षेत्र मानना विशेष उपयुक्त होगा।

आवश्यक निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि आदि से यह प्रमाणित होता है कि भगवान् ऋषभदेव उत्तर, पूर्व और पश्चिम भारत के देशों में ही विच थे। दक्षिण भारत में अथवा सौराष्ट्र भूमि में वे कभी नहीं पधारे। जैन शास्त्रोक्त भारतवर्ष के नक्शे के अनुसार आज का सौराष्ट्र ऋषभदेव के समय में जलमग्न होगा अथवा तो एक अन्तरीप होगा। इसके विपरीत नेमिनाथ के समय में यह सौराष्ट्र भूमि समुद्र के बीच होते हुए भी मनुष्यों के बसने योग्य हो चुकी थी। इसी कारण से जरासंध के आतंक से बचने के लिये यादवों ने इस प्रदेश का आश्रय लिया था, तथा इन्द्र के आदेश से उनके लिये कुबेर ने वहाँ द्वारिका नगरी का निवेश किया था। भगवान् नेमिनाथ ने उसी द्वारिका के बाहर रैवतक पर्वत के समीप प्रव्रज्या ली थी, और बहुधा इसी प्रदेश में विचरे। इस वास्तविक स्थिति को दृष्टि में रखते हुए सौराष्ट्र प्रदेश तथा उज्जयंत (गिरनार) और शत्रुंजय पर्वत भगवान् नेमिनाथ के विहार-क्षेत्र मानेंगे तो हम वास्तविकता के अधिक समीप रहेंगे।

९—मथुरा का देव निर्मित स्तूप

मथुरा के देव निर्मित स्तूप का यद्यपि मूल आगमों में उल्लेख नहीं मिलता, तथापि छेद-सूत्रों तथा अन्य सूत्रों के भाष्य, चूर्णि आदि में इसके उल्लेख मिलते हैं। इसकी उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि मथुरा नगरी के बाहर वन में एक क्षपक (तपस्वी जैन साधु) तपस्या कर रहा था। उसकी तपस्या और संतोष वृत्ति से वहाँ की वन देवता उसकी विनम्र भक्त बन गई। प्रति-दिन वह साधु को वन्दना करती और कहती मेरे योग्य सेवा कार्य कहना। क्षपक कहता मुझे तुम जैसी अविरत देवी से कुछ कार्य नहीं। देवी जब भी क्षपक को सेवा कार्य के लिए पूछती तो क्षपक भी अपनी तरफसे वही उत्तर देता था। एक समय देवी के मन में आया तपस्वी बार-बार मुझे कोई कार्य न होने को कहा करते हैं, तो अब ऐसा कोई उपाय करूँ ताकि यह मेरी सहायता पाने के इच्छुक बने। उसने मथुरा के निकट एक बड़े विशाल चौक में रात भर में एक बड़ा स्तूप खड़ा कर दिया, दूसरे दिन उस स्तूप को जैन तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी अपना-अपना मानकर उस पर कब्जा करने के लिए तत्पर हुए। जैन लोग स्तूप को अपना बताते थे, तथा बौद्ध अपना। स्तूपमें लेख अथवा किसी सम्प्रदाय की देवमूर्ति न होने के कारण उसने जैन बौद्धों के बीच झगड़ा खड़ा कर दिया। परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों के नेता न्याय के लिए राजा के पास पहुँचे, और स्तूप का कब्जा दिलाने की प्रार्थना की। राजा तथा उनका न्याय-विभाग स्तूप जैनों का है अथवा बौद्धों का, इसका निर्णय नहीं दे सके।

---

१ —चमरेन्द्र के शकेन्द्र पर चढ़ाई करने के विषय पर भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन मिलता है। परन्तु उसमें चमरोत्पात के स्थल पर स्मारक बनने और तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने की सूचना नहीं है। मालूम होता है भगवान् महावीर के प्रवचन का संकलन होने के समय तक वह स्थान जैन-तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध नहीं हुआ था।

जैन संघ ने अपने स्थान में मिलकर विचार किया कि यह स्तूप दिव्य शक्ति से बना है, और देवसहाय्य से ही किसी सम्प्रदाय का कायम हो सकेगा। संघ में देव सहायता किस प्रकार प्राप्त की जाय, इस बात पर विचार करते समय जानने वालों ने कहा, वन में अमुक क्षपक के पास वन देवता आया करती हैं, अतः क्षपक द्वारा उस देवता से स्तूप प्राप्ति का उपाय पूछना चाहिये। संघ में सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि दो साधु क्षपक मुनि के पास भेजकर उनके द्वारा इस विषय में वन देवता की सहायता माँगी जाय।

प्रस्ताव के अनुसार श्रमण युगल क्षपक मुनि के पास गया और उन्हें संघ के प्रस्ताव से वाकिफ किया। क्षपकने भी यथा-शक्ति संघ का कार्य सम्पन्न करने का आश्वासन देकर आये हुए मुनियों को वापिस बिदा किया।

नित्य नियमानुसार वन देवता क्षपक के पास आयी और वन्दन पूर्वक सेवा कार्य संबंधी नित्य की प्रार्थना दोहरायी। क्षपक ने पूछा एक कार्य के लिये तुम्हारी सलाह आवश्यक है। देवता ने कहा वह कार्य क्या है? क्षपक बोले महीनों से मथुरा के देव निर्मित स्तूप के संबंध में जैन, बौद्धों के बीच झगड़ा चल रहा है, राजा का न्यायाधिकरण भी परेशान हो रहा है, पर इसका निर्णय नहीं हो रहा है। मैं चाहता हूँ कि तुम कोई ऐसा उपाय बताओ और सहायता करो कि यह स्तूप संबंधी झगड़ा तुरंत मिटे और स्तूप जैन सम्प्रदाय का प्रमाणित हो।

वन देवता ने कहा—तपस्वीजी महाराज! आज मेरी सेवा की आवश्यकता हुई न? तपस्वी बोले—अवश्य यह कार्य तो तुम्हारी सहानुभूति से सिद्ध हो सकेगा।

देवी ने कहा—आप अपने संघ से सूचित करें कि वह पुनः राज सभा में यह प्रस्ताव उपस्थित करें, यदि स्तूप पर स्वयं श्वेत ध्वज फरकने लगे तो स्तूप जैनों का समझा जाय और लाल ध्वज फरकने पर बौद्धों का।

क्षपक ने मथुरा जैन संघ के नेताओं को अपने पास बुलाकर वन देवतोक्त प्रस्ताव की सूचना की। संघ नायकों ने न्यायाधिकरण के सामने वैसा ही प्रस्ताव उपस्थित किया। राजा तथा न्यायाधिकरणों को प्रस्ताव पसन्द आया और बौद्ध नेताओं से इस विषय में पूछा, बौद्धों ने भी प्रस्ताव को स्वीकार किया।

राजा ने स्तूप के चारों ओर रक्षक नियुक्त कर दिये। कोई भी व्यक्ति स्तूप के निकट तक न जावे इसका पूरा-पूरा प्रबन्ध किया। इस व्यवस्था और प्रस्ताव से नगर भर में एक प्रकार का कौतुक फैल गया। दोनों सम्प्रदाय के भक्तजन अपने-अपने इष्टदेवों का स्मरण कर रहे थे, तथा निष्पक्ष नागरिकजन कब रात बीते और स्तूप पर फहराती हुई ध्वजा देखें, इस चिन्ता से भगवान् भास्कर से जल्दी उदित होने की प्रार्थनाएं कर रहे थे।

सूर्योदय होने के पूर्व ही मथुरा के नागरिक हजारों की संख्या में स्तूप के इर्द-गिर्द स्तूप की ध्वजा देखने के लिये एकत्रित हो गये। सूर्य के पहले ही उनके सारथी ने स्तूप के शिखर पर दण्ड तथा ध्वज पर प्रकाश फेंका। जनता को अरुण प्रकाश में सफेद वस्त्र सा दिखाई दिया। जैन जनता के हृदय में आशा की तरंग बहने लगी। इसके विपरीत बौद्धधर्मियों के दिल-निराशा का अनुभव करने लगे। सूर्यदेव ने उदयाचल के शिखर से अपनी किरण फेंककर सबको निश्चिय करा दिया कि स्तूप के शिखर पर श्वेत ध्वजा फरक रही है। जैनधर्मियों के मुखों से एक साथ "जैनं जयतु शासनम्" की ध्वनि निकल पड़ी, और मथुरा के देव निर्मित स्तूप का स्वामित्व जैन संघ के हाथों में सौंप दिया गया।

मथुरा स्थित देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का उक्त इतिहास सूत्रों के भाष्यों, चूर्णियों और टीकाकारों के भिन्न-भिन्न वर्णनों को व्यवस्थित करके लिखा है। आचार्य जिनप्रभसूरि कृत 'मथुरा कल्प' में पौराणिक ढंग से इस स्तूप का विशेष विवरण दिया है, जिसका संक्षिप्त सार पाठक गण के अवलोकनार्थ नीचे दिया जाता है :—

श्री सुपार्श्वनाथजिन के तीर्थवर्ती धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो तपस्वी मुनि एक समय विहार करते हुए मथुरा पहुँचे। उस समय मथुरा की लम्बाई बारह योजन तथा विस्तार नव योजन परिमित था। उसके चारों तरफ दुर्ग बना हुआ था और पास में दुर्ग को नहलाती हुई यमुना नदी बह रही थी। मथुरा के भीतर तथा बाहर उनके कूप, बावडियाँ बनी हुई थीं। नगरी गृह पंक्तियों, हाट-बाजारों और देव मन्दिरों से सुशोभित थी इसकी बाह्यभाग भूमि अनेक वनों-उद्यानों से घिरी हुई थी। उपर्युक्त मुनियुगल ने मथुरा के भूतरमण नामक उद्यान में चातुर्मासिक तप के साथ वर्षा चातुर्मासिक की स्थिरता की। मुनियों के तप, ध्यान, शांति आदि गुणों से आकर्षित होकर उपवन की अधिष्ठात्री 'कुबेरा' नामक देवी उनके पास रात्रि के समय

आकर कहने लगी, "मैं आपके गुणों से बहुत ही संतुष्ट हूँ मुझसे बरदान माँगिये ।" मुनियों ने कहा हम निस्संग श्रमण हैं, हमें किसी भी पदार्थ की इच्छा नहीं । यह कहकर उन्होंने 'कुबेरा' को धर्म का उपदेश देकर जैनधर्म की श्रद्धा कराई ।

चातुर्मासकी समाप्ति के लगभग कार्तिक सुदी अष्टमी को तपस्वियों ने अपने निवास स्थान की स्वामिनी जानकर 'कुबेरा' को कहा—हे श्राविका ! चातुर्मास पूरा होने आया है, हम यहाँ से चातुर्मासकी समाप्ति होते ही विहार करेंगे । तुम जिन-देव की पूजा भक्ति तथा जैनधर्म की उन्नति में सहयोग देती रहना । देवी ने तपस्वियों को वहीं ठहरने की प्रार्थना की, परन्तु साधु का एक स्थान पर रहना आचार विरुद्ध बताकर उन्होंने उसकी प्रार्थना को अस्वीकृत कर दिया। कुबेरा ने कहा—यदि आपका यही निश्चय है तो मेरे योग्य धर्मकार्य का आदेश कीजिये, क्योंकि देव दर्शन अमोघ होता है । साधुओं ने कहा—यदि तेरा आग्रह है तो हमें संघ के साथ मेरु पर्वत पर लेजाकर जिन-चैत्यों का वन्दन करादे । देवी ने कहा--आप दो को मैं वहां ले जा सकती हूँ, मथुरा का संघ साथ में होगा तो मुझे भय है कि मिथ्या दृष्टि देव मेरे गमन में विघ्न करेंगे। साधु बोले—यदि संघ को वहाँ ले जाने की तेरी शक्ति नहीं है तो हम दो को वहाँ जाना उचित नहीं है । हम शास्त्र बल से ही मेरु पर्वत स्थित जिन चैत्यों को दर्शन वन्दन करेंगे । तपस्वियों के कथन को सुनकर लज्जित सी होकर कुबेरा बोली—भगवान् ! यदि ऐसा है तो मैं स्वयं जिन प्रतिमाओं से शोभित मेरु पर्वत का आकार यहाँ बना देती हूँ, वहाँ पर संघ के साथ आप देव वन्दन करलें । साधुओं ने देवी की बात को स्वीकार किया । तब देवी ने सुवर्णमय नानारत्नशोभित, अनेक देवपरिवारित, तोरण ध्वज मालाओं से अलंकृत जिसका शिखर छत्र-त्रय से सुशोभित है, रात-भर में ऐसा स्तूप निर्माण किया जो मेरु पर्वत की तरह तीन मेखलाओं से सुशोभित था । प्रत्येक मेखला में प्रत्येक दिशा में पंचवर्ण रत्नमय प्रतिमायें सुशोभित थीं, मूलनायक के स्थान पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का बिम्ब प्रतिष्ठित था ।

प्रभात होते ही लोग स्तूप के पास एकत्र हुए, और आपस में विवाद करने लगे । कोई कहते थे यह वासुकी नाग के लांछन वाले स्वयंभूदेव हैं, तब दूसरे कहते थे ये शेषशायी भगवान् नारायण हैं । इसी प्रकार कोई ब्रह्मा, कोई धरणेन्द्र (नागराज), कोई सूर्य तो कोई चन्द्रमा कहकर अपनी जानकारी बता रहे थे । बौद्ध कहते थे यह स्तूप नहीं किंतु 'बुद्धाण्डक' है । इस विवाद को सुनकर मध्यस्थ पुरुष कहते थे यह दिव्य शक्ति से बना है और दिव्य शक्ति से ही इसका निर्णय होगा, तुम आपस में क्यों लड़ते हो ? अपने-अपने इष्टदेव को वस्त्रपट पर चित्रित करवाकर निज-निज मण्डल के साथ ठहरो, जिसका स्तूप स्थित देव होगा उसी का चित्रपट रहेगा, शेष व्यक्तियों के पट्ट स्थित देव भाग जायेंगे । जैन संघ ने भी सुपार्श्वनाथ का चित्रपट बनवाया । बाद में अपनी-अपनी मंडलियों के साथ चित्रित चित्रपटों की पूजा करके सब धार्मिक सम्प्रदाय वाले उनकी भक्ति करते । नवम दिन की रात्रि का समय था, सभी सम्प्रदायों के भक्तजन अपने अपने पट्ट सामने रखकर अपने अपने ध्येय देव का गुणगान कर रहे थे । बराबर अर्द्ध रात्रि व्यतीत हुई, तब प्रचण्ड पवन प्रारम्भ हुआ । पवन से तृण-रेती उड़े इसमें तो बड़ी बात नहीं थी, परन्तु उसकी प्रचण्डता यहाँ तक बढ़ चली कि उसमें पत्थर तक उड़ने लगे । तब लोगों का धैर्य टूटा वे प्राण बचाने की चिन्ता से वहाँ से भागे । लोगों ने अपने अपने सामने जो देवपूजा पट्ट रखे थे, वे लगभग सबके सब प्रचण्ड पवन में विलीन हो गये, केवल सुपार्श्वनाथ का एक पट्ट वहाँ रह गया । हवा का बवंडर शान्त हुआ, लोग फिर एकत्रित हुए और सुपार्श्वनाथ का पट्ट देखकर बोले यह 'अरिहन्त' देव हैं और यह स्तूप भी इसी देव की मूर्तियों से अलंकृत है । लोग उस पट्ट को लेकर सारे मथुरा नगर में घूमे और तब से 'पट्ट यात्रा' प्रवृत्त हुई ।

इस प्रकार धर्मघोष तथा धर्मरुचि मुनि मेरु पर्वताकार देव निर्मित स्तूप में देव वन्दन कर, नया तीर्थ प्रकाश में लाकर, जैन संघ को आनन्दित कर मथुरा से विहार कर गये, और क्रमशः कर्मक्षय कर संसार से मुक्त हुए ।

'कुबेरा' देव स्तूप की तब तक रक्षा करती रही, जब तक कि पार्श्वनाथ का शासन प्रचलित हुआ ।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ विहार क्रम से मथुरा पधारे और धर्मोपदेश करते हुए भावी दुषमा काल के भावों का निरूपण किया । पार्श्वनाथ के वहाँ से विहार करने के बाद 'कुबेरा' ने संघ को बुलाकर कहा—भविष्य में कनिष्क का समय आने वाला है । कालानुमान से राजादि शासक लोग लोभग्रस्त बनेंगे, और इस स्वर्णमय स्तूप को नुकसान पहुँचावेंगे । अतः स्तूप को ईंटों के पर्दे से ढांक दिया जाय, भीतर की मूर्तियों की पूजा में अथवा मेरे बाद जो नयी 'कुबेरा' उत्पन्न होगी, वह करेगी, संघ इष्टकामय स्तूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रस्तरमय मूर्ति प्रतिष्ठित करके पूजा किया करे । देवी की बात भविष्य में लाभदायक जानकर संघ ने मान्य की और देवी ने विचारित योजनानुसार मूल स्तूप को ईंटों के स्तूप से ढांप दिया ।

इष्टकामय स्तूप पुराना हो जाने से उसमें से ईंटें निकलने लगी थीं, इसलिये संघ ने पुराने स्तूप को हटाकर नया पाषाणमय स्तूप बनवाने का निर्णय किया, परन्तु 'कुबेरा' ने स्वप्न में कहा इष्टकामय स्तूप को अपने स्थान से न हटाइये, इसको मजबूत करना हो तो ऊपर पत्थर का खोल चढ़वा दो। संघ ने वैसा ही किया। आज भी देवनिर्मित स्तूप को अदृश्य रूप से देव पूजते हैं, तथा इसकी रक्षा करते हैं। हजारों प्रतिमाओं से युक्त देवलों, रहने के स्थानों, सुन्दर गन्ध कुटी तथा चैलनिका-अम्बा, अनेक क्षेत्रपाल आदि के निकरों से यह स्तूप सुशोभित है।

पूर्वोक्त भट्टिसूरि ने जो कि ग्वालियर के राजा आम के धर्मगुरु थे, मथुरा में वि० सं० ८२६ में भगवान् महावीर का बिम्ब प्रतिष्ठित किया।

मथुरा के देव निर्मित स्तूप की उत्पत्ति का निरूपण शास्त्रीय प्रतीकों तथा 'मथुरा कल्प' के आधार से ऊपर दिया गया है। कल्पोक्त वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण हो सकता है, परन्तु एक बात तो निश्चित है कि यह स्तूप है अति प्राचीन, और भारत में विदेशियों के आने के समय यह स्तूप जैनों का एक महिमास्पद तीर्थ बना हुआ था। वर्ष के अमुक समय में वहाँ स्नान महोत्सव होता था, और उस प्रसंग पर भारतवर्ष के कोने कोने से तीर्थ यात्रिक यहाँ एकत्र होते थे, ऐसा प्राचीन साहित्य के उल्लेखों से सिद्ध होता है। इस बात के समर्थन में 'निशीथ भाष्य' की एक गाथा तथा उसकी चूर्णि का उद्धरण नीचे देते हैं :—

थूभ मह सड्ढि समणी बोहिय हरणं च निवसुयालावे।
मग्गेण य अक्कंदे कयम्मि युद्धेण मोएति॥

अर्थात् मथुरा के स्तूप महोत्सव पर जैन श्राविकायें तथा जैन साध्वियां जा रही थीं, मार्ग में बोधिक लोग उन्हें घेरकर अपने साथ ले चले। आगे जाते-जाते मार्ग के निकट आतापना करते हुए एक राजपुत्र जैन मुनि को देखा। उन्हें देखते ही यात्रार्थिनियों ने आक्रन्दन (शोर) किया, जिसे सुनकर मुनि उनकी तरफ आये और बोधिकों से युद्ध कर श्राविकाओं को उनके पंजे से छुड़ाया।

उक्त गाथा की विशेष चूर्णि नीचे लिखे अनुसार है :—

महुराए नयरीए थूभो देवनिम्मिओ तस्स महिमा निमित्तं सड्ढीतो समणीहिं समं निग्गयातो रायपुत्तो तत्थ अदूरे आयावन्तो चिट्ठइ। ता सड्ढी समणीतो बोहियेहिं गहियातो तेणं तेणं आणिया तो ता ताहि तं साहुं दट्ठूणं अक्कंदो कओ ततो रायपुत्तेण साहुणा युद्धं दाऊण मोइयातो, बोधिका अनार्य म्लेच्छाः। (नि० वि० चू० २६८–२)

चूर्णि का भावार्थ गाथा के नीचे दिये हुए अर्थ में आ चुका है, इसलिये चूर्णिकार के अंतिम शब्द 'बोधिक' पर ही थोड़ा सा ऊहापोह करेंगे।

जैन सूत्रों के भाष्यादि में 'बोहिया' शब्द बार-बार आया है। प्राचीन संस्कृत टीकाकार 'बोहिय' शब्द का संस्कृत "बोधिक" शब्द बना कर कहते हैं। बोधिक पश्चिम दिशा के म्लेच्छों को कहते हैं। प्राकृत टीकाकार कहते हैं, मनुष्यों का अपहरण करने वाले म्लेच्छ 'बोहिया' कहलाते हैं। हमारा अनुमान है कि बोधिक अथवा 'बोहिय' कहलाने वाले लोग बोहीमिया के रहने वाले विदेशी थे। वे यूनानियों के भारत पर आक्रमण के समय भारत की पश्चिम सीमा पर इधर-उधर पहाड़ी प्रदेशों में फैल गये थे। मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारत के पश्चिम तथा उत्तर प्रदेशों में घुसकर यह मनुष्यों को पकड़ पकड़ कर ले जाते और विदेशों में पहुँच कर गुलाम खरीददारों के हाथ बेच दिया करते थे। हमारा यह अनुमान ठीक हो तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि मथुरा का स्तूप मौर्यकाल का होना चाहिये।

मथुरा का देव निर्मित स्तूप आज भी मथुरा के कंकाली टीले के रूप में भग्न अवस्था में खड़ा है। इसमें से मिली हुई कुषाणकालीन जैन मूर्तियां, आयागपट, जैन-साधुओं की मूर्तियां आदि ऐतिहासिक वस्तुएँ आज भी मथुरा तथा लखनऊ के सरकारी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इन पर राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के राज्य काल के लेख भी उत्कीर्ण हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह तीर्थ विक्रम की दूसरी शताब्दि तक उन्नत दशा में था। उत्तर भारत में विदेशियों के आक्रमण से खास कर श्वेत हूणों के समय में जैन श्रमण तथा जैन गृहस्थ सामूहिक रूप से दक्षिण भारत की तरफ राजस्थान, मेवाड़, मालवा, आदि में चले गये। अतः उत्तर भारत के अन्य जैन तीर्थ रक्षण के अभाव से वीरान व नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं, जिनमें मथुरा का देव निर्मित स्तूप भी एक है।

१०—सम्मेद शिखर तीर्थ

सूत्रोक्त जैन तीर्थों में सम्मेद शिखर (पारसनाथ हिल) का नाम भी परिगणित है। आवश्यक निर्युक्तिकार कहते हैं—ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और वर्धमान (महावीर) इन चार तीर्थंकरों को छोड़ कर शेष अवसर्पिणी सभा के बीस तीर्थंकर सम्मेद शिखर पर मुक्त हुए थे। इसलिये तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि होने के कारण इसे सम्मेद शिखर तीर्थ कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी में निगम गच्छ के प्रस्थापक आचार्य इन्द्रनन्दि के बनाये हुए निगमों में एक निगम सम्मेद शिखर के वर्णन में लिखा गया है, जिसमें इस तीर्थ का बहुत ही अद्भुत वर्णन किया है। आज से ४० वर्ष पहले ये निगम पोडाय (कच्छ) के भण्डार में से मँगवाकर हमने पढ़े थे।

ऊपर लिखे सूत्रोक्त दश प्राचीन तीर्थों के अतिरिक्त वैभारगिरि, विपुलाचल, कोशल की जीवन्त स्वामी की प्रतिमा, अवन्ती की जीवन्त स्वामी प्रतिमा आदि अनेक प्राचीन पवित्र तीर्थों के उल्लेख सूत्रों के भाष्य आदि में मिलते हैं, परन्तु उन सब का एक निबंध में निरूपण करना अशक्य जानकर उन्हें छोड़ देते हैं।



भट्टारक-सम्प्रदाय

(ले० विद्याधर जोहरापुरकर, एम० ए० पीएच० डी०)

१-भट्टारक संज्ञा

प्राचीन संस्कृत तथा प्राकृत साहित्य में भट्टारक शब्द का प्रयोग आदरणीय अथवा पूज्य इस सामान्य अर्थ में किया जाता था। तीर्थंकरों के लिए 'वीर भट्टारक' आदि और प्राचीन आचार्यों के लिए 'भूदबलिभडारय' आदि शब्द प्रयोग इसी के उदाहरण हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यादि सम्राटों के लिए भी परमभट्टारक शब्द का विशिष्ट रूप में प्रयोग होता था।

मध्ययुगीन जैन साधुओं के लिए जिस समय भट्टारक संज्ञा रूढ़ हुई तब उसे एक विशिष्ट अर्थ प्राप्त हुआ। जो आचार्य किसी मठ या मन्दिर से सम्बद्ध स्थावरजंगम सम्पत्ति की व्यवस्था देखते थे, उनके लिये यह संज्ञा रूढ़ हुई। प्राचीन जैन साधुओं के लिये किसी भी प्रकार की सम्पत्ति से सम्बन्ध रखना वर्जित था। इस नियम के अपवाद रूप में धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने की प्रवृत्ति चौथी-पाँचवीं सदी से रूढ़ होने लगी। परम्परानिष्ठ साधुओं ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया तब धीरे-धीरे वनवासी और चैत्यवासी इन दो भागों में साधु संघ का विभाजन हुआ। यह प्रक्रिया दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों संघों में हुई। किन्तु वनवासी और चैत्यवासी ये शब्द श्वेताम्बर सम्प्रदाय में रूढ़ हुए। दिगम्बर-सम्प्रदाय में चैत्यवासियों के समान साधु द्राविड़ संघ के रूप में संगठित हुए और वनवासियों के समान साधुओं को बाद में मूलसंघ यह नाम प्राप्त हुआ। देवसेन कृत "दर्शनसार" (संवत् ९९०) के कथनानुसार द्राविड़ संघ की स्थापना आचार्य पूज्यपाद देवनन्दी के शिष्य वज्रनन्दी ने संवत् ५२६ में की थी। समय की गति से बाद की पाँच सदियों में वनवासी और मूलसंघी साधु भी मठ मंदिरों की ओर आकृष्ट होते गए। ग्यारहवीं सदी तक ऐसी स्थिति हो गई कि साधुओं के सभी प्रमुख आचार्य मठाधीश होने लगे। इन्हीं प्रमुख आचार्यों के लिए भट्टारक शब्द का प्रयोग रूढ़ हुआ।

२-भट्टारकों का आचार

मठ मन्दिरों की व्यवस्था के साथ-साथ उनकी सम्पत्ति के उपभोग की प्रवृत्ति भी साधुओं में आ गई। विभिन्न राजाओं के गुरु होने से वे राजगुरु कहलाने लगे और राजा के समान वैभव भी उन्हें प्राप्त होने लगा। 'पालकि-छात्र-सुखासन-राजित' यह उनका सामान्य स्वरूप बना। श्वेताम्बर साधुओं में पहले से ही आवश्यक वस्त्रपात्रों के उपयोग की छूट थी। किन्तु दिगम्बर साधु भगवान् महावीर के आदर्शानुसार वस्त्रपात्र से भी दूर रहते थे। भट्टारकयुग में उनकी यह निःसंगता कम हुई और अपवाद वेष के रूप में दिगम्बर भट्टारक भी वस्त्र धारण करने लगे। इस अपवाद वेष का स्वीकार पहले भ० वसन्तकीर्ति द्वारा मण्डपदुर्ग (मांडलगढ़, राजस्थान) में किया गया। इनका समय तेरहवीं सदी का मध्य है। अब श्वेताम्बर और दिगम्बर भट्टारकों में यही फरक रहा कि दिगम्बर सिद्धान्त रूप में नग्नता को श्रेष्ठ मानते रहे और प्रतीक रूप में यदाकदा नग्न अवस्था का स्वीकार करने लगे। दीक्षा के समय, भोजन के समय और मारणान्तिक सल्लेखना के समय नग्न अवस्था धारण करना दिगम्बर भट्टारकों के लिये योग्य माना जाता था। प्राचीन जैन साधुओं के लिए स्नान वर्जित था। किन्तु यह निषेध भट्टारकों ने स्वीकार नहीं किया। चातुर्मासिक योगधारणा के समय और दीक्षा के समय उनका अभिषेक बड़े समारोह से होता था। कारंजा के भ० शान्तिषेण ने (१० वीं सदी) तो सागर स्नान भी किया था। इस सामान्य प्रवृत्ति के अपवादस्वरूप कई भट्टारक तपस्या में भी प्रयत्नशील रहते थे। एकान्तर उपवास करने का अभ्यास भ० शुभकीर्ति (१३वीं सदी) ने किया था। भ० यशकीर्त्ति (१६ वीं सदी) सर्वदा नीरस आहार ग्रहण करते थे। भ० चित्रसेन (१४ वीं सदी) आतापन योग धारणा के लिये प्रसिद्ध थे। भट्टारकों की विभिन्न परम्पराओं में विभिन्न रजोहरणों का उपयोग रूढ़ था। काष्ठा संघ में चमरी गाय के पूँछ की बनी पिच्छी स्वीकार की जाती थी। माथुरगच्छ में पिच्छी का उपयोग नहीं होता था। अन्य दिगम्बर भट्टारक मोरपंख की पिच्छी धारण करते थे। श्वेताम्बरों में ऊन के बने रजोहरण का प्रयोग होता था।

३–भट्टारकों की परम्पराएँ–मूलसंघ

दिगम्बर साधु संघ के इतिहास के विषय में जो अनुश्रुतियाँ प्राप्त हैं उनमें कहा गया है कि आचार्य अर्हद् बलि द्वारा (दूसरी सदी के अन्तिम-चरण में) दिगम्बर साधुओं का चार संघों में विभाजन किया गया था। सेन, नन्दि, सिंह और देव इन ये संघों के नाम थे। भट्टारक युग में सिंह और देवसंघों का विशेष परिचय नहीं मिलता। सेन और नन्दिसंघ ये इस समय मूलसंघ के उपभेद माने गए। सेनसंघ के लिये सेनान्वय अथवा सेन गण इन संज्ञाओं का प्रयोग रूढ हुआ और नन्दि संघ के लिये नन्दिगण अथवा नन्द्याम्नाय ये संज्ञाएँ रूढ़ हुईं। इन संघों में कोई सैद्धान्तिक अथवा आचारविषयक मतभेद नहीं था। ये इन संघों के लिये भट्टारकयुग में कुछ और पर्यायनामभी रूढ़ हुए। सेनगण के लिये पुष्करगच्छ और ऋषभसेन गणधरान्वय ये नामान्तर प्रयुक्त हुए। नन्दिगण का विशिष्ट रूप बलात्कार गण था। इसके लिये सरस्वतीगच्छ और कुंदकुंदाचार्यान्वय ये नामान्तर रूढ़ हुए। इस तरह किसी मूर्तिलेख में भट्टारकों का उल्लेख 'श्री मूलसंघे सेनगणे पुष्करगच्छे ऋषभसेनगणधरान्वये अथवा 'श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्यान्वये' इस प्रकार होने लगा।

सेनगण और बलात्कारगण इन दोनों परम्पराओं के कई भट्टारकपीठ मध्ययुग में स्थापित हुए थे। सेनगण के पीठ कोल्हापुर, (महाराष्ट्र), जिनकांची (मद्रास), पेनुगोण्ड (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) इन चार स्थानों में थे बलात्कारगण के पीठों में दक्षिण में मलयखेड (महाराष्ट्र) प्रधान था जो बाद में कारंजा को स्थानान्तरित हुआ। कारंजापीठ की शाखाएँ लातूर और औरंगाबाद में (दोनों महाराष्ट्र में) स्थापित हुई थीं। बलात्कारगण की उत्तरीय शाखा के प्रारम्भ काल के भट्टारकों का निवासस्थान अजमेर था। भ० पद्मनन्दी (१४ वीं सदी) इस शाखा के प्रमुख भट्टारक थे। इनके तीन शिष्यों से पृथक्-पृथक् परम्पराओं का आरम्भ हुआ। भ० शुभचन्द्र से दिल्ली में, भ० सकलकीर्ति से ईडर में और भं० देवेन्द्रकीर्ति से सूरत में ये परम्पराएँ आरम्भ हुईं। इन्हीं की उप-शाखाएँ बाद में जयपुर, नागौर, अटेर, सोनागिरि, भानपुर, जेरहट आदि स्थानों मे स्थापित हुईं। इस तरह इस गण का कार्यक्षेत्र गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश इन तीन राज्यों में था।

मूल संघ के इन दो गणों के अतिरिक्त दक्षिण में देशीयगण के पीठ मूडबिदुरे, कारकल, श्रवणबेलगोल तथा हुम्बच इन स्थानों में स्थापित हुए थे। पुस्तकगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय ये इस गण के नामान्तर थे। इस तरह यह गण प्रधानतः कर्णाटक में कार्यशील रहा। इसी क्षेत्र में काणूरगण आदि कुछ और परम्पराएँ भी रही थीं।

समय की दृष्टि से देखा जाय तो सेनान्वय का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य गुणभद्र के उत्तर पुराण की प्रशस्ति में (सन् ८९८ में) मिलता है। गुणभद्र के गुरू आचार्य जिनसेन पंचस्तूपान्वय के प्रमुख आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। अतः पंचस्तूप यदि सेनान्वयका पूर्वरूप माना जाय तो इस परम्परा की प्राचीनता पाँचवीं सदी तक पहुँचती है। पाँचवीं सदी में पंचस्तूपान्वय के गुहनन्दी आचार्य का उल्लेख मिला है। किन्तु सेनगण के मध्ययुगीन भट्टारक परम्पराओं का व्यवस्थित वृत्तान्त १५वीं सदी से मिल सका है। उनका इन प्राचीन आचार्य परम्पराओं से क्या सम्बन्ध रहा यह अभी स्पष्ट नहीं हुआ है। इसी तरह बलात्कारगण के प्राचीन उल्लेख आचार्य श्रीचन्द्र के ग्रन्थों में (११वीं सदी में) मिलते हैं और मध्ययुगीन भट्टारक पीठों का वृत्तान्त १३ वीं सदी से प्राप्त होता है।

४–भट्टारकों की परम्पराएँ–काष्ठासंघ

दिगम्बर भट्टारकों की परम्परा में काष्ठासंघ का स्थान वैशिष्ट्यपूर्ण है। मध्ययुग में इस संघ के अन्तर्गत माथुरगच्छ, पुन्नाट, या लाडबागडगच्छ, बागडगच्छ और नन्दीतटगच्छ ये चार शाखाएँ थीं। किन्तु इनमें पहली तीन शाखाएँ १२ वीं सदी तक स्वतन्त्र संघों के रूप में विद्यमान थीं। माथुर संघ के आचार्य अमितगति (११ वीं सदी), पुन्नाटसंघ के आचार्य जिनसेन (८वीं सदी) तथा हरिषेण (१० वीं सदी) और बागड संघ के आचार्य सुरसेन (१० वीं सदी) इन सभी ने काष्ठासंघ का उल्लेख नहीं किया है। इसलिये अनुमान होता है कि १२ वीं सदी के आरम्भ में उपर्युक्त चार शाखाओं का एकीकरण होकर यह संघ स्थापित हुआ होगा। इसलिये आचार्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने संवत् ७५३ में नन्दीतट ग्राम में इस संघ की स्थापना की, यह कथा (देवसेनकृत दर्शनसार) पूरी तरह ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होती। काष्ठासंघ के चारों गच्छों के नाम स्थानवाची हैं। मथुरा नगर से माथुरगच्छ, पुन्नाट (कर्णाटक) प्रदेश से पुन्नाटगच्छ, बागड (पूर्व गुजरात) प्रदेश

से बागडगच्छ और नन्दीतट (नान्देड-महाराष्ट्र) ग्राम से नन्दीतटगच्छ ये नाम लिये गए हैं। पुन्नाटगच्छ के आचार्य अपना मूलप्रदेश छोड़कर लाट (दक्षिण गुजरात) प्रदेश में विहार करने लगे, इसलिये उस गच्छको लाडबागड यह नवीन नाम प्राप्त हुआ था। काष्ठासंघ यह नाम ह सम्भवतः काष्ठा नगर से लिया गया था। १२ वीं सदी में दिल्ली के उत्तर में टक्क प्रदेश की यह राजधानी थी।

माथुरगच्छ की भट्टारक परम्परा के पीठ ग्वालियर तथा बिहार में थे। १४ वीं सदी से इस परम्परा का व्यवस्थित वृत्तान्त प्राप्त होता है। पुष्करगण तथा लोहाचार्याम्नाय इस गच्छ के नामान्तर थे। लाडबागड गच्छ के पीठ गुजरात तथा कारंजा में थे। इसका वृत्तान्त भी १४ वीं सदी से प्राप्त होता है। इस गच्छ के नामान्तर प्राप्त नहीं होते विद्यागण तथा रामसेनान्वय ये नन्दीतट गच्छ के नामान्तर थे। इसका पीठ सूरत में था। इसका वृत्तान्त १५वीं सदी से प्राप्त होता है। बागडगच्छ का विशेष परिचय नहीं मिलता।

५–भट्टारकों का कार्य—मूर्तिप्रतिष्ठा

भट्टारक पीठों की स्थापना मठ और मन्दिरों की व्यवस्था के लिये हुई थी। इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि मन्दिर और मूर्तियों की प्रतिष्ठा यह भट्टारकों के जीवन का प्रमुख कार्य रहा। भट्टारकों के इतिहास के साधनों में आधे से अधिक संख्या मूर्ति लेखों की है। मूर्ति प्रतिष्ठा के प्रति इतना अनुराग होने के दो कारण थे। एक तो मुस्लिम शासकों द्वारा सर्वत्र मूर्तियाँ खण्डित की गई थीं और उनके स्थान में नई मूर्तियों की स्थापना इष्ट थी। दूसरा कारण यह है कि मूर्तिप्रतिष्ठा के उत्सव को सामाजिक महत्व भी था। साधारण से प्रतिष्ठा समारोह के लिये भी हजारों श्रद्धालु उपासक एकत्र आते थे और धार्मिक प्रवृत्ति तथा सामाजिक एकता की भावना उनमें दृढ़ होती थी। मूर्ति प्रतिष्ठा के समय गजरथ चलाकर संघपति, सिंघई आदि पद प्राप्त करना सामाजिक श्रेष्ठत्व प्राप्त करने का निश्चित मार्ग था।

इस युग की मूर्तियों में पाषाण की अपेक्षा धातु की मूर्तियों का प्रमाण बढ़ता गया। मूर्तियों में विविधता भी बढ़ी। तीर्थंकर, पंचपरमेष्ठि, नन्दीश्वर, पंचमेरु, सहस्त्रकूट, सरस्वती, चक्रेश्वरी, पद्मावती और अन्य यक्षिणी, क्षेत्रपाल, गुरू आदि प्रकारों की मूर्तियाँ इस युग में स्थापित की गईं। जैन मूर्तिकला के आरम्भ काल से१२ वीं सदी तक मुख्य तीर्थंकर मूर्ति के साथ यक्ष, यक्षिणी, छत्र, चामर, भामण्डल आदि अलंकरण भी उत्कीर्ण होते थे। भट्टारक युग में अलंकरण उत्कीर्ण करने की पद्धति लुप्तप्राय हुई और तीर्थंकर मूर्तियों का स्वरूप बहुत सादा हो गया। इन मूर्तियों का निर्माण मुख्यतः राजस्थान में होता था। मूर्तियों का विस्तार दो इंच से बीस फुट तक विभिन्न प्रकार का पाया जाता है। विविध यंत्रों की स्थापना यह इस युग की विशेष निर्मिति थी। दशलक्षणधर्म, षोडशकारण भावना, द्वादशांग आगम, नवग्रह, ऋषिमण्डल और सकलीकरण ये यन्त्रों के विविध प्रकार हैं। मूर्ति और यंत्रों पर प्रतिष्ठा समारोह का विवरण लिखने की पद्धति सर्वत्र रूढ़ थी। इस विवरण में प्रतिष्ठा का समय, प्रतिष्ठाकर्ता सेठ की वंशपरम्परा, प्रतिष्ठासंचालक भट्टारक की गुरूपरम्परा, स्थान, स्थानीय तथा प्रादेशिक शासक का नाम और मंगल सूचक वाक्य इतनी बातों का समावेश होता था। मूर्ति छोटी हो तो इनमें से कुछ बातों का विवरण छोड़ भी दिया जाता था।

संवत् १५४८ में मुडासाशहर के सेठ जीवराज पापड़ीवाल द्वारा किया गया प्रतिष्ठा समारोह उल्लेखनीय है। इस समारोह में दिल्ली के भ० जिनचन्द्र, भ० भानुचन्द्र, भ० गुणचन्द्र आदि ने भाग लिया था। इस समय एक हजार से अधिक मूर्तियाँ स्थापित की गईं और बाद में स्थान-स्थान के मन्दिरों में भेजी गई। भारतवर्ष के प्रायः सभी दिगम्बर जैन मन्दिरों में इस समय की मूर्तियाँ पाई जाती हैं।

६–शिष्यपरम्परा

जैन परम्परा में शास्त्राध्ययन की प्रवृत्ति कुल पर आधारित नहीं थी। इसलिये शिष्य परम्परा का विस्तार करने की आवश्यकता जैन संघ में सदैव रही। भट्टारकों ने भी इस आवश्यकता को पूर्ण करने का प्रयास किया। अपने विविध शिष्यों द्वारा विविध शास्त्रों के अध्ययन को उन्होंने प्रोत्साहन दिया और उनके द्वारा नये ग्रंथों की रचना भी करवाई। इस दृष्टि से पण्डित राजमल्ल, श्रुतसागर सूरि, ब्रह्मजिनदास आदि शिष्यों के नाम उनके गुरुओं से भी अधिक स्मरणीय हुए हैं। भट्टारकों के शिष्यों में सबसे प्रमुख शिष्य को बाद में भट्टारक पद प्राप्त होता था। अन्य शिष्य यदि महत्वाकांक्षी हों तो

स्वतन्त्र भट्टारक पीठ स्थापित करते थे अथवा मण्डलाचार्य के रूप में अपनी पृथक् शिष्य परम्परा चलाते थे। इन अनभिषक्त भट्टारकों की परम्परा कभी-कभी छह सात पीढ़ियों तक चलती रहती थी।

भट्टारकों के शिष्य वर्ग में जैनेतरों का समावेश भी यदा कदा होता था। द्विजविश्वनाथ भ० इन्द्रभूषण (१७ वीं सदी) के शिष्य थे। पण्डित हाजी भ० राजकीर्ति (१७ वीं सदी) के शिष्य थे। भूपति प्राज्ञ मिश्र ने भ० इन्द्रभूषण के आदेश से गोमटेश्वर बाहुबली का स्तोत्र लिखा था। व्याकरण कोशादि ग्रन्थ पढ़ाने के लिये ये विद्वान् सम्भवतः भट्टारकों के साथ रहे थे।

जैनेन्द्र व्याकरण, गणितसारसंग्रह, कल्याणकारक आदि शास्त्रीय ग्रन्थ जैनेतर समाज द्वारा उपेक्षित ही रहे थे। इनके पठन-पाठन की परम्परा भट्टारकों के शिष्यों में ही कुछ हद तक चलती रही, अन्यथा इन ग्रन्थों का लोप अवश्यम्भावी था।

७–साहित्य रचना

भट्टारकों और उनके शिष्यों द्वारा लिखे गये उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या करीब ४०० है। इस साहित्य में पुराण, कथा और पूजापाठ ये विषय प्रधान थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, गुजरारती, राजस्थानी, मराठी तथा कन्नड इन भाषाओं में यह साहित्य मिलता है। पुराणग्रन्थ मुख्यतः रविषेणकृत पद्मचरित, जिनसेनकृत हरिवंशपुराण तथा जिनसेन एवं गुणभद्र के महापुराण पर आधारित हैं। पुराणलेखकों में भ० सकलकीर्ति (१५ वीं सदी) प्रमुख थे। आदिपुराण चन्द्रप्रभपुराण, शान्तिनाथपुराण, नेमिनाथपुराण, पार्श्वपुराण, वर्धमान पुराण, सुकुमार चरित्र, यशोधरचरित्र, आदि ग्रन्थ सकलकीर्तिकृत हैं। जनसाधारण के लिये सुबोध संस्कृत में इनकी रचना हुई है। सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्मजिनदास ने गुजराती में विपुल-लेखन किया। रामायण रास (सं० १५०८), हरिवंशरास (सं० १५२०), जसोधररास, जीवंधररास, जंबूस्वामीरास, श्रीपालरास आदि ग्रन्थ जिनदासकृत हैं। संस्कृतपुराणों में सोमसेनकृत रामपुराण (सं० १५५६), धर्मचन्द्रकृत गौतमचरित्र (सं० १७२६), शुभचन्द्रकृत करकण्डुचरित्र (सं०१६११) तथा पाण्डवपुराण (सं० १६०८), विद्यानन्दिकृत सुदर्शनचरित्र (१६वीं सदी), अजितकृत हनुमच्चरित्र (१६वीं सदी), वादिचन्द्रकृत पार्श्वपुराण (सं० १६४०), तथा यशोधर चरित (सं० १६५७), धर्मकीर्तिकृत हरिवंशपुराण (सं० १७७१), राजमल्लकृत जंबू स्वामी चरित (१६वीं सदी), सोमकीर्तिकृत यशोधरचरित (सं० १६३६), कृष्णदासकृत विमलपुराण (सं० १६७४), श्री भूषणकृत शान्तिनाथ पुराण (सं० १६५९), तथा हरिवंशपुराण एवं चन्द्रकीर्तिकृत पार्श्वपुराण (सं० १६५४) उल्लेखनीय हैं। गुजराती के पुराण ग्रन्थों में वादिचन्द्र कृत श्री पाल आख्यान (सं० १६५१) तथा पार्श्वनाथ छन्द, जयसागरकृत सीताहरण (सं० १७३२) अनिरुद्धरण तथा सगर चरित्र, चन्द्रकीर्तिकृत पाण्डवपुराण, पामोकविकृत भरत भुजबलि चरित (शक १६१४), धनसागर कृत पार्श्वपुराण (सं० (१७५६) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में शालिवाहन कृत हरिवंशपुराण (सं० १६९५), खुशालदासकृत हरिवंशपुराण (सं० १७८०) आदि की रचना हुई। अपभ्रंश पुराणों में माणिक्यराजकृत अमरसेनचरित (सं० १६७६), महिंद विरचित शान्तिपुराण (सं० १५८६), रइधूकृत सन्मतिजिनचरित, सिंहसेनकृत आदिपुराण (१५ वीं सदी) श्रुतकीर्तिकृत हरिवंशपुराण (सं० १५५२), तथा धनपालकृत बाहुबलिचरित ये प्रमुख हैं। मराठी में गुणदासकृत श्रेणिकचरित्र (१५ वीं सदी), मेघराजकृत जसोधररास (१६वीं सदी), नागोआयाकृत यशोधरचरित (१६ वीं सदी), वीरदासकृत सुदर्शनचरित (१७ वीं सदी), गुणकीर्तिकृत पद्मपुराण (१५ वीं सदी), जिनदासकृत हरिवंशपुराण (१५ वीं सदी) महीचन्द्रकृत आदिपुराण (शक १६१८) तथा जिनसागरकृत जीवन्धरपुराण (शक १६५६) प्रमुख पुराण ग्रन्थ हैं।

भट्टारक युग के साहित्य का दूसरा प्रमुख विषय व्रतकथा है। आकाशपंचमी, नागपंचमी, श्रुतपंचमी, कोकिलपंचमी चंदनषष्ठी, मोडसप्तमी, निर्दुःखसप्तमी, रथसप्तमी, सुगन्धदशमी, कलशदशमी, मौन एकादशी, श्रुतस्कन्ध द्वादशी, अनन्त-चतुर्दशी, पल्यविधान, लब्धिविधान, दशलक्षण, षोडशकारण, मेरुपंक्ति, विमान पंक्ति आदि अगणित व्रतों का प्रादुर्भाव इस युग में हुआ और उनका महात्म्य बतलानेवाली कथाएँ भी लिखी गईं। संस्कृत में श्रुतसागरसूरि, गुजराती में ब्रह्मजिनदास तथा मराठी में जिनसागरद्वारा लिखी गई व्रतकथाएँ संख्या में अधिक हैं।

इस युग में स्थापित की गई विविध मूर्त्तियों की पूजा के लिये लिखे गये पाठ यह भट्टारक साहित्य का तीसरा प्रमुख विषय है। अष्टक, स्तोत्र, जयमाला, आरती तथा सहस्त्रनाम ये पूजापाठों के विविध प्रकार हैं। इनकी भाषा संस्कृत

तथा अपभ्रंश है जिसमें हिन्दी और गुजराती का भी बहुत मिश्रण हुआ है। पद्मनन्दीकृत सिद्धपूजा, श्रुतसागरकृत श्रुतस्कन्ध पूजा तथा कलिकुण्ड पूजा, गुणनन्दीकृत ऋषिमंडल पूजा, जिनदासकृत सरस्वती पूजा, सुरेन्द्रकीर्तिकृत पद्मावती पूजा महतिसागरकृत ज्वाला-मालिनी पूजा आदि पूजा पाठ लोकप्रिय रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से जयसागरकृत तीर्थजयमाल, ज्ञानसागरकृत तीर्थावली तथा विभिन्न भट्टारकों की उनके शिष्यों द्वारा लिखी गई पूजाएँ उपयुक्त सिद्ध हुई हैं।

इस युग में विचारप्रधान साहित्य का परिमाण कम रहा। फिर भी धर्मभूषणकृत न्यायदीपिका (१४ वीं सदी), शुभचन्द्रकृत षड्दर्शनप्रमाणप्रमेयानुप्रवेश तथा संशयिवदनविदारण (१६ वीं सदी) एवं राजमल्लकृत पंचाध्यायी (१६ वीं सदी) ये न्यायशास्त्र के ग्रन्थ उल्लेखयोग्य हैं। प्राकृतभाषा के दो व्याकरण शुभचन्द्र तथा श्रुतसागरसूरिने लिखे हैं। पंडित भगवतीदास (भ० महेन्द्र सेन के शिष्य) की रचनाओं में ज्योतिषसार, वैद्य-विनोद तथा अनेकार्थनाममाला (१७ वीं सदी) पठनीय हैं। आध्यात्मिक प्रतिपादन का प्रयत्न ज्ञानभूषण के तत्त्वज्ञानतरंगिणी में (१६ वीं सदी) तथा राजमल्लकृत अध्यात्मकमल मार्तण्डमें यशस्वी हुआ है। आचार धर्म के बारे में सकलकीर्ति कृत मूलाचार प्रदीप तथा प्रश्नोत्तरोपासकाचार, मेधावी कृत धर्मसंग्रह, नेमिदत्तकृत लाटी संहिता (१६ वीं सदी) आदि ग्रन्थ लिखे गये थे।

८–जाति संघटना

साधुपद धारण करने से भट्टारक जाति के बन्धनों से मुक्त थे। किन्तु मध्ययुगीन समाज में जाति-संस्था का प्रभाव व्यापक था। उससे वे अलिप्त भी नहीं रह सके। इसलिये भट्टारकों की विरुदावलियों में 'अष्टशाखाप्राग्वाटवंशावतंस' 'बडकुलशृंगारहार', 'खंडेलवालज्ञातीयशुद्धवंशोद्भव' आदि विशेषण भी पाये जाते हैं। विभिन्न भट्टारकपीठों से विशिष्ट 'जातियों का सम्बन्ध रहा था। बलात्कारगण के सूरतपीठ से हूमड,अटेरपीठ से लमेचू, जेरहटपीठ से परवार, दिल्ली जयपुरपीठ से खंडेलवाल तथा लातूरपीठ से सैतवाल जाति का विशिष्ट सम्बन्ध था। काष्ठासंघ—माथुरगच्छ के अनुयायी प्रायः अगरवाल थे।

जातियों की स्थापना के बारे में भी कुछ कथाओं में भट्टारकों का सम्बन्ध बतलाया है। नरसिंहपुराजाति रामसेन द्वारा तथा भट्टपुराजाति नेमिषेणद्वारा स्थापित मानी जाती थी। ऐतिहासिक काल में भी भ० देवेन्द्रकीर्ति (१५ वीं सदी) को रत्नाकर जाति का स्थापक कहा गया है। बघेरवाल जाति में मूलसंघीय आचार्य रामसेन और काष्ठासंघीय आचार्य लोह द्वारा धर्मस्थापना की कहानी मिलती है।

मध्ययुग में खान-पान, विवाहसंबंध, व्यवसाय और ऊँच-नीच की कल्पना इन चारों बातों पर जाति का नियंत्रण था। इस नियंत्रण को भंग करने वाले व्यक्ति को बहिष्कार द्वारा दण्डित किया जाता था। जाति के इस स्वरूप को बनाये रखने में भट्टारकों का योग भी सदैव रहा। इसीलिये उन्हें उन्हें धर्मगुरू के साथ-साथ सामाजिक शासक का रूप भी प्राप्त हुआ था।

९–मन्त्रसाधना

विशिष्ट मन्त्रों की साधना करके किसी देवी या देव को प्रसन्न कर लेना यह भट्टारकों का विशेष कार्य माना जाता था। इन देवी-देवों की सहायता से विभिन्न चमत्कारजनक दृश्य उत्पन्न करके धर्मप्रभावना की जाती थी। भ० मल्लिभूषण ने पद्मावतीदेवी को प्रसन्न किया था, तथा भ० महेन्द्रसेन ने क्षेत्रपाल को सम्बोधित किया था, ऐसा वर्णन पट्टावलियों में मिलता है। पालकी में बैठकर आकाश मार्ग द्वारा जाने का चमत्कार भ० सोमकीर्ति ने पावागढ़ में तथा मलयकीर्ति ने आंतरी में बतलाया था। भ० पद्मनन्दी ने गिरनार की यात्रा के समय सरस्वती की पाषाणमूर्ति के मुख से दिगम्बरों की प्राचीनता सिद्ध की थी। कारंजा के भ० जिनसेन को भोजन में बचनाग का मिश्रण होने से विषबाधा हुई, वह उन्होंने विषापहारस्तोत्र के पाठ से ही दूर की थी।

१०–कला कौशल

मध्य युग में धर्म ही समाज जीवन का केन्द्र था। अतः संगीतादि कलाएँ धर्म के आश्रय से ही इस युग में जीवित रहीं। भट्टारकों और उनके शिष्यों द्वारा इस युग में जो पूजा पाठ लिखे गये वे विशेष रूप से गेय हैं। इसीलिये भाव की

अपेक्षा मधुर शब्दरचना को इन पूजा पाठों में अधिक महत्व मिला। भट्टारक मठों में प्रायः सर्वत्र भजन मंडलियां नियमित रूप से कार्य करती थीं। भजनों के साथ कभी-कभी—विशेषतः प्रतिष्ठा समारोह में नृत्यों का भी आयोजन होता था। मन्दिरों को चित्रों द्वारा सुशोभित करने का प्रयास कुछ भट्टारकों ने किया था। विभिन्न कथाओं की हस्तलिखित प्रतियों में भी कई बार सुन्दर चित्र बनाये जाते थे।

११–परस्पर सम्बन्ध

भट्टारकों के विभिन्न पीठों में प्रायः अच्छे सम्बन्ध रहे थे। यद्यपि व्यक्तिगत द्वेष को साम्प्रदायिक रूप देने का प्रयत्न क्वचित हुआ था। नन्दीतट गच्छ के भ० सोमकीर्ति के साथ सेनगण के भ० वीरसेनने एक ही प्रतिष्ठा समारोह में (१५ वीं सदी) भाग लिया। सेनगण के भ० जिनसेन (१७ वीं सदी) पूर्ववय में बलात्कारगण के भ० पद्मनन्दी के शिष्य थे। परस्पर सहकार्य के ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं। साम्प्रदायिक विरोध का उत्तम उदाहरण नन्दीतटगच्छ के भ० श्रीभूषण (१७ वीं सदी) और उनके शिष्य चन्द्रकीर्ति की कविताओं में मिलता है। इनने मूल संघ की तरह-तरह से निन्दा की है।

१२–अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

धार्मिक प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप कई बार विभिन्न ब्राह्मण पण्डितों से भट्टारकों के वाद-विवाद हुए थे। श्रुत सागर ने नीलकण्ठ भट्ट का (१६ वीं सदी), प्रतापकीर्ति ने केदारभट्ट का (१६ वीं सदी), चन्द्रकीर्ति ने कृष्णभट्ट का (१७ वीं सदी) तथा धारसेन ने धनेश्वर भट्ट का (१५वीं सदी) वादविवाद में पराजय किया था। इसी प्रकार श्वेताम्बर पण्डितों से भी उनके सम्बन्ध विरोधपूर्ण रहते थे। भ० श्री भूषण और हीरविजयसूरि का एक बार विवाद हुआ था। लोंकागच्छ के प्रति श्रुतसागरसूरि के विचार बहुत ही अनुदार थे। तीर्थ क्षेत्रों के अधिकार के विषय में ये संघर्ष बहुत तीव्र हुए थे। तीर्थंकर मूर्त्तियों को मूल्यवान वस्त्रों और अलंकारों से सजाने की श्वेताम्बर पद्धति इस विरोध का प्रमुख कारण थी।

१३–शासकों से सम्बन्ध

भट्टारक युग में जैनधर्म राजधर्म नहीं था, तथापि कई राज्यों में मन्त्री, सेनापति आदि जैन होते थे और भट्टारकों के शिष्यों में उनका समावेश होता था। विजयसागर के राजा हरिहर के मन्त्री इरुग दण्डनायक ने भ० धर्मभूषण के उपदेश से राजधानी में विशाल कुन्थुनाथ मन्दिर बनवाया (१४ वीं सदी)। ईडर के राव भाणजी के मन्त्री भोजराज जैन थे। इनके कुटुम्बियों ने श्रुतसागर सूरि के साथ गजपन्थक्षेत्र की यात्रा की थी (१६ वीं सदी)। जयपुर राज्य के विभिन्न दीवान जैन थे। जयपुर के भट्टारकों को उनसे अच्छी सहायता मिली थी।

मुस्लिम शासकों के दरबारों में भी कई बार भट्टारक सम्मानित हुए थे। कलबुर्गा के सुलतान फिरोजशाह ने भ० नरेन्द्रकीर्ति का सम्मान किया (१५ वीं सदी)। मालवा के सुलतान गियासुद्दीन भ० मल्लिभूषण के प्रशंसक थे (१६ वीं सदी)। दिल्ली में मुहम्मदशाह नासिरुद्दीन के दरबार में भट्टारक प्रभाचन्द्र सम्मानित हुए थे (१३ वीं सदी)। भ० विशालकीर्ति ने दिल्ली के सुलतान सिकन्दर (१५ वीं सदी) द्वारा सम्मान पाया था।

१४ भट्टारक सम्प्रदाय की प्रतिक्रिया

इस तरह धार्मिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में क्रियाशील रहने पर साधारण भट्टारक जैन साधुत्व के आदर्श से कुछ दूर ही थे। मठ मन्दिरों के सम्बन्ध के कारण वे विपुल परिग्रह से युक्त हुए। गृहस्थों से मेल-जोल बढ़ने के कारण मन्त्रवाद, ज्योतिष, वैद्यक आदि में उनका बहुत सा समय बीतने लगा। इसलिये प्राचीन धर्मग्रन्थों के अभ्यासक विद्वान्, भट्टारकों को कुछ अनादर की दृष्टि से देखने लगे। ऐसे विद्वानों ने कुन्द-कुन्द, अमृतचन्द्र, सोमप्रभ आदि आचार्यों के अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास विशेष रूप से शुरू किया था, इसलिये वे अध्यात्मी कहलाये। १७ वीं सदी में पण्डित बनारसीदास द्वारा इस परम्परा को अच्छा बल मिला। यही अध्यात्मी विद्वानों की परम्परा दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुई। भट्टारकों द्वारा मूर्ति-पूजा का जो अतिरेक हुआ उसकी प्रतिक्रिया के रूप में दिगम्बरों में तारण पन्थ की स्थापना हुई, जिसमें मूर्ति-पूजा का सर्वथा निषेध किया गया।

१५ ऐतिहासिक मूल्य

इस तरह स्पष्ट होगा कि मध्ययुगीन जैन समाज के नेताओं के रूप में भट्टारकों का स्थान महत्वपूर्ण था। व्यवस्थित शिष्य परम्परा, ग्रन्थलेखन और पठन-पाठन, मूर्ति व मन्दिर निर्माण और जातिसंघटना द्वारा जैनधर्म के संरक्षण का प्रयास

भट्टारकों ने किया। गत एक हजार वर्षों का जैन समाज का इतिहास लिखना हो तो भट्टारकों के कार्य को भुला देना सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि उनके द्वारा समाज में कोई युगान्तर जैसा परिवर्तन नहीं हुआ और समाज के विकास की दिशा में भी उनने कोई व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया। किन्तु यह दोष मुस्लिम राज्यकाल के प्रायः सभी समाजों में पाया जाता है। भारतीय समाज में इस तरह आत्मसंरक्षण की प्रवृत्ति इतनी प्रधान थी कि उसके सन्मुख विकासशीलता की प्रवृत्ति कहीं भी पनप नहीं सकी। अतः इस व्यापक तथ्य को देखकर ही भट्टारकों के कार्य का मूल्यमापन करना चाहिये।

गत सौ वर्षों में भट्टारकों का प्रभाव बराबर कम होता जा रहा है। इसके दो कारण हैं। एक तो आधुनिकविज्ञान के परिचय से सुशिक्षित जैन युवक धर्म की ओर से ही विमुख होने लगे। दूसरे आचार्य शान्तिसागर के प्रयासों द्वारा मुनि-संघ के पुनरुज्जीवन से भट्टारकों के प्रति अनादर की भावना श्रद्धालु समाज में बढ़ी। फिर भी वर्तमान में करीब दस पीठों के पट्टाधीश विद्यमान हैं—यशःकीर्ति (जयपुर), देवेन्द्रकीर्ति (नागौर), देवेन्द्रकीर्ति (मलखेड़), लक्ष्मीसेन (कोल्हापुर), विशालकीर्ति (लातूर), देवेन्द्रकीर्ति (हुंमच), चारुकीर्ति (श्रवणबेलगुल)। अपने-अपने प्रदेश में इनका प्रभाव अभी काफी है। ये सब मूल संघ के भट्टारक हैं। काष्ठासंघ के कोई भट्टारक विद्यमान नहीं हैं। भट्टारक अपने शिष्यों में से किसी एक को अपने जीवनकाल में ही अपने पद पर स्थापित कर देते हैं। यदि मृत्यु के पूर्व वे ऐसा नहीं कर सके तो उस पीठ के अनुयायी पंडित किसी योग्य व्यक्ति को भट्टारक पद के लिये चुनते हैं। फिर किसी दूसरे पीठ के भट्टारक द्वारा इस नये व्यक्ति की भट्टारक पद पर स्थापना की जाती है। भट्टारकों द्वारा शिष्य बनाने के कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किये जाते। स्वयं प्रेरणा से कोई भी दिगम्बर जैन विद्यार्थी उनका शिष्य बन सकता है। प्राचीन काल से ही भट्टारकों का स्वरूप शंकराचार्य-मठों से मिलता-जुलता रहा है। अन्य मठाधीशों से उनमें कोई खास विशेषता नहीं पाई जाती। यह तथ्य वर्तमान समय के लिये भी सही है।

नोट—इस विषय पर लेखक द्वारा लिखा गया प्रबन्ध "भट्टारक सम्प्रदाय" जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर द्वारा प्रकाशित हुआ है, और नागपुर विश्वविद्यालय की पीएच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत हुआ है। लेख में जो विधान किये हैं उनका विस्तृत विवरण इस प्रबन्ध में मिल सकता है। अतः यहाँ उनके मूल उद्धरण नहीं दिये गए हैं।



षट्खंडागम

(ले० डा० हीरालाल जैन, डायरेक्टर, प्राकृत जैन इंस्टीट्यूट, मुजफ्फरपुर)

षट्खंडागम की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियों का परिचय :—

षट्खंडागम की परमागम व धवल सिद्धान्त के नाम से बड़ी प्राचीन महिमा और प्रतिष्ठा जैन साहित्य में व विशेषतः दिगम्बर परम्परा में पाई जाती है। किन्तु इस ग्रन्थ की प्रतियाँ एकमात्र कर्नाटक प्रदेशान्तर्गत मूडबिद्री के गुरुबसदि नामक जैन मंदिर में विद्यमान थीं। वहाँ से पूर्व अनुमानतः ये प्रतियाँ जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेलगोला के उस जैन मंदिर में विराजमान थीं जो उसी कारण अभी तक सिद्धान्तवसदि के नाम से प्रसिद्ध है। मूडबिद्री में इस ग्रंथ की तीन प्राचीन प्रतियाँ ताड़पत्रमय उपलब्ध हैं। सबसे जीर्ण प्रति बहुत कुछ त्रुटित है, दूसरी प्रति में भी यत्र-तत्र ताड़पत्र त्रुटित पाये जाते हैं, किन्तु तीसरी प्रति सम्पूर्ण है। इस प्रति की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसे देमीयक्का नामक श्राविका ने देशीगण के आचार्य शुभचन्द्र देव को समर्पित किया था। इस श्राविका तथा आचार्य शुभचन्द्र के उल्लेख दक्षिण प्रान्त के कुछ शिलालेखों में भी पाये जाते हैं; जिनसे सिद्ध होता है कि देमीयक्का ने शक सं० १०४२ में, तथा शुभचन्द्राचार्य ने शक सं० १०४५ में स्वर्गवास प्राप्त किया था। अतः स्पष्ट है कि उस प्रति का समर्पण शक सं० १०४२ से पूर्व ही हो चुका था। अतएव प्रति का लेखनकाल इससे भी पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। किन्तु कितने पूर्व? इसी प्रति के प्रथम अंश सत्प्ररूपणा के अन्त में भी एक प्रशस्ति है, जिसमें सिद्धान्त मुनीन्द्र पद्मनंदी, कुलभूषण और कुलचन्द्र का गुणानुवाद किया गया है। इन मुनियों का उल्लेख श्रवणबेलगोला के शिलालेख संख्या ४०(६४) में भी पाया जाता है, जिससे उक्त तीनों मुनियों में गुरू-शिष्य संबंध सिद्ध हो जाता है, एवं अन्य प्रमाणों पर से यह भी सिद्ध होता है कि ये आचार्य शक सं० ९५० के लगभग हुए हैं। अतएव उक्त ताड़पत्रीय प्रति का लेखन काल शक ९५० व १०४२ के बीच सिद्ध होता है।

षट्खंडागम के प्रकाश में आने का इतिहास :—

षट्खंडागम की ये प्रतियां शताब्दियों से अध्ययन की नहीं, किन्तु पूजाकी वस्तु बनी हुई थीं, व इन्हीं के दर्शन के लिये श्रद्धालु जैन उक्त जैन मंदिर की तीर्थयात्रा किया करते थे। इसी प्रकार की तीर्थयात्रा को वि० सं० १९४० में बम्बई के सुप्रसिद्ध सेठ माणिकचन्द्र जी संघ सहित वहाँ पहुँचे, तब उन्हें इन जीर्ण प्रतियों के उद्धार की चिन्ता हुई। उन्होंने शोलापुर निवासी सेठ हीराचन्द्र नेमिचन्द्र से इस संबंध में परामर्श किया, जिसके फलस्वरूप लगभग १० वर्ष के प्रयास के पश्चात् इस रचना की प्रतिलिपि कराने की एक सुदृढ़ योजना तैयार की जा सकी। प्रतिलिपि का कार्य आगामी २६ वर्ष तक चलता रहा, परिणामतः उसकी कन्नड़ प्रतिलिपि पंडित देवराज शांतप्पा, ब्रह्मय्या तथा नेमिराज द्वारा एवं नागरी प्रतिलिपि प० ब्रह्मसूरि शास्त्री, गजपति उपाध्याय व लोकनाथ शास्त्री द्वारा वि० सं० १९७८ में सम्पूर्ण की गई। जिस समय यह प्रतिलिपि कार्य चल रहा था, उस समय पं० गजपति उपाध्याय के प्रयास से उनकी एक कन्नड़ प्रतिलिपि बाहर आ गई और वह सहारनपुर के लाला जम्बूप्रसाद जी के जैन मंदिर में प्रतिष्ठित हो गई। वि० सं० १९८० में उस प्रति की नागरी प्रतिलिपि पंडित विजय चन्द्रय्या और पं० सीताराम शास्त्री द्वारा होकर पं० लोकनाथ जी द्वारा संशोधित हो गई। इसी अन्तराल में पं० सीतारामशास्त्री ने एक प्रति अपने पास भी रखली और उसके आधार से की गई प्रतिलिपियाँ अमरावती, आरा, कारंजा, दिल्ली, बम्बई, शोलापुर, सागर, झालरापाटन, इंदौर, सिवनी, ब्यावर और अजमेर के शास्त्र भंडारों में प्रतिष्ठित हो गईं। इनमें से प्रथम तीन स्थानों की प्रतियों के आधार से प्रस्तुत लेखक ने इसका संपादन प्रारंभ किया। बीच में मूडबिद्री तथा सहारनपुर की प्रतियों के मिलान की भी सुविधा प्राप्त हो गई, और यह ग्रंथ सम्पूर्ण हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण व प्रस्तावनादि सहित ई० सन् १९३९ से १९५९ तक २० वर्ष में क्रमशः १६ भागों में भेलसा निवासी श्रीमन्त सेठ सिताबराय लक्ष्मीचन्द्रजी द्वारा जैन साहित्य उद्धारक कार्यालय से १६ भागों में प्रकाशित हो गया। इन १६ भागों में षट्खंडागम के प्रथम ५ खंड पूर्ण हुए। छठा खंड महाबन्ध भी सात भागों में, भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाश में आ गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण षट्खंडागम सुचारु रूप से संपादित होकर अनुवादादि सहित तेईस जिल्दों में प्रकाशित हो चुका है।

षट्खंडागम सूत्रों के रचयिता :—

षट्खंडागम सूत्रों की रचना किस प्रकार हुई, इसका कुछ विवरण इसके टीकाकार वीरसेनाचार्य ने अपनी धवला नामक टीका में दिया है। प्रथम सूत्र की टीका करते हुए उन्होंने ग्रन्थ के छह अनुयोगों अर्थात् मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता का व्याख्यान किया है। उन्होंने इस सूत्र के अवतार का निमित्त दो प्रकार से बतलाया है। अर्थ की अपेक्षा इसका अवतार तीर्थंकर के द्वारा हुआ व ग्रन्थ की अपेक्षा उनके गणधर द्वारा। इस सिद्धान्त के अध्ययन का हेतु भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दो प्रकार का बतलाया है, तथा प्रत्यक्ष हेतु के भी दो भेद किये हैं—साक्षात प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्ष। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन का साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है सद्ज्ञान की उत्पत्ति, देवों और मनुष्यों से प्राप्त होने वाला पूजा सत्कार तथा प्रतिसमय असंख्यात गुणश्रेणीरूप कर्म निर्जरा। परम्परा प्रत्यक्ष हेतु है शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा निरन्तर अभ्यर्चन। परोक्ष हेतु भी दो प्रकार से बतलाया गया है—अभ्युदय अर्थात् दिव्य और मनुष्य सुखों की प्राप्ति और नैःश्रेयस अर्थात् सिद्धों और अर्हन्तों का अतीन्द्रियसुख। इसका परिमाण अर्थ की अपेक्षा अनन्त तथा अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारों की अपेक्षा संख्येय कहकर इसके प्रथम खंड जीवस्थान का परिमाण १८ सहस्त्र पद कहा गया है। टीकाकार का कथन है कि यह परिमाण शिक्षकों को हर्ष उत्पन्न करने व मतिव्याकुलता को दूर करने के लिये बतलाया गया है। चूंकि इन अनुयोगों का वर्णन प्रथम खंड जीवस्थान की उत्थानिका में किया जा रहा है, अतएव ग्रंथ का नाम यहाँ जीवट्ठाण निर्दिष्ट किया गया है। आगे चल कर इसे ही टीकाकार ने खंड सिद्धांत तथा संतकम्मपाहुड (सत्कर्म प्राभृत) व महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) भी कहा है। किन्तु नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने अपने जिस गोम्मटसार ग्रन्थ में इस आगम सूत्र का सार संग्रह किया है, वहाँ उन्होंने इसे षट्खंड रूप से ही निर्दिष्ट किया है। उन्होंने गो० सा० की गाथा ३९७ में कहा है।

जह चक्केण य चक्की छक्खंड साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं ॥

—अर्थात् जिस प्रकार चक्रवर्ती द्वारा अपने चक्र से षट्खंड (पृथिवी) निर्विघ्न रूप से साधी जाती है, उसी प्रकार मतिरूपी चक्र से मैंने भले प्रकार षट्खंड (आगम) को सिद्ध किया है। इसी आधार से पीछे के अनेक सैद्धान्तिक आचार्यों के साथ सिद्धान्तचक्रवर्ती पद जुड़ा हुआ पाया जाता है।

कर्ता का प्ररूपण भी टीकाकार ने दो प्रकार से किया है—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता। अर्थकर्ता को भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा चार प्रकार से समझाया गया है। समस्त शारीरिक व मानसिक दोषों से रहित, अतिशयों से युक्त तथा देवों और मनुष्यों द्वारा पूजित महावीर तीर्थंकर इसके द्रव्य की अपेक्षा अर्थकर्ता हैं। क्षेत्र की अपेक्षा महावीर भगवान् ने इसका उपदेश पंचशैलपुर (राजगृह) के विपुलाचल पर्वत पर भव्य लोगों को दिया था। काल की अपेक्षा वह उपदेश वर्तमान अवसर्पिणी के चौथे अर्थात् दुखमा-सुखमा आरे के ३४ वर्ष से कुछ कम शेष रहने पर वर्ष के प्रथम मास श्रावण के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र व रुद्र मुहूर्त में सूर्योदय के समय हुआ, और तभी से युग का आदि मानने योग्य है।

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए।
चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूणए संते ॥५५॥
वासस्स पढम-मासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि ॥५६॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥५७॥

भावकी अपेक्षा छद्मस्थ ज्ञान नष्ट होने पर नौ केवल लब्धियों से संयुक्त व केवलज्ञान में उपयुक्त भगवान् महावीर इसके अर्थकर्ता हैं।

केवलज्ञानी महावीर द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान को उनके प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने धारण करके बारह अंगों और चौदह पूर्वों की ग्रन्थ रूप रचना की। इस प्रकार भावश्रुत के अर्थपदों के कर्ता तीर्थंकर और द्रव्यश्रुत के कर्ता गौतम गणधर हुए और यह ग्रन्थ रचना उत्पन्न हुई। गौतम गणधर ने इसी दो प्रकार के श्रुतज्ञान को लोहार्य (सुधर्म) को संचारित किया और उन्होंने जंबू स्वामी को। इस प्रकार परिपाटी से ये तीनों समस्त श्रुत के धारी (केवली) हुए। किन्तु अपरिपाटी

से सकलश्रुत के पारगामी अनेक सहस्त्र आचार्य हुए। इनके पश्चात् विष्णु, नंदिमित्र, अपराजित गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच पुरुषोली क्रम से चतुर्दशपूर्वधारी हुए। तत्पश्चात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल गंडदेव, और धर्मसेन ये पुरुषोली क्रम से ग्यारह आचार्य एकादश अंगों तथा उत्पादादि दशपूर्वों के पारगामी तथा शेष चारपूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। इनके पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाँडु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य पुरुषोली क्रम से ग्यारह अंगों के धारी तथा चौदह पूर्वों के एकदेशज्ञाता हुए। तत्पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु, और लौहार्य ये चार आचार्य आचारांग के तथा शेष अंगों व पूर्वों के एकदेश ज्ञाता हुए। इसके पश्चात् समस्त अंगों और पूर्वों का एक-एक देश मात्र ज्ञान आचार्य परम्परा से आकर धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ।

धरसेनाचार्य सौरठ विषय के गिरिनगर पट्टन की चन्द्रगुफा में निवास कर रहे थे। वे अष्टांग महानिमित्त शास्त्र के पारगामी थे। उन्हें भय हुआ कि अब आगे श्रुत ग्रन्थों का विच्छेद होने वाला है, अतएव प्रवचन वत्सल उन आचार्य ने महिमा में (नगरी में अथवा महोत्सव के लिये) एकत्रित हुए दक्षिणापक्ष के आचार्यों को लेख प्रेषित किया, जिसे समझकर उन आचार्यों ने आन्ध्र विषय में वेणाक नदी के तट से अत्यन्त विनयशील, सकल कला पारंगत तथा शास्त्रार्थ ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो साधुओं को भेजा। उनके पहुँचने पर धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा ली, और जब उन्हें उनकी योग्यता में पूर्ण विश्वास हो गया, तब उन्हें अपना श्रुतोपदेश देना प्रारम्भ किया, जो आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी के पूर्वाण्ह में समाप्त हुआ। गुरू ने उन दोनों के नाम पुष्पदंत और भूतबलि रखकर उन्हें उसी दिन अपने पास से प्रेषित कर दिया। वे गिरिनगर से चलकर अंकुलेश्वर आये और वहीं उन्होंने वर्षाकाल व्यतीत किया। तत्पश्चात् पुषदन्त आचार्य वनवास विषय को गये और भूतबलि तामिल देश को। पुष्पदन्त आचार्य ने जिनपालित को दीक्षा देकर तथा सत्प्ररूपणा तक के सूत्रों की रचनाकर और जिनपालित को पढ़ाकर भूतबलि के पास भेजा। भूतबलि ने जिनपालित के पास उन सूत्रों को देखकर और उसे अल्पायु जानकर, तथा महाकर्म प्रकृति पाहुड का व्युच्छेद न हो जावे इस बुद्धि से आगे द्रव्यप्रमाणादि अनुगमों की ग्रंथ रचना की। इस प्रकार इस खंड सिद्धान्त की अपेक्षा जिनपालित भी इसके निमित्त हुए, एवं भूतबलि और पुष्पदन्त इसके कर्ता। अतः इस रचना के मूलतंत्रकर्ता बर्द्धमानभट्टारक, अनुतंत्रकर्ता गौतम स्वामी, तथा उपतंत्रकर्ता भूतबलि, पुष्पदन्त आदि वीतराग मुनिवर हुए। इस वृत्तान्त के द्वारा धवलाटीका के कर्ता वीरसेनाचार्य ने यह स्पष्टतः प्रगट कर दिया है कि जैनदर्शन का जो विषय आगम परम्परानुसार धरसेनाचार्य को प्राप्त हुआ था, उसे उनके पुष्पदन्त और भूतबलि इन दो शिष्यों ने उपलभ्य षट्खंडागम सूत्रों का रूप दिया। इसके आदि के सत्प्ररूपणा पर्यन्त सूत्रों की रचना पुष्पदन्त ने की, और शेष द्रव्यप्रमाणादि समस्त रचना उनके सहधर्मी भूतबलि आचार्य ने।

सूत्र रचना काल —

स्वयं ग्रन्थ में अथवा उसकी टीका में षट्खंडागम सूत्रों के रचनाकाल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु टीकाकार ने महावीर स्वामी से लौहार्य तक की जो परम्परा दी है, उससे उक्त ग्रन्थ रचना के काल की पूर्वावधि निश्चित हो जाती है। महावीर निर्वाण से लेकर गौतमादि आचार्यों की जो परम्परा ऊपर दी जा चुकी है वहाँ उनके काल का निर्देश नहीं पाया जाता। किन्तु टीकाकार ने इसी प्रास्ताविक ऐतिहासिक विषय का जो विवेचन वेदना खंड के आदि में पुनः किया है, उसमें काल के सम्बन्ध में सूक्ष्मता से विचार किया गया पाया जाता है। वहाँ बतलाया गया है कि शक नरेन्द्र काल अर्थात् शक संवत् से ठीक ६०५ वर्ष और ५ माह पूर्व महावीर भगवान् का निर्वाण हुआ। इसके समर्थन में उन्होंने एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है :—

> पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होन्ति वाससया।
> सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदोरासी ॥ (ष०खं०भाग ९, पृ० १३२)

वीर निर्वाण के पश्चात् ६२ वर्ष में पूर्वोक्त तीन केवली हुए, १०० वर्ष में पाँच श्रुतकेवली, १८३ वर्ष में ग्यारह दशपूर्वी २२० वर्ष में पाँच एकादश अंगधारी व ११८ वर्ष में चार एकांगधारी हुए। इस प्रकार श्रुतज्ञान की परम्परा महावीर निर्वाण के पश्चात् गौतम स्वामी से लेकर ६८३ वर्ष अर्थात् शक सं० ७७–७८ तक चली। इसके कितने पश्चात् धरसेनाचार्य हुए इसका निश्चित उल्लेख धवला में व अन्यत्र कहीं भी नहीं पाया जाता। किन्तु इन्द्रनन्दीकृत श्रुतावतार में लौहार्य के पश्चात

विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त इन चार आरातीय आचार्यों का उल्लेख किया है, और तत्पश्चात् अर्हद्बलि का और उनके पश्चात् धरसेनाचार्य का। किन्तु इन उल्लेखों पर से यह स्पष्ट नहीं होता कि उक्त आरातीय आचार्य एक ही समय में हुए या अनुक्रम से, और न उनकी गुरुशिष्य परम्परा का कोई संकेत मिलता। यहां तक कि गुणधर और धरसेनाचार्य के सम्बन्ध में तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि :–

गुणधर धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः ।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अर्थात् गुणधर और धरसेनाचार्य की गुरुपरम्परा का पूर्वापर क्रम हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस परम्परा का कथन करने वाला न हमें कोई आगम मिला और न मुनिजन। इन्द्रनन्दी के इस प्रमाणाभाव के स्वीकार से जहाँ हमें इन आचार्यों का ठीक काल निर्देश नहीं मिलता, वहाँ इतनी बात का भरोसा हुए बिना भी नहीं रहता कि इन्द्रनन्दी ने जो बातें कही हैं वे किसी न किसी लिखित वा मौखिक परम्परा के आधार से ही की हैं। उन्होंने षट्खंडागम के अनेक टीकाकारों का उल्लेख किया है, जिनमें कुंदकुंद और समन्तभद्र भी हैं। इससे इन्द्रनन्दी का यह अभिमत स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों आचार्य षट्खंडागम के सूत्रकारों से पश्चात्कालीन थे। यह बात इस दिगम्बर मान्यता से भी परिपुष्ट होती है कि षट्खंडागम सूत्र ही उपलब्ध समस्त शास्त्रों में सर्वप्रथम ग्रन्थरूप से अवतरित हुए। यद्यपि कुंदकुंदादि आचार्यों का भी ठीक-ठीक समय ज्ञात नहीं है, तथापि वे विक्रम की तीसरी सदी या उससे पश्चात् हुए माने जाते हैं। इस प्रकार षट्खंडागम सूत्रों का रचनाकाल शक संवत् की पहली-दूसरी सदी के बीच सिद्ध होता है। कुछ प्रमाण ऐसे भी हैं जो इस रचना को शक सं० की प्रथम सदी की ओर ही खींचते हैं। नंदी आम्नाय की एक प्राकृत पट्टावली पाई जाती है (जैं० सि० भा० १, ४, १९४३), जिसमें महावीर निर्वाण से लौहार्य तक के आचार्यों की नामावली व क्रम तो पूर्वोक्त प्रकार ही है, किन्तु काल निर्देश में भेद है। उसके अनुसार ६८३ वर्ष लौहार्य तक पूरे नहीं हुए, किन्तु उनके पश्चात् अर्हद्बली, माघनंदि, धरसेन, पुष्पदंत और भूतबलि इन पाँच आचार्यों के ११८ वर्ष सम्मिलित करके पूर्ण होते हैं। इसके अनुसार धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबलि का काल शक सं० ९ से ७८ तक सिद्ध होता है। धवलाटीका की पूर्वोक्त उत्थानिका में यह भी कहा गया है कि जब पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्य श्रुत का उपदेश पाने के लिये धरसेनाचार्य के पास पहुँचे, तब उनकी योग्यता की परीक्षा करने के लिये उन्हें पृथक्-पृथक् एक-एक मंत्र सिद्ध करने के लिये दिया। वे मंत्र उन्होंने बुद्धिपूर्वक हीनाक्षर व अधिकाक्षर कर दिये थे, जिसके प्रभाव से फलित देवियाँ भी हीनांग व अधिकांग प्रकट हुईं। इस पर विचार कर उन आचार्यों ने अपने-अपने मंत्र का संशोधन कर पुनः साधना की, और सुंदरांगी देवियों का दर्शन किया। इससे धरसेनाचार्य ने उनकी योग्यता समझकर उन्हें धर्मोपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इस पर से धरसेनाचार्य का मंत्र शास्त्र के ज्ञाता होना सिद्ध होता है। श्वे० परम्परा में प्राप्य बृहट्टिप्पणिका नामक ग्रंथ सूची में उल्लेख है कि योनिप्राभृत ग्रन्थ वीर-निर्वाण से ६०० वर्ष पश्चात् धरसेन द्वारा लिखा गया है—"योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनं" (बृहत्० जैन सा० सं० १, २ परिशिष्ट)। जोणि पाहुड नामक मंत्रशास्त्र का उल्लेख धवलाटीका में भी पाया जाता है। यथा "जोणि पाहुडे भणिद मंत तंत्त-सत्तीओ पोग्गलाणुभागो त्ति घेत्तव्वो" (ष०अ०प्रति० पत्र ११९८)। इससे योनि प्राभृत नामक मंत्र शास्त्र की प्राचीन सत्ता सिद्ध होती है। एक योनिप्राभृत ग्रन्थ उपलब्ध भी हुआ है जो ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओं में मंत्र-तंत्र विषयक है, और जो भंडारकर इंस्टीट्यूट के ग्रंथालय में विद्यमान है। इस ग्रन्थ की यह प्रति सं० १५८२ की लिखित है, और वह ग्रन्थ सम्भवतः हरिषेणकृत है। किन्तु स्वयं हरिषेण के समक्ष एक प्राचीन योनि प्राभृत ग्रन्थ विद्यमान था (अने० २, १२)। इस प्रमाण से भी आचार्य धरसेन का काल शक सं० की प्रथम शती ही प्रमाणित होता है। कुछ शिलालेखों में पुष्पदन्त और भूतबलि को अर्हद्बलि के शिष्य माना गया है (श्र० बे० शि० ले० नं० १, शक सं० १३२०) यह परम्परा भी नंदीसंघ पट्टावलि के कथन की ओर झुकती है।

इसके रचना काल पर प्रकाश डालने वाला एक और प्रमाण है। ऊपर कहा जा चुका है कि पुषदन्त, भूतबलि को उपदेश देने वाले आचार्य धरसेन गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करते थे। गिरिनगर के समीप जूनागढ़ के पूर्वी भाग में आधुनिक बावाप्यारा मठ के निकट अनेक प्राचीन गुफाएँ हैं, जिनमें से कुछ में जैन चिन्ह भी पाये जाते हैं। एक गुफा में स्वस्तिक, भद्रासन, नंदिपद, मीनयुगल और कलश के चिन्ह खुदे हुए हैं, जैसे कि मथुरा के जैन स्तूप की खुदाई से प्राप्त आयाग पटों पर भी पाये गये हैं। इस गुफा में एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसमें क्षत्रप नरेश चष्टन और जयदामन के उल्लेख

के अतिरिक्त 'गिरिनगर में देवासुर, नाग, यक्ष, राक्षस, केवलिज्ञान, जरामरण, चैत्र शुक्ल पंचमी, ये शब्द भी पढ़े जाते हैं। बीच बीच में लेख खंडित होने के कारण लेख का पूर्ण वृत्तान्त तो ज्ञात नहीं होता, किन्तु उक्त शब्दोल्लेखों पर से अनुमान किया जा सकता है कि उसमें उक्त क्षत्रप राजवंश के काल में किसी बड़े ज्ञानी जैन मुनि के देहोत्सर्ग का वृत्तान्त रहा होगा। लेख की लिपि भी क्षत्रप कालीन शक की प्रथम द्वितीय शती की ही है। जयदामन के पुत्र रुद्रदामन का सुप्रसिद्ध संस्कृत लेख गिरिनार की ऐतिहासिक शिला पर खुदा हुआ शक ७२ का है। आश्चर्य नहीं जो वही गुफा धरसेनाचार्य की रही हो, और उक्त शिलालेख उन्हीं के समाधिमरण की स्मृति में उत्कीर्ण किया गया हो (महाबन्ध भाग २ भूमिका)। टीकाकार ने सूत्र रचना संबंधी जो अन्य भौगोलिक व ऐतिहासिक उल्लेख किये हैं उनसे भी ग्रन्थ के रचना काल पर कुछ प्रकाश पड़ता है। धरसेनाचार्य ने आँध्र देश के अन्तर्गत वेणाक नदी के तीर पर स्थित महिमामें सम्मिलित मुनि संघ को पत्र भेजा था। बम्बई राज्य के सातारा जिले में वेण्या नाम की नदी तथा महिमानगढ़ नामक ग्राम विद्यमान हैं,जो उल्लिखित नदी व नगर से अभिन्न प्रतीत होते हैं। प्राचीन काल में ई० पू० २३२ से ई० सन् २२५ तक सातारा जिले का यह प्रदेश आन्ध्रसाम्राज्य के अन्तर्गत पाया जाता है। इसके पश्चात् इस प्रदेश पर आन्ध्रों का अधिकार नहीं रहा। अतएव धरसेन सम्बन्धी उक्त उल्लेख इसी कालावधि के भीतर घटित होता है। इन सब प्रमाणों पर से उक्त सूत्रों का रचना काल वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष व्यतीत होने पर शक सं० ७७-७८ के लगभग ही मानना उचित प्रतीत होता है।

षट्खंडागम के टीकाकार

वर्तमान में षट्खंडागम पर केवल एकमात्र वीरसेनाचार्य कृत धवला ना टीका मकपाई जाती है। किन्तु इन्द्रनंदी ने अपने श्रुतावतार में इससे पूर्व की अनेक टीकाओं का उल्लेख किया है। उनके उल्लेखानुसार इस सिद्धान्त ग्रंथ का ज्ञान गुरू परिपाटी से कुंडकुंदपुर निवासी पद्मनंदी मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने आदि के तीन खंडों पर परिकर्म नामकी १२००० श्लोक प्रमाण टीका लिखी (इ० श्रुता० १६०-६१)। धवला टीका में 'परियम्मादो','परियम्मे वुत्तं,' 'परियम्म वयणादो णव्वदे,' 'सयलायरिय सम्मद परियम्म सिद्धत्तादो' इत्यादि रूप से परिकर्मका अनेक बार उल्लेख आया है। एक स्थान पर तो उन्होंने यहां तक कहा है कि 'एदस्स सुत्तस्स बलेण परियम्म पवुत्तीदो' अर्थात उक्त विरोध की बात ठीक नहीं है, क्योंकि परिकर्म की प्रवृत्ति इसी सूत्र के बल से चलती है। इससे परिकर्म नाम का कोई ग्रन्थ धवलाकार के सम्मुख था और उसका षट्खंडागम सूत्रों से घनिष्ट संबंध था यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है। किन्तु एक तो परिकर्मके समस्त उल्लेख गणित विषयक हैं, और दूसरे धवलाकारने कहीं उसे इस ग्रन्थ की टीका या पद्मनंदी व कुंदकुंद कृत कहकर उल्लेख नहीं किया। अतः यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उक्त उल्लेख पद्मनंदी मुनि कृत उसी परिकर्म नामक टीका ग्रन्थ के हैं, जिसका इन्द्रनंदी ने उल्लेख किया है।

इन्द्रनन्दी ने दूसरी टीका श्यामकुंडाचार्य कृत कही है, जो छठवें खंड को छोड़कर प्रथम पाँच खंडों पर पद्धति रूप से १२००० श्लोक प्रमाण प्राकृत-संस्कृत और कर्नाटक भाषा मिश्रित लिखी थी। तत्पश्चात् तुम्बलूर (ग्राम के निवासी) आचार्य ने प्रथम पाँच खंडों पर चूडामणि नामकी चौरासी हजार श्लोक प्रमाण व्याख्या कन्नाड़ी में लिखी तथा छठवें खंड पर भी ७००० श्लोक प्रमाण पञ्चिका लिखी। भट्टाकलंक देव ने अपने कर्नाटक शब्दानुशासन में चूडामणि नाम की तत्त्वार्थ महाशास्त्र व्याख्या का उल्लेख किया है और उसको ९६००० श्लोक प्रमाण बतलाया है। उसका तात्पर्य उक्त इसी तुम्बलूर आचार्य कृत चूडामणि व्याख्या से हो तो आश्चर्य नहीं।

श्रुतावतार के अनुसार चौथे टीकाकार तार्किक समन्तभद्र स्वामी हुए। उन्होंने षटखंडागम के प्रथम पाँच खंडों पर ४८००० श्लोक प्रमाण अत्यन्त सुन्दर और मृदुल संस्कृत टीका लिखी। धवला टीका में यद्यपि 'समन्तभद्दसामिना उत्तं' आदि रूप से अनेक बार उनका उल्लेख किया है, तथापि वे सब उल्लेख उनके आप्तमीमांसा व वृहत् स्वम्यभू स्तोत्र आदि ग्रंथों के हैं। ऐसा कोई उल्लेख दिखाई नहीं देता जो उक्त टीका सम्बन्धी कहा जा सके। तथापि समंतभद्र विरचित अन्य कुछ ग्रन्थों के ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनका उक्त टीका से अभिप्राय हो तो आश्चर्य नहीं। जिनसेनाचार्य कृत हरिवंश पुराण में समन्तभद्रकृत जीवसिद्धि का उल्लेख आया है। किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक मिला नहीं। जीवसिद्धि से प्रथम खंड जीवट्ठाण की टीका से अभिप्राय हो तो आश्चर्य नहीं। कुछ उल्लेख ऐसे भी मिलते हैं जिनमें समन्तभद्र को गंधहस्ति नामक तत्त्वार्थ सूत्र व्याख्यान के कर्ता कहा गया है, और वह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र का अनुमान किया जाता है। किन्तु उसका अभिप्राय यदि इन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों से हो तो भी आश्चर्य नहीं, क्योंकि इन ग्रन्थों की भी तत्त्वार्थ महासूत्र नाम से

प्रसिद्धि रही है। ऊपर कहा ही जा चुका है कि भट्टाकलंक देव ने चूडामणि को तत्त्वार्थ महाशास्त्र का व्याख्यान कहा है। पाँचवें टीकाकार, इन्द्रनन्दी के वर्णनानुसार बप्पदेव गुरु हुए। उन्होंने शुभनन्दी और रविनन्दी नामके दो मुनियों से भीमरथी और कृष्णमेख नामक नदियों के बीच उत्कलिका ग्राम के समीप मगनबल्ली में उपदेश पाकर प्रथम पाँच खंडों पर व्याख्या-प्रज्ञप्ति नाम की टीका लिखी, तथा छठे खंड महाबन्ध का संक्षेप लगभग ८००० श्लोक प्रमाण लिखा। उनकी यह सब रचना प्राकृत भाषा में हुई। धवला टीका में 'वियाहपण्णत्ति' के कुछ उल्लेख पाये जाते हैं। एक में 'वियाहपण्णत्ति वयणादो' कहकर टीकाकार ने अपनी बात की पुष्टि की है। एक दूसरे श्लोक में अपनी बात का 'वियाहपण्णत्ति' सूत्र से विरोध दिखलाया है और यह भी कहा है कि वह इस शास्त्र से पृथक्श्रुत है, एवं आचार्य भेद होने के कारण उसका इस शास्त्र के साथ एकत्व का अभाव है:—'एदेण वियाह पण्णत्ति सुत्तेण सह कधं ण विरोहो ? ण, एदम्हादो तस्स पुधुसुदस्स आयरियभेएण भेद-मावण्णस्स एयत्ताभावादो' (ध० ८०८)। इस उल्लेख से 'वियाहपण्णत्ति' का अभिप्राय बप्पदेवकृत टीका से कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ उसे सुत्त कहा है और उसे पृथक्श्रुत माना है व आचार्य भेद से सिद्धान्त ऐक्य का अभाव स्वीकार किया है। आश्चर्य नहीं जो इस उल्लेख का अभिप्राय पाँचवें श्रुतांग व्याख्याप्रज्ञप्ति से हो। किन्तु कषायपाहुड की जयधवला टीका में बप्पदेवाचार्य द्वारा लिखित 'उच्चारणा' का उल्लेख आया है, और टीकाकार ने उस उच्चारणा से स्वलिखित उच्चारणा का भेद बतलाया है। यथा, 'चुण्णि सुत्तम्मि बप्पदेवाइरिय लिहिदुच्चारणाए अंतोमुहुत्तमिदि भणिदो। अम्हेहि लिहिदुच्चारणाए पुण जहण्णएगसमओ, उक्क० संखेज्जा समया त्ति परूविदो' (१८५ जयध०)। इससे स्पष्ट है कि जयधवलाकार के सम्मुख बप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणा विद्यमान थी। इन्द्रनन्दी के मतानुसार तो व्याख्या-प्रज्ञप्ति (बप्पदेवकृत) को पाकर ही वीरसेन ने धवलाटीका लिखना प्रारम्भ किया था।

इस प्रकार वीरसेन कृत धवलाटीका से पूर्व षट्खंडागम पर क्रमशः पाँच आचार्यों द्वारा टीकाएँ लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु ये टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं हैं। अनुमानतः धवलाटीका की रचना के पश्चात् उनका प्रचार रुक गया और जब स्वयं धवलाटीका की प्रतियां केवल एकमात्र स्थान पर सुरक्षित रहीं, अन्यत्र कहीं नहीं, तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि पूर्व की टीकाएँ कहीं भी सुरक्षित नहीं रहीं।

धवलाटीका की रचना का इतिहास :—

श्रुतावतार के अनुसार बप्पदेवकृत व्याख्या-प्रज्ञप्ति टीका लिखे जाने के कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्त के तत्त्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूट में निवास करते थे। वीरसेन गुरु ने उनके समीप समस्त सिद्धान्त का अध्ययन किया, और वहीं पर निबन्धनादि आठ उपरितन अधिकार लिखे। तत्पश्चात् गुरु की अनुज्ञा से वे चित्रकूट छोड़कर वाटग्राम में आये और वहाँ उन्होंने व्याख्या-प्रज्ञप्ति को प्राप्त करके षट्खंडागम के प्रथम पाँच खंडों पर टीका लिखी, तथा निबन्धनादि उपरितन अठारह अधिकार पूरे किये। इन्हीं अठारह अधिकारों का सत्कर्म नामक छठा खंड बना। उनकी यह समस्त रचना प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषामय ७२ हजार श्लोक प्रमाण हुई, जिसका नाम धवलाटीका रखा गया। यही वर्णन संक्षेप में विबुधश्रीधर कृत श्रुतावतार में भी पाया जाता है। इसका खुलासा इस प्रकार है :—

बारहवें अंग दृष्टिवाद के चतुर्थभेद पूर्वगत का दूसरा पूर्व आग्रायणीय नामक था, जिसके पूर्वान्तादि चौदह अधिकारों में पाँचवें चयन लब्धि नामक अधिकार के अन्तर्गत २० पाहुड थे। इनमें चतुर्थ पाहुड का नाम कर्म प्रकृति था, जिसके कृतिवेदना आदि २४ अनुयोगद्वार थे। इन अनुयोग द्वारों पर भूतबलि ने सूत्र रचना की। कृति और वेदना के सूत्रों का वेदना खंड बना। स्पर्श, कर्म और प्रकृति, एवं बंधन के बंध और बंधनीय नामक दो अधिकारों का वर्गणा खंड बना। बंधन के तीसरे अधिकार बन्धन का खुद्दाबंध एवं चौथे अधिकार बंधविधान का महाबंध बना। महाविधान के प्रकृति नामक प्रकरण की एकैकोत्तर प्रकृति के समुत्कीर्तनादि २४ अधिकारों में से १२ वें अधिकार का बंधस्वामित्वविचय खंड बना, तथा अन्य विविध अधिकारों के संयोग से जीवट्ठाण खंड व इसकी चूलिकाएँ बनीं। पुष्पदन्त और भूतबलि की इस षट्खंडरूप सूत्र रचना में उक्त कर्म प्रकृति पाहुड के केवल कृति आदि प्रथम छह अनुयोग द्वारों का ही प्ररूपण हो सका। उसके निबन्धनादि १८ अधिकार अछूते ही रह गये। इनपर सूत्र रचना नहीं हुई। वीरसेन ने इन्हीं निबन्धनादि उपरितन १८ अधिकारों का संक्षेप से वर्णन किया और यही उनका अपना छठा खंड था। उन्होंने भूतबलिकृत महाबन्ध नामक छठे खंड को अपनी टीका का विषय नहीं बनाया। जहाँ वर्गणा खंड की टीका समाप्त हुई है, वहाँ

उन्होंने इसकी स्पष्ट सूचना कर दी है। वे कहते हैं:—जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो, ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलि भडारएण महाबंधे सुप्पवंचेण लिहिदं त्ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बन्धविहाणं समप्पदि। (ध० क० १२५९–१२६०)।

अर्थात् बन्ध विधान चार प्रकार का है—प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध। इन चारों प्रकार के बन्धों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबन्ध में सविस्तार रूप से लिखा है। इस कारण हमने इसे यहाँ नहीं लिखा। इस प्रकार से समस्त महाबन्ध के यहाँ प्ररूपण हो जाने पर बंध विधान समाप्त होता है। इस प्रकार भूतबलिकृत महाबन्ध भी षट्खंडागम का छठवां खंड है, तथा वीरसेन कृत निबन्धनादि अठारह अधिकारों का प्ररूपण भी सत्कर्म नामक छठा खंड है। परन्तु स्वयं वीरसेन ने इसे चूलिका नाम दिया है। यथा—'एत्तो उवरिम गंथो चूलिया नाम।'

धवला टीका के अन्त की प्रशस्ति में वीरसेन ने स्वयं अपना, अपने समकालीन राजाओं का, तथा ग्रंथ समाप्ति के काल का कुछ परिचय दिया है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। सर्वप्रथम उन्होंने एलाचार्य का स्मरण किया है और कहा है कि उन्हींके प्रसाद से उन्होंने यह सिद्धान्त रचना की। तत्पश्चात् उन्होंने अपने पंचस्तूपान्वय एवं अपने आर्यनंदी गुरु व चन्द्रसेन दादा-गुरु का उल्लेख किया है, तथा कहा है कि यह टीका सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाणशास्त्र में निपुण भट्टारक वीरसेन ने लिखी। फिर उन्होंने धवलाटीका की समाप्ति का काल सूचित किया है। दुर्भाग्य से इस अंश के अनेक अक्षर अस्पष्ट होने से संवत् व वर्ष निर्देश तथा नक्षत्रों आदि के उल्लेखों में कुछ अनिश्चय पाया जाता है। तथापि मैंने परिश्रमपूर्वक व अपने ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता एक मित्र की सहायता से जो इस पाठ का संशोधन किया है उसके अनुसार वह काल निर्देश शक सं० ७३८ कार्तिक शुक्ल त्रयोदशी आता है, जो तदनुसार दि० ८ अक्टूबर सन् ८१६ सिद्ध होता है। उस समय जग-तुंग देव के राज्य का भी उल्लेख है, जो राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तक के मिले हैं।

वीरसेन ने अपनी धवला टीका द्वारा जैसा षट्खंडागम सूत्रों के मर्म को खोलकर बतलाया है, स्पष्ट किया है और कर्म सिद्धान्त का जिस विस्तार से प्रतिपादन किया है, वह जैन साहित्य में अद्वितीय है। उनकी प्रतिभा के विषय में जो कुछ उनके पट्टशिष्य जिनसेन ने जयधवला टीका की प्रशस्ति व आदिपुराण की उत्थानिका में कहा है, उतने मात्र का ही यहाँ उल्लेख कर देना काफी होगा। जयधवला प्रशस्ति में इनका गुणानुवाद दस श्लोकों (१७–२६) में पाया जाता है, जिनमें कहा गया है कि वीरसेन निराश होते हुए आसन्न भव्यों का उत्साहवर्द्धन करने में उसी प्रकार समर्थ हुए जैसे पूर्णिमाका चन्द्र कुमुदों को प्रसन्न कराता है। वे साक्षात् केवली के समान इन्द्रिय अगोचर विश्व के पारदृष्टा थे। उनकी अशेष विषयों को आक्रान्त करने वाली भारती, सरस्वती के सदृश षट्खंडागम के अर्थ प्ररूपण में कहीं स्खलित नहीं हुई। इसीलिये विद्वान् उन्हें ज्ञान की रश्मियों का प्रसार करने वाले सूर्य, श्रुतकेवली और श्रेष्ठ प्रज्ञाश्रमण कहते थे। प्रसिद्धि और सिद्ध-सिद्धान्तरूपी समुद्र के जल से धुलकर उनकी बुद्धि ऐसी निर्मल हुई थी कि वे बुद्धिसम्पन्न प्रत्येकबुद्धों के साथ स्पर्द्धा करते थे। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर मनस्वी सर्वज्ञ के सद्भाव में निःशंक हो जाते थे। उन्होंने चिरकालीन पुस्तकों (आगम ग्रंथों) को अपनी टीका द्वारा गौरवशाली बनाकर पूर्वकालीन समस्त पुस्तक शिष्यों (आगम पाठियों) से अधिक अतिशय प्राप्त किया। अपने ज्ञानोपदेश द्वारा भव्यों को सम्बोधन करते हुए वे मुनिराज पंचस्तूपान्वय में ऐसे देदीप्यमान हुए, जैसे अपनी प्रकाशकिरणों द्वारा कमलों को प्रफुल्लित करता हुआ आकाश में सूर्य। इस आर्यनंदी के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य ने अपने गुणों द्वारा अपने कुल, गण व संतान को उज्ज्वल बना दिया। इसी प्रकार आदि पुराण की उत्थानिका के चार श्लोकों (५५–५८) में वीरसेन की वन्दना इस प्रकार की गई है—भट्टारक की विशाल पदवी को प्राप्त, पवित्र आत्मा तथा वादि वृन्दारक श्रीवीरसेन मुनि हमें पवित्र करें। इन भट्टारक जी में लोक विद्वत्ता और कवित्व ये दोनों गुण थे। उनकी वक्तृत्व शक्ति और वाणी वाचस्पति के समान थी। सिद्धान्तों के उपनिबन्धों के विधाता मेरे इन गुरु के मृदुल चरण-कमल मेरे मनरूपी सरोवर में स्थित रहें। उनकी जिस पवित्र और निर्मल धवला भारती तथा कीर्ति ने समस्त भुवन को धवल बना दिया उसे मैं नमस्कार करता हूँ।

षट्खंडागम की शैली और भाषा :—

यह ग्रन्थ जिस रूप में प्राप्त हुआ है, उसमें हमें शैली व भाषा की दृष्टि से तीन स्तर दिखाई देते हैं। एक तो पुष्पदन्त

और भूतबलि कृत सूत्र, दूसरे टीकाकार द्वारा प्रमाण रूप से उद्धृत प्राचीन गाथाएं, और तीसरे टीकाकार वीरसेन की अपनी टीका। सूत्रों की रचना का समय पूर्वोक्त अनुसार शक सं० की द्वितीय शती है। ये समस्त सूत्र शौरसेनी प्राकृत में है, जिसमें मध्यवर्ती 'त्' के स्थान पर 'द्', 'क्' के स्थान में 'ग्' बहुतायत से पाये जाते हैं, किन्तु यत्र तत्र वर्ण लोप भी दिखाई देता है। आर्य भाषा के विकास की दृष्टि से यह स्थिति मध्यकाल के प्रथम और द्वितीय स्तर के संधि काल की प्रतीत होती है, जिसका समय भी ईसा की दूसरी शती माना गया है। सूत्रों में यत्र तत्र अर्द्धमागधी की पुट भी दिखाई देती है, जो प्राचीन जैनागम का स्मरण कराती है।

उद्धृत गाथाओं की भाषा भी शौरसेनी प्राकृत है,किन्तु इनमें हमें मध्यवर्णों के लोप सम्बन्धी महाराष्ट्री प्रवृत्ति सूत्रों की अपेक्षा अधिक मात्रा में दिखाई देती है, जिससे उनका रचना काल सूत्रों की अपेक्षा कुछ पीछे का सिद्ध होता है। इन गाथाओं में से कितनी ही नेमिचन्द्र कृत गोम्मटसार में भी संग्रहीत पाई जाती हैं,जिनमें हमें महाराष्ट्री प्रवृत्ति के अनुसार वर्णलोप तथा रूप विपरिवर्तन और भी अधिक दिखाई देता है। वीरसेन कृत धवला टीका की रचना मणि-प्रवाल न्याय से अर्थात् संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषामें हुई है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन प्रायः प्राकृत में ही किया गया है, किन्तु दार्शनिक व न्यायात्मक विषयों जैसे दर्शन व ज्ञान का स्वरूप तथा नयों की व्यवस्था आदि के विवेचन के लिये संस्कृत भाषा का उपयोग किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि धवलाकार के समय तक कर्मसिद्धान्त के व्याख्यान मेंतो प्राकृत का ही माध्यम चलता था, किन्तु दर्शन व न्याय विषयक विवेचन के लिये संस्कृत का माध्यम जैन परम्परा में भी स्वीकार हो चुका था, जैसा कि तत्कालीन जैन साहित्य से भी सिद्ध होता है। टीका में आचार्य ने उस भाष्य शैली का अवलम्बन किया है जिसके अनुसार व्याख्याता अपनी कही हुई बात पर भी शंका प्रतिशंका उठा उठाकर उनका समाधान करता हुआ व विषय के मर्मस्थल तक पहुँचता हुआ चलता है। टीका का प्राकृत गद्य बड़ी प्रसन्न शैली का है। दिग० साहित्य में यही एक रचना है।जहाँ हमें प्राकृत गद्य का प्रयोग इतनी प्रचुरता से मिलता है। इसकी प्राकृत भी शौरसेनी है, जिसमें महाराष्ट्री की वर्ण लोप रूप प्रवृत्ति टीका के रचना काल के अनुरूप मात्रा में मिलती है। इसी मिश्र प्रवृत्ति के कारण इन रचनाओं की, तथा कुन्दकुन्दादि दक्षिण के आचार्यों की प्राकृत रचनाओं की भाषा जैन-शौरसैनी कही जाती है, क्योंकि इनमें हमें शौरसैनी का वह रूप नहीं मिलता जो प्राकृत व्याकरणों में व तदनुसार संस्कृत नाटकों में प्रगट किया जाता है।

षट्खंडागम का विषय परिचय :—

इस आगम के ६ खंडों के नाम हैं—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्तविचय, वेदना, वग्गणा और महाबन्ध। टीकाकार ने इनके विषय की व्युत्पत्ति बारहवें दृष्टिवाद श्रुतांग के अन्तर्गत द्वितीय पूर्व आग्रायणीय के चयनलब्धि नामक ५वें अधिकार के चौथे पाहुड कर्म प्रकृति से बतलाई है, जिसका संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। प्रथम खंड जीवट्ठाण में जीव के गुण-धर्मों व नाना अवस्थाओं का वर्णन आठ प्ररूपणाओं द्वारा किया गया है, जो इस प्रकार है–सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व। इसके अन्त में नौ चूलिकायें हैं, जिनके नाम हैं—प्रकृति समुत्कीर्तन, स्थान समुत्कीर्तन, प्रथम महा-दण्डक, द्वितीय महादण्डक, तृतीय महादंडक, उत्कृष्ट स्थिति,जघन्य स्थिति, सम्यकत्वोत्पत्ति और गति-आगति। सत्प्ररूपणा के प्रथम सूत्र में पंचनमोकार का पाठ है। टीकाकार ने इसे देशामर्षक मानकर उसके आधार से मंगल, निमित्त, हेतु आदि छहों अनुबंधों का विस्तार से वर्णन किया है, जिसमें इस आगम रचना के निमित्त आदि का परम्परागत ऐतिहासिक परिचय बड़ा महत्त्वपूर्ण है, और इसका भी सार दिया जा चुका है। मंगल के सम्बन्ध में धवलाकार का अधिकृतमत ध्यान देने योग्य है। उन्होंने इस प्रसंग पर, तथा चौथे वेदना खंड के मंगल सूत्र की टीका में जो विवेचन किया है, उसका सार यह है—मंगल दो प्रकार का होता है—निबद्ध और अनिबद्ध। जिसे ग्रन्थकार स्वयं निबद्ध करता है, वह निबद्धमंगल कहलाता है; और जहाँ ग्रन्थकार स्वरचित मंगल नहीं, किन्तु किसी पूर्व प्रचलित मंगल को निबद्ध करता है, वहाँ अनिबद्ध मंगल होता है। उन्होंने पंच-नमोकार रूप मंगल को निबद्धमंगल कहा है, जिससे प्रतीत होता है कि उनके मतानुसार उसके रचयिता पुष्पदंताचार्य हैं। वेदना खंड के आदि के 'णमो जिणाणं', 'णमो ओहि जिणाणं' आदि ४४ नमस्कार पदों युक्त मंगल को उन्होंने अनिबद्धमंगल कहा है, और उसका कारण भी स्पष्ट बतलाया है कि वह मंगल गौतमस्वामीकृत है, जिसे उन्होंने महाकर्मप्रकृतिप्राभृत के आदि में निबद्ध किया था। भूतबलि स्वामी ने उसे ही वेदना खंड के आदि में उद्धृत कर दिया है, जिससे वह यहाँ अनिबद्ध-

मंगल ही माना जा सकता है। उसे यदि निबद्धमंगल ही मानना है तो यह तभी संभव है जब हम वेदनाखंड को कर्मप्रकृति-प्राभृत का अवयव होने से स्वयं वह प्राभृत मान लें, और उसी अपेक्षा से उसके कर्ता भूतबलि को भी गौतम गणधर मान लें। अन्य किसीप्रकार से उसे निबद्धमंगल नहीं कहा जा सकता।

सूत्रों में सत्प्ररूपणा का विषय निरूपण ओघ और आदेश क्रम से किया गया है। ओघ में मिथ्यादृष्टि आदि १४ गुणस्थानों का, तथा आदेश में गति, इन्द्रिय आदि १४ मार्गणाओं का। इस प्ररूपणा में कुल १७७ सूत्र हैं। धवलाकार का प्रथम सूत्र के अन्तर्गत ही नय निरूपण, दूसरे सूत्र के आधार से आचारांगादि समस्त श्रुत का परिचय, ३३वें सूत्र में इन्द्रियों की निष्पत्ति, ९३ वें सूत्र में स्त्रियों के चतुर्दश गुणस्थानों का निर्देश होने पर भी द्रव्यस्त्री की मुक्ति का निषेध, तथा चौथे व १३१ वें सूत्रों में दर्शन और ज्ञान में विवेक के प्रकरण जैन सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। सत्प्ररूपणा के अन्त में उन्होंने गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा व उपयोग आदि २० प्ररूपणाओं द्वारा विस्तार से यह कहकर प्ररूपण किया है कि "सूत्रेण सूचितार्थानां स्पष्टीकरणार्थं विंशति विधानेन प्ररूपणोच्यते। न पौनरुक्त्यमपि कथंचित् तेभ्यो भेदात्।" यही २० प्ररूपणा की प्रणाली गोम्मटसार में भी स्वीकार की गई है, और तिलोयपण्णत्ति में भी पाई जाती है, किन्तु सूत्रों में कहीं नहीं। अतएव यह गवेषणीय है कि इस प्रणाली का प्रारम्भ कहाँ से हुआ। (षट्खंडागम भाग १–२)

दूसरी प्ररूपणा द्रव्य-प्रमाणानुगम की है जिसमें १९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान व मार्गणास्थान क्रम से जीवों की संख्या का निर्देश किया है। यह प्रमाण निरूपण गणना से, काल से और क्षेत्र से बतलाया गया है, जैसे "ओघेण मिच्छाइट्ठी दव्वपमाणेण केवडिया, अणंता। अणंताणंताहि ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहि ण अवहिरंति कालेण। खेत्तेण अणंताणंता लोगा।" (सूत्र २–४)। अर्थात् गुण-स्थान क्रम से मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या कितनी है? अनंत है। वे इतने अनन्त हैं कि अनंतानन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल द्वारा उनका अपहरण नहीं हो सकता। क्षेत्र की अपेक्षा उनका प्रमाण अनंतानन्त लोकों के प्रदेशों के बराबर है। इस प्रकार प्ररूपण के लिये सूत्रों में हमें शतसहस्रकोटि, कोड़ा-कोड़ी, संख्यात, असंख्यात, अनंत और अनंतानंत का उल्लेख, तथा सातिरेक, हीन, गुण व अवहार, (अर्थात् जोड़, बाकी, गुणा, भाग) वर्ग और वर्गमूल, घन, अन्योन्याभ्यास आदि गणित की अनेक प्रक्रियाओं का निर्देश किया है। उसी प्रकार काल गणना में आवली, अन्तर्मुहूर्त, अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, पल्योपम आदि तथा क्षेत्र की अपेक्षा अंगुल, योजन, श्रेणी, जगप्रतर व लोक का उल्लेख आया है। इन सबसे पता चलता है कि आज से दो हजार वर्ष पूर्व ही इस परम्परा में गणित का कितना ज्ञान और अभ्यास हो चुका था। टीकाकार ने संख्यात, असंख्यात और अनन्त का तथा उनके भेद-प्रभेदों का बड़ी सूक्ष्मता से प्ररूपण किया है। उन्होंने अर्द्धच्छेद, वर्गशलाका व वर्गितसंवर्गित राशियों का जो परिचय दिया है वह गणित शास्त्र के लिये बहुत उपयोगी है। इसी प्रकार उनका राशियों के भाग प्रविभाग के लिए ध्रुवराशि स्थापित करना, खंडित, भाजित, विरलित, व अपहृत करने की क्रियाएं बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं, राशियों के क्षेत्र व युग्म एवं उनके तेजोज, कलियोज, कृतयुग्म व बादर युग्म नामक प्रभेद भी अपूर्व हैं। अपने प्ररूपण में टीकाकार ने अनेक मत मतान्तरों का भी उल्लेख किया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ तिर्यक्लोक के विस्तार और रज्जूप्रमाण के सम्बन्ध में उन्होंने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और परिकर्म सूत्र में मतभेद बतलाया है और सूक्ष्म विवेचन द्वारा अपने एक स्वतन्त्र निर्णय पर पहुँचे हैं, जिसके अन्त में उन्होंने कहा है—

एसो अत्थो जइवि पुव्ववाइरिय संपदाय विरुद्धो, तो वि तंतजुत्तिबलेण अम्हेहि परूविदो। तदो इदमित्थं वेत्ति णेहासग्गहो कायव्वो, अइंदियत्थविसये छदुवेत्थवियप्पिदजुत्तीणं ण्णिणयहेउत्ताणुववत्तीदो। तम्हा उवएसं लद्धूण विसेसणिण्णयो एत्थ कायव्वो॥ (ध० १, २, ४)

अर्थात् हमारा किया हुआ अर्थ यद्यपि पूर्वाचार्य सम्प्रदाय के विरुद्ध पड़ता है, तो भी तंत्र युक्ति के बल से हमने उसका प्ररूपण किया। अतः यह 'इसी प्रकार है' ऐसा दुराग्रह नहीं करना चाहिये, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में छद्मस्थों (अल्पज्ञों) द्वारा विकल्पित युक्तियों के एक निश्चय रूप निर्णय के लिये हेतु नहीं पाया जाता। अतः उपदेश को प्राप्त कर विशेष निर्णय करने का प्रयत्न करना चाहिये। धवलाकार ने यहाँ तात्त्विक अनुसंधान का एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है जो आज के समालोचकों को भी अनुकरणीय है। उसी प्रकार प्रमत्त संयत तथा उपशामकजीवों के प्रमाण के संबंध में उन्होंने उत्तरप्रतिपत्ती व दक्षिण प्रतिपत्ती नाम से दो भिन्न मान्यताओं का उल्लेख किया है। पंचेन्द्रिय-तिर्यंच योनिमति मिथ्यादृष्टियों

के अवतार काल के संबंध में भी दो भिन्न मतों का उल्लेख किया है,और उनमें एकान्त आग्रह का निषेध करके पुनः दृढ़तापूर्वक कहा है :—अहवा दोण्णि वि वक्खाणाणि असच्चाणि ऐसा अम्हाणं पइज्जा। अर्थात् उक्त दोनों ही व्याख्यान असत्य हैं, ऐसा हम प्रतिज्ञापूर्वक कह सकते हैं। इस प्रतिज्ञा के साथ उन्होंने सम्यक् विवेचना पूर्वक अपना यथोचित निर्णय दिया है। (षट्खंडागम भाग ३)

क्षेत्रप्ररूपणा में ९२ सूत्रों द्वारा गुणस्थान व मार्गणास्थान क्रम से जीवों के क्षेत्र का प्ररूपण किया गया है, जैसे 'ओघेण मिच्छाइट्ठी केवडि खेत्ते, सव्वलोगे। सासणसम्माइद्‌ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति केवडि खेत्ते, लोगस्स असंखेज्जदि भाए' (सूत्र २–३)। अर्थात् मिथ्या दृष्टि जीव कितने क्षेत्र में पाये जाते हैं, सर्वलोक में। सासादनसम्यक्‌दृष्टि से लेकर अयोग-केवली गुणास्थान तक के जीव कितने क्षेत्र में हैं, लोक के असंख्यात भाग में, इत्यादि। इस प्ररूपणा के आदि में ही टीका-कार ने अपने समय तक प्रचलित वर्तुलाकार लोक की प्रमाण प्ररूपणा करके उस मान्यता का खंडन किया है, क्योंकि उसमें श्रेणी (सात राजू) के घन प्रमाण क्षेत्र प्राप्त नहीं होता, और फिर लोक के 'आयत चतुरस्राकार' होने की स्थापना की है, जिसमें क्षेत्र का उक्त प्रमाण सिद्ध करके बतलाया है। उन्होंने यह भी दृढ़ता के साथ कहा है कि प्राचीन आगम में यह मान्यता न होने पर भी उन्होंने कुछ प्राचीन गाथाओं के आधार पर अपने युक्ति बल से सिद्ध किया है।

स्पर्शन प्ररूपणा में १८५ सूत्रों द्वारा यह बतलाया गया है कि नानागुणस्थान व मार्गणास्थान वाले जीव अपने स्वस्थान, समुद्‌घात व उपपात सम्बन्धी अनेक अवस्थाओं द्वारा कितना क्षेत्रस्पर्श कर पाते हैं। टीकाकार ने ज्योतिष्क देवों के भागहार को उत्पन्न करने वाले सूत्र के आधार से युक्तिपूर्वक यह सिद्ध किया है कि स्वयम्भूरमण समुद्र की बाह्य वेदिका के परे भी असंख्यात योजन विस्तृत पृथिवी का अस्तित्व है। इस प्रसंग में उन्होंने आगमाश्रित युक्ति और तर्क के बल से जो सर्वप्रथम स्थापित की हैं, ऐसी दो बातें हैं उक्त आयतचतुरस्रलोकसंस्थान की और स्वयंभूरमण के परभाग में पृथ्वी के अस्तित्व की। तीसरी बात है अन्तर्मुहूर्त के प्रमाण की। अन्तर्मुहूर्त, मुहूर्त से कुछ कम काल का वाची माना जाता था, किन्तु अन्तर पद को सामीप्य वाची मानकर यह स्थापित किया है कि इसका अभिप्राय मुहूर्त से अधिक काल का भी हो सकता है, क्योंकि इसके बिना सूत्र प्ररूपणा सिद्ध नहीं होती।

कालानुगम में ३४२ सूत्रों द्वारा नाना व एक जीव की अपेक्षा एक ही गुणस्थान व मार्गणास्थान में रहने की जघन्य और उत्कृष्ट मर्यादाओं की कालावधि का निर्देश किया गया है—जैसे मिथ्यादृष्टिजीव मिथ्यात्वगुणस्थान में कितने काल पर्यन्त रहते हैं? इसका उत्तर है नाना जीवों की अपेक्षा सर्वकाल, किन्तु एक जीव की अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त और सादि-सान्त। अर्थात् अभव्य जीव अनादि-अनन्त, भव्य जीव अनादि-सान्त तथा जो जीव एक बार सम्यक्त्व प्राप्त करके पुनः मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचा है, उस जीव का वह मिथ्यात्व सादि-सान्त है। यहाँ भी टीकाकार ने गणित की नाना प्रक्रियाओं का प्रयोग करके विषय को बड़ी सूक्ष्मता से समझाया है। (षट्खंडागम भाग—४)

अन्तर प्ररूपणा में ३९७ सूत्रों द्वारा विविध गुणस्थान व मार्गणास्थान वाले जीवों का नाना जीवों व एक जीव की अपेक्षा जघन्य व उत्कृष्ट अन्तरकाल बतलाया गया है। जैसे प्रश्न किया कि मिथ्यादृष्टि जीवों का अन्तरकाल कितना है? उत्तर दिया गया कि नाना जीवों की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं। अर्थात् ऐसा कोई काल नहीं जब संसार में मिथ्यादृष्टि जीव न पाये जावें। किन्तु एक जीव की अपेक्षा मिथ्यात्व का जघन्य अन्तर अन्तर्मुहूर्त व उत्कृष्ट अन्तर कुछ कम १३२ सागरोपम काल है। अर्थात् एक मिथ्यादृष्टि जीव परिणामों की विशुद्धि से सम्यक्त्व को प्राप्त होकर कम से कम अन्तर्मुहूर्त काल में संक्लिष्ट परिणामों द्वारा पुनः मिथ्यादृष्टि हो सकता है। अथवा वह नाना मनुष्य व देवगतियों में सम्यक्त्व सहित भ्रमण कर अधिक से अधिक उक्त कालावधि पूर्ण कर पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त हो सकता है। यह कैसे होता है और किस प्रकार के तीव्र व मन्द परिणामों का फल है, यह सब धवलाकार ने उदाहरण दे देकर बड़ी सूक्ष्मता से समझाया है। नाना जीवों की अपेक्षा केवल छः गुणस्थान ऐसे हैं जिनमें कभी भी अन्तरकाल उपस्थित नहीं होता है—मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्त-संयत, अप्रमत्त-संयत और सयोगिकेवली। इसी प्रकार मार्गणाओं में केवल आठ ऐसी अवस्थाएं हैं जिनमें गुणस्थानों का अन्तरकाल सम्भव होता है। ये हैं—उपशम सम्यकत्व, सूक्ष्मसांपराय संयम, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य, सासादन सम्यकत्व, और सम्यग्मिथ्यात्व मार्गणाएँ। इन सब का जघन्य अन्तर काल एक समय मात्र, तथा उत्कृष्ट अन्तर काल भिन्न प्रकार से सात दिन, ६ मास आदि बतलाया गया है।

भावानुगम में ९३ सूत्रों द्वारा गुणस्थान व मार्गणस्थान क्रम से जीवों के औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावोंके भेद प्रभेदों तथा मोहनीय व चारित्रमोहनीय कर्म प्रकृतियों के उदय, उपशमादि की जो अवस्थाएं समझाई हैं, वे जैनकर्मसिद्धान्त की तो विशेष वस्तु हैं ही, मनोविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से भी उनका बड़ा महत्त्व है।

अन्तिम आठवीं प्ररूपणा अल्प-बहुत्व में ३८२ सूत्र हैं। यहाँ गुणस्थान व मार्गणास्थानवर्ती जीवों का जो प्रमाण संख्या प्ररूपणा में बताया जा चुका है, उसे ध्यान में रखकर हीन से लेकर अधिक की ओर अनुक्रम से वर्गीकरण किया गया है। जैसे गुणस्थानों में अपूर्वकरण आदि तीन गुणस्थानवर्ती उपशम सम्यक्त्वी जीव अन्य सब स्थानों की अपेक्षा प्रमाण में अल्प और परस्पर तुल्य होते हैं। उपशान्त कषाय जीवों का प्रमाण भी इतना ही है। उनसे अपूर्वकरणादि तीन गुणस्थानवर्ती क्षायिक सम्यक्वी जीव संख्यात गुणित हैं। क्षीण-कषाय जीव भी इतने ही होते हैं, किन्तु सयोगकेवली संचय की अपेक्षा प्रविश्यमान जीवों से संख्यात गुणित हैं, इत्यादि। यहाँ इस विषय को स्पष्ट करते हुए टीकाकार ने जो द्रव्यप्रमाण के अतिरिक्त काल, अन्तर आदि प्ररूपणाओं को ध्यान में रखकर उक्त अल्प-बहुत्व को गणित की प्रक्रियाओं से सिद्ध करके बतलाया है, वह मनन करने योग्य है। (षट्खंडागम भाग ५)

उक्त आठ प्ररूपणाओं के पश्चात् वर्णित जीवस्थान की ९ चूलिकाओं का विषय इस प्रकार है। प्रथम चूलिका प्रकृति-समुत्कीर्तन में ४६ सूत्र हैं, जिनके द्वारा जीवों में पूर्वोक्त क्षेत्रकालादि संबंधी विशेषताएँ उत्पन्न करनेवाली ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियां व्यवस्था से गिनाई व समझाई गई हैं। दूसरी स्थान-समुत्कीर्तन नामक चूलिका में ११७ सूत्रों द्वारा उक्त कर्म प्रकृतियों में से कितनी एक साथ बाँधी जा सकती हैं, और उनका बंध किन-किन गुणस्थानों में सम्भव है, यह सब व्यवस्था से समझाया गया है। प्रथम महादंडक नामक तृतीय चूलिका में केवल दो सूत्र हैं और यहाँ वे कर्म प्रकृतियां गिनाई गई हैं जिनका बंध प्रथम सम्यकत्व के अभिमुख हुआ संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च या मनुष्य करता है। इन प्रकृतियों की संख्या ७३ है। टीकाकार ने यहाँ सम्यक्त्वोन्मुख जीव के परिणामों की बढ़ती हुई विशुद्धता और उसके द्वारा भी शुभ प्रकृतियों के क्रमशः बंध विच्छेद का बड़ा विशद निरूपण किया है। द्वितीय महादण्डक नामक चतुर्थ चूलिका में भी केवल दो ही सूत्र हैं और उनमें ऐसी कर्म प्रकृतियों की गणना की गई है जिन्हें सम्यक्त्वाभिमुख देव और प्रथम छः पृथिवियों के नारकी जीव बाँधते हैं। उसी प्रकार तृतीय महादण्डक नामक ५ वीं चूलिका में २ सूत्रों द्वारा उनके सम्यक्त्वा-भिमुख होने पर बंधयोग्य कर्म प्रकृतियों का निर्देश किया गया है। छठी चूलिका उत्कृष्ट स्थिति नामक है, जिसमें ४४ सूत्रों द्वारा बाँधे हुए कर्मों के उत्कृष्ट स्थिति काल का निरूपण किया गया है। अर्थात् यहाँ यह बतलाया गया है कि बंध को प्राप्त होने पर भिन्न-भिन्न कर्म अधिक से अधिक कितने काल तक उस जीव से लिप्त रह सकते हैं, और बंध के कितने आबाधाकाल के पश्चात् उनका विपाक प्रारम्भ होता है। आबाधा का सामान्य नियम यह है कि प्रत्येक सागर कोड़ा कोड़ी के बंध पर १०० वर्ष की आबाधा होती है। किन्तु अन्तः कोड़ा कोड़ी सागरोपम की स्थिति का आबाधाकाल एक अन्तर्मुहूर्त माना गया है। किन्तु आयुकर्म का नियम इनसे भिन्न है,क्योंकि वहाँ अधिकसे अधिक आबाधा भुज्यमान आयु के तृतीय भाग प्रमाण होती है। आबाधा काल के पश्चात् उन कर्मों के निषेक किस प्रकार क्रमशः खिरते हैं, इसकी प्रक्रिया टीकाकार ने सूक्ष्म गणित के नियमों में बाँधकर बतलाई है। सातवीं जघन्यस्थिति नामक चूलिका में ४३ सूत्रों द्वारा पूर्वोक्तानुसार ही जघन्य स्थिति का निरूपण किया है। इस प्रकरण के आदि में ही टीकाकार ने अन्य आचार्यों से अपना मतभेद प्रगट करके परिणामों की उत्कृष्ट विशुद्धि को जघन्य स्थिति बंध का, और परिणामों में संक्लेश वृद्धि को कर्मस्थिति की वृद्धि का कारण बतलाया है। इसी प्रकरण में उन्होंने यह भी समझा दिया है कि उत्कृष्ट प्रकृति और स्थितिबंध की व्यवस्था से ही किस प्रकार प्रदेश व अनुभागबंध की व्यवस्था निकल आती है, और यहीं उन्होंने बंध प्ररूपणा के आधार से सत्व, उदय व उदीरणा का स्वरूप भी समझा दिया है। आठवीं चूलिका सम्यक्त्वोत्पत्ति नाम की बड़ी महत्त्वपूर्ण है। सूत्र तो यहाँ केवल १६ ही हैं, किन्तु उनके आधार से टीकाकार ने सम्यक्त्वोत्पत्ति योग्य कर्मस्थिति के ह्रास का, उसके अधिकारी जीवों का, दर्शन मोह के क्षपण योग्य स्थान और परिस्थितियों का,तथा सकलचारित्र ग्रहण करने की योग्यता का, जितनी सूक्ष्मता, गंभीरता और विशालता के साथ विवेचन किया है, उतना अन्यत्र कहीं भी हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। यह विषय कषायप्राभृत के चूर्णि सूत्रों से बहुत कुछ मिलता है।

अन्तिम नवमी चूलिका गत्यागति नामकी है, जिसमें २४३ सूत्र हैं। यहाँ भिन्न-भिन्न गतियों के जीव किन कारणों द्वारा,

कब, कैसे सम्यक्त्व की प्राप्ति करते हैं; गतियों के प्रवेश करने और वहाँ से निकलने के समय जीवों के कौन से गुणस्थान होते हैं और वे कौन-कौन सी गतियों में जाते हैं; किस गति से निकलकर व किस गति में जाकर जीव कौन-कौन से गुणस्थान प्राप्त कर सकते हैं; ये विषय विषदता से समझाये गये हैं। (षट्खंडागम भाग ६)

इस प्रकार जीवट्ठाण नामक प्रथम खंड में भूतबलि व पुष्पदन्तकृत कुल २३७५ सूत्र हैं जो १७ अधिकारों में विभाजित हैं और वे उसकी विशाल धवलाटीका सहित षट्खंडागम के प्रथम छः भागों में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हैं।

२–खुद्दाबंध

प्रथम खंड जीवट्ठाण में उसकी गुणस्थान, मार्गणास्थान विषयक-प्ररूपणाओं व चूलिकाओं द्वारा जैन कर्मसिद्धान्त का एक ढंग से पूर्ण वर्णन किया जा चुका है, तो भी अन्य खण्डों में भी उसी विषय को विविध प्रकार से सुस्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। खुद्दाबंध नामक द्वितीय खंड में मार्गणास्थानों के अनुक्रम से कौन जीव बंधक है, और कौन जीव बंधक नहीं है, इसकी ग्यारह अनुयोगों द्वारा प्ररूपणा की गई है। वे अनुयोग इस प्रकार हैं :—

एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, काल व अन्तर; नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र व स्पर्शन; नाना जीवोंकी अपेक्षा काल व अन्तर, भागाभाग एवं अल्प-बहुत्व। इससे पूर्व प्रास्ताविक रूप से बंधकों के सत्त्व की प्ररूपणा की गई है और अन्त में ग्यारहों अनुयोग द्वारों की चूलिका रूप से महादंडक दिया गया है। इस प्रकार इस खंड के १३ अधिकार हो जाते हैं।

बंधक सत्त्व प्ररूपणा में ४३ सूत्र हैं, जिनमें विषय प्ररूपणा इस प्रकार की गई है। गतिमार्गणानुसार नारकी जीव बंधक हैं, तिरिक्ष भी बंधक हैं। मनुष्य बंधक भी हैं और अबंधक भी। सिद्ध अबंधक हैं। इसी प्रकार इन्द्रियादि मार्गणाओं का प्ररूपण किया गया है, जिसका मथितार्थ यह निकलता है कि जहाँ तक योग अर्थात् मन-वचन-काय की क्रिया विद्यमान है वहाँ तक सब जीव बंधक हैं। केवल अयोगी मनुष्य और सिद्ध अबंधक हैं।

एक जीव से स्वामित्व नामक अनुगम में ९१ सूत्र हैं, जिनमें मार्गणाओं के अनुक्रम से उनकी पर्याय में कारणीभूत कर्मोदय व लब्धियों का प्रश्नोत्तरी के रूप में प्ररूपण किया गया है। जैसे नरकगति में नारकी कैसे होता है? उत्तर है नरकगति नामकर्म के उदय से। उसी प्रकार तिर्यंच, मनुष्य व देवगति को उत्पन्न करनेवाला उस प्रकार का नामकर्म बतलाया गया है। सिद्ध गति में सिद्ध कैसे होता है? इसका उत्तर है क्षायिकलब्धि के द्वारा। इसी प्रकार इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव क्षायोपशमिक लब्धि द्वारा बतलाये गये हैं।

एक जीव से कालानुगम की प्ररूपणा में २१६ सूत्रों द्वारा गति आदि मार्गणाओं में जीव की जघन्य और उत्कृष्ट कालस्थिति का निरूपण किया गया है। इसकी जीव-स्थान खंड में प्ररूपित काल-प्ररूपणा से यह विशेषता है कि यहाँ गुणस्थान का विचार छोड़कर प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार अगली अन्तर्प्ररूपणा के १५१ सूत्रों में मार्गणा क्रम से जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर-काल बतलाया गया है। नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय में २३ सूत्रों द्वारा यह बतलाया गया है कि किन मार्गणाओं में जीव सदैव रहते हैं या कौन से जीव कभी नहीं भी रहते। जैसे नरकादि चारों गतियों में जीव सदैव नियम से रहते हैं, किन्तु मनुष्य अपर्याप्त कभी होते हैं, और कभी नहीं भी होते। उसी प्रकार वैक्रियिक मिश्र आदि जीवों की मार्गणाएं भी सान्तर हैं, जैसा कि जीवट्ठाण की अन्तरप्ररूपणा में कहा जा चुका है।

द्रव्य-प्रमाणनुगम के १७१ सूत्रों में गुणस्थान रहित मार्गणास्थान क्रम से जीवों की संख्या व उसी के आश्रय से काल व क्षेत्र का प्ररूपण है, और उसी प्रकार क्षेत्रानुगम के १२४ सूत्रों में, स्पर्शानुगम के २७९ सूत्रों में, अपने-अपने विषय की प्ररूपणा की गई है। नाना जीवों की अपेक्षा कालानुगम में ५५ सूत्रों में अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त व सादि-सान्त रूप से काल-प्ररूपणा हुई है। और उसी प्रकार अन्तरानुगम में ६८ सूत्रों द्वारा बंधकों के जघन्य व उत्कृष्ट अन्तर काल की। भागाभागानुगम में ८८ सूत्र हैं, जिनमें मार्गणानुसार अनन्तवें भाग, असंख्यातवें भाग, संख्यातवें भाग तथा अनन्त बहुभाग, असंख्यात बहुभाग व संख्यात बहुभाग के रूप से जीवों का सर्वजीवों की अपेक्षा प्रमाण बतलाया गया है। जैसे नारकी जीव सबजीवों की अपेक्षा कितने प्रमाण हैं, इसका उत्तर है? अनन्तवें भाग।

आगामी अल्पबहुत्व अनुगम में १०६ सूत्र हैं, जिनमें १४ मार्गणाओं के आश्रय से जीवसमासों का अल्प से बहुत्व की

और तुलनात्मक द्रव्यप्रमाण बतलाया गया है। जैसे गतिमार्गणा में मनुष्य सबसे थोड़े हैं, उनसे नारकी असंख्यगुणे, उनसे देव असंख्यगुणे, उनसे सिद्ध अनन्तगुणे और उनसे भी तिर्यंच अनन्तगुणे हैं, इत्यादि।

अन्तिम चूलिकाधिकार महादण्डक के रूप में है, जिसके ७९ सूत्रों में मार्गणा विभाग को छोड़ कर गर्भोपक्रान्तिक मनुष्य पर्याप्त से लेकर निगोद जीवों तक के जीवसमासों का अल्प-बहुत्व प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार समस्त खुद्दाबंध में १५८२ सूत्र हैं, जिनमें कर्मप्रकृति प्राभृत के बंधक अधिकार के बंध, बंधक, बंधनीय और बंधविधान नामक चार अनुयोगों में से बंधक का प्ररूपण किया गया है। इसे खुद्दा या खुद्दक (क्षुद्रक) बंध कहने की सार्थकता यह है कि यहाँ महाबंध की अपेक्षा प्ररूपण संक्षिप्त रूप से किया गया है। (षट्खंडागम भाग–७)

३–बंधसामित्त विचय

तृतीय खंड बंधस्वामित्व-विचय नामक है। विचय का अर्थ है–विचारणा, मीमांसा या परीक्षा, तदनुसार यहाँ यह विवेचन किया गया है कि किस कर्मबंध के स्वामी कौन से गुणस्थानवर्ती व मार्गणास्थानवर्ती जीव हैं। इस खंड में कुल ३२४ सूत्र हैं। इनमें से आदि के ४२ सूत्रों में ओघ अर्थात् गुणस्थान क्रम से तथा शेष सूत्रों में आदेश अर्थात् मार्गणाओं के भीतर गुणस्थान क्रम से बंधक जीवों का प्ररूपण किया गया है। उदाहरणार्थ—प्रश्न है कि पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय, यशः कीर्ति, उच्चगोत्र और पाँच अन्तराय कर्मों का कौन बंधक है, कौन अबंधक ? उत्तर है मिथ्यादृष्टि से लेकर सूक्ष्म सांपराय, शुद्धि संयत, उपशामक व क्षपक तक के गुणस्थानवर्ती जीव उक्त प्रकृति के बंधक हैं। सूक्ष्म सांपराय काल के अन्तिम समय में जाकर उनका बंध व्युच्छिन्न होता है। अतएव शेष गुणस्थानवर्ती जीव उनके अबंधक हैं। उक्त प्रश्नात्मक पाँचवें सूत्र को टीकाकार ने देशामर्षक मानकर उसमें कर्मप्रकृतियों के उदय, बंध व व्युच्छित्ति, बंध—अध्वान, सादित्व, अनादित्व, ध्रुवत्व आदि सम्बन्धी कर्म सैद्धांतिक २३ अन्य प्रश्नों का भी उसमें समावेश माना है और अपनी टीका में उन सब विषयों की व्यवस्थाएँ बतलाई हैं। इनके द्वारा यहाँ कर्मसिद्धान्त का अपने ढंग से एक बड़ा महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। (षट्खंडागम भाग–८)

४—वेदनाखंड

ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मप्रकृति प्राभृत के २४ अधिकारों में से कृति और वेदना नामक प्रथम २ अनुयोगों का नाम वेदनाखंड रखा गया है। सूत्रकार की दृष्टि में ६ खंडों के भी २ मुख्यवर्ग रहे प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने जीवट्ठाण के आदि में पंचनमोकार रूप मंगल पाठ किया है, और वही मंगल उपर्युक्त तीन खंडों का है। वेदना खंड के कृति अनुयोग के आदि में पुनः ४४ सूत्रों में मंगल पाठ किया है। कृति अनुयोगद्वार में कुछ ७६ सूत्र हैं, जिनमें उक्त मंगल पाठ के अतिरिक्त कृति के नाना भेद बतलाकर मूलकरण कृति के १३ भेदों का विशेष रूप से कथन किया गया है, जो इस प्रकार है। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर रूप तीनों करणकृतियों में से प्रत्येक संघातन, परिशातन और संघातन-परिशातन के भेद से तीन प्रकार की होती है। तैजस् और कार्मण शरीर की करण कृतियाँ संघातन और संघातन-परिशातन ये दो भेद रूप ही हैं, और इस प्रकार मूलकरण कृतियों के १३ भेद होते हैं। संघातन कृति शरीर परिमाणुओं के संचय होने को कहते हैं, और परिशातन उन परमाणुओं की निर्जरा को। मनुष्यों व देवों के जन्म काल में उनके औदारिक, वैक्रियक व आहारक शरीरों की संघातन कृति मात्र होती है, तथा मृत्यु काल में केवल परिशातन। मध्यवर्ती काल में संघातन-परिशातन कृतियाँ एक साथ चलती रहती हैं। तैजस और कार्मण शरीरों की शुद्ध संघातन कृति कभी संभव नहीं, क्योंकि वे शरीर संसारी जीवों के सदैव साथ रहते हैं, और उनकी संघातन-परिशातन कृति ही सदैव होती रहती है। जीव के योगों का अभाव होने पर अयोग केवली गुणस्थान में ही इन दोनों शरीरों की परिशातन कृति होती है। इन कृतियों की व्यवस्था को धवलाकार ने मार्गणाओं के अनुक्रम से विशेषत : ६६ से ७१ तक के छः सूत्रों की टीका में समझाया है। उनकी मंगलसूत्रों की टीका तथा ४५ वें सूत्र के आश्रय से नयों का विवेचन भी बड़ा मार्मिक है। (षट्खंडागम भाग—९)

द्वितीय प्रकरण वेदना नामक है। वेदना का अर्थ है जीव के द्वारा कर्मफल का अनुभवन व उपचार से उक्त अनुभव के कारणीभूत कर्म भी वेदना है। इसका इस प्रकरण में बड़े विस्तार से १६ अधिकारों द्वारा वर्णन किया गया है, जो कर्म सिद्धान्त के सूक्ष्म ज्ञान के लिये बड़े महत्वपूर्ण हैं। वे अधिकार निम्न प्रकार हैं :—

(१) निक्षेप (सू० ३), (२) नय (सू० ४), (३) नाम (सू० ४), (४) द्रव्य(सू० २१३), (५) क्षेत्र(सू० ९९),

(६) काल (सू० २७९),(७) भाव (सू० ३१४),(८) प्रत्यय (सू० १६),(९)स्वामित्व(सू० १५),(१०) वेदन विधान (सू० ५८),(११) गति (सू० १२),(१२) अनन्तर(सू० ११),(१३)सन्निकर्ष(सू० ३२०),(१४)परिमाण (सू० ५३), (१५) भागाभाग (सू० २१), और (१६) अल्प-बहुत्व (सू० २७)।

१–निक्षेप अधिकार में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार निक्षेपों द्वारा वेदना के स्वरूप को समझाया है। २–नय-विभाषणता अधिकार में उक्त निक्षेपों में कौन सा अर्थ यहाँ प्रकृत है, यह नैगम, संग्रह आदि नयों के द्वारा समझाया गया है। ३—नामविधान अधिकार में नैगमादि नयों के द्वारा ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में वेदना की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है। ४—द्रव्यविधान अधिकार में पद मीमांसा, स्वामित्व और अल्पबहुत्व इन तीन अनुयोगों के द्वारा ज्ञानावरणीयादि कर्मों के द्रव्य का उत्कृष्ट,अनुत्कृष्ट, जघन्य, सादि-अनादि स्वरूप समझाया गया है। वे किन जीवों में किस प्रकार घटित होते हैं यह बतलाया गया है, तथा अनुक्रम से आठों कर्मों की जघन्य व उत्कृष्ट वेदनाओं के तरतम भाव को प्रगट किया गया है। इस सम्बन्ध में टीकाकार ने भागहारों, नाना गुण-हानियों, समयप्रबद्ध, गुणश्रेणि-निर्जरा, समुद्घातों आदि का जो विवरण दिया है, उससे यह अधिकार बहुत विशाल व महत्त्वपूर्ण बन गया है। (षट्खंडागम—भाग १०)

५—क्षेत्र-विधान में ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मोंरूप पुद्गल द्रव्य को वेदना मानकर समुद्घातादि विविध अवस्थाओं में उनके संकोच व विस्तार को प्राप्त होने वाले जीव प्रदेशों के क्षेत्र की प्ररूपणा की गई है और इसे समझाने के लिये भी पद-मीमांसा, स्वामित्व, और अल्प-बहुत्व ये तीन अनुयोग ग्रहण किये गये हैं।

६—काल-विधान अधिकार में उक्त तीन अनुयोगों द्वारा काल के स्वरूप को समझाया गया है। उसके नाम, स्थापना, द्रव्य, समाचार, अद्धा, प्रमाण और भाव इन सात भेदों व उनके भी नाना उत्तर भेदों का निर्देश किया गया है। पाँच द्रव्यों के परिणमन में हेतुभूत कालाणुओं का प्रधान काल तथा सचित्त, अचित्त व मिश्र भेदों से युक्त दंश व मशक काल, धूलिकर्दम काल, सदंश शीतकाल आदि को अप्रधान काल बतलाया गया है। समाचार काल के भी लौकिक और लोकोत्तर भेद बतलाये हैं, और फिर ज्ञानावरणीय कर्मों की उत्कृष्ट आदि वेदनाओं की काल मर्यादा उनके स्वामियों तथा उनके तरतम भाव का प्ररूपण किया गया है। इसके अन्त में दो चूलिकाएँ भी हैं। पहली चूलिका में स्थिति बंध-स्थान, निषेक, आबाधा-काण्डक और अल्प-बहुत्व इन चार अनुयोगों की प्ररूपणा की गई है। तथा दूसरी चूलिका में स्थिति-बंध-अध्यवसाय स्थानों को जीव, प्रकृति और स्थिति इन तीन समुदाहारों द्वारा समझाया गया है। (षट्खंडागम—भाग ११)

७—भाव-विधान अधिकार में पूर्वोक्त पद-मीमांसादि तीन अनुयोगों द्वारा ज्ञानवरणीयादि आठ कर्मों की उत्कृष्ट,अनुत्कृष्ट आदि रूप भावात्मक वेदनाओं का विचार किया गया है। उनके स्वामी जीवों को बतलाया गया है, और जघन्य, उत्कृष्ट व जघन्य-उत्कृष्ट भेदों के माध्यम से कर्म-प्रकृतियों का अल्प-बहुत्व प्रगट किया गया है। उत्तर प्रकृतियों के अल्प-बहुत्व की यहाँ यह विशेषता है कि उसके ६४ पदों को पहले गाथा सूत्रों में प्रगट करके पश्चात् उन्हें पूर्ववत् गद्य-सूत्रों के महादण्डक रूप में समझाया है। ऐसी सूत्रात्मक गाथाओं की संख्या आठ है। अनुमानतः यह गाथाएँ सूत्रकार को स्वयं पूर्व आचार्य परम्परा से प्राप्त हुई होंगी। इस अधिकार की तीन चूलिकाएँ भी हैं। प्रथम चूलिका में सम्यक्त्वोत्पत्ति, श्रावक, विरत, अनन्तानुबंधी, विसंयोजक, दर्शनमोह-क्षपक, चारित्रमोह-उपशामक, उपशान्तकषाय, क्षपक, क्षीणमोह, स्वस्थान-जिन, और योग निरोध में प्रवृत्त जिन इन ग्यारह स्थानों में गुणश्रेणि निर्जरा का उत्तरोत्तर असंख्यात गुणित्व,तथा काल की अपेक्षा संख्यातगुणहीनत्व स्थापित किया गया है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के सम्यग्दृष्टि श्रावक आदि सूत्रों की व्याख्या करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार ने गुणश्रेणि के केवल १० ही स्थान गिनाये हैं। वहां अन्तिम दो स्थानों में भेद नहीं किया गया है। दूसरी चूलिका में अनुयोगबंध-अध्यवसाय स्थानों का अविभाग-प्रतिच्छेद, स्थान, अन्तर, काण्डक आदि १२ प्ररूपणाओं द्वारा कथन किया गया है। तीसरी चूलिका जीव-समुदाहार विषयक है जिसमें एक स्थान जीव-प्रमाणानुगम, निरन्तर-स्थान जीव प्रमाणानुगम, सान्तरस्थान आदि आठ अनुयोगद्वार हैं।

८—वेदना-प्रत्यय विधान में ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों की वेदना के प्रत्ययों अर्थात् कारणों का प्ररूपण किया गया है और यह भी नयों के आश्रय से। तदनुसार आठों कर्मों के प्रत्यय हिंसादि पापों, कषायों, निदान, व कलह, पैशुन्य आदि को नैगम, व्यवहार और संग्रह नय की अपेक्षा बतलाया है। किन्तु ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उनके प्रकृति और प्रदेश भाग को योग-प्रत्यय एवं स्थिति और अनुभाग को कषाय-प्रत्यय, तथा शब्द नय की अपेक्षा अवक्तव्य कहा गया है। यहाँ टीकाकार

ने जो शब्द नय के प्रकरणमें अवक्तव्य का सूक्ष्म विवेचन किया है, वह शब्द नय की मर्यादा को समझने के लिये बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार दसवें सूत्र में जो कर्म प्रत्ययों में 'माय' शब्द आया है उसका अर्थ टीकाकार ने 'मेय' अर्थात् प्रस्थ आदि मान किया है। यहाँ प्रश्न उठाया है कि 'मेय' का 'माय' कैसे हो गया? इसका समाधान करने के लिये उन्होंने 'एए छच्च समाणा' आदि गाथा उद्धृत करके कहा है--'अनेन सूत्रेण प्राकृते एकारस्य अकार विधानात्'। इस सूत्र का उन्होंने अन्यत्र भी टीका में उपयोग किया है और इस पर से प्रतीत होता है कि उनके सम्मुख कोई प्राकृत भाषा का गाथाबद्ध व्याकरण उपस्थित था, जो अब नहीं मिलता।

९—वेदना-स्वामित्व विधान में आठों कर्मों के स्वामियों का प्ररूपण किया है और इसके लिये भी उन्होंने नयों का अवलम्बन लेकर एक जीव, नो जीव और नाना जीव के एक व द्वि संयोगी आठ भागों से स्वामित्व का विधान किया है। यहाँ उन्होंने नैगम और व्यवहार नयो की अपेक्षा आठों कर्मों के आठों प्रकार के स्वामियों का 'स्यात्' शब्दपूर्वक विधान किया है। किन्तु संग्रह नय की अपेक्षा केवल दो प्रकार के स्वामियों का एक जीव और नाना जीव, तथा ऋजुसूत्र और शब्द नय की अपेक्षा केवल एक जीव के स्वामित्व का विधान किया है, क्योंकि ये नय द्रव्य-बहुत्व को स्वीकार नहीं करते।

१०—वेदना-वेदन अधिकार में आठों कर्मों के बध्यमान, उदीर्ण व उपशान्त स्वरूपों का एकत्व व अनेकत्व की अपेक्षा नैगमादि नयों के अनुसार प्ररूपण किया गया है। यहाँ नैगम, व्यवहार और संग्रहनयों की अपेक्षा पृथक् पृथक् और कुछ भेद को लिये हुए निरूपण पाया जाता है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा कर्मों की केवल उदीर्ण अर्थात् फल प्राप्त विपाक वेदना मात्र को स्वीकार किया गया है और शब्दनय की अपेक्षा विषय को अवक्तव्य कहा है।

११—वेदना-गति-विधान अनुयोगद्वार में कर्मों की स्थित, अस्थित अथवा स्थितास्थित अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। नैगम संग्रह और व्यवहार नयों की अपेक्षा ज्ञानावरणीयादि चार घातिया कर्मों की वेदना को स्यात्-स्थित और स्यात्-स्थित-अस्थित ही कहा है व अघातिया कर्मों को कथंचित् स्थित, अस्थित व स्थितास्थित तीनों रूप। ऋजुसूत्रनय से सभी कर्मों को कथंचित् स्थित और कथंचित् अस्थित इन दो रूप तथा शब्द नय की अपेक्षा अवक्तव्य।

१२—अनन्तर-विधान अनुयोगद्वार में कर्मों के अनन्तर परम्परा व उभयप्रकार बंधों का विचार किया गया है। नैगम और व्यवहार नयों की अपेक्षा आठों कर्मों की वेदना तीनों प्रकार के बंधरूप है। संग्रहनय से अनन्तर और परम्परा बंधरूप। ऋजूसूत्र नय से केवल परम्परा बंध रूप तथा शब्द नय से अवक्तव्य।

१३—वेदना सन्निकर्ष विधान में यह विचार किया गया है कि कर्मों की जो वेदना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन चार में से किसी एक की अपेक्षा उत्कृष्ट या जघन्य होती है, वह शेष विवक्षाओं से भी उसी प्रकार होती है या अन्य भी। जैसे ज्ञानावरणीय की द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट वेदना, क्षेत्र की अपेक्षा उत्कृष्ट होती है या अनुत्कृष्ट? उत्तर है वह नियम से अनुत्कृष्ट और असंख्यात गुणहीन होती है, तथा काल और भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट व अनुत्कृष्ट दोनों ही। इस विषय का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है वेदनीय कर्म की वेदना सम्बन्धी। ५० वें आदि सूत्रों में बतलाया गया है कि जो वेदनीय-वेदना क्षेत्र से उत्कृष्ट होती है, वह द्रव्य तथा काल से नियमतः अनुत्कृष्ट और भाव से उत्कृष्ट होती है। यहाँ टीका में प्रश्न उठाया गया है कि लोकपूरण-समुद्घात-गत केवली के क्षेत्र की अपेक्षा वेदनीय कर्म को वेदना उत्कृष्ट होते हुए, भाव से अनुत्कृष्ट क्यों नहीं होनी चाहिये? इस शंका का टीका में बड़े विवेचन सहित समाधान किया है और इस संबंध में सूत्र की प्रामाणिकता की पुष्टि में सूत्र के स्वरूप को बतलाने वाला निम्न श्लोक उद्धृत किया है :—

अर्थस्य सूचनात् सम्यक् सूत्रेवऽर्थस्य सूरिणा। सूत्रयुक्तं अनल्पार्थं सूत्रकारेण तत्त्वतः॥

अर्थात् अर्थ का भले प्रकार सूचक होने से तथा अर्थ का उत्पादक होने से सूत्रकार आचार्य द्वारा कही हुई अर्थपूर्ण उक्ति ही तत्त्वतः सूत्र है। और इसके पश्चात् उन्होंने कहा है :—

"न च जुत्ति-विरुद्धत्तादो न सुत्तमेदमिदि वोत्तुं सक्किज्जदे। सुत्तविरुद्धत्ताए जुत्तित्ताभावादो॥"

अर्थात् युक्ति विरुद्ध होने से यह सूत्र तो नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सूत्र के विरुद्ध जानेवाली बात में स्वयं युक्ति का अभाव है। इस प्रकार टीकाकार ने आगम के व्याख्यान में युक्ति की सीमा को निर्धारित कर दिया है और स्वयं उनका व्याख्यान युक्तियों से परिपूर्ण होते हुए भी उक्त नियम का पूर्णतः परिपालन करता हुआ पाया जाता है।

१४—वेदना-परिमाण-विधान अधिकार में आठों कर्मों की प्रकृत्यर्थता, समय-प्रबद्धार्थता और क्षेत्र-प्रत्यास की प्ररूपणा की गई है। प्रकृत्यर्थता में अन्य कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ तो उतनी ही बतलाई हैं, जितनी अन्यत्र। किन्तु ज्ञानावरणीय

दर्शनावरणीय और नामकर्म की प्रकृतियों को असंख्यात लोकप्रमाण बतलाया है, जिसका टीकाकार ने जीव स्वभाव प्ररूपण द्वारा उचित समाधान किया है। समय प्रबद्धार्थतानुसार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय की एक एक प्रकृति को तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपमों के समय-प्रबद्धों से गुणित प्रमाण कहा है। इसी प्रकार अन्य कर्मों की प्ररूपणा की गई है। इसी प्रकार क्षेत्र-प्रत्यास में जीव द्वारा अवरुद्ध क्षेत्र के प्रमाण से गुणित समय-प्रबद्ध प्रमाण रूप प्रकृतियों का निर्देश किया गया है।

१५—भागाभाग प्रकरण में कर्म प्रकृतियों का उन्हीं प्रकृत्यर्थता आदि तीनों अपेक्षाओं से यह प्ररूपण किया गया है कि वे सब प्रकृतियों की अपेक्षा कितने भाग प्रमाण हैं। जैसे ज्ञानावरण प्रकृति समस्त प्रकृतियों के कुछ कम दो भाग प्रमाण है और इसी प्रकार दर्शनावरण भी, तथा शेष छः कर्मों की प्रकृतियाँ पृथक् पृथक् असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, इत्यादि।

१६—वेदना अल्प-बहुत्व विधान में उन्हीं प्रकृत्यर्थता आदि तीनों अनुयोगों द्वारा ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों के अल्प-बहुत्व का प्ररूपण किया गया है, और इसी के साथ वेदना खंड १४४९ सूत्रों में पूर्ण होता है। (षट्खंडागम भाग—१२)

५—वर्गणा खण्ड :—

५ वें खण्ड वर्गणा में उक्त २४ अनुयोग द्वारों में से स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन, तथा बंधन अनुयोगद्वार के बंध और बंधनीय विभागों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस खण्ड का नाम 'वर्गणा' इस कारण रखा गया है क्योंकि इसके बहुभाग (बंधन अनुयोगद्वार, सूत्र ६८–५८०) में वर्गणाओं का वर्णन किया गया है।

स्पर्श अनुयोगद्वार के ३२ सूत्रों में नाम, स्थापना आदि १३ प्रकार के स्पर्श बतलाये गये हैं और अन्त में यह स्पष्ट किया है कि यहाँ उनमें से और सब स्पर्शों को छोड़कर कर्मस्पर्श से ही प्रयोजन है, जिसका विषय है ज्ञानावरणीयादि कर्मों के विस्रसोपचयों का जीव के साथ सम्बन्ध जो कि पूर्व में और विशेषत: वेदना खण्ड में बतलाया जा चुका है।

कर्म अनुयोगद्वार में ३१ सूत्र हैं, जिनमें नामकर्म, स्थापना कर्म व द्रव्यकर्म आदि दश प्रकार के कर्मों का निरूपण किया गया है। पहले कौन सा नय किन-किन प्रकार के कर्मों को स्वीकार करता है यह दिखलाकर, उन कर्मों का जो स्वरूप प्रकट किया गया है, उसके आश्रय से टीकाकार ने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तार से परिचय कराया है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—द्रव्यकर्म से तात्पर्य है नाना द्रव्यों की सद्भाव क्रिया, जैसे जीव का ज्ञान-दर्शन रूप परिणमन तथा पुद्गल का वर्ण-गंधादि रूप व धर्म का गमनागमन में हेतु रूप आदि परिणमन; इसी प्रकार मन-वचन-काय के निमित्त से जीव का स्पन्दन प्रयोग कर्म है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के निमित्त से कर्मों का ज्ञानावरणीयादि रूप परिणमन कर ग्रहण करना समवदान कर्म है। औदारिक शरीर द्वारा अंग छेदना, परिताप, आरंभ आदि पाप क्रियाओं को करना अधःकर्म है। ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक केवल योग के निमित्त से होने वाला कर्म कहा गया है। इसे टीकाकार ने कुछ प्राचीन गाथाओं के आधार पर से साता रूप तथा भूख,तृषा आदि सकल बाधाओं को दूर करने वाला कहा है। तपोकर्म के प्रसंग में बाह्य और आभ्यन्तर तपों एवं उनके भेद प्रभेदों का विस्तार से प्ररूपण किया गया है। क्रिया कर्म के विवरण में गुरु, जिन व जिनालय की प्रदक्षिणा, नमस्कार, वंदना, स्तुति आदि का विवरण दिया गया है। प्रयोग कर्मादि छः कर्मों का टीकाकार ने सत्संख्यादि आठ अनुयोगों द्वारा भी ओघ और आदेश अर्थात् गुणस्थान व मार्गणास्थान की अपेक्षा भी प्ररूपण किया है। प्रकृत में समवदान कर्म से प्रयोजन बतलाया गया है।

प्रकृति अनुयोगद्वार में १४२ सूत्र हैं। यहाँ आदि में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव प्रकृति रूप चार भेद करके उनका नयों के माध्यम से विचार किया गया है। प्रकृति के प्रकृति-निक्षेप, प्रकृति-नय-विभाषणता आदि १६ अधिकारों की सूचना की गई है, किन्तु प्ररूपण केवल उक्त दो का ही किया गया है। शेष को टीकाकार ने वेदना खंड के अनुसार समझ लेने की सूचना की है। द्रव्य प्रकृति के आश्रय से यहाँ ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विस्तार से और अनेक बातों में कुछ अनूठा विवेचन पाया जाता है। यहाँ किये गये ज्ञान के भेद-प्रभेदों का व पूर्वों का वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार ने पूर्वों का स्वरूप विस्तार से समझाया और उन्हीं में समस्त श्रुतज्ञान का समावेश सिद्ध किया है। यह प्रश्न किये जाने पर कि तब आचार आदि ग्यारह अंग, अंग बाह्यादि १४ प्रकीर्णक रूप श्रुतों का अन्तर्भाव कहाँ होता है, उन्होंने केवल यह उत्तर दिया है कि उन्हें अनुयोगद्वार व अनुयोगद्वार-समास-प्राभृत के अवयव ही होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, अथवा प्रतिपत्ति-समास रूप श्रुतज्ञान में इनका अन्तर्भाव कहना चाहिये। इस समाधान के होते हुए भी वीरसेनाचार्य का मत यही प्रतीत होता है कि श्रुतज्ञानका मूलाधार तो पूर्वगत ही है। (षट्खंडागम भाग—१३)

बंध और बंधनीय में लगातार सूत्र हैं, जिनकी संख्या ७२७ है। बंध प्रकरण प्रथम ६४ सूत्रों में समाप्त हो गया है। यहाँ नामादि चार प्रकार से बंध के भेद करके उनमें नयों की योजना की गई है और फिर उन्हीं बंध भेदों का स्वरूप वर्णन किया गया है। इनमें द्रव्य बंध के आगम, नोआगम रूप दो भेद, नो आगम द्रव्य बंध के प्रयोग बंध और विस्रसावबंध ये दो भेद, विस्रसावबंध के सादि अनादि रूप से दो भेद तथा प्रयोग बंध के कर्म और नोकर्म, तथा नोकर्म बंध के आलापन, अल्लीवण, संश्लेश, शरीर और शरीरी ये पांच भेद फिर समझाये गये हैं। इस प्रकरण के पश्चात् तीन सूत्रों में बंधक अनुयोगद्वार का अवतार करके यह सूचित कर दिया गया है कि यहाँ खुद्दाबन्ध के ग्यारह अधिकारों द्वारा इस विषय को समझ लेना चाहिये। इसके पश्चात् सूत्र ६८ से बंधनीय अनुयोगद्वार प्रारम्भ होता है। आदि में ही यह स्पष्टीकरण किया गया है कि वेदनात्मक अर्थात् विपाक या अनुभव कराने वाले पुद्गल-स्कन्ध ही बंधनीय होते हैं, और वे वर्गणारूप हैं। इसलिये कर्म-वर्गणाओं का स्वरूप आठ अनुयोगों द्वारा जानने योग्य है जो इस प्रकार है :—वर्गणा, द्रव्य-समुदाहार, अनन्तरोपनिधा, परम्परोपनिधा, अवहार, यवमध्य, पदमीमांसा और अल्प-बहुत्व ॥

वर्गणा के दो भेद हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर वर्गणा भी एक श्रेणी और नाना श्रेणी रूप से दो प्रकार की है। एक श्रेणी वर्गणा का विचार निक्षेप, नय-विभाषणता, प्ररूपणा आदि १६ अनुयोगों द्वारा ज्ञातव्य कहा गया है, किन्तु उनमें से विवेचन केवल प्रथम दो का ही किया गया है। शेष विवेचन छोड़ने का कारण टीकाकार ने यह सूचित किया है कि उनका परिचय वर्गणा-द्रव्य-समुदाहार के विवरण से प्राप्त हो सकता है। वर्गणा-द्रव्य-समुदाहार का प्ररूपण भी नाना अनुयोगों द्वारा किया गया है जिनमें २३ प्रकार की वर्गणाओं का स्वरूप वर्णन मनन करने योग्य है। विशेषतः बादर और सूक्ष्म निगोद वर्गणाओं का स्वरूप व उनके आधारभूत शरीरों व अन्य द्रव्यों का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। यहाँ साधारण जीवों का स्वरूप बतलाने वाली 'साहारणमाहारो' आदि सात गाथाएँ सूत्र रूप से पाई जाती हैं, जिनके आश्रय से टीकाकार ने महत्त्वपूर्ण व्याख्यान किया है। प्रत्येक शरीर, पृथिवी, जल, अग्नि और वायुकायिक; देव-नारकियों का वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर और केवली इन आठ शरीरों को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीवों के शरीर बादर निगोद जीवोंसे प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त जल, थल व आकाश में सर्वत्र सूक्ष्म निगोद वर्गणाओं का सद्भाव है। क्षीणकषाय गुणस्थान में ध्यान के बल से क्षपक के शरीर में नये निगोद जीव उत्पन्न नहीं होते, तथा पुराने अपनी आयु पूर्ण कर मरने लगते हैं। अतः इस गुणस्थान के अन्तिम समय में वहाँ जघन्य बादर-निगोद-वर्गणा होकर सयोग केवली-जिन में उसका सर्वथा अभाव हो जाता है। बंधन अनुयोग की चूलिका में निगोद शरीरों व जीवों का स्वरूप और भी सूक्ष्मता से समझाया गया है। यहां आदि में ही कहा गया है कि जब कोई निगोदी जीव उत्पन्न होता है और एक समय में अनन्तानन्त साधारण जीव एक शरीर धारण करते हैं, ऐसे असंख्यात लोकमात्र शरीरों का एक निगोद होता है (सू० ५८२)। दूसरे समय में असंख्यात गुणहीन जीव उत्पन्न होते हैं और यह उत्पत्ति क्रम अधिक से अधिक एक आवली के असंख्यातवें भाग तक चलता जाता है। तत्पश्चात् एक दो या तीन समय का अन्तर पड़कर पुनः उत्पत्ति क्रम चालू होता है। इसके पश्चात् अवक्रमण करनेवाले जीवों का अल्प बहुत्व दिया गया है। इस भाग के अन्त में सूचना की गई है कि बन्धविधान के जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध होते हैं, उनका प्ररूपण भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में विस्तार से किया है, इसलिये यहाँ नहीं किया जाता। (षट्खंडागम भाग–१४)

६ महाबंध :—

उपर्युक्त बंधनीय अधिकार की समाप्ति के पश्चात् वहाँ ७९७ वें सूत्र में सूचना की गई है कि :—"जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं। पयडिबंधो, ठिदिबंधो, अणुभागबंधो, पदेसबंधो चेदि।" और इस सूत्र पर टीकाकार का कहना है कि सूत्रोक्त चारों बंधों का विधान भूतबलि भट्टारक ने महाबंध में सप्रपंच (सविस्तार) लिखा है, इसलिये हमने यहाँ नहीं लिखा। इस प्रकार समस्त महाबंध यहाँ प्ररूपित होने पर बंध-विधान समाप्त होता है। इस सूत्र और टीका से स्पष्ट है कि महाबन्ध खण्ड का अवतार इसी सूत्र से हुआ है। दुर्भाग्यतः महाबंध की ताड़पत्रीय प्रति के आदि के कुछ ताड़पत्र अलभ्य होने से इस अलब्धप्रति में महाबन्ध का किस प्रकार प्रारंभ किया गया था, यह ज्ञात नहीं होता। उपलभ्य पाठ के आदि में १६ गाथाएँ पाई जाती हैं जो अवधिज्ञान के क्षेत्र विषयक हैं और उनके अन्त में सूचना है—'एवं ओधिणाणावरणीयस्स कम्मस्स परूवणा कदा भवदि।' तत्पश्चात् मनःपर्यय एवं केवलज्ञानावरणीय कर्मों तथा दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्मों के उल्लेख के पश्चात् सूचना है कि प्रकृति समुत्कीर्तन समाप्त हुआ। इसके पश्चात्

बंध का स्वरूप समझकर ओघ और आदेश प्ररूपणा का निर्देश करके काल, अन्तर, सन्निकर्ष, भंगविचय, भागाभाग, परिमाण, तथा क्षेत्र-स्पर्शनादि अल्प-बहुत्व पर्यन्त प्ररूपणाओं द्वारा प्रकृति बंध का व्याख्यान किया गया है।

(महाबन्ध भाग–१)

स्थितिबंध का प्ररूपण निषेक, आबाधा-काण्डक व अल्पबहुत्व के अतिरिक्त अद्धाछेद, सर्व-नोसर्व बंध आदि २४ अनुयोग-द्वारों द्वारा किया गया है। तत्पश्चात् भुजगारबंध, पदनिक्षेप, वृद्धिबंध, अध्यवसाय समुदाहार, जीव समुदाहार तथा उत्तर प्रकृति स्थिति बंध का प्ररूपण तत्सम्बन्धी नाना अधिकारों द्वारा किया गया है। (महाबन्ध भाग २–३)

अनुभाग बन्ध का प्ररूपण पहले मूल प्रकृतियों का और फिर उत्तर प्रकृतियों का पृथक् पृथक् संज्ञा आदि २४ अनुयोग-द्वारों द्वारा किया गया है। (महाबन्ध भाग ४–५)

प्रदेशबंध की प्ररूपणा भी मूल और उत्तर प्रकृतियों को पृथक्-पृथक् लेकर स्थान, सर्वबंध-नोसबंध, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्टबंध आदि अल्प-बहुत्व तक २४ अनुयोगों द्वारा और तत्पश्चात् भुजगार, पदनिक्षेप, वृद्धि, अध्यवसाय-समुदाहार और जीव-समुदाहार अनुयोगों द्वारा विस्तारपूर्वक की गई है। दुर्भाग्य की बात यह है कि उक्त सभी प्रकरणों में कहीं-कहीं ताड़पत्र त्रुटित व अप्राप्य होने से बीच-बीच में पाठ खंडित हुआ पाया जाता है। संभव है मूडबिद्री के ही भंडार में प्रयत्न करने से उनकी त्रुटिपूर्ति की जा सके। (महाबन्ध भाग ६—७)

यहां भूतबलि कृत महाबंध खण्ड समाप्त हो जाता है, जिसकी रचना इन्द्रनंदीकृत श्रुतावतार के अनुसार तीस हजार श्लोक प्रमाण है।

ऊपर कहा जा चुका है कि पुष्पदन्त और भूतबलि की सूत्र रचना में कर्म प्रकृति-पाहुड के २४ अधिकारों में से केवल प्रथम छः अर्थात् कृति, वेदना, स्पर्श, कर्मप्रकृति और बन्धन का प्ररूपण पाया जाता है। शेष निबंधनादि १८ अधिकारों पर कोई सूत्र रचना नहीं थी, तथापि वीरसेनाचार्य ने अपने गुरु से उपदेश पाकर इनकी भी प्ररूपणा की और इस अधिकार को भी इन्द्रनन्दी ने सत्कर्म नामक छठा खण्ड कहा है। इन अधिकारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

(७) निबन्ध :—नामक अधिकार में मूल और उत्तर प्रकृतियों के विषय बंधन का निरूपण किया गया है। जैसे चक्षुरिन्द्रिय रूप में निबद्ध है, क्षेत्र शब्द में व घ्राण गंध में इत्यादि। उसी प्रकार ज्ञानावरण सब द्रव्यों में निबद्ध है, किन्तु उनकी सब पर्यायों में नहीं। इसी प्रकार दर्शनावरणीय, मोहनीय व गोत्र आत्मा में निबद्ध हैं, वेदनीय सुख-दुःख में, नाम पुद्गल, जीव और क्षेत्र विपाकों में, तथा अन्तराय दानादि में। इस प्रकरण में वीरसेन स्वामी ने २० सूत्र बनाकर भी निबद्ध किये हैं।

(८) प्रक्रम :—का अर्थ है परिवर्तन। इस अधिकार में कर्म प्रक्रम को चिंतन का विषय बतलाकर यह प्ररूपण किया गया है कि कार्मण वर्गणा के पुद्गलस्कंध मूल प्रकृति रूप से तथा प्रकृति, स्थिति व अनुभाग के वैशिष्ट्य से क्यों और किस प्रकार परिणमन करते हैं। इस प्रसंग में धवलाकार ने सांख्य दर्शन के सत्कार्यवाद एवं नित्यएकांत, असत्कार्यवाद व क्षणिकवाद आदि की एकान्तग्राहिता का निरसन कर, द्रव्य की अनेकान्तता व उसकी उत्पाद-व्यय युक्त ध्रुवता की स्याद्वाद के माध्यम से सिद्धि की है।

(९) उपक्रम :—जिस प्रकार प्रक्रम में प्रकृति, स्थिति व अनुभागात्मक पुद्गल वर्गणाओं का प्ररूपण किया है उसी प्रकार उपक्रम में उनके बंध होने के द्वितीय समय से लेकर क्रमशः आगे के कार्य का प्ररूपण किया गया है और तदनुसार उपक्रम चार अनुयोगों में विभाजित है—बंधन, उदीरण, उपशामन, और विपरिणाम, जिनमें क्रमशः ज्ञानावरणादि आठों कर्मों के बंध, उदीरण, प्रशस्त और अप्रशस्त उपशामना तथा प्रकृति, स्थिति आदि की देश व सकल निर्जरा रूप क्रमबद्ध कार्य की प्ररूपणा की गई है। इस प्रसंग में कर्मों की अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण आदि अवस्थाओं का विचार बड़ा महत्त्वपूर्ण हुआ है।

(१०) उदय :—इस प्रकरण में कर्मद्रव्य के स्थिति व अनुयोग आदि रूप से उदय में आने की प्रक्रिया को स्वामित्व, प्रमाण, काल, अन्तर आदि नाना अनुयोगों के अनुसार समझाया गया है।

इन निबंधनादि चार प्रकरणों के ऊपर 'संतकम्म' नामक पंजिका भी प्राप्त हुई है, जिसमें उक्त विषयों के विवेचन में अनेक स्थलों पर 'कुदो', 'केत्तियमेत्तेणं' आदि रूप से प्रश्न उठाकर उनका समाधान सूक्ष्मता व विस्तार से किया गया है। पंजिका की उत्थानिका के वाक्यों से इसके कर्ता का समस्त अठारहों अधिकारों पर टीका लिखने का अभिप्राय प्रतीत होता

है, किन्तु कहा नहीं जा सकता कि इन चार से आगे के प्रकरणों पर भी पंजिका लिखी गई या नहीं, और यदि लिखी गई तो प्राप्त प्रति में वह क्यों नहीं संग्रह की गई। उपलभ्य अंश अपने रूप में पूर्ण है और उसके अन्त में कनाड़ी भाषा में एक छोटी सी प्रशस्ति भी है, जिसमें माघनंदि सिद्धान्तदेव व श्रीमद्उदयादित्य के नाम भी आये हैं। (षट्खंडागम भाग १५)

(११) मोक्ष :—इस प्रकरण में यह प्ररूपण किया गया है कि बंध को प्राप्त हुए कर्मों का जीव प्रदेशों से मोक्ष अर्थात् छुटकारा किस प्रकार होता है। इस प्रसंग में देशनिर्जरा व सकल-निर्जरा तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों का उत्कर्षण, अपकर्षण, पर–प्रकृति संक्रमण व स्थिति-गमन रूप कर्मावस्थाओं का वर्णन किया गया है।

(१२) संक्रम :—एक कर्म प्रकृति का दूसरी प्रकृति में परिवर्तित होने का नाम संक्रम है। यह क्रिया एक ही मूल प्रकृति की उत्तर प्रकृतियों के बीच संभव है, बाह्य प्रकृतियों से नहीं। इनकी प्रकृति, स्थिति आदि में किस प्रकार, किन जीव परिणामों के बल से संक्रमण होता है यह यहाँ समझाया गया है।

(१३) लेश्या :—इस प्रकरण में द्रव्य और भाव रूप कृष्ण, नीलादि छः लेश्याओं का स्वरूप बतलाया गया है और उनके जीवों व शरीरों में उत्पन्न होने की प्रक्रिया व तीव्र-मंद अवस्थाओं का प्ररूपण किया गया है।

(१४) लेश्या कर्म :—इस प्रकरण में यह बतलाया गया है कि कृष्णादि लेश्याओं से युक्त जीव के बाह्य लक्षण, कार्य व रंग-ढंग कैसे होते हैं।

(१५) लेश्या परिणाम :—इस अधिकार में यह बतलाया गया है कि जीव के परिणामों में संक्लेश व विशुद्धि की हानि-वृद्धि के अनुसार लेश्याओं का किस प्रकार संक्रमण होता है। परिणामों की तीव्रता व मंदता तथा विशुद्धि व संक्लेश की वृद्धि व हानि के प्रमाणानुसार यह संक्रमण स्वस्थान अर्थात् उसी लेश्या के भीतर तीव्र व मंद अंशों में, तथा परस्थान अर्थात् भिन्न लेश्याओं में भी होता है।

(१६) सातासात:—कर्मों का बंध साता रूप अर्थात् सुखानुभवन के साथ भी किया जा सकता है और असाता रूप अर्थात् दुःखानुभवन के साथ भी; और सात रूप से बाँधे और सात रूप से ही भोगे जाने वाले कर्म को एकान्त सात, इससे विपरीत अर्थात् असात् रूप से भोगे जाने वाले कर्म को अनेकान्त सात माना गया है। इसी प्रकार एकान्त-असात, अनेकान्त-असात भेद भी जानने चाहियें। इस प्रकार के कर्मों की उत्कृष्ट व जघन्य वेदना कहाँ, किन जीवों को होती है, यह इस प्रकरण का विषय है।

(१७) दीर्घ ह्रस्वः—मूल और उत्तर प्रकृतियों में से कितनों का ही बंध, उदय आदि एक साथ होता है। इनमें से जितनी अधिक से अधिक प्रकृतियों का एक साथ बंधादि संभव है, उतना किसी जीव में होने पर दीर्घत्व, उससे कम होने पर नोदीर्घत्व तथा सबसे कम होने पर ह्रस्वत्व माना जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत अनुयोगद्वार में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चारों अपेक्षाओं से कर्मों के दीर्घ-ह्रस्व का प्ररूपण किया गया है। उदाहरणार्थ प्रकृति दीर्घ के दो भेद हैं—मूलप्रकृति दीर्घ और उत्तरप्रकृति दीर्घ। इनमें से प्रत्येक के पुनः दो भेद किये गये हैं—प्रकृति स्थान दीर्घ और एक-एक प्रकृति स्थान दीर्घ। बन्ध की अपेक्षा आठों मूल प्रकृतियों का एक साथ बंध होने पर प्रकृति दीर्घ व उनसे कम का होने पर नोप्रकृति दीर्घ होगा। इसी प्रकार सत्त्व, उदय आदि की अपेक्षा दीर्घ-ह्रस्व, नोदीर्घ-नोह्रस्व का स्वरूप समझना चाहिये।

(१८) भवधारणीय :—यहाँ पहले आठ कर्मों और उनके निमित्त से उत्पन्न हुए जीव परिणामों को ओघ-भव तथा गति नामकर्मों व उनसे उत्पन्न कुछ जीव परिणामों को आदेश-भव तथा पूर्व-शरीर को परित्याग कर उत्तर-शरीर के ग्रहण को भव-ग्रहण-भव कहकर अमूर्त जीव का मूर्त शरीर के साथ सम्बन्ध कैसे होता है यह बतलाकर, यह सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि आगामी भव को धारण करने में भुज्यमान आयुकर्म ही कारणीभूत होता है और नवीन आयुकर्म उसे धारण किये रहने में सहायक होता है, जिस प्रकार कि दीपक का स्वरूप निर्माण होता है—बत्ती से और उसकी ज्योति की धारा अवलम्बित होती है तेल पर।

(१९) पोग्गलअत्त :—इस अनुयोगद्वार के नाम व स्वरुप के संबंध में वीरसेन स्वामी स्वयं निस्संदेह नहीं हैं, और इस लिये उन्होंने विकल्प रूप से दो पाठ लेकर तदनुसार उनका स्वरूप बतला दिया है। एक तो इस नाम की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है—'आत्ताः गृहीता आत्मसात्कृताः पुद्गलाः पुद्गलात्ताः' अर्थात् जो पुद्गल आत्मसात् किये गये उनका नाम पुद्गलात्त है। उन्हें आत्मसात् करने के छः प्रकार हैं—ग्रहण से, जैसे हाथ में डंडा लेना; उपभोग से, जैसे गंध, ताम्बूल

आदि; आहार से, जैसे खान पान आदि; ममत्व व अनुराग से, तथा परिग्रह से। "अथवा पोग्गलाणं अत्ता रूप रस गंध कासादिलक्खणं सरूवं पोग्गल-अत्ता।" अर्थात पुद्गलों का रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि लक्षण व स्वरूप ही हुआ उनकी आत्मा। इस प्रकार पोग्गल-अत्ता यह इस अनुयोगद्वार के नाम की व्याख्या हो सकती है, जिसमें पुद्गल के उक्त गुणों की अनन्तभाग वृद्धि आदि षड्गुणवृद्धि की प्ररूपणा जिस प्रकार भाव विधान में की गई है, उसी प्रकार करनी चाहिये। इससे अधिक इस अनुयोग द्वार का और कोई विवेचन यहाँ नहीं किया गया।

(२०) निधत्तमणिधत्तं :—जो कर्म जीव परिणामों की विशेषता से उदय व प्रकृति संक्रमण के योग्य नहीं रहते, किन्तु उत्कर्षण, अपकर्षण योग्य होते हैं, वे निधत्तीकृत कहे जाते हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट हुए उपशामक व क्षपक जीव के समस्त कर्म अनिधत्त होते हैं। तथा अनन्तानुबंधी की विसंयोजना करने वाले के अनिवृत्तिकरण में अनन्तानुबंधी चतुष्क अनिधत्त होते हैं, व शेष कर्म निधत्त भी हो सकते हैं और अनिधत्त भी। दर्शन मोह उपशामक व क्षपक के अनिवृत्तिकरण में केवल दर्शनमोह ही अनिधत्त है, शेष सब कर्म निधत्त या अनिधत्त होते हैं; इसी अर्थपद के अनुसार समस्त मूल और उत्तर प्रकृतियों के २४ अनुयोगों द्वारा निधत्व व अनिधत्व की सूचना देकर यह प्रकरण पूर्ण किया गया है।

(२१) निकाचित-अनिकाचित :—कर्मों की उस अवस्था को निकाचित कहते हैं जब कि वे उदय, संक्रमण अपकर्षण व उत्कर्षण के योग्य नहीं होते। इससे विपरीत अवस्था का नाम अनिकाचित है। अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में प्रविष्ट जीव के समस्त कर्म अनिकाचित हैं, उससे नीचे निकाचित भी होते हैं और अनिकाचित भी। यहाँ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि उपशान्त, निधत्त और निकाचित का सन्निकर्ष है, अर्थात् इनमें से कर्मों की कोई एक अवस्था होने पर उनमें अन्य दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। यहाँ इतनी ही प्ररूपणा की गई है।

(२२) कर्मस्थिति :—इस प्रकरण में वीरसेन स्वामी ने चार पंक्तियों में केवल इतना ही कहा है कि नागहस्तिक्षमाश्रमण के अनुसार यहाँ कर्मों की जघन्य और उत्कृष्ट स्थितियों की प्ररूपणा है, और आर्यमंक्षु क्षमाश्रमण का कहना है कि यहाँ कर्मस्थिति संचित कर्मों के सत्त्व की प्ररूपणा है। इस प्रकार इन दोनों ही उपदेशों के अनुसार कर्मस्थिति की प्ररूपणा इस अनुयोगद्वार में करनी चाहिये।

(२३) पश्चिमस्कंध :— यहाँ जीव के अन्तिम भव संबंधी कर्मों की बंध, उदय, उदीरणा, संक्रमण और सत्कर्म इन पाँच मार्गणाओं से प्ररूपणा की जानी चाहिये। इस सूचना के पश्चात् यहाँ सयोग केवली की आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर होने वाली केवली समुद्घात क्रिया को बतलाया गया है, जिसमें दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घातों द्वारा स्थिति व अनुभाग के घात और तत्पश्चात् योगनिरोधों के द्वारा शैलेषी अवस्था की प्राप्ति, समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति ध्यान और तत्पश्चात् मुक्ति होने का क्रम समझाया गया है।

(२४) अल्प-बहुत्व :—इस प्रकरण के आदि में वीरसेन स्वामी ने सूचना की है कि नागहस्ति भट्टारक यहाँ सत्कर्म-मार्गणा द्वारा प्ररूपण करते हैं, और यह उपदेश परम्परागत होने से मान्य है। तदनुसार यहाँ पहले सत्कर्म के स्वामी जीवों का प्ररूपण कर नाना गतियों में नाना भेद-प्रभेदों की अपेक्षा कर्मों के सत्त्व के अल्प-बहुत्व का क्रम समझाया गया है।

इस प्रकार सत्कर्मप्रकृति-पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का विषय प्ररूपण कर धवलाकार वीरसेन स्वामी ने अपनी यह रचना पूर्ण की है, और इन्द्रनंदी के अनुसार यही रचना (निबंधनादि १८ अनुयोगद्वार) सत्कर्म नामक छठा खण्ड है।

विद्यानन्द और उनके ग्रन्थ

(दरबारीलाल कोठिया, एम० ए०, शास्त्राचार्य, न्यायाचार्य)

प्रस्तुत निबन्ध में सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं नैयायिक तार्किक चूडामणि आचार्य विद्यानन्द और उनकी रचनाओं पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है।

(१) परिचय :—

विद्यानन्द और उनके ग्रन्थवाक्यों का अपने ग्रन्थों में उद्धरणादि रूप में उल्लेख करने वाले परवर्ती ग्रन्थकारों के समुल्लेखों तथा विद्यानन्द की स्वयं की रचनाओं पर से जो उनका संक्षिप्त, किन्तु अत्यन्त प्रामाणिक परिचय उपलब्ध होता है उसे यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

(क) कार्यक्षेत्र :—

सर्वप्रथम हम विद्यानन्द की उन प्रशस्तियों को लेते हैं जो उन्होंने अपने ग्रंथों के आदि अथवा अन्त में श्लेष रूप से दी हुई हैं। इन प्रशस्तियों में विद्यानन्द ने अपने समकालीन दो गंगनरेशों-शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) और उसके उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया है[1] ? गंग राजाओं का राज्य वर्तमान मैसूर राज्य के उस बहुभाग में था जिसे 'गंङ्गवाडि' प्रदेश कहा जाता था। यह राज्य लगभग ईसा की चौथी शताब्दी तक रहा और आठवीं शती में श्री पुरुष (शिवमार द्वितीय के पूर्वाधिकारी) के राज्य काल में वह चरम उन्नति को प्राप्त था। शिलालेखों और दानपत्रों से ज्ञात होता है कि इस राज्य के साथ जैन धर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जैनाचार्य सिंहनंदि ने इस राज्य की स्थापना में भारी सहायता की थी, और पूज्यपाद देवनन्दि इसी राज्य के गंग-नरेश दुर्विनीत (लगभग ५०० ई०) के राजगुरु थे। अतः आश्चर्य नहीं कि ऐसे जिनशासन और जैनाचार्य भक्त राज्य में विद्यानन्द ने बहुवास किया हो और निर्विघ्नता के साथ वहाँ रहकर अपने बहु-समय साध्य विशाल ग्रंथों का प्रणयन किया है।

विद्यानन्द के प्रशस्तिलेखों से उनके साहित्यिक कार्यों और जैन शासन के प्रचार का क्षेत्र उक्त गंगराजाओं की राज्य-भूमि गंगवाडि प्रदेश प्रतीत होता है और यही प्रदेश उनकी जन्म-भूमि भी रहा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

---

१. यथा : (क) जीयात्सज्जनताश्रयः शिव-सुधाधारावधान-प्रभुः,
ध्वस्त-ध्वान्त-ततिः समुन्नतगतिस्तीव्र-प्रतापान्वितः।
प्रांजेर्ज्योतिरिवावगाहनकृतानन्तस्थितिर्मानतः,
सन्मार्गस्त्रितयात्मकोऽखिल-मल-प्रज्वालनप्रक्षमः ॥ —तत्त्वार्थश्लो० प्रशस्तिप०

इस प्रशस्ति पद्य में विद्यानन्द ने 'शिवमार्ग'-मोक्षमार्ग का जयकार तो किया ही है, किन्तु उन्होंने अपने समय के गंगनरेश शिवमार द्वितीय का भी जयकार एवं यशोगान किया है। शिवमार द्वितीय पश्चिमी गंगवंशी श्री पुरुष का उत्तराधिकारी और उसका पुत्र था जो ई० सन ८१० के लगभग राज्याधिकारी हुआ था।

(ख) शश्वत्संस्तुति गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः

(ग) विद्यानन्द-बुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः। —युक्त्यनुशा० प्रश०प०

(घ) जयन्ति निर्जिताशेष सर्वथैकान्तनीतयः
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दाः जिनेश्वराः ॥ प्रमाणपरी०।

(ङ) विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थ सिद्ध्यै। —आप्तपरीक्षा प्रश०।

(ख) समयः—

उपर्युक्त उल्लेखों से यह भी ज्ञात हो जाता है कि विद्यानन्द उक्त गंग नरेश शिवमार द्वितीय और राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम के समकालीन हैं। अर्थात् ई० सन् ७७५ से ई० ८४० उनका अस्तित्व समय अनुमानित होता है। जैसा कि हमने विस्तार के साथ अन्यत्र[1] विचार किया है।

(ग) साधुजीवन और कठोर चारित्राराधनः—

विद्यानन्द के विशाल पाण्डित्य, सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, गंभीर विचारणा, अद्भुत अध्ययनशीलता और अपूर्व तर्कणा आदि के संबंध में इसी लेख में हम आगे विचार करेंगे। उससे पूर्व उनके साधु जीवन की कठोर चर्या पर भी कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

विद्यानन्द ने यद्यपि चारित्र सम्बन्धी कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं रचा और यदि रचा भी हो तो वह उपलब्ध नहीं है, जिस पर से उनकी चर्या पर कुछ विशेष जाना जाता, फिर भी उनके तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक और अष्टसहस्री-गत व्याख्यानों से उनके निर्दोष और सुदृढ़ चरित्र पालन का हमें अच्छा संकेत मिल जाता है। यहाँ हम उदाहरण स्वरूप उनके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-गत दो महत्त्वपूर्ण विचारों को प्रस्तुत करते हैं।

(१) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० ४५२) में तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय के ११वें सूत्र के व्याख्यान में जब उन्होंने पूर्व परम्परानुसार दुःख शोक आदि असातावदेनीय रूप पापास्रव के कारणों का समर्थन किया तो उनसे प्रश्न किया गया कि जैन साधु जो काय क्लेश, अनशन, आतापन आदि दुश्चर तपों को तपते हैं उनसे उन्हें भी दुःखादि होना अवश्यम्भावी है और ऐसी हालत में उनके भी असातावेदनीय रूप पापास्रव होगा। अतः कायक्लेशादि तपों का उपदेश युक्त नहीं है। और यदि युक्त है तो दुःखादि को पापास्रव का कारण बतलाना असंगत है? विद्यानन्द इस प्रश्न का अपने पूर्वज पूज्यपाद, अकलंकदेव आदि की तरह आर्षसम्मत समाधान करते हुए कहते हैं कि जैन साधुओं को कायक्लेशादि तपश्चरण करने में द्वेषादि कषाय रूप परिणाम उत्पन्न नहीं होते, बल्कि उसमें उन्हें आनन्द आता है। जिन्हें उनके करने में संक्लेश होता है, आनन्द नहीं आता, जो उन्हें भार तथा आपद मानते हैं, उन्हीं के वे दुःखादिक पापास्रव के कारण हैं। यदि ऐसा न हो तो स्वर्ग और मोक्ष के जितने भी साधन हैं वे सब दुःख रूप ही हैं और इसलिये इतर साधुओं को भी उनके करने से पापास्रव होगा। अतः संक्लेश परिणाम युक्त दुःखादि ही असाता वेदनीय रूप पापास्रव के कारण हैं[2]।

इन उल्लेखों में 'सत्यवाक्य' पद द्वारा शिवमार द्वितीय (ई० ८१०) के उत्तराधिकारी राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (ई० ८१६) का उल्लेख किया गया है :

(च) अष्टसहस्री के निम्न प्रशस्ति-पद्य में भी सत्यवाक्य का निर्देश किया गया प्रतीत होता है :—

येनाऽशेष-कुनीतिवृत्ति-सरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
यद्वाचोऽप्यलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थ-द्युतः।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्।
विद्यानन्द-घन-प्रदोऽनघधियां स्याद्वाद-मार्गाग्रणीः ॥

यहाँ 'यद्वाचोऽप्यकलंक-नीति-रुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः' और 'अनघधियां विभु' ये दो पद खासतौर से विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। ये दोनों ही पद सत्यवाक्य के अर्थ में प्रयुक्त किये गये जान पड़ते हैं। इस पद्य के सारे ही पद ऐसे हैं जो स्वामी समन्तभद्रयतीन्द्र के अतिरिक्त किसी राजा विशेष के अर्थ में भी लगते हैं और वह राजा विशेष यहाँ सत्यवाक्य (राचमल्ल-सत्यवाक्य प्रथम) के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जान पड़ता।

१ देखो, प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित आप्त-परीक्षा की प्रस्तावना।

२ ऐसा ही आर्षसम्मत व्याख्यान उन्होंने अष्टसहस्री (पृ० २६०) में समन्तभद्र की 'आप्तमीमांसा' गत 'विशुद्धि संक्लेशाङ्ग' इस ९५वीं कारिका का किया है।

२—इसी तरह इसी ग्रन्थ (पृष्ठ ४६४) में तत्त्वार्थसूत्र के ७ वें अध्याय के १७ वें सूत्र का व्याख्यान करते हुए विद्यानन्द ने पुष्कल युक्तियों द्वारा साधु के नाग्न्य-जिनकल्प का जोरदार एवं सबल समर्थन किया है और वस्त्रादिग्रहण का पूर्णतः निषेध किया है।

विद्यानन्द के इन विचारों से स्पष्ट है कि वे अपने चरित्र पालन, अनशनादि तपों एवं नाग्न्य के आचरण में कितने सावधान एवं तत्पर रहे होंगे। आप्तविषय पर लिखी गई अपनी 'आप्त-परीक्षा' की टीका प्रशस्ति में उन्होंने स्वयं लिखा है कि वे सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यकचारित्र रूप बहु रत्नाभूषणों से सतत आभूषित थे[1]। विद्यानन्द से कोई दो सौ वर्ष बाद होने वाले प्रभावशाली विद्वान् वादिराज ने भी 'अनवद्यचरण' निर्दोष चारित्र-पालक जैसे गौरव पूर्ण विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है[2]। अतः सन्देह नहीं कि इसी कारण विद्यानन्द का मुनिसंघ में असाधारण एवं सम्मानपूर्ण स्थान था और उन्हें आचार्य माना जाता था[3]।

(घ) सूक्ष्म-प्रज्ञादि गुण-दिग्दर्शन :—

विद्यानन्द भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित थे। वे वैशेषिक, न्याय, मीमांसा, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य और वेदान्त दर्शनों के मन्तव्यों को जब अपने दार्शनिक ग्रंथों में पूर्व पक्ष के रूप में रखते तथा उनकी समालोचना करते हैं तो उन दर्शनों की उनकी अगाध विद्वत्ता, तलस्पर्शी अध्ययन और विशाल पाण्डित्य का विशद परिचय मिलता है। उनके तर्कपूर्ण उत्तर-पक्ष सूक्ष्म और गम्भीर ज्ञान के भण्डार हैं और भारतीय दार्शनिकों के मस्तक को उन्नत करने वाले हैं। जैन शास्त्रों के विपुल उद्धरणों से उनका जैन शास्त्राभ्यास भी अद्भुत और महान् ज्ञात होता है। आगम ग्रन्थों तथा पूर्ववर्ती दार्शनिक ग्रंथों का उन्होंने जो मर्मोद्घाटन किया है वह उनकी विलक्षण प्रतिभा का द्योतक है। उनकी इस प्रकार की प्रतिभा एवं सूक्ष्म प्रज्ञा का एक सुन्दर उदाहरण देखिये :—

आचार्य मूर्धन्य श्री गृद्धपिच्छ ने द्रव्य का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि 'जो गुण और पर्याय युक्त है वह द्रव्य है[4]।' इस पर शंका की गई कि गुण संज्ञा तो इतर दार्शनिकों की है, जैनों की नहीं। उनके यहाँ तो द्रव्य और पर्याय रूप ही वस्तु वर्णित की गई है और इसीलिये उनके ग्राहक सिर्फ दो ही नयों—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का उपदेश दिया गया है। यदि गुण को भी स्वीकार किया जावे तो उसको ग्रहण करनेवाला एक और तीसरा 'गुणार्थिक' नय माना जाना चाहिये।

इस शंका का समाधान सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द इन तीनों विद्वानों ने किया है। सिद्धसेन ने तो यह जवाब दिया है[5] कि गुण पर्याय से भिन्न नहीं है—पर्याय में ही 'गुण' शब्द का प्रयोग जैनागम में किया गया है और इसलिये गुण तथा पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक इन दो ही नयों का उपदेश है, गुणार्थिक नय का नहीं।

अकलङ्क कहते हैं[6] कि द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष दोनों रूप है और सामान्य, उत्सर्ग, अन्वय, गुण, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं तथा विशेषभेद, पर्याय, ये एकार्थक शब्द हैं। अतः सामान्य को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और विशेष को विषय करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। इसलिये गुण को ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक नय ही है, उससे भिन्न गुणार्थिक नाम के तीसरे नय को मानने की आवश्यकता नहीं है। अथवा, गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं, पर्याय का ही नाम गुण है।

सिद्धसेन और अकलङ्क के इन समाधानों के बाद पुनः शंका उठाई गई कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं तो द्रव्यलक्षण में उन दोनों का निवेश क्यों किया गया है?

१—सजयतु विद्यानन्दो रत्नत्रय-भूरि-भूषणः सततम्।
तत्त्वार्थार्णव-तरणे सदुपायः प्रकटितो येन॥

२—देवस्य शासनमतीव-गभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः
विद्वान्न चेत् स गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्य-चरणः सदनन्तवीर्यः॥ न्याय वि० वि० २,१३१,१४५०॥

३—देखो, शिलालेख-संग्रह प्रथम भाग, शिलालेख नं० १०५।

४—'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्'—तत्त्वार्थसूत्र ५—३७।

५—सन्मति सूत्र ३—९, १०, ११, १२ नं० की गाथाएँ

६—देखो, तत्त्वार्थवार्तिक ५—३७ की व्याख्या

इसका उत्तर विद्यानन्द अपनी विलक्षणप्रतिभा एवं सूक्ष्म बुद्धि से देते हुए कहते हैं[1] कि वस्तु दो तरह के अनेकान्तों रूप है—(१) सहानेकान्त, (२) क्रमानेकान्त। सहानेकान्त का ज्ञान करने के लिये तो गुणयुक्त को और क्रमानेकान्त की सिद्धि के लिये पर्याययुक्त को द्रव्य कहा गया है। अतः गुण तथा पर्याय दोनों शब्दों का द्रव्य लक्षण में निवेश युक्त एवं सार्थक है।

जहाँ तक हम जानते हैं यह दो तरह के अनेकान्तों की कल्पना और उक्त सुन्दर समाधान विद्यानन्द की सूक्ष्म प्रज्ञा एवं तीक्ष्ण बुद्धि से प्रसूत हुए हैं[2]?

विद्यानन्द स्वतन्त्रचेता और उदार विचारक भी थे। स्पष्ट है कि अकलंकदेव[3] और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दि[4] तथा लघु अनन्तवीर्य[5] आदि ने प्रत्यभिज्ञान के अनेक (दो से भी अधिक) भेद बतलाये हैं। परन्तु विद्यानन्द[6] अपने सभी ग्रंथों में प्रत्यभिज्ञान के एकत्व और सादृश्य ये दो ही भेद प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार एक उदाहरण उनके उदार विचारों का भी हम नीचे प्रस्तुत करते हैं :—

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक पृ० ३५८ में विद्यानन्द ने ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व आदि जातियों की व्यवस्था गुणों व दोषों से बतलाते हुए लिखा है कि ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ सम्यग्दर्शनादि गुणों तथा मिथ्यात्वादि दोषों से व्यवस्थित हैं। नित्य और अनादि जाति कोई नहीं है। जो इन्हें अनादि, नित्य, सर्वगत और अमूर्त स्वभाव मानते हैं, वे प्रत्यक्ष तथा अनुमान दोनों से बाधित हैं। इस तरह उन्होंने अपने उदार विचारों को उपस्थित किया है और यह उनकी जैन तर्क ग्रन्थों के लिये अपूर्व देन है। प्रभाचन्द्र ने उनके इस कथन को ही प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (पृ० ४८२–४८७) तथा न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ७६८–७७९) में पल्लवित एवं विस्तृत किया है।

यहाँ यह भी उल्लेखयोग्य है कि विद्यानन्द सफल व्याख्याकार भी हैं। उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ, स्वामी समन्तभद्र, अकलंक आदि के पद-वाक्यादिकों का अपने ग्रंथों में जहाँ-कहीं व्याख्यान एवं मर्मोद्घाटन का अवसर आया है, उनका उन्होंने बड़ी प्रामाणिकता एवं ईमानदारी से व्याख्यान किया है[7]।

उनके ग्रंथों में प्रचुर व्याकरण के सिद्धि प्रयोग, अनूठी पद्यात्मक काव्य रचना, तर्कगर्भ वादचर्चा, प्रमाणपूर्ण सैद्धान्तिक विवेचन और हृदयस्पर्शी जिन-शासन-भक्ति उन्हें उत्कृष्ट वैयाकरण, श्रेष्ठ कवि, अद्वितीय वादी, महान् सैद्धान्ती, और सच्चा जिनशासन-भक्त सिद्ध करने के पुष्कल प्रमाण हैं। वस्तुतः विद्यानन्द जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभावान् तार्किक उनके बाद भारतीय वाङ्मय में, कम से कम जैन परम्परा में तो कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि उनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र, लघुसमन्तभद्र, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभिनव धर्मभूषण, उपाध्याय यशोविजय आदि जैन तार्किकों के लिये पथ-प्रदर्शक एवं अनुकरणीय हुई हैं। माणिक्यनन्दि का परीक्षामुख जहाँ अकलंकदेव के वाङ्मय के आधार से रचा गया है, वहाँ विद्यानन्द की प्रमाणपरीक्षादि तार्किक रचनाओं का भी वह आभारी है और उनका उस पर उल्लेखनीय प्रभाव है। वादिराज (ई० १०२५) ने लिखा है कि 'यदि विद्यानन्द अकलंक के वाङ्मय का रहस्योद्घाटन न करते तो उसे कौन समझ सकता था।' प्रकट है कि विद्यानन्द ने अकलंकदेव की अष्टशती के

१—गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्त सिद्धये।
तथा पर्ययवद्द्रव्यं क्रमानेकान्त सिद्धये॥ तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ४३८

२—वादीभसिंह सूरि (९वीं शती) ने भी अपनी स्याद्वादसिद्धि में युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त इन दो अनेकान्तों का वर्णन किया है, जो सम्भवतः विद्यानन्द का अनुकरण हो।

३—लघीय० का० २१

४—परीक्षामुख ३–५ से ३–१०।

५—प्रमेयरत्नमाला ३–१०।

६—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १९०, अष्टस० पृ० २७९, प्रमाणपरीक्षा पृ० ६९।

७—तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० २४०, २४२, २५४ आदि तथा अष्टस० पृ० ५, १६८, २६० आदि और प्रमाणपरीक्षा पृ० ६८, ६९ आदि

तात्पर्य को अष्टसहस्री द्वारा उद्‌घाटित किया है। पार्श्वनाथ चरित में विद्यानन्द के तत्त्वार्थालंकार, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा देवागमालंकार (अष्टसहस्री) की प्रशंसा करते हुए उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है कि आश्चर्य है कि 'विद्यानन्द के इन दीप्तिमान् अलंकारों की चर्चा करने-कराने और सुनने-सुनानेवालों के भी अंगों में कान्ति आ जाती है—उन्हें धारण करने वालों की तो बात ही क्या है।' प्रभाचन्द्र, अभयदेव, वादि देवसूरि, हेमचन्द्र और धर्मभूषण के ग्रन्थ भी विद्यानन्द के तार्किक ग्रन्थों से उपजीव्य हैं। उन्होंने उनके ग्रंथों से स्थल के स्थल उद्‌धृत किये हैं और अपने ग्रंथों को उनसे अलंकृत कर उन्हें गौरव प्रदान किया है। विद्यानन्द की अष्टसहस्री को, जिसके सम्बन्ध में विद्यानन्द ने स्वयं ही कहा है कि 'हजार शास्त्रों को सुनने की अपेक्षा अकेली इस अष्टसहस्री को सुन लीजिये, उसी से समस्त सिद्धान्तों का ज्ञान हो जावेगा'; पाकर यशोविजय भी इतने विभोर एवं मुग्ध हुए हैं कि 'उन्होंने उसपर 'अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण' नाम की नव्य-न्याय शैली प्रपूर्ण विस्तृत व्याख्या भी लिखी है।

(ख) तर्कशैली :—

विद्यानन्द की तर्क शैली तर्कशास्त्रियों के लिये स्पर्धा की वस्तु है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में जो अद्‌भुत तर्क शैली प्रस्तुत की है वह सूक्ष्म और तीक्ष्ण तर्कणाओं से ओत-प्रोत होते हुए भी इतनी विशद एवं प्रवाहपूर्ण है कि कि पाठक उसपर मुग्ध हुए बिना नहीं रहता। प्रसिद्ध दार्शनिक स्व० पं० अम्बादासजी शास्त्री ने विद्यानन्द की तर्कशैली पर अपने उद्‌गार प्रकट करते हुए कहा था कि 'विद्यानन्द की असाधारण तर्कणा एवं गहन विचारणा अत्यन्त प्रशंसनीय है। उन्होंने ईश्वर कर्तृत्व की जैसी विशद, सबल एवं तर्कपूर्ण समालोचना की है वैसी अन्य किसी ने की हो, अब तक देखने में नहीं आई। धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित आदि विद्वानों ने भी ईश्वरकर्तृत्व की आलोचना की है; पर वह आलोचना विद्यानन्द की आलोचना की समता नहीं करती। विद्यानन्द तो दण्ड लेकर ईश्वर के पीछे पड़ गये। 'आप्त परीक्षा' उनकी इस विषय की एक बेजोड़ रचना है। निःसन्देह निष्पक्ष व्यक्ति उनकी प्रशंसा करेंगे।'

जैन तार्किक श्रद्धेय पं० सुखलालजी विद्यानन्द के तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की तर्कणाओ एवं गहन विचारणाओं की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में जितना और जैसा सबल मीमांसक दर्शन का खंडन है वैसा तत्त्वार्थसूत्र की दूसरी किसी भी टीका में नहीं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि तथा राजवार्तिक में चर्चित हुए कोई भी मुख्य विषय छूटे नहीं, बल्कि बहुत से स्थानों पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक की अपेक्षा श्लोकवार्तिक की चर्चा बढ़ जाती है। कितनी ही बातों की चर्चा तो श्लोकवार्तिक में बिल्कुल अपूर्व ही है। राजवार्तिक में दार्शनिक अभ्यास की विशालता है तो श्लोकवार्तिक में इस विशालता के साथ सूक्ष्मता का तत्त्व भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। समग्र जैनवाङ्मय में जो थोड़ी बहुत कृतियां महत्त्व रखती हैं उनमें की दो कृतियां राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक भी हैं। तत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्य में से एक भी ग्रन्थ राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक की तुलना कर सके, ऐसा दिखाई नहीं देता।'

स्वर्गीय पं० महेन्द्रकुमार जी बनारस ने लिखा है कि 'तर्क ग्रन्थों के अभ्यासी, विद्यानन्द के अतुल पाण्डित्य, तलस्पर्शी विवेचन, सूक्ष्मता तथा गहराई के साथ किये जाने वाले पदार्थों के स्पष्टीकरण एवं प्रसन्न भाषा में गूंथे गये युक्तिजाल से परिचित होंगे। उनके ग्रंथों को जैन न्याय के कोषागार से अलग कर दिया जावे तो वह एकदम निष्प्रभ सा हो जायेगा।'

विद्वानों के इन उद्‌गारों से हम सहज में जान सकते हैं कि विद्यानन्द की तर्क निष्णात प्रमेय प्रतिपादन शैली कितनी आकर्षक तथा मुग्ध करने वाली है। उनकी इस अपूर्व शैली के दो उदाहरण देखिये :—

१—(क) 'कस्यचिद् दुष्टस्य निग्रहं शिष्टस्य चानुग्रहं करोतीश्वरः प्रभुत्वात्, लोकप्रसिद्ध प्रभुवत्। न चैवं

१—देखो 'आप्तपरीक्षा' की प्रस्तावना पृ० २८

२—देखो, न्यायवि० वि० (लि० प० ३८२) गत वह पद्य जो इसी लेख में पहले उद्धृत किया जा चुका है।

३—ऋजुसूत्रं स्फुरद्रत्नं विद्यानन्दस्य विस्मयः
श्रृण्वतामप्यलंकारं दीप्तिरङ्गेषु रिङ्गति ॥श्लो० २८॥

४—श्रोतव्याऽष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः
विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमय-सद्भावः ॥ अष्टस० पृ० १५७।

नानेश्वर सिद्धिः, नानाप्रभूणामेकमहाप्रभुतन्त्रत्वदर्शनात् । तथा हि-विवादाध्यासिता नानाप्रभव एकमहाप्रभुतन्त्रा एव नाना-प्रभुत्वात् । ये ये नाना प्रभवस्ते ते अत्रैकमहाप्रभुतन्त्रादृष्टाः, यथा सामन्त-महासामन्त-माण्डलिकादय एकचक्रवर्तितन्त्राः, प्रभवश्चैते चक्रवर्तीन्द्रादयः, तस्मादेक महाप्रभुतन्त्रा एव । योऽसौ महाप्रभुः स महेश्वर इत्येकेश्वरसिद्धिः । स च स्वदेहनिर्माण-करोऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरत्वात्, यो यो ऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रहकरः स स स्वदेहनिर्माणकरो दृष्टः, यथा राजा, तथा चायमन्य-देहिनां निग्रहानुग्रहकरः, तस्मात्स्वदेहनिर्माणकर इति सिद्धम् ।

तच्च न परीक्षाक्षमम्; महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः । तथाहि—यदि हीश्वरो देहान्तराद्विनाऽपि स्वदे-हमनुध्यानमात्रादुपादयेत् तदाऽन्यदेहिनां निग्रहानुग्रह लक्षणं कार्यमपि प्रकृतं तथैव जनयेदिति तज्जनने देहाधानमनर्थकं स्यात् । यदि पुनर्देहान्तरादेव स्वदेहं विदधीत तदा तदपि देहान्तरमन्यस्माद् देहादित्यनवस्थितिः स्यात् । तथा चापरापरदेह-निर्माण एवोपक्षीणशक्तिकत्वान्न कदाचित्प्रकृतं कार्यं कुर्यादीश्वरः ।' आप्तप० पृ० ६६ ।

(ख) किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नैव वोभयरूपो वानुभयरूपो वा ? प्रथम पक्षे विधिवाद एव । द्वितीय पक्षे निरालम्बनवादः । तृतीय पक्षे तूभयदोषानुषंगः । चतुर्थपक्षेव्याघातः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्पर व्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽ-न्यतरस्य विधानप्रसक्तेः, सकृदेकत्रोभयप्रतिबन्धायोगात् ।—अष्टस० पृ० ८ ।

कितनी प्रसन्न, विशद अर्थगर्भ और तर्कपूर्ण शैली है । शंका और समाधान दोनों कितने व्यवस्थित और सरल तरीके से प्रस्तुत किये गये हैं । इसी तरह अपने प्रायः सभी ग्रन्थों में उन्होंने इस मोहक एवं प्रबोधजनक शैली को अपनाया है ।

२—दूसरा उदाहरण भी देखिए :—

(क) कुमारिल भट्ट ने मीमांसाश्लोकवार्तिक में सर्वज्ञ का निषेध करते हुए लिखा है कि 'सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों को सर्वज्ञ माना जाये तो उनके उपदेशों में परस्पर विरोध क्यों ? इसलिये कोई सर्वज्ञ नहीं है ।' यथा—

सुगतो यदि सर्वज्ञ कपिलोनेति का प्रमा । तावुभौ यदि सर्वज्ञो मतभेदः कथं तयोः ॥

विद्यानन्द कुमारिल के इस प्रचण्ड आक्षेप का तर्कपूर्ण करारा उत्तर देते हुए कहते हैं :—

भावना यदि वाक्यार्थो नियोगो नेति का प्रमा । तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ॥
कार्येऽर्थे चोदना ज्ञानं स्वरूपे किन्न तत्प्रमा । द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥

अर्थात् इस तरह श्रुति भी प्रमाण नहीं हो सकती । हम पूछते हैं कि भावना श्रुतिवाक्य का अर्थ है, नियोग नहीं, इसमें क्या नियामक है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और प्रभाकर दोनों खतम हो जाते हैं । इसी तरह नियोग श्रुतिवाक्य का अर्थ है, विधि (ब्रह्म) नहीं, इसमें क्या प्रमाण है ? यदि दोनों श्रुतिवाक्य के अर्थ हैं तो भट्ट और वेदान्ती दोनों नष्ट हो जाते हैं ।

(ख) कुमारिल ने सर्वज्ञ के निषेध के सिलसिले में ही इसी ग्रन्थ में एक दूसरी जगह लिखा है कि सद्भावसाधक प्रत्यक्षादि पाँच प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का साधक नहीं है । अतः अभाव प्रमाण से उसका अभाव सिद्ध होता है । यथा—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदनीमस्मदादिभिः ।
दृष्टो न चैक देशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥
न चागम विधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः ।
न च मंत्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्प्यते ॥इत्यादि ।

विद्यानन्द इसका भी तर्कयुक्त जवाब देते हुए कहते हैं कि 'सर्वज्ञ का साधक सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि उसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है । प्रत्यक्षादि से वस्तु का सद्भाव सिद्ध होता है । अतः उनसे सर्वज्ञ का अभाव नहीं हो सकता । अभाव

१—शास्त्रीजी का एक मौखिक भाषण जिसे न्यायालंकार पं० वंशीधरजी इन्दौर ने सुनाया ।
२—देखो, तत्त्वार्थसूत्र सविवेचन की 'परिचय' प्रस्तावना पृ० ९२ ।
३—देखो अनेकान्त वर्ष ३, किरण ११ ।

प्रमाण भी सर्वज्ञ का निषेधक संभव नहीं है; क्योंकि जहाँ निषेध्य का निषेध (अभाव) करना होता है उसका ज्ञान होने पर और जिसका निषेध करना होता है उसका स्मरण करने पर ही नियम से 'नहीं है' ऐसा ज्ञान अर्थात् अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है, लेकिन न तो किसी प्रमाणादि से सर्वज्ञ के आधारभूत समस्त संसार का ज्ञान संभव है, जहाँ सर्वज्ञ का निषेध करना है और न सर्वज्ञ का पहले अनुभव है तब उसका स्मरण कैसे हो सकता है ? क्योंकि अनुभवपूर्वक ही स्मरण होता है ? अतः अभाव प्रमाण का उदय न हो सकने से वह भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं साध सकता। इसलिये सर्वज्ञ का कोई बाधक न होने से वह नियम से सिद्ध होता है।' यथा—

प्रत्यक्षमपरिच्छिन्दन् त्रिकालं भुवनत्रयम्।
रहितं विश्वतत्त्वज्ञैर्नहि तद् बाधकं भवेत्॥
नानुमानोपमानार्थापत्त्याऽऽगमबलादपि।
विश्वज्ञाभावसंसिद्धिः तेषां सद्विषयत्वतः॥

० ० ० ०

अभावोऽपि प्रमाणं न निषेध्याधारवेदने।
निषेध्यस्मरणे च स्यान्नास्तिताज्ञानमंजसा॥
न चाशेषजगज्ज्ञानं कुतश्चिदुपपद्यते।
नापि सर्वज्ञसंवित्तिः पूर्वं तत्स्मरणं कुतः
येनाशेषजगत्यस्य सर्वज्ञस्य निषेधनम्। (आप्तपरीक्षा पृ० २२३–२२५)

कुमारिल, प्रभाकर, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर आदि मीमांसक तथा बौद्ध दार्शनिकों के जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपों का विद्यानन्द ने इसी प्रकार अपनी सन्तुलित एवं गम्भीर तर्क शैली के माध्यम से जवाब दिया है। कुमारिल और धर्मकीर्ति जैसे प्राज्ञ ग्रन्थकार तो कहीं-कहीं परपक्ष-खंडन में अपना सन्तुलन भी खो बैठते हैं और दूसरे दार्शनिकों को उन्मत्त, अज्ञानी, अश्लीलवक्ता आदि गालियों की वर्षा करते हुए भी देखे जाते हैं। पर सूक्ष्म विवेकी विद्यानन्द की तर्कगर्भा विचारणा में ऐसी कोई चीज दृष्टिगोचर नहीं होती। निःसन्देह विद्यानन्द की यह सब से बड़ी विशेषता है जो बहुत कम दूसरों में पाई जाती है। मीमांसकों और वेदान्तियों की भावनानियोग और विधि की दुरूह चर्चा, जो जैन दर्शन के लिये विद्यानन्द की अपूर्व देन है, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा अष्टसहस्री में अत्यन्त गंभीर और प्रांजल भाषा में विस्तार के साथ प्रस्तुत करके विद्यानन्द ने विद्वानों के लिये एक अभिनव ज्ञान भंडार प्रदान किया है। यही वे बातें हैं जिनका उत्तरवर्ती जैन तार्किकों पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

२—विद्यानन्द के ग्रन्थ :—

विद्यानन्दने नौ महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है। इनमें ६ स्वतन्त्र एवं मौलिक हैं और ३ टीका-ग्रंथ हैं। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :—

१—विद्यानन्द महोदय—यह विद्यानन्द की सम्भवतः आद्य रचना है, क्योंकि उत्तरवर्ती प्रायः सभी रचनाओं में इसके उल्लेख मिलते हैं[1] और सूचना दी गई है कि 'विस्तार से विद्यानन्द महोदय से जानना चाहिये।' किन्तु दुर्भाग्य से आज यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैन वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है। विक्रम की १३वीं शताब्दी तक इसका पता चलता है। विद्यानन्द के चार सौ वर्ष बाद हुए वादिदेवसूरि ने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' में इसके नामोल्लेखपूर्वक इसकी पंक्ति भी दी है।[2] इस उल्लेख से जहाँ इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं महत्ता प्रकट है वहाँ उसका १३ वीं शती तक अस्तित्व भी सिद्ध है। इसकी खोज होनी चाहिये।

२—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—यह आ० गृद्धपिच्छ (उमास्वति) रचित तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गई पाण्डित्यपूर्ण विशाल

१—'इति परीक्षितमसकृद्विद्यानन्द महोदये'—तत्त्वार्थश्लो० पृ० २७२...... अवगम्यताम्॥ यथागमम् प्रपंचेन विद्यानन्द महोदयात्'। त० श्लो० ३८५। 'इति तत्त्वार्थालंकारे विद्यानन्द महोदये च प्रपंचतं प्ररूपितम्'—अष्ट स० पृ० २९०। 'देवागम तत्त्वार्थलंकार-विद्यानन्द महोदयेषु च तदन्वयस्य व्यवस्थापनात्'। (आप्त० पृ० २६२)

२—देखो, स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३४९।

टीका है। जैन वाङ्मय में उपलब्ध कृतियों में यह एक बेजोड़ रचना है और तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में प्रथम श्रेणी की टीका है। कुमारिल ने मीमांसासूत्र पर मीमांसाश्लोकवार्तिक लिखा है। विद्यानन्द ने उसीके जवाब में तत्त्वार्थसूत्र पर इस टीका को रचा है।

(३) अष्टसहस्री—यह स्वामी समन्तभद्र के देवागम (आप्तमीमांसा) पर रचा गया महत्त्वपूर्ण टीका-ग्रंथ है। विद्यानन्द ने अकलंक द्वारा 'देवागम' पर लिखी गई गहन एवं दुरूह रचना (अष्टशती) को इसमें आत्मसात् करके अपनी असाधारण प्रतिभा से उसके प्रत्येक पद-वाक्यादि का हृदयस्पर्शी मर्मोद्घाटन किया है।

(४) युक्त्यनुशासन—यह भी स्वामी समन्तभद्र के तर्कगर्भ युक्त्यनुशासन पर लिखी गई उनकी मध्यम परिमाण की सुन्दर एवं विशद टीका है।

(५) आप्तपरीक्षा—(स्वोपज्ञ टीका सहित) समन्तभद्र ने जिस प्रकार 'मोक्षमार्गस्यनेतारम्' इस तत्त्वार्थसूत्र के मङ्गलाचरण पद्य पर उसके व्याख्यान रूप में आप्तमीमांसा लिखी है, उसी प्रकार विद्यानन्द ने उसी पद्य के व्याख्यान रूप में इसकी रचना की है और साथ ही उस पर अपनी टीका भी लिखी है। इसमें ईश्वर, कपिल, सुगत और ब्रह्म की परीक्षापूर्वक अर्हन्त-जिन को आप्त सिद्ध किया गया है। रचना बड़ी सुबोध व महत्त्वपूर्ण है।

६—प्रमाण-परीक्षा—यह छोटी-सी गद्य-पद्यात्मक रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय प्रमाणों के स्वरूपादि की आलोचना करते हुए जैन-दर्शन सम्मत प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल का अच्छा वर्णन किया है।

(७) पत्र-परीक्षा—यह भी विद्यानन्द की गद्य-पद्यात्मक तार्किक कृति है। इसमें जैन दृष्टि से पत्र (अनुमान-प्रयोग) की व्यवस्था की गई है और अन्यदीय पत्र-मान्यताओं में दोष दिखाये गये हैं।

(८) सत्यशासनपरीक्षा—यह विद्यानन्द की अन्तिम रचना जान पड़ती है, क्योंकि यह अपूर्ण उपलब्ध है। इसमें पुरुषाद्वैत आदि १२ शासनों (मतों) की परीक्षा करने की प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु उनमें से ९ की पूरी और प्रभाकर-शासन की अधूरी परीक्षा मिलती है। प्रभाकर-शासन का शेषांश, तत्त्वोपप्लव परीक्षा और अनेकान्त-शासन-परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। यह कृति भी बहुत ही विशद और तर्कपूर्ण है। यह अभी अप्रकाशित है।

(९) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—यह श्रीपुर के पार्श्वनाथ (उनके सातिशय प्रतिबिम्ब) को लक्ष्य में रखकर रचा गया विद्यानन्द का भक्तिपूर्णस्तोत्र-ग्रंथ है। समन्तभद्र के द्वारा लिखे गये देवागम की भाँति इसमें कपिलादि की आलोचना करते हुए पार्श्वनाथ को आप्त सिद्ध किया गया है।

अन्त में हम यह कहते हुए अपने निबन्ध को समाप्त करते हैं कि विद्यानन्द की उज्ज्वल कीर्ति और प्रभाव में जहाँ उनकी ये रचनायें चार चाँद लगाती हैं, वहाँ वे जैन वाङ्मय ही नहीं, अपितु समग्र भारतीय वाङ्मय के लिये अत्यन्त गौरवास्पद हैं।



आचार्य हेमचन्द्र और उनकी साहित्य साधना

(ले० मुनि श्री मोहनलाल "शार्दूल")

सविता का अभिनव उदय स्वभाव से ही सकल सृष्टि के कण कण को जागरण का अमर संदेश और गतिशीलता के लिये प्रज्वलित स्फुलिंग होता है। उस अमृत-वेला में सूर्य के प्रदीप्त ज्योतिमण्डल से अग-जग उद्योतित हो उठता है। उसकी स्वर्णरश्मियाँ दूर-दूर तक फैल जाती हैं, तिमिर को कहीं भी अवकाश नहीं छोड़तीं। अर्हमणि के जीवनदायी करों से स्थल, जल, अतल कुछ भी अस्पृष्ट नहीं रह पाता। समग्र क्षेत्रों में उसकी भास्वर-किरणें पहुँच जाती हैं और उनको ज्योतिर्मय बना देती हैं। नभोमणि की स्वाभाविक उच्चता का नैसर्गिक परिणाम यह है कि उस विकासशील प्रभा के प्रभाव से कुछ भी अप्रभावित नहीं रह पाता। समग्र वस्तु-व्रात पर उसकी स्वर्णिम मयूख की छाप अंकित होती है और उसे लाभान्वि करती है।

हेमचन्द्र का विशाल जीवन-वृत्त सूर्योदय का जीवित जागृत प्रतिबिम्ब है। उससे प्रत्येक क्षेत्र को नया जीवन और नई चेतना प्राप्त हुई है। विस्मृति के गहन अन्धकार में जो जीवन और तथ्य विलुप्त हो चुके थे उनको प्रकाश में आने का सुअवसर मिला है। हेमचन्द्र के प्रखर तेज से सारा गुजरात आलोकित हो उठा था। गुजरात की सांस्कृतिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी परम्पराओं को उन्होंने नवीन दृष्टिकोण प्रदान किया था और अपने कठोर परिश्रम से सबल बनाया था। जन जीवन के जितने अंग होते हैं उन पर सब पर उन्होंने मार्मिक साहित्य लिखा था। यही कारण है कि वे जन-जीवन में घुलमिल गये और जो नया मोड़ देना चाहते थे उसमें सफल हुए। उनका संवेदन बहुत गहरा और सूक्ष्म था, इसलिए वे उपेक्षित से उपेक्षित अवयवों में भी नये प्राण संचारित कर सके।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपने समय में सबसे अनूठी और बड़ी बात जो की थी वह यह थी कि उन्होंने समाज और शासन पर धर्म का अंकुश पुनः स्थापित किया था। जब कर्म धर्म पर छा जाता है और उसे अगति देने लगता है तो बहुत बड़ा असह्य विपर्यास हो जाता है। उस समय चैतन्य कुण्ठित होने लगता है और जड़ता प्रसार पाने लगती है। राजसत्ता की डोरी जितनी बलशाली होती है बंधन उतना ही कठोर और मजबूत होता है।

स्वाभाविक ही इस कटघरे के बाहर झाँकने की प्रवृत्ति मंद हो जाती है और जीवन की शान्ति राजनीति के चक्रव्यूह में घिर जाती है। मानव का जो सर्वोत्तम भाव समर्पण है वह यहाँ सिकुड़ना प्रारम्भ हो जाता है और क्रमशः सिकुड़ता सिमटता निरुपयोगी गाँठ बन जाता है, परन्तु जीवन का मूल तो वितरण की महाधारा पर अवस्थित और सुरक्षित है उसे केवल ग्रहण और संचय के महासागर में छोड़ दिया जाय तो वह गल कर विनष्ट हो जावेगा। हेमचन्द्र ने इस गहन गुत्थी के तार सुलझाये थे और धर्म की सीमा को विस्तीर्ण बनाया था। यह उनकी एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण देन थी। युगान्तरकारी परिवर्तन था। इसी परिवर्तन का परिणाम था कि सिद्धराज-जयसिंह जैसा योद्धा और तेजस्वी राजा उनके चरणों में झुका और कुमारपाल विनम्र भक्त बना तथा प्रशासन में सांस्कृतिक चेतना जागी।

इस उपर्युक्त परिवर्तन का उनको महान् लाभ प्राप्त हुआ। वे मानव के जिस महान विटप को पल्लवित, पुष्पित और फलित करना चाहते थे उसके लिये आधार भूमि तैयार हो गयी थी। राजकीयवर्ग उस प्रशस्त पथ की ओर मुड़ गया था और जीवन जागृति के इस विराट अनुष्ठान में सावधान हो गया था। हेमचन्द्राचार्य की पावन प्रेरणा उसे जीवन के समीप ले आई थी। कृत्रिमता से टूटकर वह वास्तविकता के क्षितिज पर आ खड़ा हुआ था।

हेमचन्द्र का जीवन-दर्शन अत्यन्त व्यापक है। उन्होंने हर क्रिया-कलाप में विशाल दृष्टिकोण को अपनाया था। उनके आचीर्ण बर्ताव-व्यवहार में मतान्धता की तथा संकीर्णता की दुर्गन्ध नहीं प्रत्युत सहिष्णुता और स्वभाव की सुवास थी।

उस सुवास से सारा गुजरात सुवासित है। गुजरात की प्रत्येक गतिविधि की भव्यता में उनका विशाल हृदय स्पन्दित है। अपने समय की घटनाओं में ही वे रस नहीं लेते हैं, प्रत्युत बहुत पूर्वकालीन संस्कृति उन्नायक कार्यक्रमों का भी स्मरण करके आत्मविभोर हो जाते हैं और यशः प्रशस्ति लिखते हैं। नृपतिमूलराज शैव मतावलम्बी था, यह इतिहास सिद्ध है, फिर भी उन्होंने अपने संस्कृत-द्वयाश्रय महाकाव्य में उसके योग्य कार्यों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। अपने समय में भी वे सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल के साथ कई बार सनातन तीर्थों की यात्रा करते हैं। उनका भक्तिमान् शिष्य कुमारपाल अपनी राजधानी अनहिल्लपुर पाटण में महादेव का मन्दिर बनवाता है। सोमनाथ का जीर्णोद्धार करवाता है तथा केदारनाथ की मरम्मत भी सम्पन्न करता है। यह सब हेमचन्द्र की देखरेख तथा प्रेरणा से किया जाता जाता है। सूर्य की तरह यह स्पष्ट है कि यह उनके विशाल दृष्टिकोण का प्रतीक है। उनमें यदि स्वमताग्रह होता तो ये सब कार्य कभी न हो पाते। उनके आचरण में वही आ सका जो मानव कल्याण के उपयुक्त था, और क्षेत्रातीत तथा समयातीत था। श्री के० एम० मुंशी ने अत्यन्त श्रद्धाभरे शब्दों में उनके लिये यह ठीक ही लिखा है कि "यह था समस्त जग का एक प्रखर विद्वान, कवि, इतिहासकार वैयाकरण और कोशकार, गुजरात का कलिकाल-सर्वज्ञ, मद्यनिषेधक-शासन का सर्वप्रथम प्रेरक, मध्यकाल में अहिंसा को राजनीति में लाने का प्रयत्न करने वालों में प्रथम, गुजरात की एकता और महत्ता को अपनी कल्पना से पूर्ण करने वाला विश्वकर्मा।"

इसी प्रकार ए० वी० लट्ठे ने भी लिखा है कि "हेमचन्द्राचार्य ने अमुक जाति या समुदाय के लिये अपना जीवन व्यतीत नहीं किया, उनकी कई कृतियाँ तो भारतीय साहित्य में बहुत महत्त्व का स्थान रखती हैं। वे केवल पुरातन पद्धति के अनुयायी नहीं थे। उनके जीवन के साथ तत्कालीन गुजरात का इतिहास आरपार गुंथा हुआ है। यद्यपि हेमचन्द्र विश्वजनीन और अप्रतिबन्ध हैं, फिर भी क्योंकि उनका निवास सबसे अधिक गुजरातमें हुआ इसलिये उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक लाभ गुजरात को ही प्राप्त हुआ है। उन्होंने अपने ओजस्वी और अक्षत व्यक्तित्व से गुजरात को संवारा सजाया है और युग-युग तक जीवित रहने की जीवन्त शक्ति भरी है। सारे सोलंकी-वंश को अपनी लेखनी का अमृत पिला-पिला कर अमर बनाया है। गुर्जर-इतिहास में उन्हें अद्वितीय स्थान प्राप्त है।"

विद्वद्वर्य पण्डित शिवदत्त ने अपने लेख म इसे स्पष्ट उल्लिखित किया है।[1] संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास का था और श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट का, प्रायः वही स्थान बारहवीं शताब्दी में चौलुक्य वंशोद्भव सुप्रसिद्ध गुर्जर-नरेन्द्र शिरोमणि सिद्धराज जयसिंह के इतिहास में श्री हेमचन्द्राचार्य का है।

गुजरात के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक श्री धूमकेतु का कथन भी इस ओर संकेत करता है। उन्होंने कहा है—"सोलंकियों का इतिहास हेमचन्द्राचार्य के बिना लड़ाइयों का इतिहास बन जावे; हेमचन्द्राचार्य के बिना गुजराती भाषा का इतिहास अपूर्ण और अकिंचन लगे; हेमचन्द्राचार्य के बिना गुजरात के पास विश्व के साहित्यिक इतिहास में निक्षिप्त करने योग्य व्यक्ति बहुत कम हैं[2]।"

वस्तुतः गुजरात के सर्वांगीण निर्माण और उसे उन्नति शिखर पर चढ़ाने में हेमचन्द्र अत्यन्त अनिवार्य व्यक्ति थे। वे गुजरात की समग्र प्रवृत्तियों की कमनीयता में ओतप्रोत हैं और उनको अपने व्यक्तित्व के रंग से रँगा है। हेमचन्द्र यदि गुजराती-इतिहास में प्रवेश नहीं पाते तो शायद गुजरात का यह निरुपम रंग नहीं हो पाता[3]। गुजरातियों को अपनी महत्ता देखकर गर्व का और महान् बनने का आज जो स्वप्न आता है, वह कदाच नहीं आता। हेमचन्द्र बिना गुजराती भाषा का जन्म-संस्कार न हो पाता। इनके बिना वर्षों तक गुजरात को जागृत रखनेवाली संस्कारिता की कल्पना अशक्य है और इनके बिना गुजराती प्रजा के आज के जो जो विशेष लक्षण-समन्वय, विवेक, अहिंसा, प्रेम, शुद्ध सदाचार और प्रामाणिक व्यवहार-प्रणाली आदि हैं, न आ पाते। इन सब सद्गुणों की वृद्धि में उनका योग अप्रतिम है। यही कारण है कि गुजरात के वृहद् आकाश में

१—नागरी प्रचारिणी पत्रिका (भाग ६, संख्या ४)

२—श्री हेमचन्द्राचार्य पृ० ९

३—श्री हेमचन्द्राचार्य पृ० ८

वे तेजस्वी सितारे की तरह चमक रहे हैं। उन्होंने साहित्य के रूप में जो अमृत बहाया है वह आज भी गुजरात की नस-नस में बह रहा है। इस प्रकार वे स्वतः ही गुजराती इतिहास के अपरिहार्य, अमूल्य मणि सिद्ध हो जाते हैं।

जन्म-कुल और बाल्य काल :—

श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य का जन्म "प्रभावक-चरित' के अनुसार विक्रम संवत् ११४५ कार्तिक पूर्णिमा को गुजरातान्तर्गत धन्धूका गाँव में हुआ। धन्धूका भाधर नदी के दाहिने तट पर, अहमदाबाद से उत्तर-पश्चिम में ६२ मील की दूरी पर स्थित है। इनके पिता मोढ़-कुल जाति के वणिक थे। उनका नाम चाचदेव था[1]। चाचदेव की पत्नी का नाम पाहिनी (चाहिणी) था। पाहिनी ने एक सुन्दर स्वप्न देखा। उस समय वहाँ चान्द्रगच्छ के आचार्य देवचन्द्रसूरि आये हुए थे। पाहिनी देवी ने अपने स्वप्न का रहस्य उनसे पूछा। आचार्य देवचन्द्रसूरि ने कहा—तुम्हारा यह स्वप्न बहुत उत्तम है। तुम अवश्य ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि के लिये एक अलौकिक ज्योतियुक्त पुत्ररत्न मुझे जैन शासन के हितार्थ अर्पित करोगी। इसी अच्छे (चंगे) सपने के कारण या आधार पर बालक का नाम चंगदेव रखा गया। लाड़-प्यार से चंगदेव का पालन होने लगा। हिमद्युति की तरह वह बालक विकास पाने लगा।

एक बार आचार्य देवचन्द्र ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भव्यजनों के प्रबोध हेतु धन्धूका गांव में आये। लोगों के झुण्ड के झुण्ड उनके दर्शनार्थ तथा उनकी पीयूषमयी वाणी का रसास्वादन करने के लिये जा रहे थे। पाहिनी भी चंगदेव को साथ लेकर गुरुवन्दन को गयी। सहजसरूप और शुभलक्षणी पंचवर्षीय चंगदेव को देखकर आचार्य देवचन्द्र उस पर मुग्ध हो गये और तत्काल पाहिनी से बोले—बहिन ! इस चिन्तामणि को तुम मुझे अर्पित कर दो ! आचार्य की वाणी सुनकर पाहिनी व्याकुल सी हो गयी। मन में ममता जाग आयी और गद्गद् कंठ से बोली—गुरुदेव ! यह कैसे हो सकता है ? मेरे एक ही पुत्र है, बहुत छोटा है, मेरा एक मात्र आधार है, यह कलेजे की कोर.................. आगे उसकी वाणी रुक गयी वह लड़खड़ा-सी गई। उसकी आँखों में अश्रुबिन्दु छलक आये। परन्तु आचार्य के मुख से हेमचन्द्र की प्रतिभा की प्रशंसा व उनके द्वारा होने वाली जैनशासन की प्रभावना की बात समझकर, धर्म की भावना से माँ ने बालक को आ० देवचन्द्र को सौंप दिया। आचार्य उसे स्तम्भतीर्थ (खम्भात) में ले कर गये और सिद्धराज के मंत्री उदयन के घर में परिपालन के लिए रख दिया।

दीक्षा-ग्रहणः—

हेमचन्द्र की प्रवज्या के विषय में मतैक्य तथा व्यवस्थित प्रमाण नहीं मिलते। प्रभावक-चरित के अनुसार पाँच वर्ष की, अवस्था में उनका दीक्षित होना सिद्ध होता है, पर जिनमण्डनकृत "कुमारपाल प्रबन्ध" में विक्रम संवत ११६४ में प्रव्रजित होने का उल्लेख प्राप्त होता है और प्रबन्ध चिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध-संग्रह, प्रबन्ध-कोश तथा कुमारपाल-प्रतिबोध आदि ग्रंथों में आठ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण करने का विवरण मिलता है। इस सब उल्लेखों के आधार पर दीक्षाविषयक ठीक निर्णय कर पाना कठिन है, पर अधिक संभव यही है कि दीक्षित होने के समय उनकी आयु आठ वर्ष की रही हो, क्योंकि अधिकांश ग्रंथों में ऐसा ही विवरण मिलता है। प्रव्रज्या ग्रहणके बाद चंगदेव का नाम सोमचन्द्र रखा गया। सोमचन्द्र की प्रतिभा बहुत ही प्रखर, सूक्ष्मग्राहिणी, तथा प्रसरणशील थी। स्वल्प समय में ही अपने चन्द्रमा के समान प्रज्ञाबल से वे तर्क लक्षण, अलंकार, छंद आदि विषयों का बहुत गहरा अध्ययन कर चुके थे[2], "शत्-सहस्त्र-पद" की धारणा-शक्ति से सम्पन्न हो गये थे, फिर भी उनको संतोष नहीं था। वे विद्यार्जन के लिये काश्मीर जाना चाहते थे पर ऐसा करने के लिए उनके गुरु-देवचन्द्र ने अनुज्ञा नहीं दी।

सूरि पद-प्राप्ति :—

सोमचन्द्र अपनी प्रतिभा से ही पटु नहीं थे, उन्होंने इतर गुणों में भी निपुणता प्राप्त की थी। धैर्य, समन्वय, अनुशासन

१—कुमारपाल-प्रतिबोध आदि कई ग्रन्थों में "चच्च", "चाचिग", "चाच" आदि नाम भी मिलते हैं।

२—सोमचन्द्रस्ततश्चन्द्रोज्ज्वलप्रज्ञाबलादसौ।
तर्क लक्षण साहित्य विद्याः पर्यच्छिनदद्रुतम् ॥ (प्रभावक-चरितम्-हेमचन्द्रसूरि-प्रबन्ध, श्लोक ३७)

चलाने की क्षमता, आदि पर उनका विशेष अधिकार था। विनयशीलता, समता, आदि को भी उन्होंने आत्मसात् कर लिया था। उनकी योग्यता असंदिग्ध थी। हर विषय में वे अपनी नयी सूझ-बूझ रखते थे तथा उसे सम्पादित करने का नया ढंग रखते थे। आचार्य देवचन्द्र उन पर पूरे प्रसन्न थे। उनकी योग्यता का उन्हें सात्त्विक गर्व था। यही कारण था कि उन्होंने सोमचन्द्र को ११६६ में २१ वर्ष की लघु वय में सूरिपद से विभूषित किया। यह सूरिपद दान का समारोह नवसम्पादित प्रमाण-मीमांसा की प्रस्तावना के अनुसार नागौर में सम्पन्न हुआ, जिसका प्रबन्ध धनद नाम के एक वणिक ने किया। सूरि पद देने के बाद सोमचन्द्र का नाम हेमचन्द्र कर दिया गया।

आचार्य हेमचन्द्र और जयसिंह सिद्धराज :-

श्री हेमचन्द्र एक जैन आचार्य थे, फिर भी उनकी दृष्टि इतनी विशाल थी कि प्राणि-मात्र की हित-परिकल्पना उनमें गर्भित थी। बिना कोई भेद भाव के वे इस जनजागरण और जीवनोत्थान के कार्य में अपने को अर्पित कर चुके थे। प्रत्येक अवसर पर वे एक नयी सूझ बूझ से काम लेते और सदा के लिए अपनी तलस्पर्शी मेधा का एक चमत्कारिक प्रभाव छोड़ देते। संभवत: चेतना की इस विलक्षणता ने ही महापराक्रमी गुर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज को आकृष्ट किया था। आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज का प्रथम परिचय कब हुआ, इसका विवरण प्रामाणिक रूप से तो कहीं प्राप्त नहीं होता, पर लगता है यह अवसर मालव-विजय के बाद ही उनके आगमन पर मिला हो।

एक किंवदन्ती के अनुसार उनका प्रथम सम्पर्क वहाँ से प्रारम्भ होता है जबकि सिद्धराज मालव को जीत कर गुजरात के एक प्रदेश से गुजर रहा होता है, पर भीड़ बहुत भारी होने के कारण ठिठकता है और हिचकिचाता है। तब शुभयोग से श्री हेमचन्द्राचार्य भी वहीं होते हैं और वे उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

"हे राजन्! अपने कुंजर को निःसंकोच आगे बढ़ाओ, दिग्गज यदि संत्रास पाते हों तो पाने दो! तुम रुको मत! क्योंकि सारी धरती का उद्धार तो तुमने ही किया है।"[1]

इस स्फुट और स्फूर्त बात को सुनकर सिद्धराज आगे बढ़ता है और आचार्य के इस प्रतिभाशाली ढंग से अन्दर ही अन्दर कुछ आकृष्ट हो जाता है। तदुपरान्त तो आचार्य और राजा का नैकट्य वर्धमान ही रहता है, और दोनों परस्पर काफी संबद्ध हो जाते हैं तथा एक दूसरे के विकास में आजन्म सहायक होते हैं। सिद्धराज और श्री हेमचन्द्र के सम्बन्ध की एक कड़ी राजमाता मीनलदेवी भी हैं। वह जैन मतावलम्बिनी हैं। इसी कारण जैनों को उन्होंने प्रश्रय देना चाहा था। गुजरात-नरेश जयसिंह अपने समय का बड़ा प्रभावशाली और विकासप्रेमी राजा हुआ है। उसने गुजरात की हर उन्नति में अपना ध्यान लगाया है और विकास की प्रत्येक लहर को गतिशील बनाया है। तत्कालीन समय में मालव की सांस्कृतिक चेतना का स्तर बहुत समुन्नत था। विकास की वायु भी वहाँ बहुत जोर से चल रही थी। राजा भोज का सरस्वती-प्रेम सुप्रसिद्ध है। वह स्वयं संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था। शैक्षणिक उन्नति और सांस्कृतिक विकास के लिए वह हर समय उत्सुक और उद्योगी रहता। राजा सिद्धराज भी अपने गुजरात को उससे निम्न नहीं देखना चाहता था। इसलिये उसने पूर्ण प्रयत्नपूर्वक गुजरात के सर्वांगीण विकास के द्वार खोले थे। सिद्धराज की राजनैतिक दृष्टि भी बहुत तीव्र थी। वह गुजरात में एक नये युग का निर्माता है और गुजरात को उन्नति शिखर पर ले जाने में उसका सूक्ष्म-कौशल बहुत विख्यात है। आचार्य हेमचन्द्र और सिद्धराज की प्रतिभा-सम्मिश्रण से गुजरात की चौमुखी प्रगति हुई थी। सिद्धराज ने जहाँ नूतन राजनीति का निर्माण किया, वहाँ आचार्य हेमचन्द्र ने संस्कार-निर्माण का महत्त्वपूर्ण काम किया। सिद्धराज समर विजयी था, तो हेमचन्द्र मारविजयी। सिद्धराज सरस्वती-प्रेमी था, तो हेमचन्द्र सरस्वती-धर्मी। वह अपने विशाल वैभव का अधिपति था—तो यह महाविरक्ति का। सब मिलाकर इन दोनों का संगम गुजरात के लिये अकृतपूर्व अभ्युदय का समय है।

धूमकेतु के कथनानुसार भी यह समय गुजरात का सर्वोत्कृष्ट है। गुजरात की सांस्कृतिक भव्यता के जिस सूर्य का

१—कारय प्रसरं सिद्ध! हस्तिराजमशंकितम्।
त्रस्यन्तु दिग्गजाः किं तैर्भूस्त्वयैवोद्धृतायतः॥ (प्रभावकचरित, हेमचन्द्रसूरिचरितम्)

उदय मूलराज के समय में हुआ, उसकी समग्र किरणों का प्रादुष्करण भीमदेव के शासन काल में हुआ और सिद्धराज के समय में वह अपनी प्रखर किरणों सहित मध्यान्ह् में पहुँचा।

आचार्य हेमचन्द्र और राजा सिद्धराज समवयस्क थे। सिद्धराज का जन्म हेमचन्द्र से २ वर्ष पूर्व वि० सं० ११४३ में हुआ। चिन्तन पद्धति में भी दोनों काफी निकट थे। दोनों का ही गुजरात पर पूर्ण और समीपवर्ती क्षेत्रों पर बहुत सुन्दर प्रभाव था। सिद्धराज राष्ट्रीय नेता, शासक, संरक्षक के रूप में सम्माननीय था, तो हेमचन्द्र धार्मिक चारित्रिक व सांस्कृतिक दृष्टि से प्राणदायी थे। दोनों में गहरा सम्बन्ध था।

आ० देवसूरि ने ११८१ में जब सिद्धराज की सभा में दिगम्बर आचार्य श्री कुमुदचन्द्र के साथ शास्त्रार्थ किया था, तब हेमचन्द्र भी उनके मित्र के रूप में उपस्थित थे। सिद्धराज पर इसका भी अच्छा असर रहा था। इस तरह सिद्धराज का आ० हेमचन्द के साथ गहरा आन्तरिक सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। उसके कई प्रमाण भी मिलते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र और कुमारपाल :—

हेमचन्द्र और सिद्धराज का सम्बन्ध परस्पर गहरे मित्रों का सा था, तो वहाँ हेमचन्द्र और कुमारपाल का सम्बन्ध गुरु और शिष्य का माना जाता है। कुमारपाल पर उनका विशेष प्रभाव रहने का कारण भी था। हेमचन्द्र ने सात वर्ष पहले ही उसे राज्य मिलने की गुप्त घोषणा या भविष्यवाणी कर दी थी[1]। एकबार उसके प्राणों की भी रक्षा की थी। राज्यकीय पुरुष उसे पकड़ने आये तो हेमचन्द्र ने उसे ताड़-पत्रों में छिपा कर उसके प्राण बचाये थे। तभी से वह उनको परम उपकारी और अपना श्रद्धेय मानने लगा था। कुमारपाल के राजगद्दी पर आने के बाद भी सम्बन्ध बराबर बना रहा और वृद्धिगत होता चला गया। हेमचन्द्र उसके साथ बहुत उदार दृष्टि से विचार-विमर्श तथा व्यवहार करते थे। गुजरात का सर्वांगीण विकास कैसे हो यही उनके चिंतन का प्रमुख विषय रहता था। उन्होंने कभी भी संकुचित दृष्टि का परिचय नहीं दिया। इसी उदार दृष्टि का परिणाम था कि राजा उनके प्रति उत्तरोत्तर आकृष्ट होता गया और उनका प्रभाव प्रशासन में छाता गया। उनके इस प्रभावशाली वातावरण का इतना विस्तार हुआ कि राज्य संरक्षण में पलनेवाले तत्कालीन जैनेतर विद्वानों को बहुत अखरा और अप्रिय लगा। कुछ एक ने राजा की दृष्टि से उन्हें गिराने के प्रयत्न भी किये। राजा के कान भरे कि हेमचन्द्र अपने ही देवों, तीर्थों और सिद्धान्तों को महत्त्व देते हैं, दूसरों को कुछ भी नहीं समझते, गौरव-दान तो दूर, प्रत्युत् अवज्ञा करते हैं। राजा के मन में यह बात चुभ गयी, पर जब उसने हेमचन्द्र से कहा कि आप सोमनाथ की यात्रा पर चलें तो उन्होंने बिना झिझक के इसे स्वीकार कर लिया। उन्होंने राजा के साथ कई तीर्थों की यात्राएँ कीं और भक्ति-विभोर होकर स्तुति की। एक बार उन्होंने स्तुति करते हुये कहा था—"चाहे किसी भी समय में, किसी भी देश में, किसी भी रूप में अथवा नाम में आप हों, राग द्वेषादि दोषों से रहित होने पर भगवान् के रूप ही हैं। हे! वीतराग भगवान् आपको नमस्कार है।" महादेव की स्तुति करते हुये उन्होंने कहा था—

"महारागो महाद्वेषो महामोहस्तथैव च। कषायश्च च हतो येन, महादेवः स उच्यते॥"

"जिसने महाराग, महाद्वेष और कषाय को मिटा दिया है, वही महादेव हैं," उनको मेरा नमस्कार है। आचार्य हेमचन्द्र के इन उदार विचारों और उदात्त आचरणों की प्रतिक्रिया कुमारपाल पर बहुत सुन्दर हुई। वह हेमचन्द्राचार्य के अधिकाधिक निकट होता चला गया। वह सबसे बढ़ कर आदरणीय और हितैषी इन्हें ही समझता था। इन्हें अपना गुरु मानता था। कुमारपाल का शासन काल वि० सं० १२२९ तक है। इस सम्पूर्ण अवधि में उनका पूर्ण प्रभुत्व रहा था, ऐसा माना जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कुमारपाल के चारित्रिक पक्ष को भी बहुत परिष्कृत किया था। ऐश्वर्य के विलासमय और उत्तेजक वातावरण में रहते हुए भी उसे राजर्षि और परमार्हत बना दिया था। आचार्य ने उसे मांस-मदिरा आदि सातों ही व्यसनों से मुक्ति दिलायी थी और पापों के विषम जाल से बचाया था। राजा को वस्तुतः इन घोर कृत्यों के अनाचरण से बहुत संतोष और सुख मिला था, तभी वह इन व्यसनों के त्याग के व्यापक प्रचार-प्रसार के लिये उद्यत हुआ था। उसने अपने आधीन १८

१—अमुतः सप्तमे वर्षे पृथिवीपालो भविष्यसि। (प्रभावक चरितम्)

राज्यों में "अमारि"[१] घोषणा की थी, सप्त व्यसन वर्जन व्यवस्था की थी और एक काफी समय से चली आ रही दूषित परम्परा के उन्मूलन का श्रेय भी कुमारपाल ने प्राप्त किया था। प्रशासन की एक सुदृढ़ रीति सी चली आ रही थी कि जिस औरत के पति, पुत्र स्वर्गगत हो जाते, उसका सारा धन राज्य द्वारा हड़प लिया जाता था। बेचारी उस दुखिया को और भी दुःखिता तथा असहाय बना दिया जाता। राजा कुमार पाल ने उस द्रव्य को अग्रहणीय घोषित किया था। इन सब उत्तम और प्रशस्त आचरणों से अहिंसा की सीमा विस्तीर्ण हुई थी तथा लोगों में उज्ज्वल आचार-भूमिका बनी थी। दोषमुक्त व्यक्ति की तरह दूषण रहित इस राज्य की नींव सुदृढ़ एवं गहरी बनी थी क्योंकि प्रशासन संवेदनशील तथा मानव संस्कारों का आदर करने वाला बनने लगा था। गरीब और अशक्त व्यक्तियों को इससे बहुत राहत मिली थी।

यद्यपि कुछ हठधर्मी और स्वमताग्रही व्यक्तियों ने "अमारि" घोषणा का बहुत प्रबल विरोध किया और धर्म के लिए घातक तथा धर्मोन्मूलन का कार्य बताया, पर राजा ने इसका भी उचित प्रतिकार किया। विरोधी लोगों ने राज्य में भ्रम फैलाया कि कण्टकेश्वर को बलि न देने से महान् संकट होगा तथा भयंकर उत्पात मचेगा। पर राजा ने इसका समाधान यह किया कि रात भर पशुओं को देवी के मन्दिर में बन्द करवा दिया और कहा —यदि देवी को बलि अभीष्ट है तो वह अपने-आप बलि ले लेगी, पर प्रातः सब ही पशु जीवित मिले। इससे राजा की अमारि घोषणा को बहुत बल मिला तथा विरोधी लोगों को भी मुंहतोड़ उत्तर मिल गया।

राजा कुमारपाल जैन धर्म में दीक्षित हुआ या नहीं, यह विषय[२] इतिवृत्तवेत्ताओं के लिये विवादास्पद माना जाता है। के० एम० मुंशी ने भी अपनी पुस्तक "गुजरात और उसका साहित्य" में उसे उसकी मृत्यु से चार वर्ष पूर्व तक शैव माना है, जैन नहीं। दुर्गाशंकर शास्त्री ने भी उसे परममाहेश्वर स्वीकार किया है। परन्तु इन मान्यताओं के विपरीत भी प्रमाण मिलते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान् एलेक्जेन्डर ने कुमारपाल का जैन धर्म में दीक्षित होना स्वीकार किया है। उसने कुमारपाल द्वारा स्वीकृत बारह व्रतों का विशद वर्णन किया है। हिन्दी की एक पुस्तक "आचार्य हेमचन्द्र" में भी कुमारपाल के जैन होने का स्पष्ट उल्लेख है। उसमें लिखा है—कुमारपाल वि० सं० १२१६ में मार्गशीर्ष शुक्ला द्वितीया को श्रावक धर्म के बारह व्रत स्वीकार कर विधिपूर्वक जैनधर्म में दीक्षित हुआ। इस प्रकार अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं। अतः यह खोज का ही विषय मानना चाहिये।

साहित्यः-

हेमचन्द्र की साहित्य-साधना बहुत विशाल और व्यापक है। जीवन को संस्कृत, संवर्द्धित, संचालित और संगत करने वाले जितने पहलू होते हैं, उन सभी को उन्होंने अपनी लेखनी का विषय बनाया है। विभिन्न क्रियाओं की तथा भिन्न-भिन्न निकट-दूर के तथ्यों की जीवन पर जो प्रतिक्रिया होती है, जीवन को जो उत्तेजना मिलती है तथा प्रेरणा प्राप्त होती है उन समग्र विषयों पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी है।

जीवन के सर्वांगीण-विकास में जो आभ्यन्तर और बाह्य क्रियाएँ अनिवार्य दीखती हैं, उनकी परिधि इतनी विशाल है कि समग्र विश्व उनमें समाविष्ट हो जाता है। संसार का हर विचार, हर आचरण और हर कण जीवन के अभ्युदय के लिये संबल बन सकता है। बन ही नहीं सकता बल्कि जब उसे अपरिहार्य रूप में बनाया जाता है, तभी जीवन की शृंखला सुदृढ़ और चिरस्थायी बनती है। भूगोल, खगोल, ज्योतिष, इतिहास, न्याय, नीति, धर्म, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला और आचार आदि सभी धाराओं का रस ग्रहण कर जीवन समृद्ध और परिपूर्ण बनता है। आचार्य हेमचन्द्र ने इन सभी विषयों पर बहुत ही मार्मिक और विशाल साहित्य लिख कर जीवन को प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील बनाया है।

उनके साहित्य का परिमाण बहुत विशाल गिना जाता है। वे एक जैनाचार्य थे, अतः स्वाभाविक ही था कि उनकी रुचि जैन सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में अधिक हो, किन्तु वे इसमें ही लिप्त न रहे। जीवनोत्थान के हर विषय को उन्होंने महत्त्व दिया है और जन-साधारण के जीवनोपयोगी अंगों पर अपनी लेखनी चलाई है। व्याकरण, काव्य, नाटक, कोश, छन्द, अलंकार,

---

१—मत मारो।

२—Kumarpala was a Shaiva still in 1169, four years prior to his death, and that he was not converted to Jainism. Gujrat and its Literature P. 16

न्याय, नीति, इतिहास, स्तुति आदि विविध विषयों पर प्रभूत साहित्य सृजन किया है। यद्यपि वर्तमान में जो विकास और अनुसंधान हुआ है उससे अनेक नये विषय निकल आए हैं, उन पर उनका बहुत व्यापक साहित्य नहीं मिलता, फिर भी उनके बीज अवश्य ही प्राप्त हो सकते हैं। वे एक सफल और समर्थ साहित्यकार के रूप में प्रख्यात हुए हैं। उनका साहित्य इतना रोचक, मर्मस्पर्शी और सजीव है कि वह पाश्चात्य देशों तक पहुँचा है। पश्चिम के विद्वान् उनके साहित्य पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने उनको ज्ञान का महान् सागर (Ocean of Knowledge) कहा है। उनकी हर रचना में नया दृष्टिकोण है, नयी शैली है तथा नया तरीका है। उन्होंने अपनी विलक्षण प्रतिभा का संसार को अद्वितीय लाभ दिया है। सोमप्रभसूरि ने, जो कि उनके समकालीन थे, उनकी इस सर्वांगीण प्रज्ञा पर विस्मय विमुग्ध होकर कहा था—

"क्लृप्तं व्याकरणं नवं, विरचितं छन्दो नवं, द्वयाश्रया-
लंकारौ प्रथितौ नवौ, श्री योगशास्त्रं नवं प्रकटितं ।
तर्कः संजनितो नवो, जिनवरादीनां चरित्रं नव,
बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतः दूरतः।"

स प्रकार उन्होंने सरस्वती के भंडार को अमर निधियाँ भेंट की हैं। उनकी आद्यकृति क्या है ? और कौन से समय में निबद्ध है, इसका कोई कहीं स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। फिर भी कुछ प्रमाणों के आधार पर अनुमान होता है कि उनकी प्रथम रचना व्याकरण ही रही होगी। व्याकरण निर्माण की एक चित्ताकर्षक और अनोखी घटना है। यह प्रसंग आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व का उद्दीपक भी है।

वि० सं० ११९३ में मालव-विजय के उपरान्त वहाँ के साहित्य भंडारों में से बहुत सी सामग्री गुजरात लाई गई। एक दिन निरीक्षण करते हुए सिद्धराज ने भोजराज विरचित "सरस्वती कण्ठाभरण" नामका एक व्याकरण देखा तो उसका राजकीय अहं जाग उठा कि मेरे राज्याश्रय में बना भी कोई व्याकरण होना चाहिए। अपनी परिषद् के पण्डितों के टटोला तो आचार्य हेमचन्द्र ही उसको इसके योग्य प्रतीत हुए। उसने उनको राज्य सभा में आमंत्रित करके निवेदन किया कि— "हे मुनि नायक, आप अविलम्ब एक व्याकरण का निर्माण करें जो संसार के मनुष्यों के लिये उपकारक हो, मेरा यश फैलावे और आपकी प्रख्याति बढ़ावे।"[1] आचार्य हेमचन्द्र की स्वीकृति मिलने पर राजा ने उसकी समग्र सामग्री का प्रबन्ध कर दिया। हेमचन्द्र ने काश्मीर से ८ व्याकरण मँगावाये और उनका विधिवत् अध्ययन करके नवीन व्याकरण का निर्माण किया, जो ३५६६ सूत्रों में है। इसका नाम "सिद्धहेमशब्दानुशासनम्" रखा। इसके आठ अध्याय हैं। सात में तो संस्कृत व्याकरण और आठवें में प्राकृत व्याकरण है। प्राकृत व्याकरण में १११९ सूत्र हैं। व्याकरण बहुत ही सुन्दर और सुगम बनी है। "गुजरात नूं प्रधान व्याकरण" लेख में पण्डित बेचरदास दोशी ने कहा है कि—अभ्यास की सुगमता की दृष्टि से पाणिनी के सूत्रों की योजना की अपेक्षा हेमचन्द्र के सूत्रों की योजना विशिष्ट और सरल है, और संज्ञायें भी सुगम तथा सुबोध हैं। प्राचीन ग्रन्थ "प्रबन्ध-चिन्तामणि" में भी इसकी कमनीयता की गुणगाथा मिलती है।

"भ्रातः संवृणु पाणिनि प्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा
मा कार्षीः कटु शाकटायनवचः क्षुद्रेण चान्द्रेण किम्।
किं कण्ठाभरणादिभिर्बठरयत्यात्मानमन्यैरपि
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुरा श्रीसिद्धहेमोक्तयः"॥

हेम व्याकरण, १– मूलपाठ, २– धातुपारायण, ३– गणपाठ, ४– उणादि प्रत्यय और ५– लिंगानुशासन, व्याकरण के इन पाँचों अंगों से परिपूर्ण है।

यह एक वर्ष में सवालाख श्लोकों के प्रमाण लिखी गयी थी ऐसी मान्यता है, पर मधुसूदन मोदी जो हेमचन्द्र के विशेष अध्येता हैं, तथा जिन्होंने उनके ग्रन्थों पर "हेम-समीक्षा" नाम से एक समीक्षात्मक पुस्तक भी लिखी है, वे पंचांगी व्याकरण के ५०००० श्लोकों से अधिक स्वीकार नहीं करते। यह तथ्य कुछ अन्वेषणीय है। आचार्य ने व्याकरण पर ६० हजार श्लोक प्रमाण

१—यशोमम तव ख्यातिः पुण्यं च मुनिनायक।
विश्वलोकोपकाराय, कुरु व्याकरणं नवम्॥ (प्रभावकचरितम्, हेमचन्द्रसूरिप्रबन्ध, श्लोक ८४)

लघु और १८००० श्लोक प्रमाण वृहद् वृत्ति लिखी है। वृहद् वृत्ति ७ अध्यायों पर ही प्राप्त होती है, आठवें पर नहीं। पाणिनी के महाभाष्य की स्पर्धा में हेमचन्द्र ने व्याकरण पर वृहन्न्यास की भी रचना की है। इसका कुछ प्रारम्भिक अंश पुरातन भंडारों में प्राप्त होता है।

व्याकरण निर्माण के बाद एक किंवदन्ती के अनुसार ३०० लेखकों से उसकी प्रतिलिपियाँ तैयार करायी गईं तथा अनेक देशों में प्रचारार्थ प्रेषित की गईं। अकेले काश्मीर में बीस प्रतियां भेजी गयी थीं। सिद्धराज ने इसे अपनी रुचि से बनवाया था। अतः इसके शिक्षण का प्रबन्ध भी राज्यस्तर पर हुआ। कायस्थ कुल के एक "काकल" नामके विद्वान को, जो कि व्याकरण का प्रकाण्ड पण्डित था, अध्यापक रखा गया। काकल के लिये बहुत ही श्रद्धा के विशेषण प्राप्त होते हैं (षटतर्क-कर्कशमतिः कविचक्रवर्ती, शब्दानुशासनमहाम्बुधिपारदृष्टा)। काकल ने इस व्याकरण पर एक प्रकरण भी लिखा था। आचार्य हेमचन्द्र के प्रमुख शिष्य रामचन्द्रसूरि ने भी इस पर लघुन्यास की रचना की है।

प्राकृत व्याकरण :—

प्राकृत व्याकरण हेमशब्दानुशासन का आठवाँ अध्याय है। इसमें कुल १११९ सूत्र हैं, जिसमें प्रथम ९३० सूत्रों में प्राकृत सामान्य के लक्षण देकर, चतुर्थ पाद के ३६० वें सूत्र से क्रमशः २७ सूत्रों में शौरसेनी, १६ सूत्रों में मागधी, २२ सूत्रों में पैशाची, ४ सूत्रों में चूलिकापैशाची और अन्त के १२० सूत्रों में अपभ्रंश के लक्षण दिये गये हैं। यह आठवाँ अध्याय हेमचन्द्र को क्यों जोड़ना पड़ा? इसका अन्तर रहस्य यही हो सकता है कि तत्कालीन समय में प्राकृत ही जन साधारण की भाषा रही हो, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने स्वयं 'काव्यानुशासन कारिका' की टीका में कहा है—"बाल-स्त्री-मंद-मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्। अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः।।" इस कथन के अनुसार सामान्य जनता तथा स्त्रियाँ आदि उस समय में प्राकृत भाषा ही बोलती थीं। संस्कृत भाषा तो विशेष विद्वान् या उच्चकोटि के वक्ता ही बोलते थे, ऐसा प्रतीत होता है। (कोलब्रूक की आज्ञा से विद्याकर मिश्र द्वारा सन् १८६५ में कलकत्ते से प्रथम बार प्रकाशित)

संस्कृतद्व्याश्रयः—

द्व्याश्रय नामसे ही, स्पष्ट है कि उसमें दो तथ्यों को आश्रय मिला है, चौलुक्य वंश की अमरपरम्परा और व्याकरण के सूत्रों के उदाहरण। हेमचन्द्र ने एक सर्वगुण सम्पन्न महाकाव्य में सूत्रों का संदर्भ देकर अपनी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। इस महाकाव्य के बीस सर्ग हैं। महाकाव्य में जो सर्वांगीण वर्णन और विश्लेषण होना चाहिए—उसका इसमें पूर्ण सद्भाव है। सृष्टिवर्णन, ऋतुवर्णन, रसवर्णन आदि महाकाव्य के अनेक गुण इसमें विद्यमान हैं। चौलुक्य वंश का सविस्तर इतिहास इसमें ग्रथित है। उसका राज्य कैसे प्रारम्भ हुआ और क्या उत्थान पतन होते रहे, किस प्रकार लोगों की निष्ठा में उसके प्रति उतार चढ़ाव आये, कैसे गुजरात और मालव में स्पर्धा जागी, किस तरह चौलुक्यवंशीय राजाओं ने अधिकाधिक राजनैतिक और सांस्कृतिक प्रगति की, और किस प्रकार गुजरात को सुसमृद्ध और पूर्ण बनाया, आदि समस्त विषयों का वर्णन-विवेचन यहाँ विशदता से किया गया है। दूसरी दृष्टि से इसे लक्षण–ग्रंथ भी कहा जाता है। महाकाव्य और व्याकरण दोनों के लक्षणों का इसमें स्वयं ही विवेचन हो गया है। यह सारा ग्रंथ २८८८ श्लोकों में आबद्ध है। इसके १४ सर्ग तो ११९९ तक लिखे गये और ६ सर्ग बाद में वि० सं० १४१२ में अणहिलपुर पाटण में। इस काव्य पर अभयतिलक गणि ने १७५७ श्लोक प्रमाणटीका लिखी है तथा मणिलाल नानू भाई द्वारा गुजराती अनुवाद किया गया है।

प्राकृतद्व्याश्रय :—

प्रस्तुत काव्य में भी दो चीजें चलती हैं, काव्य और प्राकृत व्याकरण के उदाहरण। संस्कृत-द्व्याश्रय में चौलुक्य–वंश का इतिहास, कुमारपाल के गद्दी पर बैठने तक है। प्राकृत-द्व्याश्रय में कुमारपाल के चरित का विशद वर्णन है। उसकी धर्मनिष्ठा, नीति, परोपकारी आचरण, सांस्कृतिक चेतना, धार्मिक उदारता, नागरजनों के साथ संबंध, जैनधर्म में दीक्षित होना और दिनचर्या आदि सभी विषयों का काफी विस्तार पूर्ण तथा रोचक विवेचन किया गया है। प्राकृत द्व्याश्रय उसके सर्वांगीण जीवन पर सुन्दर प्रकाश डालता है।

इसमें काव्यतत्त्व अधिक है। कवितन्मय सा दिखाई देता है। हर विषय में कवि सौन्दर्य का विस्तीर्ण साम्राज्य प्रस्तुत करता है। जर्मन के प्रोफेसर जैसे बर्लिन का गौरवपूर्ण वर्णन करते हैं, लगभग उसी गौरव के साथ हेमचन्द्राचार्य ने गुजरात

और अणहिल्लपुर पाटण का वर्णन किया है। किसी भी सर्ग को देखा जाय, हेमचन्द्र की महान् आत्मा उसमें विद्यमान दीखती है। इसके आठ सर्ग हैं और ७४७ गाथाएँ हैं। वि० सं० १३७१ में पूर्णकलशगणि ने इस पर ४२३० श्लोक प्रमाण टीका लिखी है।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रम्ः—

काव्य के नाम से ही अभिव्यक्त है कि इसमें त्रेसठशलाका व्यक्तियों (गिनने योग्य महापुरुष) का जीवन चरित्र है। २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रति वासुदेव। इन त्रेसठ को इसमें विश्लिष्ट किया गया है। इस काव्य में दश पर्व हैं और मुनि पुण्यविजय जी के अनुसार ३२००० हजार श्लोक हैं। इसका रचनाकाल जर्मन विद्वान डा० बुल्हर के अभिमत से वि० सं० १२२६—१२२९ के बीच का है।

प्रस्तुत काव्य एक अनोखा और अखूट भण्डार है। "यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न कुत्रचित्" की उक्ति के अनुसार ऐसा लगता है कि इसमें कुछ भी अवर्णित नहीं रहा। तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर, परलोक, आत्मा, कर्म, धर्म, सृष्टि आदि विषयों पर खूब विशद विवेचन है। संक्षेप में षड्दर्शन के सिद्धान्त, उनका निरसन तथा समन्वय इसमें प्रस्तुत किया गया है। जैन मान्यताओं की चर्चा भी बहुत विस्तार-पूर्वक की गयी है। इतिहास कथा, पौराणिक कथानक आदि का भी इसमें समावेश है। तत्कालीन सामाजिक स्थिति का भी यहां सुन्दर चित्रण किया गया है।

गुजरात की आध्यात्मिक चेतना, सांस्कृतिक जागरुकता, साहित्यिक समृद्धि, अद्वितीय वैभव, व्यापारिक समुन्नति, जनता की अभिरुचियाँ एवं उसके आचरण आदि के वर्णन भी इसकी विशाल आत्मा में सन्निहित हैं। पूजा, भक्ति, उपासना, दान, दया, आदि का भी विश्लेषण बहुत हृदयग्राही है। नारी की गौरव गाथा भी काव्य में गायी गई है। विभिन्न विषयों से परिपूर्ण यह काव्य वस्तुतः बहुत सुन्दर और अक्षय निधि है।

कोशः —

प्रभावक-चरित के अनुसार आचार्य हेमचन्द्र ने चार कोशों की रचना की है—अभिधान चिन्तामणि, अनेकार्थनाममाला, देशीनाममाला और निघण्टु। इन सब में अभिधान चिन्तामणि सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसकी रचना वि० सं० के आसपास हुई है। इसमें छः कांड हैं, और १४५१ श्लोक हैं। अमरकोष की तरह जैनों में इसे कंठस्थ करने की परिपाटी चालू है। वस्तुतः यह शब्दों का विशाल भण्डार है। आचार्य हेमचन्द्र ने इस पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी है।

अनेकार्थनाममाला में ७ कांड हैं, और १८२९ श्लोक हैं। इसकी विशेषता यह है कि एक ही शब्द के अनेक अर्थ दिये गये हैं। १६ एकस्वर वाले, ५९१ द्विस्वर, ७६६ त्रिस्वर, ३४३ चतुःस्वर, ४८ पंचस्वर, ५ षड्स्वर और अव्यय के ६० श्लोक, इसप्रकार समग्र श्लोक संख्या १८२९ है।

निघण्टु में छःकांड हैं, और ३९६ श्लोक हैं। इसमें सब वनस्पतियों के नाम हैं। ये छः काण्ड हैं—वृक्ष, गुल्म, लता, शाक, तृण और धान्य। देशीनाममाला में ३५०० देशी शब्दों का संकलन किया गया है। चारों ही कोशों पर आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य महेन्द्रसूरि ने टीकाएँ लिखी हैं।

काव्यानुशासन :—

"शब्दानुशासनेऽस्माभिः साध्व्यो वाचो विवेचिता :
तासामिदानीं काव्यत्वं यथावदनुशिष्यते।" (१,२)।

इस श्लोक के अनुसार यह कृति सिद्धहेमशब्दानुशासन के बाद की प्रतीत होती है आचार्य हेमचन्द्र प्रखर प्रतिभा के स्वामी थे, फिर भी नये ज्ञान के अर्जन के लिये सदैव प्रस्तुत रहते, और इसी से उनकी कृतियों में पूर्णता आ पाती। काव्यानुशासन की सृष्टि भी इसी धारा पर हुई। आनन्दवर्द्धन अभिनवगुप्त, रुद्रट, राजशेखर, धनंजय, मम्मट आदि के काव्य मीमांसा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, आदि लक्षणग्रंथों का अध्ययन करने के उपरान्त काव्यानुशासन की रचना की गयी है। इसीलिये यह ग्रन्थ काफी सफल और सुन्दर बना है। उन सब ग्रंथों की विशेषताओं के सामंजस्य की आधारभूमि पर इसका निर्माण हुआ है। सूत्रनिर्माण में मम्मट की छाप है तथा नाट्यशास्त्र के सूत्रों की योजना में धनंजय और भरत की। फिर भी हेमचन्द्र ने किसी का अनुकरण नहीं किया, अपनी अन्वेषणशील प्रतिभा से नयी सृष्टि की है।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजन बताते हुए कहा है :—"काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये सद्यः-परिनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे:" साहित्य निर्माण यश, अर्थ, व्यवहारविज्ञान, अश्रेय निवारण, तत्काल निर्वृति और कान्ता समान कमनीय उपदेश के लिये किया जाता है। वहाँ आचार्य हेमचन्द्र ने "काव्यमानन्दाय" यह कहकर और एक उद्देश्य जोड़ दिया जो कि वर्तमान में "स्वान्तःसुखाय" के नाम से प्रचलित है। काव्य-प्रकाश में जहाँ आया है "साधर्म्य-मुपमा भेदे" वहाँ काव्यानुशासन में "हृद्यं साधर्म्यमुपमा" किया है। इस तरह आचार्य हेमचन्द्र ने अपने स्वतन्त्र चिन्तन का महत्त्व रखा है। मधुसूदन मोदी ने अन्य लक्षण और अलंकार ग्रंथों को दुर्बोध माना है और इसे सरल एवं सुबोध स्वीकार किया है तथा सर्वांगसुन्दर ग्रन्थ माना है।

काव्यानुशासन पर हेमचन्द्र ने अलंकारचूड़ामणि नामसे एक लघुवृत्ति लिखी है और "विवेक" नाम से विस्तृत टीका का निर्माण किया है, जैसाकि उसके प्रारम्भ में वे स्वयं कहते हैं—

"विवरीतुं क्वचित् दृब्धं, नवं सन्दर्भितं क्वचित्। काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते ॥"

इस तरह यह एक महान ग्रंथ बन जाता है।

योगशास्त्रः—

योगशास्त्र की रचना कुमारपाल के निवेदन पर हुई थी। इसमें बारह प्रकाश और १०१३ श्लोक हैं। यह ग्रंथ गृहस्थ-जीवन को लक्षित करके लिखा गया है। गृहस्थ में रहते हुए व्यक्ति आत्मसाधना कैसे करे, यही इसका प्रमुख प्रतिपाद्य है। एक से चार प्रकाश तक अणुव्रत आदि का विवेचन है। चार से बारह प्रकाश तक योग की परिभाषा, व्यायाम, रेचक, कुम्भक, पूरक आदि का विश्लेषण कर स्थिरचित्तता के आसन तथा साधन बताये हैं। इसके अध्ययन व अभ्यास से आध्यात्मिक जीवन को अच्छी प्रेरणा मिलती है। व्यक्ति अन्तर्मुखी हो, ऐसे तत्त्व इसमें सन्निहित हैं। कुमारपाल इसका रोज स्वाध्याय करता था और नवीन प्रेरणा प्राप्त करता था।

यशःपालने "मोहपराजय" में योगशास्त्र को मुमुक्षुओं के लिए वज्रकवच कहा है। इसकी समता आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव से की जाती है। हेमचन्द्र ने इस पर वृत्ति भी लिखी है। इसके अतिरिक्त प्रमाण-मीमांसा (न्याय-ग्रंथ) अर्हन्नीति, नाभेयनेमिद्विसन्धान-काव्य, छन्दोनुशासन, अन्ययोग-व्यवच्छेदिका, अयोग-व्यवच्छेदिका, द्विजवदन-चपेटा, स्तुति ग्रंन्थ आदि अनेक कृतियाँ भी आचार्य हेमचन्द्र की हैं। उनके बहुत से ग्रन्थ अनुपलब्ध भी हैं व कुछ अभी अप्रकाशित हैं, जिनकी हस्त-लिपियाँ जैसलमेर, पाटण, तथा खम्भात के पुस्तक भण्डारों में प्राप्त होती हैं। आचार्य हेमचन्द्र का साहित्य जितना विशाल था, उतना तो नहीं, फिर भी उसका संरक्षण तथा प्रचार-प्रसार काफी हुआ है।

"हेमसमीक्षा" के पुरा-वचन में मुनि जिनविजयजी ने कहा है कि —हेमचन्द्र की कृतियों के समान दूसरे आचार्यों की रचनायें प्रचार-प्रसार का अवसर नहीं पा सकीं। इनकी रचनाओं को राजाओं ने जैन, जैनेतर, अनेक भण्डारों में भिजवाया था तथा दूर-दूर तक पहुँचाने की व्यवस्था की थी। संरक्षण की दृष्टि से कहा जाता है कि कुमारपाल ने सात सौ लेखकों को अपने आश्रय में रखकर हेमचन्द्र के ग्रंथ लिपिबद्ध कराये और अपने राज्य में २१ बड़े बड़े ज्ञान भण्डार स्थापित कराये।

"लेखनी करवाल से अधिक शक्ति की धात्री है" बुल्वर लिटन की इस उक्ति के अनुसार हेमचन्द्र का साहित्य नया चिन्तन प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि उनका साहित्य विदेशों तक पहुँच सका तथा वहाँ के विद्वानोंको आकृष्ट कर सका। जर्मन विद्वान् डा० हरमन जेकोबी तथा डा० बुल्वर ने उनके साहित्य का गहरा अध्ययन किया है, और इन दोनों ही विद्वानों ने उन पर निबन्ध लिखे हैं, जिनमें उनकी कृतियों का सिंहावलोकन किया गया है। उनकी कृतियों का विशिष्ट वर्णनात्मक परिचय जनता को प्राप्त हो, इस दृष्टि से भी एक ग्रन्थ गुजराती भाषा में लिखा जा चुका है। इसका नाम "हेम-समीक्षा" है। इस ग्रन्थ में हेमचन्द्र की एक-एक कृति पर समालोचनात्मक दृष्टि से विस्तारपूर्वक लिखा गया है। इसके लेखक हैं मधुसूदन मोदी।

शिष्यमण्डलः—

आचार्य हेमचन्द्र जैसे प्रतिभाशाली व्यक्तित्व सम्पन्न और उत्तमोत्तम गुणों के धारक थे, वैसा ही उनका शिष्य समूह भी था। हेमचन्द्र की अलग-अलग कृतियों में उनके अनेक शिष्यों के नाम मिलते हैं। रामचन्द्रसूरि, बालचन्द्रसूरि, गुणचन्द्रसूरि,

महेन्द्रसूरि, वर्धमानगणी, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, यशचन्द्र ये उनके काफी प्रख्यात शिष्य हुए हैं। इन्होंने हेमचन्द्र की रचनाओं पर वृत्तियाँ तथा टीकाएँ लिखी हैं, और स्वतन्त्र ग्रंथ प्रणयन भी किया है।

रामचन्द्रसूरि इन सब में अग्रणी थे। उनमें कवि की प्रखर प्रतिभा थी तथा साधुत्व का अलौकिक तेज था। इनकी अनेक रचनाएँ हैं। कुमारबिहारशतक के रचयिता ये ही हैं। इन्हें प्रबन्धशत-कर्तृ कहा जाता है। इनकी कृतियाँ काफी प्रसिद्ध हुई हैं। इन्होंने और गुणचन्द्रसूरि ने मिलकर जो "नाट्यदर्पण" लिखा था, वह काफी प्रचलित व प्रसिद्ध हुआ है। भूपाल सिद्धराज ने इनकी काव्य प्रतिभापर मुग्ध होकर "कविकटारमल्ल" की पदवी दी थी। हेमचन्द्र के दिवंगत हो जाने पर राजा कुमारपाल का दुःख भी इन्होंने ही शान्त किया था। महेन्द्रसूरि ने अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थनाममाला, देशी-नाममाला और निघंटु पर टीकाएँ लिखीं। देवचन्द्रसूरि ने "चन्द्रलेखा-विजय-प्रकरण" नामक एक काव्य लिखा तथा तीन नाटक लिखे। बालचन्द्रगणि ने "स्नातस्या" नाम के एक काव्य की रचना की है। हेमचन्द्र के शिष्य समूह की जानकारी के लिये भोगीलाल सान्डेसरा ने "हेमचन्द्राचार्य नुं शिष्य मण्डल" नामसे एक पत्रिका भी प्रकाशित की है। हेमचन्द्र अपने साधु शिष्यों के अतिरिक्त गृहस्थ शिष्यों से भी परिवृत रहे। उनमें कुमारपाल का महामंत्री वागभट, बाहड, चाहड, आदि अनेक श्रद्धाशील तथा अनन्य निष्ठ और भक्तिमान् सुप्रसिद्ध श्रावक हुए हैं।

उपसंहारः—

आचार्य हेमचन्द्र एक बहुत ही प्रतिभाशाली चेतनाशील और उदार व्यक्तित्व वाले आचार्य हुए हैं। उन्होंने उन सब क्षेत्रों में विपुल यश अर्जित किया है, जो मानव-जीवन के उन्नायक होते हैं। उन सभी विषयों में उन्होंने एक नई चेतना जागृत की है तथा उदात्तता की सबल छाप लगायी है। सब क्षेत्रों की जड़ में उन्होंने जो एक वस्तु भरी है, वह है जीवन को निर्बन्ध व अनुप्राणित करने की मंगलमय शक्ति। कार्य और प्रणालियों से कोई अर्थ नहीं निकलता, यदि उनमें जीवन को परिष्कृत और विस्तृत बनाने का सामर्थ्य न हो तो। इस सामर्थ्य से विकल कार्य और पद्धतियाँ सारशून्य होती हैं और भार रूप बनी रहती हैं। उनसे जीवन को संजीवन नहीं मिल सकता। हेमचन्द्र इसी संजीवन के स्रष्टा थे। उन्होंने मानव जीवन के हर पहलू में संजीवन की धार बहायी है। उनकी अगणित विशेषताएँ हैं, कहना चाहिये वे विलक्षणता और विशेष-तामय ही थे। फिर भी यदि विश्लेषक दृष्टि से देखा जावे तो उनके व्यक्तित्व के कई पहलू तो बहुत ही उभरे हैं। उन सब पर तो नहीं, किन्तु चार पहलुओं पर मैं किंचित् चंचुपात करना चाहूँगा।

अध्यात्म-पथ के महान् यात्रीः—

हेमचन्द्र अध्यात्मपथ के एक महान् यात्री थे। उन्होंने जीवन का पूर्ण विकास आत्म-साधना में ही देखा है। उनका अध्यात्म शुष्क और नीरस नहीं, बल्कि तरल और सरस है। सर्वभूत हितेरतः को उसमें प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनकी दृष्टि से अध्यात्म विकल जीवन, सौरभरिक्त-पुष्प, लावण्यविहीन-रूप, चरित्रशून्य-साधु के समान अस्तित्व विहीन है। अध्यात्म तो जीवन की आत्मा है। उसके बिना जीवन की परिकल्पना भी कैसे की जा सकती है? इन्होंने इस मौलिक तत्त्व की गहरी आराधना की थी। केन्द्र में वे इसे रखकर ही कोई पद-विक्षेप करते थे। इसीलिये उससे अन्य चरण-विन्यास में भी सर्व-हितपरता के प्राण प्रतिष्ठित हो जाते थे और उन्हें एक अव्यक्त सुख प्राप्त होता था। उनके शान्त और संतुष्ट जीवन का सीधा असर पड़ता था, क्योंकि उनमें कोई उलझन नहीं थी—जहाँ कि व्यक्ति को अटकना पड़े।

संस्कार निर्माताः—

हेमचन्द्र अपने समय के एक महान् संस्कार निर्माता थे। उन्होंने जीवन के प्रत्येक अंग को परिष्कृत करने का प्रयास किया था। संस्कार से जो परिमार्जन और सौन्दर्य आता है उसका मूल्यांकन होना कठिन है। संस्कृत और संशोधित वस्तु का जहाँ मूल्य बढ़ता है, वहाँ उसका स्थायित्व भी बढ़ जाता है, क्योंकि शिथिल और अभद्र अंशों के निष्कासन के उपरान्त उन में दृढ़ और मंगल अंश ही अवशिष्ट रहते हैं।

हेमचन्द्र ने जीवन की हर प्रवृत्ति में तथा हर गतिविधि में परिष्कार किया था और प्रसुप्त सांस्कृतिक चेतना को जगाया था। पूजा, भक्ति, क्रियाकाण्ड, सेवा, व्यापार, व्यवहार, रहन-सहन, वेशभूषा आदि सभी विषयों पर गम्भीर प्रकाश डाला था तथा एक नया निखार, एक नया आकर्षण इनमें उत्पन्न किया था। इन सब कृत्यों से उन्होंने मनुष्यों के मन में संस्कृति

के प्रति एक व्यापक अनुराग जगा दिया था, जो कि उन्हें प्रतिपल विशुद्ध बनने के लिये उद्यत रखे और जीवन में रुकावट नहीं आने दे।

सफल साहित्यकार:—

आचार्य हेमचन्द्र एक सफल साहित्यकार थे। उन्होंने बहुत विशाल और मार्मिक साहित्य का सृजन किया है। उनके साहित्य की अपनी एक विशेषता है—वह सब शान्त रस से आप्लावित है। उसमें आध्यात्मिकता मुखरित हो रही है। उनका ज्ञान गंभीर, ठोस और व्यापक था। अतः उनकी रचनाएँ भी बहुत गहरी, मर्मभेदी और सूक्ष्म बनी हैं। उनके सारे साहित्य-सागर का मंथन कर पाना बहुत कठिन कार्य है, क्योंकि उसकी परिमाण बहुत विशाल है। किंवदंती है कि उन्होंने साढ़े तीन करोड़ पद्य प्रमाण-साहित्य लिखा था, पर आधुनिक शोधों के आधार पर इसमें कुछ अन्तर आ गया है। अवश्य ही यह विषय अनुसंधान और खोज का है। फिर भी यह तो स्पष्ट है ही कि उनकी ज्ञानराशि सचमुच में विस्मयजनक है। आगमिक, दार्शनिक, साहित्यिक, सामाजिक और राजनैतिक आदि सभी प्रकार के ज्ञान से उनका भण्डार भरा हुआ था। कहीं भी उनकी गति स्खलित नहीं होती थी। लोग उनके ज्ञान में सर्वज्ञता का आभास पाते थे, इसीलिये उन्हें "कलिकालसर्वज्ञ" की उपाधि से विभूषित किया गया था। "गुजरात का सर्वज्ञ" इस नाम से भी वे काफी प्रख्यात हुए हैं। सहज ही इन विशेषताओं में उनके अखूट और अप्रतिम-ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है।

समयधर्मी राजनीतिज्ञ:—

हेमचन्द्र जहाँ अध्यात्म के पार-प्राप्तयोगी थे, वहाँ समयधर्मी राजनीतिज्ञ भी बहुत अनूठे थे। किस समय में और कहाँ क्या करना चाहिये, इस तथ्य के पूरे 'तत्त्वज्ञ' थे। "केयं पुरुसे कं चणए" आचारांग के इस सिद्धान्त को उन्होंने पूरा हृदयंगम कर लिया था, इसीलिये वे हर जगह सम्मान पाते और अपना प्रभाव डाल सकते। इसी योग्यता के आधार पर के० एम० मुंशी की इंग्लिश पुस्तक "गुजरात और उसका साहित्य" के अनुसार हेमचन्द्र ने अपने शक्तिशाली शिष्यों के द्वारा गुजरात पर शासन सा कर लिया था और राजा को अपना पूर्ण सहयोगी बना लिया था।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हेमचन्द्र सर्वगुणों से मण्डित एक महान् पुरुष थे। उन्होंने अपने आपको जगद्-हिताय अर्पित कर दिया था, और संस्कार जागरण, साहित्य निर्माण व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सतत् उन्नति करने की प्रेरणा के स्रोत बनकर आजीवन वे मानवता की सेवा करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ करते रहे। विपुल ज्ञान के स्वामी होते हुए भी एकदम निरभिमान रहकर जन साधारण के जीवन का पथ प्रदर्शन करते रहे। वे अपने अन्तिम समय तक अपने धर्म-कर्म में लीन रहे। वि० सं० १२२९ में ८४ वर्षको आयुभोग कर वे स्वर्गस्थ हो गये।

यद्यपि आज हमारे बीच उनका भौतिक शरीर नहीं है, फिर भी उनका यश दिनमणि की तरह प्रकाशमान है और चिरकाल तक प्रकाशमान रहेगा।

---

१. Hamchandra in fact ruled Gujrat through his powerful Jain disciples and the Jains accepted the king as their co-religionist. (Gujrat and its literature, p. 76)

पउमचरियं

(प्रथम जैन-रामायण का समीक्षात्मक विश्लेषण)

(ले०—के० आर० चन्द्र, रिसर्च स्कालर, प्रा० जै० वि०, मु० पुर)

'पउमचरियं' राम-कथा संबंधी प्रथम जैन महाकाव्य है। इसमें पउम (पद्म) का ही अपर नाम राम है। जैन-परंपरा में राम आठवें बलदेव थे, जो बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थ-काल में हुए थे। वाल्मीकि रामायण का जो स्थान ब्राह्मण-साहित्य में है, वही पउमचरिय का जन साहित्य में। यदि वाल्मीकि-रामायण संस्कृत-साहित्य में आदि महाकाव्य है, तो पउमचरिय प्राकृत-साहित्य में। इन दोनों रचनाओं में कथानक मौलिक रूप से भिन्न नहीं है, परन्तु पउमचरिय की कुछ अपनी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं। इसमें सभी पात्रों का जैन-धर्मावलम्बी होना स्वाभाविक है, परन्तु आदिम जातियों के वीरों को इसमें जो आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ है, इससे जातिगत वैमनस्य का परिहार हुआ है। इस सांस्कृतिक समन्वय में भारतीय एकता का पोषण व संवर्धन करने वाली उदारता, मित्रता व सहृदयता की भावनाओं की छाप स्पष्ट है।

कवि परिचय व काल :—

प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद तथा अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार विमलसूरि ने इस चरित की रचना की है। वे आचार्य राहु के प्रशिष्य, विजय के शिष्य और नाइलकुल के वंशज थे।

प्रशस्ति के उल्लेखानुसार यह प्रथम शती ई० की रचना है। परन्तु आश्चर्य है इस कवि का उल्लेख सर्वप्रथम ८ वीं शती ई० की रचना कुवलयमाला में हुआ है। ग्रन्थ के अन्त: परीक्षण से यह बाद की रचना प्रतीत होती है। रविषेण का पद्मचरितम् पउमचरिय का परिवर्द्धित रूपमात्र होने से यह ७वीं शती के पूर्व की रचना होनी चाहिये। इसमें महाराष्ट्री प्राकृत का निखरा हुआ रूप है, जो दूसरी शती ई० के पूर्व का नहीं हो सकता। उज्जैन के स्वतंत्र राजा सिंहोदर का अपने दशपुर के भृत्य-राजा से युद्ध दूसरी शती ई० के महाक्षत्रपों की ओर संकेत करता है। श्रीशैल व श्रीपर्वतवासियों का उल्लेख तृतीय शती के आन्ध्र देश के श्रीपर्वतीय इक्ष्वाकु राजाओं का स्मरण कराता है। आनन्द लोगों का उल्लेख तीसरी चौथी शती के आनन्दवंश (दक्षिण में) की ओर संकेत कराता है। दीनार का उल्लेख इस रचना को गुप्तों के समकालीन ले आता है। पूजा के अष्ट द्रव्यों का उल्लेख, अपभ्रंश भाषा का प्रभाव तथा उत्तर-कालीन छन्दों का प्रयोग इस रचना को तीसरी चौथी शती से पूर्वकालीन मानने में बाधाजनक हैं। डा० जैकोबी ने भी पउमचरिय का रचना काल लगभग यही माना है।

कथानक का आधार व प्रभाव :—

कवि के उल्लेखानुसार यह कथानक 'पूर्वों' में कथित व नामावली-निबद्ध और आचार्य-परम्परा से जो पद्मचरित उपलब्ध था उसको आनपूर्वी से संक्षेप में लिखा गया है। समवायांग और त्रिलोकप्रज्ञप्ति में नामावली-रूप में क्रमश: ५४ व ६३ उत्तम (शलाका) पुरुषों के चरित उपलब्ध होते हैं। इन स्मृति सहायक नामावलियों के आधार पर ही मौलिक कथानक गुरु-शिष्य-परम्परा में मौखिक रूप में प्रचलित रहा होगा। आगे ग्रन्थ-रचना के कारणस्वरूप यह भी कहा गया है कि कुकवियों ने ऊटपटांग और अविश्वसनीय बातें लिख दी थीं, जैसे रावणादि का राक्षसत्व, कुम्भकर्ण का छमासीय शयन, रावण द्वारा देवेन्द्र का जीता जाना, कनकमृग का होना और वानरों द्वारा पुल बाँधा जाना—उनके स्पष्टीकरण के लिए यह रचना की गयी। ये सब बातें वाल्मीकि रामायण में विद्यमान हैं। महाभारत में जिस प्रकार रावणचरित का वृत्तान्त पृथक दिया गया है, उसी प्रकार इसमें भी। इसके अतिरिक्त इसमें वानरों को प्लवंगम, राक्षसों को निशाचर, इन्द्र को सुरपति, पद्म को राम और हनुमान को मरुत्सुत के नाम से संबोधित करना उपरोक्त ब्राह्मण ग्रंथों का प्रभाव सिद्ध करते हैं। परन्तु इसमें कुछ स्थल ऐसे हैं जिनका आभास रामायण और महाभारत में नहीं मिलता, जैसे—कैकेयी का स्वयंवर, जनक के पुत्र का उल्लेख, राम द्वारा अनेक राजाओं को अपने अधीन करना और लव-कुश का राम से युद्ध। इसलिये रामायण और महाभारत का आधार होते

हुए भी पउमचरिय का विकास अपने ही परम्परा से प्राप्त सूत्रों और कथानक पर हुआ है। कथा में कई ऐसे प्रसंग हैं जिनमें विमलसूरि की प्रतिभा स्पष्ट झलकती है। इस मौलिकता का दिग्दर्शन आगे कराया जावेगा। पउमचरिय उत्तरकालीन सभी चरित संबंधी जैन रचनाओं का आधार है, सिवाय गुणभद्र की परंपरा के, जिसका अनुसरण बहुत कम हुआ है। अजैन रचनाओं पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। सीता स्वयंवर में राम का अनेक राजाओं के बीच धनुष-यज्ञ में सफल होना, राक्षसों की प्रेम-क्रीड़ा और लव को कुश का अग्रज मानना तथा उनका राम से युद्ध करना इत्यादि ऐसे वृत्तान्त हैं जो अनेक अजैन रचनाओं में विद्यमान हैं।

पउमचरिय एक पुराणः—

ग्रन्थ का शीर्षक पउमचरिय है और इसी का उल्लेख प्रत्येक सर्ग के अन्त में हुआ है। इसको यदा-कदा राघवचरित, रामदेवचरित और रामारविन्द चरित भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त इसको पुराण की भी संज्ञा दी है। जैन परम्परा के अनुसार जिसमें किसी एक शलाका पुरुष का वर्णन हो उसे पुराण या चरित कहते हैं। पुराण के जो आठ अंग माने गये हैं—लोक, देश, पुर, राज्य, तीर्थ, दान, तप और अन्वय (वंश) उन सबका समावेश इसमें हुआ है।

विमलसूरि ने इस पुराण के जिन सात अधिकारों का निर्देश प्रथम सर्ग में किया है—स्थिति, वंशसमुत्पत्ति, प्रस्थान, लवांकुशोत्पत्ति, निर्वाण और अनेक भव, उन सबका वर्णन इस ग्रन्थ के ११८ सर्गों में प्रथम सर्ग में विषयों की जो सूची दी गई है उसी के अनुसार क्रमशः यथास्थान किया गया है।

संक्षिप्त कथा :—

अयोध्यापति दशरथ की अपराजिता और सुमित्रा दो महारानियाँ थीं। एक समय नारद से दशरथ को संवाद प्राप्त होता है कि विभीषण उन्हें मारने आ रहा है, जिससे उनके पुत्र द्वारा सीता के निमित्त किया जाने वाला रावण का भावी वध टाला जा सके। दशरथ यह सुन अपने बचाव के लिए छद्मवेश में राजधानी छोड़ देते हैं, और संयोगवश कैकेयी के स्वयंवर में पहुँचते हैं। कैकेयी द्वारा उनके चुने जाने पर दूसरे राजकुमार उनसे युद्ध करते हैं। उस युद्ध में कैकेयी दशरथ का रथ हाँककर अपना शौर्य और कुशलता बतलाती है और दशरथ विजयी होते हैं। इसी उपलक्ष्य में दशरथ कैकेयी को 'एक' वरदान देते हैं।

अपराजिता एक पुत्र को जन्म देती है। उसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होने के कारण उसका नाम पद्म रखा जाता है। उसका अपर नाम राम भी है। सुमित्रा लक्ष्मण को और कैकेयी भरत व शत्रुघ्न को जन्म देती है।

एक बार राम (पद्म) जनक को अर्ध-बर्बरों के आक्रमण से बचाते हैं, इसी कारण जनक अपनी औरस पुत्री सीता का सम्बन्ध राम के साथ तय करते हैं। जनक-पुत्र भामण्डल को, जिसे जन्म होते ही चन्द्रगति विद्याधर ने हरण कर ले गया था, युवा होने पर अज्ञानतावश सीता से मोह उत्पन्न होता है। चन्द्रगति जनक से सीता को भामण्डल के लिए मांगता है, इससे जनक असमंजस में पड़ जाते हैं। इस दुविधा के निवारणार्थ चन्द्रगति जनक को एक धनुष देकर सीता-स्वयंवर का आयोजन करवाता है, जिसमें सिर्फ राम ही सफल होते हैं और सीता का वरण करते हैं।

दशरथ और भरत पति व पुत्र दोनों के दीक्षा के लिये उद्यत देखकर कैकेयी अपने वरदान-स्वरूप भरत के लिए राज्य माँगती है जिससे भरत गृहस्थी बना रहे और पति-पुत्र दोनों के वियोग में कष्ट से उसका बचाव हो। भरत के आनाकानी करने पर राम स्वयं उसको समझाकर राज्य का अधिकारी बनाते हैं और स्वयं अपनी इच्छा से लक्ष्मण तथा सीता के साथ वन को चले जाते हैं। उधर अपराजिता और सुमित्रा अपने पुत्र वियोग से बहुत दुःखी होती हैं। कैकेयी से यह देखा नहीं जाता, वह अपने पुत्र के साथ राम के पास पारियात्र वन में जाकर उनको लौटाने का प्रयत्न करती है, परन्तु राम अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहते हैं। आगे अपनी यात्रा में अनेक राजाओं का दुःख विमोचन करते हुए राम दण्डकारण्य पहुँचते हैं।

एक समय लक्ष्मण एक दैविक तलवार को प्राप्त करते हैं और उसकी शक्ति का सामर्थ्य देखने के लिए एक झुरमुट काटते हैं। संयोगवश असावधानी से शंबुक की हत्या हो जाती है जो उस झुरमुट में छिपकर तपस्या कर रहा था। शंबुक की माता-रावण की बहन चन्द्रनखा, पुत्र की खोज में भटकते वहाँ आ पहुँचती है और इन राजकुमारों को देखकर प्रथम तो विक्षुब्ध होती है, परन्तु उनके रूप से मोहित होकर वह दोनों भाइयों में से किसी एक को अपना पति बनने की प्रार्थना करती है। राम तथा लक्ष्मण इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हैं। चन्द्रनखा क्रुद्ध होकर अपने पति खरदूषण को उलटा-सीधा समझाकर इनके

वध के लिए भेजती है। उधर रावण भी अपने बहनोई की सहायता के लिए वहाँ पर पहुँचता है। सीता की सुन्दरता पर मोहित होकर राम और लक्ष्मण की अनुपस्थिति में वह सीता का हरण करता है। खरदूषण को मारने के पश्चात् राम सीता को नहीं पाकर दुःखी होते हैं। उसी समय एक विद्याधर विराधित राम को अपनी पैतृक राजधानी पातालंकारपुर ले जाता है जिसे खरदूषण ने विराधित के पिता का वध कर उससे छीन लिया था।

इधर सुग्रीव अपनी पत्नी तारा को विट-सुग्रीव की चंगुल से बचाने के लिए राम की शरण लेता है। राम विट-सुग्रीव को मारकर वानर-पति सुग्रीव की सहायता करते हैं। सुग्रीव के आदेशानुसार हनु (मान) सीता का पता लगाता है। इस प्रसंग में हनुमान द्वारा लंका दहन का कोई उल्लेख यहाँ नहीं है। सुग्रीव और उसकी सेना की सहायता से लक्ष्मण रावण का वध करते हैं और सीता को साथ लेकर राम और लक्ष्मण अयोध्या लौटते हैं।

तत्पश्चात् भरत और कैकेयी दीक्षा ग्रहण करते हैं। राम स्वयं राजा न बन कर लक्ष्मण को राज्यपाट देते हैं। कुछ समय बाद सीता गर्भवती होती है परन्तु लोकापवाद के कारण राम उसका निर्वासन करते हैं। संयोगवश पुण्डरीकपुर का राजा सीता को भयानक अटवी से ले जाकर अपने यहाँ बहन की तरह रखता है। वहां पर लवण और अंकुश का जन्म होता है। वे देश के विजय करने के पश्चात् अपनी माता के दुःख का बदला लेने के लिए राम पर चढ़ाई करते हैं और अन्त में अपने पिता के साथ उनका प्रेमपूर्वक समागम होता है। सीता की अग्नि परीक्षा होती है, जिसमें वह निष्कलंक सिद्ध होती है और उसी समय साध्वी बन जाती है। लक्ष्मण की अकस्मात् मृत्यु हो जाने के कारण राम उन्मत्त हो जाते हैं और भ्रातृ-मोह से उनका शव उठाकर इधर-उधर भटकते हैं। जब उनका मनोद्वेग शांत हो जाता है तब वे दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं और कठोर तप साधना करके अन्त में निर्वाण प्राप्त करते हैं।

मौलिक विशेषताएँ :—

मौलिक विशेषताओं में विमलसूरि का कोई सानी नहीं रखता। वाल्मीकि-रामायण में अद्भुत रस या विकृति के फेर म यथार्थता का दम घुट गया और अनेक अन्धविश्वासों का आतंक छा गया। परन्तु पउमचरिय ही प्रथम रचना है जिसमें यथार्थता का दिग्दर्शन होता है तथा ऊटपटांग व अतर्कसंगत बातों का निराकरण हुआ है। बुद्धिवादियों के लिए तो यह अत्यन्त महत्त्व पूर्ण वरदान है। इसलिए यदि यह कहा जाय कि भारतीय-साहित्य-गगन में विमलसूरि के रूप में एक ऐसा दैदीप्यमान नक्षत्र उदित हुआ जिसने भारतीय वाङ्मय और संस्कृति को अपनी अपूर्व देन से प्रकाशित कर दिया, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इससे अनेक उत्तरकालीन कवि और लेखक अनुप्राणित हुए। इतना ही नहीं बल्कि विमलसूरि के यथार्थवाद का महत्त्व वर्तमान बौद्धिक-युग में और भी बढ़ता जा रहा है क्योंकि इसमें आधुनिक विद्वानों को सांस्कृतिक-गुत्थियों का समाधान मिलता है।

पउमचरिय की एक अन्य विशेषता यह है कि उसमें विभिन्न परिस्थितियों में मानव-चरित्र को ऊँचा उठाया गया है। इन्हीं विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है जो पउमचरिय की मौलिकता का प्रतिपादन करता है।

(१) यथार्थवाद :—

रावण का जिस इन्द्र के साथ युद्ध हुआ वह कोई देवपति नहीं था, वरन् विद्याधर-वंश का राजा था। सोम, वरुण इत्यादि कोई देव नहीं थे, बल्कि उसके अधीनस्थ विभिन्न प्रान्तों के मानव राज्यपाल थे। इन्द्र जिस वंश की संतान था, उसकी स्थापना नमि और विनमि द्वारा की गयी थी, जो भारतवर्ष के प्रथम राजा व तीर्थंकर ऋषभदेव के संबंधी थे। अपूर्व विद्याओं के स्वामी होने के कारण इस वंश का नामकरण विद्याधर वंश हुआ।

इसी वंश में से दो अन्य वंशों का उद्भव हुआ जो राक्षस और वानर वंश के नाम से प्रसिद्ध हुए। राक्षस वंश की उत्पत्ति इस प्रकार दी गयी है। एक समय संयोगवश अपने बन्धु-बान्धवों से शत्रुता हो जाने के कारण मेघवाहन नामक एक विद्याधर वंशीय राजा को अपना विजयार्द्धपर्वतीय राज्य छोड़ देना पड़ा। भाग्यवश उसे लंका और अन्य द्वीपों का स्वामी बनाया गया। इन द्वीपों की रक्षा करने के कारण उसका वंश राक्षस नाम से प्रसिद्ध हुआ।

वानर वंश की उत्पत्ति के संबंध में कहा गया है कि विद्याधर राजा अमरप्रभ ने अपनी प्राचीन मंगल-परंपरा को जीवित रखने के लिए बन्दरों की आकृतियाँ, महलों के तोरणों, मुकुटों तथा ध्वजाओं पर अंकित करवायीं और उस बन्दर आकृति को राज्य-चिन्ह की मान्यता दी। इसी कारण से उसका वंश वानर वंश कहलाया।

रावण राक्षस वंश में उत्पन्न हुआ था । एक बार उसकी माता ने उसे उसे नौ मणियों का हार पहनाया । उसमें उसके मुख के नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण उसी समय उसके पिता ने उसका नाम दशमुख रख दिया ।

आजकल भी चतुर्मुख तथा चतुर्भुज नामक व्यक्ति पाये जाते हैं परन्तु उनके चार मुख और चार भुजायें नहीं होतीं । मानव-जाति में नाहर-वंश अभी भी विद्यमान है, लेकिन उससे हिंसक पशु-वर्ग का बोध नहीं होता । नाग पहले किस्से कहानियों का शब्द था । आज यह अवस्था नहीं है । गुप्तकाल तथा परवर्ती काल में नागवंश का परिचय पाया जाता है तथा आज की नाग जाति एक भारतीय मानव-वंश है ।

पउमचरिय में राक्षस एवं वानरों का जो वर्णन प्राप्त होता है उससे उनकी समृद्ध संस्कृति का पता लगता है । अत: राक्षस और वानर कोई दैत्यरूपी अद्भुत प्राणी और बन्दर (पशु) नहीं थे । वे तो मानव जाति के ही वंश-विशेष थे । बाली और सुग्रीव की उत्पत्ति कोई दैविक योग से नहीं हुई । वे किष्किन्ध पर्वत के वानरवंशीय राजा आदित्यरज और उसकी पत्नी इन्द्रमालिनी के औरस पुत्र थे ।

इसी प्रकार हनुमान् भी विद्याधर राजा प्रह्लाद के पुत्र पवनंजय और उसकी पत्नी अंजनासुन्दरी का औरस पुत्र था । सूर्य को फल समझकर हनुमान द्वारा उसे ग्रसित किये जाने का वृत्तान्त पउमचरिय में नहीं मिलता । उसके नामकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि जब निर्वासित अंजनासुन्दरी को उसके मामा अपने यहाँ हनुरुहपुर ले जा रहे थे उस समय उसका नवजात बालक ज्योंही विमान (रथ) की टिंकिणियों को पकड़ने के लिए लपका, त्योंही वह विमान से बाहर शैल पर गिर पड़ा । अत: उसका एक नाम श्रीशैल रखा गया तथा हनुरुहपुर में उसका प्रथम सत्कार और लालन-पालन हुआ, इसलिये उसका अपर नाम हनु रखा गया । जन्मस्थान से सम्बन्धित नामकरण की परम्परा बहुत पुरानी है । भगवान् महावीर को वैशालीक तथा सीता को वैदेही कहा जाना इसी परम्परा की पुष्टि करते हैं ।

कैकेयी को वरदान देने का अवसर कोई देवासुर संग्राम नहीं था, वरन् उसी के स्वयंवर में दशरथ के साथ अन्य राजकुमारों का युद्ध था ।

सीता की उत्पत्ति हल की नोक से भूमि खोदे जाने पर नहीं हुई । वह तो राजा जनक और उसकी पत्नी विदेहा की स्वाभाविक औरस पुत्री थी ।

विराधित कोई दैत्य नहीं था । वह पातालंकारपुर का राक्षसवंशीय राजपुत्र था । खरदूषण ने उसके पिता का वध करके उसकी नगरी छीन ली थी । उसका प्रतिशोध लेने के निमित्त खरदूषण को मारने में उसने लक्ष्मण की सहायता की थी ।

लंकासुन्दरी कोई देवी नहीं थी । वह एक राक्षस कन्या थी, जो अपने पिता के साथ लंका के दुर्ग (प्राकार) की रक्षा के लियें रावण द्वारा नियुक्त की गयी थी ।

समुद्र के देव का कोई वृत्तान्त पउमचरिय में नहीं है । समुद्र रावण के अधीन एक राजा था जो सीमा-प्रदेश की रक्षा करता था । उसको हराकर राम लंका की ओर अग्रसित हुए थे ।

हनुमान् कोई पर्वत उठाकर नहीं लाये थे । उन्होंने विशल्या नामक एक स्त्री -चिकित्सक को घायल लक्ष्मण की चिकित्सा के लियें सम्मानपूर्वक उपस्थित किया था ।

चरित्र-चित्रण :—

राम-कथा के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में विमलसूरि ने परिस्थितियों का सहारा लेकर पुरुष तथा स्त्री चरित्रों को ऊँचा उठाया है ।

दशरथ द्वारा भरत को राज्य देने का समाचार सुनकर राम अपने पिता को धीरज देते हुए कहते हैं कि पिताजी आप अपने वचन की रक्षा करें, मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आप का लोक में अपयश हो । जब भरत राज्य ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं, तब राम उनको अपने पिता की विमल कीर्ति बनाये रखने और माता के वचन की रक्षा के लिए परामर्श देते हैं । जब भरत टस से मस नहीं होते, तब राम स्वयं अपनी इच्छा से वन-गमन के लिए प्रस्थान करते हैं । यह तो उनकी महान् उदारता का उदाहरण है । युद्ध के समय जब विभीषण राम से प्रार्थना करता है कि विद्यासाधना में ध्यानमग्न रावण को क्यों न बन्दी बना लिया जाय,तब राम अपनी नीति बतलाते हुए उत्तर देते हैं कि मैं भयभीत को भी रण में नहीं मारता, तब भला धर्मकर्तव्य में लगे पुरुष को धोके से कैसे बन्दी बना सकता हूँ ? परिस्थितिवश लोकापवाद के कारण राम सीता का

निर्वासन करते हैं। अग्नि-परीक्षा में सीता निष्कलंक सिद्ध होती है, तब राम बहुत पछताते हैं और अन्तर से अपने दोषों के लिये सीता से क्षमा याचना करते हैं। बाली को छुपकर मारने का अवसर तो आने ही नहीं दिया। इस प्रकार कवि ने राम के चरित्र को और भी ऊँचा उठा दिया है।

लक्ष्मण कैकेयी की वरदान-पूर्ति पर मन ही मन रोष करते हैं और सब कांटों को पथ से अलग करने की सोचते हैं। परन्तु तुरन्त अपने कर्तव्य का विचार आते ही शान्त हो जाते हैं और यह सोचते हैं कि गुरुजनों ने जो किया है वह उचित ही होगा। इस प्रकार लक्ष्मण अपने गुरुजनों का अपमान करने के अविनय से सहज ही मुक्त रहता है। दण्डकारण्य में भी चन्द्रनखा को अंगविहीन करने का उन्होंने कोई उपक्रम नहीं किया।

रावण स्वयं धार्मिक और व्रती पुरुष था। उसने नलकुवेर की रानी उपरम्भा के प्रेम-प्रस्ताव का दुरुपयोग नहीं किया बल्कि उसको इस जघन्य कार्य से बचाया। सीता की सुन्दरता पर मोहित हो जाने के कारण रावण ने उसका हरण किया। परन्तु उसने सीता की इच्छाओं के विरुद्ध उस पर कभी बलात्कार करने की चेष्टा नहीं की। यहाँ तक कि जब मन्दोदरी स्वयं उसे परामर्श देती है कि सीता पर बल का प्रयोग क्यों न किया जाय, तब सहज ही रावण के मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं—'ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मेरा यह व्रत है कि किसी भी स्त्रीके साथ उसकी इच्छा के विरूद्ध बलात्कार नहीं करूंगा।' इस घटना से सीता के कलंक की शंका का निश्चित रूप से निवारण भी हो गया है। एक बार ऐसा प्रसंग आता है कि सीता रावण से अपने पति राम और भाई भामण्डल को न मारने की प्रार्थना करती हुई मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। सीता का ऐसा अटल पतिप्रेम तथा वियोग में उसे यों दुःखी देख रावण अपनी भर्त्सना आप करता है कि मैंने मदनाभिभूत हो क्यों इस मिथुन को वियोग की अग्नि में झुलस डाला। सीता को राम के पास लौटाने का विचार आता है, परन्तु यह सोचकर कि इस कार्य से लोग उसे कायर समझेंगे, वह यह निश्चय करता है कि राम और लक्ष्मण को युद्ध में जीतकर परम वैभव के साथ सीता को लौटाऊँगा, जिससे मेरी कीर्ति में धब्बा नहीं लग पावेगा तथा मेरा गौरव और भी बढ़ जावेगा। इस प्रकार रावण के चरित्र का महान् उत्कर्ष पउमचरिय में मिलता है।

बाली और सुग्रीव में राज्य या स्त्री के लिये कोई झगड़ा नहीं हुआ। बाली एक कुलीन और विनयशील राजा था। जब रावण ने उसको अपने अधीन करना चाहा, तब वह अपने भाई सुग्रीव को राज्य सौंप, स्वतंत्र रहने के लिए दीक्षित हो गया। इस तरह बाली का चरित्र भी समस्त लांछनों से मुक्त रहता है।

कैकेयी द्वारा भरत के लिए राज्य मांगना परिस्थिति जन्य है न कि ईर्ष्याजन्य। अन्तिम महारानी होने के कारण कैकेयी प्रथम दो महारानियों से वय में कम ही रही होगी। ऐसी अवस्था में पति और पुत्र दोनों का एक साथ वियोग उसके लिए असह्य हो जाना सहज संभव था। इसी मानसिक पीड़ा से वचने के लिये उसने भरत को गृहस्थ-जीवन में बाँध रखने का यह प्रयत्न किया। उसका हृदय वात्सल्य भाव से शून्य नहीं था। जब अपराजिता और सुमित्रा पुत्र वियोग में दुःखी होती हैं, तब उसका करुणामय हृदय द्रवित हो जाता है। राम को लौटाने के लिये वह स्वयं वन में जाती है और राम से कहती है कि भरत को अभी बहुत कुछ सीखना है। राज्य तुम्हीं को करना है। नारी का स्वभाव चपल होता है। एकाएक मेरे से जो अप्रिय बन पड़ा है उसे मत सोचो, क्षमा करदो और अयोध्या चलो। वह अपने पुत्र भरत का वियोग सह सकने में अन्त तक अपने को अक्षम पाती रही। भरत के प्रव्रजित (राम के लंका से लौटने के पश्चात्) हो जाने से वह सहसा मूर्च्छित हो जाती है। वह उस धेनु की तरह क्रन्दन करती है जिसका वत्स उससे पृथक् हो गया हो। अन्ततोगत्वा दीक्षित होने में ही उसकी आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है।

सीता एक पतिव्रता है, अबला नारी नहीं। अग्नि परीक्षा के समय जिस साहस से वह राम को दुत्कारती है, वह उसके नारीत्व के ओज का परिचायक है। वह राम की भर्त्सना करती हुई कहती है—गर्भवती नारी! भयावह अटवी! और वहाँ उसे एकाकिनी छोड़ा जाना! क्या यह निष्ठुरता की पराकाष्ठा नहीं है? यह तो दुष्ट तथा प्राकृत-जन का ही कार्य है।

अग्निपरीक्षा में सीता निष्कलंकिनी सिद्ध होती है। राम उसे अपनाने के लिए उत्सुकता दिखाते हुए अपने किये गये व्यवहार के लिए क्षमा याचना करते हैं।

अनेक दुःखों की कड़वी घूंट पीने वाली, सांसारिक जीवन के विषादमय आरोह-अवरोह का अनुभव करने वाली सीता

भला भोगमय जीवन की ओर पुनः क्योंकर आकृष्ट होती ! सहसा सीता अपने केशपाश लोंचकर संयमारूढ़ हो जाती है। यह है एक नारी के सम्माननीय व गौरवमय जीवन का चरम परिपाक !

विमलसूरि एक सफल कथाकार :—

विमलसूरि एक कुशल और सिद्धहस्त कथाकार के रूप में पाठकों के सामने आते हैं। उन्होंने कथा को घटनात्मक बनाकर उसे सरल प्रवाह के साथ अबाधित रूप से अग्रसर होने दिया है। कथा को गौण बनाकर काव्यात्मक वर्णन-शैली का भार इस पर नहीं थोपा गया है। अवान्तर कथाओं के बीच में आ जाने से मुख्यकथा की गति कुछ अवरुद्ध हो जाती है, परन्तु उन कथाओं में भी जो शिक्षा है, उनका अपना स्वतंत्र आकर्षण है। पूर्व-जन्म की ही ऐसी कुछ कथाएँ हैं जिनमें अनेक जन्मों का गणनात्मक विवरण पढ़ते-पढ़ते रुचि कुंठित हो जाती है। यह तो सदैव परम्परा से ही जैन कथाओं का मुख्य अंग रहा है। परन्तु एक सफल कलाकार के रूप में उसकी अपनी मौलिकता छिप नहीं सकती। इस महाकाव्य में अनेक स्थलों पर कवि ने नयी-नयी घटनाओं और परिस्थितियों का आविष्कार कर मुख्य कथा में दिलचस्प मोड़ दिया है जिससे मुख्य कथा में छिछलापन नहीं आ सका है। कुछ परम्परागत कथाओं में यथोचित परिवर्तन के साथ उनको प्रसंगानुकूल बनाकर तथा कुछ नवीन कथाओं की सृष्टि कर कवि ने अपनी कुशलता का खासा परिचय दिया है।

पउमचरिय एक सरस कथात्मक काव्य :—

जैन-साहित्य में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में पउमचरिय प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है जिस पर यत्रतत्र अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषा में प्रवाह, सरलता तथा सरसता है। कटु प्रसंगों तथा युद्ध के अवसरों पर इसमें ओज भी आ गया है। भाषा का रूप निखरा हुआ है। उपमा, रूपक, और उत्प्रेक्षालंकारों का प्रर्याप्त प्रयोग हुआ है। कुछेक अन्य अलंकारों का भी प्रयोग पाया जाता है। सदाचार, ज्ञान और धर्म सम्बन्धी सूक्तियों की बहुतायत होने से कथानक प्रभावशील बन पड़ा है। वर्णन संक्षिप्त व सरस है, जैसे दशरथ के कंचुकी की वृद्धावस्था, सीता-हरण पर राम का क्रन्दन, युद्ध के पूर्व राक्षस सैनिकों द्वारा अपनी प्रियतमाओं से विदा लेना, लंका में वानर सेना का प्रवेश होने पर नागरिकों की घबराहट और भागदौड़, लक्ष्मण की मृत्यु से राम की उन्मत्तावस्था इत्यादि। माहिष्मती के राजा की नर्मदा में जलक्रीड़ा तथा कुलांगनाओं द्वारा गवाक्षों से रावण को देखने का वर्णन भी मनोहर है। समुद्र, नदी पर्वत, वन, उपवन, सूर्योदय, सूर्यास्त, युद्ध इत्यादि के भी यथास्थान संक्षिप्त वर्णन इसमें विद्यमान हैं। घटनाओं की प्रधानता में ऐसे वर्णनों को साधारण स्थान ही प्राप्त हुआ है। फिर भी कवि की अपनी वर्णनशैली की छाप सर्वत्र विद्यमान है।

सम्पूर्ण रचना गाथा नामक मात्रा छन्द में की गयी है। प्रत्येक उद्देश के अन्त में छन्द बदल गया है। उनमें मुख्यतः वर्ण छन्द हैं और कहीं पर मात्रा छन्द के ही भेद हैं। उद्देशों के मध्य में बहुत कम अवसरों पर वर्णछन्द का प्रयोग हुआ है। वर्ण छन्दों में वसंततिलका, उपजाति, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा, शार्दूलविक्रीडित आदि उल्लेखनीय हैं।

पउमचरिय एक महाकाव्य :—

ऊपर हम कह चुके हैं कि कवि ने इस रचना को पुराण की भी संज्ञा दी है। परन्तु इसको पुराण कहना वहाँ तक ही उचित है कि इसमें एक पौराणिक महापुरुष का चरित्र-चित्रण है, क्योंकि पुराण की शैली से इसकी शैली भिन्न है। इसमें तो काव्यात्मक शैली का ही अनुसरण किया गया है। इस प्रकार इसे गौण रूप से पुराण तथा मुख्य रूप से एक महाकाव्य ही कहना चाहिये।

इस काव्य में घटनाओं की प्रधानता होने के कारण वर्णन लम्बे नहीं हैं, अपितु संक्षिप्त हैं। परन्तु उनमें भावों व रसों की व्यंजना उचित रूप में हुई है। आगमों की शैली में जो दुरूहता, पुनरावृत्ति व शुष्कता है उसे यह रचना बिल्कुल मुक्त है। इस प्रकार विमलसूरि ने प्रथम बार प्राकृत-रचना में नवीनता लाकर काव्यात्मक शैली का पोषण किया है।

जिस तरह कथानक में अपनी मौलिकता का दिग्दर्शन कराया है, उसी प्रकार विमलसूरि प्रथम कवि है जिसने प्राकृत भाषा में महाकाव्य रचने की परम्परा का बीजारोपण किया। भावात्मक व रसात्मक वर्णन की शैली अपना कर उसने धार्मिक आगम-साहित्य की पुनरावृत्ति की शैली में संशोधन किया है और एक कवि की संज्ञा प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की है। आगम साहित्य में जो दुरूहता है वह पउमचरिय में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनकी शैली बहुत सुगम तथा अर्थव्यंजना बहुत मार्मिक

और स्पष्ट बन पड़ी है। इस काव्यात्मक शैली में अलंकरण का समावेश तो अवश्य है, परन्तु उत्तर-कालीन कवियों का आलंकारिक जंजाल नहीं है जहाँ वर्णन की कृत्रिमता में कथानक का लोप ही हो जाता है। इस रचना में यथार्थ रूप में कथानक कहीं भी शिथिल नहीं हो पाता तथा रस-भाव व्यंजना भी यथाप्रसंग बनी रहती है।

कवि ने अपने वर्णनों में देश, नगर, समुद्र, नदी, अटवी, ऋतु, शरीर-सौंदर्य व लोकव्यवहार के विभिन्न रसों का समावेश किया है। इन उदाहरणों से कवि के प्रकृति-प्रेम व मानवीय अनुभूतियों की समवेदना का अच्छा दिग्दर्शन होता है। कवि के अपने कौशल के कारण लौकिक सत्य कई सूक्तियों में प्रकट हो उठा है। निम्न पद्यों में मगध देश की समृद्धि, वहाँ की विशेषताओं व लोगों की रुचि का वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

इह जम्बुदीवदीवे, दक्खिणभरहे महन्तगुणकलिओ।
मगहा नाम जणवओ, नगरागमरमण्डिओ रम्मो॥
गामपुरखेडकब्बड-मडम्बदोणीमुहेसु परिकिण्णो।
गोमहिसिवलवपुण्णो, धणनिवहनिरुद्धसीमपहो॥
सत्याहसेट्ठिगहवइ-कोडुम्बियपमुहसुद्धजणनिवहो।
मणिकणगरयणमोत्तिय, बहुधन्नमहन्तकोट्ठारो॥
देसम्मि तम्मि लोगो, विन्नाणवियक्खणो अइसुरूवो।
बलविहवकन्ति जुत्तो, अहियं धम्मुज्जुयमईओ॥
मडनट्टछत्तलंखय-निच्चनच्चन्तगीयसद्दालो।
नाणाहारपसाहिय-भुञ्जाविज्जन्तपहियजणो॥
अहियं वीवाहूसव-वियावडो गन्धकुसुमतत्तिल्लो।
बहुपाणखाणभोयण, अणवरयं वड्ढिउच्छाहो॥
पुक्खरणीसु सरेसु य उज्जाणेसु य समन्तओ रम्मो।
परचक्कमारितक्कर-दुब्भिक्खविवज्जिओ मुइओ॥ (२,१–७)

समुद्र की छटा, तरंगों की उथल-पुथल, जल-जन्तुओं का विचरण तथा उसके वैभव का शृंखलाबद्ध वर्णन देखिये।

भीमझसमयरकच्छह-अन्नोन्नावडियविलुलियावत्तं।
आवत्तविद्दुमाहय-निल्लूरियदलिय संखउलं॥
संखउलसिप्पिसंपुड-विहडियपेरन्त चञ्चियतरङ्गं।
सतरङ्गमारुयाहय-सरियामुहभरियकूलयलं॥
कूलयलहंससारस-कलमलभरजणियरुद्धतडमग्गं।
तडमग्गरयण बहुविय-किरणुज्जोवियदुरुप्पयरं॥
पयरन्तविसयमोत्तिय धवलियघणफेणपुञ्जपुञ्जइयं।
पुञ्जइयदिव्वपायव-कुसुमसमाइण्णदिण्णच्चं॥
दिण्णच्चणं व रेहइ, महल्लहल्लन्तवीइसंघट्टं।
संघट्टजालऊरिय, सव्वत्तो गुलगुलायन्तं॥

इसी प्रकार नर्मदा व गंगानदी के वर्णन तथा भयावह सिंहनिनाद, अटवी और जंगलीपशुओं से आतंकित चित्रकूट पर्वत के वर्णन ध्यान देने योग्य हैं।

वर्षा ऋतु के वर्णन में बादलों की गड़गड़ाहट, बिजली की चमक, भूमि में पड़ी दरारों का दृश्य तथा वियोगी पथिकों की अवरुद्ध गति और प्रियमिलन के लिए उनकी तड़फड़ाहट का सुन्दर वर्णन रूपक और उपमा सहित देखिये।

ववगयसिसिरनिदाहे, गंगातीरट्ठियस्स रमणिज्जे।
गज्जन्तमेह मुहलो, संपत्तो पाउसो कालो॥
धवलबलायाधयवड, विज्जुलया कणयबन्धकच्छा य।

इन्दाउह कयभूसा-भरन्तनवसलिलदाणोहा ।।
अञ्जनणगिरिसच्छाया, घणहत्थी पाहुडं व सुरवइणा ।
संपेसिया पभूया रक्खसनाहस्स अइगुरुया ।।
अन्धारियं समत्थं गयणं रवियरपणट्ठगहचक्कं।
तडयडसमुट्ठियरवं, धारासरभिन्नभुवणयलं ।।
धारासरभिन्नंगो, कन्ता सरिऊण मुच्छिओ पहिओ ।
पुणरवि आससिओ च्चिय, तीए सुहसंगमासाए ।।
सुट्ठु वि उक्कण्ठुलया, पहिया जलफलिहरुद्धपयमग्गा ।
कन्तासमागममणा, पंखारहिया विसूरेन्ति ।।

शरद् ऋतु की स्वच्छता, मनमोहकता, सुन्दरता तथा मुक्त वातावरण का रूपकमय वर्णन देखिये ।

ववगयघणसेवालं, ससिहंसं धवलतारयाकुसुमं ।
लोगस्स कुणइ पीई, नभसलिलं पेच्छिउं सरए ।।
चक्कायहंससारस-अन्नोन्नरसन्तकयसमालावा ।
निप्फण्णसव्वसस्सा, अहियं चिय रेहए वसुहा ।।

सीता की शारीरिक सुन्दरता का उपमा, रूपक और व्यतिरेकमय वर्णन कितना सरस है ।

वरकमलपत्तनयणा, कोमुइरयणियरसरिसमुहसोहा ।
कुन्ददलसरिसदसणा, दाडिमफुल्लाहरच्छाया ।।
कोमलबाहालइया, रत्तासोउज्जलाभकरजुयला ।
करयलसुगेज्झमज्झा, वित्थिण्णनियम्बकरभोरू ।।
रत्तुप्पलसमचलणा, कोमुइयणियरकिरणसंघाया ।
ओहासिउं व नज्जइ, रयणियरं चेव कन्तीए ।। (२६,९९–१०२)

रावण जब यम पर विजयी होकर लंका को लौटता है तब उसके दर्शन के लिए अपने-अपने प्रासादों के गवाक्षों की ओर भागने में उनके उत्साह, हड़बड़ाहट तथा स्फूर्ति का कैसा स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है :—

नायरवहूहि सिग्घं दहमुहदरिसणमणाहि अइरेयं, ।
संसारिउं गवक्खा, रुद्धा विय वयणकमलेहिं ।।
अन्ना अन्नं पेल्लइ, करेण मा ठाहि मग्गओ तुरियं ।
ताए वि सा भणिज्जइ, किं मज्झ न कोउयं बहिणे ।।
मा थणहरेसु पेल्लसु, दहमुहदरिसणमणासि अइचवले ।
तीए वि य भणिया सा, मा रूम्भ गवक्खयं एयं ।।
भणइ सही धमिल्लं, अवसारसु मज्झ नयणमग्गाओ ।
तीए वि य भणिया सा, न य पेच्छसि अन्तरं विउलं ।।
नायरवहूहि एवं दसाणणं तस्थ पेच्छमाणीहिं ।
हलबोलमुहलसद्दा, भवणगवक्खा कया सव्वे ।।

जब वानर सैनिक लंका में प्रवेश करते हैं, तब वहाँ के लोग भयग्रस्त होकर इधर-उधर भागते हैं । स्त्रियाँ अपने स्वजनों को शत्रु से बचाने के लिये अपने-अपने घरों में ऊँची आवाज से बुलाती हैं । उनकी घबराहट और शून्यता का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया गया है । कुलांगनाएँ भय से ऐसी त्रस्त हैं कि उनको अपने वस्त्रों व अलंकरणों की भी सुध बुध नहीं रह जाती :—

सोऊण दुन्दुभिरवं, ताण पविट्ठाण जणवओ खुभिओ ।
किं किं ति उल्लवन्तो, भयविहलविसंठुलो जाओ ।।
संपत्तं पवयबलं, हा ताय महाभयं समुप्पन्नं ।

पविससु घरं तुरन्तो मा एत्थ तुमं विवाइहिसि ॥
हा भद्द परित्तायह, भाउय मा जाह लहु नियत्तेहि ।
अवि धाह किं पेच्छह परबलवित्तासियं नयरिं ॥
× × ×
काएत्थ गलियरयणा, भउद्दुया तुडियमेहलकलावा ।
हत्थावलम्बिय करा, अन्ना पुण वच्चइ तुरन्ती ॥
× × ×
अन्नाएँ गलइ हारो, अन्नाएँ कडयकुण्डलाहरणं ।
अन्नाएँ उत्तरिज्जं, विवडियवडियं न विन्नायं ॥ (६७१९-२०; २२,२५)

पाप और पुण्य के वश लोगों की अवस्थाओं में अन्तर हो जाता है। एक तो वे दुःखी प्राणी हैं जिन्हें भरपेट खाने को नहीं मिलता, ओढ़ने को वस्त्र नहीं मिलता और रहने को उचित स्थान नहीं मिलता। दूसरी ओर वे धनाढ्य लोग हैं जो सुख की नींद सोते हैं, रसीले आहारपान करते हैं तथा भोगों व ऐश्वर्य के बीच में ही जिनका पूरा जीवन बीतता है। हेमन्त ऋतु में जीवन के ऐसे ही दो विपरीत पहलुओं का वर्णन देखिये।

आकुंचियकरगीवा, पुरिसा सीएण फुडियसव्वंगा ।
सुमरन्ति अग्गिनिवहं, दीणा वि अमन्दपाउरणा ।
आवडिय दसणवीणा, दारुतणजीवया थरथरेन्ता ।
दारिद्दसमभिभूया, गमेन्ति कालं अकयपुण्णा ॥
पासायतलत्था वि य, अन्ने पुण गीयवाइयरवेणं ।
वरवत्थपाउयङ्गा कालागरुधूवससुयन्धा ।
भुंजन्ति सया रसियं, आहारं कणयभायणविदिन्नं ।
कुंकुमकयङ्गरागा, अक्खीणधणा सुकयपुण्णा ॥

इसी प्रकार स्वयंवर, मन्दिर, पूजामहोत्सव व सैनिकों के प्रस्थान के वर्णन उद्धृत किये जा सकते हैं।

वस्तु वर्णन व भावाभिव्यक्ति में जो सरलता और स्वाभाविकता है वैसी ही रसाभिव्यक्ति में भी। शृंगार, वीर और करुण रसों की अभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर हुई है। गौण रूप से उपयुक्त स्थानों पर भयानक, रौद्र, वीभत्स अद्भुत व हास्य रस के भी उदाहरण मिलते हैं।

शृङ्गार रस :—

माहेश्वर के राजा का अपनी स्त्रियों के साथ नर्मदा नदी में जलक्रीड़ा का वर्णन लीजिये :—

विविहजलजन्तविरइय-निरुद्धजलभरियकूलतीराए ।
सोहन्ती रमन्तीओ, सहस्सकिरणस्स महिलाओ ॥
एक्का तत्थ वरतणू, थणजुयलं अंसुएण छायन्ती ।
अवहरियउत्तरिज्जा, सहसत्ति जले अह निव्वुड्डा ।
ईसावसेण कुविया, उदयं घेत्तूण कोमलकरेसु ।
कन्तस्स हरिसियमणा, घत्तइ वच्छच्छलाभोए ॥
इन्दीवरदलनयणा, घेत्तुं इन्दीवरं हणइ अन्ना ।
अन्नाएँ सा वि तुरियं आहम्मइ सहस्सवत्तेहिं ।
अन्ना दट्ठूण उरे, नहक्खयं बालचन्दसंठाणं ।
अवहरियउत्तरिज्जा, छाएइ थणं करयलेणं ॥
काएत्थ पणयकुविया, मोणं परिगिण्हिऊण वरजुवई ।
तोसं पुण उवणीया, दइएण सिरप्पणामेणं ॥

प्रियाओं की काम-भावना, ईर्ष्या, कोप, हर्ष, शंका, मनमुटाव और प्रिय के अनुनय-विनय का कैसा सुन्दर चित्रण है।

करुण रस :—

दशरथ के कंचुकी द्वारा अपनी वृद्धावस्था का वर्णन एक मार्मिक दृश्य उपस्थित करता है। इसी हृदयस्पर्शी वर्णन से दशरथ का कारुण्य जाग उठता है। उन्हें सांसारिक वस्तुओं में अनित्यता के दर्शन होते हैं और वे स्वयं दीक्षा लेने को प्रेरित हो जाते हैं। इस वर्णन में कंचुकी अपने सभी अंगों की निर्बलता का उपयुक्त उपमाओं सहित करुणाजनक चित्र उपस्थित करता है।

एयं जराएँ अंगं, मज्झ कयं विगयदप्पउच्छाहं।
तूरन्तस्स वि धणियं, न वहइ परिजुण्णसयडं व॥
जे आसि मज्झ नयणा, पढमं वियारदिट्ठिल्ला।
ते वि य न दीहपेही, संपइ जाया कुमित्त व्व॥
कण्णा वि पढमवयणं, निसुणन्ता मम्मणं पि उल्लावं।
ते सुमहयं पि सद्दं, न सुणन्ति पहू दुपुत्त व्व॥
जे वि महं आसि पुरा, दन्ता वरकुडयकुसुमसंकासा।
ते वि जरवड्ढइकया, पडिया अरय व तुम्बाओ॥
× × ×
तुरन्तस्स य अंगं, कम्पइ बहुला हवन्ति नीसासा।
खेओ य समुप्पज्जइ, गई वि मन्दं समुव्वहइ॥ २९, २१–२४; २९।

युद्धस्थल पर तूर्य-निनाद, वीर सैनिकों का कोलाहल, क्रोध और जोश में स्फूर्ति के साथ शस्त्र संचालन का वर्णन देखियेः—

बहुतूरनिणाएणं, भडाण बुक्कारवड्ढियरवेणं।
न सुणेइ एक्कमेक्को, उल्लावं कण्णपडियं पि॥
दोण्ह वि बलाण एत्तो, आलग्गे दारुणे महाजुज्झे।
संखुभियवसुमईए, गिरी वि आकम्पिया सहसा॥
उव्वेलो लवणजलो, पवाइओ मारुओ बहलरेणू॥
विवरीयं सरियाओ, वहन्ति समराणुभावेणं॥
उभयबलेसु वरभडा, मोग्गरसरझसरभिण्डिमालाइं।
मुंचन्ति आउहाइं, उक्काइ य पज्जलन्ताइं॥
सन्नद्धा रणसूरा, पहणन्ति गयासिचक्कपहरेहिं।
निययकुलं सावेन्ता, अन्नोन्नवहुज्जयमईया॥
आहट्ठा रयणियरा, चडक्कपहरोवमेसु घाएसु।
तह जुज्झिउं पवत्ता, जह कइसेन्नं समोसरियं॥
अन्ने समुट्ठिया पुण, वाणरसुहडा अभग्गरणपसरा।
जुज्झन्ति सवडहुत्ता, रक्खससेन्नं विवाएन्ता॥ ५७, २५–३१॥

युद्ध के समय वीर सैनिकों की गतिविधियों का कैसा स्वाभाविक दृश्य है। आपस में मारपीट करने की रोषपूर्ण आवाज़ तथा उनका उत्साह देखिये :—

हण छिन्द भिन्द निक्खिव, उलिट्ठुत्तिट्ठ लहु पडिच्छाहि
पप्फोड ताड मारय, सहचतुव्वत्त णिहणन्ति॥ (६१, ३१)

पक्ष-प्रतिपक्ष की गर्वीली और जोशपूर्ण स्पर्द्धा—

मा भाहि कायर तुमं, दीणं न हणामि जं च परहुत्तं।
तेण वि सो पडिभणिओ, अज्ज तुमं चेव नट्ठो सि॥ ६१, ३४॥

वस्त्र शिथिल हो जाने पर एक लड़ता हुआ सैनिक किस प्रकार अपनी पोशाक को स्फूर्ति के साथ संभालता है :—

कोइ भडो सन्नाहं, सहसा विच्छिन्नबन्धणंदट्ठु।
संधेइ साहु पुरिसो जह नेहं विहडियं सन्तं॥

दन्तेसु धरिय खग्गं, आबन्धेऊण परियरं सुहडो।
जुज्झइ अविसन्नमणो, सामियपरितोसणुज्जुत्तो ॥ (६१, ३५-३६)

आपस में एक एक का सिर पकड़ कर शस्त्राघात कर रहे हैं, रक्त की लाली चारों तरफ छा गयी है, आहत सैनिक भूमि पर लोट रहे हैं, उड़ी हुई धूल के अंधकार में अस्पष्टता के कारण प्रतिपक्षी सैनिक अपने ही पक्ष के सैनिकों से युद्ध कर रहे हैं।

सीसग्गहिएक्कमेक्का, छुरियापहरेसु केई पहरन्ति
असिकणयतोमरेहिं, सुहडा घायन्ति अन्नोन्नं ॥
रत्तासोयवणं पिव, किंसुयरुक्खाण होज्ज संघायं।
जायं खणेण सेन्नं, पयलियरत्तारुणच्छायं ॥
केएत्थ गलियसत्था, गरुयपहाराहयाहिमाणेणं।
पडिउद्ठियं करेन्ता, अन्ने लोलन्ति महिवट्ठे ॥

× × ×

गयतुरयखुरखउक्खय-रएण, उच्छाएइ दिसाचक्के।
अविभावियदिट्ठिपहा, नियया निगए विवाएन्ति ॥ ६१-३८-४०; ४२ ॥

वीभत्स रस :—

वीभत्स रस के उदाहरण स्वरूप चिता का वर्णन देखिए। मृत शरीर इधर-उधर फैले हुए हैं। भूत व डाकिनियाँ विचर रही हैं, शृगालों के मुख से अग्नि निकल रही है, रक्त व पीप की दुर्गन्ध फैली हुई है, कई जादू-टोने वाले वहाँ पर मन्त्र की साधना में तल्लीन हैं, कौवे इधर-उधर मँडरा रहे हैं, जलते हुए मृतक शरीर, जंगली पशु-पक्षी तथा भूत-प्रेतों की आवाज़ हृदय को चौंका देती है। दृश्य दारुण और भयावह है।

बहुविहचिया पलीविय, जलन्तडज्झन्तमडयसंघायं।
गहभूयबम्भरक्खस—डाइणिवेयालभीसणयं ॥
किलिकिलिकिलन्तरक्खस-सिवामुहुज्जलिय पेयसंघायं।
कव्वायसत्थपउरं, मडयसमोत्थइयममहिवीढं ॥
पच्चन्तमडयपुप्फस-सिमिसिमियगलन्तरुहिरविच्छड्डं।
डाइणिकबन्धकड्ढिय-भीमं रुण्टन्तभूयगणं ॥
कडपूयणगहियरडन्तडिम्भयं कयतिगिच्छमन्तरवं।
मण्डलरयपवणुद्धुय-इन्दाउहजणियनहमग्गं ॥
विज्जासाहणसुट्ठिय-जंगुलियातारजणियमन्तरवं।
वायसअवहियमासं, उद्धमुहुन्नइयजम्बुगणं ॥
कत्थइ पेयायड्ढिय-मडयविकिरन्त पेयसद्दालं।
कत्थइ वेयालहयं, रुणुरुणियभमन्तभूयगणं ॥
कत्थइ रडन्तरिट्ठं, असन्तो भुगुभुगेन्त जम्बुगणं।
घुघुघुघुघुघेन्तघूयं, कत्थइ कयपिंगलाबोलं ॥
कत्थइ कढोरहुयवह-तडतडफुट्टन्तअट्ठिसद्दालं।
कत्थइसाणायड्ढिय-मडयामिसलग्गजुद्धघोणं ॥
कत्थइ कवालधवलं, कत्थइ मसि धूमधूलिधूसरियं।
किंसुयवणं व कत्थइ, जालामालाउलं दित्तं ॥ १०५,५३-६१ ॥

प्रसंगानुसार कवि ने कर्कश ध्वनियों का उपयोग किया है जिससे वीभत्स रस की व्यंजना मुखरित हो उठी है। शब्दावली पर कवि का अधिकार तथा (Onomatopoea) अनुकरणात्मक ध्वनियों की समायोजना प्रशंसनीय है।

अलंकारों की योजना में भी कवि ने कमी नहीं रक्खी है। परन्तु उनकी अपनी विशेषता यह है कि अलंकरण इतना सादा

है जिससे अर्थ समझने में दुरूहता तथा काव्य के शैली में कृत्रिमता का आभास नहीं होता। उपरोक्त वर्णनों में यथास्थान जो अलंकार प्रयुक्त हुए हैं उनका निर्देश कर चुके हैं। अब कुछ अन्य उदाहरण देखिये :—

जीवन की नश्वरता का जल के बुलबुलों की चपलता, बिजली की चंचलता, स्वप्न की क्षणभंगुरता तथा इन्द्रधनुष के क्षणिक वैभव के साथ तुलना करके एक कठोर सत्य को मार्मिक बना दिया गया है।

जलबुब्बुओवमं चवलं; विज्जुलया चंचल हवइ जीयं; जीयं च सुविणपरितुल्लं;

इन्दधणुसुमिणसरिसे, विज्जुलयाचवलचंचले जीये।

जिह्वा वही सुन्दर है जो धर्मानुसार भाषण करती है, अन्यथा वह एक तेज छुरी के समान है।

जा जाणइ समय-रसं, सा जीहा सुन्दरा हवइ लोए।
दुव्वयणतिक्खधारा, सेसा छुरिय व्व नवघडिया। १.२५ ॥

अपने पति का चिर वियोग हो गया है, एकमात्र पुत्र ही जिसका सहारा है, वह भी यदि संसार को त्यागकर दीक्षा ग्रहण कर ले तो नारी का मातृहृदय तडप उठता है। उसकी वही दशा होती है जो एक वत्स रहित धेनु की।

धेणु व्व वच्छरहिया, कुणइ पलावं पयलियंसु ॥ ८३.९ ॥

श्रमण साधुओं के गुणों का वर्णन करने में उपमाओं की झड़ी देखिए।

धरणी विव सव्वसहा, पवणो इव सव्वसंग परिमुक्का।
गयणं व निम्मलमणा, गम्भीरा सायरं चेव॥
सोमा निसायरं पिव, तेएण दिवायरं व दिप्पन्ता।
मेरु व्व धीरगरुया, विहगा इव संग परिहीणा ॥१४, ७९–८० ॥

रूपक :—

संसार को विभिन्न प्रकार से एक महासमुद्र, एक अटवी और एक झील का रूपक दिया गया है।

दुक्खसलिलावगाढे, कसायगाहुक्कडे भयावत्ते।
घणदोग्गहविच्चीए, जरमरणकिलेसकल्लोले ॥१०६–४१ ॥

और

झाणाणिलाहूएणं, विविहतविन्धणमहन्तजलिएणं।
नाणाणलेण राहव, तुमए जम्माडवी दड्ढा॥ ११७–३७॥

वसन्त ऋतु के फले फूले वन का सिंह के अंगों के साथ रूपकमय वर्णन देखिये :—

अंकोलतिक्खणक्खो, मल्लियणयणो असोयदलजीहो ! कुरवयकरालदसणो, सहयारसुकेसराउणिओ॥

कुसुमरयपिंजरंगो, अहमुत्तलयासभूसियकरग्गो। पत्तो वसन्तसीहो, गयवहयाणं भयं देन्तो ॥९२, ७–८॥

उत्प्रेक्षा :—

सूर्य अपनी स्वाभाविक गति से अस्त हो रहा है, परन्तु कवि उत्प्रेक्षा करता है कि वह उपसर्ग के डर से भाग रहा है।

तावच्चिय अत्थाओ, मइलन्तो अम्बरं दियसनाहो।
उवसग्गस्स व भीओ, किरणबलेणं समं नट्ठो॥ ३९-२३ ॥

सन्ध्याकालीन अन्धकार सभी दिशाओं में कालिमा फैला देता है। परन्तु कवि कल्पना करता है कि यह तो दुर्जन-स्वभाव है, जो सज्जनों के उज्ज्वल चरित्र पर कालिख पोतता है।

उच्छरइ तमो गयणे मइलन्तो दिसिवहे कसिणवण्णो।
सज्जणचरिउज्जोयं नज्जइ ता दुज्जण सहावो ॥२–१००॥

भ्रान्तिमान :—

नदी में राम और सीता जलक्रीड़ा में मग्न हैं। उस समय भौंरे सीता के मुख को कमल समझकर उस पर झपटते हैं।

अह ते तत्थ महुयरा, रामेण समाहया परिभमेउं ।
सीयाएँ वयणकमले, निलन्ति पउमाहिसंकाए ॥४२.२१॥

मुद्रालंकार—प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद में इस अलंकार का प्रयोग हुआ है । इस प्रकार एक विशेष अर्थव्यंजनात्मक पद से कवि ने अपने नाम का निर्देश किया है ।

अहो नराणं तु समत्थलोए, अवट्ठियाणं पि हु मच्चुमग्गो ।
समज्जियं जं विमलं तु कम्मं, करेइ ताणं सरणं च खिप्पं ॥६३.७२॥

सूक्तियों में कवि ने व्यवहार, बुद्धि, सदाचार, नीति व धर्म सम्बन्धी कहावतों का प्रयोग कर कथानक को प्रभावशाली बनाया है ।

मेहेण विणा वुट्ठी न होइ न य बीयवज्जियं सस्सं ।
तह धम्मेण विरहियं न य सोक्खं होइ जीवाणं ॥४.२६॥
जह एक्कम्मि तरुवरे वसिऊणं पक्खिणो पभायम्मि
वच्चन्ति दस दिसाओ, एक्क कुटुम्बम्मि तह जीवा ॥५.१८४॥

इस प्रकार उदाहरण अलंकार द्वारा जीवन के अनुभवों का हृदयस्पर्शी प्रकटीकरण हुआ है ।

थेवो थेवो वि वरं कायव्वो नाणसंगहो निययं ।
सरियाउ किं न पेच्छह, विन्दूहि समुद्दभूयाओ ॥१४-१२४॥

धार्मिक उपदेश के समय दृष्टान्त और निदर्शना के समुचित उपयोग का एक नमूना देखिये :—

लद्धूण माणुसत्तं जस्स न धम्मे सया हवइ चित्तं ।
तस्स किर करयलत्थं अमयं नट्ठं चिय नरस्स ॥२.८०॥

अर्थान्तरन्यास का उदाहरण देखिये । सुग्रीव राम की शरण में जाने से पहले सोचता है :—

वच्चामि तस्स सरणं, सो वि हु सन्तीकरो होउ ।
तुल्लावत्थाण जए होइ सिणेहो नराण निययं पि ॥४७.५॥

अलंकार रहित सूक्तियों का भी काफी प्रयोग है । हनुमान् रावण को सचेत करता हुआ कहता है :—

पत्ते विणासकालो नासइ बुद्धि नराण निक्खुत्तं ॥५३.१३८॥

मन्दोदरी रावण को समझाती हुई कहती है कि :—

किं दिणयरस्स दीवो दिज्जइ वि हु मग्गणट्ठाए ॥७०.२७॥

उच्च व वैभवशाली कुल में जन्म लेने पर भी महिला को परगृह में जाना ही पड़ता है । वह सदा अपने पितृगृह में नहीं रह सकती :—

परगेह सेवणं चिय एस सहावो महिलियाणं ॥६.२२॥

एक रानी अपने पति का आचरण सुधारने के लिये परामर्श देती हुई कहती है कि जैसा राजा होगा, वैसी ही प्रजा होगी ।

जारिसकम्मायारो, हवइ नरिन्दो इहं वसुमईए ।
तारिस निओग निरओ, अहियं चिय होइ सव्वजणो ॥९३.२८॥

कवि कहता है कि दुःख, आपत्ति व व्याधि के समय में कोई किसी का साथ नहीं देता है । यह तो अपना ही सुकर्म है जो काम आता है ।

न पिया न चेव माया, न भाया नेय अत्थसंबन्धा ।
कुव्वन्ति परित्ताणं, जीवस्स उ धम्मरहियस्स ॥१०६.३६॥

छन्द प्रयोग :—

पउमचरिय में गाथा नामक मात्रिक छन्द का मुख्य रूप से प्रयोग हुआ है । तत्कालीन कवि अपनी रचनाओं को सभा में साधारण जनों के समक्ष पढ़कर सुनाया करते थे । इसलिये सुविधा, सरलता व सुरीलेपन के कारण मात्रा-छन्दों का ही

प्रयोग करना अच्छा समझा जाता था। पउमचरिय के प्रथम सर्ग से यह स्पष्ट है कि कवि अपनी रचनाको परिषद में श्रोतागणों के समक्ष पढ़कर सुना रहा है।

एत्थं चिय परिसाए, नराण चित्ताइ बहुवियप्पाइं ॥ १,१४ ॥

– – – – – –रइयं गाहाहि पायडफुडत्थं । विमलेण पउमचरियं, संखेवेण निसामेह ॥१,३१॥

सम्पूर्ण रचना गाथा छन्द में निबद्ध है । परन्तु प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद में छन्द बदल गया है । उन अन्तिम पदों में मुख्यत: वर्णछन्दों का प्रयोग है और अन्य स्थलों पर गाथा छन्द के ही भेद-प्रभेद हैं । सर्गों के मध्य में भी यत्रतत्र वर्णछन्दों का प्रयोग हुआ है । वर्णछन्दों में वसंततिलका, उपजाति, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा, शार्दूलविक्रीडित आदि उल्लेखनीय हैं ।

आठ वर्णों के प्रमाणिका नामक वर्ण-छन्द का उपयुक्त प्रयोग किया गया है । हनुमान और इन्द्रजित् के सैनिकों के बीच युद्ध का दृश्य है । प्रतीत होता है कि युद्ध संगीत के ताल और लय के साथ सैनिकों के पैर भी उठ रहे हैं तथा वही ताल और लय इनको लड़ने के लिये प्रेरित करता हुआ जोश दिला रहा है ।

ससामिकज्जउज्जया, पवंगघायदारिया । विमुक्कजीयबन्धणा, पडन्ति तो महाभडा ॥
सहावतिक्खनक्खया, लसन्तचारुचामरा पवंगमाउहाहया, खयं गया तुरंगमा ॥
पवंगभिन्नमत्थया, खुडन्तदित्तमोत्तिया । पणट्ठदाणदुद्दिणा, पडन्ति मत्तकुंजरा ॥
विचित्तहेमनिम्मिया, विणिट्ठकंचणट्ठया । पवंगघायचुण्णिया, खयं गया महारहा ॥५३.११०.११३॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पउमचरिय प्राकृत भाषा का प्रथम महाकाव्य है जिसमें रस, भावात्मक वर्णनों व अलंकारों की योजना बहुत ही सुन्दर बन पड़ी है। यह उत्तरकालीन कवियों की कृत्रिमता से बिलकुल परे है और इसीलिये एक साधारण व अल्पशिक्षित पाठक के लिये भी सुपाठ्य व सुबोध बन सका है ।

पुष्पदन्त की रामकथा

(ले०—डा० देवेन्द्र कुमार)

(१) पुष्पदंत–अपभ्रंश के बहुत बड़े कवि थे। ९ वीं और १० वीं सदी के मिलन-विन्दु पर उनका जन्म हुआ। अपभ्रंश ही नहीं, समूचे भारतीय साहित्य में पुष्पदंत का कुछ निराला ही स्थान है। यह निरालापन उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में है। वह पंडित होकर भी फक्कड़ थे। उनके व्यक्तित्व में जहाँ स्वाभिमान की उग्र ज्वाला थी वहाँ भावुक नम्रता की शीतलधारा भी। उनकी कठोरता, भावुकता को बचाने का ही एक आवरण थी। पूरे बारह वर्ष तक वह जमकर साहित्य साधना में लगे रहे। आवश्यकताओं के खडराग से परे और समय की छाया से दूर। उन्होंने जो कुछ लिखा वह युग और परंपरा के अनुरोध पर ही, फिर भी उसमें मौलिक सजीवता है। वह सजीवता जो समय की चुनौती ही नहीं स्वीकार करती, वरन् उसपर खेलती है।

(२) उनके समूचे साहित्य में 'रामकथा' विशेष स्थान रखती है। कथा की भिन्नता, लेखक का दृष्टिकोण और सामयिकता के मिश्रण से यह कथा राम के बारे में नवीन तथ्य प्रस्तुत करती है। यह सच है कि पुष्पदंत की रामकथा एकदम उनकी अपनी नहीं है। फिर भी उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, और यह बात सभी प्राचीन भारतीय लेखकों के बारे में सच है। इसका मुख्य कारण यह है कि राम, कवि के युग में यथार्थ की अपेक्षा श्रद्धा के विषय बन चुके थे। उनसे प्रेरणा लेने के बजाय, उन्हें श्रद्धा के फूल चढ़ाना, भारतीय साहित्यकार का युगधर्म बन गया था। राम रोम-रोम में रमे हुए हैं या नहीं, इसमें संदेह किया जा सकता है, पर भारतीय काव्य में राम रमे हुए हैं–यह संदेह से परे है। और इसलिये–हर नए युग में राम का काव्यात्मक स्वरूप बदला। इतिहास राम के बाद का है, और पौराणिक मान्यताओं के आधार पर राम के शुद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व की स्थापना करना खतरे का काम है। फिर भी राम के बारे में कई दृष्टिकोण हैं। दर्शन उन्हें परमतत्त्व मानता है। धर्म उन्हें भगवान् के रूप में पूजता है। पुराण में वह अवतार हैं और साहित्य में आदर्श। जब हम काव्य कृतियों में अंकित उनके चरित्र को देखते हैं तो लगता है कि राम व्यक्ति नहीं, प्रतीक हैं। ऐसा प्रतीक, जिसे कल्पना मनचाहा तराशती रही और युगभावना उसे अपनी तबियत का आकार देती रही। फिर भी एक बात हरेक युग के लिये सच है, और वह यह कि राम, युग संवेदना की अभिव्यक्ति के समर्थ और लोकप्रिय माध्यम रहे हैं। लिहाजा पुष्पदंत के राम भी ऐसे ही परंपरा के राम हैं।

(३) उनकी चरित्र रेखाएँ वही पुरानी की पुरानी। जीवन भी एकदम रूढ़। फिर भी पुष्पदंत की रामकथा में कुछ ऐसी बातें हैं जो हिन्दू रामकथा से ही नहीं, दूसरी जैन रामकथाओं से भी भिन्न हैं। इस भिन्नता का मूल विन्दु यह है कि पुष्पदंत के अनुसार राम और सीता का वियोग उनके पूर्व जन्म के पाप का परिणाम था, इसके लिये रावण को ही दोषी ठहराना ठीक नहीं वह एक निमित्त था। कवि यहाँ यह बताना चाहता है, मनुष्य को वर्तमान परिस्थिति के लिये दूसरे ही नहीं, वरन् उसके स्वयं के काम भी उत्तरदायी होते हैं। इसलिये उसने विस्तार के साथ राम-लक्ष्मण के पूर्व जन्मों की पीढ़ियों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पूर्व जन्म में राम और लक्ष्मण राजा प्रजापति और उसके मंत्री के पुत्र थे। उनके नाम थे चन्द्रचूल और विजय। एक बार उन्होंने नगर सेठ श्रीदत्त की पत्नी कुवेरदत्ता का अपहरण किया। इस पर राजा ने उन्हें जंगल में ले जाकर मार डालने की आज्ञा दी। मंत्रियों ने मारने की अपेक्षा जैन साधुओं को उन्हें सौंप दिया। दोनों ने दीक्षा लेकर तप किया। अगले जन्म में वे राजा दशरथ के यहाँ राम और लक्ष्मण के नाम से उत्पन्न हुए इस प्रकार राम का सीता वियोग उनके पूर्व जन्म की घटना की प्रतिक्रिया थी। पुष्पदंत की रामकथा में दशरथ के तीन ही बेटे हैं। राम, लक्ष्मण और शत्रुघ्न। रामकी माँ का नाम कौशल्या न होकर 'सुबेल' था, और लक्ष्मण की माँ कैकेयी थी, उनकी रामकथा में भरत का अस्तित्व ही नहीं। इसलिये भरत से संबंधित प्रसंगों का इसमें अभाव है। कवि ने राम के बचपन का बहुत ही चलता परिचय दिया है। उसके आधार पर इतना ही कह सकते हैं कि राम का बचपन सामन्तकुमारों की तरह बीता। राम के पिता के बारे में यह संकेत महत्त्वपूर्ण है कि पहले वह हिंसामूलक यज्ञ संस्कृति में गहरी आस्था रखते थे। बाद में वह उसके विरोधी बन गये। घटनाक्रम के

इस परिवर्तन का कारण खोजना कठिन नहीं। पुष्पदंत नीतिवादी धार्मिक लेखक थे। कर्मफल प्रधान अहिंसक संस्कृति में, उनकी गहरी आस्था थी। उनकी यह आस्था रामकथा के विस्तारक्रम में पग-पग पर देखी जा सकती है।

(४) उनकी रामकथा का दूसरा महत्त्वपूर्ण मोड़ है राम का यज्ञ की रक्षा के लिये जाना। समूची रामकथा के महत्वपूर्ण प्रसंग दो ही हैं। एक यह और दूसरा राम का वनवास। एक में राम का सीता से विवाह हुआ और दूसरे में उसका वियोग। दोनों ही यात्राओं ने राम के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया। राम यज्ञ की रक्षा के लिये जाते हैं। पर वशिष्ठ के अनुरोध पर नहीं, प्रत्युत् राजा जनक के निमंत्रण पर। पुष्पदंत के अनुसार जनक भी यज्ञवादी थे, ब्रह्मवादी नहीं। वहां पहुँचकर राम ने रक्षा करने के बजाय हिंसामूलक यज्ञ का शान्तिपूर्ण ढंग से विरोध किया। उन्होंने जो तर्क दिये—उससे लोगों की यज्ञ से आस्था उठ गई और बूढ़े जनक ने अपनी बेटी राम को ब्याह दी। सीता के साथ राम ठाटबाट से अयोध्या लौट आए। नगर-प्रवेश के पहले उन्होंने जिन भगवान् की पूजा-वंदना की। राम राजा के पुत्र थे, इसलिये युद्ध की उत्सुकता उनके मन में होना स्वाभाविक बात थी। उन्होंने पिता से काशी पर चढ़ाई करने की आज्ञा माँगी। राम विस्तारवादी तो नहीं थे पर अपने पूर्वजों की धरती खोना उनके स्वाभिमान को स्वीकार नहीं था। काशी पहले अयोध्या के अधीन थी, पर बाद में स्वाधीन हो गई। पिता की अनुमति पाकर राम सदल-बल काशी पहुंचे पर युद्ध की नौबत नहीं आई। काशी वालों ने उनकी अधीनता मान ली। चमचमाती ध्वजाओं और मंगलमय तोरणों के बीच काशी के नागरिकों ने उनका भव्य स्वागत किया। कामदेव को भी मात देने वाले, राम के सौन्दर्य को देखकर काशी की वनिताओं का बुरा हाल था। राम ने कुछ समय, अपने नये राज्य में ही रहने का निश्चय किया। इसी बीच जनमन में तूफान मचाता हुआ वसंत आ पहुंचा।

(५) राम अन्तःपुर के साथ वसन्त की क्रीड़ा-बहार लूटने चल पड़े। ठीक इसी समय नारद ने जाकर रावण से सीता के सौन्दर्य का बखान किया। रावण सीता पर आसक्त हो गया। नारद ने यह जानबूझ कर किया। सीता रावण की बेटी थी। पर ज्योतिषियों के अनुसार वह रावण की मृत्युका कारण बनती। इसलिये उसने उसे जन्मते ही फिकवा दिया। पर विधि का विधान देखिये। पिता पुत्री पर आसक्त था। विभीषण और मारीच ने उसे बहुतेरा समझाया, पर व्यर्थ। नारद का यह प्रसंग भी पुष्पदंत की रामकथा को दूसरी राम कथाओं से भिन्न करता है। जिस प्रकार राम का पत्नी-वियोग पूर्व के कर्म का फल था, उसी प्रकार रावण की आसक्ति भी उसके पूर्व संस्कार का फल था। स्वर्ग का प्रलोभन, नरक का भय, यज्ञ का आकर्षण और नीति के उपदेश रावण का हृदय बदलने में असमर्थ रहे। सीता के बिना उसे जीवन और राज्य सूना-सूना लग रहा था। उसने अपनी बहन चन्द्रमुखी (दूसरी कथाओं की सूर्पनखा) को सीता को फुसलाने भेजा। जब कोई अपनी बेटी पर ही रीझ जाय तो बहन से सहायता ले लेने में उसे क्या बुराई हो सकती है? चन्द्रमुखी ने चित्रकूट के क्रीड़ावन में जब सीता को देखा तो देखती रह गई। उसे अपना यौवन फीका लगा। इसीलिये शायद वह बुढ़िया का रूप बना सीता के पास पहुँची। सीता का मन लेने के लिये उसने दूर की चाल चली। सीता के रूप और सौन्दर्य की प्रशंसा कर, स्वयं तपकर अगले जन्म में अपने लिये वैसे ही रूप सौन्दर्य की कामना की। इस पर सीता ने उसे फटकारा कि पति कैसा भी हो स्त्री को उसी में संतोष करना चाहिए। साधना का लक्ष्य मोक्ष होना चाहिए न कि रूप और सौन्दर्य। चन्द्रमुखी ने ताड़ लिया कि रूप और सौन्दर्य जैसी भौतिक बातों की अपेक्षा, सीता आत्मा में विश्वास करती है, इसलिए उसे डिगाना कठिन है। उसने जाकर रावण से साफ कह दिया कि सीता देवी को डिगाना कठिन है। रावण खिन्न हो उठा और सीता के अपहरण के लिए विमान में बैठकर चल पड़ा। चित्रकूट में पहुँचकर उसने देखा कि प्रकृति की रमणीयता ने रमणी के सौन्दर्य में चार चाँद लगा दिये हैं। रावण के मामा मारीचि ने सोने के मृग का रूप धारण कर राम को भरमाया और रावण सीता को लेकर चलता बना। इधर राम सीता के वियोग में दुःखी थे और उधर सीता रावण की निरंकुशता से आतंकित। राम उनकी खोज में लगे रहे, पर कुछ पता नहीं चला। अभी अयोध्या में दशरथ जीवित थे। उन्होंने सपने के आधार पर बताया कि सीता को रावण हर ले गया है। शत्रुघ्न भी राम की सहायता के लिये आ गये। सुग्रीव और हनुमान भी उनके सहयोगी बन गये। राम ने भी सुग्रीव को उसके भाई बालि से राज्य दिलवाने का वचन दिया। हनुमान सीता की खबर लेने लंका गया, और भ्रमर का रूप धारण कर उसने सीता से भेंट की। उसे ढाढ़स बँधाया। जब वह राम के पास वापस आया तो उन्होंने उसे गले लगा लिया। उधर जब मंदोदरी को मालूम हुआ कि सीता उसकी ही लड़की है, तो उसने रावण को बहुत समझाया, पर व्यर्थ।

(६) राम, युद्ध की अपेक्षा शांति के पक्ष में थे। तलवार से अधिक महत्त्व वह बातचीत को देते थे। इसलिये लक्ष्मण

के विरोध के बावजूद भी राम ने हनुमान को एक सेनापति की हैसियत से दूत बनाकर भेजा। हनुमान और रावण में वार्ता हो ही रही थी कि दूसरे योद्धाओं ने उसका अपमान कर दिया। हनुमान आगबबूला हो गया। वह चुनौती देकर आ गया। अब युद्ध के बिना चारा नहीं था। राम ने कूच कर दिया। बीच में उन्होंने विद्याएँ सिद्ध कीं। दोनों दलों में जमकर लड़ाई हुई, और रावण लक्ष्मण के हाथ से मारा गया। युद्ध के उस अग्निकुंड में सोने की लंका जलकर राख हो गई। सारा दृष्य करुणा से भर उठा। रावण के अन्तःपुर से जो हाहाकार उठा उसमें मंदोदरी का स्वर सबसे ऊँचा, करुण और गंभीर था। बिभीषण भी आत्मग्लानि में डूबा जा रहा था कि उसने अपने भाई से विद्रोह क्यों किया। रावण की शव यात्रा निकली राम भी उसमें सम्मिलित हुए। पुष्पदंत की रामकथा का यह सबसे अधिक मानवी प्रसंग है। रावण के जीवन का शब्दचित्र कवि के शब्दों में देखिए :—

रामाएसें जगकंपावणु
चउहिं जणहिं उच्चाइउ रावणु,
होइ सुरिंदु वि गयगुणसारउ
परयारेण सव्वु लहुयारउ ॥म० पु० २,७८,२५,६–७॥

राम की आज्ञा पाकर जग को कँपा देनेवाले रावण को चार लोगों ने कंधों पर उठा लिया। रावण तो रावण था। इन्द्र भी यदि दूसरे की स्त्री का हरण करे तो उसे हलका देखना पड़ता है। जीवन की क्षणभंगुरता और मनुष्य की अनैतिकता का सुन्दर व्यंग्य-चित्र इस शव-यात्रा के वर्णन में अंकित है। राम को व्यक्तिगत कारण से रावणसे लड़ना पड़ा, किसी सांस्कृतिक घृणा या जातीय द्वेष के कारण नहीं। बाद में राम ने पहला जो काम किया, वह था ग्रह-नक्षत्रों और ब्राह्मण-ज्योतिषियों की पूजा। फिर मंदोदरी को सान्त्वना और विभीषण को राजपाट देकर वह दिग्विजय के लिये निकल पड़े। तीनों खण्ड धरती जीतकर वह अयोध्या वापस आये। बहुत समय तक राज्य करने के बाद लक्ष्मण की मृत्यु हो गई। इस घटना से राम का मन संसार से ऊब गया। उन्होंने शिवगुप्त नाम के जैन आचार्य से दीक्षा ले ली और तप कर अंत में मोक्ष लाभ किया।

(७) प्रस्तुत विश्लेषण का पहला निष्कर्ष यह है कि पुष्पदंत की रामकथा में राम का वर्तमान जीवन उनके पूर्व जन्म की एक प्रतिक्रिया थी। बहुविवाह, बहुपत्नी प्रथा, कैकेयी के वरदान से राम के सुख-दुःख का कोई सीधा संबध नहीं। कैकेयी और भरत के प्रसंगों की तरह रामचरित की उत्तरकालीन घटनाएँ भी इसमें नहीं हैं। राम की लंका यात्रा किसी घरेलू घटना का परिणाम नहीं थी। वह जैसे उनकी दिग्विजय के अभियान का ही एक अंग थी। इसलिये लंका विजय के बाद राम, सीधे घर न जाकर, दिग्विजय के लिये चले जाते हैं। सीता के शील पर कवि को इतनी श्रद्धा है कि सामाजिक अविश्वास को दूर करने के लिये अग्निपरीक्षा की कल्पना उसे असह्य है। उसकी दृष्टि राम की वियोग वेदना के चित्रण तक ही सीमित है, सीता के चरित्र की परीक्षा का प्रश्न उसके सम्मुख है ही नहीं। पुष्पदंत की रामकथा सामाजिक घटनाओं और पारिवारिक संवेदनाओं को समेट कर नहीं चलती, वह कर्म सिद्धान्त की अटल रेखा पर चलती है। विस्तारभय से अभी यह बात उठाना ठीक नहीं कि कवि के इन परिवर्तनों के मूल स्रोत क्या हैं। पर यह स्पष्ट है कि उनकी रामकथा में पूर्ववर्ती सभी कथाओं का मिश्रण है। घटनाएँ परंपरागत हैं, पर उनके संदर्भ में और परिणाम नए हैं। उन पर कवि के विचारों की छाप है। प्रमुख पात्रों के चरित्र और मुख्य घटनाओं के अंकन में कवि के जीवन निष्कर्ष प्रयत्न पूर्वक प्रतिफलित हुए हैं। उदाहरण के लिए कवि का यह धार्मिक विश्वास था कि प्रत्येक भौतिक कामना मनुष्य के चरित्र को गिराती है। आध्यात्मिक लक्ष्य के बिना मनुष्य के चरित्र में दृढ़ता नहीं आ सकती ! उसके इस विश्वास को ठीक इसी रूप में उस प्रसंग में देखा जा सकता है जब रावण की बहन पहले-पहल सीता को फुसलाने आती है। कवि पुष्पदंत की सामाजिक आदर्शों में उतनी आस्था नहीं थी, जितनी आध्यात्मिक आदर्शों में। इसलिये इस उद्देश्य से मेल खानेवाली घटनाओं को ही उन्होंने अपनाया है। हो सकता है इसका कारण कवि का एकाकी जीवन हो। पुष्पदंत की कथा के अनुसार राम एक सामन्तकुमार थे। उनका बचपन आमोद-प्रमोद में बीता और यौवन विलास एवं दिग्विजय में। पुरुषार्थ और त्याग की उनमें कमी नहीं थी, पर उसका उपयोग उन्होंने आध्यात्मिक जीवन में किया। राम के स्वभाव में भारतीय राजनीतिज्ञों की वह नीति अंकित है जो युद्ध के बजाय शान्ति में विश्वास रखती है। साहित्य और भाषा की दृष्टि से उनकी इस कथा का महत्त्व इनसे भी अधिक है, क्योंकि उसमें काव्य का अलंकरण और भाषा की सजीवता का मेल कवि की भावुक प्रतिभा का सुन्दर प्रतीक बन गया है।

अपभ्रंश भाषा के सन्धिकालीन महाकवि रइधू

(ले० राजाराम जैन, एम०ए०)

व्यक्तित्व और कृतित्व :—

अपभ्रंश-साहित्य के इतिहास में महाकवि रइधू अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। पुराण, आख्यान, चरित, सिद्धान्त, आचार एवं अध्यात्म जैसे विभिन्न विषयों पर उनकी समर्थ लेखनी से कई प्रतिनिधि रचनाओं का सृजन हुआ है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी रचनाओं में लिखित प्रशस्तियों के माध्यम से मध्यकालीन इतिहास, संस्कृति एवं कला के उन रूपों को भी अभिव्यक्ति दी है जो प्रचलित इतिहास के ग्रंथों में कई कारणोंवश स्वतंत्रतापूर्वक नहीं लिखे जा सके थे। इसके अतिरिक्त एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी रचनाएँ उस काल में लिखी गई थीं जब कि अपभ्रंश भाषाएँ हिन्दी का रूप लेती जा रही थीं। अतः रइधू-साहित्य सन्धिकालीन होने के कारण भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अपना एक विशेष महत्व रखता है।

महाकवि रइधू अत्यन्त सहृदय एवं भावुक कवि थे। उन्होंने अपना सारा जीवन परोपकार में ही लगा दिया था। उनकी जितनी भी रचनाएँ हैं वे प्रायः सभी उन्होंने अपने भक्तजनों के निमित्त लिखी थीं। अपने आचार-विचार एवं कवित्व-शक्ति से उन्होंने अपने समकालीन गोपाचल-नरेश डूंगरसिंह तथा उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह को अपना परमभक्त बना लिया था। उन्हीं के समय में ग्वालियर का किला जैन संस्कृति एवं इतिहास का गढ़ बना। कहते हैं कि लगभग ३३ वर्षों तक वहाँ जैन मूर्तियों का निर्माण-कार्य होता रहा, जिसमें राजा डूंगरसिंह एवं कीर्तिसिंह ने लाखों रुपये व्यय किए थे।

अतः राजाओं के साथ ही कवि ने अपने जिज्ञासु भक्तों, नगरसेठों एवं भट्टारकों आदि की विस्तृत प्रशस्तियाँ लिखकर एक ओर जहाँ उन्हें युगों-युगों तक अमर कर दिया, वहाँ निज का ऐसा कोई विशिष्ट परिचय अपनी रचनाओं में नहीं दिया जिससे कि उनका सर्वांगीण जीवन चित्रित किया जा सके। फिर भी उनकी कुछ ग्रन्थ-प्रशस्तियोंके आधार पर मधुकरी-वृत्ति से जो कुछ भी पता चल सका है उसके अनुसार उनके जीवन का परिचय इस प्रकार है :—

कवि परिचय :—

महाकवि रइधू काष्ठासंघ माथुरगच्छ के एक भट्टारकीय विद्वान् एवं महाकवि थे। वे सम्भवतः पवायां (पद्मावती, ग्वालियर) के निवासी थे। वे जाति के पद्मावति पुरवाल थे। इनके पितामह का नाम था संघपति देवराय तथा माता का विजयश्री और पिता का नाम था हरिसिंह संघवी[1]। हरिसिंह संघवी एक सम्मानित विद्वान् एवं कवि थे। उनका यही पाण्डित्य एवं कवित्व रइधू को विरासत में मिला था जिसका कि भान सम्भवतः उन्हें न था। एक दिन जब वे अपने जीवन का लक्ष्य निश्चित न कर सकने के कारण व्यग्र एवं निराश थे तभी उन्हें निद्रा आ गई। उसी स्थिति में उन्हें सरस्वती देवी ने स्वप्न देकर काव्य रचना की प्रेरणा दी :—

सिविणंतरे दिट्ठ सुयदेवि सुपसण्ण।
आहासए तुज्झ हउं जाए सुपसण्ण॥
परिहरिहि मणचिंत करि भव्वु णिसु कव्वु।
खलयणहं मा डरहि भउ हरिउ मइ सव्वु॥
तो देविवयणेण पडिउवि साणंदु।
तक्खणेण सयणाउ उठ्ठिउ जि गयतंदु॥ (सन्मति० १।४।२–४)

अर्थात् "प्रमुदित (मना) सरस्वती देवी ने स्वप्न में (मुझे) दर्शन दिया, (तथा) कहा (कि) मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ। मन की चिन्ता छोड़, हे भव्य, (तू) निरन्तर (प्रतिदिन) काव्य (रचना) किया कर। दुर्जनों से मत डर, (क्योंकि) भय सम्पूर्ण

(१) दे सन्मति० १०।२८।११–१३

बुद्धि का अपहरण कर लेता है। उस देवि के वचनों से प्रतिबुद्ध हो (मैं) आनन्दित हो उठा। उसी समय मेरी निद्रा टूट गई (और मैं) बिस्तर से उठ बैठा।" इस स्वप्न ने कवि को प्रबुद्ध चित्त बना दिया था। यही कारण है कि वे अपने अल्प जीवन में भी ऐसे विशाल अपभ्रंश साहित्य का निर्माण कर सके कि जिससे स्वयं एक छोटा सा स्वतंत्र ग्रंथालय बन सकता है। उनकी रचनाओं में से अभी तक २३ कृतियों का पता चल सका है, जो विभिन्न शास्त्रभंडारों में सुरक्षित हैं तथा अब प्रकाशन की राह जोह रही हैं। उनकी उपलब्ध रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं :—

रचनाएँ :— (क) पुराण साहित्य– (१) हरिवंश पुराण तथा (२) महापुराण।

(ख) कथा-साहित्य– (१) पुण्याश्रव कथा कोष (२) अणथमी कथा तथा (३) सम्यकत्व कौमुदी।

(ग) चरित-साहित्य– (१) पार्श्वचरित (२) सुकौशल चरित, (३) मेघेश्वर चरित (४) पद्मचरित। (५) धन्यकुमार चरित (६) सन्मति जिन चरित। (७) जीवन्धर चरित (८) करकंडु चरित (९) श्रीपाल चरित तथा (१०) यशोधरचरित।

(घ) आचार तथा सिद्धान्त–(१) वृत्तसार (२) उपदेशरत्नमाला (३) आत्मसंबोध काव्य (४) सम्यक्त्वगुणनिधान (५) सम्यक्त्व गुणारोहण तथा (६) सिद्धान्तसार।

(च) पूजा-पाठ– (१) दशलक्षण जयमाल तथा (२) सोलहकारण पूजा एवं जयमाल।

उक्त रचनाओं की नामावली तथा विषय प्रकार देखने से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि कवि का ज्ञान बहुमुखी तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं पर उसका असाधारण अधिकार था। कवि की रचनाओं में अपने आश्रयदाताओं के प्रति आशीर्वचन संस्कृत श्लोकों में लिखे गये हैं। उनके संगठन एवं शैली को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि वे संस्कृत भाषा के भी अच्छे विद्वान् थे। छन्द एवं शब्दशास्त्र का व्यवस्थित ज्ञान तथा काव्यों में स्वाभाविक प्रवाह रहने पर भी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की छटा दर्शनीय है। शान्त रस की प्रमुखता होने पर भी रइधू-साहित्य में प्रसंगवश शृंगार, वीर, रौद्र, वीभत्स आदि विविध रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है। कल्पनाएँ मानवीय एवं लोकोक्तियां तथा मुहावरे जन सामान्य के बीच के ही प्रयुक्त हुए हैं। प्रकृति-चित्रण एवं नगर-वर्णन जहाँ एक ओर कवि के रचना-कौशल की सूचना देते हैं, मालव-जनपद का एक सजीव इतिहास भी उपस्थित करते हैं।

काल-निर्णय :—

महाकवि रइधू की जन्मतिथि अथवा कार्यकाल के प्रारम्भ की कोई भी स्पष्ट सूचना उनकी रचनाओं में नहीं मिलती यह पहले ही कहा जा चुका है, फिर भी हम निम्न वाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर कार्यकाल के प्रारम्भ आदि का निर्णय इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) महाकवि रइधू ने अपनी एक रचना "सम्मत्त गुणणिहाण कव्व" में उसका समाप्तिकाल वि० सं० १४९२ दिया है। इसकी रचना कवि ने तीन मास के अल्पकाल में ही की थी[1]। प्रस्तुत कृति में इनकी पूर्ववर्ती किसी भी रचना का उल्लेख नहीं है।

(२) कवि का एक अन्य ग्रन्थ "सुकोसल चरिउ" है, जिसकी रचना वि० सं० १४९६ में समाप्त हुई थी[2]। इसमें कवि ने अपनी पूर्वरचित (१) नेमिचरित, (२) पार्श्वचरित तथा (३) बलभद्र पुराण नामक तीन रचनाओं का उल्लेख किया है[3]। "नेमिचरित" के निर्माण में ब्रह्मचारी खेल्हा[4] की काफी प्रेरणा कवि को मिली। ब्र० खेल्हा भट्टारक गुणकीर्त्ति के शिष्य अथवा भक्त थे। इन भ० गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८–७३ है[5]। अपनी एक अन्य

(१) दे० सम्मत्त०—४।३४।८–११
(२) दे० सुकोसल०—४।२३[illegible]
(३) दे० सुकोसल०— १।४।५–[illegible]
(४) दे० हरिवंश०— १।३।३।११
(५) दे० भट्टारक सम्प्रदाय–पृ० २४६

कृति "धन्यकुमारचरित" में कवि ने इन्हीं भ० गुणकीर्ति को अपना गुरु[1] भी माना है। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि ने १४६८ से १४७३ के मध्य तक अपनी रचनाओं का लेखन प्रारम्भ कर दिया था। "नेमि चरित" में कवि ने अपनी जिन सात रचनाओं का उल्लेख[2]. किया है उनके परिमाण को देखते हुए उक्त काल उपयुक्त भी प्रतीत होता है। इस प्रकार वि० सं १४६८–७३ के बीच का समय कवि के ग्रंथ लेखन का प्रारम्भकाल माना जा सकता है।

(३) कवि महिन्दु कृत अपभ्रंश-भाषा के "शान्तिनाथ-चरित" में उल्लिखित पूर्ववर्ती कवियों में महाकवि रइधू का भी स्मरण किया गया है[3]। उक्त रचना वि० सं० १५८७ में लिखी गई थी[4]। इससे विदित होता है कि कवि रइधू उक्त समय के पूर्व हो चुके थे।

(४) महाकवि रइधू कृत "पार्श्वपुराण" की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि वि० सं० १५४९ की चैत्र शुक्ल एकादशी, शुक्रवार को लिखी हुई प्राप्त होती है, जो कि हिसार के महावीर चैत्यालय में सुलतान शाह सिकन्दर के राज्यकाल में लिखी गई थी, और वह मूल रचना से कुछ वर्ष बाद की ही प्रतिलिपि जान पड़ती है[5]।

(५) रइधू ने अपनी एक रचना "नेमिचरित" में कनकाद्रि (सोनागिर, मध्यप्रदेश) में भ० कमलकीर्ति (वि० सं० १५०६–१०) के एक पट्ट की स्थापना का उल्लेख किया है, जिसका कि पट्टधर भ० शुभचन्द्र को बनाया गया था[6]। भ० शुभचन्द्र का समय० वि सं० १५३० निश्चित है[7]। इस उल्लेख से उक्त काल तक कवि के जीवित रहने की सूचना मिलती है।

(६) कवि की रचनाओं में उपरोक्त भट्टारक शुभचन्द्र (वि० सं० १५३०) तथा राजा कीर्तिसिंह के बाद की ऐसी कोई घटना या नामोल्लेख प्राप्त नहीं होता जिससे कि उनके जीवित रहने की सूचना मिलती हो। कीर्तिसिंह का मृत्युकाल वि० सं० १५३६ है[8]। अतः यही रइधू के जीवन काल की अन्तिम अवधि हुई। इस प्रकार कवि का कार्यकाल वि० सं० १४६८ से १५३६ तक माना जा सकता है।

रचनाओं का परिचयः—

सम्यक्त्वगुणनिधानकाव्य :—

प्रस्तुत ग्रन्थ महाकवि रइधू की सिद्धान्त-परक एक सुन्दर रचना है, जिसमें संक्षिप्त आख्यान के माध्यम से सम्यक्त्व का वर्णन सरस एवं सरल भाषा में किया गया है। इसमें ४ संधियाँ हैं तथा कुल १०४ कडवक। प्रथम सन्धि के १९ कडवकों में कवि ने अपने गुरु यशःकीर्ति भट्टारक का स्मरण, गोपाचल नगर तथा उसके राजा डूंगरसिंह का विस्तृत परिचय एवं अपने आश्रयदाता संघपति कमलसिंह की प्रशंसा करने के बाद ग्रंथ के विषय का सामान्य परिचय दिया है और इसी में प्रथम सन्धि समाप्त हो जाती है[1]।

द्वितीय संधि के २२ कडवकों में कवि ने सम्यग्दर्शन के प्रथम निःशंकित-अंग का वर्णन किया है, जिसमें अंजन चोर का कथानक लिखकर विषय को काफी रोचक बना दिया है।

तृतीय संधि के २७ कडवकों में कवि ने सम्यक्त्व के अन्य अंगों–निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण एवं वात्सल्य का निरूपण करके अन्तिम चतुर्थ-सन्धि के ३६ कडवकों में प्रभावना अंग का वर्णन किया है।

---

(१) दे० धन्यकुमार—१।१।१०; १।२।१–१०; १।३।१; १।४।८–९; ४।१९।११
(२) दे० हरिवंस० १।३।६-१०
(३) दे० अनेकान्त ५।२५४
(४) दे० वही० ५।२५३
(५) दे० वही० ५।४०२
(६) दे० हरिवंस १।२।१२–१३
(७) दे० भट्टारक० पृ० २४७
(८) दे० अनेकान्त १०।३८४

उक्त रचना की आदि व अन्त की प्रशस्तियाँ इतिहास की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। इनमें कवि ने अपने समय के गोपाचल नगर की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का सुन्दर दिग्दर्शन कराया है[1]।

इस ग्रंथ की रचना महाकवि रइधू ने साहू कमलसिंह की प्रेरणा से की थी। रचना प्रारम्भ होने के पूर्व कमलसिंह इसकी सूचना राजा डूंगरसिंह को देते हैं तो वे प्रत्युत्तर में कहते हैं :—

पुण्णु कज्जु जं तुव मणि रुच्चइ, तं विरयहि खलु साहु समुच्चइ।
जे पुणु अण्ण के वि सुसहायण, करहु करहु ते धम्ममहायण।
किंपि संक मा किज्ज हु चित्तहें, संतुट्ठउ हउं धम्मणिमित्तहिं।
जहिं सोरठ्ठि बीसलणिव रज्जहिं, धम्मु पविट्ठउचिरुणिरवज्जहिं।
वच्छतेयपालक्खवणिंदहिं, पवरतित्थ णिम्मिय गयदंतहिं।
जिह पेरोजसाहि सुपसायं, जोइणिपुरि णिवसंत अमायं।
सारग (साण?) साहुणाम विक्खायं, पविहिय जत्त धम्मअणुराएँ।
तिह तुहुं विरयहि एत्थु गुणायरु, लइ लइ पउरु दव्वु धम्मायरु।
न सु जेत्तडउ (दव्वु?) विरिअच्छइं, सो मयलु जि वेक्खउ कयणिच्छइं।
ऊणइ हउं असेसु पूरेसमि, जं जं मग्गहु तं तं देसमि।
पुणु पुणु एम तेण तहिं भणिउं, पुणु तंबोलु देवि सम्माणिउ।
पुणु सुरिताण सीह णियमिच्चहु, सामिय धम्मचिंतियमणिच्चहु।
तहु आएसु णिवेण पुणु दिण्णउ, किज्जहिं धम्मसहाउ अछिण्णउ।
कमलसीहु जं तुम्ह भासइ, तं तहु पविहिज्जहि सुसमासइ।
भणिवि पसाउ तेण पडिवण्णउ, अज्जु सामि किंकरु हउं धण्णउ॥

सन्मति ० १।१५।७-२३॥

उक्त पद्य में राजा डूंगरसिंह साहू कमलसिंह को संबोधित करते हुए कहते हैं कि तुम्हारे मन में जो पुण्य कार्य करने की अभिरुचि जाग्रत हुई है उसे तुम निश्चित मन से पूरा करो। इस प्रसंग में अपनी धार्मिक नीति एवं उदार वृत्ति की तुलना डूंगरसिंह ने सोरठ (सौराष्ट्र) देश के राजा बीसलदेव (समय —??) महामंत्री वस्तुपाल— तेजपाल तथा जोगिनीपुर (दिल्ली) के राजा पेरोजशाह (फीरोज शाह?) से करते हुए कहा कि मुझे भी तुम वैसा ही समझो और धर्म संबधी जो भी कार्य करना चाहो उसे करो। यदि उसे पूरा करने में तुम्हारे पास द्रव्य की कमी आ जावे तो उसे मैं पूरा करूँगा। तुम जो-जो मांगोगे मैं वही-वही (मुहमाँगा) दूंगा। इतना ही नहीं, उक्त आश्वासन के साथ राजा ने पान देकर उसे सम्मानित भी किया। राजा के इस व्यवहार से कमलसिंह का मन बहुत ही संतुष्ट एवं प्रसन्न हुआ और उसने अपने को धन्य माना।

महाराज डूंगरसिंह का उदार धार्मिक नीति सम्बन्धी उक्त कथन अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। ग्वालियर दुर्ग में उनके द्वारा निर्मित प्रचुर जैन मूर्त्तियाँ इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। रइधू ने ग्वालियर-नगर के दो जैन विहारों का उल्लेख भी किया है जहाँ के "सुकवित्त रसायणणिहि रसालु" वातावरण में कवि ने अपनी रचनाएँ लिखी थीं :—

एरिस सावयहि वि विहियमाणु णेमीसरजिणहरि वड्ढमाणु
णिवसइ जा रइधू कइ गुणालु सुकवित्तरसायणणिहि रसालु॥ दे० सम्मत० १।६।१९–२०॥

इसके पश्चात् कवि ने एक बड़ा ही मार्मिक प्रसंग उपस्थित किया है। वह जिस समय रचना प्रारम्भ करने को सोचता है उसी समय उसका मन दुर्जनों की दुष्ट प्रवृत्तियों के कारण सशंक हो उठता है, अतः वह अपने ग्रन्थ प्रेरक से कहता है :—

(१) दे० वही० १।३; १।४; १।५; १।६
(२) दे० सम्मत ० आदि-प्रशस्ति
(३) दे० वही ० १।३; १।४; १।५; १।६.

दुज्जण जणमुह पयडें दीसहिं पउर जि दोस गहा।
तिं हउँ संकमि चित्त कहिवि ण सक्कमि धम्मकहा ॥ (दे० वही० १।१६।८–९)

इसके समाधान में साहू कमलसिंह उनकी विद्वत्ता, शील, सयम, अध्ययन, मनन आदि का वर्णन करते हुए एवं उन्हें सान्त्वना देते हुए कार्यारम्भ की प्रार्थना करते हैं :—

संघाहिवेण तातहु पउत्तु, भो कइपहाण णिसुणहि णिरुत्तु।
दुज्जण सज्जण ससहाव होंति, अवगुण गुणाइं ते सइं जि लिंति ॥
जिह उण्ह सीय रवि-ससि णहम्मि, णिय पयइ ण मेल्लहिं पुणु कहम्मि।
चंदहु उज्जोयं तसइं साणु, ता किं सो छंडइ णियय ठाणु ॥
जइपुणु वि उलूवहु दुक्खहेउ, ता रविमुएवि किं णिययतेउ।
जइतक्करु साहुहु णउ सहेइ, ता किं सो जग्गंतउ रहेइ ॥
जूवासएण किं कोवि वत्थु, छंडइ मणु तणु इत्थु[1] जि पसत्थु।
णामें सम्मत्तगुणाहिहाणु, करि कव्व भव्व तिजयह पहाणु ॥
तातहु पउत्तु पडिवण्णु तेण, आढत्तु सच्छु खणि पंडिएण। (दे० वही० १।१६।१–९)

उक्त उत्तर आगे भी काफी विस्तृत है लेकिन यहाँ संक्षेप में ही दिया गया है। कवि ने वस्तुतः कथोपकथन की इस शैली में अपने पाण्डित्य की सूचना, ग्रन्थ प्रेरक की कवि के प्रति श्रद्धाभक्ति आदि का परिचय कराने के लिये ही उक्त प्रसंग उपस्थित किया है। प्रस्तुत रचना में कवि ने ग्रन्थ समाप्ति का काल वि० सं० १४९२ भाद्रपद पूर्णिमा, मंगलवार देते हुए कहा है कि इसे उसने ३ मास में ही समाप्त किया है[2]।

सुकौशल चरित :—

यह खण्ड काव्य की परम्परा में लिखा गया एक सुन्दर ग्रन्थ है जिसकी ४ सन्धियों के ७४ कडवकों में सुकौशल-मुनि के पावन चरित का वर्णन किया गया है। कवि ने प्रथम सन्धि के कुछ कडवकों में पुराणों के समान ही छह कालों का नाम निर्देश करते हुए कुलकरों एवं भगवान् ऋषभनाथ की उत्पत्ति-चर्चा की है। इसके बाद की तीन संधियों में सुकौशल-मुनि के वंश का परिचय, उनके जन्मोत्सव एवं दीक्षा तथा अन्तिम चतुर्थ सन्धि में उनके निर्वाण-गमन का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह रचना तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह (वि०सं०१४८१–१५१०) के राज्यकाल में श्री आणासाहु के सुपुत्र श्री रणमलसाहु के निमित्त ग्वालियर में लिखी गई थी।

इस रचना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें कवि ने रचना समाप्ति का काल वि० सं० १४९६ माघवदी १०, अनुराधा नक्षत्र दिया है, जिसके कारण इनकी कई रचनाओं के निर्माण-क्रम तथा जीवन तिथि का निर्णय करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। प्रस्तुत रचना में कवि ने अपनी हरिवंशपुराण, पार्श्वचरित तथा बलभद्रपुराण इन तीन रचनाओं का उल्लेख किया है[3]। इससे यह निश्चित हो जाता है कि इन रचनाओं का प्रणयन सुकौशल चरित से पूर्व ही हो चुका था।

डा० रामजी उपाध्याय ने "सुकौशल चरित" को अपभ्रंश काल की अन्तिम रचना माना है[4]। लेकिन वह सर्वथा अनुपयुक्त है, क्योंकि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना सं० १४९६ में समाप्त हुई थी। किन्तु महाकवि रइधू की ही एक अन्य रचना "सम्यक्त्व कौमुदी" महाराज कीर्तिसिंह के समय में लिखी गई थी, जिनका राज्यकाल १५१०–३६ वि० सं० रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विजयसेन, खेमकीर्ति तथा हेमकीर्ति नामक भट्टारकों का उल्लेख मिलता है[5]। मध्यकालीन माथुर गच्छ की परम्परा का आरम्भ माधवसेन (वि० सं० १३५७–७३) से होता है। आगे चलकर इनके दो शिष्य उद्धरसेन तथा

---

१. इत्थि ?
२. दे० सम्मत० ४।३४।८–११
३. दे० वही १।४।५–८
४. जै० सि० भा० १०।२।५५
५. दे० वही १।२।१–१२

विजयसेन से इसीकी दो परम्पराएं बन गईं। प्रथम परम्परा में उद्धरसेन के बाद क्रमशः देवसेन, विमलसेन धर्मसेन, भावसेन सहस्रकीर्ति एवं गुणकीर्ति भट्टारक हुए। द्वितीय विजयसेन की परम्परा में श्रेयांससेन, अनन्तकीर्ति, कमलकीर्ति, क्षेमकीर्ति तथा हेमकीर्ति नाम के भट्टारक हुए[1] प्रस्तुत रचना में कवि ने उक्त द्वितीय परम्परा के संस्थापक भ० विजयसेन तथा उनके बाद क्रमशः छठवें एवं सातवें भट्टारक क्षेमकीर्ति एवं हेमकीर्ति का उल्लेख किया है। हेमकीर्ति जो कि भ० कमलकीर्ति प्रथम (वि० सं० १४४३) के प्रशिष्य थे, का समय वि० सं० १४६९ रहा है[2]।

कवि ने एक अन्य भट्टारक कुमारसेन का उल्लेख अपने गुरुके रूप में किया है[3]। ये भ० कमलकीर्ति द्वितीय वि० सं० १५०६-१०) के शिष्य थे, जिनका कि समय संभवतः वि० सं० १५०६–१५३० के लगभग रहा है[4]।

प्रस्तुत रचना में भाषागत विशेषतायें भी पर्याप्त मिलती हैं। कवि ने बोलचाल के शब्दों का प्रायः प्रयोग किया है। कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो थोड़ा सा भी हेरफेर करनेसे ब्रज, अवधी, या बुन्देली के रूप ले लेते हैं। ऐसे शब्दों में टले (टलना ४,४,१७) झड़प्प (झड़पना, झपटना, १,६,११), चणिय (चढ़कर, १–६–१४), जोतिय, (जोतकर, १,६,१३), धूलु (धूल १,३,१२), चोजु, (बुन्देली; आश्चर्य, १,६,३) सल्ल (बुन्देली, शल्य ४, ६, १) आदि शब्द दृष्टव्य हैं।

इस रचना में कवि ने अपने गुरु तथा आश्रयदाता श्री रणमल्ल साहु आदि का परिचय देने के बाद जहाँ अपने लिये पण्डित, शीलवान् आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, वहाँ अपने लिये उसने जड़मति[5] एवं अगर्व[5] भी कहा है। इतना ही नहीं, आगे तो उसकी असमर्थता बड़ी ही मार्मिक बन पड़ी है और प्रतीत होता है कि उससे सम्भवतः महाकवि सूरदास को भी प्रेरणा मिली। रइधू कहते हैं :—

सुत्त अत्थ हीणउ हउं सामिय, किम पंगुल हवंति णहगामिय।
किं अतरंडु तरइ किं सायरु, किम अब्भिडइ रणंगणि कायरु।
वोक्कडु धूलु करिहु किं बोल्लइ, किम बछउ धवलह भरु भिल्लइ।
आसि कइंदहि चरिउ जि भासिउ, कह विरयमि हउं तं गेहासिउ।
पिंगल छंदुवि दुविहत्ति ण जाणवि, किम अप्पउ कवित्त गुणमाणवि॥

सूरदासजी कहते हैं:—

चरण कमल बंदौं हरिराई,
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरसाई।
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बंदौ तिहिपांई॥ (सूरसागर)

रइधू एवं सूर दोनों ही भक्त कवि हैं, लेकिन एक साहित्यकार पहिले है बाद में भक्त और दूसरा पहले भक्त है बाद में साहित्यकार। एक ईश्वरको सृष्टिकर्ता नहीं मानता, जब कि दूसरे का सारा जीवन-दर्शन ही उससे ओतप्रोत है। इस दृष्टि से एक ने गुरुचरणों को आलम्बन मानकर उसे अपनी काव्य शक्ति की प्रेरणा का स्रोत बनाया, तो दूसरे ने "हरिराई के चरण-कमलों" को। सिद्धान्तगत भेद कुछ भी हो, साहित्यिकता के नाते दोनों की स्वयं की असमर्थता एवं अपने आराध्य की अचिन्त्य शक्ति का चिन्तन दृष्टव्य है। सूरदास का जन्म सं० १५४० के लगभग हुआ था और रइधू का जन्म इससे लगभग ७०–८० वर्ष पूर्व। कोई असंभव नहीं, यदि रइधू की रचनाएं लोकप्रिय होने के कारण सूर के सम्मुख भी आ गई हों और रइधू के उक्त पद्य ने उन्हें विशेष प्रभावित किया हो तथा उसमें कुछ सम्पादन, संशोधन कर उसे अपनी विचार-धारा के अनुरूप बना लिया हो।

---

१. दे० भट्टारक पृ० २४५–४६
२. दे० भट्टारक पृ० २४७
३. दे० सुकौशल १।३।१–३
४–५. दे० भट्टारक० पृ० २४७
६. दे० सुकौशल० १।५।१

(४) मेघेश्वर चरित :—

मेघेश्वर चरित महाकवि रइधू का एक महाकाव्य है, जिसकी १२ संधियों के लगभग ३०४ कडवकों में भरत-चक्रवर्ती (ऋषभ-पुत्र) के सेनापति मेघेश्वर के चरित का वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ की रचना खेऊ साहू के निमित्त ग्वालियर में राजा डूंगरसिंह के समय में की गई थी। खेऊ साहू का विस्तृत परिचय इस ग्रन्थ की आदि एवं अन्त की प्रशस्तियों तथा प्रत्येक सन्धि के अन्त के संस्कृत श्लोकों में दिया गया है।

प्रथम संधि में २३ कडवक हैं, जिनमें प्रशस्ति -गान के साथ ही छहकालों का नाम-निर्देश किया गया है। द्वितीय संधि के १७ कडवकों में ऋषभदेव का गृहत्याग तथा तृतीय संधि के २४ कडवकों में ऋषभदेव के केवलज्ञान की उत्पत्ति, समोशरण की रचना और उसमें उपस्थित हुए जीवों के निमित्त द्रव्य के स्वरूप का वर्णन किया गया है। चतुर्थ एव पंचम संधियों के क्रमश: २४ एवं २१ कडवकों में छह खण्डों पर विजय प्राप्त करने के बाद भरत के दूत का बाहुबलि के पास गमन तथा बाहुबलि का गृहत्याग एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति का वर्णन है।

छठवीं सन्धि के २३ कडवकों में सुलोचना-स्वयम्बर तथा मेघेश्वर का अर्ककीर्ति (भरत-पुत्र) के साथ संग्राम का वर्णन है। तदनन्तर सातवीं सन्धि के २० कडवकों में सुलोचना-मेघेश्वर के पाणिग्रहण संस्कार का वर्णन किया गया है।

आठवीं सन्धि के ३२ कडवकों में कुबेर-मित्र के जीवन-भवों का वर्णन तथा उसकी स्वर्गप्राप्ति के उल्लेख के बाद नवमी सन्धि के ४० कडवकों में हिरण्यवर्म प्रजापति के पुनर्भवों का वर्णन है। दसवीं संधि के २१ कडवकों में भीम भट्टारक का निर्वाण-गमन तथा ग्यारहवीं-बारहवीं संधि के २४—२४ कडवकों में क्रमश: श्रीपाल-चक्रवर्ती का हरण तथा उसके मोक्ष-गमन का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। अन्तिम तेरहवीं संधि में १४ कडवक हैं जिनमें पूर्वार्द्ध में मेघेश्वर का निर्वाण-गमन एवं ग्रन्थ की अन्त-प्रशस्ति लिखी गई है।

काव्य-कला की दृष्टि से यह रचना उच्चकोटि की है। इसमें कवि ने दुवई, गाहा, चामर, घत्ता, पद्धडिया, समानिका, मत्तगयंद आदि विविध छन्दों में शृंगार, वीर, वीभत्स, रौद्र एवं शान्त आदि रसों की प्रसंग-वश सुन्दर उद्भावनाएं की हैं। इसका कथा भाग परम्परा-प्राप्त होने पर भी कवि ने अपनी नवीन शैली तथा उत्प्रेक्षा, उपमा, रुपक आदि अलंकारों की योजना करके उसे काफी सरस एवं आकर्षक बना दिया है।

आद्य प्रशस्ति में अन्य सूचनाओं के साथ ही कवि ने पूर्ववर्ती साहित्य एवं साहित्यकारों की खासी सूची उपस्थित की है जो निम्न प्रकार है :—

वाएसरि सुरसरि रयणायर। हुअ पुण आसि कइंद गुणायर ॥
सुय पवणो दुविय मिच्छारय। धीरसेणु[१] कइ चक्कि विहियदय ॥
देवणंदि[१] गणि विज्जामंदिरु। जेणविहिउ वायरणु महाविरु[१] ॥
छद्दंसणु पमाणु[२] पविसेणें[१]। विरयउ पालिय जिणवयसेणें ॥
पउमचरित्तु[३] भणिउं रविसेणें[४]। हरिवंसु[४] जि पायडु जिणसेणें[५] ॥
मेहेसरहु[५] चरिउ सुरसेणें[६]। चरिउ अणंगहु[६] दिणयरसेणें[७] ॥
पुणु वि सयंभु[८] महाकइ जायउ। चउमुहु[९] पुप्फयंतु[१०] विक्खायउ ॥
इय अवर वि जहिं वरकइ जाया। तिं कारणि महु फुरइ ण वाया ॥ (मेघेश्वर० १।९।१-१०)

उक्त कवियों में देवनन्दि गणि (अपर नाम पूज्यपाद आचार्य) तथा उनके द्वारा विरचित जैनेन्द्र-व्याकरण, आचार्य रविषेण तथा उनका पद्मचरित्त, जिनसेन तथा उनका हरिवंश पुराण प्रकाश में आ चुके हैं। इसी प्रकार महाकवि स्वयम्भू तथा पुष्पदन्त के विषय में भी जानकारी प्राप्त हो चुकी है।

पविसेन (वज्रसेन ?) कृत षड्दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ, एवं दिनकरसेन कृत "अनंग चरित" का उल्लेख कवि ने किया है, लेकिन इनकी जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। कवि ने एक अन्य रचना "मेघेश्वर-चरित" तथा उसके कर्ता सुरसेन का उल्लेख किया है। आमेर शास्त्र भन्डार में देवसेन कृत "सुलोचना चरित" की सं० १५६० की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि प्राप्त हुई है। असम्भव नहीं कि रइधू के सुरसेन यही देवसेन तथा सुलोचना-चरित ही मेघेश्वर चरित हो।

रइधू ने चउमुहु (चतुर्मुख, सम्भवत: ८वीं सदी के पूर्व) का भी उल्लेख किया है। इसके पूर्व महाकवि धवल (१०वीं

शती), नयनन्दि (११वीं शती), देवसेन गणि (१३१५ ई०के पूर्व) आदि ने उनका उल्लेख किया है। स्वयम्भू ने इनकी तीन रचनाओं का भी उल्लेख किया है (१) हरिवंश पुराण, (२) पउमचरिउ तथा (३) पंचमीचरिउ, किन्तु इनमें से कोई भी रचना उपलब्ध नहीं हो सकी है।

कवि ने इस रचना में गुणकीर्ति के पट्टशिष्य यशःकीर्ति भट्टारक (वि० सं० १४८६–९७) को अपना गुरु माना है, जिन्होंने कवि को आशीर्वाद दिया था कि "हे रइधू, तुम मेरे प्रसाद से विलक्षण बन जाओगे" इसके बाद कवि ने अपना रचना स्थान गोपाचल बताकर उसका वर्णन तथा राजा डूंगरसिंह और उनके पुत्र राजा कीर्तिसिंह का परिचय दिया है।

मेघेश्वर चरित की एक-दो ऐसी प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं जिनमें इस रचना के कर्ता के रूप में रइधू के स्थान पर सिंहसेन का उल्लेख है। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार ने सिंहसेन को रइधू का बड़ा भाई माना है, लेकिन यह कथन उचित नहीं है क्योंकि उनके भाईयों के नाम तो बाहोल एवं माहणसिंह थे, जिनका उल्लेख स्वयं रइधू ने किया है। श्रद्धेय प्रेमीजी ने रइधू एवं सिंहसेन को एक ही माना है। रइधू की ही एक अन्य रचना "सन्मति जिन चरित" में एक उल्लेख प्राप्त होता है, जिसमें खेल्हा नामक एक ब्रह्मचारी ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ भगवान् की मूर्ति का निर्माण करा कर भट्टारक यशःकीर्ति से धर्मोपदेश सुना। उसी समय उसके मन में एक इच्छा होती है कि वे महावीरस्वामी का पावन-चरित उसके लिये लिख दें। तब यशःकीर्ति महाकवि रइधू का परिचय देते हुए कहते हैं कि :—

एत्थु महाकवि णिवसइ सुहमण ॥
रइधू णामें गुणगणधारउ ।
सो णो लंघइ वयण तुम्हारउ ॥ (सन्मति० १।५।८–९)
तं णिसुणिवि गुरुणा गच्छहु गुरुणाई सिंहसेणि मुणेवि मणि ।
पुरु संठिउ पंडिउ सीलु अखंडिउ भणिउ तेण तं तम्मि खणि ॥ (दे० वही० १।५।१०–११)

आगे भी जितना कथन है वह प्रायः सभी रइधू पर लागू होता है। इस सबसे यह सिद्ध होता है कि रइधू का सम्भवतः दूसरा नाम सिंहसेन भी था।

हरिवंश पुराण :—

हरिवंश पुराण हरिवंश से सम्बन्ध रखने वाले चरितों की एक पिटारी है जिनका वर्णन महाकाव्य की शैली में किया गया है। कवि ने इसकी समाप्ति १४ संधियों के ३०२ कडवकों में की है। इस ग्रंथ का दूसरा नाम नेमिचरित अथवा नेमिपुराण भी मिलता है, लेकिन विषय सूची देखने से प्रतीत होता है कि इसका नाम हरिवंश पुराण ही उपयुक्त है, क्योंकि नेमिप्रकरण तो अन्तिम एक या दो संधियों में ही प्राप्त होता है। निम्नलिखित विवरण से इस ग्रंथ का विषय परिचय मिल सकता है :—

सन्धि	कडवक	विषय
१	१३	राजा श्रेणिक का समोशरण में जाना तथा वहाँ गौतम स्वामी से हरिवंश विषयक प्रश्न पूछना।
२	२१	ऋषभ-चरित का वर्णन।
३	१४	हरिवंशोत्पत्ति-वर्णन।
४	१८	वसुदेव दशा तथा उनके पूर्वभवों का वर्णन।
५	४२	वसुदेव का इधर-उधर भटकना, रोहिणी के साथ पाणिग्रहण संस्कार तथा बन्धु-बान्धवों से उनकी भेंट।
६	२२	कंस, बलभद्र तथा नारायण के भवों का वर्णन।
७	२०	नारायण का जन्मोत्सव तथा कंस का वध।
८	२५	पाण्डवों का जूए में हारना तथा उनका गुप्त देश-निर्वास।
९	२३	पाण्डवों का प्रकट होकर द्वारका जाना।

१—दे० मेघेश्वर० १।३।८.

१०	१८	प्रद्युम्न को विद्याप्राप्ति तथा उसका द्वारका-गमन।
११	३२	जरासंघ-वध तथा कृष्ण का राज्यादि सुखभोग।
१२	१३	द्रौपदी चीर हरण।
१३	१४	द्वारका -दहन।
१४	२७	अरिष्ट नेमि का परिनिर्वाण।

उक्त ग्रन्थ की रचना कवि ने जोगिनीपुर(दिल्ली)की उत्तर दिशा में स्थित किसी नगर में साहु लाहा के सुपुत्र साहु लोणा के निमित्त की थी। नगर के नाम का उल्लेख आरा की प्रति में 'झंणुझंणुपुर' आया है जो स्पष्ट नहीं होता। यह नगर हिसार, जहां रहते हुए कवि ने अपने कुछ ग्रन्थों की रचना की थी, नहीं हो सकता, क्योंकि कवि ने उसकी स्थिति जोगिनी पुर के पश्चिम में बतायी है[1]।

हरिवंश पुराण में रइधू ने महाकवि जिनसेन तथा रविसेण एवं उनके ग्रंथ क्रमशः महापुराण तथा पद्मचरित का उल्लेख किया है[2]। इससे प्रतीत होता है कि इन दोनों आचार्यों को रइधू अपनी रचनाओं के लिये आदर्श रूप मानते थे। जिनसेन एवं रइधू दोनों के हरिवंश पुराणों के मिलान करने पर कुछ बातों को छोड़ कर बाकी सभी लगभग समान हैं।

महाकवि रइधू ने प्रस्तुत रचना में अपनी पूर्ववर्ती निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है। रचनाओं के साथ उनके विशेषण दृष्टव्य हैं जिनसे कि रचनाओं के विषय भी ज्ञात हो जाते हैं। यथा :—

सिरितेसट्ठिपुरिसगुणमंदिरु, रइउ महापुराणु[1] जयचंदिरु।
तह मेहेरहु[2] सेणावइ चरियउ, कोमुइ कहपबन्धु[3] गुणभरियउ ॥
जसहरचरिउ[4] जीवदयपोसणु, वित्तसारु[5] सिद्धंत पयासणु ।
जीमंधरहु[6] वि पासह चरिउ, विरइवि[7] भुवणत्तउ जसभरिउ ॥दे० हरिवंश० १।३।६–९॥

रइधू की इस कृति में यह उल्लेख मिलता है कि भ० कमलकीर्ति(वि० सं० १५०६–१०)का एक पट्ट कनकाद्रि (सोनागिर, म० प्र०) में स्थापित किया गया था जिसके पट्टधर भ० शुभचन्द्र[3] (वि० सं० १५३०) थे। रइधू की इस ऐतिहासिक सूचना से यह पता चलता है कि कनकाद्रि इस समय विद्या का अच्छा केन्द्र बना हुआ था।

बलभद्र पुराण :—

बलभद्र पुराण का अपर नाम रामचरित अथवा पद्मचरित भी है। इसमें ११ संधियाँ तथा लगभग २४० कडवक हैं। इसकी रचना ग्वालियर के श्री बाटुसाहु के सुपुत्र श्री हरसी साहु के निमित्त की गई थी। इस ग्रन्थ में कवि ने बड़ी ही मार्मिक शैली में राम, सीता, लक्ष्मण, रावण आदि का चरित्रचित्रण किया है।

आद्य प्रशस्ति में कवि ने मंगलाचरण के बाद भ० देवसेन, बिमलसेन, धर्मसेन, भावसेन सहस्रकीर्ति, यशःकीर्ति (वि० सं० १४८६-९७) तथा उनके एक अन्यतम शिष्य खेमचन्द्र नामक भट्टारक का उल्लेख किया है[4]। उक्त भट्टारकों में यशः कीर्ति का समय ही निश्चित ज्ञात हो सका है, बाकी के भट्टारक उनसे पूर्व हुए हैं लेकिन उनका समय ज्ञात नहीं हो सका है[5]।

प्रस्तुत रचना में कवि ने अपना गुरु श्रीपाल ब्रह्म[6] आचार्य को माना है, जो कि यशः कीर्ति के तीन शिष्यों में से तृतीय थे। इसमें कवि ने अपनी एक पूर्ण रचना का भी उल्लेख किया है, जिसका नाम है "हरिवंशपुराण" या नेमिचरत, जो कि सोढ़ल नामक किसी मुमुक्षुजन के निमित्त लिखी गई थी[7]।

१—दे० सम्मति० १।६।४
२—दे० हरिवंश १।२।९–१०
३—दे० हरिवंश १।२।१२–१३
४—दे० बलभद्र १।१।९–१४
५—दे० भट्टारक०पृ०२४६
६—दे० बलभद्र १।४।८
७—दे० वही १।४।९–१०

स्वयं का परिचय देते हुए कवि ने इस रचना में बताया है कि उसने पद्मावति पुरवाल वंश में हरिसिंह संघपति के यहाँ पुत्ररूप में जन्म लिया था[1]। वे तीन भाई थे बाहोल, माहणसिंह एवं रइधू :—

सिरि पोमावइ पुरुवाल वंसु, णंदउ हरिसिंघु संघवी जासु संसु

घत्ता—'बाहोल माहणसिंह चिरुणंदउ इह रइधू कइ तीयउ वि धरा।

मोलिक्क समाणउ कलगुण जाणउ णंदउ महियलि सो वि परा॥ (बलभद्र० ११।१७।१०–१२)

कवि ने अपने पाण्डित्य का परिचय कथनोपकथन की शैली में बड़े ही अद्भुत ढंग से दिया है। नगरसेठ श्री हरसिंह साहु ने किसी समय महाकवि रइधू की प्रशंसा सुनी होगी। वे उनकी सेवा में पहुँचते हैं और विनयपूर्वक प्रार्थना करते हैं :—

भो रइधू पंडिय गुणणिहाणु, पोमावइ वरवंसहं पहाणु।

सिरिपाल बह्म आयरिय सीस, महुवयणु सुणहिं भो बहुगिरीस॥

सोढल णिमित्त णेमिहु पुराणु, विरयउ जह कइजण विहिय माणु।

तहं रामचरित्तु वि महु भणेहि, लक्खण समेउ इउ मणि मुणेहि॥

महु साणुराउ तुह मित्त जेण, विण्णत्ति मज्झु अवहारि तेण।

महु णामु लिहहि चंदहो विमाणु, इयवयणु सुद्ध णियचित्ति ठाणु॥ बलभद्र० १।४।७–१२॥

हरसिंह साहु की यह प्रार्थना सुनकर महाकवि रइधू अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहते हैं :—

घत्ता — हो हो किं वुत्ताउ एत्थु अजुत्तउ हउं गिहकम्में गुत्ताउ॥ बलभद्र० १।४।१४॥

घडएण भरइ को उवहि तोउ को फणि सिरमणि पयडइ विणोउ।

पंचाणणमुहि को खिवइ हत्थु विणु सुत्तें महि को रयइ वत्थु।

विणु बुद्धिए तहं कव्वहं पसारु विरएप्पिणु गच्छमि केम पारु॥ बलभद्र० १।४।१४; १।५।१–३॥

अर्थात् "अरे-अरे, (आपने) यह क्या कह दिया? यह (आपका कथन तो) अयुक्त है। मैं तो घरूकार्यों में उलझा हुआ हूँ। घड़े से समुद्र का जल कौन भरेगा? मस्तक-स्थित मणि वाले भुजंग के साथ कौन विनोद करेगा? सिंह के मुख में कौन अपना हाथ डालेगा? संसार में बिना धागे के कौन वस्त्र बुन सकता है?

(उसी प्रकार) बिना बुद्धि के क्या काव्य का प्रसार (रचना) हो सकता है? (बलभद्र पुराण जैसे महान् ग्रन्थ की) रचना के निर्माण में मैं कैसे पार पाऊँगा?

इसके प्रत्युत्तर में हरसिंह साहु प्रेरणा करते हैं :—

तुह कव्वु धुरंधरु दोसहारि, सत्थत्थकुसलु बहु विणय धारि।

करि कव्वु चिंत परिहरहि मित्त, तुह मुहिं णिवसइ सरसइ पवित्त॥ दे० वही० १।५।५–६॥

अर्थात् निर्दोष काव्य रचना में धुरन्धर, शास्त्रार्थ में कुशल एवं विनयशील हे मित्र, आप (मन की) चिन्ता छोड़ (बलभद्रपुराण नामक) काव्य की रचना कीजिये। आपके श्रीमुख में तो पवित्र सरस्वती का निवास है।

इस प्रकार यह कथनोपकथन आगे भी इसी ढंग से चला है। इसमें कवि ने अपनी अल्पबुद्धि तथा गर्वहीनता दर्शाकर आगे सज्जन-दुर्जन प्रशंसा-निन्दा की भी चर्चा की है। इस माध्यम से कवि ने वस्तुतः पूर्व परम्परागत शिष्टाचार का निर्वाह तो किया ही, किन्तु इस विचित्र शैली से उसने अपनी ख्याति, प्रतिष्ठा एवं पाण्डित्य का परिचय दे सकने का एक सुन्दर प्रसंग भी उपस्थित कर लिया जो उसकी कुशल-प्रतिभा का द्योतक है। अस्तु, विषय-वस्तु एवं काव्यकला की दृष्टि से रइधू की यह रचना उत्कृष्ट है।

पार्श्वपुराण :—

प्रस्तुत ग्रन्थ में २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरित्र का वर्णन किया गया है। कवि ने इसे स्वयं ही 'काव्य-रसायन' की संज्ञा दी है। छन्दों की विविधता तथा विभिन्न रसों एवं अलंकारों की योजना के कारण कवि की उक्त संज्ञा उपयुक्त भी है। इसमें कुल ७ संधियाँ हैं, जिसमें आदि एवं अन्त में महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियाँ प्राप्य हैं। इन प्रशस्तियों में कवि ने गोपाचल-

---

१—दे० वही ११।७।१०;

नगर, वहाँ के नरेश तथा वहाँ के भट्टारकों आदि का सुन्दर परिचय दिया है। नगरों का गुरु बताते हुए कवि ने गोपाचल नगर, वहाँ के नरेश तथा भट्टारकों आदि का सुन्दर परिचय दिया है। श्रेष्ठतम नगरों का पण्डित एवं गुरु बताते हुए कवि ने गोपाचल का वर्णन करते हुए कहा है :—

> महिवीढि पहाणउं णं गिरिराणउ सुरहं वि मणि विंभउ जणिउं ।
> कउसीसहिं मंडिउ णं इहु पंडिउ गोवायलु णामें भणिउँ ॥ पार्श्व १।२।१५–१६ ॥
> सुह लच्छी जसायरु णं रयणायरु बुहयण जुहु णं इंदउरु ।
> सत्थत्थहिं सोहिउ जणमणु मोहिउ णं वरणयरहं एहु गुरु ॥ पार्श्व १।३।१७–१८ ॥

वैसे तो कवि की अधिकांश रचनाओं में ग्वालियर का न्यूनाधिक वर्णन मिलता है तथा हरेक रचना का वह वर्णन अपनी कुछ न कुछ विशेषता लिये हुए है, किन्तु पार्श्वपुराण की प्रशस्ति में कवि ने जितना सूचक एवं सुन्दर विस्तृत वर्णन किया है वह अपना अलग ही है, जो इतिहास की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजा डूंगरसिंह तथा उनके राजकुमार राजा कीर्तिसिंह के समय में तो ग्वालियर-दुर्ग जैन साहित्य, संस्कृति एवं कला का गढ़ था ही, बाद में भी उसके उस रूप में कमी न आ सकी थी। कई जैन साहित्यकारों ने रइधू के बाद साहित्य लेखन की उस परम्परा को अक्षुण्ण रखा था। महाकवि वाचक मेघविजय जी ने अपनी एक रचना "देवानन्द महाकाव्य" (रचनाकाल सं० १७२७) की रचना भी उसी ग्वालियर दुर्ग में की थी। उसकी अन्त प्रशस्ति में कवि ने लिखा है :—

> एकादश शत श्लोकैः श्लोको लोके समेधताम्। वाचकेऽध्यापके चास्य देयान्नित्यं समेधताम् ॥
> गोपालगिरि दुर्गेऽस्य लेखनं लेखनन्दनम्। वाचकैर्मेघविजयैः कृतं सुकृत हेतवे[1] ॥

इतिहास से यह बात सिद्ध है कि गोपाचल की सुरक्षा एवं शान्ति की स्थापना के निमित्त राजा डूंगरसिंह को बड़ी ही मुसीबतों का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी तो कई रातें घोड़े की पीठ पर ही बितानी पड़ी थीं। मुगलों के आक्रमणों से लोहा लेना उस समय टेढ़ी खीर थी। फिर भी राजा डूंगरसिंह ने बड़ी ही कुशल सूझ-बूझ से अपने शत्रुओं को नीचा दिखाकर अपने राज्य को सुरक्षित बचाकर उसे समृद्ध बनाया था। कवि ने उनका परिचय देते हुए इनके संकेत भी निम्न पद्य में दिये हैं :—

> तहिं तोमरकुलसिरिरायहंसु, गुणगण रयणारु लद्धसंसु ।
> अण्णाय-णायसासण पवीणु पंचंग मंत सत्थहं पवीणु ॥
> अरिराय उरत्थलि दिण्णदाहु समरंगणि पत्तउ विजयलाहु ।
> खग्गग्गि डहिय जें मिच्छवंसु जसऊरिय ऊरिय जें दिसंतु ॥
> णिव पट्टालंकिय विउलभालु अतुलिय बलु खलकुलपलयकालु ।
> सिरिणिव गणेसणंदणु पयंडु णं गोरक्खण विहिणउवसंडु ॥
> सत्तंगरज्ज भर दिण्ण खंधु सम्माणदाण तोसिय सबंधु ।
> करवाल पट्टि विप्फुरिय जीहु पव्वंत णिवइ गय दलण सीहु ॥
> अइ विसम साह सुद्दाम थामु सायरहु तीर संपत्तुणामु ।
> छत्तीसाउह पयडण पसिद्ध साहण सायरु जसरिद्धरिद्धु ॥
> घत्ता—परबलसंतासणु णिवपयसासणु णं सुरवरु बहुधणधणिउं ।
> णवजलहर सरसरु पहु पुहई धरु डोंगरिंदु णामें भणिउं ॥ दे० वही० १।४।१–१२ ॥

रचनाका इतिहास :—

भट्टारकों में सहस्रकीर्ति गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, एवं उनके शिष्य खेमचन्द्र का उल्लेख करते हुए कवि ने लिखा है कि मुझे सभी ऋषिवरों ने विशाल बुद्धि दी है।[2] आगे चलकर उसने श्रीपाल ब्रह्म का नामोल्लेख भी किया है[3]। लेकिन उक्त उल्लेखों

१— देवानन्द महाकाव्य अन्तप्रशस्ति, सिंघी सीरीज़ बम्बई से प्रकाशित

२—दे० पार्श्व १।२।२४.

३—दे० वही १।७।१

से स्पष्ट नहीं होता कि उनके गुरु कौन थे। पूर्वोक्त भट्टारकों में से कोई एक अथवा श्रीपालब्रह्म ? श्रीपालब्रह्म का उल्लेख जिस वातावरण में मिलता है उससे विदित होता है कि सम्भवतः वही इनके गुरु थे। गोपाचल के नेमिविहार (नेमिनाथ जिनमंदिर) में एक दिन खेऊसाहु पहुँचते हैं, वहाँ उन्हें श्रीपालब्रह्म के दर्शन होते हैं। उसी समय उनकी दृष्टि सरस्वती-निकेत रइधू पंडित पर जाती है। खेऊसाहु उन दोनों से संभाषण करते हैं। इतने में महाकवि रइधू उनके दानादि की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि मैं पार्श्वनाथ चरित की रचना करना चाहता हूँ। इसका भार (सम्भवतः आर्थिक) आपको ग्रहण करना है। इसे सुनकर खेऊसाहु बहुत ही प्रसन्न होते हैं और उनका गुणानुवाद करते हुए उस भार को ले लेने की अपनी स्वीकृति दे देते हैं।[1] इस प्रकार इस रचना का प्रारम्भ हो जाता है।

जब प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना समाप्त हुई तो रइधू ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ खेऊसाहु के लिए वह समर्पित कर दी। इसे पाकर खेऊसाहु इतने अधिक खुश हुए कि उन्होंने द्वीप द्वीपान्तरों से प्राप्त हुए सुन्दर-सुन्दर आभूषण वस्त्रादि भेंट किये। कवि ने भी उनसे संतुष्ट होकर आशीर्वाद दिया। वह पद्य निम्नप्रकार है :—

कइणा विरएप्पिणु सुहमणेण रइधू णामेण वियक्खणेण।
संपुण्ण करेप्पिणु पयड अत्थु खेउँ साहुहु अप्पियउ सत्थु।
दीवंतर आगय विविह वत्थु पहिराविव अइसोहा पसत्थु।
आहरणहिं मंडिउ पुणु पवित्तु इच्छादाणें रंजियउ चित्तु।
संतुट्ठउ पंडिउ णिय मणम्मि आसीवाउ वि दिण्णउ खणम्मि। (दे० पार्श्वपुराण० ७।१०।३–८)

पार्श्वपुराण की एक विशेषता और भी है। कवि संस्कृत साहित्य की तरह ही इसके अंत में "भरत वाक्य" भी दिया है, जिसमें उसने राष्ट्र, नरेश, जिन शासन, मुनिगण, श्रावकजन, तथा श्री खेउ साहु के प्रति अपनी विभिन्न शुभकामनाएँ व्यक्त करते हुए उनके और इस पार्श्वचरित के "यावच्चद्र दिवाकरौ" तक अमर रहने की मंगल वाणी की है :—

णिवरट्ठउ णिवसउ सयलदेसु पयपालउ णंदउ पुणु णरेसु।
जिणसासणुणंदउ दोसमुक्कु मुणिगणु णंदउ तहिं विसयचुक्कु।
णंदहु सावययण गलियगाव जो णिसुणहिं जीवाजीव भाव।
सिरिखेऊ साहु सुधम्मि रत्तु णंदणहिं समउ णंदउ बहुत्तु।
णंदउ महि णिरसिय असुह कम्मु जो जीवदयावरु परमधम्मु।
अहिणंतउ पासपुराण एहु सज्जणजणाह जि जणिय णेहु।
कंचण महिहरु जाससि दिणिंदु जा पुणु महियलि कुलमहिहरिंदु।
जा सक्क सग्गि सुरसिय समिद्धु ता सत्थ पवट्टउ अत्थसिद्धु। (पार्श्व ७।११।१–८)

महाकवि रइधू की समस्त रचनाओं में से यह रचना भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से बड़ी ही रोचक बन पड़ी है। इसके प्रसंगप्राप्त सैद्धान्तिक विवेचनों की शैली को देखते हुए विदित होता है कि रइधू के बाद शताब्दियों तक यह रचना बड़ी ही लोकप्रिय रही होगी। पं० दौलतरामजी (सं० १८९१) कृत "छहढाला" का अधिकांश भाग इस रचना को पढ़ने के बाद लिखा गया प्रतीत होता है।

धन्यकुमार चरित्र :—

प्रस्तुत ग्रंथ रइधूकृत एक चरित काव्य में इसकी ४ संधियों के ७४ कडवकों में कवि ने धन्यकुमार के चरित का वर्णन है। इसका कथानक भी परम्परा प्राप्त ही है। कवि ने इसकी प्रथम संधि में धन्यकुमार के जन्मोत्सव का वर्णन; द्वितीय संधि में उसकी ऐश्वर्य-निधि के लाभ का वर्णन; तृतीय संधि में पूर्वभवों का वर्णन तथा अन्तिम चतुर्थ सन्धि में उसके निर्वाण-गमन का वर्णन किया है। इस ग्रन्थ की रचना आरौन (ग्वालियर) के निवासी श्री पुण्यपाल के सुपुत्र श्री भुल्लण के निमित्त, राजा गणेशसिंह के पुत्र राजा डूंगरसिंह (वि० सं० १४८१–१५१०) के राज्य में, ग्वालियर में की गई थी।

१—दे० वही १।७।१–१४; १।८।१–१८

धन्यकुमार चरित में कवि ने अपनी पूर्वरचित ४ रचनाओं का उल्लेख किया है जिनके नाम हैं (१) पार्श्वचरित, (२) बलभद्र पुराण, (३) नेमि चरित (हरिवंश०) एवं (४) वर्धमान चरित ।[1] कवि ने अपने गुरु गुणकीर्ति के आदेश से उक्त चरित की रचना की थी जैसा कि कवि ने उल्लेख किया है :—

इय जिण मुणिवर विंदु झाइवि मणवयकाएं ।
पुणु पयडमि जणिसव्वु गुरुगुणकित्तिपसाएं ॥ (धन्यकुमार० १।१।९।१०)

इस रचना में भ० गुणकीर्ति का गुरु के रूप में उल्लेख मिलने से कवि के रचना काल के निर्णय में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है । गुणकीर्ति का समय वि० सं० १४६८–७३ है। अतः यही काल रइधू की ग्रन्थ-रचना का प्रारम्भ काल माना जा सकता है ।[2]

सन्मतिजिन चरित :—

प्रस्तुत ग्रन्थ एक सुन्दर चरित काव्य है जिसकी १० सन्धियों के २४६ कडवकों में भ० महावीर के पुण्य-चरित का वर्णन किया है । इसका कथा भाग प्रायः परम्परा प्राप्त है, फिर भी छन्दों की विविधता, नाना अलंकारों एवं रसों की योजना, सरस एवं सहज ग्राह्य शैली के कारण यह रचना काफी आकर्षक बन पड़ी है । इस रचना का प्रशस्ति भाग भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें कवि ने खेल्हा ब्रह्मचारी तथा उनके द्वारा ग्वालियर दुर्ग में निर्मित चन्द्रप्रभ भगवान् की विशाल प्रतिमा,[3] हिसार नगर की स्थापना,[4] गोपाचल वर्णन[5] आदि कई नवीन सूचनाओं के साथ-साथ पूर्ववर्ती एवं समकालीन भट्टारकों एवं विद्वान् कवियों आदि के नामोल्लेख किये हैं। हिसार-नगर (पंजाब) की स्थापना फीरोजशाह ने की थी, इसकी सूचना भी कवि ने दी है :—

जोयणिपुराउ पच्छिम दिसाहि सुपसिद्ध णयरु बहुसुहजुयाहि ।
णामें हिसारपीरोज (पुरोज ?) अत्थि काराविउ पेरोज साहि ज सत्थि ।
वणउववणेंहि चउपासकिण्णु पंथियजणाहं पहखेउछिण्णु ।
चित्तंग तरंगिणि अइगहीर बयहंसचक्कमंडियसतीर । (दे० सन्मति० १।६।४–७)

प्रस्तुत रचना में कवि ने गोपाचल (ग्वालियर) का जैसा वर्णन किया है उससे प्रतीत होता है कि वह एक प्रकार से श्रमणपुरी ही हो । कवि ने अपनी साहित्य साधना वहीं की थी । यद्यपि उन्होंने हिसार तक की यात्रा की थी तथा वहाँ भी वे अपनी रचनाएँ लिखते रहे, लेकिन बहुत कम । गोपाचल ही उनके लिए प्रिय स्थान रहा था । गोपाचल-दुर्ग में बैठकर भी उन्होंने कुछ ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें सम्भवतः सन्मतिचरित भी एक था । यथा :—

गोवग्गिरि दुग्गमि णिवसंतउ बहुसुहेण तहिं...... (सन्मति, १।३।९)

भ० यशःकीर्ति के शिष्य खेल्हा नामक ब्रह्मचारी का उल्लेख भी कवि ने किया है, जिसने कि सांसारिक झंझटों से ऊबकर मानसिक शांति हेतु चन्द्रप्रभु भगवान् की मूर्ति का निर्माण कराया था ।[6]

'सन्मति जिन चरित' में कवि ने अपनी पूर्व विरचित रचनाओं का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

(१) पार्श्व चरित, (२) मेघेश्वर-चरित, (३) महापुराण, (४) कुंथुनाथ-स्तुति, (५) सिद्धचक्र-माहात्म्य, (६) बलभद्र पुराण, (७) सुदर्शन चरित एवं (८) धन्यकुमार चरित । इन रचनाओं में 'कुंथुनाथ स्तुति'[7] विशिष्ट है जिसका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता ।

१—दे० धन्यकुमार० १।२।४–७ ।
२—दे० धन्यकुमार १।१।१०; १।२।१–१०; १।३।१; १।४।८–९; ४।१९।११;
३—दे० सन्मति० १।४।७–१६
४—दे० सन्मति० १।६।५
५—दे० वही १०।२८।१५–१६; १०।२९।१–३०
६—दे० सन्मति १।४।९–१३
७—दे० वही १।९।१–१०

अपने पूर्ववर्ती कवियों में रइधू ने चउमुह, स्वयम्भू, पुष्पदंत एवं वीर का उल्लेख किया है। इनमें से प्रथम तीन कवियों के सम्बन्ध में तो विद्वानों ने काफी प्रकाश डाला है लेकिन चौथे कवि वीर (११वीं सदी) के विषय में विद्वानों का ध्यान अभी हाल में गया है। इनकी एक अपभ्रंश भाषा निबद्ध 'जंबू सामिचरिउ' नामक रचना मिलती है जो अप्रकाशित है।[1]

प्रस्तुत रचना में कवि ने अपने पूर्ववर्ती एवं समकालीन भट्टारकों की भी एक महत्त्वपूर्ण सूची दी है जो इस प्रकार है :—(१) देवसेन, (२) विमलसेन, (३) धर्मसेन, (४) भावसेन, (५) सहस्रकीर्ति, (६) गुणकीर्ति (वि० सं० १४६८–७३), (७) यशःकीर्ति (वि० सं० १४८६–१४९७), (८) मलयकीर्ति (वि० सं० १५०२–१५१०) एवं (९) गुणभद्र (वि० सं० १५१०–१५९०)।[2]

भट्टारक यशःकीर्ति के खेमचन्द्र, हरिषेण तथा श्रीपाल-ब्रह्म नामक तीन शिष्यों का उल्लेख भी कवि ने इस रचना में किया है, जिनमें से तृतीय शिष्य को कवि ने कुछ रचनाओं में अपना गुरु माना है।[3]

प्रस्तुत रचना से यह भी विदित होता है कि महाकवि रइधू का दूसरा नाम सिंहसेन था (दे० सन्मति १।५।१०–११)। इसके विषय में "मेघेश्वर चरित" नामक रचना के परिचय में विशेष प्रकाश डाला जा चुका है।

वित्तसार :—

'वित्तसार' महाकवि रइधू द्वारा विरचित एक सिद्धान्त-परक ग्रन्थ है जिसमें संधि के स्थान में अंक तथा कड़वक के स्थान में गाथा छन्द की योजना की गई है। इसके कुल ६ अंकों में ८५० गाथाएँ हैं। वित्तसार की भूमिका की एक ही गाथा में कवि ने अपने ग्रन्थ के सभी अंकों के विजय सूचित कर दिए हैं। वे निम्न प्रकार हैं:—

दंसणवण्णणपढमं गुणठाणाण णिरूवणं विदियं।
कम्मं अणुपेहा उणु धम्मं तह छट्ठमं झाणं॥ (१।१६)

अर्थात् वित्तसार के प्रथम अंक (की ९६ गाथाओं) में सम्यग्दर्शन का निरूपण; द्वितीय अंक (की ३६० गाथाओं) में मिथ्यात्वादि चौदह गुणस्थानों के स्वरूप निर्देश; तृतीय अंक (की ७४ गाथाओं) में कर्मबन्ध का स्वरूप; चतुर्थ अंक (की ९९ गाथाओं) में अनुप्रेक्षा वर्णन; पाँचवें अंक (की ८६ गाथाओं) में उत्तम क्षमादि दशधर्मों के लक्षण एवं अन्तिम छठवें अंक (की १३५ गाथाओं) में ध्यान (आदि) का वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत रचना श्री आढू साहू के निमित्त रची गई थी। सांसारिक प्रपंचों से भयभीत होकर उन्होंने महाकवि रइधू से किसी एक सुन्दर सिद्धान्त परक रचना के निर्माण कर देने की प्रार्थना की थी।

उक्त ग्रंथ का विषय एवं रचना-शैली स्वामिकार्तिकेय कृत 'द्वादशानुप्रेक्षा' का स्मरण कराती है। सुन्दर, सरस एवं बड़ी ही मार्मिक शैली से कवि ने इसमें करणानुयोग, चरणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का वर्णन किया है। बीच-बीच में कवि रइधू जब आढू साहू को सम्बोधित करते हैं तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि मानों किसी पहुँचे हुए महर्षि अथवा महोपदेशक का प्रवचन अपने सम्मुख ही चल रहा है।

वित्तसार के लेखन में कवि ने "उक्तं च" कहकर कई पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं के उद्धरण अपने विषय के समर्थन हेतु उद्धृत किये हैं, जिनमें महाकवि पद्मनन्दि (सम्भवतः १३ वीं सदी) कृत एकत्त्वसप्ततिका, पं० आशाधर (१३ वीं सदी) कृत अनगार-धर्मामृत, देवसेन (१३वीं सदी) कृत भावसंग्रह आदि प्रमुख हैं। कुछ तात्त्विक स्थलों में कवि की दार्शनिक पद्धति भी देखने को मिलती है और "बौद्धालापेति", इति "चार्वाक मिथ्यात्वं", "कश्चिदाह", आदि कहकर दार्शनिक दृष्टि से विषय का प्रतिपादन किया है। कवि ने कुछ गाथाओं का संस्कृत भाष्य भी किया है। इस प्रकार उक्त रचना साहित्यिक शैली तथा विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपना अलग ही स्थान रखती है।

इस प्रकार रइधू-साहित्य का परिचय उक्त पंक्तियों में देने के बाद मैं अपने इस लेख को समाप्त करता हूँ। यह प्रस्तुत लेख की समाप्ति अवश्य है, लेकिन इससे ही रइधू के सम्पूर्ण साहित्य का परिचय समाप्त नहीं हो जाता। वस्तुतः रइधू-

१—दे० सन्मति १।९।२३–२४
२—दे० वही १०।२९।३१; १०।३०।१–२४,
३—दे० वही १०।२८।९–१०।

साहित्य तो एक ऐसा अगाध समुद्र है जिसके ओर छोर एवं गहराई अपरिचित ही हैं। इसकी नाप-जोख के लिये किसी ऋषि-तुल्य अनुभववृद्ध महान् साधक की निःस्वार्थ साधना तथा अथक एवं अनवरत श्रम की आवश्यकता है। ऐसे समुद्र में सहसा ही अवगाहन करने से लक्ष्य में चूक होने की सम्भावनाएं जानते हुए भी उस पर कुछ लिखने का जो साहस यहां किया गया है उसका एक मात्र उद्देश्य अन्धकार में छिपे हुए एक महाकवि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण किन्तु अप्रकाशित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय जिज्ञासु पाठकों के समक्ष उपस्थित करना ही है।

प्रस्तुत निबन्ध में उक्त महाकवि की अन्य रचनाओं के विषय में भी कुछ लिखने की इच्छा थी, लेकिन लेख विस्तार के भय से मैं उन्हें यहाँ नहीं दे रहा हूँ। इस निबन्ध में प्रस्तुत रचनाओं सम्बन्धी अन्य आवश्यक उद्धरणों को देने की भी इच्छा थी, लेकिन उन्हें न दे सकने का भी प्रमुख कारण पूर्वोक्त ही है, किन्तु वे सभी मेरे पास क्रमवार सुरक्षित हैं जो आवश्यकतानुसार व्यवहृत किये जा सकेंगे।

जैन-भक्तिकाव्य

(ले० डा० प्रेमसागर जैन, अध्यक्ष हिन्दी विभाग जैन कालेज, बड़ौत, उ० प्र०)

यद्यपि हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, भक्तिरसायन, नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य सूत्रों की भाँति जैन परम्परा में किसी भक्तिसूत्र का निर्माण नहीं हुआ, किन्तु अनेक जैन सैद्धान्तिक ग्रंथों में भक्ति संबंधी विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्द-कुन्द (ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियाँ) ने सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि-भक्ति, आचार्य-भक्ति और निर्वाण-भक्ति पर प्राकृत भाषा में लिखा था। ये भक्तियाँ आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी अनुवाद सहित 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक में, शोलापुर से सन् १९२१ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के बोध पाहुड और मोक्षपाहुड में भी भक्तिपरक तत्त्वों की व्याख्या की गई है।

आचार्य उमास्वाति (वि०सं० दूसरी शताब्दी) के तत्त्वार्थसूत्र में श्रद्धा, विनय और वैयावृत्य के सम्बन्ध में अनेक सूत्रों का निर्माण हुआ है। उन्होंने एक सूत्र के द्वारा तीर्थङ्करत्व नामकर्म के उदय में भक्ति को कारण कहा है। आचार्य उमास्वाति के इस सूत्र पर आगे के काल में अनेकानेक भाष्य और वृत्तियों की रचना हुई। उनमें आचार्य पूज्यपाद (वि० सं० पांचवीं शताब्दी) के 'सर्वार्थसिद्धि', आचार्य अकलंक (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के 'तत्त्वार्थवार्तिक' और आचार्य श्रुतसागर (वि० सं० १६ वीं शताब्दी) के 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम के ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें उपर्युक्त भक्ति संबंधी सूत्रों की विशद व्याख्या की गई है। इन भाष्यकारों ने यथास्थान मौलिक तथा नवीन बातों का भी समावेश किया है।

उमास्वाति के पश्चात् आचार्य समंतभद्र के 'समीचीन धर्म शास्त्र' में श्रद्धा, विनय, वैयावृत्य, जिनेन्द्र और गुरु-भक्ति पर तात्त्विक रूप से विचार किया गया है। वे अपनी परीक्षा की कसौटी पर कसने के उपरांत ही जिनेन्द्र के परम भक्त बने थे। उन्होंने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। उस समय का भारतीय वातावरण उनके तर्क और पांडित्य का लोहा मानता था।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त दश-भक्तियां भी संस्कृत में लिखी हैं। ये सब 'दशभक्तिः' नाम की पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हीं आचार्य के समाधितंत्र और इष्टोपदेश में भी समाधि और गुरुभक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रकरण बिखरे पड़े हैं। विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के ही आचार्य सिद्धसेन के द्वात्रिंशिका स्तोत्र में भी भक्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है।

आचार्य योगीन्दु (छठी शताब्दी ईसवी) ने परमात्मप्रकाश-योगसार की रचना की थी। यह अपभ्रंश भाषा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई, से हो चुका है। इसमें भगवान् सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाते हुए उनकी भक्ति का निरूपण किया गया है। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इस ग्रंथ को रहस्यवादी कहा है।

आचार्य यतिवृषभ (वि०सं० छठी शताब्दी) की तिलोयपण्णत्ति (प्राकृत) में जिनेन्द्र के पंचकल्याणक और तत्सम्बन्धी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्होंने अकृत्रिम मन्दिरों, देवमूर्तियों, देवियों और देवों की भक्ति के विषय में पर्याप्त लिखा है। भक्ति के प्रमुख अंग, वंदना का विचार, उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति और बृहत्कल्पभाष्य में सभी दृष्टियों से किया गया है।

आचार्य शिवार्यकोटि (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के भगवती आराधना ग्रन्थ में जैन भक्ति पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने जैनधर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार से भक्ति का विवेचन किया है। इस विशालकाय ग्रंथ में अनेक स्थलों पर पंच-परमेष्ठी की श्रद्धा, सेवा, विनय, वैयावृत्य और अनुराग परक भक्ति की सार्थकता सिद्ध की गई है। श्री जिनदास गणी (वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी) की निशीथचूर्णि में "सेवा जा सा भत्ति", कहकर जिनेन्द्र सेवा पर बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। श्री देवसेन (११वीं शती ईसवी) ने अपने भाव संग्रह में पंचपरमेष्ठी के ध्यान का वर्णन अनेक दोहों में किया है। आचार्य सोमदेव के यशस्तिलक (वि० सं० १०१६) और आचार्य वसुनन्दि के 'वसुनन्दि श्रावकाचार' (वि० सं० १२वीं शताब्दी) में भक्ति के अनेक अंग-उपांगों की व्याख्या प्राप्त होती है।

जैन मंत्र-ग्रंथ देव देवियों की भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें आचार्य मल्लिषेण का 'भैरव पद्मावतीकल्प' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसमें देवी पद्मावती की साधना के लिये विविध मंत्रों का निर्माण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की अभिधान-चिन्तामणि में भी देवियों की साधना से सम्बन्धित सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।

जैन भक्ति का स्वरूप :—

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः'। इसका तात्पर्य है कि अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत, और प्रवचन में भावविशुद्धियुक्त होकर अनुराग करना भक्ति है। आचार्य सोमदेव ने भी यशस्तिलक में, "जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे। सद्भावविशुद्धिसम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥" लिखा है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उस वीतराग भगवान् में—जो स्वयं राग रहित है और जो राग त्यागने का उपदेश देता है, अनुराग कैसे सम्भव है? राग कैसा ही हो कर्मों के बन्ध का कारण है।

आचार्य कुन्दकुन्द के कथनानुसार वीतराग भगवान् में किया गया अनुराग पाप के बन्ध का यत्किंचित् भी कारण नहीं है। उनकी दृष्टि से पंचपरमेष्ठी में राग करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। आचार्य योगीन्दु का कथन है कि "पर" में होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है, "स्व" में होनेवाला नहीं। वीतरागी परमात्मा "पर" नहीं, अपितु "स्व" आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में राग करना अपनी आत्मा में ही प्रेम करना है। "स्व" में राग करनेवाला मोक्षगामी होता है।

इसके अतिरिक्त वह ही राग बन्ध का कारण है, जो सांसारिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया हो। निष्काम अनुराग में कर्मों को बांधने की शक्ति नहीं होती। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम ही है। वीतरागता पर रीझकर ही भक्त ने वीतराग में अनुराग किया है। इसके उपलक्ष्य में यदि वीतरागी भगवान् अपने भक्त में अनुराग करने लगें, तो भक्त का रीझना ही समाप्त हो जायगा। वह भगवान् से अपने ऊपर न दया चाहता है न अनुग्रह और न प्रेम।

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में श्रद्धा को ही भक्ति कहा गया है। पाइय-सद्द-महण्णवो में भी भक्ति के पर्यायवाचियों में सेवा के साथ श्रद्धा की भी गणना है। आचार्य समन्तभद्र ने समीचीन धर्मशास्त्र में श्रद्धान् और भक्ति का एक ही अभि-प्राय माना है। वे आप्तादि के श्रद्धान् को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'सम्यग्दर्शन' के 'दर्शन' शब्द का अर्थ श्रद्धान् ही लिया है। उन्होंने तत्त्वज्ञान के पहले तत्त्वश्रद्धान को इष्ट माना है। उनकी दृष्टि से तत्त्वज्ञान, तत्त्वश्रद्धान के बिना नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है कि आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है, किन्तु अकलंकदेव का मत है कि आत्मा का दर्शन तब तक नहीं हो सकता, जब तक वैसा करने की श्रद्धा जन्म न ले।

श्रावक शब्द के "श्रा" का अर्थ भी श्रद्धा ही लिया गया है। अभिधान राजेन्द्रकोश में लिखा है, "श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः।" श्रावक श्रद्धा के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार का फल पा जाता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता, किन्तु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र और आत्मा का स्वभाव एक ही है। अतः वह जिनेन्द्र की श्रद्धा से अपनी शुद्ध आत्मा को जान जाता है। किन्तु यह श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा होनी चाहिये, अन्धश्रद्धा का यत्किंचित् मूल्य भी जैन शास्त्रों में नहीं आंका गया। अपनी सुश्रद्धा के कारण ही आचार्य समन्तभद्र जिनेन्द्र के दृढ़-भक्त बन सके थे। इसका अर्थ है कि जैन आचार्यों ने सुश्रद्धा के प्रगाढ़ रूप को ही भक्ति कहा है।

निशीथचूर्णि में, "अब्भुट्ठाणदंडग्गहण-पाय-पुच्छणासणप्पदाणगहणादीहिं सेवा जा सा भत्ति" लिखा है। इसका अर्थ है—आचार्य के सन्मान में खड़े हो जाना, दण्ड ग्रहण करना, पाँव पोंछना, आसन देना आदि जो सेवा है, वह ही भक्ति है। राजेन्द्रकोश में, "सेवायां भक्तिर्विनयः" कहकर भक्ति का अर्थ सेवा तो लिया ही है, सेवा का अर्थ भी विनय किया है। आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र में विनय के 'ज्ञान-दर्शन चारित्रोपचारः' रूप में चार भेद माने हैं। इनमें उपचार विनय का सेवा से सीधा सम्बन्ध है। आचार्य पूज्यपाद ने उपचार विनय आचार्यों के पीछे पीछे चलने, सामने आने पर खड़े हो जाने, अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करने को कहा है।

इस भांति यह सिद्ध हुआ कि जिनेन्द्र के अनुराग, श्रद्धा और सेवा करने को भक्ति कहते हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार जिनेन्द्र न कर्ता है और न भोक्ता, फिर भक्त अपनी स्तुतियों में उसको कर्ता क्यों कहता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—वीतराग भगवान् को पूजा वन्दना से कोई तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे सभी रागों से रहित हैं। निन्दा से भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनमें से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य

गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलों से पवित्र करता है। भगवान् को भक्त के इस स्मरण का भान भी नहीं होता, किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पाप मल धुले। अतः वह तो उन्हें कर्ता कहता ही है। इसी दृष्टि को लेकर जैन भक्त अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र से कभी याचना करता है, कभी प्रार्थना और कभी विनती।

प्राचीन भक्ति-परक काव्य :—

स्तुति-स्तोत्र, स्तव-स्तवन, वंदना, पूजा, और मंगलाचरण के रूप में जैनों का प्राचीन भक्ति काव्य बहुत अधिक है। यह साहित्य प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में लिखा गया था। प्राकृत का 'जयतिहुअण स्तोत्र' सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। बृहद्द्रव्यसंग्रह की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका के आधार पर सिद्ध है कि इसके रचयिता भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम थे। भगवान् महावीर के समवशरण में प्रविष्ट होते ही गौतम ने इसी स्तोत्र से उनको नमस्कार किया था। भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र' भी बहुत प्राचीन है। उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से सम्बन्धित पाँच पद्यों की रचना हुई है। भद्रबाहु भगवान् महावीर के निर्वाण के १७० वें वर्ष मोक्ष गये थे। आचार्य कुन्दकुन्द ने भक्ति-परक अनेक स्तुतियों का निर्माण प्राकृत भाषा में ही किया था। उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'तित्थयरथुति' की भी रचना की थी। इसमें आठ गाथाएँ हैं, जिनमें चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इसे 'लोगस्ससुत्त,' भी कहते हैं। मानतुंगसूरि (तीसरी सदी ई०) का २१ पद्यात्मक भयहर स्तोत्र भी प्राकृत भाषा का एक मनोहारी काव्य है।

संस्कृत भाषा में तो उत्तमोत्तम जैन स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई। आचार्य समन्तभद्र के स्वयम्भू-स्तोत्र तथा स्तुति-विद्या समूचे भारतीय भक्ति-साहित्य के जगमगाते रत्न हैं। हृदय की भक्ति परक ऐसी कोई धड़कन नहीं जो इनमें सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। शंकराचार्य के भज गोविन्दं और जयदेव के गीतगोविन्द में स्वरलहरी भले ही मनमोहक हो, किन्तु उनकी भावधारा में 'स्वयम्भू स्तोत्र' जैसा अजस्र प्रवाह नहीं है। आचार्य सिद्धसेन (वि० सं० पाँचवीं शताब्दी) के 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र', विद्यानन्दि-पात्रकेशरी (ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी) के 'बृहत्पंचनमस्कार स्तोत्र', मानतुंगाचार्य (वि० सं० सातवीं शताब्दी-मुनि चतुर विजय) के 'भक्तामर स्तोत्र', भट्टाकलंक (वि०सं० सातवीं शताब्दी) के अकलंक स्तोत्र, बप्पभट्टि (ई० ७४३–८३८) के 'चतुर्विंशति जिनस्तोत्र', धनंजय (वि० सं० आठवीं-नौवीं शताब्दी) के विषापहार स्तोत्र और आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) के 'वीतराग स्तोत्र' में भक्ति-रस चरम आनन्द की सीमा तक पहुँच गया है। इनमें भी भक्तामर स्तोत्र की ख्याति सबसे अधिक है। इसमें ४८ पद्य हैं। सादृश्य विधायक उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों के प्रयोग से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की ऐसी सफल अभिव्यक्ति कम स्तोत्रों में देखी जाती है। भक्तामर स्तोत्र का पढ़ने वाला आज भी भाव-विभोर और तन्मय हुए बिना नहीं रहता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अपभ्रंश में स्तुति स्तोत्रों का निर्माण नहीं हुआ। इसी आधार पर वे हिन्दी के भक्ति-काव्य को अपभ्रंश से प्रभावित नहीं मानते। किन्तु जैन भण्डारों की खोज के आधार पर सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत और प्राकृत की भाँति ही अपभ्रंश में भी स्तोत्र और स्तवनों की रचना हुई थी। कवि धनपाल (वि० सं० ११ वीं शताब्दी) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह', जिनदत्त सूरि (जन्म ११३२, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'चर्चरी' और 'नवकारफलकुलक' तथा देवसूरि (जन्म ११५३, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'मुनिचन्द्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। एक श्री जिनप्रभसूरि हुए हैं, जिनको डा० विण्टरनित्स ने सुल्तान फीरोज (वि० सं० १२२०–१२९६) का समकालीन बतलाया है। ये जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प के रचयिता जिनप्रभसूरि से भिन्न थे। उन्होंने चर्चरी-स्तुति, जिनजन्ममहःस्तोत्रम्, जिनजन्माभिषेकः, जिनमहिमा और मुनिसुव्रत स्तोत्रम् की रचना की थी। श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० १३०२–१३५७) ने भी महावीर-कलश का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। पाटण के जैन भण्डार में अपभ्रंश का भक्ति-साहित्य इतना अधिक है कि उस पर पृथक् खोज की आवश्यकता है। जैनों में अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने एक स्तोत्र में छः भाषाओं का प्रयोग किया है। उनमें सोमसुन्दर सूरि (वि० सं० १४३०–१४९९) का 'षडभाषामय स्तोत्राणि' प्रसिद्ध है। यह जैन-स्तोत्र समुच्चय में प्रकाशित हो चुका है।

जैन देवियों की भक्ति में भी अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई थी। मैंने पी०एच०डी० के लिये प्रस्तुत किये गये अपने शोध निबन्ध में देवी पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सरस्वती, सच्चियाय और कुरुकुल्ला के पुरातात्त्विक, ऐतिहा-

सिक और सैद्धान्तिक विवेचन के साथसाथ भक्ति परक स्तुति-स्तोत्रों का भी निरूपण किया है। मल्लिषेणसूरि (वि० सं० ११वीं १२ वीं शताब्दी) ने 'भैरव पद्मावतीकल्प' की रचना की, जो देवी पद्मावती से संबंधित महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके १० अध्यायों में ४०० श्लोक निबद्ध हुए हैं। इसका तीसरा अध्याय 'भगवती अराधना' के नाम से गूंथा गया है। यह ग्रन्थ अहमदाबाद और सूरत से प्रकाशित हो चुका है। अहमदाबाद वाले प्रकाशन में जिनप्रभसूरि (१३वीं शताब्दी ईसवी) की 'पद्मावती चतुष्पदिका' भी छप चुकी है। इसमें ३७ पद्य हैं। इन्हीं सूरि जी ने प्राकृत भाषामें भी पद्मावती चतुष्पदी की रचना की थी, जिसमें ४६ गाथाएँ हैं। जैन स्तोत्र संदोह के "ब" परिशिष्ट में एक पद्मावत्यष्टक दिया है, जिसकी वृत्ति के रचयिता श्री पार्श्वदेवगणि (वि० सं० ११७१) थे। सूरत वाले भैरव पद्मावतीकल्प में पद्मावती सहस्रनाम, पद्मावतीकवच और पद्मावती-स्तोत्र दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त श्री बप्पभट्टसूरि (आठवीं सदी ईसवी) ने सरस्वती स्तोत्र, श्री देवसूरि ने कुरुकुल्ला देवी स्तवनम्, जिनेश्वरसूरि (१२ वीं शताब्दी वि० सं०) ने अम्बिका स्तुति और जिनदत्तसूरि ने चक्रेश्वरी स्तोत्र का निर्माण किया था। इनसे स्पष्ट है कि जैन देवियों की भक्ति जिनेन्द्र के भक्तों की भक्ति है। जैन देवियाँ, हिन्दू देवियों की भाँति स्वतन्त्र नहीं थीं। उनको जिनेन्द्र की शासनदेवी कहा जाता है। उन पर भी तांत्रिक युग का प्रभाव है, किन्तु उनमें मांस भक्षण, नर-रुधिर का पान और व्यभिचारादि जैसी प्रवृत्तियों का कभी जन्म नहीं हुआ है।

उपर्युक्त स्तुति-स्तोत्रों की भाँति ही पूजा, वन्दना और मंगलाचरणों के रूप में जैन-भक्ति की विविध प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। इन सब में मंगलाचरण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और आचार्य विद्यानन्दि की आप्तपरीक्षा में मंगल का तात्त्विक विवेचन किया गया है। जैनों का सबसे प्राचीन मंगलाचरण "णमो अरहंताणं" वाला मंत्र है। वैसे तो इस मंत्र को अनादि निधन कहा जाता है, किन्तु उपलब्ध साहित्य में, भगवत् पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम का प्रारम्भ इसी मंगलाचरण से हुआ है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के सभी जैन ग्रंथों का प्रारम्भ किसी न किसी मंगलाचरण से हुआ है। ये मंगलाचरण जैन भक्ति के सर्वोत्तम निदर्शन हैं। इनमें सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके नाम पर विलासिता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं दिया गया, जब कि शिव-पार्वती की भक्ति में लिखे गये अनेक मंगलाचरण वैसी भावनाओं का नियंत्रण नहीं कर सके।

वन्दना भी जैन भक्ति का मुख्य अंग है। वन्दनक सूत्र पर लिखी गई भद्रबाहुनिर्युक्ति में, उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्रों में, हरिभद्रसूरि के वन्दना पंचाशक में तथा वट्टकेरकृत मूलाचार में वन्दना का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। अरहन्तवन्दन और चैत्यवन्दन पर अनेक स्तुतिस्तोत्र उपलब्ध हैं। श्री जिनदत्तसूरि के चैत्यवन्दनकुलक में २८ गाथाएं हैं। जिनप्रभसूरि के वंदन स्थान विवरण में १५० प्राकृत की गाथाएं हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की परिचर्या अर्थात् सेवा करने को ही पूजा कहा है। अष्टद्रव्यरूप पूजा का उल्लेख सर्वप्रथम, आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति में उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त पंचपरमेष्ठी, विविध-तीर्थक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप, कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों की भक्ति में अधिकाधिक पूजाओं का निर्माण हुआ। ये पूजाएँ बहुत कुछ संस्कृत और हिन्दी में ही रची गईं। इनके अंत में लिखित जयमालाएं भक्ति-साहित्य का मूल्यवान अंश हैं। इन पूजाओं के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ-पूजांजलि महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी में द्यानतराय की पूजाएं, संगीत, लय, भाव और भाषा सभी दृष्टियों से उत्तम हैं। जैन और अजैन पूजा साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से अनेक नई बातें ज्ञात हो सकती हैं।

हिन्दी का जैन भक्ति-काव्य :—

हिन्दी का भक्ति-काव्य अपनी ही उपर्युक्त पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उसका विभाजन -निष्कल भक्तिधारा और सकल भक्तिधारा के रूप में किया जा सकता है। निष्कल ब्रह्म सिद्ध को कहते हैं। सिद्ध अदृश्य हैं और स्थूल आकार से रहित हैं। वे मोक्ष में विराजमान हैं। उनमें सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ गुण होते हैं। आचार्य योगीन्दु ने सिद्ध और शुद्ध आत्मा का एक ही रूप माना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है। पं० आशाधर ने सिद्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है "सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्य इति सिद्धिः।"

आत्मा भी निराकार है, अदृश्य है। हिन्दी के जैन कवियों ने अपने मुक्तक पदों में सिद्ध और आत्मा दोनों ही को सम्बोधन करके अपना भाव प्रकट किया है।

सकल ब्रह्म अरहन्त को कहते हैं। चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हत्पद मिलता है। अर्हन्त को चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में रुकना होता है। वे समवशरण में बैठकर संसार को उपदेश देते हैं। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। हिन्दी के भक्त कवियों ने अर्हन्त की भक्ति में बहुत कुछ लिखा है। इसी सकल भक्ति-धारा में आचार्य, उपाध्याय, साधु, देव-देवियों, चैत्य, मूर्ति, मन्दिर और तीर्थक्षेत्रों को लिया जा सकता है। ये सब सशरीर हैं और दिखाई देते हैं। किन्तु जैन हिन्दी के भक्त कवियों को निष्कल और सकल भक्ति धाराओं में पृथक्-पृथक् नहीं बाँटा जा सकता, जैसा कि पं० रामचन्द्रशुक्ल ने निर्गुण और सगुण भक्ति-धाराओं के रूप में स्पष्ट विभाजन किया है। हिन्दी का ऐसा कोई जैन कवि नहीं है, जिसे हम केवल सिद्ध या अर्हन्त का ही भक्त कह सकें। प्रत्येक जैन कवि ने यदि एक ओर सिद्ध और आत्मा की भक्ति में अपने भाव अभिव्यक्त किये, तो दूसरी ओर अर्हन्त, आचार्य या किसी देव-देवी के चरणों में भी अपनी श्रद्धा के पुष्प बिखेरे।

वीरगाथा काल में जैन भक्त कवि :—

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस काल को वीरगाथा काल नाम दिया है, उसमें वीरगाथाओं की अपेक्षा धार्मिक कृतियाँ अधिक थीं। पं० शुक्ल ने उन कृतियों की सूचनामात्र करके छोड़ दिया था। इन कृतियों में जैन भक्ति सम्बन्धी रचनायें हैं। उनमें धार्मिकता है, तो साहित्यिकता भी। धार्मिक होने मात्र से ही कोई रचना असाहित्यिक नहीं हो जाती। मूल प्रवृत्तियों का भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म अथवा अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो। इसी कारण कबीर ग्रन्थावली और रामचरितमानस साहित्य के ग्रन्थ माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल, वि० सं० १०५० (सन् ९८३) से बि० सं० १३७५ (सन् १३१८) तक निर्धारित किया गया है। इसके पूर्व बहुत पहले ही, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त देश भाषा का जन्म हो चुका था। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि "संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः शिष्यमनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः॥" डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) के पहले ही देश भाषा प्रचलित हो चुकी थी। आचार्य देवसेन ने अपने श्रावकाचार में जिन दोहों का उपयोग किया है, वे देश भाषा के ही हैं। इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति कारंजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भंडार में मौजूद है। इसमें श्रावकों के लिये जिनेन्द्र और पंचगुरु भक्ति का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। एक दोहा इस प्रकार है :—

जो जिणसासण भासियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इसमें प्रयुक्त शब्द रूप, विभक्ति और धातुरूप प्रायः सभी देशभाषा के हैं। देश-भाषा को ही प्राचीन हिन्दी कहते हैं। यह भाषा ही आगे चलकर विकसित हिन्दी के रूप में परिणत हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देश-भाषा में अन्तर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अपभ्रंश, देशभाषा अथवा प्राचीन हिन्दी नहीं है। इसी कारण स्वयंम्भू (वि० सं० ९ वीं शताब्दी) के पउमचरिउ और पुष्पदन्त (वि०सं० १०२९) के महापुराण को हिन्दी के ग्रन्थों में नहीं गिना जा सकता। इनमें बिखरे हुए कुछ स्थल देश-भाषा के हैं, किन्तु वे अल्प ही हैं। पुष्पदन्त से ४० वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द का कथाकोष देश-भाषा में लिखा गया है। इसकी अधिकांश कथायें जिनेन्द्र-भक्ति से संबंधित हैं। ईसा की ११वीं सदी के धनपाल की श्रुतपंचमी कथा में भी देश-भाषा का ही प्रयोग हुआ है। श्रुत पंचमी कथा का मूलस्वर जिन-भक्ति से युक्त है। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कवि विनयचन्द्र सूरि ने "नेमिनाथचउपई" का निर्माण किया था। नेमिनाथ के वैराग्य लेने पर, उनके वियोग में राजीमती विलाप करती है। इस "चउपई" में उनका वियोग वर्णन दिखलाया गया है। एक दृष्टान्त देखिये :—

भणइ सखी राजल मन रोइ,
नीठुरु नेमि न अप्पणु होइ।
सौंचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति,
किमइ न भिज्जइ सामलकंति॥

विनयचन्द्र सूरि के समकालीन शालिभद्रसूरि के बाहुबलि रास में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। श्री जिनदत्तसूरि (वि०

सं० १२७४)के "उपदेशरसायनरास" में गुरुभक्ति के अनेक दृष्टान्त हैं, किन्तु उसकी भाषा-देश भाषा नहीं है, वह तो दुरूह अपभ्रंश का निदर्शन है। श्री जिनपद्मसूरि का "थूलिभद्दफाग" आचार्य स्थूलभद्र की भक्ति में लिखा गया है। आचार्यस्थूलिभद्र भद्रबाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाणस्थल, गुलजारबाग, पटना स्टेशन के सामने कमलदह में बना हुआ है। यह रचना भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है। भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को लिये हुए है। ऐसे सरस फागों की अक्षुण्ण परम्परा वि० सं० की अठारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध होती है। प्रस्तुत फाग के पावस वर्णन का एक पद्य इस प्रकार है :—

सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
माण-मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते॥
जिम जिम जलधर भरिय मेह् गयणंगणि मिलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरहि झलहलियां॥

नेमिचन्द्र भंडारी, खरतरगच्छीय जिनेश्वर सूरि के पिता थे। वि० सं० १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी, जो जैन ऐतिहासिक काव्यसंग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य-भक्ति का दृष्टांत है। महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि ने वि० सं० १२६६ में जम्बूस्वामीचरित और स्थूलिभद्ररास की रचना की। दोनों में क्रमश: ५२ एवं ४७ पद्य हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरांत केवल तीन केवली हुए, जिनमें जम्बू स्वामी अन्तिम थे। स्थूलिभद्र के विषय में लिखा ही जा चुका है। शाहरयण (वि० सं० १२७८) ने 'जिनपतिसूरिधवलगीत' लिखा था। यह 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में छप चुका है। मंत्रिवर वस्तुपाल के धर्माचार्य श्री विजयसेनसूरि ने वि० सं० १२८८ में रेवंतगिरि रासो का निर्माण किया था। यह प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह में प्रकाशित हुआ है। इन सब की भाषा हिन्दी है। नेमिचन्द्रभण्डारी का एक पद्य देखिये :—

पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि॥

विक्रम संवत् की चौदहवीं शती में अनेक जैन कवि हुए हैं। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओं का मूल स्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि० सं० १३३१ के लगभग अनेक ऐसी स्तुतियों की रचना की, जो गुरु, आचार्य और जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित थीं। जिनेश्वर सूरि के शिष्य श्री अभयतिलक ने, वि०सं० १३०७ में, महावीररास का निर्माण किया था, जिसमें केवल दस पद्य हैं। यह रास श्री अगरचन्दजी नाहटा के निजी संग्रह में मौजद है। लक्ष्मीतिलक का 'शान्तिनाथरास' और सोममूर्ति का 'जिनेश्वरसूरि संयमश्रीविवाहवर्णनरास' प्रसिद्ध कृतियाँ हैं।

हिन्दी के भक्ति-काल में जैन कवि और काव्य :—

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काल वि० सं० १४०० से १७०० तक माना है, किन्तु जैन हिन्दी भक्ति काव्य की दृष्टि से उसको वि० सं० १८०० तक मानना चाहिये, क्योंकि जैन-हिन्दी के भक्ति-काव्य की प्रौढ़ रचना वि० सं० १७०० से १८०० के मध्य ही हुई।

राजशेखर सूरि (वि० सं० १४०५) का जन्म प्रश्नवाहन कुल में हुआ था। वे तिलकसूरि के शिष्य थे। उनका सम्बन्ध कोटिक गण की मध्यम शाखा के हर्षपुरी गच्छ से था। उन्होंने हिन्दी में 'नेमिनाथफाग' की रचना की थी। यह २७ पद्यों का एक एक छोटा सा खण्डकाव्य है। इसमें नेमिनाथ और राजुल की कथा है। राजशेखर एक सफल कवि थे। भावों और दृश्यों को चित्रित करने में उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। विवाह के लिये सजी राजुल के पूरे चित्र की कतिपय पंक्तियाँ देखिये :—

किम किम राजलदेवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतीसरि सारी॥

विनयप्रभ उपाध्याय (वि० सं० १४१२) खरतरगच्छ के जैन साधु थे। उनके गुरु का नाम दादा जिनकुशलसूरि था।

उनकी प्रमुख रचना का नाम 'गौतमरासा' है। यह कृति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम की भक्ति से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर उत्प्रेक्षाओं के सहारे गौतम स्वामी की शोभा का चित्र अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त विनयप्रभ उपाध्याय की कृतियों में ५ स्तुतियाँ और हैं। उनमें विविध तीर्थंकरों के गुणों का काव्यमय विवेचन है। प्रत्येक में १९–२९ के लगभग पद्य हैं। इनमें 'सीमन्धर स्वामिस्तवन', 'एन्शियंट जैन हिम्स' में प्रकाशित हो चुका है। सीमन्धर स्वामी पूर्व विदेह के विहरमाण बीस तीर्थंकरों में एक हैं। उनका शासन अभी चल रहा है। यह २१ पद्यों का एक मनोरम स्तवन है। कवि ने लिखा है कि मेरुगिरि के उत्तुंग शिखर, गगन के टिमटिमाते तारागण और समुद्र की तरंगमालिका, सीमंधर स्वामी का स्तवन करते ही रहते हैं।

मेरुनन्दन उपाध्याय के दीक्षागुरु का नाम जिनोदयसूरि था। उन्होंने वि० सं० १४१५ के उपरान्त दीक्षा ली थी। मेरुनन्दन उपाध्याय की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं–जिनोदयसूरि विवाहलउ, अजितशान्तिस्तवनम् और सीमन्धर स्वामी स्तवनम् तीनों ही भक्ति से सम्बन्धित हैं। पहले में गुरु-भक्ति और अवशिष्ट दो में तीर्थंकर भक्ति है। जिनोदयसूरि विवाहलउ में आचार्य जिनोदय का दीक्षाकुमारी के साथ विवाह हुआ है। यह एक रूपक काव्य है। अजितशांतिस्तवनम् में अजितनाथ और शान्तिनाथ की, तथा सीमन्धरस्वामी स्तवनम् में सीमन्धर स्वामी की स्तुति की गई है। ये दोनों ही स्तवन जैन-स्तोत्र संदोह के प्रथम भाग में प्रकाशित हो चुके हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य था। उन्होंने संस्कृत में १७ ग्रंथों की रचना की थी। प्रत्येक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। भट्टारक सकलकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उनके द्वारा प्रति-ष्ठित मूर्तियों में तत्कालीन इतिहास की अनेक बातें अंकित हैं। भट्टारक का समय १५ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। वे वि० सं० १४४४ में ईडर की भट्टारकीय गद्दी पर आसीन हुए और वि०सं० १४९९ में महसाना (गुजरात) में उनका स्वर्गवास हुआ। वे हिन्दी के सफल कवि थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में उनकी हिन्दी में लिखी हुई अनेक कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं, जिनमें आराधना-प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत और नेमीश्वर गीत का भक्ति से संबंध है।

वि० सं० की १६ वीं शती, जैन हिन्दी भक्ति-काव्य की मुक्तक रचनाओं के लिये प्रसिद्ध है। मुनि चरित्रसेन (वि० सं० १६ वीं शती पूर्वार्द्ध) की "समाधि" नाम की रचना में समाधि और समाधि लगाने वालों के प्रति भक्ति-भाव प्रकट किया गया है। यह कृति दिल्ली के मस्जिद खजूर के जैन पंचायती मन्दिर के शास्त्र भण्डार में मौजूद है। इन्हीं के समकालीन महानन्दिदेव हुए हैं। उन्होंने "आनन्दतिलक" का निर्माण किया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर के शास्त्र-भण्डार में रक्खी है। इस रचना में ४३ पद्य हैं। यह परमात्मप्रकाश और पाहुड दोहा की परम्परा में गिनी जा सकती है। संत कवियों की भांति ही मुनि महानन्दिदेव ने जिनेन्द्र का निवास देह में माना, वैसे ही जैसे कुसुम में परिमल रहता है। देह के भीतर रहने वाले उस चिदानन्दरूप जिनेन्द्र की जो पूजा करता है, वह स्वयं भी आनंद-मण्डल के भीतर स्थिर हो जाता है। अर्थात् उसको चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्होंने तीर्थ भ्रमण को व्यर्थ प्रमाणित करते हुए लिखा है—आनन्द तीर्थों में नहीं, अपितु आत्मा में है और वह आत्मा प्रत्येक के पास होती है। जो वस्तु अपने पास है, उसकी ओर न देख कर बाहर भटकना मूर्खता है। मुनि जी ने कबीर की भाँति ही कहा कि चित्त में भरा पाप-मल बाह्य स्नान से नहीं, अपितु जिनेन्द्र के ध्यान-रूपी तालाब में नहाने से गलेगा। तीर्थक्षेत्र की व्यर्थता सम्बन्धी एक दृष्टान्त इस भाँति है :—

अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढ़ा मरहिं भमंतु।
अप्पा विंदु न जाणहीं आनन्दा घट महिं देउ अणंतु ॥

कवि चतरुमल का जन्म श्रीमालवंश में हुआ था। उनके पिता का नाम जसवंत था। चतरुमल ने जैन पुराणों का अध्ययन किया और उनका मन नेमीश्वर के चरित्र में विशेष रूप से रमा। उन्होंने वि० सं० १५७१ में नेमीश्वर गीत की रचना की थी। यह एक छोटा सा गीतकाव्य है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसंघ के सरस्वती गच्छ के बलात्कारगण की परम्परा में हुए हैं। जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह से स्पष्ट है कि वे वि० सं० १५३२ से १५५७ तक भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे संस्कृत, गुजराती और हिन्दी के विद्वान् थे। हिन्दी में लिखी हुई उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं—आदीश्वरफाग और पोसहरास। आदीश्वर फाग एक उत्तम कृति है। भट्टारक शुभचन्द्र पद्मनन्दि की परम्परा से सम्बन्धित हैं। उनका रचना काल वि० सं० १५७३ से १६१३ तक माना जाता है। वे अपने समय के गण्यमान्य विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा पर अधि-

कार था। वे 'षट्भाषा कवि चक्रवर्ती' कहलाते थे। उन्होंने हिन्दी में तत्वसारदूहा की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर के ठोलियों के जैन मन्दिर में मौजूद है। इस रचना में संत काव्य की ही भांति वर्ण और जाति के भेद को कृत्रिम माना गया है, गुरु की महिमा का उल्लेख है और चिन्दानन्दरूप आत्मा के चिन्तवन से मोक्ष का मिलना कहा गया है। इन्हीं की रची हुई एक दूसरी हिन्दी की कृति चतुर्विंशति स्तुति अभी प्राप्त हुई है।

विनयचन्द्रमुनि इसी शती के एक सामर्थ्यवान कवि थे। वे माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। वे विनयचन्द्र सूरि से स्पष्टतया पृथक् हैं। विनयचन्द्र सूरि चौदहवीं शती के रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। मुनि विनयचन्द्र गिरिपुर के राजा अजयनरेश के राज्यकाल में हुए हैं। उनका समय वि० सं० १५७६ माना जाता है। उनकी तीन कृतियां उपलब्ध हैं—चूनड़ी, निर्झर पंचमी कथा, पंचकल्याणकरासु। चूनड़ी एक रूपक काव्य है। इसमें कुल ३१ पद्य हैं। इसमें एक पत्नी ने पंचगुरु से प्रार्थना की है कि उसका पति ऐसी चूनड़ी लावे, जिसके सहारे वह भव-समुद्र के पार हो सके। निर्झर पंचमी कथा में, भगवान् जिनेन्द्र के परम भक्त भविष्यदत्त का चरित्र दिया हुआ है। कथा का मूल स्वर भक्ति से सम्बन्धित है। पंचकल्याण रासु में जैन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के प्रति भक्ति भाव प्रदर्शित किया गया है।

कवि ठकरसी (वि० सं० १५७८) खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र पहाड्या था। उनके पिता का नाम होल्ह था, जो एक कवि थे। उनकी माता धर्मनिष्ठ थीं। ठकरसी की प्रसिद्ध रचना "कृपणचरित्र" पहले से ही विदित है। इस काव्य का मुख्य अंश कृपण की कृपणता से सम्बन्धित होते हुए भी, भक्ति से युक्त है। इसके अतिरिक्त इनकी नवीन कृतियाँ मेघमालाव्रतकथा, पंचेन्द्रियबेल, नेमीसुर की बेल, पार्श्वसकुन सत्ता बतीसी, गुणबेल, चिन्तामणि जयमाल और सीमन्धर स्वामी स्तवन, विविधशास्त्र भण्डारों से प्राप्त हुई हैं। इनमें काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से पंचेन्द्रिय बेल, नेमिसर की बेल और गुणबेल उत्तम हैं।

सत्रहवीं शती के जैन हिन्दी कवियों का भक्ति परक काव्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ है। इस शती के जैन कवि महाकवि हैं। उनकी गणना यदि एक ओर कबीर और जायसी की कोटि में होनी चाहिये, तो दूसरी ओर वे सूर और तुलसी की पंक्ति में बैठने योग्य हैं। कुमुदचन्द इसी शती के आरम्भ में हुए थे। उनकी रचनाओं में ऋषभ-विवाहला और भरत-बाहुबली-छंद उत्तम हैं। ब्रह्मरायमल्ल (वि० सं० १६१५) ने अनेकानेक हिन्दी काव्यों की रचना की। इनकी भाषा सरस है और प्रसाद गुण से युक्त। ये रायमल्ल, १६ वीं शती के प्रसिद्ध पंडित राजमल्ल से पृथक् हैं। इनका जन्म हूबड़ वंश में हुआ था, उनके पिता का नाम मह्य और माता का नाम चम्पा था। उनकी माता जिनेन्द्र भक्त थी, अतः वे भी 'जिनपादकंज-मधुप' बन सके। इनके गुरु का नाम अनन्तकीर्ति था। नेमीश्वररास, हनुवंतकथा, प्रद्युम्नचरित, सुदर्शनरास, श्रीपालरास और भविष्यदत्त कथा, ब्रह्मरायमल्ल की हिन्दी की कृतियाँ हैं। इनमें नेमीश्वररास और हनुवंतकथा की विशेष ख्याति है। हनुवंत कथा में बालक हनुमान के ओजस्वीरूप का चित्र खींचा गया है। यह रूप बालक के उदात्ततापरक पक्ष को पुष्ट करता है। एक पद्य देखिए :—

बालक जब रवि उदय कराय।
अंधकार सब जाय पलाय॥
बालक सिंह होय अति सूरो।
दन्तिघात करे चकचूरो॥
सघन वृक्ष बन अति विस्तारो।
रत्ती अग्नि करे दह छारो॥
जो बालक क्षत्रिय को होय।
सूर स्वभाव न छाड़े कोय॥

कुशललाभ जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित कवि थे। रावल हरराज का समय सत्तरहवीं शती का प्रथम पाद माना जाता है। कुशल-लाभ का रचनाकाल भी यही था। अनेक विद्वानों को विदित है कि कुशललाभ ने राजस्थानी के आदि काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' के बीच में अपनी चौपाइयाँ मिलाकर प्रबन्धात्मकता उत्पन्न करने का प्रयास किया था। कुशललाभ खरतगच्छ के समर्थगुरु अभयदेव उपाध्याय के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्हें कवित्व शक्ति जन्म से

ही मिली है। उन्होंने भक्ति, शृंगार और वीर जैसे रसों पर अधिकार पूर्वक लिखा। उनकी रचनाओं में श्री पूज्यवाहणगीत, स्थूलिभद्र, स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवनम्, गौड़ी पार्श्वनाथस्तवनम् और नवकारछन्द, भक्ति से संबंधित हैं। श्री पूज्यवाहण गीत की विशेषता है कि उसमें गुरु के विरह से उत्पन्न हुई शिष्य की अनुभूतियों का सरस वर्णन किया गया है। गुरु की महत्ता उद्घोषित करने वाले दोहों से हिन्दी साहित्य भरा पड़ा है। किन्तु गुरु-विरह के ऐसे सरस भाव अन्यत्र देखने को नहीं मिलते।

साधुकीर्ति (वि० सं० १६१८) खरतरगच्छीय अमरमाणिक्य के शिष्य थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर जिनचन्द्रसूरि का स्मरण किया है। साधुकीर्ति भक्त कवि थे उन्होंने अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना की है। उनकी कृतियों में पद्य-संग्रह चूनड़ी, शत्रुंजयस्तवन, विमलगिरिस्तवन, आदिनाथस्तवन, सुमतिनाथस्तवन, नेमिस्तवन औरनेमिगीत मुख्य हैं। साधुकीर्ति मुक्तक काव्यों के रचने में सिद्धहस्त थे। उदयराज जती ने भी अनेक भक्तिपरक काव्यों का निर्माण किया है। उनका रचना काल वि० सं० १६६७ के आसपास माना जाता है। वे जोधपुर के समीप किसी स्थान के रहने वाले थे। उनके गुरु खरतरगच्छीय भद्रसार थे। उन्होंने भजन छत्तीसी, गुण बावनी,चौबीस जिन सवैया, मनः प्रशंसा दोहा और वैद्य विरहिणी प्रबन्ध की रचना की थी। इनमें वैद्यविरहिणी प्रबन्ध एक रूपक काव्य है। हीरानन्द मुकीम आगरा के ख्यातिप्राप्त जौहरी थे। शहजादा सलीम से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने सम्मेदशिखर जी की यात्रा के लिये संघ निकाला था। शाह हीरानन्द कवि भी थे। उनकी अध्यात्मबावनी एक कृति है। उसका मूलस्वर रहस्यवाद से सम्बन्धित है। हेमविजयसूरि (वि० सं० १६७०) वृद्ध शाखा के आचार्य विजयसेन सूरि के शिष्य थे। सम्राट् अकबर ने विजयसेन सूरि को आगरे में बुलाया था और उन्हें सवाई हीरविजय की उपाधि से सुशोभित किया था। हेमविजय अन्धे थे। उन्होंने हीरविजय और विजयसेन सूरि की भक्ति में छोटे छोटे अनेक पद्य बनाये हैं। उन्होंने तीर्थंकरों का भी स्तवन, छोटी-छोटी स्तुतियों से किया है। 'नेमिनाथ के पद' उनकी सफल रचना है। जब नेमीश्वर राजुल के विवाह द्वार से दीन पशुओं की करुण पुकार सुनकर, गिरिनार पर तप करने चले गये, उस समय राजुल की बेचैनी का एक चित्र देखिये। गिरिनार की ओर भागती हुई राजुल को सखियों ने पकड़ लिया है। वह उनको सम्बोधित करके कहती है—

कहि राजमती सुमती सखियान कूं, एक खिनेक खरी रहु रे।
सखि री सगिरी अंगुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे॥
अबही तबही कबही जबही, यदुराय कूं जाय इसी कहु रे।
मुनिहेम के साहिव नेम जी हो, अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे॥

जैन कवि सुन्दरदास, हिन्दी के संत कवि सुन्दरदास से पृथक् थे। जैन कवि बागड़ प्रान्त के रहनेवाले थे। बादशाह शाहजहाँ ने उनको पहले कविराय फिर महाकविराय की पदवी प्रदान की थी। उन्होंने सुन्दर शृंगार, पाखंड पंचासिका, सुन्दर सतसई और सुन्दर विलास का निर्माण किया था। इनकी प्रवृत्तियाँ हिन्दी के कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि संत कवियों से मिलती जुलती हैं। इनका समय वि० सं० १६७५ के आस-पास माना जाता है। पांडे रूपचन्द संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। उन्होंने बनारस में शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध कवि कबीरदास ने उन्हीं से गोम्मटसार-जीवकांड पढ़ा था। इसका उल्लेख अर्द्ध कथानक में हुआ है। पांडे रूपचन्द एक प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। विद्वत्ता और कवित्व शक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है।उनके गीत काव्यों पर आध्यात्मिकता की छाप है। परमार्थी दोहा शतक, गीत-परमार्थी, मंगलगीत प्रबन्ध, नेमिनाथ रासा, खटोलनागीत और अध्यात्म सवैया उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त जयपुर के शास्त्र भण्डारों से उनकी दो रचनाएँ सोलहस्वप्नफल तथा जिनस्तुति और प्राप्त हुई हैं। अर्धकथानक के अनुसार उनका देहावसान वि० सं० १६९४ में हुआ।

हर्षकीर्ति (वि० सं० १६८३) की मुक्तक रचनाओं में अध्यात्म और भक्तिरस की अधिकता है। उन्होंने पंचगति बेल, नेमिनाथराजुल गीत, नेमिश्वरगीत, बीस तीर्थंकर जखड़ी, चतुर्गतिबेल, भजन व पदों का निर्माण किया था। कनककीर्ति भी इन्हीं के समकालीन थे। उनकी हिन्दी कृतियों में गीत अधिक हैं। उनका संबंध किसी तीर्थ या ऋषि मुनि की भक्ति से है। उनकी कृतियाँ मेघकुमारगीत, जिनराजस्तुति, विनती, श्रीपालस्तुति और पद हैं।

कवि बनारसीदास जैन हिन्दी साहित्याकाश के जगमगाते सूर्य हैं। उन्होंने नाममाला,नाटक समयसार, बनारसी विलास,

अर्धकथानक, मोहविवेक युद्ध, मांझा और स्फुट पदों का निर्माण किया था। उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था (वि० सं० १६५७) में एक "नवरस" नाम का ग्रंथ भी लिखा था। उसमें एक हजार दोहा चौपाई थे, किन्तु बाद में उसे अत्यधिक अश्लील मानकर उन्होंने गोमती में बहा दिया था। नाममाला एक कोशग्रंथ है। उसकी रचना वि० सं० १६७० में हुई थी। नाटक समयसार बनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यद्यपि इसका मुख्य आधार आचार्य कुन्दकुन्द का समयपाहुड और उस पर लिखी गई अमृतचन्द्राचार्य की आत्मख्याति टीका है, किन्तु उसमें मौलिकता भी पर्याप्त है। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि नाटक समयसार में कवि की भावुकता प्रमुख है। जब कि समयसारपाहुड में दार्शनिक का पांडित्य। मैंने अपने शोध निबंध में नाटक समयसार की परीक्षा भक्ति-परक दृष्टि से की है। मुझे उसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्ति धाराओं का समन्वय दिखाई दिया है। बनारसी विलास में बनारसीदास की ५० मुक्तक रचनाएँ संग्रहीत हैं। इनका संकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि०सं० १७०१ में किया था। बनारसी विलास बहुत पहले ही पं०नाथूराम प्रेमी के सम्पादन में बम्बईसे प्रकाशित हो चुका है। अर्ध कथानक की रचना वि० सं० १६९८ में हुई थी। इसमें बनारसीदास के ५५ वर्ष के जीवन की आत्मकथा है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, डा० माताप्रसाद गुप्त आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है। इसमें ६७५ दोहे-चौपाइयाँ हैं। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। मोह विवेक युद्ध, मांझा और कतिपय पद नई खोज में उपलब्ध हुए हैं। बनारसीदासके अध्यात्म-परक गीतों में दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने आत्मा को पति और सुमति को पत्नी बनाया है। पत्नी, पति के वियोग में तड़पते हुए दर्शनाभिलाषा प्रकट करती है :—

मैं विरहिन पिय के आधीन।
यों तलफों ज्यों जल बिन मीन॥
होहुं मगन मैं दरशन पाय।
ज्यों दरिया में बूंद समाय॥
पिय को मिलों अपनपो खोय।
ओला गल पाणी ज्यों होय॥

इसी शती में मनराम, कुंवरपाल, यशोविजय उपाध्याय और महात्मा आनन्दघन प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। मनराम का मनराम विलास, कुंवरपाल के पद, यशोविजय जी का जस-विलास और आनन्दघन की 'आनन्दघन बहत्तरि', प्रौढ़ कृतियाँ हैं। सभी का सम्बन्ध या तो निराकार आत्मा और सिद्ध अथवा अरहंत की भक्ति से है। पांडे हेमराज (वि० सं० १७०३–१७३०) एक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। उनकी सितपट चौरासी बोल, हिन्दी भक्तामर और गुरुपूजा नाम की कृतियाँ पहले से ही ज्ञात थीं। किन्तु अब हितोपदेश दोहाशतक, उपदेश दोहाबावनी और नेमिराजीमती जखड़ी भी प्राप्त हुई हैं। इन्हें संतकाव्य की परम्परा में गिनना चाहिये।

जिनहर्ष (वि० सं० १७१३–१७३८) अट्ठारहवीं शती के एक सामर्थ्यशाली कवि थे। इनके गुरु का नाम वाचक शान्तिहर्ष था। जिनहर्ष ने उन्हीं से शिक्षा प्राप्त की थी। जिनहर्ष एक जन्मजात कवि थे। उन्होंने पचासों स्तुति स्तवन, रास और छप्पयों की रचना की है। वे मूलतः गुजराती लेखक थे। किन्तु इनका हिन्दी पर भी अधिकार था। उन्होंने हिन्दी में जसराजबावनी, उपदेशछत्तीसी, चौबीसी, नेमि-राजीमती बारहमास सवैया, नेमि बारहमासा, महावीर छंद, सिद्धचक्रस्तवन और मंगलगीत का निर्माण किया था। जिनरंगसूरि (वि० सं० १७३१) का जन्म श्रीमाल जाति के सिन्धुणवंश में हुआ था। उन्होंने जैसलमेर में वि०सं० १६७८ फाल्गुन कृष्ण ७ को जिनराजसूरि से दीक्षा ली थी। शाहजहां के पुत्र दारा ने उन्हें युग-प्रधान के पद से विभूषित किया था। उनकी रचनाओं में प्रबोधबावनी, रंगबहत्तरी, चतुर्विंशति जिन-स्तोत्र, चिंतामणि पार्श्वनाथ-स्तवन प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो में निष्कल और अन्तिम दो में सकल ब्रह्म की भक्ति है।

इस समूची शती में भैया भगवतीदास अपनी ओजस्वी कविता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में भी ओज को प्रमुखता दी है। भैया भगवतीदास आगरा के रहनेवाले थे। उस समय औरंगजेब का राज्य था। उन्होंने उसके राज्य की प्रशंसा की है। 'भैया' का प्राकृत और संस्कृत पर अधिकार था। उनकी हिन्दी गुजराती और बंगला में विशेष गति थी और वे उर्दू तथा फारसी के भी जानकार थे। उनकी ६७ रचनाओं का संकलन ब्रह्म-विलास के नाम से, सन् १९०३ में, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, से प्रकाशित हुआ था। 'भैया' की सभी कृतियाँ निर्गुण अथवा सगुण भक्ति से सम्बन्धित हैं।

एक भक्त भगवान जिनेन्द्र की पुष्पों से पूजा करता हुआ कहता है कि हे भगवान् ? इस कामदेव ने समूचे विश्व को जीत लिया है। उसे इसका घमण्ड भी बहुत है। मुझे विश्वास है कि आपके चरणों की शरण में जाने से प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार मैं न हो पाऊँगा:—

जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयो।
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है।
ताके शर जानियत फलनि के वृन्द बहु।
केतकी कमल कुंद केवरा सुहायो है॥
मालती सुगंध चारु मेलि की अनेक जाति।
चंपक गुलाब जिन चरण चढ़ायो है।
तेरी ही शरण जिन जारे न बसाय याको।
सुमत सौ पूजे तोहि मोहि ऐसी भायो है॥

द्यानतराय एक प्रमुख कवि थे। इनका जन्म वि० सं० १७३३ में आगरे में हुआ था। उनकी शिक्षा विधवत् हुई। उन्हें उर्दू फारसी का ज्ञान कराया गया, तो संस्कृत के माध्यम से धार्मिक शिक्षा भी दी गई। उनका गृहस्थ जीवन दु:खी रहा। वे वि० सं० १७८० में दिल्ली में आकर रहने लगे थे। उनकी प्रसिद्ध रचना धर्म-विलास यहाँ पर ही पूरी हुई। इसमें पदों की संख्या ३२३ है, कुछ पूजायें हैं। ग्रंथ के साथ विस्तृत प्रशस्ति भी निबद्ध है, जिससे तत्कालीन आगरे की सामाजिक परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इसके पदों में भक्ति-रस तो साक्षात् ही हो उठा है। द्यानतराय ने पूजा और आरतियों का निर्माण करके, जैन भक्ति की परम्परा में जैसा सरस योगदान किया है, वैसा उस समय तक अन्य कोई नहीं कर सका था। उनकी 'देव-शास्त्र-गुरु पूजा' का तो प्रत्येक जैन मन्दिर में प्रतिदिन पाठ होता है। इसके अतिरिक्त बीसतीर्थङ्कर, पंच-मेरु, दशलक्षण, सोलहकारण, रत्नत्रय, निर्वाणक्षेत्र, नन्दीश्वरद्वीप, सिद्धचक्र, और सरस्वती पूजायें भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। उन्होंने पांच आरतियों का भी निर्माण किया था। उनका प्रारम्भ क्रमश: 'इह विधि मंगल आरति कीजे', 'आरति श्री जिनराज तिहारी', 'आरती कीजै श्री मुनिराज की', 'करौं आरती वर्द्धमान की', और 'मंगल आरती आतमरामा' से होता है। उनके स्वयम्भू पार्श्वनाथ और एकीभावस्तोत्रों में पार्श्वनाथ स्तोत्र मौलिक है। इनके अतिरिक्त समाधिमरण, धर्मपचीसी, अध्यात्मपंचासिका, १०८ नामों की गुणमाला, दशस्थानचौबीसी और छहढाला (सद्य: प्राप्त) भी उन्हीं की रचनायें हैं। उनका समूचा साहित्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से खरा है।

द्रौणपुरी के शास्त्र भंडार में कवि विद्यासागर के हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगा है। विद्यासागर कारंजा के रहनेवाले थे। उनके पिता का नाम राखू साह था। वे बघेरवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनकी रचनाएँ भक्त-हृदय की प्रतीक हैं। उन्होंने सोलह स्वप्न-छप्पय, जिन-जन्म-महोत्सव षट्पद, सप्तव्यसन सवैया, दर्शनाष्टक, विषापहार छप्पय और भूपाल स्तोत्र-छप्पय का निर्माण किया था। विनय विजय साधु थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिविजय उपाध्याय था। विनय विजय यशोविजय के समकालीन थे। दोनों ने साथ रहकर ही काशी में विद्याध्ययन किया था। गुजराती साहित्य को इनकी देन बहुत बड़ी है। हिन्दी में लिखा हुआ उनका विनयविलास उपलब्ध है। उसके पद संतकाव्यधारा के प्रतीक हैं। लक्ष्मीबल्लभ (वि० सं० १८ वीं शती का दूसरा पाद) उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। वे बनारस के रहने वाले थे। वे विद्वान थे और कवि भी। उनकी हिन्दी कृतियों के नाम ये हैं—चौबीस स्तवन, महावीर गौतम स्वामी छंद, दूहा बावनी, सवैया बावनी, नेमि-राजुल बारहमासा, भावना विलास, चेतन बत्तीसी, उपदेश बत्तीसी और छप्पय बावनी। सभी जैन भक्ति से संबंधित हैं।

विनोदीलाल (वि० सं० १७५०) शाहजहांपुर के रहनेवाले थे। उनका जन्म अग्रवाल वंश और गर्ग गोत्र में हुआ था। वे अपनी सरस और प्रसादगुण युक्त रचनाओं के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने चौबीस तीर्थङ्करों की भक्ति में अनेक सवैयों का निर्माण किया है। वे नेमीश्वर के परमभक्त थे। विवाह द्वार से लौटते नेमीश्वर और विलाप करती राजुल, उन्हें बहुत ही पसन्द हैं। उनका लिखा हुआ नेमि-राजुलबारहमासा, विरहकाव्य परम्परा की एक अमर कृति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने नेमि-व्याह, राजुल पच्चीसी, नेमजी रेखता, प्रभात-जयमाल, चतुर्विंशति जिन-स्वतन सवैयादि और फूलमाल पच्चीसी की रचना की थी। विवाह के लिये सजे हुए नेमिश्वर का एक चित्र देखिये:—

मौर धरो सिर दूलह के कर कंकण बांध दई कस डोरी ।
कुण्डल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजत रोरी ।।
मोतिन की लड़ शोभित है छबि देखि लजैं बनिता सब गोरी ।
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन को दुनियाँ उठ दौरी ।।

भूधरदास (वि० सं० १७८१) एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे । उनकी रचनाएँ अपने प्रसाद गुण और भाव लालित्य के लिये प्रसिद्ध हैं । जैनशतक, भूधरविलास, पदसंग्रह, जखड़ी, विनतियाँ, बारह भावनाएं, बाईस परीषह और स्तोत्र उनकी मुक्तक कृतियाँ हैं । उन्होंने पार्श्वपुराण नाम के एक महाकाव्य का भी निर्माण किया था । यह एक उच्चकोटि का मौलिक काव्य है । इसमें महाकाव्य के सभी गुण सन्निहित हैं । इसकी रचना वि० सं० १७८९ में हुई थी । कवि भवानीदास (वि० सं० १७९१) के लिखे हुए १८ मुक्तक काव्यों का पता चला है । श्री अगरचन्द जी नाहटा ने उनकी हस्तलिखित प्रतियों को बनारस के रामघाट के एक जैन मन्दिर में देखा था । इन रचनाओं के आधार पर सिद्ध है कि वे आगरे के रहने वाले थे, और उनका जन्म श्वेताम्बर जाति में हुआ था । इन कृतियों में चौबीस जिनबोल, चौबीसी के कवित्त, नेमि-हिण्डोलना और नेमिनाथ-राजमती गीत प्रसिद्ध हैं ।

अजयराज पाटणी (वि० सं० १७६२–१७९४) आमेर के रहने वाले थे । उनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र पाटणी था । उन्होंने पार्श्वनाथ-सालेहा की रचना वि० सं० १७९३ में की थी । वे रूपक काव्यों के लिखने में सिद्धहस्त थे । उनके लिखे हुए चरखा-चउपई, शिवरमणी का विवाह और जिन जी की रसोई ऐसे ही गीत हैं ।

कन्नड जैन साहित्य

(ले०—विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, सं० "गुरुदेव", मूडबिद्री)

मानवोत्कर्ष के इतिहास में भाषा के लिये एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। मानव के आज अपने को अत्युत्तम नागरिक कहलाने में भी मूल कारण भाषा ही है। जैसे एक शिल्पी अपनी कल्पना शक्ति एवं चतुरता को सुन्दर शिल्प के द्वारा प्रकट करता है और जैसे एक चित्रकार अपने मनोभाव को भव्यचित्रों के द्वारा व्यक्त करता है वैसे ही मानव अपने बौद्धिक संस्कार को भाषा के द्वारा ही प्रकट कर सकता है। सुप्राचीन काल से, जबसे मानव ने प्रगति पथ पर पैर रखा, तबसे आज तक उनके गहरे विचार, हृदय में उत्पन्न मौलिक भावनाएँ, अन्यान्य काल में प्राप्त उनके महत्त्वपूर्ण अनुभव भाषा के द्वारा ही अपनी परंपरा तक पहुँच सके। लिपि के अन्वेषण से भाषा और विकसित हो, एकरूपता को प्राप्त होने में समर्थ हुई। मानव जाति एवं सांस्कृतिक अभिवृद्धि के इतिहास में भाषा और लेखनकला को प्रमुख स्थान प्राप्त है। भाषा के अभाव में मानव वस्तुतः पशुओं की श्रेणी में गिना जाता। मानवीय सर्वतोमुखी अभिवृद्धि में भाषा ही एकमात्र कारण है। अस्तु।

दक्षिण भारत में प्रचलित प्रसिद्ध पाँच द्राविड भाषाओं में कन्नड भाषा भी अन्यतम है। इस भाषावर्ग की शेष चार भाषाएँ तमिल, तेलगू, मलयालम एवं तुलु हैं। द्राविड भाषाएँ संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं से भिन्न इसलिये मानी जाती हैं कि एक तो इन भाषाओं में व्यवहारोपयोगी स्वतन्त्र शब्द प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। अर्थात् इन भाषाओं को किसी भी आर्य भाषा से उधार लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। दूसरी बात यह है कि इस भाषा वर्ग का व्याकरण संस्कृत आदि आर्य भाषाओं के व्याकरणों से बहुत कुछ भिन्न है। इसके लिये कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं:—द्राविड भाषाओं में लिंग अर्थपरक हैं, संधिक्रम भिन्न है; संज्ञाओं के एकवचन और बहुवचन में एक ही प्रकार की विभक्तियाँ हैं; गुणवाचक शब्दों में तरतम भाव नहीं है; सम्बन्धार्थक सर्वनाम का सर्वथा अभाव है; कर्मणि प्रयोग कम हैं; क्रियाओं में निषेधरूप है और कृत्तद्धित प्रत्यय स्वतंत्र हैं।

ऊपर कहा गया है कि द्राविड भाषाओं में व्यवहार-पर्याप्त स्वतंत्र शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस भाषा वर्ग में संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं के ही शब्द हैं ही नहीं। पीछे समय के प्रभाव से संस्कृत और प्राकृत आदि आर्य भाषाओं के शब्दों को कौन कहे, क्रमशः इसमें उर्दू, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्द भी यथेष्ट आ मिले हैं। विदेशी शब्दों का यह आगमन केवल द्राविड़ भाषाओं में ही नहीं, प्रत्युत सभी भारतीय भाषाओं में इसी प्रकार होता रहा। इस प्राकृतिक अचल नियम को कोई रोक नहीं सकता। एक दृष्टि से यह है भी उपादेय। अन्यथा किसी भी भाषा के शब्द भाण्डार की वृद्धि नहीं हो सकती। इतना ही नहीं, प्रत्येक भाषा की सीमित शब्दावली से काम भी नहीं चल सकता। बल्कि भाषातत्त्व के धुरंधर विद्वान् डा० काल्डीवेल के मतानुसार अक्क, अत्त, कुटि, कोट, नीर, पल्लि, मीन, एड, मरुत, हेरंब, अट्ट, आम्, वल्लि, मुकुल, कुंतल, पालि, मंड, काक, माचल, मेक, सीर, ताल, वरुक, उलूक, तटिन्, मलय, आलि, कलि, गंड, कुंदि, खलीन, तल्प, कल्य और खर्जु आदि शब्द द्राविड भाषाओं से ही संस्कृत कोशों में लिये गये हैं।[1] इसी प्रकार दीनार, होरा आदि शब्द संस्कृत में लैटिन, ग्रीक आदि से लिये गये हैं। कई पाश्चात्य भाषा शास्त्रियों का मत है कि संस्कृत व्याकरण में ध्वनि विषयक खासकर टवर्गाक्षर द्राविड भाषाओं से ही लिये गये हैं।

यों तो मोहनजोदड़ो और हरप्पा आदि स्थानों में उपलब्ध चित्रलिपियों से द्राविड भाषाओं का मूल, वेद पूर्वकाल सिद्ध होता है। ब्राह्मी लिपि की तरह उस समय भी इन भाषाओं की लिपि मौजूद[2] थी। फिर भी खेद है कि दूसरी शताब्दी के पूर्व का कन्नड़ साहित्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। हाँ, द्वितीय शताब्दी के कतिपय कन्नड शिलालेख अवश्य उपलब्ध हुए हैं,

---

१ "कर्णाटक कविचरिते" भाग ३ की प्रस्तावना देखें।

२ "कन्नड संस्कृति" पृष्ठ ८० देखें।

साथ ही साथ मालूम हुआ है कि मिश्र में इसी शताब्दी के लिखे गये एक नाटक में भी कुछ कन्नड शब्द वर्तमान हैं।[1] इसी प्रकार बौद्ध धर्म के ग्रंथों में भी पोट्टे, तुप्प, तिन् आदि कन्नड शब्द उपलब्ध होते हैं। प्राचीन जैन ग्रंथों में खोजने से भी कन्नड शब्द मिल सकते हैं।

सुदीर्घ काल से ही कन्नड साहित्य की ओर ध्यान देने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिये जिस समय हिन्दी, बँगला, मराठी और गुजराती आदि भाषाओं का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय भी कन्नड साहित्य का भाण्डार अनेक बहुमूल्य ग्रंथरत्नों से भरा हुआ था। प्राचीन कन्नड साहिन्त्य को उच्च एवं प्रौढ़ बनाने का संपूर्ण श्रेय जैन आचार्यों एवं कविओं को प्राप्त है। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि जैनों के ही द्वारा कन्नड भाषा का उद्धार तथा प्रसार हुआ है और उन्होंने ही इस भाषा के साहित्य को एक उच्च श्रेणी की भाषा के गौरव योग्य बनाया है। कन्नड़ साहित्य को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचाने में असीम प्रयत्न कर उन्होंने उक्त साहित्य में सदा के लिये अपना नाम अमर कर दिया है। इसी से आज भी सारा कर्नाटक बड़े आदर के साथ इनके सुयश के गीत गा गा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। तेरहवीं शताब्दी तक कन्नड भाषा के जितने उद्भट ग्रंथकर्ता हुए हैं वे प्रायः सबके सब जैन हैं। "कर्नाटक कविचरिते" के मान्य संपादक महामहोपाध्याय स्व० आर० नरसिंहाचार्य एम० ए० के शब्दों में "जैन ही कन्नड भाषा के आदि कवि हैं। आज तक की उपलब्ध सभी प्राचीन एवं श्रेष्ठ कृतियाँ जैन कवियों की ही हैं। ग्रंथ रचना में जैनों के प्राबल्य का काल ही कन्नड साहित्य की उन्नत स्थिति का काल मानना होगा। प्राचीन जैन कवि ही कन्नड भाषा के सौन्दर्य एवं कांति के विशेषतः कारणभूत हैं। उन्होंने शुद्ध और गंभीर शैली में ग्रंथ रचकर ग्रंथ रचना कौशल को उन्नत स्तर पर पहुंचाया है। प्रारंभिक कन्नड साहित्य उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है। कन्नड भाषाध्ययन के सहायभूत छंद, अलंकार, व्याकरण और कोश आदि ग्रंथ विशेषतः जैनों के द्वारा ही रचे गये हैं।"

बोल-चाल की भाषा को ग्रंथरूप देने का सारा श्रेय जैन कवियों को प्राप्त है। उपलब्ध कन्नड़ साहित्य में नृपतुंग का कविराज मार्ग ही आदिम ग्रंथ एवं कवितागुणार्णव महाकवि आदि पंप ही आदि कवि हैं। इसी प्रकार महाकवि नागचंद्र के द्वारा प्रशंसित "अभिनववाग्देवी" उपाधि धारिणी कंति आदि कवयित्री है। विलक्षण कविता सामर्थ्य प्राप्त महाकवि पंप अद्वितीय कीर्तिशाली कवि था। कन्नड काव्यों में "कविचक्रवर्ती" उपाधि प्राप्त पोन्न, रन्न तथा जन्न ये तीनों वस्तुतः "रत्नत्रय" हैं। कविचक्रवर्ती महाकवि रन्न काव्यनिर्माण कला में महाकवि भवभूति से कम नहीं था, ऐसा एक काव्यमर्मज्ञ विद्वान् का कथन है। जिन-समय दीपक यह रन्न वस्तुतः कन्नड साहित्य का एक समुज्ज्वल रत्न था।

कन्नड जैन पुराणों में आदि पंप (ई० सन् ९४१) का आदि-पुराण, पोन्न (ई० सन् लगभग ९५०) का शांतिनाथपुराण, रन्न (ई० सन् ९९३) का अजितनाथपुराण, चावुंडराय (ई० सन् ९७८) का त्रिषष्टिशलाकापुराण, नागचन्द्र या अभिनव पंप (ई० सन् लगभग ११००) का मल्लिनाथपुराण, कर्णपार्य (ई० सन् लगभग ११४०) का नेमिनाथपुराण, अग्गल (ई० सन् ११८९) का चंद्रप्रभपुराण, आचण्ण (ई० सन् ११९५) का वर्धमान पुराण, नेमिचन्द्र (ई० सन् लगभग ११७०) का अर्धनेमि- पुराण, बंधुवर्मा (ई० सन् लगभग १२००) का हरिवंशपुराण, पार्श्व पण्डित (ई० सन् १२०५) का पार्श्वनाथ-पुराण, द्वितीय गुणवर्मा (ई० सन् लगभग १२२५) का पुष्पदंत पुराण, कमलभव (ई० सन् लगभग १२३५) का शांतीश्वर-पुराण, मधुर (ई० सन् लगभग १३८५) का धर्मनाथपुराण, मंगरस (ई० सन् १५०८) का नेमिजिनेश्वर संगति, शांतिकीर्ति (ई० सन् १५१९) का शांतिनाथपुराण, दोड्डय्य (ई० सन् १५५०) का चन्द्रप्रभपुराण प्रमुख हैं। इन सब में पदलालित्य, प्रसाद और सौष्ठव आदि काव्योचित सभी गुण मौजूद हैं। इसी प्रकार षट्पदि ग्रंथों में मंगरस (ई० सन् १५०८) का सम्यक्त्वकौमुदि, कुमुदेंदु (ई० सन् लगभग १२७५) का रामायण, भास्कर (ई० सन १४२४) का जीवंधरचरित, कल्याणकीर्ति (ई० सन १४३९) का ज्ञानचंद्राभ्युदय, बोम्मरस (ई० सन् १४८५) का सनत्कुमार चरित, कोटेश्वर (ई० सन् १५००) का जीवंधरषट्पदि और मंगरस (ई० सन् १५०८) का जयनृपकाव्य; सांगत्य ग्रंथों में रत्नाकरवर्णी (ई० सन् १५५७) का भरतेश-वैभव, पद्मनाभ (ई० सन् लगभग १६८०) का रामपुराण, चंद्रम (ई० सन् १६०५) का गोम्मटेश्वरचरित और बाहुबली

१—"कर्णाटक कविचरिते" भाग १ और २ की प्रस्तावना देखें।

(ई० सन् लगभग १५६०) का नाग-कुमारचरित ; शतक ग्रंथों में रत्नाकरवर्णी (ई० सन् १५५७) का शतकत्रयि; व्याकरण ग्रंथों में नागवर्मा (ई० सन् लगभग ११४५) के भाषाभूषण और शब्दस्मृति, केशिराज (ई० सन् लगभग १२६०)का शब्दमणिदर्पण, भट्टाकलंक (ई० सन् १६०४) का शब्दानुशासन,; छंद ग्रंथों में नागवर्मा (ई० सन् लगभग ११४५) का छंदोंबुधि; अलंकार ग्रंथों में नृपतुंग (ई० सन् ८१४) का कविराज मार्ग, नागवर्मा (ई० सन् लगभग ११४५) का काव्यावलोकन, उदयादित्य (ई० सन् ११५०) का उदयादित्यालंकार और साल्व (ई० सन् लगभग १५५० का रस-रत्नाकर आदि बहुत प्रसिद्ध हैं ।

पूर्वोक्त ग्रंथों के अतिरिक्त जैन कवियों ने वैधक, ज्योतिष, गणित, सूपशास्त्र, कामशास्त्र आदि लोकोपकारी विषयोंपर भी ग्रंथ रचना की है । वैद्यक ग्रंथों में सोमनाथ (ई० सन् ११५०) का कल्याणकारक, मंगराज (ई० सन् लगभग १३६०) का खगेन्द्रमणि दर्पण, श्रीधरदेव (ई० सन् लगभग १५००) का वैद्यामृत, साल्व (ई० सन् लगभग १५५०) का वैद्य सांगत्य देवेन्द्रमुनि (ई० सन् लगभग १२००) का बालग्रहचिकित्सा, कीर्तिवर्मा (ई० सन् लगभग ११२५) का गोवैद्य । ज्योतिष ग्रंथों में श्रीधराचार्य (ई० सन् १०४६) का जातकतिलक, शुभचन्द्र (ई० सन् लगभग १२००)का नरपिंगलि । गणित ग्रंथों में राजादित्य (ई० सन् लगभग ११२०) के व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न, लीलावति, चित्रहंसुगे, जैन गणितटीकोदाहरण आदि विश्रुत हैं ।

सोमनाथ का कल्याणकारक आचार्य पूज्यपाद के 'कल्याणकारक' का कन्नड रूपान्तर है । ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है । इसी प्रकार मंगराज या मंगरस का "खगेन्द्रमणिदर्पण" वैविषवैद्य संबंधी श्रेष्ठ ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित हो चुका है । इसमें सभी प्रकार के विषयों की चिकित्सा बतलायी गई है । सोमनाथ का "कल्याणकारक" भी मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित होने वाला है । वैद्यामृत, वैद्यसांगत्य और गोवैद्य उदार प्रकाशकों की प्रतीक्षा में हैं । हाँ, "जातकतिलक" भी हाल ही में मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकट हो चुका है । यह कन्नड साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण रचना है । मंगरस का सूपशास्त्र भी शीघ्र ही मैसूर विश्वविद्यालय की ओर से प्रकाशित होने वाला है । महाकवि रन्नका अनुभव मुकुरं (कामशास्त्र) बेंगलूर कन्नड साहित्य परिषत् की ओर से प्रकट हो चुका है । ये ग्रंथ हिन्दी में अनुवाद करने योग्य हैं । अस्तु ।

उपर्युक्त कवियों में महाकवि नागचन्द्र या अभिनव पंप यदि उपासनाप्रिय हैं तो कवि नेमिचन्द्र पक्के शृंगारोपासक हैं । कविचक्रवर्ती जन्न अगर अहिंसाप्रेमी हैं तो विरक्त कवि बंधुवर्मा अध्यात्म प्रिय हैं । इसी प्रकार महाकवि अग्गल अगर संस्कृत पक्षपाती हैं तो कवि अंडय्य कन्नड पक्षपाती । सर्वप्रथम संस्कृत भाषा के बहुमूल्य सुन्दर भूषणों को पहनाकर कन्नड वाग्देवी को सजाने का श्रेय एवं बादमें उस अलंकार भारसे दुःखी उसे उस भार से मुक्त करने का श्रेय दोनों जैन कवियों को ही प्राप्त है । साथ ही साथ कन्नड भाषा में जब क्रमशः शिथिलता आने लगी, तब उसमें दृढ़ता लाने वाला वैद्याकरण केशिराज भी जैन था । इस प्रकार प्रत्येक पहलुओं से जैन कवियों ने कन्नड भाषा की अखंड अद्वितीय सेवा की है, जो कभी भी भुलाई नहीं जा सकती । जैन काव्यों में हमें केवल काव्यधर्म ही नहीं, किंतु आत्मवाद, साम्यवाद, अपेक्षावाद, अहिंसावाद और स्याद्वाद आदि सभी मिलते हैं । पुराणों में भी हमें अभीष्ट महापुरुषों की जीवनी के साथ-साथ अनुकरणीय आदर्श चरित्र का संकेत भी मिलता है । अगर इनके पूर्वार्द्ध में शृंगाररस की स्वच्छ यमुना बहती है तो उत्तरार्ध में नियम से शांतरस की विमल गंगा बहती मिलेगी । किसी भाषा के हों, जैन पुराण एवं काव्यों में यह एक उल्लेखनीय खास गुण है । साथ ही साथ जैन कवि कभी भी अपनी कृतियों का नायक सामान्य व्यक्तियों को नहीं बनाते । इसीलिये महाकवि अर्हद्दास ने "मुनिसुव्रतकाव्य" नामक अपने महाकाव्य के प्रारम्भ में "सरस्वती कल्पलतां स को वा संवर्धयित्यन् जिन पारिजातं । विमुच्य कांजीरतरूपमेषु व्यारोपयेत् प्राकृतनायकेषु ॥" ऐसा स्पष्ट कहा है। जैन कवि सदा तीर्थंकर आदि महापुरुषों को ही अपनी रचनाओं का नायक चुनते हैं ।

पंप, रन्न, नागचंद्र और जन्न इन जैन कवियों के नाम कन्नड साहित्य में आचंद्रार्क अमर रहेंगे । अंडय्य और नेमिचन्द्र जैसे प्रौढ़ कवियों ने लौकिक कथाओं को भी लिखा है, जो कि बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है । रसिक कवि रत्नाकर का भरतेशवैभव तो एक अद्भुत चीज है । इसमें रत्नाकर के विशाल अध्ययन तथा व्यापक ज्ञान का यथेष्ट परिचय मिलता है । पंप और रन्न का महाभारत और नागचन्द्र की रामायण दुर्योधन तथा रावण जैसे व्यक्तियों

में भी आदर बुद्धि उत्पन्न कराती है। सारांशतः जैन कवियों ने हमें काव्य, काव्यलक्षण, जीवनोपयोगी ज्ञान आदि सब कुछ दिया है। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, विजयनगर और मैसूर आदि शासक पूर्वोक्त मान्य कवियों के पोषक एवं प्रोत्साहक बने रहे। इन्हीं राजा-महाराजाओं का आश्रय पाकर पंप, रन्न, पोन्न, और जन्न जैसे महाकवियों ने अपनी अमर कृतियों के द्वारा कन्नड वाग्देवी का मुख उज्ज्वल किया है। जिस प्रकार अन्यान्य प्रान्तों में विद्वानों के द्वारा अपने-अपने साहित्य का काल निर्धारित है, उसी प्रकार कन्नड साहित्य का काल भी प्राचीन, माध्यमिक और वर्तमान ऐसे, अथवा क्षात्र, मतप्रचारक एवं वैज्ञानिक काल के भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त है। प्राचीन काल नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक, माध्यमिक काल बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक, वर्तमानकाल सत्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक माना गया है। कन्नड साहित्य सेवा का भार तीन धर्मानुयायियों के ही हाथ में रहा। जिस समय जिस-जिस धर्म की प्रधानता थी उस समय प्रधानतया उस धर्म के अनुयायियों ने पूर्ण रीति से साहित्य सेवा की है। प्रायः ई० सन् नवमी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक जैनों का विशेष प्रभाव था। अतएव कन्नड भाषा का प्रारंभिक साहित्य उन्हीं की लेखनी द्वारा लिखा गया है। इस सम्बन्ध में कन्नड साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् शेष बी० पारिशवाडे के शब्दों में सुनलें—"लगभग ई० सन् छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक के सात-आठ सौ वर्ष संबंधी जैनों के अभ्युदय प्राप्ति-निमित्त जो वाङ्मय है, उसका अवलोकन करना समुचित है। तत्कालीन करीब २८० कवियों में ६० कवियों को स्मरणीय एवं सफल कवि मान लेने पर इनमें ५० जैन कवियों के नाम ही हमारे सामने आ उपस्थित होते हैं। इन ५० जैन कवियों में ४० कवियों को निस्संदेह हम प्रमुख मान सकते हैं। लौकिक चरित्र, तीर्थंकरों के पारमार्थिक पुराण और दार्शनिक आदि अन्यान्य भी ग्रंथ जैनों के द्वारा ही जन्म पाकर, वे कन्नड साहित्य के ऊपर अपना प्रभाव शाश्वत जमाए हुए हैं।"

जैनों के बाद बारहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक लिंगायतों (शैव) का प्राधान्य रहा। अतः इन शताब्दियों में प्रधानतया कन्नड साहित्य इन्हीं के हस्तगत रहा। सत्रहवीं शताब्दी से आज तक ब्राह्मणों की प्रधानता में दो-तीन शताब्दियों से इस धर्म के कवि साहित्य सेवा कर रहे हैं। प्राचीन समय में धर्मोन्नति के साथ-साथ साहित्य का संबंध बड़ा सुन्दर रहा। साथ ही साथ वह विशद रूप से अपने ऐतिहासिक रहस्य को भी प्रकट करता है। यद्यपि कन्नड भाषा का प्रारंभिक काल 'जैन काल' माध्यमिक काल 'लिंगायत काल' और वर्तमान काल 'ब्राह्मण काल' कहलाता है अवश्य; फिर भी लिंगायत या वर्तमान काल में जैन अपनी परंपरागत पवित्र साहित्य सेवा को भूले नहीं। इन समयों में भी अनेक जैनग्रंथ रचे गये हैं।

अब मैं जैन समाज के समक्ष एक परमावश्यक प्रस्ताव उपस्थित करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। वह यह है कि कन्नड जैन साहित्य के मौलिक ग्रंथों का अनुवाद या तात्पर्यांश हिन्दीभाषा-भाषी जनता के सामने आ जाना परमावश्यक है। खासकर जो कृतियाँ संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में नहीं मिलती हैं, उनका तो प्रकाश में आना अनिवार्य ही कहा जा सकता है। जो संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं में प्राप्त होते है, बल्कि उन्हीं के आदर्श पर कन्नड में रचे गये हैं, उनका प्रकटीकरण भी अनुपादेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राचीन क्रमिक जैन संस्कृति का पता लगाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी। बस, यह कन्नड जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय है।

तमिलु जैन साहित्य

(विद्याभूषण पं० के० भुजबलि शास्त्री संपादक, "गुरुदेव" मूडबिद्री)

यह बात स्पष्ट विदित होती है कि तमिलु साहित्य प्रारंभ से ही जैनधर्म और जैन संस्कृति से प्रभावित रहा। साथ ही साथ यह भी सुविश्रुत है कि जैनधर्म उत्तर भारत में उदित होने से इसका आर्यसंस्कृति से अवश्य सम्बन्ध था। सूक्ष्म अध्ययन से हमें पता लगता है कि सिंधु की घाटी में आर्यों की अवस्थिति के आदिकाल से ही उन आर्य लोगों में ऐसा भी वर्ग रहा जो बलि-विधान का विरोधी एवं अहिंसा-सिद्धान्त का समर्थक था। ऋग्वेद-संहिता में भी मान्य विद्वान जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अर्थात् नेमिनाथ का उल्लेख पाते हैं।

ब्राह्मण साहित्य भी आर्यों के दो प्रमुख समुदायों के मध्य में आगे विद्यमान राजनैतिक और सांस्कृतिक भेदों को बताता है। शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि कुरु एवं पांचालदेशीय ब्राह्मणों का पूर्वीय देशों में जाना सुरक्षित नहीं है; क्योंकि इन देशों के आर्य लोग वैदिक विधि विधान सम्बन्धी धर्मों को भूल गये हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने बलि देना त्याग दिया है, बल्कि उन्होंने एक नये धर्म को प्रारम्भ किया है, जिसके अनुसार बलि न देना ही यथार्थ धर्म है। ऐसे अवैदिक आर्यों से तुम किस सम्मान की आशा कर सकते हो, जिन्होंने धर्म के प्रति आदर सम्मान का भाव ही छोड़ दिया है। इतना ही नहीं, वेदों की की भाषा से भी जिन्होंने अपना सम्पर्क नहीं रखा है। इसके सिवाय इन पूर्वीय देशों के क्षत्रिय अपने को ब्राह्मणों से बड़े मानते हैं। पंचविंश ब्राह्मण के एक प्रमाण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कुछ समय तक आर्यों के क्रियाकांड के विरोधी दलों का विशेष प्राबल्य था और वे इंद्र पूजा तथा यज्ञात्मक क्रियाकांड के विरुद्ध उपदेश देते थे। बल्कि इन उपदेशों को मुंडित [illegible]तियों के रूप में बताया है। जैनेतर साहित्य में वर्णित ये सब बातें विशेष महत्त्व की हैं, क्योंकि वे अहिंसा धर्म की प्राचीनता की ओर संकेत करती हैं। अब जैन साहित्य की ओर देखिये। इसमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत के चौबीसों तीर्थंकर क्षत्रिय वंश के कहे गये हैं। साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव ने अहिंसा सिद्धान्त के उपदेश पूर्वक तपश्चर्या और योग द्वारा आत्मसिद्धि की ओर ज्ञानियों का ध्यान आकर्षित किया था। जैन तीर्थंकरों में से अधिकतम पूर्वीय देशों से सम्बन्धित हैं। अयोध्या से ऋषभदेव, मगध से महावीर और मध्यवर्ती तीर्थंकरों का उन देशों से सम्बन्ध था जो पूर्वीय आर्य देशों में सम्मिलित हैं। बल्कि इन लोगों ने तात्कालिक जनता की बोलचाल की भाषा प्राकृत में ही अपना पवित्र उपदेश दिया था, न कि वैदिक संस्कृत भाषा में। सारांशतया ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अयथार्थ नहीं होगा कि पूर्वीय आर्य लोग जो यज्ञविधि के विरोधी थे, जिनके नेता वीर क्षत्रिय थे, एवं अहिंसा सिद्धान्त में विश्वास रखने थे, वे जैनों के पूर्वज थे।

तमिलु प्रदेश में जैनों का आगमन कब हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। श्रवणबेलगोल में प्राप्त शिला-लेखों आदि के आधार से चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा के काल में अर्थात् ई० पू० २९७ में दक्षिण में जैनों का आगमन हुआ, ऐसी अनेक पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानों की राय है। पर कई अन्वेषक विद्वान् इस बात को नहीं मानते हैं। उनका मत है कि इससे पूर्व ही जैनधर्म यहाँ पर मौजूद था। अन्यथा अपने अनुयायियों से शून्य इस दक्षिण भारत में हजारों साधुओं को ले आने का साहस श्रुतकेवली भद्रबाहु कभी नहीं करते। दक्षिण की ओर इस आशा से भद्रबाहु का आगमन हुआ होगा कि हजारों साधुओं को बंधुत्व-भावपूर्ण जाति द्वारा हार्दिक स्नेहपूर्ण स्वागत प्राप्त होगा। यह बात तर्क संगत भी है। इस तर्क के अतिरिक्त अन्य आधार भी हैं। 'महावंश' आदि बौद्ध ग्रंथों में वर्णित सिंहलद्वीप के वर्णन में निग्गंठों (जैन मुनियों) के उल्लेख मिलते हैं। खारवेल के हाथीगुफा वाले लेख में यह बात स्पष्ट लिखी हुई मिलती है कि सम्राट् खारवेल के राज्याभिषेक के समय पाण्ड्य नरेश ने कई जहाज भरकर उपहार भेजे थे। खारवेल प्रमुख जैन सम्राट् थे और पाण्ड्य नरेश उसी धर्म के अनुयायी थे। पाण्ड्य नरेश जैन धर्मानुयायी थे, यह बात तमिलु साहित्य के शिला-लेखों से भी स्पष्ट है। साथही साथ तमिलु ग्रंथ 'नालडियार' के संबंध में यह कहा जाता है कि उत्तर में दुष्काल के कारण आठ हजार जैन साधु पाण्ड्य देश में आये थे। दुष्काल के बाद ये साधु अपने देश को वापिस जाना चाहते थे। पर उनका वापिस जाना पाण्ड्य नरेश को इष्ट नहीं था। अतः उन सबों ने एक रात्रि को पाण्ड्य नरेश की राजधानी को त्याग दिया।

आते समय प्रत्येक ने एक-एक ताड़ के पत्तेपर एक-एक पद्य लिखा था और उसे वहीं अपने स्थान पर छोड़ दिया था। इन पद्यों के संग्रह से ही 'नालडियार' नामक ग्रंथ बना। ग्रंथ का यह नाम ही पूर्वोक्त कथन का प्रमाण है। इस परंपरागत कथन को दक्षिण के जैन तथा जैनेतर परंपरा से मानते हैं। इस कथन से इस बात का समर्थन होता है कि तमिलु देश में भद्रबाहु के आगमन के पूर्व भी जैन नरेश मौजूद थे।

देवचन्द्र की कन्नड 'राजावलिकथे' में भी इससे संबंध रखने वाला एक उल्लेख मिलता है। वह उल्लेख यह है कि मुनि भद्रबाहु ने दिव्यज्ञान के द्वारा अपने अवसान को जानकर प्रमुख शिष्य विशाखाचार्य को बुलाकर आज्ञा दी कि आप १२००० विद्वान् मुनियों के साथ चोल और पाण्ड्य देशों में जाकर जैनधर्म का प्रचार कीजिये। विशाखाचार्य अपने श्रुतकेवली गुरु की आज्ञानुसार विज्ञ मुनियों के साथ तमिलु देश में गये और वहाँ पर उन सबों ने आनन्दपूर्वक पवित्र जिनालयों का दर्शन किया एवं वहां के स्वधर्मी भाइयों को जैनधर्म का रहस्य बतलाया। इस उल्लेख से भी भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा के पूर्व ही तमिलु प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध होता है। एक प्रमाण और है। वह यह कि भागवत [पंचमस्कंध] का कहना है कि भगवान् ऋषभदेव ने जैनधर्म के प्रचारार्थ कोंक (कोंकण), वेंक और कुटक (कोडगु) आदि देशों में दीर्घकाल तक पर्यटन किया था। कोंकण और कोडगु ये दोनों कर्णाटक प्रान्त के ही दो विशाल प्रदेश हैं। इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सांसारिक भोगोपभोगों से विरक्त, आत्मकल्याण के इच्छुक प्रचार-प्रेमी जैन धर्मानुयायियों को एकांत, निर्जन और प्रशांत दक्षिण भारत बहुत पहले से ही प्रिय लगना सर्वथा स्वाभाविक है। अस्तु, अब प्रस्तुत विषय पर आइये।

भाषा शास्त्रियों ने संसार की सभी भाषाओं को तीन विभागों में विभक्त किया है। वे तीन विभाग ये हैं—आर्य, सेमिटिक और तूरानी। संस्कृत आदि उत्तर भारतीय भाषायें और ग्रीक, लैटिन आदि पाश्चात्य भाषाएँ आर्य विभाग में; हिब्रू, अरबी आदि भाषायें सेमिटिक विभाग में; मंगोली तुर्की आदि भाषाएँ तूरानी विभाग में गर्भीकृत हैं। काल्डवेल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने तमिलु भाषा को भी तूरानी विभाग में ले लिया था। किन्तु आधुनिक विद्वान् इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते। द्राविड भाषाएं उपर्युक्त तीन विभागों से भिन्न है, ऐसा इन विद्वानों का मत है। शतमानों के पूर्व उत्तर भारतीय अन्यान्य भाषाओं की तरह तमिलु भाषा भी संस्कृत जन्य है, यह कतिपय विद्वानों की राय थी। पर भाषा विशारद काल्डवेल ने इस मान्यता को सप्रमाण सदोष सिद्ध कर दिया है। काल्डवेल का कहना है कि तेलुगु, कन्नड एवं मलेयाल भाषाएँ क्रमशः अधिकाधिक परिमाण में संस्कृत शब्दों को लिये हुए हैं और ये भाषाएँ कभी संस्कृत से सर्वथा स्वतंत्र नहीं हो सकतीं। तमिलु भाषा की बात ऐसी नहीं है। यह संस्कृत शब्दों का आसानी से परित्याग कर सकती है। बल्कि उसकी सहायता के बिना भी यह एक उच्च स्थिति को पाने के लिये समर्थ है।

समस्त तमिलु साहित्य को हम तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—संघकाल, शैव, नैनार और वैष्णव अलवारकाल और अर्वाचीन काल। इन तीनों युगों में रचित ग्रंथों से तमिलु देश में जैनों के जीवन और कार्य का अच्छा पता लगता है। तमिलु लेखकों के मतानुसार संघकाल भी प्रथम संघ, द्वितीय संघ और तृतीय अथवा अंतिम संघ के नाम से तीन प्रकार है। अन्वेषक विद्वानों की राय से ई०पू० पांचवी शती से ई० सन् पांचवीं-छठी शताब्दी तक अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष का काल संघकाल या संगमकाल माना गया है। इस काल में भी ई० सन् द्वितीय शताब्दी तक प्रथम संघ का काल, ई० सन् द्वितीय शताब्दी से चौथी शताब्दी तक द्वितीय संघ का काल और ई० सन् पांचवीं और छठी शताब्दियां तृतीय संघ का काल निश्चित किया गया है।

इसमें शक नहीं है कि तमिलु एक सुप्राचीन भाषा है। आधुनिक भाषा विशारदों का मत है कि ई० पू० से बहुत पहले ही यह बहुत उन्नत स्थिति में थी। साथ ही साथ इन भाषाशास्त्रियों का यह भी अभिप्राय है कि सुप्राचीन काल में विंध्यपर्वत के दक्षिण भाग में एक ही भाषा बोली जाती थी, बाद में इसी भाषा से समस्त द्राविड भाषाएँ पैदा हुईं, और वह आदिम भाषा प्राचीन तमिलु भाषा से बहुत कुछ मिलती है। कुछ भी हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है कि द्राविड़ भाषाओं में तमिलु भाषा सर्वप्राचीन है। इस भाषा के ऊपर संस्कृत भाषा का प्रभाव बहुत कम पड़ा है। प्राचीन तमिलु ग्रंथ में कन्याकुमारी के दक्षिण भागस्थ पर्वत नदी एवं नगरों आदि का वर्णन उपलब्ध होने से यह भाषा सुप्राचीन तथा उस काल में उन भागों में यही भाषा व्यवहार में रही होगी ऐसा शोधकों का मत है। यहाँ तक संक्षेप में तमिलु भाषा का इतिवृत्त हुआ। अब तमिलु जैन साहित्य को लीजिये।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि दक्षिण भारत में जैन धर्म ई० पू० से बहुत पहले ही प्रचार में था। तृतीय संघ के काल में वैदिक धर्म के साथ यह भी मौजूद था। कई विद्वानों की राय है कि ई० सन् तृतीय शताब्दी से छठी शताब्दी तक वैदिक धर्म से जैन धर्म विशेष प्रबल रहा। संघकालीन ग्रंथों में 'तिरुक्कुरल' ही अंतिम ग्रंथ है। इससे पूर्व के ग्रंथों में कुछ ही ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। तृतीय संघ की ख्याति क्रमशः कम होकर ई० सन् तृतीय शताब्दी में वह नाम शेष हुआ। ऐसी परिस्थिति में भी जैन लेखक वात्सल्य एवं गौरवपूर्वक तमिलु भाषा को बढ़ाते गये। ई० सन् छठी शताब्दी तक इन्होंने तमिलु में अनेक ग्रंथों की रचना की है, किन्तु आजकल उन ग्रंथों में से बहुत से नष्ट हो चुके हैं। अवशिष्ट ग्रंथों से भी जैनों का ज्ञान और पाण्डित्य स्पष्ट प्रकट होता है। द्राविड़ भाषाओं में कन्नड भाषा की तरह तमिलु भाषा भी जैनों की विशेषतः ऋणी है। अब नीचे प्रमुख तमिलु जैनग्रंथों का थोड़ा सा परिचय दिया जाता है।

तोल्काप्पियम:—यह तमिलु भाषा का एक प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याकरण ग्रंथ है। इस महत्त्वपूर्ण व्याकरण के लेखक के धर्म के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। स्व० प्रो० ए० चक्रवर्ती ने जीवविभागादि कतिपय अंतरंग समीक्षा के द्वारा इस ग्रंथ को एक जैन विद्वान् की रचना बतलाया है। कहते हैं कि अत्यन्त प्राचीन यह तमिलु व्याकरण ग्रंथ प्रायः एक ऐसे जैन विद्वान् द्वारा रचा गया था जो संस्कृत व्याकरण और साहित्य में समान रूप से प्रवीण था। तमिलु भाषा के बाद के व्याकरण ग्रंथों की यही जड़ है। तमिलु भाषा का यह महान् व्याकरण द्वितीय संघ काल का कहा जाता है। उपलब्ध सभी तमिलु ग्रंथ तृतीय संघ काल के माने जाने से यह व्याकरण ग्रंथ सम्पूर्ण उपलब्ध तमिलु साहित्य का पूर्ववर्ती माना गया है।

कुरल् :—प्रचार की दृष्टि से यह नीति-ग्रंथ तमिलु साहित्य में सबसे अधिक प्रधान है। ग्रंथ का यह कुरल नाम इसमें प्रयुक्त छंद के कारण पड़ा है। यह अहिंसा सिद्धान्त के आधार पर रचा गया है। संपूर्ण ग्रंथ में अहिंसा धर्म की स्तुति की गई है। तमिलु प्रान्त के शैव, वैष्णव आदि प्रायः सभी सम्प्रदाय इस रचना को अपनी-अपनी बताते हैं। जैनों का कहना है कि यह जैनाचार्य की कृति है। जैन परंपरा इस महान् ग्रंथ का संबंध कुंदकुंद अपर नाम एलाचार्य से मानती है। कुंदकुंद का काल ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। कुरल के सूक्षम अध्ययन से एक निष्पक्ष विद्वान् अहिंसा धर्म प्रधान इस ग्रंथ को जैनाचार्य प्रणीत ही मानेगा। एक परंपरा के आधार पर इसके लेखक कोई तिरुवल्लुवर कहे जाते हैं। इसमें तीन विषयों पर प्रकाश डाला गया है—धर्म अर्थ और काम। धर्म के प्रकरण में स्पष्ट लिखा है कि हजारों यज्ञों के करने की अपेक्षा किसी प्राणी का वध न करना और भक्षण न करना अधिक अच्छा और श्रेयष्कर है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि लेखक याज्ञिक बलिदान के विरोधी हैं। शाकाहार का वर्णन करने वाले दूसरे अध्याय में ग्रंथकार स्पष्ट शब्दों में कसाई के यहाँ से मांस खरीदने के बौद्धों के सिद्धान्त को घृणित बताता है, क्योंकि भोजन के निमित्त प्राणिहिंसा का दायित्व प्रधानतया विक्रेता के ही ऊपर है न कि कसाई पर। यहाँ पर स्पष्टतया उसका निराकरण है। नीलकेशि नामक ग्रंथ का जैन-टीकाकार इस कुरल संबंधी अपने अवतरणों में "जैसा कि हमारे शास्त्रों में कहा है" यों स्पष्ट रूप से कुरल को महत्त्वपूर्ण जैन शास्त्र मानता था। यद्यपि कुरल ग्रंथ के मंगलाचरण में किसी भी भगवान् का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। फिर भी विद्वानों की राय है कि 'कमलगामी' 'अष्टगुणयुक्त' आदि भगवान् के विशेषण रूप में प्रयुक्त जैनों के इन पारिभाषिक शब्दों से कुरल का रचयिता जैन धर्मावलम्बी सिद्ध होता है।

नालडियार:—कुरल और नालडियार ये दोनों ग्रंथ तमिलु देशवासियों के चरित्र और आदर्शों के निर्माण में प्रधान कारण रहे हैं। इस ग्रंथ का नामकरण ठीक कुरल के समान इसके छंद के कारण हुआ है। इस रचना में चार सौ चौपाइयाँ हैं। यह संग्रह ग्रंथ है। श्रुति परंपरानुसार प्रत्येक पद्य जैन मुनि के द्वारा रचा गया है, इस बात का उल्लेख मैं ऊपर कर चुका हूँ। विस्तार से बताने के लिये यहाँ पर स्थान नहीं है। इस ग्रंथ का निर्माणकाल बताना कठिन है। हाँ यह तमिलु भाषा के नीति के सुप्राचीन ग्रंथों में एक है और प्रायः कुरल का समकालीन अथवा इससे कुछ पूर्ववर्ती है। तमिलु भाषा के अठारह नीति ग्रंथों में कुरल् और नालडियार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समझे जाते हैं। तमिलु साहित्य के ज्ञान के लिये इन दोनों ग्रंथों का अध्ययन करना आवश्यक है। जब तक इन दोनों महान् ग्रंथों में प्रवीण नहीं होता है तब तक कोई भी व्यक्ति तमिलु विद्वान् कहे जाने का अधिकारी नहीं होता। इन ग्रंथों के अतिरिक्त नीति के अठारह ग्रंथों में निरूपित नैतिक सिद्धान्त सभी धर्मावलम्बियों के लिये उपादेय माने जाते हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त नीति के अठारह नीति ग्रंथों में सम्मिलित 'अरनेरिच्चारम्' पलनोलि आदि भी मूलतः जैनाचार्यों की कृतियाँ हैं।

अब काव्य साहित्य पर आइये। महाकाव्य और लघुकाव्य के भेद से काव्य साहित्य दो प्रकार का है। महाकाव्य संख्या म पाँच हैं—जीवकचिंतामणि, शिलप्पडिकारम्, मणिमेखलै, बलैयापति और कुंडलकेशि। इनमें जीवकचिंतामणि शिलप्पडि-कारम् और बलैयापति ये तीन जैन ग्रंथ और शेष दो बौद्ध ग्रंथ हैं। इन पाँच महाकाव्यों में से इस समय तीन ही उपलब्ध हैं। बलैयापति और कुंडलिकेशि ये दोनों अनुपलब्ध हैं। इसलिये इन ग्रंथों के संबंध में विशेष कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इधर-उधर इन ग्रंथों के सिर्फ कुछ पद्य उपलब्ध हैं।

शिलप्पडिकारम् :—तमिलु में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। तमिलु साहित्य के काल निर्णय में यह ग्रन्थ विशेष सहायक हैं। इसके लेखक चेर के युवराज हैं जो कि पीछे एक जैन मुनि हो गये थे। इसके तीन खंड हैं। साथ ही साथ तीन अध्याय भी। इस महाकाव्य में दक्षिण भारत के इतिहास से दिलचस्पी रखनेवाले विद्वानों के लिये यथेष्ट सामग्री मौजूद है। विद्वानों की राय से यह महाकाव्य ई० सन् द्वितीय शताब्दी का है। इस कथा में तीन प्रमुख एवं मूल्यवान सत्य विद्यमान हैं—(१) अगर एक नरेश सत्य के मार्ग से तनिक भी विचलित होता है तो वह अपनी अनीतिमत्ता के फलस्वरूप अपने तथा अपने राज्य के ऊपर संकट लावेगा; (२) शील के मार्ग पर चलने वाली महिला न केवल मनुष्यों के द्वारा प्रशंसित एवं पूजित होती है किन्तु देवों और मुनियों के द्वारा भी; (३) कर्मों की गति इस प्रकार की है कि उनका फल अवश्यम्भावी है, इससे कोई बच नहीं सकता।

जीवकचिन्तामणि :—यह ग्रंथ पाँच महाकाव्यों में सबसे बड़ा और उपलब्ध तमिलु साहित्य में निःसंदेह सर्वोत्कृष्ट है। कल्पना की महत्ता, शैली की सुन्दरता और प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में यह तमिलु साहित्य में बेजोड़ है। बाद के तमिलु जैन ग्रंथकारों को यह केवल एक अनुकरणीय उदाहरण ही नहीं रहा, परन्तु एक मोहक आदर्श भी। यह अतीव अद्भुत महाकाव्य है। इसके रचयिता तिरुतक्कदेव हैं। यह जीवंधर का चरित्र है। इसमें प्रेम तथा सौन्दर्य के विविध रूपों का समावेश है। यह ८वीं शताब्दी के बाद की रचना है। इसमें तीस अध्याय हैं। पहले में कथानायक का जन्म एवं शिक्षण वर्णित है, और अंतिम अध्याय उसके निर्वाण के वर्णन के साथ समाप्त होता है। जीवंधर की कथा संस्कृत साहित्य में बहुलता से पाई जाती है। अतः इस विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं।

यशोधर काव्य :—इसके रचयिता एक मुनि हैं। इनका नाम अज्ञात है। प्रो० चक्रवर्ती का अनुमान है कि माधवाचार्य के द्वारा यज्ञ संबंधी हिंदूधर्म के सिद्धान्त में संशोधन होने के पश्चात् की यह रचना है। माधवाचार्य ने वैदिक क्रियाकांड में यह कल्याणकारी संशोधन किया कि चावल के आटे की बनी हुई वस्तु के द्वारा पशुबलि का काम निकाला जा सकता है। यशोधर काव्य की कथा का स्पष्ट उद्देश्य यह है कि इस प्रकार के सुधार के साथ भी वैदिक यज्ञविधि त्याज्य है। हाँ, प्रसंगवश इसमें जैनधर्म संबंधी अनेक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। तमिलु के पाँच लघुकाव्यों में यशोधर काव्य अन्यतम है। शेष चार हैं—चूलामणि, उदयनन् कथै, नागकुमार-काव्य और नीलकेशि। इन पांचों के रचयिता जैन कवि हैं।

चूलामणि :—इसका आधार आचार्य जिनसेन के महापुराण की एक पौराणिक कथा है। कथा के नायक त्रिविष्टप नामक एक वासुदेव हैं। यह वासुदेव जैन परम्परा से माने जाने वाले नौ वासुदेवों में से अन्यतम हैं। इसमें कुल १२ सर्ग और २१३१ पद्य हैं। श्री दामोदर पिल्ले की राय से यह ग्रंथ महाकाव्यों के पूर्व का होना चाहिये। ग्रंथ सुन्दर है।

नीलकेशि :—यह लघु काव्य एक जैन दार्शनिक कवि की रचना है। यह भारतीय दर्शनशास्त्र से संबंध रखनेवाला एक तर्कपूर्ण ग्रंथ है। इस पर 'मेरु मंदर पुराण' के रचयिता वामनमुनि रचित 'समय दिवाकर' नाम की एक सुन्दर टीका है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह 'नीलकेशि' बौद्धों के उस 'कुंडल केशि' ग्रंथ का प्रतिवाद स्वरूप है जो कि इस समय लुप्तप्राय है। नील-केशि की कथा 'कुंडलकेशि' के साँचे में ढली हुई है और कुंडलकेशि के दार्शनिक विचारों के खंडन के लिये ही यह निर्मित हुई है। यह तमिलु साहित्य का बहुत प्राचीन ग्रंथ है। इसमें ८९४ पद्य हैं। अवशिष्ट दो लघुकाव्यों के बारे में मुझे कुछ लिखना नहीं है। इन दोनों के नाम से ही ग्रन्थगत, विषय स्पष्ट मालूम पड़ता है।

उल्लिखित ग्रंथों के अतिरिक्त मेरुमंदरपुराणम्, श्रीपुराण, यप्परंगुलक्करिकै (व्याकरण), यप्परंगुलवृत्ति (व्याकरण), नेमिनाथम् (व्याकरण), नानूल (व्याकरण), अच्चनंदिमलै (छंद) और जिनेन्द्रमालै (ज्योतिष) आदि ग्रंथ भी हैं। लेख-वृद्धि के भय से इस समय इन ग्रंथों के बारे में भी मैं कुछ नहीं लिख रहा हूँ। बस, इस प्रकार तमिलु जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय हुआ है।

जैन धर्म ने दक्षिण भारत पर बहुत प्रभाव डाला है। देशी भाषाओं की उन्नति करते हुए जैनों ने दक्षिणात्यों में आर्य विचारों और आर्यविद्या का अपूर्व प्रचार किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि द्राविड़ साहित्य ने उत्तर भारत से नवीन संदेश की घोषणा की। मि० फ्रेजर ने अपने भारत के साहित्यिक इतिहास (A Literary History of India) नामक पुस्तक में लिखा है कि "यह जैनों के ही प्रयत्नों का फल था कि दक्षिण में नये आदर्शों, नये साहित्य और नये भावों का संचार हुआ।" राम स्वामि अय्यंगार के शब्दों में "जैनों की उपासना आदि के विधान ब्राह्मणों की अपेक्षा सीधे सादे ढंग के थे और उनको अपने मध्य में स्थान दिया। यहाँ तक कि अपने धार्मिक जीवन में उन्हें अत्यन्त आदर और विश्वास का स्थान दिया। जैन लोग बड़े विद्वान् और ग्रंथ-रचयिता थे। वे साहित्य और कला प्रेमी थे। जैनों की तमिलु सेवा तमिलु देशवासियों के लिये अमूल्य है। तमिलु भाषा में संस्कृत शब्दों का उपयोग पहले पहल सबसे अधिक जैनों ने ही किया। उन्होंने संस्कृत शब्दों को उच्चारण की सुगमता की दृष्टि से यथेष्ट रूप में बदल डाला। कुरलू के पश्चात् के युग में प्रधानतः जैनों की संरक्षता में तमिलु साहित्य अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँचा। तमिलु साहित्य की उन्नति का यह सर्वश्रेष्ठ काल था। यह जैनों की विद्या और प्रतिभा का समय था।" यही अत्यन्त संक्षेप में तमिलु जैन साहित्य का परिचय है।

मराठी जैन साहित्य

(ले० एस० जे० किलेदार)

प्रारंभक :—

मराठी भाषा का प्रथम वाक्य शक ९८३ में कर्नाटक प्रदेशांतर्गत श्रवण-बेल-गोल के गोमटेश्वरकी जगप्रसिद्ध मूर्ति के नीचे खुदा हुआ है। किन्तु शक १४०० तक किसी भी जैन मराठी ग्रंथकर्ता की कोई भी कृति अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी। जैन मराठी वाङ्मय की धारा इतने लंबे अर्से तक कैसे लुप्त रही यह आश्चर्य की बात है। इसका एक कारण हो सकता है। महाराष्ट्र के मराठी भाषी जैन लोग उत्तर की ओर गुजराती भाषा से ईशान्य और पूर्वी दिशा में हिन्दी से तथा दक्षिण दिशा में कानडी जैसी प्रभावशाली भाषा से घिरे हुए थे। हो सकता है सर्वसामान्य स्त्री-पुरुष अपनी धार्मिक जिज्ञासा गुज-राती व कानडी में लिखे गये ग्रंथों द्वारा पूर्ण करते रहे हों। पंडित लोगों के लिए संस्कृत तथा प्राकृत का ग्रंथ भंडार उपस्थित था। मराठी भाषा को जैन साहित्य का अभी तक बहुत अल्पांश ही उपलब्ध हो सका है। अभी भी बहुत सारा साहित्य प्रकाश में आना शेष है।

जिनदास :—मराठी जैन वाङ्मय में पहिले ज्ञात ग्रंथकर्ता जिनदास हैं। उन्होंने 'हरिवंशपुराण' नामक ग्रंथ का निर्माण 'देवगिरि' (मराठवाडा) नामक स्थान पर किया।

उनका समय शक १६५० से १७०० तक होना चाहिए। उन्होंने भट्टारक भुवनकीर्ति का अपने गुरु के रूप में उल्लेख किया है। भ० भुवनकीर्ति का समय शक १६४३ से १६६२ सुनिश्चित है। किन्तु वे 'हरिवंश पुराण' का पूर्वार्द्ध लिखकर परलोकगामी हो गए। इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में चालीस अध्याय हैं। इस ग्रंथ में महाभारत की कथा संक्षेप में लिखने का सफल प्रयास किया गया है।

गुणदास-अपरनाम-गुणकीर्ति :—जिनदास के बाद गुणदास अपरनाम गुणकीर्ति नामक ग्रंथकार हुए। इनको गृहस्थ अवस्था में गुणदास तथा त्यागी अवस्था में गुणकीर्ति नाम से पुकारते थे। इनकी श्रेणिक पुराण, रुक्मिणीहरण, धर्मामृत और पद्मपुराण (अपूर्ण) नामक रचनाएँ अभी तक प्राप्त हुई हैं। श्रेणिक पुराण भाषा की दृष्टि से अपूर्व रचना है। मराठी भाषा सादी, प्रवाहमयी और रसपूर्ण है। भगवान् महावीर के समकालीन महाराजा श्रेणिक की अद्भुत कथा इसका विषय है। इनकी अन्य कृतियां हैं—धर्मामृत, रुक्मिणी हरण और एक स्फुट रचना रामचन्द्र-हलदुलि।

धर्मामृत :—यह एक गद्य ग्रंथ है, जो उपलब्ध गद्य ग्रंथों में प्राचीनतम है। इसमें गृहस्थों के आचार का सांगोपांग वर्णन है। सर्वसामान्य गृहस्थों के जीवन में विहित और निषिद्ध वस्तुओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन इसकी विशेषता है। इसमें ग्रंथकार की सूक्ष्म अवलोकन शक्ति तथा सामाजिक परिस्थिति के सूक्ष्म अध्ययन का प्रत्यय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। ९६ पाखण्डों की गिनती, सब प्रकार के देव-देवियों तथा तीर्थस्थानों का उल्लेख और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार-विचारों का वर्णन इस तथ्य को सिद्ध करते हैं। यह कृति अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है।

रुक्मिणी हरण :—श्रीकृष्ण द्वारा रुक्मिणी का हरण भारत वर्ष में प्रसिद्ध है। तथापि श्रीकृष्ण के सौराष्ट्र से आए हुए गुणकीर्ति द्वारा रुक्मिणी के विदर्भ की मराठी भाषा में उस घटना को ग्रथित किया जाना कुतूहलजनक अवश्य है। वसु-देव, बलराम, श्रीकृष्ण, नेमिनाथ, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये यदुवंश के प्रसिद्ध महापुरुष थे। गुणकीर्ति भी रुक्मिणी-हरण जैसी रोमांचकारी घटना से काव्यपंक्तियाँ लिखने में उद्यत हुए, इसमें आश्चर्य नहीं। मर्यादापुरुषोत्तम राम जैन परम्परा में 'पद्म' नाम से प्रसिद्ध हैं। रामायण आदर्शवाद को पुष्ट करता है। रामायण पर आधारित 'पद्मपुराण' इस कवि की अंतिम कृति मालूम पड़ती है। वे इस ग्रंथ में २८ अध्याय ही लिख सके। गुणकीर्ति के मन में इस ग्रंथ का क्या प्रमाण अभिप्रेत होगा यह अनुमान का ही विषय रह जाता है। वे सिद्धहस्त लेखक थे। यदि काल उनके जीवन वृक्षपर अकाल में कुठाराघात न करता तो यह कृति सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होती। इस पद्मपुराण के अन्तर्गत 'द्वादश अनुप्रेक्षा' नामक अध्याय विशेष प्रसिद्ध है। इसमें विकारसहित मन को विकाररहित बनाने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न भावनाओं द्वारा प्रस्तुत की गई है।

'रामचन्द्र हळदुलि' नामक प्रभु रामचन्द्र के विवाह का वर्णन करने वाली गीतरचना इनकी एक उल्लेखनीय स्फुट कृति है।

मेघराज :—ब्रह्म जिनदास के प्रशिष्य तथा ब्रह्म शांतिदास के शिष्य श्री मेघराज (संक्षिप्त नाम मेघा) ने 'यशोधर-चरित्र' लिखकर जैन मराठी वाङ्मय की धारा अक्षुण्ण रखी।

यशोधर की कथा जैनों के साहित्य में सुप्रसिद्ध है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, गुजराती, हिन्दी और कन्नड में यशोधर कथा लिखी गई है। मेघराज ने मराठी में भी उस कथा को लिखकर एक कमी की पूर्ति की। मेघराज गुजरात प्रदेश से आए थे। वहाँ के गुजराती जैन वैश्य समाज में यशोधर की कथा घर-घर में प्रचलित थी। पं० मेघराज उभय-भाषा-चक्रवर्ती थे। वे गुजराती और मराठी में सरलता से रचना कर सकते थे। इस तथ्य की प्रतीति उनके 'गिरनार-यात्रा' नामक यात्रा-वर्णन से होती है। इसमें प्रथम चरण मराठी में और दूसरा चरण गुजराती में लिखा गया है।

'पारिखनाथ भवांतर' नामक पार्श्वनाथ के जीवन से संबंध रखने वाली कृति है। इसमें भ० पार्श्वनाथ के नौ पूर्वजों का वर्णन है।

कामराज :—कामराज मेघराज के गुरुबंधु थे। उनकी सुदर्शन-पुराण तथा चैतन्यफाग नामक कृतियाँ उपलब्ध हैं। चैतन्यफाग की रचना गुजराती 'फाग' नामक गीतप्रकार के अनुकरण से प्रादुर्भूत हुई। 'शरीर एक पिंजड़ा है और आत्मा रूप पंछी उसमें बंधन में पड़ा है', यह इसकी मुख्य कल्पना है। देह की ममता त्यागने से आत्मा मुक्त होती है यह अमर संदेश इसमें निहित है।

सूरिजन :—सूरिजन मेघराज तथा कामराज के गुरुबंधु थे। सूरिजन ने 'परम-हंस' नामक रूपक-काव्य लिखा है। इसमें जीव नामक राजा ने चेतना नामक रानी की प्राप्ति बड़े कष्ट से की है, इस कल्पना का विस्तार है। इनकी 'दान-शील तप-प्रभावना रास' नामक दूसरी कृति उल्लेखनीय है। इसमें दान-शील तप का प्रभाव के वर्णन है।

नागो आया :—कारंजा गद्दी के सेनगण के भट्टारक माणिक्यसेन के शिष्य नागोआया ने 'यशोधर चरित्र'[1] संक्षेप में लिखा है। यह कृति भाषा, छंद और विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से अभ्यसनीय है।

गुणनन्दी :—कारंजा के बलात्कार गण के भ० धर्मभूषण द्वितीय के शिष्य गुणनंदी ने यशोधर चरित्र लिखा है।

इस युग में "यशोधर" की कथा लोकप्रिय रही होगी। इसमें कथा की दृष्टि से 'नागो आया' कृत यशोधर चरित्र से विशेष अन्तर नहीं।

अभयकीर्ति :—लातूर के प्रथम शाखा के भ० अजितकीर्ति के शिष्य भ० अभयकीर्ति ने शक १५३८ में 'अनंतव्रत कथा' लिखी।

भाद्रपद मास के शुक्लपक्ष में द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी तिथि को यह व्रत किया जाता है। भाद्रपद मास में 'पज्जूसण पर्व' विशेष रूप से मनाया जाता है। इसलिये अनन्तव्रत के पालन का फल विस्तार से बतानेवाली यह कथा विशेष लोकप्रिय थी। 'आदित्य-व्रत-कथा' नाम की एक इनकी दूसरी कृति उपलब्ध है।

चिमणा :—लातूर की प्रथम शाखा के भ० अजितकीर्ति के शिष्य पं० चिमणा ने पैठन के चंद्रप्रभ चैत्यालय में अनन्तव्रत-कथा लिखी। उन्होंने कुछ 'आरतियाँ' भी लिखी हैं।

वीरदास अपरनाम पासकीर्ति :—चिमणा के बाद वीरदास का नाम उल्लेखनीय है। त्यागी अवस्था में ये पासकीर्ति के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये कारंजा के बलात्कारगण के भ० धर्मचन्द्र द्वितीय के शिष्य थे। उनका जन्म सोहितवाल जाति में हुआ था। इन्होंने शक १५४९ में 'सुदर्शन-चरित्र' नामक ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में २५ प्रसंग हैं, और १६४५ ओवियाँ (मराठी का एक छंद प्रकार) हैं। भ० महावीर के समकालीन राजगृह के श्रेष्ठी सुदर्शन की यह कथा नमस्कार-मंत्र का माहात्म्य प्रदर्शित करने के लिए लिखी गई।

---

१. इसका मूल पाठ जीवराज गौतम ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित पं० मेघराज कृत यशोधरचरित के साथ सोलापुर से सन् १९५९ में प्रकाशित हुआ है।

'बहुतरी'[1] शब्द का अर्थ ७२ ओवियों का समुदाय है। इस पुस्तिका में अकारादि क्रम से धर्मविषयक स्फुट विचारों का संग्रह किया गया है।

प्राचीन काल से गुजराती वाङ्मय में परमातृका अर्थात् मूलाक्षरों के आधार पर धर्मविचारों का संग्रह करने की पद्धति है। यह कृति इसी पद्धति पर आधारित है।

पुण्यसागर :—

पुण्यसागर ने जिनदासकृत अपूर्ण हरिवंश पुराण को पूर्ण किया। जिनदास ने ४० अध्याय लिखे थे। पुण्यसागर ने बाद में १८ अध्याय और लिखकर यह जैन मराठी महाभारत समाप्त किया। अपूर्ण ग्रंथ पूर्ण करने का प्रयास क्वचित ही होता है। इस दृष्टि से यह कृति उल्लेखनीय है। पुण्यसागर की 'आदितवार-कथा' नामक एक अन्य कृति भी उपलब्ध है।

साबाजी :—

साबाजी ने शक १५८७ में सुगंध-दशमी नामक कथा लिखी। यह त्योहार भाद्रपद शुक्ल दशमी को मनाया जाता है। उस अवसर पर यह कथा सुनाई जाती है।

महीचन्द्र :—

महीचन्द्र ने शक १६१८ में आशापुर में आदिपुराण की रचना की। स्फुट रचनाओं में निम्नलिखित कृतियाँ उल्लेखनीय हैं—अढाईव्रत कथा, गरुड़पंचमी कथा, बारामासी गीत, अरहंत की आरती, नेमिनाथ भवांतर और कतिपय स्तोत्र।

महाकीर्ति :—

महाकीर्ति ने "शीलपताका" नामक ग्रंथ लिखा। इसमें ५५२ ओवियाँ हैं। इसमें "सीता की अग्निपरीक्षा" की दिव्य कथा संग्रहीत है।

लक्ष्मीचन्द्र :—

लक्ष्मीचंद्र ने शक १६५० में मान-नगर में चंद्रप्रभ चैत्यालय में मेघमाला की कथा लिखी। यह कृति ८६ श्लोक प्रमाण है। इसका गायन सार्वजनिक सभा में होता था।

जनार्दन :—

जनार्दन ने शक १६९० में श्रेणिकचरित्र नामक काव्य-ग्रंथ लिखा। इसमें चालीस अध्याय हैं। इसका मूलाधार जिनदास कृत रास तथा गुणदास कृत श्रेणिक चरित्र हैं। यह ग्रंथ काशिम (जिला अकोला-महाराष्ट्र) के पास के शर्कराग्राम में रचा गया।

नागेन्द्रकीर्ति :—

नागेन्द्रकीर्ति के पद्यों का संग्रह कारंजा से प्रकाशित हुआ है।

महतिसागर :—

महतिसागर का समग्र वाङ्मय काव्यकुंज नाम से फलटण से प्रकाशित हुआ है। आपने शक १७२३ में सिद्धपुर में "रविवार कथा" लिखी। शक १७३२ में बालापुर में आदिनाथ-पंच कल्याणिक कथा लिखी।

आपकी भिन्न-भिन्न कृतियों के शीर्षक निम्नप्रकार से हैं :—

दशलक्षण, षोडशकारण, रत्नत्रय, पंचपरमेष्ठि गुण वर्णन, संबोध सहस्त्रपदी, देवेन्द्रकीर्ति की लावणी, तीर्थंकरों के भजन, पूजापाठ, आरतियाँ। आपका जन्म शक १६९४ में तथा मृत्यु शक १७५४ में हुई।

बाबा अपरनाम दयासागर तथा दयाभूषण :—

जंबूस्वामी चरित, सम्यक्त्व कौमुदी तथा भविष्यदत्त-बंधु कथा इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

विशालकीर्ति :—

विशालकीर्ति ने शक १७२९ में धर्मपरीक्षा नामक ग्रंथ की रचना की। इसका मूल आधार जिनदासकृत धर्मपरीक्षा-रास है। इसमें स्व-मत-प्रतिपादन और पर-मत-खण्डन आकर्षक पद्धति से किया गया है।

---

१. यह रचना 'सन्मति' के १९६० के फरवरी के अंक में प्रथम बार प्रकाशित हुई।

गंगादास :—

गंगादास ने पारिखनाथ भवांतर तथा आदितवार कथा लिखी। इन कृतियों की भाषा व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है।

चिन्तामणि :—

चिन्तामणि ने गुणकीर्ति रचित अपूर्ण पद्मपुराण पूर्ण करने की चेष्टा की, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। केवल सात अध्याय लिख पाए।

जिनसागर :—

जिनसागर की जीवंधर पुराण, कई व्रत-कथाएँ, भक्तामर का मराठी अनुवाद, और कैको (खास काव्य प्रकार) ये रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। इनकी समस्त रचनाओं का आधुनिकतम संस्करण-संपादन उपलब्ध है।

रत्नकीर्ति :—

रत्नकीर्ति ने चालीस अध्यायों का उपदेश-सिद्धान्त रत्नमाला नामक ग्रंथ अमरावती में शक १७३४ में लिखा। इसमें देवपूजा, गुरुसेवा, शास्त्राभ्यास, संयम, तपश्चर्या और दान इस प्रकार गृहस्थों के षट्कर्मों के महात्म्य का वर्णन है। इसका आधारग्रंथ सकलभूषण विरचित संस्कृत षट्-कर्मोपदेशमाला था।

दयासागर :—

दयासागर ने शक १७३५ में हनुमान पुराण की रचना की।

राघव :—

राघव ने सिद्धसेन की स्तुति लिखी।

जिनसेन :—

नांदणी के जिनसेन ने शक १७४३ में जंबूस्वामी पुराण लिखा। इसमें ग्यारह सर्ग हैं। इसका मूल आधार "जम्बूस्वामी-चरित्र" नामक संस्कृत ग्रंथ है।

ठकाप्पा :—

ठकाप्पा ने शक १७७२ में पांडवपुराण की रचना की। इसका मूल आधार कोई कन्नड पांडव पुराण था।

मकरंद :—

मकरंद कवि का "रामटेक वर्णन" विषय की नवीनता की दृष्टि से उल्लेखनीय है।

सटवा :—

सटवा ने नेमिनाथ भवांतर शक १६३९ में लिखा।

रघु :—

रघु ने नागपुर में शक १७१० में प्रतिष्ठापित जिनमंदिर महोत्सव के अवसर पर सेठिमाहात्म्य नामक ऐतिहासिक कविता लिखी।

इसमें मंदिर निर्माता वरषासा की स्तुति है। इसकी रचना काफी प्रभावशाली है।

देवेन्द्रकीर्ति :—

देवेन्द्रकीर्ति ने कालिकापुराण की रचना की। देवेन्द्रकीर्ति के साथ ही मराठी जैन वाङ्मय का एक युग समाप्त होता है। इस युग की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं। मराठी का सर्वप्रथम वाक्य एक जैनधर्मावलम्बी व्यक्ति ने 'श्रवणबेलगोल' जैसे दूरवर्ती प्रदेश में लिखा। किन्तु उसके बाद ४०० वर्ष तक अंधकार का युक रहा। जैन मराठी वाङ्मय का सूत्रपात गुजराती लेखकों ने किया। एकाध ग्रंथ (धर्मामृत) को छोड़कर बाकी सब रचनाएँ पद्य में हैं। इसमें विपुल ग्रंथ रचना करने वालों की संख्या बीस है। तथा स्फुट रचना करने वाले दस हैं। किन्तु 'स्वतंत्र कृति' की पदवी प्राप्त करने लायक एक भी ग्रंथ नहीं। सब ग्रंथों का मूलाधार संस्कृत, प्राकृत या अपभ्रंश या पूर्ववर्ती लेखकों द्वारा की हुई रचनाएँ हैं। सब लेखक धर्म की मूल कल्पना को सामने रखकर लिखते हैं। इन सब ग्रंथकारों में संरक्षणात्मक प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। मन में वैचारिक संघर्ष के अभाव के कारण सब कृतियाँ फीकी मालूम पड़ती हैं। इन सब ग्रंथ रचनाओं में भट्टारक संस्था ने काफी सहायता पहुँचाई है।

हिराचंद :—

हिराचंद नेमचंद के साथ आधुनिक युग का प्रारंभ होता है। उन्होंने जैन समाज में जागृति लाने के लिए 'जैन बोधक' साप्ताहिक पत्र की स्थापना की थी। इसमें कई विचार प्रवर्तक स्फुट लेख लिखे गये। रत्नकरंड का अनुवाद एक उल्लेखनीय कृति है।

कल्लाप्पा भरमाप्पा :—

कल्लाप्पा ने पंचास्तिकाय, महापुराण, जीवंधरचरित्र, सागारधर्मामृत इन ग्रंथों का मराठी अनुवाद किया है।

दत्तात्रेय रणदिवे :—

दत्तात्रेय आधुनिक युग के प्रतिभाशाली कवि थे। गजकुमार चरित्र और भक्तामर अनुवाद के अलावा इन्होंने मराठी में कुछ ललित काव्य रचना भी की है।

जीवराज गौतमचन्द :—

सदासुख रत्नकरंड टीका का मराठी अनुवाद, तत्त्वार्थसूत्र का शालोपयोगी संपादन और पांडवपुराण का अनुवाद इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं।

रावजी सहस्राराम :—

मराठी जैन वाङ्मय के बालकोपयोगी साहित्य के रावजी आद्यप्रणेता थे। उन्होंने बच्चों के लिये चार प्रारंभिक पुस्तकें प्रचलित कीं तथा कथाएँ लिखीं।

रावजी नेमचन्द :—

रावजी ने महापुराणमृत नामक संस्कृत महापुराण का सरस अनुवाद किया। अमितगति विरचित सामायिक पाठ का समश्लोकी मराठी अनुवाद उल्लेखनीय रचना है।

तात्यासाहेब चोपड़े, वा० मु० पाटील, तात्या नेमिनाथ पांगळ, हिराचंद अमोलकचंद, नेमचन्द, कस्तुरचंद गांधी, रतनलाल राम इन सज्जनों ने भी साहित्यसेवा में यथाशक्ति हाथ बटाया है।

जीवित लेखकों की ज्ञात तालिका निम्नप्रकार है। उस तालिका से जैन मराठी वाङ्मय की समृद्धि का अनुमान हो सकता है।

(१) जिनदास फडकुले सोलापूर (दशभक्त्यादि संग्रह)
(२) वर्धमान पार्श्वनाथ, सोलापूर
(३) विशालकीर्ति, लातूर (भावांकुर)
(४) मोतीचंद गौतमचंद, उस्मानाबाद, (कुरल—आर्या रत्नकरंड)
(५) सुमतिबाई शाह, सोलापूर (हृद्गंध)
(६) नरेन्द्र भिसिकर, कारंजा (प्रवेशिका, छत्रचूड़ामणि, तत्त्वार्थसूत्र)
(७) विष्णुकुमार डोणगांवकर, कारंजा (द्रव्यसंग्रह, रत्नकरंडश्रावकाचार)
(८) रवीन्द्र नांदगांवकर, भोपाल, (सागारधर्मामृत)
(९) धन्यकुमार भोरे, कारंजा (मोक्षमार्गप्रकाश समयसार)
(१०) सुमेरचन्द जैन, सोलापूर (रत्नाची पारख, भ० महावीर)
(११) सुभाष अक्कोळे, सोलापूर, (यशोधररास, परमहंस, श्रेणिकपुराण)
(१२) विद्याधर जोहरापुरकर, जबलपुर (समग्र जिनसागर, धर्मामृत, स्फुट लेख)
(१३) नत्थुसा पासुसा, अमरावती।
(१४) नलिनीशाह, सोलापूर
(१५) वालचंद कोठारी, पुणे
(१६) विलास संगवे
(१७) बा० ना० शाह

निम्नलिखित व्यक्ति स्फुट लेखन के लिये प्रसिद्ध हैं।

(१) रूपचंद अहाळे, पुसद
(२) जयकुमार भुसारी, नागपुर
(३) जिनदास जबडे
(४) रतनचंद हिराचंद, मुंबई
(५) हेमचन्द्र रतनसा, कारंजा
(६) माणिकचंद भिसिकर बाहुबली
(७) मृत्युंजय मालगांवे, बाहुबली
(८) माणिकचन्द चवरे, कारंजा
(९) विडकर, कुंथलगिरि
(१०) मंजाबाई, रुईवाले, कारंजा
(११) पद्मा किल्लेदार, नागपुर
(१२) भारतेन्द्र दर्यापुरकर, अंतुर्ली
(१३) मधुकर गडेकर, नागपुर
(१४) विद्युल्लता शाह, सोलापूर
(१५) हुणमंते, आर्वी
(१६) गंगाधर सावळकर, भुसावल
(१७) लालचंद जोगी, वाशिम
(१८) लक्ष्मीकांत मानेकर, वाशिम
(१९) विष्णुकुमार देशमाने, मोमिनाबाद
(२०) प्रेमचंद शाह, कारंजा
(२१) वर्धमान नांदगांवकर, भोपाल
(२२) वासंती नाईक, सोलापूर
(२३) पद्मनाभ जैनी, लंडन
(२४) सी० के० पाटनी
(२५) भद्रबाहु, बंगलोर
(२६) गुलाबचंद वर्धमाने, सोलापूर ।

राजस्थानी जैन कवि

(ले०—अगरचन्द नाहटा)

जैन धर्म सदा से जनता की भाषा में प्रचारित हुआ है। भगवान् महावीर ने भी अपने से पूर्ववर्ती अन्य तीर्थंकरों की भाँति अपने प्रमुख विहार क्षेत्र मगध और आस पास के प्रदेश की प्रचलित बोली अर्द्धमागधी में ही अपने उपदेश दिये और जैन ग्रंथों में उन उपदेशों को संकलित किया गया। वे समुच्चय रूपसे अर्द्धमागधी आगम कहलाए। इस भाषा की प्रमुख विशेषताएँ हैं, कर्त्ताकारक एकवचन अकारान्त संज्ञाओं की विभक्ति ए—जैसे सं० पुरुषः=पुरिसे; श्, ष् तथा स् इन तीनों उष्मों के स्थान पर केवल "स्" का प्रयोग और कहीं-कहीं पर र् के स्थान में ल् जैसे नरः, नले, नरे। इस पर से यह देखा जा सकता है कि इसमें आधे लक्षण मागधी के हैं और आधे शौरसेनी के। एक तो इस कारण से, और दूसरे यह कि सम्भवतः यह बोली आधे मगध प्रदेश और आधे शूरसेन प्रदेश में बोली जाती रही, इस भाषा का नाम अर्द्धमागधी पड़ा। यह न तो पूर्णतः मागधी ही है, और न शौरसेनी। इसलिये इसका अर्द्धमागधी नाम अनुपयुक्त नहीं।

भगवान् महावीर के पश्चात् उनके अनुगामी आचार्यों और उनके शिष्यों ने इस परम्परा को चालू रखा। वे जब-जब, जहाँ-जहाँ गये, उन्होंने उस समय की उस-उस प्रदेश की प्रचलित बोली का ही अपने धर्मोपदेश देने के लिये उपयोग किया। इसका एक सबसे महत्वपूर्ण लाभकारी परिणाम यह हुआ कि अखिल भारतवर्ष के लगभग प्रत्येक प्रदेश और काल की भाषाएँ ५००–६०० ई० पू० से लगाकर आजतक जैन साहित्य में अपने वास्तविक रूप में सुरक्षित रह गईं। भारत के पूर्व पश्चिम और उत्तर-दक्षिण में कोई प्रदेश ऐसा नहीं है जहाँ की लोकभाषा को जैन मुनियों ने साहित्य में प्रतिष्ठित कर एक समृद्ध भाषा न बनाया हो। उत्तर और पश्चिम की शौरसेनी, पूर्व में अर्द्धमागधी और दक्षिण भारत की कन्नड व तमिल भाषाओं को साहित्यिक रूप देने का श्रेय जैन संतों को ही है। कन्नड व तमिल के प्राचीन श्रेष्ठ महाकाव्य, कथाग्रंथ और छंद व व्याकरण ग्रंथ जैन संतों द्वारा ही रचे गये हैं। उनका अध्ययन किये बिना इन भाषाओं का समीचीन और व्यवस्थित अध्ययन असम्भाव्य, एकांगी व अपूर्ण है। और आधुनिक भारतीय भाषाओं के विषय में तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं। उन सभी में यहां तक कि फारसी में भी विपुल जैन साहित्य उपलब्ध है। हिन्दी में तो प्राचीनतम काल से लगाकर अब तक का उसका सच्चा रूप जैसा जैन साहित्य में उतरा है, वैसा अन्यत्र नहीं।

यह समस्त साहित्य केवल धार्मिक ही हो, सो बात भी नहीं। काव्य, नाटक, कथा, पुराण, छंदशास्त्र आदि की रचनाओं को लेकर साहित्य का कोई अंग अछूता नहीं रहा और उनमें लोक जीवन की भी पूरी झाँकी देखने को मिल जाती है। लोक कथाओं के रूप में जन-साहित्य भी इसमें सुरक्षित रहा है। हाँ यह अवश्य है कि इस समस्त साहित्य का आधार और लक्ष्य अन्ततः कोई न कोई धार्मिक सिद्धान्त, उसकी श्रेष्ठता और नायक नायिका के रूप में उसके पालन करने वाले किसी धार्मिक व्यक्ति का जीवन चरित्र उपस्थित करना ही रहा है। वह धार्मिक व्यक्ति चक्रवर्ती सम्राट् से लगाकर सर्व-सामान्य मनुष्य तक लिया गया है। यहां इन समस्त बातों के उदाहरण उपस्थित कर सकने का अवकाश न होने से इतना ही कह कर बस करना पड़ता है। तो भी इतना और अवश्य कथनीय है कि ई० पू० ५००–६०० वर्ष से लगाकर आज तक की इस ढाई हजार वर्षों की अवधि में भारतीय भाषाओं, भारतीय साहित्य और संस्कृति के अखंड, अविछिन्न प्रवाह और विकास व उसकी समस्त भिन्न-भिन्न धाराओं और उनके मूल स्रोत की एकता को समझकर भारतवर्ष की अखंड–एक राष्ट्रीयता व संस्कृति की अनभूति के लिये साहित्य के इस अक्षय—अपार भंडार का व्यवस्थित अध्ययन न केवल आवश्यक, बल्कि सर्वथा अनिवार्य है। इसके बिना आज के स्वतंत्र भारत राष्ट्र, उसकी संस्कृति और अनेक विध भाषाओं में से हम उसकी वास्तविक एकता, अखंडता के दर्शन नहीं कर सकते।

सामान्यतया प्राकृत साहित्य का विभाजन काल की दृष्टि से तीन युगों में किया जाता है—(१) ई० पू० ५०० से लगाकर १०० ई० तक प्राचीन प्राकृतों का युग, (२) १०० ई० से लगाकर लगभग ६०० ई० तक अन्तरकालीन महा-

राष्ट्री, शौरसेनी आदि साहित्यिक प्राकृतों का युग और (३) ६०० ई० से लगभग ११०० ई० तक अपभ्रंश-युग। इन समस्त युगों के साहित्य की अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न भाषात्मक विशेषताएँ हैं, जिनको यहाँ दर्शाना न अपेक्षित है और न अवकाश ही। अपभ्रंश-युग कोई ११०० ई० में समाप्त हो गया हो सो बात नहीं, क्योंकि यों तो अपभ्रंश में १७ वीं शती के पश्चात् तक रचनाएं होती रहीं। भेद इतना है कि जिसे हम अपभ्रंश युग कहते हैं उसकी भाषा का सीधा सम्बन्ध प्राकृतों से है और पश्चात् काल की अपभ्रंश रचनाओं का आधुनिक भारतीय भाषाओं से। वास्तव में अपभ्रंश साहित्य ही वह कड़ी है जो भाषा की दृष्टि से प्राचीन को अर्वाचीन से, अथवा भूत को वर्तमान से जोड़ता है। ई० की १२ वीं शती से लगाकर आगे प्रदेश भेद से अपभ्रंशों में पहले जो अल्प और अस्पष्ट भेद थे, वे अधिक और स्पष्टतर होते गये, और इसीलिये अलग-अलग प्रदेशों के अपभ्रंशों नाम भी अलग-अलग पड़ते गये—जैसे मराठी, गजराती, राजस्थानी आदि। ई० की पन्द्रहवीं शती तक गुजराती और राजस्थानीमें भाषाभेद बहुत अस्पष्ट और अल्प ही था, अतः उस काल तक के साहित्य को गुजराती व राजस्थानी दोनों अपनी-अपनी भाषा का साहित्य करके मानते हैं। इस काल तक के जैन संत गुजरात और राजस्थान की मिली-जुली सीमाएँ और अविच्छिन्न सांस्कृतिक सम्बन्ध होने के कारण दोनों प्रदेशों में समान रूप से विचरण करते रहते थे। इस कारण उनके साहित्य और उपदेश की भाषा में गुजराती—राजस्थानी का भेद नहीं आ सका। पश्चात् काल में जब धीरे-धीरे सन्तों का विहार क्षेत्र कम होता गया, कुछ केवल राजस्थान में, कुछ केवल गुजरात में ही विहार करने लगे तो उनकी भाषा में प्रादेशिक बोली की विशेषताओं का अधिकता से समावेश हो गया, और दोनों प्रदेशों की बोली व साहित्य गुजराती व राजस्थानी के भिन्न-भिन्न नाम से अभिहित होने लगे। १६ वीं शती के उत्तरार्द्ध से भाषा भेद निखरने लगता है। तब से, सामान्यतः १७ वीं शती ई० से २०वीं शती तक के राजस्थानी साहित्य और साहित्यकारों का अत्यन्त संक्षिप्त नामोल्लेख मात्र परिचय कराना ही इस लेख का विषय है।

सातवीं-आठवीं शती ई० से राजस्थान में जैनों का प्रभुत्व बढ़ना प्रारम्भ हुआ, और वह अब तक किसी न किसी रूप में निरंतर वृद्धिगत होता रहा है। बारह तेरह सौ वर्षों की लम्बी अवधि में स्वभावतः राजस्थान में विचरण करने वाले जैन सन्तों ने सातत्य भाव से उच्च कोटि का साहित्य निर्माण किया है।[1]

१७वीं और १८वीं शती के राजस्थानी व गुजराती साहित्यमें परस्पर दोनों भाषाओं का मधुर सम्मिश्रण दिखाई देता है। १९वीं व २० वीं शती में सन्तों का विहार क्षेत्र बहुत हद तक एक-एक प्रान्त विशेष रह जाने से इस काल की भाषाओं में भेद विशेष रूप से स्पप्ट हैं। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। गुजरात मारवाड़ आदि उत्तर प्रान्तों में श्वेताम्बर जैनों का और दक्षिण एवं मध्य प्रदेश आदि में दिगम्बर जैनों का प्राबल्य रहा है। फलतः दिगम्बर जैनों की रचनाएं राजस्थानी की ढूंढारी-जयपुरी (जयपुर में उनका आधिक्य रहने से) बोली के अतिरिक्त अन्य मारवाड़ी आदि बोलियों में प्रायः नहीं है, और ढूंढारी की अपेक्षा भी उनका साहित्य हिन्दी, मराठी, कन्नड व तमिल भाषाओं में ही अधिक पाया जाता है।

साहित्य परिचय

सत्रहवीं शती :—

१ **महाकवि समयसुन्दर**—ये सत्रहवीं शती के सबसे बड़े महाकवि हुए थे। उनका जन्म जोधपुर रियासत के प्रसिद्ध जैन तीर्थ 'साचोर' में हुआ था। इनका वंश पोरवाड़, पिता का नाम रूपशी और माता का नाम लीलादे था। इन्होंने यौवनावस्था में ही जिनचन्द्र सूरि के पास दीक्षा ली थी। जिनचन्द्र सूरि ने इनको अपने प्रथम शिष्य सकलचन्द्र के शिष्य रूप से समय सुन्दर नाम रखकर घोषित किया। समयराज आदि विद्वानों से शिक्षा प्राप्त कर समयसुन्दर एक प्रतिभाशाली विद्वान बने। संवत् १६४९ में इन्होंने सम्राट् अकबर की विद्वन्मंडली के समक्ष अपने असाधारण पांडित्य के परिचायक 'अष्टलक्षी' नामक ग्रंथ को सुना कर सबको चमत्कृत किया। यह ग्रन्थरत्न साहित्य संसार में बेजोड़ है। 'राजा नौददते सौख्यम्', इन दस अक्षरों वाले वाक्य के १०२२४०७ अर्थ करके इन्होंने शब्दों की अनेकार्थता का प्रतिमान स्थापित किया है। स्थान स्थान पर विहार करते हुए इन्होंने जीव रक्षा और धर्म प्रचार के अनेक कार्य किये।

१—१६वीं शती तक के साहित्य परिचय के लिये देखिये—(i) 'जैन गुर्जर कविओ' मोहन लाल देसाई, (ii) डा० हरिशंकर शर्मा "हरीश" का शोध प्रबन्ध, (iii) डा० अचल शर्मा का शोध प्रबन्ध।

समयसुन्दर[1] न केवल महाकवि बल्कि गम्भीर मर्मज्ञ विद्वान भी थे। इनकी कविताएं बड़ी सरल,स्वाभाविक, माधुर्य गुण से युक्त और मार्मिक हैं। कुल रचनाओं की निश्चित संख्या अभी कही नहीं जा सकती, क्योंकि लेखक को प्रतिवर्ष कहीं न कहीं से इनकी एकाध नवीन रचना प्राप्त हो जाती है। अब तक उपलब्ध छोटी बड़ी रचनाओं की संख्या कोई ४०० है,जो लगभग एक लाख श्लोक प्रमाण हैं[2]। भाषा और शैली की दृष्टि से इनकी रचनाएं संस्कृत, गुजराती और मारवाड़ी में गद्य व पद्य दोनों प्रकार की प्राप्य हैं। हिन्दी, सिन्धी व फारसी में भी इनकी कतिपय कृतियां मिलती हैं। इनकी कुछ प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं:-(१)शाम्ब प्रद्युम्न रास, (२)चार प्रत्येक बुद्ध रास, (३)मृगावती रास, (४)प्रियमेलक चौ०, (५)पुण्यसार चौ०, (६)नल दमयंती रास, (७)सीताराम चौ०, (८)शत्रुंजय रास (९) वस्तुपाल-तेजपाल रास, (१०) बल्कलचीरी रास, (११)थावच्चा चौ०, (१२)क्षुल्लक कुमार चौ०, (१३)चंपक श्रेष्ठि चौ०, (१४) गौतम पृच्छा रास, (१५)घनदत्त चौ०, (१६) साधु वंदना, (१७) पुंजाऋषि रास, (१८)केशी-प्रदेशी सम्बन्ध, (१९) द्रौपदी चौ०, (२०)क्षमा छत्तीसी आदि अनेक छत्तीसियां। अंत की ५, ६ रचनाओं का लेखन-स्थल अहमदाबाद, और शेष के राजस्थान के भिन्न भिन्न ग्राम व नगर हैं। रचना काल सं० १६५९ से लेकर १७०० तक है (देखिये समय सुन्दर कृति कुसमांजली)। रचनाओं पर से कवि का जन्म संवत् १६३० के लगभग माना जा सकता है। इनका स्वर्गवास संवत् १७०२ में चैत्र शुक्ला १३ के दिन अहमदाबाद में हुआ था।

२ **उपाध्याय गुणविनय** :—१७वीं शती के विद्वानों में समयसुन्दर के पश्चात् इनका स्थान है। ये समयसुन्दर से पहले दीक्षित हुए, और उनके साथ ही संवत् १६४९ में इन्हें वाचक पद प्राप्त हुआ। ये गद्य प्रश्नोत्तर आदि ग्रन्थों के रचयिता महोपाध्याय जयसोम के शिष्य थे। संस्कृत में इनकी कोई मौलिक रचना तो नहीं, परन्तु रघुवंश, खंड-प्रशस्ति, नल-दमयंती-चम्पू, कर्मचन्द-वंश-प्रबंध आदि अनेक ग्रंथों पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी में इनकी रचनाओं की संक्षिप्त नामावली इस प्रकार है :—(१)कयवन्नासंधि (२)कर्मचंद वंशावली रास (३)कलावती रास (४)अंजना प्रबंध (५)ऋषिदत्ता चौपाई (६)जीवस्वरूप चौ०(७) गुणसुन्दरी चौ० (८) नल-दमयंती रास (९)जंबू रास (१०)प्रश्नोत्तरमालिका (११)मूलदेव चौ० (१२)धनशालिभद्र चौ० (१३)लुंपक मत तमो-दिनकर चौ० और १४—तपा-बावनबोल चौ०। प्रस्तुत लेखक ने गुणविनय द्वारा रचित लगभग ८० स्तवनादि लघुकविताओं का संग्रह किया है। कवि का ग्रंथ रचना काल संवत् १६५४ से लगाकर संवत् १६७६ तक है और लेखन-स्थल राजस्थान। रचनाओं पर से कवि का जीवन काल लगभग सं० १६२० से लगाकर १६८० तक माना जा सकता है। (देखिये युगप्रधान जिनचन्द्रसूरि पृ० १८९; और शोधपत्रिका में प्रकाशित लेख)।

३ **सहजकीर्ति**:—हेमनन्दनजी के शिष्य और प्रसिद्ध विद्वान् थे। इनकी रचनाएं संस्कृत और राजस्थानी दोनों भाषाओं में मिलती हैं। संस्कृत में इनकी शतदलपद्म-पार्श्वनाथ-स्तोत्र जैसी मौलिक और टीकापरक(कल्पसूत्रादि पर) दोनों प्रकार की रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी लोकभाषा में इनकी रचनाओं के नाम हैं—(१)सुदर्शन चौ० (२)कलावती चौ०(३) देवराज-बच्छराज चौ० (४)सागरसेठ चौ० (५) शांतिनाथ विवाहलो (६) शत्रुंजय महात्म्य रास (७) शील रास और (८) हरिश्चन्द्र रास। रचनाकाल सं० १६६१ से १६९७ तक है। अतः इनका जीवन काल लगभग सं० १६४० से सं० १७०० तक होना चाहिए। (देखिये प्रस्तुत लेखक का जैन सिद्धान्त भास्कर में प्रकाशित लेख)।

४ **श्रीसार** :—ये सहजकीर्ति के गुरु हेमनन्दन के गुरुभ्राता रत्नहर्ष के शिष्य थे और अच्छे कवि थे। राजस्थानी में इनकी रचनाएँ हैं—(१) जिनराजसूरि रास (२) पार्श्वनाथ रास (३) जय-विजया चौ० (४) आनन्द श्रावक संधि (५) मोती कपासिया छंद (६) सार बावनी (७) उपदेश सत्तरी और (८) स्तवनादि। इनमें से आनंद श्रावक संधि नामक

१—देखिये'जैन साहित्य संशोधक' एवं 'आनंद काव्य महोदधि मौक्तिक'-७वें में प्रकाशित श्रीयुत् मोहनलाल देसाई का 'समय सुंदर'शीर्षक निबंध।

२—कवि की छोटी २ कृतियों का संकलन 'समय सुंदर कृतिकुसमांजली' के नाम से प्रस्तुत लेखक द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

रचना बहुत प्रसिद्ध हुई। इनका रचनाकाल लगभग सं० १६८१ से १६८९ तक है। संस्कृत में इनकी विशेष देन है राजस्थानी के प्रसिद्ध काव्य 'कृष्ण रुक्मणि वेलि' पर टीका।

५ **जिनराज सूरि** :—ये जिनसिंह सूरि के पट्टधर आचार्य थे। इनका जन्म संवत् १६४७ में वैशाख शुक्ल ७, बुधवार के दिन बीकानेर के बोथरा धर्मसी की भार्या धारलदेवी की कुक्षि से हुआ। इन्होंने संवत् १६५६ के मार्गशीर्ष शुक्ल १३ को जिनसिंह सूरि के पास दीक्षा ग्रहण की। इनका दीक्षित अवस्था का नाम राजसमुद्र था। इन्हें संवत् १६७४ के फाल्गुन शुक्ल ७ को मेड़ते में आचार्य पद प्राप्त हुआ। इन्होंने घंघाणी की प्राचीनलिपि अम्बिका देवी की सहायता से पढ़ी। इनके धर्मोपदेश से प्रतिष्ठादि अनेक धर्मकार्य नाना स्थानों पर हुए। इनका स्वर्गवास संवत १७०० में पाटण में हुआ।

संस्कृत में इनकी नैषध काव्य पर छत्तीस हजार श्लोक प्रमाण टीका है। राजस्थानी में इनकी रचनाएँ हैं :—(१) शालिभद्र चौ० (यह रचना बहुत प्रसिद्ध हुई। अतः इसकी सैकड़ों प्रतियाँ, कुछ सचित्र भी, उपलब्ध हैं)। (२) चौबीशी (३) बीशी (४) शील बत्तीसी (५) कर्म बत्तीसी (६) रामसीता रास (इसकी अपूर्ण प्रति मिलती है)। (७) गजसुकुमाल रास संवत् १६९९, यह इनकी अन्तिम रचना है और फुटकर स्तवनादि एक सौ के लगभग प्रस्तुत लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। कवि का रचना काल संवत् १६७८ से १६९९ तक है। इन सब कवियों का रचना स्थल अधिक करके राजस्थान है। कुछ कृतियाँ अहमदाबाद, (गुजरात) और आगरा (उत्तर प्रदेश) में भी लिखी गई हैं। (देखिये लेखक द्वारा सम्पादित 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' जैन सत्यप्रकाश वर्ष ३, अंक ४–५ एवं जैन भारती में प्रकाशित लेख)।

६ **हेमरत्न** :—ये पूनमिया गच्छके पद्मराज जी के शिष्य और अच्छे कवि थे। इन्होंने उदयपुर के प्रसिद्ध मंत्री, भामाशाह के भ्राता ताराचंद कावेडिया एवं बीकानेर के तत्कालीन मंत्री कर्मचंद बच्छावत के आग्रह से रचनाएँ कीं। इनकी कृतियों के नाम हैं :—(१) शीलवती रास (२) महीपाल चौ० (३) अमरकुमार चौ० (४) गोराबादल चौ० (५) लीलावती रास (६) सीता चौ० और (७) जगदम्बा बावनी। रचनाकाल संवत् १६०३ से लगभग १६४५ तक है। (देखिये लेखक का शोध पत्रिका में प्रकाशित लेख)।

७ **मुनि माल** :—१७वीं शती के दूसरे अच्छे कवि हैं। ये बड़गच्छ के आ० भावदेव सूरि के शिष्य थे और विशेष रूप से भटनेर तथा सरसा के आसपास ही रहते थे। इनकी कविता बहुत सरस और उपदेशपूर्ण है। इनकी उपलब्ध कृतियों के नाम हैं—(१) पुरन्दर चौ० (२) भोज प्रबन्ध (३) पंचदंड (४) पदमरथ चौ० (५) देवदत्त चौ० (६) वीरांगद चौ० (७) शिक्षा चौ० और (८) राजुल रहनेमि धमाल व शील बत्तीसी आदि। रचना काल है लगभग संवत् १६१२। (देखिये शोध पत्रिका में प्रकाशित लेख)।

८ **कुशललाभ** :—ये अभयधर्म जी के शिष्य और अच्छे कवि थे। इनकी रचनाएँ हैं :—(१) माधवानल कामकंदला चौ० (२) ढोलामारू चौ० (३) तेजसार रास (४) अगडदत्त रास और (५) पूज्यवाहन गीत आदि। प्रथम दो रचनाएँ 'आनन्द काव्य महोदधि' मौक्तिक ७ में प्रकाशित हैं। कवि का रचना काल संवत् १६१६ से १६२६ तक है। (देखिये राजस्थान भारती में प्रकाशित लेख)।

९ **कनकसोम** :—ये अमर माणिक्य के शिष्य और प्रसिद्ध उपाध्याय साधुकीर्ति जी के गुरुभाई थे। इनकी रचनाएँ हैं :—१ जइतपद वेलि (२) जिनपालित-जिनरक्षित रास (३) आषाढ़भूति संबंध (४) हरिकेशी संधि (५) आर्द्रकुमार चौ० (६) मंगल कलश रास (७) थावच्चा सुकोसल रास और (८) हरिबल संधि। रचना काल सं० १६२५ से १६५५ तक और लेखन स्थल प्रथम का आगरा, शेष का राजस्थान है। इस पर से कवि का जीवन काल लगभग संवत् १६०० से १६६० तक सिद्ध होता है। (देखिये 'युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि')।

इनके अतिरिक्त भी १७वीं शती में अनेकों कवि हुए हैं, जिनमें से कुछ का परिचय लेखक ने 'युग प्रधान जिनचन्द सूरि' में दिया है। ऊपर जिन कवियों का परिचय दिया गया है, उनमें हेमरत्न और मुनिमाल को छोड़कर शेष सब खतरगच्छ के हैं।

इस शती के कवियों की रचनाओं की नामावली पर दृष्टिपात करने से यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है कि इन कवियों ने केवल पौराणिक जैन आख्यानों को ही नहीं, बल्कि उनके अतिरिक्त लोकथाओं को भी सुरक्षित रखने व प्रचारित करने का सराहनीय प्रयास किया है। इन लोगों के द्वारा रचित 'ढोला मारू' माधवानल चौ०, प्रियमोलक, चन्दन मलयागिरि,

सिंहासन बत्तीसी आदि विक्रम संबंधी कथाओं, और भोज चौ०, गोरा बादल चौ०, आदि ग्रंथों की गणना लोक कथा साहित्य में ही की जाती है।

अठारहवीं शती :—

१७वीं शती की अधिकांश रचनाएँ जैन आख्यानों एवं जैन महापुरुषों के गुणानुवाद रूप में रची गई हैं। १८ वीं शती में यह स्थिति बहुत कुछ बदल जाती है और साहित्य की दिशा विभिन्न विषयों या छोटी बड़ी रचनाओं के निर्माण की ओर मोड़ लेती है। इन विषयों में बावनी, देवी देवताओं के छंद, उपदेशक दोहे, छत्तीसियाँ, बत्तीसियाँ और चुटकुले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां पर स्थानाभाव के कारण छोटी-छोटी समस्त रचनाओं का उल्लेख न करके प्रमुख कवियों की विशिष्ट कृतियों का ही निर्देशन किया जायगा।

१. **कविवर जिनहर्ष**:—ये बड़ी शान्त, सरल, क्षमाशील और गुणग्राहक प्रकृति के थे, तथा खरतरगच्छीय पं० शान्तिहर्ष जी के शिष्य थे। दीक्षा से पूर्व इनका नाम जसराज था। इस नाम से इनके १५० दोहे और एक बावनी उपलब्ध हैं। इनकी समस्त कृतियों का परिमाण एक लाख श्लोकों के लगभग है। बड़े-बड़े रासों की संख्या लगभग ५०–६० है। इनके अतिरिक्त फुटकर स्तवनादि सैंकड़ों लेखक के संग्रह में सुरक्षित हैं। इनकी रचनायें काल की दृष्टि से दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक संवत् १७०४ से संवत् १७३६ तक और दूसरा संवत् १७३६ से १७६२ तक। संवत् १७३५ तक कवि का कार्य-क्षेत्र राजस्थान रहा। इस काल की रचनाओं के नाम निम्नप्रकार हैं:—(१) चंदन मलयागिरि चौ०, (२) विद्याविलास रास, (३) मंगल कलश चौ०, (४) नंद बहुतरी, (५) गज सुकुमाल रास, (६) कुसुम श्री रास, (७) मृगापुत्र चौ०, (८) मत्योदर रास, (९) जिन प्रतिमा हुंडी रास, (१०) शील नववाड़ सज्झाय और (११) मातृका बावनी।

संवत्, १७३६ से लगाकर सं० १७६२ कवि का निवास स्थान और कार्य क्षेत्र पाटण (गुजरात) ही रहा और वहीं इनका स्वर्गवास भी हुआ। अतः इस काल की समस्त रचनाओं पर गुजराती भाषा का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन रचनाओं के नाम हैं:—(१) ज्ञातासूत्र सज्झाय (छठे जैनागम नायाधम्मकहाओ का रूपान्तर)। (२) समकित सत्तरी (३) सुकराज रास (४) दशवैकालिक १० गीत (५) जसराज बावनी (६) श्रीपाल रास (७) रत्नसिंह रास (८) अवंती सुकुमाल (९) श्रीपालरास संक्षिप्त (१०) कुमारपाल रास (११) चंदन मलयागिरि चौ० (१२)[1] हरिश्चन्द्र रास (१३) उत्तरकुमार रास (१४) वीशी (१५) उपमितिभवप्रपंचा रास (१६) हरिबल मच्छी रास (१७) यशोधर रास (१८) वीस स्थानक रास (१९) मृगांकलेखा रास (२०) सुदर्शन सेठ रास (२१) अमरदत्त मित्रानंद रास (२२) ऋषिदत्ता रास (२३) अजितसेन कनकावती रास (२४) गुणावली रास (२५) महाबल मलयासुन्दरी रास (२६) शत्रुंजय महात्म्य रास (२७) सत्यविजय निर्वाण रास (२८) रत्नचूड़ रास (२९) अभयकुमार रास (३०) शीलवती रास (३१) रात्रिभोजन रास (३२) रत्नसार रास (३३) वयर स्वामी रास (३४) रत्नशेखर रत्नावती (३५) जम्बू स्वामी रास। (३६) स्थूलिभद्र सज्झाय (३७) नर्मदासुन्दरी सज्झाय (३८) आरामसोमा रास (३९) श्रीमती रास (४०) वसुदेव रास (४१) मेघकुमार चौढालिया (४२) कनकावती रास (४३) चौवीशी (४४) दोहा संग्रह चौबोली आदि और (४५) विविध स्तवन सज्झायादि। इस प्रकार कुल मिलाकर कवि की ५६ रचनाओं का नाम निर्देश यहां किया गया है। (देखिये लेखक के राजस्थान क्षितिज और जैन भारती में प्रकाशित लेख)।

२. **लाभवर्द्धन** :—ये जिनहर्ष के गुरुभाई थे। इनकी रचनाएँ हैं:—(१) विक्रम प्रबन्ध चौ०, (२) लीलावती रास, (३) विक्रम पंचदंड चौ०, (४) लीलावती गणित रास, (५) धर्मबुद्धि पापबुद्धि चौ०, (६) स्वरोदय भाषा, (७) अंकपाश प्रस्तार, (८) पाण्डव चौ० और (९) शकुन दीपिका चौ०। रचना काल है सं० १७२३ से संवत् १७७० तक। (देखिये शिल्प संसार वर्ष ६, अंक १)।

३. **महोपाध्याय लब्धोदय** :—ये ज्ञानसारजी के शिष्य थे। रचनाएँ हैं:—(१) पद्मिनी चौ० (२) मलयासुन्दरी चौ० (३) गुणावली चौ० और (४-५) उपरोक्त ग्रंथों में उल्लिखित दो अन्य रास। रचनाकाल संवत् १७०७ से लगभग १७५० तक।

१—लेखक ने कवि की एक ही रचना का नाम दो बार लिया है। इसका कुछ स्पष्ट कारण समझ में नहीं आ सका, यह भूल से एसा हो गया है, अथवा सचमुच एक ही नाम की दो रचनाएँ हैं। —संपादक

४. महोपाध्याय धर्मवर्द्धन:—ये राजमान्य कवि थे। इनका जन्म सं० १७०० और नाम धर्मसी था। खरतरगच्छ के विजय हर्ष इनके गुरु थे। दीक्षा सं० १७१३ में जिनचन्द्रसूरि के हाथों हुई। संवत् १७४० के लगभग उपाध्याय पद मिला। इनकी राजमान्यता का प्रमाण है बीकानेर नरेश सुजानसिंहजी के श्री पूज्यजी के दिये गये पत्र में इनके संबंध में लिखा हुआ निम्न पद्य :—

"सब गुण ज्ञान विशेष विराजे, कविगण ऊपरि घन ज्यूं गाजे।
धर्मसिंह धरणीतल माहिं, पंडित योग्य प्रणति दल ताहिं॥"

इनकी प्रमख रचनाएँ हैं :—(१) श्रेणिक चौ०, (२) अमरसेन वयरसेन चौ०, (३) धर्मबावनी (४) कुंडलिया बावनी, (५) सुरसुन्दरी चौ०, (६) छप्पय बावनी, (७) दशारणभद्र चौ०, (८) शीलरास, (९) श्रीमती चौढालिया और (१०) फुटकर स्तवनादि। रचनाकाल है संवत् १७१९ से लगभग सं० १७६० तक। इनका स्वर्गवास सं० १७८० के लगभग हुआ। (देखिये लेखक का 'राजस्थान' वर्ष २, अंक २ में प्रकाशित लेख)।

५. कीर्तिसुन्दर :—धर्मवर्द्धनजी के शिष्य और अच्छे कवि थे। उनकी रचनाएँ हैं :—(१) अवंती सुकुमाल चौ०, (२) अभय कुमार चौढालिया, (३) चौबोली चौढालिया, (४) माकड रासो और (५) वाग्विलास कथा संग्रह। इनमें से माकड रासो 'राजस्थान भारती' में और वाग्विलास 'कथा वरदा' में प्रकाशित है। रचना काल सं० १७५७ से लगभग सं० १७६५ तक है।

६. अभयसोम :— ये सोमसुन्दरजी के शिष्य थे। इनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं :—(१) वैदर्भी चौ०, (२) चन्द्रोदय कथा (३) खापरा चौर चौ०, (४) चौबोली चौ०, (५) मानतुंग मानवती रास, (६) वस्तुपाल तेजपाल रास और (७) करसंवाद। रचनाकाल है सं० १७११ से १७४७ तक।

७. कवि सुमतिरंग :—ये कीर्तिरत्नसूरि शाखा के चन्द्रकीर्तिजी के शिष्य थे। इनकी रचनाओं के नाम हैं :—(१) योगशास्त्र भाषा चौ०, (२) मोहविवेक रास, (३) हरिकेशी संधि, (४) जंबू चौ०, (५) जिनमालिका और (६) वैया चौवीशी आदि फुटकर रचनाएँ। इन कृतियों का लेखक काल है सं० १७२० से लगभग सं० १७३७ तक।

८. कविधर्ममंदिर :—ये दयाकुशलजी के शिष्य थे। इनकी अधिकांश रचनाएँ मुलतान में हुई हैं, जहां कि उस समय आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत अच्छा वातावरण था। इसलिये कवि सुमतिरंग और धर्ममंदिर दोनों की रचनाएँ अध्यात्म प्रधान हैं। इनकी कृतियाँ हैं :—(१) मुनिपति चौ०, (२) जंबूरास, (३) सुमति नागिला चौ०, (४) दयादीपिका चौ०, (५) मोहविवेक रास, (६) परमात्म प्रकाश चौ०, (७) नवकार रास और (८) आत्ममद (पद ?) प्रकाशादि। इनका लेखन काल सं० १७२५ से लगभग सं० १७८५ तक है।

९. कमलहर्ष—इनके गुरु जिनराजसूरि के शिष्य मानविजयजी थे। इनकी रचनाएँ निम्नप्रकार हैं:—(१) जिनरत्न सूरि चौ०, (२) धन्ना चौ०, (३) पाण्डव चरित्र रास, (४) रात्रिभोजन रास, (५) अंजना चौ० और (६) दशवैकालिक गीत, स्तवनादि। इनका रचनाकाल सं० १७११ से लगभग सं० १७३५ तक है।

१०—कुशलधीर :—ये जिनमाणिक्यसूरि शाखा के कल्याणधीरजी के शिष्य थे। ये कवि होने के साथ-साथ एक सफल टीकाकार भी थे। इनकी टीकाएँ भी राजस्थानी में ही हैं। कृतियों के नाम हैं :- (१) पृथ्वीराज वेलिटीका, (२) शीलवती रास, (३) रसिकप्रिया टीका, (४) राजर्षिकृत कर्म चौ०, (५) लीलावती रास, (६) भोज चौ०, (७) उद्यम कर्म संवाद और (८)—सभाकुतूहल गद्यवर्णन संग्रह। कृतियों का रचना काल सं० १६९६ से १७२९ तक है। इनके शिष्य कुशलाभ भी अच्छे कवि थे। इनकी रचनाएँ हैं:—(१) वनराजर्षि चौपाई, (सं० १७५०) (२) धर्मबुद्धि चौ०, (३) मल्लि स्तवन सं० १७५६ और (४) डिंगल भाषा में दुर्गा-सतसई नामक ग्रंथ।

११. जिनसमुद्रसूरि :—खरतरगच्छ की बेगड़ भावहर्षी और जिनसागर सूरि शाखाओंमें भी कई अच्छे कवि हो गये हैं। यहां केवल बेगड़ शाखा के जिनसमुद्रसूरि का ही परिचय दिया जा रहा है। इनके पिता का नाम श्रीमाल हरराज व माता का लखमादे था। ३१ वर्ष तक साधु पद पालन करने के बाद सं० १७१३ में इनको आचार्य पद प्राप्त हुआ। सं० १७१८ में छतराज शाह के द्वारा सूरत में इनका पट्टोत्सव किया गया। अपने धर्मोपदेश द्वारा इन्होंने अनेक श्रावकों को प्रतिबोध दिया। लगभग सवा लाख श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना द्वारा इन्होंने राजस्थानी की अमूल्य सेवा की है। इनकी लगभग २००-२५०

छोटी-बड़ी रचनाएँ लेखक के संग्रह में है। सूरिपद प्राप्त करने से पूर्व इनका दीक्षावस्था का नाम महिमासमुद्र था। इस नाम से भी इन के कई ग्रंथ उपलब्ध हैं। जैसलमेर के रावल अमरसिंहजी इनके अत्यन्त श्रद्धालु भक्त थे। उन्होंने इनको पटौली व उपाश्रय प्रदान किया था। इनका स्वर्गवास सं० १७४१ की कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को श्री वर्धनपुर में हुआ। इनकी प्रमुख रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं :—(१)हरिबल चौ०, (२)आतमकरणी संवाद, (३)तत्त्वप्रबोध नाममाला, (४)उत्तम-कुमार, (५)इलाचीकुमार चौ०, (६)गुण सुन्दर चौ०, (७)वसुदेव चौ०,(८)ऋषिदत्ता चौ०, (९)रुक्मिणी चरित्र और (१०) शत्रुंजय रासादि एवं तत्त्वार्थसिद्धि मणिमाला। इनका रचना काल सं० १७०६ से लगभग सं० १७४० तक है। (देखिये लेखक का राज० निबन्धमाला भाग २ में प्रकाशित लेख)।

१२. **लक्ष्मीवल्लभ** :—इनका जन्म सं० १६९० के लगभग हुआ। बाल्यावस्था का नाम था हेमराज। इनके गुरु खरतरगच्छीय विद्वान लक्ष्मीकीर्तिजी थे। ये विविध विषयों के ज्ञाता थे। इनके बहुमुखी पांडित्य का परिचय कल्पसूत्र पर कल्पद्रुम नाम की इनकी टीका से मिलता है। भाषा की दृष्टि से संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी और सिन्धी इन सब में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजकवि के नाम से भी इन्होंने कुछ कृतियाँ की हैं। राजस्थानी में प्रमुख इनकी रचनाओं के नाम ये हैं :—(१)विक्रम पंचदंड चौ०, सं० १७२८, (२)रात्रिभोजन चौ०, सं० १७३७, (३) अमर कुमार चौ०, (४) रत्नहास चौ०, (५) वीर गौतम छंद, (६) उपदेश चेतन बत्तीसी देशान्तरी छंद, (७) बावनी और (८) स्तवनादि फुटकर रचनाएँ (देखिये राजस्थानी निबंधमाला भाग २)।

१३. **विनयचंद** :—ये ज्ञानतिलकजी के शिष्य थे। इनकी कविताएँ बहुत मधुर और सरस हैं। रचनाओं के नाम हैं :—(१)उत्तमकुमार रास, (२)ग्यारह अंग सज्झाय, (३)रोहा कथा चौ०, (४)चौबीशी, वीशी और फुटकर रचनाएँ। इनकी छोटी-बड़ी कुल २५—३० रचनाएँ लेखक के संग्रह में हैं। रचनाकाल है सं० १७५२ से लगभग सं० १७६० तक।

१४. **अमर विजय**:—ये उदय तिलकजी के शिष्य थे। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं:—(१)सुमंगल रास, (२)मुंच्छ माखम कथा, (३)मेतार्थ चौ०,(४)रात्रिभोजन चौ०, (५)सुकौशल चौ० ,(६)सुप्रतिष्ठित चौ०, (७)कालासवेली चौ०,(८)सुदर्शन चौ०, (९)धर्मदत्त चौ० और (१०)केशी चौ०। रचनाओं का लेखनकाल है सं० १७७१ से सं० १८०६ तक।

१५ **कविरामविजय (रूपचन्द्र)** :—ये कविवर जिनहर्ष की परम्परा में दयासिंहजी के शिष्य थे। रामविजय न केवल कवि बल्कि विद्वान् गद्य लेखक भी थे, और पद्य की अपेक्षा उनकी गद्य रचनाएँ ही अधिक हैं। संस्कृत में भी इनकी गौतमीय काव्य और गुणमाला प्रकरण 'गद्य' आदि रचनाएँ उपलब्ध हैं। राजस्थानी में भी पद्य और गद्य दोनों प्रकार की कृतियाँ हैं, जिनमें गद्यात्मक अधिक हैं। रचनाओं के नाम हैं :—(१) भर्तृहरि शतक त्रय, (२)अमरु शतक भाषा टीका, (३) समयसार बालावबोध (हिन्दी), (४) हेम व्याकरण भाषा टीका, (५) चित्रसेन पद्मावती चौ०, (६)लघु स्तवन, सन्निपात कलिका व नव तत्त्वादि की भाषा टीकाएँ, (७) नेमि नवरसो, (८) आबू आदि के स्तवन और (९) नय-निक्षेप विचारादि सैद्धान्तिक विषयों के स्तवन। इनका लेखन काल सं० १७८८ से लगभग सं० १८३० तक होना चाहिए।

१९ वीं शती :—

१८वीं शती की अपेक्षा इस शती में राजस्थानी जैन कवि कम हुए हैं। इस शती में स्थानकवासी एवं तेरापंथी समाज में भी अनेक अच्छे उच्च कोटि के कवि हुए हैं। लेखक को उनकी यथेष्ट जानकारी नहीं है। अतः यहाँ केवल ५ कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

१. **रघुपति** :—इनके गुरु खरतरगच्छ के मुनि विद्यानिधानजी थे। इनकी दीक्षा सं० १७७६ में माघ सुदी २ को जिनसुखसूरिजी के द्वारा हुई। दीक्षा के पूर्व इनका नाम रघुनाथ था। ये बहुत अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इनकी समस्त रचनाएँ राजस्थानी में हैं, और सं० १७८८ से सं० १८४८ तक लिखी गई हैं। इनके नाम हैं :—(१) जैन सारबावनी, (२) नंदिषेण चौ०, (३) श्रीपाल चौ०, (४) रत्नपाल चौ०, (५) सुभद्रा चौ० और (६) छप्पय बावनी, कुंडलिया बावनी आदि।

२. **ज्ञानसारजी**:—इनका जन्म सं० १८०१ में हुआ। इनके पिता थे बीकानेर राज्य के जांगल ग्राम के सांड उदयचंदजी और माता जीवनदे। इन्होंने सं० १८२१ में बीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली। इनका स्वर्गवास अत्यन्त दीर्घायु में सं० १८९९ में हुआ। ये रत्नराजजी के शिष्य थे। ज्ञानसारजी अपने समय के बहुत प्रसिद्ध मस्तयोगी, कवि, काव्य मर्मज्ञ एवं राजमान्य

प्रभावी व्यक्ति थे। यहाँ तक कि बीकानेर के तत्कालीन नरेश सूरतसिंहजी इनको साक्षात् नारायण का ही अवतार मानते थे। जयपुर, जैसलमेर, उदयपुर एवं किशनगढ़ के राजाओं से भी इनका अच्छा संबंध था। इनकी रचनाएँ हिन्दी व राजस्थानी दोनों भाषाओं में मिलती हैं। राजस्थानी रचनाओं के नाम हैं:—(१) आनन्दघन चौबीसी व पदों पर टीका (यह टीका बहुत गम्भीर व उत्कृष्ट कोटि की है), स्वकृत पद्यमय चौबीसी, बीशी, ४७ बोल गर्भित चौबीसी, संबोध अष्टोत्तरी, नवपदपूजा और स्तवनादि। (देखिये लेखक का 'हिन्दुस्तानी' वर्ष ९, अंक २ में प्रकाशित 'श्रीमद्ज्ञानसारजी और उनका साहित्य' नामक लेख, हिन्दी रचनाओं की जानकारी के लिये देखिये लेखक द्वारा सम्पादित 'ज्ञानसार ग्रंथावली')।

३. **क्षमा कल्याणजी** :—अपने समय के प्रमुख गीतार्थों में इनका नाम आता है। संस्कृत, हिन्दी व राजस्थानी तीनों भाषाओं में इनकी रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें से संस्कृत मुख्य है। राजस्थानी में गद्य और पद्य दोनों प्रकार की कृतियां हैं। पद्य में थावच्चा चौ०, सं० १८४७ और ६०-७० फुटकर स्तवनादि हैं। गद्य में प्रश्नोत्तर सार्द्धशतकादि प्राप्त हैं। इनका स्वर्गवास सं० १८७३ में बीकानेर में हुआ।

४. **जैमल**—लौंकागच्छ तथा उससे निकले हुए स्थानकवासी समाज में भी कई कवि हो गए हैं, जिनमें जैमल और और उनके शिष्य रायचन्द्रजी[1] प्रधान हैं। जैमल का जन्म सं० १८६६ में लाखिये के मुंता मोहणदास की पत्नी मोहमादे की कुक्षि से हुआ। सं० १८८८ में २२ वर्ष की वय में दीक्षा ली और ६५ वर्ष का लंबा साधु जीवन व्यतीत कर ८७ वर्ष की सुदीर्घ आयु में, सं० १९५३ में स्वर्ग प्राप्त किया। इनकी कुछ रचनाओं के नाम ये हैं :—(१) नेमि चौ०, (२) साधु वंदना, (३) खंधक चौढालिया, (४) परदेसी राजा रास महावीर चौ०, (५) अर्जुन माली चौढालिया और (६) अवंतिसुकुमाल चौढालिया। रचना-काल है सं० १८०४ से सं० १८२५ तक। इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, से प्रकाशित है।

५. **संत भीखणजी** :—तेरापंथ के आद्य संस्थापक आचार्य भिक्षु का जन्म सं० १७८३ में कंटालिया ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम था संखलेचा बलूजी और माता का दीपादे। पहले ये १८०८ में रघुनाथजी से दीक्षित हुए, पश्चात् सं० १८१७ में अपना तेरापंथ नामक स्वतंत्र मत प्रवर्तन किया। स्वमत प्रचार के लिये इन्होंने ३५ हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ रचना की है। प्रमुख रचनाएँ हैं :—अनुकम्पा की ढाल, चतुर विचार दान, आचारदान ढाल, दान निचोड़ ढाल, १२ व्रत ९९ अतिचार, समकित, इन्द्रीवादी और चार निक्षेपों आदि की ढालें; गद्य में १८१ बोल की हुंडी। जैन आख्यानों पर नंदन मणियारा चौढालिया, सुदर्शन सेठ, उदाई राजा बखाण, जंबू चौ०, अर्जुन माला, जिनपालित-जिनरक्षित चौढालिया, कृष्ण बलभद्र चौपई। इनकी समस्त रचनाओं का संग्रह 'भिक्षु ग्रंथावली' के नाम से तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, से प्रकाशित हो रहा है। (देखिये 'आ० भिक्षु के विचार रत्न' नामक ग्रंथ)

२० वीं शती :—

इस शती में आते-आते राजस्थानी का स्थान हिन्दी ले लेती है, इसलिये राजस्थानी में रचना बहुत कम हुई। इस काल में जीतमलजी का साहित्य महत्त्वपूर्ण होने से उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ दे रहे हैं।

१. **जीतमलजी**—ये तेरापंथ सम्प्रदाय के चतुर्थ आचार्य थे। इनका जन्म सं० १८६० में रोहित नामक स्थान पर हुआ। इनके पिता का नाम गोलछा आईदान व माता का नाम कलुजी था। इन्होंने सं० १८६९ में ९ वर्ष की अल्पायु में ही दीक्षा ले ली। तेरापंथ संप्रदाय की नींव सुदृढ़ करने में इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये बहुत अच्छे प्रतिभासम्पन्न कवि थे, जिसका प्रमाण इनका लगभग ३ लाख श्लोक परिमाण विशाल साहित्य दे रहा है। इनमें अर्द्धमागधी जैनागम के पाँचवें अंग भगवती का ६० हजार श्लोक प्रमाण अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है। इसी आगम के ४ मूल सूत्रों में उत्तराध्ययन दशवैकालिक इन दो मूलसूत्रों पर भी इन्होंने ढालों की रचना की है। इनके अतिरिक्त इनकी रची हुई भिक्षु जसरसायन, हेम नवरसा, दीपजस, जययश आदि ऐतिहासिक, भ्रम विध्वंसनादिक तेरापंथ सम्प्रदाय संबंधी, और प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध तथा श्रावकाराधना चौबीसी ये कृतियाँ भी उपलब्ध हैं। इनका स्वर्गवास संवत १९३८ में जयपुर में हुआ।

इस प्रकार यहाँ अत्यन्त संक्षेप में जैन विद्वानों द्वारा निर्मित राजस्थानी साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया। विस्तार से समस्त कवियों और उनकी कृतियों का परिचय एक विशाल स्वतन्त्र ग्रंथ का विषय है, क्योंकि इस साहित्य का परिमाण लगभग

---

१ रायचन्द्र द्वारा रचित साहित्य के लिये देखिये—जैन गुर्जर कविओ, भाग ३।

१५–२० लाख श्लोकों के बराबर है, जो समग्र चारणादि जैनेतर साहित्य से अधिक है। यहाँ केवल बहुत प्रमुख कवियों की कुछ विशिष्ट कृतियों का ही नामोल्लेख किया गया है, और, कुछ अच्छे कवियों व सुललित काव्यों का भी परिचय स्थानाभाव के कारण आ नहीं सका है। तो भी इतने से राजस्थानी साहित्य को जैनकवियों की देन दृष्टिगोचर हो सकेगी, ऐसी आशा है।

राजस्थानी गद्य-साहित्य :—

उपर्युक्त परिचय में पद्य रचनाओं की ही अधिकता है, पर गद्य राजस्थानी जैन-साहित्य भी बहुत विशाल है। जैनागमों एवं प्रामाणिक उपयोगी अन्य जैन-ग्रंथों पर टब्बे व बालावबोध रूप भाषा टीकाओं की रचना प्रचुरता से हुई है और उनका परिमाण भी लाखों श्लोकों का है। जैनयतियों द्वारा लिखित लोककथाओं एवं ऐतिहासिक ख्यातों की भी कई प्रतियाँ उपलब्ध हैं। गद्य टीका निर्माताओं में पार्श्वचन्द्र सूरि, शिवनिधान, रूपचन्द, धर्मसी आदि मुख्य हैं। बहुत से भाषा टीका ग्रंथ ऐसे भी हैं, जिनमें रचयिताओं के नाम नहीं पाये जाते। जैनेतर लोकसाहित्य पर भी जैन विद्वानों ने कई टीकाएँ[1] बनाईं, जिनमें अकेले 'कृष्ण रुक्मणी वेलि' नामक प्रसिद्ध राजस्थानी ग्रंथ पर ही जैन लेखकों की ५ राजस्थानी और २ संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं। रसिक प्रिया, शतक त्रय, अमरू शतक एवं वैद्यक ग्रंथों पर भी जैन लेखकों की टीकाएँ मिलती हैं। गद्य लेखकों में से दो जैन श्रावकों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं:—(१) मुहणोत नैणसी, और (२) मुहणोत संग्राम सिंह।

मुहणोत नैणसी—राजस्थानी भाषा व इतिहास का प्रेमी ऐसा कोई व्यक्ति न होगा, जो इनको न जानता हो। इनकी सुप्रसिद्ध 'ख्यात' नामक रचना उपर्युक्त दोनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस ग्रंथ के द्वारा इन्होंने समग्र राजस्थान के इतिहास की चिरस्मरणीय अमूल्य सेवा की है। ऐतिहासिक तहसीलों का विवरण देनेवाली इनकी एक अन्य कृति अभी अप्रसिद्ध है। मुंहता नैणसी की 'ख्यात' नामक इनकी रचना का कुछ अंश रामकरणजी आसोपा ने छपाया था। अब वह पूर्ण रूप से राजस्थान पुरातत्व मंदिर से छप रही है। (जीवनी के लिये देखिये ख्यात के दो भागों में हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित उनकी प्रस्तावना)।

मुहणोत संग्राम सिंह—इन्होंने सं० १८१६ में 'अखलाक अलमो हर्सना', नामक फारसी ग्रंथ का नीति प्रकाश नाम से सुन्दर अनुवाद किया है। इसकी प्रति कविराज सुखदानजी के संग्रह में है। इनके अतिरिक्त भंडारी उत्तमचन्दजी कृत 'रतना– हमीरबात' तथा अन्य जैनयतियों द्वारा लिखित 'अमर सिंह बात'[2] 'राठौड़ वंशावली' आदि प्रचुर ऐतिहासिक साहित्य उपलब्ध है।

जैन विद्वानों ने स्वयं रचना करने के अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी राजस्थानी साहित्य की दो बड़ी सेवाएँ की हैं। प्रथम जैनेतर लेखकों द्वारा रचित साहित्य का संरक्षण करके और दूसरी राजस्थानी लोकगीतों को अमर बनाकर। जैन भंडारों में अन्य लेखकों द्वारा निर्मित जैनेतर साहित्य बहुत बड़े परिणाम में सुरक्षित हैं। उसमें से बहुत-सा ऐसा है, जो अन्यत्र सर्वथा अप्राप्य है। अर्थात् यहाँ न होने का अर्थ होता है उस साहित्य का सर्वथा लुप्त हो जाना। इतना ही नहीं, यहाँ सुरक्षित प्रतियाँ बहुत शुद्ध और कई-कई की संख्या में हैं। बोलचाल की राजस्थानी के प्राचीन ग्रंथ वीसलदेव रासो की बीसों प्रतियाँ इस लेखक ने देखी हैं। ये सभी जैन विद्वानों द्वारा ही लिखी गई हैं। एक भी प्रति अन्य किसी के द्वारा लिखी हुई नहीं मिलती। यदि यहाँ इतनी प्रतियाँ सुरक्षित न रहतीं, तो शायद आज इस महाकाव्य का नाम भी हमें सुनने को न मिल पाता। यह जैनों की अद्वितीय, अमूल्य सेवा है।

दूसरी बात है सरल भाषा में ग्रन्थ रचना और लोकगीतों को अमर बनाना। राजस्थानी जैन-साहित्य की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ डिंगल जैसी कठिन भाषा को न अपनाकर समग्र साहित्य तत्कालीन प्रचलित बोलचाल की भाषा में सृजन किया गया है। और क्योंकि गत ४०० वर्षों में राजस्थान की बोली में बहुत कम अन्तर पड़ा है, अतः उपर्युक्त नीति का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि इन चार शताब्दियों की जैन रचनाओं को आज भी बिना टीका-टिप्पणी प्रकाशित करने पर

१—इस साहित्य के परिचय के लिये देखिये लेखक का 'भारतीय विद्या' भाग २ अंक ३–४, में प्रकाशित 'जैनेतर ग्रंथों पर जैन टीकाएँ' नामक लेख।

२—प्रकाशित भारतीय विद्या भाग, अंक–१.

जनसामान्य उन्हें सरलता से पढ़ और समझ सकता है। इसलिये लेखक का यह सुझाव है डिंगल रचनाओं के संपादन, अनुवाद प्रकाशन आदि में अतिरिक्त व्यय न करके जैन-साहित्य के प्रकाशन की ओर समुचित योग लगाया जाय।

जैन लेखकों ने जिस प्रकार भाषा के क्षेत्र में जनसामान्य की प्रचलित बोली को अपनाया, उसी प्रकार काव्यरूपों और शैलियों में उनकी वृत्ति प्राचीन ग्रंथों को आदर्श न मानकर लोक प्रचलित रीतियों अर्थात् लोकगीतों में प्रयुक्त रागों और छंदों को अपनाने की ही रही। सहस्रावधि लोकगीतों के नाम उन्हें अपनी रचनाओं का आधार बनाकर इन साहित्यकारों ने अमर कर दिये हैं। श्रीयुत मोहनलाल देसाई ने बहुत परिश्रमपूर्वक जैन रासों और चौपाइयों में प्रयुक्त २३०० से भी अधिक देशी रागों की एक विस्तृत सूची अपने 'जैन गुर्जर कविओ' भाग--३ के परिशिष्ट में दी है। उस सूची को देखने से पता चलता है कि हम अपनी असावधानी के कारण सैकड़ों अत्यन्त सुन्दर लोकगीतों को खो बैठे हैं और इससे सचमुच किसी सहृदय साहित्यिक को बड़ा अनुताप होता है। देसाईजी ने अपनी सूची में यह भी निर्दिष्ट किया कि किस संवत् के, किसकी, किस रचना में, कौन-कौन से देशीरागों छंदों का प्रयोग हुआ है। इससे हमें उन गीतों की प्राचीनता एवं मूल भाषा का भी भलीभाँति परिचय मिल जाता है। इन देशी गीतों के माध्यम से हमारे अपढ़ जनसाधारण में स्वाभाविक संगीत की कैसी मधुर मंदाकिनी प्रवाहित होती थी, इसकी भी एक झाँकी हमें बरबस देखने को मिल जाती है और अपढ़ समाज की उत्कृष्ट, प्राचीन संस्कृति का चित्र आँखों में आकर हृदय द्रवीभूत हुए बिना नहीं रहता।

इतना ही नहीं, अनेक जैन श्रावकों ने चारण, भाट आदि जन-कवियों को आश्रय देकर न केवल साहित्य निर्माण, बल्कि चित्रकला एवं स्थापत्य कला के प्रोत्साहन द्वारा इन कलाओं के संरक्षण, संवर्द्धन का युगीन, चिरस्मरणीय, राष्ट्रीय हित का कार्य किया है। इस विषय पर लेखक का अवसर मिलने पर स्वतंत्र रूप से लिखने का संकल्प है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण साहित्य के परिचय से किसी भी पाठक को इतना स्पष्ट ध्यान में आये बिना नहीं रहेगा कि गत चार-पाँच शताब्दियों में राजस्थानी साहित्य, संस्कृति, लोकजीवन और इतिहास का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जिस पर किसी-न-किसी रूप में जैन साहित्यकारों और श्रावकों का महत्वपूर्ण योगदान न हो। इस सम्पूर्ण समस्त के अवलोकन के बिना किसी भी जिज्ञासु का इन शतियों के राजस्थान का अध्ययन सर्वांगीण नहीं हो सकता। यहाँ अन्त में इतना ही कह कर यह लेख समाप्त किया जाता है।

हिंदी जैन साहित्य

(ले० प्रो० नेमिचन्द्र जैन, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, आरा)

आन्तरिक रूप से विश्व के समस्त साहित्य में भावों, विचारों और आदर्शों का सनातन साम्य सा है, यत: आन्तरिक भावधारा और जीवन-मरण की समस्या एक है। प्राकृतिक रहस्यों से चकित होना तथा प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर पुलकित होना मानवमात्र के लिये समान है। साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज, सम्प्रदाय और संसार से ऊपर सत्य एवं सौन्दर्य का चिरन्तन रूप पाया जाता है। इसी कारण साहित्यकार चाहे वह किसी भी जाति, समाज, देश और धर्म का हो, अनुभूति का भण्डार समान रूप से ही अर्जित करता है। वह सत्य और सौन्दर्य की तह में प्रविष्ट हो अपने मानस से भावराशिरूपी मुक्ताओं को चुन-चुन कर शब्दावली की लड़ी में शिव की साधना करता है।

सौन्दर्य पिपासा मानव की चिरन्तन प्रवृत्ति है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति सभी करते हैं, आबालवृद्ध सभी इसका मर्म जानने के लिये उत्सुक रहते हैं। इसी कारण साहित्य सार्वजनीन अनुभूति के प्राची पर उदय लेता है। मानव के भीतर चेतना का एक गूढ़ और प्रबल आवेग है, अनुभूति इसी आवेग की सच्ची, सजीव और साकार प्रतिमा है। अतएव साहित्य में साम्प्रदायिक या जातिगत कोई ऐसा भेद नहीं होता, जो उसे विकृत या विरूप कर सके। यत: सत्य अविच्छिन्न, एक और अखण्ड है, उसमें किसी प्रकार का भेद करना, मानवता में भेद डालना है।

जैन साहित्य भी उसी वाङ्मय का एक अंग है, जिसमें मानवता का अखण्डरूप से विश्लेषण किया गया है। इस साहित्य के स्रष्टाओं ने अखण्ड चैतन्य आनन्दरूप आत्मा का ही अपने अन्तस् में साक्षात्कार किया और साहित्य में उसी की अनुभूति को मूर्तरूप प्रदान कर सौन्दर्य के शाश्वत प्रकाश की रेखाओं द्वारा शब्दमय चित्र अंकित किया है। इन्होंने अपनी अनुभूति को आत्मसाधना का विषय बनाकर चिरन्तन मंगल प्रभात का दर्शन किया तथा आभ्यन्तरिक धरातल में अंकुरित अशांति एवं असंतोष का उपचार ऊपरी सतह में लगे दोषों के परिमार्जन से न कर प्रस्फुटित अनुभूति के झरने में मज्जन कर, किया।

हिन्दी जैन साहित्य का उद्भव :—

चिरन्तन सत्य अखण्ड और एक है, पर उसकी उपलब्धि के साधन और प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। यही कारण है कि साहित्य में साम्प्रदायिक भेद उत्पन्न होता है। साहित्य का प्रेरणा स्रोत, जो कि जीवन संघर्ष ही है, अनेक परिधानों में अभिव्यंजित होता है। साम्प्रदायिक साहित्यकार अपने दर्शन की मान्यताओं के आवेष्टन से आवेष्टित होकर साहित्य देवता की भव्य मूर्ति अंकित करता है।

हिन्दी की जननी अपभ्रंश है। ७–८ वीं शती में जनसाधारण की भाषा बन जाने के कारण अपभ्रंश का प्रचार हिमालय की तराई से गोदावरी और सिन्ध से ब्रह्मपुत्र तक था। यह जीवित और भाव-प्रवण भाषा थी, अत: जैनाचार्यों ने मानव के आदर्शों के प्रचार के लिये तथा मूर्छित मानवता को सचेतन बनाने के लिये इस भाषा में प्रभूत साहित्य रचा। स्तोत्र काव्य, कथाकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं चरितकाव्य जैन लेखकों द्वारा लिखित इस भाषा में पाये जाते हैं। दोहों के क्षेत्र में जोइन्दु के परमात्मप्रकाश और दोहासार इस भाषा के उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। कुछ लोग जोइन्दु को अपभ्रंश भाषा का सर्वप्रथम जैन कवि मानते हैं।[१] इनके पश्चात् चतुर्मुख आदि कई अपभ्रंश कवियों के नामोल्लेख मिलते हैं। ८–९वीं शताब्दी में रामायण, हरिवंश प्रभृति महा-काव्यों के रचयिता महाकवि स्वयंभू का नाम आता है। स्वयंभू के पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू भी अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि हैं। दशवीं शताब्दी में महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषा में महापुराण नामक महाकाव्य की रचना की। इन्हीं शताब्दियों में जैन कवि देवसेन, महेश्वरसूरि, पद्मकीर्ति, धनपाल, हरिषेण, नयनन्दि, धवल, वोद, श्रीचन्द आदि ने अपनी काव्य कृतियों द्वारा अपभ्रंश साहित्य की श्रीवृद्धि की। इनके उपरान्त श्रीधर, कनकामर, धाहिल, यशःकीर्ति प्रभृति कवियों ने सरस कृतियाँ प्रदान की। आचार्य हेमचन्द्र ने इस भाषा का व्याकरण लिखा और उदाहरण के रूप में अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को सुरक्षित रखा। इन दोहों में शृंगार, सौन्दर्य, नीति, करुणा एवं भय का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। नरसेन, सिंह, धनपाल, माणिक्यराज, पद्मकीर्ति और रइधू मध्यकाल के प्रसिद्ध कवि हैं।[२]

अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के जैन कवियों ने लोक प्रचलित कहानियों को लेकर और उनमें स्वेच्छया परिवर्तन कर सुन्दर काव्य ग्रंथ लिखे हैं। मध्यकाल के आरम्भ में समाज और धर्म संकीर्ण हो रहे थे। अतः जैन लेखकों ने परम्परा प्राप्त पुराने कथानकों और लोकप्रचलित प्रसिद्ध कथानकों में जैनधर्म का पुट देकर मानव हितकारी साहित्य का सृजन किया। हिन्दी के जैन लेखक प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य की जैन परम्पराओं के साथ विशाल संस्कृत वाङ्मय के विभिन्न अंगों से सुपरिचित थे। बौद्ध साहित्य, पौराणिक साहित्य, तन्त्र साहित्य एवं वेदान्त साहित्य का इन्होंने पूर्णतया अध्ययन किया था। फलतः पुरानी हिन्दी-अपभ्रंश से निसृत पर पूर्णतया उससे प्रभावित, में ही साहित्य का निर्माण जैनाचार्यों के द्वारा हुआ। यों तो अपभ्रंश की रचनाएँ १७ वीं शती तक मिलती हैं, पर १०वीं, ११वीं और १२ वीं शती ही अपभ्रंश का स्वर्णकाल है। १३वीं शती से अपभ्रंश प्रभावित पुरानी हिन्दी में रचनायें लिखी जाने लगीं। सोमप्रभ के कुमारपाल प्रतिबोध की ५७ लघु-कथाएँ और मेरुतुंग की प्रबन्ध चिन्तामणि' के कतिपय आख्यान पुरानी हिन्दी का आदिमरूप कहे जा सकते हैं। जिसे वास्तविक रूप में हिन्दी कहा जाता है, उसके काव्यों का आरंभ १३ वीं शती के धर्मसूरि के जम्बूरासा से होता है। इसके पश्चात् हिन्दी में जैन साहित्य की परम्परा द्रुतगति से आगे बढ़ती है। १७ वीं और १८वीं शती तो इस साहित्य का स्वर्णकाल है।

हिन्दी जेन साहित्य का कालवर्गीकरण :—

सामयिक अवधि के अनुसार जैन हिन्दी साहित्य के काल को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—आदिकाल, मध्यकाल और अर्वाचीन काल। आदिकाल के पुनः दो भेद हैं—अपभ्रंश साहित्यकाल और पुरानी हिन्दी का साहित्यकाल। समय सीमा के अनुसार विक्रम की ८ वीं शती से १२ वीं शती तक अपभ्रंश साहित्यकाल और १३ वीं शती से १६ वीं शती तक पुरानी हिन्दी का साहित्यकाल माना जायगा। मध्यकाल की समय सीमा १७ वीं शती से १९ वीं शती तक तथा अर्वाचीनकाल विक्रम की १९ वीं शती के पश्चात् आरम्भ होता है। प्रस्तुत निबन्ध में उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर ही हिन्दी जैन साहित्य का परिचय दिया जायगा।

अपभ्रंश भाषा की उत्पत्ति पाँचवीं शती में हुई थी और छठी शती में यह देशी भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी थी। अतः छठी से १२ वीं शती तक इस भाषा में पुष्कल परिमाण में साहित्य का सृजन होता रहा। आगे चलकर इसी भाषा ने हिन्दी भाषी प्रान्तों में हिन्दी का रूप और अन्य भाषा-भाषी प्रान्तों में मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का रूप धारण किया। लोक भाषा होने के कारण इसी में गीत एवं लोकगाथा साहित्य लिखा गया। इस साहित्य के वर्ण्य विषय सर्व साधारण के सुख-दुःख, हर्ष, विषाद, हास एवं विलास ही थे। ८–९ वीं शती में भक्ति, प्रेम, वीर, करुण, हास्य आदि रसों से सम्बद्ध साहित्य दोहा, चौपाई, कडवक, घत्ता, छप्पय, रोला प्रभृति छन्दों में शास्त्रीय परम्परा के आधार पर लिखा गया।

अपभ्रंश जैन साहित्य में प्रबंध काव्य की धारा आठवीं शती से ही प्रवाहित हुई। जैन कवियों ने प्राचीन कथानकों को लेकर इस देशी भाषा-अपभ्रंश में अपने काव्य-भवन का निर्माण किया,। तीर्थंकर, चक्रवर्ती और नारायण आदि महान् व्यक्तियों के सरस और हृदयग्राही जीवनवृत्त काव्य के उपकरण बने। इतना ही नहीं, किन्तु वैदिक महापुरुषों के चरित्रों एवं लोक प्रसिद्ध प्रेमाख्यान या वीराख्यान के नायकों के जीवन वृत्तों को जैनत्व के आवरण में वेष्टित कर नये कथानक भी उपस्थित किये गये। लोकप्रचलित प्रेमाख्यानों में जैनत्व की रंग-विरंगी कारीगरी कर साहित्य का निर्माण किया गया। अपभ्रंश भाषा में पउमचरिउ-रामायण, हरिवंश-कृष्ण चरित, रिट्ठनेमिचरिउ, भविसयत्तकहा, तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार, करकंड चरित और वइरिसामि चरिउ श्रेष्ठ महाकाव्य हैं। इन काव्यों में महाकाव्य के सभी तत्त्व वर्तमान हैं।

अपभ्रंश में पंचमी चरित, नागकुमार चरित, यशोधर चरित, नेमिनाथ चउपई, आदि खण्डकाव्य हैं। खण्डकाव्य में जीवन के किसी खास पहलू पर कवि की दृष्टि केन्द्रित रहती है। यद्यपि घटना विधान, दृष्य योजना और परिस्थिति निर्माण का भी प्रयास खण्डकाव्य के निर्माताओं को करना पड़ता है, पर जीवन के किसी खास अंश की सीमा में बँधकर। उपर्युक्त अपभ्रंश के सभी खण्डकाव्य काव्यत्व की दृष्टि से पूर्ण सफल हैं।

पुरानी हिन्दी के साहित्य में प्रधान रूप से रासा ग्रंथों का समावेश होता है। रासा शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ का अभिमत है कि यह शब्द रसायन या रहस्य से निकला है। पर इस शब्द का वास्तविक रहस्य प्रबन्धात्मक कथा है। जैन परम्परा में १३ वीं शती से १६ वीं शती तक अनेक रासा ग्रंथ रचे गये हैं। यों तो रासा साहित्य

की परम्परा १८वीं शती तक पायी जाती है। व्रतों के फलों का निरूपण, यात्रा के फलों का कथन, जीवन की किसी भी महत्वपूर्ण घटना का काव्यात्मक प्रतिपादन रासा ग्रन्थों के वर्ण्य विषय हैं। इन रचनाओं में धर्म और आचार के बीज तो वर्तमान हैं हीं, पर काव्यतत्व की न्यूनता नहीं है।

जम्बूस्वामी रासा की रचना धर्मसूरि ने संवत् १२६६ में की है। इनके गुरु का नाम महेन्द्र सूरि था। इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश और गुजराती से प्रभावित हिन्दी है। प्रबन्ध कल्पना कवि में पूर्णतया वर्तमान है। जीवन के उपयोगी अंशों के उद्घाटन की क्षमता भी कवि में है। भाषा का नमूना निम्नप्रकार है :—

जिण चउविस पय नमेवि गुरुचरण नमेवि।
जम्बूस्वामिहिं तणूं चरिय भविउ निसुणेवि।
करि सानिध सरसत्ति देवि जीयरयं कहाणउ।
जंबू स्वामिहिं (सु) गुणगहण संखेवि बखाणउ॥

रेवन्तगिरि रासा की रचना विजयसेन सूरि ने की है। इनका शिष्य वसुपाल मन्त्री था, इसने संवत् १२८८ के लगभग गिरनार संघ निकाला था। इस काव्य में गिरनार यात्रा तथा गिरनार क्षेत्र पर किये गये जीर्णोद्धार का लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थ की भाषा पुरानी हिन्दी है, पर गुजराती का प्रभाव स्पष्ट है। इस रचना में काव्यतत्त्व की अपेक्षा धर्मतत्व की मुख्यता है। नमूना निम्न प्रकार है :—

परमेसर तित्थेसरह पयपंकज पणमेवि।
भणिसु रास रेवन्तगिरि-अंबिकदिवि सुमरेवि॥
गामागर-पुर-वय गहण सरि-सरवरि-सुपएसु।
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु॥

नेमिनाथ चउपई के रचयिता विनयचन्द्र सूरि हैं। ये संस्कृत और प्राकृत भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी इन तीनों ही भाषाओं में कविता भी करते थे। इनके गुरु का नाम रत्नसिंह है। इनका समय १३ वीं शती माना गया है। इन्होंने ४० पद्यों में इस काव्य को पूरा किया है। इनका उपदेशमाला कथानक छप्पय नाम का ८१ पद्यों का एक अन्य काव्य भी उपलब्ध है। नेमिनाथ चउपई की प्रारंभिक पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

सोहग सुंदर घण लावन्नु, सुमरवि सामिउ सामलवन्नु।
सखिपति राजल चढि उत्तरिय, बार मास सुणि जिम बज्जरिय॥
नेमिकुमर सुमरवि गिरनार, सिद्धी राजल कन्न कुमारि।
श्रावणि सरवणि कडुए मेहु, गज्जइ विरहि रि झिज्जहु देहु॥
विज्जु झबक्कइ रक्खसि जेव, नेमिहि विणु सहि सहियइ केव।
सखी भणइ सामिणी मत झूरि, दुज्जण तण मनवांछित पूरि॥

संघपतिसमरा रास भी इस काल की सुन्दर रचना है। इसके रचयिता नगेन्द्र गच्छ के आचार्य पासड सूरि के शिष्य अम्बदेव थे। अणहिल्लपुर पट्टन के ओसवाल शाह समरासंघपति ने संवत् १३७१ में शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार अपार धनव्यय करके कराया था। कवि ने इसी इतिवृत्ति को लेकर इस काव्य की रचना की है। भाषा राजस्थानी का परिष्कृत रूप है। अपभ्रंश का प्रभाव भी विद्यमान है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

वाजिय सँख असंख नादिकाहल दुडुदुडिया।
घोड़े चड़इ सल्लारसार राउत सींगडिया॥
तउ देवालउ जोत्रिवेगि घाघरि खु झमक्कई।
सम विसम नवि गणइ कोइ नवि वारिउ थक्कइ॥

थूलभद्र फागु की रचना चैत्र महीने में फाग खेलने के लिये जिनपद्मसूरि ने की है। इनके पिता का नाम अम्बाशाह और पितामह का नाम लक्ष्मीधर था। ये खीमड कुल में उत्पन्न हुए थे। संवत् १३८९ में ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सोमवार को इन्हें खरतरगच्छीय जिनकुशल सूरि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। शाह हरिपाल ने संघभक्ति और गुरु भक्ति के साथ इन्हें

युगप्रधान पद बड़े उत्साह के साथ प्रदान किया था। इनकी कविता परिष्कृत और सरस है। अलंकारों का भी यथास्थान समावेश हुआ है। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

ऊह सोहग सुन्दर रूपवंतु गुणमणि भंडारो।
कंचण जिम झलकंत कंति संजम सिरिहारो॥
थूलिभद्र मुणिराउ जाम महियली बोहंतउ।
नयरराय पाडलिय माँहि पहूतउ विहरंतउ॥

गौतम रासा वि० संवत् १४१२ में विजयभद्र ने लिखा है। इस काव्य में कल्पनाओं के सहारे सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं। गौतम स्वामी के रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

× × ×
सात हाथ सुप्रमाण देह रूपिहिं रंभावरु॥
नयणवयण करचरणि जिण वि पंकज जलिपाडिय।
तेजहिं तारा चंद सूर आकासि भयाडिय॥
रूविहि मयणु अनंग करवि मेल्हिउ निद्दाडिय।
धीरिम मेरु गंभीरि सिंधु चंगमि चय चाडिय॥

ज्ञान पंचमी की रचना मगध देश में विहार करते हुये जिनउदय गुरु के शिष्य ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू ने संवत् १४२३ में की थी। इसमें श्रुतपंचमी व्रत का महात्म्य बतलाया गया है। ललितांगचरित[४], सारसिखावनरास[५], यशोधरचरित[६], कृपणचरित और रामसीता चरित १६ वीं शती की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कवि ठकरसी द्वारा संवत् १५८० में रचित कृपणचरित एक सुन्दर काव्य है। इस काव्य का कथानक बड़ा रोचक एवं शिक्षाप्रद है। बताया गया है कि एक दिन कृपण की पत्नी ने अपने पति से गिरनार की यात्रा को चलने का अनुरोध किया। कृपण महानुभाव ने पत्नी के प्रस्ताव का विरोध किया। पति-पत्नी में इस विषय को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ। पत्नी ने अनेक युक्तियों से तीर्थाटन, दान एवं पुण्य कार्यों के संपादन में ही धन की सार्थकता बतलायी, किन्तु कृपण महोदय को उक्त बातें रुचिकर प्रतीत नहीं हुईं। उसने किसी युक्ति से पत्नी को उसके पीहर भेज दिया। इधर यात्रियों का एक संघ गिरनार से वापस आया। इस संघ के कुछ लोग मार्ग में व्यापार करते हुए अपने छकड़ों को ले गये थे। अतः वे यात्रा के साथ-साथ बहुत सा धनार्जन भी कर लाये थे। कृपण के लिये वे व्यापारी यात्री ईर्ष्या का विषय बने। फलतः दिनरात चिन्ता करने के कारण वह कृपण रोगी हो गया। कृपणता के कारण औषधि कर नहीं सका और उसकी मृत्यु हो गयी। वह मरकर नरक गया।

इस काव्य में रोचकता इतनी अधिक है, कि आरम्भ करने पर समाप्त किये बिना नहीं रहा जायगा। स्व० श्री पं० नाथूराम प्रेमी ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—"यह छोटा सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य बम्बई दि० जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डार में एक गुटके में लिखा हुआ मौजूद है। इसमें कवि ने एक कंजूस धनी का अपनी आँखों देखा चरित्र ३५ छप्पय छन्दों में लिखा है"[७]। उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

कृपणु एकु परसिद्धु नयरि निवसंतु निलक्खणु।
रही करम संजोग तासु घरि, नारि बिचक्खणु॥
देखि दुहू की जोड़; सयलु जगि रहिउ तमासै।
याहि पुरिषकै याहि, दई किम दे इम भासै॥
वह रह्यो रीति चाहै भली, दाण पुंज गुण सील सति।
यह दे न खाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति॥

ये सभी रासा ग्रन्थ प्रायः एक ही शैली पर लिखे गये हैं। इनमें काव्यत्व अल्प और पौराणिकता अधिक है। धर्मवार्ता होने के कारण सुन्दर नीति और विश्वोपकार की भावना अन्तर्हित है। इस रासा साहित्य में प्रेम और विरह के चित्रों की भी कमी नहीं है। वीररस का चित्रण तो अनेक स्थलों पर बड़े सुन्दर रूप से हुआ है।

अंजना सुन्दरी रास[१] में अंजना के विरह का सजीव और उदात्त वर्णन किया गया है। विरहिणी के जीवन की समस्त परिस्थितियों का चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। संस्कृत साहित्य में विरह की जिन दस दशाओं का निरूपण किया गया है, वे सभी अंजना के जीवन में विद्यमान हैं। विरहिणी अंजना के जीवन में कवि ने निष्ठा और सहानुभूति की भी कमी नहीं दिखलाई है। पति द्वारा अकारण तिरस्कृत होने से अंजना के मन में अत्यन्त ग्लानि है, वह अपनी संकट की घड़ियों को पति के प्रथम साक्षात्कार की मधुर स्मृति के अनुभव द्वारा प्रसन्नतापूर्वक बिता देती है। भगवद्भक्ति और सदाचार ही उसके जीवन के आधार हैं। इस काव्य की कथावस्तु विरहिणी के आंसुओं से ही ग्रथित की गयी है। इस काव्य के रचयिता कवि महानन्द हैं।

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य बहुत विशाल है। इस काल में महाकाव्य, खण्डकाव्य, चरित और कथाकाव्य, आध्यात्मिक रूपक काव्य, गीति काव्य, प्रकीर्णक काव्य, आत्मकथा काव्य, रीति साहित्य एवं गद्य साहित्य का सृजन हुआ। हम सुविधा के लिये इस कालखण्ड का काव्य प्रवृत्तियों के आधार पर विवेचन तथा समय क्रमानुसार कवियों के आधार पर ही निरूपण करेंगे।

हमारे अभीष्ट कालखण्ड में श्रेष्ठतम कवि बनारसीदास हैं। ये महाकवि की उपाधि से विभूषित हैं। इनका जन्म धनीमानी परिवार में हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदास का साका चलता था, पितामह मूलदास हिन्दी और फारसी के पंडित थे और ये नरवर (मालवा) में वहाँ के मुसलमान नवाब के मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसिंह कुछ दिनों तक बंगाल के सुलतान मोदीखां के पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुर में माघ सुदी ११, संवत् १६४३ में हुआ था। ये श्रीमाली वैश्य थे। ये बड़े ही प्रतिभाशाली और सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त हुई थी, पर अद्भुत प्रतिभा के कारण ये अच्छे कवि थे। चौदह वर्ष की अवस्था में इन्होंने एक हजार दोहा-चौपाइयों का नवरस नामक ग्रंथ बनाया था, जिसे आगे चलकर इस भय से कि इस ग्रंथ के अध्ययन से समाज पथभ्रष्ट न हो जाय, गोमती में प्रवाहित कर दिया था।

महाकवि बनारसीदास के पिता मूलतः आगरा निवासी ही थे, तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरा में रहने का अवसर मिला था। उस समय आगरा जैन विद्वानों का केन्द्र था। इनके सहयोगियों में पं० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, कुंवरपाल और जगजीवनराम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकवि बनारसीदास का सम्पर्क सन्त कवि सुन्दरदास[१] और तुलसीदास के साथ भी था। तुलसीदास की रामायण पर बनारसीदास ने "विराजै रामायण घट माहीं। मरमी होय मरम सो जानें मूरख समझें नाहीं", इत्यादि पद्य लिखकर अपनी सम्मति दी थी। रचनायें निम्न हैं। नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहों का एक छोटा सा शब्द कोश है। इसका आधार महाकवि धनंजय की संस्कृत नाममाला है। कवि ने धनंजय के २०० श्लोकों का सार १७५ दोहों में ही रख दिया है। इसकी प्रशस्ति में बताया गया है—

सोरह सै सत्तरि समै, असू मास सित पक्ष।
विजैदसम ससिवार तह, श्रवण नखत परतक्ष॥
दिन दिन तेज प्रताप जय, सदा अखंडित आन।
पातसाह थिर नूरदी, जहांगीर सुलतान॥[१०]

अर्थात्—इस ग्रंथ की रचना संवत् १६७० में, बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में, आश्विनमास के शुक्लपक्ष में विजयादशमी सोमवार के दिन, भानुगुरु के प्रसाद से पूर्णता को प्राप्त हुई।

नाटकसमयसार—यह एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक रचना है। आत्मान्वेषकों को सरस कविता में आत्मतत्त्व की उपलब्धि की सुन्दर अभिव्यंजना वर्तमान है। कुशल कलाकार ने चित्रकार के समान काव्यगत आत्मानुभूति में नाना कल्पानाओं का रंग लगाकर अद्भुत चित्र खींचने का प्रयास किया है। यद्यपि कवि की इस रचना का आधार आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार है, पर कविने रागतत्त्व, बुद्धितत्त्व और कल्पनातत्त्व का समावेश कर इस रचना की मौलिकता को अक्षुण्ण बनाये रखा है। प्रत्येक पद्य में प्रवाह और माधुर्य वर्तमान है। सरस और कोमल शब्दों का चयन करने में कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। अनूठी उक्तियाँ और नवीन उद्भावनाएँ तो पाठक का मन ही बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। जीवन के कोमल पक्ष की अभिव्यंजना

होने से कविता हृदय और मस्तिष्क दोनों को समान रूप से छूती है। इसमें जीवन के उन विशेष विचारों और भावनाओं का संकलन किया गया है, जो यथार्थ जीवन को गतिशील बनाते हैं।

इसमें ३१० दोहा-सोरठा, २४३ सवैया-इकतीसा, ८६ चौपाई, ६० सवैया-तेईसा, २० छप्पय, १८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं। कुल पद्यों की संख्या ७२६ है। इसमें कवि ने आत्मतत्त्व का निरूपण नाटक के पात्रों का रूपक देकर किया है। इसमें सात तत्त्व अभिनय करने वाले हैं। यही कारण है कि इसका नाम नाटक समयसार रखा गया है।

कवि ने मंगलाचरण के उपरान्त सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा, अज्ञानी की विभिन्न अवस्थाएँ, ज्ञानी की अवस्थाएँ, ज्ञानी का हृदय, संसार और शरीर का स्वरूप दिग्दर्शन, आत्मजागृति, आत्मा की अनेकता, मन की विचित्र दौड़ एवं सप्तव्यसनों का सच्चा स्वरूप प्रतिपादित करने के साथ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का काव्य की शैली में निरूपण किया है। आत्मा की अनुपम आभा का कितना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

जो अपनी दुति आप विराजत, है परधान पदारथ नामी।
चेतन एक सदा निकलंक, महासुख सागर को विसरामी॥
जीव-अजीव जिते जग में, तिनको गुन ज्ञायक अन्तरजामी।
सो शिवरूप बसै शिवथानक, ताहि विलोकन में शिवगामी॥

अज्ञानी जीव भ्रम के कारण अपने स्वरूप को विस्मृत कर संसार में जन्म-मरण के कष्ट उठा रहा है। कवि कहता है कि काया की चित्रशाला में कर्म का पलंग बिछाया गया है, उस पर माया की सेज सजाकर मिथ्या कल्पना का चादर डाला गया है। इस शय्या पर अचेतन की नींद में चेतन सोता है। मोह की मरोड़, नेत्रों का बन्द करना—झपकी लेना है। कर्म के उदय का बल ही श्वास का घोर शब्द है और विषय सुख की दौड़ ही स्वप्न है। इस प्रकार तीनों कालों में अज्ञान की निद्रा में मग्न यह आत्मा भ्रमजाल में ही दौड़ती है, पर इसे अपना रूप प्राप्त नहीं होता। कवि इसी स्वरूप का विश्लेषण करता हुआ कहता है :—

काया की चित्रसारी में करम परजंक भारी, माया की सँवारी सेज चादर कलपना।
शैन करे चेतन अचेतनता नींद लिये, मोह की मरोर यहै लोचन का ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर, विष सुखकारी जाकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहे तिहुँकाल, धावे भ्रमजाल में न पावे रूप अपना॥

इसी प्रकार कवि ने भेदविज्ञान, आत्मानुभूति, आत्मतत्त्व, सहजानुभूति कर्मसंसर्ग से होनेवाली आत्मा की विभिन्न प्रकार की लीलाएँ, निश्चय और व्यवहार के स्वरूप, उनके दृष्टिकोण, आत्मा का कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व प्रभृति का रूपात्मक काव्य शैली में प्रतिपादन किया है। इन प्रसंगों में प्रयुक्त उपमान बड़े ही सरस और नवीन हैं। रूपकों के सहारे आत्मतत्त्व का विश्लेषण काव्य के स्वरूप को चमत्कृत ही नहीं करता, बल्कि उसे रस-ग्राह्य बनाता है। यहाँ एक चित्र का वर्णन करना आवश्यक है। कवि कर्म संयोगी आत्मा की अनेकरूपता का चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार नदी की एक ही धारा में नाना स्रोतों का जल आकर मिलता है, तथा जिस स्थान पर पाषाण शिलाएं रहती हैं, वहाँ धारा मुड़कर जाती है, जहाँ कंकड़ रहते हैं, वहाँ झाग देती हुई आगे बढ़ती है, जहाँ हवा का जोर अधिक रहता है, वहाँ चंचल तरंगें उठती हैं और जहाँ की भूमि नीची होती है, वहाँ भवरें पड़ती हैं। इसी प्रकार आत्मा में पुद्गल अचेतन के अनन्त रसों के कारण अनेक प्रकार के विभाव उत्पन्न होते हैं। आत्मा की विभाव पर्याय जन्य लीलाएँ नाटक के पात्रों की लीलाओं से कम नहीं होतीं। संसाररूपी रंगस्थली पर आत्मा नट बनकर नाना तरह की लीलाएँ किया करती है। नायक आत्मा है और प्रतिनायक पुद्गल—जड़पदार्थ। आत्मा की इसी अनेकरूपता का कितना स्वाभाविक चित्रण किया है :—

जैसे महीमण्डल में नदी का प्रवाह एक, ताही में अनेक भाँति नीर की ढरनि है।
पाथर के जोर तहाँ धार की मरोर होत, कांकर की खानि तहाँ झाग की झरनि है॥
पौन की झकोर तहाँ चंचल तरंग उठै, भूमि की निचानि तहाँ भौंर की परनि है।
तैसो एक आत्मा अनन्त रस पुद्गल, दोहू के संयोग में विभाव की भरनि है॥

'नाटक समयसार' की भाषा सरस, मधुर और प्रसादगुण पूर्ण है। शब्द चयन, वाक्य विन्यास और पदावलियों के संगठन में सतर्कता और सार्थकता का ध्यान सर्वत्र रखा गया है।

अर्द्धकथानक" —इसमें कवि ने अपनी आत्मकथा लिखी है। वि० सं० १६९८ तक की सभी घटनाएं दी गयी हैं। यह हिन्दी में लिखी गयी सबसे पहली आत्मकथा है। यह आत्मकथा काव्य "मध्य देश की बोली" में लिखा गया है। यह समूची आत्मकथा इतनी रोचक है और ऐतिहासिक निबन्धन की दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण है कि इसमें हिन्दी-साहित्य की अनेक नयी बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही १७ वीं शती की राजनीतिक और सामाजिक अनेक घटनाओं का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है। इस आत्मकथा में कवि ने अपना ५५ वर्ष का चरित्र स्पष्टता और सत्यतापूर्वक अंकित किया है।

बनारसी विलास-इसमें महाकवि बनारसीदास की ५७ छोटी-मोटी रचनाएं संग्रहीत हैं। इसका संकलन संवत् १७०१ में पं० जगजीवन ने किया है। इस संकलन में तेरह काठिया, भवसिन्धुचतुर्दशी, अध्यात्महिंडोलना, सूक्तिमुक्तावली, ज्ञानपच्चीसी, अध्यात्मबत्तीसी, कर्मछत्तीसी, मोक्षपैडी, शिवपच्चीसी और ज्ञानबावनी आदि प्रधान हैं।

तेरह काठिया में कवि कहता है कि जिस प्रकार लुटेरे, बदमाश, चोर आदि देश में उपद्रव मचाते हैं, उसी प्रकार तेरह काठिया आत्मा में उपद्रव–विकृति उत्पन्न करते हैं। जुआ, आलस, शोक, भय, कुकथा, कौतुक, कोप, कृपणबुद्धि, अज्ञानता, भ्रम, निन्दा, मद और मोह ये तेरह आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। विभाव परिणति के कारण शुद्ध, बुद्ध और निरंजन आत्मतत्त्व में परपदार्थों के संयोग से विकृति उत्पन्न हो जाती है। उपर्युक्त तेरह धूर्त आत्मा के निजी धन, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य को चुराते हैं।

भवसिन्धु चतुर्दशी एक सरस हृदय ग्राहक रचना है। इसमें संसार की विडम्बनाओं से पृथक् रहने की ओर संकेत करते हुए परमात्म चिन्तन अथवा अन्वेषण की ओर प्रवृत्त होने की बात कही है। इसमें विभिन्न रूपकों द्वारा संसार के स्वरूप का विश्लेषण किया है।

हिंडोले का रूपक देकर आत्मानुभूति की सरस और सुन्दर अभिव्यंजना इस अध्यात्महिंडोलना में की गयी है। चेतन आत्मा स्वाभाविक सुख के हिंडोले पर आत्मगुणों के साथ क्रीड़ा करती रहती है। रूपक अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है।

सूक्तिमुक्तावली के पद्य भी सुन्दर और उपदेशप्रद हैं। यह संस्कृत भाषा में लिखी गयी सोमप्रभ की सूक्तिमुक्तावली के आधार पर लिखित है।

हमारे इस युग के द्वितीय बड़े कवि भैया भगवतीदास हैं। ये आगरा के निवासी ओसवाल जैन थे। इनका गोत्र कटरिया था। इनके पिता का नाम लालजी और पितामह का नाम दशरथ साहू था। इनके जन्म संवत् एवं मृत्यु संवत् के सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है। हाँ, इनकी रचनाओं में संवत् १७३१ से १७५५ तक का उल्लेख मिलता है। वि० सं० १७११ में हीरानन्द ने पंचास्तिकाय का अनुवाद किया था, इसमें आगरा के भगवती दास का भी उल्लेख किया है। संभवतः ये ही भैया भगवतीदास रहे होंगे। इन्होंने कविता में अपना उल्लेख भैया, भविक, और दास-किशोर उपनामों से किया है। इनकी समस्त कविताओं का संग्रह ब्रह्मविलास में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त "लघु सीतासतु" नामक एक सुन्दर खण्डकाव्य भगवतीदास के नाम से उपलब्ध है। यहाँ दो-एक रचनाओं का अनुशीलन उपस्थित किया जाता है।

चेतनकर्म चरित्र इनका एक सुन्दर आध्यात्मिक रूपक काव्य है। इसकी कथावस्तु में बतलाया गया है कि चेतन की सुबुद्धि और कुबुद्धि नाम की दो भार्याएँ थीं। सुबुद्धि चेतन-आत्मा, की कर्म संयुक्त अवस्था को देखकर कहने लगी–'चेतन तुम्हारे साथ यह दुष्टों का संग कहाँ से आ गया। तुम उनको दूर क्यों नहीं करते हो।' चेतन–'हे महाभागे ! मैं तो इस प्रकार फंस गया हूँ जिससे इस गहन पंक से निकलना असंभव-सा लग रहा है।' सुबुद्धि पुनः चेतन को समझाती है, जिससे चेतन कुबुद्धि को अपने घर से निकाल देता है। कुबुद्धि रूठकर अपने पिता मोह के घर चली जाती है और मोह विकारों की सेना सजाकर चेतन गढ़ को घेर लेता है। इधर चेतन की ओर से संयम, व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा और गुणस्थानरूप योद्धा समरभूमि में आते हैं तथा मोह की ओर से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय रूपी योद्धा जंग करते हैं। घमासान युद्ध होने के उपरांत मोह की सेना तितर-बितर हो जाती है। कवि ने उक्त रूपक को लेकर ही इस काव्य की २९६ पद्यों में रचना की है। भावनाओं के अनुसार मधुर तथा परुषवर्णों का प्रयोग इस कृति में चमत्कार उत्पन्न करता है। युद्ध का वर्णन कितना सजीव हुआ है :—

सूर बलवंत मदमत्त महामोह के, निकसि सब सैन आगे जु आये।
मारि घमासान महाजुद्ध बहु क्रुद्ध करि, एकतें एक सातों सवाये ॥
बीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिकैं सुभट सातों गिराये।
कुमुक जो ज्ञान की सैन सब संग धसी, मोहके सुभट मूर्च्छा सवाये ॥

पंचेन्द्रिय संवाद और मधुविन्दुक चौपाई भी सुन्दर रचनाएं हैं, इन दोनों काव्यों का लक्ष्य भी आत्मतत्त्व को पहचानना है। लघु सीता सतु खण्डकाव्य है। इसमें कवि ने सीता के सतीत्व की झाँकी दिखलायी है। बारह मासों में मन्दोदरी सीता के प्रश्नोत्तर के रूप में रावण और मन्दोदरी की चित्तवृत्ति का सुन्दर विश्लेषण किया है। मानसिक घात-प्रतिघातों का चित्र बड़ी चतुराई से खींचा गया है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

तब बोलइ मन्दोदरी रानी। सखि अषाढ़ घनघट घहरानी ॥
पीय गये ते फिर घर आवा। पामर नह नित मन्दिर छावा ॥
लवहि पपीहे दादुर भोरा। हियरा उमग धरत नहिं धीरा ॥
बादर उमहि रहे चौपासा। तिय-पिय बिनु लहिं उसन उसासा ॥
नन्ही बून्द झरत झर लावा। पावस नभ आगमु दर सावा ॥
दामिनि दमकत निशि अंधियारी। विरहिनि काम वान उर मारी ॥
भुगवहि भोगु सुनहि सिख मोरी। जानति काहे भई मति बौरी ॥
मदन रसायन ह्वइ जग सारू। संजमु नेमु कथन विवहारू ॥
जब लग होस शरीर महिं, तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहिं भिक्षा भमहिं, इउ भूला सब लोगु ॥

ब्रह्मगुलाल कवि ने 'कृपणजगावन' काव्य रचा है। ये पद्मावती पुरवाल जाति के थे। ये चन्दवार–फिरोजावाद के पास टापू नामक गाँव के निवासी थे। कृपणजगावन काव्य की प्रशस्ति में बतलाया गया है कि ये भट्टारक जगभूषण के शिष्य थे। टापू गाँव के राजा कीरतसिंह थे। इस गाँव में धर्मदास के कुल में मथुरामल्ल नाम के एक व्यक्ति थे, ये ब्रह्मचर्य के पालन करने में प्रसिद्ध थे। कवि ने इन्हीं के उपदेश से संवत् १६७१ में उक्त काव्य ग्रंथ की रचना की है। इस काव्य की कथावस्तु रोचक और सरस है।

राजगृह नगर में वसुमति राजा शासन करता था। इस नगर में श्रेष्ठि पुत्री क्षयंकरी रहती थी। राजा ने मुनिराज से क्षयंकरी की भवावली पूछो। मुनि कहने लगे—यह पहले भव में उज्जैन के सेठ धवल की पत्नी थी, इसका नाम मल्लि था। उज्जैन के राजा पद्मनाथ ने अष्टान्हिका उत्सव सामूहिक रूपसे मनाया, धवल सेठ भी इसमें शामिल हुआ, पर मल्लि सेठानी को यह नहीं रुचा। पूजा के लिये सामग्री और पकवान बनाये अवश्य, किन्तु अच्छी वस्तुएँ न लेकर सड़े-गले सामान से सामग्रियाँ तैयार कीं, जिससे मुनियों को आहार नहीं दिया जा सका। मल्लि की भावनायें सदा कलुषित रहती थीं, दानकर्म में एक कानी कौड़ी भी खर्च करने में उसके प्राण सूखते थे। इसी कारण पति से निरन्तर संघर्ष होता रहता था, फलतः उसे कुष्ट रोग हुआ है। मुनिराज ने उसे पुरुषों की कंजूसी के आख्यान भी बतलाये। इन्हीं आख्यानों को सुनकर क्षयंकरी को विरक्ति हो गयी और वह आत्मसाधन में तत्पर हुई। इस काव्य में जीवन के कतिपय तत्त्वों का बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है।

इस काल में बनारसी दास और भगवती दास के अतिरिक्त पद रचयिताओं में आनन्दघन का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। ये उपाध्याय यशोविजय के समकालीन थे। इनका 'आनन्दघन बहत्तरी' नामक कविता संग्रह उपलब्ध है। ये आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत पहुँचे हुए आत्मरसिक सन्त थे। इन्होंने अपने अन्तस् में आत्मतत्त्व की महत्ता का अनुभव कर आध्यात्मिक धरातल पर मानवमात्र का उत्कर्ष दिखलाया है तथा ऐन्द्रियिक आनन्द को निकृष्ट और हीन बतलाकर इन्द्रियातीत, अलौकिक आनन्द की अभिव्यंजना की है। आत्मा की अमरता का भाव निम्न पद्य में कितनी सुन्दरता के साथ अभिव्यक्त हुआ है :—

अब हम अमर भये न मरेंगे ।
या कारन मिथ्यात दियो तजि, क्योंकर देह धरेंगे ॥१॥
राग-दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे ।
मर्‌यो अनन्त काल तें प्राणी, तो हम काल हरेंगे ॥२॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ।
नासी नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे ॥३॥
मर्‌यो अनन्त बार बिन समझें, अब सो सुख विसरेंगे ।
'आनन्दघन' निपट निकट अक्षर दो, नहिं सुमरै सो मरेंगे ॥४॥

यशोविजय के पद्यों का संग्रह जसविलास नाम से प्रकाशित हुआ है । इनके पदों में भावनाएं तीव्र आवेगमय और संगीतात्मक प्रवाह में प्रस्फुटित हुई हैं । भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य के स्थान पर सरसता और सरलता है । पदों में प्रधान रूप से आध्यात्मिक भावों की अभिव्यंजना की गयी है ।

इस काल के प्रथम श्रेणी के कवियों में कवि भूधरदास की भी गणना की जाती है । ये आगरा के निवासी और जाति के खण्डेलवाल थे । इनका समय १७वीं शताब्दी का अन्तिम भाग या १८ वीं शती का प्रारम्भिक भाग है । इनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—पार्श्वपुराण (महाकाव्य), जैनशतक और पदसंग्रह ।

पार्श्वपुराण की कथा बड़ी रोचक और आत्मपोषक है । वैर की परम्परा किस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है, यह इसमें बड़ी खूबी के साथ बतलाया गया है । इसमें भगवान पार्श्वनाथ का जीवनवृत्त वर्णित है । इसकी कथावस्तु महाकाव्य की है । नायक पार्श्वनाथ का जीव अपने समय के समाज का प्रतिनिधित्व करता हुआ लोक मांगल की रक्षा के लिए बद्ध परिकर है । कवि ने कथा में क्रमबद्धता का पूरा निर्वाह किया है । मानवता और युगभावना का प्राधान्य सर्वत्र है । परिस्थिति-निर्माण में पूर्व के नौ भवों की कथा जोड़कर कवि ने पूरी सफलता प्राप्त की है । जीवन का इतना सर्वांग और स्वस्थ विवेचन अन्यत्र नहीं मिल सकेगा ।

जैनशतक में भूधरदास ने वैराग्य भावना को उद्‌दीप्त करने का विधान बतलाया है । इसके कवित्त, सवैये, छप्पय बड़े ही सरस, प्रवाहपूर्ण, लोकोक्ति समाविष्ट एवं जोरदार हुए हैं । वृद्धावस्था, संसार की अस्थिरता, काल-सामर्थ्य, स्वार्थ-परता, दिगम्बर मुनियों की तपस्या, आशा-तृष्णा की नग्नता आदि विषयों का निरूपण बड़ी ही ओजस्वी शैली में किया गया है । विषय निरूपण की शैली उदात्त है । भावों को विशद करने में कवि को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है । जहाँ श्रृंगारी कवियों ने नायिका के स्तनों को स्वर्णकलश की और उनके श्यामल अग्रभाग को नीलमणि की ढंकनी की उपमा देकर प्रशंसा की, वहाँ भूधरदास ने उन्हें आमिष पिण्ड तथा श्यामल भाग को क्षार-राख कहकर भर्त्सना की है । उदाहरण निम्न प्रकार हैं :—[११]

कंचन कुम्भन की उपमा, कहि देत उरोजन को कवि वारे ।
ऊपर श्याम बिलोकन के, मानो नीलम की ढंकनी ढंक ढारे ॥
यों सत वैन कहे न कुपंडित, ये युग आमिष पिंड उघारे ।
साधन क्षार दई मुंह छार, भये इहि हेत किधौ कुच कारे ॥

कवि भूधरदास ने पद साहित्य भी लिखा है । इन्होंने गीतिकाव्य की सभी बारीकियां अपने पदो में प्रदर्शित की हैं । इन्होंने स्थूल को छोड़कर सूक्ष्म सौन्दर्य को अभिव्यक्त किया है । यद्यपि इन्होंने बाह्य सौन्दर्य का भी पर्यवेक्षण किया है, पर वह इन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सका है । यही कारण है कि इनके पदों में भावुकता के सहारे करुण रस और आत्मवेदना की अभिव्यंजना हुई है । इनके पदों में शाब्दिक कोमलता, भावनाओं की मादकता और कल्पनाओं का इन्द्रजाल समन्वित रूप में विद्यमान है । इनके पद स्तुतिपरक, जीव की अज्ञानावस्था के परिणाम और निस्तार सूचक, आराध्य की शरण के दृढ़ विश्वास सूचक, आत्मोपदेशी, संसार और शरीर से विरक्ति-उत्पादक, नामस्मरण के महत्व द्योतक और मनुष्यता के पूर्ण अभिव्यंजक, इन सात वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं ।

खेमचन्द तपागच्छ की चन्द्रशाखा के पण्डित थे । इनके गुरु का नाम मुक्तिचन्द्र था । इन्होंने नागर देश में संवत् १७६१

में गुणमाला चउपई अथवा गजसिंह गुणमाल चरित की रचना की है। यह अच्छा काव्य है, इसकी भाषा पर गुजराती प्रभाव है।

द्यानतराय भी इस युग के उत्तम कवियों में हैं। ये आगरा के निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जाति के गोयल गोत्र में हुआ था। इनके पूर्वज लालपुरा से आकर आगरा में बस गये थे। इनके पितामह का नाम वीरदास और पिता का नाम श्यामलदास था। इनका जन्म संवत् १७३३ में और विवाह संवत् १७४८ में हुआ था। उस समय आगरा में मानसिंहजी की धर्मशैली थी। कवि धनपतराय ने उससे लाभ उठाया। कवि को पं० बिहारीदास और प० मानसिंह के धर्मोपदेश से जैनधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। इन्होंने संवत १७७७ में सम्मेद शिखर की यात्रा की। इनकी कविताओं का संग्रह "धर्मविलास" नाम से प्रसिद्ध है। इस संकलन को कवि ने स्वयं संवत् १७८० में किया था। इस संकलन में ४५ विषयों पर फुटकर कविताएँ और ३३३ पद संग्रहीत हैं। उपदेशशतक, ब्यौहार पच्चीसी और पूर्णपंचासिका इनकी बहुत सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेश शतक में १२१ पद्य हैं। इसमें मंगलाचरण के पश्चात् भक्ति और स्तुति की आवश्यकता, मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की महिमा, गृहवास का दुःख, इन्द्रियों की दासता, नरक निगोद के दुःख, पाप-पुण्य की महत्ता, धर्म का महत्व, ज्ञानी-अज्ञानी का चिन्तन, आत्मानुभूति की विशेषता, शुद्ध आत्मा स्वरूप नवतत्त्व-स्वरूप आदि का प्रतिपादन किया गया है। दानबावनी में कवि ने दान का महत्व और उसके आदर्श का विश्लेषण किया है। अतिथि-सत्कार का वर्णन करते हुए कहा गया है :—

मौन कहाँ जहां साधन आवत, पावन सो सो भुवि तीरथ होई।
पाय प्रछालकें काय लगाय कें, देह की सर्व विथा नहीं खोई॥
दान कर्यो नहिं पेट भर्यो बहु, साध की आवन वार न जोई।
मानुष जोनिकों पायकें मूरख, काम की बात करो नहिं कोई॥

इस युग में कवि बनारसीदास के समकालीन रूपचन्द भी हैं। इन्होंने परमार्थ दोहा शतक, परमार्थ गीत, पदसंग्रह, गीतपरमार्थी, पंचमंगल एवं नमिनाथरास की रचना की है। राजमल्ल, पान्डे जिनदास, कुंवरपाल, पान्डे हेमराज, बुलाकीदास, किशनसिंह, खड्गसेन, रामचन्द्र, शिरोमणि दास, मनोहरलाल या मनोहरदास, जयसागर, खुशालचन्द काला, लब्धरुचि, लोहट, ब्रह्मरायमल भी अच्छे कवि हैं।[11]

अर्वाचीन काल में कवि वृन्दावन, बुधजन, मनरंग, भागचन्द, दौलतराम, बखतावरमल, जगमोहनदास, परमेष्ठिदास आदि प्रमुख हैं।

कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में संवत् १८४८ में हुआ था। ये गोयल गोत्री अग्रवाल थे। कवि के वंशधर बारा छोड़कर काशी में आकर रहने लगे थे। कवि के पिता का नाम कर्मचन्द्र था। १२ वर्ष की अवस्था में वृन्दावन अपने पिता के साथ काशी आये। काशी में ये लोग बाबर शहीद की गली में रहते थे।

वृन्दावन की माता का नाम सिताबी और स्त्री का नाम रुक्मिणी था। इनकी पत्नी बड़ी धर्मात्मा और पतिव्रता थी। इनकी ससुराल भी काशी के ठठरी बाजार में ही थी। इनके श्वसुर बड़े धनिक थे। इनके यहाँ टकसाल का काम होता था। एक दिन एक किरानी अंग्रेज इनके श्वसुर की टकसाल देखने आया। वृन्दावन भी उस समय वहीं उपस्थित थे। जब किरानी अंग्रेज ने इनके श्वसुर से कहा—"हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि इसमें कैसे सिक्के तैयार होते हैं।" वृन्दावन ने इस अंग्रेज किरानी को फटकार दिया और उसे टकसाल नहीं दिखलायी। वह अंग्रेज नाराज होता हुआ चला गया।[12]

दैवयोग से कुछ दिन के उपरान्त वही अंग्रेज किरानी काशी का कलक्टर होकर आया। इस समय वृन्दावन सरकारी खजान्ची के पद पर आसीन थे। साहब बहादुर ने प्रथम साक्षात्कार के अनन्तर ही इन्हें पहचान लिया और बदला लेने का उसने निश्चय किया। यद्यपि कविवर अपना कार्य बड़ी ईमानदारी, सचाई और कुशलता से सम्पन्न करते थे, पर जब अफसर ही विरोधी बन जाय, तब कितने दिनों तक कोई बच सकता है। आखिर एक जाल बनाकर साहब ने इन्हें तीन वर्ष के लिये जेल की सजा दे दी।

कुछ दिनों के उपरान्त एक दिन प्रातःकाल ही कलक्टर साहब जेल का निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने कवि को एक कोठरी में पद्मासन लगाये निम्न स्तुति पढ़ते देखा—

'हे दीनबन्धु श्रीपति करुणानिधानजी।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी।'

इस कविता को सुनकर अंग्रेज बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इन्हें कारागृह से मुक्त कर दिया। वृन्दावन आशु कवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रंथ प्रवचनसार, तीस-चौबीसी पाठ, चौबीसी पाठ, छन्दशतक, अर्हत्पासा केवली और वृन्दावन विलास उपलब्ध हैं।

विनोदीलाल भी इस युग के यशस्वी कवि हैं। इनकी रचनाओं में बारहमासा नेमिराजुल, नेमि विवाह, आदि रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। तपश्चरण के लिये गये हुए अपने पति को राजुल द्वादश मासों के रम्य प्राकृतिक चित्रण द्वारा विचलित करने की चेष्टा करती है। नेमिकुमार राजुल के रागात्मक वचनों का वैराग्य के द्वारा उत्तर देते हैं। वार्तालाप बहुत ही सरस है :—

पिय लागेंगो चैत-वसंत सुहावनो, फूलेंगी बेल सबै बनमाहीं।
फूलेंगी कामिनी जाको पिया घर, फूलेंगी फूल सबै बनराई।
खेलहिंगें ब्रज के बन में सब, बाल-गुपाल रु कुँवर कन्हाई।
नेमि पिया उठ आवो घरै तुम, काहेको करहो लोग हँसाई॥

बुधजन—इनका पूरा नाम विरधीचन्द था। ये जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन थे। इनका समय अनुमानतः १९वीं शती का मध्य भाग है। इनके द्वारा विरचित चार ग्रंथ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थबोध, बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय और बुधजन विलास। इनकी भाषा पर मारवाड़ी प्रभाव है। बुधजन सतसई सरस और नीति पूर्ण रचना है। इसमें देवानुराग शतक, सुभाषितनीति, उपदेशाधिकार और विरागभावना ये चार प्रकरण हैं। प्रथम देवानुराग शतक में कवि बुधजन ने दास्य भाव की भक्ति अपने आराध्य के प्रति प्रकट की है। यद्यपि वीतरागी प्रभु के साथ इस भावना का सामंजस्य नहीं बैठता, तो भी भक्ति के अतिरेक के कारण कवि ने अपने को दास के रूप में उपस्थित किया है। आत्मालोचन के साथ जिनेश्वर के महात्म्य को व्यक्त करना कवि का लक्ष्य है। कवि कहता है—

मेरे अवगुन जिन गिनौं, मैं औगुन को धाम।
पतित उधारक आप हैं, करो पतित को काम॥

सुभाषित खण्ड में २०० दोहे हैं, ये सभी नीति विषयक हैं। लोक-मर्यादा के रक्षण के लिये कवि ने हितोपदेश की बातें कही हैं।

भारामल फर्रुखाबाद के निवासी सिंघई परशुराम के पुत्र थे। इनकी जाति खरौआ थी। इन्होंने भिंड नगर में रहकर संवत् १८१३ में चारु चरित्र की रचना की है। सप्तव्यसन चरित्र, दानकथा, शीलकथा, और रात्रिभोजनकथा भी पद्यबद्ध रचनाएँ हैं।

पंडित डालूराम माधवराजपुर निवासी अग्रवाल थे। इन्होंने संवत् १८६७ में गुरूपदेश श्रावकाचार छन्दोबद्ध, संवत् १८७१ में सम्यक्त्व प्रकाश और अनेक पूजाओं की रचना की है। कवि दौलतराम हाथरस के रहने वाले पल्लिवाल थे। इनके पिता का नाम टोडरमल था। इनका जन्म वि० सं० १८५५ में हुआ था। इनकी बनाई हुई छहढाला और पदसंग्रह रचनाएँ प्राप्त हैं। छहढाला, भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से बेजोड़ है।

मनरंगलाल कन्नौज के निवासी पल्लीवाल थे। इनके पिता का नाम कन्नौजीलाल और माता का नाम देवकी था। कन्नौज में गोपालदास नामक एक धर्मात्मा सज्जन निवास करते थे। इनके अनुरोध से ही इन्होंने चौबीसी पाठ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इनके नेमिचन्द्रिका, सप्तव्यसनचरित, सप्तर्षिपूजा एवं शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य भी उपलब्ध हैं। कवि हरिकृष्ण ने सं० १८२६ ज्येष्ठकृष्णा अष्टमी को बुद्धिप्रकाश नामक काव्य की रचना की है। इसमें धर्म, वैराग्य और नीति के विषयों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। दाता और सूम का वार्तालाप तो बहुत ही सुन्दर हुआ है।

बखतराम ने मिथ्यात्व खण्डन और बुद्धिविलास इन दो ग्रंथों की रचना की है। बुद्धिविलास के आरम्भ में कवि ने जयपुर का इतिहास लिखा है। इस रचना में विविध धार्मिक विषय, दिगम्बर संघ-पट्टावली, भट्टारकों तथा खण्डेलवाल जाति की उत्पत्ति आदि वर्णित हैं। इस रचना की समाप्ति कविवर ने मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी सं० १८२७ में की थी।"

पद्य साहित्य के साथ-साथ हिन्दी गद्य साहित्य की धारा भी आदिकाल से ही प्रवाहित होती रही। आरम्भिक गद्य का रूप टीकाओं और वृत्तियों में मिलता है। १७ वीं शती के मध्यभाग में राजमल पाण्डे ने गद्य में समयसार की टीका लिखी। इस टीका की भाषा ढूंढारी है। शैली पण्डिताऊ है।

कविवर बनारसीदास कवि होने के साथ-साथ गद्य लेखक भी हैं। आगरा में बहुत दिन रहने के कारण इनके गद्य की भाषा ब्रजभाषा है। इन्होंने परमार्थवचनिका और उपादान-निमित्त की चिट्ठी भी लिखी है। इनकी गद्यशैली व्यवस्थित है, भाषा का रूप निखरा हुआ है और क्रियापद प्रायः विशुद्ध ब्रजभाषा के हैं। संस्कृत के लिख्यते, कथ्यते और उच्यते जैसे कुछ क्रियापद भी इनके गद्य में विद्यमान हैं।

अखयराम श्रीमाल ने संवत् १७८० के आसपास "चतुर्दश गुणस्थान चर्चा" नामक स्वतंत्र गद्य ग्रंथ तथा कई स्तोत्रों की हिन्दी वचनिकाएँ लिखीं। लेखक ने गद्य में अति सैद्धान्तिक विषयों को बड़े ही हृदयग्राह्य ढंग से उपस्थित किया है।

वचनिकाकारों में पाण्डे हेमराज का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने सत्रहवीं शती के अन्तिम पाद में प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका तथा भक्तामर भाषा, गोम्मटसार भाषा, और नयचक्र की वचनिका ये पाँच गद्य रचनाएं लिखी हैं। इनकी टीकाओं की शैली पुरातन तथा संस्कृत टीकाकारों के अनुसार खण्डान्वय पर आधारित है।

अठारहवीं शती के मध्य में दीपचन्द काशलीवाल का जन्म हुआ। इन्होंने प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद न कर स्वतन्त्र रूप से गद्य ग्रन्थ लिखे। इनकी अनुभवप्रकाश, चिद्‌विलास, गुणस्थानभेद आदि धार्मिक रचनाएं प्रसिद्ध हैं। बसवा निवासी पं० दौलतराम ने पुण्यास्रव कथाकोष, पद्मपुराण, आदिपुराण और वसुनन्दी श्रावकाचार इन चार ग्रंथों का गद्य में अनुवाद किया। इनके गद्य को हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध इतिहासकार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपरिमार्जित खड़ीबोली का गद्य कहा है।

मुनि वैराग्यसार ने सं० १७५९ में "आठकर्मनी १०८ प्रकृति" नामक गद्य ग्रन्थ की रचना की है। शैली और भाषा दोनों पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव है। न के स्थान पर 'ण', दूसरे के स्थान पर 'बीजउ' का प्रयोग पाया जाता है।

१९ वीं शती के आरम्भ में भूधरदास ने चरचा समाधान नामक गद्य ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि इसमें विभक्तियाँ ढूंढारी हैं, पर भाषा खड़ी बोली के अत्यन्त निकट है।

संवत् १८२० में चैनसुख ने शतश्लोकी टीका और इनसे पहले दीपचन्द ने बालतन्त्र-भाषा-वचनिका लिखी। १९वीं शती के मध्य भाग में "अंबड चरित" नामक भाषा ग्रंथ अमर कल्याण ने लिखा। संवत् १८५८ में ज्ञानान्द ने श्रावकाचार लिखा। इनका गद्य विकसित और विकासोन्मुख है।

१९ वीं शताब्दी में ही स्वनामधन्य आचार्य कल्प पं० टोडरमल का जन्म हुआ। इन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा जैनसिद्धान्त के गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार और अत्मानुशासन आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों की हिन्दी वचनिकाएं लिखीं। अनुवाद कार्य के अतिरिक्त आपने ढूंढारी भाषा में मोक्षमार्गप्रकाश की रचना की। यह मौलिक ग्रन्थ भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

१९ वीं शती में पं० जयचन्द्र ने सर्वार्थसिद्धि वचनिका, परीक्षामुख वचनिका द्रव्यसंग्रह वचनिका, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मख्याति समयसार, देवागमस्तोत्र वचनिका, अष्टपाहुड वचनिका, ज्ञानार्णव टीका, भक्तामर चरित्र, सामायिक पाठ, चन्द्रप्रभकाव्य के द्वितीय सर्ग की टीका, पत्र-परीक्षा-वचनिका आदि ग्रंथ लिखे।

२०वीं शती के प्रारम्भ में पं० सदासुखदास, पं० भागचन्द, चम्पाराम, जोहरीलाल शाह, फतेहलाल, शिवचन्द्र एवं शिवजीलाल आदि कई टीकाकार हुए।

वर्तमान में जैन लेखक खड़ी बोली में उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कथाओं आदि की रचना कर रहे हैं। जैनेन्द्रकिशोर का मनोवती, मुनि तिलक विजय का रत्नेन्दु और पं० गोपालदास का सुशीला उपन्यास इस बीसवीं शती के प्रारम्भ की श्रेष्ठ रचनाएं हैं।

हिन्दी जैन साहित्य का सर्वेक्षण :—

१३ वीं शती में रासा और चउपई ग्रन्थ लिखे गये। १४वींशती की सप्तक्षेत्र रास, संघपति समरा रास, और कच्छुलि रास प्रमुख रचनाएं हैं। १५वीं शती में भट्टारक सकलकीर्ति ने आराधना सार प्रतिबोध, विजयभद्र का गौतमरासा, जिन उदय-

गुरु के शिष्य और ठक्कर माल्हे के पुत्र विद्धणू ने ज्ञानपंचमी चउपई और ब्र दयासागर सूरि ने धर्मदत्त चरित लिखा । १६वीं शती में ब्रह्म जिनदास ने आदिपुराण, श्रेणिक चरित, सम्यक्त्वरास, यशोधररास, धनपाल रास, व्रतकथाकोश, दशलक्षण-व्रत कथा, सोलहकारण, चन्दन षष्ठी, मोक्ष सप्तमी, निर्दोष सप्तमी कथा आदि ग्रन्थ रचे । इसी शताब्दी में चतरुमल ने नेमीश्वरगीत और धर्मदास ने धर्मोपदेश श्रावकाचार रचा ।

हिन्दी जैन साहित्य के विकास के लिये सत्रहवीं शताब्दी विशेष महत्व की है । इस शती में गद्य और पद्य दोनों में साहित्य लिखा गया । महाकवि बनारसीदास, रूपचन्द्र, और रायमल जैसे श्रेष्ठ कवियों को उत्पन्न करने का गौरव इसी शती को है । इनके अतिरिक्त त्रिभुवनदास, हेमविजय, कुँवरपाल और उदयराजपति की रचनायें भी कम गौरवपूर्ण नहीं हैं । गद्य लेखकों में पाण्डे राजमल्ल एवं अखराज की रचनायें प्रमुख हैं । राजभूषण ने लोकनिराकरण रास, ब्रह्मवस्तु ने पार्श्वनाथ रास, मुनि कल्याणकीर्ति ने होली प्रबन्ध, नयनसुख ने मेघ महोत्सव, हरिकलश ने हरिकलश, रूपचन्द्र ने परमार्थ दोहा शतक, परमार्थ गीत, पदसंग्रह, गीतपरमार्थी, पंचमंगल, नेमिनाथ रासो, रायमल ने हनुमन्त कथा, प्रद्युम्न चरित, सुदर्शन रासो, निर्दोष सप्तमी-व्रतकथा, नेमीश्वररासो, श्रीपाल रासो, भविष्यदत्त कथा, त्रिभुवनचन्द्र ने अनित्यपंचाशत्, प्रस्ताविक दोहे, षट्द्रव्यवर्णन और फुटकर कवित्त, बनारसीदास ने बनारसीविलास, नाटक समयसार, अर्द्धकथानक, नाममाला, कल्याणदेव ने देवराज-वच्छराज चउपई, मालदेव ने भोज-प्रबन्ध, पुरन्दर कुमार चउपई, पाण्डे जिनदास ने जम्बूचरित, ज्ञानसूर्योदय, पाण्डे हेमराज ने प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, भाषा भक्तामर, विद्याकमल ने भगवती गीता, मुनि लावण्य ने रावण मन्दोदरी संवाद, गुणसूरि ने ढोलासागर, लूणसागर ने अंजनासुन्दरी संवाद, मानशिव ने भाषा कवि रसमंजरी, केशवदास ने जन्म प्रकाशिका, जटमल ने बावनी गोरा बादल की बात, प्रेमविलास चौपई, हंसराज ने हंसराज, ज्ञानभूषण ने आदीश्वरफागु, भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति ने नेमीश्वर चन्द्रायण, घेल्ह ने पंचेन्द्रिय बोल, समयसुन्दर गणि ने मृगावती चरित, कुशललाभ गणि ने माधवानल चौपई एवं ब्रह्मरायमल्ल ने श्रीपालरास की रचना की ।

अठारहवीं शताब्दी में हेम ने छंद मालिका, केसरकीर्ति ने नाम रत्नाकर, विनयसागर ने अनेकार्थ नाममाला, कुंवर कुशाल ने लखपति जयसिन्धु, मान ने संयोग द्वात्रिंशिका, कवि विनोद ने फुटकर पद, उदयचन्द्र ने अनूप रसाल, उदयराज ने वैद्य विरहिणी प्रबन्ध, मानसिंह विजय गच्छ ने राजविलास, सुबुद्धि विजय ने प्रतापसिंह का गुण वर्णन; जगरूप ने भावदेव सूरि-रास, लक्ष्मीवल्लभ ने कालज्ञान, धर्मसिंह ने कुंभ क्रिया, समरथने रसमंजरी, रामचन्द्र ने रामविनोद, दीपचन्द ने वैद्यसार बालतंत्र की भाषा वचनिका, जयधर्म ने शकुन प्रदीप, रामचन्द्र ने सामुद्रिक भाषा, नगराज ने सामुद्रिक, लालचन्द ने स्वरोदय भाषा टीका, रत्नशेखर ने रत्नपरीक्षा, लक्ष्मीचन्द्र ने आगरा गजल, खेतल ने उदयपुर गजल, चित्तौड़ गजल, मनरूप विजय ने झूनागढ़ वर्णन, उदयचन्द ने बीकानेर गजल, दुर्गादास ने मरोट; किशन ने कृष्ण बावनी; केशव ने केशव बावनी; जिनहर्ष ने जसराज बावनी, लक्ष्मीवल्लभ ने हेमराज बावनी, जिनहर्ष ने उपदेश छत्तीसी सवैया, भैया भगवतीदास ने ब्रह्मविलास, द्यानतराय ने धर्मविलास, आगम विलास, शिरोमणि दास ने धर्मसार, बुलाकीदास ने महाभारत, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, पं० श्यामलाल ने सामाजिक पाठ, विनोदीलाल ने श्रीपाल चरित, पं० लक्ष्मीदास ने यशोधर चरित, धर्मप्रबोध, पं० शिवलाल ने चर्चा सागर, भूधरदास ने पार्श्वपुराण, जैनशतक, पदसंग्रह, आनन्दघन ने आनन्द बहत्तरी, यशोविजय ने जयविलास, विनयविजय ने विनयविलास, किशनसिंह ने क्रियाकोश, भद्रबाहुचरित, रात्रिभोजन कथा, मनोहर लाल ने धर्मपरीक्षा, जोधराज गोदीका ने सम्यक्त्व कौमुदी, खुशालचन्द काला ने हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, रूपचन्द ने नाटक समयसार की टीका, पं० दौलतराम ने हरिवंश पुराण की वचनिका, पद्मपुराण की वचनिका, आदिपुराण की वचनिका, परमात्मप्रकाश की वचनिका, श्रीपालचरित, क्रियाकोश, खड्गसेन ने त्रिलोक दर्पण, जगतराम ने आगमविलास, सम्यक्त्व कौमुदी, पद्मनन्द पचीसी, देवीसिंह ने उपदेश-सिद्धान्त रत्नमाला, जीवराज ने परमात्मप्रकाश की वचनिका, ताराचन्द ने ज्ञानार्णव, विश्वभूषण भट्टारक ने जिनदत्त चरित, हरचन्द ने श्रीपाल चरित, जिनरंगसूरि ने सौभाग्य पचीसी, धर्ममन्दिर गणि ने प्रबोध चिन्तामणि, हंस-विजय यति ने कल्पसूत्र की टीका, ज्ञानविजययति ने मलय चरित, लाभवर्धन ने उपपदी ग्रन्थ, टीकम ने चतुर्दश चउपई, लब्ध रुचि ने चन्द्रनृपरास, ब्रह्मजिनदास ने जम्बूस्वामी चरित, अचलकीर्ति ने धर्मरासो एवं परिमल्ल ने श्रीपालचरित की रचना की है ।

उन्नीसवीं शताब्दी में टोडरमल ने गोम्मटसार की वचनिका, त्रिलोकसार की वचनिका, लब्धिसार की वचनिका, क्षपणासार की वचनिका, आत्मानुशासन की वचनिका, मोक्षमार्ग प्रकाश, जयचन्द ने सर्वार्थसिद्धि की वचनिका, द्रव्यसंग्रह की वचनिका, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की वचनिका, आत्मख्यातिसार की वचनिका, परीक्षामुखवचनिका, देवागमस्तोत्र वचनिका, अष्टपाहुड की वचनिका, ज्ञानार्णव की वचनिका, भक्तामर की वचनिका, वृन्दावनलाल ने वृन्दावन विलास, चतुर्विंशति जिनपाठ-पूजा, तीस-चौबीसी पूजापाठ, भूधर मिश्र ने पुरुषार्थ सिद्धि वचनिका, चर्चा समाधान, बुधजन ने तत्त्वार्थ बोध, बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय भाषा, बुधजन विलास, दीपचन्द ने ज्ञानदर्पण, अनुभव प्रकाश, अनुभव विलास, आत्मावलोकन, चिद्‌विलास, परमात्मपुराण, स्वरूपानन्द, अध्यात्म पच्चीसी, ज्ञानानन्द ने ज्ञानविलास, समय तरंग, रंगविजय ने गजल, कूपूरविजय या चिदानन्द ने स्वरोदय, टेकचन्द ने तत्त्वार्थ की श्रुतसागरी टीका की वचनिका, सुदृष्टितरंगिणी, नथमल बिलाला ने जिनगुण विलास, नागकुमार चरित, जीवन्धर चरित, जम्बूस्वामी चरित, डालूराम ने गुरूपदेश श्रावकाचार, सम्यक्त्वप्रकाश, पूजाएँ, सेवाराम ने हनुमत्‌चरित, शान्तिनाथ पुराण, भविष्यदत्त चरित, देवीदास ने परमानन्द विलास, प्रवचनसार टीका, चिद्‌विलास वचनिका, चौबीसी पाठ, भारामल ने चारुदत्त चरित, सप्तव्यसन चरित, दानकथा, शीलकथा, रात्रिभोजन कथा, गुलाबराय ने शिखरविलास, थानसिंह ने सुबुद्धिप्रकाश, नन्दलाल छावड़ा ने मूलाचार की वचनिका, मन्नालाल सांगाकर ने चरितसार की वचनिका, मनरंगलाल ने चौबीसी पूजा पाठ, नेमिचन्द्रिका, सप्तव्यसन चरित, सप्तर्षि पूजा, षट्‌कर्मोपदेश रत्नमाला, वरांग चरित, विमलनाथ पुराण, शिखिर विलास, सम्यक्त्व कौमुदी, आगमशतक, अनेक पूजा ग्रंथ, चेतनविजय ने लघुपिंगल, आत्मबोध, नाममाला, मेघराज ने छन्दप्रकाश, उदयचन्द ने छंद प्रबन्ध, उत्तमचन्द ने अलंकार आशय भंडारी, क्षमा कल्याण ने अंबड चरित, जम्बू कथा, ज्ञानसागर ने माला पिंगल, कामोद्दीपन, पूरबदेश वर्णन, चन्द चौपाई समालोचना, निहाल बावनी, मूलकचन्द ने वैद्य-हुलास, मेघ ने मेघ विनोद, मेघमाला, गंगाराम ने लोलिम्ब राजभाषा, सूरतप्रकाश, भावनिदान, चैनसुखदास ने शतश्लोकी की भाषा टीका, रामचन्द्र ने अवपदिशा शकुनावली, तत्त्वकुमार ने रत्नपरीक्षा, गुरुविजय ने कापरड़ा, कल्याण ने गिरनार सिद्धाचल गजल, भक्त विजय ने भावनगर वर्णन गजल, मनरूप ने मेड़ता वर्णन, पोरबन्दर वर्णन, सोजात वर्णन, रघुपति ने जैनसार बावनी, निहाल ने ब्रह्मबावनी, चेतन ने अध्यात्म बाराखड़ी, सेवाराम शाह ने चौबीसी पूजा पाठ, यति कुशलचन्द्र गणि ने जिनवाणी सार, हरिजसराय ने साधु गुणमाला, देवाधिदेव स्तवन, क्षमाकल्याण पाठक ने साधु प्रतिक्रमण विधि, श्रावक प्रतिक्रमण विधि एवं विजयकीर्ति ने श्रेणिक चरित की रचना की है।

विक्रम की २० वीं शती के प्रारम्भ में एवं ई० सन् की १९ वीं शती के अन्त में पं० सदासुख ने रत्नकरंडश्रावकाचार की टीका, समयसार की टीका, नित्य पूजा की टीका, भागचन्द ने ज्ञान सूर्योदय उपदेश सिद्धांत रत्नमाला, अमितगति श्रावकाचार टीका, प्रमाण परीक्षा टीका, नेमिनाथ पुराण, दौलतराम ने छहढाला, मुनि आत्मराम ने जैन तत्त्वादर्श, तत्त्वनिर्णय प्रसार अज्ञानतिमिर भास्कर, चम्पाराम ने गौतम परीक्षा, वसुनन्दी श्रावकाचार टीका, चर्चासागर और योगसार, छत्रपति ने द्वादशानुप्रेक्षा, मनमोदन पंचासिका, उद्यम प्रकाश और शिक्षा प्रधान, नन्दराम ने योगसार वचनिका, यशोधरचरित और त्रिलोक सार पूजा एवं नाथूराम दोशी ने सुकुमाल चरित, सिद्धिप्रिय स्तोत्र, महीपाल चरित, रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका, समाधि तन्त्र की टीका, दर्शनसार टीका, परमात्मप्रकाश टीका लिखी है। हिन्दी जैन साहित्य के विकास का यह क्रम उत्तरोत्तर विकसित होता जा रहा है। बीसवीं शती में अनेक विद्वान् इस साहित्य की सेवा में संलग्न हैं।

संदर्भ तालिका

(१) देखें—चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत डा० ज्योतिप्रसाद जैन का "हिन्दी की जननी अपभ्रंश" शीर्षक निबन्ध पृ० ४५९.

(२) विशेष जानकारी के लिए देखें—भारतीय वाङ्मय भाग १ के अन्तर्गत डा०एच० एल० जैन का "अपभ्रंश साहित्य" शीर्षक निबंध, पृ० १११–११७.

(३) जा मति पाछइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विघन न वेढइ कोइ॥
जइ यदु रावणु जाइयो, दहमुहु इक्कु सरीरु।
जननि वियंभी चिन्तवइ, कवन पियावइ खीरु॥ हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३३.

(४) देखें—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग २, परिशिष्ट, पृ० २१८.
(५) वही पृ० २१९.
(६) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ६७.
(७) हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास—पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० १५.
(८) अंजनासुन्दरी रास की प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरा, में सुरक्षित है ।
(९) हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११७.
(१०) बनारसी नाममाला, पद्य १७१–१७२, प्रकाशक वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली ।
(११) अर्द्ध कथानक, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, से प्रकाशित है ।
(१२) जैन शतक, पद्य ६५.
(१३) हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, प्रथम भाग, पृ० १७३–२०६, तथा आमेर शास्त्र भंडार के ग्रंथों का प्रशस्ति-संग्रह-प्रस्तावना भाग, पृ० १७–२२.
(१४) रचनाओं और कवियों की विशेष जानकारी के लिए देखें—वृन्दावन विलास की प्रस्तावना-आद्योपान्त, तथा नाथूराम प्रेमी का हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पृ० ६०–८०.
(१५) प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत जैन सिद्धान्तभवन, आरा, के कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ, पृ० ५०५. तथा हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग, २ का परिशिष्ट पृ० २३५ ।

आणंदा

(ले०—डा० हरिशंकर शर्मा "हरीश" एम.ए. डीफिल)

विषय की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के आदिकाल की इधर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना—आणंदा—उपलब्ध हुई है। रचना अप्रकाशित है तथा इसकी एक प्रति अतिशय क्षेत्र कमेटी महावीरजी भंडार जयपुर के अनुसंधान विभाग में सुरक्षित है और एक प्रति अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर में। लेखक को इस ग्रंथ की मूल प्रति श्री अगरचंद नाहटा द्वारा मिली, जिसके लिए वह उनका पूर्ण आभारी है।

प्रस्तुत रचना का नाम कवि ने आणंदा रखा है, जो आनंद शब्द का राजस्थानी रूप है। पूरी रचना में प्रत्येक छन्द के साथ साथ कवि ने आणंदा छंद का नियोजन किया है। रचना का विषय अध्यात्म है। अद्यावधि प्राप्त रचनाओं में आणंदा का विषय विवेचन मानस में आनंद का स्फुरण करता है। जीव और ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, तथा सद्वृत्तियों का अध्यात्म की ओर उन्नयन करना ही आणंदा की मुख्य संवेदना है। आदिकाल के अपभ्रंश जैन साहित्य में जिस प्रकार मुनि रामसिंह की कृति-पाहुड दोहा-मिलती है, ठीक इसी प्रकार की आध्यात्मिक रचना आणंदा है।—अप्पा बुज्झिउ परमपउ जो दरसाविउ भेउ—अपनी आत्मा को समझो, आत्मा ही परमात्मा है, उसका निवास घट-घट में है, अन्यत्र नहीं। तीर्थ यात्रा करना व्यर्थ है, आदि भावनाओं को कवि ने इस आध्यात्मिक काव्य में ढाला है।

इस कृति में रचनाकार के नाम पर मतभेद है। पर काव्य का अध्ययन करने पर यह प्रश्न हल हो जाता है। आणंदा शब्द का बहुत बार प्रयोग होने से श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल ने अपने लेख में[1] कृति के रचनाकार का नाम आनंद तिलक बताया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने आणंदा शब्द के बार-बार हुए प्रयोग तथा—मुणतहं आनंद उल्लसई, मस्तक णाण तिलक—आदि बातों को ही मूल में रखकर यह नामकरण किया है। यों इस पंक्ति को पढ़कर तो इस आनन्द तिलक नाम के स्थान पर ज्ञान तिलक (णाण तिलक) नाम भी दिया जा सकता है, क्योंकि आनन्द तिलक से ज्ञान तिलक की संगति ठीक बैठती है। पर इसका परिहार श्री अगरचन्द नाहटा ने निम्न पद्य से कर दिया है[2] :—

आरम्भ— चिदाणंद साणंदजिणु सयल हसो (इ)
महाणंदि सो पूजायइ
आणंदा गगनमंडल थिरहोइ आणंदा ॥१॥

अंत— महाणांदियइ बालियउ
आणंदा जिणि दरसाविउ भेउ आणंदा ॥४१॥
... महाणंदि देउ आणंदा
जाणिउ भणइ महाणंदि देउ, जाणिउ णाण्डं भेउ आणंदा ॥४२॥

इस निष्कर्ष से उन्होंने इसके रचयिता का नाम—महाणंद देउ (सहानंद देव) किया है। यह नामकरण कहाँ तक सही है बहुत निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु नाहटाजी का यह मत बहुत संभव है कि यथार्थ के निकट हो। जो भी हो, इस सम्बन्ध में रचयिता का नामकरण सन्देह से परे नहीं कहा जा सकता।

रचना के रचयिता की भाँति इसकी भाषा और रचनाकाल भी मतैक्य वाला नहीं है। श्री कासलीवाल ने इसकी भाषा को अपभ्रंश कहा है,[3] तथा इसका रचनाकाल १२ वीं शताब्दी बताया है। परन्तु इसकी भाषा वास्तव में प्राचीन राजस्थानी है और रचना की भाषा को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह १३ वीं शताब्दी की रचना होगी, क्योंकि इसमें अपभ्रंश का जन-भाषा के साथ सुन्दर समन्वय स्पष्ट होता है।

१—देखिए वीरवाणी वर्ष ३ अंक १४-१५ पृ० १९७-१९८ श्री कस्तूरचन्द कासलीवाल का लेख।

२—वही, वर्ष ३ अंक २२, पृ० २८१ पर नाहटा जी का लेख।

३—वही, वर्ष ३ अंक १४-१५ पृ० १९८।

आत्मा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता हुआ कवि प्रारम्भ में ही मनुष्य को उसकी ऊँचाई पहिचानने की प्रेरणा देता है। शरीर से वह नितांत अलग है। पाप में लिप्त मनुष्य के लिए आत्मा की पवित्रता अत्यावश्यक है। पाप पंकमय शरीर को आत्मज्ञान के साबुन से ही धोकर स्वच्छ किया जा सकता है। अतः पाप मल को ज्ञान सरोवर में अवगाहन करके छुड़ाना चाहिए :—

भितरि भरिउ पाउमलु, मूढ़ा करहिं सण्हाणु
जैमल लाग चित्तमहि आणंदा रे किम जाय सण्हाणि
ज्ञान सरोवरु अमिय जलु, मुणिवर करइ सणहाणु
अट्ठ कमम्मल धोवहिं आणंदा रे णियड़ा पांहु णिवाण

इन भावनाओं में पाहुड दोहा से पर्याप्त साम्य है। इनको देखकर यह कहा जा सकता है कि कवि पर सं० १००० में विरचित पाहुड दोहा काव्य का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है। और यह भी कहा जा सकता है कि पाहुड दोहा ही इस रचना के मूल में रही हो।

रचनाकार ने गुरु की महत्ता पर प्रकाश डाला है। गुरु ही एक ऐसा साधन है जो आत्मा से मिला सकता है। गुरु भी ऐसा, जो सद्गुरु है, कुगुरु में इतनी क्षमता नहीं हो सकती। सच्चे गुरु की दृष्टि में सम्यक्त्व होता है और वह आत्म स्वरूप को जानता है और उसी अप्पाभाव में रंगा होता है। पाहुड दोहा की इन—

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥

पंक्तियों की ही भांति निम्नांकित पद देखिए—साथही पाहुड दोहा के उक्त दोहे से इन पंक्तियों को मिलाइए :—

गुरु जिणवर गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तयसारु।
सो दरसावइ अप्पपरु आणंदा भवजल पावइ पारु॥
कुगुरु पूजिय सिरण धणहु तीरथ काहु भमेहु
देव सचेयणु संघगुरु जो दरिसावइ भेव
× × ×
सुणतहँ आणंद उल्लसह मस्तकि पा तिलकु
मुकुटुमणि सिर सोहवई आणंदा साहु गुरु पालउ जागु
समरस भाव रंगिया, अप्पा देखइ सोई
अप्पउ जाणउ परहणइ आणंदा करई णिरालंब होई।

वस्तुतः उक्त रचना में जो आणंदा शब्द बार-बार आया है उसके लिए यह भी कहा जा सकता है कि आणंदा शब्द के बार-बार प्रयोग के लिए यह भी संभव हो कि कवि ने उसे मन या जीवन का प्रतीक माना हो—
आनंद के कामी—मन अर्थात् हे आणंदा! या हे आनन्द के प्रतीक-मन! या हे साकार आनंद!

इस प्रकार रचना में आणंदा शब्द के बार-बार सम्बोधन के लिए ये अर्थ भी लगाये जा सकते हैं।

तीर्थों में कवि की श्रद्धा नहीं। तीर्थ करके व्यर्थ समय नष्ट करने से पूर्व तो कवि मनुष्य को अपने घट की शोध करने को कहता है। उसे कुदेवों पर भी विश्वास नहीं :—

अट्ठ सट्ठि तीरथ परिभमई मूढ़ा मरइ भमंतु
अप्पविन्दु ण जाणंहि, आणंदारे घटमहि देव अणंतु

अतः घट में निवास करने वाले अनंत देवों की पहिचान कुगुरु नहीं करा सकता। वह तो दर्शनों में ही दुष्ट है। उसकी दृष्टि ही मिथ्या है—

सुणतह हियडइ कलमलइ मस्तकि उप्पजइ सूल
अणाखु बढावइ वहु हि पइ, आणंदा मिच्छादिट्ठी जोगु

कवि का काव्य प्रवाह अध्यात्म के महानन्द जैसे तत्त्वों की व्याख्या करने में स्पष्ट होता है और रचनाकार स्वयं इस विषय में डूबकर उसका प्रतिपादन करता है। जिन कौन है, चिदानन्द की उपासना महाआनंद की पूजा बिना नहीं हो सकती, चाहे कोई शरीर का लुंचण, शोषण, जाप, जप, आदि द्वारा कितनी ही तितिक्षा क्यों न दे, जटा क्यो न बढ़ाए, वर्षा, सर्दी, गर्मी भोग, भोजन त्यागकर व्यर्थ श्रम करे, पर महानन्द को समझे बिना सब व्यर्थ है। गगन मंडल तभी स्थिर हो सकता है जब शील

गुणों की सम्यक प्रकार से रक्षा हो। जप-तप व्यर्थ समझकर मन की शुद्धि की जाय। चिदानन्द जो सभी शरीरों में स्थित है उसे समझा जाय :—

चिदानंदु सोणंदु जिणु सयल सरीरहं सोई
महाणंदि सो पूजियई आणंदारे गगणमंडलु थिर होई
× × ×
केइ केस लुचावहि केइ सिर जटभारु
अप्पा विंदु ण जाणहिं आणंदारे कि भया वहि भवपारु
तिणी कालु वाहिय सहि, सहहि परस्सह भारु
दंसण णाणहं वाहिरउ, आणंदारे मरिसए जमकालु
पाषि मासि भोयणु करहिं पाणिउ गासु निरासु
अप्प झाइण जाणहिं आणंदा तिहणाइ जम पुरिवासु
× × ×
जापु जपइ बहु तवतपई तो वि ण कम्महणेई
एक समउ अप्पा मुणइ आणंदा चउगइ पाणिउ देई
अप्पा संजम सील गुण अप्पा दंसणणाणु
वउ तउ संजम देउ गुरु आणंदा तो पाविहि णिवाणु

और कवि इस आध्यात्मिकता को महानन्द के निवास स्थान तक ले जाता है। भाषा की सरलता, रचना की गीतिमयता, लोक-भाषा मूलकता, शब्द चयन तथा प्रासादिकता दृष्टव्य है। रचना में पद लालित्य के साथ-साथ अर्थ गांभीर्य भी है। कवि ने निर्वाण की प्राप्ति कराने वाले महानन्द का निवास स्थान कितने मर्मकथन द्वारा सम्पन्न किया है :—

जिमवइ साणर कडमहि कुसुम परिमलु होई
तिहुँ देह मइ वसइ जिव आणंदा विरला बूझइ कोइ
हरिहरवंभु विसि वणही मणुवुद्धि लखिउण जाई
मध्य सरीरहे सोवसइ, आणंदा लीजहिं गुरुहि पसाई

पूरी रचना हिंडोला छन्द में लिखी गई है तथा कुल छन्द ४४ हैं। कवि ने भाषा प्राचीन राजस्थानी जन बोली ही रखी है, और १३ वीं शताब्दी के आस पास की रचना होने से उस पर अपभ्रंश के शब्दों का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। ज्ञान जैसे क्लिष्ट विषय को कवि ने बड़ी सरल शब्दावली, अनुप्रासादिकता तथा कोमल एवं प्रासादिक पदावली में समझाया है। उसके उपदेश का व्यक्तित्व स्थल स्थल पर स्पष्ट होता जाता है, जो रचना का महत्व और भी अधिक बढ़ा देता है।

इन बातों के साथ साथ अंत में कर्मों के दोषों को दलने के लिए रचना को रोज पाठ करने का आदेश किया है :—

पढ़इ पढ़ावइ अणचरइ णरु सिवपुरि जाई
कम्महणण भउं णिरदलणि आणंदा भवियण हियइ समाई

उक्त पद भरत वाक्य के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रचना सर्वांश सुन्दर और ज्ञानोन्मुख करनेवाली है। रचना का मूल पाठ लेखक ने अभय जैन ग्रंथालय बीकानेर से उपलब्ध किया है। यहाँ यह पाठ ज्यों का त्यों प्रकाशित किया जा रहा है। इसमें सम्पादन के नाम पर लेखक का अधिक कुछ भी नहीं है। आशा है विद्वान् इसका वैज्ञानिक रूप से सम्पादन प्रस्तुत करेंगे—आणंदा का मूल पाठ अग्रांकित है :—

— आणंदा —

चिदाणंदु साणंद जिणु, सयल सरीह हंसो
महानंदि सो पूजियइ, आणंदा गगनमंडलि थिर होई ॥ आणंदा ॥ १॥
आप्पुणिरंजन अप्पसिउं अप्पा परमाणंदु
मूढ़ के देउण पूजियण आणंदा गुरु विण मूलउ अंधु ॥आणंदा ॥२॥
अट्ठ सट्ठ तीरथ परिभमइ, मूढ़ा मरहि भमंतु
अप्पा विंदु ण जाणइ घटमहि देउ आणंतु ॥ आणंदा ॥३॥

भीत्तरि भरिउ पावमलु मूढ़ा कहि बखाणु,
जै मल जागा चित्ति मह आणंदा, ते किय जाहि बखाणे ॥ आणंदा ॥४॥
झाणु सरोवर अमिय जलु मुणिवर करहि सणाणु,
अट्ठकम्ममल धोवहिं आणंदा णियडउ पटु पणखाणु ॥आणंदा ॥५॥
वेणी संगम जणमरहु अणि ज्जंपम देहु
झाणुगि हिंत तपु जापि करि आणंदा कम्मपडलखउ लेउ ॥आणंदा ॥६॥
सत्थ पढतो मूढं जइ प्रम पूजण विवहार।
कांइ आचअण पूजीयइ आणंदा नाहीं मोखदुवार ॥आणंदा ॥७॥
चवतउ संजमसील गुण सहइ महवय भार
एक ण जाणइं परम कला आणंदा भमिहइ बहु संसारु ॥आणंदा ॥८॥
कइवि केस लुंचकेंहि केइ सिरि जट-भारु
अप्पा विंदु ण ध्यावहि आणंदा किम पावहि भवपारु ॥आणंदा ॥९॥
तिणि कालबहि रिखसहि सहहि परीसह भारु दोसण
णाणह बाहिरउ आणंदा पारे सहजमकालु ॥आणंदा ॥१०॥
पाखि मासि भोयणु करहिं, पाणिउ गासु णिगासु
अप्पाझाइ ण जाणहिं आणंदा तिहुलइ जमपुरिवासु ॥आणंदा ॥११॥
बाहिर लिंग धरेवि मुणि रूसइ मूढ णिचिंतु
अप्पाएक्कु ण झावहिं आणंदा सिवपुरि जाहि णिभंतु ॥आणंदा ॥१२॥
जिणवर पुज्जइ गुरु थुणहि सत्थज्झयण कराय
अप्पादेउ ण विदहीं आणंदा ते पार जमपुरि जाहिं ॥आणंदा ॥१३॥
जाणि ससिद्धिहं झाईयउ अरिजिय तंझाएहिं
मोखमहापुरि नीयडउ आणंदा भवदुह पाणिउ देहिं ॥आणंदा ॥१४॥
जिणु असमथु वि मुणि भणइं तारण मल्लण होइ
मारगि तिहुयण अक्खिउ आणंदा अप्पा करहसहोइ ॥आणंदा॥१५॥
जिमि वइसानरु कट्ठमह, कुसुमह परमल होइ
तिम दोहसु विव सहिजिउ विरला बुझइ कोई ॥आणंदा ॥१६॥
बंध विहूणउ देहसिहुँ णिम्मलु मलह विहीणु
कमलिणि दले जलविंदु जिम आणंदा ण वि तसु पाउ ण पुण्णु ॥आणंदा ॥१७॥
स्पर्श गंध रस बाहिरउ रूव विहीणु सोइ
जीउ सरीरहं भिण्णुकरि आणंदा सह गुरु जाणइ कोइ ॥आणंदा ॥१८॥
देउ सचेतन झाइ इति जियइ पर विवहार
एक समह ध्याणणलेण आणंदा दझइ कम्म पयारु ॥आणंदा ॥१९॥
जाप जपइ बहु तउ तावइ तो वि ण कम्महणेइ
एक समइ अप्पामुणइ आणंदा चउगइ पाणी देइ ॥आणंदा ॥२०॥
सो अप्पा संजम सीलु गुणु अप्पउ दंसणनाणु
ववतउ संजमु देउ गुरु आणंदा जो जिण सासणि सारु ॥आणंदा ॥२१॥
परमपउ जे झावहिं सो सवउ विवहार
संमिकुबोधहिं बाहिरु आणंदा कणु विणु गहिमपयालु ॥आणंदा ॥२२॥
माय बप्प कुल जाति विणु णउ तसु रोसु ण राउ

संमिकुदिविहि आणीइ आणंदा सद्गुरु करइ सुभाउ ॥आणंदा ॥२३॥
परमानंदसरोवरह, जे मुणि करइंहि पवेसु
अमिय महारस जइ पियहिं आणंदा गुरु सामिहि उपदेसु ॥आणंदा ॥२४॥
महि साधइ रमणिहिं रमइं जवे वकहिव होइ
णाणबलेण जि ते वि मुणि आणंदा सिवपुरि णियडा होइ ॥आणंदा ॥२५॥
सिक्ख सुणइं सदगुरु भणइं परमाणंद सहाउ
परमजोति तसु उल्लसइ आणंदा करइ जु निम्मल भाउ ॥आणंदा ॥२६॥
इंदियमणु विछोहियउ चेतनु कइ उपदेस
उदय करंतउ वारीउ आणंदा सुण जाणणदेस ॥आणंदा ॥२७॥
समरस भाविंहि रंगिया अप्पा देक्खइ सोइ
उप्पउ जाणइं पसहणइ आणंदा करइ णिरालंब वासु ॥ आणंदा ॥२८॥
गयकुंभत्थलि जेन दिढ केसरि करइ पहारु
परम समाहि ण भुल्लई आणंदा रहियउ हुइ णिरकारु ॥आणंदा ॥२९॥
पुव्वकिय मलणि जुरइ णवउ ण होणह देइ
अप्पा अणु मणु रंगिया आणंदा केवलणाणु हवेइ ॥आणंदा ॥३०॥
देव वजावंति दुदंभी घुणइ जि बंभ मुरारि
इंद फणिंद विवज्जइ आणंदा तिणिउ सहिवार ॥आणंदा ॥३१॥
केवलणाण वि उपज्जइ सद्गुरु वचन पसाइं
जगु सचराचरु सो मुणइ आणंदा रहइसु सहज सभाइं ॥आणंदा ॥३२॥
सदगुरु ताव्वपाईयइ सुगति तिया घर वासु
सागुरु णितु णितु झाईयइ आणंदा जवलगि हियइ उसासु ॥आणंदा ॥३३॥
गुरु जिणवरु गुण सिद्धसिउं गुरु रयणत्तयसार
जो दरिसावइ अप्पपर आणंदा भवजलि पावह पारु ॥आणंदा ॥३४॥
जिमि सिरु घणहु, तीर्थ काइ भमेहु
देवसचेतन सत्यगुरु आणंदा जो दरिसावइ भेउ ॥आणंदा ॥३५॥
सुणइ मुणावइ आचहवइ सो णरु सिवपुरी जाय
कम्महणण भउं णिरदलण आणंदा गोपालहियसमाइ ॥आणंदा ॥३६॥
सुणतह आणंद उल्लसइ मस्तकि ज्ञान तिलक
मुकुट मणिहि सिर सोहवइ आणंदा माहु गोपालहि जोइ ॥आणंदा ॥३७॥
———हहीयडा वा———ममुकि ऊपजइ सूलु
अणरवु वढइ वहु हीयइ आणंदा मिच्छादिविहिं जोग ॥आणंदा ॥३८॥
हींदोल——— ———कुंजिणाउ
———महाणदि इह वालियउ आणंदा जिणि दरिसाविउ भेउ ॥३९॥
——— ——— ——— णांदि देउ आणंदा
जणिउ भणइ महाणंदि देउ जाणिउ णाणहंभिउ ॥आणंदा ॥४०॥

जैन व्याकरण साहित्य

(ले०—प्रो० नेमिचन्द्र जैन, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, आरा)

भाषा के शुद्ध ज्ञान के लिये व्याकरण ज्ञान परम आवश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषा के आन्तरिक गठन का विचार व्याकरण साहित्य में ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरण का उद्देश्य है। व्याकरण शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके निर्माण की प्राणवन्त प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन करता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोड़कर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है, साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुशासन कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुँचने के लिये राजपथ का निर्माण करता है। प्राचीन परम्परा के अनुसार आठ व्याकरण शास्त्र के निर्माताओं के नाम उपलब्ध होते हैं[1]।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा, जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः ॥

अर्थात् इन्द्र, शाकटायन, आपिशली, काशकृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक प्रसिद्ध हुए हैं। इन आठों में इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि ये पाँच वैयाकरण प्राचीन और अमर, जैनेन्द्र तथा चन्द्र नवीन हैं। अब इस प्रसंग में यह विचार करना है कि जैन सम्प्रदाय में व्याकरण शास्त्र का प्रणयन कब से आरम्भ हुआ और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध वैयाकरण हुए।

जैन व्याकरण शास्त्र का उद्भव और विकास :—

भगवान् महावीर के मुख से निस्सृत द्वादशांगवाणी ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आकर है। कहा जाता है कि सत्यप्रवाद पूर्व में व्याकरणशास्त्र के सभी प्रमुख नियम आये हुए हैं। इसमें वचन संस्कार के कारण, शब्दोच्चारण के स्थान, प्रयत्न, वचन-प्रयोग, वचन भेद आदि का निरूपण है। वचन संस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बतलाये गए हैं—स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के हृदय, कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ ये आठ स्थान बतलाये हैं। शब्दोच्चारण के प्रयत्नों का विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता और संवृतता इन पाँच की परिभाषाएँ दी गई हैं। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगों के विश्लेषण में शब्दों के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। अतः सत्यप्रवादपूर्व में व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। जैन आम्नाय के अनुसार पूर्वग्रन्थ भगवान् महावीर से पहले के हैं। इनका पूर्वान्त नाम ही इस बात का साक्षी है कि ये परम्परा में पहले से वर्तमान थे।

जैन आगम ग्रंथों की रचना प्राकृतभाषा में है, अतः प्राकृत में रचा गया कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य रहा होगा। प्राकृत भाषा में लिखित आगम ग्रन्थों में व्याकरण की अनेक बातें आई हैं[2]। ठाण अंग के अष्टम स्थान में आठ कारकों का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार (सू० १२८) में तीनवचन, लिंग, काल और पुरुषों का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ के सूत्र १२४, १२५ और १३० में क्रमशः चार, पाँच और दश प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख आया है। सूत्र १३० में सात समासों और पाँच प्रकार के पदों का कथन किया गया है। अतः संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृत में व्याकरणशास्त्र के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में ही व्याकरण ग्रन्थ लिखे[3] थे, जो आज उपलब्ध नहीं है।

भारतीय इतिहास में ई० पू० १८४ में शुंगवंश के पुष्यमित्र ने मौर्यवंश का अन्त कर मगध का शासन स्वायत्त किया[4]। यह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और श्रमण धर्म का विरोधी था। अतः इसके राज्यकाल में प्राकृत की अवहेलना और संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। पतंजलि जैसे भाष्यकार ने अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखा। संस्कृत साहित्य की इस उत्क्रांति ने कुषाण काल में विराट्रूप धारण किया और सार्वजनिक भाषा के साथ-साथ राजभाषा का पद भी इसे प्राप्त हुआ। फलतः ब्राह्मणों के साथ श्रमणों ने भी संस्कृत भाषा को ग्रंथरचना का माध्यम बनाया। श्रमणों की प्रखर प्रतिभा ने अल्प काल में ही

संस्कृत भाषा में विभिन्न प्रकार का विपुल साहित्य रच डाला। पाणिनि के पश्चात् नवीन ग्रंथनिर्माता वैयाकरण भी श्रमणों में ही हुए[१]। पतंजलि और कात्यायन के अतिरिक्त जयादित्य और जिनेन्द्रबुद्धि ने भी पाणिनीय सूत्रों पर टीकाएँ लिखी हैं। टीकाओं से केवल व्याकरण का विशदीकरण हुआ था। अतः जैन और बौद्धों ने, जो श्रमणों में प्रधान थे, व्याकरण के ग्रन्थ रचे। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमी ने चान्द्र व्याकरण और जैनाचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की। आचार्य देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन में निम्न छः पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है।

१—गुणे श्री दत्तस्यास्त्रियाम् (१।४।३४)
२—कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)
३—राद्भूतबलेः (३।४।८३)
४—रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)
५—वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)
६—चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतवलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छः वैयाकरणों के नाम आये हैं। इनके व्याकरण संबंधी ग्रंथ रहे होंगे, पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। अभयनन्दी ने जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्ति में "उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः" उदाहरण द्वारा यह बतलाया है कि सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार से भी हम यह निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं कि जैन सम्प्रदाय में कौन सा व्याकरण ग्रन्थ सर्वप्रथम लिखा गया। उपलब्ध जैन व्याकरण साहित्य में देवनन्दी या पूज्यपाद का जैनेन्द्र व्याकरण ही सबसे प्राचीन हैं।

जैनाचार्यों द्वारा लिखे गए छोटे-मोटे कई व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमें से केवल तीन ग्रंथ ही प्रधान हैं—जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम।

जैनेन्द्र व्याकरण :—

यह महत्वपूर्ण शब्दानुशासन है। इसमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र हैं। इस व्याकरण के मूल सूत्रपाठ दो प्रकार के उपलब्ध हैं :—एक तो वह जिस पर आचार्य अभयनन्दि की महावृत्ति तथा श्रुतकीर्ति कृत 'पंचवस्तु' नाम की प्रक्रिया है और दूसरा वह जिस पर सोमदेव सूरिकृत 'शब्दार्णव चन्द्रिका' और गुणनन्दी कृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकार के पाठ में लगभग ३००० और दूसरे में लगभग ३७०० सूत्र हैं। सात सौ सूत्र अधिक होने के साथ शेष तीन हजार सूत्र भी दोनों में एकसे नहीं हैं, किन्तु दूसरे सूत्र पाठ में पहले सूत्रपाठ के सैकड़ों सूत्र भी परिवर्तित और परिवर्द्धित किये गये हैं। प्रथम सूत्रपाठ पाणिनि के ढंग का है, अतः उसमें वर्तमान भाषा-साहित्य की दृष्टि से अनुशासन करने में अपूर्णता रह जाती है। इसी कमी की पूर्ति अभयनन्दी ने अपनी 'महावृत्ति' में वार्तिक और उपसंख्यानों द्वारा की है।

दोनों प्रकार के सूत्रपाठों में कतिपय भिन्नताओं के रहते हुए भी समानता कम नहीं है। दोनों के अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनों के प्रारम्भ का मंगलाचरण भी एक है और दोनों में कर्ता का नाम देवनन्दी या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

आदरणीय स्व० प्रेमीजी ने असली सूत्रपाठ का निर्णय करते हुए लिखा है[१]—"हमारे ख्याल में आचार्य देवनन्दि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनन्दी ने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समय तक तो ठीक समझा जाता रहा, जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायन को भी जैनेन्द्र के होते हुए एक जुदा जैन व्याकरण बनाने की आवश्यकता इसीलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है, और इसलिए बिना वार्तिकों और उपसंख्यानों के उससे काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वांगपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरण के भक्तों को उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमें से आचार्य गुणनन्दि ने उसे सर्वांगपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का फल ही दूसरा सूत्रपाठ है, जिसपर सोमदेव की शब्दार्णव चन्द्रिका रची गई है।" इस कथन से स्पष्ट होता है कि शब्दार्णव चन्द्रिका और जैनेन्द्र प्रक्रिया के सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के वास्तविक सूत्र नहीं हैं। अभयनन्दि ने अपनी वृत्ति जिन सूत्रों पर लिखी है वे ही जैनेन्द्र के सूत्र हैं।

इस शब्दानुशासन का जैनेन्द्र नाम होने का कारण रचयिता का जिनेन्द्रबुद्धि नाम ही है। श्रवणबेलगोल के ४० वें शिलालेख में बताया गया है—

"यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्" ॥

आचार्य का प्रथम नाम देवनन्दी था, बुद्धि की महत्ता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवों ने उनके चरणों की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

"पदेषु पदैकदेशान्" नियम के अनुसार जिनेन्द्रबुद्धि का संक्षिप्त नाम जिनेन्द्र है और उनके द्वारा ग्रथित शब्दानुशासन जैनेन्द्र कहा जाता है।

आचार्य देवनन्दी का समय स्व० श्री प्रेमीजी ने अनेक प्रमाणों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी निश्चित किया है[1]। अधिकांश विद्वान् इसी समय को ठीक मानते हैं। श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने जैनेन्द्र महावृत्ति में "जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके "खिल्यपाठ" शीर्षक में "अरुणन्महेन्द्रोमथुराम्" उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला है[2] कि इसमें आचार्य पूज्यपाद के काल की "महेन्द्र और उसका मथुरा विजय" ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है। यहाँ महेन्द्र से आशय गुप्तवंशीय कुमारगुप्त से है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। अतः आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त के समकालीन हैं और कुमारगुप्त का समय ई० ४१३–४५५ है। अतएव पूज्यपाद का समय—विक्रम की पांचवीं शती का उत्तरार्ध या छठवीं शती का पूर्वार्ध है। ये दर्शन और व्याकरण के धुरन्धर विद्वान् थे।

इस व्याकरण में अनेक विशेषताएँ हैं। पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों का आधार रहने पर भी स्वर और वैदिक प्रयोग संबंधी सूत्रों का परित्याग कर दिया है। इसकी उल्लेखनीय विशेषताएं निम्न हैं :—

१—स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भः (१।१।९९) सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व, और बहुत में प्रवृत्त होते हैं। अतः एकशेष मानना निरर्थक है। अतएव इनका यह व्याकरण अनेकशेष कहलाता है। इनका मत है कि लोकव्यवहार में जो चीज सर्वत्र प्रचलित है, उसे सूत्रबद्ध निर्देष करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर बढ़ता है।

२—सिद्धिरनेकान्तात् १।१।१। द्वारा यह बतलाया गया है कि नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व, प्रभृति नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मीरूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही संभव है। एकान्त सिद्धान्त से अनेक धर्मविशिष्टि शब्दों का साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता।

३—जैनेन्द्र का संज्ञाप्रकरण बहुत ही मौलिक और सांकेतिक है। इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओं के लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त और पूर्ण संज्ञाएँ आई हैं। इस व्याकरण में उपसर्ग के लिए गि, अव्यय के लिए झिः, समास के लिए सः, वृद्धि के लिए ऐप्, गुण के लिए एप्, सम्प्रसारण के लिए जिः, प्रथमा विभक्ति के लिए वा, द्वितीयाः के लिए इप्, तृतीया के लिए या, चतुर्थी के लिए अप्, पंचमी के लिए का, षष्टी के लिए ता, सप्तमी के लिए इप् और संबोधन के लिए किः संज्ञाएँ बतलायी गई हैं। इन संज्ञाओं की कल्पना में आचार्य का अद्भुत पांडित्य छिपा हुआ है।

४—देवनन्दी ने सन्धौ ४।३।६० को अधिकार सूत्र कहकर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चौथे पाद तथा पंचम अध्याय के कुछ सूत्रों में सन्धि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनन्तर छकार के परे सन्धि में तुगागम का विधान किया है। तुगागम करने वाले ४।३।६१—४।३।६४ तक चार सूत्र आए हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा दी संज्ञकों से परे तुगागम किया है और त् को च् बनाकर इच्छति, गच्छति, आच्छिनत्ति, माच्छिदत्, ह्रीच्छति, म्लेच्छति, कुवलच्छाया आदि प्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पाणिनि के समान है, किन्तु इसमें अधिक सूत्रों की आवश्यकता उपस्थित नहीं होती है। संज्ञाओं की मौलिकता के कारण ही अनुशासन में लाघवत्व आ गया है।

५—यह पंचांग व्याकरण है। इसमें धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन के निर्देश पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।[3]

जैनेन्द्र व्याकरण की टीकाएं :—

इस व्याकरण पर अभयनन्दि कृत 'महावृत्ति', प्रभाचन्द्र कृत 'शब्दाम्भोजभास्करन्यास', श्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तु प्रक्रिया' और पं० महाचन्द्र कृत 'लघु जैनेन्द्र' ये चार टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। पंचवस्तु के अन्त के श्लोक में जैनेन्द्र व्याकरण को महल की उपमा दी है। वह मूलसूत्र रूपी स्तम्भों पर खड़ा किया गया है, न्यासरूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके कपाट

हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल हैं और यह पंचवस्तु टीका उसकी सोपानश्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जा सकता है। अतएव स्पष्ट है कि पंचवस्तु के कर्ता के समय तक इस व्याकरण पर एक न्यास, दो वृत्तियाँ, तीन भाष्य और चार टीकाएँ विद्यमान थीं[९]।

जैनेन्द्र सूत्रपाठ का संशोधित और परिवर्धित संस्करण शब्दार्णव कहलाता है। इसके कर्ता गुणनन्दि हैं[१०]। गुणनन्दि का समय दशवीं शताब्दी माना गया है। शब्दार्णव की दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—शब्दार्णव चन्द्रिका और शब्दार्णव प्रक्रिया। शब्दार्णव चन्द्रिका के रचयिता सोमदेव हैं। ये शिलाहारवंश के राजा भोजदेव (द्वितीय) के समय में हुए हैं। इन्होंने अर्जुरिका नामक ग्राम के त्रिभुवन तिलक नामक जैन मन्दिर में शक संवत् ११२७ में इसकी रचना की है। यह रचना सनातन जैन ग्रन्थ-माला से प्रकाशित है।

शब्दार्णवप्रक्रिया जैनेन्द्र-प्रक्रिया के नाम से मुद्रित है। जिस प्रकार अभयनन्दि की वृत्ति के आधार पर प्रक्रियारूप पंचवस्तुटीका लिखी गयी है, उसी प्रकार सोमदेव की शब्दार्णव चन्द्रिका के आधार पर यह प्रक्रिया लिखी गई है।

जैनेन्द्र की उपलब्ध समस्त टीकाओं में अभयनन्दिकृत महावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इनका समय ई० सन् ७५० है[११]। इन्होंने मंगलाचरण के श्लोक में पूर्ववर्ती प्राचीन टीकाओं का भी निर्देश किया है।

यच्छब्द लक्षणमसुब्रजपारमन्यै-
रव्यक्तमुक्तमभिधान विधौ दरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यै-
र्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम् ॥

कठिनता से पार पाने योग्य जिस शब्द लक्षण को दरिद्रों ने व्याख्या करने में स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्द लक्षण को अभयनन्दी मुनि सबके हृदय को प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्यों से स्पष्ट करता है।

अतः स्पष्ट है कि अभयनन्दी ने अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारों को 'दरिद्रैः' पद से व्यक्त किया है। संभवतः ये व्याख्याएँ लघुवृत्ति के रूप में रही होंगी। आचार्य अभयनन्दी की यह वृत्ति काशिका के समान ही बृहत् है। इसमें निम्न विशेषताएँ विद्यमान हैं।

१—कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य से सार लेकर पूज्यपाद से छूटे हुए व्याकरण नियमों की पूर्ति वार्तिक, परिभाषा और उपाख्यान रचकर की।

२—शिक्षा सूत्र भी इस महावृत्ति में पाये जाते हैं। १।१।२ की व्याख्या में लगभग ४० शिक्षासूत्र दिये गये हैं।

३—परिभाषाओं की व्याख्याएँ भी वृत्ति में की गई हैं।

४—अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति में अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं। इनमें कुछ प्राचीन पंचपादी से मिलते हैं और कुछ में पाठान्तर हैं। अतः जैनेन्द्र के उणादिसूत्रों को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन परम आवश्यक है।

५—अनेक नवीन शब्दों का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यथा १।२।९९ की व्याख्या में प्रविनय्य प्रयोग की सिद्धि में अद्भुत पांडित्य दिखलाया गया है।

६—महावृत्ति में दिये गये उदाहरणों से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश में आते हैं—यथा सूत्र १।४।४ की वृत्ति में 'शरदं मथुरा रमणीया', 'मासं कल्याणी कांची', दिये गये उदाहरणों से अवगत होता है कि कांचीपुरी में मासव्यापी उत्सव होता था और मथुरा में शरत्-आश्विन के महीने में शोभा की जाती थी।

७—महावृत्ति के उदाहरणों में तीर्थंकरों, महापुरुषों, ग्रंथों और ग्रन्थकारों के नाम भी आये हैं। जैसे १।४।१५ में अनु-शालिभद्रम् आढ्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः, सूत्र १।४।१६ में उपसिंहनन्दिनं कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः तथा १।३।१० में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य, प्रयोग आये हैं। इन प्रयोगों से सिद्ध है कि सबसे बड़ा धनी शालिभद्र, सबसे बड़ा तार्किक समन्तभद्र, सबसे बड़ा कवि सिंहनन्दि और सबसे बड़ा वैयाकरण सिद्धसेन था।

८—व्याकरण सम्बन्धी अनेक गुत्थियों को भी इस महावृत्ति में सुलझाया गया है।

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत साहित्य की इस द्वितीय क्रान्ति का सर्वप्रथम व्याकरण है, इसने पाणिनि की अष्टाध्यायी के लौकिक भाषा के अनुशासन सम्बन्धी सूत्रों को पूर्णतया सुरक्षित रखा है। अभयनन्दी ने १२ हजार श्लोक प्रमाण इसकी महावृत्ति लिखी है। अन्य टीकाएँ भी उपयोगी हैं।

शाकटायन व्याकरण :—

इस व्याकरण के रचयिता यापनीय संघ के आचार्य पल्यकीर्ति हैं। इनका दूसरा नाम शाकटायनाचार्य भी है। इन्होंने अमोघवृत्ति न्यास सहित शाकटायन के सूत्रों की रचना की है। अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पल्यकीर्ति की ही बतायी जाती है। मुनिवंशाभ्युदय में बताया है "उस मुनि ने अपने बुद्धिरूप मन्दराचल के श्रुतरूप समुद्र का मन्थनकर यश के साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायन ने उत्कृष्ट शब्दानुशासन को बना लेने के बाद अमोघवृत्ति नाम की टीका, जिसे बड़ी-शाकटायन कहते हैं—बनायी, जिसका परिमाण १८००० हजार है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनि ने व्याकरण के सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकार का पुण्य सम्पादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दि ने मुनियों के मध्य पूजित शाकटायन को मन्दर पर्वत के समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

इससे स्पष्ट है कि पल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञवृत्ति—अमोघवृत्ति की रचना की है। 'ख्याते दृश्ये' सूत्र की अमोघवृत्ति में 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' अर्थात् अमोघवर्ष ने शत्रुओं को जला दिया—इस घटना से प्रथम अमोघवर्ष का अपने शत्रुओं पर विजय पाने का उल्लेख प्राप्त होता है। इसी घटना का उल्लेख शक संवत् ८३२ के शिलालेख में भी हुआ है 'भूपालान् कण्टकामान् वेष्टयित्वा ददाह' अर्थात् अमोघवर्ष ने उन कांटे जैसे राजाओं को घेरा और जला दिया, जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। इसमें लिट् लकार की 'ददाह' क्रिया का प्रयोग हुआ है, किन्तु शाकटायन ने लङ्लकार की 'अदहत्' क्रिया का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय यह घटना घटित हुई थी। अतः शाकटायन या पल्यकीर्ति का समय शक संवत् ७३६–७८९ के मध्य में है[१२]।

इस व्याकरण में चार अध्याय और सोलह पाद हैं। प्रथम अध्याय में ७२१ सूत्र, द्वितीय में ७५३, तृतीय में ७५५ और चतुर्थ में १००७ सूत्र हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३२३६ है। कहा भी है :—

गणनेयं सूत्राणामनुष्टुभामर्धसप्तमशतीह
त्रीणि सहस्राणि शते, द्वे षट्त्रिंशच्च योगानाम्[१३] ॥

इस शब्दानुशासन में नौ प्रकार के सूत्रों का कथन किया गया है—संज्ञा, नियम, निषेध, अधिकार, नित्यापवाद, विधि, परिभाषा, अतिदेश और विकल्प। यथा—

संज्ञानियमनिषेधाधिकार नित्यापवादविधिपरिभाषाः।
अतिदेशविकल्पाविति, गतयश्शब्दानुशासने सूत्राणाम्[१४] ॥

यह शब्दानुशासन सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और उणादि सूत्रपाठरूप पंचांग है। इसमें पाणिनीय या जैनेन्द्र के समान वार्तिक, उपाख्यान अथवा अन्य नियम वाक्यों की आवश्यकता नहीं है। यह इतना पूर्ण और व्यवहारोपयोगी है कि इस एक ही व्याकरण के अध्ययन से संस्कृत भाषा का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया जा सकता है।

शाकटायन व्याकरण ने प्रत्याहार शैली को अपनाया है। आरम्भ में "तत्रादौ शास्त्रे संव्यवहारार्थं संज्ञासंग्रहः कथ्यते" लिखकर (१) अइउण् (२) ऋक् (३) एओङ् (४) ऐऔच्, हयवरलञ् (५) ञमङणनम् (६) जवगडदश् (७) झभघढधष् (८) खफछठथट् (९) चटतव् (१०) कपय् (११) शषस अं अः ×क ⌣प र (१२) हल् (१३) इति वर्ण समाम्नायः अणादि-प्रत्याहारार्थः। इस प्रकार शाकटायन में १३ प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया गया है। यहाँ एक विशेषता यह है कि शाकटायन में प्रत्याहार सूत्रों का संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है और न इनका क्रम जैनेन्द्र से ही मिलता है, बल्कि इन्होंने उन दोनों आचार्यों के प्रत्याहार सूत्रों में संशोधन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायन में ऌकार को स्वर माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, और उपध्मानीय की गणना व्यंजनों के अंतर्गत कर ली गई है। पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय और और उपध्मानीय को विकृत व्यंजन माना है। वास्तव में अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कहीं सकार से और कहीं रेफ से स्वतः उत्पन्न होता है तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरों को अपने प्रत्याहार सूत्र में—जो कि उनकी वर्णमाला कही जायगी, स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। बाद के पाणिनीय वैयाकरणो में से कात्यायन ने उक्त चारों को स्वर, व्यंजन दोनों में ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण में अनुस्वार, विसर्ग आदि के मूल रूपों को ध्यान में रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रों में स्थान दिया और उनके व्यंजन होने की घोषणा कर दी गयी।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रों की दूसरी विशेषता यह है कि उनमें लण् सूत्र को स्थान नहीं दिया है और लवर्ण को पूर्व सूत्र में ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्णों के प्रथमादि अक्षरों के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिये दो सूत्र हैं। पाणिनीय वर्णसमाम्नाय की भाँति शाकटायन व्याकरण में भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण में ४१, ४३ या ४४ प्रत्याहार रूपों की उपलब्धि होती है, किन्तु शाकटायन में सिर्फ ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

शाकटायन में सामान्य संज्ञाएँ बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा और स्वसंज्ञा—सवर्ण संज्ञा करनेवाले, बस ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण में अवशेष दो सूत्र ग्राहकसूत्र कहे जायँगे। ग्राहक सूत्रों में प्रथम सूत्र वह है, जो स्वर से उसके जातीय दीर्घादि वर्णों का बोध करता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक सात्मेतत् १।१।१ सूत्र है। यह प्रत्याहारबोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी आत्मा दबीसी जान पड़ती है। यदि इसी को शब्दों के अनुसार समझना हो तो इसके पूर्व पाणिनी का 'आदिरन्त्येन सहेता, सूत्र कंठस्थ कर लेना होगा।

यद्यपि शाकटायन में लृ वर्ण को ग्रहण नहीं किया गया है, पर उसके टीकाकारों ने "ऋवर्णग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणम् भवति' तयोरेकत्वप्रतिज्ञानात्" कथन किया है। अतः लृकार के ग्रहण की सिद्धि कर ली है।

यह स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण में संज्ञासूत्रों की बहुत कमी है। आचार्य पल्यकीर्ति ने कारिकाओं में भी प्रमुख सिद्धान्तों का सन्निवेश किया है। इस शब्दानुशासन के संज्ञाप्रकरण में कुल छह सूत्र हैं, उनमें भी दो ही सूत्र ऐसे हैं, जो संज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं। शाकटायन ही एक ऐसा व्याकरण है, जिसमें बहुत कम संज्ञाओं से काम चलाया गया है। सरलता और आशुबोधता की दृष्टि से इस शब्दानुशासन के संज्ञाप्रकरण का अधिक महत्व है। पाणिनी और जैनेन्द्र के समान पल्यकीर्ति ने संज्ञाओं को संक्षिप्त, जटिल और सांकेतिक बनाने की चेष्टा नहीं की है।

शाकटायन में 'न' १।१।७० सूत्र के द्वारा विराम में सन्धिकार्य का निषेध करते हुए अविराम में सन्धि का विधान मानकर "न" सूत्र को अधिकारसूत्र बताया है। अच् सन्धि के आदि में सबसे पहले अयादि सन्धि का विधान किया है। पश्चात् १।१।७३ द्वारा यण् सन्धि का निरूपण किया है। यण् सन्धि के विधान के प्रसंग में शाकटायन में "ह्रस्वो वाऽपदे" १।१।७४ सूत्र है, इसके द्वारा दधी+अत्र=दधिअत्र, दध्यत्र, नदी+एषा=नदिएषा, नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। शाकटायन का यह विधान बिल्कुल नवीन है। पाणिनीय तन्त्र में ह्रस्व विधान का नियम नहीं है। ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय में भाषा का प्रवाह पाणिनी की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गया है।

प्रकृतिभाव सन्धि को शाकटायन ने निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण में केवल चार ही सूत्र आये हैं। यद्यपि पाणिनि की अपेक्षा इसमें कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि शाकटायन ने बहुत थोड़े में अधिक कार्य कर दिखलाया है। शाकटायन में स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है और इसका अनुशासन ९ सूत्रों में किया गया है। यह अनुशासन पाणिनि के समान है, किन्तु इसका प्रभाव उत्तरकालीन वैयाकरण हेम पर अधिक पड़ा है।

सम्राट् शब्द की सिद्धि शाकटायन ने "सम्राट्" १।१।११३ सूत्र द्वारा की है। वृत्ति में "समोमकारो निपात्यते क्विबन्ते राजि परे" लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायन में इस सूत्र से पूर्व वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है, तो भी उन्होंने अनुस्वाराभाव का जिक्र नहीं किया है। हमें ऐसा लगता है कि निपातन कह देने से ही शाकटायन ने इसलिए सन्तोष कर लिया कि निपातन का अर्थ ही है, अन्य विकार्य स्थितियों का अभाव। अतः उन्होंने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नहीं समझी और उनके टीकाकारों ने इस पर प्रकाश डाला।

शब्दसाधुत्व में शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के ही समान है। इन्होंने एक-एक शब्द को लेकर सातों विभक्तियों में उनके रूपों की साधनिका उपस्थित की है।

स्त्री प्रत्यय प्रकरण में शाकटायन ने स्त्री प्रत्ययान्त शब्दों का साधुत्व छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कबर-पुच्छी, मणिपुच्छी, विषपुच्छी, उलूकपुच्छी, अश्वक्रीति, मनसाक्रीति प्रभृति प्रयोगों का शाकटायन में अभाव है। इस कमी

की पूर्ति हेमचन्द्र ने २।४।४, २।४।४२, २।४।४३ और २।४।४५ सूत्रों के प्रणयन द्वारा की है। शाकटायन में कारक सामान्य और कर्ता, कर्मादि की परिभाषाएँ नहीं आई हैं। इसमें विभक्ति विधायक सूत्रों का सीधे ढंग से ही कथन किया गया है। अतः शाब्दिक अनुशासन की दृष्टि से यह प्रकरण उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना पाणिनि का है।

शाकटायन में समास प्रकरण आरंभ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं, जिनका संयोग प्रायः बहुव्रीहि समास में होता है। जैसे न, दुस्, सु, इनसे परे प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय, न, दुस् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय, जाति शब्दान्त बहुव्रीहि से छः प्रत्यय एवं धर्मशब्दान्त बहुव्रीहि से अम् प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् बहुव्रीहि समास में पुंवद्भाव, ह्रस्व प्रभृति अनुशासनों का नियमन है। सुगन्धि, पूतगन्धि, सुरभिगन्धि, घृतगन्धि आदि सामासिक प्रयोगों के साधुत्व के लिए इत् प्रत्यय का विधान किया है। बहुव्रीहि समास समाप्त करते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है तथा युद्धवाच्य में ग्रहण और प्रहरण अर्थ में केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है। यतः शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं—अन्य पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अतः "केशांश्च केशांश्च परस्परस्य ग्रहणम् यस्मिन् युद्धे" इस प्रकार के साध्य प्रयोग विग्रहवाक्य में अन्य वाक्य प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगों को बहुव्रीहि समास में गिनाया है, उनमें से कतिपय शाकटायन में अव्ययीभाव समास में गिनाये गये हैं।

शाकटायन का तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण भी प्रायः पाणिनि के अनुसार है। परन्तु इन प्रकरणों में प्रत्यय-विधान और प्रत्ययों के अर्थ अपनी मौलिकता समेटे हुए हैं। कुशल अनुशासक ने उस शिल्पी का कार्य किया है, जो पुराने उपादानों को लेकर भी भवन का नये ढंग से निर्माण करता है।

शाकटायन शब्दानुशासन की सात टीकाएँ अबतक उपलब्ध हैं। विवरण निम्नप्रकार है।

१. **अमोघवृत्ति**—यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के नाम पर लिखी गयी है। स्वयं सूत्रकर्ता ही इस वृत्ति के रचयिता हैं। यह सबसे बड़ी वृत्ति है।

२. **शाकटायन-न्यास**—यह अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्रकृत न्यास है। इस ग्रन्थ के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।

३. **चिन्तामणि टीका** (लघीयसी वृत्ति)—यक्षवर्मा ने अमोघवृत्ति को संक्षिप्त कर यह टीका लिखी है। व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

४. **मणिप्रकाशिका**—अजितसेन ने चिन्तामणि के अर्थ को व्यक्त करने के लिए इस टीका का निर्माण किया है। अनुशासन की दृष्टि से यह टीका भी अध्येताओं के लिए उपयोगी है।

५. **प्रक्रिया संग्रह**—अभयचन्द्र ने सिद्धान्त कौमुदी के ढंग की यह टीका लिखी है। जो पाणिनीय तन्त्र के लिए भट्टोजिदीक्षित ने कार्य किया है, वैसा ही यह कार्य है।

६. **शाकटायन टीका**—वादिपर्वत वज्र-भावसेन त्रैवेद्य ने इस टीका की रचना की है। यही भावसेन कातन्त्र की रूपमाला टीका के कर्त्ता भी हैं। इनका एक "विश्वतत्व प्रकाश" नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७. **रूपसिद्धि**—पाणिनी सूत्रों पर लघुसिद्धान्त कौमुदी का निर्माण इसलिए हुआ कि जिज्ञासुओं को संक्षेप में पाणिनीय शब्दानुशासन का बोध बिना किसी क्लेश के हो सके। इसी बात को ध्यान में रखकर दयापाल मुनि ने इस टीका की रचना की है। यह लघुसिद्धान्तकौमुदी के समान उपयोगी है। दयापाल के गुरु का नाम मतिसागर था। टीकाकार पार्श्वनाथ-चरित और न्यायविनिश्चय के कर्ता वादिराज सूरि के सधर्मा थे। पार्श्वनाथ चरित की रचना शकसंवत् ९४७ में हुई है। अतः टीकाकार का समय भी उपर्युक्त ही है[1]।

हैमशब्दानुशासनः—

आचार्य हेम का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। इनमें एक साथ ही वैयाकरण, आलंकारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोशकार, छन्दोनुशासक और महान् युगकवि का अन्यतम समवाय हुआ है। हेम के इन विभिन्न रूपों में उनका कौन-सा रूप सशक्त है, यह निश्चय करना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयाकरण हेम अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं।

हेम के पूर्व पाणिनी, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समय में उपलब्ध समस्त शब्दार्थ का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एवं सरल व्याकरण की रचना कर संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर हेम ने इस भाषा को अमर तो बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहों को उदाहरण के रूप में उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्व-पूर्ण साहित्य के नमूनों की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण, विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

शब्दानुशासन के क्षेत्र में हेमचन्द्र ने पाणिनी, भट्टोजिदीक्षित और भट्टि का कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने सूत्र वृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायों में और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय में, इस प्रकार कुल आठ अध्यायों में अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दानुशासन के उदाहरण संस्कृत द्वयाश्रय काव्य में और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में लिखे हैं।

संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय में २४१ सूत्र, द्वितीय में ४६०, तृतीय में ५२१, चतुर्थ में ४८१, पंचम में ४९८, षष्ठ में ६९२ और सप्तम में ६७३ सूत्र हैं। कुल सूत्रसंख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में संज्ञाओं का विवेचन किया है। इसमें स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यंजन, धुट्, वर्ग, अघोष, घोषवत्, अन्तस्थ, शिट्, स्व, प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय और संख्यावत् इन चौबीस का प्रतिपादन किया है। शिष्टायस्य द्वितीयो वा १।३।५९ द्वारा ख्षीरम्, क्षीरम् तथा अपसरा, अप्सरा जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का खीर शब्द हेमचन्द्र के ख्षीरम बहुत नजदीक है।

हेम ने इस प्रकरण में व्यंजन और विसर्ग इन दोनों सन्धियों का सम्मिलित रूप में विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यंजन संधि के हैं तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढ़ने पर विसर्ग सन्धि के सूत्रों के पश्चात् पुनः व्यंजन सन्धि के सूत्रों पर लौट आते हैं और अन्त में पुनः विसर्ग सन्धि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूप से देखने पर यह एक गड़बड़-झाला दिखलाई पड़ेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यंजन सन्धि के समान ही विसर्ग सन्धि को भी व्यंजन सन्धि ही माना है, यतः दोनों का एकजातीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्रायः देखा जाता है कि व्यंजन सन्धि के प्रसंग में आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को "र्" और "स्" का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में कतिपय स्वरान्त और व्यंजनांत शब्दों का भी नियमन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद में अवशेष शब्द रूपों की चर्चा, द्वितीय पाद में कारक प्रकरण, तृतीय पाद में षत्व-णत्व विधान और चतुर्थपाद में स्त्री-प्रत्यय प्रकरण हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद में समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थ पाद में आख्यान प्रकरण आया है। चतुर्थ अध्याय के चारों पादों में भी आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पंचम अध्याय के चारों पादों में कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हैम में अन्य व्या-करणों की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप में ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि संस्कृत के शब्दानुशासकों ने विभिन्न प्रकार से अपनी-अपनी संज्ञाओं के सांकेतिक रूप दिये हैं। यत्र-तत्र एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुरमात्रा में विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरण के रूप में अभिहित हुईं। विवे-चन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही संस्कृत भाषा में व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होंने स्वर तथा व्यंजन विधान संज्ञाओं का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और वाक्य संज्ञाओं का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण में इस प्रकार के विवेचन का

ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए हैं। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने संभालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर इन्होंने वाक्य की जो परिभाषा "एकतिङ्वाक्यम्" दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारों ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी "एकतिङ्वाक्यम्" के दायरे से दूर नहीं हो सके हैं, फलत: उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यों-की त्यों बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है—"सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" १।१।२६ "त्याद्यन्तं पदमाख्यातं साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति।" अर्थात् मूलसूत्र में सविशेषण आख्यान की वाक्यसंज्ञा बतलायी गयी है। यहाँ आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, संज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषणों का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्यंश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणों के साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात की ही वाक्य में प्रधानता रहती है। यहाँ विशेषण शब्द से केवल संज्ञा विशेषण को ही ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु साधारणत: अप्रधान अर्थ में इसे ग्रहण किया है। वैयाकरणों का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य में आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है? हेम ने अपनी वाक्य परिभाषा का सम्बन्ध "पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये रस्नसौ बहुत्वे" २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अतः पाणिनीय तन्त्रकारों की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभाषा अधिक तर्कसंगत है।

हेम ने सात सूत्रों में अव्यय संज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपात संज्ञा को अव्यय संज्ञा में ही विलीन कर लिया है। इन्होंने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह संक्षिप्तीकरण का एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओं का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अत: इसके लिये पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञाप्रकरण की हेम की संज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगेवाली कारकीय संज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पाणिनि के समान हेम की संज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अत: हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम संज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी संज्ञाओं को ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाएँ पाणिनि ने भी लिखी हैं, किन्तु हेम ने इन संज्ञाओं में स्पष्टता और सहज बोधगम्यता लाने के लिये एक, द्वि और त्रि मात्रिक को क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" १।२।२६ सूत्र में हेम का उक्त भाव अंकित है, किन्तु हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिये स्पष्टीकरण कर दिया है।

हेम और पाणिनि की संज्ञाओं में एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहारों के झमेले में नहीं पड़े हैं, इनकी संज्ञाओं में प्रत्याहारों का बिलकुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने संज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना संज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेम का संज्ञाविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट है।

सन्धि प्रकरण में भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। गुण सन्धि में ऋ के स्थान पर अर् और ऌ के स्थान पर अल् किया है। पणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिये पृथक् "उरणरपरः" १।१।५१ सूत्र लिखना पड़ा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर ली है। पाणिनि ने "एङिपररूपम्" ६।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद में ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने "वोष्ठौती समासे" १।२।१७ द्वारा लुक् का नियमन किया है। अतः पाणिनि की अपेक्षा हेम में लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जस् के स्थान में "शी" होने का विधान किया है, हेम ने १।४।९ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर "ई" कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहाँ यदि केवल "ई" का विधायन होता, तो यह जस् के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहाँ इस तरह का कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस् के स्थान पर किया गया "ई" का नियमन समस्त जस् के स्थान पर होता है। अतः यहाँ हेम की लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं की है, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया है। जहाँ पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका

है, वहाँ हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नहीं मानकर काम चलाया है। यह भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने आम् को साम् बनाने के लिये सुट् का आगम किया है, पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग में लतायै, लतायाः और लतायां की सिद्धि के लिये पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होंने ७।३।११३ सूत्र से याट् किया है, पुनः वृद्धिकी, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लतायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे यै, याट् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपों का सहज साधुत्व दिखाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघव सूचक है। मुनि शब्द की औ विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानों के लिये अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनौ प्रयोग में पाणिनि ने ७।३।११९ के द्वारा इ को ऊ और ङी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है, किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा ङी को डौ किया है, जिससे यहाँ ड् का अनुबंध होने से मुनि शब्द का इकार स्वयं ही हट गया है, अतएव मुनि शब्द के नकार में रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय तन्त्र में क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई भी नियम नहींहै, बाद के वैयाकरणों और नैयायिकों ने "क्रियाविशेषणानां कार्यत्वं" का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र में उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र में संग्रहीत कर लिया है। पणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्द के योग में चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थक सभी शब्दों के योग में चतुर्थी का नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अलं शब्द को पर्याप्तार्थक माना पड़ता है, अन्यथा "अलं महीपाल तव श्रमेण" इत्यादि वाक्य व्यवहित हो जायेंगे। हेम ने शक्त्यर्थक और पर्याप्तार्थक शब्दों के साधुत्व को पृथक कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नहीं आता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम में पाणिनि जैनेन्द्र, और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनों व्याकरणों से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र के "सिद्धिरनेकान्तात्" का प्रभाव" सिद्धिः स्याद्वादात् १।१।२ पर स्पष्ट है। हेम नें तद्धित और कृदन्त प्रकरण में जैनेन्द्र के सूत्र ज्यों के त्यों अपनाये हैं।

शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहाँ एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने "पारेमध्येषष्ठ्यावा" २।१।१८; पूज्यपाद ने "पारे मध्ये तया वा" १।३।१५; और शाकटायन ने "पारे मध्येऽन्तः षष्ठ्या वा" २।१।९ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ट्या वा" सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

शाकटायन के "ननृपूजार्थध्वजचित्रे" ३।३।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने "न नृपूजार्थध्वजचित्रे" ७।१।१०९ में शब्दशः अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों से बहुत कुछ लिया है, तो भी अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन में अनेक नवीनताएँ लाने का उनका प्रयास प्रशंस्य है।

हेम शब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमें चार पाद और कुल १११९ सूत्र हैं। प्रथम पाद में स्वर और व्यंजन विकार, द्वितीय में संयुक्त व्यंजन विकार, तृतीय में सर्वनाम, कारक, कृदन्त एवं चतुर्थपाद में धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिये इससे बड़ा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण अन्य कोई नहीं है। पाणिनि ने जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषा का अनुशासन किया, उसी प्रकार हेम ने लौकिक संस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्त्वों की जानकारी हेम की अद्भुत है। हैमशब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन से ही लोक प्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओं की यथेष्ठ जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। हैमशब्दानुशासन पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं :—

नाम	कर्ता	संवत्
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्रगणी	हेमचन्द्र कालीन
लघुन्यास	धर्मघोष	
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	
हैमलघुवृत्ति	काकल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन
हैमबृहद्वृत्ति ढुंढिका	सौभाग्य सागर	१५९१
हैमढुंढिका वृत्ति	उदय सौभाग्य	
हैमलघुवृत्ति ढुंढिका	मुनिशेखर	
हैम अवचूरि	धनचन्द्र	
प्राकृत दीपिका	द्वितीय हरिभद्र	
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	
हैमचतुर्थपाद वृत्ति	हृदय सौभाग्य	१५९१
हैम व्याकरण दीपिका	जिनसागर	
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	
हैम दुर्गपद प्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैम कारक सुच्चय	श्रीप्रभसूरि	१२८०
हैमवृत्ति		

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य गून्थ :—

नाम	कर्ता	संवत्
लिंगानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्न समुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैमविभ्रम सूत्र	गुणचन्द्र	
हैम विभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमंजूषा	हेमहंस	१५१५
न्यायमंजूषान्यास		
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	
हैमकौमुदी	मेघविजय	१७५८
शब्दचन्द्रिका	"	१७६१
हैमप्रक्रिया	महेन्द्र सुतवीरसी	
हैम लघुप्रक्रिया	विनय विजय-तपागच्छ के आचार्य	
भिक्खु व्याकरण	अधुनातन	
कालुकौमुदी	अधुनातन	

इन प्रसिद्ध तीन महाव्याकरणों के अतिरिक्त कातन्त्र, यशोभद्र कृत जैन व्याकरण, आर्य व्रजस्वामी कृत जैन व्याकरण, भूतबली जैन व्याकरण, श्रीदत्त कृत जैन व्याकरण, प्रभाचन्द्र कृत जैन व्याकरण एवं सिंहनन्दी कृत जैन व्याकरण के नामों की सूचना मिलती है।[१६]

कातन्त्र के मूलसूत्रों के रचयिता के सम्बन्ध में विवाद है[१७], पर इतना सत्य है कि कातन्त्र रूपमाला के रचयिता भावसेन त्रैवेद्य हैं[१८]। यह व्याकरण साहित्य के महान् विद्वान् थे। कातन्त्र का प्रचार प्राचीन काल में बहुत था। संस्कृत भाषा को

सरलता के साथ सीखने में यह व्याकरण बहुत सहायक है। कातन्त्र में संज्ञाओं का कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, सन्धि-प्रकरण के पहले पाद में प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। इस व्याकरण की "सिद्धोवर्णसमाम्नायः" यह प्रथम-सूत्रीय घोषणा अत्यन्त गंभीर है। इस सूत्र द्वारा वर्णों की नित्यता स्वीकार की गई है। इसमें प्रत्याहार का झमेला नहीं है। सन्धि, शब्द, विभक्त्यर्थ, स्त्रीप्रत्यय, समास, तिङन्त, कृदन्त और तद्धित सभी प्रकरण इस व्याकरण में हैं। कातन्त्र के तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण वर्तमाना, परोक्षा, सप्तमी, पंचमी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, आशीः, श्वस्तनी, भविष्यन्ती और क्रियातिपत्ति के रूप में किया गया है। जैनेन्द्र और शाकटायन में लकारों का निरूपण है, किन्तु हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में कातन्त्र सम्मत कालवाची क्रियाओं को स्थान दिया है। कातन्त्र व्याकरण के पठन पाठन का प्रचार जैन सम्प्रदाय में बहुत अधिक रहा है। इसकी एक प्रमुख विशेषता विराम में अनुस्वार का होना भी है। स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवाल ने इसी व्याकरण के आधार पर बालबोध नामक अतिसरल व्याकरण लिखा है। कातन्त्र पर सकलकीर्ति द्वितीय कृत कातन्त्र-रूपमाला लघुवृत्ति, दुर्गसिंह कृत कातन्त्रव्याकरण की वृत्ति और रविवर्माचार्य कृत कातन्त्रव्याकरण की वृत्ति उपलब्ध हैं। बर्द्धमान कवि की कातन्त्र विस्तार नाम की टीका भी उपलब्ध है।[१] इस टीका में सूत्रों की व्याख्या के साथ अनेक नवीन उदाहरण भी सम्मिलित किये गये हैं। इसमें कई उदाहरण काशिका वृत्ति के हैं। कातन्त्र के रचयिता का नाम सर्ववर्मा होने से विद्वान् इनके जैन होने में संदेह करते हैं। परन्तु इनके प्रथम सूत्र का "सिद्ध" पद से प्रारम्भ होना, इनके अधिकांश टीकाकारों का जैन होना व जैनसमाज में इस व्याकरण का विशेष प्रचार होना आदि तथ्य इनके जैन होने की प्रतीति उत्पन्न कराये बिना नहीं रहते। इस व्याकरण के विशेष अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट होती है।

फुटकर स्तोत्रों से प्राप्त सूचना के आधार पर निम्न जैन व्याकरण ग्रंथों की जानकारी और भी प्राप्त होती है।

पाण्डवपुराण की प्रशस्ति से अवगत होता है कि १२२४ सूत्र प्रमाण 'चिन्तामणि' नाम का शब्दानुशासन आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा था। यह तीन अध्यायों में विभक्त था तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद थे। इस ग्रंथ पर द्वितीय समन्तभद्र ने 'चिन्तामणि' व्याकरणटिप्पण भी लिखा है। ग्रन्थप्रमाण के अनुसार यह व्याकरण उपयोगी होगा।

कन्नड़-भाषा का व्याकरण संस्कृत भाषा में अकलंक देव भट्ट ने लिखा है। इस व्याकरण का नाम "शब्दानुशासन" है। कन्नड़ भाषा और साहित्य के विद्वानों में इस ग्रन्थ का बड़ा सम्मान है। आज भी यह व्याकरण अपनी उपयोगिता के कारण लोकप्रिय है। जैनाचार्यों ने कन्नड़ का व्याकरण कन्नड़ भाषा में भी लिखा है। कन्नड़-साहित्य और कन्नड़-व्याकरण को समृद्धिशाली बनाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है।

भावसेन का मनोरमा व्याकरण, केशवराज का शब्दमणि व्याकरण, तपागच्छ के आचार्य राजविजय सूरि के शिष्य दानविजय का शब्दभूषण, मलयगिरि का शब्दानुशासन, दुर्गसिंह का शब्दानुशासन, तपागच्छ के आचार्य विजयनन्द के शिष्य हेमहंस विजय का "शब्दार्थचन्द्रिका" व्याकरण प्रभृति जैन-व्याकरण-साहित्य की अमूल्य निधियाँ हैं।

पूर्णतलियागच्छ के आचार्य देवनन्द की सिद्ध सारस्वत टीका तथा खरतर गच्छीय हेमचन्द्र उपाध्याय के शिष्य सहजकीर्ति का सिद्ध शब्दार्णव, पुण्यसुन्दर का स्वरवर्णानुक्रम धातुपाठ, धनरत्न के शिष्य नयसुन्दर का रूपरत्नमाला, कल्याणसागर सूरि का लिंग-निर्णय, शबरस्वामी का लिंगानुशासन, दुर्गसिंह का लिंगानुशासन तथा जयनन्दन सूरि का लिंगानुशासनोद्धार भी व्याकरण संबंधी ग्रंथ हैं। अर्हनन्दी के शिष्य त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसका आधार हेमचन्द्र का प्राकृत शब्दानुशासन ही है।

इन व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने सारस्वत व्याकरण पर कई टीकाएँ लिखी हैं। कुछ विद्वान् तो अजितसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन को ही इस व्याकरण का रचयिता मानते हैं। युधिष्ठिर मीमांसक ने भी अपने व्याकरण-साहित्य के इतिहास में इस ओर संकेत किया है। हमें लगता है कि इसी कारण इस पर अनेक टीकाएँ जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हुई हैं। नागपुरीय तपागच्छ के आचार्य चन्द्रकीर्ति की सं० १६६४ में लिखी गयी इस व्याकरण की प्रसिद्ध टीका है।

जैन-व्याकरण-साहित्य की उपलब्धियाँ :—

१. शब्द की अनेकान्तात्मकता—अनेक धर्मात्मक होने के कारण स्याद्वाद द्वारा शब्दों की सिद्धि पर जोर दिया। जैनेतर वैयाकरण शब्द में वाच्य-वाचक सम्बन्ध को मानकर भी दोनों को स्वतन्त्र मानते हैं। वाचक के रूप में परिवर्तन हो जाने पर भी वाच्य के रूप में कोई परिवर्तन नहीं मानते। पर जैन शाब्दिकों का मत है कि वाचक में लिंग, संख्या आदि का जो

परिवर्तन होता है, वह स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु अनन्त धर्मात्मक बाह्य वस्तु के आधीन है अर्थात् जिन धर्मों से विशिष्ट वाचक का प्रयोग किया जाता है, वे सब धर्म वाच्य में रहते हैं।

२. वैदिक शब्दों का अनुशासन करनेवाले पाणिनीय व्याकरण के पंजे से छुड़ाकर लौकिक भाषा के स्वरूप निर्धारण में अधिक-से-अधिक योगदान देनेवाले शब्दानुशासनों का निर्माण कर गतिशील भाषा को स्थिर या मृत न बनाकर उसकी गतिशीलता में ही सहायक होना।

३. पाणिनीय तन्त्रों का मन्थन कर सारभूत रत्नों को उपस्थित किया, जिससे अध्येताओं के समय और श्रम की वचत हुई।

४. उदाहरणों में उन ऐतिहासिक प्रयोगों और स्थानों के नामों को सुरक्षित रक्खा, जिनसे आज भी देश के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा इतिहास की अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

५. उन साम्प्रदायिक शब्दों का साधुत्व प्रतिपादित किया, जिनकी अवहेलना अन्य सम्प्रदाय वाले वैयाकरण करते आ रहे थे।

६. उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों, जैन राजाओं, जैन महापुरुषों और जैन ग्रन्थकारों के नाम सन्निविष्ट किये तथा उक्त शब्दों की व्युत्पत्तियाँ बतलायीं।

७. शब्दों में स्वाभाविक रूप से अनन्त शक्तियाँ स्वीकार कीं, फलतः एकशेष का त्याग कर अनेकशेष का निरूपण किया। यतः जैनेतर वैयाकरणों के अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्ति का कथन करता है, अतः बहुत से व्यक्तियों का बोध करना हो, तो बहुत से शब्दों का प्रयोग करके "सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ" १।२।६४ सूत्र के अनुसार एक शेष किया जाता है। बहुवचन में एक रूप के शेष रहने पर बहुवचन बोधक प्रत्यय लगाकर बहुवचन शब्द बना लिया जाता है। अतएव व्यक्ति और जाति के स्वतन्त्र रूप से पृथक होने के कारण एक शेष आवश्यक है।

जैन वैयाकरण शब्द को अनेक धर्मात्मक मानते हैं, अतः एक ही शब्द परिस्थिति विशेष में विशेषण, विशेष्य, पुल्लिग, स्त्रीलिंग, कर्ता, कर्म, करण आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण शब्द अनन्त धर्मात्मक वस्तु का वाचक है, उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न जाति, किन्तु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वाच्य है। अतः एकशेष मानने की आवश्यकता नहीं। यतः "शब्द स्वभाव से ही एक, दो या बहुत व्यक्तियों का कथन करता है।

८. जैन शब्दानुशासनों के पंचांगपूर्ण होने के कारण अनुशासन में लाघव और स्पष्टता।

९. वर्णित विषय के क्रम विवेचन की मौलिकता।

१०. विकारों के उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का निरूपण।

११. विषय विवेचन में वैज्ञानिकता और मौलिकता का सन्निवेश।

१२. ग्रन्थनशैली की महनीयता।

१३. संस्कृत भाषा में जैन शब्दानुशासनों का प्रणयन उस समय हुआ, जब पाणिनीय व्याकरण का सांगोपांग विवेचन हो चुका था। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतंजलि जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धान्तिक गवेषणाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार जैन वैयाकरणों के समक्ष पाणिनि की अनुपलब्धियाँ और अभावपूर्तियाँ भी वर्तमान थीं। फलतः जैन आचार्यों ने उन सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासनों को पूर्ण एवं समयानुकूल बनाया।

१४. पाणिनीय तन्त्रकारों ने शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों, आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध उन्होंने वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी जुटाये रखा है, जिसके कारण श्रेण्य संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में क्लेश आ जाता है। जैन वैयाकरणों ने उन्हीं अनुबन्धों को ग्रहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। अतः स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र में भले ही साथ-ही-साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता गया, किन्तु श्रेण्य संस्कृत का सुबोध अनुशासन जैन वैयाकरणों द्वारा ही हुआ।

१५. जैनाचार्यों ने समयानुसारिणी अनुशासन व्यवस्था को अपनाया, फलतः उनके नियमों में सरलता, संक्षिप्तता और वैज्ञानिकता का रहना।

१६. संस्कृत भाषा के अनुशासन के साथ प्राकृत भाषा का अनुशासन भी लिखा गया।

१७. वाक्य विचार, रूप विचार, सम्बन्धतत्व और अर्थतत्व का विश्लेषण, ध्वनितत्व, ध्वनिपरिवर्तन के कारण, वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, अपिश्रुति, स्वरभक्ति समीकरण एवं विषमीकरण सम्बन्धी भाषाविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन ।

१८. शब्द के कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्व की मौलिक उद्भावनाएँ ।

१९. भाषा के विशाल और विराट् भाण्डार का दर्शन ।

२०. पुरातन और नूतन नियमों का समन्वय ।

२१. प्राचीन गणपाठ, शिक्षासूत्र, परिभाषाओं एवं सूत्रपाठ की परम्पराओं का संरक्षण ।

संदर्भ तालिका

१. देखें—बोपदेव द्वारा विरचित मुग्धबोध ।

२. देखें—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ के अन्तर्गत "पाइय साहित्य का सिंहावलोकन" शीर्षक निबन्ध, पृ० ४१६ तथा "पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृ० ५५ ।

३. यशस्तिलक चम्पू की श्रुतसागर सूरि की टीका में "प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्र रचना चंचुना" यह उल्लेख आया है तथा षट्पाहुड की संस्कृत टीका में प्राकृत सूत्रार्थ उद्धृत किये हैं ।

४. देखें—जैनेन्द्र महावृत्ति की डा० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका पृ० ७

५. देखें—जैन-साहित्य और इतिहास के अन्तर्गत "देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण" शीर्षक निबन्ध, पृ० २७

६. देखें— उपर्युक्त ग्रंथ पृ० २८–३०

७. जैनेन्द्र महावृत्ति का "जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके निबन्ध, पृ० ४३, ४४ तथा स्ट्रक्चर ऑफ दि अष्टाध्यायी भूमिका पृ० १३

८. जैनेन्द्र महावृत्ति प्रस्तावना भाग, पृ० ४७–४८

९. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतं प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षिति, श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम् । टीकामालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्र शब्दागमं, प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात् ।।—अन्तिम पद्य

१०. श्री पूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम् ।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं, सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम् ।। (मंगलाचरण, चित्र चन्द्रिका)
तथा नन्दि की प्रशंसा चुरादि धातुपाठ के अन्त में —"शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधि गुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्यः" शब्दब्रह्मा विशेषण देकर की गयी है ।

११. सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर—पैराग्राफ ३०

१२. विशेष जानकारी के लिये देखें—जैन साहित्य और इतिहास पृ० १६५–१६६ ।

१३—१४. शाकटायनीय सूत्र के अन्तिम पद्य ।

१५. हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः ।
वन्द्यो दयापाल मुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः ।
श्रवणबेल्गोल का ५४ वां शिलालेख ।

१६. देखें—पं० गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' पृ० ४४८ ।

१७. अकारादिहसीमानं, वर्णाम्नायं वितन्वता ।
ऋषभेणार्हताद्येन स्वनामाख्यातमादितः ।।
यत्रार्हंपद संदर्भाद् वर्णाम्नायः प्रतिष्ठितः ।

तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमोनमः ॥
ब्राह्मा कुमार्या प्रथमं सरस्वत्याप्यधितिष्ठितम् ।
अर्हं पदं संस्मरन्त्या तत् कौमारमधीयते ॥
कुमार्या अपि भारत्या अंगन्यासेप्ययं क्रमः ।
अकारादिह पर्यन्तस्ततः कौमारमित्यदः ॥ —कातन्त्र रूपमाला के अन्तिम श्लोक ।

१८. भावसेन त्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिना ।
कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यत ॥
मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं, भावसेनमुनीश्वरः ।
कातन्त्ररूपमालाख्यां वृत्तिं व्यररचत्सुधीः ॥ —रूपमाला के अन्तिम पद्य ।

१९. देखें—प्रशस्तिसंग्रह पृ० १९८–२०० ।

जैन कोश-साहित्य

(ले०—प्रो० नेमिचन्द्र जैन, एम० ए०, ज्योतिषाचार्य, आरा)

किसी भी भाषा के शब्दसमूह का रक्षण और पोषण कोश-साहित्य द्वारा ही संभव है। कोश की महत्ता के संबंध में बतलाया गया है—

कोशश्चैव महीपानां कोशश्च विदुषामपि ॥
उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन विना भवेत् ॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रों का कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता है, कोश के अभाव में शासन-सूत्र के संचालन में क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानों को शब्दकोश के बिना अर्थग्रहण में क्लेश होता है। शब्दों में संकेतग्रहण की योग्यता कोशसाहित्य के द्वारा ही प्रतीत होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकार के उपयोगी और सार्वजनीन साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किन कारणों से उत्पन्न होता है? कोशगत शब्दसम्पत्ति पर जैन, बौद्ध और वैदिक विचारधाराओं की साम्प्रदायिक छाप किस प्रकार संभव है? ऐसा तो कभी संभव नहीं होता कि जैन आम्नाय में शब्दों का प्रयोग किसी अर्थ में होता हो और इतर आम्नाय में अन्य किसी अर्थ में। जल शब्द का अर्थ मानवमात्र के लिये पिपासा शान्त करने वाला शीतल पदार्थ है, न कि जैन आम्नायवालों के लिए किसी भिन्नार्थ का द्योतक। अतः कोश-साहित्य में साम्प्रदायिक भेद किस प्रकार संभव है? इस प्रश्न का समाधान निम्न निष्पत्तियों के आधार पर सहज ही किया जा सकता है।

१. प्रत्येक दर्शन की अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओं के अनुसार शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरण से प्रभावित रहती है; अतः इन शब्दावलियों का तात्त्विक अर्थ उस सम्प्रदाय के आचार्य ही अवगत कर पाते हैं। फलतः जैन-दर्शन के प्रकाश में शब्दों के अर्थों का विवेचन जैन कोशों में ही संभव है।

२. प्रत्येक दर्शन या आम्नाय में आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दों का गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावों की अभिव्यंजना में सफल नहीं हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उपर्युक्त प्रकार की शब्दावलियों का चयन करते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि अर्हत्, जिन, नाभिज, वर्गणा, द्रव्य, नारायण प्रभृति सहस्रों ऐसे शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द अमरकोश, वैजयन्ती, मेदिनी, विश्वप्रकाश कोश आदि में नहीं हैं। जैन कोशकारों ने साधारणीकरण के धरातल पर उतर कर ऐसे कोशों का निर्माण किया, जो सब के लिये समान रूप से उपादेय हो सकते हैं।

३. अपने सम्प्रदाय में प्रयुक्त होनेवाले पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या, संकलन और प्रतिपादन करना भी साम्प्रदायिक कोशों का एक लक्ष्य है।

४. साम्प्रदायिक क्षितिज में आविष्ट व्यक्तियों के नाम, वस्तुओं के नाम तथा भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियों के अर्थों का निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशों में ही संभव है।

५. प्रत्येक धर्म का किसी एक भाषा के साथ घनिष्ट संबंध रहता है। वह भाषा उस सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों की अपनी भाषा मान ली जाती है, यथा वैदिक-धर्म के लिये संस्कृत, बौद्ध-धर्म के लिये पालि एवं जैन-धर्म के लिये प्राकृत। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने धर्मग्रन्थों में व्यवहृत भाषा के कोशग्रन्थ भी लिखते हैं। यही कारण है कि जैन कोशकारों ने संस्कृत के कोशग्रन्थों के साथ प्राकृत और देशी भाषा में भी कोशग्रन्थों की रचना की है।

जैन कोश-साहित्य की उत्पत्ति और विकास :—

द्वादशांगवाणी के अन्तर्गत सभी प्रकार का साहित्य सन्निविष्ट हो जाता है, अतः कोशसाहित्य की रचनाएँ भी सत्यप्रवादपूर्व और विद्यानुवाद की पाँच सौ महाविद्याओं में से अक्षर विद्या में सम्मिलित हैं। आरम्भ में एकादश अंगों, चतुर्दशपूर्वों

भाष्य, चूर्णियां, वृत्तियों एवं विभिन्न प्रकार की टीकाएँ ही कोश-साहित्य का काम करती रहीं। कालान्तर में जब चूर्णियों और भाष्यों के शब्दार्थों की पूर्णतः जानकारी न रही, तो शब्दकोशों की आवश्यकता प्रतीत हुई।

सबसे पहले कौन सा जैन या जैनेतर कोश लिखा गया, यह कहना कठिन है। उपलब्ध जैन कोश-साहित्य में धनंजय कवि की नाममाला ही सबसे प्राचीन है। यद्यपि ई० की पांचवीं और छठी शताब्दी में कोश का स्वरूप निश्चित हो चुका था। संघदास गणी की वसुदेव हिण्डी के "चत्तारि अट्ठ" वाली गाथा के १४ अर्थ किये गये हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थकोश की बुनियाद हैं। जैनों में प्रचलित द्विसंधान 'चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान जैसे अनेकार्थक काव्यों की परम्परा इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जैनों में कोश-साहित्य का सृजन भाष्य और वृत्तियों के पश्चात् तत्काल में ही हुआ होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है, जब कोशों में शब्दों के विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिये जाते हैं। एक-एक श्लोक के सौ-सौ अर्थों की अभिव्यंजना करना साधारण बात नहीं है।

महाकवि धनंजय के कोश विषयक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नाममाला, अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित द्विसन्धानकाव्य और विषापहार स्तोत्र भी हैं। द्विसन्धान काव्य के अन्तिम श्लोक की टीका से अवगत होता है कि इनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्री देवी और गुरु का नाम दशरथ था। ये गृहस्थ थे। इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में सुदृष्टितरंगिणी की ४१ वीं तरंग से ज्ञात होता है कि ये प्रसिद्ध अमरकोशकार अमर कवि के साले थे। शोलापुर निवासी स्व० सेठ रावजी सखाराम जी दोशी महोदय ने अमरकोश सम्बन्धी एक ट्रेक्ट प्रकाशित किया था, जिसकी भूमिका में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया था कि अमरकोशकार जैन हैं।

नाममाला के अन्त में प्राप्त होने वाले निम्न श्लोक से कवि की कीर्ति "द्विसन्धानकवि" के नाम से व्याप्त थी।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकलंकदेव का प्रमाणशास्त्र, पूज्यपाद का लक्षण-व्याकरणशास्त्र और द्विसन्धान कवि का द्विसन्धानकाव्य—ये तीनों अपूर्व रत्नत्रय हैं। वादिराज सूरि ने पार्श्वनाथ चरित के प्रारम्भ में द्विसन्धान काव्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः।
वाणाधनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्येव प्रियाः कथम्॥

धनंजय के द्वारा कहे गये अनेक सन्धान-अर्थभेदवाले और हृदयस्पर्शी वचन कानों को ही प्रिय क्यों लगेंगे, जब कि अर्जुन के द्वारा छोड़े जाने वाले अनेक लक्ष्यों के भेदक मर्मभेदी वाण कर्ण को प्रिय नहीं लगते।

इससे स्पष्ट है कि शब्द के अर्थ और उनके समुचित प्रयोग का वैदग्ध्य इन्हें पूर्णतया प्राप्त था। नाममाला का अन्तिम श्लोक भी उक्त तथ्य का साक्षी है—

ब्रह्माणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल—
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदी व्याजात् तथा केशवम्।
अप्यम्भोनिधि शायिनं, जलनिधिः ध्वानोपदेशादहो,
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीड़िताः॥

धनंजय के भय से पीड़ित होकर शब्द ब्रह्माजी के पास जाकर वेदों के निनाद के छल से, हिमालय पर्वत के स्थान में रहने वाले महादेवजी को प्राप्त होकर, उनके प्रति स्वर्ग की गंगा की ध्वनि के मिष से एवं समुद्र में शयन करने वाले विष्णु के प्रति समुद्र की गर्जना के छल से जाकर पुकारते हैं, यह नितान्त आश्चर्य की बात है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाकवि धनंजय का शब्दों के ऊपर पूरा अधिकार है।

धनंजय के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। स्व० श्री नाथूरामजी प्रेमी ने बनारसीविलास की उत्थानिका में ध्वन्यालोक के कर्ता आनन्दवर्धन और हर्षचरित के कर्ता रत्नाकर द्वारा धनंजय की स्तुति किये जाने की बात कही है। आनन्दवर्धन का समय ई०८४०–७० एवं रत्नाकर का समय ई० ८१३–५० है। अतः महाकवि धनंजय का समय ई० ८१३ से पहले होना चाहिए।[1]

उपर्युक्त कथन की पुष्टि आदरणीय डाक्टर हीरालालजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम् प्रथम भाग की प्रस्तावना[1] से भी होती है। डाक्टर साहब ने सूचित किया है कि जिनसेन के गुरु वीरसेन स्वामी ने धवला टीका पृ० ३८७ पर अनेकार्थ नाममाला का "हेतावेवं प्रकाराद्यैः" श्लोक उद्धृत किया है। धवला टीका सन् ८१६ में समाप्त हुई थी, अतः धनंजय का समय ई० ८१६ के पहले होना तर्क सम्मत है।[1]

नाममाला :—

यह छात्रोपयोगी सरल और सुन्दर शैली में लिखा गया कोश है। इसमें व्यवहार में प्रयुक्त होनेवाले सभी आवश्यक पर्यायवाची शब्दों का संकलन किया गया है। महाकवि धनंजय ने २०० श्लोको में ही संस्कृत भाषा की आवश्यक शब्दावली का चयनकर गागर में सागर भर देने की कहावत चरितार्थ की है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की इनकी प्रक्रिया निराली है। अमरकोश, वैजयन्ती प्रभृति किसी भी कोशकार ने इस पद्धति को नहीं अपनाया है। इस पद्धति का सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी से ही दूसरे प्रकार के पर्यायवाची शब्दों की जानकारी सहज में हो जाती है। जैसे पृथ्वी के नामों के आगे 'धर' या धर के पर्यायवाची शब्द जोड़ देने से पर्वत के नाम; 'पति' शब्द या पति शब्द के समानार्थक स्वामिन् आदि शब्द जोड़ देने से राजा के नाम एवं 'रुह' शब्द जोड़ देने से वृक्ष के नाम हो जाते हैं। इसी प्रकार 'जल' शब्द के नामों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से मछली के नाम, वृक्ष शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'चर' शब्द जोड़ देने से बन्दर के नाम, जल शब्द के पर्यायवाची शब्दों के आगे 'प्रद' शब्द जोड़ देने से बादल के नाम, 'उद्भव' शब्द जोड़ देने से कमल के नाम एवं 'धर' शब्द जोड़ देने से समुद्र के नाम बन जाते हैं। महाकवि धनंजय ने अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इस कोश को अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बनाया है। इस कोश में कुल १७०० शब्दों के अर्थ दिये गये हैं।

इस कोश पर अमरकीर्ति का भाष्य भी विद्यमान है। अमरकीर्ति का समय १५ वीं शती माना गया है। इन्होंने नाममाला में आए हुए समस्त शब्दों की व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं। इन व्युत्पत्तियों से शब्दों का सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने में बड़ी सहायता मिलेगी।

अनेकार्थ-नाममाला और अनेकार्थ-निघण्टु :—

अनेकार्थ-नाममाला में एक शब्द के अनेक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ४६ पद्य हैं और अघ, अज, अंजन, अथ, अद्रि, अनन्त, अन्त, शब्द, अर्क, इति, कदली, कम्बु, केतन, कीलाल, कैवल्य, कोटि, क्षीर प्रभृति सौ शब्दों के नाना अर्थों का संकलन किया गया है। मंगलाचरण के पश्चात् कवि ने कहा—

गम्भीरं रुचिरं चित्रं विस्तीर्णार्थं प्रसाधकम्।
शाब्दं मनाक् प्रवक्ष्यामि कवीनां हितकाम्यया॥

कवियों की हितकामना की दृष्टि से गम्भीर, सुन्दर, विचित्र और व्यापक अर्थ को प्रकट करनेवाले कतिपय शब्दों का निरूपण करता हूँ।

अनेकार्थ निघण्टु में २६८ शब्दों के विभिन्न अर्थों का संकलन किया गया है। रचना शैली की दृष्टि से यह कोश साधारण स्तर का है। इसकी श्लोक संख्या १५४ है। एक-एक शब्द के तीन-तीन चार-चार अर्थ बतलाये गये हैं। अनेकार्थ निघण्टु पर अमरकीर्ति का भाष्य नहीं है।

पाइअलच्छी-नाममाला :—

प्राकृत भाषा में भी शब्दकोशों की रचना जैनाचार्यों ने की है। अभिमानचिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण, धनपाल और हेमचन्द्र के नाम इस दिशा में गौरव के साथ लिये जाते हैं। यद्यपि आज उपर्युक्त सभी रचियिताओं की रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं, कुछके नामोंकी मात्र सूचना ही मिलती है, तो भी धनपाल कवि की "पाइअलच्छी-नाममाला, प्राकृत भाषाके लिये एक अच्छा कोश है। महाकवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपनी प्रशस्ति निम्नप्रकार दी है—

विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
मालवरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥
धारानयरीए परिट्ठएण मग्गेठिआए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठबहिणीए; 'सुन्दरी' नामधिज्जाए॥

कइणो अंधजणकिवा कुसलत्ति पयाण भंतिमावण्णा ।
नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी ॥
कव्वेसु जे रसड्ढा सद्दा बहुसा कईहि बज्झन्ति ।
ते इत्थ मए रइया रमंतु हिअए सहिअयाणं ॥

अर्थात् विक्रम संवत् १०२९ में जब कि मालवनरेन्द्र को निर्वासित कर दिया गया था, धारानगरी के अन्तर्गत मान्खेड गाँव में कवि धनपाल ने अपनी छोटी बहन सुन्दरी के लिये इस निर्दोष ग्रन्थ की रचना की । जो काव्यों का रसास्वादन करनेवाले हैं, वे कवियों के द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकार की शब्दावली को इस कृति के द्वारा अवगत कर सकेंगे ।

धनपाल कवि का उल्लेख कवि हेमचन्द्र ने "अभिधान चिन्तामणि" की स्वोपज्ञ टीका में "व्युत्पत्तिर्धनपालत:" कहकर किया है । अत: यह सिद्ध है कि कोषकार धनपाल, हेमचन्द्र के समय तक पर्याप्त यश अर्जन कर चुके थे ।

इनके पिता का नाम सर्वदेव था । ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे । इनका मूल निवास स्थान 'शंकास्य' नामक ग्राम था । ये आजीविका के निमित्त धारा नगरी में आये थे । इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे । आधी आयु बीत जाने पर वे महेन्द्र-सूरि के निकट जैन-धर्म में दीक्षित हुए थे । इन्होंने धारा नगरी में जैनों के प्रवेश पर लगी हुई रोक को हटवाया था । जैन होने के उपरान्त ही धनपाल ने 'पाइअलच्छी-नाममाला'की रचना की ।

यह पद्यबद्ध कोश है, इसमें कुल २७५ गाथाएँ और ९९८ शब्दों के पर्याय संग्रहीत हैं । इस कोश में संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द, इन दोनों प्रकार के शब्दों का संकलन किया गया है । उदाहरण के लिये भ्रमर के पर्याय-वाची शब्दों को लिया जाता है ।

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो ।
इंदिंदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥११॥

अर्थ—फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिंदिर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर ये ११ नाम भ्रमर के हैं । इन ग्यारह शब्दों में फुल्लंधुअ, रसाऊ, भसल, इंदिंदिर और धुअगाय ये पाँच शब्द देशी हैं । यों तो फुल्लंधुअ की व्युत्पत्ति पुष्पन्धय और रसाऊ की रसायुष् की जा सकती है और पुष्पन्धय का अर्थ भी पुष्परस का पान करने वाला भ्रमर होगा, किन्तु ये दोनों शब्द देशी ही हैं ।

सुन्दर शब्द के पर्यायवाचियों में भी लट्ठं का प्रयोग किया है । यह भी देशी शब्द है । इस कोश में कुछ ऐसे भी देशी शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग आज भी लोकभाषाओं में होता है । उदाहरण के लिये अलस या आलस के पर्यायवाचियों में एक मट्ठ शब्द आया है । ब्रजभाषा में आज भी आलसी के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग होता है । इसी प्रकार नूतन पल्लवों के अर्थ में कुंपल शब्द का प्रयोग किया गया है । यह शब्द ब्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ी बोली इन तीनों में प्रयुक्त होता है । इस प्रकार इस कोष में अनेक ऐसे देशी शब्द संग्रहीत हैं, जिनका प्रयोग आज भी आर्यभाषाओं में पाया जाता है ।

इस कोश के अन्त में प्रत्ययों के अर्थ बतलाये गये हैं । इर प्रत्यय को स्वभावसूचक और इल्ल, इत्र, आल प्रत्यय को मत्वर्थक बताया गया है । इस तरह कोशकार ने इसे सभी प्रकार से उपयोगी बनाने का उपक्रम किया है ।

पाइअलच्छी-नाममाला के उपरान्त कोशकारों में कालक्रमानुसार हेमचन्द्र का नाम आता है । इनका जन्म अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित धुंधका नगर में विक्रम संवत् ११४५ में कार्तिकी पूर्णिमा की रात्रि में हुआ था । इनके पिता का नाम चाचिग और माता का नाम पाहिणी देवी था । इनका जन्म नाम चांगदेव और दीक्षा नाम सोमचन्द्र था । इन्होंने आचार्य देवचन्द्र से बचपन में ही दीक्षा धारण की थी, । सूरिपद प्राप्त होने के पश्चात् ये हेमचन्द्र कहलाये । इनकी विद्वत्ता से सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों ही प्रभावित थे । अगाध पांडित्य के कारण ही ये कलिकाल सर्वज्ञ कहलाते थे । इन्होंने चार कोश ग्रन्थों की रचना की है—अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टु और देशीनाममाला । इनमें से प्रथम तीन संस्कृत भाषा के कोष हैं और चौथा देशी शब्दों का संग्रह है । निघण्टु तो वनस्पतिशास्त्र का कोश है ।

अभिधानचिन्तामणि :—

संस्कृत के उपलब्ध समस्त जैनकोश-साहित्य में अभिधान चिन्तामणि ही एक ऐसा कोश है, जिसमें जैनत्व पूर्णरूपेण सुरक्षित है । इसमें तीर्थंकरों के नाम, प्रत्येक तीर्थंकर के पर्यायवाची शब्द, तीर्थंकरों के मातापिताओं के नाम, तीर्थंकरों के अति-

चार्यों की नामावली, भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन चौबीसी, गणधरों के नाम, तीर्थंकरों के ध्वजचिह्न, अन्तिम केवली, श्रुतकेवली, तीर्थंकरों की जन्मभूमियाँ तथा जैन आम्नाय द्वारा सम्मत देवगति, तिर्यंचगति के जीवों का वर्णन किया गया है। चतुर्थकाण्ड में पृथ्वीकायिक जीव पर्याय, अप्कायिक जीव पर्याय, तेजकायिक जीव पर्याय, वायुकायिक जीव पर्याय और वनस्पतिकायिक जीव पर्याय का विस्तृत निरूपण किया है। द्वीन्द्रियजीवों की नामावली चार श्लोकों में दी गई है और त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की नामावली भी पूरे विस्तार के साथ लगभग २० श्लोकों में वर्णित की गयी है। यहाँ उदाहरण के लिये दो इन्द्रिय जीवों के पर्यायवाची शब्दों को उद्धृत किया जाता है।

नीलंगुः कृमिरन्तर्जः क्षुद्रकीटो बहिर्भव।
पुलकास्तूभये ऽपिस्युः कीकसाः कृमयो ऽणवः॥
काष्ठकीटो घुणः गण्डूपदः किंचुलकः कुसूः।
भूलता गण्डूपदी तु शिली अस्त्रपा जलौकसः॥
जलालोका जलूका च जलौका जलसर्पिणी।
मुक्तास्फोटो ऽब्धिमंडूकी शुक्तिः कम्बुस्तुवारिजः॥
त्रिरेखः षोडशावर्तः शंखः अथ क्षुद्रकम्बवः।
शंखनकाः क्षुल्लकाश्च शम्बूकास्त्वम्बुमात्रजाः॥

कृमि, नीलंगु, क्षुद्रकीट, पुलक, अणुकृमि, कीकस, काष्ठकीट, घुण, गण्डूपद, किंचुलक, कुसू भूलता, गण्डूपदी, शिली, अस्त्रपा जलौकस, जलालोक, जलूक, जलौक, जलसर्पी, मुक्तस्फोट, अब्धिमंडूकी, शुक्ति, कम्बु, शंख, वारिज, त्रिरेखा, षोडशावर्त, क्षुद्रकम्बव, शंखनक, क्षुल्लक, शम्बूक, कर्पद, हिरण्य, पणास्थिक, वराणट, दुर्नाम और दीर्घकोश ये द्वीन्द्रिय जीवोंके पर्यायवाची हैं।

ऊहापोह करने पर प्रतीत होगा कि इस प्रकार के पर्यायवाची शब्दों का कथन किसी भी कोश में नहीं किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की यह अत्यन्त मौलिकता है कि इन्होंने भूमिकाण्ड में त्रस और स्थावरोंके पर्यायवाची शब्दों का इतने विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। संस्कृत भाषा के किसी भी कोश में इतने पर्यायवाची शब्दों का समावेश नहीं मिलेगा।

इस पद्यमयकोश में कुल छः काण्ड हैं। प्रथम देवाधिदेव नाम का काण्ड है, इसमें ८६ पद्य हैं। द्वितीय देवकाण्ड है, इसमें २५० पद्य हैं। तृतीय मर्त्यकाण्ड में ५९८ पद्य, चतुर्थ भूमिकाण्ड में ४२३ पद्य, पंचम नारककाण्ड में ७ पद्य एवं षष्ठ सामान्य काण्ड में १७८ पद्य हैं। इस प्रकार कुल १५४२ श्लोक इस कोश में हैं। हेमचन्द्र ने आरम्भ में ही रूढ़, यौगिक और मिश्र शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखने की प्रतिज्ञा की है। उन्होंने बतलाया है—

व्युत्पत्ति रहिताः शब्दा रूढ़ा आखण्डलादयः।
योगो ऽन्वयः स तु गुण क्रिया सम्बन्ध संभवः॥
गुणतो नीलकण्ठाद्याः क्रियातः स्रष्टसन्निभाः।

व्युत्पत्तिरहित शब्द रूढ़ कहलाते हैं, जैसे आखण्डल इत्यादि। जिन शब्दोंके प्रकृति प्रत्ययमें अर्थानुगमन होता है, वे यौगिक कहलाते हैं। यह योग गुण, क्रिया और अन्य सम्बन्धों के कारण होता है। गुण के सम्बन्ध के कारण जिन शब्दों का व्यवहार होता है, वे नीलकंठ, शितिकंठ, कालकंठ प्रभृति हैं। क्रिया का योग जिन शब्दों में रहता है, वे शब्द स्रष्टा, विधाता आदि हैं।

इतर सम्बन्ध में स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव, कार्यकारकभाव, भोज्यभोजकभाव, पतिकलत्रभाव वाह्यवाहकभाव ज्ञातिसम्बन्ध, आश्रयाश्रियिभाव एवं वध्यवधकभाव को ग्रहण किया गया है और इन्हीं सम्बन्धों के अनुसार पर्याय शब्दों का कथन किया है। इसके पश्चात् अन्यान्य व्युत्पत्तिजन्य पर्यायों का प्रतिपादन किया है।

इस कोश में निम्न मौलिकताएँ और भी उपलब्ध होती हैं। सबसे पहली मौलिकता तो यह है कि हेमचन्द्र ने भी धनंजय के समान शब्दयोग से अनेक पर्यायवाची शब्दों के बनाने का विधान किया है, किन्तु इस विधान में "कविरूढ्या ज्ञेयोदाहरणावली" के अनुसार उन्हीं शब्दों को ग्रहण किया गया है, जो कवि सम्प्रदाय में प्रचलित हैं। जैसे पतिवाचक शब्दों से कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एवं निमा शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पत्नी के नाम और कलत्रं-वाचक शब्दों में वर, रमण, प्रणयी, श एवं प्रिय शब्दों को या इनके समान अन्य शब्दों को जोड़ देने से पतिवाचक शब्द बन जाते हैं। गौरी के पर्यायवाची बनाने के लिये शिव शब्द में उक्त शब्द जोड़ने पर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू,

शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। निम का समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नहीं। यतः कवि सम्प्रदाय में यह शब्द ग्रहण नहीं किया गया है।

कलत्रवाची गौरी शब्द में वर, रमण प्रभृति शब्द जोड़ने पर गौरीवर, गौरीरमण गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते हैं, जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिव का वाचक है, उस प्रकार गंगावर शब्द नहीं। यद्यपि कान्तावाची गंगा शब्द में वर शब्द जोड़कर पतिवाचक शब्द बन जाते हैं, तो भी कवि सम्प्रदाय में इस शब्द की प्रसिद्धि नहीं होने से यह शिव के अर्थ में ग्राह्य नहीं है। हेमचन्द्र ने अपनी वृत्ति में इन सारी विशेषताओं को बतलाया है तथा 'शेषाश्च' में और भी अनेक कोशगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी मौलिकता इस कोश की यह है कि इसमें अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो अन्य कोशों में नहीं मिलते। अमरकोश में सुन्दर के पर्यायवाची सुन्दरम्, रुचिरम्, चारु, सुषमम्, साधुः शोभनम्, कान्तम् मनोरमम्, रुच्यं, मनोज्ञं, मंजुः, मंजुलम्, ये बारह शब्द आये हैं। हेम ने इसी सुन्दर के पर्यायवाची चारुः, हारिः, रुचिरं, मनोहरं, वल्गुः, कान्तं, अभिरामं, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यं, शुषमम्, शोभनं, मंजुलम्, मंजुः, मनोरमम्, साधुः, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलं, हृद्यं काम्यं, कम्रं कमनीयं, सौम्यं, मधुरं और प्रियं ये २६ शब्द बतलाये हैं। इतना ही नहीं हेम ने अपनी वृत्ति में 'लडह' देशी शब्द को भी सौन्दर्यवाची ग्रहण किया है इस प्रकार हेम ने एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों को ग्रहणकर अपने इस कोश को खूब समृद्धिशाली बनाया है। कुछ ऐसे नवीन शब्द भी इस कोश आये हैं, जिनका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। गेहूँ के आटे के लिये समिता (३।६७), जूठन के लिये फेला' और पिण्डोलि(३।९०) बड़ी साली के लिये ज्येष्ठश्वसा और कुली, छोटी साली के लिये हाली, यन्त्रणी और केलिकुंचिका (३।२१८–२१९) एवं बहुसन्तानवाली माता के लिये कुमिला (३।२२२) शब्द आया है। इन शब्दों के प्रयोगों से अवगत होता है कि हेमचन्द्र का शब्दज्ञान कितना विशाल था।

हेमचन्द्र ने अपने इस संस्कृत कोश में जिन शब्दों का संकलन किया है, उनपर प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषा के शब्दों का पूर्णतः प्रभाव लक्षित होता है। अनेक शब्द तो आधुनिक भाषाओं में भी दिखलायी पड़ते हैं। उदाहरण के लिये कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं:—

(१) पोलिका (३।६२) गुजराती में पोणी, ब्रजभाषा में पोनी।
(२) मोदको लड्डुकश्च (शेष ३।६४)—हिन्दी में लड्डू, गुजराती में लाडु।
(३) चोटी (३।३३१)—हिन्दी-चोटी, गुजराती-चोणी।
(४) समौकन्दुकगेन्दुकौ (३।३५३)–हिन्दी में गेन्द, ब्रजभाषा में गेंद।
(५) हेरिको गूढ़ पुरुषः (३।३९७) ब्रजभाषा हेर या हेरना–देखना, गुजराती हेर।
(६) तरवारि (३।४४६) ब्रजभाषा में तरवार, राजस्थानी में तलवार तथा गुजराती में तरवार।
(७) जंगलो निर्जलः (४।१९) ब्रजभाषा में जंगल, हिन्दी में जंगल।
(८) सुरंगातु सन्धिलास्याद् गूढ़मार्गोभुवोऽन्तरे(३।५१) ब्रजभाषा, हिन्दी तथा गुजराती तीनों में सुरंग।
(९) निश्रेणीत्वधिरोहणी (४।७८) ब्रजभाषा नसेनी, गुजराती नीसरणी।
(१०) चालनीतितड· ४।८४ ब्रज राजस्थानी व गुजराती में चालनी, हिन्दी में चलनी या छलनी।
(११) पेटास्यान्मयूजूषा (४।८१) राजस्थानी पेटी, गुजराती पेटी, पेटो तथा ब्रजभाषा में पिटारी, पेटी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि हेमचन्द्र की शब्दावली देशीभाषा की ओर विशेष झुकी हुई है।

अभिधानचिन्तामणि एक सर्वांगपूर्ण कोश है। इसके अध्ययन से संस्कृत भाषा के पाण्डित्य के साथ-साथ भाषा के नये मोड़ की जानकारी, भी प्राप्त हो सकती है।

अनेकार्थसंग्रहनामकोश :—

अभिधानचिन्तामणि में हेमचन्द्र ने एक शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द बतलाये हैं और इस कोश में एक शब्द के अनेक अर्थों का संकलन किया है। इसकी शैली भी अभिधान चिन्तामणि की ही है।इसमें सात काण्ड हैं। प्रथम एकस्वर काण्ड में १६० श्लोक, द्वितीय द्विस्वर काण्ड में ६०८।। श्लोक, तृतीय त्रिस्वर काण्ड में ८१४।। श्लोक, चतुर्थ चतुःस्वरकाण्ड में

३५९ श्लोक, पंचम पंचस्वरकाण्ड में ५७, षष्ठ षट्स्वरकाण्ड में ७ श्लोक एवं सप्तम अव्ययकाण्ड में ६८ श्लोक हैं। कुल १९३१ श्लोक हैं।

हेमचन्द्र के इस कोश का मेदिनीकोश और विश्वप्रकाश-कोश पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

निघन्टुशेषः—

यह वनस्पतिकोश है। इसमें भी छः काण्ड हैं। प्रथम वृक्ष काण्ड में १८१ श्लोक, द्वितीय गुल्मकाण्ड में १०५ श्लोक, तृतीय लताकाण्ड में ४४ श्लोक, चतुर्थ शाककाण्ड में ३४ श्लोक, पंचम तृणकाण्ड में १७ श्लोक और षष्ठ धान्यकाण्ड में १५ श्लोक हैं। समस्त निघण्टु में कुल ३९६ श्लोक हैं। इस कोश की वैद्यक शास्त्र के लिये अत्यधिक उपयोगिता है। अनेकार्थ-संग्रह की टीका के आरंभ में ही कहा गया है—

शास्त्राणिवीक्ष्य शतशो, धनवन्तरि निर्मितं निघण्टुं च।
लिंगानुशासनानि च क्रियतेनेकार्थटीकेयम् ॥

अर्थात् निघण्टु लिखने के समय हेमचन्द्र के समक्ष धनवन्तरि निघण्टु, राजकोश निघण्टु, सरस्वती निघण्टु प्रभृति औषधिकोश विद्यमान थे। हेमचन्द्र ने इन सभी कोषों का मन्थन कर एक नया निघण्टु तैयार किया है, इस कोश को डाक्टर ब्युल्हर ने श्रेष्ठ वनस्पतिकोश (Botanical Dictonary) माना है[१०]।

देशीनाममाला:—

हेमचन्द्र का देशी शब्दों का यह शब्दकोश बहुत महत्वपूर्ण और उपयोगी है। इस कोश के आधार पर आधुनिक आर्य-भाषाओं के शब्दों की सांगोपांग आत्मकहानी लिखी जा सकती है। प्राकृत भाषा का शब्दभण्डार तीन प्रकार के शब्दों से युक्त है—तत्सम, तद्भव और देशी। तत्सम से वे शब्द हैं, जिनकी ध्वनियाँ संस्कृत के समान ही रहती हैं, जिनमें किसी भी प्रकार का वर्णविकार उत्पन्न नहीं होता, जैसे नीर, कंक, कंठ ताल, तीर, देवी आदि। जिन शब्दों को संस्कृत ध्वनियों में वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार, अथवा वर्णपरिवर्तन के द्वारा अवगत किया जाये, वे तद्भव कहलाते हैं, जैसे अग्र=अग्ग, इष्ट=इट्ट धर्म=धम्म, गज=गय, ध्यान=झाण, पश्चात=पच्छा आदि जिन प्राकृत शब्दों की व्युत्पत्ति-प्रकृति प्रत्यय विधान, संभव न हो और जिनका अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित हो, ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहते हैं; जैसे अगय=दैत्य, आकासिय=पर्याप्त, इराव=हस्ती, पलविल धनाढ्य आदि। इस देशीनाममाला में इसी प्रकार के शब्दों का संकलन किया गया है।

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ॥
ण य गउण लक्खणा सत्ति संभवा ते इह निबद्धा ॥१–३।)
देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति ॥
तम्हा अणाइपाइअपयट्ठ भासाविसेसओ देसी ॥

जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पादित हैं और न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं, तथा लक्षणा शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, ऐसे शब्दों का संकलन इस देशी नाममाला में किया जा रहा है। देशी शब्दों से यहाँ महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि प्रदेशों में प्रचलित शब्दों का संकलन भी नहीं समझना चाहिये। यतः देशविशेष में प्रचलित शब्द अनन्त हैं अतः उनका संकलन संभव नहीं। अतएव अनादिकाल से प्रचलित प्राकृत भाषा के शब्द ही देशी शब्द हैं।

इस प्रकार हेमचन्द्र ने देशी शब्दों का आशय प्रकट कर अव्युत्पादित प्राकृत शब्दों के संकलन की प्रतिज्ञा की है। पर इसमें उपर्युक्त तीनों ही प्रकार के कुल ३९७८ शब्द संकलित हैं[११]।

तत्सम शब्द १००+गर्भित तद्भव १८५०+संशय युक्त तद्भव ५२८+अव्युत्पादित प्राकृत शब्द १५००=३९७८

इस कोश में उदाहरण के लिये ऐसी अनेक गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं जिनमें मूल में प्रयुक्त शब्दों को उपस्थित किया गया है इन गाथाओं का साहित्यिक महत्व भी कम नहीं है। कितनी ही गाथाओं में विरहिणियों की चित्तवृत्ति का सुन्दर अवलोकन किया गया है[१२]।

वर्णक्रम से लिखे गये इस कोश में आठ अध्याय हैं और कुल ७८३ गाथाएँ हैं। धनपाल कवि की 'पाइअलच्छी-नाममाला' प्राकृत के आरम्भिक अभ्यासियों के लिये है, किन्तु यह नाममाला प्रौढ़ विद्वानों के लिये भी उपयोगी है।

देशी नाममाला में मराठी", कन्नड़", गुजराती और ब्रजभाषा में प्रचलित अनेक शब्द मिलते हैं। अवधी भाषा में भी नाममाला में प्रयुक्त अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। यहाँ थोड़े से शब्दों की तालिका दी जा रही है।

(१) उल्ली तथा उद्दाणा चुल्लीइ १।८७—राजस्थानी चूल्हा, गुजराती चूलो।

(२) उत्थल्ला परिवर्तनम् १।९३—हिन्दी खड़ी बोली उथल, गुजराती उथल।

(३) उल्लुटं मिथ्या १।७९—ब्रजभाषा उलट, राजस्थानी उलटुं, गुजराती उलटुं।

(४) उड्डिदोमाषधान्यम् १।९८, ब्रजभाषा उड़द, भोजपुरी उरिद, खड़ीबोली उड़द, गुजराती उड़द और राजस्थानी उडिद।

(५) ओड्ढनम् उत्तरीयम् १।१५५, खड़ीबोली, राजस्थानी और गुजराती में ओढ़नी।

(६) खड्डा खनिः २।६६—खड़ीबोली खाड़ी, भोजपुरी खड्ढा, गुजराती खाड़ी, ब्रजभाषा खड्ढा, गड्ढा।

(७) खडक्की लघुद्वारम् २।७१—खड़ीबोली खिड़की, ब्रजभाषा खिड़की, भोजपुरी खिरकी।

(८) खट्टिको शौनिकः २।७०—ब्रजभाषा में खटिक, भोजपुरी में खाटके, गुजराती में खाटकी।

(९) खाइया परिखा २।७३—खड़ीबोली में खाई, राजस्थानी, गुजराती और भोजपुरी में भी खाई प्रयुक्त होता है।

(१०) खलइयं रिक्तं २।७१—खाली—भोजपुरी, ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती में इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

(११) छलिओ छइल्लो छप्पण्णो—इत्येते ययो ऽपि विदग्धार्थाः ३।२४—ब्रजभाषा में छलिआ धोखेबाज के अर्थ में, भोजपुरी में उस प्रेमी के अर्थ में जो प्रेमिका की वंचना करता है।

(१२) छल्लीत्वक् ३।२४ खड़ीबोली में, छाल।

(१३) छडा विद्युत् ३-२४—खड़ीबोली में छटा, राजस्थानी में छडा।

(१४) छासी तक्रम् ३।२६—ब्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ीबोली में छाछ।

(१५) छेंडी लघुरथ्या ३।३१—ब्रजभाषा में छेंड़ी शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(१६) छेलओ छागः ३।३२—भोजपुरी और ब्रजभाषा में छेर।

(१७) जोण्णलिआ जोवारी ३।५०—ब्रजभाषा में जुणरी, जुनरी, राजस्थानी और भोजपुरी में भी जुणरी और जुनरी प्रयुक्त होते हैं।

(१८) झडो निरन्तर वृष्टिः ३।५३—ब्रजभाषा, राजस्थानी और भोजपुरी इन तीनों भाषाओं में झड़ी शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

(१९) डालीशाखा ४।९—खड़ीबोली, ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती में डाली शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

(२०) डोला शिविका—४।११ खड़ीबोली, राजस्थानी और गुजराती में भी इसी अर्थ में डोला।

(२१) ढेंका कूपतुला ४।१७ भोजपुरी में इसी अर्थ में ढेंका।

(२२) ढेंकी बलाका ४।१५ भोजपुरी में धान कूटने के लिये प्रयुक्त ढेंकी।

(२३) णहरी क्षुरिका ४।२० ब्रजभाषा में नाखून काटनेवाली नहनी, भोजपुरी में नहरनी और खड़ीबोली में नेहरनी।

(२४) णीसणिआ निःश्रेणी। क प्रत्ययाभावे णीसणीत्यपि ४।४३—ब्रजभाषा में नसेनी शब्द इसी अर्थ में आया है।

कुछ ऐसे शब्द भी इस कोश में हैं, जिनके समकक्ष अन्य किसी भाषा में उन अर्थों को अभिव्यक्त करनेवाले शब्द नहीं मिलेंगे। उदाहरण के लिये चिव्वो (३।९) शब्द चिपटी या चपटी नाक के लिये, अज्झेली (१।७) शब्द दूध देनेवाली गाय के लिये, जंगा (३।४०) गोचरभूमि (Pasture land) के लिये, अण्णाणं (१।७) शब्द विवाह के समय वरपक्ष की ओर से वधू को दी जानेवाली भेंट के लिये, अंगुट्ठी (१।६) शब्द सिरगुत्थी के लिये और 'अनुवज्जिअ' शब्द जिसकी सेवा शुश्रुषा की जाती है, उसके लिये आया है। प्राकृत भाषा के साथ अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियों के शब्दों को अवगत करने के लिये यह कोश बहुत उपयोगी है। अंगालिय शब्द ईख के उस टुकड़े के अर्थ में आया है, जो निस्सार रहता है। जहाँ ईख की पत्तियाँ लगी रहती हैं, यह हिस्सा पशुओं के चारे के काम में आता है। इस अंगालिय शब्द से राजस्थानी और भोजपुरी इन दोनों बोलियों में अंगोला या अंगेरी शब्द आया है,। इस शब्द का अर्थ भी वही है, जो अंगालिय का है। हिन्दी के अनेक शब्दों का जिनकी व्युत्पत्ति आज सन्दिग्ध है, इस देशी नाममाला के शब्दों से संबंध जोड़ा जा सकता है।

विश्वलोचनकोश:—

श्रीधरसेन ने इस कोश की रचना की है। इसका दूसरा नाम मुक्तावलिकोश भी है। कोश की प्रशस्ति[१५] के अनुसार इनके गुरु का नाम मुनिसेन था, ये सेन संघ के आचार्य थे। इन्हें कवि और नैयायिक कहा गया है। श्रीधरसेन नाना शास्त्रों के पारगामी और बड़े-बड़े राजाओं द्वारा मान्य थे। सुन्दर गणि ने अपने धातुरत्नाकर में विश्वलोचनकोश के उद्धरण दिये[१६] हैं और धातु रत्नाकर का रचनाकाल ई० १६२४ है, अतः श्रीधरसेन का समय ई० १६२४ के पहले अवश्य है। विक्रमोर्वशीय पर रंगनाथ[१७] ने ई० १६५६ में टीका लिखी है। इस टीका में विश्वलोचनकोश का उल्लेख किया गया है। अतः यह सत्य है कि विश्वलोचन की रचना १६ वीं शताब्दी के पूर्व हुई होगी। शैली की दृष्टि से विश्वलोचनकोश पर हैम, विश्वप्रकाश और मेदिनी इन तीनों कोशों का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विश्वप्रकाश का रचनाकाल ई० ११०५, मेदिनी का समय इसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् १२ वीं शती का उत्तरार्द्ध और हेम का १२ वीं शती का उत्तरार्ध है। अतः विश्वलोचन कोश का समय १३ वीं शती का उत्तरार्ध या १४ वीं का पूर्वार्ध मानना उचित होगा[१८]।

इस कोश में २४५३ श्लोक हैं। स्वरवर्ण और ककार आदि के वर्णक्रम से शब्दों का संकलन किया गया है। इस कोश की विशेषता के संबंध में इसके संपादक श्री नन्दलाल शर्मा ने लिखा है[१९] "संस्कृत में कई नानार्थ-कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं, कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थों को बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्द को जितने अर्थों का वाचक बतलाया है, दूसरों में प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरण के लिये एक रुचक शब्द को लीजिये—जहाँ अमर में इसके चार व मेदिनी में दश अर्थ बतलाये गये हैं, वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गये हैं, यही इस कोश की विशेषता है"

उपर्युक्त प्रसिद्ध कोश साहित्य के अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थों की सूचना मिलती है जिनकी प्रतियाँ समक्ष न होने के कारण साधारण परिचय ही दिया जा सकता है।

एकाक्षर-नाममाला नाम की चार रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक कृति के रचयिता जिनदत्त सूरि के शिष्य अमरचन्द्र हैं, इसमें एक-एक अक्षर का वर्णमाला क्रम से अर्थ बतलाया गया है। दूसरी विश्वशम्भू द्वारा ११५ पद्यों में रचित है। तीसरी कृति राजशेखर के शिष्य सुधाकैलाश द्वारा रचित है। इसमें केवल ५० पद्य हैं। वर्णमाला क्रम से एक-एक वर्ण का पृथक् पृथक् अर्थ बतलाया गया है। चौथी कृति धनंजय की नाममाला के अमरकीर्ति कृत भाष्य के साथ प्रकाशित है। इसमें कुल १९ श्लोक हैं। रचना साधारण है, स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षर का पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। यथा—"शं शुभे शातु शोभायां शी शयने शु निशाकरे" 'अर्थात् 'शं' शुभार्थ, 'शा' शोभार्थ में, 'शीं' शमन अर्थ में और 'शु' चन्द्रमा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इन कोशों के अतिरिक्त पुरुषोत्तम देव कृत त्रिकाण्डशेष, हारावली और एकाक्षरकोश के भी उल्लेख मिलते हैं। ये रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

राजचन्द्र का देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरि का देश्यशब्द-समुच्चय भी महत्वपूर्ण हैं। सं० १६४० में विमलसूरि ने देशीनाममाला के शब्दों का सार लेकर अकारादिक्रम से 'देश्यनिदेश-निघण्टु' की रचना की है। पुण्यरत्नसूरि का द्वयक्षरकोश असगकवि का नानार्थकोश, रामचन्द्र का नानार्थसंग्रह एवं हर्षकीर्ति की नाममाला की गणना भी उपयोगी कोशों में की जा सकती है। तपागच्छ के आचार्य सूरचन्द्र के शिष्य भानुचन्द्र ने नामसंग्रहकोश की रचना की है। हर्षकीर्ति सूरि की लघुनाम-माला भी भाषा और साहित्य के अध्येताओं के लिये उपयोगी है।

शब्दप्रभेद नाममाला या शब्दभेद प्रकाश की रचना बौद्धधर्मावलम्बी महेश्वर ने की है। इस कोश का नाम "विश्व-प्रकाश" भी है। इसकी वृत्ति सं० १६५४ में जिनविमल ने लिखी है। यह खरतरगच्छ के आचार्य भानुकेस के शिष्य थे। साधुकीर्ति उपाध्याय के शिष्य साधु सुन्दरगणि ने शब्द रत्नाकर की रचना की है। इस कोश में छः काण्ड और १०११ श्लोक हैं। अभिधानचिन्तामणि के पूरक के रूप में संवत् १४३३ में जिनदेव सूरि ने शिलोंच्छ-नाममाला की रचना १४० पद्यों में की है। इस रचना में अनेक प्रचलित शब्दों का संकलन किया गया है, जिनका अस्तित्व आज भी लोकभाषाओं की शब्दावली में मिलता है।

धनमित्र के नाम से एक निघण्टु की रचना भी मिलती है। अनेकार्थ नाम के एक कोश की सूचना मदनपराजय के कर्ता के नाम पर भी उपलब्ध होती है। इन मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त अमरकोश की कई जैन टीकाएं भी उपलब्ध हैं। अशाधराकी अमरकोश की क्रियाकलाप टीका महत्वपूर्ण है।

संस्कृत और प्राकृत भाषा के कोशों के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने कन्नड़ हिन्दी आदि भाषाओं में भी कोशों की रचना की की है। कवि बनारसी दास ने संवत् १६७० में विजयादशमी के दिन अपने मित्र नरोत्तमदास के अनुरोध से हिन्दी नाममाला की रचना की है। इस रचना का आधार महाकवि धनंजय की नाममाला है। पर इतना सत्य है कि यह नाममाला का पद्यबद्ध अनुवाद नहीं है। कवि ने अन्य कोश ग्रन्थों का अध्ययन कर इसे सर्वांगपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इस नाममाला में ३५० विषयों के नामों का सुन्दर संकलन किया गया है। उदाहरण के लिये दर्शन, ज्ञान और चरित्र के नाम उद्धृत किये जाते हैं।

दर्शन के पर्यायवाची—　　दरस विलोकनि देखनौं, अवलोकनि दृगचाल।
　　　　　　　　　　　　लखन दृष्टि निरखत जुवति, चितवति चाहहि भाल ॥४७॥
ज्ञान के पर्यायवाची—　　ज्ञान बोध अवगम मनन, जगत मान जगजान।
चारित्र के पर्यायवाची—　　संजम चारित आचरन चरवृत्त थिरवान ॥४८॥

इस रचना में कुल १७५ पद्य हैं। हिन्दी के अभ्यासियों के लिये इसका अध्ययन अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

जैनशब्दकोश-साहित्य की उपलब्धियाँ :-

जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, हिन्दी प्रभृति विभिन्न भाषाओं में पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची कोशों की रचना कर उक्त भाषाओं के अध्ययन मार्ग को सुलभ बनाया है। प्राकृत और देशी भाषाओं के कोश तो एकमात्र जैनाचार्यों के ही हैं। कोश लिखने की परम्परा अब तक जैनों में चली आ रही है। इस शताब्दी में भी शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी ने पाँच भागों में अर्धमागधी कोश और जैनागम शब्दसंग्रह-अर्धमागधी गुजराती कोश की रचना की है। श्री राजेन्द्रसूरि का अभिधान-राजेन्द्र नाम का वृहत्काय कोश सात बड़ी-बड़ी जिल्दों में पूर्ण हुआ है। इस कोश द्वारा जैनागम के पारिभाषिक शब्दों एवं ग्रन्थ खण्डों की विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। स्व० सेठ गोविन्ददास का 'पाइअ सदद् महण्णवो' तो प्राकृत भाषा के विद्यार्थी और विद्वान् दोनों के लिये अत्यधिक उपयोगी है तथा अपनी इसी उपयोगिता के कारण विद्वानों का कण्ठहार बना हुआ है।

बी० एल० चैतन्य और ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद ने वृहत् जैन-शब्दार्णव नाम के कोश ग्रन्थों की रचना हिन्दी भाषा में की है। यह पारिभाषिक शब्दों की जानकारी के लिये बहुत उपयोगी है। इस कोश के केवल दो ही भाग प्रकाशित हो सके हैं। संक्षेप में में जैन-कोशसाहित्य की निम्न उपलब्धियाँ हैं—

१—जैन पारिभाषिक और आम्नाय सम्मत शब्दावली की जानकारी।
२—प्राकृत और देशीभाषा के शब्दों का अर्थबोध।
३—जैन परम्परा की पौराणिक, धार्मिक एवं सैद्धांतिक मान्यताओं के विवरण।
४—नानार्थक कोषों द्वारा अनेकार्थ साहित्य के सृजन की प्रेरणा।
५—कोशों के भाष्य और वृत्तियों में प्रतिपादित व्युत्पत्तियों के द्वारा शब्दों के सांस्कृतिक इतिहास का संकेत।
६—भाषा की नयी और पुरानी प्रवृत्तियों का चयन कर तद्-तद् समय में बोलने वालों के मनोविश्लेषण की सामग्री उपस्थित करना।
७—शब्द तथा पदों के अनेकार्थों द्वारा अर्थपरिवर्तनों को उपस्थित कर भाषा विज्ञान के अध्ययन की सामग्री रखना।
८—कोश साहित्य की अविच्छिन्न प म्परा का ज्ञान प्राप्त करना और परस्पर के अवदानों का अध्ययन एवं विश्लेषण।
९—शब्द सम्पत्ति की मनोरंजक जानकारी।

संदर्भ तालिका

१—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ८ किरण १ पृ० २२।
२—षट्खण्डागम के प्रथम भाग की प्रस्तावना पृ० ६२।
३—विशेष विचार के लिये देखें—नाममाला सभाष्य की प्रस्तावना पृ० ११।
४—सभाष्य नाममाला पृ० २१।

५—वही पृ० १८।

६-७—वही पृ० २०।

८—वही पृ० १६।

९—अमरकोश में भी जूठन के लिये फेला शब्द मिलता है।

१०—देखें—Buhler Life of Hemchandracharya, p. 37.

११—विशेष के लिये देखें—प्रो० मुरलीधर बनर्जी द्वारा सम्पादित देशी नाममाला का Intro p. XXXIII.

१२—विशेष के लिये देखें—प्रो० मुरलीधर बनर्जी द्वारा संपादित अंग्रेजी नाममाला की प्रस्तावना।

१३—Dr. P. L. Vaidya; observations on Hemchandra's, Desinamamala, Annals of B. O. R. Inst. Vol. VIII, Part 1, April 1926.

१४—Proof. A. N. Upadhye; "Kanarese words in Desi Texicous" Annals of B. O. R. I. Vol. XII, Part III. July 1931 p. 260–273 तथा K. Amrit Rao, Ind. Ant. 'Dravidian Element in Prakrit' vol. XVIII, Feb, 1957.

१५—
सेनान्वये सकलतत्वसमर्पितश्रीः
श्रीमानजायत कविर्मुनिसेननामा।
आन्वीक्षिकी सकलशास्त्रमयी च विद्या,
यस्यावादपदवी न दवीयसी स्यात॥
तस्मादभूदखिल वाङ्मयपारदृश्वा—,
विश्वासपात्रमवनीतलनायकानाम्।
श्रीश्रीधरः सकलसत्कविगुंफितत्व,
पीयूषपानकृतनिर्जरभारतीयः॥
तस्यातिशायिनी कवेः पथिजागरूक,
धीलोचनस्य गुरुशासनलोचनस्य।
नानाकवीन्द्ररचितानभिधानकोशा—
नाकृष्य लोचनमिवायमदीपिकोशः॥—विश्वलोचन, निर्णयसागर बम्बई।

१६—देखें पिटर्सन द्वारा निर्मित सूची भाग ५ पृ० १६२।

१७—प्रो० चारुदेव शास्त्री द्वारा लिखित विक्रमोर्वशीय की भूमिका पृ० २५।

१८—समय निर्णय के लिये देखें—जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ४, किरण १, पृ० ९।

१९—विश्वलोचन कोश—भाषाटीकाकार पं० नन्दलाल शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, जून, १९१२, प्रस्तावना पृ० ५।

जैन अलंकार साहित्य

(ले० पं० अमृतलाल शास्त्री, प्रो० जैनदर्शन, सं० वि० वि०, वाराणसी)

भारतीय साहित्य में अलंकार शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। इस में भी अलंकारों का प्रयोग[1] प्रचुर मात्रा में मिलता है। अलंकार संक्षेप में दो प्रकार के होते हैं–शब्दालंकार और अर्थालंकार। यमक और अनुप्रास आदि शब्दालंकार हैं, और उपमा आदि अर्थालंकार। ऋग्वेद में दोनों प्रकार के अलंकारों का उपयोग किया गया है। "अभ्रातेव———" इत्यादि मन्त्र में यास्क ने चार उपमाएँ बतलाई हैं। यों अलंकार शास्त्र की रचना बाद में हुई, किन्तु भाषा के साथ उसके भूषण -अलंकार का रहना स्वाभाविक है, अतः ऋग्वेद में अलंकारों का प्रयोग आश्चर्यजनक नहीं। अनुसंधान किया जाय तो ऋग्वेद के समान उसके बाद के ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र, स्मृति, पुराण और दर्शन आदि साहित्य में भी अनुप्रास आदि शब्दालंकार व उपमा आदि अर्थालंकार मिल सकते हैं।

प्राचीन साहित्य का अध्ययन कर आचार्य भरत (प्रथम शती ई०) ने अपने नाट्यशास्त्र में उपमा, रूपक, दीपक और यमक इन चार अलंकारों का निरूपण किया है। इनके बाद ईसा की छठी शताब्दी से सत्तरहवीं तक भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों ने अनेक आलंकारिक ग्रंथों की रचना की है। अबतक कुल सात सौ अलंकार ग्रन्थों का पता अनुसंधान करनेवाले विद्वानों को लग चुका है, जिनमें अकबर शाह शाहि श्रृंगार दर्पण, अलंकार कौमुदी, अलंकार कौस्तुभ, अलंकार प्रदीप, अलंकार मंजूषा, अलंकार मणिहार, अलंकार महोदधि, अलंकार मुक्तावलि, अलंकार रत्नाकर, अलंकार शेखर, अलंकार संग्रह, अलंकार सर्वस्व, अलंकार सारमंजरी, अलंकार सूत्र, अलंकृतिमणिमाला, उज्ज्वल नीलमणि, कर्णभूषण, कविकल्पलता, काव्यदर्पण, काव्यदीपिका, काव्यनिर्णय, काव्यपरीक्षा, काव्यालंकार, काव्यमीमांसा, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, चंद्रालोक, ध्वन्यालोक, साहित्यदर्पण, नाट्यदर्पण, नाट्यशास्त्र, अलंकार चिन्तामणि और रसगंगाधर आदि सौ से ऊपर प्रकाशित हो चुके हैं।

उपयोग :—

मानव मात्र को शिक्षा देने के लिये साहित्य की रचना की गई है। किन्तु साहित्य का मर्म हर एक मनुष्य नहीं जान सकता। इसी साहित्यिक मर्म को जानने के लिये अलंकार शास्त्र का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। श्री राजशेखर ने लिखा है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छंदोविचिति और ज्योतिष ये वेद के छः अंग हैं। उपकारक होने से अलंकार शास्त्र उसका सातवां अंग है। बिना अलंकार समझे वेदों का अर्थ ज्ञात नहीं हो सकता[2]। जैसे 'सुन्दर पंखोंवाले, एक साथ रहने वाले और परस्पर मित्रता रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर निवास करते हैं। दोनों में से एक स्वादयुक्त फलों को खाता है और दूसरा बिना कुछ खाये ही प्रकाशमान रहता है। इस ऋग्वेद के मन्त्र का अर्थ अतिशयोक्ति अलंकार का स्वरूप समझे बिना ज्ञात नहीं हो सकता। जहाँ उपमेय की चर्चा किये बिना उपमान की चर्चा होती है, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता

---

१ यमक—अवत्मनो भरते केत वेदा अवत्मनो भरते फेनमुदन् ॥ (ऋ० १।१०४।३, पृ० ६३५ पूना प्रकाशन)
अनुप्रास—इदं पित्रे मरुतामुच्यते वचः स्वादोः स्वादीयो रुद्राय ॥ (ऋ० १।११४।६, पृष्ठ ७०४ पूना प्रकाशन)
उपमा—अभ्रातेव पुंसः एति प्रतीची . . .(ऋ० १।१२४।७, पृ० ७८८, पू० प्रकाशन)

२ "शिक्षाकल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दोविचितिः ज्योतिषं, च षडंगानि"–
इत्याचार्याः। "उपकारकत्वादलंकारः सप्तममङ्गम्" इति यायावरीयः ॥ (क० मी० अ० २)
ऋतेच तत्स्वरूप परिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः। यथा—
"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥" (ऋ० १।१६४।२०, पृ० ९९० पूना प्रकाशन)

है। उक्त मंत्र में जीवात्मा और परमात्मा की चर्चा न करके दो पक्षियों की चर्चा की गई है तथा शरीर की चर्चा न करके वृक्ष की चर्चा की गई है।

जैन अलंकार शास्त्र :—

वैदिक साहित्य की तरह जैन साहित्य में भी भगवान् महावीर के समय से अलंकारों का प्रयोग होता चला आ रहा है। "णिद्दोसं सारमंतं च हेउजुत्तमलंकियं" इत्यादि अनुयोगद्वार सूत्र के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि प्राचीन युग के जैन आचार्य अलंकार शास्त्र की परिभाषाओं से परिचित थे। विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी में जैन आचार्य श्री समन्तभद्र[1] ने अपनी कृति 'स्तुतिविद्या' में—जिसका अपर नाम 'जिनशतकम्' है—आदि से अन्त तक 'चित्र'[2] अलंकार का उपयोग किया है।

जैन साहित्य बहुत विशाल है। अभी तक इसका पूरा प्रकाशन नहीं हो सका है। यदि पूरा जैन साहित्य प्रकाशित हो जावे तो वह भारतीय साहित्य के आधे भाग के बराबर होगा। जैन साहित्य की भाषा अलंकारों से अलंकृत है, अतः उसके मर्म को समझने के लिये अलंकार शास्त्रों का परिज्ञान नितान्त आवश्यक है। इसी की पूर्ति के लिये अनेक जैन आचार्यों ने महत्वपूर्ण अलंकार ग्रंथों की रचना की।

प्रथमतः जैन विद्वानों ने अलंकार ग्रन्थों की रचना प्राकृतभाषा में की। जैसलमेर-भण्डार की ग्रन्थ-सूची से पता चलता है कि किसी जैन विद्वान् ने प्राकृत भाषा में "अलंकार दर्पण" (सं० ११६१) नामक ग्रन्थ लिखा था, जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। अभी तक जितने जैन अलंकार ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनमें निम्नलिखित ग्रन्थ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं—वाग्भटालंकार १२ वीं शती), काव्यानुशासन-हेमचन्द्र (१२ वीं शती), काव्यकल्पलतावृत्ति (१३ वीं शती), अलंकार महोदधि (१३ वीं शती), नाट्यदर्पण (१३ वीं शती), अलंकार चिन्तामणि (१४ वीं शती), काव्यानुशासन-वाग्भट (१४ वीं शती) और काव्यालंकार सार (१५ वीं शती)।

परिचय :—

वाग्भटालंकार :—वाग्भटालंकार के प्रणेता श्री वाग्भट्ट हैं। इनके पिता का नाम "सोम"[3] था और ये अणहिल्लपाटन (गुजरात) के राजा श्री जयसिंह—जो राजा कर्णदेव के पुत्र थे—के मंत्री थे। इसका उल्लेख सिंहदेवगणी ने "बंभंड" इत्यादि चतुर्थ परिच्छेद के १४८ वें श्लोक की व्याख्या करते हुये वाग्भटालंकार में किया है।[4] प्रभाचन्द्र मुनि ने अपने "प्रभावक—चरित" में भी यह बात लिखी है।[5] जयसिंह का निश्चित समय बारहवीं शती है, अतः वाग्भट्ट का भी समय बारहवीं शती है। ये हेमचन्द्र आचार्य के समकालीन हैं।[6]

---

१ आचार्य समन्तभद्र के समय के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। पं० महेन्द्रकुमारजी के अनुसार उनका समय ई० की ५वीं और ७ वीं शताब्दी के मध्य होना अधिक सम्भव है। देखिये न्या० कु० च० द्वि० भाग प्रस्ता० पृ० २७। —स०

२ मुरजबन्ध :—श्रीमज्जिनपदाभ्याशं प्रतिपद्यागसां जये।
कामस्थान प्रदानेशं स्तुतिविद्यां प्रसाधये ॥ (स्तुतिविद्या, श्लोक १)

चक्रबन्ध :—गत्वैकस्तुतमेव वासमधुना तं येच्युतं स्वीशते
यन्नत्यैति सुशर्म पूर्णमधिकां शान्तिं व्रजित्वाध्वना।
यद्भक्त्या शमिताकृशाघमरुजं तिष्ठेज्जनः स्वालये
ये सद्भोगकदायतीव यजते ते मे जिनाः सुश्रिये ॥ (स्तुतिविद्या, श्लोक ११६)

३ बम्भण्डसुत्तिसपुडमोत्तिअमणिणोप्पहासमूह व्व।
सिरिबाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ॥ ४।१४८ वाग्भटालंकार।

४ "इदानीं ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नाम गाथयैकया निर्दिशति"

५ अणहिल्लपुरं प्राप क्ष्मापः प्राप्त जयोदयः। महोत्सव प्रवेशस्य गजारूढ़ सुरेन्द्रवत ॥
वाग्भटस्य विहारं स ददृशे दृग्रसायनम्। अन्येद्युर्वाग्भटामात्यं धर्मात्यन्तिक वासनः ॥

६ प्रो० बलदेव उपाध्याय ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में किसी भ्रमवश वाग्भट्ट का समय १५ वीं शती का पूर्वार्ध लिखा है।

वाग्भटालंकार में पाँच परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः—२७, २९, १७, १५३ और ३३ कुल मिलाकर २५९ श्लोक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ बहुत छोटा है, किन्तु इसमें संक्षेप से कवि-शिक्षा, दोष, गुण, अलंकार और रस इन अलंकार शास्त्र में वर्णनीय विषयों पर प्रकाश डाला गया है। 'गागर में सागर' वाली उक्ति को वाग्भट्ट ने इस कृति में पूर्ण रूप से चरितार्थ किया है।

विशेषता :—

वाग्भट्ट, अलंकार-शास्त्र के मर्मज्ञ थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आलंकारिकों के प्रामाणिक ग्रंथों का गम्भीर अध्ययन किया था। इन्होंने अपनी कृति में किसी भी ग्रन्थकार का खण्डन-मण्डन नहीं किया। सूक्ष्म अध्ययन से पता चलता है कि ये समन्वय-वादी थे। इसका कुछ आभास इनकी काव्य परिभाषा से लग जाता है :—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥१।२

अर्थात्—सुन्दर शब्द और अर्थ इन दोनों से काव्य के शरीर का निर्माण होता है। काव्य का शरीर गुण और अलंकारों से विभूषित होता है। काव्यशरीर में रीति और रस का पुट रहता है। इसका निर्माण कीर्ति की कामना से करना चाहिये।

वाग्भट के पूर्ववर्ती विद्वानों में दण्डी ने अपने काव्यादर्श में केवल शब्द को ही काव्य बतलाया था—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श १–१०।

भामह ने अपने भामहालंकार में शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना था :—

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्——————————१।१६

भामह[1] दण्डी के पूर्ववर्ती हैं। दण्डी को भामह का मत मान्य प्रतीत नहीं हुआ। दण्डी का अभिप्राय यह था कि शब्द के साथ अर्थ तो रहता ही है, अतः शब्द के साथ अर्थ जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं[1]। किन्तु दण्डी के बाद के विद्वानों ने दण्डी के मत को न मानकर भामह के ही मत को स्वीकार किया।

वामनाचार्य ने लिखा है—गुण और अलंकारों से विभूषित शब्दार्थ को काव्य कहते हैं :—

"काव्यशब्दोऽयं गुणालंकार संस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते" —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १।१।१

इसी तरह रुद्रट ने भी शब्दार्थ को काव्य बतलाया है :— ननु शब्दार्थौ काव्यम्........। —काव्यालंकार २।१

इनके बाद वाग्देवतावतार श्री मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में लिखा है—निर्दोष, सगुण और सालंकार तथा कहीं निरलंकार (जहाँ रस आदि की सत्ता हो) शब्दार्थ को काव्य कहते हैं :—

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिः पुनः क्वापि। —काव्यप्रकाश १।१

इस तरह काव्य के स्वरूप-निरूपण से स्पष्ट है कि प्राचीन आचार्यों की दो तरह की विचार धाराएँ थीं।

श्री वाग्भट ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मत का सूक्ष्म अध्ययन कर प्रामाणिक विचारधारा को अपनाया। इसी तरह कुछ विद्वान् "रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर रीति को काव्य की आत्मा बतलाते हैं और कुछ विद्वान् "रस एवात्रजीवितम्" लिखकर काव्य की आत्मा रस को बतलाते हैं एवं वक्रोक्ति जीवितकार ने "वक्रोक्ति काव्य जीवितम्" लिखकर वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा बतलाया है। वाग्भट ने काव्य में रीति, रस और वक्रोक्ति इन सभी को यथायोग्य स्थान देकर अपनी समन्वय-वादिनी बुद्धि का समुचित उपयोग किया। वाग्भट ने वक्रोक्ति को शब्दालंकार माना है, न कि काव्यात्मा—

"चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासौ यमकं ध्वन्यलंक्रिया" —वाग्भटालंकार ४।२

चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ये चार शब्दालंकार हैं।

जिन विषयों पर अन्य आलंकारिकों ने प्रकाश डाला है, उन्हीं पर वाग्भट ने अपने ढंग से नूतन प्रकाश डालकर अपनी मौलिक बुद्धि का परिचय दिया है

अन्य आलंकारिकों ने प्रतिभा को काव्य का हेतु बतलाया है, किन्तु यह किसी ने नहीं बतलाया कि अभिनवकवि को अर्थ कैसे सूझे। यों अभिनवकवि के काव्य के लिये भी प्रतिभा ही हेतु है। किन्तु अभिनव होने के कारण उसे कुछ विशेष साधनों की

---

१. दंडी ने अर्थ को अप्रधान माना है, आनावश्यक नहीं। पंडितराज जगन्नाथ ने दंडी का मत मान्य किया है, और बहुत बलवान् युक्तियों के सहारे केवल 'शब्द' को ही काव्य का शरीर माना है।—सम्पादक

आवश्यकता पड़ना स्वाभाविक है। इसीलिये वाग्भट लिखते हैं—काव्य-निर्माण उस समय करे, जब चित्त प्रसन्न हो ? चित्त प्रसन्न होने पर भी हर समय कविता उतनी अच्छी नहीं बन सकती, जितनी प्रभात के समय। अतः मन की प्रसन्नता के होने पर प्रभात के समय कविता के योग्य अर्थ आसानी से सूझता है। पर चित्त की प्रसन्नता और प्रभात की मंगल बेला के साथ उद्योग भी करना चाहिए। किन्तु उद्योग भी तभी सफल हो सकता है, जब अनेक शास्त्रों का परिशीलन किया हो। यही सब सोचकर वाग्भट ने काव्य के योग्य अर्थ की सूझ के लिये प्रतिभा के साथ चित्त की प्रसन्नता, प्रभात का समय, प्रयत्न और अनेक शास्त्रों के परिशीलन को आवश्यक बतलाया है।[2]

मनः प्रसत्ति प्रतिभाः प्रातःकालोऽभियोगिता।
अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतव : ॥ —वाग्भट १।१४

इसी तरह आरम्भ से अन्त तक वाग्भट के ग्रंथ में उनकी विशिष्ट प्रतिभा का परिचय मिलता है।

वाग्भट ने पूर्वार्ध में लक्षण और उत्तरार्द्ध में उदाहरण देकर एक ही श्लोक में लक्षण और उदाहरण याद करने वाले छात्रों को बड़ी सरलता कर दी है। जैसे—

अपक्रमं भवेद्यत्र प्रसिद्धक्रमलंघनम्।
यथाभुक्त्वा कृतस्नानो गुरून् देवांश्च वन्दते॥ —वाग्भटालंकार २।२२

जहाँ लौकिक या शास्त्रीय क्रम का उल्लंघन हो, वहाँ अपक्रम नामक दोष होता है। जैसे वह सबसे पहले भोजन करता है, फिर स्नान करता है। स्नान के बाद गुरु-वन्दना करता है और इसके बाद में देव-वन्दना। यहाँ लौकिक और शास्त्रीय दोनों क्रमों का उल्लंघन किया गया है, अतः अपक्रम दोष है।

मल्लिनाथ ने रघुवंश आदि ग्रन्थों की टीकाओं में यत्र-तत्र वाग्भट के श्लोक उद्धृत किये हैं। अलंकार चिन्तामणिकार श्री अजितसेन ने अपने ग्रन्थ में अनेक जगह वाग्भट के श्लोक उद्धृत किये हैं। इससे वाग्भट का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है।

वाग्भट ने अन्य आलंकारिकों के समान अन्य ग्रन्थों से उदाहरण नहीं लिये, बल्कि स्वयं ही बनाये हैं। हाँ, कहीं-कहीं नेमि-निर्वाण महाकाव्य के उदाहरण अवश्य लिये हैं, खासकर यमक के प्रकरण में।

काव्यानुशासन :—

काव्यानुशासन के प्रणेता आचार्य हेमचन्द्र (११वीं-१२ वीं शती ई०) हैं। ये जैन-समाज के ही नहीं, बल्कि भारतीय समाज के भूषण थे। न्याय व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, पुराण और कोष आदि सभी विषयों पर इन का समान अधिकार था और सभी विषयों पर इन्होंने प्रामाणिक ग्रन्थ लिखे हैं। इन्होंने कुल मिलाकर साढ़े तीन करोड़ श्लोक प्रमाण साहित्य की रचना की है। इनके साहित्य में निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं :—

प्रमाणमीमांसा, सिद्ध हेमशब्दानुशासन, द्वयाश्रयमहाकाव्य, छन्दोनुशासन, काव्यानुशासन, त्रिषष्ठिशलाका पुरुषचरित, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, वीतरागस्तोत्र और योगशास्त्र आदि।

वाग्भट ने भामह, दण्डी और रुद्रट की तरह अपना वाग्भटालंकार श्लोकों में लिखा था, किन्तु हेमचन्द्र ने अपना ग्रन्थ-काव्यानुशासन वामन की तरह सूत्र-शैली में लिखा। काव्यानुशासन में आठ अध्याय हैं, जिनमें कुल मिलाकर २०८ सूत्र हैं। सूत्रों में अलंकार शास्त्र सम्बन्धी-कविशिक्षा, अलंकार, रस, ध्वनि, गुण, दोष और साथ ही नाटकीय तत्त्वों पर विशद प्रकाश डाला है। अपने सूत्रों पर अलंकार चूड़ामणि नामक वृत्ति और विशेष बातों को समझाने के लिये "विवेक" की रचना भी स्वयं हेमचन्द्र ने की है। अलंकार आदि सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये 'विवेक' में ६०० से ऊपर तथा 'अलंकारचूड़ामणि' म ७०० से ऊपर पद्य उद्धृत किये हैं। उदाहरणों का चयन हेमचन्द्र ने निष्पक्ष दृष्टि से किया है। इसीलिए काव्यानुशासन में हेमचन्द्राचार्य ने जैन-ग्रन्थों के साथ जैनेतर ग्रन्थों से भी उदाहरण लिये हैं।

विशेषता :—

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन में काव्य प्रकाश, ध्वन्यालोक और काव्यमीमांसा आदि ग्रंथों से अधिक विषय

२—इनके पूर्ववर्ती माघ और राजशेखर ने भी यह बात कही है। —सम्पादक

का प्रतिपादन किया है। इनकी दृष्टि से जो कमी पूर्ववर्ती साहित्य में रह गयी थी, उसे इन्होंने काव्यानुशासन में पूरा कर दिया। काव्यप्रकाश में मम्मट ने नाटकीय तत्त्वों पर तनिक भी प्रकाश नहीं डाला, जब कि हेमचन्द्र ने इसके लिये काव्यानुशासन में एक पूरा का पूरा (अन्तिम) अध्याय लिखा। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि हेमचन्द्र ने अपने ग्रंथ में ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश से अधिक विषयों का निरूपण किया है। ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धन ने ९ वीं शती में सबसे पहले ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। यह इनके गहन शास्त्रीय चिन्तन का परिणाम था। किन्तु महिमभट्ट आदि कुछ विद्वानों ने ध्वनिसिद्धान्त का जोरदार खण्डन किया और यह बतलाया कि व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं। रस का ज्ञान व्यंजना से नहीं, अनुमान से होता है। ११ वीं शती में आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश लिखकर महिमभट्ट के सिद्धान्त का खण्डन कर आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का मण्डन किया। मम्मट के अव्यवहित उत्तरकाल में आचार्य हेमचन्द्र ने महिमभट्ट का खण्डन कर ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया। फिर तो ध्वनिसिद्धान्त का खूब ही प्रचार बढ़ा।

ध्वनि के प्रकरण में आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं, जो ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाश आदि विशिष्ट ग्रन्थों में भी नहीं मिलते। जैसे—

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं।
तह जग्गिसज्जु सज्जिय न जहा अम्हे मुसिज्जामो॥ —काव्यानु० पृष्ठ ३६ (निर्णयसा० प्रका०)

एक नायिका—जिसका पति प्रवास में है और घर बिलकुल सूना है—रात्रि के समय अपने पड़ोसी से कह रही है :—

आज की रात्रि बहुत दुःखदायिनी है, क्योंकि चारों ओर अंधेरा छाया हुआ है, पतिदेव बाहर गये हैं और घर सूना है। इसलिये हे पड़ोसी आज जागते रहना, जिससे हमारी और तुम्हारी चोरी न हो जाय। इस विधिवाक्य से अन्य विधि व्यंग है—तुम निर्भय होकर मेरे पास आ जाओ।[1]

कहीं वाच्य से—जो न तो विधि परक हो और न निषेध परक—निषेध सूचक व्यंग्य निकलता है। जैसे—

जीविताशाबलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा पान्थ स्वावस्था तु निवेदिता॥

—काव्यानु०, पृष्ठ ३७ (निर्णयसा० प्रका०)

प्रवास के लिये उद्यत हुए पति को रोकने के लिये पत्नी कह रही है :—

हे पान्थ ! मुझे अपने जीवन में जितनी आसक्ति है, उतनी धन में नहीं—मुझे धन से जीवन प्यारा है। (अतः मैं जीवन देकर धन लेना पसन्द नहीं कर सकती)। अब आप जाइये या रुकिये, मैंने अपनी अवस्था आपको बतला दी है। (तुम्हारे बिना मेरा जीवित रहना कठिन है)।

यहाँ पति के जाने या न जाने का विधान नहीं किया गया है। वाच्यार्थ से हाँ या ना दोनों में से किसी एक का भी बोध नहीं होता, किन्तु व्यंग्य रूप से यह प्रतीत हो रहा है कि पत्नी अपने पति को रोकना चाहती है।[2] आपको मेरा उतना खयाल नहीं जितना यात्रा का, यह भाव प्रकट करने के लिये पति को "पान्थ" पद से सम्बोधित किया गया है। इत्यादि सैकड़ों ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे हेमचन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। अलंकारचूडामणि और विवेक से विभूषित होकर काव्यानुशासन, काव्यप्रकाश से अधिक महत्वशाली हो गया है। काव्यप्रकाश से साहित्यदर्पण का प्रचार अधिक हुआ है। इसके दो कारण हैं—(१) काव्यप्रकाश की भाषा से साहित्यदर्पण की भाषा सरल है और (२) काव्यप्रकाश में नाटकीय तत्त्वों पर प्रकाश नहीं डाला गया है, जबकि साहित्यदर्पण में है। मेरा खयाल है, यदि हेमचन्द्र जैन न होते तो काव्यानुशासन का प्रचार काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण से कहीं अधिक होता। समालोचकों का कहना है कि दर्पणकार साहित्यिक मर्म के

---

१. अत्र यथा वयं न मुष्यामहे तथा त्वं जागृहीति विध्यभिधाने रात्रिरत्यन्धकारा, पतिः प्रोषितः, गृहं शून्यम्, अतस्त्वमभयो मत्पार्श्वमागच्छेति विध्यंतरं प्रतीयते। —काव्यानु० पृ० ३६ (निर्णयसा० प्रका०)

२. अत्र गच्छ वा तिष्ठ वेति अविधिनिषेधे "जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम" इति वचनात् त्वया विनाऽहं जीवितुं न शक्नोमि, इत्युपक्षेपेण गमन निषेधः प्रतीयते। —काव्यानुशासन पृष्ठ ३८ (निर्णयसागर प्रकाशन)

प्रकाशन में उतने समर्थ नहीं, जितने कविता करने में, और काव्यप्रकाशकार के बारे में उनका कहना है कि वे शब्दों के प्रयोग में कृपण थे—कम शब्दों में बहुत अर्थ प्रकट करना चाहते थे। यों देखा जाय तो यह मम्मट का गुण है, न कि दोष। आज के समय में जिज्ञासु ग्रन्थ का हृदय थोड़े परिश्रम से ही जानना चाहता है। इस दृष्टि से हेमचन्द्र बहुत सफल हुए हैं। इनका विवेचन प्रामाणिक होने के साथ-साथ सरल भी है।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' अलंकार का नाम 'अन्योक्ति' रखा है—"सामान्यविशेषे कार्ये कारणे प्रस्तुते तदन्यस्य तुल्ये तुल्यस्य चोक्तिरन्योक्तिः" (काव्यानुशासन, अध्याय ६, पृष्ठ ३०७)। हेमचन्द्र के पूर्ववर्तियों में केवल रुद्रट ने इस संज्ञा का उपयोग किया था। भामह, वामन, आनन्दवर्द्धन और मम्मट आदि सभी ने 'अप्रस्तुत प्रशंसा' संज्ञा का उपयोग किया था। हेमचन्द्र के बाद के विद्वानों ने भी—'अप्रस्तुत प्रशंसा' संज्ञा का उपयोग किया है, किन्तु हिन्दी-साहित्य में प्रायः सर्वत्र 'अन्योक्ति' संज्ञा का उपयोग किया गया है। इसी तरह विद्वज्जन काव्यानुशासन का ध्यान से अवलोकन करें, तो और भी ऐसी बहुत सी विशेषताएँ दृष्टिगोचर होंगी।

काव्यकल्पलतावृत्ति :—

काव्यकल्पलता की सूत्र-रचना जैनाचार्य श्री अरिसिंह ने की थी और इसकी वृत्ति जैनाचार्य अमरमुनि ने लिखी थी। इन दोनों का समय विद्वानों ने तेरहवीं शती निश्चित किया है। ये दोनों ही अपने समय के विशिष्ट विद्वान् थे। इनके अन्य ग्रन्थों का भी विद्वानों ने पता लगाया है। अरिसिंह ने वस्तुपाल की प्रशंसा में 'सुकृत संकीर्तन' महाकाव्य लिखा था और अमर ने 'जिनेन्द्रचरित,' 'स्यादिशब्दसमुच्चय,' बालभारत', 'द्रौपदीस्वयंवर', 'छन्दो-रत्नावलि' 'काव्यकल्पलता', 'परिमल' और 'अलंकारप्रबोध आदि ग्रन्थ लिखे थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चार प्रतान हैं—१. छन्दसिद्धिप्रतान, २. शब्दसिद्धिप्रतान, ३. श्लेषसिद्धिप्रतान और ४. अर्थसिद्धिप्रतान। प्रत्येक प्रतान में क्रमशः पांच, चार, पांच और सात कुल इक्कीस स्तवक हैं।

कविता निर्माण करने की इसमें सुन्दर विधि बतलाई गई है और साथ में अन्य भी प्रासंगिक विषयों का वर्णन किया गया है। इस विषय में क्षेमेन्द्र, जयमंगल और हलायुध आदि विद्वानों ने भी ग्रन्थ लिखे, किन्तु वे अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण जिज्ञासा शान्त नहीं कर पाते। प्रस्तुत ग्रंथ का विद्वत् संसार में खूब ही प्रचार हुआ और चौदहवीं शती के ब्राह्मण विद्वान श्री देवेश्वर को यह ग्रन्थ इतना रुचिकर हुआ कि इन्होंने इसी का आधार लेकर नवीन 'कवि कल्पलता' की रचना की जिसमें यत्र-तत्र प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का उपयोग किया।

काव्यकल्पलतावृत्ति में कुछ ऐसे विषय हैं, जो कवियों के लिये बहुत ही सहायक हैं :—

छन्दों के अभ्यास के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ में लिखा है कि ककार आदि व्यंजनों को भरकर छन्दों का अभ्यास करना चाहिए। ग्यारह अक्षर वाले इन्द्रवज्रा छन्द का अभ्यास करना हो तो उसके लक्षण के अनुसार ककार आदि वर्णों का प्रयोग करें। जैसे—

काका ककाका कक्का कका का की की कि की की किकि की किकीकि।
कुकू कुकूकू कुकुकू कुकूकु र्क कं क कं कं ककं क कं कम्॥

—काव्यकल्पलतावृत्ति, प्रतान १, स्तवक २।

इसी ढंग से अन्य छन्दों का भी अभ्यास करना चाहिए। यह विधि बहुत ही सरल है।

छन्दों की पूर्ति के लिये प्रस्तुत ग्रंथ में हजारों शब्दों का संग्रह कर दिया गया है, जिनके यथास्थान रख देने से छन्द की पूर्ति सरलता से हो सकती है। जैसे—

अनुष्टुप छन्द बनाना हो तो निम्नलिखित अक्षरों में से कोई भी अक्षर उसके प्रथम अक्षर के लिये उपयोगी है।

श्री, सं, सन्, द्राक्, विश्, आ, नि, श्राक्, सु, उत्, तत्।

इसी तरह अन्य छन्दों के लिये भी अनेक प्रकार के शब्दों का संकलन प्रस्तुत ग्रन्थ में है। छन्दों के साथ अलंकारों के योग्य शब्दों का भी आश्चर्यजनक संग्रह यहाँ मिलता है। इसी तरह हजारों बातों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है, जो विद्वानों को आश्चर्य में डाल देता है।

चौथे प्रतान के सातवें स्तवक में समस्यापूर्ति का क्रम भी बतलाया गया है—

प्रश्न से भी समस्यापूर्ति हो सकती है। जैसे "मृगात् सिंह: पलायते" इस समस्या की पूर्ति—

कस्तूरी जायते कस्मात् ? को हन्ति करिणां कुलम् ?
किं कुर्यात् कातरो युद्धे ? "मृगात् सिंहः पलायते ॥" —काव्यकल्पलता वृत्ति ४।७

प्रस्तुत समस्या की पूर्ति तीन प्रश्नों से की गई है—पहला प्रश्न कस्तूरी किससे होती है ? दूसरा प्रश्न—हाथियों के झुण्ड को कौन मारता है ? तीसरा प्रश्न—युद्ध में कायर क्या करता है ? इन तीनों के क्रमशः उत्तर (१) मृग से (मृगात्), (२) सिंह और (३) भाग जाता है (पलायते)।

'यदि' शब्द के प्रयोग से भी समस्यापूर्ति की जा सकती है—

जैसे—"अग्निस्तुहिनशीतलः" इसकी पूर्ति देखिये—

प्रतीच्यां यदि मार्तण्डः समुदेति स्फुरत्कर : ।
तदा संजायते 'नूनमग्निस्तुहिन शीतलः' ॥ —का० क० ४।७.

इसी तरह और भी उपाय बतलाये हैं, जिनसे शीघ्र ही समस्यापूर्ति की जा सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भारतीय साहित्य का भूषण है। श्री देवेश्वर ने इसी के आधार से "कविकल्पलता" की रचना की। कहीं-कहीं तो पूरे के पूरे श्लोक मिलते-जुलते हैं। कुछ श्लोकों की तुलना नीचे दी जा रही है :—

१. अथ वर्ण्यानि कथ्यन्ते तानि-यानि कवीश्वरैः ।
महाकाव्यप्रभृतिषु प्रबन्धेषु बबन्धिरे ॥ —का० क० वृत्ति, पृ० २४; कविकल्पलता, पृ० १२.

२. राजाऽमात्यपुरोहितौ नृपवधू राजांगजः सैन्यपो
देशग्रामपुरीसरोऽब्धिसरिदुद्यानाद्र्यरण्याश्रमाः ।
मन्त्रो दूतरणप्रयाणमृगयाश्वेभर्त्विं नेन्दूदया
वीवाहो विरहः स्वयंवरसुरा पुष्पाम्बुखेलारतम् ॥ —का० क० वृत्ति, पृ० २४.
राजाराजवधू पुरोहितकुमारामात्यसेनाधिपा
—(शेष पंक्तियाँ उपर्युक्त श्लोक के समान) —कविकल्पलता, पृष्ठ १३.

३. ग्रामे धान्यलतावृक्षसरसी पशु पुष्टयः ।
क्षेत्रारघट्टकेदारग्रामेयीमुग्धविभ्रमाः ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति, पृष्ठ २५.
——————मुख विभ्रमाः ॥ —(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्)
—कविकल्पलता, पृष्ठ १३.

४. पुरेऽट्टपरिखावप्रप्रतोली तोरणालयाः ।
प्रासादाध्वप्रपा ऽऽरामवापी वेश्यासतीत्वरी ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति पृ० २५.
——————————तोरणध्वजाः ।——(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्)

५. युद्धेतु वर्मबलवीररजांसि तूर्य—
निस्वाननादशरमण्डपरक्तनद्यः ।
छिन्नातपत्र रथचामरकेतुकुम्भि—
मुक्तासुरीवृतभटामरपुष्पवर्षाः ॥ —काव्यकल्पलतावृत्ति पृ० २६.
– – – – – –चाररजांसि तूर्यं ।
—(शेष उपर्युक्त श्लोकवत्) —कविकल्पलता, पृ० १४.

अलंकारमहोदधि :—

अलंकारमहोदधि की रचना श्री नरेन्द्रप्रभ सूरि ने वस्तुपाल मन्त्री की प्रार्थना पर अपने गुरु श्री नरचन्द्र सूरि की आज्ञा

से की थी[1]। इसकी टीका भी स्वयं नरेन्द्रप्रभ ने विक्रम संवत् १२८२ में समाप्त की थी, जिसका प्रमाण ४५०० (साढ़े चार हजार) अनुष्टुप श्लोक प्रमाण[2] है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ आठ तरंगों में विभाजित है । काव्य का स्वरूप, प्रयोजन, भेद, शब्द, अर्थ, गुण, दोष, अलंकार और ध्वनि आदि विषयों पर आचार्य नरेन्द्रप्रभ ने विशद प्रकाश डाला है । काव्यप्रकाश की तरह इसमें भी नाटकीय तत्त्वों पर पर प्रकाश नहीं डाला गया है । शेष सभी विषयों पर काव्यप्रकाश से कहीं अधिक विवेचन किया गया है । साहित्यदर्पण इसके सामने बहुत छोटा है । साहित्यदर्पण में अलंकारों का विवेचन काव्यप्रकाश से अधिक है । किन्तु अलंकार महोदधि का अलंकार-विवेचन साहित्यदर्पण से कहीं अधिक है ।

प्रस्तुत ग्रंथ में पृष्ठ २१२-१३ पर वृत्यनुप्रास के अवान्तर भेद—कार्णाटी, कौन्तली, कौंगी, कौंकणी, बानवासिका, त्रावणी, माथुरी, मात्सी और मागधी आदि बतलाये हैं, जो काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि ग्रंथों में नहीं हैं ।

काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन (हेमचन्द्र) के समान प्रस्तुत ग्रंथों में भी ध्वनि का विस्तार से वर्णन है ।

सरल शब्दों में परिभाषा बनाना और सरल उदाहरण चुनना प्रस्तुत ग्रन्थ की विशेषता है । जैसे सार अलंकार की परिभाषा देखिये—'सारः प्रकर्षस्तूत्तरोत्तरम्' (पृष्ठ ३०६) । उदाहरण—'राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम् ।'

अजनिसहस्रचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पंच शती ॥ —अलंकारमहोदधि, श्लोक ११, पृ० ३४०.

'सौधे तल्पं तल्पे वारांगनाऽनंगसर्वस्वम्' । (पृ० ३०६) ।

अलंकारों के अवान्तर भेद भी प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि ग्रंथों से अधिक किये गये हैं ।

नाट्यदर्पण :—

नाट्यदर्पण आचार्य रामचन्द्र और गुणचन्द्र, दो विद्वानों की कृति है । ये दोनों आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे, अतः इनका समय भी वही है, जो हेमचन्द्र का है । रामचन्द्र और गुणचन्द्र अपने गुरु के समान बहुश्रुत विद्वान् थे । इन्होंने लगभग सौ ग्रंथों की रचना की थी । उनमें से चार-पाँच प्रकाशित भी हो चुके हैं । नाट्यदर्पण उन्हीं में से एक है ।

नाट्यदर्पण चार विवेकों में विभक्त है । मूल कारिकाएँ क्रमशः चारों विवेकों में ६५, ३७, ५१ और ५४—कुल २०७ हैं और इन पर स्वयं रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने विस्तृत विवरण लिखा है, जो ४५०० अनुष्टुप छन्द प्रमाण है । विवरण में विषय की विशेष पुष्टि के लिये जैन व जैनेतर ग्रंथों के उदाहरण दिये गये हैं । भरत ने विस्तृत नाट्य शास्त्र लिखा था । उनके बाद संक्षेप में नाट्यतत्त्वों का स्वरूपनिरूपण करने वाले मुख्य दो ग्रन्थ हैं (१) प्रस्तुत नाट्यदर्पण और (२) दशरूपक । दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय एक ही है, किन्तु रामचन्द्र और गुणचन्द्र ये दोनों नाटकीय तत्त्व के मर्मज्ञ थे । इन्होंने अनेक ऐसे ग्रंथों के उदाहरण दिये हैं, जो आज अनुपलब्ध हैं ।

कहीं-कहीं दोनों ग्रन्थों में मौलिक अन्तर भी हैं । दशरूपककार नाटकों में शांत रस नहीं मानते, नाट्यदर्पणकार मानते हैं । दशरूपक में व्यंजना वृत्ति का खंडन है, नाट्यदर्पण में नहीं है । नाट्यदर्पण में रस को सुख-दुःखात्मक बतलाया गया है—"सुख दुःखात्मको रसः", पृष्ट १४१ । शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त इन पाँचों को सुखात्मक और करुण, रौद्र, वीभत्स तथा भयानक इन चारों को दुःखात्मक बतलाया है । दशरूपक में रूपकों की संख्या दस स्वीकार की है, जब कि नाट्यदर्पण में बारह ।

अलंकारचिन्तामणि :—

इसके रचयिता आचार्य अजितसेन हैं । इनका समय चौदहवीं शती है । इन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ में जैन-ग्रंथों के ही उदाहरण दिये हैं । जैनेतर ग्रंथों के भी उदाहरण हैं, किन्तु ऐसे उदाहरणों की संख्या बहुत ही कम है । अर्हद्दास के मुनिसुव्रत काव्य के भी कुछ उदाहरण प्रस्तुत ग्रंथ में हैं, अतः प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता का समय चौदहवीं शती है । अर्हद्दास का समय विक्रम की तेरहवीं शती का अन्तिम चरण और चौदहवीं का प्रथम चरण है ।

---

१. तेषां निदेशादथ सद्गुरूणां श्रीवस्तुपालस्य मुदे तदेतत् ।
चकारलिप्यक्षरसंनिविष्टं सूरिर्नरेन्द्रप्रभनामधेयः ॥ —अलंकारमहोदधि, श्लोक १९, पृ० १.

२. नयन[2] वसु[8] सूर[12] वर्षे निष्पन्नायाः प्रमाणमेतस्याः ।
अजनिसहस्रचतुष्टयमनुष्टुभामुपरि पंचशती ॥ अलंकारमहोदधि, श्लोक ११, पृ० ३४०.

प्रस्तुत ग्रंथ में पाँच परिच्छेद हैं, जिनमें श्लोकों की संख्या क्रमशः १०३, ८६, ४१, ३४५ और ३०० — कुल ७७५ है। गद्य रूप में लिखी गई वृत्ति की संख्या पृथक् है।

इस रचना में कविशिक्षा, शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण-दोष और रस आदि पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ शब्दालंकारों का इतना अधिक वर्णन है जितना अन्य जैन अलंकार ग्रंथों में नहीं है। जैनेतर ग्रंथों में भी भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को छोड़कर अन्य में नहीं है। अलंकारों में उपमा का बहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। दण्डी को छोड़कर इतना अधिक इस ढंग का वर्णन अन्य ग्रंथों में नहीं मिलता। इस रचना का अलंकार-विवेचन हृदयग्राही है, अतः अलंकार चिन्तामणि नाम सार्थक है।

अलंकारों के पारस्परिक सूक्ष्म अन्तर को बतलाने के लिये इस ग्रन्थ के चौथे परिच्छेद के प्रारम्भ में जो प्रकाश डाला गया है, वह अन्य ग्रंथों में एकत्र नहीं मिलता। यों अन्य ग्रंथों में भी खोजने पर मिल सकता है, किन्तु एक ही स्थान में इतना अधिक विवेचन मेरे देखने में नहीं आया।

यहाँ नाटकीय तत्त्वों को छोड़कर शेष अलंकार शास्त्र सम्बन्धी सभी बातों पर विशद प्रकाश डाला गया है। आचार्य अजितसेन ने ध्वनि की परिभाषा मात्र बतलाकर ग्रंथ विस्तार भय से उसका विवेचन नहीं किया।

शब्दालंकार का विवेचन अर्थालंकार के विवेचन की अपेक्षा कठिन होता है, किन्तु अजितसेन ने उसे भी सरल बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। श्लोक पढ़ते ही समझ में आ जाते हैं।

चित्र-प्रकरण में अक्षरच्युत प्रश्नोत्तर का सुन्दर और मनोरंजक उदाहरण देखिये :—

प्रश्नः—कः पंजरमध्यास्ते ? कः परुष निस्वनः।
कः प्रतिष्ठा जीवानां ? कः पाठ्योऽक्षरच्युतः ?॥

उत्तरः—शुकः पंजरमध्यास्ते काकः परुषनिस्वनः।
लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः॥ २।३१–३२.

प्रथम पद्य में चार प्रश्न किये गये हैं—पिंजरे में कौन बन्द किया जाता है ? कर्कश स्वर वाला कौन होता है ? जीवों का आश्रयस्थान क्या है ? अक्षर छोड़कर किसे पढ़ सकते हैं ? दूसरे पद्य में चारों प्रश्नों के क्रमशः चार उत्तर दिये गये हैं :—तोता, कौआ, लोक और श्लोक। जिस श्लोक में प्रश्न किये गये हैं, उसके प्रत्येक चरण में सात-सात अक्षर हैं। उनके प्रारम्भ में एक-एक अक्षर और जोड़ देने से उत्तर सहित दूसरा पद्य बन गया है।

इस तरह शब्दालंकारों का वर्णन आदि से अन्त तक सरस है। इसी तरह ७० अर्थालंकारों और उनके अवान्तर भेदों की चर्चा भी सरस और सरल है।

प्रस्तुत ग्रंथ में अर्थालंकारों की परिभाषाएँ भी बहुत परिष्कृत हैं। जैसे उपमालंकार की परिभाषा देखिये :—

वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः।
भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रौपमैकदा॥४।१८.

उपमेय से भिन्न, स्वतः सिद्ध, विद्वानों के द्वारा मान्य, अप्रस्तुत अर्थात् उपमान के साथ जहाँ किसी धर्म की दृष्टि से समानता बतलाई जाय, वहाँ उपमा अलंकार होता है।

जैनेतर उच्चकोटि के अलंकार ग्रंथों में "साधर्म्यमुपमा" अर्थात् उपमेय की उपमान के साथ समानता दिखलाने को उपमा कहते हैं। अलंकारचिन्तामणिकार ने यद्यपि इस परिभाषा का खण्डन नहीं किया, किन्तु उन्हों ने अपनी उपमा की परिभाषा में उपमान के तीन विशेषण लगाये हैं। यदि ये नहीं लगाये जाते, तो अन्य अलंकारों में उपमा का लक्षण चला जाता। फलतः उपमा का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित हो जाता। यदि 'स्वतःभिन्नेन' 'उपमेय से भिन्न' यह विशेषण न देते, तो अनन्वयालंकार में परिभाषा चली जाती, क्योंकि अनन्वय में उपमेय और उपमान अभिन्न होते हैं, 'स्वतः सिद्धेन' 'स्वयं सिद्ध' विशेषण नहीं देते, तो उत्प्रेक्षा में लक्षण चला जाता, क्योंकि उत्प्रेक्षा में उपमान स्वयं सिद्ध नहीं, बल्कि कल्पित होता है। 'सूर्यभीष्टेन' विद्वानों के द्वारा मान्य यह विशेषण न देते, तो प्रस्तुत लक्षण 'हीनोपमा' में चला जाता। इसी प्रकार अन्य अलंकारों की परिभाषा भी परिष्कृत है।

काव्यानुशासन :—

इस के लेखक अभिनव वाग्भट हैं। इनका समय १४ वीं शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पृष्ठ ४२ पर उदात्तालंकार का जो उदाहरण[1] वाग्भट ने दिया है, वह नरेन्द्रप्रभ सूरि के अलंकार महोदधि—जिसकी रचना वि० सं० १२८२ में समाप्त हुई थी—को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। अतः वाग्भट का समय १४ वीं शताब्दी निश्चित है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का उल्लेख इर्णलिग कैटलौग नं० ११५७ पर है। इस लिखित प्रति पर लेखन-काल वि० सं० १५१५ है।

वाग्भट के पिता का नाम नेमिकुमार और पितामह का श्री मक्कलय था। इनका निवासस्थान मेवाड़ है। वे अपने समय के बहुत बड़े धनिक व्यापारी और उच्चकोटि के लेखक या महाकवि थे। इन्होंने अनेक महाकाव्य, लिखे थे[2]। इन्होंने अपना परिचय काव्यानुशासन के प्रारम्भ में दिया है। विशेष जानकारी के लिये इन पंक्तियों के लेखक का "महाकवि-वाग्भट और उनका काव्यानुशासन' शीर्षक लेख देखिये, जो 'जैन सिद्धान्त भास्कर', भाग २२, किरण २ (सन् १९५५) में प्रकाशित हो चुका है।

काव्यानुशासन सूत्र शैली में लिखा गया छोटा-सा, किन्तु महत्वपूर्ण अलंकार ग्रंथ है। इसके पाँच अध्यायों में क्रमशः ६२, ७५, ६८, २६ और ५८ कुल—२८९ सूत्र हैं। सूत्रों के ऊपर वाग्भट ने स्वयं 'अलंकारतिलक वृत्ति' नाम की टीका लिखी है। सूक्ष्म दृष्टि से ग्रंथ देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वाग्भट हेमचन्द्र से बहुत प्रभावित थे। वे उन्हें अपना समझते थे, अतः उनके ग्रंथ का नाम (काव्यानुशासन), सूत्र शैली और कुछ सूत्र तथा कुछ टीका का अंश भी उन्होंने अपने ग्रंथ में ले लिया है।

ग्रन्थ बहुत सरल है। इसमें अलंकार संबंधी सभी तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है। जो बात सूत्रों में नहीं कही जा सकी, वह टीका में कह दी गयी है। टीका बहुत महत्वपूर्ण है।

हेमचन्द्र ने ध्वनि का समर्थन जोरदार शब्दों में किया है, किन्तु वाग्भट ने उसे "पर्यायोक्त" अलंकार में गर्भित किया है। सभी अलंकार ग्रन्थों में काव्यों से उदाहरण लिये गये हैं, किन्तु वाग्भट ने दोष प्रकरण में मम्मट और दण्डी आदि के अलंकार ग्रन्थों के मंगलाचरण के पद्यों को उद्धृत कर उनमें दोष बतलाये हैं।

काव्यालंकारसार :—

इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री भावदेव सूरि हैं। इनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शती का प्रथम चरण है। इसकी सूचना स्वयं इन्होंने अपने पार्श्वनाथ चरित महाकाव्य की प्रशस्ति में दी है।[1]

काव्यालंकारसार में आठ अध्याय हैं, जिनमें क्रमशः ५+१५+ २४+१३+१३+४९+५+८=१३२ श्लोक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में काव्य का स्वरूप, हेतु, फल (१) शब्दार्थस्वरूप (२) शब्दार्थदोष (३) गुण (४) शब्दालंकार (५) अर्थालंकार (६) रीति (७) और रस (८) इन साहित्यिक तत्त्वों पर संक्षिप्त और सारगर्भ प्रकाश डाला गया है।

आचार्य श्री भावदेव सूरि ने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के अलंकार ग्रंथों का गम्भीर चिन्तन कर प्रस्तुत ग्रन्थ बनाया है। अभी तक प्रकाशित हुए अलंकार ग्रंथों में इतना सरल और सरस ग्रंथ मेरे देखने में नहीं आया। अलंकार शास्त्र के अध्ययन करने वालों को सबसे पहले यही ग्रंथ पढ़ना चाहिए।

---

१. उच्चीयन्ते स्म वेश्मन्यशनविरहिते यत्नतः श्रोत्रियाणां
यत्र श्यामाक बीजान्यपि चटकवधूचंचुकोटिच्युतानि।
यस्मिन् दातर्यकस्माच्चटुलवटुकराकृष्टमुक्तावचूल—
भ्रष्टास्तत्रैव दृष्टा युवतिभिरलसं घूर्णिता मौक्तिकौघाः ॥

२—नव्यानेकमहाप्रबन्धरचनाचातुर्यविस्फूर्जित—
स्फारोदारयशःप्रचारसततव्याकीर्णविश्वत्रयः।
श्रीमन्नेमिकुमारसूनुरखिलप्रज्ञालुचूडामणिः
काव्यानामनुशासनं वरमिदं चक्रे कविर्वाग्भट :॥

इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ और भी जैन-अलंकार ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु वे इस समय सामने नहीं हैं, अतः उनके बारे में यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता।

अनेक जैन विद्वानों ने जैनेतर अलंकार ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी हैं। काव्यप्रकाश पर सबसे पहली 'संकेता' नाम की टीका प्रकाशित हो चुकी है। इसके कर्ता जैन विद्वान् श्री माणिक्यचन्द्र हैं। रुद्रट के काव्यालंकार पर जैन विद्वान श्री नमिसाधु ने टीका लिखी थी, जो प्रकाशित हो चुकी है। आचार्य सिद्धचन्द्र ने 'काव्यप्रकाश विवरण' लिखा था। यह भी प्रकाशित हो चुका है।

अलंकार शास्त्र का अविकल अध्ययन, मनन और चिन्तन करने वालों के लिये उक्त ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

---

१. तेषां विनेयविनयी बहु भावदेव सूरिः प्रसन्नजिनदेवगुरुप्रसादात्।
श्रीपत्तनाख्यनगरे रविविश्ववर्षे पार्श्वप्रभोश्चरितरत्नमिदं ततान॥

जैन ज्योतिष साहित्य

(ले० प्रो नेमीचन्द्रजेन एम० ए०, ज्योतिषाचाय, आरा)

"ज्योतिषां सूर्यादिग्रहाणां बोधकं शास्त्रं"—सूर्यादिग्रह और काल का बोध करानेवाला शास्त्र ज्योतिष कहलाता है। अत्यन्त प्राचीन काल से आकाश-मण्डल मानव के लिए कौतूहल का विषय रहा है। सूर्य और चन्द्रमा से परिचित हो जाने के उपरान्त ताराओं, ग्रहों एवं उपग्रहों की जानकारी भी मानव ने प्राप्त की। जैन परम्परा बतलाती है कि आज से लाखों वर्ष पूर्व कर्म-भूमि के प्रारम्भ में प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में, जब मनुष्यों को सर्वप्रथम सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी पड़े, तो वे इतने सशंकित हुए और अपनी उत्कंठा शान्त करने के लिए उक्त प्रतिश्रुति नामक कुलकर-मनु के पास गये। उक्त कुलकर ने सौर-जगत् की व्यावहारिक जानकारी बतलायी और इन्हीं से लोगों ने सौर-मण्डल का ज्ञान प्राप्त किया तथा यही ज्ञान लोक में ज्योतिष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आगमिक परम्परा अनवछिन्नरूप से अनादि होने पर भी इस युग में ज्योतिष साहित्य की नींव का इतिहास यहीं से आरम्भ होता है। यों तो जो ज्योतिष-साहित्य आजकल उपलब्ध है, वह प्रतिश्रुति कुलकर से लाखों वर्ष पीछे का लिखा हुआ है।

जैन ज्योतिष-साहित्य का उद्भव और विकासः-

आगमिक दृष्टि से ज्योतिष शास्त्र का विकास विद्यानुवादांग और परिकर्मों से हुआ है। समस्त गणित-सिद्धान्त ज्योतिष-परिकर्मों में अंकित था और अष्टांग निमित्त का विवेचन विद्यानुवादांग में किया गया था। षट्खंडागम धवलाटीका[1] में रौद्र श्वेत, मैत्र, सारभट, दैत्य, वैरोचन, वैश्वदेव, अभिजित्, रोहण, बल, विजय, नैऋत्य, वरुण, अर्यमन् और भाग्य ये पन्द्रह मुहूर्त्त आये हैं। मुहूर्तों की नामावली वीरसेन स्वामी की अपनी नहीं है, किन्तु पूर्व परम्परा से प्राप्त श्लोकों को उन्होंने उद्धृत किया है। अतः मुहूर्त्त चर्चा पर्याप्त प्राचीन है।

प्रश्नव्याकरण में नक्षत्रों की मीमांसा कई दृष्टिकोणों से की गयी है। समस्त नक्षत्रों को कुल, उपकुल और कुलोपकुलों में विभाजन कर वर्णन किया गया है। यह वर्णन प्रणाली ज्योतिष के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य, मघा, उत्तरा फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, मूल एवं उत्तराषाढ़ा ये नक्षत्र कुलसंज्ञक; श्रवण, पूर्वाभाद्रपद, रेवती, भरणी, रोहिणी, पुनर्वसु, आश्लेषा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, स्वाति, ज्येष्ठा एवं पूर्वाषाढ़ा ये नक्षत्र उपकुलसंज्ञक और अभिजित्, शतभिषा, आर्द्रा एवं अनुराधा कुलोपकुल संज्ञक हैं। यह कुलोपकुल का विभाजन पूर्ण-मासी को होनेवाले नक्षत्रों के आधार पर किया गया है। अभिप्राय यह है कि श्रावण मास के धनिष्ठा, श्रवण और अभिजित् भाद्रपदमास के उत्तराभाद्रपद, पूर्वाभाद्रपद और शतभिषा; आश्विनमास के अश्विनी और रेवती, कार्तिकमास के कृत्तिका और भरणी, अगहन या मार्गशीर्ष मास के मृगशिरा और रोहिणी, पौष मास के पुष्य, पुनर्वसु और आर्द्रा, माघमास के मघा और आश्लेषा, फाल्गुनमास के उत्तराफाल्गुनी और पूर्वाफाल्गुनी, चैत्रमास के चित्रा और हस्त, वैशाखमास के विशाखा और स्वाति, ज्येष्ठ मास के ज्जेष्ठा, मूल और अनुराधा एवं आषाढ़मास के उत्तराषाढ़ा और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र बताये गये हैं[2]। प्रत्येक मास की पूर्णमासी को उस मास का प्रथम नक्षत्र कुलसंज्ञक, दूसरा उपकुलसंज्ञक और तीसरा कुलोपकुल संज्ञक होता है। इस वर्णन का प्रयोजन उस महीने का फल निरूपण करना है। इस ग्रंथ में ऋतु, अयन, मास, पक्ष और तिथि सम्बन्धी चर्चाएँ भी उपलब्ध हैं।

समवायाङ्ग में नक्षत्रों की ताराएँ, उनके दिशाद्वार आदि का वर्णन है। कहा गया है—"कत्ति-आइया सत्तणमवत्ता पुव्वदा-रिआ"। महाइया सत्तणमवत्ता दाहिणदारिआ। अणुराहा-इया सत्तणक्खत्ता अवरदारिआ। धणिट्ठाइया सत्तणक्खत्ता उत्तर-दारिआ"[3] अर्थात् कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, और आश्लेषा ये सात नक्षत्र पूर्वद्वार, मघा, पूर्वा-फाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा ये नक्षत्र दक्षिणद्वार, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा अभिजित् और श्रवण ये सात नक्षत्र पश्चिमद्वार एवं धनिष्ठा, शतभिषा पूर्वाभाद्रपद, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी

और भरणी ये सात नक्षत्र उत्तर द्वार वाले हैं। समवायांग १।६,२।४,३।२,४।३,५।९ में आयी हुई ज्योतिष चर्चाएँ महत्वपूर्ण हैं।

ठाणांग में चन्द्रमा के साथ स्पर्श योग करनेवाले नक्षत्रों का कथन किया गया है। वहाँ बतलाया गया है—कृत्तिका, रोहिणी, पुनर्वसु, मघा, चित्रा, विशाखा, अनुराधा और ज्येष्ठा ये आठ नक्षत्र चन्द्रमा के साथ स्पर्शयोग करनेवाले हैं। इस योग का फल तिथियों के अनुसार विभिन्न प्रकार का होता है। इसी प्रकार नक्षत्रों की अन्य संज्ञाएँ तथा उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और और पूर्व दिशा की ओर से चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले नक्षत्रों के नाम और उनके फल विस्तार पूर्वक बतलाये गये हैं। ठाणांग में अंगारक, काल, लोहिताक्ष, शनैश्चर, कनक, कनक-कनक, कनक-वितान, कनक-संतानक, सोमहित, आश्वासन, कज्जोबग, कर्वट, अयस्कर, दुंदुयन, शंख, शंखवर्ण, इन्द्राग्नि, धूमकेतु, हरि, पिंगल, बुध, शुक्र, बृहस्पति, राहु, अगस्त, भानवक्र, काश, स्पर्श, धुर, प्रमुख, विकट, विसन्धि, विमल, पपिल, जटिलक, अरुण, अगिल, काल, महाकाल, स्वस्तिक, सौवास्तिक, वर्द्धमान, पुष्पमानक, अंकुश, प्रलम्ब, नित्यलोक, नित्योदयित, स्वयंप्रभ, उसम, श्रेयंकर, प्रेयंकर, आयंकर, प्रभंकर, अपराजित, अरज, अशोक, विगतशोक, निर्मल, विमुख, वितत, वित्रस्त, विशाल, शाल, सुव्रत, अनिवर्तक, एकजटी, द्विजटी, करकरीक, राजगल, पुष्पकेतु एवं भावकेतु आदि ८८ ग्रहों के नाम बताए गये हैं[४]। समवायांग में भी उक्त ८८ ग्रहों का कथन आया है। "एगमेगस्सणं चंदिम सूरियस्स अट्ठासीइ महग्गहा परिवारो"[५] अर्थात् एक-एक चन्द्र और सूर्य के परिवार, में अट्ठासी-अट्ठासी महाग्रह हैं। प्रश्नव्याकरणांग में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु या धूमकेतु इन नौ ग्रहों के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है।

समवायांग में ग्रहण के कारणों का भी विवेचन मिलता है[६]। इसमें राहु के दो भेद बतलाये गये हैं—नित्यराहु और पर्वराहु। नित्यराहु को कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष का कारण तथा पर्वराहु को चन्द्रग्रहण का कारण माना है। केतु, जिसका ध्वजदण्ड सूर्य के ध्वजदण्ड से ऊँचा है. भ्रमणवश वही केतु सूर्यग्रहण का कारण होता है।

दिनवृद्धि और दिनह्रास के सम्बन्ध में भी समवायांग में विचार-विनिमय किया गया है। सूर्य जब दक्षिणायन में निषधपर्वत के आभ्यंतर मण्डल से निकलता हुआ ४४ वें मण्डल—गमन मार्ग में आता है, उस समय $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त्त दिन कम होकर रात बढ़ती है—इस समय २४ घटी का दिन और ३६ घटी की रात होती है। उत्तर दिशा में ४४वें मंडल—गमन मार्ग पर जब सूर्य आता है, तब $\frac{२}{६१}$ मुहूर्त्त दिन बढ़ने लगता है और इस प्रकार जब सूर्य ९३ वें मंडल पर पहुँचता है, तो दिन परमाधिक-३६ घटी का होता है। यह स्थिति आषाढ़ीपूर्णिमा को घटती है।[७]

इस प्रकार जैन आगम ग्रंथों में ऋतु, अयन, दिनमान, दिनवृद्धि, दिनह्रास, नक्षत्रमान, नक्षत्रों की विविध संज्ञाएँ, ग्रहों के मण्डल, विमानों के स्वरूप और विस्तार, ग्रहों की आकृतियों आदि का फुटकर रूप में वर्णन मिलता है। यद्यपि आगम ग्रंथों का संग्रहकाल ई० सन् की आरंभिक शताब्दी या उसके पश्चात् ही विद्वान् मानते हैं, किन्तु ज्योतिष की उपर्युक्त चर्चाएँ पर्याप्त प्राचीन हैं। इन्हीं मौलिक मान्यताओं के आधार पर जैन ज्योतिष के सिद्धान्तों को ग्रीकपूर्व सिद्ध किया गया है।[८]

ऐतिहासज्ञ विद्वान् गणित ज्योतिष से भी फलित को प्राचीन मानते हैं। अतः अपने कार्यों की सिद्धि के लिये समयशुद्धि की आवश्यकता आदिम-मानव को भी रही होगी। इसी कारण जैन आगम ग्रन्थों में फलित ज्योतिष के बीज—तिथि नक्षत्र, योग, करण, बार, समयशुद्धि, दिनशुद्धि आदि की चर्चाएँ विद्यमान हैं।

जैन ज्योतिष-साहित्य का सांगोपांग परिचय प्राप्त करने के लिये इसे निम्न चार कालखण्डों में विभाजित कर हृदयंगम करने में सरलता होगी।

आदिकाल—ई० पू० ३०० से ६०० ई० तक।

पूर्वमध्यकाल—६०१ ई० से १००० ई० तक।

उत्तर मध्यकाल—१००१ ई० से १७०० ई० तक।

अर्वाचीन काल— १७०१ ई० से १९६० ई० तक।

आदिकाल की रचनाओं में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, अंगविज्जा, लोकविजययन्त्र एवं ज्योतिष्करण्डक आदि उल्लेखनीय हैं।

सूर्यप्रज्ञप्ति प्राकृत भाषा में लिखित एक प्राचीन रचना है। इस पर मलयगिरि की संस्कृत टीका है। ई० सन् से दो सौ वर्ष पूर्व की यह रचना निर्विवाद सिद्ध है। इसमें पंचवर्षात्मक युग मानकर तिथि, नक्षत्रादि का साधन किया गया है। भगवान महावीर की शासनतिथि श्रावणकृष्णा प्रतिपदा से, जब कि चन्द्रमा अभिजित् नक्षत्र पर रहता है, युगारम्भ माना गया है।

सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य के गमनमार्ग, आयु, परिवार आदि के प्रतिपादन के साथ पंचवर्षात्मक युग के अयनों के नक्षत्र, तिथि और मास का वर्णन भी किया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय प्राय: सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। विषय की अपेक्षा यह सूर्यप्रज्ञप्ति से अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें सूर्य की प्रतिदिन की योजनात्मिका गति निकाली गई है तथा उत्तरायण और दक्षिणायन की वीथियों का अलग-अलग विस्तार निकाल कर सूर्य और चन्द्र की गति निश्चित की गई है। इसके चतुर्थ प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का संस्थान तथा तापक्षेत्र का संस्थान विस्तार से बताया गया है। इसमें समचतुस्र, विषमचतुस्र आदि विभिन्न आकारों का खण्डन कर सोलह वीथियों में चन्द्रमा को समचतुस्र गोल आकार बताया गया है। इसका कारण यह है कि सुषमा-सुषमाकाल के आदि में श्रावणकृष्ण प्रतिपदा के दिन जम्बूद्वीप का प्रथम सूर्य पूर्व दक्षिण-अग्निकोण में और द्वितीय सूर्य पश्चिमोत्तर-वायव्यकोण में चला। इसी प्रकार प्रथम चन्द्रमा पूर्वोत्तर-ईशान कोण में और द्वितीय चन्द्रमा पश्चिम-दक्षिण नैऋत्य कोण में चला। अतएव युगादि में सूर्य और चन्द्रमा का समचतुस्र संस्थान था, पर उदय होते समय ये ग्रह वर्तुलाकार निकले, अत: चन्द्रमा और सूर्य का आकार अर्धकपीठ-अर्ध समचतुस्र गोल बताया गया है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति में छाया साधन किया गया है और छाया प्रमाण पर से दिनमान भी निकाला गया है। ज्योतिष की दृष्टि से यह विषय बहुत ही महत्वपूर्ण है। यहाँ प्रश्न किया गया है कि जब अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो, उस समय कितना दिन व्यतीत हुआ और कितना शेष रहा? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि ऐसी छाया की स्थिति में दिनमान का तृतीयांश व्यतीत हुआ समझना चाहिए। यहाँ विशेषता इतनी है कि यदि दोपहर के पहले अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दिन का तृतीय भाग गत और दो तिहाई भाग अवशेष तथा दोपहर के बाद अर्धपुरुष प्रमाण छाया हो तो दो तिहाई भाग प्रमाण दिन गत और एक भाग प्रमाण दिन शेष समझना चाहिए। पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का चौथाई भाग गत और तीन चौथाई भाग शेष, डेढ़ पुरुष प्रमाण छाया होने पर दिन का पंचम भाग गत और चार पंचम भाग ($\frac{4}{5}$ भाग) अवशेष दिन समझना चाहिए।[1]

इस ग्रंथ में गोल, त्रिकोण, लम्बी, चौकोर वस्तुओं की छाया पर से दिनमान का आनयन किया गया है। चन्द्रमा के साथ तीस मुहूर्त तक योग करनेवाले श्रवण, धनिष्ठा पूर्वाभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिर, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, अनुराधा, मूल और पूर्वाषाढ़ ये पन्द्रह नक्षत्र बताए गए हैं। पैंतालीस मूहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ यो करनेवाले उत्तरा-भाद्रपद, रोहिणी, पुनर्वसु, उत्तराफाल्गुनी, विशाखा और उत्तराषाढ़ा ये छ: नक्षत्र एवं पन्द्रह मूहूर्त्त तक चन्द्रमा के साथ योग करनेवाले शतभिषा, भरणी, आर्द्रा, आश्लेषा, स्वाति और ज्येष्ठा ये छ: नक्षत्र बताये गये हैं।

चन्द्रप्रज्ञप्ति के १९ वें प्राभृत में चन्द्रमा को स्वत: प्रकाशमान बतलाया है तथा इसके घटने-बढ़ने का कारण भी स्पष्ट किया है। १८वें प्राभृत में पृथ्वी तल से सूर्यादि ग्रहों की ऊँचाई बतलाई गयी है।

ज्योतिष्करण्डक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अयनादि के कथन के साथ नक्षत्र लग्न का भी निरूपण किया गया है। यह लग्न निरूपण की प्रणाली सर्वथा नवीन और मौलिक है :—

लग्गं च दक्खिणाय विसुवे सुवि अस्स उत्तरं अयणे।
लग्गं साई विसुवेसु पंचसु वि दक्खिणे अयणे ॥

अर्थात् अश्विनी और स्वाति ये नक्षत्र विषुव के लग्न बताये गये हैं। जिस प्रकार नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को राशि कहा जाता है, उसी प्रकार यहाँ नक्षत्रों की विशिष्ट अवस्था को लग्न बताया गया है।

इस ग्रंथ में कृत्तिकादि, धनिष्ठादि, भरण्यादि, श्रवणादि एवं अभिजित् आदि नक्षत्र गणनाओं की विवेचना की गयी है।

ज्योतिष्करण्ड का रचनाकाल ई० पू० ३०० के लगभग है। विषय और भाषा दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण है।

अंगविज्जा का रचनाकाल कुषाण-गुप्त युग का सन्धिकाल माना गया है। शरीर के लक्षणों से अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या चिन्हों से किसी के लिए शुभाशुभ फल का कथन करना ही इस ग्रंथ का वर्ण्य विषय है। इस ग्रंथ में कुल साठ अध्याय हैं। लम्बे अध्यायों का पटलों में विभाजन किया गया है। आरम्भ के अध्यायों में अंगविद्या की उत्पत्ति, स्वरूप, शिष्य के गुण-दोष, अंगविद्या का माहात्म्य प्रभृति विषयों का विवेचन किया है। गृहप्रवेश, यात्रारम्भ, वस्त्र, यान, धान्य, चर्या, चेष्टा आदि के द्वारा शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। प्रवासी घर कब और कैसी स्थिति में लौटकर आयेगा, इसका विचार ४५ वें अध्याय में किया गया है। ५२ वें अध्याय में इन्द्रधनुष, विद्युत्, चन्द्रग्रह, नक्षत्र, तारा, उदय, अस्त, अमावस्या, पूर्णमासी, मंडल, वीथी, युग, संवत्सर, ऋतु, मास, पक्ष, क्षण, लव, मुहूर्त्त, उल्कापात, दिशादाह आदि निमित्तों से फलकथन किया गया, है। सत्ताईस नक्षत्र और उनसे होने वाले शुभाशुभ फल का भी विस्तार से उल्लेख है। संक्षेप में इस ग्रन्थ में अष्टांग निमित्त का विस्तारपूर्वक विभिन्न दृष्टियों से कथन किया गया है।[10]

लोकविजय-यन्त्र भी एक प्राचीन ज्योतिष की रचना है। यह प्राकृत भाषा में ३० गाथाओं में लिखा गया है। इसमें प्रधानरूप से सुभिक्ष, दुर्भिक्ष की जानकारी बतलायी गयी है। आरम्भ में मंगलाचरण करते हुए कहा है :—

पणमिय पयारविंदे तिलोयनाहस्स जगपईवस्स।
पुच्छामि लोयविजयं जंतं जंतूण सिद्धिकयं॥

जगत्पति—नाभिराय के पुत्र त्रिलोकनाथ ऋषभदेव के चरणकमलों में प्रणाम करके जीवों की सिद्धि के लिये लोकविजय-यन्त्र का वर्णन करता हूँ।

इसमें १४५ से आरम्भ कर १५३ तक ध्रुवांक बतलाये गये हैं। इन ध्रुवांकों पर से ही अपने स्थान के शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। कृषिशास्त्र की दृष्टि से भी यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है।

कालकाचार्य—यह भी निमित्त और ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इन्होंने अपनी प्रतिभा से शककुल के साहि को स्ववश किया था तथा गर्दभिल्ल को दण्ड दिया था। जैन परम्परा में ज्योतिष के प्रवर्तकों में इनका मुख्य स्थान है, यदि यह आचार्य निमित्त और संहिता का निर्माण न करते, तो उत्तरवर्ती जैन लेखक ज्योतिष को पापश्रुत समझकर अछूता ही छोड़ देते।

वराहमिहिर ने वृहज्जातक में कालक संहिता का उल्लेख किया है।[11] निशीथचूर्णि, आवश्यकचूर्णि आदि ग्रन्थों से इनके ज्योतिष-ज्ञान का पता चलता है।

उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में जैन ज्योतिष के मूल सिद्धान्तों का निरूपण किया है। इनके मत से ग्रहों का केन्द्र सुमेरु पर्वत है, ग्रह नित्य गतिशील होते हुए मेरु की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। चौथे अध्याय में गृह,नक्षत्र, प्रकीर्णक और तारों का भी वर्णन किया है। संक्षेप रूप में आई हुई इनकी चर्चाएँ ज्योतिष की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार आदिकाल में अनेक ज्योतिष की रचनाएँ हुई। स्वतंत्र ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य विषय-धार्मिक ग्रन्थों, आगम ग्रन्थों की चूर्णियों, वृत्तियों और भाष्यों में भी ज्योतिष की महत्त्वपूर्ण बातें अंकित की गयीं। तिलोय-पण्णत्ति में ज्योतिर्मण्डल का महत्त्वपूर्ण वर्णन आया है। ज्योतिर्लोकान्धकार में अयन, गमनमार्ग, नक्षत्र एवं दिनमान आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।

पूर्वमध्यकाल में गणित और फलित दोनों ही प्रकार के ज्योतिष का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें ऋषिपुत्र, महावीराचार्य, चन्द्रसेन, श्रीधर प्रभृति ज्योतिर्विदों ने अपनी अमूल्य रचनाओं के द्वारा इस साहित्य की श्रीवृद्धि की।

भद्रबाहु के नाम पर अर्हच्चूडामणिसार नामक एक प्रश्न शास्त्र सम्बन्धी ७४ प्राकृत गाथाओं में रचना उपलब्ध है। यह रचना चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की है, इसमें तो सन्देह है। हमें ऐसा लगता है कि यह भद्रबाहु वराहमिहिर के भाई थे, अतः संभव है कि इस कृति के लेखक यह द्वितीय भद्रबाहु ही होंगे। आरम्भ में वर्णों की संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। अ इ ए ओ, ये चार स्वर तथा क च ट त प य श ग ज ड द ब ल स, ये चौदह व्यंजन आलिंगित संज्ञक हैं। इनका सुभग, उत्तर और संकट नाम भी है। आ ई ऐ औ, ये चार स्वर तथा ख छ ठ थ फ र ष घ झ ढ, ध भ व ह ये चौदह व्यंजन अभिधूमित संज्ञक हैं। इनका मध्य, उत्तराधर और विकट नाम भी है। उ ऊ अं अः ये चार स्वर तथा ङ ञ ण न म ये व्यंजन दग्धसंज्ञक हैं। इनका विकट संकट, अधर और अशुभ नाम भी है। प्रश्न में सभी आलिंगित अक्षर हों, तो प्रश्नकर्ता की कार्य सिद्धि होती है।

प्रश्नाक्षरों के दग्ध होने पर कार्यसिद्धि का विनाश होता है। उत्तर संज्ञक स्वर उत्तर संज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने से उत्तरतम और उत्तराधर तथा अधर स्वरों से संयुक्त होने पर उत्तर और अधर संज्ञक होते हैं। अधर संज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में संयुक्त होने पर अधराधरतर संज्ञक होते हैं। दग्धसंज्ञक स्वर दग्धसंज्ञक व्यंजनों में मिलने से दग्धतम संज्ञक होते हैं।[12] इन सज्ञाओं के पश्चात् फलाफल निकाला गया है। जय-पराजय, लाभालाभ, जीवन-मरण आदि का विवेचन भी किया गया है। इस छोटी-सी कृति में बहुत कुछ निबद्ध कर दिया गया है। इस कृति की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसमें मध्यवर्ती क, ग और त के स्थान पर य श्रुति पायी जाती है।

करलक्खण—यह सामुद्रिक शास्त्र का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें रेखाओं का महत्व, स्त्री और पुरुष के हाथों के विभिन्न लक्षण, अंगुलियों के बीच के अन्तराल पर्वों के फल, मणिबन्ध, विद्यारेखा, कुल, धन, ऊर्ध्व, सम्मान, समृद्धि, आयु, धर्म, व्रत आदि रेखाओं का वर्णन किया है। भाई-बहन, सन्तान आदि की द्योतक रेखाओं के वर्णन के उपरान्त अंगुष्ठ के अधोभाग में रहनेवाले यव का विभिन्न परिस्थितियों में प्रतिपादन किया गया है। यव का यह प्रकरण नौ गाथाओं में पाया जाता है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है—

इय करलक्खणमेयं समासओ दंसिअं जइजणस्स।
पुव्वायरिएहिं णरं परिक्खऊणं वयं दिज्जा ॥६१॥

यतियों के लिए संक्षेप में करलक्षणों का वर्णन किया गया है। इन लक्षणों के द्वारा व्रत ग्रहण करनेवाले की परीक्षा कर लेनी चाहिए। जब शिष्य में पूरी योग्यता हो, व्रतों का निर्वाह कर सके तथा व्रती जीवन को प्रभावक बना सके, तभी उसे व्रतों की दीक्षा देनी देनी चाहिए। अतः स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का उद्देश्य जनकल्याण के साथ नवागत शिष्य की परीक्षा करना ही है। इसका प्रचार भी साधुओं में रहा होगा।

ऋषिपुत्र का नाम भी प्रथम श्रेणी के ज्योतिर्विदों में परिगणित है। इन्हें गर्ग का पुत्र कहा गया है। गर्ग मुनि ज्योतिष के धुरन्धर विद्वान् थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। इनके सम्बन्ध में लिखा मिलता है।

जैन आसीज्जगद्वंद्यो गर्गनामा महामुनिः।
तेन स्वयं निर्णीत यं सत्पाशात्र केवली ॥
एतज्ज्ञानं महाज्ञानं जैनर्षिभिरुदाहृतम्।
प्रकाश्य शुद्धशीलाय कुलीनाय महात्मना ॥

संभवतः इन्हीं गर्ग के वंश में ऋषिपुत्र हुए होंगे। इनका नाम ही इस बात का साक्षी है कि यह किसी ऋषि के वंशज थे अथवा किसी मुनि के आशीर्वाद से उत्पन्न हुए थे। ऋषिपुत्र का एक निमित्त शास्त्र ही उपलब्ध है। इनके द्वारा रची गयी एक संहिता का भी मदनरत्न नामक ग्रंथ में उल्लेख मिलता है। ऋषिपुत्र के उद्धरण वृहत्संहिता की महोत्पली टीका में उपलब्ध हैं।

ऋषिपुत्र का समय वराहमिहिर के पहले होना चाहिए। यतः ऋषिपुत्र का प्रभाव वराहमिहिर पर स्पष्ट है। यहाँ दो-एक उदाहरण देकर स्पष्ट किया जायगा।

ससलोहिवण्णहोवरि संकुण हत्ति होइ णायव्वो।
संगामं पुण घोरं खग्गं सूरो णिवेदई ॥ —ऋषिपुत्र निमित्तशास्त्र
शशि रुधिकरनिभे भानौ नभस्थले भवन्ति संग्रामाः। —वराहमिहिर

अपने निमित्त शास्त्र में पृथ्वी पर दिखाई देनेवाले, आकाश में दृष्टिगोचर होनेवाले और विभिन्न प्रकार के शब्द श्रवण द्वारा प्रकट होनेवाले इन तीन प्रकार के निमित्तों द्वारा फलाफल का अच्छा निरूपण किया है। वर्षोत्पात, देवोत्पात राजोत्पात, उल्कोत्पात गन्धर्वोत्पात इत्यादि अनेक उत्पातों द्वारा शुभाशुभत्व की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की है।

लग्नशुद्धि या लग्नकुंडिका नाम की रचना हरिभद्र की मिलती है। हरिभद्र दर्शन, कथा और आगम शास्त्र के बहुत बड़े विद्वान् थे। इनका समय आठवीं शती माना जाता है। इन्होंने १४४० प्रकरण—ग्रन्थ रचे हैं। इनकी अब तक ८८ रचनाओं का पता मुनि जिन-विजयजी ने लगाया है। इनकी २६ रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं।

लग्नशुद्धि प्राकृत भाषा में लिखी गयी ज्योतिष रचना है। इसमें लग्न के फल, द्वादश भावों के नाम, उनसे विचारणीय

विषय, लग्न के सम्बन्ध में ग्रहों का फल, ग्रहों का स्वरूप, नवांश, उच्चांश आदि का कथन किया गया है। जातकशास्त्र या होराशास्त्र का यह ग्रन्थ है। उपयोगिता की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। ग्रहों के बल तथा लग्न की सभी प्रकार से शुद्धि——पापग्रहों का अभाव, शुभग्रहों का सद्‌भाव वर्णित है।

महावीराचार्य——ये धुरन्धर गणितज्ञ थे। ये राष्ट्रकूट वंश के अमोघवर्ष नृपतुंग के समय में हुए थे, अतः इनका समय ई० सन् ८५० माना जाता है। इन्होंने ज्योतिष-पटल और गणितसार-संग्रह नाम के ज्योतिष ग्रन्थों की रचना की है। ये दोनों ही ग्रन्थ गणितज्योतिष के हैं? इन ग्रन्थों से इनकी विद्वत्ता का ज्ञान सहज ही में आँका जा सकता है। गणितसार के प्रारम्भ में गणित की प्रशंसा करते हुए बताया है कि गणित के बिना संसार के किसी भी शास्त्र की जानकारी नहीं हो सकती है। कामशास्त्र, गान्धर्व, नाटक, सूपशास्त्र, वास्तुविद्या, छन्दशास्त्र, अलंकार, काव्य, तर्क, व्याकरण, कला प्रभृति का यथार्थ ज्ञान गणित के बिना संभव नहीं है; अतः गणितविद्या सर्वोपरि है।

इस ग्रंथ में संज्ञाधिकार, परिकर्मव्यवहार, कलासवर्णव्यवहार, प्रकीर्णव्यवहार, त्रैराशिकव्यवहार, मिश्रकव्यवहार, क्षेत्र-गणितव्यवहार, खातव्यवहार एवं छायाव्यवहार नाम के प्रकरण हैं। मिश्रकव्यवहार में समकुट्टीकरण, विषमकुट्टीकरण, और मिश्रकुट्टीकरण आदि अनेक प्रकार के गणित हैं। पाटीगणित और रेखागणित की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। इसके क्षेत्रव्यवहार प्रकरण में आयत को वर्ग और वर्ग को वृत्त में परिणत करने के सिद्धान्त दिये गये हैं। समत्रिभुज, विषमत्रिभुज, समकोण, चतुर्भुज, विषमकोण चतुर्भुज, वृत्तक्षेत्र, सूची व्यास, पंचभुजक्षेत्र एवं बहुभुजक्षेत्रों का क्षेत्रफल तथा घनफल निकाला गया है।

ज्योतिषपटल में ग्रहों के चार क्षेत्र, सूर्य के मण्डल, नक्षत्र और ताराओं के संस्थान, गति, स्थिति और संख्या आदि का प्रतिपादन किया है।

चन्द्रसेन—— के द्वारा 'केवलज्ञान होरा' नामक महत्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थ लिखा गया है। यह ग्रन्थ कल्याणवर्मा के पीछे का रचा गया प्रतीत होता है। इसके प्रकरण सारावली से मिलते-जुलते हैं, पर दक्षिण में रचना होने के कारण कर्णाटक प्रदेश के ज्योतिष का पूर्ण प्रभाव है। इन्होंने ग्रन्थ के विषय को स्पष्ट करने के लिए बीच-बीच में कन्नड़ भाषा का भी आश्रय लिया है। यह ग्रन्थ अनुमानतः चार हजार श्लोकों में पूर्ण हुआ है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कहा है :——

होरा नाम महाविद्या वक्तव्यं च भवद्धितम्।
ज्योतिर्ज्ञानैकसारं भूषणं बुधपोषणम्॥

इन्होंने अपनी प्रशंसा भी प्रचुर परिमाण में की है——

आगमः सदृशो जैनः चन्द्रसेन समो मुनिः।
केवली सदृशी विद्या दुर्लभा सचराचरे॥

इस ग्रन्थ में हेमप्रकरण, दाम्यप्रकरण, शिलाप्रकरण, मृत्तिका प्रकरण, वृक्ष प्रकरण, कार्पास-गुल्म-वल्कल-तृण-रोम-चर्म-पटप्रकरण, संख्या प्रकरण, नष्ट द्रव्य प्रकरण, निर्वाह प्रकरण, अपत्यप्रकरण, लाभालाभप्रकरण, स्वरप्रकरण, स्वप्न प्रकरण, वास्तु प्रकरण, भोजन प्रकरण, देहलोहदीक्षा प्रकरण, अंजनविद्या प्रकरण एवं विष विद्या प्रकरण आदि हैं। ग्रन्थ को आद्योपान्त देखने से अवगत होता है कि यह संहिता विषयक रचना है, होरा विषयक नहीं।

श्रीधर——ये ज्योतिष शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इनका समय दशवीं शती का अंतिम भाग है। ये कर्णाटक प्रान्त के निवासी थे। इनकी माता का नाम अब्वोका और पिता का नाम बलदेव शर्मा था। इन्होंने बचपन में अपने पिता से ही संस्कृत और कन्नड़-साहित्य का अध्ययन किया था। प्रारम्भ में ये शैव थे, किन्तु बाद में जैन धर्मानुयायी हो गये थे। इनकी गणितसार और ज्योतिर्ज्ञानविधि संस्कृत भाषा में तथा जातकतिलक कन्नड़-भाषा में रचनाएँ हैं। गणितसार में अभिन्न गुणक, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्न, समच्छेद, भागजाति, प्रभागजाति, भागानुबन्ध, भागमात्र जाति, त्रैराशिक, सप्तराशिक, नवराशिक, भाण्डप्रतिभाण्ड, मिश्रकव्यवहार, भाव्यकव्यवहार, एकपत्रीकरण, सुवर्णगणित, प्रक्षेपक गणित, समक्रय-विक्रय, श्रेणीव्यवहार, क्षेत्रव्यवहार, खातव्यवहार, चितिव्यवहार, काष्ठकव्यवहार, राशिव्यवहार एवं छायाव्यवहार आदि गणितों का निरूपण किया है।

ज्योतिर्ज्ञानविधि प्रारम्भिक ज्योतिष का ग्रन्थ है। इसमें व्यवहारोपयोगी मुहूर्त्त भी दिये गये हैं। आरम्भ में संवत्सरों

के नाम, नक्षत्र नाम, योग-करण नाम तथा उनके शुभाशुभत्व दिये गये हैं। इसमें मासशेष, मासाधिपतिशेष, दिनशेष एवं दिनाधिपति शेष आदि गणितानयन की अद्भुत प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं।

जातकतिलक कन्नड़-भाषा में लिखित होरा या जातकशास्त्र सम्बन्धी रचना है। इस ग्रन्थ में लग्न, ग्रह, ग्रहयोग, एवं जन्मकुण्डली सम्बन्धी फलादेश का निरूपण किया गया है। दक्षिण भारत में इस ग्रन्थ का अधिक प्रचार है।

चन्द्रोन्मीलन प्रश्न भी एक महत्वपूर्ण प्रश्नशास्त्र की रचना है। इस ग्रन्थ के कर्ता के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं है। ग्रन्थ को देखने में यह अवश्य अवगत होता है कि इस प्रश्न प्रणाली का प्रचार खूब था। प्रश्नकर्ता के प्रश्नवर्णों का संयुक्त असंयुक्त, अभिहत, अनभिहत, अभिघातित, अभिधूमित, आलिंगित और दग्ध इन संज्ञाओं में विभाजन कर प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। चन्द्रोन्मीलन पर्याप्त विस्तृत है। इसके आधार पर और भी कई प्रश्न ग्रन्थ लिखे गये हैं। केरलीय प्रश्न संग्रह में चन्द्रोन्मीलन का खण्डन किया गया है। "प्रोक्तं चन्द्रोन्मीलनं शुक्लवस्त्रैस्तच्चाशुद्धम्" इससे ज्ञात होता है कि यह प्रणाली लोकप्रिय थी। चन्द्रोन्मीलन नाम का जो ग्रन्थ उपलब्ध है, वह साधारण है।

उत्तरमध्यकाल में फलित ज्योतिष का बहुत विकास हुआ। मुहूर्त्तजातक, संहिता, प्रश्न सामुद्रिकशास्त्र प्रभृति विषयों की अनेक महत्वपूर्ण रचनाएं लिखी गयी हैं। इस युग में सर्वप्रथम और प्रसिद्ध ज्योतिषी दुर्गदेव हैं। दुर्गदेव के नाम से यों तो अनेक रचनाएं मिलती हैं, पर दो रचनाएँ प्रमुख हैं–रिट्ठसमुच्चय और अर्द्धकाण्ड। दुर्गदेव का समय सन् १०३२ माना गया है। रिट्ठसमुच्चय की रचना अपने गुरु संयमदेव के वचनानुसार की है। ग्रन्थ में एक स्थान पर संयमदेव के गुरु संयमसेन और उनके गुरु माधवचन्द्र बताए गए हैं। रिट्ठसमुच्चय शौरसेनी प्राकृत में २६१ गाथाओं में रचा गया है। इसमें शकुन और शुभाशुभ निमित्तों का संकलन किया गया है। लेखक ने रिष्टों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नामक तीन भेद किये हैं। प्रथम श्रेणी में अंगुलियों का टूटना, नेत्रज्योति की हीनता, रसज्ञान की न्यूनता, नेत्रों से लगातार जलप्रवाह एवं जिह्वा न देख सकना आदि को परिगणित किया है। द्वितीय श्रेणी में सूर्य और चन्द्रमा का अनेकों रूपों में दर्शन, प्रज्वलित दीपक को शीतल अनुभव करना, चन्द्रमा को त्रिभंगी रूप में देखना, चन्द्रलांछन का दर्शन न होना इत्यादि को ग्रहण किया है। तृतीय में निजछाया, परच्छाया तथा छायापुरुष का वर्णन है। प्रश्नाक्षर, शकुन और स्वप्न आदि का भी विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

अर्द्धकाण्ड में तेजी-मंदी का ग्रह-योग के अनुसार विचार किया गया है। यह ग्रन्थ भी १४९ प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है।

मल्लिसेन–संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के प्रकाण्ड विद्वान थे। इनके पिता का नाम जिनसेन सूरि था, ये दक्षिण भारत के धारवाड जिले के अन्तर्गत गदगतालुका नामक स्थान के रहनेवाले थे। इनका समय ई० सन् १०४३ माना गया है। इनका आयसद्भाव नामक ज्योतिषग्रंथ उपलब्ध है। आरम्भ में ही कहा है—

सुग्रीवादिमुनीन्द्रैः रचितं शास्त्रं यदायसद्भावम्।
तत्सम्प्रत्यार्याभिर्विरच्यते मल्लिषेणेन ॥
ध्वजधूमसिंहमण्डल वृषखरगजवायसा भवन्त्यायाः।
ज्ञायन्ते ते विद्भिरिहैकोत्तरगणनया चाष्टौ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि इनके पूर्व भी सुग्रीव आदि जैन मुनियों के द्वारा इस विषय की और रचनाएं भी हुई थीं, उन्हीं के सारांश को लेकर आयसद्भाव की रचना की गयी है। इस कृति में १९५ आर्याएँ और अन्त में एक गाथा, इस तरह कुल १९६ पद्य हैं। इसमें ध्वज, धूम, सिंह, मण्डल, वृष, खर, गज और वायस इन आठों आयों के स्वरूप और फलादेश वर्णित हैं।

भट्टवोसरि—आयज्ञानतिलक नामक ग्रन्थ के रचयिता दिगम्बराचार्य दामनन्दी के शिष्य भट्टवोसरि हैं। यह प्रश्न-शास्त्र का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें २५ प्रकरण और ४१५ गाथाएँ हैं। ग्रन्थकर्ता की स्वोपज्ञ वृत्ति भी है। दामनन्दी का उल्लेख श्रवणवेल्गोल के शिलालेख नं० ५५ में पाया जाता है। ये प्रभाचन्द्राचार्य के सधर्मा या गुरु भाई थे। अतः इनका समय " विक्रम संवत् की ११वीं शती है और भट्टवोसरि का भी इन्हीं के आसपास का समय है।

इस ग्रन्थ में ध्वज, धूम, सिंह, गज, खर, श्वान, वृष, ध्वांक्ष इन आठ आयों द्वारा प्रश्नों के फलादेश का विस्तृत विवेचन

किया है। इसमें कार्य-अकार्य, हानि-लाभ, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि आदि का विचार विस्तारपूर्वक किया गया है। प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उदयप्रभदेव—इनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था। इनका समय ई० सन् १२२० बताया जाता है। इन्होंने ज्योतिष विषयक आरम्भ सिद्धि अपरनाम व्यवहार चर्या ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ पर वि० सं० १५१४ में रत्नशेखर सूरि के शिष्य हेमहंस गणि ने एक विस्तृत टीका लिखी है। इस टीका में इन्होंने मुहूर्त्त सम्बन्धी साहित्य का अच्छा संकलन किया है। लेखक ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थोक्त अध्यायों का संक्षिप्त नामकरण निम्नप्रकार दिया है।

दैवज्ञदीपकालिकां व्यवहारचर्यामारम्भसिद्धिमुदयप्रभदेवानाम् शास्तिक्रमेण तिथिवारमयोगराशिगोचर्यकार्यगिमवास्तु-विलग्नभिः।

हेमहंसगणि ने व्यवहारचर्या नाम की सार्थकता दिखलाते हुए लिखा है—

"व्यवहार शिष्टजनसमाचारः शुभतिथिवारमादिषु शुभकार्यकरणादिरूपस्तस्यचर्या।" यह ग्रन्थ मुहूर्त्त चिन्तामणि के समान उपयोगी और पूर्ण है। मुहूर्त्त विषय की जानकारी इस अकेले ग्रन्थ के अध्ययन से की जा सकती है।

राजादित्य—इनके पिता का नाम श्रीपति और माता का नाम वसन्ता था। इनका जन्म कोंडिमण्डल के 'यूविनबाग' नामक स्थान में हुआ था। इनके नामान्तर राजवर्म, भास्कर और वाचिराज बताये जाते हैं। ये विष्णुवर्धन राजा की सभा के प्रधान पण्डित थे, अत : इनका समय सन् ११२० के लगभग है। यह कवि होने के साथ-साथ गणित और ज्योतिष के माने हुए विद्वान् थे। 'कर्णाटक कवि चरिते' के लेखक का कथन है कि कन्नड़-साहित्य में गणित का ग्रन्थ लिखनेवाला यह सबसे बड़ा विद्वान् था। इनके द्वारा रचित व्यवहार गणित, क्षेत्रगणित, व्यवहाररत्न तथा जैन-गणित-सूत्रटीकोदाहरण और लीलावती ये गणित ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पद्मप्रभसूरि—नागौर की तपागच्छीय पट्टावली से पता चलता है कि ये वादिदेव सूरि के शिष्य थे। इन्होंने भुवनदीपक या ग्रहभावप्रकाश नामक ज्योतिष का ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ पर पर सिंहतिलक सूरि ने वि० सं० १३३६ में एक विवृत्ति लिखी है। "जैन-साहित्य नो इतिहास" नामक ग्रंथ में इन्होंने इनके गुरु का नाम विबुधप्रभ सूरि बताया है। भुवनदीपक का रचनाकाल वि० सं० १२९४ है। यह ग्रन्थ छोटा होते हुए भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें ३६ द्वार-प्रकरण हैं। राशि स्वामी, उच्चनीचत्व, मित्र-शत्रु, राहु का गृह, केतुस्थान, ग्रहों के स्वरूप, द्वादश भावों से विचारणीय बातें, इष्टकाल ज्ञान, लग्न सम्बन्धी विचार, विनष्टगृह, राजयोग का कथन, लाभालाभ विचार, लग्नेश की स्थिति का फल, प्रश्न द्वारा गर्भ विचार, प्रश्न द्वारा प्रसवज्ञान, यमजविचार, मृत्युयोग, चौर्य ज्ञान, द्रेष्काणादि के फलों का विचार विस्तार से किया है। इस ग्रन्थ में कुल १७० श्लोक हैं। इसकी भाषा संस्कृत है।

नरचन्द्र उपाध्याय—ये कासद्रहगच्छ के सिंहसूरि के शिष्य थे। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र के कई ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान में इनके बेड़ा जातक वृत्ति, प्रश्न शतक, प्रश्न चतुर्विंशतिका, जन्मसमुद्रटीका, लग्नविचार और ज्योतिषप्रकाश उपलब्ध हैं। नरचन्द्र ने सं० १३२४ में माघ सुदी ८ रविवार को बेड़ाजातक वृत्ति की रचना १०५० श्लोक प्रमाण में की है। ज्ञानदीपिका नाम की एक अन्य रचना भी इनकी मानी जाती है। ज्योतिशप्रकाश, संहिता और जातक संबंधी महत्त्वपूर्ण रचना है।

अट्ठकवि या अर्हद्दास—ये जैन ब्राह्मण थे। इनका समय ईस्वी सन् १३०० के आसपास है। अर्हद्दास के पिता नागकुमार थे। अर्हद्दास कन्नड़ भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। इन्होंने कन्नड़ में अट्ठमत नामक ज्योतिष का महत्त्वपूण ग्रन्थ लिखा है। शक संवत् की चौदहवीं शताब्दी में भास्कर नाम के आन्ध्र कवि ने इस ग्रंथ का तेलगू भाषा में अनुवाद किया था। अट्ठमत में वर्षा के चिन्ह, आकस्मिक लक्षण, शकुन, वायुचक्र, गृहप्रवेश, भूकम्प, , भूजातफल, उत्पात लक्षण, परिवेषलक्षण, इन्द्रधनुर्लक्षण, प्रथमगर्भलक्षण, द्रोणसंख्या, विद्युतलक्षण, प्रतिसूर्यलक्षण, संवत्सरफल, ग्रहद्वेष, मेघों के नाम, कुलवर्ण, ध्वनिविचार देशवृष्टि, मासफल, राहुचन्द्र १४ नक्षत्रफल, संक्रान्ति फल आदि विषयों का निरूपण किया गया है।

महेन्द्रसूरि—ये भृगुपुर[१४] निवासी मदन सूरि के शिष्य फिरोजशाह तुगलक के प्रधान सभापण्डित थे। इन्होंने नाड़ीवृत्त के धरातल में गोलपृष्ठस्थ सभी वृत्तों का परिणमन करके यन्त्रराज नामक ग्रह गणित का उपयोगी ग्रन्थ लिखा है। इनके शिष्य मलयेन्दु सूरि ने इस पर सोदाहरण टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में परमाक्रान्ति २३ अंश ३५ कला मानी गयी है। इसकी

रचना शक संवत् १२९२ में हुई है। इसमें गणिताध्याय, यन्त्रघटनाध्याय, यन्त्ररचनाध्याय यन्त्रशोधनाध्याय, और यन्त्रविचारणाध्याय ये पाँच अध्याय हैं। क्रमोत्क्रमज्यानयन, भुजकोटिज्या का चापसाधन, क्रान्तिसाधक द्युज्याखंडसाधन, द्युज्याफलानयन, सौम्य गणित के विभिन्न गणितों का साधन, अक्षांश से उन्नतांश साधन, ग्रंथ के नक्षत्र ध्रुवादिक से अभीष्ट वर्ष के ध्रुवादिक का साधन, नक्षत्रों के दृक्कर्मसाधन, द्वादश राशियों के विभिन्नवृत्त सम्बन्धी गणितों का साधन, इष्ट शंकु से छायाकरण साधन यन्त्रशोधन प्रकार और उसके अनुसार विभिन्न राशि नक्षत्रों के गणित का साधन, द्वादशभाव और नवग्रहों के स्पष्टीकरण का, गणित एवं विभिन्न यन्त्रों द्वारा सभी ग्रहों के साधन का गणित बहुत सुन्दर ढंग से बताया गया है। इस ग्रन्थ में पंचांग निर्माण करने की विधि का निरूपण किया है।

भद्रबाहुसंहिता अष्टांग निमित्त का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भ के २७ अध्यायों में निमित्त और संहिता विषय का प्रतिपादन किया गया है। ३० वें अध्याय में अरिष्टों का वर्णन किया गया है। इस ग्रन्थ का निर्माण श्रुतकेवली भद्रबाहु के वचनों के आधार पर हुआ है। विषयनिरूपण और शैली की दृष्टि से इसका रचनाकाल ८–९ वीं शती के पश्चात् नहीं हो सकता है। हां, लोकोपयोगी रचना होने के कारण उसमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्धन होता रहा है।

इस ग्रंथ में व्यंजन, अंग, स्वर, भौम, छन्न, अन्तरिक्ष, लक्षण एवं स्वप्न इन आठों निमित्तों का फलनिरूपण सहित विवेचन किया गया है। उल्का, परिवेशष, विद्युत्, अभ्र, सन्ध्या, मेघ, वात, प्रवर्षण, गन्धर्वनगर, गर्भलक्षण, यात्रा, उत्पात ग्रहचार, ग्रहयुद्ध, स्वप्न, मुहूर्त्त, तिथि, करण, शकुन, पाक, ज्योतिष, वास्तु, इन्द्रसम्पदा, लक्षण, व्यंजन, चिन्ह, लग्न, विद्या, ओषध, प्रभृति सभी निमित्तों के बलाबल, विरोध और पराजय आदि विषयों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है। यह निमित्तशास्त्र का बहुत ही महत्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ है। इससे वर्षा, कृषि, धान्यभाव, एवं अनेक लोकोपयोगी बातों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि के रचयिता समन्तभद्र का समय १३ वीं शती है। ये समन्तभद्र विजयप के पुत्र थे। विजयप के भाई नेमिचन्द्र ने प्रतिष्ठातिलक की रचना आनन्द संवत्सर में चैत्रमास की पंचमी को की है। अतः समन्तभद्र का समय १३ वीं शती है। इस ग्रन्थ में धातु, मूल, जीव, नष्ट, मुष्टि, लाभ, हानि, रोग, मृत्यु, भोजन, शयन, शकुन, जन्म, कर्म, अस्त्र, शल्य, वृष्टि अतिवृष्टि, अनावृष्टि, सिद्धि, असिद्धि आदि विषयों का प्ररूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में अ च ट त प य श अथवा आ ए क च ट प य श इन अक्षरों का प्रथम वर्ग, आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष इन अक्षरों का द्वितीय वर्ग, इ ओ ग ज ड द ब ल स इन अक्षरों का तृतीय वर्ग, ई औ घ झ भ व ह, न अक्षरों का चतुर्थ वर्ग और उ ऊ ण न म अं अः इन अक्षरों क पंचम वर्ग बताया गया है। प्रश्नकर्ता के वाक्य या प्रश्नाक्षरों को ग्रहण कर संयुक्त, असंयुक्त, अभिहित और अभिघातित इन पाँचों द्वारा तथा आलिंगित अभिधूमित और दग्ध इन तीनों क्रियाविशेषणों द्वारा प्रश्नों के फलाफल का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में मूक प्रश्नों के उत्तर भी निकाले गये हैं। यह प्रश्न शास्त्र की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

हेमप्रभ—इनके गुरु का नाम देवेन्द्रसूरि था। इनका समय चौदहवीं शती का प्रथम पाद है। संवत् १३०५ में त्रैलोक्यप्रकाश रचना की गयी है। इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—त्रैलोक्यप्रकाश और मेघमाला।[५]

त्रैलोक्यप्रकाश बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ११६० श्लोक हैं। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से फलित ज्योतिष की अच्छी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। आरंभ में ११० श्लोकों में लग्न ज्ञान का निरूपण है। इस प्रकरण में भावों के स्वामी, ग्रहों के छः प्रकार के बल, दृष्टिविचार, शत्रु-मित्र, वक्री-मार्गी, उच्च-नीच, भावों की संज्ञाएँ, भावराशि, ग्रहबल विचार आदि का विवेचन किया गया है। द्वितीय प्रकरण में योगविशेष–धनी, सुखी, दरिद्र, राज्यप्राप्ति, सन्तानप्राप्ति विद्या प्राप्ति आदि का कथन है। तृतीय प्रकरण में निधिप्राप्ति–घर या जमीन के भीतर रखे गये धन और उस धन को निकालने की विधि का विवेचन है। यह प्रकरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। इतने सरल और सीधे ढंग से इस विषय का निरूपण अन्यत्र नहीं है। चतुर्थ प्रकरण भोजन और पंचम ग्रामपृच्छा है। इन दोनों प्रकरणों में नाम के अनुसार विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रकार के योगों का प्रतिपादन किया गया है। षष्ठ पुत्र प्रकरण है, इसमें सन्तानप्राप्ति का समय, सन्तान संख्या, पुत्र-पुत्रियों की प्राप्ति आदि का कथन है। सप्तम प्रकरण में छठे भाव से विभिन्न प्रकार के रोगों का विवेचन, अष्टम में सप्तम भावसे दाम्पत्य सम्बन्ध और नवम में विभिन्न दृष्टियों से स्त्री-सुख का विचार किया गया है। दशम प्रकरण में स्त्रीजातक-स्त्रियों की दृष्टि से फलाफल का निरूपण किया गया है। एकादश में परचक्रगमन, द्वादश में गमनागमन, त्रयोदश में युद्ध, चतुर्दश में सन्धि विग्रह,

पंचदश में वृक्ष ज्ञान, षोडश में ग्रह दोष-ग्रह पीड़ा, सप्तदश में आयु, अष्टादश में प्रवहण और एकोनविंश में प्रवृज्या का विवेचन किया है। बीसवें प्रकरण में राज्य या पदप्राप्ति इक्कीसवें में वृष्टि, बाईसवें में अर्घकाण्ड, तेईसवें में स्त्रीलाभ, चौबीसवें में नष्ट वस्तु की प्राप्ति एवं पच्चीसवें में ग्रहों के उदयास्त, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष, महर्घ, समर्घ और विभिन्न प्रकार से तेजी-मन्दी की जानकारी बतलाई गयी है। इस ग्रंथ की प्रशंसा स्वयं ही इन्होंने की है।[11]

श्रीमद्देवेन्द्रसूरीणां शिष्येण ज्ञानदर्पण: ।
विश्वप्रकाशकश्चक्रे श्रीहेमप्रभसूरिणा ॥

श्री देवेन्द्र सूरि के शिष्य श्री हेमप्रभ सूरि ने विश्वप्रकाशक और ज्ञानदर्पण इस ग्रन्थ को रचा।

मेघमाला की श्लोक संख्या १०० बतायी गयी है। प्रो० एच० डी० वेलंकर ने जैनग्रंथावली में उक्त प्रकार का ही निर्देश किया है।

रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि दीपिका नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा है। इनका समय १५ वीं शती बताया जाता है। ग्रन्थ के अन्त में निम्न प्रशस्ति गाथा मिलती है।

सिरिवयरसेणगुरुपट्ट-नाहसिरिहेमतिलयसूरीणं ।
पायपसाया एसा, रयणसिहरसूरिणा विहिया ॥१४४॥

वज्रसेन गुरु के पट्टधर श्री हेमतिलक सूरि के प्रसाद से रत्नशेखर सूरि ने दिनशुद्धि प्रकरण की रचना की।

इसे 'मुनिमणभवणपयासं' अर्थात् मुनियों के मन रूपी भवन को प्रकाशित करने वाला कहा है। इसमें कुल १४४ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में वारद्वार, कालहोरा, वारप्रारंभ, कुलिकादियोग, वर्ज्यप्रहर, नन्दभद्रादि संज्ञाएँ, क्रूरतिथि, वर्ज्यतिथि, दग्धातिथि, करण, भद्राविचार, नक्षत्रद्वार, राशिद्वार, लग्नद्वार, चन्द्रअवस्था, शुभरवियोग, कुमारयोग, राजयोग, आनन्दादि योग, अमृतसिद्धियोग, उत्पादियोग, लग्नविचार, प्रयाणकालीन शुभाशुभ विचार, वास्तु मुहूर्त्त, षडष्टकादि, राशिकूट, नक्षत्रयोनि विचार, विविध मुहूर्त्त, नक्षत्र दोष विचार, छायासाधन और उसके द्वारा फलादेश एवं विभिन्न प्रकार के शकुनों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ व्यवहारोपयोगी है।

चौदहवीं शताब्दी में ठक्कर फेरु का नाम भी उल्लेखनीय है। इन्होंने गणितसार और जोइससार ये दो ग्रन्थ महत्वपूर्ण लिखे हैं। गणितसार में पाटीगणित और परिकर्माष्टक की मीमांसा की गयी है। जोइससार में नक्षत्रों की नामावली से लेकर ग्रहों के विभिन्न योगों का सम्यक् विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति कृत जन्मपत्रपद्धति, जिनवल्लभ कृत स्वप्नसंहितका, जयविजय कृत शकुन-दीपिका, पुण्यतिलक कृत ग्रहायुसाधन,, गर्गमुनि कृत पासावली, समुद्र कवि कृत सामुदिक-शास्त्र मानसागर, कृत मानसागरी-पद्धति, जिनसेनकृत निमित्तदीपक आदि ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हैं। ज्योतिषसार, ज्योतिषसंग्रह, शकुनसंग्रह, शकुनदीपिका, शकुनविचार, जन्मपत्री पद्धति, ग्रहयोग, ग्रहफल नाम के अनेक ऐसे संग्रह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनके कर्ता का पता ही नहीं चलता है।

अर्वाचीन काल में कई अच्छे ज्योतिर्विद् हुए हैं, जिन्होंने जैन ज्योतिषसाहित्य को बहुत आगे बढ़ाया है।[12] यहाँ प्रमुख लेखकों का उनकी कृतियों के साथ परिचय दिया जाता है। इस युग के सबसे प्रमुख मेघविजय गणि हैं। ये ज्योतिष शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इनका समय वि० सं० १७३७ के आस पास माना गया है। इनके द्वारा रचित मेघमहोदय या वर्षप्रबोध, उदयदीपिका, रमलशास्त्र और हस्तसंजीवन आदि मुख्य हैं। वर्षप्रबोध में १३ अधिकार और ३५ प्रकरण हैं। इसमें उत्पातप्रकरण, कर्पूरचक्र, पद्मिनीचक्र, मण्डलप्रकरण, सूर्य और चन्द्रग्रहण का फल, मास-वायु विचार, संवत्सर का फल, ग्रहों के उदयास्त और वक्री, अयन-मास-पक्ष विचार, संक्रान्तिफल, वर्ष के राजा, मंत्री, धान्येश, रसेश आदि का निरूपण, आय-व्यय विचार, सर्वतोभद्रचक्र एवं शकुन आदि विषयों का निरूपण किया गया है। ज्योतिष विषय की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह रचना उपयोगी है।

हस्तसंजीवन में तीन अधिकार हैं। प्रथम दर्शनाधिकार में हाथ देखने की प्रक्रिया, हाथ की रेखाओं पर से ही मास, दिन, घटी, पल, आदि का कथन एवं हस्तरेखाओं के आधार पर से ही लग्नकुण्डली बनाना तथा उसका फलादेश निरूपण करना

वर्णित है। द्वितीय स्पर्शनाधिकार में हाथ की रेखाओं के स्पर्श पर से ही समस्त शुभाशुभ फल का प्रतिपादन किया गया है। इस अधिकार में मूक प्रश्नों के उत्तर देने की प्रक्रिया भी वर्णित है। तृतीय विमर्शनाधिकार में रेखाओं पर से ही आयु, सन्तान, स्त्री, भाग्योदय, जीवन की प्रमुख घटनाएँ, सांसारिक सुख, विद्या, बुद्धि, राज्यसम्मान और पदोन्नति का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण और पठनीय है।

उभयकुशल—का समय १८ वीं शती का पूर्वार्द्ध है। ये फलित ज्योतिष के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने विवाहपटल और चमत्कार चिन्तामणि टबा नामक दो ग्रंथों की रचना की है। ये मुहूर्त्त और जातक, दोनों ही विषयों के पूर्ण पंडित थे। चिन्तामणि टबा में द्वादश भावों के अनुसार ग्रहों के फलादेश का प्रतिपादन किया गया है। विवाहपटल में विवाह के मुहूर्त्त और कुण्डली मिलान का सांगोपांग वर्णन किया गया है।

लब्धचन्द्रगणि—ये खरतरगच्छीय कल्याणनिधान के शिष्य थे। इन्होंने वि० सं० १७५१ में कार्तिक मास में जन्मपत्री पद्धति नामक एक व्यवहारोपयोगी ज्योतिष का ग्रन्थ बनाया है। इस ग्रन्थ में इष्टकाल, भयात, भभोग, लग्न, नवग्रहों का स्पष्टी-करण, द्वादशभाव, तात्कालिक चक्र, दशबल, विंशोत्तरी दशा साधन आदि का विवेचन किया गया है।

बाघजी मुनि—ये पार्श्वचन्द्रगच्छीय शाखा के मुनि थे। इनका समय वि० सं० १७८३ माना जाता है। इन्होंने तिथि-सारिणी नामक ज्योतिष का महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। इसके अतिरिक्त इनके दो-तीन फलित-ज्योतिष के भी मुहूर्त्त सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ हैं। इनका सारणी ग्रन्थ, मकरन्द सारणी के समान उपयोगी है।

यशस्वतसागर—इनका दूसरा नाम जसवंत सागर भी बताया जाता है। ये ज्योतिष, न्याय, व्याकरण और दर्शन शास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे। इन्होंने ग्रहलाघव के ऊपर वार्तिक नाम की टीका लिखी है। वि० सं० १७६२ में जन्मकुण्डली विषय को लेकर 'यशोराज-पद्धति' नामक एक व्यवहारोपयोगी ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ जन्मकुण्डली की रचना के नियमों के सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालता है, उत्तरार्द्ध में जातक पद्धति के अनुसार संक्षिप्त फल बतलाया है।

इनके अतिरिक्त विनयकुशल, हरिकुशल, मेघराज, जिनपाल, जयरत्न, सूरचन्द्र, आदि कई ज्योतिषियों की ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएँ उपलब्ध हैं। जैन ज्योतिष साहित्य का विकास आज भी शोध टीकाओं का निर्माण एवं संग्रह ग्रन्थों के रूप में हो रहा है।[८] संक्षेप में अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमितिगणित, प्रतिभागणित, पंचांग निर्माण गणित, जन्मपत्रनिर्माण गणित आदि गणित-ज्योतिष के अंगों के साथ होराशास्त्र, संहिता,[९] मुहूर्त्त, सामुद्रिक शास्त्र, प्रश्नशास्त्र, स्वप्नशास्त्र, निमित्तशास्त्र, रमलशास्त्र, पासाकेवली प्रभृति फलित अंगों का विवेचन जैन ज्योतिष में किया गया है। जैन ज्योतिष साहित्य के अब तक पाँच सौ ग्रन्थों का पता लग चुका है।[१०]

संदर्भ तालिका

(१) धवलाटीका, जिल्द ४ पृ० ३१८.

(२) प्रश्नव्याकरण, १०.५.

(३) समवायांग, स० ७ सूत्र ५.

(४) ठाणांग, पृ० ९८–१००.

(५) समवायांग, स० ८८.१.

(६) समवायांग, स० १५.३.

(७) बहिराओ उत्तराओणं कट्ठाओ सूरिए पढमं छम्मासं अयमाणे चोयालिस इमे मंडलगते अट्ठासीति एगसट्ठि भागे मुहुत्तस्स दिवसखेत्तस्स निवुड्ढेत्ता रयणिखेत्तस्स अभिनिवुड्ढेत्ता सूरिए चारं चरइ. ——स० ८८.४.

(८) चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ के अन्तर्गत ग्रीकपूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा शीर्षक निबन्ध, पृ० ४६२.

(९) ता अवड्ढपोरिसाणं छाया दिवसस्स किं गते सेसे वा ता तिभागे गए वा ता सेसे वा, पोरिसाणं छाया दिवस्स किं गए वा सेसे वा जाव चऊभाग गए सेसे वा। चन्द्रप्रज्ञप्ति प्र० ९.५

(१०) अंगविज्जा, पृ० २०६–२०९.

(११) भारतीय ज्योतिष, पृ० १०७.

(१२) अर्हच्चूडामणिसार, गाथा १–८.

(१३) प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, संपादक–जुगलकिशोर मुख्तार, प्रस्तावना, पृ० ९५–९६ तथा पुरातन वाक्य सूची की प्रस्तावना, पृ० १०१–१०२.

(१४) अभूद्भृगुपुरे वरे गणकचक्रचूडामणिः
कृती नृपतिसंस्तुतो मदनसूरिनामा गुरुः
तदीयपदशालिना विरचिते सुयन्त्रागमे,
महेन्द्रगुरुणोदिताजनि विचारणा यन्त्रजा। यन्त्रराज, अ० ५, श्लोक ६७.

(१५) जैन ग्रंथावली, पृ० ३५६.

(१६) त्रैलोक्य प्रकाश, श्लो० ४३०.

(१७) केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि का प्रस्तावना भाग.

(१८) भद्रबाहु संहिता का प्रस्तावना अंश.

(१९) महावीर स्मृतिग्रन्थ के अन्तर्गत 'जैनज्योतिष की व्यावहारिकता' शीर्षक निबन्ध, पृ० १९६–१९७.

(२०) वर्णी अभिनन्दनग्रन्थ के अन्तगत 'भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन ज्योतिष', पृ० ४७८–४८४.

भारतीय लोकोत्तर गणित-विज्ञान के शोध-पथ

(ले०—लक्ष्मीचन्द्र जेन, म० म० वि०, जबलपुर)

लोकोत्तर गणित-विज्ञान के प्रमाण यूनान, भारत और चीन में स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं[1]। आत्मा सम्बन्धी ज्ञान को इस गणित द्वारा निबद्ध करने के प्रयास की चरम सीमा प्राकृत ग्रंथों में दृष्टिगत होती है[2]। अभी तक प्राकृत ग्रन्थों की गणित पर शोधके जो स्फुट प्रयास हुए हैं,[3-9] उनसे यह संकेत मिलता है कि सम्भवतः,तीर्थंकर महावीर-कालीन भारतके अप्रतिम गणितीय स्रोत पश्चिमी और पूर्वी देशों के लिये प्रेरणा और कौतूहल की वस्तु रहे होंगे। अब समय है कि हम पायथेगोरस (६००? ५७०? ई० पू० जन्म) कालीन यूरोप, बेबीलान, मिस्र और चीन की परम्पराओं, कलाओं और विज्ञानों में प्रकट आनुरूप्य (correspondence) को गणितीय विकास के दृष्टिकोण पर भी आधारित करें।[9b]

---

१. चीन में एतद्विषयक जानकारी के लिये निम्नलिखित ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं :
NEEDHAM J. : Science and Civilization in China, Vols. 1, 2, 3, 4 (1954......), Cambridge. लेखक को अभी तक केवल प्रथम भाग देखने को मिल सका है।

२. लेखक ने अभी तक प्राकृत ग्रंथों के सिवाय अन्य भारतीय प्राचीन ग्रंथों का अवलोकन नहीं किया है। सम्भव है कि उनमें भी ऐसे प्रयास निबद्ध हों, जो अभी तक प्रकाश में न आ सके हों। दत्त और सिंह ने ऐसे प्रयासों की कल्पना अवश्य की है, (हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ३, १९५६, लखनऊ)। अन्यत्र गणना-संकेतना (arithmetical notation) के सम्बन्ध में वाएर्डेन का स्पष्ट मत यह है : It is clear that these numerals were never used for actual counting or for calculations. They are pure fantasies which like Indian towers, were constructed in stages to dazzling heights. (Science Awakening, 1954, p.52, Groningen)

३. DATTA B. B. : The Jain School of Mathematics, pp. 115-145 ; Bul. Cal. Math. Soc., Vol. XXI, (1929).

४. DATTA B. B. : Mathematics of Nemi Chandra; The Jain Antiquary, Vol. I, No. II, (1935), pp. 25-44.

५. DATTA B. B. : A lost Jain treatise on Arithmetic ; The Jain Antiquary, Vol. II, No. II, (1936), pp. 38-41.

६. SINGH A. N. : Mathematics of Dhavala; Shatakhandagama, Vol. IV, (Amaraoti), 1942 pp. V-XXI.

७. SINGH A. N. History of Mathematics in India from Jain Sources ; The Jain Antiquary, XV, II, (1949), pp. 46-53.

८. SINGH A. N. History of Mathematics from Jain Sources ; The Jain Antiquary, XVI, II (1950), pp. 54-69

९. लक्ष्मीचन्द्र जैन, 'तिलोय पण्णत्ती का गणित', जम्बूदीवपण्णत्तीसंगहो, प्रस्तावना प्रबन्ध, पृ० १–१०४, (१९५८), शोलापुर।

९a. DATTA B. B. and SINGH A. N. : History of Hindu Mathematics, pt. I(1935), pt. II (1938), Lahore.

९b. इस सम्बन्ध में लेखक ने मिस्र के महास्तूप पर लेखमाला सन्मति सन्देश में दी थी, तथा जीनो के गमन सम्बन्धी तर्क और जिनागम प्रणीत क्रमात्मक (ordinals) और गणात्मक (cardinals) पर विचार प्रकट किये थे। उनमें चीन

विश्व की ऐतिहासिक परम्पराओं के सहसम्बन्ध की शोध बहुधा प्रेरणास्पद होती है। साथ ही वह प्रस्तुत आधुनिक समस्याओं को सुलझाने के लिये नवीन पथप्रदर्शित करती है। लोकोत्तर गणित-विज्ञान के प्रयोगों की कहानी बहुत कुछ ऐसी है। अलक्ष को निरंजन बनाने के गणितीय प्रयासों ने लौकिक गणित को कहां तक प्रेरणा दी, इस तथ्य का परिलक्षण यूनान के रेखागणित, भारत के बीजगणित और चीन के कलात्मक विज्ञान में प्रकट है।

इतिहास सम्बन्धी शोध-पथ :—

इतिहास साधारणतः कहां और कब का स्पष्टीकरण करता है। यूनान और भारत के गणित में गति लाने के स्रोत का अभ्युदय कहाँ और कब हुआ ? यह विवाद नया नहीं है। आज के गणित-इतिहासकारों ने बेबीलान में ऐसे स्रोत की परिकल्पना की है।[१०]

यह निश्चित है कि बेबीलान में ऐसे अभिलेख प्राप्य हैं, जो भारत और यूनान के अभिलेखों से मिलते-जुलते हैं। उनका समय भी प्राचीनतर आंका गया है। परन्तु, गणितीय विधियों (जैसे स्थानार्हा पद्धति–place value system का विकास आदि) में परिवर्तन लाने की आवश्यकता पर विचार करने से प्रतीत होता है कि उस युग में बेबीलानियों में अलौकिक प्रेरणा का स्रोत दृष्टिगत नहीं है। लौकिक गणितीय विधियों में क्रांति उत्पन्न होने का आधार निश्चित न होने के कारण गणित इतिहासकारों के समक्ष प्रस्तुत समस्या का सर्वमान्य समाधान नहीं हो सका। अब हम स्रोत सम्बन्धी समस्या पर विस्तार से विचार करेंगे।

भारत में वर्द्धमान महावीर के तीर्थकाल में हुई गणितीय क्रांति को देखने पर कुछ नवीन दृष्टिकोण सामने आते हैं। प्रथम तो यह कि क्या उस काल में लौकिक गणित का आधार लेकर ही कर्मबंध और द्रव्य क्षेत्रादि विषयों को प्ररूपित किया गया ? यदि लौकिक गणित का आधार लिया गया, तो हमें ऐसे अभिलेख अवश्य मिलने चाहिएँ, जिनमें अनन्त की गणना और सलागागणन का अवशेष रूप से प्रयोगात्मक वर्णन हो। उनमें क्षेत्र प्रयोग-विधि तथा दसार्हा-पद्धति का प्रयोग प्रकट हो। अभी तक हमें ऐसे अभिलेख प्राप्त नहीं हो सके हैं और यह निश्चित करना पड़ता है कि सम्भवतः अनन्त की गणित और सलागागणन के प्रयोग वर्द्धमान महावीर के तीर्थकालीन होने चाहिएँ। स्थानार्हा पद्धति के विकास की आवश्यकता का आधार विस्तृत प्ररूपण का ध्येय हो सकता है। वृहद् प्ररूपण प्राकृत ग्रन्थों में उपलब्ध है।

जहाँ इटली में जीनो (४६० ई० पू०) के विभाज्यता (divisibility) सम्बन्धी तर्क कौतूहल उत्पन्न करते हैं तथा यूनानियों को अनन्त की गणना से भयभीत करते हैं, तथा जहाँ चीन में 'हुई शिह' (पाँचवीं सदी ई० पू०) के असद्भास (paradoxes) जीनो के असद्भासों से सहसम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वहाँ भारत के प्राकृत ग्रन्थों में वे सिद्धान्त रूप से उपधारित किये जाकर द्रव्य, क्षेत्र प्ररूपणा का आधार बनते हैं[११]। कणाद से प्रायः २०० वर्ष पूर्व उमास्वाति ने पुद्गल के अविभागी प्रतिच्छेद की चर्चा की है, तथा उसी के आधार पर सीमित क्षेत्र में अनन्त विभाज्यता का खण्डन करनेवाले जीनो के तर्क और मो शिंग (३७० ई० पू०) की बिन्दु की परिभाषा प्राकृत ग्रंथों से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।[१२] अविभागीसमय सम्बन्धी प्राकृत ग्रंथों के प्रकरण जीनो के अंतिम दो तर्कों का विषय बनते हैं। प्राकृत ग्रंथों में अविभाग प्रतिच्छेद को इकाई लेकर यथार्थ अनन्तों (proper infinities) का अल्पबहुत्व (comparability) संरचित किया गया है।

के सम्बन्ध में कोई भी जानकारी नहीं है। इन लेखों में चीन सम्बन्धी जानकारी का समान्तर समन्वय, विशेषतः १. की सहायता से किया जा सकता है। (सन्मति सन्देश, वर्ष १. अंक २, ४, ५, ६, ८–१४, १६, १७; वर्ष २: अंक १–२, ८।

१०. न्युगेबाएर के क्यूनिफार्म ग्रन्थों के अनुवादों पर आधारित तथ्यों से यह नवीन सम्भावना प्रकट हुई है। इस सम्बन्ध में उनकी The Exact Sciences in Antiquity, (Providence), 1957, द्रष्टव्य है। पर, जैसा कि ह आगे देखेंगे, यूरोप और चीन में यथार्थ विज्ञान संबंधी श्रुतांशों का युगपत प्रकट होना नवीन समस्याएं प्रस्तुत करता है।

११. देखिये १, भाग १, पृ० १४४। साथ ही, "धवला" पुस्तक ३ और ४ देखिये।

१२. देखिये १, भाग १, पृ० १५५।

अनन्त के अल्पबहुत्व का प्रकरण यूरोप में जार्ज केन्टर[13] (१८४५–१९१८) के काल से प्रारम्भ होता है। इसका आधार एक-एक संवाद की चर्चा गेलिलियो (१५६४–१६४२) से प्रारम्भ हुई प्रतीत होती है। प्रश्न उठता है कि अनन्त के अल्प बहुत्व को निर्धारित करने की क्या आवश्यकता पड़ी ? लौकिक क्षेत्र में साधारणत: अनन्त को स्थान प्राप्त नहीं होता है। प्राय: प्रत्येक घटना में सांतता, अनुमान अथवा अभिबिन्दुता (convergence) प्रस्थापित कर समाधान कर लिया जाता है। पर जब घटनाओं का स्पष्टीकरण गहरी दृष्टियों से करना होता है तब नवीन गणितीय उपकरणों का आविष्कार करना आवश्यक हो जाता है।

स्पष्ट है कि महावीरीय युग में एक नवीन पथ की ओर मोड़ देने के लिये, सर्वदृष्टियों से आदर्श को तौलने के लिये, भारत तथा विदेशों में भी प्रचलित लौकिक गणित को साधन के रूप में अवश्य चुना गया होगा। उसमें नवीन प्रसाधन आविष्कृत किये गये होंगे और युगान्तरों में उनका प्रचलन देश-देशान्तरों में हुआ होगा।

अभिलेखबद्ध सामग्री से प्रकट है कि नवीन पद्धतियों का उपयोग सम्भवत: निम्नरूप में विकसित किया गया होगा :

१. विविध प्रतीकत्व (symbolism) का विकास[14]।

२. संख्याएं लिखने में तथा व्यक्त करने में दसार्हा आदि पद्धतियों का प्रयोग।

३. ह्रासित (reduced) गुण्य राशियों के लिखने में स्थानार्हा पद्धति (place value system) का प्रयोग।[15]

४. सलागा गणन (logarithms) का प्रयोग।

५. एक-एक तथा एक-बहु संवाद (One-many correspondence) विधि का प्रयोग।[16]

६. विरलन देय (spread and give) पद्धति का प्रयोग।

७. क्षेत्र प्रयोग विधि (method of application of areas) तथा काल प्रयोग विधि का उपयोग।[17]

८. वर्गादि स्थानों में खण्डित, भाजित, विरलित, अपहृत, प्रमाण, कारण, निरुक्ति और विकल्प विधियों के प्रयोग।[18]

उपर्युक्त पद्धतियों के स्रोत और आविष्कार के काल के विषय में खोज करने के लिये विशेष प्रयास नहीं हुए हैं। प्राप्य अभिलेखबद्ध सामग्री भी काल के विषय में यथोचित सिद्ध नहीं होती है। गणित सम्बन्धी हस्तलिपियों की खोज तथा प्रतीकत्व के विकास सम्बन्धी नवीन शिलालेखों की खोज उपयोगी सिद्ध हो सकती है। अभी भी टोडरमल द्वारा रचित अर्थसंदृष्टि में खोज के लिये अभूतपूर्व सामग्री विद्यमान है। टोडरमल ने अपने काल में उपलब्ध समस्त ग्रन्थों में से विभिन्न प्रकार की प्रतीक बद्ध सामग्री को संकलित किया और गोम्मटसार जीवकांड और कर्मकांड की टीकाओं में इनके प्रयोग विशेष रूप से किये। साथ ही उन्हें अर्थसंदृष्टि नामक ग्रन्थ बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह ग्रन्थ उनके कठोर परिश्रम तथा मेधाशक्ति का

---

१३. इस सम्बन्ध में विवरण निम्नलिखित पुस्तकों से उपलब्ध हो सकता है :—

G. CANTOR : Contributions to the founding of the theory of Transfinite Numbers,(1915), Dover Pub.

A. A. FRAENKEL : Abstract Set Theory, (1953), Amsterdam.

१४. इसके अध्ययन के लिये मुख्यत: यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ती तथा टोडरमल रचित अर्थसंदृष्टि उपयोगी सिद्ध होंगी। लेखक को अभीतक इनसे पूर्व की हस्तलिपियाँ अथवा मुद्रित ग्रन्थ प्राप्त नहीं हो सके हैं। धवला, पुस्तक १५ (१९५७, भेलसा) में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है।

१५. इस पद्धति का स्पष्ट विवरण टोडरमल ने अर्थसंदृष्टि में किया है।

१६. 'अनन्तों का अल्पबहुत्व' जैसे प्रकरण को समाधानित करने के लिये वीरसेन ने इस विधि का प्रयोग धवला, पु० ३ में किया है।

१७. क्षेत्र प्रयोग विधि का उपयोग यूनान तथा उससे भी पूर्व बेबीलान में हुआ दृष्टिगत होता है। पर, भारत में द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से जीव द्रव्य विषयक प्ररूपण में ये प्रयोग गहराई से बृहद् और ठोस रूप में हुए हैं। इसके आविष्कार के विषय में अंतिम शब्द नहीं कहा जा सकता है।

१८. ये वैकल्पिक विधियाँ धवला, पु० ३ में पृ० ४० आदि पर देखिये।

[illegible] प्रतीक है। इसमें उन्होंने ऋण प्रतीक के लिये पाँच चिह्नों का प्रयोग बतलाया है, शून्य का विभिन्न अर्थों में प्रतीक बद्ध प्रयोग बतलाया है। सलागागमन के भी प्रतीक हैं जिनमें फंक्शन के फंक्शन (function of a function) की अवधारणा को विकसित करने की ओर प्रयास असफल रहे प्रतीत होते हैं। यदि वे प्रयास इस ओर बढ़ते और भारत के विद्वानों का झुकाव इस ओर अधिक होता, तो कुछ शताब्दियों पूर्व यहाँ आज का युग उपस्थित होता। अर्थ संदृष्टि सदृश ग्रन्थों के गहन अध्ययनसे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधारों को सुदृढ़ किया जा सकता है और भारत के उज्ज्वल अतीतपर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। इसमें प्रयुक्त हुए कुछ प्रतीक गिरनार तथा अशोक काल से पूर्व के शिलालेख कालीन प्रतीत होते हैं।[19]

वर्द्धमान महावीर का तीर्थकाल न केवल गणित विज्ञान की दृष्टि से आकर्षक प्रतीत होता है वरन् वह इतिहास के अंधकारपूर्ण काल पर विशेष प्रकाश डालने में सहायक हो सकता है। उदाहरणार्थ जहाँ अरस्तु (३८४ ई० से ३२२ ई० पू०) आत्माओं की श्रेढि (ladder of souls) के सिद्धान्त की प्ररूपणा करते हैं, वहाँ चीन में ऐसा ही सिद्धान्त शुइन त्ज़ू (२९८ ई० पू० से २३८ ई० पू०, Hsun Tzu अथवा Hsun Chhing) द्वारा प्ररूपित किया गया है और यही भारत में जीवों के मार्गणा स्थान के रूप में प्ररूपित है।[20] चीन से लेकर यूनान तक ऐसी अवधारणाओं के गमन में विशेष काल लगना चाहिये और स्रोत का कारण भी स्पष्ट होना चाहिये। भारत में वर्द्धमान का तीर्थ ही स्रोत था, ऐसा निश्चय पूर्वक अभी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार चन्द्रमा के बढ़ने-घटने के कारण समुद्रों के नीचे की पाताल वायु का फैलना[21], चीन और यूनान में क्रमशः लू शिह चुन चिउ (चौथी से तीसरी शताब्दी ई० पू०) और अरस्तू द्वारा चन्द्रमा की कला विकासादि के कारण समुद्री रीढ़हीन जन्तुओं के फैलने आदि की चर्चा से समन्वय रखता प्रतीत होता है।[22] इस तथ्य के हजारों मील दूर फैलने का कारण और स्रोत क्या हो सकता है? इस पर विशेष विचार किया जा सकता है।

भारत में एक ओर पायथेगोरस और दूसरी ओर कन्फ्यूशस (छठी सदी ई० पू०) द्वारा पश्चिम और पूर्व में नवीन प्रतिभा का नेतृत्व संचालन एक अद्भुत क्रांति को प्रकट करता है। पायथेगोरस सम्बन्धी अनेक किंवदन्तियाँ उनके अहिंसा प्रेम और गणित के अद्भुत ज्ञान को प्रकट करती हैं। लोक में जीवसंख्या की निश्चलता (invariability) के आधार पर जनता को मांसाहार की ओर से मोड़कर शाकाहारी बनाने का प्रयत्न पायथेगोरस की निज की प्रतिभा का प्रतीक है।[23] यदि कोई साधारण (common) स्रोत यूनान और चीन के बीच रहा, तो ऐसे प्रकरण हमें चीन में कन्फ्यूशस अथवा ताओ काल में दृष्टिगत होने चाहिएँ।[24] मिस्र की जागृति का काल भी प्रायः यही है, जब कि कि सायटिक युग (६६३–५२५ ई० पू०) में वहाँ अहिंसक खुफू कालीन प्राचीन परम्पराओं का अकस्मात अनुसरण प्रारम्भ हुआ था[25] और नरसिंह (sphinx) प्रतीक पुनः पूजा का केन्द्र बन गया था। सम्भवतः यही आकर्षण पायथेगोरस के पूर्व भ्रमण का कारण बना होगा।

अविभागी पुद्गलपरमाणु के आधार पर परिभाषित बिन्दु के प्रयोग में वीरसेन द्वारा कतिपय नवीन विधियों का उप-

---

१९. लेखक ने इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये भण्डारकर इंस्टीट्यूट, पूना को लिखा है, पर अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। अशोक के पूर्व के बड़ली ग्राम (अजमेर) तथा नेपाल की तराई के पिप्राबा नामक स्थान में उपलब्ध सामग्री में जो 'ई' का चिह्न है, उससे सम्भवतः ऋण के लिये प्रयुक्त चिह्नों का संबंध स्थापितकिया जा सकता है। देखिये ओझा रचित भारतीय प्राचीन लिपिमाला पृ० २, ४७, (१९५९), दिल्ली।

२०. देखिये १, भाग १, पृ० १५५।

२१. देखिये, तिलोयपण्णत्ती, भाग, १, ४–२४०३, (शोलापुर), १९४३।

२२. देखिये, १; भाग १, पृ० १५०–१५१।

२३. देखिये, E. T. BELL : Magic of Numbers, (1946), pp. 87, 88, 91, 92.

२४. नीधम के मतानुसार बौद्ध धर्म का चीन में प्रथम प्रवेश ई० पश्चात् ६५ में हुआ जिसके प्रायः १०० वर्ष पश्चात प्रथम सूत्रों का चीनी भाषा में लोयांग में अनुवाद प्रारम्भ हुआ। देखिये १, भाग १, पृ० ११२।

२५. देखिये Salem Hossan : The Sphinx, Its history in the light of recent excavations, (Cairo) pp. 219, 221; (1949).

योग प्रकट हुआ है। इनमें से निश्शेषण विधि (method of exhaustion) विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा शंकु के समच्छिन्नक (frustrum) का घनफल निकाला गया है। इसमें एक ऐसे ज्यामीतीय सूत्र का भी उपयोग किया गया है, जो चीन में त्सु शुंग-चिह्न (प्राय: पाँचवीं सदी, Tsu Chhung-Chih) द्वारा उपयोग में लाया गया है। सूत्र गणितीय रूप में यह है :

$$\pi = \frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = \frac{१६}{११३} + \frac{१६}{११३ \times \text{व्यास}} +$$

स्पष्ट है कि यदि व्यास तुलना में बहुत बड़ा हो, तो दक्षिण पक्ष में बीच की राशि नगण्य हो जावेगी। वीरसेन ने व्यास को इकाई मानकर इस मान को ग्रहण किया है। जब परमाणु के व्यास को इकाई माना जाता है, तो एक अंगुल माप व्यास के लिए भी π का मान $\frac{१६}{११३} + ३$ ग्रहण किया जा सकता है। यही चीनी मान है। यदि उक्त सूत्र इसी आधार पर अवतरित है तो उसका स्रोत भारतीय है, अन्यथा हो सकता है कि वह चीन से लेकर इस रूप में रखा गया हो[२६]।

क्षेत्र प्रयोग विधियों में हम किन्हीं जीव राशियों का क्षेत्र प्ररूपण बारहवें वर्गमूल के रूप में भी देखते हैं। इनका आशय प्ररूपण को सरल और सुग्राह्य बनाना है। स्पष्ट है कि किसी सीमित क्षेत्र में स्थित प्रदेश बिन्दुओं की संख्या का बारहवाँ वर्ग मूल निकालने की विधियाँ भी प्रचलित होंगी तथा या तो उसका मान ठीक पूर्णांक ही होगा अथवा ऐसे परिकलन में पूर्णांकों के ग्रहण करने का प्रचलन होगा। सलगागणन (logarithm) में अर्द्धच्छेद* आदि निकालने की क्रिया में भी सम्भवत: यही प्रचलन रहा होगा।

लोकोत्तर गणित-विज्ञान में ज्योतिष के विकास को भी अवसर प्राप्त हुआ।[२७] इसका कारण स्पष्ट है। दृष्टिगत ज्योतिष बिम्बों की गणना, विस्तार, बनावट तथा उनसे परे आकाश की सीमाओं आदि पर गहन अध्ययन की सामग्री जुटाई या विकसित की गई होगी। भारत में प्राचीन ज्योतिष के प्रमुख तत्त्वों को प्राकृत ग्रन्थों में साधारणत: अपरिवर्तित रखा गया है[२८]। इसका कारण भी स्पष्ट है। इनके अनेक तथ्यों की यूनान और चीन के प्रारंभिक ज्योतिषीय तथ्यों से तुलना कर इतिहास में नय मोड़ लाये जा सकते हैं।[२९] साधारणत: बेबीलानीय परम्परा को स्रोत के रूप में मान्यता है। कारण यह है कि भारत में प्राचीन अभिलेखबद्ध सामग्री का अभाव है और जो उपस्थित है, उसकी लिपि सर्वमान्य रूप से नहीं पढ़ी जा सकी है।

कर्मबंध जैसे जटिल प्ररूपण को देनेवाले उक्त भारतीय विद्वद्‌वर्ग के लिये फलित ज्योतिष में अंशदान देना स्वाभाविक प्रतीत होता है।* उसका क्या पथ रहा होगा ? इस ओर लेखक ने अभी लक्ष्य नहीं दिया है। स्रोत के उदय का काल अथवा विकास का काल भी निर्णीत करना अभी कठिन-सा प्रतीत होता है, पर उपयुक्त सामग्री की उपलब्धि से कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों पर अवश्य पहुँचा जा सकता है।

विज्ञान सम्बन्धी शोध पथ :—

उपधारणाओं (postulates) और परिकल्पनाओं (hypothesis) के आधार पर विज्ञान की प्रगति होती है।

---

२६. इस सम्बन्ध में डा० अवधेशनारायण सिंह के विचार भी द्रष्टव्य हैं, जो वर्णी अभिनन्दनग्रन्थ (सागर), में "भारतीय गणित के इतिहास के जैन स्रोत" नामक लेख में पृ० ५०३ पर प्रकट किये गये हैं।

* Logarithm to the base two.

२७. देखिये ९., पृ० १६, १७।

२८. देखिये, "ग्रीकपूर्व जैन-ज्योतिष विचार-धारा" नेमिचन्द्र शास्त्री; पं० चन्दाबाई अभिनन्दन-ग्रंथ (आरा), १९५४।

२९. चीन में उपलब्ध सामग्री के लिए देखिये १, भाग ३ —यूनान, मिस्र और बेबीलान की सामग्री के संक्षिप्त विविरण के लिये १०. द्रष्टव्य है।

* इस सम्बन्ध में "केवल ज्ञान प्रश्न चूडामणि" (१९५०) काशी, तथा "ज्ञान प्रदीपिका" (१९३४), के विषय विशेष रूप से अपनी मौलिकता के लिय प्रतीत होते हैं। राशि, तिर्यक् योनि, वीथी जैसे शब्दों से भी सम्भवत: स्रोत का निश्चय किया जा सके।

उपधारणाओं को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, पर परिकल्पनाओं के आधार पर उन्हें प्रामाणिक माना जा सकता है, परिकल्पनाएं उपधारणाओं के आधार पर सिद्ध की जाती हैं, इस प्रकार विज्ञान में नवीन उपकरण तथा नवीन आविष्कार होते चले जाते हैं तथा सत्य के समीप जाने का अवसर प्राप्त होता प्रतीत होता है। अल्पतम उपधारणाओं के आधार पर एक सूत्री और संगत सिद्धांत (Unified & consistent) की रचना के प्रयासों की कहानी बहुत प्राचीन है ; इस सिद्धान्त से विश्व की प्रत्येक घटना का समाधान करने का प्रयास होता है। समाधान होने के सिवाय, अब यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह सिद्धान्त मनचाहे फलित के विषय में मार्गदर्शन कर सके। आज प्रधानतः गणित और प्रयोगों के आधार पर स्थापित क्वांटम यांत्रिकी तथा सापेक्षता सिद्धांत से ऐसे ही एकसूत्री सिद्धान्त की रचना के प्रयास हो रहे हैं, ताकि आज के विश्व की अखिल अभिलेख बद्ध विज्ञान की सामग्री को अल्पतम प्रयास से पूर्णरूपेण समझा जा सके तथा पुद्गल (matter and electricity) की रचना के संबंध में और गहरी जानकारी प्राप्त हो सके।

प्रश्न है कि प्राकृत ग्रंथों में इस प्रकार की सामग्री की स्थिति अपेक्षाकृत क्या है ?[30] अभी तक जो तुलनात्मक अध्ययन हुए हैं, उनसे स्थिति आशाजनक प्रतीत होती है। घटनाओं का इस प्रकार आंशिक समाधान ही किसी सिद्धान्त को पूर्णतः संगत सिद्ध नहीं कर सकता है। अपितु, सिद्धान्त का महत्व तब होता है, जब कि वह आधुनिक सिद्धान्तों में गति या मोड़ देकर नवीन फलितों की ओर से ले जा सके। यदि नियत कार्यवाही (programme) यही है तो हमें वस्तुस्थिति पर गहरा विचार करना पड़ेगा।

प्राकृत ग्रंथों से मुख्यतः निम्नलिखित तथ्यों की जानकारी मिलती प्रतीत होती है :—

(१) अनन्तों का पूर्णांकों पर आधारित अल्प बहुत्व तथा राशि सिद्धान्त।

(२) समय की अविभाज्यता के आधार पर अधिकतम और अल्पतम प्रवेग (velocity) की उपधारणा।

(३) पुद्गल परमाणु की अविभाज्यता तथा उनकी राशि की यथार्थ गणात्मक (cordinal) संख्या की उपधारणा।

(४) पुद्गल परमाणु का यथार्थ अनन्त पुद्गल परमाणुओं के साथ एक ही प्रदेश में अवगाहनत्व।

(५) द्रव्यों तथा उनके गुणों का एक दूसरे में अन्योन्याभाव और अत्यंताभाव।

(६) ऊर्जा-स्तरों (energy levels) के आधार पर पुद्गल परमाणुओं का बंध होना।

(७) समयों के बीतने की अतीत अनागत दिशा।

(८) उपादान शक्तियों के सिवाय पुद्गल का अन्य द्रव्यों के उदासीन अनुग्रह (सहकारिता) से गमन, परिणमन अवगाहन और स्थिरता होना।

(९) पुद्गल में विशेष गुणों के सिवाय प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, अनन्त गुणीहानिवृद्धि जैसे सामान्य गुणों का होना।

(१०) स्पर्श (coincidence) अथवा अवगाहनत्व का सिद्धान्त।

(११) द्रव्यों की क्रियावती और भाववती शक्ति।[31]

---

३०. इस सम्बन्ध में तुलनात्मक सामग्री मुख्यतः निम्नलिखित लेखों में प्राप्य है :—

(अ) JAIN G. R. : Cosmology old & new, (1942), Lucknow.

(ब) KOHL J. F. : Das physikalische und biologische Weltbild der indischen Jain-Sekte. (1956), Aliganj.

(स) दुलीचन्द्र जैन: जैन-दर्शन में पुद्गल द्रव्य और परमाणु सिद्धान्त, ब्र० पं० चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रंथ (आरा), १९५४, पृ० २६३-२८२।

३१. केवल जीव और पुद्गल द्रव्यों में दोनों शक्तियों की मान्यता है, शेष में केवल भाववती शक्ति की। द्रव्यों के देशान्तर प्राप्ति हेतु प्रदेशों के हलनचलन रूप परिस्पन्द को क्रिया कहते हैं। उनमें होनेवाले प्रवाह रूप उनके परिणमन को भाव कहते हैं।

जहाँ तक प्रत्यक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रश्न है, उनकी सम्भाव्यता का प्राकृत ग्रन्थों में इस काल के लिये निषेध है। तब मति और श्रुत से परोक्ष दर्शन और ज्ञान का प्रकरण सम्मुख आता है। पुद्गल द्रव्य विषयक दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि श्रुत के सिवाय मति से होती है। मति का आधार संदेशवाहक, पुद्गल द्रव्य की क्रियाएँ हैं। संदेशवाहन काल पर आधारित है, इसलिये सापेक्षता सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। सापेक्षता सिद्धान्त में जब महत्तम प्रवेग की उपधारणा की जाती है, तो भौतिक विज्ञान के प्रारम्भिक आधुनिक प्रयोगों की पुष्टि होती है। साथ ही अल्पतम क्रिया (action) के क्वान्टम (quantum) की उपधारणा से क्वांटम यांत्रिकी का आधार बनता है, जिसमें अनिश्चितता के अनुबंध (uncertainty relations) का सिद्धान्त भी विशेष रूप से प्रयुक्त होता है।[32] आधुनिक सापेक्षता सिद्धान्त में जहाँ एक ओर महत्तम प्रवेग को उपधारित किया गया है, वहाँ उसे अल्पतम प्रवेग और समय की अवधारणा (concept) से अछूता रखा गया है। क्वांटम यांत्रिकी में पुद्गल की द्वैतमय (तरंगात्मक और कणिकात्मक) दशाओं तथा गति और स्थिति के सम्बन्ध में समाधान नहीं मिलता है। इन समस्याओं में समय की अवधारणा (concept) से सम्बन्धित अल्पतम और महत्तम प्रवेग पर आधारित पुद्गल की युगपत अनेक बिन्दुओं पर उपस्थिति का प्रकरण सहायक हो सकता है। सम्भवतः इस युक्ति से बोह्र (Bohr) के परिपूरकता (complementarity)[33] के सिद्धांत आदि का यथोचित् समन्वय भी हो सकेगा।

उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों में प्रकृति के अल्पतम अथवा महत्तम क्रिया (action) के सिद्धान्त का प्रारंम्भिक प्रयोग होता है। इनमें मुख्यतः निश्चयात्मकता और अनिश्चयात्मकता के कारण भेद हो जाता है, जिसका मुख्य कारण गति स्थिति आदि सम्बन्धी उपर्युक्त समस्याएँ हैं। प्राकृत ग्रंथों में भी कुछ ऐसी ही समस्या निम्न प्रकार उत्पन्न होती प्रतीत होती है। अतीतकाल पूर्णांकों से निर्मित है और अनागत काल के समय भी पूर्णांकों से निर्मित हैं। प्रथम की प्रथम संख्या और द्वितीय

---

३२. प्रत्येक सरल-दोलक (harmonic oscillator) की एक अद्वितीय (unique) आवृत्ति (frequency) होती है। प्लांक (planck) के मतानुसार प्रत्येक सरल-दोलक के लिये एक "ऊर्जा का क्वांटम (quantum of energy) निर्दिष्ट किया जा सकता है, जिसका परिमाण उस दोलक की आवृत्ति और नियतांक (constant) 'h' के गुणनफल के बराबर माना जा सकता है। उस धारणा (concept) का अर्थ यह है कि जब भी किसी सरल-दोलक और विकिरण (radiation) में ऊर्जा का विनिमय होता है, तब जितनी ऊर्जा को यह दोलक ग्रहण करता है या खो देता है उसका परिमाण परिमित होता है और उस दोलक के क्वांटम के समान होता है। व्यापक रूप से यह देखा गया कि नियतांक 'h' की विमतियाँ (dimensions) वही होती हैं, जो क्रिया (action) की होती हैं [अर्थात् जो ऊर्जा और समय के गुणनफल के या गतिमात्रा (momentum) और लम्बाई के गुणनफल की होती हैं] और वह क्रिया की मौलिक मात्रा (elementary quantity) के समान ही कार्य करता है। अतः उसे क्रिया का परमाणु समझा जा सकता है। क्रिया सदा दो प्रकार की राशियों के गुणनफलके द्वारा व्यक्त की जाती है, जिनमें एक तो ज्यामितीय कोटि की होती हैं और दूसरी गत्यात्मक कोटि की। अप्रत्यक्ष प्रयोगों के आधार पर अनिश्चितता के अनुबंधों का आधार इस प्रकार प्रकट होता है कि जब किसी कणिका का स्थान अधिक सुनिश्चित होता है, तब उसकी गत्यात्मक अवस्था उतनी ही अधिक अनिश्चित होती है। किसी क्षणपर कणिका के स्थान को और उसी क्षण पर उसकी गति की अवस्था को एक साथ यथातथ जान लेना असम्भव है। अथवा किसी निर्देशांक (coordinates) की अनिश्चितता और गति मात्रा के तत्संगत (corresponding) संघटक (component) की अनिश्चितता का गुणनफल सदैव कम-से-कम प्लांक के नियतांक के परिमाण की कोटि (order of magnitude) का होता है। इस प्रकार प्रकट है कि किसी कणिका का कोई निर्देशांक और उसके संवेग का तत्संगत संघटक दोनों एक साथ यथार्थतापूर्वक नहीं जाने जा सकते और यदि इन दोनों संयुग्मी (conjugate) राशियों में से एक की अनिश्चिता बहुत कम हो तो दूसरी की बहुत अधिक हो जाती है। विशेष विवरण के लिये देखिये "भौतिक विज्ञान में क्रांति" (१९५८), प्रकाशन शाखा सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश।

३३. कणिकात्मक गुण और तरंगात्मक गुण का प्रत्यक्ष विरोध कभी नहीं होता, क्योंकि एक ही समय दोनों का अस्तित्व कभी नहीं रहता।

की अंतिम संख्या दृष्ट नहीं है। तथापि अतीतकाल समयराशि से अनागत काल राशि, अनन्तगुनी अधिक बतलाई गई है।[३४] इनके प्रत्येक समय में केवली के ज्ञान की पर्यायों की समानता अथवा असमानता विवादास्पद हो जाती है, जिसका आधार नियति वाद (determinism) अथवा अनियतिवाद (indeterminism) प्रतीत होता है। जो कुछ हो, एक और प्रश्न सम्मुख आता है। यदि जीव चेतयितृत्व से मुक्ति का सामर्थ्य रखता है तो पुद्गल का वह सामर्थ्य किस विशेष गुण में प्रकट है। साधारणतः त्रस के चेतक भाव में अभिप्रायता (purposefulness) और कारणत्व (causality) का सहयोग रहता है, पर पुद्गल की क्रियाओं में सम्भवतः केवल कारणत्व का योग रहता है।[३५] इससे सम्भवतः अग्र और पूर्व विभव के सिद्धान्त (theory of advanced and retarded potentials) का निर्वचन हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो त्रस संसारी अपने ज्ञानगुण के उपलब्ध प्रत्येक अविभागी प्रतिच्छेद में एक या अनेक इच्छाओं के अनागत काल में फलित होनेवाले वेक्टरों या टेंसरों (vectors or tensors) को स्थापित करता है। मुक्ति (निवृत्ति) की ओर प्रवृत्त जीव इन अविभागी प्रतिच्छेदों को अक्षुण्ण रखता चला जाता है। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के मार्ग का गणितीय टेंसर[३६] (tensor) मय प्ररूपण प्राकृत ग्रन्थों से उपलब्ध ज्ञान की और भी गहरी जानकारी प्रदान कर सकता है।

यद्यपि आत्मा अथवा पुद्गल की शक्तियाँ एक दूसरे रूप परिणत नहीं होतीं, तथापि एक दूसरे स्तर को बढ़ाने में प्रयोज्य हो सकती हैं। जैसे ज्ञानगुण से चारित्रगुण बढ़ाया जा सकता है, यह सिद्धान्त है, अथवा यह भी कहा जाता है कि काललब्धि से ज्ञानगुण चारित्रगुण की वृद्धि में निमित्त मात्र हो जाता है। बाद के कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि घटनाएँ प्रधानतः व्यवहार काल के फलन (फंक्शन) हैं। यहां फंक्शन का आशय हम गणितीय रूप में ले रहे हैं, जो एकार्हि (single valued) अथवा बह्वर्हीं (multiple-valued) हो सकता है। जब आत्मा या पुद्गल की स्थिति (position) अथवा गमन अवस्था का विचार करते हैं, तो हमें फंक्शनल (functional) की अवधारणा का आधार लेना पड़ेगा, क्योंकि एक समय में गमनशील वस्तु की स्थिति युगपत् कई बिन्दुओं पर होने से फंक्शन मात्र का उपयोग निरर्थक हो जाता है। यदि यह आधार लिया जावे तो सम्भव है कि सापेक्षता और क्वान्टम सिद्धान्तों को एकसूत्री सिद्धान्त में निबद्ध किया जा सके। प्रश्न है कि क्या इस तथ्य के आधार पर परमाणुओं अथवा बद्ध परमाणु राशियों के मात्रा, गुरुत्व, विद्युतावेश जैसे गुणों को भी काल के फंक्शन के रूप में विभिन्न गुणों के स्तरों के पदों में निर्वचन किया जा सकेगा?

अनन्तों के अल्पबहुत्व स्थापित करने में केन्टर और डेडिकेंड की ज्यामितीय विधियों और प्राकृत ग्रंथों की विधियों में स्पष्ट अन्तर है। जहाँ आज सरल रेखा अथवा व्यवहार काल की अतीत अनागत दिशा में किन्हीं भी दो बिन्दुओं के अंतराल में अगण्य (non-denumerable) संख्या राशि की मान्यता है, वहाँ प्राकृत ग्रंथों में बिन्दुओं की राशि की सीमित संख्या की मान्यता दी गई है। अखण्ड द्रव्यों में प्रदेश कल्पना, कालाणुओं के कारण अथवा पुद्गल परमाणुओं के आधार पर ली गई प्रतीत होती है। इससे प्रतीत होता है कि असंख्यात कालाणुओं से लोकाकाश-द्रव्य की अखंडता पूर्णरूपेण सम्पाती हो सकती है।

---

३४. एक राशि से दूसरी राशि को अनन्तगुणा प्रदर्शित करने के लिये दोनों राशियों की इकाइयों में एक-एक संवाद स्थापित कर यह दर्शाया जाता है कि इसके पश्चात् दूसरी राशि में अनन्त संख्याएँ (इकाइयाँ) रह जाती हैं।

३५. यहाँ कारणत्व शब्द का उपयोग करण संबंध से किया गया है। जीवों को सक्रियपने का बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म के संचयरूप पुद्गल हैं, इसलिये जीव पुद्गल करण वाले हैं। पुद्गलों को सक्रियपने का बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है, इसलिए पुद्गल काल करण वाले हैं। सर्वस्थावर जीवसमूह कर्म फल को चेतते हैं, कार्य को नहीं।

३६. अदिष्ट (scalar) और वेक्टर (vector) का व्यापक रूप टेंसर (tensor) है। इसके अनेक अवयवों का प्ररूपण अतिसूक्ष्म रूप वाले सांकेतिक समीकरण द्वारा किया जाता है। इसका प्रत्येक अवयव किसी अदिष्ट प्राचल (scalar parameter) का फलन (function) होता है। सापेक्षता सिद्धान्त में यह स्थिति निर्देशांक (coordinates) और समय (time coordinate) का फंक्शन होता है। ऐसा टेंसर क्षेत्र और काल के प्रत्येक अविभागीअंश पर एक टेंसर क्षेत्र का निर्माण करता है। क्षेत्र और काल परिवर्तन के परिणाम स्वरूप टेंसर का परिणमन एक विशिष्ट रूप से होता है, जिससे घटनाओं के संसार के सत्य का निरूपण सहज हो जाता है।

इसका गणितीय आधार भी सूत्रबद्ध है।[३७] यह स्पष्ट इसलिए है कि त्रिविमीतीय (three-dimensional) आकाश में एक दूसरे पर लम्ब तीन दिशाओं में एक एक बिन्दु स्थापित करते हुए, विदिशाओं में अपरिमेय राशियाँ भी प्रकट हो जाती हैं, जो संततता (continuum) की संरचना में उसी तरह आधारभूत हो जाती हैं, जैसी प्राकृत संख्याएँ। इसी एक एक प्रदेश संरचना से विभिन्न असद्भास प्रकट नहीं हो पाते हैं, जो बहुधा सिद्धान्त को असंगत बनाकर व्यावहारिक प्ररूपण में बाधाएँ उत्पन्न करते हैं।

आज गणित में जहाँ संततता में गण्य (denumerable) अनन्त से बड़े अनन्त की कल्पना में फंक्शन का आधार लिया गया है, जो बहुहीं (multiple valued) है, वहाँ प्राकृत ग्रंथों में एक-अनेक अथवा एक-अनन्त संवाद का आधार लिया गया प्रतीत होता है जो बहुहीं फंक्शनों में प्रतीक बद्ध हुआ प्रतीत होता है। बहुहीं फंक्शनों के विशिष्ट रूप और फंक्शनल, भौतिक घटनाओं से सुसंबद्ध किये जाकर और भी गहरी जानकारी प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं। इस योजना में प्राकृत ग्रंथों आदि की भारतीय प्राचीन सामग्री संभवतः कुछ अंशों में उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

आज जहाँ खण्ड (cut) शब्द का उपयोग होता है, उसका अविभागी खंड या अविभागी प्रतिच्छेद है। प्रतिच्छेद शब्द का प्राकृत ग्रंथों में प्रयोग इसलिये हुआ है कि उनमें विभिन्न प्रकार के गुणों और क्षेत्रादि के अविभागी छेदों का वर्णन रहता है। एक छेद दूसरा रूप नहीं होता, इसलिये अन्योन्याभावी अथवा अत्यंताभावी होने के कारण उनमें 'प्रति' (corresponding) शब्द प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जब हम गणित में अपरिमेय (irrational) अथवा काल्पनिक (imaginary) आदि संख्याओं का प्रयोग कर व्यावहारिक प्ररूपण का विषय बनावें, तो वास्तविकता प्रकट करने के लिये अंततः प्राकृत (natural) संख्याओं के संवादी चित्रण का आधार लेना पड़ेगा।

एक ओर जब हम व्यवहार काल को ही घटनाओं के फंक्शन के रूप में देखते हैं, वहाँ निश्चयकाल, धर्म, अधर्म आकाश को क्रमशः परिणमन, गमन, स्थिति, अवगाह आदि में सहकारी (co-operational) पाते हैं। इनमें केवल भाववती शक्ति का विचार करना पड़ता है। इस प्रकार के कारकों (operators) को हम किन दशाओं में व्यत्ययहीन[३८] (non-commutative) कह सकते हैं? साथ ही यह प्रश्न उठता है कि चारों आपरेटर किस रूप में सापेक्षता और क्वान्टम सिद्धान्तों में प्रयुक्त हो सकते हैं? आशा है कि ऐसे प्रश्नों के अध्ययन न केवल भौतिकीय तथा रासायनिक घटनाओं के अपितु निवृत्ति विषयक प्ररूपणा के गहरे भेदों को प्रकाशित करने में उपयोगी सिद्ध होंगे।

अंत में मैं अपने गुरुओं प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हूँ, जिनकी असीम अनुकम्पा से शोध पथ सम्बन्धी उपर्युक्त सुझाव दे सकने की प्रेरणा प्राप्त हुई।

---

३७. देखिये ९., पृ० ३, २२.

३८. क्वांटम यांत्रिकी का मूल आधार यह है कि भौतिक राशियों को साधारण संख्याओं के स्थान में ऐसी क्वांटम संख्याओं द्वारा निरूपित किया जाता है, जिनका गुणन व्यत्ययशील नहीं होता। व्यत्ययशीलता की कमी तब प्रकट होती है, जब कि वैश्लेषिक यांत्रिकी के दृष्टिकोण से दो राशियाँ वैधानिकतः संयुग्मित (canonically conjugate) हों। इस कमी का माप 'h' द्वारा होता है जो स्थूल-स्तरीय घटनाओं में उपेक्षणीय होता है? प्रत्येक भौतिक राशि के लिये तरंग-यांत्रिकी में एक प्रक्रिया संकेत (symbol of operation) अथवा कारक (operator) नियत करते हैं। समस्त भौतिक राशियों का एक-एक आनुषंगिक (conjugate) कारक होता है। अभी हम नहीं कह सकते कि उपर्युक्त प्रकार के कारकों को गणित में किस रूप में निविष्ट करना संभव होगा।

प्राचीन जैन साहित्य में मृतक कर्म

(डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, एम० ए०, पीएच० डी०)

वैदिक युग में प्रेतक्रिया :—

प्राचीन वैदिक युग में मृतकों को जंगल में फेंक दिया जाता (परोप्त) अथवा वृक्ष आदि पर रखकर छोड़ दिया जाता था (उद्धत)।[1] आगे चलकर मृतकों को जलाया जाने लगा। ऋग्वेद (१०।१५।१४) में अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध मृतकों का उल्लेख इस कथन को प्रमाणित करता है।

कहा गया है कि मृतकों के क्रिया-कर्म के लिये ऐसा स्थान ढूंढ़ना चाहिए जहाँ मृतक को सुख और शांति प्राप्त हो सके (शतपथ, ५।१३।८।१)। शव को भूमि पर उतारने से पहले भूमि को गोबर से लीपकर तृण बिछा देने चाहिएँ। तत्पश्चात् शव को स्नान कराकर उसे चन्दन से लिप्तकर उसका क्षौर कर्म करना चाहिये, नाखून काट देने चाहिएँ और फिर उसे नए वस्त्र पहना, गाय-गाड़ी या शिविका में रखकर श्मशान भूमि को ले जाना चाहिए। मृतक के पीछे गाय या बकरी के अगले बायें पैर में रस्सी बांधकर ले जाना चाहिए, जिससे उसके मांस से मृतक के शरीर को ढँका जा सके। क्षत्रिय-प्रेत की चिता के उत्तर भाग में उसकी पत्नी को लिटाना चाहिए और उसके देवर को चाहिए कि वह उसे शीघ्र ही वहाँ से उठा दे।[2]

गौतमबुद्ध का दाहकर्म :—

बौद्ध तथा जैन, ब्राह्मण-परंपरा विहित अनुष्ठानों को प्रायः स्वीकार नहीं करते, इसलिए उनकी प्रतिक्रिया इतनी जटिल नहीं है। बौद्ध सूत्रों में कहा है कि तथागत के मरण समाचार प्राप्त होते ही कुशीनाराके मल्ल नर-नारी करुणक्रन्दन करने लगे। बुद्ध के शरीर को एक से एक सुन्दर सूक्ष्म वस्त्रों में लपेटा गया। मल्लों ने बुद्ध के सत्कार में छह दिन नाचने गाने में बिता दिये। तत्पश्चात् सातवें दिन उन्हें नगर के दक्षिण भाग से ले जाकर सुगन्धित काष्ठ की चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया। सर्वगंध मिश्रित जल से चिता को शांत किया गया और फिर अस्थियों पर स्तूपों[3] का निर्माण हुआ

---

१. पालि ग्रंथों में आलाहन (गाड़ना) और आमक सुसान (फेंक देना) नाम की विधियों का उल्लेख है। जैन ग्रन्थों में (महानिशीथ, गुजराती अनुवाद, पृ० २५) किसी गणिका की दासी को उसकी मृत्यु के बाद पशु-पक्षियों के खाने के लिये जंगल में फेंक दिये जाने का उल्लेख है। मरने के बाद जेल के कैदियों को रस्सी में बांधकर खाई में लटका दिया जाता था, जिससे उन्हें भेड़िये, गीदड़ आदि भक्षण कर जाते थे (प्रश्न व्याकरण सू०१२६,पृ० ५५)। गिद्धपिट्ठक मरण स्वीकार करने के लिये बहुत से लोग (मृत पुरुष) हाथी, ऊँट, गधों आदि के बीच लेटकर अपने आप को गिद्धों से भक्षण कराते थे (औपपातिक सू० ३८,पृ० १६२–३)। जैन साधु भी अपने मृतकों को जंगल में छोड़ आते थे।

२. देखिये आश्वलायन गृह्य सूत्र ४२, ३–४, बी० एम० आप्टे, शोशल एण्ड रिलीजियस लाइफ इन द गृह्यसूत्राज, पृ० २४०, २५२ आदि।

३. तित्तिर जातक (४३८,पृ० ५३७) में बालू के स्तूप का उल्लेख है। स्तूप ईंट आदि से निर्मित किये जाते थे मृतक की स्मृति में जो देवकुल बनाया जाता था, उसे तेण कहते थे। म्लेच्छों में मृतक लेण अथवा मृतक गृह बनाने की प्रथा थी। इस तरह के गृह दीव और जोण नामक देशों में बनाये जाते थे (निशीथचूर्णि, साइक्लोस्टाइल प्रति, पृ० ३३०; आचारांग चूर्णि, पृ० ३७०)। मृतकों की पूजा (मडयपूयण) की प्रथा बहुत प्राचीन कालसे चली आती है। देखिये आवश्यक भाष्य, २६, २७, हरिभद्र टीका, पृ० ११३, आवश्यक चूर्णि, पृ० १५७, २२२ आदि।

(दीघ निकाय, महापरिनिब्बाण सुत्त) । *जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण हो जाने* पर ऋषभदेव के मृत शरीर पर चन्दन का अनुलेप किया गया, हंस-चित्रित सुन्दर वस्त्र पहनाये गये और उनके शरीर को सर्वालंकारों से विभूषित किया गया, उसके बाद शव को शिविका में रखकर ले गये और गोशीर्षचन्दन से निर्मित चिता पर रख दिया। अगुरु, तुरुष्क, मधु और घृत आदि डालकर चिता को प्रज्वलित किया गया। फिर शरीर का मांस और रक्त जल जाने पर जलसे चिता को शांत किया गया। तत्पश्चात् उनकी अस्थियों पर चैत्य स्तूप निर्मित किये गये। (आवश्यक चूर्णि, पृ० २२२–४ जम्बुद्दीवपन्नत्ति)।[1]

जैन भिक्षुओं की नीहरण क्रिया :—

बृहत्कल्पसूत्र भाष्य ४। २७; (भाष्य का समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दी) के विस्वम्भवन (जीव और शरीर का पृथक हो जाना, अर्थात् मरण) प्रकरण में जैन भिक्षुओं की नीहरण क्रिया का बिस्तार से उल्लेख है। उक्त सूत्र में कहा है कि यदि कोई भिक्षु रात्रि अथवा विकाल में मरण धर्म को प्राप्त करे, तो वैयावृत्त करने वाला भिक्षु मृतक को ले जाकर जीव-जन्तु आदि रहित एकान्त स्थान में रख दे। यदि मृतक के शरीर को वहन करने के लिये किसी गृहस्थ के घर कोई काष्ठ आदि हो, तो उसके द्वारा मृतक को वहन करे और फिर काष्ठ को जहाँ से लिया हो, वहीं रख दे।

व्यंतराधिष्ठित मृत भिक्षु :—

यदि कोई भिक्षु हाल ही में मरा हो और वायु के कारण उसका शरीर स्तब्ध न हुआ हो, तो मृतक के हाथ-पैर फैला दे तथा मुंह और आंख बन्द कर दे। उसके हाथ और पैर के अंगूठों को रस्सी से बांध कर मुख-वस्त्रिका से मुंह ढक दे। मृतक को यक्षाविष्ट न होने देने के लिये उनकी अक्षत देह में उंगली को बीच में से थोड़ा-सा चीर दे। ऐसा करने पर भी यदि कोई व्यंतर या प्रत्यनीक देवता शरीर में प्रविष्ट हो जावे तो मूत्र (परिणामिणी) को बायें हाथ में लेकर शव को सींचे। यदि शरीराधिष्ठित व्यंतर विकराल रूप प्रदर्शित कर चिल्लावे या अट्टहास करे, तो निर्भीक रहकर शव को एकांत स्थान में रख दे।

मरणोत्तर विधि :—

भिक्षु के कालधर्म को प्राप्त होने के पश्चात् भूमि को प्रमार्जित कर अव्यवच्छिन्न धारा से शव तृणों का एक संस्तारक तैयार करे। यदि तृण न हों तो चूर्ण, केशर या लेप आदि के द्वारा 'क' [ब्राह्मी लिपि में 'क' निम्न प्रकार से लिखा जाता है : + बनाकर उसके नीचे त (ब्राह्मी लिपि में λ) लिखे। ककार के नीचे तकार लिखने से ⅄ पुरुष की आकृति बन जाती है] साधु के काल-गत होने पर उचित नक्षत्र आदि देखकर डाभ के पुतले बनावे और मृतक को अढ़ाई हाथ के श्वेत और शुचि वस्त्र में लपेटे, एक वस्त्र नीचे और दूसरा ऊपर डाले। फिर शव को रस्सी से लपेट कर उसे एक उज्ज्वल वस्त्र से ढक दे।

दिन या रात्रि के समय जब भिक्षु कालधर्म को प्राप्त हो, उसे उसी समय ले जावे। यदि रात्रि में हिम बरसता हो, चोरों अथवा जंगली जानवरों का भय हो, नगर के द्वार बन्द हों और यदि किसी ग्राम में शव को रात्रि के समय निकालने की प्रथा

---

१. रामायण (६।११४।१०१ आदि) में कहा है कि रावण की मृत्यु होने पर सुवर्ण की शिविका बनाई गयी। मृतक को क्षौम वस्त्र पहनाये गये, रंग-बिरंगी पताकाएँ लगाई गईं और फिर बाजे-गाजे के साथ अर्थी निकाली गई। दक्षिण की ओर मृतक का मुंह किया गया। आग्नेय दिशा में चिता के पास एक वेदी निर्मित की गई और वहाँ एक बकरे का वध किया गया। तत्पश्चात् चिता पर खील बखेर कर उसमें आग दी गई। प्रेतवाहन के लिये दूर्वा और जल से मिश्रित तिल भूमि पर रखे गये। इसके बाद मृतक को जल तर्पण कर सब नर-नारी अपने घर लौट गये। इसी प्रकार वानरराज बालि के मरने पर अनेक पक्षी और क्रीड़ा-पर्वत आदि के चित्र निर्मित कर शिविका को सजाया गया और उसे श्मशान भूमि में ले गये। वही (४।२५।१६ आदि)। पांडु का और्ध्व दैहिक कृत्य करते समय शिविका को अलंकृत कर छत्र लगा, चमर डुलाते हुए गाजे-बाजे के साथ अर्थी निकाली गई; रत्नों का दान दिया गया। तत्पश्चात् चन्दन, उशीरक आदि सुगंधित द्रव्यों से चिता बनाकर पुरोहित की बताई हुई विधि के अनुसार दाह-कर्म सम्पन्न हुआ (महाभारत १।११३; ११६, तथा देखिये जम्बूद्दीवपन्नत्ति)

न हो तो शव को रात्रि में न ले जावे। यदि कोई महातपस्वी मरण धर्म को प्राप्त हुआ हो तो भी उसे रात को न ले जावे। हाँ, यदि साधुओं के पास शुचि और श्वेत वस्त्र न हों तो मृतक को रात के समय निकाल सकते हैं। तथा यदि राजा अन्तःपुर-सहित नगर में प्रवेश कर रहा हो या अपने योद्धा और कर्मचारियों के साथ बाहर जा रहा हो और उस समय नगर द्वार बन्द हो, तो मृतक को रात्रि में ही निकालना चाहिए (बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य विस्वग्भवन प्रकृत)।

उपाश्रय से मृतक को ले जाते समय जिस दिशा में ग्राम हो उधर मृतक का सिर रखना चाहिये। यदि साधु काफी संख्या में मौजूद हों तो उन्हें ही मृतक को वहन करना चाहिये, नहीं तो गृहस्थ मृतक को बैलगाड़ी में रखकर ले जावें, अथवा मल्ल लोग वहन करें, अन्यथा गृहस्थ राजकुल में पहुँचकर सहायता मांगें। यह संभव न हो तो चांडाल मृतक को उठाकर ले जावें। यदि शव को वहन करने वाले कुल चार व्यक्ति हों और उनमें एक वसतिपालक (उपाश्रय आदि की देख-रेख करनेवाला) हो तो शेष तीन व्यक्ति बीच-बीच में विश्राम करके शव को ले जावे। आवश्यकता होने पर अन्य वेष धारण करके मृतक की परिष्ठापना करनी चाहिए। संभव है कभी वहन करने वाला साधु अकेला ही हो तो ऐसी हालत में वह संवेगी, असंवेगी, सारूप्य, सिद्धपुत्र और श्रावकों की सहायता से मृतक को ले जावे। आवश्यकता होने पर वाहकों को दूसरे गाँव से बुलवावे। यदि श्रावक भी न मिलें तो फिर क्रम से सारूपिकी, सिद्धपुत्री, तुल्यवयवाली श्राविका वृद्धा संयती, मध्यवय वाली संयती और तुल्यवयवाली संयती की सहायता से मृतक का निष्कासन करे। स्त्रियाँ भी न मिलें तो मल्लगण, हस्तिपालगण और कुंभकार गणों की सहायता प्राप्त करे। अन्यथा हीन जाति, हीनकर्मा, कूड़ा-कचरा उठाने वाले (संवर) नखशोधक और स्नान कराने वाले आदि की सहायता से मृतक को ले जाये। ये लोग यदि बिना पैसे लिये काम करने को तैयार न हों तो इन्हें धर्मोपदेश देकर अथवा वस्त्र आदि देकर सन्तुष्ट करे (व्यवहार भाष्य ७, गाथा ४४९-६२, पृ० ७९)।

मृतक की परिष्ठापनविधि:—

मृतक को परिष्ठापन करने के लिये स्थंडिल, प्रदेश (जीव-जन्तु रहित प्रदेश) की देखभाल करना अत्यन्त आवश्यक है। किसी कोरे मिट्टी के बर्तन में पान और चार अंगुल प्रमाण कुशों को लेकर स्थंडिल की ओर मुंह किये अर्थी के आगे-आगे एक साधु को चलना चाहिए (बृहत्कल्पभाष्य, वही)।

यदि मरण का समाचार किसी को ज्ञात न हो तो साधु शीघ्र ही अन्य लिंग धारण कर प्रच्छन्न रूप से मृतक को किसी स्थंडिल प्रदेश में ले जावे। यदि मरण का पता लग गया है और मृतक को नगर के बाहर ले जाना संभव न हो, तो उसे विधि-पूर्वक उपाश्रय के पश्चिम-दक्षिण भाग में रख दे। यदि वहाँ स्थान न हो, तो फिर राजा द्वारा अनुज्ञात स्थंडिल में परिष्ठापित करे। यदि स्थंडिल जीव जन्तु रहित न हो तो सूखे तृणों में रख दे। यदि राजा की आज्ञा हो कि सब पाखंडियों को अपने-अपने मृतकों को गड्ढे में छोड़ देना चाहिए अथवा बहती हुई नदी या जलती हुई आग में फेंक देना चाहिए तो फिर ऐसा ही करें (बृहत्कल्प भाष्य ४, गाथा ४८२४)। मृतक को परिष्ठापन करते समय सब से पहले नैऋत दिशा पसंद करनी चाहिए। उसके अभाव में क्रम से दक्षिण-पश्चिम. आग्नेय (वायव्य), पूर्व-उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशाओं में मृतक को रखना चाहिए (वही विस्वग्भवन प्रकृत)।

आनन्दपुर में (बडनगर, उत्तर गुजरात) उत्तर दिशा में संयतों का परिष्ठापन किया जा जाता था। ऐसी हालत में उत्तर दिशा में ही जैन साधुओं को भी परिष्ठित करना चाहिये। यदि किसी गांव में सब जगह खेत ही खेत हों, तो राजपथ अथवा दो गाँवों के बीच की सीमा में मृतक को रखकर छोड़ दे। यदि यह संभव न हो तो श्मशान में जावे। यदि श्मशान-पालक श्मशान के द्वार पर खड़ा होकर मांगे तो जहाँ अनाथ-मृतक जलाये जाते हों, वहाँ ले जावे। यदि श्मशान में इस तरह का कोई अलग स्थान न हो तो श्मशान पालक को धर्मोपदेश देकर संतुष्ट करे। यदि वह फिर भी न माने तो उसे मृतक के अथवा नये वस्त्र दे। यदि स्वीकार न करे तो गाँव में से मांगकर लावे। यदि वस्त्र न मिलें, तो राजकुल में जाकर निवेदन करें कि हम निष्किंचन साधु श्मशान-पालक को क्या दे सकते हैं। यदि राजा कहे कि श्मशान-पालक की मर्जी के खिलाफ हम कुछ नहीं कर सकते तो फिर धर्मास्तिकाय की कल्पना कर हरितकाय के ऊपर ही मृतक को परिष्ठापित कर दे। (व्यवहार भाष्य ७, गाथा ४४२–६, पृ० ७६)। मृतक के पास जोहरण, मुखवस्त्रिका आदि साधुओं के उपकरण रख दे। ऐसा न करने पर राजा को भय हो सकता है कि मृतक की किसी गाँव वाले ने हत्या कर दी है और ऐसी हालत में संभव है कि वह किसी गाँव को जलवा डाले (बृहत्कल्प भाष्य, वही)।

परिष्ठापन के बाद की विधि :–

मृतक को स्थंडिल में रखकर शव की बिना प्रदक्षिणा किये ही साधु लोग इस तरह अपने स्थान को लौट आवें जिससे उनके पैर गाँव की तरफ न हों। वे जिस मार्ग से गये हों उस मार्ग से न लौटें। उपाश्रय में आकर मंगल-स्तोत्र का पाठ करें। मृतकों की मूत्र-कफ आदि से गंदी हुई कुशमयी शय्या को फेंक दें। यदि कोई यक्षाधिष्ठित साधु मरा हो, तो उसकी तो शय्या के टुकड़े टुकड़े करके फेंक दें तथा उसके अन्य उपकरण जो उसके शरीर से छू गये हों, उनका भी परित्याग कर दें (बृहत्कल्प भाष्य, वही)।

मृतकों के श्राद्ध में ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।[1]

---

१. उत्तराध्यन-टीका १३, पृ० १९४ अ, निशीथचूर्णि ११, ७०९, नायाधम्मकहा, १४, १५१। श्राद्ध के लिये देखिये सांख्यायन गृह्यसूत्र ४।१–४, मतक भत्त जातक (१८), पृ० १६६।

जैन विद्वानों की बौद्ध साहित्य सेवा

(ले० अगरचन्द नाहटा, बीकानेर)

साहित्योपासना में जैन विद्वानों ने बड़ी ही उदारता एवं गुणानुराग से काम लिया है। उन्होंने विविध भाषाओं एवं विषयों के हजारों महत्वपूर्ण ग्रंथ निर्माण के उपरांत जैनेतर विद्वानों की रचनाओं को भी लिखकर अपने ज्ञान भंडारों में सुरक्षित रखा, उनका पठन-पाठन किया एवं उन ग्रंथों पर टीका टिप्पणी आदि व्याख्याएँ बनाकर उनके प्रचार में हाथ बटाया।

बौद्धधर्म भारत में ही जन्मा एवं सहस्रों वर्षों तक फला फूला, पर एक दिन ऐसा आया कि एकाएक उसे अपनी जन्मभूमि से बिछुड़ना पड़ा। फिर भी सहस्रों वर्षों का प्रभाव सर्वथा नष्ट होना सम्भव न था। उसकी साहित्य सम्पत्ति भारत के से सर्वथा लुप्त कैसे हो सकती थी? जैन विद्वानों ने बौद्धों का जो कुछ भी साहित्य मिल सका, अपने संग्रह में बड़े यत्न से सम्हाल कर रक्खा। फलतः कई ऐसे बौद्ध ग्रंथ आज भी जैन भण्डारों प्राप्त होते हैं, जिनकी प्रतियाँ अन्यत्र कहीं नहीं मिलती अर्थात् उनकी सुरक्षा का श्रेय इन्हीं उदारमना जैन विद्वानों को है। ऐसे ग्रंथों में धर्मकीर्ति का न्यायबिन्दु और कर्मशील का तत्त्वसंग्रह आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। आर्य वसुधारा[1] नामक बौद्ध रचना का संक्षिप्त रूप जैन विद्वानों ने भी अपना लिया है, जिसका प्रतिवर्ष दीवाली के दिन पाठ किया जाता है। इसके संक्षिप्त रूप की पचासों प्रतियाँ जैन ज्ञान भंडारों में उपलब्ध हैं। उनमें से सबसे प्राचीन प्रति हमारे संग्रह में है।

पाणिनीय व्याकरण के काशिका विवरण के कर्ता जैनेन्द्र बुद्धि[2] संभवतः बौद्ध थे, इसकी भी कई प्रतियाँ जैन भण्डारों में प्राप्त होती हैं। इसी प्रकार शांतरक्षित रचित तत्त्वसंग्रह, कमलशील की तत्त्वसंग्रह पंजिका एवं प्रमाणान्तर्भावः आदि बौद्ध ग्रंथों की प्राचीन ताड़पत्रीय प्रतियाँ जैसलमेर आदि भण्डारों में प्राप्त हैं।

भारतवर्ष में किसी समय बौद्ध न्याय का बोलबाला था। नालन्दा एवं विक्रमशिला आदि के महाविहारों में बड़े-बड़े विद्वान् रहते थे, जिनके पास पढ़ने के लिये भारत के ही नहीं विदेशों से सैकड़ों विद्यार्थी आते थे। कहा जाता है कि हरिभद्र सूरि एवं अकलंकदेव के शिष्य भी बौद्ध महाविहारों में पढ़ने को गये थे। बौद्ध दर्शन एवं न्याय का जैनाचार्यों ने भलीभाँति अध्ययन कर उनका खंडन अपने ग्रंथों में किया है। अर्थात् जैन विद्वानों ने बौद्ध ग्रंथों को केवल सुरक्षित ही नहीं रखा, पर वे उनका अध्ययन अध्यापन भी करते थे। इतना ही नहीं, तीन बौद्ध ग्रंथों पर, जिनमें से दो न्याय और एक अलंकार विषयक हैं, कई जैन विद्वानों ने टीकाएँ भी बनाई हैं, जिनका परिचय नीचे दिया जा रहा है। ये टीकाएँ ८ वीं से १७ वीं शताब्दी तक में रची गई हैं।

बौद्ध ग्रन्थों पर जैन विद्वानों की टीकाएँ

न्याय ग्रन्थः—

१—न्याय प्रवेश, मूलकर्ता-दिङ्नाग, समय ई० ४२५।

(i) आठवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने टीका बनाई।

(ii) सं० ११६४ में पार्श्वदेव ने पंजिका की रचना की। ये दोनों टीकाएं व पंजिका 'गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज' से प्रकाशित हैं।

१—'आर्य वसुधारा' आदि बौद्ध तांत्रिक कृतियों की प्रतियों के सम्बन्ध में धर्मदूत, वर्ष ९, अं० १० में प्रकाशित मेरा 'राजपूताने की बौद्ध वस्तुएँ' शीर्षक लेख देखना चाहिए एवं जैन समाज में प्रचलित वसुधारा की प्रतियों के सम्बन्ध में जैन सत्यप्रकाश, वर्ष १०, अंक ९ में प्रकाशित मेरा लेख देखें।

२—कई इन्हें जैन बतलाते हैं। पर कई प्रतियों में बोधि-सत्वदेसीय आदि विशेषण मिलते हैं, जिनसे ये बौद्ध ज्ञात होते हैं। इसकी प्रति हमारे संग्रह में भी है।

२—न्याय बिन्दु-धर्मोत्तर टिप्पणी, मूलकर्ता धर्मोत्तर, समय ई० ६४० से ७२० ।

(i) प्रसिद्ध जैन विद्वान् मल्लवादी (ई० ८२५) ने टिप्पणी की । इसकी सं० १२०६ की लिखित एक प्रति जैसलमेर के जैन ज्ञानभण्डार में सुरक्षित है ।

अलंकार:—

३—विदग्ध मुखमंडन, मूलकर्ता धर्मदास,[1] समय अज्ञात ।

(i) सुप्रसिद्ध जैनाचार्य जिनप्रभसूरि जी ने संक्षिप्त टीका बनाई है, जिसकी प्रति बीकानेर के 'जिनचरित्र सूरि ज्ञान-भंडार' में एवं 'सिंधिया ओरियंटल इंस्टीट्यूट', उज्जैन में पाई जाती है ।

(ii) विजयसुन्दर के शिष्य विनयरत्न रचित टीका की एक अपूर्ण प्रति हमारे संग्रह में एवं पूर्ण प्रति 'कुशलचन्द्र सूरि पुस्तकालय' में प्राप्त है । इस टीका का रचना काल १७ वीं शताब्दी है ।

(iii) खरतरगच्छीय श्री जिनसिंह सूरि (आद्यपक्षीय शाखा) के शिष्य, लब्धिचन्द्र के शिष्य, शिवचन्द्र ने सं० १६६९ में अलवर में काव्यालंकृति नामक टीका बनाई, जिसकी प्रति भी पूज्य 'जिनचरित्रसूरि संग्रह' एवं चूरू के यति स्व० ऋद्धिकरण जी के संग्रह में विद्यमान है ।

(iv) खरतरगच्छीय पिप्पलक शाखा के आचार्य जिनहर्ष सूरि के सन्तानीय सुमतिकलश के शिष्य विनयसागर ने सं० १६६९, माघ शुक्ल ३, रविवार को तेजपुर में टीका बनाई, जिसकी प्रति जयचन्द्रजी के भण्डार (बीकानेर) में उपलब्ध है ।

(v) कुन्दकुन्दाचार्य सन्तानीय किसी अज्ञात जैन विद्वान् के द्वारा रचित टीका की प्रति स्थानीय 'अनूप संस्कृत लायब्रेरी' में पाई जाती है ।

अष्टांग हृदय नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ के रचयिता भी बौद्ध कहे जाते हैं, इस पर दिगम्बर जैन पण्डित आशाधर ने टीका बनाई थी, पर वह अद्यावधि अनुपलब्ध है ।

कई बौद्ध ग्रन्थ ऐसे घुल मिल गये हैं कि उनके रचयिता बौद्ध हैं या नहीं ? इसके सम्बन्ध में विवाद है । अतः खोज करने पर संभव है और भी कई ग्रंथों एवं टीकाओं का पता चले ।

१—जैन टीकाकारों ने इसे सौगताचार्य धर्मदास रचित बतलाया है, बौद्ध विद्वानों से अनुरोध है कि वे धर्मदास के समयादि पर प्रकाश डालें ।

जैन और बौद्ध पिटकों का समानता

(ले० राहुल सांकृत्यायन)

यह विषय लेखका नहीं ग्रंथ-अनेक ग्रंथों में लिखने योग्य है, पर मैं यहाँ संक्षेप में लिखूंगा।

बुद्ध और महावीर प्राचीन भारत के महान् स्वतन्त्र विचारक हैं। साथ ही उनका जीवन बहुत मधुर और अपने समय में भी हजारों के लिये शिक्षा और मार्गदर्शन का काम करता रहा। स्वयं बौद्ध पिटकों (दीघनिकाय, ब्रह्मजालसूत्र) में आता है—"निगंठो नाथपुत्तो संघी चेव गणी च गणाचारियो ञातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजनस्स रत्तञ्ञू चिरपब्बजितो अद्धगतो वयो अनुप्पत्तो"।

दोनों ही महापुरुषों में बहुत सी समानताएँ थीं—(१) दोनों शान्ति-अहिंसा के महान् प्रचारक थे, (२) दोनों ने वर्ण व्यवस्था-जातिवाद का विरोध किया, (३) दोनों ही अपरिग्रह, प्रव्रज्या के जीवन को आदर्श मानते थे। (४) दोनों इस दुनिया के किसी कर्ता-निर्माता ईश्वर से इन्कार करते थे। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि (५) दोनों ही गणतन्त्र में पैदा हुए, वहीं बढ़े। महावीर की जन्मभूमि वैशाली अपने समय के मगध और कौशल जैसे राज्यों के मानमर्दन की शक्ति रखती थी। वह भारतीय जनतंत्र की एथेन्स थी, अत्यन्त महिमामयी।

दोनों के उपदेश अपने-अपने आगमों में संगृहीत हैं। जैन उन्हें सुत्तागम के नाम से पुकारते हैं, तो बौद्ध भी अपने सुत्त-पिटक के पांचों निकायों को दीघागम, मज्झिमागम, संयुत्तागम, अंगुत्तागम, खुद्दकागम कहते हैं। बल्कि सर्वास्तिवाद आदि निकाय तो आगम शब्द ही का प्रयोग करते थे। सुत्त का संस्कृत सूत्र जैन और बौद्ध दोनों मानते हैं, पर सूत्र (कल्प) ग्रंथों की परिपाटी दोनों महापुरुषों के निर्वाण के बाद चली, उसके पहिले सूक्त (ऋग्वेद के सूक्त) की परंपरा थी। वस्तुतः सूत्र का अर्थ सूक्त था। बौद्ध परंपरा इसे भूली नहीं थी। १३ वीं सदी के ग्रंथकार आनन्द ने लिखा है, "अत्थानं सुवनतो सुवुत्त-तो'थ सूदनतो सुत्तानं सुत्तसमागता।"

पालिपिटक और जैन आगमों (अंगों-उपांगों) को पढ़ते समय जान पड़ता है कि हम एक ही समाज, एक ही भूभाग, एक ही वातावरण में विचर रहे हैं, श्वास ले रहे हैं। दोनों जो भाषा बोलते थे, वह भी एक ही रही होगी। आज भी वैशाली (बसाढ़, जिला मुजफ्फरपुर) में पूर्वी छोर की और लुम्बिनी (शाक्य) में पश्चिमी छोर की भोजपुरी बोली जाती है। सिंहल की पिटक परंपरा सबसे पुरानी है। उनका तो कहना है "मागधी मूल भाषा" (सा मागधी मूलभासा) है। यदि बच्चों को अलग रखा जाये, किसी भाषा को सुनने का मौका न दिया जाये तो वे मागधी (पालि) बोलेंगे। मुल्ला लोग अरबी को वही स्थान देते हैं, पर उसे अकबर के आगरे के तजुर्बे ने गलत सिद्ध किया। हाँ, हमें श्रद्धा का सम्मान करना चाहिये। जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी बतलायी जाती है। जो भी हो, एक ही देश और एक ही काल के महापुरुषों की भाषा में उतनी ही विषमता होनी चाहिये जितनी आज दोनों की जन्मभूमि की भोजपुरी में है। पर सो बात नहीं है। पालि साहित्य की मागधी अशोक के पूर्वी शिलालेखों वाली मागधी से भिन्न है। लेखों की मागधी में स् के स्थान पर श् और र् के स्थान पर ल् की भरमार है, जिनका पालि में अभाव है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में सिंहल शिलालेखों में मागधी उच्चारण खूब पाया जाता है। संघस्स-संगस-सगश। पर ईसवी सन् के शुरू होने के बाद जो श् का बहिष्कार होता है तो आज भी वह पालिभाषा में चला आता है। वही बात जैन आगमों की भाषा के बारे में है। हाँ वे अर्द्धमागधी कहकर छुट्टी ले लेते हैं।

यह संभव भी नहीं हो सकता था। बौद्ध आगम चार सौ से अधिक वर्षों तक कण्ठस्थ श्रुति रूप में रहे। पहले २०० साल भारतीय कण्ठों में, फिर २०० साल सिंहल कंठों में। सिंहल में इससे खतरा देखा जाने लगा। दीघभाणक, मज्झिम-भाणक आदि भिक्षु जिन आगमों को कण्ठस्थ किए हुए हैं, वे भिक्षु यदि अकाल और ईति-भीति से मर गये तो बुद्धवचन नष्ट हो जायेंगे। इसलिये सिंहल के राजा वट्टगामिणी (ईसवी पूर्व ४४–१७) की सहायता लेकर वहाँ के आलोक विहार में भिक्षुओं की परिषद बैठी, जिसने प्रामाणिक मुखों से सुनकर तालपत्र पर पिटकों को उतारा। जैनों ने यह काम पाँच शताब्दियों

बाद वलभी में किया। आलोक विहार में बौद्धपटिक उस समय उतारे गये जब कि अब भी पालियुग का अन्तिम चरण बीत रहा था। बहुत सावधानी रखने पर भी मौखिक सूत्रों की भाषा, विशेषकर उच्चारण में परिवर्तन होना आवश्यक था। बुद्ध के समय में ही उनके सूक्तों (सूत्रों) को अब तक अपनी भाषा में, सौरसेन के कौरव अपनी भाषा (निरुक्ति) में, मागध अपनी मागधी में बोलते थे। इस अव्यवस्था को हटाने के लिये छान्दस् (वैदिक भाषा) में अनुवाद कर डालने की सलाह दी गयी। पर बुद्ध ने उसे इंकार ही नहीं, प्रायश्चित योग्य प्रयास बतलाया। वह जानते थे कि यद्यपि छन्द भाषा में कर देने से एकता जरूर आ जावेगी, पर वह बहुत महँगी होगी। जनता के लिये ये सूक्त दुर्गम हो जायेंगे। वह आज के काले साहबों को भांति अंग्रेजी द्वारा जनता में ज्ञान फैलाना नहीं चाहते थे। जब तत्काल ही देशों (भिन्न-भिन्न जनपदों) ने भाषा में भेद पैदा कर दिया था, तो बुद्ध से चार शताब्दी बाद बुद्धवचन की भाषा में और महावीर से प्रायः हजार वर्ष के बाद कण्ठस्थ होकर आई भाषा में परिवर्तन नहीं हुआ होगा, यह मानना मुश्किल है। यह होने पर भी दोनों आगमों की प्रमाणिकता में संदेह नहीं हो सकता। सुत्त पिटक के पाँचों आगम बुद्धवचन हैं यह भले ही न कहा जाये, पर बुद्धवचन इन्हीं में हैं, यह निर्विवाद है। वही बात महावीर के मुख्य वचनों और जैन आगमों के संबंध में भी है। इसके कारण कठस्थ करनेवालों पर दोष देना बेकार है। सैंकड़ों की परम्परा में यदि एक ने जानबूझकर या प्रमादवश घटा-बढ़ा भी दिया, तो उसका परिमार्जन कैसे होता।

श्रमण महावीर—दोनों आगमो की समानता दिखलाने के पहिले जैन तीर्थंकर के बारे में कुछ बातें कह देनी चाहियें। महा-माहण[1] (महान् ब्राह्मण) श्रमण भगवान् महावीर वैशाली के काश्यपगोत्रीय ज्ञातपुत्र थे। णायपुत्त के स्थान पर पालिपिटक नाथपुत्त या नालपुत्त प्रयुक्त करता है, पर बौद्धों का संस्कृत पिटक ज्ञातपुत्र ही देता है, जो अधिक युक्तियुक्त है। वैशाली के आस-पास के बहुत बड़े इलाके में जेथरिया-भूमिहार लोग बसते हैं। ज्ञातृक का 'जेथरिया' बनना बिलकुल आसान है। यही नहीं कि दोनों में नाम और स्थान की समानता है, आज भी जेथरिया लोगों का गोत्र काश्यप है[2]। वैशालिक श्रमण भ० महावीर इसी जेथरिया वंश में पैदा हुये। बिहार के सबसे बड़े राजवंशों में द्वितीय बेतिया राजवंश जेथरिया है। जिस प्रकार श्रमण गौतम का घर का नाम सिद्धार्थ था, वैसे ही श्रमण महावीर का घर का नाम वर्द्धमान था।[3] समणगोतम के नाम से जैसे बुद्ध लोगों में प्रसिद्ध थे, उसी प्रकार श्रमण भगवान् या समण महावीर के नाम से जैन तीर्थंकर प्रसिद्ध थे। अन्य तीर्थिक (दूसरे मत वाले) समणनायपुत्त (ज्ञातपुत्र) भी कहते रहे होंगे। श्रमण गौतम की भाँति श्रमण काश्यप नाम क्यों नहीं पड़ा, इसका कारण शायद काश्यपों की बहुतायत रही होगी। उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे, जो गौतम के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। यह वैसे ही श्रमण महावीर के अग्रश्रावक थे, जैसे बुद्ध के सारिपुत्र।

बौद्ध आगमों के अनुसार श्रमण महावीर की शिक्षा चातुर्याम संवर की थी—"चातुयाम संवर सवुंतो (१) सब्ववारि वारितो' व (२) सब्ववारि युत्तो व (२)सब्ववारि धुतो' व (४) सब्ववारि पुट्ठो" व (दीघनिकाय सामञ्ञफल सुत्त)। जैन आगम भी इससे सहमत हैं।

(१) "इच्छामि णं भंते, तुब्भं भत्तिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता विहरित्तए", सूयगडं ७।१२।१४; भगवई १।९।७६.

(२) "अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पन्नविंति" (ठाणंग ४।१।३२).

(३) तएणं (से)—पुंडरीए.......सयमेव चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जइ। ....थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं उपसंपज्जित्ताणं"........(णायाधम्मकहाओ १९ ।१४७)

गौतम इन्द्रभूति—ये तीर्थंकर के ज्येष्ठ शिष्य थे—"भगवओ जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूति नामं अणगारे गोयम सगोत्तेणं... घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी ....। (भगवई १।३।७; ओववाइय, ३७)

१.—समणे भगवं महावीरे महामाहणे" उवासगदसा ७, ५६। (सर्वत्र उद्धरण पुप्फ भिक्खु संपादित 'सुत्तागम प्रकाशक समिति' गुड़गाँव के आगमों से दिया जाता है)।

२—भगवया महावीरेणं कासवेण।

३.—उत्तरज्झयण सुत्त २४।२३; कप्पसुत्त, महावीरचरिय ९०।

शिष्य परम्परा—विनयपिटक के पाँचवें (तथा पीछे के) ग्रन्थ परिवार में बुद्ध से आनेवाली गुरु परंपरा दी गई है। वैसे ही नंदीसुत्त २१–४९, पृष्ठ १०६२–३ पर भगवान् वर्द्धमान, इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, संभूतविजय और भद्रबाहु आदि से देवर्द्धिगणि पर्यन्त शिष्य परम्परा दी हुई है।

भिक्षु-भिक्षुणी—"अगाराओ अणगारियो (घर से बेघर प्रव्रजित)[1] पालि (अगारा अनगारियो) जैसा है ही? इसी प्रकार बौद्धों की भाँति ही जैन साधु-साध्वियों को भी भिक्खु-भिक्खुणी कहा जाता था। पीछे बौद्ध श्रमणों के लिए इस शब्द के रूढ़ हो जाने पर इसका प्रयोग जैन साधुओं में छूट गया, जिसे अभी भी कोई कोई जैन मुनि अपने नाम के साथ प्रयुक्त करते हैं। (तेरापंथ संप्रदाय के आद्य संस्थापक संत भीखणजी को आ० 'भिक्षु' नाम से अभिहित किया जाता है)। श्रमणों की एकता सिद्ध करने के लिये यह शब्द बहुत उपयुक्त है।

बौद्ध भिक्षुओं में भिक्षु बनाने का काम संघ करता है, पर आचार्य उपाध्याय का होना आवश्यक है, वही बात जैन भिक्षुओं के लिये भी थी।[2] भिक्षु बनाते समय जो विधि बरती जाती है उसे बौद्ध लोग उपसंपदा कहते हैं। चाहे इस अर्थ में उसका प्रयोग न हो, पर जैनागम इस शब्द से अपरिचित नहीं हैं।

बौद्ध लोग जैन साधुओं को अधिकतर निगंठ (निर्ग्रन्थ), निगंठी (निर्ग्रन्थी) नाम से पुकारते थे। ये जैनआगम में भी सुपरिचित शब्द हैं। "पंचहिं ठाणेहिं निग्गंथा निग्गंथीओ य......"।[3]

आचार्य, उपाध्याय—बौद्ध भिक्षु संघ द्वारा बनाये जाते थे, जिसका कोरम (अल्पतम संख्या) बिहार उत्तरप्रदेश (मध्य-मंडल) में १० और बाहर ५ रक्खी गयी थी। गुरु संघ ही कहना चाहिये। नये भिक्षु की शिक्षा के लिये उसी समय उपाध्याय और आचार्य बना दिये जाते थे। जैन भिक्षु-भिक्षुणी के लिये भी आचार्य उपाध्याय की आवश्यकता होती है—"आउसंतो समणा! संति मम पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा, तं जहा आयरिए वा उवज्झाए वा, पवित्ती वा, थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइए वा, अवियाई, एएसि, खद्धं खद्धं दाहामि (आयारंग, १।१०।६२५)।

बौद्ध भिक्षु बनाते समय जो कर्मकाण्ड (कर्मवाचा) व्यवहृत होता है, उसे उपसंपदा कहते हैं। यद्यपि उसी अर्थ में जैनागमों में उसका व्यवहार नहीं होता, पर उपसंपदा का प्रयोग होता है—"इच्छामि णं भंते तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खु पडिमं उवसंपज्जिता णं विहरित्तए।"[4]

एकसाटक—वस्त्र को लेकर जैन भाइयों में विवाद है। बौद्ध ग्रंथों में जहाँ नग्न या दिगंबर साधुओं का उल्लेख भी मिलता है, वहाँ अति प्राचीन ग्रंथों में एकसाटक (एक ही वस्त्र पहने) का भी अनेक स्थानों पर उल्लेख है। थेरीगाथा में भद्दा 'पुराण निगंठी' कहती है—

"लूनकेसी पंकधारी एकसाटी पुरे चरिं" उदान (६।२ में भी "सत्त च एक साटा"[5] का उल्लेख है। जैनआगम में भी "एक साडे अदुवा अचेले"[6] मिलता है।

थेर (स्थविर)—शब्द का प्रयोग बौद्ध और जैन दोनों में ज्येष्ठ भिक्षुओं के लिये हुआ है। बौद्धों में तो १२ वर्ष से अधिक के सभी भिक्षुओं के नाम के साथ थेर या थेरो लगाया जाता है। जैन साधु ऐसा नहीं करते, पर आगमों में ऐसा आता है—"तए णं आणंदे थेरे।[7]"

१.—"से भिक्खु वा भिक्खुणी वा" (आयारंग ७।६।४३०, प्र० भाग पृ० २६)

२.—"आउसंतो समणा, संति मम पुरे संथुया पच्छा संथुया वा, तं जहा आयरिए वा उवज्झाए वा"। (आयारंग १०।६२५)।

३—ठाणंग ५, १, ५१६ द्वि० भाग, पृ० २६२।

४—भग० २।१।९२, पृ० ४२३; प्रव्रज्या और उपसंपदा शब्दों के पालि अर्थ के अनुरूप अर्थ के लिये देखिये—त० सू० भा० वृ० सूत्र ९. १८ पर।

५.—(थेरी गाथा १०७। (६) आयारंग ५।४।४२२। (७) भगवई १५।५४६, पृ० ७१९।

एक से विशेष शब्द—जैन और बौद्ध आगमों में सैकड़ों एक से विशेष शब्द पाये जाते हैं, जिनमें से कुछ को यहाँ देते हैं।

पोसहसाला—पोसह को पालि में पोसथ (बु० सं० पोषध) कहते हैं। उपवास या उपोसथ भी उसी शब्द के रूप हैं। पोसह व्रत लेकर रहने के लिये विशेष शालाएँ होती थीं, जिनको पोसहसाला कहते थे। बौद्ध भिक्षु पोसथ के दिन जिस घर में एकत्रित होकर "पोसथकम्म" (विनयविधि) करते हैं, उसे उपोसथागार या पोसथशाला कहते हैं—"उप्पलासम्मणो वासिया जेणेवपोसहसाला तेणेव उवागच्छइ"[1]। समणोवासिया (श्रमणोपासिका) जैसे जैन महिला को कहते हैं, वैसे ही बौद्ध महिला को उपासिका कहते हैं।

वेरमणी—विरत होने का व्रत लेते समय इस शब्द का प्रयोग दोनों में मिलता है।

भन्ते—बौद्ध बड़ों को भन्ते (भदन्त) शब्द से पुकारते हैं। उस समय दास अपने स्वामियों को भन्ते कहकर संबोधित करते थे। जैनागम में भी वही बात मिलती है "से नूणं भन्ते," "से केणट्ठेणं भन्ते," "से णूणं भन्ते," "नेरइयाणं भन्ते", सेवं भन्ते, सेवं भन्ते।"[2]

आउसो—समान या छोटे के लिये आवुस (आयुष्मान्) शब्द का प्रयोग भी एक-सा मिलता है। अबौद्ध तो बुद्ध को भी "आवुस गौतम" कहकर संबोधित करते थे।[3] जैनागमों में भी देखिये "आउसो त्ति" (आयारंग, १।१०।६३०)।

"आउसो कासवा" (भगवई। १५।५४७, ५५० आदि) भगवान् महावीर के लिये यह संबोधन है,[4] जैसा "आवुस गौतम" बुद्ध के लिये।

श्रावक, उपासक—गृहस्थ भक्तों के लिये ये दोनों शब्द दोनों जगह व्यवहृत होते हैं। श्रावक से ही तो सरावगी बना है "समणोवासियाए" (भगवई १२।२।४४१), "मद्दुयं समणोवासगं (भगवई १८।७।६३३), "साविगे त्ति वा", उवासिए त्ति वा (आयारंग ४।१।७७८)।

आर्यमार्ग—बौद्ध-धर्म आर्य-अष्टांगिक मार्ग की बात करता है, और इधर सूत्रकृतांग में मिलता है—"जे तत्थ अरियं मग्गं परमं च समाहियं" (३।४।६)।

बोधि, संबोधि—*परम ज्ञान के लिये दोनों ही जगह इन शब्दों का प्रयोग होता है।* जिसे परम ज्ञान प्राप्त हो गया है, वह बुद्ध, , संबुद्ध कहा जाता है। जैनागमों में "किं न बुज्झइ संबोही" (सूत्रकृतांग २।१।१।८९)।" तिविहा बोही—णाणबोही, दंसणबोही, चरित्तबोही" (स्थानांग ३।२।२०७) आदि प्रयोग मिलते हैं।

बुद्ध, संबुद्ध, सयंबुद्ध—यह विशेषण दोनों महापुरुषों के लिये प्रयुक्त होते हैं।

"तिविहा बुद्धा—णाणबुद्धा, दंसण बुद्धा, चारित्त बुद्धा" (वही),

"णमोत्थु.............तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं................"(रायपसेणइयं, ५)।

"समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं।" (समवायांग २।२)

"से हु पन्नाणमत्ते बुद्धे आरंभोवरए।" (आयारंग ४।४।२५८)।

"बुद्धेहिं एवं पवेदितं" (आयारंग ४।१।३४०)

"संखाई धम्मं य वियागरंति बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति" (सूय०. १।१४।१८)

"बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए" (वही २।६।४२।७८५)

"सिद्धे बुद्धे मुत्ते", (ठाणंग २।१।७६)

"जिणे जाणए बुद्धे बोहिए मुत्ते मोयए सव्वन्नू" ।(भगवई १।१।५)

बौद्धों की नमस्कार गाथा है :—

"ये च बुद्धा अतीता च ये च बुद्धा अनागता।

---

(१) भग० १२।४३७, पृ० ६४८। (२) वही ७।३।२७९

३—विशेष के लिये मेरी "बुद्धचर्या" दृष्टव्य

४—गोशालक ने भ० महावीर को "आउसो" कहकर संबोधित किया है।

पच्चुप्पन्ना य जे बुद्धा अहं वंदामि ते सदा ॥"

इसे मिलाइये सूत्रकृतांग की निम्नगाथा से :—

"जे य बुद्धा अतिक्कंता जे य बुद्धा अणागया" (१।१।३६।५३२)

तथागत—यह शब्द भी जैनागमों में प्रयुक्त है।

"कओ कआइ मेहावी उप्पज्जन्ति तहागया।

तहागया अप्पडिक्कन्ता चक्खू लोगस्सणुत्तरा" (वही २।१५।१२०।६२५)

सम्मादिट्ठि, मिच्छादिट्ठि—बौद्ध वाङ्मय में सच्चे मत को सम्यग्दृष्टि और झूठे मत को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। जैनागम में भी इन्हीं अर्थों में ये शब्द प्रयुक्त हैं :—

"एगा सम्मदिट्ठियाणं वग्गणा, एगा मिच्छादिट्ठियाणं वग्गणा"। (ठाणंग २, १, ७०)

"सम्मा मिच्छादिट्ठि णं भंते।" (भगवई ३।१।८२३)

मिथ्यादृष्टि मतों या ग्रंथों की गणना नन्दीसुत्त में मिलती है। पालि पिटक में भी अपने मत को छोड़ अन्य सबको मिथ्यादृष्टि कहा गया है।

"भारहं, रामायणं, भीमासुरुक्खं, कोडिल्लियं, सगडभद्दियाओ, घोडगमुहं, कप्पासियं, नागसुहमं, कणगसत्तरी, वट्टसेसियं, बुद्धवयणं, तेरासियं, काविलियं, लोगामयं, सट्ठितंतं, माठरं, पुराणं, वागरणं पायंजली, पुस्सदेवयं लेहं, गणियं, सउणरुयं, नाडयाई, अहवा बावत्तरिकलाओ, चत्तारि य वेया संगोवंगा, एयाइं मिच्छादिट्ठस्स—"(नन्दीसुत्त ४२)

विनय (विणय)—भिक्षु-भिक्षुणियों के आचार नियम को विनय कहते हैं। बौद्धों का तो इसका एक पिटक (विनयपिटक) ही है। जैनागमों में भी विणय संबंधी व्याख्यान हैं। उत्तरज्झयण सुत्त का प्रथम अध्ययन ही विणयसुयं है। जिसकी प्रारंभिक कुछ गाथाएँ इस प्रकार हैं :—

"संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं, सुणेह मे ॥१॥
× × × ×
विणए ठवेज्ज अप्पाणं इच्छन्तो हियमप्पणो ॥६॥
तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जओ।
बुद्धपुत्त नियागट्ठी न निक्कसिज्जई कण्हुई ॥७॥
अप्पाचेव दमेयव्वो अप्प हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सि लोए परत्थ य ॥१५॥

वर्जित कथाएँ :—धर्म-ब्रह्मचर्य में बाधक कथाओं (वार्ताओं) को दोनों धर्मों ने वर्जित किया है। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल और सामञ्ञफल दोनों सूत्रों में इन्हें तिरच्छान कथा कहा है :—

"तिरच्छानकथं अनुयुत्तो विहरति, सेय्यथेदं-राजकथं, चोरकथं, महामत्तकथं, सेनाकथं, भयकथं, युद्धकथं-अन्नकथं, पानकथं, वत्थकथं, सयनकथं, मालाकथं, गन्धकथं, ञातिकथं, यानकथं, गामकथं, निगमकथं, नगरकथं, जनपदकथं, इत्थिकथं, पुरिसकथं, सूरकथं, विसिखाकथं, कुम्भट्ठानकथं, पुब्बपेतकथं, नानत्तकथं, लोकक्खायिकं, समुद्दक्खायिकं इति भवाभवकथं, इति वा इति एवरूपाय तिरच्छानकथाय — — — — — — — — — ।"

ओववाइय सुत्त में ऐसी कुछ कथाओं का निषेध किया गया है —

"तेसं परिव्वायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहा इ वा भत्तकहा इ वा, देसकहा इ वा, रायकहा इ वा चोरकहा इ वा जणवयकहा इ वा— — — — — — — —" (२)।

धर्म संबंधी पदों और वर्णन शैली में भी बहुत समानता है। कितनी ही जगह तो दोनों में भेद केवल पालि और अर्द्धमागधी के उच्चारण का है।

श्रमणएकता— वैसे तो भारतीय संस्कृति एक ही है, जो श्रमण ब्राह्मण धाराओं में आर्य-द्रविण रक्त और संस्कृति के मिश्रण से पैदा हुई। पर उसमें भी श्रमण संस्कृति भीतरी भेदों को रखते हुए भी एक संस्कृति थी। यह उपर्युक्त उदाहरणों

और कथनों से प्रतीत होगा। दोनों के आगमों में जो समानता देखी जाती है, उसके एक अंश को भी लेख में लाया नहीं जा सकता। बुद्ध और महावीर के मुख से निःसृत गाथाओं में बहुत समानता है, परन्तु ऐसी बहुत कम मिलती हैं जो दोनों में एक हैं। हाँ, उपमाओं, चमत्कारिक उक्तियों आदि की समानता इतनी है कि दोनों को एक समय सामने न रखकर पढ़ने वालों को एकता की भ्रान्ति हो जाती है।

व्यक्ति नाम :—दोनों में व्यक्तियों और भौगोलिक स्थानों की भी बड़ी समानता है। वस्तुतः दोनों के सूक्तों को पढ़ते समय मालूम होता है कि एक ही वातावरण में श्वास ले रहे हैं। भाषा का भेद होते हुए भी पालि में "सक्को देवानं इन्दो" सैकड़ो स्थानों पर आता है। जैन सूत्र 'सक्कदेविन्द' बहुत बार दुहराते हैं। मक्खलीगोसाल का भी उल्लेख दोनों जगह मिलता है।[1]

पएसी—राजा अपने समय का घोर नास्तिक था। शरीर से पृथक आत्मा को नहीं मानता था। पालि-साहित्य में उसका नाम पायासी आता है। इसके अनुसार वह कोसल राजा का सामन्त था, और सेतव्या में रहता था, जो कोसल देश में श्रावस्ती और कपिलवस्तु के बीच में पड़ती थी, जैनागम इसे सेयविया (श्वेतांबिका) कहते हैं। दोनों नगर और व्यक्ति एक ही हैं।[2] जैनागम के अनुसार केसीकुमार ने उसकी नास्तिकता भगाई। दीर्घनिकाय[3] के अनुसार कोसलराज प्रसेनजित के धर्मप्रभ भिक्षु कुमारकाश्यप ने वह काम किया। दोनों जगह अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियाँ पायासी ने दी हैं, वे आज भी बड़ी सबल मालूम होती हैं।

भौगोलिक नाम:—दोनों में प्रायः वही हैं। बौद्ध धर्म सात सौ वर्ष पहले भारत से लुप्त हो गया, इसलिए त्रिटिपक में आये नामों का फिर से पता लगाने की आवश्यकता पड़ी। परन्तु जैन तो बराबर भारत में रहे, वे कैसे कितनों ही को भल गये ? और तो और, वैशालिक ज्ञातपुत्र काश्यप निगंठ भ० महावीर की जन्मभूमि वैशाली के बारे में ही निश्चय नहीं है। काकन नाम का प्राचीन गाँव दक्षिण मुंगेर जिले में अब भी है। जहाँ जैनियों के न होने से श्रद्धालुओं ने एक मंदिर बना रखा है, परन्तु उसे कांकदी[4] न कहकर दूसरा नाम दिया जाता है। जान पड़ता है मगध, बिहार व उत्तरप्रदेश के पूर्वी भाग से बौद्ध-धर्म की तरह जैनधर्म उच्छिन्न हो गया था। इसीलिए परम्परा टूट गई। आज जो जैन इन पूर्वी जिलों में पाये जाते हैं, वे पीछे आए।

आलभिया[5]—आलविया के नाम से इसका उल्लेख सुत्तपिटक में आता है। वहाँ यह भी पता लगता है कि यहाँ का यक्ष आलवक, "पंचालचन्द्र" माना जाता था। जैन, बौद्ध आगम प्राचीन भारत के भौगोलिक, ऐतिहासिक व सामाजिक सामग्री के महत्त्वपूर्ण साधन तथा एक-दूसरे के पूरक हैं। मैंने उस सामग्री के लिये 'बुद्धचर्या' लिखी, मगर किसी जैन विद्वान् ने जैन आगम, चूर्णी, टीकाओं आदि में जो सामग्री भरी है, उसको लेकर 'महावीरचर्या' नहीं लिखी, नहीं तो इतिहास के विद्यार्थियों को बहुत सुभीता होता।

कंपिल्ल—पंचाल की राजधानी काम्पिल्य आज भी एटा जिले में है। जैनागम[6] उसे पंचाल जनपद में बतलाता है।

कजंगला[7] —बौद्ध ग्रंथों की यह कजंगला है, जिसे मध्यमंडल की पूर्वी सीमा पर माना जाता था। वहाँ की कजंगला भिक्षुणी बुद्ध की प्रधान शिष्याओं में से थी।

१—सुत्तागमे पृ० ७११–१३, ७१६–१७, ७२९, ७३०–३३, ७६६.

२—रायपसेणियसुत्तं (सुत्तागमे पृ० ८२–१०३)

३—दीघनिकाय, २३ (पायासियसुत्त)।

४—सुत्तागमे प्र० भाग, पृ० ११९४ ; देखिये तृतीय खंड में पृ० २७-२८ पर प्रकाशित Dr. Dc. Sarcar का काकंदी नगरी नामक लेख।

५—वही पृ० ६४६–४७, ११४६।

६—वही पृ० १०२७।

७—वही पृ० ४१७–१८।

दसण्ण[1]—बौद्ध सूत्रों में भी इसी उच्चारण के साथ मिलता है और वह वर्तमान बुंदेलखंड में ही है, जहाँ की नदी-धसान (सं०दशार्ण) अब भी उसी नाम को रक्खे हुए है। बौद्धसूत्र इसकी राजधानी एरकच्छ बताते हैं, जो आज भी एरच के नाम से मौजूद है।

नालंदा व राजगृह (रायगिह)—तो बुद्ध और महावीर की प्रधान विहार भूमि रहे, तो भी नालंदा को जैन लोग कुंडलपुर कहकर पुकारते रहे हैं।

मल्ल, लच्छवि— तत्कालीन गणराज्यों के दो समूह थे। जैन आगमों[2] ही से पता लगता है कि उनमें से एक-एक में नौ गण थे—"नव मल्लई नव लिच्छई"।

एक स्थान[3] पर भगवान महावीर के मिथिला (दरभंगा जिला) से ही कुरु जनपद (मेरठ कमिश्नरी) जाने का भी उल्लेख है।

राजगृह (राजगिर) के वैभार पर्वत के पास के महान उष्ण प्रस्रवण (उसिणे पासवणे) गर्म पानी के चश्मे का भी उल्लेख है।[4] बौद्धपिटक इसे तपोदा के नाम से जानता है, जहाँ बुद्ध के लिये एक विहार बना था।

वाराणसी[5]—को तो भारत की दोनों महान विभूतियों ने अपने चरणरज से पूत किया था। पालि-मागधी में इसे वाराणसी ही कहा गया है, पर अर्द्धमागधी में इसे वाणारसी बना दिया गया था, जिससे ही बनारस बना था। इसे अशुद्ध समझकर अब फिर वाराणसी कर दिया गया है।

सावत्थी—को "कुणालाए जनपदे" कुणाल जनपद में बतलाया गया है।[6] कुणाला कोसल का ही बना है, इसमें संदेह नहीं।

पुक्खलावती (पुष्कलावती)—गंधार (पख्तूनिस्तान) की यशस्वी नगरी (आधुनिक चारसद्दा) थी। उसका भी नाम आना[7] बतलाता है कि जैन धर्म वहाँ तक पहुँचा था। "सीता" चीनी मध्य एशिया की तरिम नदी है, जिसका भी वहीं उल्लेख है।

बौद्ध त्रिपिटक की विशाल ग्रंथराशि को देखते से ही ख्याल आता है कि जैन सूत्र उससे कम नहीं रहे होंगे। परम्परा भी १४ पूर्वीय श्रुतज्ञान के नष्ट होने की बात बतलाती है, जो बहुत बड़ी क्षति है, परन्तु जो कुछ मिलता है उसका अध्ययन व प्रचार बहुत आवश्यक है।

१—वही, पृ० १००७; तथा उत्तरज्झयण सुत्त।

२—सुत्तागमे प्र० भाग, प० ५२३—२४ भगवई सुत्त)।

३—वही, पृ० १०२५ (णायाधम्मकहाओ)।

४—वही, पृ० ४३२ (भगवई))। ५—वही पृ० ४६१-६२।

६—वही, द्वि० भाग पृ० ७७ (रायपसेणिय) ७—वही प्र० भाग पृ० १११३ (णायाधामकहाओ)

जैन-दर्शन के छः द्रव्य और सात तत्त्व

(ले०—पं० चंदाबाई जी, आरा)

वर्तमान समय में भारतीय दर्शनों के दो मुख्य वर्ग प्रचलित हैं—एक वेद को प्रमाण मानने वाले और दूसरे वेद को न मानने वाले। वेद को प्रमाण मानने वाले भारतीय दर्शनों के ६ मुख्य नाम हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा, तथा जो वेद को प्रमाण नहीं मानते वे हैं—जैन, बौद्ध और चार्वाक्। यहाँ पर जैन-दर्शन के विषय में ही कुछ लिखा जाता है।

अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन-दर्शन में कई प्रमुख विशेषताएँ हैं, क्योंकि जैनदर्शन चारित्र और विचार दोनों को समान स्थान देता है। दार्शनिक दृष्टि भी एकांगी नहीं है। यह तत्त्वों की समीक्षा में जीव और अजीव दो तत्त्वों का वर्णन कर जड़ (पुद्गल) और चेतन आत्मा का स्वरूप दर्शाकर चारित्र का भी निरूपण करता है। दर्शन ज्ञान तथा चारित्र की अंतिम निर्मलता से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी गई है।

सृष्टि के दो मूलतत्त्व-जीव और अजीव—जैन-दर्शन के अनुसार जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व इन दो तत्त्वों का समुदाय-लोक है। इनसे परे और कोई वस्तु आकाश के सिवा नहीं है। इन्हीं में सबका समावेश है।

छः द्रव्य—

जीवतत्त्व का स्वरूप इस प्रकार है—

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं णसरीरं, णवि संठाणं ण संहणणं ।।समयसारगाथा ५०।।

अर्थात्—यह जीव गंध, वर्ण, रस, स्पर्श, रूप, शरीर और संहनन से रहित है। अतः अरूपी होने के कारण यह जीव इंद्रियों से जाना नहीं जाता, इन्द्रियों के अगोचर है। इसका कोई आकार नहीं है। यह चेतना गुण युक्त है। इसको अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इस अवाच्य शुद्ध चैतन्यात्मा का अनुभव स्वसंवेदनात्मक है।

अजीवतत्त्व :—जड़ के पाँच भेद किये गये हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

पुद्गल—इस जगत में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, जिसे हम देखते हैं, जो कुछ सूंघते हैं, सुनते हैं, खाते हैं, छूते हैं, सब पुद्गल द्रव्य है। यही एक द्रव्य रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला है, मूर्तिक है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारों पुद्गल द्रव्य हैं। टूटना, फूटना, बिगड़ना, यह सब इसी द्रव्य के रूप हैं। परमाणु और स्कन्ध ये इसके दो भेद हैं। पुद्गल के सबसे सूक्ष्म अविभागी अंश को परमाणु और परमाणु समूह से बने पृथ्वी आदि को स्कंध कहते हैं। पुद्गल और जीव सक्रिय हैं। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं।

धर्म और अधर्म—द्रव्य भी अरूपी हैं, ये स्वतंत्र द्रव्य हैं। इनका कार्य जीव और पुद्गल को चलने तथा ठहरने में उदासीन रूप से सहायक होना है। इन द्रव्यों को जैनेतर दर्शनकारों ने नहीं माना है। इनका अर्थ पुण्य-पाप नहीं है। ये अजीव द्रव्य के भेद हैं। समस्त संसार में व्याप्त हैं, इनके अभाव में जीव और पुद्गल की गमन शक्ति और ठहरने की शक्ति कार्यकारी नहीं रहती।

आकाश द्रव्य—यह भी अरूपी है, सर्वव्यापक है। जैनाचार्यों ने आकाश के दो भेद किये हैं—एक लोकाकाश, दूसरा अलोकाकाश। लोकाकाश में अन्य पाँच द्रव्य भी पाये जाते हैं और इसके बाहर केवल आकाशद्रव्य ही अकेला है, उसको अलोकाकाश कहा गया है। यह लोक छहों द्रव्यों से परिपूर्ण अनादि-अनंत, स्वयं-सिद्ध स्थित है।

काल द्रव्य—यह सब द्रव्यों के परिवर्तनों में सहकारी है। यों तो सब द्रव्यों में परिणमन शक्ति स्वयं मौजूद है, किन्तु बाह्य निमित्त के बिना उसकी व्यक्ति नहीं होती। जैसे मिट्टी में घटाकर होने की शक्ति विद्यमान है, किन्तु कुम्हार के चाक डंडे व धागे के बिना वह घटाकार रूप परिणमन नहीं कर सकती। इस प्रकार जैन-धर्म में छः द्रव्य माने गये हैं। ये उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण वाले हैं।

द्रव्य के लक्षण—दव्वं सल्लक्खणियं, उप्पादव्वय धुवत्तसंजुत्तं ।
गुण पज्जयासयं वा, जं तं भण्णति सव्वण्हु ॥पंचास्तिकाय—गा० १०॥

अर्थात् अपनी सत्ता को लिये हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य गुण सहित पर्यायवाला द्रव्य होता है । उमास्वामी ने भी कहा है—गुणापर्ययवद्द्रव्यम्, याने गुण और पर्याय वाला ही द्रव्य होता है । जैसे जीव एक द्रव्य है, उसमें सुख, ज्ञान, चेतना आदि गुण विद्यमान हैं और उसकी नर, नारक, पशु आदि पर्याएँ पाई जाती हैं । जीव का ज्ञान गुण अन्य सब गुणों से मुख्य गुण है । यह सदा विकसित और जीव में सदा विद्यमान रहता है । कम-अधिक होने पर भी जीव से कभी सर्वथा पृथक नहीं होता । इसलिये इसे गुण कहते हैं और जो क्षण-क्षण में बदलता रहता है, वह पर्याय है । जैसे कि एक जीव मनुष्य हुआ, फिर मरकर उसने देव पर्याय पाई, पुनः अन्य जन्म में अन्य पर्याय पाई । इसी प्रकार जीव और पुद्गल के पर्याय बदलते रहते हैं । किन्तु द्रव्य में गुण स्थायी रहते हैं । वे पर्याय के समान बदलते नहीं रहते हैं । ये गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्म स्वरूप हैं । किसी भी अवस्था में द्रव्य से अलग नहीं रह सकते, क्योंकि द्रव्य ही इनका आधार है । नवीन पर्याय उत्पन्न होता है, वह उत्पाद है और पुराना पर्याय विनष्ट होता है, वह व्यय है तथा द्रव्य दोनों में मौजूद है, यह ध्रौव्य है । जैसे कि एक सुवर्ण का पासा है, उसे तोड़कर कुंडल बनाया गया, वहाँ पासे पर्याय का विनाश हुआ, यह व्यय है और कुण्डल पर्याय की उत्पत्ति हुई, यह उत्पाद है एवं सुवर्ण दोनों में मौजूद है, यह ध्रौव्यगुण है ।

सात तत्त्व—

जैन-धर्म में सात तत्त्व मुख्य माने गये हैं,इन्हीं का पूर्ण ज्ञान और श्रद्धान् हो जाने से आत्मा के दुख की निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है, इसका ज्ञान हो जाता है और उस मार्ग पर चलने की चेष्टा में भी यह जीव लग जाता है । तथा संसार दुःख के अभाव में परम सुख (मोक्ष) कैसे मिलता है और उसका क्या स्वरूप है, यह भी तत्त्वों के ज्ञान से अनुभव में आ जाता है । मोक्ष ही जीवात्मा का परम ध्येय है, क्योंकि सभी जीव सम्पूर्ण सुखी होना चाहते हैं । जैन-धर्म कहता है कि दुःखों का मूल कारण उसी के द्वारा बांधे गये कर्म हैं, जो कि अजीव हैं, जड़ हैं । जिस प्रकार मदिरा मनुष्य को गाफिल कर देती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म जीव को बेसुध कर देता है । अतः जब कि कर्मबंधन से छुटकारा ही सुख का कारण है, तब उन कर्मों का जीव के साथ किस प्रकार बंधना-छूटना होता है, इसकी जानकारी होना भी आवश्यक है । इसे समझने के लिए सात तत्त्वों का मनन जरूरी है ।

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष, ये सात तत्त्व हैं । जीव-अजीव तत्त्वों का संक्षिप्त वर्णन ऊपर हो चुका है । मुख्य ये ही दो तत्त्व हैं, तीसरा आश्रव है, जो कि जीव में कर्ममल के आने को मार्ग देता है । इसके मुख्य ४ प्रत्यय हैं । मिथ्यात्व, अविरति, योग और कषाय । इन्हीं की तीव्र, मंद दशा में पड़कर जीवात्मा आश्रव का भागी होता है । कर्मों के आने के द्वार को आश्रव कहते हैं । जीव और कर्मों के परस्पर बंधने को बंधन कहते हैं । इन कर्मों के आठ मुख्य भेद माने गये हैं ।

१. ज्ञानावरणीय—यह ज्ञान की पूर्णता को रोकता है ।

२. दर्शनावरणीय —भी इसी प्रकार दर्शन शक्ति में बाधक है ।

३. मोहनीय—यह कर्म बाह्य वस्तुओं में मोह ममत्व भाव पैदा करता है ।

४. अन्तराय—यह कर्म आत्मा की अनंत शक्ति को व्यक्त होने से रोकता है । ये चारों घातिया कर्म कहे गये हैं, क्योंकि ये आत्मा के मूल गुणों का घात (आवरण) करते हैं ।

इसी प्रकार ४ अघातिया कर्म हैं :—१. वेदनीय—यह सांसारिक दुःख-सुख में मग्न करता है; २. नामकर्म—यह शरीर की रचना में कारण होता है; ३. गोत्र कर्म—यह ऊँची-नीची पर्याय दिलाने में निमित्त होता है और ४. आयुकर्म—यह जीवात्मा को संसार में रोके रहता है । इसकी पूर्ण रूप से समाप्ति हो जाने पर और इसका बंधन बिल्कुल छूट जाने पर ही निर्बन्ध अवस्था प्राप्त कर यह जीव मुक्त होता है ।

आश्रव और बंध इन्हीं के द्वारा जीव संसार में संसारी बनकर भ्रमण करता रहता है ।

संवर—पाँचवां तत्त्व संवर है । यह जीव के आश्रव को अर्थात् कर्मों के आने को रोकता है—शमदमादि निष्कषाय भावों के होने पर ही संवर की प्राप्ति होती है ।

निर्जरा—छठा तत्त्व निर्जरा है। जीव के साथ जो कर्म बँधे हुए हैं, उनका धीरे-धीरे क्रमशः झड़ना ही निर्जरा है। संवर और निर्जरा ये दोनों तत्त्व मोक्ष प्राप्ति करने में कारण हैं।

मोक्ष—समस्त कर्मबंधन से छूटकर निर्मल आत्मदशा को अर्थात् आत्मा के वास्तविक स्वभाव को प्राप्त हो जाना ही मोक्ष है, ऐसे जीवों को ही मुक्त कहते हैं। मुक्तात्मा ही परमात्मा है।

विशेषता—जैन-दर्शन में सेव्य-सेवक भाव मोक्ष तक नहीं माना है। परमात्मा को कर्ता भी नहीं माना है। वह सच्चिदानन्द वीतराग है, शुद्ध दशा को प्राप्त है। न सृष्टि का कर्ता है और न संहारक ही है। लोक अनादि अनन्त है। जितने तीर्थंकर और सामान्य मुमुक्षु मुक्त हुए हैं, वे सब परमात्मा हैं। एक समान अनन्त ज्ञानादि सुखों का अनुभव करते हैं सर्वज्ञ हैं, आवागमन-रहित हैं। जिस प्रकार खान में जब तक सुवर्ण-पाषाण पड़ा रहता है, तब तक वह पत्थर है और वही जब प्रक्रिया द्वारा शुद्ध हो जाता है, पाषाणादि मलरहित हो जाता है, तब शुद्ध सुवर्ण हो जाता है। उसी प्रकार कर्ममल रहित मुक्तात्मा परमात्मा हो जाता है। वैदिक मान्यता के समान अवतार धारण करना या किसी प्रकार किसी पर निग्रह-अनुग्रह करनेवाले परमात्मा जैन-धर्म में नहीं माने गये हैं। अपने पुरुषार्थ और उत्कृष्ट ध्यान द्वारा पहले ४ घातिया कर्मबंधनों से छूटने पर यह जीव परमात्मा हो जाता है, अर्थात् सशरीर सर्वज्ञ=अर्हंतपद प्राप्त करता है, और संसारी जीवोंको मुक्ति प्राप्त करने का व दुःखों से छूटने का मार्ग उपदेश द्वारा बताता है। इन्हीं सशरीर परमात्मा को जीवन्-मुक्त-दशा प्राप्त कहा जाता है। तथा ये ही जीवन्-मुक्त परमात्मा जब शेष ४ नाम, गोत्र, 'वेदनीय और आयु इन अघातिया कर्मों को भी ध्यान द्वारा नष्ट कर देते हैं, तब शरीर रहित,, सर्व कर्म बन्धन से रहित सिद्ध परमात्मा बन जाते हैं और लोक के ऊपर सिद्धशिला पर विराज-मान रहकर सदैव अकथनीय परमानन्दमय आत्मसुख में निमग्न रहते हैं। ये किसी की निन्दा से अप्रसन्न नहीं होते और स्तुति करने वाले पर प्रसन्न नहीं होते, न किसी का भला-बुरा करते हैं। कृतकृत्य, परमवीतराग, शुद्ध सर्वज्ञ परमात्मा हैं। यद्यपि वैदिक धर्म वालों ने जैन-बौद्ध और चार्वाक धर्म वालों को नास्तिक कहा है। किन्तु यह विवक्षा सर्वथा बाधित है, क्योंकि परलोक को मानने वाला और परलोक में जीव पुण्य--पाप के फलों को भोगता है, ऐसा मानने वाला जैनदर्शन नास्तिक नहीं है। पाणिनीय सूत्र की व्याख्या करते हुए काशिकाकार कहते हैं :—

परलोकोऽस्तीति यस्यमतिः स आस्तिकः

अर्थात् परलोक को जो मानता है वह आस्तिक है। तब परलोकवादी जैन नास्तिक कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार परमात्मा को भी जैन-धर्म स्पष्ट रूप से मानता है। यह लोक अनन्तकाल से है, सदैव रहेगा, न किसी ने बनाया है न कोई बिगाड़ सकता है, ऐसी जैनमान्यता के साथ यह भी मान्यता है कि लोक के ऊपर, मुक्त सिद्धात्मा सदा से विराजमान हैं। वह सिद्ध-शिला कभी खाली नहीं थी, और न कभी खाली होगी। जो जीव कर्मबंधन से रहित होकर मुक्त होंगे, वे भी वहीं विराजमान होंगे, और पहले सिद्धों के समान ही सुख भोगेंगे। ऐसी विवक्षा में जैन नास्तिक नहीं कहे जा सकते हैं।

अहिंसा—यह जैन दर्शन का प्राण है, इसकी अन्तिम सीढ़ी ही मोक्ष कहा जाय तो अयुक्त न होगा, यद्यपि "अहिंसा परमो-धर्मः" यह सिद्धांत जैनेतर लोगों में भी प्रचलित है, किन्तु वह सर्वांगीण नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर 'वैदिकी हिंसा, हिंसा न भवति' ऐसे वाक्य भी सुने जाते हैं और इसी बल पर यज्ञादि में प्राणियों का घात भी किया जाता है। परन्तु जैन दर्शन कदापि हिंसा को स्थान नहीं देता, जैन-दर्शन में हिंसा के दो मुख्य भेद किये गये हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। भावों में कलुषता लाना किसी के प्रति ईर्ष्या—मत्सर करना या किसीको दुःख पहुँचाने के परिणाम करना, किसी प्राणी को वध करने के भाव करना या स्वयं अपना अपघात करने का विचार करना ये सब दुष्परिणाम भाव हिंसा हैं। इसके होते ही जीव पाप कर्मों के बंधन का भागी हो जाता है। ऐसे प्रमादी भावों के होने पर दूसरे जीवों को मौत के घाट उतार देना द्रव्य हिंसा है। इन दोनों के त्याग से ही मनुष्य अहिंसावादी हो सकता है। अहिंसाव्रती किसी को भी नहीं सताता। "जीओ और जीने दो", के वाक्य को सार्थक करता हुआ स्वयं सुखी रहता है और अन्य प्राणियों का भी रक्षण करता है। दया को पालन करता हुआ, कोमल परिणामी, अहिंसक, मांसादि से रहित परिमित शुद्धाहार-विहार करता हुआ ही कभी पूर्ण अहिंसा को प्राप्त कर लेता है और तभी समस्त कर्म बन्धनों का छेद होने पर जीवन्मुक्त अर्हंत परमात्म पद को प्राप्त करता है।

स्याद्वाद और अनेकान्त—इनको जैनदर्शन में बहुत महत्व दिया गया है, क्योंकि एक वस्तुतत्त्व भी अनेक धर्मात्मक होता है। यह निर्विवाद सिद्ध है कि वस्तु एक धर्मावलम्बी ही नहीं होती, किन्तु उसमें अनेक गुण-पर्यायात्मक धर्म पाये जाते हैं। इन सब को

या कुछ धर्मों को मनुष्य अपने इन्द्रिय ज्ञान गोचर कर सकता है; किन्तु एक साथ, एक बार में नहीं कह सकता, वचनों से एक समय में एक ही धर्म का वर्णन कर सकता है, तब दूसरे गुण वक्ता की दृष्टि में गौण हो जाते हैं। जैसे कि द्रव्य ध्रौव्य गुण की अपेक्षा नित्य है, किन्तु पर्याय की दृष्टि से अनित्य भी है। एक जीव की पर्याय मरण के समय नष्ट होती है, इस अपेक्षा जीव को अनित्य कह सकते हैं; और वही जीव दूसरी पर्याय में भी विद्यमान है, अतः ध्रुव है, नित्य है। इस तरह एक द्रव्य सत् भी है और असत् भी है। इसको स्पष्ट करने के लिये जैनदर्शन में स्यात् शब्द का प्रयोग किया है, इस स्यात् पद के लगाने से वस्तु के एक धर्म का वर्णन करते समय दूसरे धर्म का अभाव नहीं हो जाता है, किन्तु वह उसमें विद्यमान रहता है। यदि वस्तु सर्वथा नित्य ही मान ली जाय या अनित्य ही मान ली जाय, तो परिणमन किसी वस्तु का नहीं बनेगा और इस तरह द्रव्य का उत्पाद-व्यय गुण नष्ट होकर जो पर्याय है—जैसे मनुष्य है, घट है, वह कभी विनष्ट नहीं होगा; और अनित्य ही मानने से क्षण-स्थायी सब द्रव्य हो जायेंगे, जो कि प्रत्यक्ष से बाधित है। अतः एक ही वस्तु अपेक्षा से नित्यानित्य होती है। इस अपेक्षा को लक्ष्य में रखकर ही वस्तु के गुणों का वर्णन समुचित रूप से हो सकता है। जैसे कि देवदत्त नामक मनुष्य अपने पिता का पुत्र है, भगिनी का भ्राता है तथा स्त्री का पति है। अतएव पुत्रत्व. भ्रातृत्व और पतित्व तीनों धर्म देवदत्त में विद्यमान हैं। वह पिता के सम्बन्ध से पुत्रत्व और भगिनी के संबंध से भ्रातृत्व एवं पत्नी के संबंध से पतित्व धर्म का धारक है। तब देवदत्त स्यात् पुत्र, स्यात् भ्राता, स्यात् पति, इस प्रकार अपेक्षा से तीनों धर्मों का अधिकारी है। केवल पुत्र या भ्राता या पति ही नहीं है। जैनेतर बन्धु स्यात् शब्द की गहराई को न समझकर कभी-कभी कह देते हैं कि जैन दर्शन अनिश्चित वस्तु स्थिति का द्योतक है, वस्तु ऐसी है भी, और.नहीं भी है, इस प्रकार उभयपक्ष साधते हैं। किन्तु यह गलत है। वस्तु के अनेक धर्मों को समझने के लिये 'ही' के स्थान में 'भी' लगाना ही पड़ेगा, जैसा कि ऊपर लिखा गया है।

अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद वस्तु की स्वरूप सिद्धि में एक ही हैं। वस्तु के अनेक धर्मों को समझने के लिए अनेकांत दृष्टि आवश्यक है। जैसा कि वस्तु स्व-रूप की अपेक्षा से स्यात् है, और पर-रूप की अपेक्षा से असत् है, और स्व-रूप पर-रूप की क्रमिक अपेक्षा से सत्-असत् है, तथा स्व-रूप पर-रूप की युगपत् अपेक्षा से अवक्तव्य है। इसको शास्त्रीय भाषा में स्व-पर चतुष्टय कहा है। अर्थात् जब हम किसी से कहते हैं—पुस्तक ले आओ, तब वह पुस्तक लाता है; और जब कहते हैं कि घड़ा ले आओ, तो घड़ा ले आता है, पुस्तक नहीं लाता; क्योंकि दोनों वस्तुओं के गुण धर्म अलग-अलग हैं, एक के गुण दूसरे में नहीं हैं। इसलिये पुस्तक घड़े की अपेक्षा नहीं है और घड़ा पुस्तक की अपेक्षा नहीं है। इसी को कहा है कि जब पुस्तक में अपनी अपेक्षा से अस्तित्व गुण है, तब घड़ा आदि समस्त वस्तुओं की अपेक्षा से नास्तित्व गुण भी मौजूद है। अतः प्रत्येक वस्तु अस्ति-नास्ति दोनों धर्मों वाली है। यदि एक अस्तित्व धर्म वाली वस्तु मान ली जाये, याने दूसरे से भिन्न गुण भी उसमें मान लिये जावें तब सब वस्तुएँ एक हो जायेंगी, और सबके स्वरूप की विभिन्नता मिटकर अनर्थ हो जायगा। इसको स्पष्ट करने के लिये जैन दर्शन स्यात् शब्द से एक वस्तु के सभी गुण-धर्मों का अनेकान्त दृष्टि से विवेचन कर देता है। यही अनेकान्त दृष्टि का फलितार्थ है और यह अनेकान्त नित्य-प्रति सबके व्यवहार में आता है। इसके बिना संसार की वस्तुओं के गुण-धर्म समझ में नहीं आ सकते और न परस्पर के झगड़े टंटे मिट सकते हैं।

जैन-दर्शन पर कुछ विचार

(ले॰ म॰ भगवानदीन)

दर्शन के बारे में मेरे अपना मत ये है :—

(१) दुनिया की रचना के बारे में जो भी जी सोचता है, वह उसका दर्शन है।

(२) जिसमें सोचने की शक्ति है, उसका दर्शन होना ही चाहिए।

(३) ईश्वर को जगत का कर्ता मान बैठना सोचने की शक्ति या दर्शन की शक्ति का दिवाला निकाल बैठना है।

(४) मनुष्य का यह दर्शन कि ईश्वर ने सृष्टि बनाई, दर्शन की जड़ नहीं है, पर दर्शन की पीड़ जरूर है।

(५) दर्शन की जड़ है प्रकृति की शक्तियों को देवता मान बैठना।

(६) आत्मा को मानना भी ईश्वर को कर्ता मानने से कम तो है, पर यह भी विचार शक्ति को पूर्ण स्वाधीनता हासिल करने से रोकता है।

(७) आत्मा का विधान भी ईश्वर रूपी पीड़ का एक गुद्दा है।

(८) नया कोई दर्शन ऐसा नहीं हो सकता, जो देवतावाद, ईश्वर कर्तृत्ववाद और आत्मवाद से बचा सके।

(९) विज्ञान दर्शन-वृक्ष का ही फूल है, फल क्या होगा इसका पता नहीं।

जैन लोग जैन-धर्म को अनादि कहते हैं। पर इतिहास उसे ढाई-तीन हजार वर्ष से ज्यादा पुराना नहीं मानता। इतिहास भले ही पूरा सच्चा न हो, पर जितने सच हमें प्राप्त हैं, उनमें से वह काम चलाऊ जरूर है। इसलिए उसे ध्यान में रखना ही होगा।

जैनों के चौबीसों तीर्थंकरों में अकेले महावीर को ही इतिहास में स्थान है। इनके पहले पार्श्वनाथ की भी कुछ-कुछ छाया इतिहास तक पहुँच पाई है। इसलिए अकेले महावीर स्वामी को ही लेकर हमें जैन-दर्शन की बात करनी होगी।

महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान दोनों को इतिहास में स्थान है। दोनों समकालीन थे। दोनों के जन्म-मरण की तिथियाँ इतिहासज्ञ आज तक ठीक-ठीक तय नहीं कर पाये। मोटे रूप में उनका ये कहना है कि यह दोनों महापुरुष ईसा से कम से कम चार सौ वर्ष और ज्यादा से ज्यादा छः सौ वर्ष पहिले भारत-भूमि में विचरते थे।

दर्शन को इतिहास की आवश्यकता नहीं। पर इतिहासज्ञ उसे इतिहास में खींचे बिना नहीं मानते। दर्शन को नया या पुराना कहना मेरी समझ में नहीं बैठता। दर्शन के विषय में तो हमारी कसौटी तर्क ही होनी चाहिए। यानि तर्क सिद्ध दर्शन ही प्रशस्त, तर्क खंडित अप्रशस्त।

इतिहास की यह बात भी जैन-दर्शन के समझने में बड़ी सहायक होगी कि महावीर स्वामी के जीते जी जैन-धर्म पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखे गये। उनके निर्वाण के तीन सौ वर्ष बाद ग्रन्थ लिपिबद्ध होना शुरू हुए।

जिस तरह महावीर और बुद्ध समकालीन हैं, उसी तरह जैन दर्शन और बौद्ध-दर्शन का विकास भी समकालीन है, इसलिए अध्ययन करने वालों को बहुत से पारिभाषिक शब्द समान मिलेंगे।

बौद्ध-दर्शनकारों ने आत्मा की कमजोरी को भी दूर कर दिया। इसलिए उनकी कल्पनाशक्ति पूरी स्वतन्त्र हो गई और आत्मा की बाधा बीच में से हट गई।

अब जैन-दर्शन को लीजिए—

(१) इस जगत की रचना किसी ईश्वर या अन्य नामधारी व्यक्ति ने नहीं की। इसलिए उनके विचार में :—

(अ) यह जगत का पसारा अनादि अनन्त है।

(ब) आत्मा अनादि अनन्त है, और हैं।

(स) आत्मा अनादि से कर्मों में बँधी हुई है। पर कर्मों से मुक्त हो सकती है। होती रही है, होती है, और होती रहेगी।

(८) मुक्ति अनादि अनन्त है, पर मुक्ति में कोई जीवात्मा ऐसा नहीं है, जो पहले संसारी आत्मा न रह चुका हो।

इसी तरह इतिहास के निष्कर्षों के बल पर एक बहुत बड़ा दर्शन खड़ा हो गया है। उसी के आधार पर कर्मवाद खड़ा हुआ है। कर्मवाद एक तरह सांख्य का ऐसा विस्तार है, जो मामूली आदमी की समझ में आ सकता है।

जैन दार्शनिकों की राय में इस लोक में चार तरह के पदार्थ हो सकते हैं। (१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सान्त, (३) सादि-सान्त, (४) सादि-अनन्त। अर्थात् (१) पहले वो जो हमेशा से हैं और हमेशा तक रहेंगे। (२) दूसरे वो जो हमेशा से हैं और हमेशा तक नहीं रहेंगे। (३) तीसरे वो जो न हमेशा से हैं, न हमेशा तक रहेंगे। (४) चौथे वो जो हमेशा से हैं तो नहीं, पर हमेशा तक रहेंगे जरूर।

जीव हमेशा से है और हमेशा तक रहेगा। लोक, आकाश, काल, धर्म (वह अदृश्य तत्त्व जो सारे लोकाकाश में फैला हुआ है, और जो अगर न हो तो संसार का कोई पदार्थ गति नहीं कर सकता। धर्म के लिये अंग्रेजी का ईथर शब्द काम में लिया जा सकता है।), अधर्म (वह अदृश्य तत्व जो अगर न हो तो संसार का कोई पदार्थ टिक न सके), इत्यादि सब ऐसे ही हैं।

जीवात्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सान्त है। यानी हमेशा से है, हमेशा तक नहीं रहेगा। जीवात्मा अपने प्रयत्नों से कर्मों से अलग हो सकता है और मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

पेड़ पौधे, पशु-पक्षी, नर-नारी इत्यादि समस्त पर्याय सादि-सान्त हैं। न हमेशा से हैं न हमेशा तक रहेंगी। पर्याय शब्द याद रखिये। पेड़ रहेंगे, पर पेड़ विशेष नहीं रहेगा। पेड़ सदा से हैं, पर पेड़ विशेष सदा से नहीं। मुर्गी पहले या अण्डा पहिले, पेड़ पहिले या बीज पहिले ? यह प्रश्न हल हो गया। प्रश्न ही नहीं रह गया। अण्डे हमेशा से मुर्गी हमेशा से। पेड़ हमेशा से, बीज हमेशा से। पर मुर्गी विशेष, अण्डा विशेष, बीज विशेष, हमेशा से नहीं। राम और कृष्ण नामधारी आदमी न हमेशा से हैं, न हमेशा तक रहेंगे। लेकिन आदमी हमेशा हैं और हमेशा तक रहेंगे।

यहाँ यह शंका उठ सकती है कि क्या आज के विज्ञान की ये बात की हमारी इस पृथ्वी पर अरबों-खरबों वर्ष पहले आदमी नामी जन्तु नहीं था, गलत है। जैन दर्शन इसका उत्तर देगा यह नहीं, यह गलत नहीं हैं। हो सकता है आदमी इस पृथ्वी पर न हो, पर संसार में कहीं भी न हो, यह नहीं हो सकता। इस ग्रह पर नहीं, तो कहीं और होना चाहिए। इस सौर जगत में नहीं, तो किसी दूसरे सौर जगत में होना चाहिए।

मुक्ति सादि और अनन्त है। जैन दर्शनिकों की राय में जो जीवात्मा कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है, वह फिर कर्मबन्धन में नहीं फँसेगा। वह सदा के लिये मुक्त रहेगा और अत्यन्त हल्का होने के कारण लोक के ऊपरी भाग पर रहेगा। अलोकाकाश में प्रवेश नहीं कर सकेगा, क्योंकि वहाँ धर्म द्रव्य यानि ईथर नहीं है।

जैन-दर्शन के अनुसार लोक का क्या आकार है, यह जानने की इच्छा स्वाभाविक है। जैन-दर्शन उसका उत्तर यह देता है कि वह डेढ़ डमरू के आकार का है। यानि एक डमरू के ऊपर दूसरा डमरू रख दिया जाय और ऊपर वाले डमरू का आधा हिस्सा काट दिया जाय। बस मुक्त आत्मा इसी लोक के सबसे ऊपर के भाग में निवास करते हैं। अगर कोई आदमी जैन दर्शन की मुक्ति से इन्कार करे, तो यह भार उसके सिर पर आ पड़ता है कि वह यह बताये कि फिर दूसरी ऐसी कौन सी चीज है, जो सदा से तो नहीं है, पर रहेगी सदा तक। अगर वह इसका उत्तर दे देगा तो जैन-दर्शन उसे मानने से इन्कार नहीं करेगा।

जैन दर्शन के अनुसार जीवधारी लोक में ही हैं, अलोक में नहीं। अलोक में केवल एक तत्त्व है,—आकाश। लोक में छः द्रव्य हैं—जीव, अजीव, (पुद्गल अर्थात् मैटर), धर्म, (ईथर), अधर्म (नान ईथर), काल (यह वह शक्ति है, जो समस्त लोकाकाश में फैली हुई है तथा जीव व पुद्गल द्रव्यों की पर्याय बदलने का काम करती रहती है, यानि चीजों को पुराना करती रहती है), और आकाश (जगह देने वाला द्रव्य)।

जैन दर्शनकार ने इन छह चीजों से दुनिया की सब तरह की चीजों की सृष्टि सिद्ध कर दी है। जिन्हें विस्तार से जानना हो, वे जैन-दर्शन का अध्ययन करें। हमें विश्वास है कि जैन-दर्शन के अध्ययन के बाद ईश्वर के कर्तृत्व पर अगर किसी को श्रद्धा रह जाय, तो हम यही कहेंगे कि जैन-दर्शन को वह नहीं समझ पाया है और न वह उसके गले उतर पाया।

आज के लिये इस दर्शन का अध्ययन बड़े काम का साबित हो सकता है।

अनेकान्तवाद

(ले० हीराकुमारी, व्याकरण सांख्य वेदान्त तीर्थ)

हमारे सामने अनेक वस्तुएँ आती-जाती रहती हैं। हम अपने प्रयोजनानुसार उनका व्यवहार करते रहते हैं, पर शायद ही सोचते होंगे कि जिस समय वे हमें दिखलाई पड़ती हैं, वही क्या उनका मौलिक रूप है या और कुछ ? पर जब हम वस्तुओं के स्वरूप के बारे में सोचना तथा विश्लेषण करना आरम्भ करते हैं, तब हम दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

दर्शन का अर्थ है चिन्तन, मनन अथवा अनुभव के आधार पर परिदृश्यमान जगत के मौलिक स्वरूप का अन्वेषण। इसके वर्णनात्मक शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहा जाता है।

आज हमें जो दर्शन शास्त्र उपलब्ध है, वह हजारों वर्षों के अथक चिन्तन-मनन तथा अनुभवोंका फल है। अनेक विशिष्ट व्यक्तियों ने इसके पीछे अपना जीवन अर्पण कर दिया था। तब उसके फलस्वरूप उन्होंने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर इस परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। उन प्रत्येक व्यक्तियों की अपनी-अपनी परिस्थितियाँ थीं। उनकी व्याख्या करने की प्रणालियाँ भी अलग-अलग थीं। उन व्याख्याओं पर कालगत, देशगत प्रभाव भी पड़ा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। सबसे अधिक तो उन व्याख्याओं में अपनी-अपनी परम्परागत शाब्दिक परिभाषाओं का प्रभाव था। इसके फलस्वरूप विशिष्ट-विशिष्ट व्यक्तियों की व्याख्याएँ भिन्न-भिन्न दर्शनों के नाम से अभिहित हुईं।

उन सब दर्शनों में आपस में भेद दिखलाई देने पर भी हम उन्हें दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक तो एकान्तवाद, दूसरा अनेकान्तवाद। एकान्तवाद में एक पक्ष एकमात्र कूटस्थ नित्य को ही सत्य मानता है। उनका कहना है कि एक ही वस्तु कभी एक रूप में प्रतीत होती है तो कभी वह दूसरे रूप से प्रतीत होती है। तब भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होनेवाली वस्तु का कौन-सा स्वरूप सत्य होना चाहिए। वस्तु का स्वरूप एक ही होना चाहिए न कि दो। इसलिए वस्तु के स्वरूप के सम्बन्ध में जब विचार या विश्लेषण किया जाता है तो उसके सब धर्म मिथ्या-प्रतिभात होने लगते हैं। उन्हें युक्तियों से, तर्कों से अथवा अनुभवों से इन सब मिथ्या धर्मों के आधार रूप से एक ऐसे तत्त्व का भान होता है, जो कि नित्य है, कूटस्थ है अर्थात् उसमें कोई गुण नहीं, धर्म नहीं, न उसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता है और न कभी वह किसी रूप में परिणमन करता है। उस कूटस्थ नित्य सत्य के आधार पर जगत मिथ्या प्रतिभासित होता है।

दूसरा पक्ष कार्यकारण भाव को मानकर भी उन दोनों कार्यकारण भावों में अनुस्यूत रहे, ऐसा कोई नित्य तत्त्व नहीं मानता। उनका कहना है कि कार्य और कारण दोनों ही अनित्य हैं, कारण से कार्य जब उत्पन्न होता है तभी कारण का निरन्वय बिनाश हो जाता है। वर्तमान कार्य आगामी कार्य का कारण बनकर कार्य उत्पन्न करके स्वयं विनष्ट हो जाता है। इस तरह कार्यकारण की संततियाँ चलती रहती हैं। कार्यकारण भाव को आपस में सम्बन्धित करने के लिये एक नित्य सत्य मानने की कोई आवश्यकता दिखलाई नहीं पड़ती।

अनेकान्तवादी को ये दोनों मत अभीष्ट नहीं हैं। दृश्यमान जगत के मूल में जो मौलिक तत्त्व है, उसे वह न कूटस्थ नित्य मानता है और न कारण का निरन्वय विनाश ही मानता है। उनका कहना है कि जो भी वस्तु या द्रव्य हमें दिखलाई पड़ती है, उसमें नाना गुणों का बोध होता है। उसमें भावात्मक-अभावात्मक दोनों धर्मों की प्रतीति होती है। विविध परिस्थितियों में एक वस्तु या द्रव्य विविध रूप से भासित होता है, तब उन सब धर्मों को मिथ्या कैसे कहा जा सकता है। अनुभव अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण को अनुमान प्रमाण से श्रेष्ठ ही तो कहा गया है।

कार्यकारण की अनित्यता के बारे में भी यही युक्ति है। कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। कार्य में कारण की सत्ता विद्यमान रहती है, उसका निरन्वय विनाश उपलब्धि में नहीं आता। एक घटरूप कार्य को देखने से इस विषय की प्रतीति हो जाती है। मृत्तिका रूप कारण से घट-कार्य उत्पन्न होता है और उसमें मृत्तिका की सत्ता विद्यमान रहती है न कि मृत्तिका का निरन्वय विनाश हो जाता है। इसलिये अनेकान्तवादी दर्शन दृष्टि-भेद से और सापेक्षता से द्रव्यों का विश्लेषण

करता है। वह एक ही धर्मी में नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक अनेक धर्मों का अस्तित्व स्वीकार करता है। एक ही प्रकृति में आपस में वैपरीत्य को लेकर भी सत्वरजस्तमोगुण अबाधित रूप से रह सकता है। एक ही आत्मा में ज्ञान, सुख, इच्छा, गुण सहावस्थित हैं। जिसका विभाग न हो सके ऐसे अतिसूक्ष्म पुद्गल परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों का रहना भी सम्भव है। अनेकान्तवादी को इसमें किसी तरह का विरोध प्रतीत नहीं होता।

अनेकान्तवाद में और-और पक्ष होने पर भी दो पक्ष ही प्रधान हैं। एकसांख्य-योगदर्शन, दूसरा जैनदर्शन। इसमें जैन-दर्शन अपने को अनेकान्त के नाम से परिचय प्रदान करने में गौरव अनुभव करता है। ये दोनों दर्शन अपनी-अपनी परिभाषाओं के द्वारा और अपने-अपने विचार वैचित्र्य से अनेकान्तवाद को स्थापित करते हैं।

सांख्यदर्शन मूल में दो तत्त्वों को स्वीकार करता है। एक पुरुष तत्त्व, दूसरा प्रकृति तत्त्व। उसके मत से पुरुष बहु है और कूटस्थ नित्य है। उसमें न कोई गुण है न धर्म है। न उसमें कभी किसी तरह का विकार उत्पन्न होता है। प्रकृति ठीक पुरुष तत्त्व के विपरीत रूप है। वह नित्य होकर भी परिणमन करती रहती है। यह दृश्यमान जगत इस प्रकृति का परम्परागत परिणमन जनित कार्य है। अति सूक्ष्म प्रकृति तत्त्व एक परिणाम से दूसरे, दूसरे से तीसरे इस तरह परिणामों को प्राप्त करता हुआ स्थूल रूप में परिणत होता है। यह परिणमन धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीनों परिणामों के द्वारा होता है। धर्मी रूप प्रकृति से उसके धर्म का एकान्त भेद बतलाना संभव नहीं। धर्म का वर्तमान समय में जो रूप अभिव्यक्त है, उसका त्याग करके स्वीय सत्ता में रहे हुए दूसरे रूप को धारण करना धर्म परिणाम है। यह धर्म परिणाम धर्मी के स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिए कार्य और कारण में भेद भी है और अभेद भी। यदि भेद नहीं माना जाय, तो धर्मी का नाना धर्मों में रूपान्तरित होना असंभव है। एक ही वस्तु रूपान्तर ग्रहण करती है, इसलिए अभेद भी है।

धर्म का भी परिणमन होता है, उस परिणमन को लक्षण परिणाम कहा जाता है। लक्षण परिणाम का अर्थ है अतीत, अनागत और वर्तमान रूप परिणमन। धर्मी में रहे हुए धर्म का अतीत, अनागत, वर्तमान रूप में परिणमन होता है, द्रव्य रूप धर्मी का नहीं। वर्तमान समय में धर्मी का जो स्वरूप आविर्भूत है, वह कालान्तर में विलय होकर अतीत का विषय बन जाता है और अनागत रूप में जो धर्म धर्मी की सत्ता में छिपा हुआ था, उसका आविर्भाव होता है। इसी तरह धर्म-समूह तीनों कालों को स्पर्श करता हुआ परिणमन करता रहता है। धर्मी इन तीनों कालों के धर्मों में विद्यमान रहकर नित्य कहलाता है।

लक्षण परिणाम का परिणमन अवस्था परिणाम कहलाता है। नया-पुरानापन ही अवस्था परिणाम है। मृत्पिण्ड से घट जब कार्य रूप से आविर्भूत होता है, तब नया घट कहलाता है और दिन-प्रति-दिन वह पुरानेपन की तरफ बढ़ता हुआ पुरानेपन में परिणमन करता है। इस तरह अतीत कार्य सुदूर अतीत के रूप में, सुदूर अनागत कार्य निकट अनागत के रूप में परिणत होता रहता है।

सांख्य-योगदर्शन ने इस प्रकार के तीन परिणामों के द्वारा इस परिदृश्यमान जगत की व्याख्या की है। इस तरह अनन्त काल से कार्यकारण का निरवच्छिन्न प्रवाह चलता आता है—एक का लय, अपर की उत्पत्ति होती रहती है, पर कारण की सत्ता से उसकी कोई भिन्न सत्ता नहीं है।

जैन-दर्शन भी चेतनतत्त्व और जड़तत्त्व दोनों तत्त्वों को स्वीकार करता है। जड़तत्त्व को तो वह उत्पाद-व्यय और ध्रौव्यात्मक रूप से प्रतिपादित करता ही है, चेतनतत्त्व को भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य शब्द से एक ही वस्तु के दो स्वरूप भासित होते हैं—एक विनाशी, दूसरा अविनाशी। उत्पाद-व्यय शब्द वस्तु के विनाशी स्वरूप को बतलाता है और ध्रौव्य शब्द उसके अविनाशी स्वरूप को।

जैन परिभाषा में धर्मी को द्रव्य और उत्पाद-व्ययशील धर्म को पर्याय कहा गया है। धर्म अथवा पर्याय को उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वह गुण नाम से परिचित है। गुण और पर्याय का आधार द्रव्य है। द्रव्य परिणामी है अतः वह अपनी-अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न पर्यायों को उत्पन्न करता हुआ परिणमन करता रहता है। जैन-दर्शन के अनुसार एक द्रव्य अनन्त शक्ति या गुणों का आधार है। जैन-दर्शन के अनुसार उस गुण समूह को गुणी द्रव्य से पृथक् करना असम्भव है। एक द्रव्य में रहे हुए गुणों को भी गुणान्तर से पृथक् करना शक्य नहीं है। द्रव्य जब अपनी विभिन्न शक्तियों द्वारा विभिन्न पर्यायों के रूप में परिणमन करता है, तभी गुण से गुणान्तर का भेद उपलब्ध होता है। द्रव्य से पर्यायों का भेद दिखलाई पड़ता है। इस-

लिये एक दृष्टि से द्रव्य, गुण और पर्याय में भेद भी है। द्रव्य स्वयं ही परिणमन करता है, इसलिए एक दृष्टि से वे तीनों अभिन्न भी हैं। पर्याय उत्पन्न और विनष्ट होता रहता है, पर द्रव्य और गुण अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए पर्यायों से पर्यायान्तर में परिणमित होते रहते हैं। सांख्यदर्शन के कार्य की तरह पर्याय भी तीनों कालों के प्रवाह में बहता हुआ चला जाता है। न इसका आदि है, न अन्त ही। इसमें एक विशेषता यह है कि एक द्रव्य में अनेक गुणों का पर्याय एक समय में वर्त्तमान रह सकता है, पर एक गुण के दो पर्यायों का एक समय में रहना सम्भव नहीं। एक गुण दूसरे गुण में रूपान्तरित नहीं होता। जैन-दर्शन के अनुसार चेतन स्वरूप आत्मा, बद्धावस्था में हो या मुक्तावस्था में, दोनों अवस्थाओं में अपने चेतनस्वरूप को नित्य रखते हुए गुणों के द्वारा परिणमन करता रहता है।

ज्ञान उसका मुख्य गुण है। आत्मा की बद्धावस्था में उसका ज्ञान गुण पूर्ण विकसित नहीं रहता है, पर कम-वेशी रूप से वस्तु का स्वरूप उसके ज्ञान में भासित होता ही है। ज्ञान में एक के बाद एक वस्तु का भासित होना उसका पर्याय है। ज्ञानगुण के द्वारा एक के बाद एक पर्याय उत्पन्न होता है, चेतनस्वरूप आत्मा उसके साथ-साथ अपनी सत्ता को रखते हुए परिणमन करता रहता है। यदि वह परिणामी नहीं होता, तो विषय से विषयान्तर को ग्रहण नहीं कर सकता। आत्मा की मुक्तावस्था में उसकी ज्ञान शक्ति अकुण्ठित या पूर्ण विकसित हो जाती है। उसमें वस्तु का सम्पूर्ण स्वरूप भासित होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार इस परिदृश्यमान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दमय जगत का मूल कारण पुद्गल परमाणु है। ये अति सूक्ष्म अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु आपस में मिलते बिखरते रहते हैं। कभी आपस में मिलकर वे स्थूल रूप में परिणत होते हैं। कभी बिखर कर स्थूल रूप धारण करते हैं। कभी स्थूल रूप से बिखरते-बिखरते अविभाज्य ऐसे पुद्गल परमाणु के रूप में परिणमन कर लेते हैं। प्रत्येक पुद्गल परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि नाना गुणों का अस्तित्व है। वह उन शक्तियों द्वारा एक रूप से दूसरे रूप में, एक स्पर्श से दूसरे स्पर्श में इस तरह परिणमन करता रहता है। परमाणु परिणमन करता हुआ भी द्रव्य रूप से नित्य रहता है। उसकी रूप शक्ति, रस शक्ति आदि भी नील पीत आदि रूपान्तर में, कड़वे-मीठे आदि रसान्तर परिणत होती हुई भी शक्ति रूप से नित्य रहती है—पर्याय रूप से उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। नाना रूप से परिणमन करते हुए भी प्रत्येक परमाणु अपने स्वरूप का त्याग नहीं करता, न गुण गुणान्तर में परिणमन करता है।

जैन-दर्शन इस तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक रूप से वस्तुओं का विश्लेषण करता हुआ नित्यानित्यात्मक, भेदाभेदात्मक, भावाभावात्मक आदि आपात प्रतीयमान विरुद्ध धर्मात्मक रूप से वस्तु के स्वरूप को अनुभव करता है। दृष्टिभेद से वस्तु में अनेकरूपता की प्रतीति होती है। यही इसका अनेकान्तवाद है। सांख्य-योगदर्शन भी इस रूप से अनेकान्तवादी या परिणामवादी है। एक (जैन) परिदृश्यमान जगत का मूल कारण अनन्तानन्त परमाणुओं को मानता है; दूसरा (सांख्य-योग) एक प्रकृति को।

जैन परम्परा में योग

(मुनी श्री नथमलजी)

सत्य क्या है ? यह प्रश्न जितना छोटा है, उतना ही गूढ़ है। ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं द्वारा सत्य-दर्शन के अनवरत प्रयत्न हुए हैं। पर उसकी अनुपलब्धि आज भी उपलब्धि से अधिक है। सत्य का अनुद्घाटित अंश जो दृश्य बनता है, वह अनेक अदृश्य सत्यों की संभावना उत्पन्न कर देता है। इसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। आत्मा है या नहीं ? पूर्वजन्म और पुनर्जन्म हैं या नहीं ? बन्धन और मुक्ति हैं या नहीं ? ये प्रश्न हजारों वर्षों पूर्व[1] जैसे थे वैसे ही आज हैं। यह अदृश्य की चर्चा है। दृश्य जो है, पौद्गलिक जगत् जो है, वह भी पूर्ण ज्ञात नहीं है। एक परमाणु के अनन्त स्कन्ध हैं। संघात और भेद के द्वारा उनके अनन्त पर्याय होते हैं। संयोग-वियोग के द्वारा उनमें अनन्त शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। मनुष्य उनकी कुछेक पर्यायों व शक्तियों को जान पाता है। देश-काल की दूरी में ज्ञात शक्तियाँ विस्मृति के गहरे गर्त में चली जाती हैं और अज्ञात शक्तियाँ ज्ञात बन जाती हैं। सत्य शोध का उपक्रम सतत गतिशील रहता है। नहीं कहा जा सकता—सत्य की शोध नहीं हुई और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्य की शोध पूर्ण हो गई। भगवान् महावीर ने कहा—जो एक को जान लेता है, वह सबको जान लेता है। जो सबको जानता है वही एक को जानता है।[2] उपनिषद् की भाषा में जो आत्मा को जान लेता है, उसके लिए सर्वज्ञात हो जाता है।[3]

ध्रुव समस्या यह है कि जो आत्मा अदृश्य है, अमूर्त है, वह कैसे जाना जावे ? भगवान् महावीर की वाणी में आत्मविद् वह है जिसे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श भलीभाँति ज्ञात होते हैं[4]। आत्मोपलब्धि का साधन है चित्त-स्थैर्य। महर्षि पतंजलि ने विषयवती प्रवृत्ति को चित्त-स्थैर्य का साधन कहा है।[5] इन्द्रियों के जो विषय हैं उन्हें सब लोग जानते हैं, पर साधना की भाषा में जानने का अर्थ होता है, (ज्ञेय का) ज्ञान और (हेय का) परित्याग। किसी भी वस्तु का उत्पादन या त्याग तभी हो सकता है, जब उसका स्वरूप भलीभाँति जान लिया जाए। चक्षु का विषय रूप है। रूप कैसे देख पाता है ? उसका क्रम क्या है ? रूप का स्थान कहाँ है ? प्रकाश कहाँ से आता है ? कैसे आता है ? आदि प्रश्नों पर विचार करते-करते चित्त स्थिर होता है, तब चित्त-वृत्ति रूप-विषय वाली कहलाती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषयों में भी चित्त को स्थिर किया जाता है। इस अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों का सूक्ष्म ज्ञान ज्ञान प्राप्त होता है, दर्शन के आवरण क्षीण होते हैं—अन्धकार में देखने व दूर श्रवण आदि की शक्तियाँ विकसित होती हैं।

मूल—प्रश्न है शक्तियों का स्रोत क्या है ? इसका समाधान पाने के लिये भारतीय मुनियों ने तर्क की अपेक्षा श्रद्धा, और बहिर दर्शन की अपेक्षा अन्तरदर्शन को अधिक महत्त्व दिया। तर्क और बहिर दर्शन जहाँ समाप्त होते हैं, वहाँ अन्तरदर्शन का प्रारंभ होता है। जहाँ शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियाँ रुकती हैं, वहाँ अन्तरदर्शन प्रवृत्त होता है। जहाँ इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से विरत होती हैं, वहाँ अन्तरदर्शन प्रस्फुटित होता है। यह अन्तरदर्शन ही सत्य की उपलब्धि का साधन है। जिन्हें यह प्राप्त हुआ, उनकी भाषा में सत्य है आत्मा।

तत्त्ववाद की परिधि में इस विषय में जो है, वह सब सत्य है। असत्य वही है, जो नहीं है। सत् या अस्तित्व की

१—को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो—उत्तराध्ययन ५।६। ये यं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके, नायमस्तीति चैके एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः। (कंठोपनिषद्)

२—जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।

३—आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति —बृहदारण्यक २।४।६.

४—अस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं—आचारांग १।३।१.

५—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति निबन्धनी—पातंजल योग-दर्शन १।३५.

उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। स्वत्व की दृष्टि से आत्मा सत्य है। उसकी उपलब्धि का जो साधन है, वह भी सत्य है। पदार्थोपलब्धि का साधन ज्ञान और आत्मोपलब्धि का साधन धर्म है। जैन आचार्य इसे मोक्ष-मार्ग, पतंजलि-योग और बौद्धाचार्य विशुद्धि मार्ग कहते हैं। शब्दार्थ में तीनों कुछ भिन्न हैं, फलितार्थ में अभिन्न। चित्त-वृत्तियों की एकाग्रता के बिना न मोक्ष मार्ग उपलब्ध है, न आत्मलीनता ही होती है और न विशुद्धि मार्ग मिलता है। चित्त एकाग्र बनता है तभी ये सब बनते हैं। पतंजलि की भाषा में चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है, वह योग है[1]। जैनों की भाषा में शरीर, वाणी, और मन की प्रवृत्तियों का जो पूर्ण निरोध है, सर्व संवर है, वह योग है।[2]

योग शास्त्र :—

शास्त्र वह होता है, जो शासन करे और जिसमें त्राण-शक्ति हो।[3] योग, शरीर, वाणी और मन पर शासन करता है तथा वह आत्मा को विजातीय तत्त्व से त्राण देता है, इसलिये वह शास्त्र है। सांख्यों की परंपरा में जैसे पतंजलि ने योग-दर्शन लिखा वैसे जैन परम्परा में उमास्वति ने मोक्षमार्ग लिखा। योग शब्द जैन आगमों में व्यवहृत है—समाधि-योग, ध्यान-योग, भावना-योग आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं। उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने समाधितंत्र, ध्यानशतक, सुधारस आदि अनेक ग्रंथ लिखे हैं। किन्तु योग शब्द को प्रधान मानकर लिखने वालो में आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र और यशोविजयजी हैं। हरिभद्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—योगविंशिका, योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय और योगशतक।

हेमचन्द्र का योग-शास्त्र सुन्दर कृति है। यशोविजयजी ने पतंजलि योग-दर्शन की जैन दृष्टि से परीक्षा की है और वे योगविंशिका आदि के व्याख्याकार भी हैं। आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव योग शब्द परक नहीं है पर उसकी पद्धति योग-शास्त्र की है। नागसेन का तत्त्वानुशासन और पूज्यपाद का समाधितन्त्र व इष्टोपदेश इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

योग की व्याख्या—उमास्वति ने सम्यग्दर्शन, सम्यगज्ञान और सम्यग्चरित्र को मोक्ष मार्ग कहा है।[4] उसी को आचार्य हेमचन्द्र ने योग कहा है।[5] हरिभद्र सूरि के अभिमत में धर्म-मात्र योग है। योग वह है जो मोक्ष से योग-संबंध करावे। धर्म मोक्ष का साधन है, इसलिए धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार है, वह सब योग है।[6] यह निश्चय दृष्टि से है। किन्तु व्यवहार दृष्टि या तांत्रिक संकेत के अनुसार योग-स्थान, आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को कहा जाता है। हरिभद्र सूरि ने योग के ५ प्रकार बतलाये हैं।[7]

१. स्थान—कायोत्सर्ग, पर्यंक, पद्मासन आदि आसन।
२. ऊर्ण-वर्ण—शब्द का उच्चारण, मंत्र, जप आदि
३. अर्थ—नेत्र आदि का वाच्यार्थ
४. आलम्बन—रूपी द्रव्य में मन को केन्द्रित करना।
५. रहित—निरालम्ब या निर्विकल्प-चिन्मात्र समाधि रूप।

इनमें से प्रथम दो प्रकारों को कर्मयोग और शेष तीन प्रकारों को ज्ञान-योग कहा है।[8]
पतंजलि के अनुसार योग है[9]:—

१—योगश्चित्तवृत्ति निरोधः—योगदर्शन १।२।
२—उत्तराध्ययन २९।
३—शासन सामर्थ्येन तु, संत्राण बलेन चानवद्येन; युक्तं यत्तच्छास्त्रम्—प्रशमरतिः १८८।
४—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तत्वार्थसूत्र १।१।१।
५—मोक्षोपायो योगो, ज्ञान-श्रद्धान्-चरणात्मकः—अभिधान चिन्तामणि —१।७७।
६—योग विंशिका १ व्याख्या।
७—ट्ठाणुन्नत्थालंबण—रहिओ तं तम्मि पंचहा एसो—योगविंशिका २।
८—दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तियं नाणजोगो उ—योगविंशिका २।
९—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि—योगदर्शन २।२९

१. यम—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।[1]

२. नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान ।[2]

३. आसन—सुख पूर्वक स्थिर होकर बैठना ।[3]

४. प्राणायाम—श्वास-प्रश्वास का गतिविच्छेद ।[4]

५. प्रत्याहार—इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से हटाना अन्तर्मुखी करना ।[5]

६. धारणा—चित्त को किसी ध्येय में बाँधना-स्थिर करना ।[6]

७. ध्यान—चित्त का एक विषय में स्थिर होना ।[7]

८. समाधि—वही ध्यान जब अर्थमात्र का प्रतिभास हो जाए, स्वरूप शून्य हो जाए ।[8]

जैन परम्परा में योग की अष्टांग व्यवस्था नहीं है । हरिभद्र सूरि ने जो पंचांग व्यवस्था की है , वह नवीन है । प्राचीन व्यवस्था द्वादशांग है । उसे तप कहा गया है । उसके बारह अंग हैं ।[9]

१. अनशन—उपवास आदि तप ।

२. ऊनोदरी—कम खाना, मिताहार ।

३. भिक्षाचरिका—जीवन-निर्वाह के साधनों का संयम ।

४. रस-परित्याग—सरस आहार का परित्याग, अस्वाद ।

५. कायक्लेश—आसन ।

६. संलीनता—इन्द्रियों को अपने विषयों से हटा अन्तर्मुखी करना ।

७. प्रायश्चित—पूर्व कृत दोष विशुद्धि करना ।

८. विनय —नम्रता ।

९. वैयावृत्त्य—दूसरों के लिए कुछ करना ।

१०. स्वाध्याय—पठन ।

११. ध्यान—चित्त वृत्तियों को स्थिर करना ।

१२. व्युत्सर्ग—शरीर की प्रवृत्ति को रोकना ।

इनमें प्रथम छः को बाह्य और शेष छः को आभ्यन्तर तप कहा गया है । महर्षि पतंजलि ने पूर्ववर्ती पाँच योगांगों को बहिरंग साधन कहा है ।[10] धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीन अंतरंग हैं।[11] निर्बीज समाधि के लिये इन्हें भी बहिरंग माना है ।[12] अनशन, ऊनोदरी भिक्षाचरिया और रस-परित्याग । इनका संबंध भोजन से है । स्वास्थ्य की दृष्टि से भोजन का

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—योगदर्शन २।३० ।

२. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि—योगदर्शन २।३२ ।

३. स्थिरसुखमासनम्—योगदर्शन २।४६ ।

४. तस्मिन् सति श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः—योगदर्शन २।४ ।

५. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः—योगदर्शन २।५४ ।

६. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा—योगदर्शन ३।१ ।

७. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—योगदर्शन ३।२ ।

८. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः—योगदर्शन ३।३ ।

९. अणसण ८० पायच्छित्तं—३० उ० , ३० ।

१०. उक्तानि पंच बहिरंगाणि साधनानि—व्यासभाष्य ३।१ ।

११. त्रयमंतरंगं पूर्वेभ्यः —योगदर्शन ३।७ ।

१२. तदपिबहिरंगंनिर्बीजस्य—योगदर्शन ३।८ ।

विवेक प्रत्येक मनुष्य के लिये आवश्यक है। योगी के लिये उसकी और अधिक अपेक्षा है। जो व्यक्ति काल-क्षेत्र, मात्रा, स्वात्म्य-हित या पथ्य, गरिष्ठ, लघु और अपने पाचन बल को देखकर भोजन करता है, उसे औषध से क्या ?[1] औषध उसे लेनी होती है जो अमित और अहित खावे। यह स्वास्थ्य दृष्टि है। योगसाधना में शरीर की अपेक्षा मन को प्रधानता दी गई है। मानसिक स्वास्थ्य के लिये भोजन पर जितना विचार किया गया है, उतना ही भोजन न करने पर किया है। जैनेतर योग-शास्त्री इस विषय में भिन्न मत रखते हैं। घेरण्ड ने योगी के लिये उपवास का निषेध किया है।[2]

उन्होंने लिखा है कि योगी कठिन और बासी भोजन न करे[3] जैनाचार्यों ने साधन के लिये दीर्घ तप का विधान किया है। भगवान् महावीर दीर्घ तपस्वी थे। उन्होंने दीर्घ तप किया, दो उपवास से लेकर छः मास तक के उपवास किये।[4] दीर्घकालीन उपवास से रासायनिक परिवर्तन होता है, संकल्प-सिद्धि सहज सुलभ होती है, यह तत्त्व उन्हें ज्ञात था। उपवास का अर्थ आहार त्याग ही नहीं है। उसका अर्थ है विषय और विकार के त्याग की संयुक्त आराधना। गीता के अनुसार—"निराहार व्यक्ति विषयों से निवृत्ति पा लेता है। उससे रस नहीं छूटता, किन्तु रस-रहित परमतत्त्व का साक्षात् पा वह रस से भी मुक्त हो जाता है।"[5] उपवास का प्रयोजन शरीर-शोषण नहीं, किन्तु लक्ष्यपूर्ति है। शरीर का शोषण होना उसका प्रासंगिक परिणाम है। महात्मा बुद्ध ने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये संकल्प किया—"इस आसन पर बैठे-बैठे मेरा शरीर भले सूख जाए, चमड़ी, हड्डि और मांस भले विनष्ट हो जाएँ, किन्तु सुदुर्लभ बोधि को प्राप्त किये बिना यह शरीर इस आसन से विचलित नहीं होगा।[6] भगवान् महावीर ने संकल्प किया कि मैं सब प्रकार के कष्टों को तब तक सहन करूँगा, जब तक केवल ज्ञान की उपलब्धि न हो जाए। संकल्प की पूर्ति के लिये उपवास, शरीर-शोषण या विषय-वर्जन आवश्यक है। प्राणायान के साथ उपवास का सम्बन्ध कम है। उपवास का निषेध भी प्राणायाम के प्रकरण में किया गया है और उसके आरम्भ में दूध-घी तथा दो बार भोजन करने का विधान किया गया है।[7]

जैन आचार्य प्राणायाम को महत्त्व नहीं देते। उनके अभिमत में वह चित्त-निरोध और इन्द्रिय-विजय का निश्चित उपाय नहीं है।[8] जैन प्रक्रिया के अनुसार विजातीय द्रव्य का रेचन और अंतर भाव में स्थिर होना कुम्भक है। चित्त की एकाग्रता के लिए यही प्राणायाम है। योग वाशिष्ठ में हठ से चित्त की विजय को अनुपादेय माना गया है। ऊनोदरी या मिताहार के विषय में सब योगदर्शन एक मत हैं।[9] रस-परित्याग का अर्थ है विकृति बढ़ाने वाले रसों का वर्जन या अस्वाद-वृत्ति। योग-साधना और स्वाद वृत्ति में उतना ही विरोध है, जितना विरोध अहिंसा और भय में है। साधक नित्य रसों का सेवन न करे

---

१. कालं क्षेत्रं, मात्रां, स्वात्म्यं द्रव्य गुरु लाघवं स्वबलम् ज्ञात्वा यो भ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजं स्तस्य—प्रशमरतिः १३७

२. प्रातःस्नानोपवासादि, कायक्लेश विधि विना। एकाहारं निराहारं, यामत्ति च न कारयेत्—घेरण्ड संहिता ५।३०।

३. कठिनं दुरितं पूति उष्णं पर्युषितं तथा अतिशीतं चाति चोग्रं, भक्ष्यं योगी विवर्जयेत्—घेरण्ड संहिता ५।२९।

४. आवश्यक निर्युक्ति पत्र २६६–३००।

५. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते—गीता २,५९।

६. इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वागस्थिमासं प्रलयंच यातु। श्वलिष्यति-बुद्धचरित, अप्राप्य बोधिं बहुकल्प दुर्लभां नैवासनात् कायचित्।

७. एवं विधि विधानेन, प्राणायामं समाचरेत्। आरंभे प्रथमं कुर्यात्, क्षीराज्यं नित्य भोजनम्। मध्याह्ने चैव सायान्हे, भोजनद्वयमाचरेत—घेरण्ड संहिता ५।३१।

८. न च प्राणायामादि दृढयोगाभ्यासश्चित्तविरोधे परमेन्द्रिय जये च निश्चित उपायोपि 'असासं ण णिसंभइ'—आव०नि० निर्युक्ति इत्याद्यागमेन योग समाधान विघ्नत्वेन बहुलं तस्य निषिद्धित्वात्—पातंजल योगदर्शन—यशोविजयजी

९—मियासणे, दशवैकालिक ८।
मिताहारं विना यस्तु, योगारंभ तु कारयेत्।
नाना रोगो भवेत्तस्य, किञ्चिद् योगो न सिंचति—घेरण्ड संहिता ५।१६।

मनोज्ञ आहार करे, उसमें आसक्त नहीं हो, उसकी स्मृति न करे, उसमें मति का नियोग न करे।[1]

कायक्लेश—कायक्लेश के चार प्रकार हैं :—[2]

१. आसन—

२. आतापना—सूर्य की रश्मियों का ताप लेना, शीत को सहन करना—निर्वस्त्र रहना।

३. विभूषा—वर्जन

४. परिकर्म—शरीर की साज-सज्जा का वर्जन। आसन दो प्रकार के होते हैं-शरीरासन और ध्यानासन। पतंजलि ने आसन को 'स्थिर सुख' कहा है।[3] ध्यानासन के लिये दो अपेक्षाएँ हैं-(१) शरीर स्थिर रहे और (२) सुखपूर्वक बैठा जा सके। जैन परम्परा में वीरासन आदि कठोर और पद्मासन आदि सुखासन—इन दोनों को सुखावह कहा गया है।[4]

इन दोनों का ध्यान के लिये प्रयोग होता था। आगमों में निम्नलिखित आसनों का विशेष उल्लेख मिलता है।[5]

१. स्थान स्थिति—(कायोत्सर्ग)—दोनों भुजाओं को फैलाकर पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिला या वितस्ति। जितना अन्तर रख सरल खड़ा रखना।

२—स्थान—स्थिर, शान्त बैठना।

३. ऊकड़ूं—पैर और पुत दोनों भूमि से लगे रहें वैसे बैठना। घेरण्ड संहिता के अनुसार—अंगूठों को भूमि पर टिका एड़ियों को ऊपर को ओर उठा, उन पर गुदा रख बैठना।[6]

४. पद्मासन—बायी जाँघ पर दायाँ पैर और दायीं जाँघ पर बायाँ पैर रखकर हथेलियों को एक दूसरे पर रख नाभि के नीचे रखना।

५. वीरासन—बायाँ पैर दाईं सांथल पर दायाँ पैर बाईं सांथल पर रखना, दोनों हाथों को नाभि के पास रखना। अथवा सिंहासन पर बैठ, पैर नीचे भूमि पर टिका रखे हों और सिंहासन निकाल लिया जाए, वह आसन (अथवा) एक पैर से दोनों अण्डकोषों को दबा, दूसरे पैर को दूसरी जाँघ पर रख सरल भाव से बैठना।

६. गोदोहिका—गाय के दुहने जैसी स्थिति में बैठना।

७. पर्यंकासन—दोनों जाँघों के अधोभाग को पैरों पर टिका, दोनों हाथों को नाभि के सामनेद क्षिणोत्तर रख बैठना। इनमें से पद्मासन आदि आसन चित्त की स्थिरता के लिए हैं और वीरासन आदि धैर्य की प्राप्ति के लिए।

संलीनता—संलीनता के चार प्रकार हैं[7] :—

१. इन्द्रिय-संलीनता—इन्द्रियों के विषयों से बचना।

२. कषाय-संलीनता—क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना।

३. योग-संलीनता—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति से बचना।

४. विविक्तशयन-आसन—एकान्त स्थान में सोना, बैठना। संलीनता की आंशिक तुलना पतंजलि के प्रत्याहार से होती है। योगी के लिए उपशान्त वृत्ति और स्थिरता आवश्यक होती है।

इसके चतुर्थ प्रकार में योगी कहाँ रहे, इसका निर्देश है। साधक के लिये श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल इन स्थानों में रहने का विधान है।[8] तप के ये छहों प्रकार विषयों से बचने के साधन हैं। विकार आत्मा का आन्तरिक दोष है।

---

१. प्रश्न व्याकरण, संवरद्वार ५.

२—औपपातिक, तपोधिकार.

३—स्थिरसुखमासनम्, योगदर्शन २।४६.

४—ठाणां०, उ० ३।०२७.

५. औपपातिक, तपोधिकार.

६. अंगुष्ठाभ्या मवष्टभ्य, धरां गुल्फे च खे गती। तत्रोपरि गुदं न्यस्य विहोय मुत्कटासनम्—२।२७.

७. औपपातिक, तपोधिकार.

८. सुस्साणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले व एगओ—उत्तराध्ययन, २.

विषय आत्मा का दोष नहीं है, वह विकार का निमित्त है। इसलिए उससे बचना आवश्यक होता है। निमित्तों से बचने के साधनों को बाह्य तप कहने का कारण यही है। प्रायश्चित आदि से आन्तरिक विकारों का शोधन होता है, इसीलिये उन्हें आन्तरिक कहा गया है।

प्रायश्चित भूल के अनुरूप होता है। इससे साधना का पथ प्रशस्त होता है। विनय का अर्थ है—संयम या शुद्धि के साधनों का अवलम्बन। उसके सात प्रकार हैं[1] :—

१. ज्ञान का विनय।

२. दर्शन-सम्यग्दृष्टि का विनय।

३. चारित्र का विनय।

४. मन-विनय—मन का प्रशस्त प्रयोग।

५. वचन-विनय —वचन का प्रशस्त प्रयोग।

६. काय-विनय—सावधानी से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना।

७. लोकोपचार-विनय—गुरु की इच्छा का सम्मान करना, उनका अनुगमन करना, उनका कृतज्ञ रहना, आदि।

वैयावृत्य—साधक को सहयोग देना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय—स्वाध्याय और ध्यान दोनों परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति के अनन्य साधन हैं। योगी स्वाध्याय से विरत हो ध्यान और ध्यान से विरत हो स्वाध्याय करे। स्वाध्याय और ध्यान की सम्पदा से परम-आत्मा प्रकाशित होती है।[2]

स्वाध्याय के पाँच प्रकार हैं:—

१. वाचना—पढ़ाना, २. प्रच्छना—प्रश्न करना, ३. परिवर्तना—याद किये हुए पाठ को दोहराना, ४. अनुप्रेक्षा—चिन्तन, ५. धर्म कथा—धर्मचर्चा, धर्म-वार्ता।

शिष्य ने पूछा भंते! स्वाध्याय का क्या फल है?

भगवान ने कहा—स्वाध्याय से ज्ञानवरण क्षीण होता है।[3]

ध्यान—स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान का क्रम है। पतंजलि ने ध्यान का पूर्व तत्त्व धारणा माना है। इस तपोयोग में धारणा नाम का कोई तत्त्व नहीं है। किन्तु जैन परम्परा में 'एकाग्र मनः सन्निवेशना' जो है, उसकी तुलना धारणा से होती है। एकाग्र का अर्थ है कोई एक आलम्बन। उसमें मन को स्थापित करना, लगाना या बाँध देना—एकाग्रमनः सन्निवेशना है।

शिष्य ने पूछा—भंते! एकाग्रमनः सन्निवेशना का क्या फल है? भगवान् ने कहा—एकाग्रमनः सन्निवेशना का फल है—चित्त-निरोध।[4] यही ध्यान है। जो अध्यवसाय चल है, वह चित्त है और जो स्थिर है, वह ध्यान है। ध्यान का पहला रूप है चित्त-निरोध और दूसरा रूप है शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध।[5] साधना की दृष्टि से ध्यान के दो प्रकार हैं—(१) धर्म्य, (२) शुक्ल।

ये दोनों आत्मलक्षी हैं। शुक्ल ध्यान पूर्वधर (विशिष्ट ज्ञानी) मुनियों के होता है। उससे पहले धर्म्य-ध्यान ही होता है।

उसके चार प्रकार हैं[6]—

१. आज्ञा-विचय—आगम के अनुसार सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन करना।

---

१. औपपातिक तपोधिकार।

२. स्वाध्यायद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्। ध्यान स्वाध्याय संपत्या, परमात्माप्रकाशते—समा०

३. सज्झाएणं भंते जीवे किं जणेइ?
सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ—उत्तराध्ययन २९।१८।

४. एगग्ग मण सन्निवेसणाए णं भंते! जीवे किं जणेइ?
एगग्गमण सन्निवेसणाए णं चित्त निरोहं करेइ—उत्तराध्ययन २९।२५।

५. एकाग्रचिन्ता योग निरोधो वा ध्यानम्—जैन सिद्धान्त दीपिका।

६. स्थानांग ४।१।२४७।

२. अपाय-विचय—हेय क्या है, इसका चिन्तन करना ।

३. विपाक-विचय—हेय के परिणामों का चिन्तन करना ।

४. संस्थान-विचय—लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपों का चिन्तन करना ।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान ये ध्येय हैं । जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है, वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है । इनके चिन्तन से चित्त-निरोध होता है, चित्त की शुद्धि होती है, इसलिये इनका चिन्तन धर्म्य ध्यान कहलाता है ।

आज्ञा-विचय से वीतराग-भाव की प्राप्ति होती है । अपाय-विचय से राग-द्वेष और मोह और उनसे उत्पन्न होने वाले दुःखों से मुक्ति मिलती है । विपाक-विचय से दुःख कैसे होता है ? क्यों होता है ? किस प्रवृत्ति का क्या परिणाम होता है ? इनकी जानकारी प्राप्त होती है । संस्थान-विचय से मन अनासक्त बनता है । विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता जान ली जाती है, उसके विविध परिणाम-परिवर्तन जान लिए जाते हैं, तब मनुष्य का मन स्नेह, घृणा, हास्य, शोक आदि विकारों से विरत हो जाता है ।

धर्म्य-ध्यान, चित्त-निरोध या चित्त-विशुद्धि का प्रारंभिक अभ्यास है । शुक्ल ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है । मन सहज ही चंचल है । इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण कर उसे प्रेरित करती हैं, इसलिए उसकी चंचलता और बढ़ जाती है । वह समूचे विश्व की परिक्रमा करने लग जाता है । ध्यान का कार्य है उस भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना ।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, त्यों-त्यों मन शांत और निष्प्रकम्प हो जाता है । शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में मन की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध, पूर्ण संवर या समाधि प्राप्त हो जाती है ।

शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं[1]—१. पृथक्त्व वितर्क—सविचारी, २. एकत्व वितर्क—अविचारी, ३. सूक्ष्म-क्रिय—अप्रतिपाती, ४. समुच्छिन्न-क्रिय—अनिवृत्ति ।

पतंजलि ने समापत्ति के चार प्रकार बतलाए हैं—१. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा, ४. निर्विचारा ।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है । विचार का अर्थ है परिवर्तन । पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले ध्यान करता है, किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय पर स्थिर नहीं रहता । वह उसके विविध परिणामों पर विचरण करता है तथा शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर एवं मन वाणी और शरीर में से एक दूसरी प्रवृत्ति पर संक्रमण करता है, नाना दृष्टिकोणों से उस पर चिन्तन करता है । उसे पृथक्त्व- वितर्क सविचारी कहा जाता है ।[2] पतंजलि ने शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण समापत्ति को सवितर्का माना है ।[3]

पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन ले उसके किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है । वह शब्द, अर्थ और मन, वाणी तथा शरीर पर संक्रमण नहीं करता । वैसा ध्यान एकत्व वितर्क अविचारी कहलाता है । पहले में पृथक्त्व है, इसलिए वह सविचारी है । दूसरे में एकत्व है, इसलिये वह अविचारी है ।

पहला सवात-गृह का प्रदीप है और दूसरा निर्वात-गृह का । पतंजलि ने शब्द, ज्ञान आदि विकल्पों से शून्य अर्थात् अर्थ-मात्र के साक्षात्कार को निर्वितर्का समापत्ति माना है ।[4] उनके अभिमत में सवितर्का और निर्वितर्का स्थूल पदार्थ विषयक हैं, सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म पदार्थ विषयक हैं ।[5] जैन दृष्टि के अनुसार उक्त दोनों प्रकारों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ आलम्बन बनते हैं । पतंजलि में चारों समापत्तियों को सबीज मानते हैं ।[6] जैन दृष्टि के अनुसार ये मोह

---

१. स्थानाङ्ग ४।१।२४७.

२. स्थानाङ्ग वृत्ति ४।१।२४७, पत्र १९१.

३. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः—योगदर्शन १।४२.

४. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थं मात्रनिर्भासानिर्वितर्का—योगदर्शन १।४३.

५. एतयैव सविचारा निर्विचारा सूक्ष्म विषया व्याख्याता —योगदर्शन १।४४.

६. ता एव सबीजः समाधिः—योग दर्शन १।४६.

के उपशम से प्राप्त हों, तो सबीज और मोह के क्षय से प्राप्त हों, तो निर्बीज होती हैं।[1]

पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी अर्थात् भेद-प्रधान ध्यान का अभ्यास दृढ़ होता है, तब एकत्व-वितर्क-अविचारी अर्थात् अभेद-प्रधान ध्यान प्राप्त होता है। इनके अभ्यास से मोह क्षीण होता है, उसके साथ-साथ ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय क्षीण हो जाते हैं। आत्मासर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और अनन्त शक्ति-सम्पन्न बन जाता है। आयुष्य शेष रहता है, तब तक वह योगी जीता है। उसकी पूर्ति निकट होती है, तब उसके सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाती ध्यान होता है। इसमें पहले मन का, फिर वाणी का और फिर काया का निरोध होता है। श्वास जैसी सूक्ष्म-क्रिया बचती है। पश्चात् उसका भी निरोध हो जाता है, उसे समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति ध्यान कहा जाता है।

इनकी प्राप्ति होते ही मुनि पंच ह्रस्वाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) के उच्चारण काल तक शरीरी रहता है, फिर मुक्त हो जाता है। पतंजलि के शब्दों में शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेदों को संप्रज्ञात और अंतिम दो भेदों को असंप्रज्ञात समाधि कहा जा सकता है।[2]

धर्म ध्यान के चार लक्षण हैं—

१. आज्ञा-रुचि—राग-द्वेष, मोह के दूर होने से जो कुग्रह-मिथ्या आग्रह का अभाव होता है।

२. निसर्ग-रुचि—पूर्व शुद्धि से उत्पन्न सहज रुचि।

३. सूत्र-रुचि—सूत्र के अध्ययन से उत्पन्न रुचि।

४. अवगढ़ रुचि—तत्त्व के अवगाहन से उत्पन्न रुचि।

धर्म-ध्यान के चार आलम्बन हैं—१. वाचना—पढ़ाना, २. प्रच्छना—पूछना, ३. परिवर्तना—दोहराना, ४. अनुप्रेक्षा—चिन्तन।

धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

१. एकत्वानुप्रेक्षा—'मैं अकेला हूँ' ऐसी भावना।

२. अनित्यानुप्रेक्षा—'सब संयोग अनित्य हैं' ऐसी भावना।

३. अशरणानुप्रेक्षा—'दूसरा कोई त्राण नहीं है' ऐसी भावना।

४. संसारानुप्रेक्षा—'जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है' ऐसी भावना।

शुक्ल-ध्यान के चार लक्षण हैं :—

१. अव्यथ—व्यथा का अभाव, कष्ट सहन में अचल धैर्य।

२. असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ के विषय में मूढ़ता न होना, माया जाल में न फँसना।

३. विवेक—देह और आत्मा का परिपक्व भेद, ज्ञान संयोग त्याग।

४. व्युत्सर्ग—शरीर और उपकरणों में निर्लिप्तता।

शुक्ल ध्यान के चार आलम्बन हैं :—१. क्षमा—सहन करना, अक्रोध, २. मुक्ति—निर्लोभता, ३. मार्दव—निरभिमानता, ४. आर्जव—सरलता।

शुक्ल-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं—

१. अनन्त-वृत्ति-अनुप्रेक्षा—भव परम्परा अनादि है, ऐसी भावना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा—सब पदार्थ परिणमनशील हैं, ऐसी भावना।

३. अशुभानुप्रेक्षा—संसार के सब संयोग अशुभ हैं, ऐसी भावना।

---

१. पर्यायो०—

२. समाधिरेष एवान्यैः संप्रज्ञातोभिधीयते। सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थं ज्ञानतस्तथा—योग बिन्दु ४१८.
असंप्रज्ञात एषोपि, समाधिर्गीयते परैः। निरुद्धाशेषवृत्त्यादि, तत्स्वरूपानुवेधतः—योगबिन्दु ४२०.

४. अपायानुप्रेक्षा[1]—आस्रव बन्धन के हेतु हैं, ऐसी भावना ।

धर्म्य-ध्यान के लिए श्रद्धा, स्वाध्याय और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षाओं से फलित होता है। शुक्ल-ध्यान के लिए आत्मा के स्वभाव का अवगाहन और भावना अपेक्षित हैं, यह उसके लक्षण आदि से ज्ञात होता है। भावनाएँ १२ हैं —(१) अनित्य, (२) अशरण, (३) संसार, (४) एकत्व, (५) अन्यत्व, (६) अशौच, (७) आस्रव, (८) संवर, (९) निर्जरा, (१०) धर्म, (११) लोक-संस्थान, और (१२) बोधि। चार भावनाएँ और हैं—(१) मैत्री, (२) प्रमोद, (३) करुणा, (४) मध्यस्थ ।

इनमें प्रथम चार भावनाएँ धर्म्म-ध्यान की अनुप्रेक्षाएँ हैं। अनन्तवृत्ति-संसारानुप्रेक्षा का ही स्थिर अभ्यास है। विपरिणाम को लोक, अपाय को आस्रव और अशुभ को अशौच भावना कहा जा सकता है।

व्युत्सर्ग—तपो-योग का १२ वाँ प्रकार व्युत्सर्ग है। इसका अर्थ है—देहाध्यास की मुक्ति, शरीर की स्थिरता।

महाव्रत और तपोयोग में पतंजलि के अष्टांग योग के ६ अंग समाविष्ट हैं। प्राणायाम और धारणा ये दो शेष रहते हैं। प्राणायाम के विषय में जैन-भावना क्या है? यह बतलाया जा चुका है

धारणा के विषय में कोई मतभेद नहीं है। त्राटक भी योग का एक अंग है। इसमें चित्त और दृष्टि दोनों एकत्र स्थिर किये जाते हैं। जहाँ भगवान् महावीर की ध्यान-मुद्रा का उल्लेख हुआ है, वहाँ उन्हें एक पुद्गल-निविष्ट दृष्टि और अनिमिष नयन कहा गया है?[2] नासाग्र दृष्टि को भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने जिनमुद्रा की विशेषता बतलाते हुए लिखा है—"जिनेन्द्र ! आपकी और-और विशेषताओं को सीखना तो दूर रहा, पर अन्यतीर्थिक देवों ने पर्यंक-आसन, शिथिल-शरीर और नासाग्र दृष्टि वाली आपकी मुद्रा भी नहीं सीखी।"[3] उत्तरवर्ती ग्रंथों में भृकुटी, कान, ललाट, नाभि, तालु और हृदय-कमल आदि धारणाओं की चर्चा मिलती है।[4] भगवान महावीर ने साधना का जो क्रम प्रस्तुत किया, उसमें अनशन और ध्यान इन दोनों का समन्वय था। यह साधना क्रम न केवल कष्ट-सहन था और न कष्ट से पलायन कर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न था। साधक के लिए सहिष्णुता और एकाग्रता दोनों आवश्यक होते हैं। इस साधना क्रम में दोनों का सुमेल था। समय-परिवर्तन के साथ क्रम में परिवर्तन हो गया। ध्यान का स्थान गौण हो गया और अनशन साधना के सिंहासन पर जा बैठा। इसीलिए अन्य दर्शनी लोग जैन-साधना को केवल कष्टमय या अत्यन्त कठोर मानते हैं।

भगवान् महावीर का साधना काल बारह वर्ष और तेरह पक्ष का है। उसमें अनशन, आसन और ध्यान की स्पर्धा सी रही है। भगवान् ने इस अवधि में तीन सौ उनचास दिन भोजन-पानी ग्रहण किया और ऊकड़ूं आसन, निषद्या-कायोत्सर्ग-प्रतिमाएँ कई सौ बार स्वीकार कीं।[5]

बारह बार एक रात्रि की प्रतिमा स्वीकार की।[6] भगवान् को जब केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब वे ऊकड़ूं आसन में बैठे थे, दो दिन का उपवास था[7] और ध्यानान्तरिका में वर्तमान थे।[8] भगवान् जब दृढ़भूमि के पेढाल ग्राम में विहार कर रहे थे, तब उन्होंने पोलाश नामक चैत्य में तीन दिन का उपवास किया। कायोत्सर्ग मुद्रा की। उनका शरीर आगे की ओर कुछ

---

१. स्थानांग ४।१।२४७.
२. एकपोग्गल निविट्ठदिट्ठी, अणिमिस नयणे—भगवती ३।२।
३. वपुश्च पर्यंक शयं श्लथं च, दृशौ च न सा नियते स्थिरे च ।
   न शिक्षितेयं परतीर्थनाथैर्जिनेन्द्रमुद्रापि तवान्यदास्ताम् ॥ अयोगव्यवच्छेदिका २०॥
४. चक्षुर्विषये श्रवसि ललाटे, नाभौ तालुनि हृत्कुज निकटे ।
   तत्रैकस्मिन् देशे चेतः, सद्ध्यानी धरतीत्यति शान्तम् ॥ वैराग्यमणिमाला ३४॥
५. विन्निसए दिवसाणं—आवश्यक निर्युक्ति, ५३४।
६. आवश्यक निर्युक्ति ५३१ ।
७. आवश्यक निर्युक्ति ५२५ ।
८. झाणंतरियाए वट्टमाणस्स—आ० नि० ५२४ वृत्ति पत्र २९८ ।

झुका हुआ था। दृष्टि एक पुद्गल पर टिकी हुई थी। आँखें अनिमेष थीं। शरीर प्रणिहित था, इन्द्रियाँ गुप्त थीं। दोनों पैर सटे हुए थे और दोनों हाथ प्रलम्बित थे। इस मुद्रा में भगवान् ने एक रात्रि की महाप्रतिमा की।[1]

सानुलष्टि ग्राम में भगवान ने भद्रा, महाभद्रा और सर्वतोभद्रा प्रतिमाएँ की। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन चारों दिशाओं में चार-चार पहर कायोत्सर्ग किया जाए वह भद्रा प्रतिमा है। इसकी आराधना करने वाला पहले दिन पूर्वाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है, रात को दक्षिणाभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। दूसरे दिन पश्चिम दिशाभिमुख और रात को उत्तराभिमुख हो कायोत्सर्ग करता है। भगवान् ने भद्रा के अनन्तर ही महाभद्र प्रतिमा प्रारंभ कर दी। उसमें चारों दिशाओं में एक दिन-रात कायोत्सर्ग किया जाता है। भगवान् ने चार दिन तक इसकी आराधना की। इसके अनन्तर सर्वतोभद्रा का प्रारंभ किया। इसमें दस दिन-रात लगे। चारों दिशाओं में चार दिन-रात, चारों विदिशाओं में चार दिन-रात और एक-एक दिन-रात ऊँची और नीची दिशा के अभिमुख हो कायोत्सर्ग किया। इस तरह सोलह दिन-रात तक भगवान् संतत-ध्यानरत और उपवासी रहे।[2]

स्थानांग में इनके अतिरिक्त सुभद्रा प्रतिमा का उल्लेख और मिलता है।[3] उसका अर्थ आज ज्ञात नहीं है, वृत्तिकार अभयदेव सूरि को भी ज्ञात नहीं था।[4] इनके अतिरिक्त समाधि प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा और व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुल्लिकामोय प्रतिमा, महतीमोय-प्रतिमा, यवमध्या और वज्रमध्या आदि प्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है।[5] इनकी परम्परा लुप्त है और हृदय अज्ञात। जैन परम्परा में ध्यान-क्रम इस प्रकार है :—

१. स्थान—कायोत्सर्ग, आसन आदि।

२. मौन—वाक् संयम।

३. ध्यान—एकाग्रता।

भगवान् प्रायः मौन रहते थे।[6] आसनस्थ होकर ध्यान करते। वे ऊँची-नीची और तिरछी तीनों दिशाओं में स्थित पदार्थों को अपना ध्येय बनाते।[7]

योगी के लिए निद्रा विजय भी आवश्यक है। भगवान ने साधना-काल में केवल १ मुहूर्त भर नींद ली।[8]

भगवान प्रहर भर तिर्यग् भित्तिया-दृष्टि टिका कर ध्यान करते थे।[9] भगवानें के शिष्यों के लिए भी ध्यान 'कोष्ठोपगत' विशेषण प्रचुरता से प्रयुक्त हुआ है। इतनी बड़ी परम्परा कैसे लुप्तप्राय हो गई, यह एक अन्वेषणीय विषय है।

साधना की बाधाएँ :—

(१) मोह, (२) क्षयोपशम का अभाव, (३) अस्वस्थता[10], (४) स्तम्भ, (५) मिथ्यात्व, (६) अविरति, (७) प्रमाद, (८) कषाय, (९) शरीर, वाणी और मन की चंचलता, (१०) आलस्य[11], (११) अविनय और (१२) विकृति-प्रति-

---

१. आवश्यक निर्युक्ति पत्र २८८।

२. आवश्यक निर्युक्ति ४९५ वृत्ति पत्र २८८।

३. चत्तारि पडिमाओ पं० तं०—'भद्दा, सुभद्दा, महाभद्दा, सव्वतोभद्दा' ४।१।२५१।

४. सुभद्राप्येवंभूतैव सम्भाव्यते, न च दृष्टेति न लिखिता—स्थानांगवृत्ति, ४।१।२५१।

५. स्थानांग ४।१।२५१।

६. आचारांग १।९।१।६२, २।७६।

७. अविक्काइ से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए झाणं उड्ढं अहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिन्ने— आचारांग १।९।४।१०८।

८. आवश्यक निर्युक्ति पत्र २७०।

णिद्दं पि नो पगामाए सेवइ भगवं उट्ठाए। जग्गावइ य अप्पाणं, ईसिं साई य अपडिन्ने—आचारांग, १।९।२।६९।

९. अदु पोरिसिं तिरियं, भित्तिं चक्खुमासज्ज अंतसो झायइ—आचारांग, १।९।१।४६। वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न किया है, पर वह चिन्त्य है।

१०. स्थानांग, ४।२।२८३।

११. उत्तराध्ययन, ११।३।

कढ़ता—रस लोलुपता।[1] अश्रद्धा—ये योग-साधना या शिक्षा के विघ्न हैं।

(११) पतंजलि ने व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व इन चित्त विक्षेपों को योगान्तराय माना है।[2]

ध्यान की भूमिकाएँ :—

विस्तार दृष्टि से साधना के विघ्न अनेक हैं, किन्तु संक्षेप में उसका विघ्न एक है। वह है मोह। मोह का उदय होता है। ध्यानभंग हो जाता है, उसका उपशम, क्षय-उपशम और क्षय होता है, ध्यान प्रशस्त हो जाता है। ध्यान की प्रधान भूमिकाएँ ग्यारह हैं।[3] १. सम्यग्दृष्टि, २. देशव्रती, ३. महाव्रती, ४. अप्रमत्त, ५. अपूर्वकरण, ६. अनिवृत्ति-बादर, ७. सूक्ष्म-लोभ, ८. उपशान्त-मोह, ९. क्षीण-मोह, १०. सयोगी-केवली, ११. अयोगी-केवली।

प्रथम तीन भूमिकाओं में धर्म-ध्यान होता है। चतुर्थ भूमिका में धर्म-ध्यान होता है और अंशतः शुक्ल-ध्यान भी होता है।[4] इस भूमिका से सूक्ष्म-लोभ की भूमिका तक शुक्ल-ध्यान का प्रथम चरण प्राप्त होता है।

क्षीण-मोह वीतराग को शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होता है।[5] दसवीं भूमिका के अंत में शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण होता है। केवली के शरीर की स्थिरता होती है, वही ध्यान है।[6] ग्यारहवीं भूमिका में शुक्ल-ध्यान का चतुर्थचरण प्राप्त होता है।[7]

ध्यान का फल :—

ध्यान का मुख्य फल है मोह विलय या परमात्म-भाव। उसका गौण फल है लब्धि। योगदर्शन में इन्हें विभूति कहा गया है। लब्धियाँ २८ हैं। उनके द्वारा वैसे कार्य होते हैं, जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। पर ध्यान का यह साध्य नहीं है। उसका साध्य है आत्मोपलब्धि। आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीरों से वेष्टित है। हमारे पास ज्ञान के साधन हैं इन्द्रियाँ और मन। ये बहिर विषयों की जानकारी में चंचल रहते हैं। इनका बहिर दर्शन मिटे तब कहीं अन्तर-दर्शन का प्रारंभ हो। वही है ध्यानावस्था। शुक्ल ध्यान में आरूढ़ योगी विश्व भर के जीवों के कर्म-बन्धन को तोड़ डालने में समर्थ होता है, यदि ऐसा हो सके।[8] ध्यान की महिमा इससे अधिक और क्या हो सकती है? मुनि के लिए विधान है कि वह दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करे और दूसरे पहर में ध्यान करे।

तीसरे पहर में आहार करे और चौथे पहर में फिर स्वाध्याय करे।[9] इसी प्रकार रात के पहले पहर में स्वाध्याय दूसरे में ध्यान करे तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे।[10]

यह औत्सर्गिक विधि थी। काल-क्रम से इसमें परिवर्तन हुआ है। इसीलिए अतिशायी ज्ञान दर्शन की हानि हुई है। भगवान ने कहा है—जो मुनि (१) स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा, राज-कथा करता है, (२) विवेक और व्युत्सर्ग से

---

१. स्थानांग, ३।

२. योग-दर्शन, १।३०।

३. समवायांग, १४।

४. धर्म-ध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम्॥
रूपातीत तथा शुक्ल-मपि स्यादंशमात्रतः॥ गुणस्थान क्रमारोह, ३५॥

५. तत्राष्टमेगुणस्थाने, शुक्लसद्ध्यानमादियम्। ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्य संहननान्वितः॥५१॥
भूत्वाथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः। पूर्ववद् भाव संयुक्तो, द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत॥ गुण० क्रमा० ७४॥

६. छद्मस्थस्य यथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते। तथैव वपुषः स्थैर्यं, ध्यानं केवलिनो भवेत्॥ गुण० क्र० १०१॥

७. तत्रानिवृत्ति शब्दान्तं, समुच्छिन्न क्रियात्मकम् चतुर्थं भवति ध्यानमयोगि परमेष्ठिनः॥ गुण० क्रमारोह १०५॥

८. क्षपक श्रेणि परिगतः, स समर्थः सर्व कर्मिणां कर्म।
क्षपयितु मेको यदि कर्म-संक्रमः स्यात् परकृतस्य॥ प्रशमरतिः, २६४॥

९. पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ, तइयाए भिक्खायरियं, पुणो चउत्थीए सज्झायं॥ उत्त० २६।१२॥

१०. पढमं पोरिसिं सज्झायं, बीयं झाणं झियायइ तइयाए निद्द मोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्झायं॥ उत्त०२६।१८॥

आत्मा को सम्यग् भावित नहीं करता, (३) पूर्व-रात्र और अपर-रात्र में धर्म-जागरिका नहीं करता, (४) शुद्ध भिक्षा की गवेषणा नहीं करता, उसे अतिशायी ज्ञान-दर्शन प्राप्त होते-होते रुक जाता है। इसके विपरीत जो मुनि (१) विकथा नहीं करता, (२) आत्मा को असम्यग् भावित नहीं करता (३) धर्म जागरिका करता है तथा (४) शुद्ध भिक्षा की सम्यक् गवेषणा करता है, उसे अतिशायी ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है।[1]

पदार्थ-विज्ञान आज बहुत विकसित है। आत्मा-ज्ञान या प्रत्यक्षज्ञान बहुत ही अविकसित है। जो प्राप्त है उसके लिये प्रयत्न आवश्यक नहीं है, जो प्राप्तव्य है उसके लिए प्रयत्न अपेक्षित है। सत्य के साक्षात्कार के लिये आत्मा के शुद्ध रूप की अनुभूति परम आवश्यक है। आत्मा की तीन दशाएँ हैं—(१) बहिर-आत्मा, (२) अन्तर-आत्मा, (३) परमात्मा। देह और आत्मा को जो भिन्न नहीं मानता, वह बहिर आत्मा है। जिसे देह और आत्मा के भेद का ज्ञान है, वह अन्तरआत्मा है। जो कर्म-मल से रहित है, वह परमात्मा है। परमात्मा उपेय है। वहिरात्मा हेय है। अन्तरात्मा उसका उपाय है। ध्याता, ध्यान और ध्येय सब कुछ आत्मा है। मोह की हानि बाह्य, चिन्ता की निवृत्ति के लिये तथा एकाग्रता की सिद्धि के लिये आत्मा का ध्यान किया जाए। यह जीवन का सर्वोपरि सत्य है। (इतिशम्)

---

१. स्थानांग ४।२।२८४,

भगवान् महावीर और गौतम के संवाद

(ले०—मुनि श्री मनोहरलाल जी)

भगवान् महावीर के निर्वाण को लगभग ढाई हजार वर्ष हुए हैं। वे महात्माबुद्ध के समकालीन थे। उस समय बुद्ध जहाँ नये धर्म का प्रचार-प्रसार कर रहे थे; वहाँ महावीर अपने से पूर्व अनेक तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्यों को ही निर्ग्रन्थ-प्रवचन के नाम से प्रसारित करते थे। नवीन तो कुछ होता ही नहीं है; इस आधार पर तो बुद्ध ने भी उन्हीं शाश्वत सत्यों के आधार पर ही अपनी बातों को तत्कालीन समय की आवश्यकताओं के अनुरूप बौद्ध-धर्म के रूप में उपस्थित किया है। यों माना जा सकता है कि जैन-धर्म की तरह बौद्ध-धर्म की कोई पूर्व परम्परा नहीं थी। बुद्ध ने ही उसका पहले पहल प्रवर्तन किया, अत: वे ही बौद्ध-धर्म के प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तक तथा मूल देवता माने जाते हैं। किन्तु भगवान महावीर जैन-धर्म के वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम तीर्थंकर माने जाते हैं। जैन-धर्म के मतानुसार भूतकाल में इस प्रकार की अनन्त चौबीसियाँ हो चुकी हैं। उन सभी तीर्थंकरों ने भिन्न-भिन्न समय में अपने-अपने ढंग से निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन किया था। भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती तीर्थंकरों में से वर्तमान इतिहास शोधकों ने दीर्घ अन्वेषण के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महा-पुरुष मान लिया है, जो कि जैन-धर्म के तेईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथजी भी एक मान्य महापुरुष हुए हैं; यह इतिहासकारों की खोज का विषय बन चुका है। भगवान् ऋषभनाथ का नामोल्लेख संसार के सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथों में भी हुआ है। भागवत आदि प्राचीन वैदिक ग्रंथों में उनकी विस्तृत जीवनी पाई जाती है।[1] जैन पुराणों में तो उनकी जीवनी का सुविशद विवरण प्रस्तुत किया ही गया है। भगवान् महावीर का हमारे लिये अधिक महत्व इस माने में है कि वर्तमान धर्मशासन उन्हीं के उपदेशों को प्रमाण मानकर चलने वाला है। वर्तमान निर्ग्रन्थ-प्रवचन के मूल स्रोत तथा वर्तमान निर्ग्रन्थ धर्म के संस्थापक भगवान् महावीर आज भी मानवजाति के एक उत्कृष्ट प्रेरणा स्रोत हैं।

भगवान् महावीर ने तत्कालीन समाज-व्यवस्था व परम्परागत क्रियाकाण्डों पर कठोर प्रहार किया था। उन्होंने मानव को नई दृष्टि देकर एक नया वातावरण तैयार किया था। सहस्राब्दियों पूर्व जब समाज रूढ़ हो गया था, प्रगति का नाम भयावह लगता था तथा किसी भी प्रकार के परम्परागत विचारों के विरुद्ध कोई भी बात लोग सुनने को तैयार नहीं थे; ऐसे समय में उन्होंने जातिवाद के विरुद्ध आवाज उठाई, धर्म के नाम पर होनेवाले निरीह प्राणियों के घात का डटकर विरोध किया और धन से धर्म नहीं होता, आदि अनेकानेअक क्रांतिकारी विचारों का संस्थापन कर आध्यात्मिक जगत में बहुत बड़ी हलचल पैदा की।

भगवान् महावीर के जीवनकाल में और उनके निर्वाण के अनन्तर भी उनके अनेकानेक क्रांतिकारी विचारों का घोर विरोध हुआ। उनके समय में छ: अन्य धर्म प्रवर्तक भी अपने आप को तीर्थंकर घोषित करते थे। इस प्रकार एक समय में उस सीमिति से क्षेत्र में अनेक तीर्थंकरों की उपस्थिति से जहाँ एक ओर धार्मिक जागृति का परिचय मिलता है, वहाँ दूसरी तरफ विचारों का बड़ा भारी विरोध, खण्डन-मण्डन और और दुरूहता भी प्रकट होती है। उस समय उस क्षेत्र में भगवान् महावीर का बहुत बड़ा प्रभाव था। उनकी हजारों की शिष्य सम्पदा तथा लाखों उपासकों का समूह इस बात के उदाहरण कहे जा सकते हैं। बाहर के विरोधों के साथ-साथ भगवान् को स्वयं अपने ही शिष्यों द्वारा किये गये विरोधों का भी सामना करना पड़ा। भगवान् के मुक्त होने के पश्चात् भी उनके सिद्धान्तों का कई प्रशिष्यों ने विरोध किया था। यों पहले और पीछे के विरोधों को मिलाकर सात बार तक के विरोधों का कथन तो स्वयं आगम ग्रन्थों में संगृहीत है।[2] विचार भेद को लेकर अनेक शिष्यों का अपना अलग-अलग विपक्ष तैयार कर लेना भगवान् महावीर के क्रांतिकारी विचारों की प्रतिक्रिया की ही एक झाँकी उपस्थित

---

१. देखिये ऊपर खण्ड २ पृ० १–५, 'भगवान् ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता' नामक लेख।

करता है। क्रिया की सबलता के अनुरूप प्रतिक्रिया भी हुआ करती है, परन्तु क्रान्तिवाहक के सिद्धान्तों की दृढ़ता तथा प्ररूपण की उपयोगी पद्धति के सामने कोई भी प्रतिक्रिया सफल नहीं हो सकती। अतः वे सब-के-सब काल-कवलित होकर निःशेष हो गये।

भगवान् महावीर का धर्मसंघ एक बहुत विस्तृत धर्मसंघ था। उनके श्रमणों की गणना हजारों से ऊपर थी। गणधरों के माध्यम से उस श्रमण वर्ग की व्यवस्था व अध्ययन होता था। महावीर के उपदेशों को धारण करने वाले एकादश गणधर थे जिन्होंने उनकी सम्पूर्ण वाणी को आगमों के रूप में गुम्फित किया। एकादश गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गण-धर थे। वे भगवान् महावीर की विशाल शिष्य सम्पदा के प्रधान शिष्य होने के साथ ही आचार, ज्ञान तथा चरित्र आदि में भी सबसे महान् थे। आगमों में प्रायः सर्वत्र उनका पुनः-पुनः नामोल्लेख तथा महत्व प्रदर्शित हुआ है। हर स्थान में और हर कार्य में उनकी अग्रगामिता प्रकट होती है।

जैन आगम गद्य तथा पद्य दोनों ही रूपों से अपनी ज्ञान-स्रोतस्विनी प्रवाहित करते हैं। उनके पर्याप्त स्थल प्रश्नोत्तरों तथा संवादों के रूप में हैं। लगता है जैन आगमों में प्रश्नोत्तरों के रूप में तत्त्व, धर्म, दर्शन और विज्ञान का प्रकटीकरण करके लेखन के क्षेत्र में एक विशिष्ट वर्ग का ही प्रादुर्भाव कर दिया गया है। गहन गंभीर विषयों को साधारण से साधारण व्यक्ति भी हृदयंगम कर सके, संभवतः इसीलिये गणधरों ने उस ज्ञान को इस नवीन प्रकार से उपस्थित किया है। ऐसे भी जैनों के सम्पूर्ण आगम साहित्य में सरलता पर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है। कुछ तात्त्विक तथा दार्शनिक स्थलों पर प्रारम्भ में कहीं-कहीं पर दुरूहता का आभास भी हो सकता है; पर कुछ अभ्यास के पश्चात् वहाँ भी पाठक को सरलता और सरसता ही दीख पड़ेगी। जहाँ संवादों का क्रम अपनाया गया है, वहाँ तो समतल भूमि पर बहती हुई जलधारा के समान यह क्रम और भी अधिक सरल बन गया मालूम होता है।

भगवान् महावीर जिस किसी भी ग्राम, नगर या उद्यान में प्रवास करते, वहाँ धर्म देशना, तत्त्वचर्चा आदि विभिन्न प्रसंग चलते ही रहते थे। उस अवसर पर समागत जन जिज्ञासा-शान्ति, ज्ञान लाभ तथा जीवन सम्बल के लिये अनेक बहुमूल्य विचार प्राप्त करते थे। इसके अलावा अवशेष समय में गणधर गौतम का शंका-समाधान चलता रहता था। वे हर विषय की बातों को जानने की उत्कट अभिलाषा लिये रहते थे। नवागन्तुक लोगों के विषय में सूक्ष्म जानकारी प्राप्त करना; उनके भूत और भविष्य के जीवनों की अनेकानेक घटनाओं का सम्बन्ध जानना तो उनका अत्यन्त रुचिपूर्ण विषय था। किसी को ऋद्धि सम्पन्न, दुःखार्त या कोढ़ आदि भयंकर रोगों से पीड़ित देखते, तो उनका मन इन विचित्रताओं का मूल कारण समझने के लिये जिज्ञासा और कौतूहल से भर जाता। वे भगवान् महावीर के पास पहुँचते। घुटने टेककर सविधि वन्दन करते और पूछते— भगवन् ये लोग किन कारणों को लेकर ऐसी स्थिति को प्राप्त हुए हैं। भगवान् महावीर पूर्वतन भवों की घटनाओं का वर्णन करते हुए कहते—गौतम ! इन्होंने पूर्वजन्म में ऐसे-ऐसे कृत्य किये थे, इसलिये आज इस स्थिति को प्राप्त हुए हैं। बौद्धग्रंथों में भी इस प्रकार के संवाद पाये जाते हैं। स्वयं महात्मा बुद्ध के जीवन से संबद्ध संवाद भी हैं। उनके पूर्व जीवन पर प्रकाश डालने वाला एक संवाद इस प्रकार है—एक बार बुद्ध श्रमण-समूह के साथ कहीं जा रहे थे। उस समय अकस्मात् एक तीक्ष्ण शूल उनके पैर में चुभा। तदन्तर साथ के श्रमणों ने पूछा—भन्ते ! यह शूल किस कारण से चुभा ! बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म का संबंध बताते हुए कहा :—

इत एक नवति कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः।
तेन कर्म विपाकेन, पादे विद्धोस्मि भिक्षवः ॥१॥

अर्थात्—यहाँ से एकानवे भव पूर्व मेरे बाण के प्रहार से एक पुरुष मृत्यु को प्राप्त हो गया था, उसी कर्म विपाक के फल-स्वरूप आज मेरा यह पैर बींधा गया।

जैनागमों में अधिकांश संवाद अकेले गौतम के ही मिलते हैं। अवशेष संवादों में अन्य साधुओं, उपासकों एवं समागत जनों का सम्बन्ध रहा है। सम्पूर्ण भगवती सूत्र तो एक प्रकार से संवाद सूत्र ही बना हुआ है। भगवती सूत्र उपलब्ध जैना-गमों में सबसे बृहत् सूत्र है। उसमें गांगेय आदि के कुछ संवादों को छोड़कर शेष सारे संवादों में गणधर गौतम प्रश्न पूछते हैं और महावीर उनके उत्तर देते हैं।

इन संवादों में अनेक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। उनमें कहीं भाषा की सूक्ष्म गुत्थियों का विश्लेषण है, कहीं तात्त्विक

अन्वेषण परिलक्षित होता है, कहीं ऐतिहासिकता निखार लेती है, तो कहीं आज के विकासोन्मुख विज्ञान के लिये नवीन सामग्री तथा चुनौती भी उपस्थित होती पाई जाती है। आध्यात्मिकता तो जैन आगमों का मूल प्रतिपाद्य ही है, इसलिये संवादों में सर्वत्र उसका असाधारण स्थान रहता है। उनके संवादों में जैन-दर्शन के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ ही साथ अन्य दर्शनों का भी प्रसंगोपात्त विवेचन हुआ है। कुछ स्थानों पर तो प्राकृतिक दृश्यों को लेकर ऐसे प्रश्नोत्तर चले हैं, जहाँ एक बालक भी अपनी जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। समग्र संवादों का निरीक्षण करने पर ऐसा अनुभव होता है कि गणधर गौतम ने केवल अपनी जानकारी के लिए ही ऐसा नहीं किया, बल्कि जन-साधारण की जिज्ञासा शान्त करने तथा उपकार बुद्धि से प्रेरित होकर दूसरे के कल्याणार्थ उन्होंने ऐसा किया है। यहाँ उनके कुछ संवाद प्रस्तुत किये जा रहे हैं :—

भाषा का रहस्य:—

भगवन् ! जो चल रहा है, वह चला गया ? जो उदीर्यमान है, वह उदीरा जा चुका ? जो कर्म वेदा जा रहा है, वह वेदा गया ? जो पड़ रहा है। वह पड़ा ? जो छेदा जा रहा हो, वह छेदा गया ? जो भेदा जा रहा हो, वह भेदा गया ? जो जल रहा हो वह जला, जो मर रहा हो, वह मरा ? और जो निर्जीर्ण हो रहा हो, वह निर्जरा ? क्या ऐसा कहा जा सकता है ? गौतम ! जो चल रहा है, वह चला गया; इत्यादि कहा जा सकता है।

उपर्युक्त कथन भाषा के रहस्य को स्पष्ट करने वाला है। यों तो यह प्रश्न और यह उत्तर बहुत साधारण सा और कुछ नहीं जँचता हुआ सा लगता है। परन्तु इसके पीछे यह सिद्धान्त छिपा हुआ है कि भाषा में 'क्रियमाण' (वर्तमान समय में चालू कार्य) को कृत भी कहा जाता है। जैसे कि कपड़े का कोई छोर जलने लगता है, तब कहा जाता है कि 'कपड़ा जल गया'। दिल्ली जाने के लिये रेल पर चढ़ाकर लौटने वाले व्यक्ति के विषय में कहते हैं—वह तो दिल्ली गया है। इस प्रकार के भाषा-प्रयोग होते ही रहते हैं, किन्तु ये सब सत्यभाषी के लिये आदरणीय हैं अथवा नहीं ? उपर्युक्त संवाद इसी प्रश्न का उत्तर है। भगवान् महावीर ने इस लोक प्रचलित शब्द पद्धति को स्वीकार किया है। इसका यह तात्पर्य तो कदापि नहीं है कि ऐसा ही कहा जाये, अन्यथा नहीं। किन्तु यह अवश्य है कि ऐसा भी कहा जा सकता है। ऐसा प्रयोग करने वाले कोई असत्य का पोषण नहीं करते। यदि इसे असत्य कहा जायेगा तो फिर गाम आ गया, यह सड़क कलकत्ता जाती है, यह चीनी की मिल है, यह कमीज का कपड़ा है, आदि प्रयोग भी असत्य ठहरेंगे पर ऐसा नहीं माना जा सकता। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का एक माध्यम है और इन उपर्युक्त प्रयोगों से भी कहने वाले स्पष्टतः अपने भाव दूसरों तक पहुँचाते हैं।

मोक्षमार्ग और जीव का साहचर्य :—

भगवन् ! ज्ञान ऐहभविक है, पारभविक है या तदुभयभविक ?

गौतम ! ज्ञान ऐहभविक भी है, पारभविक भी है और तदुभयभविक भी।

भगवन् ! दर्शन ऐहभविक है, पारभविक है या तदुभयभविक ?

गौतम ! दर्शन ऐहभविक भी है, पारभविक भी है और तदुभय भविक भी।

भगवन ! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक है या तदुभय भविक ?

गौतम ! चारित्र ऐहभविक है, पारभविक और तदुभय भविक नहीं है।

तप और संयम के विषय में भी चारित्र की तरह ही जानना चाहिए। (भ० सू०, शतक १, उद्देशक १)।

इस संवाद में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप मोक्ष मार्गों की जीव के साथ साहचर्य की सीमा बताई गई है। ऐहभविक अर्थात्—जो केवल इसी एक भव-जन्म में साथ रहता हो। पारभविक अर्थात्—जो इस भव के बाद परभव में भी साथ रहता हो। तदुभयभविक अर्थात्—जो इस भव, पर भव और परतर भव—तीसरे-चौथे आदि भवों में भी साथ रहता हो। ज्ञान उपर्युक्त तीनों ही प्रकार का होता है। अर्थात्—कुछ ज्ञान ऐसे होते हैं, जो केवल इसी जन्म से सम्बन्धित होते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो इस जन्म तथा पर जन्म तक साथ निभाते हैं; और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो जन्म-जन्मान्तरों तक साथ रहते हैं। दर्शन भी ज्ञान की तरह ही तीनों प्रकार का होता है।

चारित्र के विषय में ऐसी बात नहीं है। वह केवल ऐहभविक है। इस भव का चारित्र इतर भवों में नहीं जाता, क्योंकि 'न हि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्री भवति,' अर्थात् मनुष्य जहाँ जिस चारित्र से चारित्रवान हुआ है, उसी से वह परभव में चारित्री नहीं होता। चारित्र में जो सावद्य विरति होती है, वह इस जीवन के साथ ही समाप्त हो जाती है,

क्योंकि मरने के बाद चारित्री व्यक्ति या तो स्वर्ग में जाते हैं या मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं । स्वर्ग में सावद्य प्रवृत्तियों के परित्याग का सम्पूर्ण अभाव होने से वहाँ चारित्र होना संभव नहीं है और मोक्ष में शरीर का अभाव न होने से अनुष्ठान रूप चारित्र का योग नहीं होता । यह निश्चित है कि चारित्र सदा अनुष्ठान रूप ही हो सकता है और अनुष्ठान के लिए शरीर की आवश्यकता होती है । अतः 'सिद्धे नो चरित्ती' अर्थात् मोक्षगत जीव चारित्री नहीं होता । इस प्रकार सकल चारित्री का चारित्र भी इस भव तक ही परिमित रहता है ।

तप और संयम चारित्र के ही भेद हैं । अतः वे भी चारित्र की तरह ऐहभविक ही हैं, पारभविक और तदुभयभविक नहीं । यहाँ चारित्र से संयम का जो पृथक् कथन किया गया है, वह सर्व विरति तथा देश विरति की भेद विवक्षा से समझना चाहिए ।

असंयत, अविरत और देवत्व प्राप्ति :—

भगवन् ! असंयत, अविरत तथा अप्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मा—जिसने पाप कर्मों का प्रतिहनन और प्रत्याख्यान नहीं किया है—क्या ऐसा जीव यहाँ से मरकर परजन्म में देवत्व प्राप्त कर सकता है ?

गौतम ! उनमें से कितने ही जीव देव होते हैं और कितने ही नहीं ।

भगवन् ! ऐसा आप किस हेतु से कहते हैं कि अंसयत, अविरत, और पापकर्मों का प्रतिहनन और प्रत्याख्यान नहीं करने वाले कोई जीव परलोक में देव होते हैं और कोई नहीं ? गौतम ! जो जीव ग्राम, आकर, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडम्ब, द्रोणमुख, पट्टन, आश्रम, सन्निवेश में अकाम तृषा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्यवास, अकाम-शीत, आतप दंश-मशक तथा अकाम अस्नान-स्वेद-जल्ल-मल्ल-पंक परिदाह के द्वारा अल्प या अधिक समय के लिये अपनी आत्मा को परिक्लेशित करते हैं; वे काल समय में काल प्राप्त करके वानव्यन्तर देवलोक के किसी देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं । हे गौतम ! इसी कारण से मैंने यह कहा है कि कोई असंयत, अविरत और अप्रतिहत प्रत्याख्यात कर्मा जीव यहाँ से च्युत होकर प्रेत्य में देव होते हैं और कोई नहीं भी होते । (भगवती शतक १, उद्देशक १) ।

भगवान् महावीर ने जैनागमों में तीन प्रकार के प्राणियों का प्रतिपादन किया है—१. संयत २. संयतासंयत ३. असंयत ।

जो हिंसा आदि पाप कर्मों से जीवनपर्यन्त के लिए प्रत्याख्यान कर निवृत्त हो जाता है, वह संयत या विरत कहलाता है । जो आंशिक रूप से निवृत्त होता है, वह संयतासंयत या विरताविरत कहलाता है और जो बिलकुल ही निवृत्त नहीं होता, वह असंयत या अविरत कहलाता है ।

उपर्युक्त प्रसंग में तृतीय श्रेणी वाले पुरुष के लिए पूछा गया है कि असंयत—जिसने जीवन में कभी कोई प्रतिज्ञा, नियम या व्रत आदि नहीं लिया, क्या वह भी देवत्व प्राप्त कर सकता है ? भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार के व्यक्तियों में से भी कुछ व्यक्तियों के जीवन में कुछ न कुछ सुकृतकार्य होता ही है, चाहे फिर वह कार्य बिना किसी निश्चित इरादे या इच्छा के ही क्यों न हुआ हो, बहुधा लोक-लज्जा या सामाजिक विवशता से भी सम्यक् कार्य के लिये प्रेरित होना पड़ता है । ऐसी स्थिति में किये गये कार्यों का फल बहुत कुछ मंद जरूर हो जाता है, फिर भी अच्छे कार्य की कुछ न कुछ अच्छाई तो रहती ही है, जो कि उसे देवत्व की प्राप्ति करा देती है ।

सत्संग से सिद्धि :—

भगवन् ! संतजनों की पर्युपासना का क्या फल है ?

गौतम ! संतजनों की पर्युपासना करने से सत्शास्त्र श्रवण का लाभ होता है ।

भगवन् ! उस श्रवण का क्या फल है ?

गौतम ! साधारण जानने के अनन्तर विज्ञान-विस्तीर्ण विवेचन पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

भगवन् ! विज्ञान का क्या फल है ?

गौतम ! उसका फल दुष्प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान है ।

भगवन् ! उस प्रत्याख्यान का क्या फल है ?

गौतम ! उससे सर्वस्व त्यागरूप संयम प्राप्त होता है ।

भगवन् ! संयम का क्या फल है ?

गौतम ! विशुद्ध संयम की प्राप्ति से व्यक्ति अनाश्रव हो जाता है। पुण्य और पाप उसे अपने बंधन में जकड़ नहीं पाते। आत्मा अपने विशुद्ध रूप की ओर अग्रसर होती है।

भगवन् ! आश्रव निरोध का क्या फल है ?

गौतम ! अनाश्रव का फल तप है।

भगवन् ! तप का क्या फल है ?

गौतम ! तप का फल व्यवदान-संचित कर्म मल को साफ कर देना है।

भगवन ! व्यवदान का क्या फल है !

गौतम ! उससे समस्त प्रकार की क्रियाओं का निरोध होकर व्यक्ति अक्रिय बन जाता है।

भगवन् ! अक्रियता का क्या फल है ?

गौतम ! अक्रियता का फल सिद्धिपर्यवसान—सब फलों का अन्तिम फल सिद्धि है (भ०सू०, शतक २, उद्देशक ५)।

इस संवाद क्रम में छोटे-छोटे प्रश्न रखे गये हैं और थोड़े से शब्दों में ही उनका प्रत्युत्तर दिया गया है। इन संवादों में सत्संग महात्म्य को सैद्धांतिक और दार्शनिक ढंग से अति संक्षेप में वर्णन किया गया है। सत्संग से व्यक्ति में जो परिवर्तन आरम्भ होता है, उस शृंखला की अन्तिम कड़ी सिद्धि होती है। मध्य की मुख्य-मुख्य कड़ियों का भी यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है।

ज्ञान श्रेय है या शील :—

भगवन् ! कुछ अन्य धर्मी ऐसा कहते हैं—शील ही श्रेय है; कुछ कहते हैं—ज्ञान ही श्रेय है; कुछ कहते हैं—परस्पर निरपेक्ष रूप से शील और ज्ञान दोनों ही श्रेय हैं ? (भगवती, शतक ८, उद्देशक १०)।

यह संवाद एक बहुत ही महत्वपूर्ण तथ्य का स्पष्टीकरण करता है। हमारे दैनन्दिन व्यवहार में बहुधा इस प्रकार के प्रसंग आते हैं, जब यह सुना जाता है कि ज्ञान हो या न हो; पण्डित बनें या न बनें पर आचारवान् होना चाहिए। हमारे यहाँ यह कहावत भी बहुत विश्रुत है कि आचार का महत्व निन्नानवें रुपयों के समान है जब कि ज्ञान का एक रुपये के समान। 'आचारः प्रथमो धर्मः' यह कथन भी आचार की ही प्राथमिकता को पुष्ट करता है। दूसरी ओर यह भी एक तर्क है कि दशवैकालिक में ज्ञान को प्राथमिकता देते हुए कहा गया है—

'पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं॥"

अर्थात्—पहले ज्ञान की आवश्यकता है, धर्म, दया आदि क्रियाएँ उसके बाद ही संभव हैं। अज्ञानी व्यक्ति कर ही क्या सकता है, उसे अपने श्रेय और अश्रेय का भी पता नहीं होता। इस प्रकार आवश्यकतानुसार कभी ज्ञान पर अधिक बल दिया जाता है, तो कभी आचार पर। किन्तु इस प्रकार के कथनों में केवल व्यवहार की प्रमुखता होती है, जब कि तात्त्विकता उससे कुछ भिन्न होती है। यहाँ उस विषय पर तत्त्व-दृष्टि से विचार किया गया है। यह विवरण जनसाधारण के लिए सुगम ही नहीं बना है, अपितु उचित दृष्टि का निर्माण करने वाला भी बना है। न अकेले ज्ञान का ही महत्व है और न अकेली क्रिया का ही; पूर्णता के लिये तो दोनों का युगपत् होना आवश्यक है।

इस प्रकार संवादों में विभिन्न विषयों के प्रश्नोत्तरों का समावेश है। इनको विषय क्रम से संगृहीत किया जावे, तो उनसे विशेष लाभ हो सकता है। इस समय संसार के वैज्ञानिक परमाणु तथा जीवन सम्बन्धी विभिन्न अन्वेषणों में लगे हुए हैं। जैनागमों में परमाणु-विज्ञान तथा जीव विज्ञान के विषय में बहुमूल्य सामग्री बिखरी हुई है। उन्हें एकत्रित करना तथा उन पर गवेषणापूर्ण विचार करना एक श्रमसाध्य कार्य अवश्य है, पर यह है बहुत ही लाभदायक; इसमें सन्देह नहीं। आज का युग प्रयोग-प्रधान है। इसमें हर वस्तु की प्रामाणिकता साक्षात् प्रयोग और गहन अनुसंधान के पश्चात् ही स्वीकार की जाती है। यह बात परमाणु तथा जीव, दोनों ही विषयों पर लागू होती है। वैज्ञानिकों ने जिस अणु का स्फोट किया है, जैनागमों की दृष्टि से वह बहुत स्थूल है। उसमें अभी बहुत अधिक सूक्ष्मतर विभाजन व स्फोट की संभावना है। स्फोट किया जानेवाला परमाणु वस्तुतः अनंत परमाणुओं का एक पिण्ड मात्र है। इसी प्रकार जीव-विज्ञान में भी जैनागमों में अनेक प्रकार की श्रेणियाँ की गई हैं। इन्द्रियों को आधार मानकर जो श्रेणी की गई है, उसके अनुसार जीव पाँच प्रकार के माने गये हैं। एक इन्द्रिय वाले जीवों से लेकर पाँच इन्द्रिय वाले जीव होते हैं। इनमें केवल एक इन्द्रिय वाले जीवों को छोड़ कर शेष सब ही

दृष्टिगोचर हो सकते हैं। अतः उनके जीवत्व के विषय में प्रायः कोई दो मत नहीं हो सकते। एकेन्द्रिय जीव ही ऐसे हैं, जिनके जीवत्व के विषय में निःसंदेह ज्ञान, वैज्ञानिकों को भी अभी तक नहीं हो पाया है। वनस्पति की सजीवता भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र बसु ने अवश्य सिद्ध की थी, परन्तु जैनागमों के अनुसार पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति—ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं। इनके सिर्फ एक शरीरेन्द्रिय ही होती है। भय, रोग, शोक आदि स्थितियों के उत्पन्न होने पर ये प्राणी अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र स्थानान्तरित होने का सामर्थ्य नहीं रखते, इसलिये इन जीवों को 'स्थावर' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यहाँ हम उन एकेन्द्रिय जीवों के विषय में कुछ संवाद प्रस्तुत करते हैं :—

(१) पृथ्वी कायिक जीवों की स्थिति :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति कितने काल तक होती है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट २२ हजार वर्ष की होती है (भ० सू०, शतक १, उद्देशक १)।

(२) पृथ्वीकायिक जीव आहार करते हैं :—

भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक जीव आहारार्थी होते हैं ?

गौतम ! हाँ, वे आहारार्थी होते हैं।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के कितने काल से आहार की अभिलाषा होती है।

गौतम ! उनके निरन्तर आहार की अभिलाषा रहती है। (भ० सू०, शतक १, उद्देशक १)

(३) एकेन्द्रिय जीवों के भी उच्छ्वास निःश्वास :—

भगवन् ! ये जो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव हैं; उनके आनाम-प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास जानते हैं, देखते हैं, पर पृथ्वीकायिक, वायुकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं, उनके आनाम-प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास नहीं जानते हैं, नहीं देखते हैं। क्या भगवन् ! ये जीव आनाम- प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं ?

हाँ, गौतम ! पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव भी आनाम-प्राणाम, उच्छ्वास-निःश्वास लेते हैं

(भ० सू०, श० २, उद्दे० १)।

ज्ञान और दर्शन :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा ज्ञानस्वरूप है या अज्ञान स्वरूप ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा नियम से अज्ञानी है और उनका अज्ञान भी नियम से आत्मरूप है।

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा दर्शन रूप है या दर्शन उनसे अन्य है ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की आत्मा नियम से दर्शन रूप है और दर्शन भी नियम से आत्मा है। गौतम ! इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीवों की आत्मा को समझो (भ० सू०, शतक १२, उद्देशक १०)।

वेदना का अनुभव :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक शीत वेदना का अनुभव करते हैं, उष्ण वेदना का अनुभव करते हैं या शीतोष्ण वेदना का ?

गौतम ! शीत वेदना का भी अनुभव करते हैं, उष्ण वेदना का भी अनुभव करते हैं और शीतोष्ण वेदना का भी।

भगवन् ! पृथ्वी कायिकादि शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं, मानसिक वेदना का अनुभव करते हैं या शारीरिक-मानसिक वेदना का ?

गौतम ! वे केवल शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। अवशेष का नहीं; क्योंकि उनके मन का अभाव है।

भगवन् ! पृथ्वीकायिकादि दुःख रूप वेदना का अनुभव करते हैं, सुख रूप वेदना का अनुभव करते हैं या दुःख-सुख रूप वेदना का ?

गौतम ! वे तीनों वेदनाओं का अनुभव करते हैं। (भ० सू०, शतक १०, उद्देशक २)।

कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं :—

भगवन् ! वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ! नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या तिर्यंचों से ; मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या देवों से ?

गौतम ! पृथ्वीकायिक और वनस्पतिकायिक जीव नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, पर तिर्यंच, मनुष्य या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। अप्कायिक, तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव तिर्यंच और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं; नैरयिक और देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते। (भ० सू०, शतक १९, उद्देशक ३)।

वायुकायिक जीवों का उत्पत्ति स्थान :—

भगवन् ! अधिकरणी (एरण) पर (हथौड़ा मारते समय) वायुकाय उत्पन्न होता है ?

हाँ, गौतम ! होता है। (भ० सू०, शतक १६, उद्देशक १)।

भगवन् ! अंगारकारिका-सिगड़ी में अग्निकाय कितने काल तक रहता है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से तीन रात्रि-दिवस रहता है और वहाँ अन्य वायुकाय जीव भी उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वायुकाय के बिना अग्निकाय प्रज्वलित नहीं होता। (भ० सू०, शतक १६, उद्देशक १)।

वनस्पतिकाय सब से सूक्ष्म :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव, इनमें से कौन-सी काय सबसे सूक्ष्म है और कौन-सी सूक्ष्मतर ?

गौतम ! वनस्पतिकाय सबसे सूक्ष्म है और सूक्ष्मतर है। (भ० सू०, शतक १९, उद्देशक ३)।

शरीर की सूक्ष्मता :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों की शरीर अवगाहना कितनी बड़ी कही है ?

गौतम ! एक चातुरंत चक्रवर्ती राजा की चन्दन घिसने वाली दासी हो, वह तरुणी, बलवान्, युगवान्, निरोग और अत्यन्त कलाकुशल हो, वह दासी चूर्ण बाँटने की वज्रमय कठोर शिला पर, वज्रमय कठोर पाषाण द्वारा लाख के पिण्ड जितने बड़े पृथ्वीकाय के पिण्ड को ले, उसे बार-बार एकत्रित कर थोड़ा-थोड़ा करके पीसे और तुरंत ही बाँट डालूँगी ऐसे जोश से इक्कीस बार पीसे, तो भी हे गौतम ! उनमें से कितने ही पृथ्वी कायिक जीवों का उस शिला और पाषाण का स्पर्श होता है, कितनों ही का नहीं होता; कितनों ही का संघर्ष होता है कितनों ही का नहीं होता; कितनों ही को पीड़ा पहुँचती है; कितनों ही को पीड़ा नहीं पहुँचती; कितने ही मरते हैं, कितने ही नहीं मरते; कितने ही पिसते हैं, कितने ही नहीं पिसते। हे गौतम ! पृथ्वीकायिक जीवों की ऐसी ही बड़ी शरीर-अवगाहना कही गई है। (भ० सू०, शतक १९, उद्देशक ३)।

वेदना का अनुभव :—

भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर, दबने पर कैसी वेदना का अनुभव करते हैं ?

गौतम ! यदि कोई बलवान्, निपुण, कलाकुशल तरुण पुरुष, जीर्ण, जरा जर्जरित, दुर्बल और क्लान्त शरीरवाले मनुष्य के शरीर पर अपने दोनों हाथों से प्रहार करे, तो हे गौतम ! उस तरुण पुरुष के द्वारा मस्तक पर दोनों हाथों से प्रहार किया जाता हुआ वह दुर्बल मनुष्य कैसी वेदना का अनुभव करता है !

हे आयुष्यमान् श्रमण ! वह वृद्ध जरा जर्जरित पुरुष अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है।

हे गौतम ! पृथ्वीकाय के जीव दबने पर उस पुरुष की वेदना से अनिष्टतर, अधिक अप्रिय और अधिक अमनाप-अनभीष्ट वेदना का अनुभव करते हैं। (भ० सू०, शतक १९, उद्देशक ३)।

भारतीय तत्त्व ज्ञान में सर्वोदयी विचारधारा

(ले०—उपा० अमर मनि)

धर्म दर्शन और विज्ञान :—

धर्म, दर्शन और विज्ञान—परस्पर सम्बद्ध हैं, अथवा एक दूसरे से सर्वथा विपरीत हैं ? मानव जीवन के लिये तीनों बातें कहाँ तक उपयोगी हैं ? मैं समझता हूँ कि ये सब प्रश्न आज नहीं तो कल अवश्य अपना समाधान माँगेंगे —मांग चुके हैं। धर्म और दर्शन में तो आज ही नहीं युग युगसे साहचर्य रहा है। आज भी है। धर्म का अर्थ है—आचार। दर्शन का अर्थ है—विचार। भारतीय धर्मों की प्रत्येक शाखा ने आचार और विचार में, धर्म एवं दर्शन में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। गीता में सांख्य बुद्धि और योग कला का सुन्दर समन्वय किया गया है। बौद्धों में हीनयान और महायान-आचार तथा विचार क्रमिक विकास के बीजभूत हैं। हीनयान धर्म (आचार) प्रधान रहा, तो महायान दर्शन (विचार) प्रधान बन गया। जैनों में धर्म और दर्शन के नाम पर, आचार तथा विचार को लेकर सांख्ययोग एवं हीनयान महायान जैसे स्वतंत्र विभेद तो नहीं पड़ सके, क्योंकि एकान्त चार तथा एकान्त विचार जैसी वस्तु अनेकान्त में कथमपि सम्भावित ही न थी। आचार्यों ने आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त पर विशेष बल दिया अवश्य, फिर भी यहाँ धर्म और दर्शन अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित नहीं कर सके। दोनों का गंगा-यमुनी रूप ही अनेकान्त में फिट बैठ सकता था। अब रही विज्ञान की बात। विज्ञान है क्या ? यदि सत्य का अनुसंधान ही वास्तव में विज्ञान हो, तो वह भी दर्शन की एक विशेष पद्धति ही का नामान्तर होगा। यदि वहाँ भेद जैसी कोई चीज आवश्यक हो, तो मात्र इतना भेद किया जा सकता है कि विचार के दो पक्ष होंगे—एक अध्यात्म, दूसरा भौतिक अनुसंधान। अन्दर की खोज और बाहर की खोज। पहला दर्शन कहा जायगा और दूसरा विज्ञान। परन्तु आखिर, धर्म, दर्शन और विज्ञान-तीनों एक दूसरे के पूरक ही हैं, विघटक नहीं। इस अर्थ में वे तीनों एक दूसरे से सम्बद्ध ही कहे जा सकते हैं।

धर्म और दर्शन किंवा आचार और विचार का समन्वय आज ही,नहीं युग-युगान्तर से अभीष्ट रहा है–भारतीय परम्परा में। कृष्ण ने जिस शाश्वत तत्त्व को कर्मयोग एवं ज्ञानयोग कहा, महावीर ने उसी को अहिंसा तथा अनेकान्त कहा। गांधी ने उसी तत्त्व को एक शब्द से कह दिया—"सर्वोदय"। द्वैत में अद्वैत की खोज, निज में जिनत्व का अनुसंधान और पर में स्व की अनुभूति का नाम ही सर्वोदय है। प्राणिमात्र में समानता का आधार ही सर्वोदय की जन्मभूमि है। सर्वोदय आखिर है क्या। सब का उदय, सब का उत्कर्ष, सब का विकास और सब का कल्याण ही तो सर्वोदय है। सर्वोदय आज का धर्म नहीं, भारतीय संस्कृति का तो यह मूल स्वर है। भारत के प्राचीन साहित्य में सर्वोदय के बीज बिखरे पड़े हैं।

१. "सब सुखी रहें। सब स्वस्थ रहें। सब के सब कल्याण भागी बनें, कोई कभी दुखी न हो।"[1]

२. "सब जीव मुझको क्षमा करें। मैं भी सबको क्षमा करता हूँ। सब के साथ मेरी मित्रता है। किसी पर भी मेरा वैर-भाव नहीं है।"[2]

विश्वात्मा की भव्य भावना भारतीय साहित्य के पृष्ठों पर आज ही अंकित नहीं हुई है। गांधीजी इस भावना के स्रष्टा नहीं, उपदेष्टा थे। भारतीय वाङ्मय में ऐसे उल्लेख हैं, जिनमें गांधीजी से बहुत पूर्व ही "सर्वोदय" शब्द अंकित हुआ है। सर्वोदय शब्द का प्रयोग आचार्य समन्तभद्र की वाणी में हो चुका है।

१–सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभागभवेत् ॥

२–खामेमि सव्वे जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे
मेत्ती मे सव्व भूएसु, वेरं मज्झं न केण इ ॥

सर्वोदय का ध्येय बिन्दु :—

जैन परम्परा के महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान के धर्मशासन को सर्वोदय कहा है। तीर्थंकर का धर्मशासन एक ऐसा शासन है, जिसमें सब का उत्कर्ष है, सब का उदय है, सब का विकास है। अन्त कभी नहीं होता। वह समस्त आपदाओं का अन्तकर है।"[1]

सर्वोदय मानता है कि सब का उदय कोरा स्वप्न, कोरा आदर्श नहीं है। वह आदर्श अवश्य है, किन्तु व्यवहार के योग्य है। उसे जीवन में उतारा जा सकता है। सर्वोदय का आदर्श ऊँचा है, यह ठीक है, परन्तु न तो वह अप्राप्य है और न असाध्य। हाँ, प्रयत्न साध्य अवश्य है। सर्वोदय का आदर्श है विश्वात्मवाद और उसकी नीति है समन्वय। मानव निर्मित समस्त विषमताओं का वह निराकरण करना चाहता है तथा प्राकृतिक समस्याओं का भी वह बौद्धिक समाधान करना चाहता है। प्रकृति पर विजय वह भौतिक रूप में चाहता है। अतः वह विचार की उच्चता के साथ आचार की पवित्रता का भी प्रबल समर्थक है। सर्वोदयी सिद्धान्त में जीवन एक विज्ञान भी है, एक कला भी। जीवमात्र के प्रति समादर की भावना, यह सर्वोदय का मुख्य ध्येय है। प्राणिमात्र के लिए सहानुभूति रूप अमृत (Milk of human sympathy) जब मानवी जीवन में प्रवाहित होता है, तब सर्वोदय की भूमि में से कल्पवृक्ष अंकुरित, पल्लवित एवं फलित होते हैं। सर्वोदय राजनीति में नहीं, लोकनीति में विश्वास लेकर उठा है। क्योंकि राजनीति में शासन मुख्य है, लोकनीति में अनुशासन। सर्वोदय की पावन प्रेरणा है कि शासन से अनुशासन की ओर, सत्ता से स्वतन्त्रता की ओर तथा दमन से आत्म संयम की ओर बढ़े चलो। यह अधिकार पर नहीं, कर्तव्य पालन पर बल देता है। हृदय परिवर्तन, जीवन शोधन, साधन शुद्धि और प्रेम का अधिकतम विस्तार ही सर्वोदय है।

सुख दुःख का बँटवारा—

सब के उदय का, सबके उत्कर्ष का अर्थ यही है कि कोई भी सुख किसी एक व्यक्ति या एक वर्ग के लिये न होकर सबके लिये हो। सुख ही नहीं, मानव को दुःख भी बाँटना होगा। तभी समाज में समत्व योग का प्रसार सम्भवित है। जब तक समाज में एक भी व्यक्ति अभावग्रस्त है, भूखा है, दुःखी है, तब तक सच्चे अर्थ में सर्वोदय का समवतार नहीं माना जा सकता। यदि एक वर्ग दूसरे वर्ग का अथवा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का शोषण करता है, तो वह न्याय न होगा। एक की समृद्धि दूसरे के शोषण पर खड़ी नहीं होनी चाहिए। प्रकाश को अपने साम्राज्य का भव्य प्रासाद अन्धकार की नींव पर खड़ा करते किसने देखा ? क्या प्रकाश अन्धकार को अपना आधार बना सकता है ? यदि नहीं, तो शोषण के आधार पर सुख कैसे खड़ा रहेगा ? जब तक समाज में, राष्ट्र में और व्यक्ति में भी शोषण वृत्ति का अस्तित्व किसी भी अंश में है, तो वहाँ सर्वोदय टिक न सकेगा। सर्वोदय में शोषक, शोषक न रहेगा, और शोषित शोषित न रहेगा। सर्व प्रकार के शोषण के विरुद्ध सर्वोदय का एक ही नारा है—"हम शोषक का अन्त नहीं, शोषण वृत्ति का ही अन्त करना चाहते हैं। जब समाज में, राष्ट्र में, व्यक्ति में, शोषण वृत्ति ही न रहेगी, तब शोषण का अस्तित्व ही न रहेगा।" सुख दुःख में, दुःख सुख में पच जायगा। तभी व्यक्ति का, समाज का और राष्ट्र का सभी का, उदय होगा।

सुख है कहाँ ? दुःख है कहाँ ? वस्तुनिष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ। यदि वस्तुनिष्ठ माने जाएँ, तब तो भौतिक साधनों का अधिक-से-अधिक संग्रह सुख का और उसका वियोग दुःख का कारण माना जाएगा। परन्तु बात ऐसी है नहीं। समाज में सम्पन्न भी दुःखी देखा गया है और विपन्न भी कभी सुखी। फिर तो निश्चय ही सुख-दुःख वस्तुनिष्ठ नहीं रहे, आत्मनिष्ठ हो गए। मानव की मनोभूमि में से ही वे उत्पन्न होते हैं और वहीं विलीन भी। अतः सर्वोदय कहता है—सुख-साधनों में आसक्ति मत होने दो, तब स्वतः ही दुःख भी सुख हो जायेगा।

सर्वोदय की विराट भावना—

सर्वोदय "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को लेकर चला है। समग्र विश्व की आत्माएँ एक समान हैं। उनमें ऊँच-नीच का भेद कृत्रिम है, स्वाभाविक नहीं। यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, यह वैश्य है, यह हरिजन है, ये सब भेद मानवकृत हैं।" यह स्वामी है, यह दास है, यह अन्तर भी समाजकृत है। यह नर है, यह नारी है, यह भेद भी वास्तविक नहीं है। शरीर

१—सर्वापदामन्तकरं निरंतं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।

तक ही यह सीमित है। आत्मा में पहुँच कर तो यह भेद भी नहीं ठहरता। भेद में अभेद और अनेकत्व में एकत्व की साधना भी सर्वोदय की एक पद्धति है। जहाँ सब का उदय अभीष्ट है, वहाँ एक का उत्कर्ष अभीष्ट कैसे होगा ? जो व्यक्ति अपना हित चाहता है, उसे चाहिए कि वह दूसरों का हित पहले करे। क्योंकि पर-हित में स्व-हित-निहित रहता ही है। दूसरों को सुख न देकर स्वयं सुखी बनने के प्रयत्न में मनुष्य का गौरव अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। एक सच्चे सर्वोदयी की यह भावना होनी चाहिए—"संपूर्ण संसार का कल्याण हो प्राणी एक-दूसरे के हित में सदा निरत रहे, हमारे समग्र दोष नष्ट हों, यहाँ, सर्वत्र जितने भी जीव है, वे सुखी रहें।"[१]

जब सर्वोदय की यह विराट भावना जन-जीवन में समवतरित होगी, तब मानव मन में से जन्म पानेवाले ये जाति के बन्धन, ये राष्ट्र के बन्धन, स्वार्थ के बन्धन और ये मानवीपन के समस्त बन्धन स्वतः छिन्न-भिन्न हो जाएंगे। मनुष्य 'महतोमहीयान्' बन जायगा। तभी मनुष्य को विश्वात्मा के दर्शन हो सकेंगे। हम भी जीवित रहें, पर साथ में दूसरे भी जीवित रहें। इसी विराट भावना को जन-जन के मन-मन में उतारने का प्रयत्न सर्वोदय कर रहा है। सर्वोदय की सफलता इसी में है कि मानव, मानव पर विश्वास करना सीखे।

दिव्य विचार का प्रसार:—

'विचार और विकार' दोनों की उत्पत्ति मानव मन है। विकार से पतन और विचार से उत्थान होताहै। दूसरों के प्रति विद्वेष की भावना रखना मानव मन का विकार है, तथा सबके प्रति हित दृष्टि रखना एक सुन्दर विचार है। सर्वोदय विकार को विचार में बदलने की एक कला है। जन-जीवन में दिव्य विचारों का प्रसार करना भी सर्वोदय का एक अपना उदात्त विचार ही है। समाज के उत्थान के लिये, व्यक्ति के उत्कर्ष के लिये केवल दिव्य विचारों का प्रसार करके ही सर्वोदय विरत नहीं हो जाता, बल्कि वह आगे बढ़कर कहता है, कि 'विचार को आचार में आने दो'अन्यथा दिव्य विचार भी जीवन में किसी प्रकार का परिवर्तन न ला सकेंगे। भारतीय संस्कृति की एक मात्र यही विशेषता है कि वह आदर्श को केवल आदर्श मानकर ही बैठ नहीं जाती, बल्कि इसे जीवन में उतारने की पद्धति भी बताती है।

राम की मर्यादा, कृष्ण का प्रेम योग, महावीर की अहिंसा एवं अनेकांत, बुद्ध का वैराग्य और गांधी का सत्याग्रह—ये सभी आदर्श हैं। निश्चित रूप में आदर्श हैं। परन्तु वे जन-जीवन में भी उतरे हैं, उतर सकते हैं। राम की मर्यादा केवल राम के साथ ही नहीं मरी, आज भी वह भारतीय जनों के जीवन को प्रेरणा देती है। महावीर की अहिंसा और अनेकान्त केवल महावीर तक ही नहीं रहे, आज भी वे उतने ही उपयोगी हैं। दिव्य विचार कभी किसी एक व्यक्ति में आबद्ध नहीं रह सके हैं। यह हो सकता है कि कभी कोई विचार किसी व्यक्ति विशेष के आचरण से दिव्य बन गया हो, पर वह सम्पूर्ण समाज की संपत्ति है। विचार जब आचरण में आता है, तभी उसमें दिव्यता प्रस्फुटित होती है।

अहिंसा और अनेकान्त—

श्रमण संस्कृति जिस अहिंसा और अनेकान्त की उदात्त भावना का युग-युग से प्रचार एवं प्रसार करती आ रही है, सर्वोदय में भी वहीं तत्त्व संनिहित है। विचार में अनेकान्त , व्यवहार में अहिंसा और समाज में अपरिग्रह —इन सब के सुन्दर योग का नाम ही तो सर्वोदय विचार धारा है।

अहिंसा नागरिक जीवन का और लोक नीति का एक आधारभूत सिद्धान्त है। अहिंसा प्रेम के विस्तार में प्रकट होती है। दूसरे का सुख हमारा सुख है , दूसरे का दुःख हमारा दुःख है। इस सह जीवन की विराट भावना में से ही अहिंसा प्रस्फुटित होती है। जो तेरे लिए कांटा बोता है, उसके लिए तू फूल ही लगा। तुझे फूल ही मिलेंगे, उसे कांटे। परन्तु उसके लिए तू अपने मन में कांटे की भावना मत रख। तेरे फूलों की फसल अगर उसके कांटों से बड़ी होगी, तो निश्चय ही इसमें तेरी सफलता है। फिर तो तेरे आस-पास जो कांटे बिखेरे गये हैं, उनमें से भी गुलाब ही महकेंगे। यही तो अहिंसा तत्त्व का दर्शन है। दूसरे के जीवन में सहायता पहुँचाना अहिंसा है और दूसरे के जीवन में बाधा पहुंचाना हिंसा है। अहिंसा अमृत और हिंसा विष है। जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिए अहिंसा को जीवन में उतरने दो। साध्य शुद्ध हो, यह तो

---

१. शिवमस्तु सर्वजगतः परहित-निरता भवन्तु भूतगणाः।
   दोषाः प्रयान्तु नाशं; सर्वत्र सुखी भवतु लोक:॥

ठीक ही है। परन्तु साधन शुद्धि पर भी पूरा ध्यान देना चाहिए (Take care of the means and the end will takecare of itself.") साधन शुद्ध होगा तो साध्य अपने आप शुद्ध होगा ही।

अनेकान्त का अर्थ है—विचार सहिष्णुता। परमत के प्रति जब तक सहिष्णुता का भाव जागृत नहीं होगा, तब तक सच्चे अर्थ में जीवन का उच्च ध्येय प्राप्त न हो सकेगा। सामाजिक जीवन में विरोध हो जाना सहज है, परन्तु यह विरोध विद्वेष न बन जाए, इसका पूरा-पूरा ध्यान रखना आवश्यक है। विरोध में समन्वय खोजना ही तो अनेकान्त है। समन्वयात्मक जीवन की स्थापना के लिए जीवनगत विरोधों का परिहार हमें करना पड़ता है। व्यक्तिगत विरोध तथा समाजगत विरोध-इन सारे विरोधों का परिहार करने की जो पद्धति है, उसी को अनेकान्त अथवा समन्वय कहा जाता है। सर्वोदय सभी सुविचारों का सुन्दर समन्वय करता रहा है। सत्य क्या है? वह कहाँ है? आदि प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित समाधान समन्वय पद्धति है। यह समन्वय-पद्धति क्या है? जहाँ भी, जिस किसी के पास भी सत्य हो, ग्रहण कर लो। सत्य यदि अपना है, तो भी ठीक और यदि वह पर का है, तो भी ठीक। आठवीं शती के महान् विद्वान् समन्वय तत्त्वदर्शी आचार्य हरिभद्र ने कहा था—

"सत्य कहीं पर भी हो, उसे आदर से ग्रहण कर लो। यदि वह कपिल के पास हो, तब भी सुन्दर है और यदि वह बुद्ध के पास है, तब भी ठीक है। जिसका वचन युक्ति-युक्त हो, युक्ति संगत हो, उसे ग्रहण करना ही चाहिए।"

सर्वोदय का भी भाव हमें इसी भावना पर पहुँचा देता है। सर्वोदय में धर्म, दर्शन, विज्ञान, नीति, संस्कृति और आचार सब का समन्वय मिल जाता है।

अहिंसा और अनेकान्त तथा अपरिग्रह तो उसके मूलभूत सिद्धान्त ही हैं। सर्वोदय में विचारों का आग्रह नहीं, वहाँ तो सभी विचारों का समादर है। गांधी का सर्वोदय, गांधी का अपना नहीं, उसमें समग्र भारतीय तत्त्वदर्शन, भारतीय विचार चिन्तन और भारतीय संस्कृति का सार संगृहीत है। समाज और राष्ट्र में सुख, शान्ति और संतोष का फैलाव करना ही एकमात्र इस विचार-पद्धति का मूल ध्येय है, जो अभिनव होकर भी अपने आप में पुरातन है, चिरन्तन है। भारतीय तत्त्व दर्शन का यह सुवर्ण पृष्ठ है, जो अपने आप में सुन्दर, सरस और सुमधुर है।

१–पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अध्यात्म तत्त्व की प्राचीनतम वैदिक परम्परा

(डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी)

वेदविद्या सृष्टिविद्या है:—

वेदविद्या सृष्टिविद्या का दूसरा नाम है। सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया की व्याख्या वेद की नाना विद्याओं के रूप में उपलब्ध होती है। इन विद्याओं का अपरिमित विस्तार है। जैसे सृष्टि अनन्त है, वैसे ही वेदविद्या भी अंतहीन है। विराट् और अणु इन दोनों क्षेत्रों में अर्वाचीन विज्ञान की यही तथ्यात्मक स्वीकृति है कि इन दोनों की रहस्यमयी रचना का वारापार नहीं है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' दोनों की एकता का दर्शन करने वाले ऋषियों ने भी यही कहा है कि इन दोनों का मूल कोई अनन्त अव्यक्त अक्षरतत्त्व है। अणु और महत् दोनों में उसी की महिमा अभिव्यक्त हो रही है, किन्तु स्वयं वह अव्यय पुरुष सहस्रात्मा या अनन्त है। विश्व विराट् अनादि और अनन्त है। इसका स्रोत अविनाशी है। देश और काल, अथवा नाम और रूप के परिवर्तन स्वस्तिक में इसका नित्य नया रूप प्रकट हो रहा है। इस प्रकार ऋषि और वैज्ञानिक दोनों ही विश्व के रहस्य की व्याख्या करते हैं। पर ऋषियों का दर्शन इस ध्रुव विश्वास से भरा हुआ है कि यह व्यक्त विश्व किसी अव्यक्त मूल श्रोत से उद्गत हुआ है। वह अव्यक्त मूल इस व्यक्त की सृष्टि करके इसमें अनुप्रविष्ट हो रहा है।

वेद के विषय में दो दृष्टिकोण:—

वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम के दो पृथक् दृष्टिकोण स्पष्ट सामने आते हैं। पश्चिमी दृष्टिकोण के अनुसार वेद मानवीय मस्तिष्क की आरम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ हैं। उनमें न परस्पर संगति है और न कुछ सुलझे हुए अर्थों की स्थापना है। वेद धार्मिक विश्वासों के विजड़ित रोयें हैं, जिनका बहुत-सा अंश बुद्धिगम्य नहीं है। मानव जाति के सीखतर बच्चे जिस आश्चर्य से विश्व को देखते हैं, उसी की छाया मन्त्रों में है। उनमें किसी समन्वित या सुप्रतिष्ठित दार्शनिक विचार की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी सूत्र को पकड़ कर पिछले सौ वर्षों में वेदों के अनेक भाष्य और व्याख्या-ग्रन्थ पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखे गए हैं। अपने देश में भी नये मार्ग से चलने वाले वैदिक विद्वान् इन्हीं अर्थों में रुचि लेते हैं और उनका दृष्टिकोण भी यही है। उनके लिए ब्राह्मण ग्रंथों में पाई जाने वाली वेद-व्याख्या अधिकांश में अनास्था की वस्तु है। किन्तु भारतीय परम्परागत दृष्टि वेद को ऋषियों का परिपूर्ण ज्ञान मानती है। जो कोई दिव्य समष्टि ज्ञान है वह उसी की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। इस आस्था से वैदिक अर्थों के प्रति नई श्रद्धा का जन्म होता है। इन दो दृष्टिकोणों के तार्किक विवाद में जाना इष्ट नहीं। हमारा लक्ष्य वहाँ है, जहाँ वैदिक शब्दों की अधिक-से-अधिक स्पष्ट व्याख्या प्राप्त हो सके। जहाँ मंत्रों के अर्थों की पारस्परिक संगति लग सके, एवं जहाँ मंत्रों की परिभाषात्मक शब्दावली, यज्ञ के कर्मकाण्ड तथा सृष्टि के वास्तविक वैज्ञानिक रहस्य की एक सूत्रता या संगति प्राप्त की जा सके। पश्चिम में जो वेदार्थ का प्रयत्न हुआ, उस पर दृष्टि डालते हुए श्री ई०जे० टामस ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि समस्या सुलझी नहीं है तथा आगे बढ़ने का मार्ग अवरुद्ध-सा दिखाई पड़ता है। हमारी सम्मति में भारतीय दृष्टि से ही वेदार्थ की समस्या का समाधान संभव है। सर्वप्रथम यह आस्था होनी चाहिए कि जिन उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों की अत्यधिक महिमा कही जाती है, इन सब का स्रोत वेद हैं। कालान्तर के इस साहित्य में जो अमृत दुग्ध है, उसका निर्झर वेद रूपी गौ में ही निहित है जिस गौ को अमृत वाक् तत्व भी कहते हैं। यह अमृत वाक् विश्व का विराट् मन या समष्टि ज्ञान है। वह एक समुद्र है, जिसके एक-एक बिन्दु से मानवी मस्तिष्क सोचते और विचारते हैं। व्यक्ति के मन में जितना आज तक आचुका है और जो कुछ भविष्य में प्रतिभाषित होगा उस सबका स्रोत उसी विश्वात्मक ज्ञान में है, जिसे वेद कहा जाता है। उसे ही अव्यक्त सरोवर, ब्रह्मसर, वाक् समुद्र या अपौरुषेय ज्ञान कहते हैं। उस वाक् के दो रूप हैं एक परा और दूसरी अपरा। अपरा स्थूल शब्दमयी वाक् है जो बुद्धि का स्पर्श करती है। किन्तु परा वाक् मूल अक्षर तत्व है, जो हृदय का संस्पर्श करती है या हृदय में प्रविष्ट होकर अपनी शक्ति से जीवन का निर्माण करती है। इसे सहस्राक्षरा

वाक् भी कहते हैं। इसी अक्षर वाक् से गायत्री आदि सप्त छन्दों का वितान या विकास होता है—'अक्षरेण मिते सप्त वाणीः। ऋ० १।१६४।२४॥

देव तत्वः—

वैदिक सृष्टिविद्या की दृष्टि से विश्व में दो ही मूल तत्व हैं—एक देव, दूसरा भूत। देव तत्व का ही दूसरा नाम शक्ति तत्व है। देव या शक्ति सूक्ष्म और अदृश्य है। भूत दृश्य और स्थूल है। प्रत्येक भूत एक-एक कूट या ढेर है जिसकी विधृति शक्ति या देव कहलाती है। बिना देव के किसी भी भूत की पृथक् सत्ता संभव नहीं। मूलभूत देव तत्व एक और अखंड है। वही सृष्टि के लिये बहुभाव या नाना भाव में परिवर्तित होता है। एको देवः सर्व भूतेषु गूढ़ः, यही सृष्टि का मूल सूत्र है। एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, इस नियम के अनुसार एक तत्व ही बहुभाव या बहुधा भाव को प्राप्त होता है। जो मूलभूत एक देव है उसे वेदों में एकमेवाद्वितीयम् कहा गया है। वह ऐसा एक है जिसमें दो, तीन, चार संख्याओं की कल्पना नहीं है। किन्तु वह अपनी निगूढ़ शक्ति से स्वयं ही बहुभाव को प्राप्त होता है। यद्यपि देवों के अनेक नाम कहे गये हैं, किन्तु उन सब नामों के मूल में एक ही देव तत्व प्रतिष्ठित है—यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्त्यन्या। (ऋ० १०।८२।३)।

प्रजापति के दो रूपः—

वह मूल देवतत्व संप्रश्न भी कहा जाता है। आदि से अन्त तक वह एक प्रश्न या पहेली ही है। उसकी शक्ति का क्या स्वरूप है? इसकी मीमांसा अनेक प्रकार से की जाती है, किन्तु शब्दों में उसकी इयत्ता संभव नहीं। जब हम विश्व की दृष्टि से विचार करते हैं तब उस मूल शक्ति को प्रजापति कहा जाता है। प्रजापति के दो रूप हैं—एक अनिरुक्त, दूसरा निरुक्त एक अमूर्त, दूसरा मूर्त; एक परोक्ष, दूसरा प्रत्यक्ष; एक ऊर्ध्व, दूसरा अधः, एक तत्, दूसरा एतत्। जो एतत् है, उसे ही इदं सर्वम् भी कहते हैं। जो विश्वातीत रूप है वह तत् है और जो विश्वात्मक रूप है वह इदं सर्वम् है। प्रजापति का एक रूप 'अजायमान' और दूसरा 'बहुधा विजायते' कहा जाता है —

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्, ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

जो अजायमान या विश्वातीत रूप है उसे गर्भ, योनि, नभ्य प्रजापति, गुहा या पर्वत के समान अविचाली अद्रितत्व भी कहा जाता है। वही परमव्योम या परमाकाश है। परावाक् उसी का रूप है। अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, यम, मातरिश्वा इन देवों की पृथक् कल्पना सहेतुक है, क्योंकि मूलभूत एक शक्ति विभिन्न रूपों में कार्य करती हुई देखी जाती है, किन्तु इससे उसके मूलभूत एकत्व का अपलाप नहीं होता। जिस प्रकार महाकाल की दृष्टि से उषा एक है, किन्तु सापेक्ष काल या परिवर्तन-शील संवत्सर की दृष्टि से प्रतिदिन नई उषा का उदय होता है, जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में मूलभूत अग्नि तत्व एक है, किन्तु शक्ति के नाना रूपों में वही बहुधा विभक्त ज्ञात होता है, जिस प्रकार एक ही मूल सूर्य से कोटानुकोटि सूर्यों का विकास होता है, ऐसे ही वैदिक ऋषियों ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया था कि अनेक ब्रह्मांडों का रचयिता प्रजापति एक है और वही ईश तत्व इन सब में समाया हुआ है। दूर और निकट, अणु और महत्, भूत और भविष्य सर्वत्र उसी की सत्ता है। वही अखण्ड सूत्र पूर्व और उत्तर की समस्त सृष्टि में पिरोया हुआ है। जिसके कारण उसे अन्तर्यामी या सूत्रात्मा कहते हैं। अपने अजायमान रूप से सबके भीतर प्रतिष्ठित रहकर वह एक अक्षर तत्व सबका नियम करता है। उसी के नियम या धर्मों के अक्ष में सब भुवनों के चक्र पिरोये हैं। इसीलिए वह सर्वान्तिर्यामी कहा जाता है। उसी ओत-प्रोत सूत्र से सब तन्तुओं का वितान होता है, अतएव वह सूत्रात्मा है।

वैदिक त्रिक—

यह सृष्टि किसी महान् कवि की विलक्षण कविता है। वेदों में इसे सप्ततन्तुमय यज्ञ कहा है। एक मन, एक प्राण और पाँच भूत इन सात तन्तुओं से कोई बुनने वाला इस पट को बुन रहा है। पंचभूतों को वैदिक परिभाषा में वाक् भी कहते हैं। पाँच भूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है। आकाश का गुण शब्द या वाक् है। अतएव पंच भूतों के लिए वाक् यह सरल प्रतीक मान लिया गया है। यह समस्त सृष्टि पंचभूतों की रचना है। जो प्रधान या प्रकृति है वह तीन गुणों के तारतम्य से पंचभूतों के रूप में परिणत होती है। इस पंचभूतात्मक रचना को वाक् कहते हैं। वाङ्मयःप्राणमयः मनोमयः एष आत्मा-उपनिषदों की यह परिभाषा सर्वथा सुनिश्चित है। इसका अर्थ यह है कि जितनी भी अभिव्यक्त सृष्टि है उसके मूल में प्रज्ञा या मनस्तत्व,

प्राणतत्व और पंचभूत इनकी सत्ता है। मन, प्राण, वाक् का त्रिक क्रमशः सत्व, रज और तम कहा जाता है। यह त्रिक विश्व रचना का आधार है। सृष्टि की वैदिक कल्पना त्रिक पर समाश्रित है—तीन लोक, तीन देव, तीन छन्द, तीन मात्राएँ आदि अनेक रूपों में त्रिक की व्याख्या की जा सकती है। मैत्रायणी उपनिषद् में त्रिक की अति सुन्दर व्याख्या पाई जाती है। वहाँ कहा है यह जो अ उ म अक्षर हैं यही उस त्रिपाद ब्रह्म की स्वनवती तनू है जिसे ओम् भी कहते हैं। स्त्री-पुं-नपुंसक यह लिंगवती तनू है। अग्नि-वायु आदित्य इन तीनों का नाम भास्वती तनू है। ब्रह्मा-रुद्र-विष्णु यह अधिपतिवती तनू है। ऋक् यजु-साम यह विज्ञानवती तनू है। भूर्भुवः स्वः —यह लोकवती, भूत-भव्य तनू है। भविष्यत्, यह कलावती, प्राण-अग्नि-सूर्य यह प्रजापतिवती, अन्न-आप् चन्द्रमा यह आप्यायनवती, गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि आहवनीय यह मुखवती, बुद्धि-मन-अहंकार यह चेतनवती और प्राण-अपान-व्यान यह प्राणवती तनू है। यह सब प्रजापति के ही रूप हैं। जब ओम् या प्रणवसंज्ञक अक्षर ब्रह्म का उच्चारण किया जाता है, तो उसी के पर और अपर दो रूप कहे जाते हैं। जो त्रिक के अन्तर्गत है, वह अपर रूप है और जो त्रिक से अतीत है, वही पर रूप है। जो पर है उसे अव्यय भी कहते हैं। परे अव्यये सर्वे एकी भवन्ति, अथवा यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्, यह अव्यय या परब्रह्म के लिए ही कहा जाता है। उसे ही त्रिपाद और ऊर्ध्व भी कहते हैं।

अग्निविद्या :—

वैदिक सृष्टि विद्या की दृष्टि से प्रजापति विद्या का बहुत अधिक महत्व है। अग्निविद्या और संवत्सर विद्या उसी के दो रूप हैं। अग्निविद्या या शक्तितत्व और संवत्सर विद्या-काल तत्व इन दोनों के सम्मिलित रूप का नाम यज्ञ विद्या है। वैदिक तत्वज्ञान की दृष्टि से अग्निविद्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। प्रजापति, ब्रह्म, महाकाल शक्ति तत्व ये सब अग्नि के ही रूप हैं। मनु ने जिसे तमोभूत अप्रज्ञात अलक्षण और प्रसुप्त अवस्था कहा है उसी के धरातल पर अग्नि का जन्म होता है। ज्ञान और कर्म की जितनी शक्ति है उस सब का प्रतीक अग्नि है। अग्निः सर्वं देवताः, जितने देव हैं सब अग्नि के रूप हैं, यह ऐतरेय की परिभाषा है। प्रश्न होता है कि अग्नि तत्व क्या है। क्या चूल्हे में जलने वाली और काष्ठ से उत्पन्न होनेवाली अग्नि कोई देवता है? वेद में किसे अग्नि कहा है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मूल और तूल दोनों रूपों में जितनी शक्ति और उसके भेद हैं वह सब अग्नि का ही एक-एक रूप है—एक एकाग्निर्बहुधा समिद्धः। जिसका समिधन होता है, अर्थात् जो दहकती है उसे अग्नि कहते हैं। स्थूल काष्ठ या समिधा अग्नि के समिध का एक प्रतीक या उदाहरणमात्र है। इसका अर्थ यह है कि हम अग्नि को तब तक प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, जब तक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। भूत को क्षार कहते हैं और उस क्षार के भीतर निवास करने वाले अक्षर को देव कहा जाता है—क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।

प्राण या जीवन :—

अस्यवामीय सूक्त में कहा है कि अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है—ततः क्षरत्यक्षरम्, अर्थात् देव या शक्ति से ही भूत का निर्माण होता है। इस अक्षर या देव तत्व की अभिव्यक्ति तीन रूपों में हो रही है, एक वृक्ष-वनस्पति, दूसरे पशु-पक्षी और तीसरे मानव। इन तीनों में जो शक्ति तत्व है उसे प्राणाग्नि कहते हैं। प्राण या जीवन चैतन्य का ही रूप है, जो विश्व का सबसे महान् रहस्य है। प्रजापति विद्या का सबसे उत्कृष्ट और रहस्यात्मक रूप प्राण या जीवन है। प्राण के स्रोत, उद्गम, वृद्धि, विकास और ह्रास के नियम मानव के लिये सब से अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्राण ही आयु है, प्राण ही अग्नि है। प्राणविद्या सब विद्याओं में मूर्धन्य है। वस्तुतः ऋषियों की दृष्टि से प्राणविद्या ही विश्वविद्या है। इसी की व्याख्या यज्ञों के द्वारा की जाती है। यह प्राणतत्व क्या है? ऋषियों ने इस गूढ़ प्रश्न पर बहुत विचार किया था। इस विश्व में सबसे अधिक आश्चर्य यह देखकर होता है कि प्रकृति ने पंचभूत, प्राण और मन इन तीनों को एक साथ गूंथ कर रहस्यात्मक जीवन तत्व का निर्माण किया है। उस जीवन तत्व के क्या नियम हैं और उसका क्या रहस्य है, इसकी छान-बीन वेदविद्या का मुख्य लक्ष्य है। जहाँ भी जीवन है, उस संस्थान को यज्ञ कहा जाता है। उस यज्ञ का आरम्भ प्राणापान के स्पन्दन से होता है। प्राण शक्ति का रूप है और शक्ति सदा दो सहकारी रूपों में प्रकट होती है, जिन्हें उसके ऋण और धन का रूप कहते हैं। इन्हें ही मूलभूत एक प्राण के प्राण और अपान ये दो भेद कहा जाता है। प्राण का स्वरूप स्पन्दन है। जैसे कोई सोता हुआ बालक जागकर अपना जीवन आरम्भ करता है, ऐसे ही बीज के केन्द्र में प्रसुप्त प्राण-बिन्दु का जागरण या क्षोभ होता है। प्राण के जागरण को ही वैज्ञानिक भाषा में समंचन-प्रसारण कहा जाता है—

प्राणो वै समंचनप्रसारणं। (शतपथ, ८।१।४।१०)।

सिकुड़ना और फैलना यही स्पन्दन का रूप है। धन से ऋण और ऋण से धन बिन्दु की ओर जाना और आना यही विद्युत या शक्ति का क्रम है। इसे ही वैदिक भाषा में 'एति च प्रेति च' कहते हैं। प्राणरूपी कोई ज्योति या रोचना मानव-केन्द्र से प्रकट होती है और प्राण एवं अपान के रूप में स्पन्दित होती हुई आयुपर्यन्त सक्रिय रहती है—

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवं ॥ (ऋ० १०।१८९।२)।

यही जीवन का रूप है। इस मन्त्र का देवता आत्मा या सूर्य है। वैदिक परिभाषा में विराट् आत्मतत्व का सर्वोत्तम प्रतीक सूर्य ही माना गया है—सूर्य आत्मा जगतस्थुषश्च। मैत्रायणी उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है, जो अमूर्त है वह सत्य है, वही ब्रह्म है, वही ज्योति है। जो ज्योति है वही आदित्य है। जो आदित्य है वही आत्मा है (मै० ६।३)।

वैश्वानर अग्नि :—

विश्व में जितनी गति है सब स्पन्दन का रूप है। वही प्राण है, पंचतत्व या भूतों में से बना हुआ शरीर काष्ठ पंजर को जोड़कर बनाए हुए निर्जीव शकट के समान है (शकटमेवाचेतनमिदं शरीरं मै० २।३)। यह प्राण ही है जो प्रत्येक पुरुष में चेतनात्मक क्षेत्रज्ञ प्रजापति के रूप में उसे जीवित रखता है। प्राण के साथ ही प्रज्ञा सहयुक्त है—यौवं प्राणः सा प्रज्ञा, या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः (कौषीतकी ३।३)।

इन्द्र ने अपने विषय में यही कहा— प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा अर्थात् मैं ऐसा प्राण हूँ जो प्रज्ञा या मनस्तत्व के साथ प्राणियों के केन्द्र में आविर्भूत होता है। मन-प्राण-वाक् इन तीनों के सम्मिलन या तानूनप्त्र सम्बन्ध से जो एक नई शक्ति या अग्नि उत्पन्न होती है उसे ही वैश्वानर कहते हैं—अथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरः (मै० २।६)। मन-प्राण- वाक् (माइण्ड-लाइफ-मैटर)। इन तीनों के मिलने से ही प्राण या जीवन की अभिव्यक्ति होती है। इस अभिव्यक्ति के तीन क्षेत्र हैं। एक वृक्ष-वनस्पति जिनमें पंचभूत प्रधान हैं, दूसरे पशु-पक्षी जिनमें प्राण या क्रिया शक्ति मुख्य है, तीसरे मनुष्य जिनमें इन्द्रशक्ति या मनस्तत्व या प्राणात्मक प्रज्ञातत्व प्रधान है। किन्तु तीनों में एक-एक की प्रधानता होते हुए भी तीनों ही रहते हैं, अर्थात् वृक्षों में भी पंचभूतों के अतिरिक्त प्राण और मन का अस्तित्व है। वेदों में इन्द्र को मनस्वान् कहा गया है—यो जात एव प्रथमो मानस्वान, देवो देवान्, क्रतुना पर्यभूषत् (ऋ० २। १२।१)। जहाँ एक या अनेक इंद्रियों का विकास उपलब्ध हो, वहाँ इन्द्र या मनस्तत्व की सत्ता अवश्य है।

इन्द्रतत्व :—

शतपथ में इन्द्र को मध्य प्राण कहा गया है (स योऽयं मध्ये प्राणः एष एवेन्द्रः, श० ६।१।१।१)। अन्य सब इन्द्रियाँ उस मध्य प्राण से संचालित होती हैं। वे इन्द्र के सहचारी सामन्तप्राण कहे जा सकते हैं। यह इन्द्र तत्व क्या है? शक्ति के समिध या जागरण को ही इन्द्र दीप्तौ धातु के आधार से इन्धन कहा जाता है और इन्ध तत्व ही परोक्ष या संकेत भाषा में इन्द्र कहलाता है। इस प्रकार की अनेक परोक्ष व्युत्पत्तियाँ ब्राह्मण-साहित्य में पाई जाती हैं। इन सबके सांकेतिक अर्थ वेदार्थ की व्याख्या में सहायक होते हैं। इन्ध और इन्द्र इन दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध बताते हुए ऋषि का उद्देश्य यह है कि इन्द्र या मनस्तत्व प्राणाग्नि की संज्ञा है। भूत, प्राण और मन इन तीनों तत्वों का आदि स्रोत कहाँ से आरम्भ होता है, यह प्रश्न महत्व-पूर्ण है। अर्वाचीन विज्ञान और वैदिक दर्शन दोनों में इसका उत्तर एक ही है, अर्थात् माता-पिता के शुक्र-शोणित संयोग से जो सर्वप्रथम एक गर्भित कोष या भ्रूण उत्पन्न होता है, वहीं से जीवन का स्पन्दन आरंभ हो जाता है। वह कोष अपनी शक्ति से एक दो, दो से चार, चार से आठ, इस प्रकार उत्तरोत्तर आत्म-विभाग द्वारा अपना सम्वर्धन करते हुए एक राशि या कूट बन जाता है जिसे शरीर कहते हैं। वह प्राणात्मक स्पन्दन अन्नाद अग्नि का रूप है, जो केन्द्र के बाहर से सोम रूप अन्न को खींचकर पचाता है और शरीर की वृद्धि करता है। यही सोम की अग्नि में आहुति है, जिससे शरीर रूपी अग्नि यज्ञ सम्पन्न होता है। यही अग्नि का जागरण है।

हिरण्यगर्भ :—

गर्भ-विज्ञान की दृष्टि से यह समस्त प्रक्रिया अत्यन्त स्पष्ट है। वैज्ञानिक की भाषा में कोष के भीतर प्रसुप्त उसका केन्द्र (न्यूक्लियस) अपना स्पन्दनात्मक कार्य आरम्भ कर देता है। ऋषि के शब्दों में वह कोष हिरण्यगर्भ कहलाता है।

सर्वप्रथम इसी हिरण्यात्मक गर्भ या शिशु का जन्म होता है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । हिरण्य-गर्भ ही अग्नि का पुत्र है जिसे ऋग्वेद में चित्र शिशु (२०।१।२) और कुमार (ऋ० १०।१३५।३) कहा गया है। जीवन के रूप में उद्बुद्ध होने वाली यह अग्नि अत्यन्त रहस्यमयी शक्ति है। इसीलिये इसे अद्भुत भी कहा जाता है। (ऋग्वेद ६।१५।२)। वृक्ष-वनस्पति, कीट-पतंग, पशु-पक्षी एवं मनुष्य आदि की जितनी योनियाँ हैं उनमें कुमार का यही रूप है—नवो नवा भवति जायमानः । प्रत्येक पीढ़ी में जीवन की शृंखला को आगे बढ़ाते हुए यह नये-नये रूपों में उत्पन्न होता रहता है। यही सृष्टि का क्रम है। । एक ओर जीवन की सत्ता नये शिशु या कुमार के रूप में दिखाई देती है, दूसरी ओर सृष्टि के आदि से इसकी दुर्धर्ष और अखंड सत्ता सदा रही है। इसके नवीन रूप को जात या वाम और वृद्ध रूप को पति या पलित कहा गया है।

वाम पलित होता :—

जो वाम या नवीन या सुन्दर है, वह प्रतिक्षण पलित की ओर बढ़ रहा है और आत्मविकास के लिये पलित से ही जीवन तत्व को ले रहा है। वाम और पलित ये दोनों एक ही मूल होतृ तत्व के दो रूप हैं। जो वाम या नया है, वह पलित को आत्मकेन्द्र में लेकर नवीन सृजन करता है और जो पलित है वह वाम को आकृष्ट करके भी पलित या वृद्ध बनाता है। वाम से पलित और पलित से वाम इस गति और आगति का नाम ही जीवन का स्पन्दन है। प्रत्येक घटक-कोष में यह प्रतिक्षण हो रहा है। जितनी भी भूत सृष्टि है उस सब का आदि कारण हिरण्यगर्भ या अग्नि का पुत्र वह जाग्रत केन्द्र है, जिसे प्राण या जीवन कहा जाता है। अस्य वामस्य पलितस्य होतुः, इस मन्त्र में दीर्घतमा ऋषि ने जिस तथ्य का प्रतिपादन किया है, विज्ञान की साक्षी भी सर्वथा वही है, दोनों की शब्दावली भिन्न भले ही हो।

अग्नि के होमकर्म का स्वरूप :—

यहाँ 'होता' शब्द ध्यान देने योग्य है ? होता का अर्थ है देव या शक्ति का आवाहन करने वाला। उस आवाहन के द्वारा बाहर से भूततत्व को लेकर अग्नि में उसका हवन करने वाला और हवन करके उसे आत्मरूप में परिवर्तित करने वाला जो शक्ति का रूप है, वही होता है। प्रत्येक गर्भित कोष (फर्टिलाइजर सेल) में जो स्पन्दन होता है, वह इसी होत्रकर्म की पूर्ति के लिये है। वह बाहर से भूतों या पंचतत्वों को केन्द्र में खींचकर उसका सम्वर्धन करता है। इसमें दो प्रक्रियाएँ दिखाई पड़ती हैं एक अन्न-अन्नाद की प्रक्रिया है और दूसरी सम्बन्ध की प्रक्रिया। अन्न-अन्नाद का तात्पर्य यह है कि केन्द्र में बैठा हुआ अग्नि जो अन्नाद है बाहर से अपने लिये अन्न या सोम चाहता है। इसे अन्नाद अग्नि की भूख या अशनाया कहते हैं। यदि अग्नि को सोम न मिले, तो यज्ञ की समाप्ति हो जाय और कोश के सम्वर्धन का कार्य रुक जाय।

वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार जीवन के तीन विशेष लक्षण हैं। जहाँ भी जीवन रहता है, वहाँ इन तीनों की सत्ता पाई जाती है। उनमें पहला अन्न-अनाद का नियम है, जिसे वैज्ञानिक एसीमिलेशन और एलिमिनेशन की प्रक्रिया कहते हैं (अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवे दिवे)। पोषण प्राप्त करने के बाद दूसरी प्रक्रिया सम्वर्द्धन की है जिसे वैज्ञानिक भाषा में सेलफिशन, सेल डिवीजन या ग्रोथ कहते हैं। इन दोनों के बाद जीवन का तीसरा लक्षण का प्रजनन है। जिस बीज से प्राण की उत्पत्ति होती है प्रजनन के द्वारा पुनः उसी बीज की सृष्टि प्रकृति का लक्ष्य है। बीज से बीज तक पहुँचना यही प्रकृति का चक्र है, जिसे ब्रह्म-चक्र एवं संवत्सर चक्र भी कहते हैं। प्रत्येक बीज काल की जितनी अवधि में पुनः बीज तक पहुँच पाता है, वही उसका संवत्सर काल है। किन्तु यह संवत्सर की चक्रात्मक गति है जो बार-बार घूमती हुई काल की अवधि में नये नये बीजों का निर्माण करती है। प्रजापति की सृष्टि में समस्त प्राणतत्व या जीवन संवत्सर चक्र से नियंत्रित है। इसीलिये ब्राह्मण ग्रंथों में कहा गया है कि संवत्सर ही प्रजापति है—संवत्सर एव प्रजापतिः (शतपथ १।६।३।५), अर्थात् सृष्टि की जो प्रजननात्मक प्रक्रिया है वह संवत्सरात्मक काल की शक्ति से नये-नये रूपों में प्रकट होती हुई सामने आ रही है। इस संवत्सर के दो रूप हैं, एक चक्रात्मक, दूसरा यज्ञात्मक। पृथ्वी जितनी अवधि में एक बिन्दु से चलकर पुनः उसी बिन्दु पर लौट आती है वह चक्रात्मक संवत्सर है, अर्थात् उतनी देर में काल का एक पहिया घूम जाता है, किन्तु उसका कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रहता। उस संवत्सर की अवधि में देव या शक्ति जितने भूतपदार्थ को बाहर से खींच कर अपने स्वरूप में ढाल लेती है वही यज्ञात्मक संवत्सर है। अग्नि में सोम की आहुति इसका स्वरूप है। चक्रात्मक संवत्सर

केवल प्रतीकमात्र है, वह भाति सिद्ध है, वह केवल छन्द या आवपन या पात्र है। उस पात्र में अग्नि द्वारा सोम की जो मात्रा भर जाती है वह यज्ञात्मक संवत्सर सत्तासिद्ध है। उसी को हम भूत-भौतिक या स्थूल दृश्य रूप में प्रत्यक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार विश्व की रचना के लिये प्रजापति ने अपने आपको संवत्सर और यज्ञ इन दो रूपों में प्रकट किया है—संवत्सरो यज्ञः प्रजापतिः (शतपथ १।२।५।१२)। संवत्सर और यज्ञ, काल और जीवन, ये दो सृष्टि के महान् रहस्य हैं। अनेक प्रकार से इनका वर्णन वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। इन विद्याओं का परिचय वेदार्थ की कुंजी है।

प्रमा-प्रतिमा :—

ऋग्वेद में प्रश्न किया है—कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानं (१०।१३०।३)।

अर्थात् इस विश्व की रचना में प्रजापति के पास प्रमा या नाप या जोख क्या थी और प्रतिमा या नमूना क्या था? इसका उत्तर यह है कि प्रमा या मात्रा निश्चित करने के लिए प्रजापति ने संवत्सर का निर्माण किया और इसकी प्रतिमा या नमूने के लिए स्वयं अपनी ही आहुति डालकर सर्वहुत यज्ञ का विधान किया। इस विश्वरूपी यज्ञ के यूप में सर्वप्रथम कौन-सा पशु बांधा गया? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि प्रजापति ने स्वयं अपनी ही आहुति इस यज्ञ में दी, प्रजापति स्वयं ही इस यज्ञ के पशु बने। जो प्रजापति का रूप है वही पुरुष का रूप है। इसीलिए पुरुष को प्रजापति का नेदिष्ठ या निकटतम प्राणी कहा गया है। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्टम (शतपथ ४।३।४।३)।

यज्ञ-विद्या :—

वेदविद्या की दृष्टि से यज्ञविद्या सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यज्ञ का जो स्वरूप ऋग्वेद में उपलब्ध होता है, वह विश्व-रचना और पुरुष की अध्यात्म रचना इन दोनों को समझने के लिए आवश्यक है। ऋग्वेद के पहले ही मंत्र में अग्नि को यज्ञ का देवता, पुरोहित ऋत्विज, होता और रत्नों का आधान करने वाला कहा गया है। ये पाँचों विशेषण सार्थक हैं और अग्नि या प्राण की मूलभूत विशेषताओं का परिचय देते हैं। अग्नि पुरोहित है। इसका तात्पर्य यह है कि समस्त देवों में अग्नि प्रत्यक्ष प्राप्त है। अग्नि के द्वारा ही अन्य देव या शक्तियाँ पकड़ में आती हैं। मानव शरीर में जठराग्नि के रूप में अग्नि हमारे सबसे अधिक निकट और प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। तीन या पाँच दिन निराहार उपवास करने से अग्नि की महती शक्ति का परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यह अग्नि अन्न का परिपाक करती है और शरीर के जितने अंग-प्रत्यंग हैं, सबका निर्माण करती है। यह अग्नि कोई ज्वाला या लपट नहीं, जो हमारे भीतर दहक रही हो। यह नितान्त पार्थिव है। आमाशय के भीतर जो अनेक रसात्मक क्षार या अम्ल हैं, वे ही इस अग्नि के रूप हैं, जो खाए हुए अनेक प्रकार के पदार्थों को पचाकर उनसे रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्ज-शुक्र इन सप्त धातुओं की चिति करते हैं। यही अग्नि का पार्थिव रूप है। ऐतरेय के अनुसार पृथिवी पुरोधाता है और अग्नि पुरोहित है। विश्व की मूलभूत शक्ति या अग्नि को प्रकट होने के लिए भौतिक या पार्थिव शरीर चाहिए। वह अग्नि स्वयं पार्थिव धरातल पर प्रकट होकर भौतिक देह का निर्माण करता है। यह देह नियमनों से बँधा हुआ एक संस्थान है जिसका प्रत्येक कार्य विश्व विज्ञान के अनुसार व्यवस्थित है। इसमें अनेक देवों का निवास है, किन्तु उन सब में प्रधान देव अग्नि है। जिस प्रकार इन्धन के पहाड़ को शक्ति रूप में परिवर्तित करने के लिये एक चिनगारी की आवश्यकता होती है, ऐसे ही प्रत्येक यज्ञ की वेदि में अग्नि के आधान की आवश्यकता है। यह अग्नि की ही शक्ति है कि नित्यप्रति बाहर से अन्नकूट या ढेर लेकर उसे शक्ति और भूतों के रूप में परिवर्तित करके शरीर का सम्वर्धन करता रहता है। जो प्रक्रिया मानवी देह में है, वही छोटे-छोटे से तृण और सूक्ष्म कीट-पतंग आदि के शरीर में भी है। यह विचित्र रचना है, जिसका आरंभ एक हिरण्यगर्भ या एक गर्भित भ्रूण से होता है। अर्वाचीन गर्भविज्ञान (एम्ब्रयोलाजी) शास्त्र में शरीर-निर्माण की इस रहस्यमयी प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन पाया जाता है। वैदिक लोक-विज्ञान और देवता-विज्ञान के साथ उसका अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, जैसा श्री डा० वसन्त रेले ने अपने ग्रन्थ 'वैदिक गाड्स ऐज़ फिगर्स आफ बायलाजी' में प्रतिपादित किया है।

चयनविद्या—

शुक्र-शोणित के एक गर्भ-कोष से आरंभ करके इतने जटिल शरीर का निर्माण, यही अग्नि की चयनविद्या है जिसका शतपथ ब्राह्मण में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है और जिसका मूल यजुर्वेद के अध्याय ११ से अध्याय १८ तक के मंत्रों में आया है। इस यज्ञ को पंचचितिक कहते हैं। पंचभूतात्मक पाँच तत्वों से जो चिति होती है, उसी से शरीर की रचना संपन्न

होती है। इसे चित्याग्नि कहा जाता है। ऋग्वेद में जिसे चित्र शिशु कहा गया है, वह अग्नि चयन द्वारा चित होने के कारण मर्त्य है। प्रतिक्षण इसका सम्बन्ध चितिनिधेय नामक अमृत अग्नि से होता रहता है। विश्व में जो समष्टि प्राण, जीवन और चेतना है, उसके साथ गर्भस्थ कोष, बुद्बुद या कलल का सम्बन्ध माता के श्वास-प्रश्वास द्वारा बना रहता है और वहीं से वह अपने लिये अमृत का पोषण प्राप्त करता है। यदि अमृत प्राण का पोषण उसे प्राप्त न हो, तो भौतिक धरातल पर संचित उस अग्नि का स्पन्दन रुक जाय।

घर्म :—

वेद ने अपने ढंग से इस गर्भित कोश को एक औंटता हुआ पात्र कहा है। इसके लिये अग्नि चयन के अन्त में अजस्र शब्द आया है (यजु० १८।६६)। उसे ही अस्यवामीय सूक्त में अभीद्ध घर्म कहा गया है (ऋ० १।६४।३६)। इसे ही महावीर पात्र कहते हैं। विश्व की जो प्राणाग्नि है उसकी उष्णता से यह पात्र औंटता है। इस पात्र में सोम भरा रहता है और अग्नि का केन्द्र अपने स्पन्दनात्मक घर्षण से उस सोम को औंटता है। यह पात्र आरम्भिक एक घटक कोष के रूप में हो या लाखों कोशों का समुदाय शरीर हो, उसमें उष्णता या घर्म का नियम एक ही है। मैत्रायणी उपनिषद में स्पष्ट कहा है कि प्राण और पान या उपांशु और अन्तर्याम के पारस्परिक घर्षण से जो उष्णता उत्पन्न होती है, यही पुरुष है और वही वैश्वानर अग्नि है—

अथोपांशुरन्तर्याममभिवत्यन्तर्याम उपांशु च।
एतयोरन्तरा देवौष्ण्यं प्रासुवत्।
यदौष्ण्यं स पुरुषः।
अथ यः पुरुषः सो अग्निर्वैश्वानरः (मै० २।६)।

अर्वाचीन विज्ञान के अनुसार इस उष्णता की माप ९८. ८० फारेनहाइट तापक्रम है। यह उष्णता १०७ अंश से अधिक हो जाय या ९७ अंश से नीचे आ जाय तो जीवन या प्राणात्मक स्पन्दन समाप्त हो जाता है। जो समष्टि या विराट् विश्व में आदित्य का तेज है, उसकी उष्णता असीम है। वैज्ञानिक मत से सूर्य के धरातल पर ६००० अंश और उसके केन्द्र में दो करोड़ अंश सेंटीग्रेड की गर्मी है। किन्तु प्रकृति का ऐसा विलक्षण विधान है कि उस उष्णता का अत्यन्त नियमित अंश मानव के इस शरीररूपी घर्म या पात्र को प्राप्त होता है। उसी की संज्ञा प्राण या जीवन है।

तीन ज्योतियाँ :—

वैदिक परिभाषा में विश्व की विराट् अग्नि को अश्वमेध और शरीर की अग्नि को अर्क कहा जाता है। अर्क संज्ञक शरीर की प्राणाग्नि तीन प्रकार की होती है। अतएव उसे त्रिधातु अर्क कहा जाता है (यजु० ८।६६)। अग्नि एक ज्योति है, उसमें तीन ज्योतियों का सम्मिलित रूप है।

प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीण ज्योतींषि सचते स षोडशी (यजु० ८।३६)। अग्नि-वायु-आदित्य, अथवा वाक्-प्राण-मन, अथवा क्षर-अक्षर-अव्यय, अथवा अर्वाचीन विज्ञान के शब्दों में मैटर-लाइफ-माइंड ये ही तीन ज्योतियाँ हैं, जिनके बिना कोई भी प्राणात्मक स्पन्दन या यज्ञ संभव नहीं है। इन्हें ही प्राण-अपान-व्यान नामक तीन अग्नियाँ कहा जाता है जो यज्ञ की तीन वेदियों में गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय के रूप में प्रज्वलित रहती हैं।

सविता :—

यजुर्वेद में जहाँ अग्नि चयन या घर्मयाग का वर्णन है, वहाँ आरम्भ में यही प्रश्न है कि प्राणाग्नि के इस स्पन्दन का स्रोत क्या है? इसके मूल कारण को वहाँ सविता कहा गया है और उस सविता की संज्ञा मन है। सविता के व गया मन की प्रेरणा से ही प्रज्ञात्मक प्राण का यह स्पंदन आरंभ होता है। मन की शक्ति से ही जन्मभर इसका समिंधन या जागरण चलता रहता है। सविता वै देवनां प्रसविता, अर्थात् सविता ही प्रत्येक प्राण केन्द्र में उद्‌बुद्ध होकर अन्य सब देवों को खींच लाता है। सविता अन्य देवों का योक्ता है। वही अन्य सब के कर्मों का विधान करता है। मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः, सविता देव की यही महती स्तुति या सर्वाधिक प्रशंसा है। इस समस्त विश्व की जो संचालिका शक्ति है वही विराट् सविता देव है। उसकी जो शक्ति प्रत्येक केन्द्र में आ रही है, वह सावित्री है। सावित्री शक्ति प्रत्येक केन्द्र को ओत-प्रोत करके वहाँ से प्रतिफलित होकर अपने मूल स्थान को लौट रही है। शक्ति का यही रूप है। वह आती है, और जाती है। इसी नियम से उसके

धन और ऋण दो रूप बनते हैं। विश्वात्मक सविता से प्राप्त होनेवाली सावित्री की धारा जब हमारे शरीर से प्रतिफलित होती है तो उसे ही गायत्री कहते हैं। सावित्री और गायत्री का एक छन्द है। द्युलोक सावित्री और पृथ्वी गायत्री है। ये एक ही मूलभूत शक्ति के दो रूप हैं। मनुष्य के शरीर में जो प्राण है, वह प्रति बार बाहर जाकर द्युलोक के विश्वात्मक प्राण के साथ मिलकर फिर भीतर आता है, जैसा शार्गंधर संहिता में कहा है—पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः, अर्थात् शरीर संचारी प्राण आकाश के अमृत का पान करके शीघ्रता से बारंबार वापिस लौट आता है। यही समष्टि और व्यष्टि प्राण की सम्मिलित धारा है, जिसका सन्तान-क्रम या आना-जाना जीवन का लक्षण है। जो विश्वात्मक है, उसे ही अनन्त और अमृत कहते हैं। जो अमृत है, वही देव कहा जाता है। जो मर्त्य है उसे भूत कहते हैं। भूतों को देव का आश्रय चाहिए। तभी भूतों का जीवन संभव होता है। एक क्षण के लिए भी भूत और देव इनका सम्बन्ध टूट जाय तो भूत व्याकुल हो जाते हैं। अनन्त विश्व में महाप्राण भरा है, किन्तु भूतात्मक देह में उसका एक अंश ही आ पाता है। वस्तुतः अमृत तत्व का नाम ही जीवन है। अमृत तत्व ही प्राण है। अग्नि को वेदों में बारंबार अमृत कहा गया है। जीवन ही वह अमृत है, जो मर्त्य भूतों में समाविष्ट है—इदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु, अर्थात् अग्नि मर्त्य भूतों में अमृत ज्योति है (ऋग्वेद ६।९।४)। आयुर्बल से युक्त अग्नि मर्त्य भूतों में रहने वाला अमृत अतिथि है (ऋ० ६।४।२)। अमृत अग्नि मर्त्य भूतों में प्रविष्ट हुआ है, यही जीवन है (ऋ० १०।७९।१,७।४।४। मर्त्येषु अग्निरमृतो निधायि)।

अग्निऋत का प्रथमज :—

वैदिक-साहित्य में अग्निविद्या का अपरिमित विस्तार है। एक वाक्य में कहना चाहें, तो अग्निविद्या ही वेदविद्या है। अग्नि ही प्रजापति और अग्नि ही ब्रह्म का रूप है। बृंहण या स्पन्दन अग्नि के बिना नहीं होता। जल से पूर्ण एक कलश चूल्हे पर रख दिया जाय तो उसमें कोई हरकत नहीं होती। पर उसमें यदि अग्नि का संयोग कर दें तो वह जल औंटने लगता है, उसमें एक गति उत्पन्न हो जाती है। ठीक यही अवस्था प्रत्येक सृष्टि-रचना की है। आरंभ में प्रकृति या पंचभूत साम्य अवस्था में थे, उनमें कोई गति या क्षोभ नहीं था। उस समान व्यापक अवस्था को वैदिक भाषा में ऋतु या 'आपः' कहते हैं (यद् आप्नोत तस्माद् आपः)। क्योंकि वह सर्वत्र व्याप्त था, इसलिए उसकी संज्ञा आपः हुई (शतपथ ६।१।१।९)। प्राकसृष्टि काल में प्रकृति की यही साम्यावस्था परमेष्ठी कही जाती है। जो परमेष्ठी है, उसी का नाम समष्टि (अंग्रेजी यूनिवर्सल) है। मनोवैज्ञानिक युग के शब्दों में वही कलेक्टिव अनकांशस अर्थात् विश्वात्मक प्रज्ञान है, जिसका अनुभव सुषुप्ति अवस्था में होता है। उस प्रकार की साम्यावस्था के धरातल पर जो प्रथम क्षोभ उत्पन्न होता है' वही अग्नि का स्पन्दन है। उसी के कारण एक अखण्ड तत्व नानाभाव या बहुभाव में आता है। उस बहुभाव को ही बृंहण या ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म का ही रूप अग्नि है। अतएव ऋग्वेद में अग्नि को ऋत का प्रथमज कहा गया है—अग्निर्हि नः प्रथमजा ऋतस्य (ऋग्वेद १०।५।७)। इसी दृष्टि से अन्यत्र कहा है कि ऋत के प्रथमज प्रजापति रूप अग्नि ने अपने तप से ब्रह्म के लिए यह सृष्टि रूप ओदन तैयार किया (यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत्, अथर्व ४।३५।१)।

ब्रह्मरूप त्रयी विद्या :—

ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम् (शतपथ ६।१।१।१०), अर्थात् प्रजापति ने ब्रह्म का सर्वप्रथम सृजन किया। यह ब्रह्म या वेद या त्रयी विद्या ही थी, जिसके द्वारा सृष्टि का विकास हुआ। अग्नि ही त्रयी विद्या का प्रतीक है। अग्नि-वायु-आदित्य ये तीन त्रयी विद्या के रूप हैं। इनमें ऋग्वेद पिण्ड या मूर्ति का निर्माण करने वाला है। सामवेद उसके मण्डल को घेरने वाला उसकी परिधि है। यजुर्वेद उसका केन्द्र है, जिसमें स्थित-गति का निवास रहता है। प्रत्येक रचना एक-एक मण्डल या वृत्तात्मक चक्र है। जहाँ मंडल है, वहीं केन्द्र, व्यास और परिधि का सम्मिलित संस्थान रहता है। इस संस्थान की संज्ञा ही त्रयी विद्या है।

जलों का पुत्र अग्नि :—

ऋत के धरातल पर सर्वप्रथम अग्नि का जन्म होता है। इसलिए वेदों में अग्नि को 'अपांगर्भः' अर्थात् जल का पुत्र कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थिति के धरातल पर गति का जन्म सृष्टि का आरंभ है। इसे ही साम्यावस्था में प्रस्तुत स्वयंभू पुरुष के संयोग से गर्भ-धारण कहा जाता है। परमेष्ठी या ऋत की संज्ञा महत् भी है। वह विश्व की योनि है। अग्नि रूप प्रजापति उसमें बीजाधान करता है। अग्नि का स्पन्दन ही वह बीज है, जिससे रचना-कार्य का आरंभ होता है। एक

गेहूँ के दाने की कल्पना कीजिए। उसमें अग्नि और सोम दोनों का सम्मिलित रूप है। किन्तु वह तब तक अंकुरित नहीं होता जब तक उसके केन्द्र में सोया हुआ अग्नि क्षुब्ध नहीं हो जाता, अर्थात् उसमें गति-आगति का स्पन्दन जन्म नहीं लेता। इस जागरण से ही वह बीज अंकुरित होता है, अर्थात् एक से अनेक बनता है। जो एक है, वह निष्कलंक या अखंड है। जो अनेक है, उसे ही नाना, बहु, ब्रह्म या गण कहते हैं।

ऋत-सत्य का भेद :—

ऋत और सत्य इन दोनों में भेद है। ऋत परमेष्ठी या समष्टि की संज्ञा है (ऋतमेव परमेष्ठि)। उस परमेष्ठि में अग्नि के संयोग से जब एक केन्द्र का उदय होता है, तो उस केन्द्र को सत्य कहते हैं। सूर्य सत्य का रूप है। इसका निर्माण जिन नीहारिकाओं से हुआ वे ऋत रूप थीं। सत्यात्मक पिंड के कोने को पकड़ें तो सारा पदार्थ खिंचने लगता है। पर सरोवर में भरे हुए ऋतु रूप जल का एक अंश उससे अलग होकर हमारे पात्र में आ जाता है। ऋत का कोई एक केन्द्र नहीं रहता, किन्तु सत्य का सुनिश्चित केन्द्र होता है। ऋत के भीतर केन्द्र का जन्म यही यज्ञ है। यज्ञ के लिए अग्नि का प्रज्वलित करना आवश्यक है। यह अग्नि द्यावा-पृथिवी रूप दो अरणियों के मंथन से उत्पन्न होता है। इसे वेदों में सहसः सूनुः (यजुर्वेद १।२२) अर्थात् बलों का पुत्र कहा है। प्रत्येक यज्ञ एक-एक बल है। बल बिना केन्द्र प्रयुक्त नहीं होता। अतएव प्रत्येक यज्ञ के मध्य में उसका केन्द्र आवश्यक है। इस केन्द्र को ही नाभि, हृदय या यूप कहते हैं।

द्युलोक और पृथिवी ये विश्व के माता-पिता कहे गए हैं। प्रत्येक प्राणिकेन्द्र के लिए द्यावा-पृथिवी रूप माता-पिता की आवश्यकता है। द्यावा-पृथिवी की संज्ञा रोदसी है। रोदसी वह लोक है, जिसमें कोई भी नई सृष्टि माता-पिता के बिना नहीं होती। वृक्ष-वनस्पति से लेकर मनुष्यों तक जितनी योनियाँ हैं, सब में माता-पिता का द्वन्द्व अनिवार्य है। एक-एक पुष्प में माता-पिता योषा-वृषा या पुरुष-स्त्री के इस द्वन्द्व की सत्ता है। इसे ही मित्रावरुण का जोड़ा कहते हैं। परस्पर आकर्षण या मैत्रीभाव इस जोड़े की विशेषता है। मित्र और वरुण इन दोनों के दो मण्डलों के मिलने से ही प्राण का जन्म संभव होता है। जो मित्र का मण्डल है, वह उष्ण या आग्नेय है। जो वरुण का मण्डल है, वह शीत या जलीय है। अग्नि और सोम, उष्ण और शीत, मित्र और वरुण, द्युलोक और पृथिवी, इस द्वन्द्व के बिना प्राण या जीवन का जन्म संभव नहीं।

रोदसी का अर्थ :—

जिस प्रकार रोदसी या द्यावा पृथिवी रूप विश्व में माता और पिता अनिवार्य हैं, उसी प्रकार रोदसी में जितनी प्राणि-सृष्टि है, वह अन्न-अन्नाद के नियम के अधीन है। जिस केन्द्र में प्राण का जन्म होता है उसमें अशनाया तत्व या बुभुक्षा का नियम अवश्य काम करता है। बालक भूख से व्याकुल होकर रोता है। इसलिये अग्नि की सोम के लिए व्याकुलता या भूख को ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा है। जो अन्नाद या अन्न का खानेवाला है, वह अन्न के लिए रुदन करता है। जो रुदन करता है वह रुद्र है (यदरोदीत्तमस्माद् रुद्रः, शतपथ ६।१।३।१०)। अग्नि ही रुद्र है (अग्निर्वैरुद्रः, श० ५।३।१।१०)। अन्नाद अग्नि अन्न रूप सोम के बिना नहीं रह सकता। इसीलिए अग्नि के दो रूप कहे गये हैं—एक घोर दूसरा अघोर। अग्नि को जब सोम नहीं मिलता, तो वह घोर या मृत्यु रूप हो जाता है। बिना सोम के अग्नि जिस केन्द्र में रहता है, उसी को नष्ट कर डालता है, जैसे बिना घी के दीपक की ज्वाला अपनी बत्ती को जला डालती है। किन्तु जैसे ही अग्नि को सोम मिलता है अग्नि शांत और शिव बन जाता है। अपनी जठराग्नि में इस प्रक्रिया को हम नित्य देखते हैं। अन्न रूप सोम की आहुति से वैश्वानर अग्नि कुछ समय के लिए शान्त हो जाता है और फिर व्याकुल हो उठता है। अन्न-अन्नाद का यह नियम यज्ञ है। द्यावा पृथिवी के मध्य में जितनी सृष्टि है सब इस नियम से व्याप्त है। इसी कारण इसे रुद्राग्नि का लोक या रोदसी कहते हैं।

तीन अग्नियाँ :—

एक अग्नि पृथिवी पर और दूसरी द्युलोक में सूर्य रूप में है। दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है दोनों के बीच तीसरी अन्तरिक्ष की अग्नि है जिसके माध्यम से दोनों का सम्बन्ध होता है। इसीलिए अग्नि त्रेता या तीन अग्नियां कही जाती हैं और अग्नि को तीन लोकों में प्रज्वलित माना जाता है—विद्मा ते अग्ने त्रेधा त्रयाणि (यजु० १२।१९)। मन-प्राण-वाक् सूर्य ये तीन अग्नियां हैं। इस विषय में शौनक ने बृहद्देवता में अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख किया है—भवत् भूत और भव्य, जंगम और स्थावर इनका प्रभव और प्रलय अर्थात् उत्पत्ति और विनाश का कारण सूर्य ही है। सूर्य ही प्रजापति है जो असत्

और सत् इन दोनों का उद्गम स्थान है। सूर्य ही अपने आप को तीन रूपों म विभक्त करके इन तीनों लोकों में स्थित है। सब देव उसकी रश्मियों में समाये हुए हैं। ऋषि तीन नामों से उसी की उपासना करते हैं। वही प्रत्येक प्राणी के उदर में जठराग्नि रूप में प्रज्वलित है। यज्ञों में कुशा बिछाकर उसी का तीन स्थानों में आवाहन किया जाता है। उसे ही इस लोक में अग्नि, मध्य लोक में वायु-इन्द्र, और द्युलोक में सूर्य कहते हैं। ये ही तीन देवता हैं —

कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान्यथायथं सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥
एतद्भूतेषु लोकेषु अग्निभूतं स्थितं त्रिधा ।
ऋषयो गीर्भिरर्चन्ति व्यंजितं नामभिस्त्रिभिः ॥
तिष्ठत्येव हि भूतानां जठरे जठरे ज्वलन् ।
त्रिस्थानं चैनमर्चन्ति होत्रायां वृक्त बर्हिषः ॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च ।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास् तिस्र एवेह देवताः ॥ (बृ० दे० १।६३, ६४, ६५, ६९) ॥

अग्नि के तीन भ्राता :—

निदान विद्या के अनुसार तीन अग्नियों को ऋग्वेद में तीन भ्राता कहा गया है (१।१६४।१)। पृथिवी की अग्नि पवमान, अन्तरिक्ष की पावक और द्युलोक की शुचि कही जाती है। पवमान को निर्मन्थ्य अग्नि भी कहते हैं, क्योंकि वह दो अरणियों को मथकर उत्पन्न की जाती है। यज्ञ में दो अरणियों की कल्पना महत्वपूर्ण है। माता और पिता शिशु रूप अग्नि को उत्पन्न करने वाले दो मंथन दण्ड हैं। इन्हें ही प्राण और अपान भी कहते हैं। शरीर में प्राण और अपान दो लोढ़ों के समान हैं जो व्यान रूपी शिला पर दो ओर से टकराते हैं और परस्पर के घर्षण से शारीरिक अग्नि उत्पन्न करते हैं। मध्यस्थ व्यान प्राण की संज्ञा वामन भी है। केन्द्र या हृदय में प्रतिष्ठित होने के कारण इसे वामन कहा जाता है। यही शक्ति जब केन्द्र से बाहर फलती है तो इसका रूप विराट् हो जाता है। शुचि-पावक-पवमान इन तीन अग्नियों को ही क्रमशः ब्रह्माग्नि, देवाग्नि और भूताग्नि कहते हैं। हमें केवल भूताग्नि प्रत्यक्ष होती है, शेष उसके दो रूप नहीं। जैसे स्थूल शरीर ही भौतिक होने से प्रत्यक्ष का विषय है और आँख से देखा जाता है, उसके आधार पर रहनेवाले प्राण और मन नेत्र से दिखाई नहीं पड़ते, ऐसे ही देवाग्नि और ब्रह्माग्नि प्रत्यक्ष का विषय नहीं। शरीर के भीतर जो क्षार और अम्लयुक्त रसात्मक भौतिक अग्नि है, उसे शल्य द्वारा प्रत्यक्ष देख सकते हैं। किन्तु शरीर के भीतर की प्राणक्रिया और मानस क्रिया की ध्रुव सत्ता होते हुए भी उन्हें प्रत्यक्ष देखना संभव नहीं इसी दृष्टि से पार्थिव अग्नि को स्थूल घन, अन्तरिक्ष की अग्नि को तरल और द्युलोक की अग्नि को विरल कहा जाता है। इस दृष्टि से भौतिक देह घन है। उसमें व्याप्त प्राण की क्रिया तरल और मन की क्रिया विरल है। विरल अग्नि सबसे सूक्ष्म और सबसे अधिक व्याप्त होती है। यही दशा मन की है जो निकट और दूर सर्वत्र व्याप्त हो जाता है।

वैदिक प्रतीक या निदान विद्या :—

वैदिक भाषा में प्रतीकों का सबसे अधिक महत्व है। प्रत्यक्ष शब्दों की अपेक्षा संकेत ही अधिक महत्वपूर्ण हैं। परोक्ष प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः, यह वैदिक अर्थों का नियामक सूत्र है। मनुष्यों के कण्ठ से जिन शब्दों का उच्चारण होता है वे शब्द उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। जैसे गौ शब्द कण्ठ से जन्म लेकर विनष्ट हो जाता है। किन्तु जो गौ पशु है, वह जैसी पूर्व में थी वैसी ही आज भी है और आगे भी रहेगी। उसमें जो प्रक्रिया हो रही है, वह नित्य है। प्रकृति में गौ की रचना मानवी कृति नहीं, नित्य कृति है। अतएव वह अपौरुषेय रचना है। गौ के प्रतीक से जो अर्थ ग्रहण किये जाते हैं वे भी नित्य होने के कारण अपौरुषेय हैं। इस प्रकार सृष्टि का कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो विश्व की रचना के परोक्ष अर्थों की व्याख्या न करता हो। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, समुद्र, मेघ, आकाश, नदी, वृक्ष, वन, जल, अग्नि इत्यादि जितने शत-सहस्र पदार्थ हैं, सब अपने-अपने प्रतीक से सृष्टि के रहस्य को प्रकट कर रहे हैं। वे शब्दमयी भाषा की अपेक्षा कहीं गंभीर अर्थों के परोक्ष संकेत प्रदान करते हैं। ऋषियों ने सृष्टि विद्या के अर्थों को इन खूंटियों पर टाँग कर अर्थों की इसी शैली को अपनाया।

गौतत्त्व :—

उदाहरण के लिए जो गौ है वह दूध का प्रतीक है। दूध देने वाले और भी कई पशु हैं पर उनमें गौ ही सर्वश्रेष्ठ है। गौ के शरीर में कोई ऐसी रसायनशाला है जो जल को दूध में बदल देती है। किन्तु गौ भी तब तक दूध नहीं देती जब तक वह बियाती नहीं। अतएव स्पष्ट हुआ कि नीर का क्षीर में परिवर्तन ही प्रजनन या मातृत्व है। दूध और पानी में क्या अन्तर है ? इस प्रश्न का प्रतीकात्मक उत्तर स्पष्ट है पानी वह है जिसको मथने से त्रिकाल में भी घी या स्नेह नहीं प्राप्त होता। किन्तु दूध ऐसा श्वेत द्रव है जिसके रोम-रोम में घृत के कण व्याप्त हो गए हैं। यह घृत माता के हृदय का स्नेह है जो वह वत्स के लिये प्रकट करती है। अतएव गौ मातृत्व या प्रजनन का प्रतीक है। गौ जब गर्भित होती है तभी वह बछड़े को जन्म देती है और तभी उसमें दूध देने की क्षमता उत्पन्न होती है। गौ या मातृ तत्व सोम है। गौ वृषभ के शुक्र या आग्नेय गुण से गर्भ धारण करती है। यह अग्नि ही गौ के दूध में व्याप्त घृत है। पानी और घी का अन्तर यह है कि पानी से आग बुझती है और घी से प्रज्वलित होती है। अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा है कि घृत अग्नि का साक्षात् रूप है (एतद्वा अग्नेः प्रियं धाम यद्घृतं, तै० १।१।९।६; एतद् वै प्रत्यक्ष यज्ञरूपं यद्घृतं, शतपथ १२।८।२।१५)। जिस प्रकार वृषभ और गौ से वत्स का जन्म होता है, वैसे ही पुरुष और प्रकृति के पारस्परिक संयोग से विश्व का जन्म होता है। इस विश्वरूपी वत्स की माता अनन्त प्रकृति है, उसे अदिति कहते हैं। वह कामदुघा और विश्वाधायस् धेनु है, अर्थात् काम ही उसका दूध है और विश्व ही उससे तृप्त होनेवाला वत्स है। इस प्रकार गौ का प्रतीक अनेक अर्थों की उद्भावना कराता है। जहाँ-जहां प्रजनन या मातृत्व है वहीं-वहीं गौ के रूप की अर्थगति है। पृथिवी गौ है जो अनन्त वृक्ष वनस्पति को प्रतिवर्ष जन्म देती है। ऐसे ही विश्व के प्राणिमात्र की जितनी माताएँ हैं, सब गौ के रूप हैं। सूर्य की रश्मियाँ गौएँ हैं जो अपनी गति से समस्त संसार में विचरण करती हैं और जिस पृथ्वी से उनका सम्पर्क होता है उसे वे गर्भधारण की योग्यता प्रदान करती हैं। सूर्य की उष्णता से ही पृथ्वी गर्भित होती है। इसी प्रकार और सूक्ष्म स्तर में प्रविष्ट होने से ज्ञात होता है कि वाक् भी गौ है। वह मन रूपी वृषभ से गर्भित होती है। मन के विचार ही वाणी में आते हैं और दोनों के सम्मिलन से प्राण या क्रिया का जन्म होता है। वेद में अनेक प्रकार से गौ के रूप का विस्तार है। ऋषियों को अर्थों की यह परोक्ष शैली मनःपूत थी। जाने-पहिचाने पदार्थों को लेकर वे उनके साथ सृष्टि विद्या के अर्थों का सम्बन्ध जोड़ देते थे। इस विश्व को जब वृक्ष या अश्वत्थ कहा जाता है तो उसका अभिप्राय यह है कि अश्वत्थ के जन्म की कथा से विश्व के जन्म और विकास की व्याख्या समझी जा सके। शक्ति का कोई महान् स्तम्भ पृथिवी से द्युलोक तक वृक्ष की भाँति ऊर्ध्व और स्तब्ध खड़ा है। इसे ही ऋग्वेद में वाण (धमन्ता वाणं मरुतः सुदानवः ८।२०।८) और ओपश या श्रृंग भी कहा है ((१।१७३।६)। यह स्कम्भ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि यज्ञ ही वह ओपश या धारणात्मक टेक है जिस पर सृष्टि का दूर-से-दूर और निकट से निकट का प्रत्येक भाग अविचल रूप से ठहरा हुआ है (ऋ० ८।१४।१५)। यद्यपि यह ब्रह्मचक्र सदा भ्रमणशील देखा जाता है, किन्तु इसका धुरा कभी गर्म नहीं होता और जो भुवन इसमें पिरोये हुए हैं वे तिलमात्र भी विचलित नहीं होते। इस पट का वितान अति सुन्दर है। अहोरात्र, दर्श-पौर्णमास, ऋतुएँ, अयन और संवत्सर इनके अंशों से यह चक्र निरन्तर आगे बढ़ रहा है, मानों काल रूपी कोई अश्व अपनी दुर्धर्ष गति से इस विराट् देवरथ को चला रहा है। प्रतीकों की दृष्टि से ऋग्वेद विश्व के समस्त साहित्य में सर्वोपरि स्थान रखता है। इस समय संसार में धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या के प्रति एक नई अभिरुचि देखी जाती है। पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि धार्मिक प्रतीकों के अर्थों पर विचार करने से ही आगे का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। इस क्षेत्र में सबसे बड़ी सहायता मनोविज्ञान शास्त्र से प्राप्त हो रही है और भविष्य में प्राप्त होने की संभावना है। प्रतीकों के अर्थों की दृष्टि से ऋग्वेद के प्रति विश्व के विद्वानों का सविशेष ध्यान आकृष्ट हो रहा है।

मन का महत्त्व :—

ऋग्वेद के अनुसार यह विश्व प्रजापति के मन की रचना है। इसे प्रजापति का कामप्र यज्ञ भी कहा गया है। जहाँ मन है वहीं कामना है। काम मन का प्रथम रेत या शक्ति-बीज था। उसी से यह सब रचना हुई।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् (नासदीयसूक्त)।

वैदिक सृष्टि विद्या और अर्वाचीन मनोविज्ञान शास्त्र की स्थापनाओं में अद्भुत सादृश्य दिखाई पड़ता है। जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएं मन के ही रूप हैं। मन का ही प्रकट रूप विश्व और मानव हैं। अरबों-खरबों संस्कारों को सुरक्षित

रखने वाला कोश मन या बुद्धि ही है। मन प्रज्ञान और बुद्धि विज्ञान है। दोनों एक प्रज्ञा तत्व के रूप हैं। प्रज्ञान चन्द्रमा के समान सौम्य या घटनेवाला है। विज्ञान सूर्य के समान अविचाली तेज से युक्त रहता है। चेतन या जाग्रत मन प्रज्ञा का अति अल्प भाग है। मन की महती सत्ता तो अवचेतन प्रज्ञा में है। उसी से सब प्रेरणाओं के स्रोत उन्मुक्त होते हैं। यही रुंधे हुए जलों का इन्द्र द्वारा उन्मोचन है। ऋत ही समष्टि मन है। जिस व्यष्टि मन का सम्बन्ध समष्टि मन (कलेक्टिव अनकांशस माइण्ड) से जुड़ जाता है, उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। वेदों के उपाख्यान या देवता-वर्णनों का अधिकांश लक्ष्य मन की व्याख्या है। मन के ही रूप इन्द्र और अग्नि हैं, मनस्तत्व ही आदित्य या सूर्य है। विराट् सूर्य-ज्योति प्रजापति के मन का रूप है। उसी की एक-एक रश्मि व्यष्टि मन या मानव के केन्द्र में प्रतिबिम्बित होती है। इसी दृष्टि से मनु का यह श्लोक संगत है :—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ (मनु० १२।१२३)।

अग्नि, प्राण, इन्द्र, शाश्वत ब्रह्म और मनु—ये एक ही प्रजापति या प्रजननात्मक तत्व के रूप हैं। मन एक पात्र है, जो विचारों के जल से भरा हुआ है। जन्मपर्यन्त इस सरोवर से वाक् की धारा बहती रहती है, पर यह शुष्क या रिक्त नहीं होता। मन को अर्वाचीन मनोविज्ञान में मंडल कहा जाता है। प्रो० युंग ने मंडल के द्वारा ही अपने शास्त्र की व्याख्या की है। उनके अनुसंधान का आधार स्वप्न है। स्वप्न में जो दृश्य देखे जाते हैं वे अवचेतन मन की गूढ़ दशाओं का परिचय देते हैं। यह मनु के 'स्वप्नधीगम्य' (१२।१२२) विशेषण का अक्षरशः अनुवाद है। वैदिक शोध का भविष्य बहुत कुछ मनोविज्ञान शास्त्र, प्रतीक शास्त्र और यज्ञशास्त्र के हाथों समर्पित है। ऋषियों ने वेदार्थ को सरल बनाने के लिए ही प्रतीकों का आश्रय लिया था। बालकपन से ही हम प्रतीकों के स्थूलरूप को देखने लगते हैं। उनके सूक्ष्म अर्थों को समझने का अभ्यास ही प्रज्ञा का उन्मेष है।

शिव संकल्प :—

मानस शास्त्र का सुफल आत्मगत शिव-संकल्प (आटोसजेशन या साइकोथिरेपी) में माना जाता है। वेद-मंत्रों में इनका अपरिमित भंडार भरा है। ये सब 'सु' के रूप हैं और प्राण के मूलभूत स्वस्तिक की व्याख्या हैं। सुवाच्, सुमन, सुविज्ञान, सुपाणि, स्वाहुति, सुदेव, सुदुघा, सुफला, सुमति, सुदक्ष, सुजिह्व सुजुष्ट, सुक्रतु, स्वावेश, स्वाहुत, सुग्रथित आदि इस प्राण रूपी सुचक्र के सैकड़ों आरे हैं। जिन भावों का 'सु' से संबंध है उनकी प्रतिष्ठा सूर्य है। स्वस्तिक का आधार सूर्य है। सब देवों के मध्य में सूर्य 'सुदेव' है। विश्व में दो प्रकार के रूप हैं, एक 'सु' दूसरे 'दुस्', एक अच्छे, दूसरे बुरे। पहले अमृत, दूसरे मर्त्य हैं। एक ज्योति, दूसरे तम हैं। एक का रूप इन्द्र, दूसरे का वृत्र या अघ है। शरीर, परिवार, समाज और राष्ट्र की कुशल-क्षेम के लिये सुवाचयास्वाहा कृतियों की आवश्यकता होती है।

पूर्ण कलश :—

वैदिक साहित्य में शरीर की दो कल्पनाएँ हैं। एक के अनुसार यह सोम से भरा हुआ द्रोण कलश है और दूसरे के अनुसार अग्नि से भरी उखा या अंगीठी है। अग्नि और सोम दोनों ही इस शरीर में प्रतिष्ठित हैं। अग्नि में सोम की आहुति सवन या अग्निसुत्या कही जाती है। अग्नि में अग्नि की वृद्धि, चयन या अग्निचित्या है। अग्नि और सोम की यह दोहरी प्रक्रिया शरीर के एक-एक कोश में प्रतिक्षण हो रही है। एक से शरीर बढ़ता है, दूसरे से नई-नई शक्ति मिलती है। दोनों ही यज्ञ के रूप हैं। यजुर्वेद अध्याय चार से दस तक सवन का एवं अध्याय ग्यारह से अठारह तक चयन यज्ञ का विस्तार है। इनमें कर्मकांड की जो विधियाँ हैं उनका लक्ष्य अध्यात्म और अधिदैवत की यज्ञ-विद्या है। राजसूय और वाजपेय दोनों सोमयज्ञ हैं। राजसूय का लक्ष्य प्रज्ञान मन और वाजपेय का विज्ञानात्मक बुद्धि है। यज्ञ-विद्या अति गूढ़ है। इस पर दीर्घ स्वाध्याय की आवश्यकता है।

जिस शरीर को पूर्ण कलश कहा जाता है, वह प्रकृति की सबसे रहस्यपूर्ण कृति है। विश्व में ऐसा कुछ नहीं, जो इस शरीर में न हो। जिस सविता ने इसका निर्माण किया, उसने इस कलश के सोम को औंटते समय उसमें अपने अच्छे-से-अच्छे सभी द्रव्य या 'सव' मिला दिए हैं—

श्रेष्ठं सवं सविता साविषक्षो
अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम् । (ऋ० १।१६४।२६) ।

अथर्व वेद में इस मानवी शरीर का अति पल्लवित वर्णन है। पुरुष के शरीर में मांस आदि अवयवों का आधान करने-वाला देव कौन है। किसने इस मस्तिष्क और कपाल को बनाया है? प्रिय और अप्रिय स्वप्न, तन्द्रा, आनन्द, समृद्धि और मति कहाँ से पुरुष को प्राप्त हुए हैं? किसने इसमें लाल, नीले, ऊपर और नीचे दौड़ने वाले अनेक प्रकार के तीव्र रसों को भरा है? किसने रूप, महिमा और नाम का आधान किया है? किस देव ने प्राण, अपान और व्यान को बुनकर यह पट बनाया है? किसने सत्य और अनृत, आयु और बल की प्रतिष्ठा करके यज्ञ का विधान किया है? किसने इसमें रेत या बीज का निर्माण किया, जिससे यज्ञ का यह तन्तु या धागा बराबर जारी रहे? इस रचना के भीतर पृथिवी रूप जठराग्नि से लेकर द्युलोक रूपी मस्तिष्क तक जो एक बाण या ऊर्ध्व दण्ड है किसने उसे खड़ा किया है? इस अग्नि या संवत्सर की मात्रा या ठीक नाप जोख करने वाला कौन है? ये सब प्रश्न गर्भ विद्या से सम्बन्ध रखते हैं। इनके उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्म या अग्नितत्त्व ही इस सोने की पुरी को तैयार करता है और अथर्वा प्राण उस शीर्ष भाग की रचना करता है जो देवों का कोश है। अग्नितत्त्व की संज्ञा ही अथर्वा है। अथर-अतर-आतिश-आज़र ये सब अग्नि के ही नाम हैं। इस प्रकार की अमृत से भरी हुई पुरी की रचना की संज्ञा प्राणात्मक शरीर है। इसके रहस्यों का वारापार नहीं। सभ्यता के आरम्भ से आज तक इसकी विचित्रताओं का पूरा परिज्ञान नहीं हो सका। सोम या जीवन मानव के इस कलश में शत धाराओं से भर रहा है। (सोम:कलशे शतयामना पथा, अथर्व १८।४।६०)। जीवन से धन्य इस सोमपात्र को यथार्थ रूप से जान लेना ही वेद या प्राचीन अध्यात्म विद्या का उद्देश्य है।

दिगम्बर जैन संघ के अतीत की एक झांकी

((ले० प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी, प्रा० जैन वि०, मु० पुर)

भारतीय मुनिधर्म वैदिक, जैन और बौद्ध धाराओं में विभक्त पाया जाता है। इसमें जैन धारा की विशेषता यह है कि वह विचारों में जितनी मध्यमार्गी है उतनी आचार में नहीं। उसमें जितना भी कठिन मार्ग, कायक्लेश, उपवास, तप, तिल-तुषमात्र भी परिग्रह के त्याग का अभ्यास किया जाय, उतनी पूर्णता समझी जाती है। स्वयं भगवान् महावीर का जीवन इस विषय में आदर्श था।

इतर मुनिधर्मों के समान ही जैन मुनिधर्म का भी क्रमिक विकास हुआ है। इसके पीछे मानव स्वभाव, देश की परिस्थितियाँ और काल के प्रभाव कारण हैं। इसे समझने के लिये हमारे पास प्रचुर सामग्री है, जिसे हम सुविधा की दृष्टि से साहित्य, ग्रन्थ प्रशस्तियों, पट्टावलियों और उत्कीर्ण लेख सामग्री में विभक्त कर सकते हैं।

साहित्यिक सामग्री को देखने से हमें पता चलता है कि भगवान् महावीर ने अपने जीवन में मुनिसंघ के कोई भेद नहीं किये थे। उन्होंने अचेलक धर्म का प्रतिपादन किया था और स्वयं उग्र चर्या वाले होने से नग्न रहते थे। उनके जीवन के शेष काल में कुछ सिद्धान्तों को लेकर भेद की बात उठी थी, जो निह्नव कहलाते थे। पर वे क्षण स्थायी थे। इससे तब जैन संघ में कोई भेद न हो सका। उनके निर्वाण के बाद ६–७ सौ वर्षों में कुछ ऐसे कारण कलाप इकट्ठे हुए कि ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी के लगभग जैन संघ श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय, कूर्चक एवं अर्धफालक आदि भेदों में विभक्त होने लगा। इन सब के पीछे विरोध का प्रधान कारण है वस्त्र। प्रधान भेद श्वेताम्बर और दिगम्बर इस बात को सूचित करते हैं।

संघ भेद के कारण—दिगम्बर मान्यता के अनुसार मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (ई० पूर्व ३२१–२९८) के समय भद्रबाहु (श्रुतकेवली) ने १२ वर्ष के भयंकर दुर्भिक्ष की भविष्यवाणी की, जिससे मुनि संघ का एक वर्ग उनके नेतृत्व में दक्षिण भारत चला गया और कुछ लोग मगध में ही रह गये। कुछ समय के बाद कुछ आचार्य उज्जैनी में मिले, पर उस समय भी दुर्भिक्ष विद्यमान था, इसलिए उन्होंने भिक्षा के समय मुनियों को नग्नता ढंकने के लिए वस्त्रखण्ड रखने की अनुमति दे दी। परन्तु दुर्भिक्ष बीत जाने के बाद भी उन्होंने उसे रखना नहीं छोड़ा। परम्परानुसारी मुनियों ने उसका विरोध किया। इसके बाद ये अर्द्धफालक ही श्वेताम्बरों के पुरोगामी हुए। पर अन्तिम भेद वलभीपुर के राजा लोकपाल की रानी चन्द्रलेखा के कारण पीछे हुआ। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि रानी ने अर्धफालक साधुओं को निमंत्रण दिया, परन्तु उनको पूरी तरह कपड़ा पहने न देख और न पूरा नग्न देख राजा को बड़ी निराशा हुई। तब रानी ने उन्हें पूरी तरह सफेद कपड़ा पहन आने की आज्ञा दी। इसके बाद से अर्द्धफालक कपड़ा पहनने लगे और तब से श्वेतपट (श्वेताम्बर) कहलाने लगे। दिग० मान्यता के अनुसार यह घटना वि० सं० १३६ में हुई थी।

श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष (वि० सं० १३९) बाद एक शिवभूति ने दिगम्बर मत चलाया था। कहानी इस प्रकार है कि: रथवीरपुर में शिवभूति नाम का एक सामन्त रहता था, जिसने अपने राजा से अनेक युद्धों में बहादुरी के कारण सम्मान पाया। इससे शिवभूति बड़ा घमंडी हो गया। एक बार शिवभूति बहुत रात गये घर लौटा। उसकी माँ ने फटकारा तथा द्वार नहीं खोला और कहा कि जहाँ तुम्हारे लिए द्वार खुला हो वहाँ चले जाओ। तब वह एक ऐसी जगह गया जहाँ दरवाजे खुले थे और भाग्य से वह मठ था। वहाँ उसने मठाधीश से दीक्षा देने को कहा, पर उसने इंकार किया, इससे वह स्वयं केशलुंचन कर साधु हो गया और भ्रमण करने लगा। एकबार वह अपने राजा के नगर में आया तो राजा ने उसे बहुमूल्य वस्त्र भेंट किये। शिवभूति के प्रधान आचार्य ने वस्त्र लौटा देने की आज्ञा दी, किन्तु शिवभूति ने ऐसा नहीं किया तब आचार्य ने उस वस्त्र के टुकड़े करके उसके आसन बना डाले। इस पर शिवभूति बहुत क्रोधित हुआ। उसने कहा कि महावीर की तरह मैं भी वस्त्र नहीं पहनूंगा। ऐसा कह उसने सब वस्त्रों का त्याग कर दिया। उसकी बहिन ने भी उसका अनुसरण किया, परन्तु उसने कारणवश उसे नग्न रहना मना कर दिया और प्रकट किया कि स्त्री मोक्ष नहीं जा सकती। उसके कौण्डिन्य और कोट्टिवर नामक व्यक्ति शिष्य हो गये। इस शिवभूति ने बोडिक मत चलाया।

एक दूसरी श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार कहा जाता है कि छठें स्थविर भद्रबाहु के समय में अर्धस्फालक सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। इनमें से वि० सं० १३६ में दिगम्बरों की उत्पत्ति हुई, जो मूलसंघ कहलाया।[1]

यापनीयों के संबंध में देवसेनसूरि के 'दर्शनसार' में लिखा है कि वि० सं० २०५ में कल्याण नगर में श्रीकलश नाम के श्वेताम्बर साधु ने इस सम्प्रदाय की स्थापना की।

दन्तकथाओं की आलोचना—इन दन्तकथाओं के पीछे आपस में छींटाकसी और दूषित मनोवृत्ति के सिवाय तथ्यांश जो भी हो, पर तीनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति का समय प्रायः एक सा बैठता है, चाहे उसे वि० सं० १३६ कहें या १३९ या २०५ कहें; कारण यह है कि सम्प्रदायों की उत्पत्ति की जो भी तिथियाँ बताई जाती हैं, वे प्रायः बहुत सही नहीं होती। यहाँ थोड़ा-बहुत जो तथ्य प्रतिफलित होता है, वह यह है कि अर्द्धफालक को दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। अर्द्धफालक का अस्तित्व मथुरा से प्राप्त पुरातत्व से मालूम होता है। वहाँ के ककाली टीले से प्राप्त एक तोरण के अंश पर एक नग्न साधु चित्रित है,जिसकी कलाई पर खण्डवस्त्र लटका हुआ है। इस तोरण पर भगवान् के गर्भपरिवर्तन का दृश्य अंकित है और लेख पर कुषाण सं० ९५, (अर्थात् वि० सं० २३०) लिखा है। इस तरह अर्द्धफालक सम्प्रदाय का चित्रण भी इन भेदक संघों के प्रायः एक काल का बैठता है। यहाँ तीनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति का घटनास्थल प्रायः गुजरात मालूम पड़ता है, जिस क्षेत्र को लेकर इन दन्तकथाओं का सृजन हुआ था।

श्वेताम्बर दन्तकथा के शिवभूति के संबंध में हम इतना जानते हैं कि एक शिवभूति आचार्य का उल्लेख 'कल्पसूत्र-स्थविरावली' में आया है तथा 'आवश्यक सूत्र भाष्य' में शिवभूति को वीर निर्वाण के पश्चात् ६०९ वर्ष में बोडिक संघ का संस्थापक कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य ने 'भाव पाहुड' में कहा है कि शिवभूति ने भाव-विशुद्धि के द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। जिनसेन ने अपने 'हरिवंशपुराण में लोहार्य के पश्चात्वर्ती आचार्यों में शिवगुप्त मुनि का उल्लेख किया है, जिन्होंने अपने गुणों से अर्हद्बलि पद को धारण किया था। इन्द्रनन्दि ने अर्हद्बलि से नन्दि, देव, सिंह और सेन संघों की उत्पत्ति बतलाई है। मुनि आचार की एक प्राचीन रचना 'भगवती आराधना' है, जिसके कर्ता शिवार्य हैं, जिनका समय विक्रम की प्रारंभिक शताब्दियों का है। यह ग्रंथ यापनीय सम्प्रदाय का बताया जाता है। हो सकता है उक्त दन्तकथा इन्हीं को लक्ष्य कर विकृत रूप में गढ़ी गई हो।

वस्तु स्थिति जो भी हो पर हमारी समझ में आता है कि ये भेद आकस्मिक नहीं है। वे जैन धर्म की शैशवावस्था से ही चले आते हैं। यहाँ हम उन कारणों की ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचना करना चाहते हैं।

संघ भेद का ऐतिहासिक विकास :—

पालि भाषा के बौद्ध पिटकों से, जो कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में सिंहल नृप वट्टगामिनी के काल में लेखबद्ध हो अन्तिम रूप पा चुके थे, जैन धर्म की अनेक बातों का स्पष्ट रूप से या इंगित रूप से, विकृत रूप में तथा कहीं अविकृत रूप में परिचय मिलता है। तथाकथित इस जैनधर्म को विद्वान् लोग बुद्ध एवं महावीर के समय का या उनसे पूर्ववर्ती पार्श्वनाथ का धर्म बताते हैं। अनेक प्रसंगो में उन ग्रन्थों में 'निगण्ठो नातपुत्तो' तथा 'निगंठा एक साटका' एवं 'अचेलक' जैसे शब्द महावीर या जैन धर्म के अनुयायियों के विषय में आते हैं। इन शब्दों का अर्थ श्वेताम्बर आगम के अभ्यासियों को समझना कठिन नहीं है। उक्त साहित्य के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव एवं अंतिम तीर्थंकर महावीर ने अचेलक (वस्त्ररहित) धर्म का उपदेश दिया था और शेष २२ तीर्थंकरों ने सचेल एवं अचेल दोनों धर्मों का। 'उत्तराध्ययन सूत्र' के केशी गौतम सम्वाद से प्रकट होता है कि महावीर के समय में पार्श्वापत्यिक परम्परा के केशी सचेल थे और महावीर ने अचेलक धर्म का प्रतिपादन किया (भए अचेलए धम्मे पण्णत्ते) था। उससे विदित होता है कि जैन धर्म में सचेलत्व एवं अचेलत्व दोनों विद्यमान थे, यद्यपि भ० महावीर ने अचेलत्व का प्रतिपादन किया था।

दोनों सम्प्रदायों में महावीर के समय से जम्बू तक, जो कि महावीर के निर्वाण पश्चात् ६४ वें वर्ष याने ई० पूर्व ४०३ में निर्वाण को प्राप्त हुए थे, के गुरुओं की वंशावली एक सी स्वीकार की गई है। जम्बू के पश्चात् दोनों पक्ष अपने अपने गुरुओं की भिन्न-भिन्न वंशावलियाँ देते हैं, परन्तु मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय (ई० पू० ३२१-२९८) में हुए भद्रबाहु को दोनों स्वीकार करते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने भद्रबाहु के विषय में 'परिशिष्ट पर्व' में लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में जब १२ वर्षीय दुर्भिक्ष

पड़ा तो वे नेपाल की ओर चले गये थे। जब दुर्भिक्ष हटा तो पाटलिपुत्र में, १२ अंगों का संकलन करने का आयोजन हुआ, पर भद्रबाहु उसमें सम्मिलित न हुए। फलतः भद्रबाहु और मगध संघ के साथ खींचातानी हो गई।

इसके बाद श्वेताम्बर ग्रंथों में गुरुओं की पट्टावलि भद्रबाहु के नाम से प्रारम्भ न कर उनके समकालीन स्थविर संभूति-विजय से शुरू करते हैं और दिगम्बर भद्रबाहु से। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जम्बू स्वामी और भद्रबाहु के बीच संक्रान्ति-काल में महावीर के समय की सेचलकत्व एवं अचेलकत्व की भावना पुनः अंकुरित होने लगी थी और जब उनका वर्णन थोड़े-बहुत रूप में आगमों में संकलित होने लगा तो एक वर्ग ने असहमति दिखायी। पीछे तो देश काल की परिस्थिति ने इन भावनाओं को और बढ़ाया। भद्रबाहु के बाद दिग० मान्यता के अनुसार जैनधर्म दक्षिण देश में चला गया और पाटलिपुत्र में संकलित आगम इस परम्परा को मान्य नहीं है। तथा भद्रबाहु के बाद आगम ज्ञान लुप्त हो गया।

उत्तर भारत में जैनधर्म मगध से धीरे-धीरे हटकर पूर्व में बंगाल और उड़ीसा की ओर गया तथा मध्य देश में मथुरा के पास आ, कुछ समय वहीं केन्द्रित हुआ और पीछे उसने पश्चिम भारत में अपने केन्द्र बना लिए। शक क्षत्रपकाल और कुषाण काल में मथुरा के आस पास जैनधर्म के वैभव को सूचित करने वाले अनेक प्रकार के शिल्प मिले हैं। वहाँ से प्राप्त अनेक मूर्ति लेखों से मालूम होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी पूर्व से चौथी शताब्दी तक जैन संघ कई कुल गण, शाखाओं एवं संभोगों-में विभक्त था, जिनकी पहचान 'कल्पसूत्र स्थालिरावलि में वर्णित कुल, गण एवं शाखाओं के कुछ नामों से की गई है। 'कल्पसूत्र स्थविरावलि' में उन गणों की संख्या ८ बताई गई है। वे गण शाखाओं और कुलों में विभक्त थे। प्रत्येक गण की पृथक्-पृथक् चार शाखाएँ थीं और कुलों की संख्या कम से कम तीन और अधिक से अधिक छ तक पहुँच गई थी। मथुरा के लेखों में ऐसे ४ गणों, ८ शाखाओं तथा १४ कुलों की पहचान की जा सकी है। इन लेखों में तीन संभोगों का उल्लेख भी है, जिनका नाम 'कल्पसूत्र स्थविरावलि में नहीं मिलता। गण का अर्थ बड़ी ईकाई था, जिसका प्रबंध वे आचार्य करते थे जो कि अत्यन्त श्रद्धालु सत्यवान मेधावी, स्मृतिवान् बहुश्रुत एवं-समभाववाले होते थे। गणों का नाम प्रायः आचार्य के नाम से होता था। कुल, आचार्य के शिष्यों के क्रम से चले थे और शाखाएँ कुलों का प्रभेद थीं। संभोग का अर्थ एक साथ समाचारी करने वाले एवं एक साथ भोजन करने वाले साधुवर्ग से था। मथुरा से प्राप्त लेखों से मालूम होता है कि कुल और शाखा, स्थान-विशेष के नाम या कलि विशेष के नाम से चले थे, संघ की भेदक कुछ और ईकाइयों का नाम भी मिलता है, जैसे गच्छ (गाच्छ. के वृक्ष अर्थ में) जो कि गण का नामान्तर प्रतीत होता है; गुम्म (गुल्म=छोटा वृक्ष) यह गच्छ का एक भेद था और फड्डय (स्पर्धक ?) गच्छ कालधुतर भेद था। मथुरा के लेखों में ऐसे केवल एक उल्ल गच्छ का उल्लेख मिलता है। उन लेखों में कई वाचक और महावाचक पदधारी आचार्यों का नाम मिलता है, जो कि आगमों के बांचने वाले रहे होंगे। इस प्रकार का उल्लेख हमें गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त (सन् ४३४ ई०) के समय तक के मिले हैं। इसके बाद मध्य देश में हमें इस परम्परा का कोई पता नहीं लगता।

यह परम्परा किस सम्प्रदाय की थी, यह कहना कठिन है। क्योंकि मथुरा के बाद पश्चिम भारत में तो ऐसी परम्परा का कदाचित् ही अस्तित्व मिला हो। दक्षिण भारत में तो इसका नाम भी नहीं। फिर भी मथुरा के शिल्प प्राचीन काल में अवश्य ही श्वेताम्बर, दिग० के बीच की कड़ी थे। वहाँ से कुछ ऐसे तथ्य भी मिले हैं, जो बताते हैं कि दोनों संप्रदायों में अनेक वस्तुएँ एक थीं। वहाँ की मूर्तियों में जैन तीर्थंकरों को नग्न बनाया गया है और लेखों में प्रायः कल्पसूत्र 'स्थाविरावलि,' में मिलने वाले गण, कुल, शाखाओं में से अधिकांश के नाम अंकित हैं। अर्द्धफालक सम्प्रदाय के साधुओं का चित्रण भी दिया है। मूर्ति लेखों में कुषाण सं० ५२ और ५४ के दो लेख बड़े महत्व के हैं। इनमें वाचक नागहस्ति और मंगुगणि का उल्लेख मिलता है। 'नन्दिसूत्रपट्टावलि' में इनका समय वीर निर्वाण सं० ६२०—६८९ दिया गया है जिससे मालूम होता है कि वे लेख उनके समकाल के हैं। दिगम्बर परम्परा मान्य धवलादि ग्रन्थों में उन्हें 'कषायप्राभृत' के कर्ता गुणधर के शिष्य एवं यतिवृषभ के गुरु माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि भद्रबाहु के बाद मध्य देश में जैन संघ ने ईसा के पूर्व एवं बाद की शताब्दियों में शाखा-प्रशाखाओं द्वारा अपना एक अच्छा संगठन कर लिया था। उसकी एक आगम परम्परा चल रही थी, भले ही वह एक अंश रूप में बची रही हो या सुव्यवस्थित न रही हो और उसकी मान्यता में सभी संघ को विवाद रहा हो।

मध्य देश का कुषाण राजाओं के बाद गुप्त राजाओं के उदय होने के पहले एक-डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास अन्धकाराकीर्ण है। इस समय जैन संघ की स्थिति का पता भी ठीक से नहीं लगता।

इन्हीं शताब्दियों के लगभग पश्चिम एवं दक्षिण भारत में उपलब्ध आगम ज्ञान को शृंखलाबद्ध कर धरसेन के शिष्य पुष्पदन्त भूतबलि ने एवं गुणधर आदि ने सिद्धान्त-ग्रंथ लिखने प्रारम्भ किये। इसी समय के लगभग शिवार्य, कुंदकुंद, वट्टकेर आदि ने अपने-अपने सम्प्रदाय के लिए मुनि धर्म का वर्णन करने वाले ग्रन्थ लिखे। इस आधार से दिगम्बर-श्वेताम्बर या यापनीयत्व की भावनाएँ कुछ-कुछ प्रस्फुटित होने लगीं। इन्हीं भावनाओं की प्रतिध्वनि स्वरूप इन शताब्दियों में विविध संघभेदों की स्थापना की कहानियाँ भी गढ़ी गईं।

पश्चिम भारत के नये वातावरण एवं नये राज्याश्रय में जैन संघ ने भी अपना नया रूप धारण किया। मथुरा के लेखों में मिलने वाली गण एवं कुलों की परम्परा वहीं समाप्त हो गई। दक्षिण भारत में यद्यपि उक्त परम्परा के कोई चिन्ह नहीं नहीं मिलते, पर उस क्षेत्र के पाँचवी शताब्दी के कदम्ब एवं गंगवंशी लेखों से विशाल जैन संघ के भेद सूचन करने वाले श्वेताम्बर महाश्रमण संघ, निर्ग्रन्थ महाश्रमण संघ, यापनीय संघ, और कूर्चक संघ के नाम मालूम होते हैं। इनमें से एक निर्ग्रंथ को छोड़ शेष नाम उस काल के लिए नये प्रतीत होते हैं। इनमें श्वेतपट महाश्रमणसंघ से श्वेताम्बर मुनिसंघ का अभिप्राय है, निर्ग्रंथ से अचेलक निर्ग्रन्थ अर्थात् दिगम्बर साधु संघ से मतलब है, और यापनीय संघ से अभिप्राय उस संघ के साधुओं से है, जो दिगम्बरों के समान नग्न रहते थे, पाणिपात्र भोजी थे, पर इनमें भी वस्त्र को अपवाद रूप से ग्रहण करने की आज्ञा थी। इस वर्ग के मुनियों की आचार-विचार परम्परा का ग्रन्थ शिवार्य विरचित 'भगवती आराधना' है।

इसी तरह कूर्चक सम्प्रदाय ईसा की पाँचवीं या उसके पहले जैन साधुओं का एक वर्ग था, जो दाढ़ी मूंछ रखता था। 'वरांगचरित' (जैन काव्य)के रचयिता जटाचार्य सिंहनन्दि संभव है, अपने 'जटाःप्रबलवृत्तयः' के कारण ऐसे वर्ग के साधुओं में से थे। यह दिगम्बर सम्प्रदाय का ही एक भेद था।

चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक इन नवगठित संघ भेदों के अवान्तर भेदों का उल्लेख या परिचय तत्कालीन साहित्य एवं लेखों से नहीं मिलता। दक्षिण भारत में मुनिधर्म का वर्णन करने वाले शिवार्य की 'भगवती आराधना', वट्टकेर के 'मूलाचार' एवं कुन्दकुन्द के कुछ ग्रन्थों में जैन मुनियों के दैनन्दिन आवश्यक आचारों का वर्णन है। उनमें जैन संघ के अवान्तर भेद संघ, गण, अन्वय, वलि आदि का, जिनका कि नाम हम पीछे पाँचवीं शताब्दी या उसके बाद के शिलालेखों में देखते हैं, परिचय तो दूर रहा, उल्लेख भी नहीं मिलता। 'मूलाचार' में एक जगह गण, गच्छ एवं कुल शब्दों की परिभाषा अवश्य दी गई है, परन्तु आचार्य वट्टकेर ने गण आदि के निर्माण के प्रति बड़ा क्षोभ प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है कि —

"वरं गणपवेसादो विवाहस्स पवेसनम्।
विवाहे राग-उप्पत्ती गणो दोसानमागरो॥"

अर्थात् 'गण में प्रवेश करने की अपेक्षा विवाह कर लेना अच्छा है। विवाह से राग की उत्पत्ति होती है, पर गण तो अनेक दुःखों की खानि है।'[1] संभव है, दक्षिणी भारत में इसीलिए बहुत काल तक शायद भद्रबाहु के बाद किसी संघ, गण, गच्छ का निर्माण न हो सका हो। इसलिए दक्षिणी जैनधर्म की मान्यता में महावीर के बाद की गुरुपरम्परा में, वीर नि० सं० ६८३ अर्थात् लोहाचार्य तक, एक-एक ही आचार्य शिष्य परम्परा से चले आये हैं और उनकी किन्हीं शाखा-प्रशाखाओं का उल्लेख नहीं मिलता। बाद के संघ एवं गणादि की उत्पत्ति में भी उन्होंने अपने पूर्वाचार्यों को नहीं लपेटा। इस कथन के प्रमाण स्वरूप हम 'तिलोयपण्णत्ति', पुन्नाट संघीय जिनसेन के 'हरिवंश पुराण' (६६वें सर्ग) में वर्णित महावीर से लेकर लोहाचार्य तक की गुरुपरम्परा एवं इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार' में दी गई आचार्य परम्परा को देख सकते हैं।

इसके बाद चार आरातीय मुनि होते हैं, जो अंग पूर्व के एक देश ज्ञाता थे। इनमें से ही तृतीय या चतुर्थ आचार्य शिवगुप्त या अर्हद्बलि से नवीन मुनिसंघ एवं गणों की उत्पत्ति कही गई है। इस तरह विक्रम की तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध संघों एवं गणों की उत्पत्ति का समय बैठता है। पर उनका शिलालेखीय उल्लेख पाँचवीं शताब्दी के पहले नहीं मिलता। इसके पहले समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था और वह चौथी-पाँचवीं शताब्दी के करीब तक चलता रहा। कदम्ब

१.—हंसों की पंक्ति नहीं होती और साधु जमात बनाकर नहीं चलते। इस उक्ति के पीछे भी शायद यही भाव है।

नरेश मृगेशवर्मा के एक ताम्रपत्र (सन् ४७० ई०) में इस भेद का प्रथम उल्लेख श्वेतपट महाश्रमण संघ और निग्रंन्थ महाश्रमण संघ के रूप में किया गया है। इसी नरेश के एक दूसरे लेख में यापनीय और कूर्चक के साथ निग्रंथ संघ का उल्लेख है।

आगे के संघ भेदों को समझनेके लिए यहाँ हम संक्षेप में पीछे तथा मध्य की परिस्थितियों का विहंगमावलोकन कर लेते हैं। महावीर के निर्वाण के बाद करीब ७०० वर्षों में हमने समस्त जैन संघ को विकासशील पाया। वह देश-काल एवं मानवीय प्रवृत्तियों का आश्रय ले विकसित होता रहा और ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दियों में कतिपय भेदों में प्रस्फुटित होने लगा। इसके बाद उसे नये देश, नये वातावरण, नये राज्याश्रय और नये समाज में परिस्थितिवश अपनी व्यवस्था करनी पड़ी, जिन व्यवस्थाओं के नाम पर उसमें आवश्यक परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया। जैन मुनि का आदर्श जो महावीर के युग में था, वह ७०० वर्ष बाद पर्याप्त बदल गया था। तिल-तुष परिग्रह न रखने वाला निर्ग्रन्थ साधु जमाने की चपेट में आ, अपवाद मार्ग का अवलम्बन ले, धार्मिक संस्थाओं की व्यवस्था देखने के नाम पर प्रवृत्तिमार्गी होने लगा था। उसने नवीन राज्याश्रय पा, नये संघों एवं गच्छों की स्थापना की तथा उनकी प्रेरणा से नवीन मठ एवं मंदिरों का निर्माण हुआ। नई-नई आचार्य परम्पराएँ कायम हुई, जिनमें कुछ तो स्थानीय और कुछ व्यापक रूप धारण करने लगीं। यह प्रक्रिया श्वेताम्बर-दिगम्बर एवं यापनीय तीनों संप्रदायों में एकसी दिखती है। शिथिलाचार की प्रवृत्ति के कारण बनों और जंगलों में रहने वाले साधु मन्दिरों और मठों में रहने लगे, पूजा और आरती करने लगे तथा जिनमन्दिर और शालाएँ बनवाने लगे। इस प्रकार की प्रवृत्ति वालों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय में 'चैत्यवासी' कहा गया है। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय के किसी ग्रन्थ में इस प्रवृत्ति वालों का चैत्यवासी नाम से उल्लेख नहीं मिलता, फिर भी उनके क्रिया-कलापों से कतिपय गणों एवं संघों के नाम पर से उन्हें पहचान सकते हैं। यह नई व्यवस्था का काल लगभग ७०० वर्षों के चलता रहा और ९ वीं तथा १० वीं शताब्दी के करीब इस नई प्रवृत्ति वाले बहुत प्रबल हो गये और एक प्रकार से कठोर मार्ग का अनुसरण करने वाले साधुओं की निन्दा करने लगे।

उस नई व्यवस्था के काल में भी निवृत्तिमार्गी परम्परानुयायी साधुओं का बड़ा समाज था, जो विज्ञापनहीन, जनजीवन से परे, अपनी आत्म आराधना में लगा रहता था और अपने सहधर्मियोंकी इस प्रवृत्ति का समय-समय पर तीव्र विरोध करता था। देवसेन ने अपने 'दर्शनसार' में ऐसे संघों को जैनाभास कहा है तथा आशाधर कवि ने इस प्रकार की प्रवृत्ति वालों मिथ्यात्वी कहा है। इस तरह एक ओर शिथिलाचार और दूसरी ओर परम्परानुसारी कठोर मार्ग के कारण अवान्तर-संघ भेद होने लगे। प्रारम्भ में नग्नता और सवस्त्रता को लेकर श्वेताम्बर या दिगम्बर का झगड़ा मुनियों तक सीमित था, किन्तु आगे उसे श्रावकवर्ग की क्रियापद्धति में शामिल कर श्रावकों में भी झगड़े के बीज बो दिये गये। जिसका फल यह हुआ कि तीर्थों एवं मंदिरों के नाम पर श्रावक वर्ग झगड़ने लगे, और धीरे-धीरे अवान्तर पन्थ उत्पन्न होते गये। प्रस्तुत निबन्ध में हम केवल दिगम्बर संघ का परिचय कराते हैं।

दिगम्बर संघ—

प्रारम्भ में समग्र जैन संघ का नाम निर्ग्रन्थ संघ था, पर पीछे संघभेद के कारण जब एक संघ ने 'श्वेत पट' या श्वेताम्बर नाम रख लिया तो दूसरे ने दोनों के बीच की कड़ी होने के कारण 'यापनीय' रखा। पर दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुयायियों का नाम प्रारम्भ से निर्ग्रंथ महाश्रमण संघ या निर्ग्रंथ ही रहा।

दक्षिण भारत में या पूर्व एवं पश्चिम भारत में जब जैन संघ पहुँचा तो उसके स्थान विशेष या देश विशेष के कारण कोई संघभेद न थे। यद्यपि मान्यताओं के कारण पीछे भेदपरक नाम होने लगे। पर प्रत्येक संघ अपनी इकाई बनाये हुए था। निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय (दिगम्बर) के भीतर पीछे शिथिलाचार की प्रवृत्ति देख, विशुद्धतावादियों का एक आन्दोलन चला, जिसमें यद्यपि निश्चय-व्यवहार से पदार्थों का निरूपण तो किया, पर आचार के क्षेत्र में परम निर्ग्रन्थता का ही प्रतिपादन किया और परम-निर्ग्रन्थता (दिगम्बरत्व) के प्रतिपादन में ठीक न बैठने वाली अनेक भावनाओं को चुन-चुन कर पृथक् किया। ऐसे लोगों ने अपना नाम परम निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर की परंपरा का सीधामूल का अनुयायी होने के कारण 'मूलसंघ' घोषित किया, जिसका अर्थ होता था कि दूसरे संघ अमूल हैं, महावीर के पन्थ का मूल उन्हें प्राप्त नहीं हुआ है।

मूलसंघ की स्थापना कब हुई यह कहना कठिन है। पीछे के ग्रन्थों और शिलालेखों में मूल संघके अग्रणी आचार्य के रूप

में कुन्दकुन्दाचार्य को स्मरण किया जाता है। इनका समय ईसा की प्रथम शताब्दी से पाँचवीं के बीच का माना जाता है। मूलसंघ का उल्लेख शिलालेखों में पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलता है। दिग० संघ में मूलसंघ के अनुकरण पर पीछे द्राविड़संघ एवं काष्ठासंघ की स्थापना हुई। इन सब का वर्णन पीछे क्रमशः किया गया है। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से इन संघों में कोई भेद नहीं है, पर भेद प्रवृत्ति के नाम पर बाह्याचार में थोड़ा बहुत अन्तर तो हो ही गया और ईसा की आठवीं शताब्दी के बाद से ये संघ एक दूसरे को बड़ी घृणा एवं द्वेष बुद्धि से देखने लगे। भट्टारक युग में तो एक दूसरे ने आपस में कीचड़ उछालने में भी संकोच नहीं किया। अस्तु जो हो, पर आज के दिगम्बर संघ या सम्प्रदाय के निर्माण में इन तीनों का बड़ा योग दान है। इतना ही नहीं, दक्षिण भारत में चलने वाली जैन और जैनेतर प्रवृत्तियों से भी दिग्जैन संघ बहुत प्रभावित हुआ है। उसके पड़ोसी यापनीय संघ की तो अनेक बातें इस संघ में आ गई और उनके अनेक साहित्यिक ग्रंथों को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया गया है। इन ग्रंथों की पहचान आज समालोचकों ने प्रायः कर ली है। आज का दिगम्बर समाज, सचमुच में यदि देखा जाय तो आंशिक रूप में यापनीय तथा निर्ग्रंथ सम्प्रदाय के अन्य संघों का ही विकसित रूप है। इसलिए यहाँ हम दिग० एवं यापनीय संघ के ऐसे कुछ भेदों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

मूल संघ —

मूल संघ की स्थापना का उल्लेख किसी प्राचीन ग्रन्थ एवं लेख में नहीं मिलता हाँ, उसके अवान्तर गणों एवं गच्छों का परिचय ११ वीं शताब्दी के आचार्य इन्द्रनन्दि के 'श्रुतावतार) में कुछ प्राचीन परम्परा का आधार बनाकर लिखा गया है। तदनुसार पुण्ड्रवर्धनपुर (बोगरा जिला, बंगाल) में अर्हद्बलि (वि० सं० २७५ के लगभग) नाम के आचार्य हो गये हैं। वे पाँच वर्ष के अन्त में सौ योजन में बसने वाले मुनियों को एकत्र करके युग प्रतिक्रमण किया करते थे। एक बार ऐसे ही युगप्रतिक्रमण के समय उन्होंने मुनियों से पूछा कि क्या सब मुनि आ गये, तब उन्होंने उत्तर दिया हाँ भगवन्! हम सब अपने अपने संघ सहित आ गये। यह सुन आचार्य ने विचार किया कि अब यह जैन धर्म गण पक्षपात के सहारे ठहर सकेगा, उदासीन भाव से नहीं। तब उन्होंने संघ या गण स्थापित किये। उन्होंने स्थान विशेष के आधार पर ये गण बनाये तथा गुफाओं से आने वालों को 'नंदि' या 'वीर'संज्ञा दी, अशोकवाटिका से आने वालों को'देव'या'अपराजित' कहा, पंचस्तूप से आये हुओं को 'सेन' या 'भद्र' कहा और शाल्मलि एवं खण्ड-केशर वृक्षों के पास से आने वालों को 'सिंह' 'भद्र' नाम दिया।

इन गणभेदों के पीछे ऐतिहासिक तथ्य जो भी हो, पर इन्द्रनन्दि ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि परम्परा के ज्ञायक गुरुजनों के अभाव से हम ठीक ठीक नहीं कह सकते कि इन भेदों की उत्पत्ति कैसे हुई है। तो भी उक्त कथन एवं कुछ उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के आधार से हम कह सकते हैं कि नन्दिसंघ या गण बहुत प्राचीन है। इस संघ की एक प्राकृत पट्टावली मिली है। नन्दिसंघ यापनीय और द्राविड़संघ में भी पाया जाता है। संभव है कि प्रारंभ में नन्द्यन्त नामधारी मुनियों के के नाम पर इसका संगठन किया गया हो। मूलसंघ के साथ इसका उल्लेख यापनीय एवं द्राविड़ संघ के बाद १२ वीं शताब्दी के लेखों में पाते हैं। पर १४–१५ वीं शताब्दी में नन्दि एवं मूलसंघ एक दूसरे के पर्यायवाची बन जाते हैं। इस संघ की उत्पत्ति प्रारंभ में गुफावासी मुनियों से कही गई है, जिससे प्रतीत होता है कि इस संघ के मुनिगण कठोर तपस्या प्रधान निर्लिप्त वनवासी थे, पीछे तो युगधर्म के अनुसार वे बहुत बदल गये। देव संघ का संगठन देवान्त नामधारी मुनियों पर से हुआ था, पीछे इसका प्रतिनिधि देशी गण उपलब्ध होता है। सेन संघ का नाम भी सेनान्त मुनियों से हुआ है और इसके प्रतिष्ठापक 'आदिपुराण' के कर्ता जिनसेन भट्टारक माने जाते हैं। पर इन्होंने अपने गुरु वीरसेन को पंचस्तूपान्वय का लिखा है। इस अन्वय का उल्लेख पाँचवीं शताब्दी के पहाड़पुर (बंगाल)के लेखों में मिलता है। मथुरा के पंचस्तूपों का वर्णन हरिषेण-कथाकोष में आया है। लगता है यह बहुत प्राचीन मुनिसंघ था। सेनगण का पीछे बड़ा नाम हुआ और प्रायः सभी भट्टारक सेनगण के ही हुए हैं। इसके मठ कोल्हापुर (महाराष्ट्र)जिनकाञ्ची (मद्रास), पेनोंड (आन्ध्र) और कारंजा (विदर्भ) में हैं। सेनान्वय बड़ा प्रभावशाली रहा है। डा० रमेशचन्द्र मजुमदार का अनुमान है कि बंगाल के सेनवंशी राजवंश का उद्भव इसी सेनगणानुयायी किसी पुरुष से हुआ है। सिंहगण का नाम भी संभव है, सिंहान्त मुनियों के नाम से हुआ

हो। पर ये गण अपने प्रतिनिधि काणूरगण के नाम से मूलसंघ के ११ वीं से १४ वीं शताब्दी तक के लेखों में विशेष रूप से मिलता है।

मालूम होता है कि मूलसंघ के पुनर्गठन काल में ९ १० वीं शताब्दी के लगभग इन सभी गणों को मूलसंघ के एक छत्र के नीचे एकत्रित किया गया हो या मूलसंघ के किसी एक गण विशेष के अन्तर्गत बढ़ते हुए प्रभाव के कारण शेष गणों ने भी मूलसंघ की छाप अपने ऊपर लगा ली हो।

इस संघ में स्थान विशेष के नामों से स्थापित कई अन्वय, बलि, गण एवं गच्छ आदि शाखायें थीं, जिनके कुछ नाम ये हैं :—

अन्वय—कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, 'कित्तूरान्वय' चन्द्रकवाटान्वय, चित्रकूटान्वय आदि।

बलि—इनसोगे या पनसोगे, इंगुलेश्वर एवं वाणद बलि आदि।

गच्छ—चित्रकूट, हौत्तगे, तगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, तिंत्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक, वक्रगच्छ आदि।

संघ—नविलूरसंघ मयूरसंघ, किचूरसंघ, कोशलनूरसंघ, गनेश्वर संघ, गौडसंघ, श्रीसंघ, सिंहसंघ, परलूरसंघ आदि।

गण—बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय पुलागवृक्ष मूलगण, पंकुर, आदि।

संघ के ये भेद प्रभेद विशेषकर कर्नाटक प्रान्त के स्थानों को लेकर हैं। इनमें बहुत कम ही उत्तर भारत के स्थानों से सम्बंधित हैं। इनमें गण तो संघ का विस्तृत भेद लगता है, गच्छ उसका प्रभेद है, अन्वय का अर्थ उद्‌गम स्थान है, बलि आध्यात्मिक परिवार या समुदाय कहलाता था। ये भेद-प्रभेद दक्षिण के प्रायः सभी यापनीय एवं द्राविड-संघों में दिखाई देते हैं।

मूलसंघ के गणों एवं अन्वयों में सबसे प्रभावशाली देशीगण था। यह देश नामक ग्राम में स्थापित एवं विकसित हुआ था। यह ग्राम दक्षिण भारत के कन्नड प्रान्त के उस हिस्से को कहते हैं जो पश्चिमी घाट के उच्च भूमिभाग (बाला घाट) और गोदावरी के बीच में है। वहां के ब्राह्मण अब भी देशस्थ कहलाते हैं। संभव है उस प्रान्त में रहने वाले साधु समुदाय को शुरू में देशी कहा जाता हो और पीछे वही प्रमुख गण के रूप में परिणत हुआ हो। इस गण का उद्भव लगभग ९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुआ था। इसका प्रमुख अन्वय कोण्डकुन्दान्वय था, जो कि कोण्डकुण्डे नामक स्थान में स्थापित हुआ था। यह कोण्डकुण्डे आन्ध्र देश के अनन्तपुर जिले के गूवी तालुका में कोनकोण्डल ग्राम के नाम से पहचाना गया है, जो कि एक समय प्राचीन जैन तीर्थ था। संभव है प्रसिद्ध जैनाचार्य कुन्दकुन्द यहीं हुए हों। उनका असली नाम क्या था ? कह नहीं सकते, पर उनका नाम उनके जन्मस्थान के नाम से चला हुआ मालूम होता है। कुछ विद्वान् साहित्यिक आधारों से कहते हैं कि मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय पर्यायवाची हैं, आचार्य कुन्दकुन्द ही मूलसंघ के प्रवर्तक हैं आदि। पर यह बात ११ वीं शताब्दी के पहले किसी लेख से सिद्ध नहीं होती। कोण्डकुन्दान्वय का स्वतन्त्र प्रयोग ८–९वीं शताब्दी के लेखों से पहले नहीं मिलता। संभव है इसका प्रचलन कुछ पहले हुआ हो और ८–९वीं शताब्दी में इस स्थान के साधुओं ने कर्नाटक प्रान्त में आ अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयत्न किये हों और पीछे देशस्थ साधुओं के सम्पर्क से उसमें सफल हुए हों। कोण्डकुन्दान्वय का कुछ प्रभाव द्रविड़ संघ पर भी पड़ा था, ऐसा एक लेख से ज्ञात हुआ है। मूलसंघ देशीय एवं कोन्डकुन्दान्वय से संबंधित सैकड़ों लेख मिले हैं जिनमें इनकी शाखा, प्रशाखाओं का भी उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि कर्नाटक प्रान्त में इसका विस्तृत संगठन था और वह भी १०–११ वीं शताब्दी के लगभग से। दक्षिण भारत में देशीयगण के भट्टारक पीठ मूडबिद्रे, कारकल, श्रवणबेलगोल तथा हुम्मच स्थानों में पाये जाते हैं।

मूल संघ के अन्य प्रसिद्ध गणों में सूरस्थगण, काणूरगण एवं बलात्कारगण के नाम मिलते हैं। इनमें बलात्कारगण भट्टारक युग में तो बड़ा प्रभावशाली हुआ। सूरस्थ गण, सौराष्ट्र देश से निकला हुआ मालूम होता है। सूरस्थगण प्रारम्भ में सेन गण से संबंधित था। एक लेख में द्रविडान्वय से उसका सम्बन्ध बताया गया है। काणूरगण कण्डूरगण के नाम से यापनीयों में भी दिखाई पड़ता है। इसके दो गच्छ मेष पाषाण और तिन्त्रिणीक नाम से थे। इस गण के लेख ११वीं से १४ वीं शताब्दी तक विशेष मिलते हैं। १४ वीं शताब्दी के बाद काणूरगण का प्रभाव बलात्कार गण के प्रभावशाली भट्टारकों के आगे क्षीण हो गया। बलात्कारगण का प्रारंभिक नाम बलिहारी या बलगार था जो कि बलगार नामक स्थान विशेष के नाम से, संभव

है, पड़ा हो। यह गण प्रारंभ में यापनीयों के साथ था। पीछे विदर्भ और पश्चिम भारत में इसका बहुत बड़ा प्रभाव बढ़ा। विजयनगर राज्य में इस गण के भट्टारकों का बड़ा प्रभाव था। इसके कुछ गच्छों का नाम सरस्वती गच्छ, मदसारद गच्छ एवं चित्रकूटान्वय था।

मूल संघ के अनुयायी इस संघ को पवित्र जैन संघ कहते हैं और दूसरे संघों-द्राविड़, काष्ठा एवं यापनीय—को जैनाभास बतलाते हैं। पर यह उचित नहीं जँचता। जिस शिथिलाचार के कारण उन्होंने इन संघों को जैनाभास कहा है वह तो इस संघ के मुनियों में भी था। क्योंकि विक्रम की पाँचवीं-छठी सदी तक के ऐसे अनेक लेख मिले हैं जिनसे मालूम होता है कि वे भी मन्दिरों की मरम्मत आदि के निमित्त गाँव, जमीन, आदि का दान लेने लगे। फिर भी इस संघ के मुनियों ने अन्य संघों की अपेक्षा परम दिगम्बर की धारा बनाये रखने में बहुत प्रयत्न किया था। इस संघ में शुद्धाचारी और तपस्वी दिगम्बर मुनियों का अभाव न था। उनमें शुद्ध शास्त्रों का आचार पालने वाले और उनकी उपासना करने वाले भी अनेक साधु थे, जिन्होंने समय-समय पर शिथिलाचारियों की भर्त्सना की है। पं० आशाधरजी ने एक जगह ऐसे साधुओं की आलोचना करते हुए कहा है कि—द्रव्य जिनलिंग के धारी मठपति, म्लेच्छों के समान लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण करते हैं। इनके साथ मन वचन और काय से संबंध नहीं रखना चाहिये।

द्राविड़ संघः—

द्राविड़ संघ जैसा कि उसके नाम से सूचित होता है, प्रारम्भ में तामिल देश से संबंधित रहा होगा। लेखों में उसे द्राविड़, द्रविड़, द्रविण, द्रविल, दरविल या तिबुल नाम से उल्लिखत किया गया है। नामगत ये भेद लेखक या उत्कीर्णक के कारण प्रतीत होते हैं। तामिल देश में जैनधर्म का प्रदेश ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ही हो चुका था। इसमें दो धाराओं से जैनधर्म ने प्रवेश किया था। पहली तो आंध्रदेश से सिंहल द्वीप को गई थी और दूसरी भद्रबाहु के नेतृत्व में मैसूर होकर आई थी। तामिल देश में जैनधर्म के अनेकों केन्द्र थे। इस देश में रहने वाले सारे संघ का नाम देश पर से द्राविड़ संघ पड़ा। पर प्रारंभिक शताब्दियों में उसके भेद-प्रभेदों का पता नहीं चलता। ग्रंथों और उनकी प्रणालियों से तो वहाँ के प्रभावशाली मुनियों का पता लगता ही है। आश्चर्य है कि तामिल देश के किसी लेख में द्राविड़ संघ या किसी अन्य संघ का उल्लेख नहीं मिलता। इस संघ के संबंध में देवसेन आचार्य (वि० सं० ९९०) ने कहा है कि मदुरा में पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि० सं० ५२६ में इसकी स्थापना की। यद्यपि इस बात का उल्लेख किसी अन्य प्रमाण से समर्थित नहीं है, फिर भी लगता है कि मूल-संघ की स्थापना काल के लगभग तामिल देश के मुनियों को भी अपने देश के संघ को किसी विशेष नाम से पुकारने की भावना उत्पन्न हुई होगी और मदुरा स्थान में वज्रनन्दि के नेतृत्व में यह काम हुआ होगा। ७ वीं शताब्दी के लगभग इसे शैव-धर्म से दुर्धर्ष संघर्ष करना पड़ा था। इसी समय यहाँ के जैनाचार्यों ने अपने धर्म को सर्वप्रिय बनाने के लिए आकर्षक यत्न किये। इन्होंने साधारण जनता पर प्रभाव डालने के लिए यक्षि-यक्षिणियों की पूजा-प्रतिष्ठा का आविष्कार किया और इस संघ के आचार्यों ने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाना प्रारम्भ किया।

इस संघ की एक शाखा मैसूर राज्य में ८ वीं शताब्दी के लगभग आई। इसके पास एक स्थान मानूर से निकली एक शाखा मालनूर अन्वय, सेवगण का उल्लेख श्रवणबेलगोल से प्राप्त एक लेख (नं० २५) में मिलता है, जो कि लगभग ८ वीं शताब्दी का है। १०–११ वीं शताब्दी में इस संघ के अनेक लेख मैसूर के अंग (सोसेर) नामक स्थान से मिले हैं, जो होय्सल नरेशों का उत्पत्ति स्थान माना जाता है। इस स्थान के एक लेख में द्राविड़ संघ के साथ कोण्डकुन्दान्वय (सन् ९९० के लगभग) जुड़ा है, तो दूसरे लेख (सन् १०४० ई. ?) में मूलसंघ के साथ द्रविडान्वय जुड़ा है। पीछे ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अनेकों लेखों में इसे द्रविड़ गण के रूप में नन्दिसंघ इरुंगलान्वय या अरुंगलान्वय के साथ उल्लिखित पाते हैं। अरुंगलान्वय का अर्थ अरुंगल नामक स्थान से सम्बन्धित शाखा है, जो कि तामिल देश के गुडियपत्तन तालुका में एक प्राचीन जैन स्थान था। इन निर्देशों से यह अनुमान होता है कि मैसूर प्रान्त में अपना पुनर्गठन करने के लिए द्रविड़ संघ ने अपना आधार या तो मूलसंघ को या कुन्दकुन्दान्वय को बनाया होगा, पर पीछे यापनीय सम्प्रदाय के विशेष प्रभावशाली नन्दिसंघ में अपना व्यावहारिक रूप पाने के लिए उससे विशेष सम्बन्ध रखा या द्राविड़गण के रूप में उक्त संघ के अन्तर्गत हो गया। कुछ लेखों में नन्दिसंघ को इस संघ के गण के रूप में भी लिखा है। देवसेन ने अपने दर्शनसार में इन्हें यापनीयों की भाँति ही जैनाभास कहा है, जो सम्भव है, इस ओर ही संकेत करता है। उन्होंने आगे लिखा है कि, 'द्रविड़ संघ के कारक

वज्रनन्दि की मान्यता है कि बीजों में जीव नहीं है, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है, सावद्य कुछ नहीं है। उसने कछार, खेत, वसदि और वाणिज्य से जीविका निर्वाह करते हुए तथा शीतल जल से स्नान करते हुए प्रचुर पाप का संग्रह किया।" यद्यपि ऐसा उल्लेख किसी अन्य आचार्य ने नहीं किया। फिर भी लगता है कि आचार्य देवसेन के समय तक उक्त संघ के मुनियों में शिथिलाचार काफी आ गया था, उस संघ के साधु वसति या जैन मन्दिरों में रहने लगे थे और उन मन्दिरों के लिए मिली हुई जमीन में खेती आदि कराते थे। अनेक लेखों से यह बात स्पष्ट है।

इस संघ के अनेक लेख कोंगाल्ववंशी, शान्तरवंशी तथा होय्सलवंशी राजाओं के राज्यकाल के हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि उन वंशों के नरेशों का इस संघ को संरक्षण प्राप्त था। इन लेखों से यह भी ज्ञात होता है कि इस संघ के आचार्यों ने पद्मावती की पूजा एवं प्रतिष्ठा के प्रसार में बड़ा योग दिया है। इन लेखों में यह भी दिखाया है कि शान्तर और होय्सल वंशों के प्रतिष्ठापक राजाओं ने राज्यसत्ता पाने में पद्मावती के चमत्कार या प्रभाव की सहायता ली थी। होय्सलों के उत्पत्ति स्थान अंगदि से इस संघ के प्राचीन लेखों की प्राप्ति से हम अनुमान करते हैं कि इस संघ के आचार्यों ने उक्त प्रदेशों में पहुँच जैन-धर्म के संरक्षक होय्सल नरेशों को ऊपर उठाने में अवश्य सहायता की होगी अथवा प्रगतिशील दोनों ने राज्य एवं संघ ने—एक दूसरे को बढ़ाने में मदद दी होगी। होय्सल वंश के अनेकों नरेश एवं सेनापति इस संघ के भक्त थे, हालाँकि उन्होंने दूसरे जैन संघों के प्रति भी भक्ति एवं आदर प्रदर्शित किया है।

इस संघ में अनेक प्रतिष्ठित विद्वान् हो गए हैं। न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथ चरित आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के कर्ता वादिराज इसी संघ के थे।

कर्नाटक प्रान्त में आकर पुनर्गठन कार्य में इस संघ के लोग प्रायः श्वेताम्बर चैत्यवासियों के समान शिथिलाचारी हो गए थे। उनके इस संगठन पर शंकराचार्य आदि का असर पड़ा होगा और उनके अनुकरण पर उन्होंने पीठ स्थापित कर जैनधर्म की रक्षा का उपाय सोचा होगा। हमारे भट्टारकों की गद्दियां इन्हीं की प्रतिनिधि हैं। हालाँकि पीछे की शताब्दियों में इस संघ से इनकी गद्दियाँ नहीं चलीं।

काष्ठासंघ :—

यह संघ भी स्थान विशेष के नाम से चला है। यद्यपि इस स्थान की ऐतिहासिकता पर कोई प्राचीन प्रमाण नहीं मिलते, फिर भी विद्वानों का अनुमान है कि यह स्थान या तो मथुरा के पास जमुना तट पर स्थित काष्ठाग्राम है या दिल्ली के उत्तर में जमुना के किनारे स्थित काष्ठाग्राम (जो १२ वीं शताब्दी में टक्क देश की राजधानी थी) है, जिससे संघ का यह नाम पड़ा हो। पर बड़ा आश्चर्य है कि वहां से कोई लेख आदि नहीं मिले। इस संघ का मथुरा या उससे पश्चिम भारत में विशेष प्रभाव था। प्रारम्भ में कर्नाटक या महाराष्ट्र में इसके कोई केन्द्र न थे।

इसकी स्थापना के सम्बन्ध में भी विवाद है। 'दर्शनसार' के कर्ता देवसेन सूरि (वि. सं. ९९०) ने लिखा है कि सं० ७५३ में नन्दितट ग्राम में, विनय सेन के शिष्य कुमार सेन ने इसकी स्थापना की और इस संघ की एक शाखा माथुर-संघ की स्थापना सं० ९५३ में, रामसेन ने मथुरा में की। पर यह कथन कालक्रम आदि अनेक दृष्टियों से ठीक नहीं बैठता। १७ वीं शताब्दी के एक ग्रन्थ 'वचनकोश' में इस संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि उमास्वामी के पदाधिकारी लोहाचार्य ने उत्तर भारत के अमरोहा नगर में की थी। मालूम होता है कि इन दोनों कथन करने वालों को इतिहास या कालक्रम का ज्ञान न था और किंवदन्तियों के आधार पर मनगढ़न्त बात लिख दी।

इस संघ का सर्वप्रथम शिलालेखीय उल्लेख श्रवणबेलगोला से प्राप्त सं० ११११९ के एक भग्न लेख में मिलता है। चौदहवीं शताब्दी के बाद इस संघ की अनेक परम्पराओं का उल्लेख मिलता है। इसके मुख्य भेद चार कहे जाते हैं—माथुरगच्छ, बागडगच्छ, लाटबागड़गच्छ, एवं नन्दितटगच्छ। पर १२ वीं शताब्दी तक माथुर, बागड़ तथा लाटबागड़ इन परम्पराओं के जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें इन्हें स्वतन्त्र संघ की संज्ञा दी गयी है तथा काष्ठासंघ के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। सम्भवतः तीनों, तीन देश के स्वतन्त्र संघ रहे होंगे। प्रारम्भ में माथुरगच्छ, मथुरा से, जो कि जैन-धर्म का प्राचीन केन्द्र था, बागड़गच्छ बागड़ (पूर्व गुजरात, सागवाड़े के आसपास) से, और लाट (दक्षिण गुजरात) तथा बागड़ से लाटबागड़ गच्छ निकले मालूम होते हैं। लाट और बागड़ बहुत समय तक एक ही राजवंश के अधीन थे। लाट और बागड़ के आसपास का प्रान्त मथुरा के बाद पश्चिम भारत में जैनाचार्यों का प्रधान केन्द्र था। चित्तौड़ (चित्रकूट) से तो मूल संघ का एक अन्वय

निकला था। धरसेनाचार्य यहीं की गुफाओं में रहते थे। धवला टीकाकार वीरसेन ने चित्तौड़ आकर एलाचार्य से सिद्धान्त-ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त किया था। लाटबागड़ में अनेक आचार्य कर्नाटक प्रदेश से आकर रहते थे। पुन्नाट संघ के आचार्य जिनसेन (सन् ७८३) ने उक्त देश के बढ़वान नामक स्थान में रहकर 'हरिवंश पुराण' की रचना की थी। सम्भव है इन्हीं मुनियों ने काठियावाड़–गुजरात में रहकर पीछे १०–११ वीं शताब्दी में लाटबागड़ संघ की स्थापना की हो। पीछे भट्टारक युग में काष्ठासंघ के पुनर्गठन काल में तीनों संघों का एकीकरण कर एक वृहत् काष्ठासंघ की स्थापना की गयी होगी। १४ वीं शताब्दी से काष्ठासंघ के नवीन गच्छ नन्दीतट का उल्लेख मिलता है, जो महाराष्ट्र प्रदेश के नान्देडग्राम में स्थापित हुआ था। 'दर्शनसार' के उल्लेखानुसार काष्ठासंघ की स्थापना का स्थान यही है। इस गच्छ का दूसरा नाम विद्यागण है, जो सम्भव है बलात्कारगण के सरस्वतीगच्छ के अनुकरण पर बना था। इस गच्छ का नाम रामसेवागच्छ भी है। कहा जाता है कि नरसिंहपुरा जाति की स्थापना रामसेन ने की थी।

काष्ठासंघ के इस प्रकार के क्रमिक विकास को देखते हुए लगता है कि नन्दीतट गच्छ के काल में काष्ठासंघ का पुनर्गठन कर उसमें चारों गच्छों की व्यवस्था की गई होगी। । इस संगठन का मुख्य कारण उत्तर भारत की बदलती हुई राजनीतिक अवस्था थी, जिसने इस प्रकार से एक सूत्र में बँधने के लिए यह बाध्य किया होगा। जो भी हो, इस संघ के प्रश्रय में उत्तर भारत की अनेकों जैन जातियां फली-फूलीं थीं। इस संघ ने अनेक जैन जातियों की स्थापना की थी। इन जातियों के नाम से इस संघ के कुछ अन्वयों के नाम भी पड़े हैं—जैसे अग्रोतक अन्वय, खण्डेलवाल अन्वय आदि।

भट्टारक काल की स्थापना के बाद उत्तर भारत में मूलसंघ और काष्ठासंघ के अनुयायियों एवं भट्टारकों में अनेक ईर्ष्या-द्वेष के प्रसंग उपस्थित होते रहे हैं, जो प्रकट एवं अप्रकट रूप से साहित्य में पढ़ने को मिल जाते हैं। मूलसंघ के अनुयायियों ने इस संघ को दूसरे संघों की भांति जैनाभास कहा है। इसी तरह काष्ठासंघ वालों ने पद्मनन्दि आदि भट्टारकों एवं कुन्दकुन्दाचार्य के प्रति कुत्सित वचन कहे हैं। वैसे तो शिथिलाचार के युग में क्रियाकलाप में सब संघ बराबर थे। पर इस संघ के भट्टारक, मोर के पंखों की पिच्छि के बदले गाय के बालों की पिच्छि रखते थे। माथुर संघ में तो रामसेन के बाद पीछी न रखने की प्रथा बढ़ी जिससे वे 'विप्पिच्छ' कहलाये।

यापनीय संघ.—

दक्षिण भारत के जैन धर्म के इतिहास में इस संघ ने महत्वपूर्ण भाग लिया। इसने अनेक धार्मिक मान्यताओं को प्रभावित किया एवं नवीन संघीय परम्परा को जन्म दिया। इस संघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक दो किंवदन्तियों के सिवाय हमें विशेष कुछ नहीं मालूम। देवसेन सूरि ने उसकी उत्पत्ति का समय वि. सं. २०५ बताया है। यह संघ दक्षिण भारत की अपनी देन है। वहां के जलवायु और कठोर जीवन बिताने के प्रति आग्रह ने इस संघ को भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट जैन धर्म पालन करने की प्रेरणा दी। इस संघ के साधु एक ओर दिगम्बर साधुओं के समान उग्रचर्या पालन के रूप में नग्न रहते थे मोर की पिच्छि रखते तथा पाणितलभोजी थे एवं नग्न मूर्तियां पूजते और वन्दना करने वालों को धर्म-लाभ देते थे तो दूसरी ओर सैद्धान्तिक मान्यता में श्वेताम्बरों के समान स्त्रीमुक्ति, केवली कवलाहार, सग्रन्थ मोक्ष आदि मानते थे।

दक्षिण भारत के जैनसंघ में सुधारवादी आन्दोलन के, इस संघ के संस्थापकगण, सबसे पहले अगुआ थे और उनका अनुसरण प्रायः इतर जैनसंघ ने भी किया तथा धीरे-धीरे उसे आत्मसात कर लिया। सम्भव है यह सम्प्रदाय श्वेताम्बर और दिगम्बरों के बीच की एक कड़ी था। इसके अनेक उदार धार्मिक दृष्टिकोणों में तीन मुख्य थे:—

१. परशासने मोक्षः—दूसरे सिद्धान्तों के मानने वाले भी मोक्ष पा सकते हैं।

२. सग्रन्थानां मोक्षः—संसारी बन्धनों से मुक्ति पाने का पात्र मुनि ही आवश्यक रूप से नहीं, अपितु गृहस्थ भी हैं।

३. स्त्रीणां तद्भवे मोक्षः—स्त्रियाँ इसी भव में मोक्ष पा सकती हैं।

इन तीनों मान्यताओं ने इन्हें तत्कालीन धार्मिक क्षेत्र में सर्वप्रिय बना दिया। सम्भव है इससे उन्होंने दूसरे धर्मों के लोगों को एवं श्रावक एवं श्राविका वर्ग को विशेष आकर्षित किया था। इस संघ में साध्वियों को वैसा ही स्थान था, जैसा मुनियों को। दक्षिण भारत से प्राप्त अनेक शिलालेख इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। सम्भव है साधारण साध्वियों को अज्जी (आर्यिका) और विशिष्ट साध्वियों को कन्ती कहते थे। तामिल काव्य 'शिलप्पदिकारम्' में ऐसी एक विशिष्ट साध्वी कवुन्ती (कन्ती) द्वारा विद्वान् ब्राह्मणों को उपदेश दिया गया है।

एक समय यह सम्प्रदाय बड़ा ही राज्य-मान्य था। शिलालेखों से मालूम होता है कि कदम्ब, चालुक्य, गंग, राष्ट्रकूट रट्ट आदि वंशों के राजाओं ने इस संघ को और उसके साधुओं को अनेकों भूमिं दानादि दिये।इस संघ का प्रधान केन्द्र कर्नाटक देश का उत्तरीय प्रदेश विशेष रूप से था। शिलालेखीय एवं अन्य प्रमाणों से मालूम होता है कि इस प्रान्त में इनके बड़े प्रभावक केन्द्र थे।आन्ध्र देश में इनके प्रभाव को सूचित करने वाले एक-दो लेख मिले हैं।इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इनका अस्तित्व ईसा की चौथी शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक अवश्य था।इस बीच में ही दिगम्बर सम्प्रदाय के दूसरे संगठनों के पुनर्गठन के द्वारा या तो इनके गण प्रभावहीन हो गए या उनके द्वारा आत्मसात कर लिये गए। इस सम्प्रदाय में अनेकों प्रतिभाशाली विद्वान् आचार्य एवं कवि हुए हैं, जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत एवं कन्नड़ में सैकड़ों प्रतिष्ठित ग्रन्थ लिखे हैं। इन विद्वानों में शिवार्य, वट्टकेर, उमास्वाति, यतिवृषभ, अपराजित, पाल्यकीर्ति, शाकटायन, महावीर तथा स्वयंभू आदि हुए हैं। सम्भव है यतिवृषभ और उमास्वाति उस परम्परा के हों जो मथुरा के कुषाणकालीन लेखों में पायी जाती थी। उमास्वाति ने अपने भाष्य में अपने को पाटलिपुत्र का कहा है। यतिवृषभ ने अपने गुरु के रूप में आर्य नागहस्ति एवं आर्यमंक्षु को माना है। इन दोनों का उल्लेख मथुरा के लेख क्र० ५४-५५ में मिलता है। ये दोनों आचार्य सहपाठी थे तथा क्षमाश्रमण एवं महावाचक थे। कषायप्राभृत के कर्ता गुणधर इन के गुरु थे। इस तरह हम देखते हैं कि इनकी परम्परा सीधे मथुरा के संघ से चली आयी है। वे प्राचीन जैनागमों का पठन-पाठन करते थे, पर उनके आगम शायद श्वेताम्बरों के वर्तमान आगमों से कुछ भिन्न थे। इस सम्प्रदाय के कई ग्रन्थ दोनों (दिग० एवं श्वेता०)सम्प्रदायों में कुछ संशोधन के साथ पढ़े जाते हैं। दिग० सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, तत्त्वार्थ सूत्र मूलाचार आदि सम्भव है यापनीय सम्प्रदाय के थे।

उन्होंने मथुरा में जैन संघ के संगठन की भांति स्थान विशेष या प्रदेश विशेष को आधार बना दक्षिण प्रान्त में अपने संघ का संगठन किया। इस सम्प्रदाय में नन्दिसंघ(गण) प्राचीन तथा प्रमुख था,जो कि मुनियों के नामान्त को लेकर चला थापीछे इसके स्थान विशेष को ले अनेक भेद-प्रभेद हो गये। उनमें कनकोपलसम्भूत वृक्षमूलगण, श्रीमूल मूलगण तथा पुन्नागवृक्ष मूलगण प्रमुख थे। ये गण अमुक-अमुक वृक्ष-विशेष वाले स्थान से प्रारम्भ में सम्बन्धित रहे होंगे। उनका तत्कालीन सुविधा की दृष्टि से नामकरण किया गया होगा, पर पीछे वही नाम रूढ़िगत हो गया। इसके अन्य गणों में कौमुदीगण, मडुवगण या कोटि-मडुवगण, मेलापनीय से सम्बन्धित कारेयगण, मेलाप अन्वय, वन्दियूरगण कन्डूरगण, बलहारिगण आदि प्रसिद्ध थे। गच्छों में केवल अड्डकलिगच्छ एवं नन्दिगच्छ का उल्लेख मिला है। इस संघ के कुछ गणों को ११ वीं शताब्दी के बाद से मूल संघ के गणों में उसी नाम या कुछ परिवर्तित नाम के साथ निर्दिष्ट पाते हैं। वे गण हैं—पुन्नागवृक्षमूलगण, कण्डूरगण, काणूर या क्राणूर के नाम से तथा बलहारिगण, बलत्कार, बलगार या बलात्कारगण के नाम। हो सकता है कि मूलसंघ के पुनर्गठन में उस काल में इस गण के साधु शामिल कर लिये गए हों या अमुक-अमुक स्थानों में मूलसंघ के मुनिओं का प्रभाव बढ़ा हो और उन गणों का संगठन वहां से हुआ हो। नन्दिसंघ को भी ११ वीं शताब्दी में द्रविड़ संघ के एवं १२ वीं शताब्दी से मूलसंघ के अन्तर्गत पाते हैं। हो सकता है कि पीछे उन-उन संघों ने अपने पुनर्गठन काल में इस संघ को आधार बना उसे अपने में मान्यता दी हो, या इस संघ के अनुकरण पर नन्द्यन्त मुनियों के नाम पर से अपना संगठन किया हो। नन्दिसंघ की एक प्राकृत पट्टावली है, जिसमें भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद ६८३ वर्षों तक की गुरु परम्परा दी गयी है। इस पट्टावली के अनुसरण पर यतिवृषभ की तिलोय पण्णत्ति में एवं पुन्नाट संघ के जिनसेन के हरिवंश में एक गुरु परम्परा दी गई है। विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः है यह पट्टावली प्राचीन यापनीय संघ की है।

जो भी हो, प्रमाणों से सिद्ध है कि यह संघ दोनों सम्प्रदायों की अपेक्षा अनेक बातों में प्राचीन है और दोनों सम्प्रदाय इसकी अनेक बातों एवं साहित्य के ऋणी हैं। इस संघ के साहित्य से जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों को बड़ी मदद मिलेगी। दिगम्बर श्वेताम्बर मतभेदों के मूल का पता लगाने के लिए यह दोनों के बीच का और दोनों को जोड़ने वाला साहित्य है। इस दृष्टि से इस साहित्य का अध्ययन होना चाहिए।

आज दिगम्बर जैन समाज में इन संघों का अस्तित्व न के बराबर है। मध्ययुग में अनेक गणों के प्रतिनिधि भट्टारक हो गए

---

१. विशेष के लिए देखें:—मेरी लिखी प्रस्तावना, जैन शिलालेख संग्रह तृतीय भाग (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला.)। पी. बी. देसाई:—जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (सोलापुर) पृष्ठ १६३-१६९।

थे, जिनके मठों की स्थापना शंकराचार्य के पादपीठों के अनुकरण पर की गई मालूम होती है। ये अपने-अपने मण्डल में बड़े प्रभावक थे एवं पूजे जाते थे। कई तो इनमें मण्डलाचार्य भी कहलाते थे। पीछे इनमें शिथिलाचार की प्रवृत्ति इतनी बढ़ी कि इनके विरोध में समाज का एक वर्ग उठ खड़ा हुआ, जिसे दिग० समाज में तेरापन्थ कहते हैं। इस तरह धीरे-धीरे उनका प्रभाव लुप्त होने लगा। बीसवीं शताब्दी में तो अब नाममात्र के भट्टारक पीठ रह गये हैं। पर जैन समाज की क्षेत्रीय एवं देशीय प्रवृत्तियों में इनका प्रकट या अप्रकट रूप से बड़ा ही प्रभाव दिखता है। आज समाज पर से अमुक-अमुक संघ की-छाप तो मिट गई, पर उनके मिश्रण से जो एक धारा चल पड़ी थी, उसे दिग० समाज बिना विवेक किये ढोये जा रहा है। सच मुच में परम्परा का असर बड़ा ही होता है।

THIRD SECTION

Pre-Aryan Bhartiya Religion

(Ramchandra Jain, Advocate.)

The cradle-land of the undivided Aryans was somewhere in northern parts of Russian steppes. Growth of population, desiction of the region and knowledge of the flourishing agricultural regions in other parts of the world led the pastoral nomadic Aryan barbarions to migrate from their original home. Aryo-Europeans seperated from the Aryan collective or Gana about 2500 B. C. Aryo-Asians were found in Cappadocia and central Asia some where about 2000 B. C. Aryo-Iranians were on the northern gates of Iran somewhere about 1400 B. C.

The Western Frontiers of Bharat extended upto North-Eastern Iran in those ancient times. Vratras populated the Iranian region. Arachosia and Gedrosia were inhabited by Vratras, Dasas, Dasyas, Panis, Yadus, and Turvashas. Apart from these tribes Anus, Druhyus, Purus, Bhedas, Matsyas, Ajas, Shigrus and Yakshas, inhabited the Doab region of Saraswati and Drishadvati rivers and to the east and south of the Doab. The Aryo-Brahma invaders conquered these tribes and annihilated their republics from 1400 B. C. to 1100 B. C., the date of the Dasrajna war.

Eastern Bharat was mostly populated by the Ikshvakus from whom descended Mallikas, Sakyas, Lichhavas, Kasis, Kosals and Videhas, Magadhas and Angas were in the South East. There were also the predecessors of Kols, Bhils and Gonds in Central Bharat. South Bharat had overwhelming population of Dravidas. All these tribes were parts and parcels of the Great Vratya Race of Bharat, during this period. Their culture and civilisation should be termed as Bhartiya culture and not Harappan or Indus [1] culture.

We are here mainly concerned with the true understanding of the religion of those people. And for that we have to first understand their economic and social conditions.

Bhartiya people developed a civilisation of cities and Mohenjodaro and Harappa stand monuments to that with drains, public baths, grand roads, public grainaries and brick buildings [2] Townships were well planned and thoroughly executed. They had forts of iron and stone [3] wide in extant of hundered pillars. They were very wealthy people.[4]

The basic economy of those Bhartiya people as even today was Agriculture which had been very highly developed in those days. Apart from barley and wheat, they grew abundant cotton.[5] Cotton cultivation was exported from Bharat to Babylonia and Egypt. The growth of large sized inland cities and parts imply the existence of a substantial middle class based on internal and foreign trade, and commerce and a developed industry. They had developed weaving industry to a high efficiency. Male and female terracota figures are shown to wear beautiful clothes which imply weaving of cotton into fine fabrics. They had weights and measurements of length.[6] These traders and bankmen had big houses and palaces along with

gold, silver and javels.[7] Side by side with these wealthy people, we find the existence of poor workers also. At Mohenjodaro have been found a block of barracks comprising sixteen similar sub-units which Piggot designates as coolie-line comparable to workmen's quarters at Harappa.[8] The property was privately owned and there were sharp differences of wealth, between the rich and the poor.

Indus script has some similarities with Sumerian cuniforum script and the Egyptian heiroglyphic script. But unlike these, Indus script is changeless and does not show any variation from the earliest to the latest discovered strata, i. e. 3000 B. C. to 1500 B. C. The writers of this script were 'Mridhravacah' or 'Vadrivacah'[9] which may be identified with Ancient Prakrit, which is presently lost to us, the precursor of Vedic Sanskrit. The people spoke Ancient Prakrit the language of the people which in the polished form later became the language of the literature and the Court. But complete truth will come to light only when the Indus script is authentically deciphered.

Women enjoyed a high honoured status among the society. Mother was the guiding spirit of every household. Numerous terracotta figurines of an almost nude female have been supposed to represent a Mother-Goddess. I entirely agree with Wheeler that it easily relates to a household cult than a state religion.[10] Really speaking these female figures can not be connected with religion at all. Females have been shown in postures of fertility. The secular aspect of the image of a nude dancing gire is aparent. The tree issuing forth of the womb of the female emphasises the secular aspect. The numerous female figures point to the matriarchal system of society prevalent amongst the ancient Bhartiya people and their great respect and glorification almost touching to divinity shown to womanhood as opposed to Aryans who had scant respect for them. The later history more than amply testifies to this truth.

What was the form of the State which these people projected can not be described with certainty. There is no doubt that it was not a monarchical system of Government. Aryo-Brahman political system was a collective, a military junta, a Gana. Gana means military troop.[11] Puru and other Bhartiya tribes residing between Saraswati and Drishadvati Doab have been referred to as 'Panchjanah'[12]. Jana means people.[13] It implies, therefore, that Aryan man has a negligible constituent, having no independent existence, of the steel-frame Aryan collective which was a self-acting armed organisation. Bhartiya man was an independent constituent of a self-organised and self-disciplined republic. Aryan 'Gana' later developed into monarchical system. Bhartiya 'Gana' was the predecessor of later Janapadas.

Bhartiya society in this age was homogeneous. It is generally a social phenomenon that poor people loot or plunder during times of chaos and turmoil but we do not find any evidence of such remnants of loot and plunder in poor people's houses at Mohenjodro, Harappa, Amri and other Bhartiya towns militarily destroyed by the invading Aryo-Brahmins. There were class distinctions but social relationship was not of a violent character. Bulk of the working class people remained in their allotted position.[14] It implied that wealth had not assumed an exploitery and pinching character.

The Bhartiya State mechanism did not weild military or police force. There was no violent coercion, fortifications at the two major cities of Mohenjodaro and Harappa were not meant as a safeguard against external aggression. They appear to be meant for internal protection. Implements of violence are so crude and undeveloped that they cannot even safely be termed as military weapons even during those days. They might have been used for self-protection.

The wide extent of the Indus valley civilization going upto Hissar in North Western Iran, having a strong outpost at Amri in Baluchistan was not the product of military conquests. Military element does not loom large in the extent remains.[16] Indus civilization was unwarlike.[17] There had been large scale finds of military equipment in Sumerian City Ur and the Egyptian city El-Amarana but no such military equipment have been found, not even in small scale, at any of the archaeological sites from Hissar in Iran to Hastinapur in Bharat. We do not find curiously enough remnants of temples as found in Sumeria and in Egypt. A raised platform like an artificial mountain and citadel resembling the Ziggurat of Messopotamia have been found at Harappa and a similar citadel at Mohenjodaro. But no traces of a pre-existing temple can even be conjectured at these sites. No military equipment was found at these sites or palace like buildings as was found in the Ur temple of Enlil, the Sumerian god.

The foregoing discussion conclusively proves that no royal or priestly force or coercion was used to keep the society in tact. The social mechanism was evolved in such a way that the necessity for violence was reduced to the minimum. It was the inner spiritual force that determined the values of life. Religion was a powerful guide.

Do we find this picture of life of the Indus people sculptured in their Art ? Terracotas and seals may be toys, Sculpture may be a thing of play for an artist. But even in play and toys we find the mind of the artist taking bodily form. We would now discuss figures and seals printed in 'Vedic Age' on plate No. VII figures 4, 5, & 6 and stone statues on plate No. VI figures 1 and 2.

Wheeler concurs with Marshall and Mackay that there is no doubt about the divinity of the remarkable figure on three seals of Plate No. VII. The figure is represented as seated either on the ground or on a low stool.In two instances the head is three faced and in all it bears a horned headdress with a vertical central figure.[18] The figure is a prototype of Siva in his aspect as Pashupati. The deity is always nude.[19] Some other scholars also concur with this [20—22] interpretation. There is a generality of views among European and Indian scholars that these seals represent Siva-Pasupati. It is also held that Pasupati (or Yogishwara) of the Indus culture was first introduced into the Vedic culture as the dreaded deity Rudra,[23] whose alien origin is indicated by the oldest Brahmans which warn the Aryan sacrificers against invoking him or even pronouncing his name. But all the same this Rudra-Siva cult is persisted as being represented in Bhartiya (Indus) religion.

Rudra is the predecessor of Siva in Brahmnical religion. Is he an imported non-Aryan god or a natural Vedic-Aryan god. ? The evidence of Rigveda itself establishes the later character of this god Rudra. It is true he is a god of Wrath par-excellence.[24] He is mighty fierce having

strong limbs.[25] He bears bows and arrows, he is weilder of thunderbolt and he possesses Cow-killing and men-slaying weapons. He is destroyer of (enemies) heroes and invincible conqueror, the weilder of sharp weapons and expeller of foes along with Agni. He is man-destroying.[26] But if this wrathful nature of Rudra is to be condemned we will have to condemn more severely the violent, brutal and inhuman wrath of Agni and Indra specially, and the Vishve-devas generally, of which instances and narrations Rigveda is replete with. The wrath of Rudra is definitely inferior to that of fierce Indra and Agni, the Aryo-Brahmin War-lords par-excellence.[27]

But Rudra shows all the other important traits of the Arya-War lords (Devas). He is accomplisher of sacrifices, wise, radiant, brilliant, holding excellent medicaments, nourished by sanatory vegetables, immortal, omniscient and divine, the creator, guardian against disease, illustrious and protector of sacrifices.[28] He is painted also as a great benefactor of the Aryan Gana. He is their Ganapati.[29] He is most beautiful, showerer of benefits, supreme ruler and lord of the world, the parent of the world, far seeing, of pleasing aspect, undecaying, endowed with felicity, the source of prosperity. He is one of the Vishve-devas, attending the hall of sacrifice of the Aryan-collective. The benevolent qualities of Rudra far out-number his malavolent qualities. The malavolent qualities of warring Aryan gods was a prime necessity for their continued success in battle fields.

But these qualities of Rigvedic Rudra do not accord with the divine qualities of the ascetic depicted on the aforesaid three seals. Those divinities do sit in the pose of a Yogishwara in the Padmasana posture but Rudra does not display any Yogishwara qualities. It has been alleged that the seal may accord with the description of Rudra as the Supreme diety in Rigveda.[30] But so has been described India and Agni.[31]

The seal is surrounded by elephant, tiger, buffalo and rhinoceros with deer appearing under the seat. The association of the animal world with the Yogi shows the oneness of all spirits in living beings. These animals are not to fear from the most vociferous and brutal animal, the man. Buffalo and deer have nothing to fear from the ferocious tiger and this tiger stands without any feeling of hostility, anger or violence in the presence of the Apostle of Non-violence and peace. This atmosphere clearly depicts the peace and non-violence inherent in the conscience of every being ; beastly forces of violence, greed and selfishness submitting themselves to the superior force of peace and non-violence. These seals, hence, can not be a prototype of Cow-killing and man slaying Rudra.

Dr. Prana-Nath reads the inscription on the seal of the divine figure on Plate No. VII Figure 4 printed in 'Vedic-Age' as thus "Go Sarga Deva Jana Kara" meaning the creator or lord of the Divine people.[32] The reading of word "Jana" in this inscription is very significant. It indicates people and may indicate a republic self-controlled and self-governed by spirtual laws helped and guided by the spirtual lord in the evergrowing process of spirtual progress and advancement higher and still higher.

Horns appear on the head of divinities of all the three aforesaid seals. Marshall and Wheeler in their eminent monographs referred above have explained them as an emblem of divinity.

It appears that followers of these divinities also had some horned head-dress as Vratra wore.[33] And Vritra, the Ahi, was a sage.[34]

Two stone statuettes from Harappa of less than 4" in height have revolutionised the existing notions about ancient Indian thought. They are male torsos, given on Plate No. VI figures 1 and 2 in 'Vedic age' exhibiting a sensitiveness and a modelling that is both firm and figures 1 and 2 in 'Vedic age' exhibiting a sensitiveness and a modelling that is both firm and resilient. In one of the statuettes under discussion, the body is represented as a volume modelled by an unrestrained life force pressing from within activating every particle of the surface. The figure which appears to be modelled from within, is actually at rest ; yet brims with movement. The figure is full of strength and appears to grow in stature. In short, the statuette records unconsciously the inner movement of life within the plastic walls of its body. This physical type is the veritable standard in Indian art for divinities in which the force of creative activity held under control (Jitendriya) is to be shown as for example, in the Jainas or Tirthankaras or deities deep in penance or meditation.[35] Hence it has been clearly established that the figures of divinities on the seals and statuettes of Indus valley represent a spirtual divinity in contradistinction to the physical development of Rudra or quasi-spirtual divinity of Shiva-Pashupati.

Shiva is Rudra deified. We find the glory of Shiva for the first time in Shwetashwataropanishad which is a post-Mahavir Upanishad composed probably between 400-300 B. C.[36] The Aryo Brahmins could not remain untouched and their physical religion borrowed some of the ingredients of Bhartiya spirtual culture.

Did the pre-Aryan Bhartiya peoples worship Linga ? Wheeler is doubtful that certain polished stones, mostly small but upto 2 ft. or more in height have been correctly identified with Linga and other pierced stones with Yoni.[37] But some scholars have fallen into the error of holding that worship of Lingas and Yonis is testified to in their numerous examples found executed in stone describing their worshippers as Shishne-Devah.

The scholars have been misled to identify the above stone emblems as Phallus and Yoni due to their misinterpretation and wrong appreciation of the term and institution of Shishne-Devah. The right understanding of 'Shishne-Devah' will clearly disprove the theory that Pre-Aryan people worshiped Linga.

The 'Shishne-Devah' caused the disturbance of Aryan rites, sacrifices. Indra has been asked by the Aryo-Brahmins to save their sacrifices from the influence of Shishne-Devah as he has been prayed to save their progeny and cattle from Rakshashas and evil spirits.[38] It shows that Shishne-Devas did not think well of the Aryan institution of sacrifice and actively opposed them.

Word "Deva" in Vedic literature has been used in the sense of a leader ; shining, illustrious, divine and the best amongest men. The whole Rigveda is replete with this word 'Deva' indicating this sense. Shishne-Devas (in plural) hence, naturally means those illustrious, shining and divine leaders of humanity (of course opposing the Aryan plunderers who considered the Bhartiya people as Amanusha)[39] who did not wear clothes and voluntarily remained naked as a child of nature, though Indus valley grew abundant cotton and weaved it into fine clothes

and exported cotton cultivation to Babylonia and Egypt. In Rigveda and Brahmanical literature, the word 'Deva' has no where been used in this sense of worshippers but has always and everywhere been used in the sense of the 'Worshipped', Agni-deva and Indra-deva nowhere mean Agni-worshippers and Indra-worshippers but always mean God-Agni or God-Indra. Hence it is travesty of truth and total falsehood to translate 'Shishne-Devah' as Shishna worshippers, but it should be translated as 'Shishna worshipped or Nude gods or the Supreme Divinities, leading a natural way of life. And the natural way of life is the spirtual way of life.

There is also a misconception among the scholars that Naga or Serpant worship also prevailed among the pre-Aryan Bhartiya people. A. C. Das, concurring with P. T. Shriniwas Ayenger (Life in Ancient India in the age of the Mantras P. 129), has held that Vratra and Indra originally were gods of rival tribes and the tribes that worshipped Vratra, the serpant god, either also worshipped or were associated with those that worshipped the Shishna (Shishne-Devah) also.[40] Word Ahi[41] wrongly interpretated as Serpant is the cause of this confusion. Vratras or Ahis have been mentioned alongwith Dasas, Dasyus and Panis. They didnot perform Aryan sacred rites, opposed the Aryan sacred rites, interfered with the Aryan Sacred rites and followed their own rites. Nowhere it has been mentioned that they were Naga or serpant worshippers. The word 'Ahi' may mean 'non-killer' possibly derived from the root 'Han' and Vritra. The Ahi has nowhere been associated with violence in Rigveda. Vratras were a section of wealthy agricultural people using water storage system for irrigating their fields.[42] The Aryans reviled the Bhartiya people by calling them Nagas or serpants (which is later more clearly evidenced in Mahabharat and Puranas) who were really the followers of Shishne-Devas or Nagna-Devas or Naga–Devas meaning Nude gods.

We do not find sacrificial altars in Mohenjodaro and Harappa cities. They do not provide any evidence of the existence of anything corresponding to Vedic ritualism in the Indus valley (Bhartiya) civilization. [43]

What was then, the religion preached by the Shishne-Devas. They preached the Vratya religion under the supreme leadership of EK-Vratya. The cult of vratya seems to belong to the (miscalled) Mohenjodaro (Bhartiya) civilization and was once wide spread in India (Bharat) among her indigenous peoples.[44] Much untruth has surrounded this term 'EK Vratya' also. The word 'EK-Vratya' is used in Atharvaveda fifteenth Kanda.[45] It is alleged that Vratya is one of the names of Rudra. Namo Vratyaya (नमो व्रात्याय-salutations to Vratya) is one of the passages occurring in the Rudradhyaya chapter of Yajurveda.[46] The Rudradhyaya chapter of Yajurveda uses the word Vrata (व्रात) and not the word Vratya (व्रात्य). The same word Vrata (व्रात) and not Vratya (व्रात्य) is used is Black Yajurveda.[47] Ralph T. H. Griffith translates the particular hymn of the Yajurveda as thus :—

"Homage to the troops and to you lords of troops be homage" ·
"Homage to companies and to you lord of companies homage :"[48]
A. B. Keith translates the particular hymn of Tattiriya Samhita as thus:
"Homage to you hosts ; and to you, lords of hosts homage.
"Homage to you troops, and to you, lords of troops, homage"[49]

The word Vrata alongwith the word Gana has several times been used in Rigveda in the sense of troop and company or assembly and company.[50] Panchwimsa Brahmin uses the word Vrata in the sense of a group.[51] Vrata (व्रात) in the sense of group or a company can not be equated to any race or tribe as 'Gana' in the sense of race or tribe can never be equated. Vrata (व्रात) or Gana implies a civil or military organisation of a particular race, tribe or class. And even if we for a moment accept the word 'Vratya' derived from Vrata meaning thereby a member of a group, that meaning to the word Vrata has not been assigned in this context by any commentator or translator. None has offered salutations to Rudra as a member of a group including Sayana. Sampurananad has played a big intellectual fraud on the edic scholarship by misquoting Namo Vrataya (नमो व्रताय) as Namo Vratyaya (नमो व्रात्याय) surreptitiously introducing consonent 'Y' in between. And it is for this reason that he had to mistranslate the word 'Rudra' in A. V. 15. 15. 10. and 11 and ignore the correct translation of Griffith.

Shinde also maintains that the Vratyas were outside the pale of the orthodox Aryans. The Atharvaveda not only admitted them in the Aryan fold but made the most righteous of them, the highest divinity[53] (15. 1. 8) But Rudra was not outside the pale of orthodox Aryans. He from the very begining is in the Aryan hierarchy of gods just like Indra and Agni. We may not agree with I. W. Hauer (Der Vratya, stullgart, Germany, 1927) in defining the functions of Vratya but he is nearer truth in discribing Vratyas as a class of heterodox nomadic holy men.[54] His descriptions correspond to that of Rigvedic Shishne-Devas.

Word Vratya (व्रात्य) is not derived from the word 'Vrata' (व्रात) but it is derived from the word 'Vruta' (व्रत). Kane lends support to this veiw asserting that it is possible to derive the word (व्रात्य) from Vruta (व्रत) meaning a religious vow. Dr. Hauer defines Vratya as 'initiated into Vratas.' Hence "Vratya" means a person who has voluntarily accepted the moral code of vows for his own inner spirtual discipline. Definition given by Griffith to 'Vratya' as a 'Wandering religious mendicant'[56] meets the truth only half way. Hence Vratyas were those pre-Aryan people of Bharat who had accepted spirtual discipline as their way of life. Their religious teachers were Shishne-Devas who took to mendicant life and who wandering from North to south and from East to West propagated the spirtual way of life to their lay followers the Vratyas. EK-Vratya was at the head of all these Lay Vratyas and mendicant 'Shishne-Devas, very powerful, universally respected and holy,' in the words of Sayana.[57] And this EK-Vratya, the spirtualism incarnate, is sculptured in the aforesaid seal pictured in the aforesaid plate No. VII figure 4.

We have discribed here the religion of the people before the Aryan invasion of Bharat (About 1400 B. C. in Iranian frontier and 1200 B. C. in the west to Indus region). This area is confined by the snowy mountains in the north, the Indus and the range of Suleman mountains in the West, the Indus or Sea in the south and the valley of the Jumna and Ganges in the East.[58] This was the widest geographical horizon known to these Rigvedic peoples. Beyond that the world, though open, was unknown to the Vedic peoples. The eastern and southern parts of the rest of Bharat were also inhabited by Vratyas, the Ikshvakush; Mallas, Licchavis, Ka-

sis, Kosals and Videhas including Magadhas and Dravidians.[59] Eastern Bharat was the epicentre of the Vratya religion. Dravidians in the sourthern Bharat also followed a similar religion.

Glorification of female is a prominent aspect of the Dravidian civilization. They styled a deified man as 'Ko' and created to his honour a house called 'Ko-il.'[60] This cannot be taken for a temple. Like Mohenjodaro and Harappa citadel it was used by the spirtual leaders for religious discourses to their followers. It was a place of religion.

Conclusions :-

1. Pre-Aryan people of Bharat were a homogeneous people self-disciplimed by spiritual values of life.

2. They considered material civilisation subservient to or only the servant of the spirtual culture.

3. The Vratya-cult or the principle religion of the Bhartiya people was mainly founded on Non-violence. They had equal respect for all forms of life.

REFERENCES.

1. This is a very brief summary of the conclusions arrived at by me after critical studies of the problems which have fully been discussed in my Article "Original Aryan Home" and 'Pre-Aryan People of Bharat.'
2. The Indus civilization by Shri Martiner Wheeler p. 6, 29, 31 and 36.
3. R. V. 1. 15. 10. 3 ; 2. 2. 9.8 ; 1. 19. 5. 4. ; 1. 23.10.2. ; 3. 1. 12. 6 ; 6. 2. 5. 10.
4. R. V. 1. 19. 4. 7 ; 1. 23. 12. 4 ; 4. 3. 9. 13 ; 8. 5. 10. 6 ; 1. 24. 1. 7 ; 5. 3. 2. 5- to 7 ; 4. 3. 4. 7.
5. Wheeler, Op. cit. P. 63.
6. Wheeler, Op. cit. p. 61.
7. R. V, 1. 7. 3. 4 ; 1. 7. 3. 8 ;
8. Wheeler, Op. cit. P. 20 and 40.
9. R. V. 1. 10. 1. 8 ; 1. 23. 11. 3 ; 4. 2. 6. 9 ; 8. 8. 1. 11 ; 10. 1. 4. 12 ; 10. 2. 6. 8 ;
10. Wheeler, Op. cit. P. 83.
11. (A) R. V. 3. 2. 14. 6 ; 5. 4. 9. 11 ;
    (b) Y. V. 16. 25 ; T. 5. 4. 5. 4 ;
    (c) Veda of Black Yajus school by A. B. Keith P. 356.
12. R. V. 6. 5. 2. 11 ; 8. 5. 2. 22.
13. Ancient India—P. 57.
14. India from Primitive communism to Slavery by S. A. Dange p. 47.
15. An Introduction to the study of Indian History by D. D. Kosambi—P. 62
16. Wheeler, Op. cit. P. 52—53.

17. The culture and art of India by Radhakumud Mukerjee P. 49.
18. Wheeler, Op. cit. P. 79.
19. Vedic Age P. 187.
20. The wonder that was India by A. L. Basham P. 23.
21. Radhakumud Mukerjee Op. cit. P. 49.
22. Radhakumud Mukerjee Op. cit. p. 42.
23. Radha Kumud Mukerjee Op, cit. P. 49.
24. (a) Y. V. 16. 1.
 (b) T. S. 4. 5. 1.
 (c) Religion and philosophy of Veda and Upnishads by A. B. Keith P. 143
25. R. V. 1 16. 9. 1 ; 2. 4. 1. 9.
26. R. V. 2. 4. 1. 10 ; 2. 4. 1. 3 ; 1. 16. 9. 10 ; 1. 16. 9. 1.
 7. 3. 13. 1 ; 2. 1. 1. 6 ; 4. 1. 3. 6 ;
27. R. V. 1. 16. 9. 4 to 6 ; 7. 3. 13. 1 ; 2. 7. 4. 3. 2 ;
 1. 8. 8. 4 ; 2. 4. 1. 15 ;
28. (a) Y. V. 16. 25.
 (b) TS. 4. 5. 4.
29. R. V. 1. 8. 8. 1 ; 2. 4. 1. 9 ; 6. 4. 6. 10 ; 7. 3. 3. 5 ;
30. History of Dharam Shastra volume II part II by P. V. Kane Page 736.
31. R. V. 3. 2. 2. 1 ; 8. 7. 1. 9 ; 8. 10. 9. 1 & 16 ; 7. 2. 4. 5.
32. Decipherment of Harappa and Mohenjadaro inscriptions by Pran Nath p. 17.
33. R. V. 1. 7. 3. 12.
34. R. V. 3. 4. 9. 2.
35. Voice of Ahimsa vol. VII no. 3—4 p. 152, Article by P.N. Ramchandaran.
36. Indian Philosophy by Radhakrishanan. Vol. I, p. 142.
37. (a) Radhakumud Mukerjee op. cit. p. 43.
 (b) P. V. Kane op. cit. p. 736.
38. R. V. 7. 2. 4. 1.
39. R. V. 8. 8. 1. 11.
40. Rigvedic culture A. C. Dass-P. 167—168.
41. R. V. 7. 2. 4. 3.
42. R. V. 7. 3. 10. 9 ; 7. 2. 4. 3 to 7 ; 1. 7. 3. 4 and 5 ; 6. 1. 14. 3 ; 8. 8. 1. 11 ; 1. 13. 11.
 13 ; 6. 3. 6. 6 ; 6. 3. 10. 3; 7. 2. 2. 4 ; 7. 5. 13. 4 ; 9. 4. 16. 9 ; 9. 5. 3. 4 ;
43. History of Philosphy Eastern and Western-Chief Editor. Radhakrishanan-p. 37.
44. History of Indian Civilization by Radhakumud Mukherjee-p. 123,.
45. Atharvaveda Vratya Kand-Sampurnanand—P. 16.
46. Y. V. 16. 25.
47. T. S. 4. 5. 4d and 9.
48. Y. V. (Tr.) P—171.
49. T. S. (Tr) P.—356.

50. R. V. 1. 22. 7. 8 ; 3. 2. 14. 6 ; 5. 4. 9. 11.
51. Panchavimsa Brahmin by Dr. W. Calland, P.–454.
52. (a) Sampurnanand op. cit–p.–37 & 38.
(b) A. V. (Tr) op. cit., P.–190.
53. The religion and philosophy of Atharvaveda by N. I. Shende—P–7.
54. History and Doctrine of Ajivikas, by A. L. Basham, P-8.
55. Aryon ka adi desha, Sampurnanand P. 222.
56. A. V. (Tr) Preface P-VII.
57. History of Dharmashastra—by Dr. P. V. Kane, Vol. II part I. P-386.
58. The Vedas by Max-Muller, P-103.
59. Laws of Manu by G. Buhler, Chapter 10, slok 22, p–406.
60. Vedic Age, P—159.

BIBLIOGRAPHY :

1. Rigveda Samhita edited by Satvalekar, S. Y. 2013, Swadhyaya Mandal, Pardi, Surat.
2. Rigveda Samhita translated by H. H. Wilson, 1927 A. D. Ashtekar and Co. Poona.
3. The Indus civilization by Shri Mertimer Wheeler 1953 A. D. University Press Cambridge.
4. Yajurveda Samhita, S. Y. 1998, Vaidik Samsthan Lucknow.
5. Yajurveda Samhita translated by Ralf T. H. Griffith, 1957 A. D. E. I. Lazaraus & Co., Medical Hall Press, Banaras.
6. Atharvaveda Samhita edited by Satvalekar, S. Y. 2013, Swadhyaya Mandal, Pardi, Surat.
7. Hymns of the Atharvaveda translated by Ralph. T. H. Griffth, 1916 A. D. F. I. Lazaraus and Co., Banaras.
8. Taittiriya Samhita edited by Satvalekar, 1957 A. D. Swadhyay Mandal. Pardi, Surat.
9. The Veda of the Black Yajus school by A. N. Keith, 1914 A. D. Harward University Press, Cabmridge, Massachusetts (U.S.A.).
10. Ancient India by Radhakumud Mukerjee, 1956 A. D. Indian Press (Publication) Private Ltd., Allahabad.
11. India from primitive communism to slavery by S. A, Dange, 1949 A. D. Peoples publishing house Ltd., Bombay.
12. An introduction to the study of Indian History by D. D. Kosambi 1956 A. D. Popular Book Depot, Bombay.
13. The culture and Art of India by Radhakamal Mukherjee, 1959 A. D. George Allen and Unwin Ltd., London.
14. The History and culture of the Indian people, The Vedic age 1957 A. D. George Allen and Unwin Ltd. London.

15. The wonder that was India by A. L. Basham, 1956 A. D. Sidgwick and Jackson, London.

16. Religion and Philosophy of Veda and Upnishads by A. B. Keith, 1925 A. D. Harward University Press, Cambridge, Massachusetts (U. S. A.).

17. History of Dahrmashashtra Vol. II, part II by P. V. Kane, 1941 A. D., B. O. R. I., Poona.

18. Indian Philosophy by Radhakrishnan Volume I, 1951 A. D. Geroge Allen and Unwin Ltd., London.

19. Rigvedic culture by A. C. Dass, 1925 A. D., R. Chambey and Co., Calcutta.

20. History and Philosophy Eastern and Western, Chief Editor, Radhakrishanan 1957 A. D. George Allin and unwin Ltd., London.

21. The Atharvaveda Vratyakanda by Sampurnanand, 1956 A. D., Ganesh and Co., (Madras) Private Ltd., Madras.

22. Panchwimsha Brahmin by Dr. W. Colland, 1931 A. D. Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

23. Aryon ka Adi desha by Sampurnanand S. V. 2013, Bharti Bhandar, Leader Press, Allahabad.

24. Laws of Manu by G. Buhler, Sacred Books of the East Series, London.

25. History of Indian Civilization by Radha Kamal Mukherjee, 1958 A. D. Hind Kitab Ltd. Bombay

26. The Vedas by Max Muller, 1956 A. D. Sushil Gupta (India) Ltd. Calcutta.

27. The Regligion and philosophy of the Atharvaveda by Dr. N. I. Shinde, 1952 A. D. B. O. R. I. Poona.

28. Voice of Ahimsa (Journal) Vol. VII.P. 203–4 Article by P. N. Ramchandran "An interesting sculpture from Harappa and Jainism, P—152.

29. History and Doctrine of Ajivikas by A. C. Basham, 1951 A. D. Luzac and Co. Ltd. London.

30. Decipherment of Harappa and Mohenjodaro Inscriptions by Dr. Prananath, reprint from Poineer, Lucknow.

The Jain sources of the history of Ancient India

(Dr. Jyoti Prasad Jain, M.A., LL.B., Ph-D., Lucknow).

The Jain community, with its unique cultural heritage, has formed from the days of yore an important section of the Indian people, and has been drawing its adherents from all the various races, castes and classes inhabiting the different parts of this ancient country. Naturally, the Jains have contributed a lot of material which may well be used as valuable sources of history.

These Jain sources are neither mean nor meagre, but are remarkable for their variety, vastness and chronological sequence. They are spread over the whole range of historical times and are connected with practically every part of the country and with almost every phase of its past history. At the same time they are no less authentic than the contemporary and similar Buddhist or Brahmanic sources. In the words of Dr. B. Ch. Chhabra, "It is an established fact that Jain literature is as extensive as Buddhist literature, if not more so. The historical information contained in it is supposed to be of a more reliable nature, and is expected to add vastly to our existing knowledge." And as Prof. K. A. N. Sastri observed, "The Jain books form one of the primary sources of our knowledge of the internal history of India from the 7th century B. C. to the rise of the Mauryan Empire. And though these books, no less than the Vedic literature, devote themselves more to religious ideas and movements than to historical events, they contain many incidental references to states and their relations--which when shifted, give a clearer idea of the politics of the time than the meagre and confused traditions in the Puranas."

From the times of the Mauryas onwards right upto the advent of the Muslims, and in some respects, even upto the end of the Muslim period, the Jain material constitutes a good secondary source and its corroborative value cannot be exaggerated. In some cases as that of Gujarat and several of the principal states of the Deccan and the South, histories of these regions could be reconstructed chiefly with the help of their respective Jain sources. And for the pre-historic times, prior to the age of Mahavira and the Buddha, the Jain traditions should have the same value and importance as the corresponding Brahmanic traditions. Their mutual agreements and differences, if comparatively studied and critically examined, may reveal many a hitheto unknown facts and may push back farther the limits of historical times.

Moreover, the ancient Jains seem to have had a love for dates and exactness which is evident from their numerous pontifical genealogies and dyanstic chronologies, the dated colophons of their works and of the latter's successive manuscript copies, the historical and even pre-historical traditions recorded with corresponding dates and periods in later works and form their inscriptional records which reach back to the 5th century B. C. The late Dr. K.

P. Jayaswal once remarked that among the Hindus, the Jains alone have preserved a complete and admirable chronology for the two and a half thousand years or so after Mahavira's death. And Dr. Buhler, who has done good work on the history and literature of Jainism, speaks very highly of the authenticity of Jain traditions and of their value and importance to history. In fact, the Jain sources have a superiority over other sectarian sources in so far as chronology is concerned, especially for the history of ancient India. With their aid many an unknown or doubtful date can be fixed, while those already fixed can further be confirmed. A rational use of these sources can often dispel the confusion usually arsing from similarity of names and circumstances. Besides, the account of historical development of almost every branch of Indian learning and art and of cultural phases and social institutions would be incomplete without incorporating in them the corresponding contributions made by the Jains.

It may be mentioned here that for the ancient period of Indian history, apart from archaeology, epigraphy, numismatics and foreigners' accounts our principal source of information is literature, both secular and religious, produced and preserved by the different sects and religious communities that flourished side by side. And the most important communities to whom we are indebted for these literary sources, are, without doubt, the Hindus, the Buddhists and the Jains. Of these, the Buddhist sources have long been fully studied and explored. The Brahmanic sources have also been exhaustively studied and still engage the attention of scholars. But the Jain sources have so far been utilized to a small extent. The little and scattered work that has been done on them is, however, enough to indicate their possibilities and to impress their value as a rich source of history.

To give in brief the genesis of Jain literature, it may be asserted, that the Jains have all along been a peace-loving community, and naturally they nurtured tastes and tendencies favourable for developing arts and literature. According to Jainism, greater prestige is attached to the ascetic institution which forms an integral part of the Jain social organisation, made up of monks, nuns, laymen and laywomen.

The members of the ascetic institution, naturally and necessarily, devoted major portion of their time to the study of scriptures and compositions of fresh treatises for the benefit of suffering humanity. Thus, generations of Jain monks have enriched, according to their training, temperament and taste, various branches of Indian literature.The munificence of the wealthy section of the community and royal patronage have uniformly encouraged both monks and laymen in their lirerary pursuits in different parts of the country, at least for the last two thousand years or so. The importance of scriptural knowledge in attaining liberation and the emphasis laid on 'Shastra-dana' have enkindled an inborn zeal in the Jain community for the preservation and composition of literary works, both religious and secular, the latter too, very often, serving some religious purpose directly or indirectly. The zeal of Shastra-dana had so much permeated the hearts of pious Jains that they took special interest in getting the manuscripts of books prepared and distributed among the worthy. To quote a typical case,

Atimabbe, a pious lady in about 973 A. D. had a thousand copies of the Kannada Shantipurana of Poona (c. 933 A. D.) made and distributed. This zeal of preservation and propagation of literature assumed a concrete form in the establishment of Shrutabhandaras ; those at Patana, Jaisalmer, Moodbidri, Karanja, Jaipur, etc., can be looked upon as a part of our national wealth.

The early literature of Jainism is in Prakrit. But the Jain authors never attached a slavish sanctity to any particular language. Preaching of religious principles in an instructive and entertaining form was their chief aim ; and language was just a means to this end. According to localities and the spirit of the age the Jain authors adopted various languages and wrote works in them. The result has been unique: they enriched various branches of literature in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha, Old-Rajasthani, Old-Hindi, Old-Gujarati, Tamil, Kannada, etc. In every language their achievements are worthy of special attention. The credit of inaugurating an Augustan age in Apabhramsha, Tamil and Kannada unquestionably goes to Jain authors ; and it is impossible to reconstruct the evolution of Rajasthani, Gujarati and Hindi by ignoring the rich philological material found in Jain works, the MSS. of which bearing different dates are available in plenty. Their achievements are equally great in Sanskrit literature ; and their value is being lately assessed by research scholars. The Jain works in different languages often show mutual relation ; and their comparative study is likely to give chronological clues and socio-historical facts. Moreover, Indian literature, generally speaking, lacks in definite data of authors and their works ; but the Jain author is almost always an exception to this rule. If he is a monk, he specifies his ascetic congregation and mentions his predecessors and teachers ; if he is a layman, he would give some personal detail and refer to his patron and teacher ; and in most cases the date and place of composition are mentioned.

As a possible source of historical information, the known and available Jain material may be classified as follows :—

A. Historical Literature :—

(a) Histories—(i) Socio-Political—

Under this section we have first, the dynastic chronologies of India, particularly with reference to Ujjain, for the one thousand years or so after the death of Mahavira. These records have been preserved in several works viz., the Tiloyapannati, Harivamsa Purana, Haribhadra's Avasyaka-vritti, Titthogali Painnai and Mahapurana, and in a number of later works like Trilokasara, Parisistaparva Tirthoddhara-prakarana, etc.

Secondly, there are works like the Kadamba Purana, Bhuvanapradipika, Rajavalikathe, which deal with the history of important Jain gurus and laymen in the background of general history. In this connection, mention may also be made of Muta Nainsi's Khyata which is one of the best of mediaeval histories. There are also a number of historical documents, even political chronologies or dynastic lists relating to later times, like the Rajavali of Dilli, which give the names of rulers with important events of their reign.

(ii) **Religious** —

Certain works like the Tiloyapannati, Jambudvipa Prajnapti, Dhavala, Jaya-Dhavala, Harivamsa and Adi Purana, Kalpasutra, Theravali and Samacharisataka, the Churnis of the Avasyaka and the Nandi Sutras, the Darsana Sara, the Srutavataras, Merutunga's Sthiviravali, Munivamsabhyudaya, etc., contain an account of pontifical succession after Mahavira, the history of the canonical redaction and of the Jain Samgha with that of the successive schisms.

(b) Pattavalis and Guruvavalis —

Closely related to no (ii) are these pontifical succession lists of the Jain ascetic congregations Samghas, Ganas, Gachchhas, etc. that developed during the past two thousand years.

(c) Historical Biographies —

There are a number of biographical accounts dealing with the life stories of the historical Jain heroes like Parshva, Mahavira, Gautama, Jambu, Bhadrabahu, Sthulabhadra, Karakandu, Srenika, Abhayakumara, Jivandhara, Sudarsana Seth, Kalaksuri, Kundakunda, Pujyapada, Akalamka, Haribhadra, etc.

(d) The Prabandhas —

They are collections of similar biographical accounts of ancient Jain persons of note, mostly historical. Though to a great extent of a legendary character they contain much useful historical material and in particular have been found very valuable for a reconstruction of the history of Gujarat.

(e) Colophons —

They constitute our most valuable literary source of history. These Prashastis are generally found at the end of Jain works, sometimes also at the beginning, or in the form of Pushpikas at the end of some or all the chapters of the MSS. These Prasastis are of generally three types, namely, the author's Prashasti, the copyist's prashasti and the donor's Prashasti. In placing together the information about Indian history these Prashastis form a valuable source.

(f) Sundry references —

A number of works, even if they do not contain a regular colophon often contain sundry references to previous authors or works, particularly relating to their own subject and incidentally even to some important facts about contemporary history. This is particularly true of our logico-philosophical literature which helps in a remarkable way in not only fixing up the chronological sequence of Jain authors, but also of the important Brahmanic and Buddhist logicians and philosophers of first millenium of the Christian era.

B. Kathakoshas and Story Literature —

The story literature of the Jains is very extensive. It is found in three forms :

(a) Kathakosas of which Harishena's Brihat katha-Kosa is the most popular, consists of the several commentaries of the Mula-Aradhana and of a number of Aradhana-Katha-Koshas. But even the Mula-Aradhana of Shivarya does not appear to be the only source for the fossils of many a tradition found recorded in it are seen embedded in the literary stratum of the

Painnas. Besides the Aradhana–Katha-koshas there are a number of other collections of stories such as the Kathavalis, Punyashrava-Katha-Koshas, the many Vrata-Kathakoshas, works like Samyaktva Kaumudi, and so on.

(b) Independent works of fiction such as Samaraditya Katha, Kuvalayamala, Upamiti-Bhavaprapancha-Katha, Dhurtakhyana, Dharmapariksha, Tilaka-manjari, Rambha-manjari, Ratna-Chuda-ki-katha, Shuka-saptati, etc. They include romances, tales of adventure, tales relating to animal life, folklore, some fine specimens of early mediaeval Indian novels and some beautiful allegories and satires.

(c) Then there are numerous stories generally used to illustrate some theological or ethical truth and found scattered in the commentaries of the Shwetambara Agama Sutras and in the theological, didactic or ethical works of the Digambaras.

The importance and worth of the Jain story literature has found due recognition at the hands of many Indian as well as European scholars. The ultimate source of many a European tale has been traced to the Jain Katha literature.

C. The Puranic Literature of the Jains —

It consists of two classes—(i) the Puranas or bigger epics, and (ii) Pauranic Charitras or smaller epics. This extensive Pauranic literature of the Jains, as a fruitful source of ancient Indian historical traditions relating to pre-historic times, has the same value as the Brahmanic Puranas and the Buddhist Jatakas. Besides being lively narratives, these works contain vivid pictures of the life and society in its various aspects, as obtained in the times of their respective authors.

D. Geography —

Several works like the Tiloyapannati, Lokavibhaga, Jambudvipa-prajnapti-samgraha, Trilokasara, etc., which principally deal with cosmology from the Jain theological point of view, in their accounts of Jambudvipa and Bharata-kshetra give an interesting idea about the geographical notions of ancient Indians. The commentaries on the Tattvartha-Sutra and on the Digambara and Swetambara Agamas substantiate this source on this point. The Puranas and the Agama Sutras contain a fund of information relating to the political geography of ancient India as well. The accounts of and references to the Jain places of pilgrimage are also quite helpful in the geographical studies of ancient India since those places continue to be sacred for the Jains even to this day.

E. Political literature —

In the Nitivakyamrita of Somadeva (959 A. D.) we have an excellent regular treatise on the science and art of politics. We also find useful discussions of political theory and its application in works like the Gadyachintamani, Adipurana, Dharma Sharmabhyudaya, Yahsastilaka Champu, Chandraprabha Charita, Arhanniti, etc.

F. Secular and Scientific literature —

A number of works on the grammar of Prakrit, Sanskrit, Apabhramsa, Tamil and Kan-

nada, on lexicon, prosody and poetics on logic and dialectics, on mathematics and astronomy, on medicine and other useful subjects, written by Jain writers are available. In many cases these works by their references to previous works and authors on the subject help in reconstructing the histories of the development of these different branches of ancient Indian learning.

G. Jain commentaries on non-Jain works —

The Jain scholars have, from the earliest times, been reputed commentators. They wrote numerous and voluminous commentaries not only on their own canonical texts and other works, but also wrote a large number of valuable commentaries on various philosophical and other secular works of non-Jain authorship. Many such works have reached us only through Jain commentaries on them and but for their manuscripts preserved in the Jain Bhandaras they would be practically non-existent. The value of these commentaries is obvious in reconstructing the literary history of our country.

H. Religious literature —

This most voluminous stream of Jain literature consists of the canonical texts of both the sects together with the vast exegetical literature thereon in the form of Vrittis, Tikas, Niryuktis, Churnis, Bhasyas, etc., and of many independent works divided into the four Anuyogas relating to metaphysics, philosophy, ethics and tradition, respectively. Devotional poems, Mantra-shastras, ritualistic and consecrational literature also forms a considerable part. These works in their colophons and sundry allusions are often found to supply important bits of historical information.

I. Manuscript material and Grantha Bhandaras —

We have in India numerous Jain Bhandaras, big and small, which on account of their old, authentic and valuable manuscript treasures deserve to be looked upon as a part of our national wealth. For the study of palaeography and caligraphy this material should prove very helpful.

J. Epigraphy —

Innumerable Jain inscriptions found inscribed on the pedestals of images, on Nishadyas, Stupas, Mana-stambhas, Ayagapattas and metalic yantras, in temples, places of pilgrimage, ancient sites and other places, and those that exist in the form of donative tablets or copper plate grants are scattered all over the country. Like the Jain manuscripts, most of the Jain inscriptions are also dated.

K. Numismatics —

A study of coins, seals, dynastic or royal ensigns of some of the ancient kings, ruling dynasties of republican states, in the light of distinctive Jain religious symbols and mystical sings is likely to prove helpful in numismatic studies and in identifying those rulers as also in determining their religious bias.

L. Iconography —

Jain iconography is an important aspect of ancient Indian iconographic art. There

is a large number and variety of Jain icons and there is also very rich material in the Jain texts on the subject.

M. Art and architecture —

Jain monuments of different types have no less value than other contemporary architectural remains. In the study of ancient art and architecture and in the evolution of various styles the numerous Jain monuments and works of art should prove quite useful.

N. Festivals, customs and practices—

A study of some of the characteristic Jain festivals and tracing their history back in literature, epigraphy and archaeology throws interesting light on their origin and evolution. It further shows which of them have been adopted by other communities from the Jains or vice-versa. The study of the development of Jain-rituals and religious as well as social customs and practices gives us an angle from which to study the influence of Jain ideas on Indian society and that of other systems on the Jains themselves.



Historicity of some places in Bihar as mentioned in the Jain Literature

(Dr. M. S. Pandey, M. A. (Cal.), Ph. D. (London), Patna University, F. R. A. S.)

Bihar has been a land of experiments of great apostles and preachers from time immemorial. Of all the preachers of the sixth century B. C., it was Mahavira who was born in Bihar and attained salvation in that very land. The field of religious activities of Mahavira was not so extensive as that of the Buddha. His wanderings were confined to Bihar and its neighbouring territories only.

The accounts of Mahavira's wandering are preserved in Prakrit literature of the Jains. It won't be out of place if we discuss a little about the Jaina sources that one has to tackle with in dealing with the geographical problems of ancient India. The geographical materials which the Jain works contain have not been fully investigated and utilized. The reason is that much of the Jain works have not been yet published. Major portion of the Jain sources that have come down to us were composed in western India, therefore their authors did not know much of Bihar. The rivers, hills, territories and places referred to in the Jain scriptures have not been precisely located and are rarely corroborated by other sources. Some times they furnish us with such information as one comes to conclusion that certain places or regions exist only in the land of myths. There is a special feature of the Jain sources which we do not find in the Buddhist or Hindu works. The wanderings of the Buddha or his followers, no doubt, extended over large areas, but they were confined to big capitals, cities and apanas. It was probably because the Buddhists sought help of kings and big people to propogate their faith. Even to pass their chaturamasa, they took shelter in big cities. On the other hand, the Jain ascetics laid emphasis on extreme penance which was possible in solitude far away from the madding crowd of the people. Mahavira did not believe in the Madhya Marga (middle path) as Buddha did. He laid stress on extreme penance to the extent of physical torture. Naturally the Jain ascetics retired to dense forests. The Buddhist or Hindu works are generally silent about the wild tract of Jharakhanda or Chhotanagpur as we call it at present. The faintest ray of information of ancient days that we get about this region is from the Jain sources alone.

We get abundance of information about big cities and well-known places also in the Jain works. But those places have been referred to in other sources also. So we shall confine ourselves to such places only as are mentioned only in the Jain works and if we get any thing new about the places which find mention in other works we shall try to discuss them.

Besides giving a detailed description of the territories and kingdoms in the north and South Bihar the Jain sources throw a faint ray of light on the geography of Jharakhanda region also as we have stated above. But informations are so vague in their description that it is very difficult to identify the places with any amount of certainty. However scholars have pointed out a few places in the Jharakhanda area which are referred to in the Jain literature.

Bhanga or Bhangi[1] is included in the twentyfive and half Aryan countries, with Pava as its capital. This kingdom is referred to in the Mahabharata[2] also. It probably comprised the districts of Hazaribagh and Dhanbad.[3] Its capital Pava is located in the region near the Parasanatha hill.

Another region Daddhabhumi is said to have been inhabited by many Mlechchhas. It may be identified with Dhalbhum sub-division of the Singhbhum district.

The Acharanga Sutra mentions a region called Ladhadesa. In later literature and inscriptions this country has been known as Radhadesa. According to the Acharanga Sutra this region was divided into Vajjabhumi and Subhabhumi. The latter may be identified on the basis of similarity of Names with Singhbhum district of modern Bihar.

To facilitate our task, we shall try to discuss and identify places districtwise so far as possible.

In early days of Jainism, Rajagriha, the Magadhan metropolis, was one of the seven big cities of the then India. In Indian literature, this city has been known by various names, signifying its different attributes. The Jain sources[4] give us another name to it—Chanakapura. This name is found only in the Jain literature and seems to have been given to the newly built town by Bimbisara or Ajatasatru, for the simple reason that the city was built in the fields where Gram (chanaka) grew in abundance

PAVA

This village is often mentioned in the Jain literature.[5] Sometimes it is called Majjhima-Pava.[6] From the study of the Jain and Buddhist literature we arrive at the conclusion that there were three famous places which bore the name Pava ; Pava of the Mallas in the Gorakhapur district the Majjhima Pava in the Patna district and Pava, the capital of the Bhanga country, somewhere near the Parasanatha hill in the Hazaribagh district. As between the two Pavas, it was known as Middle Pava. It was also known as Apapapuri because the place was regarded sacred after the supposed death of Mahavira at this very place. If we study the Jain scriptures minutely, it will appear that the place where Mahavira died was not the modern Pava in the Patna district, but it may have been the capital of the Bhanga country in the Hazaribagh district. This conjecture seems to be more sound when we learn that Mahavira died in the house of Hastipala who was a king in the neighbourhood of Rajagriha, when Ajatasatru was ruling over Magadha. A large number of the Jain ascetics died on the Parasanath hill and so the hill was deemed very sacred from very ancient time. It is possible that Mahavira in his last days was wandering in that region when he suddenly died at Pava. A few centuries after the death of Mahavira, it became difficult to locate the place in that region, people therefore associated

this great event with Majjhima Pava which is identified according to the Jain tradition with the modern village of Pava, seven miles to the south—east of Bihar—Sharif in the Patna district.

In this connection, we must not forget that Pava is not an important place from the point of view of archeology. We have not yet discovered any historical fields there. It is also to be noted that modern temples are situated at Puri and not at Pava which is at a distance of not less than two miles from the said village. The village Puri is mentioned neither in the Jain tradition nor in the Buddhist. Hence modern Pava cannot be ancient Pava where Mahavira attained salvation.

KAKANDI

It was variously known as Kagandi or Kaindi. It is said to be the birth-place of the ninth Tirthamkaras[7] and Mahavira is said to have visited this place.[8] It is identified by Rahula Sankrityayana[9] with Kakan in the Monghyr district. The identification seems to be correct.

MORAGA

Mahavira often visited this place. He is said to have arrived here from Atthiyagama and once from Kollaka.[10] The place was definitely in North Bihar, because places connected with it are all in the same region. The village Moranga in the Sitamarhee Police area may be identified with ancient Moraga.

Mahakundagama, Khattiyagama, and Kundapura —

These were the villages in the suburbs of Vaishali. The Acharanga Sutra states that Kundapura was a village where Mahavira was born. It is divided into two parts—southern and northern. The southern was mostly populated by the Brahmins and the northern by Khattiyas. This village is known as Kundapura in the Kalpa Sutra. It is identified with modern Basukunda in the Muzaffarpur district.

KALAYA

This was a village near Vaniyagama[11] to its north—east. It is not exactly located but it must be in the Muzaffarpur district where Vaniyagama was situated.

VANIYAGAMA

The Avasyaka Niryukti refers to this village in connection with Mahavira's wanderings. It is known as Vaniyagrama[12] in the Panchobha copper Plate of Sangramagupta. It is identified with modern Baniya near Basarh in the district of Muzaffarpur.

KOLLAGA

This was a village near Vaishali,[13] we often find mentioned in the Jain literature. This is identified with Koluha, a village near Basarh.

KUMARAGAMA

Mahavira came here from Kundapura and proceeded to Kollaka.[14] Since Kollaka has been located in the Muzaffarpur district, this place too may be in north Bihar. There is a village Kunara in the Sitamarhi Police area of the same district which may be ancient site of Kumaragama.

Kayalasimagama or Kayalasigama —

Mahavira arrived here from Bhaddiya and left for Jambusanda.[14] The place seems to modern Kahalgaon in the Bhagalpur district.

MANDIRA.

According to the Avasyaka Niryukti,[16] this was the place where the sixteenth Tirthamkara received his first alms. Shri J. C. Jain thinks that it may be identified with Mandaragiri in the Bhagalpur district.

ARAKHURI

The Avasyaka Niryukti[17] states that this village was situated on the border of Champa. Its exact location is not known but it should be in the Bhagalpur district.

PITHICHANPA

Mahavira arrived here from Choraga and left for Kayangala. The place was near Champa.[18] The location is not exactly known but it should be in the Bhagalpur district.

JAMBHIYUGAMA

This place is often referred to in the Jain scriptures. Its Sanskrit name seems to be grimbhi kagrama. Mahavira is said have attained Kevalahood at this place which was on the bank of the Rijupalika.[19] Muni Kalyana Vijaya[20] understands that it was a flourshing "town with tall ramparts and high buildings." He identifies it with jambhikagaon near the Damodara in the Hazaribagh district. Shri J. C. Jain prefers to locate it somewhere in the region round modern Pava in the district of Patna. We find many references to Jain ascetics moving in the area round the Parasanath hill and so it is no wonder if Mahavira also went there to attain Kavalahood. The only objection to the identification of this place is that the place where Mahavira attained enlightenment was on the bank of the Rijupalika, which is identified with the Barakar. We cannot say how the village near the Damodara can be identified with the ancient Jambhiyagaon. It is possible that the Damodara may be flowing in that area through the old bed of the Barakar.

PAVA

The place has been discussed in connection with Papa or Pava in the Patna district,

BHADDILAPURA

This was the capital of the Malaya country which is one of the twenty-five and half of the aryan countries. This information of the Jain literature is not corroborated by any other source. However the village is identified with modern Bhaddiya near the Kolhuvahill in the Hazaribagh district. It was the birth place of the tenth Tirthankara.

CHORAYA

This place was visited by Mahavira. It has been identified with Choreya in the Ranchi district on the basis of similarity of names.

LOHAGALA

The place is often referred to in the Jain literature. On the basis of similarity of names it may be identified with Lohardaga, the head quarter of a sub-division of the Ranchi district.

MADANGAMA

This village is referred to in the Jain Canons. Mahavira is said to have arrived here from Kundaka and left for Bahusalaga. It may have been somewhere in the Ranchi district or Jharakhanada area.

BAHUSALAGA

It is stated that Mahavira travelled to this place from Madangama and left for Lohaggala. As Lohaggala is probably modern Lohardagga, this place too may be in the Ranchi district.

GOBHUMI

This place was often visited by Mahavira.[21] The Mahabharata[22] mentions a locality called Pasubhumi which is identified with modern Chhotanagapur region on account of abundance of wild animals. It is possible that Gobhumi and Pasubhumi are identical. Gobhumi may be identified with Gomoh in the Dhanbad district.

Besides the places mentioned above, there are numerous places of which we are not sure if they are in Bihar. The identification of those places is possible only if thorough research work be carried on of the neighbouring states of Bihar.

REFERENCES —

1. Brihatakalpa Sutra—1. 50.
2. „ II, 31. 11.
3. Shramana Bhagawan Mahavira, p. 379.
4. Jain—Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p. 276.
5. Kalpa Sutra—p. 269.
6. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p. 310.
7. Avashyaka Niryukti, 382.
8. Anuttara—p. 61.
9. Bharatiya Vidya (July, 1944) p. 8.
10. Shramana Bhagawana Mahavira II—p. 288.
11. Avashyaka Tika—p. 456.
12. Journal of Bihar-Orissa Research Society Vol. V, pp. 582-96.
13. Uvasagadasao II—p. 4.
14. Shramana Bhagawan Mahavira II—p. 28a.
15. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons—p. 251.
16. Avashyak Niryukti—p. 324.
17. Ibid—p. 1297.
18. Avashyaka Tika—383a
19. Kalpa Sutra—p. 263.
20. Shramana Bhagawana Mahavira—pp. 357, 370.
21. Life in Ancient India As Depicted in the Jain Canons p. 289.
22. II. 278.

Jainism in Manbhum

(P. C. Roy Choudhury)

The message of Jainism was carried by Mahavira, the 24th Tirthankara, born on the soil of Bihar through Radadesh to Utkal, modern Orissa. Radadesh included the area previously known as the district of Manbhum and now a portion of which is known as Purulia district in West Bengal. Manbhum was the tract through which the commonly known road meandered to Puri, which has the temple of Jagannath. In the course of his itinerary, Mahavira was roughly treated in Radadesh which only went to strengthen his confidence in himself and with redoubled vigour, he accepted the challenge and spread the creed of Jainism in the same area.

The efforts of Mahavira were apparently crowned with success and as unknown to most of us, lie scattered, throughout this area, Jaina antiquities in abundance. The adjoining district of Singhbhum in Bihar is also full of Jaina relics but it is peculiar that while some attention has been paid to the Jaina relics in Singhbhum and the adjoining districts of Orissa up to the famous antiquities in Khandagiri caves, very little attention has been paid to these in Manbhum district. Vandalism has been responsible for the disappearance of many of the wonderful antiquities in Manbhum area. Quite a large number of them are being worshipped as orthodox Hindu deities. Some of them are even found on the door steps, the walls and parapets of houses, often besmeared with vermilion. In this short article some of these antiquities will be referred to with the fond hope that the attention of the proper authorities and scholars will be drawn to them.

These relics offer a field for investigation as to the periods to which the antiquities refer to and probably a scholar may discover valuable data for tracing the evolution of Jainism which spread through Manbhum and Orissa and from Orissa to the south. It is a mistake to think that Jainism has completely died out in this area. What has happened is that without their knowledge sizable sections of the population in different pockets are following Jaina creed—there are villages where Ahimsa is concretely practised by villagers by being scrupulously vegetarian, there are places where people do not follow the usual casteism and so on. Another great effect of Jainism in this area appears to have been to iron out the differences amongst other creeds. Side by side of the Jaina antiquities in Manbhum area we find specimens of orthodox Hindu antiquity, clear relics of Mahayana Buddhism and clear traces of Vaishnavism. Eclecticism appears to have been responsible for the area accepting one religious creed after another and the result is that there was a confluence of different faiths in Manbhum. There is no doubt that at one time or other Jainism had received a certain amount of patronage from the landed aristocracy which helped the spread of the creed. King Bimbisara, Kharavela, the lines of Rashtrakuta and Chandelas who had ruled these parts, were sympathetic

to Jainism as a creed if not as active supporters. The section of people known as the Pacchhima Brahmins in Manbhum area are held by some as belonging to the clan of Vardhamana Mahavira.

There was a decline of the flow of Jainism in this area and in adjoining Orissa and it is worthwhile for a research scholar to investigate the reasons. The rise of Lingayat Saivism appears to have clearly contributed to the decline of Jainism in Chotanagpur. There is a theory that the Chola soldiers on their way to the expedition under Rajendra Chola Deva and on the return back after defeating Mahipala of Bengal near about 1023 A. D., had destroyed many of the Jaina temples and images in Manbhum district. The Pandeyas were great iconoclasts. The decline of a powerful ruler at the centre led to a fissiparous tendency and several small principalities came to be carved out and ruled by branches of the Rajputs. Landlords like Kasipur and Patkum were examples. Many of these rulers or powerful Zamindars were under the influence of Brahmin priests who wanted to increase their power and so there was a clash of interests. From the 13th century A. D., Manbhum seems to have been the field for different religious creeds trying to push out the other and if not to bring about a compromise and to continue the same influence. The religious ideas were fused and even when Tantrik Mahayana Shaivism came to have some influence, the Jaina images came in handy. During the latter part of the Mughal period when the centre became very weak most of the religions excepting Mohammedanism all over India lost their individual identity and a broad-based Hindu creed assimilating a number of creeds came to be the ruling creed on the surface. This creed took in Jainism as a current in the broader current. This is the reason probably why today one will find Jaina Tirthamkara images openly worshipped as Bhaironath, Hara-Parvati, etc. The result is seen in the fact that today unmistakable Jaina images are found installed in Hindu temples and worshipped as Hindu deities.

As mentioned before, Jaina relics lie scattered in abundance throughout Manbhum area. This is the area where the ancient Shravakas who were clearly Jains, lived and practised the earliest known smelting of iron-ore. Hieun-Tsang mentioned this area as the "Safa Province." The origin of the name of Safa is not known, but it appears to be clearly associated with Jainism. Hibert had identified Dalmi as the capital of the Safa-province and the entire Dalmi hills are full of Jaina antiquities. It is this province of Safa which is identified with a part of Radadesh which was visited by Lord Mahavira.

Balarampur and Boram are two big villages near Purulia which have got temples with Jaina images and it appears these temples were Jaina in origin. From Chandankiari village, a few miles away from Purulia a large number of Jaina antiquities were accidentally discovered. Some of the images of the Jaina Tirthankaras discovered in Chandankiari form one of the finest collections of Indian antiquities now preserved in Patna Museum. Most of these images have clear Jaina chinhas. The date is of the 11th century A. D. A number of other Jaina images have been found at the villages Kumhari and Komardaga within 5 miles of Chandankiari. The temples and sculptures at Pakbira about 32 miles from Purulia were identified by J. D. Beglar as

of clear Jaina origin. Near the temples are a number of mounds which have not been excavated. There is no doubt that the entire area of Pakbira was once the seat of Jaina culture. Even now a large number of Jaina images are lying here and one of the images is 5 cubit high of Sri Bahubalji. Near the image of the great Bahubali are some other Jaina images of Parshvanath, Mahavirji and Padmavati. The carvings are superb and the images are still intact and may be about two hundred years old.

The villages of Budhpur, Daruka and Charrah have also a number of Jaina antiquities. At Charrah there are still images which are clearly of Kunthanatha, Chandraprabhu, Dhanendra-Padmavati, Rishabhdeva and Mahavira. It is understood that quite a large number of images have been removed by the military people when they had a colony at Charrah during the Second Great War.

The writer noticed at Deoli, an insignificantly small village, a number of very old Jaina temples. In the sanctum of the largest temple there is instituted a Jaina figure known as Arahanath. This figure is now worshipped by the Hindus. The main temple which is now in ruins consisted of a sanctum, antarala and a mahamandapa. Near about under the tree there is a Jaina figure in nudity with the serpent-hood above the head.

Another small village Suissa has a collection of statues that had been noticed by Beglar which he identified as of Jaina origin. Some of the Jaina antiquities mentioned by Beglar have now disappeared. At village Bhawanipur about 8 miles east of Purulia there is an image of Rishabhnath with 24 Tirthamkaras engraved on the side with the figures of Chamaries, Incensors and Yakshis. An image of Padmavati and Dhanendra is now worshipped as Hara-Parvati.

The writer made a tour on Hura-Puncha road and within a distance of 21 miles dozens of Jaina images were noticed lying neglected in almost every village on this road. Many of them appeared to be worshipped as some member of the Hindu pantheon. Some figures were lying under trees.

It is unnecessary to give more examples. As a matter of fact, there are dozens of other villages in Purulia district which have got hundreds of Jaina antiquities, some broken and some intact. Recently some inscriptions have been found which have to be properly deciphered and edited. The Jainas had raised beautiful temples at almost impossible places in the area and the Hindus and Jainas had lived together for centuries and made a great contribution to the culture of Manbhum district. Manbhum offers a very rich area for further exploration and investigation so far as Jainism is concerned.

Kakandinagari

(Dr. D. C. Sircar, M. A., Ph.D., F.A. S., Government Epigraphist for India, Ootacamund.)

A place called काकंदी or काकंदीनगरी famous in both the Jain and Buddhist traditions[1]. The Jains regarded the locality as the birth place of the तीर्थंकर सुविधिनाथ[2], while the Buddhists regarded it as the home of an ancient sage named काकंद[3]. But this place does not appear to have so far been satisfactorily identified.

B. C. Bhattacharya suggested the identification of काकंदी with the city of किष्किन्धा celebrated in the story of the रामायण[4]. But the equation of काकंदी and किष्किन्धा does not seem to be philologically sound. Moreover, किष्किन्धा in the neighbourhood of पम्पा (modern Hampi in the Bellary District of Mysore State) is far away from the sphere of activities of the early Jains and Buddhists. B. C. Law, who has ignored Bhattacharya's suggestion, regards the place as unidentifiable in the present state of our knowledge[5]. But there is epigraphical evidence to prove that काकंदी, the traditional birth place of सुविधिनाथ, was regarded in the medieval age as identical with a place now called काकन which lies within the jurisdiction of the Sikandra Police Station in the Jamui Sub-Division of the Monghyr District of Bihar.

About the beginning of the year 1951, I visited the said village of काकन in search of new inscriptions and found three epigraphs in the local Jain temple. These records were noticed in the Annual Report on Indian Epigraphy, 1950-51, Nos. B 2-4. The earliest of the three records, which is engraved on the pedestal of an image of पार्श्वनाथ, bears the date V. S. 1504 फाल्गुण-सुदी 9 falling in the month of February, 1448 A. D. The latest of the three inscriptions is incised on the back of an आयागपट and is dated in V. S., 1933 corresponding to 1876-77 A. D.

The third inscription, with a date falling midway between the dates of the two other records referred to above is very interesting. Dated in V. S. 1822 वैशाख-सुदी 6 falling in April 1765 A.D., this inscription is engraved around two foot-marks fixed in front of the image of पार्श्वनाथ in the Jain temple at काकन and records the installation of the said foot-marks. It is clearly stated in the inscription that they represent the foot-marks of the तीर्थंकर सुविधिनाथ and that they were installed by the (Jain) Sangha at काकंदीनगरी which was the birth place of the said तीर्थंकर. Some repairs are also stated to have been carried out apparently in the local Jain temple wherein the foot-marks were installed. The inscription of V,S. 1504 seems

---

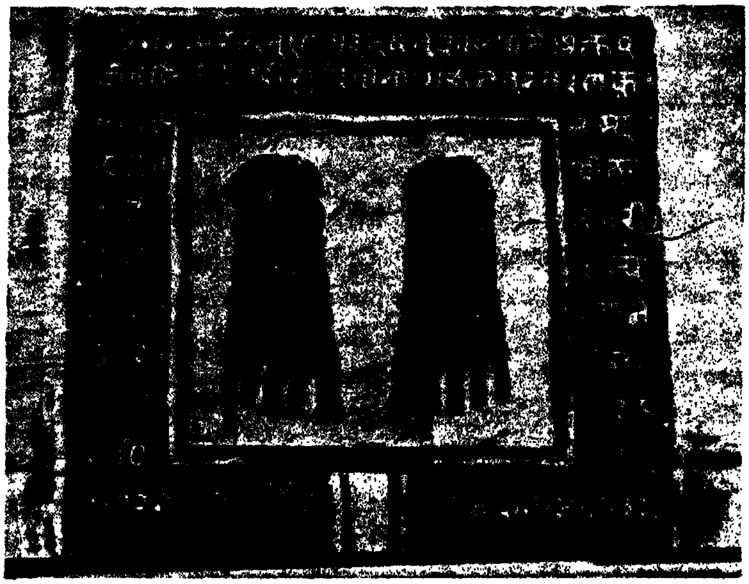
1. Cf. B. C. Law, India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, p. 219.
2. B. C. Bhattacharya, The Jaina Iconography, pp. 64-65.
3. G. P. Malasekera, Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, p. 558.
4. Loc. cit.
5. Historical Geography of Ancient India, S. V.

to suggest that the Jain temple at काकन existed at least before the middle of the fifteenth century A. D. The last line of the inscription contains the prayer that the holy place called काकंदी may rejoice for ever.

The text of the inscription runs as follows ;—

१ ओं[1] नमः ॥ संवत[2] १८२२ वर्षे वैशाख[3]मासे सुक्लप-

२ क्षे षष्ठी-तिथौ श्रीसुविधिनाथजिनवरचरण[4]क-



३–[5]मले शु- ... भे स्था-

४–पिते ॥ ... श्री का-

५–कंदी- ... नगरी-

६–जन्म- ... कल्या-

७–णक- ... स्थाने

८–श्री-सं- ... घेन ॥

९–जीर्णो- ... धारं का-

१०–रापि- ... तम्[6] ॥१[7]

११ [8]चिरं नंदतु तीर्थोयं काकंदी-नामको वरः [॥ *] *

The tradition that modern काकन, where the inscription has been found, is the same as काकंदी or काकंदीनगरी, regarded by the Jains as the birth place of the तीर्थंकर सुविधिनाथ, can thus be referred at least to the late medieval period.

1. This is expressed by Symbol. Lines 1-2 are incised above the foot-marks.
2. Read संवत.
3. Read वैशाख.
4. Read चरण.
5. Lines 3-10 are engraved on both sides of the foot-marks.
6. Read कारितम् or better चकारितम्.
7. This gives the impression that the preceding lines contain a verse, though this is not actually the case.
8. This line, representing half of a stanza in the Anushtubh metre, is incised in front of the foot-marks, the two feet of the half verse being separated by a gap.

* The Inscription is recorded in "Jain Inscriptions" by P. C. Nahar, vol. I, PP. 41, Ins. No. 173 (Published 1918, Cal.)—Editor.

The Jaina Contribution to Indian Political Thought

[Dr. B. A. Saletore, M. A, Ph. D., (Lond.) D. Phil. (Giessen). Professor of Ancient Indian History & Culture and Head of the Department of History in the University of Karnatak, Dharwar.]

One of the most important sections of the Indian people to whom adequate justice has not been done, especially in the matter of evaluating their contribution to the totality of Indian History and Culture, is that comprising the Jainas. That this is no exaggeration will be evident when we open the pages of any standard book on Indian History only to find few paragraphs being devoted to the great महावीर and to some of the splendid monuments of architectural skill associated with the Jainas in some parts of the country. A good deal of noise has been made, and that of late, of the Buddhist contribution to Indian History and Culture, but practically nothing has been said of the more solid and more lasting contribution by the Jainas to the many-sided aspects of our life. It is commonly assumed that the Jainas were devoted to their religion and to their trade, and that they preserved the one and increased the other amidst varying circumstances of fortune and misfortune, and added practically nothing to the progress of the country. This is a misconception, especially in regard to the vital question of politics, and of kingdom-building, as I have long ago shown in my book on Mediaeval Jainism.[1] In the present article I shall be concerned with another, and an equally important, aspect of the same problem, and that dealing with the whole country. This relates to the contribution of the Jainas to the political theories of India. I shall first narrate the theoretical aspect of the question, and then relate how one of the most celebrated Jaina theorists helped to formulate the ends of the State.

Before we do so, it is necessary that we should mention the sources on which we base our remarks. They are the Jainas literary sources the most ancient of which for our purpose, are the Jaina Sutras. The exact date of the composition of the Jaina Sutras "is a problem which cannot be satisfactorily solved." Professor Herman Jacobi, who had thus opined on them in 1894, also said that most parts, tracts and treatises of which the canonical books consist, are old; that the redaction of the Angas took place at an early period (tradition placing it under भद्रबाहु); that the other works of the जैन सिद्धान्त were collected in course of time, probably in the first centuries of the Christan era ; and that additions and alterations may have been made in the canonical texts till the time of their first edition under देवर्द्धिगणि in A. D. 454.[2] Of the Jaina Sutras we shall be concerned mostly with the उत्तराध्ययन सूत्र, and to some extent, with the आचारांग सूत्र. It will be seen presently that Professor Beni Prasad's verdict on the

(1) B. A. Saletore, mediaeval Jainism with Special Reference to the Vijayanagara Empire. Bombay, 1938

(2) Jacobi H., Jaina Sutra, Part II, Intr. p. xl. (Sacred Books of the East, XLV. 1895. The I. Part of the Jaina Sutras was published in 1885 as Vol. XXII of S. B. E.)

Jaina Sutras in general, viz., that "To the student of Governmental theory the Sutras as a whole are rather disappointing" cannot be entertained.[3]

One of the earliest Jaina writers who deal with a significant aspect of political life, was Haribhadra Suri (circa A. D. 705-775), the author of Dharmabindu. In this didactic work he gives a long list of duties of a Jaina layman. One of these was refraining from disrespect to the king[4]. Haribhadra Suri's work was more inclined on the side of Dharma than on that of politics and Government.

Chronologically the next great figures amongst the Jainas were those of जिनसेनाचार्य and of his gifted pupil गुणभद्र. Both were the authors of one and the same work, the first part of which was called आदिपुराण, and which was composed by जिनसेनाचार्य, while the second part was styled उत्तरपुराण and was written by गुणभद्र. Jinasena was the preceptor of the powerful राष्ट्रकूट king अमोघवर्ष (A. D. 815-877)[5], and was the author of at least two other works the poem पार्श्वाभ्युदय[6], वर्धमानपुराण, जिनेन्द्र-गुणस्तुति, the last two of which are said to have been lost[7]. Jinasena's pupil completed the work by writing the उत्तरपुराण in A. D. 897, in the reign of king अमोघवर्ष's successor कृष्ण II[8]. The fact that गुणभद्र was the preceptor of King कृष्ण II is proved by a Sanskrit commentary on गुणभद्र's आत्मानुशासनम्[9]. It is thus clear that both Jinasena and गुणभद्र, thet eacher and the pupil, were closely associated with the राष्ट्रकूट monarchs अमोघवर्ष and the latter's son and successor कृष्ण II (A. D. 884-913.)[10] The significance of the works of the two Jaina authors lies in the fact that Jinasena's आदिपुराण contains one of the finest presentations of the Jaina theory of the origin of government which we shall presently describe.[11]

(3) Beni Prasad, Theory of Government in Ancient India, p. 229 (Allahabad, 1927)

(4) Haribhabrasuri, Dharmabindu, I. 31. On the date of Haribhadra, See Winternitz, A History of Indian Literature II. p. 479. Read also Ghoshal, U. N., History of Indian Political Theories, pp. 351, 464 (Oxford, 1959)

(5) Rice, Lewis, Mysore and Coorg from the Inscriptions, p. 67 (London, 1909)

(6) Bhandarkar, R. G., Earley History of the Deccan (in the Bombay Gazetteers), p. 200. Dr. J. F. Heet seems to have identified this Jinasena with his name, who was the author of the हरिवंश (written in A. D. 783-84). See Heet, Dynasties of the Kanarese Dynasties (in the Bombay Gazetteers Series). p. 407 (Bombay, 1896). Professor Beni Prasad denies that both are the same-Beni Prasad, op. cit, p. 221, note (1)

(7) Beni Prasad, ibid, p. ibid, note ibid.

(8) Heet, ibid, ph. 407-408

(9) Heet, ibid, p. 411.

(10) Rice, op. cit. p. 67. The interval between the last year of अमोघवर्ष I and the fine regnal year of कृष्ण II is not discussed in this paper.

(11) Beni Prasad, ibid, p. 221. The text of the आदिपुराण was published with a Hindi translation by Lala Ram Jaina in the स्याद्वाद-ग्रन्थमाला No. 4. Indore. For a full account of Jinasena, read my med. Jainism. under Jinasena I, pl. 38, 38. n; 39, 234, 235, 235, n.; 274, 276, 276 (n), 277.

In his उत्तरपुराण, गुणभद्र continues and completes the theory of the origin and nature of Government as given by his teacher Jinasena, and gives biographical sketches of the twentythree Tirthamkaras who followed ऋषभ at long intervals of time, and of राम, कृष्ण, श्रेणिक जीवंधर, and very many other Jaina heroes. It inculcates profuse patronage of learning by the government but "its political ideas are few and old."[12]

After the time of Jinasena and गुणभद्र there appeared Somadeva Suri, one of the most illustrious of Jaina political theorists, who will require a separate treatment by himself. In what way he departed from Jinasena will be narrated below.

The political theories of Jinasena were continued to some extent not in the Deccan but in Gujarat where in the twelfth century there appeared one of the most illustrious of Jaina teachers and authors—the encyclopaedist हेमचन्द्राचार्य, who lived from A. D. 1089 till A. D. 1173. We shall have to mention him in some detail below. Here it is enough to observe that of his numerous works the लघु-अर्हन्नीति closely followed, in regard to some topics, the model of Jinasena's आदिपुराण, although it draws freely upon its Brahmnical predecessors.[13]

To the same age (the twelfth century A. D.) are to be assigned the following works. First comes सोमप्रभाचार्य's कुमारपालबोध, composed in about A. D. 1195.[14] In this we have a king who is gradually converted to Jainism and led on the ideal path by the great हेमचन्द्राचार्य. The reference here could have been only to the well known Caulukya monarch कुमारपाल (A. D. 1143-1174), who will figure below. The author's idea of government is interesting : the ruler prohibiting meat-eating, killing of animals, drinking, prostituton, plundering, and other sins, erecting Jiana monasteries, temples, alms-houses, etc., spending a good deal of the time listening to religious discourse, but at the same time attending to the problems of the State, listening to appeals in cases, and passing judgments on them[15] That this was not a picture of the stereotyped ruler but a real and an historical one will be evident when we shall describe the work of the great हेमचन्द्राचार्य below. सोमप्रभाचार्य's contribution, therefore, was not so much in the direction of theory proper as in that of translating the theory into practice.

Of the same age were the following :— the हरिवंशपुराण, ascribed to another Jinasena ; the पद्मपुराण and the प्रद्युम्न-चरित by महासेनाचार्य. The हरिवंशपुराण ascribes the foundation of all social and political Institutions to ऋषभ (वृषभ), in accordance with the orthodox Jaina views. Like the other two Jaina works mentioned above, it has

(12) Beni Prasad, ibid, p. 227

(13) Beni Prasad, op. cit. p. 227.

(14) सोमप्रभाचार्य, कुमारपालबोध. Edited by Muniraj Jinavijaya, Gaekwad Oriental Series, No. XIV. Baroda.

(15) Cf Beni Prasad, ibid, p. 228.

nothing new to add to our subject,[16] although none of them can be dismissed as being useless from the general stand point of socio-political development.

Perhaps to the same twelfth century A. D. have to be assigned the following Jaina authors- अभयदेवसूरि, Who wrote a Commentary on the भगवती and विनयविजयगणि the author of the commentary called सुबोधिका on the कल्पसूत्र of भद्रबाहु[17]. These works have fleeting references to the socio-political growth of the people.

We may now pass on to the main contribution of the Jainas to Indian Political theory. It may be grouped under the following heads —(a) The Jaina theory of the origin of society or the theory of cycles of ages ; (b) The Jaina concept of the origin of overlordship or the theory of Patriarchs ; (c) The Jaina ideals of क्षत्रिय-hood ; (d) The Jaina theory of दंड or punishment ; (e) the Jaina idea of universal monarchs ; (f) the Jaina idea of Government ; and (g) the Jaina forms of Government. To these will be added the specific contribution by two of the most outstanding of Jain authors, सोमदेवसूरि and हेमचन्द्राचार्य, to Indian political theory and to the ends of the state.

(a) **The Jaina origin of Society**:-It is necessary to repeat here that the Jaina lore which was reduced to a definte shape in the fifth century A. D. at the famous council of Valabhi presided over by the venerable देवर्द्धिगणि, stretched back to considerable antiquity, and was anterior to the Buddhist traditions which it rivals both in variety and vastness. We have, therefore, to assume that the Jaina versions of the origin of society and of kingship present a view point which had held its own for centuries in the land. Perhaps one of the finest exposi-

---

(16) Cf. Beni Prasad, op. cit. p. 227. On page 228 Dr Beni Prasad wrote thus :—"It is interesting to note that the Jainas have their पुराणs which betray deep Brahmanic influence." The Pradyumnacaritra has been edited by Manohar Lal Shastri and Ram Prasad Shastri in the Manik Chand Digabbara Jaina Granthamala, No. 8. Bombay, Vikrama era 1973. नयचन्द्रसूरि's हम्मीरमहाकाव्य (Edited by Nilakantha Janardhan Kirtane, Bombay, 1879), contains a few references to Government but not in the manner of either सोमदेवसूरि or हेमचन्द्राचार्य. Of an inferior order was to contribution by the Kannada Jaina authors to some aspects of political theory Chief among the Kannada poets were गुणवर्म (circa A. D. 900), आदिपम्प. (A. D. 941), पार्श्वपंडित, (A. D. 1205), नागराज (A. D. 1331), मधुर (A. D. 1385) and चिदानंदकवि (circa A. D. 1680). These Jaina authors have written either on नीति, or राजनीति, or service to the State (R. Narasimhacarya Karnataka Kavicharite I. ph. 24, 36, 327, 412 ; II pp. 431, 432, 500. While these Jaina authors help us to confirm the fact that the ancient ideals still survived in these parts of the land, they do not enlighten us on the main political theories as is done by सोमदेवसूरि or हेमचन्द्राचार्य.

(17) On the Jaina authors and on their probable dates, read Winternitz, op. cit. II pp. 480—595.

tions of the Jaina theory of the origin of society is given by जिनसेनाचार्य, in his आदिपुराण, and continued by his eminent pupil गुणभद्र in the latter's उत्तरपुराण.[18]

Jinasena visualized the origin of society amidst surroundings which were of pristine purity and happiness. The times fell from a state of perfect virtue and happiness, the decline being gradual and extending over millions of centuries. Here the Jaina author perhaps starts in the manner of the ancient Hindus but from now onwards, however, evolves a theory that was essentially Jaina in concept. He advocated a two-fold cycle of progressive evolution (उत्सर्पिणी), and of recessing evolution (अवसर्पिणी) which rotate one after another like the two successive fortnights. Each of these cycles consists of six ages or time-divisions which are the following:—(a) Bliss—bliss (सुषमा-सुषमा), Bliss (सुषमा), Bliss—sorrow (सुषमा - दुषमा), sorrow—Bliss (दुषमा-सुषमा), sorrow (दुषमा), Sorrow sorrow (दुषमा-दुषमा). We have in the above cycles the gradual inking up of the previous age with the following one in such a manner as to indicate the evolution of society from an age of idyllic felicity to one of misery and pain. The cycles vary in duration so as to permit longer duration of happiness The exact computation of the ages is a feat of mathematical skill. As to what exactly Jinasena had in mind when he pictured the first stage in the history of human society will be evident when we note the description of the men and women in that age. They enjoyed a span of existence which cannot adequately be computed. Hence so far as their ages were concerned, they were like aeons. They had a golden complexion, their countenances being as beautiful as their virtues were perfect. There was no question of their earning their daily bread, since it was one of idyllic surroundings which yielded whatever they desired through the कल्पवृक्षs or wishing-trees. At the merest prompting of their hearts, the कल्पवृक्षs gave them whatever they wanted.

The above age of indescribable happiness gradually declined in the second cycle, and to a still lower level in the third cycle when there took place some profound changes in the world. Among these was the appearance of the sun and the moon in the heavens, and the consequent alarm and surprise which they caused among mankind. The men then went to प्रतिश्रुति, the one person who was pre-eminent in that society of perfect equality and happiness, for advice. Here we are introduced to the theory of the कुलकरs or Patriarchs whom we shall presently mention. Jinasena, while describing the अवसर्पिणी, or recessing evolution, refers to the आर्यक्षेत्र of the भारतवर्ष, that is, probably to the आर्यावर्त of the ancient Hindu writers, which was the region between the हिमालयs and the विन्ध्यs, perhaps excluding the eastern parts of India, on the one hand, and the south-western parts of northern India, or सिंध and सौराष्ट्र[19]. It was here in the आर्यक्षेत्र that Jinasena placed the life-history of the कुलकरs to which we may now turn.

(b) **The Theory of the Patriarchs:**—प्रतिश्रुति was the first कुलकर or patriarch in a

(18) गुणभद्र, उत्तरपुराण, प्रशस्ति प० 11—12.

(19) The Manusmrti defines आर्यावर्त thus—"But (the tract) between these two mountains (the हिमालयs and the विन्ध्यs) which (extends) as far as the eastern and the western oceans, the wise call आर्यावर्त (the country of the Aryans). Since in

line of fourteen patriarchs. These patriarchs were called by four different names according to the functions performed by them. They were मनु because they knew and taught the people the means of their livelihood ; कुलकर because they taught the आर्यs how to live together ; कुलधर because they established many families ; and युगादिपुरुषs because they were the embodiments of the age-cycles.

The first कुलकर explained that the light of the कल्पवृक्षs or wishing-trees was fading away, and that the planets had, therefore, become visible. There was no cause of fright among men. At this the latter felt profusely re-assured, and thanking and praising him, in accordance with his wishes, returned to their homes. But the countless aeons rolled on, and other and more profound and more alarming changes came into view. The stars appeared in the heavens, and the mountains and rivers became visible on earth. Animals which till now had remained docile, became more ferocious. The innocent people were then siezed with fear at the growing sense of insecurity around them. At this stage there appeared the other patriarchs, who taught men how to adapt themselves to the changing environment. These new Teachers told men how to protect themselves from ferocious brutes, how to tame and break elephants, horses, and other animals, how to climb mountains, and how to cross rivers by means of canoes. In the meanwhile the कल्पवृक्षs were slowly but surely declining in number. Over the remaining कल्पवृक्षs, the men, who had now become selfish, began to quarrel with ever-increasing ferocity.

With the fifth patriarch order came out of chaos. The fifth कुलकर was सीमंतक, who marked the wish-giving trees and fixed their boundaries. His successor सीमंधर demarcated the dwindling कल्पवृक्षs still more clearly. During the age of the eleventh Patriarch नाभि, the कल्पवृक्षs altogether disappeared. Clouds and rain came for the first time, and the earth began to shoot forth ordinary trees, herbs and fruits. The people approached नाभि, and enquired of him as to what they were like—beneficial or injurious. That Patriarch gave them a long discourse along with a demonstration. He taught them the art of cooking the products of the earth but warned them against the poisonous plants. This brought about a complete transformation in the life of man.

It was left to the last Patriarch ऋषभदेव to establish the six occupations relating to the martial, agricultural, literary, artistic, commercial, and industrial aspects of man's life. He instituted the three castes of the क्षत्रियs, the वैश्यs, and the शूद्रs. In each caste were men who were best fitted to fulfil the object of that particular caste. The शूद्रs were

---

the preceding verse (No. 21), Manu has described the Madhyadesha or the central region, as lying between the हिमालयs and the विन्ध्यs, and as being located to the east of प्रयाग and to the west of विनशन (the place where the सरस्वती disappeared), (Manu, VII. 21—22, p. 33. Buhler's trans. S. B. E. XXV), Professor Ghoshal's equation of आर्यावर्त as given by Jinasena, and as being the middle rigion of भारतवर्ष (Ghoshal, op. cit, p. 457), does not seem to be correct.

further subdivided into two sections—the washermen, barbers, etc., and the rest. The latter were further subdivided into the touchables and the untouchables. ऋषभदेव planned towns, built villages and grouped them into circles of eight hundered, four hundred, and two hundred. He apportioned the earth among four great monarchs, each of whom was the lord of a thousand smaller kings under him. It was now when the political institutions of governments were thus established. ऋषभदेव founded the other institution of punishment and imprisonment. The justification for thus creating punishment was that hitherto men had obeyed even when they had been mildly rebuked ; but now they ceased to listen even when mildly rebuked ; chastisement of a severer type was now needed to bring them round, and this could be done only by punishment.

As to how punishment came gradually to assume its full stature, we are told in the आदिपुराण that, with the increased wickedness of men, the patriarchs progressively increased their penalties for offences. Thus, the first five Patriarchs and their successors had merely prescribed for offences the punishment of crying alas (हा) to which the next five Patriarchs added that of warning (मा) against the repetition of the offence ; while the last four Patriarchs prescribed for offenders the punishment of crying shame (धिक्) : while it was only भरत, who, on realizing that men could not be weaned from crimes, instituted corporal punishment, imprisionment, and even death. Thus was the earlier भोगभूमि or land of enjoyment, transformed into कर्मभूमि or land of action, the age-cycles made complete, and coercive punishment, so essential in preserving order, introduced into the history of men. It was only in this way that the strong were prevented from swallowing the weak like the proverbial law of the fish (मात्स्यन्याय).[20]

So that we might complete Jinasena's ideas on government, we may here briefly enumerate the obligations of the king to subjects. Jinasena, we may be permitted to repeat, states that the rule relating to the punishment of the wicked and the cherishing of the good, had not existed in the earliest ages, since men had lived in a state of complete happiness. It was only in the absence of the wielder of the दंड or punishment, that there was the fear of the larger fish devouring the smaller, as mentioned just above. It was here, while referring to the origin of punishment, that Jinasena reveals that inspite of his describing an idyllic state of nature, he was influenced by the earlier Indian concept relating to the मात्स्यन्याय which was a familiar simile with the ancient Hindu authors on Polity. मनु for instance, states thus :—"If the king did not, without tiring, inflict punishment on those worthy to be punished, the stronger would roast the weaker, like the fish on a spit."[21] कौटिल्य is even more expli-

(20) आदिपुराण, III, XVI. 130-190, 214-216, 240-245, 255-257. See also Beni Prasad, op. cit. pp. 222—224 Professor Ghoshal would make the last group of patriarchs five (Ghoshal, op-cit. p. 457); but this would make them all fifteen when he himself states in para first of the same page that there were fourteen Patriarhs beginning with प्रतिश्रुति. Evidently he has included भरत whom, however, he would style as a कुलधर, and not as a कुलकर, on the same page.

(21) Manu, VII, 20, p.219.

cit on this point. "For when the law of punishment is held in abeyance, it gives rise to such disorder as is implied in the proverb of the fishes ; for in the absence of a magistrate, the stronger will swallow the weak, but under his protection the weak will resist the strong (अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति बलीयानबलं ग्रसते दंडधराभावे तेन गुप्तः प्रभवति इति ।)"[22] jnasena, therefore, does not improve upon the earlier Indian authors in regard to the cause of the origin of punishment. He only differs from them in so far as the condition of society prior to the institution of punishment was concerned. Jinasena in this respect, as will be explained below, differs from another illustrious Jaina thinker, सोमदेव सूरि.

Jinasena's ideas of government may now be briefly summarized. In his आदिपुराण he enumerates the king's obligations to his subjects, thus[23] :—the obligation to preserve the कुल (family) meaning thereby perhaps, as Professor Ghoshal rightly says, that the king had to preserve the family customs (कुलन्याय) of his own and of other families.[24] Tnen there was the obligation to divide society into two classes–those who should be protected, and those who weie to be made to devote themsеves to their respective professions. The second idea was obviously in accordance with the earlier Hindu idea of the king's duties as given, for instance, in the मनुस्मृति, thus :—"The king has been created (to be) the protector of the castes (वर्ण) and orders (आश्रम), who all according to their rank shall discharge their several duties."[25] The next obligation of the king, according to Jinasena, was to follow the law (dharma) and lead others on the same path. The fourth obligation was to inflict punishment. Then came the king's obligation to preserve his subjects like a cowherd preserving his herd of cattle. In this connection, Jinasena elaborates his theory of दंड, and says, among other things, that punishment should not be severe but appropriate to the crime committed. This was, by way, in accordance with the ancient Indian theory which मनु has elaborated in the मनुस्मृति.[26] The comparison which jinasena has made between the cowherd and the king is worked out by him in a detailed manner in the आदिपुराण.[27] We may just comment on two ideas which Jinasena has elucidated in this connection. The first refers to the king's cherishing his hereditary troops (मौलम् तन्त्रम्), and the second to the king's strengthening himself within the sprere of the circle of states (मंडल). Both these ideas weie of considerable antiquity.[28] I have shown eleswhere how the idea of मंडल or राजमंडल was a very ancient concept. As regards the hereditary troops and the need to maintain them, Jinasena obviously had कौटिल्य in mind, for the latter

---

(22) कौटिल्य, अर्थशास्त्र, Bk. I. ch. IV., 9, p. 8 (R. Shama Sastry's trans. 3rd. ed. Mysore. 1929) ; text, p. 9. (Ed. by R. Shama Sastri, Mysore, 1924.).

(23) आदिपुराण XLIII.

(24) Ghoshal, op. cit. p. 464.

(25) मनु, VII, 35, p. 221.

(26) मनु, VIII, 126-130, p. 276.

(27) Read Ghoshal op. cit., pp.465-467 for an elaborate description of this question.

(28) Read my India's Diplomatic Relations with West, pp. 36-42 (Bombay-1958).

had similar injunctions to give in regard to hereditary troops.[29] The king's last obligation, according to Jinasena, was the preservation of property (संग्र-सत्त्व). That Jinasena could not free himself from the earlier Indian idea of punishment is clear when he states that the king should cherish the good (शिष्ट), who lived according to their respective occupations, and punish the wicked (दुष्ट), who committed crimes.[30] This principle had earlier been enunciated in the मनुस्मृति.[31]

The Jaina version of the origin of society and of punishment was similar and dissimilar to the Hindu concept of दंड as given in the धर्मशास्त्रs and repeated in the पुराणs and the epics. Both the Jainas and the Hindus conceived of an earlier age in the life of man when the conditions of existence were of prestine glory that did not require the aid of any monarch. In this the Jainas were more explicit than the Hindus about the idyllic condition of society. Both the Hindus and the Jainas attribute the instituton of punishment to the growing rapacity of men, and to the consequent tendency of the strong to devour the weak as exemplified in the proverb of the fishes (मात्स्यन्याय). But the difference between the Hindu and the Jaina theories lies in this—the Jainas eliminated the divine creation of institutions, and attributed their growth to the changes in the environment in which men lived.[32] Secondly, unlike the Hindu theorists, who considered economic and political institutions as connoted by the terms वार्ता and दंडनीति, to be essential to the advancement of mankind, the Jainas did not consider either political or economic institutions as being necessary for securing happiness. According to them, progress could be achieved without all the appurtenances of civilization.[33] The aeons of perfect happiness referred to above, were precisely such eras of innocent bliss and pristine glory. It was from such ages of simplicity and original happiness that the Patriarchs had led men into society and progress, leading to their gradual advancement in the economic and political fields. This, therefore, was the primary function of government, viz., to lead and guide men in the widest sense of the terms in all spheres of human endeavours. ऋषभ guided men to virtue precisely in this manner, as is related in the आदिपुराण.[34]

Therefore, we now come to another point of difference in the Hindu and Jaina concepts ; the Hindu concept of government was one of protection ; that of the Jainas was of mere guidance. Since the Hindu ruler's most essential function was to protect the subjects, it necessarily meant that there was a sort of an understanding between the rulers and the subjects that taxes were to be given to the State only to the extent that it gave them protection. This idea is missing in the Jaina theory as enunciated by Jinasena, in which the relationship between

---

(29) कौटिल्य, Bk. VI. Ch. I, 258, p. 288 ; text, p. 258; Bk. VII, Ch. VIII 288, p. 317; text p. 288.

(30) For a full account of Jinasena's view, read Ghoshal, ibid, pp. 465-466.

(31) मनु, VII, 13-34, pp. 218-221, etc.

(32) Beni Prasad, Op. cit. p. 224.

(33) Beni Prasad, ibid.

(34) आदिपुराण, XVI. 271-275.

the Patriarchs and men is one of pre-eminence on the part of the former, and the need for guidance on the part of the latter. That Jinasena's concept of protection and taxation was more idealistic than practical; and that, therefore, it was not accepted by other Jaina theorists like सोमदेव सूरि will be evident when we shall describe in some detail the concept of government as given in the latter's नीतिवाक्यामृतम् below.

Even Jinasena could not escape the necessary relationship between the ruler and the ruled, as is clear from the fact that, according to him, the informal relationship of pre-eminence, on the one hand, and the need for guidance, on the other, gradually came to be converted into that of the rulers and the ruled. The Jaina theory of the origin of society, caste, and government is completed when, after ऋषभदेव, the last of the कुलकरs and the first of the तीर्थंकरs, his son भरत assumed the status and powers of a world-conqueror (चक्रवर्तिन्) and of the founder of families (कुलधर). The individualistic outlook of the Jainas is evident when we note that Emperor भरत selected a number of persons from the three castes, grouped them into a fourth caste, and called it ब्राह्मण. In this way did the early Jaina leaders create the fourth caste in order to meet the exigencies of life. In doing so, they could not free themselves from the concept of the four-fold division of society of the ancient Hindus. But how they transformed the old concept was to make the first caste among the Hindus, namely, the ब्राह्मणs, inferior to the rest of the three castes. That Jinasena laboured under the earlier idea of the Hindus, even when he had created the fourth caste of the ब्राह्मणs from amongst the best of the three castes, which had already been formed, is clear when it is observed that in the आदिपुराण, ऋषभदेव instituted the order of the क्षत्रियs with the weapons in his hands, brought the वैश्यs into existence with his thighs, indicating the ways of travel, and created the शूद्रs with his feet. It was left to Emperor भरत to bring into existence the ब्राह्मणs by teaching the शास्त्रs with his mouth. All the four castes, according to the theory as enunciated by the author of the आदिपुराण, professed originally Jainism but later on when they fell into "falsehood." abjured that religion and embraced Hinduism, as had been foretold to Emperor भरत in an ominous dream.[35]

On other important matters, particularly governmental institutions, the आदिपुराण had practically nothing to say. Although protection was not a fundamental function of monarchy, yet Jinasena would make the ruler the embodiment of all virtues, and would require of him his ungrudging attention and his untiring energy devoted to the protection of his subjects. The revenue was to be realized like a milkman milking the cows without causing hardships to the people. अहिंसा, or non-violence to all living creatures, was to be the essence of religion, and the universal conquest of the world by अहिंसा was the aim of Jinasena's political theory.[36]

In order to better appreciate Jinasena's idealism, we should read the Jaina Sutras, and

(35) आदिपुराण, XVI-241-246, see also Beni Prasad, op. cit. p. 225.

(36) आदिपुराण, IV. 186-198, XVI. 254, XXV-XXVI; See also Beni Prasad, ibid, pp. 226-227.

especially the significant work of सोमदेव सूरि to be mentioned below. For instance, in the उत्तराध्ययन सूत्र there is a very interesting description of the ideals of क्षत्रिय-hood in the conversation between नमि, who had descended from the world of gods, and was born as a man, and Indra disguised as a ब्राह्मण. The occasion was the complete retirement of नमि to a life of meditation when he had reached the excellent stage of प्रव्रज्या, at which Indra draws his attention to the uproar in the erstwhile capital of नमि, मिथिला, and advises him thus :—"Erect a wall, gates, and battlements ; dig a moat ; construct शतघ्नीs ; then you will be a क्षत्रिय." नमि answered that his faith was his fortress, self control the bolt of its gates; patience its strong wall, zeal his bow, truth the strength with which he pierced the arrow, the penance the foe's mail, and कर्मन् the weapon with which he could be victor in the battle of the संसार or life. Indra then said :—"Build palaces, excellent houses (वर्धमानगृह) and turrets, thus you will be a क्षत्रिय." नमि answered that he who built houses on the roads would certainly get into trouble ; he may take up his lodgings where-ever he wanted to go. Then Indra said :—"Punishing thieves and robbers, cut-purses, and burglars, you should establish public safety : thus will you be a क्षत्रिय." नमि replied:—"Men frequently apply punishments worngly : the innocent are put in prison, and the perpetrator of the crime is at liberty." Indra answered :—"O king, bring into subjection all princes who do not acknowledge you : thus you will be a true क्षत्रिय." At this नमि replied that, although a man might conquer thousands and thousands of valiant foes, yet his greater victory would be when he would conquer himself. Indra then said:— "Offer great sacrifices, feed श्रमणs, and ब्राह्मणs, give alms, enjoy yourself and offer sacrifices; thus will you be a true क्षत्रिय." To this नमि replied that he who controlled himself was better than he who gave away thousands of cows as gifts. Then Indra said—"Multiply your gold and silver, your jewels and pearls, your copper, fine robes and carriages, and your treasury ; thus you will be a true क्षत्रिय." नमि replied by saying that, since there was no end to man's greed, it was best to practise austerities. Indra failed to entice the enlightened नमि with the pleasure and privileges of ideal क्षत्रिय-hood.[37]

In the above, we have, among others the following important concepts ;—(a) that relating to the duty of a क्षत्रिय—(i.e., a king) who was to get ready the necessary fortifications of his capital ; (b) that concerning his duty of punishing the wicked and of establishing public safety ; (c) that relating to the subjection of all recalcitrant chieftains, that is, to his ambition as a conqueror ; (d) that relating to his patronage of dharma in the shape of perfoming sacrifices, feeding the श्रमणs and ब्राह्मणs, and giving alms etc. and (e) that relating to his increasing the material wealth in the shape of gold, silver, jewels, etc. The Jaina Sutras are in perfect agreement in regard to these ideals of a क्षत्रिय as narrated in the मनुस्मृति.[38]

(37) Jacobi, Jaina Sutras, Part II. IX 17-49, No. 37-40

(38) मनु, I. 89, p. 24; VII. 87-95, 144, pp. 230-231; X. 77-79, 115, pp. 419, 423.

This proves that so far as the concept of क्षत्रिय-hood is concerned, there was perfect agreement between the ancient Hindus and the ancient Jainas.

The Jaina Sutras also enlighten us on the names of universal monarchs whose ideal was भरत, the son of ऋषभदेव. About भरत it is said that after learning the pure creed of the jaina faith, "which is adorned by truth and righteousness, he gave up भारतवर्ष and all pleasures and entered the order. The pure faith is described thus:—"A wise man believes in the existence of the soul ; he avoids the heresy of the non existence of the soul; possessing true faith one should practise the very difficult law, according to the faith." Next to भरत (King of अयोध्या) it was सगर (also King of अयोध्या) who likewise gave up the ocean-girt भारतवर्ष and his unrivalled kingly power, and reached perfection through compassion. Then came Maghavan (king of श्रावस्ती) who was also a universal monarch of great power, and who gave up भारतवर्ष before taking to the life of the pure faith. Next came सनत्कुमार, (King of हस्तिनापुर) another चक्रवर्तिन्, who abidcated in favour of his son, and then practised austerities. शान्ति the next universal monarch, followed suit. King कुन्थु, the bull of the इक्ष्वाकु race, likewise gave up his universal dominion in order to become an ascetic. Then came Ara, who similarly gave up the sea—girt भारतवर्ष before becoming perfect. महापद्म (King of हस्तिनापुर) gave up his large kingdom, his army, war chariots, and his exquisite pleasures before becoming perfect. He was followed by हरिषेण, (King of काम्पिल्य) जय, दशार्णभद्र, king of दशार्ण करकंडु of कलिंग, द्विमुख of पांचाल, नमि of विदेह, नग्गति or नग्नजित of गांधार, उदयन of सौवीर, नंदन of काशी, विजय, the son of ब्रह्मराज of द्वारावती and महाबल of हस्तिनापुर.[39]

Two points are clear from the above list of universal monarchs as given in the Jaina Sutras —First, that the Jainas had a concept of universal dominion ; and, secondly all the monarchs after realizing the pleasures of the world, became ascetics in the true sense of the term.

The Jaina Sutras are also important from another point of view. They refer to occasional periods of anarchy in kingdoms which were unsafe for Jaina monks to visit. In such countries they were liable to be suspected as spies. The six different forms of governments in this connection are the following : अरायाणि वा गणरायाणि वा युवरायाणि वा दो रज्जाणि वा वेरज्जाणि वा विरुद्धरज्जाणि वा. That is, those states of the अराजता form, those ruled over by the गणs, those ruled over by two युवराजs, those by two kings, those called the वैराज्यs and those styled वैरुद्धराज्यs.

Excepting as regards the गण states , there is hardly any agreement among scholars as to what exactly the other kinds of States were as mentioned in the above list. The first type of the State was evidently one in which there was perpetual misrule. The word गण was evidently used in the Jaina Sutras in the sense of a republic ; and it is, therefore, not improbable that we have to refer the term गण-राज्य to a republican constitution of some sort about which no exact information is available in the Jain literature The term गण was used by पाणिनी in

(39) Jaina Sutras, XVIII. 33-51, p. 85,88, for the identification of Kings, p. 85 note (1)
(40) आचारांग-सूत्र, II. 3. 1. 10.

the sense also of a संघ in which there seem to have been two parties, as indicated by the term वर्ग, and an executive, as suggested by the term वर्ग composed of either five or ten, or twenty members.[41] But more than this it is not possible to say about the गणs concerning which there is some indefiniteness among scholars. For instance, the late Professor A. S. Altekar, while commenting on the same passage in the आचारांग सूत्र, wrote that गण meant a democratic government, and that "it had a definite constitutional meaning and denoted a form of government, where the power was vested not in one person, but in a गण or group of people.[42] This explanation is not helpful, since a group of people could agree to work together without forming themselves into a republican form of government. Villagers in India, as is well known, have always worked in groups of their own. But that does not mean that we could consider the village communities as republican types of government.

An equally inadequate definition was given by the late Professor Beni Prasad, who wrote of गण or repulican oligarchies.[43] A more elaborate explanation of the term गण was given by the late Dr. K. P. Jayaswal, who maintained that the गण State was a republican State ruled by numbers, that it was another term for संघ, that the counting of votes took place in a गण State, that it had its own मुख्यs or chieftains, a Court, an Assembly-whip, and even a Parliament.[44] We may merely observe that this fine edifice of suppositions does not rest on historical facts.

Likewise an equally unconvincing explanation was given by that versatile scholar of the word अराजता or अराजक which in the Vedic and post-Vedic literature meant a state of anarchy.[45] Dr. Jayaswal construed अराजक in the sense of a "non-ruler" constitution, a sort of an idealistic form of government in which Law was the ruler, there being no man-ruler. The basis of the State was the mutual agreement or social contract of the citizens.[46] The least one could say about this fantastic interpretation is that, if the अराजता or अराजक State was really of the idyllic type described by the learned historian, one cannot understand why the Jaina Sutras should have included it in the list of States which were forbidden to the Jaina monks.

The युवराज State mentioned in the same list evidently referred to a State which was ruled over by two (rival) crown princes at one and the same time. But what one fails to understand

(41) पाणिनी, अष्टाध्यायी, V, 1.60, Agrawala, V. S. India as known to Panini, pp. 428-434 (Lucknow 1953)

(42) Altekar, A. S. The State and Government in Ancient India, p. 70 (Banaras 1949).

(43) Beni Prasad, op. cit. p. 357.

(44) Jayaswal, K. P. Hindu Political theory, pp. 22, 23, 101–103, etc. (Bangalore, 1955, revised and enlarged ed.)

(45) तैत्तरीय ब्राह्मण 1.5.9.1 ; ऐतरेय ब्राह्मण, I. 14. 6. See also Vedic Index, II, p.215, Rangaswami Aiyangar, Some Aspects of Ancient Indian Polity, pp. 82-84 (Madras, 1935, 2nd. ed).

(46) Jayaswal, ibid, p. 84,

is why the युवराज States continued to remain in the युवराज stage without the युवराजs not attaining the full status of two राजाs. In the context of the Jaina work, we may presume that a युवराज्य was declared dangerous for a Jain monk because it was obviously ruled, as stated above, by two rival युवराजs, who must have been led by their respective leaders and politicians, thereby drawing the land in a perpetual era of misrule.[47]

About the दोरज्जाणि, वैरज्जाणि, and विरुद्धरज्जाणि, too, there is no agreement among scholars as to their exact meaning. Dr. Jayaswal has nothing special to say about the दोरज्जाणि excepting that it was a constitution ; while about the वैरज्जाणि, he says that it was a democratic republic in which the whole country was supposed to rule. While the विरुद्ध-रज्जाणि, according to the same authority, was a State which was ruled over by parties.[48] These definitions do not improve matters. According to Professor Altekar, the दोरज्जाणि (or द्विराजक) was a State where two kings ruled ; if they pulled in opposite directions, there was a fighting State (वैरुद्धराज्य)[49]. No authoirty is cited by the learned professor for these definitions.

We must leave the above six forms of government as given in the Jaina Sutras at this stage, merely noting that, while the Sutras certainly give the names of the different forms of government, they do not help us to understand their exact nature. This does not mean, however that we could agree to the view of Professor Beni Prasad that the Sutras merely touch on government "in a rather left handed way."[50]

In marked contrast to Jinasena's idealism was the realism of सोमदेवसूरि. Like Jinasena, he too served under a ruler of the Deccan. But सोमदेव's patron was in political status unlike the powerful राष्ट्रकूट monarch whose preceptor was Jinasena. This difference in the status of the two royal patrons of the two Jaina authors may be borne in mind in our estimate of their contribution to the totality of Indian political thought. सोमदेव सूरि lived at the court of a ruler called यशोधर, who was the feudatory of the great राष्ट्रकूट monarch कृष्ण III. He wrote two works—one called नीतिवाक्यामृतम् (The Nector of Political Maxims), and the other यशस्तिलक. His age is determined from the end of the latter work wherein it is stated that it was finished

(47) Dr. Jayaswal's statement that the युवराज State referred "to a government like the one over which खारवेल presided before his coronation" and that it refers to an interregnum (Jayaswal, op. cit., p. 84) merely escapes the issue. If it was merely a question of an interregnum did it necessarily mean a period of anarchy ? Why should it have been classed by Jainas along with the other kinds of States of the अराजक type ?

(48) Jayaswal, ibid, pp. 84, 85 of the State called वैरुद्धरज्जाणि was called by that name because, as Dr. Jayaswal assumes it was ruled over by parties,then, in what way was it different from the गण State which on the eviednce of पाणिनी, as seen above, had two parties ? Dr. Jayaswal's explanation is unconvincing.

(4) Altekar, op. cit. p. 21.

(50) Beni Prasad, op. cit. p. 228.

on the 13th of चैत्र when 881 years of the शक king had elapsed, the cyclic year being सिद्धार्थिन्, during the reign of यशोधर, when the latter's suzerain was कृष्णराजदेव.[51] सोमदेव, therefore, lived in A. D. 959. From the two works mentioned above, and especially from the यशस्तिलक, we learn that सोमदेव was an आचार्य of the देवसंघ. Incidentally, it may be noted here that as pointed out, by me elsewhere, the देवसंघ was one of the four संघs mentioned in देवसेन's दर्शनसार (A. D. 933), the others being the नंदी, सिंह, and सेनसंघs.[52] सोमदेव, we may presume was a southerner, and probably one of the earliest to enter the देवसंघ. He was a pupil of नमिदेव who was a pupil of यशोदेव. सोमदेव was noted as a great dialectician, a poet of considerable merit, and a master of Jaina theology and tradition.[53] He wrote the नीतिवाक्यामृतम् in the सूत्र form, but the यशस्तिलक in the चम्पू style. Of these two works the नीतिवाक्यामृतम् contains a more comprehensive treatment of government and allied subjects than the यशस्तिलकचम्पू which seems to be later work, since the यशस्तिलक is mentioned in the नीतिवाक्यामृतम्. सोमदेव's style and diction are uncommonly excellent. He is supposed to have written three other works but only one of which called त्रिवर्गमहेन्द्र-मातलिसंजल्प refers to politics. This work is a dialogue between Indra and his charioteer मातलि on धर्म, अर्थ, and काम.[54]

We may now analyse सोमदेव's contribution to political theory. Unlike any previous Jaina writer, सोमदेव like another शुक्राचार्य deifies the State in the first सूत्र of the नीतिवाक्यामृतम्, thus—अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः. Now, salutation to the State, the source of धर्म and अर्थ. सोमदेव thus anticipated by almost a millennium the Hegelian concept of the State's aim being the cheif good of human existence.[55] The fact that, unlike any other Jaina author, he does not salute the तीर्थंकरs in his opening verses,and the equally significant fact that in the above work, although he mentions religion, yet allows the reader to interpret it as he will, suggest that सोमदेव was more inclined to lay stress on the material rather than on the spiritual side of man's existence. In this, as in many other matters he followed कौटिल्य, who in the latter's अर्थशास्त्र lays special stress on आन्वीक्षकी (Logic and reasoning) by giving it the place of honour among the four sciences, the next three being in order of importance, the triple Vedas, वार्ता (agriculture, cattle breeding and

---

(51) Peterson, Professor, Report on the Skt. Mss. for 1883-1884, p. 48, Bhandarkar, R. G. op cit. p. 207, and note (2). The नीतिवाक्यामृतम् was first published in the Manika Candra Granthа-ratnamala—22, Vikrama Era, 1979, It was also edited with an anonymous टीका by Pandit Pannalal Soni, Bombay, 1923.

(52) Read Saletore, op. cit. pp. 233-234.

(53) Beni Prasad, op. cit. p. 230, n. (1).

(54) Beni Prasad, ibid, p. 242 For a good critique on the नीतिवाक्यामृतम्, read Dr. Jayaswal, Hindu Polioy, pp. 8–10.

(55) Read नीतिवाक्यामृतम्, pp. 1–26. See also Beni Prasad. op. cit. p.230. The commentator Haribala on Somadeva's work states that Jaina author, instead of saluting the तीर्थंकरs, preferred to imitate शुक्राचार्य, the author of the now lost Qushnasa अर्थशास्त्र which began with a salutation to the State, thus—नमोऽस्तु-राज्यवृक्षाय षाड्गुण्याय-प्रशाखिने (Jayaswal, op. cit. p. 10).

trade) and दंडनीति.[56] Both कौटिल्य and सोमदेव, therefore, considered knowledge to be essential for the well-being of the State. Indeed, according to सोमदेव, knowledge is the prime requisite in worldly affairs. He even went to the extent of maintaining that anarchy was preferable to rule, by a king, who was uninstructed in the art of Government. A perverse king was worse than a calamity ; while a worthy king, who was the repository of all goodness and merit, was extolled by all men.[57] In this particular regard सोमदेव had outstripped even कौटिल्य, who does not seem to prefer anarchy to rule of an unworthy king.

What was the end of the State ? To this question सोमदेव would reply in Kautilayan manner that the prosperity of the subjects was the end of the State. But prosperity was impossible without protection which, in its turn, could not be maintained without punishment. It is here that we see how सोमदेव completely repudiated Jinasena's theory of protection as given above. In order to understand सोमदेव's theory of punishment, we should follow him in his description of the king and of the latter's functions. The king was almost a God on earth, who bowed only to his ancestors and गुरुs. His prime duty was protection. सोमदेव asks the pertinent question–How can he be a king who does not protect his subjects (स किं राजा यो न रक्षति प्रजाः)[58] ? Protection surpasses all royal duties in importance and religious merit. Protection of the subjects is the king's sacrifice (प्रजा पालनं हि राज्ञो यज्ञः) ; and when the king protects his people in just ways, the skies shower beneficiently all benefits (न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा दिशः).[59]

But protection was impossible without being strict in regard to sinners and criminals. They were obstacles in the way of the happiness of the people. No mercy was to be shown to them : they were to be just weeded out. The king could not condone crime : he had to repress it. If a king did not put down the wicked, he was on the road to perdition. This was to be done by wielding the दंड or punishment which was to maintain the social order. Indeed, the king was to set himself, like the God of Death, the task of inflicting punishment, so that people did not transgress their prescribed limits,and so that they could attain the three ends of life. Punishment was to be meted by the king only for the protection of the subjects, and not for amassing wealth. In this direction Somadeva followed the स्मृति tradition.[60]

On the important question of the ministers and the need for the king consult them, सोमदेव followed closely कौटिल्य. The ministers were to be men of character, free from sensual pleasures, reliable, and courageous, but they could never be foreigners. As regards deliberation, secrecy was to be maintained. The king was not to be satisfied with one minister

(56) Kautilya, Bk. I Ch. ii. 6, p. 5. text, p. 6
(57) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम्, p. 26—56
(58) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम्, p. 17. Cf. Aiyangar, op, cit. p. 108.
(59) Somadeva, ibid, 66, 105.
(60) Ghoshal, op. cit. p. 486.

but with many. सोमदेव dwells on the problem of ministers also in his यशस्तिलक.[61] The details given both in the नीतिवाक्यामृतम् and यशस्तिलक about the minsters are far too many to be recounted here. They are, on the whole, in agreement with those given in कौटिल्य's अर्थशास्त्र.[62]

Somadeva has something to say about the next important element of the State, the army. The army officers were not to be consulted on matters of State policy, since they would be only too ready to solve them through war. Further, if they were to be placed in control of civil policy, they might grow proud and powerful.[63] The army was the main support of sovereignty. Of the many wings of the army, the elephants were the most important section. Unlike कौटिल्य, who relied on mercenary troops, सोमदेव was of the opinion that hired troops were not of much use. Those solidiers were the best who were tied to the sovereign by bonds of sentiment. Everywhere the soliders put forth their best not because of prospective monetary gain (by way of a share in the loot or booty) but because of the honour expected from their royal master. That is, सोमदेव in the above as well as in his injuction that no foreigner was to be employed a minister, gave expression to the keen sense of patriotism and nationality which had animated the people in those ages. But he was careful in warning the king that the latter should be punctual in paying his forces, What was the use of a cloud if it did not bring forth rain in time.[64]

While the army was certainly useful, diplomacy was not less important. Allies were to be secured in as many ways as possible. He merely follows कौटिल्य in the delineation of the foreign policy.[65]

Somadeva identified the State with the king to such an extent that he maintained that the safety of the monarch was the safety of the State. He said that a people may be prosperous but if they have no government, they would come to no good. He firmly believed in protecting the king from all kinds of temptations, including that of women whom he unduly condemned as being the source of evil and a bundle of craft and hypocrisy. The young princes were to be respectful to their parents even in thought, otherwise they would fall into misery.[66]

On certain fundamental problems like taxation, Somadeva was unequivocal. He warns the State against over taxation. Taxation was to be adjusted to the resources of the people. Expenditure was never to exceed income. He followed the ancient Hindu theory of one-sixth of the produce being levied as taxes, which was to be paid only in return for the protection given by the king. The king received not merely the sixth of the produce of land but also a corresponding

(61) यशस्तिलक, III, pp. 367-374 ; Ghoshal, ibid, p. 468.

(62) कौटिल्य-अर्थशास्त्र, Bk. I chs. VIII, IX, X, & XV, pp. 12—17, 26—29. On ministers read नीतिवाक्यामृतम्, pp. 62—135.

(63) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम्, pp. 136—137.

(64) Somadeva, नीतिवाक्यामृतम्, pp. 207—215.

(65) Ibid, pp. 210—216, 324—344.

(66) Ibid, pp. 221—271.

portion of the increase of the spiritual merit of his people, as a result of protection. He expressed it thus—परिपालको हि राजा सर्वेषाम् धर्माणां षष्टं आप्नोति.[67] It was clear that he had rejected the theory of guidance of Jinasena, and had fallen in line with the traditional theory of the ancient Indian writers about the rate and policy of taxation.

Somadeva's importance in the history of Indian political thought may be stated thus :— Firstly, he re-enforced the अर्थशास्त्र of कौटिल्य in a manner which no other writer, excepting कामन्दक, had done, thereby showing that कौटिल्य's theories had definitely come to stay centuries after the times of that great Mauryan Prime—minister. Granting that, as has been shown by his commentator Haribala,[68] he followed closely कौटिल्य, yet it proves that there was complete agreement between the Brahman कौटिल्य and the Jaina Somadeva in regard to the most vital question of the State. Secondly, we see here not so much as the repetition of ideas as the confirmation of the old ideas by a later writer, thereby proving the continuity in Indian political thought. Thirdly, Somadeva by departing from the idealistic stand of Jinasena, had shown the truly practical bent of mind which has always characterized the Jains. Fourthly, Somadeva was in a sense modern, since had eliminated all social privileges. Although he recognized caste and upheld the ancient Hindu theory view that people should follow their hereditary professions, and even looked upon the Brahmans with some special regard, yet he maintained the equality of all before the law.[69] In this he no doubt followed कौटिल्य, who had unmistakenably enunciated the policy of treating all subjects alike by the State[70]. Fifthly, Somadeva had gone a step further than कौटिल्य by idealizing the State. No Indian writer had ever invoked the State in the manner Somadeva had done. This is all the more remarkable when we realize that his patron was a petty feudatory of a great monarch. But like कौटिल्य he wrote for all time and for the whole country. Like Machiavelli producing his celebrated 'The Prince' under the auspices of a small ruller, Somadeva wrote his two works नीतिवाक्यामृतम् and यशस्तिलक under the patronage of an insignificant ruler, thereby demonstrating the fact that remarkable things were written and done not necessarily under the patronage of mighty monarchs but were also produced under the benevolent care of smaller men amidst comparatively humbler surroundings. This leads us to the last point of importance concerning Somadeva which is involved in the previous one. By anticipating Hegel's idea of the State to some extent, Somadeva had not only assured for himself a place of

(67) Ibid. pp. 18,250—271. See also Aiyangar, op. cit. p. 109

(68) Haribala's commentary is printed in the Digambara Jaina Granthamala. See also Somadeva, नीतिवाक्यामृतम्, pp. 6—7 (Soni's ed. 1923) ; Aiyangar, op. cit. p. 17 and note (31), Beni Prasad, op. cit. p. 242.

(69) Beni Prasad, ibid, pp. 241—242. Read also Ghoshal, op. cit. pp. 476—489 for an elaborate account of Somadeva's theory.

(70) This point is fully brought out in my forthcoming publication entitled 'Ancient Indian Political thought and Institutions.'

respect among all political thinkers, but had vindicated the position of Indian political thought in the international field. Somadeva's deification of the State and the practically negligible part which the individual played in his concept of the State, forestalled in a measure the nineteenth century German political philosopher G. W. F. Hegel's concept of the State. Hegel in his work on The philosophy of Right (1821) taught that the State was the real person, its will being the manifestation of perfect rationality. In his own way Somadeva, too, had stated the same idea, namely, that knowledge was the prime requisite in the affairs of the State, thereby emphasizing the importance of rationality. When Hegel maintained that "the State is the divine idea as it exists on earth," he seemed to express in modern terms Somadeva's dictum that the king is a great god, to whom all excepting the ancestors and the गुरुs had to bow. And in the statement of Hegel that "all the worth which the living being possesses—all spiritual reality–he possesses only through the State," he had admirably conveyed the idea of Somadeva as expressed in the salutation to the State cited in an earlier context in this paper, namely, अथ धर्मार्थफलाय राज्याय नमः . But Somadeva stopped with this ; while Hegel developed the philosophical theory of the State transcending the limits of his Jaina predecessor[71]. Nevertheless the tenth century Jaina political thinker, inspite of all his shortcomings, had earned for himself and his country a place of distinction among international thinkers who had deified the position of the State.

Two centuries later there appeared one of the greatest figures in the Indian literary world. This was हेमचन्द्राचार्य , also called हेमाचार्य (A. D, 1089—1173). His royal patron was first the famous सिद्धराज जयसिंहदेव, (A. D. 1094—1143), the monarch of Gujarat, and, then, the next ruler कुमारपालदेव (A. D. 1143—1174). In the days of king सिद्धराज, हेमचन्द्राचार्य had written a treatise on grammar called सिद्धहेम as well as other works like अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थनाममाला, हेमनाममाला or a string of names composed by हेम (चन्द्र) ; and had begun his great द्वयाश्रयकोश, which was intended to teach both grammar and the history of the चौलुक्य or सोलंकी family to which king सिद्धराज had belonged. But हेमचन्द्राचार्य became more famous during the reign of the next monarch of Gujarat—कुमारपालदेव. हेमचन्द्राचार्य's गुरु was the learned भट्टारक, देवसूरि, a श्वेताम्बर teacher.[72]

The life of हेमचन्द्राचार्य is interwoven first with the career of सिद्धराजदेव and then of that of कुमारपालदेव.[73] It abounds in wonders with which we are not concerned here. In the reign of कुमारपालदेव he wrote many well known Sanskrit and Prakrit works like अध्यात्मोपनिषद् or योगशास्त्र in twelve chapters and 12,000 verses ; त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र or the lives of sixty-three Jaina saints of the उत्सर्पिणी and the अवसर्पिणी ages; the परिशिष्टपर्व of 3500 verses being the

(71) Read Hegel, G. 10 F. The Philosophy of Right (1821). Translated by S. W. Dyde. Read also Beni Prasad, op. cit. p. 345.

(72) Indraji, Bhagawanlal, History of Gujarat (in the Bombay Gazetteers), pp. 156, 160, and ibid, note (2), 191, 192

(73) Indraji, ibid, p. 182ff.

life of a Jaina Sthavira who had flourished after महावीर ; the Prakrit शब्दानुशासनम् or Prakrit grammar ; द्वयाश्रयकोश, which he begun in the previous reign of king सिद्धराज ; and which was a double dictionary being both a grammar and history, the छन्दोनुशासन of about 6,000 verses or prosody ; the लिंगानुशासन on genders ; the देशीनाममाला in Prakrit with a commentary, a work on local and provincial words ; अलंकारचूडामणि a work on rhetoric ; and finally, लघु-अर्हन्नीति with which we are concerned here.[74]

Along with the लघु-अर्हन्नीति we have to study त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र the first book which styled आदीश्वरचरित्र is of much interest to us. The great Hemacandra harked back to जिनसेनाचार्य to some extent but could not help following the earlier Hindu writers on polity in certain other important matters. In his account of the origin of society and the political order, हेमचन्द्राचार्य treads in the foot—steps of जिनसेनाचार्य. The आदीश्वरचरित्र, for instance, is more of the pattern of the आदिपुराण inasmuch as it is introduces the reader of the twelve—spoked wheel of Time with its two great cycles called अवसर्पिणी and उत्सर्पिणी. The अवसर्पिणी cycle had six ages in a decending order, namely, pure Bliss (एकान्त-सुषमा), Bliss (सुषमा), Bliss—Sorrow (सुषमा-दुषमा), Sorrow—Bliss (दुषमा-सुषमा), Sorrow (दुषमा), and pure sorrow (एकान्त-दुषमा). The उत्सर्पिणी cycle had the same spokes but in a reverse order. The succession of the six ages in the अवसर्पिणी cycle was attended with a gradual decline in the longevity and health of men, in their food, and even in the कल्पवृक्षs or wish—giving trees. It was in the third age of the अवसर्पिणी cycle that the hero विमलवाहन and his wife (both twins) were born in the southern part of the भारतवर्ष in the जम्बूद्वीप, in the region between the Ganges and the Sindhu. विमलवाहन was the progenitor of a line of chiefs. When in the course of time, the wish giving tress diminished in potency, one of the twins born in the manner of their progenitors, wished to acquire a कल्पवृक्ष at which the other afflicted twins made विमलवाहन their king with ruling powers. Then the latter divided the wish—giving trees among his followers, thereby originating the Institution of property. He then instituted the penalty of 'हाकार' for punishing any one who crossed the boundary of a wish—giving tree with a view to securing the tree of another. Gradually with the further decline in morality, the fourth descendant from विमलवाहन instituted the penalty of 'माकार'; the sixth introduced the penalty of धिक्कार. In the days of the seventh patriarch called नाभि, they made, at his advice, ऋषभ their monarch, who introduced the institution of punishment in its civil and criminal aspects.[75]

Notwithstanding the above approach to the problem of the origin of society and of

(74) Indraji, op. cit., p. 193. The लघु-अर्हन्नीति does not figure in this list. On लघु-अर्हन्नीति see Beni Prasad, op. cit. p. 227 ; Ghoshal op. cit. pp 456, 490.

(75) Hemacandra, त्रिशष्ठिशलाकापुरुष चरित्र, Bk. I. आदीश्वर चरित्र, pp. 93—99, 148 —155 (Trans. into English by Dr. Helen N. Johnson, Baroda, G. O. S. 1931). Text published earlier in Bhavnagar, 1906. See also Ghoshal, op. cit. pp. 459—460.

the political order in the manner of Jinasena, हेमचन्द्राचार्य, we may note, was never carried away by mere idealism. It was not that he discarded the theory of Jinasena. On the other hand, we see the influence of the आदिपुराण in the लघु-अर्हन्नीति. But हेमचन्द्राचार्य was, on the whole, a more practical teacher than Jinasena. Indeed, it will be shown below that no Jaina thinker wielded such a powerful and perhaps everlasting influence on the contemporary government as हेमचन्द्राचार्य did on that of कुमारपालदेव in the twelfth century.

हेमचन्द्राचार्य drew freely on the earlier Hindu works on polity. He pays greater attention than any of his predecessors of the Jaina faith to civil and ciminal law ; recomends the use of साम, दान, भेद and दंड, much in the same way as a Hindu writer on Polity would have done ; and fearlessly enjoins that war should be carried on boldly, stating that the famous Jaina principle of non-violence to life and of the destruction caused in war, would not deter him from recommending this measure.[76] That हेमचन्द्राचार्य followed in some measure कौटिल्य is clear when we note what he states about a conquered country. After the king had won a victory, he should grant amnesty to the followers of the conquered king, and after considering their wishes, install a scion of the old royal family as the next ruler, provided he was devoted to the conqueror. The new ruler as well as the conqured subjects should be gratified with rewards.[77] This may be compared with what कौटिल्य says in Chapter V, entitled Restoration of Peace in a Conquered Country in Book XIII, where he has given in detail the measures which the conquering king has to take in order to restore peace in the conquered land.[78]

Much more than his work styled लघु-अर्हन्नीति was हेमचन्द्राचार्य's great personal influence which marks him off from the rest of the eminent Jaina authors on Polity, as one who did the greatest good to the country. When on the death of king सिद्धराज-जयसिंहदेव, there was a period of interregnum in the history of अनहिलवाड़ा, the capital of Gujarat, three names including that of कुमारपाल were laid before the nobles of the Court who sat in council, to determine as to which of them was to be the king. It was than that कुमारपाल was chosen and installed as the new king and that a new age in the history of Gujarat began—an age which was illumined as much by the munificence of कुमारपालदेव as by the sagacity, humility, and religious fervour of हेमचन्द्राचार्य. The latter became the guide and the गुरु of the new monarch.[79] It is impossible to describe within the limits of a small article the incalculable good which this great Jaina thinker did to Gujarat and to India. We can at best only summarize his main activities. It was हेमचन्द्राचार्य who induced the king to forego the claim of the State to the property of those who died issueless. It was under his influ-

(76) Cf. Law N. N. Studies in Indian History & Culture, pp. 260—261 (London, 1925).

(77) Hemacandra, लघु-अर्हन्नीति II, pp. 66—68. (Ahmedabad with a Gujarati commentory. 1906). See also Ghoshal, op. cit. p. 492.

(78) कौटिल्य, Bk. XIII, Ch. V. pp. 437—439, text, pp. 408—410.

(79) Read Indraji, op. cit. pp. 181—194.

ence that कुमारपालदेव gave up the use of flesh and wine, ceased to take pleasure in the chase, and by beat of drum forbade throughout his vast kingdom the taking of life. कुमारपालदेव withdrew from hunters, fowlers, and even fishermen their licenses, and compelled them to adopt other avocations that were in agreement with the great principle of causing no harm to living beings. The king ordered that only filtered water was to be given to the animals employed in the royal army. When a Bani of साम्भर (which province in Rajputana had been conquered by कुमारपाल) had been caught killing a louse, he was brought in chains to Anahilavada. On another occasion a woman of Nador in मारवाड़ had offered flesh to a field—god (क्षेत्रपाल). At this her husband was put to death by Khelna, the chief of Nador in order to escape the wrath of the great king. What अशोक the Buddhist had failed to do कुमारपालदेव the Jain did : अहिंसा was not only made the corner—stone of the edifice of the State but was made to cover the existence of even the fishes in the ocean. अशोक the Great had lived the life of a Buddhist almost in vain : the sad condition of the Mauryan capital and the Empire soon after his death does not warrant the saying that he had succeeded in planting firmly the tree of अहिंसा for ever in the land. But कुमारपाल the illustrious not only successfully lived the life of a devout Jaina but handed down to the country the glorious gospel of अहिंसा which centuries afterwards another celebrated son of Gujarat was to hold aloft as the beacon light of India's Freedom. The credit of thus converting a negative axiom of non-killing into a positive one of life and progress must go to the great हेमचन्द्राचार्य, whose vast learning was eclipsed by his more profound sense of the realism lying behind the principle of अहिंसा.

---

(80) Indraji, op. cit. p. 193.

Jain Culture.

[Dr. Bool Chand, M. A., Ph. D. (Lond), I. A. S.]

Culture-Shramanic and Brahmanic :—

What is called Hinduism is a synthesis of two distinct but constantly interacting cultures, the Brahmanic and the shramanic. The broad distinctions between these can be briefly indicated. From the ideological standpoint, the Shramanic stands for experience and the Brahmanic for intellect.

From the sociological point of view, the Shramanic culture considers society an aggregation of individuals and the Brahmanic regards it as a system of stratified classes. From the point of view of organisation, the Shramanic culture believes in an equalitarian and democratic organisation of society, while the Brahmanic culture's idea of social organisation is that of Varnashrama-dharma, an organisation which is marked at once by exclusiveness and stratification.

In Indian history, the Shramanic culture is represented by Jainism and Buddhism. These two systems of thought were more in the nature of moral codes than religions, properly speaking. While Buddhism no doubt arose with Gautama Buddha, Jainism was probably older, having been preached from time to time by the 24 Tirthankaras, of whom Parshva was the twenty-third and Mahavira the twenty-fourth. A study of the Jain canon established that Mahavira, who was a contemporary of the Buddha, was primarily a reformer, as systematiser of an existing church, rather than the founder of a new faith.

The jain system :—

Jainism has continued substantially unchanged during the last 2,500 years. The statement may sound strange to those who have learned to think in terms of differences between Shwetambaras and the Digambaras, along with the growth of several other minor heresies in the Jain church, but one has merely to consider the far-flung ramifications in the history of Buddhist thought and the rise of the mutually conflicting philosophical systems in the Brahmanic religion of the corresponding period to appreciate the remarkable conservative spirit of the Jain thinkers.

Between Mahavira and Umaswati, who wrote his compendium of Jainism in the first or second century A. D., the few minor changes which occurred in Jain thought related to matters like the drawing up the lists of subdivisions of Karma ; the systematic arrangement of the teaching under the heading of the seven principles (tattvas) of soul, non-soul, influx, bondage, cessation, expurgation and liberation ; the elaboration of the doctrines of five or seven Nayas and सप्तभंगी ; and the formulation of detailed rules of church discipline and other cognate matters. But in what one would regard today as the funda-

mental principles of Jain thought, the ontological and psychological system underlying Jainism, no change is visible at all.

Two important tenets have taken such firm root in India that they would appear to form the basis of practically every system of Indian religious philosophy. The first of these is belief in metempsychosis (संसार) and the other is what is known as Karma. According to the former, death does not release the soul from its combination with matter, for the soul may have to return again and again perhaps an endless succession of times, inhabiting other bodies, human, animal and even vegetable. The present state of its existence is the result of past actions and its future further depends upon its present actions.

स्याद्वाद :—

Round these two tenets, Jain thinkers developed a kind of logic, called स्याद्वाद, which appears to cut at the root of all dogmatic knowledge. If the question is "Is there a soul"? स्याद्वाद would admit of seven answers : (1) there is ; (2) there is not ; (3) there is and is not ; (4) it is unpredicable ; (5) there is and it is unpredicable ; (6) there is not and it is unpredicable ; (7) there is, is not and it is unpredicable. Some critics have wrongly assumed that this attitude implies agnosticism or metaphysical nihilism ; but the Jains had a definite theory of reality, and their logic was a subtle and disguised protest against the dogmatism of the Vedas, though not intended to deny all reality by any means.

Jain concept of God :—

The Jain system does not recognise a Supreme Being, but it does recognise a whole galaxy of deified men who have been spiritually great, and, more than this, it recognises that every soul possesses the potentiality of becoming as great as any other. This helps to create in the Jain layman a type of confidence and a sense of responsibility which other systems of thought in India have always diluted by a belief in the possibility of divine intervention in one's favour.

Prayer amongst the Jains is not prayer for help. It is essentially a recollection of divine commands and warnings. Jainism seeks to develop a community of individuals on the basis of non-violence and goodness.

There has been a conflict in human history between the claims of the group and the claims of the individual. Experience has shown that where individual freedom is emphasised at the cost of organisation, there takes place an atomisation of the human group and a consequent weakening of the individual himself. Where social organisation is emphasised at the expense of the freedom of the individual, the individual is reduced to the position of a mere means for the attainment of ends over which he loses all effective control.

Emphasis upon the Individual. :—

Jain philosophy seeks to indicate a solution to this conflict between the individual and the group by suggesting that it is definitely the individual who is the more important,

but at the same time laying it down as a principle that the individual must necessarily be non-violent in all his actions.

If non-violence is correctly understood, as the duty not merely to do no harm to others, but also so to act as to contribute to their happiness and promote the establishment of such conditions of life as will render violence between classes impossible, the principle of Jain ethics, universally applied, would help to bring about peace, prosperity and a worldwide establishment of the common good.

It is necessary clearly to understand the distinction between Dharma and the Swadharama as enjoined in any particular religion. Dharma is the name of those general principles of action and behaviour which are reckoned as immutable ; Swadharma is made up of those duties which particular classes and ranks of individuals in particular stages of life, are required to perform.

Swadharma is necessarily bound up with the time, place and conditions of life of the community. Its definition is given by the leaders of the day, and its substance varies with changing circumstances, material and spiritual. The Jain Dharma gives a list of five fundamental principles of life, called Anuvratas in the case of members of the lay community. These prescribe ; (1) that there shall be complete abhorrence of violence ; (2) that untruthfulness shall not be resorted to ; (3) that one's action shall be completely free from stealing ; (4) that there shall be chastity in human relations ; and (5) that there shall be no undue attachment to property.

The Vratas are enjoined upon Sadhus in a much stricter form than in the case of laymen and laywomen. Qualifications for laymen and laywomen have been prescribed with a view to making the moral code at once practical and capable of adoption in an organised society.

The principles of the Vratas are so conceived always that, properly followed, they will result in peace for the individual as well as for the group.

Rajavallabha's Bhojacharitra

(Dr. B. Ch. Chhabra, New Delhi.)

The Bhojacharitra of a Jaina author, पाठक राजवल्लभ सूरि, is yet an unpublished work. Its author describes himself to be a disciple of महीतिलक सूरि, belonging to the family of वादीन्द्रधर्म सूरि, and to the Dharmaghosha Gaccha. From the fact that this महीतिलक सूरि of the Dharmaghosha Gaccha is known from certain inscriptions ranging in date from A. D. 1429 to A.D. 1456, we can place Rajavallabha in the middle of the 15th century. Again, from the fact that one of the available manuscripts of his Bhojacharitra is dated Samvat 1498, corresponding to A. D. 1441, it can safely be inferred that he completed the said work before that year.

The Bhojacharitra consists of five chapters or प्रस्तावs, the total nnmber of verses being about 1575. There are about 35 verses in Apabhramsha and the rest is in Sanskrit, though here and there Prakrit words are also found in the Sanskrit part. The composition is not of a high poetic standard, nor is it very valuable as an historical narrative. In fact, it adds to the confusion about the history, or rather story, of the famous king Bhoja of Dhara (धारा), as known from Ballala's Bhojaprabandha as well as from Merutunga's प्रबन्ध-चिन्तामणि. All the same, it makes an interesting reading and is perhaps not altogether void of factual details. For this reason it deserves a careful persusal.

The work is being edited by the present writer in collaboration with Pt S. Sankaranarayanan, Assistant Superintendent for Epigraphy, and may be published before long. A summary of the first प्रस्ताव is given below to show how Rajavallabha's version differs from his predecessors.

Summary

There reigned a King named Sindhu in the city of Dhara in मालव. Being blessed with no son, the king often remained sad. Once he went out a hunting in order to divert his mind. While walking along the bank of a river, he found an infant lying on a heap or Munja-grass. He took it home, placed it in the lap of his queen, रत्नावली, and asked her to rear the child as their real son. The king then. Spread the news that a son had been born to him and there was much rejoicing among his poople. The child was named Munja because it was found upon a heap of munja-grass.

Later on, the queen actually gave birth to a son and agein a great jubilation took place. This child was named Sindhula. Both Munja and Sindhula played their childhood together and they were put under the care of the same Preceptor who tanght them when they both grew able, the king got them both married ; and from that time onward they began to live in separate palaces.

One day the king paid an unexpected visit to Munja who was then sporting with his consort. As soon as Munja heard of his father's arrival, he hid his wife under the bed and welcomed his father. The king asked if there was no third person there ; for, he was going to disclose a secret. Munja assured him that there was none except them both ; and the king proceeded—"Well, my dear, let me tell you for the first time that you are our adopted son and Sindhul is our real son. I, however, would not mind that and will bequeath my kingdom to you You will have only to take care of your younger brother, Sindhula." So saying, the king. left and it soon occurred to Munja that a secret heard by three persons could not remain concealed. Consequently he drew out his wife from beneath the bed and at once put her to the sword. The king, who was yet wending his way downstairs, heard the hustle and turned up again. When he learnt what had taken place, he deemed Munja to be cruel enough to hold the royal sway and so anointed him king there and then, besmearing his forehead with the very gore of his wife who lay writhing by.

On the following day, the king sent for his minister, Shivaditya (शिवादित्य), along with the latter's son Rud:aditya (रुद्रादित्य), and told him that he intended to pass his kingdom to Munja and ministership to Rudraditya. The minister approved of the king's intention, and it soon came about that Munja was conserecrated as king and Rudraditya as his minister. Sindhula served under his elder brother as a prince. Their father, Sindhu, turned an ascetic and renounced home.

Now, Sindhula was brave and modest and, above all, was artless to a fault. He was so sturdy and strong that Munja always feared lest the former should sometime overthrow him, when coming to know that Munja was not his real brother. Munja was, therefore, ever anxious to get rid of Sindhula and devised means to this end.

Thus first he caused an elephant to run over Sindhula while the latter was sitting quite unaware and unarmed. But luckily a bitch happened to be there close by. Sindhula caught hold of her hind-legs and hurled her at the elephant who then became frightened and ran away. Thus Sindhula escaped the first fatal attack. He was too innocent to understand the wickedness of his elder brother. The latter, however, grew concious that he had given vent to his malice towards his younger brother.

Next, about that time, two wrestlers chanced to visit Dhara. Munja invited them to his palace and concerted a plot against Sindhula. The two athletes were to wrestle with Sindhula and were instructed to pluck out his eyes in the course of wrestling.[1] The wrestlers did accordingly and were amply rewarded. Sindhula, the poor fellow, became totally blind.

Some time afterwards, Sindhula's wife became pregnant. Munja showed pleasure at this and appointed some astrologers in the lying-in-chamber (सूतिकागृह) with a wicked and in view. One Vararuci, an expert astrologer, disguised as a lady, also remained there of his own accord. When the child was born, the appointed astrologers declared that it was born

(1). We are perforce reminded here of Shakespeare's play 'As you like It' wherein Oliver tries to take his younger brother, Orlando's life through Charles, the duke's wrestler.

under inauspicious stars and that there was no safety unless the child was thrown away in a forest. On the other hand, Vararuci, who had kept himself concealed there, made his own calculations, put them into black and white, handed over the letter to the door-keepers and slipped away. The door keepers conveyed the letter to the king and the ministers read it out to him:— "Bhoja Raja has to rule over the Southern land including the country of Gauda for fiftyfive years and seven months and three days." This was doubtless a prophecy about the newborn child and at this the king could not achieve his wicked end. On the contrary he was impelled to hold feasts and festivals.

As pointed out in the prophetic epistle, the child was called Bhoja. When he grew to boyhood, he was sent to school where he showed a rapid progress and promised much. This filled Munja with jealousy and fear lest Bhoja, when grown up, should avenge the wrong done to his father by extirpating him (Munja). So he thought it fit to nip Bhoja in the bud, and for this purpose he commanded certain Chandalas (चांडाल्s) to slay Bhoja and promised them rich reqwards. But seized with compassion, the Chandalas failed to execute the kings's command. They hid the child and devised an artifical head so that they might show it to the king and thereby convince him of Bhoja's slaughter ; for, otherwise they might undergo the severest penalty for transgressing the royal order. Meanwhile Bhoja composed a verse full of pathos, wrote it on a leaflet using his own blood as ink, and gave it to the Chandalas in order that they might show it to the King, if the need arose. The Chandalas then approached the king and showed him the artificial head. The king asked them as to what the child had said on the verge of his slaughter. Thereupon they presented the leaflet. The king read the contents and melted with pity. Full of remorse, he resolved to put himself to death, for he could in no other way expiate the wrong done and secure mental peace. At this, the Chandalas stayed the king from suicide and produced Bhoja before him. When he saw Bhoja alive, his joy knew no bounds. He affectionately drew him into his lap and lavished rich rewards on the Chandalas.

Immediately afterwards, Munja made over his kingdom to young Bhoja, retained only half of his military forces for his own use and took a vow to stay no longer within the territory of Bhoja.

Then, in spite of his minister's warnings, Munja led his mighty fourfold army against the southern Monarch, Tailapa. A terrible battle ensued and terminated in Munja's defeat. The latter, however, made good his escape and flew into a forest. Oppressed by hunger, Munja visited the house of a cowherdess there, betrayed his identity, was consequently captured and handed over to the king Tailapa.

Tailapa treated Munja respectfully but exacted a promise from him that he should not leave Tailapa's place without the latter's permission. Thus Munja was held captive there, but was freely provided with all comforts.

A servant-maid, Mrinalika (मृणालिका) by name, was appointed to attend upon Munja, She was a gay girl and Munja fell in love with her. She responded to his love, and thus Munja drowned his sorrows in amusements with her.

Bhoja, on his part, had been deeply aggrieved ever since he heard the distress of Munja. He had a subterranean passage made for Munja to escape, and managed to let the latter know of it. Thus, once a written message was handed over to Munja just as he was going to have his meal. He hurried through the letter, showed unconcerned and fell to eating without his usual chat with Mrinalika. But she was clever enough to suspect his silence and questioned him regarding the contents of the message. Out of love, Munja took her into his secret and exposed the matter saying: "Dear me ! Bhoja has caused an underground passage to be made for me to escape ; and I shall be simply glad, if you accompany me in this my flight." She outwardly agreed to this proposal and asked Munja to wait a little so that she might bring her ornaments. The clever maid went out and thought to herself :— "He will love me only as long as he is here. On reaching home, he will marry many a girl of his choice and I shall be totally neglected." Reflecting thus, she sounded a warning to the watchmen that Munja was escaping through a subterranean passage. Munja also heard her cry and hastened to escape but was fatefully arrested and produced before Tailapa. The latter reproached Munja with treachery and ordered him to beg from house to house like a beggar. Munja felt helpless and did as he was bid. He, however, showed no sign of cheerlessness. While begging, he talked to several girls of the city in lyrical notes and thereby displayed his high aesthetical taste. But alas ! in the evening he was impaled by the order of the king Tailapa.

The fateful news reached Dhara and shocked Bhoja as well as his blind father, Sindhula. Bhoja checked his wrath and resolved to wreak his vengeance upon Tailapa in due course.

Time having cured his grief, Bhoja began to amuse himself with poetry. Poets began to visit his court from far and wide and exihibited their poetic skill. Once, a Brahmana named Sarasvatikutumba, along with his family consisting of a wife, a daughter, a son and a maid-servant all versed in poetic art visited the court of Bhoja and by turns amused him with their art, while Gunamanjari, the Brahmana's daughter, took Bhoja's fancy. She pleased him not only with her poetic imagery—but also with her virtues and graces. Bhoja married her at her father's consent.

On another occasion, Bhoja was entertained with a dramatic performance. The plot consisted of the capture and humilation of Munja at the hands of Tailapa. This served to arouse the old feeling of revenge in Bhoja who consequently gathered forces, attacked Tailapa, subdued him and meted out the same treatment to him as the latter had done to Munja.

Having thus becalmed his rage, Bhoja again engaged himself with his usual hobby, viz. poetry. Now it came to pass that a Jain monk, Susthitacarya (सुस्थिताचार्य) by name, came to Dhara and attracted none but Sarvadhara, one of the four Brahmana priests at the court of Bhoja. Both of them befriended each other and often had long talks. Once they talked of wealth. "Do you ever get money from anywhere"? said Sarvadhara to Susthitacarya. "What do we need money for"? said the latter in reply. At last, however, Sarvadhara promised to give away half of his wealth to Susthitacarya which the latter consented to accept. Accordingly Sarvadhara divided his wealth into two equal heaps and asked the monk to choose either. At

this, the monk smiled significantly and said :—"What have we monks to do with such a sort of wealth ? If you wish to be true to your promise, then give me one of your two sons." This smote Sarvadhara hard. He certainly had two sons, Dhanapala and Shobhana by name, but little did he dream that he would have to part with one of them—his most precious wealth. And as a result of this unexpected shock, he developed fever and was confined to bed till at last death looked him in the face. His sons beside his death-bed asked him whether he desired any charitable act to be done before he breathed his last, and he said in reply:—"There is but one pang gnawing at my heart. If you wish me a peaceful death, then please one of you embrace monkship under Susthitacarya and there by release me from the debt of promise." At his, Dhanapala showed reluctance, but, Sobhana, the younger son, promised to obey his fater's command. The father expired, and after the funeral ceremonies, Shobhana approached Susthitacarya who consecrated him as a Jain monk and soon afterwards raised him to the rank of a preacher.

Dhanapala, at first despised Jainism very much and mocked even at his younger brother who had turned a Jain monk, but later on he was so drawn to it that he himself embraced Jainism.

Now a report of this conversion of Dhanapala was secretly made to Bhoja who awaited an occasion to test it. The occasion came : once Bhoja accompanied by Dhanapala happened to visit the temple of God Shiva. While Bhoja paid obeisance to the idol, Dhanapala stood by indifferent. Bhoja demanded an explanation of this indifference which Dhanapala gave with much reasoning, so much so that the belief of Bhoja himself was shaken and he realised the futility of idol-worship. In this wise, Dhanapala won Bhoja's favour.

Dhanapala was also a good poet. Once while describing a newly-built tank, the following escaped his lips:—"There are tanks that overflow during rains, but praise-worthy are only those that do not dry up even during summer." Bhoja took this as a taunt upon himself and expressed his resentment thus :—"Eh ! his sight does not bear my glory." The poet inferred from the remark that he would have his eyes plucked out as a punishment for offending the king like that. So he awaited an opportunity to appease Bhoja's wrath ; and it soon presented itself. They came across an extremely old dame with her head constantly shaking. The poets around Bhoja were asked to describe the dame. They all did so, but Dhanapala excelled them all in describing her. Bhoja was pleased and asked Dhanapala to choose what reward he liked. Thereupon Dhanapala said :—'My lord ! please grant me my sight." Bhoja was simply struck with wonder at Dhanapala's foresight ; for, Bhoja had actually resolved to have Dhanapala's eyes plucked out as a penalty for the offence the latter had committed on the previous occasion. This raised Dhanapala in Bhoja's esteem still higher.

Dhanapala composed several works some of which are connected with Jainism e. g. Rishabhapanchashika. The chapter comes to an end with Dhanapala's leaving this world for his heavenly abode.

Apabhramsha Literature

(H. C. Bhayani, Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay.)

General Character :—

In a glaring contrast with Sanskrit and Prakrit literatures, Apabhramsha (अपभ्रंश) literature in so far as it is available, has an overwhelmingly Jain character. Buddhist, Brahminical (known indirectly and through reference and sparse citations) and non-sectarian contributions seem to have been dwarfed by the rich and varied Jain output. The Jainas can claim Apabh. as their special domain. This, of course, is a transitional picture, as the activity of unearthing and bringing to light Apabhramsha texts is hardly fifty years old and so far it has never been undertaken with any vigour.

Aside from its predominantly religious tone, another outstanding trait of the discovered Apabhramsa literature is its almost exclusively poetic character. भामह and Dandin did know of some Apabhramsha prose tales, but no prose work even of a modest length is preserved to us, and this creates grave doubts about any vigorous prose tradition in that literature.

Apabhramsha Language :—

Literary Apabhramsha, like the literary Prakrits, was considerably 'artificial'. It was a special language, which, though strongly dominated by Sanskrit and maintaining dominant features of the 'Prakrit' stage in its phonology, attempted to a limited degree to adapt its morphology and expressions (and, to a slight extent, its lexicon) to the constantly changing spoken idioms of the period. This fact of being continuously open to reinforcement through an undercurrent of living speech forms, slowly worked for undermining the rigidity that Apabh. had attained as a highly standardized literary language, fostered in the linguistic surrounding of centuries-old aristocratic and stylized traditions.

The circumstances surrounding the origin of Apabh. language and literature are very much shrouded in obscurity. The best part of the early literature is all lost. We have no means to trace the course of Apabhramsha evolution from its beginnings. The literary types and metrical forms, of great originality and vigour, remain quite unexplained as to their genesis.

Beginnings and the main types :—

On the showing of literary and inscriptional records, Apabhramsha enjoyed already in the seventh century A. D. an independent literary status. It was worthy of being mentioned alongside Sanskrit and Prakrit. The earliest Apabhramsha work preserved to us, however, does not go much further than the Ninth Century A. D., though stray citations from a near-dozen earlier Apabhramsha poets, including some epic-writers, testify that the literary activity in Apabhramsha during the few preceding centuries too was in full swing. This is also presumed

by the well developed form, style and diction of the earliest available specimens. From the theoretical treatment in two[1] pre-tenth century prosodists, विरहांक and Swayambhu (स्वयंभू), we gather that Apabhramsha had evolved at least two distinct new poetic types, viz., the Sandhi Bandha (सन्धि-बन्ध), and the Rasa Bandh(रासा-बन्ध)[2], besides a host of rhymed moraic metres unknown to earlier literatures.

The Sandhi-Kavya (सन्धि-काव्य) :—

Of these, the Sandhi Bandha was the most favourite form of composition. It is found employed for a wide range of narrative themes. The Puranic epic, the biography, the religious narrative—single or the whole cycle of them—all could be handled with equal aptness and facility in this form. The earliest extent Sandhi-Kavya is not later than ninth century. But this had a respectable long tradition behind. Several earlier poets like Bhadra (or Dantibhadra)and Caturmukha (चतुर्मुख) are known from literary allusions to have attempted before Swayambhu to work on the themes of Ramayan(रामायण) and Harivamsha (हरिवंश), and among them Caturmukha, highly respected by all the succeeding centuries of Apabhramsha literary tradition, possibly a non-Jain, was know to be the pioneer in treating those themes in the Sandhi form. Bhoja followed by (Hemacandra) especially selects the name of Caturmukha's Abdhimathana (अब्धिमथन) for citing as an illustration of the Apabhramsha Sandhi-Bandha.

Svayambhudeva :—

But since none of these early works are traceable, Svayambhu's epics (between the seventh and tenth century A. D.) serve us as the first source of information on the Sandhi-form. Kaviraja Svayambhudeva, Caturmukha and Pushpadanta make up the three greatest names in the field of Apabhramsha letters and one may be even tempted to assign the first place to Svayambhu. Poetry was in his family tradition. His literary activity was carried on probably in the Vidarbha and Karnataka regions under the patronge of different pious Jain laymen. He himself appears to be a follower of Yapaniya (यापनीय) Jain sect, flourishing at the time in those areas.

Only three of his works are preserved to us : two Puranic (पुराणिक) epics viz. the Paumacariya (पउमचरिय) and the Ritthanemicariya (रिट्ठणेमिचरिय) and a manual of Prakrit and Apabhramsha metres called Svayambhuchandas[3].

The Pumacariya :—

The Paumacariya, Sk. Padmacarita alternatively called Ramyanapurana (रामायणपुराण) continues the Sanskrit and Prakrit literary traditions of composing epics on the life-story of Padma i.e, Rama. The Jain versions of the famous narrative show wide and important variations

1. Possibly three, if we are to include Jnanashraya (ज्ञानाश्रय).
2. At present it cannot be quite ascertained whether some Rasa compositions reported to be in Sanskrit and Prakrit were original or derivative as a type.
3. Apart from its importance as an early and authoritative source for MIA prosody, it is of supreme value by virtue of its numerous illustrative citations that give us a glimpse of the lost literary riches of Prakrit & Apabhramsa.

from the Brahmanical version (represented by the Ramayana of Valmiki), which they presuppose and imitate. Svayambhu's work has the extent of a Purana (पुराण). Its five books, (Kanda–कांड) called respectively विज्जाहर (Sk. विद्याधर), Ujjha (Sk. Ayodhya), Sundara, Jujiha (Sk. Yuddha) and Uttara contain a total of ninety cantos (sandhi), each of which is further divided into twelve to twenty smaller well-defined units, resembling verse-paragraphs) (kadavaka). This Kadavaka was peculiar to Apabhramsha (and Early New Indo-Aryan poetry and was eminently suitable for shaping narrative themes. The main body of the Kadavaka, consisting normally of eight rhymed distiches in some moraic metres, develops the topic and the concluding piece in a shorter metre, uniform for the whole canto, rounds it off or in addition, hints at the succeeding one.[1] Such a structure aided by run-on distichs and flexible metres, affords very good scope for narrative and episodical treatment, in contrast to the Sarga unit of the Sanskrit Mahakavya with its series of self-contained, exquisitely rounded off, semi-independent stanzas. Besides, the Apabhramsha Sandhi possessed the great quality of being recited or sung before an audience in pleasant melodies, with rhythmic and lyrical effects.

Of the ninety cantos of the Paumacariya the last eight were the work of Svayambhu's rather self-conscious son Tribhuvana, as the former for some unknown reason had left the epic incomplete. To Tribhuvana goes also the credit of completing his father's second work, the Ritthanemicariya and composing independently a poem called Pancamicariya (Sk. Pancamicarita)—to us, a mere name.

Svayambhu was quite honest in acknowledging his debt to his predecessors. For the structure of his epic he thanks the great poet Caturmukha, and for the subject matter and the poetic treatment of the Paumacariya he admits obligations to Ravishena (रविषेण), whose Padmacarita—alias Padmapurana (677-78 A. D.) in Sanskrit he closely follows. The Pauma cariya can aptly be described as a free and compressed Apabhramsha recast-cum-adaptation of the Padmacarita,[2] and yet there is ample evidence of Svayambhu's originality and poetic powers of a high order.

As a rule he holds to the thread of the narrative as found with Ravishena, which otherwise too, being fixed by tradition even in its minor details, permitted little invention or artistic designing and variation, insofar as its subject—matter was concerned and no poet of the period would even conceive of any departure from the sacred tradition. Regarding only the stylistic embellishments, descriptions and depiction of sentiment the poet enjoyed a measure of freedom and he could expatiate on particular incidents he took fancy for.

These limitations, notwithstanding, Svayambhu displays a keen artistic sense and prunes, rehandles or altogether parts company with his model to allow enough scope to his

1. This form of the Apabhramsha Kadavaka has been inherited by the Sufi Premakhyanakas and the famous Rama-Caritamanasa of Tulasidasa in Early Awadhi poetry.
2. Ravishena's Padmacarita, in its turn, is hardly more than a very close but considerably expanded Sanskrit rendering of Vimala Suri's Paumacariya.

poetic fancy. The vivid, racy and sensuous description of water sports in a fascinating setting of vernal scenery (canto 1) has been always recognised as a classic. Various battle scenes, some incidents of tense moments in the Anjana (अंजना) episode (cantos 17-19), penetrative sadness enveloping the telling scene of Ravana's cremation (canto 77) are a few of highly inspired passages, wherein Svayambhu's poetic genuius is seen to find an unhampered expression.

The Rithanemicariya :—

Svayambu's second voluminous epic, viz. Ritthanemicariya (Sk. *Arishtanemicarita*) also called Harivamsha-Purana deals with the favourite subject of the life-story of the twenty-second Tirthankara Arishtanemi along with the narrative of Krishna and the Pandavas in its Jain version. Barring a few extracts, the work is still unpublished. Its one hundred and twelve cantos (said to contain 1,937 Kadavakas and about 18,000 units of thirty two syllables) are distributed over four books : Jayava (Sk. Yadava), Kuru, Jujjha (Sk. Yuddha) and Uttara. Here too Svayambhu had several precedents. Vimalasuri and Vidagadha *in Prakrit*, Jinasena (c. 783-784 A. D.) in Sanskrit and Bhadra (or Dantibhadra, Bhadrashva ?),Govinda and Caturmukha in Apabhramsha appear to have written epics on the subject of Harivamsha before the ninth century. The portion of the Ritthanemicariya after the ninety-ninth Sandhi was written by Svayambu's son Tribhuvana and further, a few interpolations were made in the sixteenth century by an Apabhramsha poet Yashahkirti Bhattaraka of Gopacala (गोपाचल–modern Gwalior).

Of the several epics in the Sandhi-form written after Svayambhu on the same two subjects, particulars about a few are given below :—

Author	Work	Date	Remarks.
Dhavala	Harivamsha-purana	Not later than 10th Cent.	Contains 122 cantos.
Yashahkirti Bhattarka.	Pandupurana	1523.	Contains 34 Cantos.
Pandita Raidhu- (1)	Balabhadrapurana.	15th cent.	A Rama-epic
alias Simhasena (2)	Neminathacarita.		in 11 cantos.
Shrutakirti	Harivamshapurana	1551.	Contains 40 cantos.

These works testify to the living tradition and popularity of these themes even some seven centureis after Svayambhu.

Pushpadantat :—

From the works of Pushpadanta (Apabhramsha : Pupphayanta) alias Mammaiya (c. 957-972 A. D.) we come to know of two other subject—types treated in the Sandhi form. Pushpandanta was born of Brahmana parents that were later converted to Digamabara Jainism. He composed his three Apabhramsha poems under the patronsage of Bharata and his son Nanna who were successive ministers to the Rashtrakuta kings Krisna III (939-968 A. D.) and Khottigadeva (968-9 A. D.) ruling at Manyakheta (modern Malkhed in the Andhrapradesha). Svayambhu and his predecessors exploited the popular narratives of Rama andKrishna-cum-Pandavas, while Pushpadanta's poetic genius turned towards other and vaster regions of Jain mythology. According to it, there flourished in past sixtytheree dignitaries (महापुरुष. शलाकापुरुष),

who include twentyfour prophets (tirthankaras) twelve universal monarchs (cakrin), nine Vasu devas (heroes enjoying half the Status of a Cakrin), nine Baladevas (brothers to corresponding Vasudevas), and nine Prativasudevas (opponents of vasudevas). Lakshmana, Padma (or Rama and Ravana constitute the eighth and Krishna, Balabhadra and Jarasandha, the ninth trio of the groups of Vasudevas, Baladevas and Prativasudevas. The works giving an account of these sixty three great men are known as Mahapurana (the great puran) or Trishastimahapursa (or shalakapurusha)carita (Lives of Sixty three Great men, The earlier portion dealing with the life of R'shabha, the first prophet and Bharata, the first universal monarch,is called Adipuran, while the later portion containing the narratives of the rest of the great men is called Uttarapurana.

The Mahapurana :—

Before Pushpadanta the subject was already treated in Sanskrit and Prakrit. He was possibly first to write an epic on this in Apabhramsha. Of the 102 cantos of his magnusmopus named Mahapuran or Tisatthimahapurisagunalamkara (Sk. Trishastimahapurushagunalamkara), the first thirty seven make up to Adipurana, and the remaining the Uttarpurana. For the narrative Pushpadanta follows the Trishastilakshanamahapurana-samgraha (completed in 898 A. D.) of Jinasena and Gunabhadra in Sanskrit, besides the lost work of Kavi Parameshthin. Here too the whole frame of the narrative with all its incidents and details was rigidly fixed by tradition and the poet had to depend on the resources of his descriptive and stylistic abilities and Shastric learning for investing his theme with a literary status. This was one of the reasons why the Jaina poets inspite of the puranic character of their themes, were compelled to follow in their treatment the great tradition of the ornate Sanskrit epics and to lavish all the wealth of elaborate rhetoric and erudite learning on the thin frame of the narrative. Svayambhu expressly tells us in his Ritthanemicariya that he had laid under contribution Indra for grammar, Bharata for flavour (rasa), Vyasa for bulk, Pingala for prosody, Bhamaha and Dandin for rhetorics, Bana for rich and sonorous diction, Shriharsha for maturity of style and Caturmukha for the special metrical structure. Compared with Svayambhu, Pushpadanta draws, more upon the subtelities of rhetoric, abundance of metrical varieties and the treasures of traditional learning. Greater prosodic variation and the longer Kadavaka and Sandhi indicate a further elaboration of Sandhibandha as found with Pushapadanta.

Some portions of the cantos 4,12,17,46,52 and a few others from the Mahapurana can be cited as the choicest flowers of Pushpadanta's poetic genius. Cantos 69 to 79 recount in brief the Ramayana, Cantos 81 to 92 narrate the Jain Harivamsha, while the end portion deals with the lives of Parshva and Mahavira, respectively the twenty-third and twenty-fourth Tirthankaras of the jainas.

The Carita-Kavya :—

The other two poems of Pushpadanta, viz., the Nayakumaracariya(Sk. Nagakumaracarita) and the Jasaharacariya (Sk. Yasodharacarita) reveal that aside from the vast puranic themes the Sandhi form was employed also for the biographical narratives of famous persons of Jain mythology, legendry or traditional history. In its range and treatment the Carita-kavya or Katha-Kavya

reminds one of the Sanskrit Sarga-bandh-Kavya,though the Apabhramsha counterpart tends to have a shorter extent. In this case too Pushpadanta had before him several earlier models. From a stray reference or two we know the names of at least two such poems—the Suddhayacariya of Svayambhu and the Pancamicariya of his son, Tribhuvana.

The Nayakumaracariya narrates in nine cantos adventures of the hero Nagakumara (one of the twentyfour Kamadevas–'cupids'–of the Jain mythology) and his two powerful leutenants, Vyala and Mahavyala with the object of illustrating the fruits of observing the fast on Shripan cami (the fifth of Phalguna).

Similarly the object of Pushpadanta's third work,viz.Jasaharacariya (Sk.Yashodharacarita) is to illustrate the evil fruits of the sin of taking life through narrating in four cantos, the sotry of king Yashodhara of Ujjayini. Numerous works on these very subjects in Prakrit, Sanskrit, Apabhramsha and modern Indian languages before and after Pushpadanta testify to the great popularity of the Parvakathas with the Jainas.

Pushpadanta's mastery of the peotic craft, his matchless command of Apabhramsha language and his impressive erudition would entitle him to an honourable place among the great poets of classical India. At one place he has most aptly indicated his ideal of great poetry. It is to be resplendent with the figures of sound and sense, to have a delicate diction, harbour many sentiments and 'flavours', flow evenly with excellent sense, display numerous arts and sciences, illustrate the wealth of grammar and metres and be inspired by the sacred canon. The best of Apabhramsha literature appears to have attempted to realize this poetic ideal. but probably none succeeded as much as Pushpadanta.

The Carita-Kavya after Puspadanta.

After Pushpadanta, we get numerous Caritakavyas in the Sandhi form, but most of them are known so far only from manuscripts. Of the few published, the Bhavisattakaha of Dhanapala (probably before the 12th c. A. D.) is the most important. This poem too is a Parvakatha in twenty-two cantos. It recounts in a relatively simple style the romantic story of Bhavishyadatta to illustrate the fruits of observing a fast on Shrutapancami or Jnanapancami (ज्ञानपंचमी) which falls on the fifth of Kartika. The story tells us of a merchant's son Bhavishyadatta, who, along with his mother, was discarded for no reason by his father, who then married another wife. When grown up, once he went on a voyage in the company of his younger step-brother, who befrauded and deserted him twice over on a lonely island. But ultimately, thanks to his mother's observing the fast of Shrutapancami, all his woes and difficulties came to an end, he rose to the crest of fortune and for helping the king defeat an agressor was rewarded with a share in the kingom. Having died he underwent a few more births and eventually in his fourth birth he attained Omniscience by viitue of having observed the Shrutapancami fast.

Dhanapala's Bhavisattakaha had at least two literature forbears : Tribhuvana's Pancamicariya in Apabhramsha and Maheshvara's Nanapancamikaha (णाणपंचमीकहा) in Prakrit. After Dhanapala we have Shridhara's Apabhramsha poem Bhavisayatta-cariya (Sk. Bhavishyadatta-carita) in six cantos, completed in 1174 A. D. and still unpublished.

The Karakandacariya of Kanakamara treats in ten cantos the life story of a Pratyeka buddha (self-enlightened saint). The story of Karakanda figures also in the Buddhist literature.

Paumasiri-cariya (Sk. Padmashri-carita) of Dhahila (before the 12th C.A. D.) illustrates in four cantos the evil fruits of deceitful acts by narrating the story of Padmashri in successive births.

The great bulk, however, of the Carita-Kavyas of the Sandhi-bandha variety has not yet appeared in print. We cannot do here more than append a list which is far from exhaustive. The works narrate the biography either of some Tirthankara or of some notable figure of Jain mythology or history to illustrate some point of Jain belief, religious practice or pious conduct.

The Kathakosha Type :—

The Sandhi-form serves yet another class of subjects, viz.,the one characterized by a chain of narratives woven round some particular body of religious or ethical beliefs, dogmas or practices The Sayalavihi-vihana-kavva (Sk. Sakala-vidhi-vidhana-kavya) of Nayanandin (1044 A.D.) in two parts respectively of canots 56 and 58, and the Kahakosha (Sk. Kathakosa) of Shricandra (11th Cent. A. D.) in 53 canots narrate stories associated with the verses of the Bhagavati Aradhana(भगवती अराधना), the well-known pro-canonical Digambara work in Jain Shauraseni, dealing with monachism. Nayanandin and Shricandra appear to have based their works on similar previous Kathakoshas in Prakrit and Sanskrit connected with the Aradhana.

Here are also to be included the Damsanakaharayana-kosa (Sk. Darshana-katha-ratna-kosha) of Shricandra (1064 A. D.) in 21 cantos, the Dhammaparikkha (Sk. Dharmapariksha) of Harishena (988 A. D.) in 11 cantos, the Chakkammovaesa (Sk. shatkarmopadesha) of Amarakirti (1191 A. D.) in 14 cantos, and possibly the Paramitthipayasasara (Sk. Parameshthiprakashasar–परमेष्ठिप्रकाशसार) of Shrutakirti (1497 A.D.) in 7 canots, all of which so far remain to be published.

Of these the Dhammaparikkha is specially interesting on account of its remarkable subject-matter. It tells us how Manovega converts his friend Pavanavega to Jainism by effectively demonstrating the absurdity of the stories of the Brahminical Puranas. Quite an effective technique is employed for the purpose. Manovega narrates in the presence of Pavanavega all sorts of incredible and fantastic stories about himself before an assembly of the Brahmanas, and when they refuse to believe him, he justifies himself by quoting equally absurd incidents from the great epics and Puranas. Harishena's work was based on a Prakrit original and was succeeded by several similar compositions in Sanskrit and other languages. Haribhadra's Dhurtakhyana (धूर्ताख्यान–eighth Cent. A. D.) in Prakrit, having a similar purpose and motif was the earliest finished work of this type, though an unrefined version was known even earlier to Haribhadra.

The foregoing brief survey would suffice to give an idea of the importance and richness of the Sandhibandha in Apabhramsha literature.

The Rasa-bandha :—

The second important genre in Apabhramsha literature was the Rasabandha, which enjoyed the same vogue as the Sandhibandha. It was probably sort of a lyrical composition of moderate length (reminding us of the Sanskrit Khandakavya). In one of its forms it employed

one traditionally fixed metre for the general body of the poem and a variety of choice metres for the purpose of variation.

In the face of its popularity as can be gathered from definitions and extolling reference of the earliest Prakrit prosodists (Svayambhu proclaims it as a veritable eliscir to the gatherings of the dilettanti), it is very strange that not a single name of any of these early Rasakas, let alone their actual specimens or excerpts, is handed down to us. And for the later times too, we have very little to relieve our ignorance about this important class of Apabhramsha poems. It seems that there were even some Prakrit and Sanskrit Rasas. But none has come to light so far. Having undergone continuous and basic transformation the Rasaka persisted in some of the New Indo-Aryan literatures down to the end of the nineteenth century (and as Rasas, it is even currently a popular poetic form of composition). There are hundreds of Rasas in early Gujarati and Rajasthani, most of the preserved ones being works of the Jaina authors. But for Apabhramsha all we have got is a tenth century reference to one Ambadevaya-rasa, (अम्बादेवय रास) a twelfth century reference to one Manikya-prastarika-pratibaddha-rasa, a unique thirteenth century poem, Samdesha-rasaka. from the pen of a Muslim author, and one small didactic Jain-Rasa of the twelfth century devoid of any literary significance.

The Samdesha-rasaka of Abdula Rahamana, is a charming Duta-kavya (दूत-काव्य) of 223 stanzas distributed over three prakramas or sections. But this division rests entirely on the development of the theme. After the prefatory section, we are introduced in the section to a Virahini's (विरहणी) chance meeting with a traveller, through whom she sends a message to her husband who has failed to return from abroad at the promised date. In spite of the overworked theme of love-in-separation, the poet has succeeded in importing to it some genuine freshness and a very facile handling of diction and metre gets the lion's share of this credit. In using one metre for the general frame and more than twenty pupular metres for variation, the Samdesharasaka supplies us a typical and the only preserved-example of a genuine Rasabandha. That it is from the ten of a Muslim poet further adds to its uniqueness.

The Upadesarasayana-rasa of Jinadattasuri (1076--1155 A. D.) is a sermon in eighty verses praising the genuine spiritual guide and religious practices and denouncing the spurious ones. It is not a real represantative of a Rasaka poem, but a late specimen of a popular literary type pressed in the service of religion. In fact, as it is straight way composed in one single metre without any structural arrangement of parts that usually characterize the Rasaka form, it could as well go under the next section.

The Unstructured Types :—

Besides the above two types with a definite structure which required the literary subject-matter to be moulded and organized in a particular from, Apabhramsha also used the 'unstructured' verse form, for long and short themes.

The Carita Kavya :—

For the epic narrative, the Sandhibandha was not obligatory, as can be seen from a preserved instance or two of extensive narrative poems using only one metre continously from

start to finish. This practice is known from Prakrit literature, Gaudavaho being a typical example. Haribhadra's Neminaha-cariya (Sk. Neminatha-carita), finished in 1150 A. D. has an extent of 8032 units of thirtytwo syllables (granthagra ग्रन्थाग्र) and is throughout composed in a mixed type of metre called Radda (रड्डा), which consists of two units : a five-lined unit in the intricate Matra (मात्रा) metre with a four—lined unit in the Doha metre tacked on to it. This type does not appear to have any formal divisions. One Govinda preceded Haribhadra by at least three centuries. From citations in the Svayambhucchandas of Svayambhu and from other sources Govinda appears to have an epic on the life of Neminatha, in different varieties of the Radda metre.

Haribhadra's epic, as its title indicates, narrates the life of Neminatha, along with the famous story-cycle of the Jain Harivamsha. Like his predecessors, Svyambhu and Pushpadanta and numerous others, Haribhadra has an ornate style, revealing a deep influence of the standardized conventions of the Sanskrit ornate Kavya in its later form.

Religious—didactic and Mystical works :—

Though Apabhramsha was very rich in narrative (and probably, lyrical) poetry, it does not mean that it was quite so lacking in other poetic varieties. Besides some miner works of a religious—didactic character, there are a few works of mystical spirit and contents which testify to the cultivation of spiritual poetry in Apabhramsha.

Of these the Paramappa—payasa (Sk. Paramatmaprakasha परमात्म-प्रकाश) and Yogasara of Yogindudeva (Ap. Joindu) are the most important. The Paramappapayasa is divided into two sections. The first section gives in 123 Dohas a free rambling exposition of three types of selves—the external self, the internal self and the supreme self. The second section of 214 stanzas, mostly in the Doha metre, deals with the topics of liberation and the means thereto. Yogindudeva preaches to the mystic aspirant (Yogi) the supreme importance of self realization which can be achieved by renouncing sensual pleasures, by adhering to the inner spirit rather than the mere external shell of religion, by purifying the mind, by meditating on the true nature of the self.

His Yogasara in 108 stanzas mostly Dohas, purports to awaken and enlighten souls disgusted with wandering in the rounds—of births and aspiring for liberation. In form, style and contents it has a family-likeness with the previous collection.

The same remark applies to the Doha—pahuda (Sk. Doha—prabhrita) of Ramasimha (possibly before the 12th cent.) which in 212 stanzas stresses the same mystic—moral outlook that distinguishes the spirit from the body and regards reatization of the identity of the individual spirit and the superspirit as the *summum bonum* of the spiritual aspirant.

These three works reveal a stock of ideas, terms and symbolisms that is commonly shared by them with Brahminical and Buddhistic works of mysticism. Together they make as a noteworthy Jain contribution to Indian mystical literature.

Buddhists too, like the Jainas, had some of their mystical works in Apabhramsha. Their authors were Siddhas of the Tantric sects of Vajrayana and Sah·ज yana deriving from Maha-

yana Buddhism.[1] Of these the Doha—Koshas of Kanha and Saraha (possibly c. 10th cent.) are more important. Opposition to ritualism and form, importance of the Guru, inner purity, attainment of Shunyata (शून्यता) as the highest goal—these are the favourite subjects of the Doha-koshas, treated in a direct and penetrating diction of coloquial force. As rare works of Buddhist Apabhramsha literature and more as the root-sources of the spirit, language and mode of expression so familiar to us from the literature of medieval saints, these mystical works are invaluable.

Of the minor religious—diadactic works we may mention a few. The Savayadhammadoha (S. K. Shravakadharmadoha–श्रावकधर्मदोहा) alias Navakarashravakacara (नवकार-श्रावकाचार) of Lakshmidhara (before 16th century A. D.), which occupies itself with explaining in a popular way the religious duties of a Jain householder ; The Samjamamanjari of Maheshvara (possibly 13th century A. D.), small poem in 35 Doha verses on self-restraint ; the Carcari (चर्चरी) and Kalamarupakulaka (कालस्वरूप-कुलक) of Jinadatta-suri (1076—1152 A. D.); and various devotional hymns like the Satyapuramandana-Mahaviratsaha (सत्यपुरमंडन-महावीरोत्साह) of Dhanapala (11th Cent. A. D.), the Jayatihuana (जयतिहुअण) of Abhayadeva (11th cent. A. D.), etc.

Miscellaneous works and Later tendencies :—

Besides independent works, small and large sections in Apabhramsha occur in numerous Jain Prakrit and Sanskrit works and commentarial literature Their number is far from negligible. To cite only a few such works :—

स्वयम्भूच्छन्द	of	स्वयम्भू	(before 10th cent A. D.)
सरस्वतीकण्ठाभरण	of	भोज	(11th Cent. A. D.
ऋषभचरित्र	of	वर्धमान	(1109 A. D.)
शान्तिनाथ चरित	of	देवचन्द्र	(1109 A. D.)
सिद्धहेम	of	हेमचन्द्र	(12 th cent.)
कुमारपालचरित	of	हेमचन्द्र	"
छन्दोनुशासन	of	हेमचन्द्र	"
उपदेशमाला–दोघट्टीवृत्ति	of	रत्नप्रभ	(1182 A. D.)
कुमारपालप्रतिबोध	of	सोमप्रभ	(1185 A. D.)
संजममंजरी वृत्ति	of	हेमहंस शिष्य	(before 15th cent. A. D.)

The Sandhi :—

In the thirteenth century a new form-type for short poems is developed. These Sandhi poems (to be clearly distinguished from the Sandhibandha treated earlier) have some religious-didactic or narrative topic mostly from the Agama or earlier Dharmakatha literature as their subject, which they develop in a number of Kadavakas The Antaramga-Sandhi (अन्तरंग-संधि) of Ratnaprabha (13th century A. D.), Bhavana-sandhi of Jayadeva Gani, Cauaramga-sandhi (चउरंग-संधि), Mayanareha-sandhi (मयणरेहा-संधि–1241 A. D.) and several other Sandhis of Jinaprabha (13th cent. A. D.) may be named as the typical instances.

---

1. The Buddhist sect Sammatiya is said to have its sacred literature in Apabhramsha. But no such work has yet come to light.

The language of many of the Apabhramsha works after the 13th century reveal an ever-increasing influence of the contemporary speech-forms, some of which were already being employed for literary purposes, though, to start with, these new literatures were but further extensions of the Apabhramsha literary types and trends. This influence of the spoken idiom is felt even in some of the illustrative verses cited in the Apabhramsha section of Hemacandra's grammar, and conversely, the Apabhramsha tradition in form, style and diction continues in literature with diminishing vigour up to the 15th century or, in some cases, even later.

Concluding Remarks :—

From the preceding broad survey it would be seen clearly that Apabhramsha can boast of a considerably rich and varied literature. Most of the known Apabhramsha authors were Jainas and the lion's share goes to the Digambara Jainas. The high artistic traditions of the classical Sanskrit poetry were ably and creditably maintained by the Apabhramsha poets, their inescapable didacticism notwithstanding. Of course in accord with the atmosphere and spirit of their times poetic expression had become further elaborate, pedantic and found of display. But it cannot be denied that Svayambhu, Pushpadanta (and possibly Caturmukha) had a stature equalling that of any famous authors of the Sanskrit Mahakavya. Their works have a classical eminence. The mystic verses of Yogindu, Kanha and Saraha too with their direct and penetrating spiritual note, as also the lyrical appeal of the Samdesharasaka assure them of a venerable place in Ancient Indian literature.

The Four Niksepas

(A Dissertation on Language and reality)

[Dr. Nathmal Tatia M. A., D. Litt.
Professor of Research in Buddhist Philosophy, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda]

1. Introductory :—

The schools of Indian philosophy grew up as commentaries on texts which recorded the religious experiences and philosophical insights of the ancient seers. And the commentators had to devise techniques of exposition and also interpret texts in the light of the criticisms offered by their rivals in the field. The doctrine of four-fold निक्षेप is one such technique of exposition of words as well as interpretation of the nature of reality. Etymologically, the term stands for 'putting together, or 'classifying,' but this meaning can hardly be recognized in the developed forms of the concept of निक्षेप. We can however discern four distinct phases of the development of the doctrine in the exegetical and logical literature of the Jainas viz., (i) निक्षेप as a doctrine of verbal usage, (ii) निक्षेप as a doctrine of aspects of reality, (iii) नाम निक्षेप as entailing a doctrine of import of words and (iv) निक्षेप as a critique of absolutisms. Accordingly, our treatment of the topic also would fall under four sections, each dealing with one of the above four phases. The subject is obviously very wide in scope, and cannot be treated fully in a small dissertation like this. We should therefore, try to study the problem only in broad outline, ignoring subtle details and polemics. In fact, the dissertation should form the subject matter of an independent monograph. The doctrine developed as a critique of a number of important theories regarding language and reality, and an exhaustive evaluation of the different phases of the doctrine involves a critical estimate of those theories. This is obviously a stupendous task which can be undertaken only by a patient scholar who is equally at home in all those philosopical schools which developed in our country.

2. निक्षेप- A Doctrine of verbal Usage:—

The Jaina exegetists evolved the doctrine of निक्षेप for the determination of the meaning of a word in its different usages. (I) A word may be used simply as a demonstrative symbol in order to identify a thing or a person. Thus the word इन्द्र can be used as the name of a particular person without the least reference to any king of the heaven, whom the word was originally conceived to refer to. Such usage is classed under what is called नाम-निक्षेप or the usage of a word as a proper noun or name (नाम). (II) The same word can again be used to stand for an image of a king of the heaven, erected in order to evoke feelings of devotion and for worship. Such usage is put under what is known as स्थापना-निक्षेप or the usage of a word for a representative form

(स्थापना), imaginary or real, of the person or thing which is the ultimate referend of the word. (III) The word इन्द्र may again be used to stand for a person who once enjoyed the status of a king of the heaven or is going to enjoy the same in future, and such usage falls under the द्रव्य-निक्षेप or the usage of a word for the material cause or the substance (द्रव्य) of the person or the thing for which the word really stands. (VI) Lastly, the same word इन्द्र may be used to refer to the actual glory and magnificence (which is the etymological meaning of the word) of a king of the heaven. And this is an instance of the भाव-निक्षेप or the usage of a word to connote the 'living, modes (भाव) of a thing or a person, which (modes) follow from the etymologies or the peculiar associations of the word itself.

3. निक्षेप–A Doctrine of Aspects of Reality:—

The Jain Philosophers discovered in this doctrine of the exegetists a complete view of reality. The name (नाम), the form (स्थापना), the substance (द्रव्य) and the 'living' modes (भाव) constitute the whole of a real. The name must be an internal characteristic (धर्म) of a thing inasmuch as it has an intrinsic expressiveness with regard to it. Similarly, form is a common characteristic of all entities including our cognitions which derive it from their objects. A real must also have some substance as its core. And as regards the 'living' modes, they prove the very existence of the thing and as such require no proof for themselves.

This exposition of the doctrine is obviously a complete reformation and was done when the age of exegesis was gradually giving way to an epoch of independent thinking.

4. नाम-निक्षेप– entails a Doctrine of Import of words:—

Thirdly, the Jaina logician विद्यानंद developed a full-fledged theory of import of words in connection with his exposition of the concept of नाम-निक्षेप.

(a). नाम means a name, that is, a proper noun, and the wish of the speaker (वक्तुर-भिप्रायः) is the sole determinant of its usage for a particular thing or a person. There are also other factors—viz., universals, qualities, actions and substantives—which determine the usage of words. Thus the word 'cow' refers to a particular cow through the universal 'cowhood' which determines the meaning of the word. Similarly, the word 'white' refers to a white thing through 'whiteness' which is a quality ; the word 'moves' to a thing moving through 'motion' which is an aspect of action ; and the word 'wealthy' to a rich man because he possesses 'wealth' which is a substantive. The first three words, instanced above, respectively fall under the parts of speech known as common noun, adjective and verb. The word 'wealthy' is an instance of an adjective which is characterised by its reference to another substantive. What distinguishes a proper noun or name from other words is its determinant which is merely a sort of fiat of the speaker. A proper noun moreover is self-contained in the sense that it indicates its referend directly without reference to anything else.

(b). विद्यानंद notes a view which regarded all words as symbols arbitrarily devised by man to stand for ultimate reals. The universals, qualities, etc., are only subjective

constructions without any objective reality. But the position is untenable inasmuch as the universals, qualities, etc., are distinct determinants of the application of words as shown above. Universals must be accepted as real, for otherwise the fact that the word 'cow' refers to a particular cow through the universal 'cowhood' will remain unexplained.[1] The claims of qualities, actions and substantives as determinants of the application of words to their referends can be similarly established. As regards those words which stand for the determinants—viz., universals, qualities, actions and substantives—themselves, they are pure names (devised by the speaker) inasmuch as an ultimate universal cannot have another universal as its determinant, nor can a quality be determined through another quality, and so on.

(c). There were again thinkers (the मीमांसकs) who upheld that the words stand for universals alone, and cannot refer to anything else.[2] Thus the word 'cow' stands for 'cowhood' which is directly conjured up as soon as one hears the word. Similarly, the word 'white' conjures up 'whiteness', and the word 'moves' conjures up 'motion'.[3] Even the proper name "डित्थ" (which is a linguistic nonsense) stands for the vertical universal (viz., personality), which runs through the life history of the person, so named, as a child, a boy, a youth, and so on.[4] विद्यानंद criticizes the position as only a half truth, because it ignores the particulars without which universals would be void concepts.

1. Cf. "The question of the "reality of universals" receives a certain kind of answer. They are real at least in the speech community, whatever other reality they may or may not have. They are the *sine qua non* of there being any linguistic meaning and therefore of any communication whatsoever. A word intends an object directly, but it always intends a universal indirectly, and these two intentions can never be separated. This situation may be put in the following way. We cannot look at a tall man, let us say, and give the result of our looking in words, without *intuiting* the seen man as a *man*. We cannot look at this man and give the result of our looking in words without intuiting him as *tall*. The universal is then not that which we see, but that through which we see." Urban : Language and Reality, p. 142.
2. Cf. "Nouns, verbs, adjectives, are all in a sense names and an element of universality inheres in them all. Lotze insists that this first universal is intuitive, is of a very different character from the ordinary class concepts of logic, and is indeed presupposed by them. Perception itself contains this universal." Ibid, p. 118
3. Cf. "There is a sense in which everything denoted by language is universalized. Whatever particular sign is named, the very act of naming, of speaking, transforms and universalizes it. To give the name "cold" to any particular experience not only takes it out of the realm of the merely individual and particular, but also takes it out of the realm of the subjective—objectifies it" —Ibid. p. 117.
4. The following, in continuation of footnote 1, may be compared : "This is true even of the singular term. Thus in the expression 'Nansen skates,' Nansen is a grammatical proper noun and may therefore be supposed to stand for a particular and not a universal.

(d). विद्यानंद also records a number of views which recognised pure immutable substance (द्रव्य), in some form or other, as the import of words. Thus there were thinkers who accepted immutable discrete substance-units (नाना नित्यद्रव्यम्) as the meaning of words. There were again others who regarded only one unitary substance (एकम् एव प्रधानम्) as the ultimate referend of words. A third group of thinkers upheld the view that words can at best signify there own selves (स्वरूप-मात्रस्य प्रकाशकाः) even as a thunder signifies nothing but its own sound. There were yet others who regarded the non-dual Self (पुरुषाद्वैतम्) the ultimate reference of words. All these views have been discussed and criticized in detail by विद्यानंद, and we reserve the topic for a separate paper.

(e). A class of thinkers proposed the view that words indicate only individuals. And the individuals, thus known, reveal the universals under which they fall. This revelation which is immediate and necessary, helps us to identify the desired individual on future occasions. विद्यानंद rejects the view on the ground that when the individual, indicated by a word, necessarily and immediatly reveals the relevant universal, it is better to ascribe the power of revelation of the universal to the word itself.

(f). विद्यानंद records another view which asserts particular configuration or shapes (आकार) alone as the meaning of words. He, however, finds it untenable on the same ground as was advanced against the upholders of universals as the meaning of words.

(g). Finally, we come to the Fluxist Buddhists who advocated the doctrine of अन्यपोह which spelled a complete paralysis of speech. They regarded discrete momentary entities only as real. Such entities are quite incapable of being expressed in words. And consequently words were conceived to have only the negative function of exclusion of a thing from what it is not (अन्यपोह.). Thus words do not stand for anything real, but only for an imaginary universe of things (विकल्प) which pretends to exclude the real forms what it is not. विद्यानंद rejects the view on the ground that it ignores the patent fact that negation and affirmation go together and both are fundamental.

(h). The Jaina logician's view of the problem is conformable to his non-absolutistic position in philosophy. A real is both particular and universal in one, and consequently a word, in order to be an adequate expression for reality, must stand for both. The predominance of the universal over the particular in one case, and the predominance of the latter over the former in another are purely expediential.

5. निक्षेप—A Critique of Absolutisms:—

5. The Jaina philosopher accepts as shown in section 3, name, form, substance and

But, as Stout points out, it is really a universal. Nansen perceived must be Nansen eating or Nansen sleeping or Nansen skating. The individual Nansen is a universal, as a connecting link of his own manifold and varying states, relations, qualities and activities. We cannot *see* the individual Nansen except through the universal"—Ibid p. 142.

modes as the four essential aspects of a real and records his disagreement with those who regard only one of them as the nature of reality. As a result, the doctrine of निक्षेप is developed into a critique of the following four types of absolutism—viz., (i) Verbal Monism (शब्दाद्वैत) which regards नाम (name, word) alone as Reality; (ii) Illusionism (विभ्रमैकान्तवाद) which accepts स्थापना (कल्पना-*illusion*) alone as the truth ; (iii) Substantialism (द्रव्याद्वैत) which postulates द्रव्य (unitary substance) alone as Reality; and (iv) the absolutistic philosophy which accepts भावs (transitory states and modes) alone as real. The logical literature of the Jainas contains a full discussion of these absolutisms and an intensive study of it is a desideratum.

Nayas—ways of Approach and Observation

[Dr. Nathmal Tatia, M.A., D. Litt., Professor of Research in Buddhist Philosophy,
Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda]

The Jaina philosopher has made some astonishingly original contributions in the field of logic and epistemology, which have not been properly assessed and appreciated by the rival schools of Indian thought. Among those I here propose to deal with is a problem which has living interest not only for the professional philosophers, but also for practical men of the world. The problem will have interest for the journalists, politicians and administrators who have to arrive at a decision and chalk out a line of action in the midst of conflicting views and demands actuated by diverse interests and inclinations. This problem is called Nayas—ways of approach and observation. Even when the problem is a self—identical singular question of fact or act, persons of different interests and inclinations are bound to study it in different lights and each will claim the infallibility and imperative necessity of his point of view being accepted and implemented. It is not necessary that all of them will be erroneous or misdirected. It is quite possible that there is truth in each of these conflicting presentations. It is a question of paramount importance that these different views and conflicting assertions and truth-claims should be assessed at their real worth and assigned their proper value in an impartial estimation of the situation confronting a thinker.

The Jaina philosopher asserts that each fact, however trivial it may appear, can be thoroughly understood in the context of the entire reality and only in the light of its interconnection with the rest of reality. A real is possessed of an infinite number of aspects and attributes which can be thoroughly comprehended only by a person who is directly acquainted with the whole order of reality, in one word, who is omniscient. But this does not mean that the Jaina here offers a counsel of perfection which amounts to a counsel of despair fot a person like us whose resources are limited. Though the full knowledge of all the possible characteristics even of a particle of dust cannot be claimed by anyone of us, the knowledge of one or the other attribute can be attained if we are dsipassionate and free from bias for one angle of vision and prepared for approaching it from other stand points. The standpoints are called Nayas. A Naya is a viewpoint and way of approach from which a person looks at the particular aspect of a thing impelled by a consideration which is in its turn determined by his interest, inclination and aesthetic, intellectual as well as moral equipment. It is entailed by our mental constitution and the exigencies of the human understanding that we should isolate one aspect of the reality and concentrate upon it. There is nothing to impune its validity or expediency provided it does not make us blind or hostile to the other aspects which present themselves to other viewpoints. The conflict becomes irreconcilable when the advocate of a particular aspect develops a fanatic zeal and refuses to view it from other angles of vision. The rivalry and antagonism among philo-

sophers, followers of different religious creeds and also politicians derive their genesis from this exclusive emphasis upon a particular glimpse of the truth.

As we are interested in the logical problem, we select examples of philosophical interest to drive home the truth of our position. An entity can be viewed as possessed of diverse characteristics as they are unfolded to different ways of approach. For instance, a pen is an existant fact and this shows that it has the character of existence which it shares in common with all other entities. Again, it may be regarded as a pen possessed of penhood which it shares with other pens. Again it is found to possess a distinctive individuality which distinguishes it from all other things—pens and not-pens. Now the first character of existence is entirely devoid of diversity. The second character is diverse and unitive. It is diverse from not-pen and is the unitive common character of all pens. So it may be called generic-cum-specific. The third is entirely specific as it belongs to the particular pen. The pen is thus found to possess an entirely generic (अविशुद्ध) an entirely specific (विशुद्ध) and generic-cum-specific (विशुद्धाविशुद्ध) character. None of these is to be dismissed as an untrue estimation of the character of the pen. This truth is also attested in ordinary assertions of workaday life. Asked about his residence a man may observe that his residence is in Asia or India or Bengal or Calcutta or Chowringhee or a particular house with a particular number. Ultimately he may observe for the sake of exactitude that as a soul he lives within his own body. Now all these observations are true though the first statement presents a broadly generalized concept and the last the most specific one, the intermediate locations representing graduated scale of specificition. This way of approach has been called Naigama Naya—the way of pantoscopic observation.

Now all these different traits are present and real. The philosophers of the न्यायवैशेषिक school approach reality from this point of view and the result is the discovery of these multiple traits varying in the scale of generalization down to the ultimate limit of specialized content which does not admit of any unitive common bond. The fallacy of this approach, according to the Jaina philosopher, consists in regarding these diverse traits as numerically and qualitatively different from one another and also from the substratum in which they are embodied The Jaina philosopher admits the reality of these distinctive traits but insists upon their integration in a concrete - real, which is incompatible with their absolute otherness and diversity They are necessarily bound with the substratum and one another only by virtue of their being related by way of identity-cum-difference While appreciating the acuteness of the observation of the philosophers of the न्यायवैशेषिक school, he accuses them of abstractionist outlook which prevents the consideration of the unitive bond subsisting *interse.*'

The second way of approach is called synthetic vision which ignores the concrete entity in which the unity manifests itself. Now, a concrete entity is possessed of generic, generic-cum-specific and purely specific characteristics. The most generalized character which any entity exhibits is existence which is also the necessary characteristic of all existent

facts. It is creditable for the philosopher who discovers the unitive bond in the diversity of multiple characteristics. But when he regards this as the sole and absolute characteristic of reality and dismisses the diverse attributes as unreal appearance, swayed by the dictates of formal logic, he is held guilty of extremism and exclusiveness of outlook. The Vedantist of the monistic school has approached reality from this angle of vision and arrived at the conclusion that existence is the only character of reality. The diverse characters such as substantiality, cowhood and the shape, magnitude, colour etc. are dismissed as unreal appearance on the ground that they cannot claim reality if they be other than existence. And the only reality they can claim is due to their identity with existence. This facile way of condemning the plain testimony of experience and the preferential treatment of a part of its content are regarded by the Jaina philosopher as the result of this way of approach and observation. If, however, a person stops at this discovery of a common bond and asserts it to be the character of reality without any commitment regarding the other characteristics he will not be guilty of an aberration. Certainly the knowledge of a slice of reality cannot be false unless the fanaticism of the observer makes it the sole and sufficient character of it. This is called Sangraha Naya—the synthetic approach and observation.

All extremism is by its very nature bound to create a reaction in the opposite direction. This has been called the dialectic movement of thought by Hegel. An extremistic assertion is compelled by the dialectic of its nature to pass into its opposite. The purely monistic outlook as exemplified in the aforesaid approach and angle of vision finds itself confronted by its diametrically opposite point of view which is called व्यवहार-नय— the analytic and particularistic approach. The exclusively synthetic approach culminates in positing pure being as the only reality. But pure being is equivalent to non-being because both of them have no character and are as such indistinguishable. It may sound paradoxical that being and non-being should be regarded as identical. But the paradox will disappear if one calmly reflects on both. It is generally supposed that pure being represents plenitude of wealth and non-being stands for absolute poverty. But both are abstractions, pure and simple. And when one thinks that being is something positive and affirmative as opposed to the negativity of non-being, one has before one's mind the idea of some concrete real. A pure universal is only an empty idea if it is divorced from concrete facts of experience. What we experience is always a concrete individual and the so-called universal is only an ideal abstraction. Whatever has no individuality of its own is a chimera. The sky-flower, a barren woman's son, a mare's nest are only names. They are never perceived by anybody. It is only individuals—say a pen, a table, a jar, a coat-that we happen to observe.

Moreover, the criterion of reality is found in causal efficiency. A universal *ex-hypothesi* has no causal efficiency. It is the individual cow that yields milk and not the so-called cowhood. It is the pen that writes and not penhood. The so-called universals are

only hypostatized concepts which pass for reals only because the mental inertia of the average man prevents him from the labour of judging their worth. Not only the verdict of experience is against these universals but also logic confutes their reality. Well, is the universal different from the particulars or identical with them ? If it be identical, then it becomes the individual only, and if it be different it transpires to be an illusory fiction just like the ass's horn. A universal unrelated to individuals is an unthinkable concept, a mere name, an empty nonsense. Well, the opponent swears by the tree-universal or cow-universal or the pen-universal, but what is the tree-universal apart from the trees ? If it be different from the trees it will be the negation of the tree and so, like the jar or pen, will cease to have any connection with the tree. No honest thinker can think of a tree which is not the oak or the mango or the teak etc. Nobody can conceive of a triangle which is neither equilateral nor isosceles nor scalene. Experience is the proof of the existence of a thing, and not pure thought. Experience always confronts individuals and not universals. A universal without an individual is an unperceived fact. This analytic empirical approach is sponsored by the nominalists and conceptualists. The Jaina philosopher convicts it of extremism because it puts the telescope on the blind eye like Nelson. The synthetic unity among the particulars of a class which renders classification possible cannot be ignored. Of course, the absolute identity of the universals in different individuals is not endorsed by the Jaina philosopher. But he does not repudiate the universal as an unfounded concept. The universal is an empirical concept and must be given a status in the scheme of reality. The close resemblance of the individuals of a class is too pronounced and patent a fact to be dismissed without incurring the charge of infidelity to experience.

Now the particularistic approach which takes delight in the analysis of a real into particular components cannot stop short at the substantive individuals. And if the individual be regarded as an enduring and abiding entity persisting through the past, present and future, it amounts to the assertion of a universal in another way. The past is defunct and the future is unborn. And if experience be the proof of the existence of a thing, the past and future existence of a fact must be rejected as the real traits of the individuals. What we perceive is the present and so it is the present that can be real. Furthermore, the past has no casual efficiency and so also the future. The real tree is the present one which exercises casual efficiency. The past tree does not serve any purpose or give any advantage or disadvantage. So logical consistency demands that we should regard only that as real which is existent in the present moment. This line of approach has been pursued by the Buddhist Fluxist who declares all reals to be momentary in duration.

This approach has been called ऋजुसूत्रनय, that is, the approach which gives the straight and direct glimpse of the thing. The present is the real character of the individual. The past and future determinations are as alien to it as the character of other entities. It, of course does not consider the differences of name or of gender and number thereof as

the determination of the real individual. And so these differences of expression do not affect the individuality of the thing.

The advocate of the next Naya goes one step further in the process of particularization. He agrees with the advocate of the previous approach in the assertion that the present alone is real. But as the real is expressed and characterized by work and words are significant and not unmeaning symbols, the real must be understood in the light of the connotation of the term that stands for it. Each term designates an action, being derived from a verbal root, and it is this action which stamps the fact meant with its distinctive character. And so the word घट (a jar) which is derived from the √घट 'to exert' stands for the thing which is capable of action viz. drawing water etc. This is the case with all words. The king is one who is possessed of sovereign power. If a man is called by the name 'king,' it has not the meaning of the word 'king'. Similarly the portrait or the statue of a man is loosely identified with the man. The heir apparent to the throne is addressed by the Sycophants 'Your Majesty'. These are all unmeaning expressions because they do not possess the function which the word connotes. Of course this constitutes the difference of the Naya from the previous one.

This view also maintains that the connotation of the terms is bound to differ if they differ in gender and number. The terms with different number and gender cannot be identical. They are as different as their antonyms. The verbal expression is not an external label but has a definite connotation which is bound to differ when the number or gender differs. Man and Woman are different because they differ in gender. It is expressive of an entitative difference. Of course the advocate of this Naya makes concession in favour of synonyms. The synonyms have different connotation no doubt, but as the denotation is identical the reality is not made different by them. The other terms only signify the different attributes and functions which however belong to the same substratum. This is called शब्द-नय—the Verbalistic approach.

The next Naya is called समभिरूढ which goes another step further in the process of specification by identifying the etymological meaning (व्युत्पत्तिनिमित्त) with the real meaning (प्रवृत्तिनिमित्त). The advocate of this line of approach maintains that the meanings of words must differ with the difference of words. Each word has got a distinctive connotation of its own. So there can be no synonyms in the true sense of the term. Well, the jar is called घट, कुट, and also कुम्भ in sanskrit. They are derived from different radicals and each of them has got a distinctive meaning. Thus the घट, stands for a particular action ; √कुट stands for crookedness ; and कुम्भ which is derived from Ku+√umbha 'to fill up' stands for this action of filling. The derivative words should therefore be properly affixed to facts which have these acts as their connotation. It is not consistent to maintain that the words with different connotations do stand for a self-identical denotation.

If the difference of number and gender constitutes real difference in the meaning, the differences of the so-called synonymous words must be held to be expressive of real

differences. The advocate of this line of approach maintains that there can be no synonyms. Each word must have a different meaning of its own, and the etymological meaning is the real meaning of the word. He does not subscribe to the view that the real meaning and the etymological meaning are different. The very fact that a different word is called into request shows that it must have a different meaning, etymological as well as real. Otherwise it would be reduced to nonsense.

The last verbalistic approach, called एवंभूत, affirms that only the actualized meaning of the word is the real meaning. The word signifies an action and the fact which actually exercises the action should be regarded as the real meaning. So the word घट should mean the jar which actually draws water and not the jar which remainsidle in a corner of the room. The latter does not possess the connotation and so cannot be des ignated by the word. Thus the king is the person who actually exercises sovereignty, the minister is one who actually exercises the function of a counsellor and framer of state policy. So when the king is engaged in domestic affairs or talking to his wife he is not the king proper. The exponent of the preceding approach hits upon the truth that difference of words entails difference of meaning, but he fails to grasp the real significance of the connotation when he affixes the word to the fact which is bereft of the action connoted by it. The idle jar is as different and distinct from the water-carrying jar as the pen. If however the word could signify a fact devoid of the connotation there is no logic why it would not be labelled upon a different fact having a different connotation. Light, for instance, means an entity which actually illuminates. If it could be affixed to a lamp which has gone out it could with equal logical properiety be affixed to an opaque stone.

Now all these approaches may be employed in the determination of truth and their misemployment is bound to lead to aberrations. The Jaina philosopher with his characteristic catholicity of outlook and tolerance for other views and readiness to accomodate them and assess them at their proper worth has no hesitation to receive them as estimation of reality. This toleration is however subject to the proviso that they must not be allowed to outstrip their proper jurisdiction. The unitive bond in the midst of diverse attributes is endorsed by the Jaina logician as it is attested by uncontradicted experience. What the Jaina emphasizes is that all these traits are not isolated aspects but integrated in the concrete fact which we experience. The so-called antinomies conjured up by the dictates of abstract logic are only figments of formalism. Pure logic suffers from the defect that it ascribes rigidity to the different aspects and makes them fixed characteristics which come into conflict with their opposites. There is nothing fixed in the world. Everything is impellled to change by the inner dialectic of its constitution. So the opposition of unity to diversity is only a figment. The different approaches only illustrate the truth that the tendency to differentiation and specification, if not checked by reference to the other concomitant traits, will culminate in disastrous results. The specification begins from the third approach. The fourth only concentrates the attention of the knower upon the immediate presents. The

fifth makes the word a determinant factor and the sixth follows it up by abolishing all synonyms. The seventh asserts the actual presence of the verbal meaning to be the sole determinant of the reality. If however it were conceded that each trait is a real factor and it is indifferent to the other traits, then each of them can be accepted as a true estimation of the reality. Of course each way of approach only succeeds in catching hold of a part. But the actuality of the part is undeniable. If the advocate of these different ways of approach asserts that the several findings are exclusive and sole character of the real he will expose himself to the charge of extremism and fanaticism.

In practical life when a politician concentrates on the immediate need of the hour and refuses to take a retrospective or prospective view he makes himself guilty of exclusiveness. All dogmatism owes its genesis to this partiality of outlook and fondness for a line of thinking to which a person has accustomed himself. The Jaina logician welcomes all the light that comes from different ways of approach and integrates them in one whole in which all these finite traits can subsist as moments. This intellectual charity will resolve all conflict and rivalry. So whatever may be the calling and avocation a man may be called upon to pursue he can achieve success and combine it with benevolence and amity if he is alive to the importance and the utility of all the different ways of approach in the study of problems.

Anekanta, Syadvada and Saptabhangi.

(अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी)

[Dr. Nathmal Tatia, M.A.,D. Litt.
Professor of Research in Buddhist Philsophy, Nava Nalanda Mahavihar, Nalanda.]

1. Anekanta (Non-absolutism)[1]

1. The real, according to the Jaina philosopher, is a variable constant. It is being and non-being (becoming included), unity and plurality (one and many), the universal and the particular rolled into one. If causal efficiency is the test of reality, the real cannot be an absolute constant, nor can it be an absolute variable. It must be a variable constant.[2] Similarly, absolute being and non-being, incompatible as they are with causal efficiency, cannot characterize reality. If being is the eternal cause-aspect of the real, non-being is its evanescent effect-aspect. The real is a synthesis of infinite potencies (अनेक-शक्ति-प्रचित) and also continues through change. It is thus unity and plurality or one and many rolled into one. The presisting and pervading nature of an entity is the universal and the ever changing mode the particular. The postulation of such pairs of characteristics by the Jaina philosopher has been responsible for the designation of his philosophy as अनेकान्तवाद (theory of manifoldness of truth or non-absolutism). Let us study these pairs in some detail.

1 (i). Being and Non-being

2. Being, in its universal aspect, pervades all reals, while in its personal character, it is the negation of that pervasion, that is, non-being.[3] Being ,as personal, is the self-existence (that is, existence in respect of its own substance, space, time and mode) of a real and non-being is its non-existence (in respect of an alien substance, space, time and mode) which includes the negation of the modes of infinite past (प्रध्वंसाभाव, i.e., non-existence after destruction) and of infinite future (प्रागभाव, i. e., pre-non-existence) as well as absolute negation (अत्यन्ताभाव, e. g., non-existence of colour in air) and infinite numerical differences (अन्योन्याभाव i. e., mutual non-existence or non-existence of identity of things). The denial of this non-existence would make the distinction of one thing from another impossible, and thus rob it of its individuality and determinate character.[4] Non-being, therefore, is as much an element in the constitution of a real as being is. Universal being is uncharacterized indeterminate existenc or pure affirmation which is the uniting bond of all determinate reals. Personal being is characterized and determinate existence, and is non-being in the sense

---

1. We owe this happy expression to Professor S. Mookerjee. Vide his JPN.
2. For a detailed study of the problem of causation in absolutist philosophies,see JPN,pp.25 seq.
3. Cf. TV, iv. 42 (15), p. 258 (lines 26ff.), where the conditions of 'position' and 'negation' are laid down.
4. For details see JPN, pp. 31 seq.

of other than or distinct from universal being. This personal being is determinate self-existence or self-affirmation as distinct from, that is, as non-existence or negation of other determinates coordinate with it. Being and non-being, existence and non-existence, affirmation and negation, thus are the constituents of a real at every stage.

3. This analysis of a real is necessitated by an analysis of the nature of any ordinary experience. Our experience is at once positive and negative. A purely positive experience, being altogether incapable of defining its object, is either a case of confusion or an experience tantamount to 'no experience'. The postulation of a purely negative experience also leads to a similar contradiction. Negation means exclusion of a determinate fact from other such facts.[1] But no such function can be fulfilled by a purely negative experience, as it does not claim any determinate fact as its object. This is obviously a contradiction.[2] This positive-cum-negative character of experience is a proof direct of its object as a synthesis of being and non-being, existence and non-existence, as explained above. This is also corroborated by the fact that the affirmative propositions become fully significant only when supplemented by the correlative negative propositions and vice versa. Neither the affirmative nor the negative proposition, taken by itself, is capable of giving the intended sense in its fulness.

4. Here the problem of the relation between the real and its characteristics and between the characteristics themselves crops up. For the sake of convenience, the real may be called a 'substantive' and its characteristic an 'adjective'. What then is the relation between a substantive and its adjective, and also between one adjective and another belonging to the same substantive? The relation cannot be absolute identity, for then the two terms would merge into absolute unity, that is, the relation would annihilate itself. Nor can it be absolute difference, for this would leave the terms unrelated and the relation would be equivalent to 'no relation'. The Jaina philosopher seeks to solve the difficulty by postulating a peculiar kind of relation called 'indentity-cum-difference' (भेदाभेद) which is neither absolute

---

1. Cf. "....there is more, and not less, in the idea of an object conceived as 'not existing' than in the idea of this same object conceived as 'existing'; for the idea of the object 'not existing' is necessarily the idea of the object 'existing' with, in addition, the representation of an exclusion of this object by the actual reality taken in block." Bergson : *Creative Evolution* (London, 1954), p. 302. Although the Jaina philosopher does not agree with Bergson in regarding negation as a pseudo-idea and a mere species of affirmation, he is in perfect agreement with him in regarding negation as an exclusion of the negatum by positive facts other than it (viz. negatum) and to that extent as sharing the nature of an affirmation. He also does not agree with Bergson in admitting affirmation as 'a complete act of the mind' and negation but the half of an intellectual act, of which the other half is understood, or rather put off to an indefinite future? (Ibid., p. 303). For him each is equally incomplete without the other.

2. न प्रमाणेनविधिमात्रमेव परिच्छिद्यते, परव्यावृत्तिमनादधानस्य तस्य प्रवृत्तेः सांकर्यप्रसंगाद् अप्रतिपत्ति-समानता-प्रसंगो वा। न प्रतिषेधमात्रं, विधिमपरिच्छिन्दानस्य इदम् अस्माद् व्यावृत्तं इति ग्रहीतुम्–अशक्तेः SKh, IX, pp. 163-4.

identity, nor absolute difference, nor an artificial conjunction of the two, but a new type which is *sui-generis* (जात्यन्तरात्मक).[1] Accordingly, the real also as conceived by him, is neither absolute being, nor absolute non-being, nor an artificial synthesis of the two, but 'a focal unity of being and non-being, which cannot be reached by logical thought'—a unity which is 'immanent in the elements, but at the same time transcends them in that it is not analysable into elements'.[2] This estimate of relation does not allow the terms to merge, nor to fall apart. The substantive owns its adjectives on account of its identity with them, and the adjectives preserve their individuality on account of their difference from the substantive. The adjectives do not fall apart on account of their identity with the substantive, and the substantive does not lose itself in its adjectives on account of its difference from them.

5. The वैशेषिक philosopher has levelled the charge of truism (सिद्धसाध्यता) against the doctrine of existence in respect of one's own nature (स्वरूपेण सत्त्वम्) and non-existence in respect of an alien nature (पररूपेण असत्त्वम्) and the charges of triviality and insignificance also follow from it. But the above evaluation of the nature of relation, implied by the doctrine, should be considered sufficient for the refutation of these charges. For the वैशेषिक philosopher, the relation of identity-cum-difference is quite novel, and the light that it throws on the nature of the real is quite momentous and significant.[3] The real cannot be, as already shown, either absolute being or absolute non-being. Here by 'absolute being' we understand what is eternal, positive and absolutely unamenable to change, and by 'adsolute non-deing' what is absolutely negative and devoid of all characterization. These are repectively the postulates of the Vedantic monist and the Buddhist nihilist. Similarly, the real cannot be either 'pure being' or 'pure non-being'—the expression 'pure being' standing for 'being without becoming' or 'continuant without change' (change in the sense of real creative change and not mere actualization of the potential), and 'pure non-being' standing for 'becoming without being' or 'change without continuant'. These may respectively be regarded as the postulates of the सांख्य evolutionist and the Buddhist fluxist. The Jaina philosopher believes in being tolerant of non-being, and non-being tolerant of being.[4] For him, in other words, being and becoming are informed with each other and go *pari passu*, one without the other is impossible.

1.(ii) Unity and Plurality or One and many

6. From the adove analysis of the real into being and becoming, it follows that it is also unity and plurality, or one and many. If the real as being is self-indentical unity, i. e., one, the real as becoming is plurality, i.e., many. A positive entity (भाव)—e.g., the self—is *ipso facto* plural, unlike

1. See AJP, p. 65.
2. See JPN, pp. 114 and 115.
3. See AJP, pp. 90 Seq.
4. For the Jaina philosopher's arguments proving the absence of contradiction between being and non-being, vide infra, section 2, §/5.

negation (अभाव) which, being homogeneous, does not brook distinction or plurality within itself, and at least six distinct stages—viz. origination, continuity, transformation, growth, decay and lapse—can be distinguished in its process.[1] Plurality, in fact, is plurality of aspects, and the multitude of concepts and the corresponding linguistic expressions, related to a single fact, is a proof of the reality of these aspects.[2] The unitary real ought to be regarded as plural also on account of its being an intergration of numerous energies (अनेक-शक्ति-प्रचितत्वात्).[3] Its temporal continuity and ever emerging novelty also argue its manifold character. "Strictly speaking," as has been observed by Professor Mookerjee, "a thing is neither an absolute unity nor split up into an irreconcilable plurality. It is both unity and plurality all the time. There is no opposition between unity of being and plurality of aspects. The opposition would have been inevitable if the unity of a real varied with each aspect. But the varying aspects are affirmed of the self-identical subject and this proves that the unity is not affected by such predication. A thing is one and many at the same time—a unity and a plurality rolled into one."[4]

1(iii). The Universal and the Particular

7. Reals are universals and particulars synthesized into one. The universal is the unitive bond running through the particulars and the Jaina philosopher has recognized two kinds of it, viz. the vertical universal (ऊर्ध्वता-सामान्य) and the horizontal universal (तिर्यक्सामान्य). The self-identity of the real, running through its temporal process, is the vertical, and the bond that unites one real with others in space is the horizontal universal. Almost all later Jaina logicians however, under the influence of the Buddhist philosophers like धर्मकीर्ति and others, have identified the horizontal universal with similarity which they regard as a quality different in different individuals. The disastrous consequennces of this reassessment of the nature of a universal have been thoroughly examined by Professor Mookerjee in his celebrated work, 'The Jaina Philosophy of Non-absolutism' (Chapter IX), and an impartial student of philosophy cannot but agree with his findings. We should stick to the original (earlier) Jaina position and should not accept an interpretation as faithful if it goes against the fundamental postulates of non-absolutism. Let us now study in brief the grounds for the admission of real as a unity of the universal and the particular.

8. A 'jar as jar' cannot be distinguished from another 'jar as jar' and this incapacity of thought to distinguish the two argues their indentity in respect of the characterstic of jar-hood. Although the two jars are separate in respect of their separate substantial, spatial, temporal and modal determinations, their identity *qua* jar cannot be got rid of. Identity, in the ultimate analysis, is an identity of characteristics belonging to different entities. What

1. TV, iv. 42 (4).
2. TV, iv. 42 (5).
3. TV, iv. 42 (6).
4. JPN. pp. 29-30.

cannot be distinguished in any particular respect must be accepted as indentical in that respect. The 'colour as colour' of a coloured thing cannot be distinguished from 'colour as colour' of another coloured thing, and therefore the two colours must be regarded as identical, though they belong to two separate things and may also be two different colours, say red and green. Thus 'red' and 'green' are identical as colour and different as specific determinations of it.[1] Mere spatial separateness of two entities does not prove numerical difference of their characteristics. There can be spatial separateness without numerical difference, e. g., between two distant parts of a patch of colour, and similarly there can be numerical difference without spatial separateness, e. g., between the colour and shape of the selfsame object. Thus there is nothing repugnant in admitting the relation of identity-cum-difference in respect of characteristics between any one entity and another. Neither identity without difference, nor difference without identity is possible. Now as the identity presupposes the universal and the difference the particular, the real is a synthesis of the two. In other words, the real is a 'concrete universal.' "Things are," observes Professor Mookerjee, "neither exclusively particulars, nor are they exclusively universals, but they are a concrete realization of both. The two elements can be distinguished by reflective thought, but cannot be rent asunder."[2]

9. This analysis of a real into universal and particular is significant in that it gives a penetrating vision of the interrelatedness of reals and their uniting bond. It should be understood that the two elements do not exhaust the real, but are mere indicators of the comprehensive and transcendent nature of it. "A real", again to quote Professor Mookerjee, "is neither a particular nor a universal in an exclusive manner, but a synthesis which is different from both severally and jointly though embracing them in its fold. A real is *sui generis.*"[3]

10. We have now seen how the pairs of characteristics—viz. being and non-being, unity and plurality or one and many, the universal and the particular—unfold the nature of a real as a microcosm and macrocosm in one. The Jaina philosopher's dual points of view (*nayas*)—viz. synthetic (द्रव्यार्थिक or निश्चय) and analytic (पर्यायार्थिक or व्यवहार) —also point to the same truth.[4] The entire corpus of Jaina metaphysical literature is inspired by this dual approach, though the far-reaching implications of it are not always visualized, not unfolded in the light of the needs of ever progressing thought. The charac-

---

1. W. E. Johnson has proposed to call such comparatively indeterminate characteristics as colour and shape determinables in relation to such specific characteristics as red and circular which he calls determinates.—See his *Logic*, Part. I (Cambridge, 1921), p. 174.
2. JPN, p. 6.
3. JPN, p. 13.
4. JPN, pp. 301 and 309.

teristics of being-cum-non-being, unity-cum-plurality, universal-cum-particular are certainly repugnant to the abstract ways of our logical thought and understanding, but none the less they are verdicts of plain experience and as such true measures of reality. The whole truth may not be understood, but there is no reason why we should be dissuaded from pursuing the way shown by our plain experience and capturing whatever vision the pursuit may provide. In this connection, the following remarks of Bradley regarding the knowledge of unity which transcends and yet contains every manifold appearance are worth remembering. "Our complete inability to understand this concrete unity in detail is no good ground for our declining to entertain it. Such a ground would be irrational, and its principle could hardly everywhere be adhered to. But if we can realize at all the general features of the Absolute, if we can see that somehow they come together in a way known vaguely and in the abstract, our result is certain."[1]

2. Syadvada (Relativism)

11. A real, as shown, has pairs of characteristics which oppose (negate) each other, and we have also seen how this opposition is resolved in the uniqueness of the real. In order to exhibit the internal harmony of these apparently opposed characteristics and also to attain logical and linguistic precision, the Jaina philosopher has proposed to prefix the restrictive expression स्यात् (which means 'in some respect' or 'with reference to a particular aspect or context') to those propositions which have such conflicting characteristics as predicates. The expression स्यात् moreover brings out the relative validity of the predication and is thus a corrective against the absolutist ways of thought and evaluation of reality.[2] And the practical application of non-absolutism (अनेकान्तवाद) which necessitates the invention of this linguistic tool for logical precision is known as स्याद्वाद (relativism). To illustrate this application by a concrete example, let us take the eternal-cum-evanescent nature of the real. A real is eternal in respect of its substance (द्रव्य) and evanescent in respect of its modes (पर्याय). In other words, the characteristics of eternality and evanescence are to be predicated of the selfsame real with reference to its two different aspects, viz. the substantial and the modal. The real *qua* subject of a proposition, at every stage of its analysis, is found to be a unity of two 'opposite' elements and as the predicated characteristic can refer to only one of those two elements, it must be held to be true of only that element and by this very fact untrue of the other.[3] The predication is thus found to be

---

1. *Appearance and Reality* (Oxford, 1955), pp. 141-2.
2. Vide JPN, p. 132.
3. Cf. "There is only one way to get rid of contradiction, and that way is by dissolution. Instead of one subject distracted, we get a larger subject with distinctions, and so the tension is removed. We have at first A, which possesses the qualities c, and b, inconsistent adjectives which collide ; and we go on to produce harmony by making a distinction within this subject. That was really not mere A, but either a complex within A, or (rather here) a wider whole in

only relatively true.[1]

2(i). Relativism and Laws of Thought

12. Let us now see if this relativism of predication has any bearing on the traditional Laws of Thought, which, to be significant, must, besides being true measures of reality, formulate principles of valid predication.

12 (A). The Law of Identity is the simplest of all possible laws of judgments and must, to be significant, set forth their minimum conditions, viz. meaning and truth. A judgment which has no meaning is no judgment, and a judgment whose truth cannot be ascertained is an idle gibberish.

In its bare form 'A is A', the law does not possess any significance and is apparently nothing more than tautology. If, however, it is taken to express the mere identity of the

---

which A is included. The real subject is A+D; and this subject contains the contradiction made harmless by division, since A is c and D is b. This is the general principle, and I will attempt here to apply it in particular. Let us suppose the reality to be X (a b c d e f g ....), and that we are able only to get partial views of this reality. Let us first take such a view of 'X (a b) is b'. This (rightly or wrongly) we should probably call a true view. For the content b does plainly belong to the subject; and, further, the appearance also—in other words, the separation of b in the predicate—can partly be explained. For, answering to this separation, we postulate now *another* adjective in the subject; let us call it β. The 'thatness', the psychical existence of the predicate, which at first was neglected, has now also itself been included in the subject. We may hence write the subject as X (a b β); and in this way we seem to avoid contradiction. Let us go further on the same line, and, having dealt with a truth, pass next to an error. Take the subject once more an X (a b c d e........), and let us now say 'X (a b) is d'. This is false, because d is not present in the subject, and so we have a collision. But the collision is resolved if we take the subject, not as mere X (a b), but more widely as X (a b c d). In this case the predicate d becomes applicable. Thus the error consisted in the reference of d to a b; as it might have consisted in like manner in the reference of a b to c, or again of c to d. All of these exist in the subject, and the reality possesses with each both its 'what' and its 'that'. But not content with a provisional separation of these indissoluble aspects, not satisfied (as in true appearance) to have a α, b β, and d δ— forms which may typify distinctions that bring no discord into the qualities—we have gone on further into error. We have not only loosened 'what' from 'that', and so have made appearance; but we in each case then bestowed the 'what' on a wrong quality within the real subject. We have crossed the threads of the connexion between our 'whats' and our 'thats'; and have thus caused collision, a collision which disappears when things are taken as whole."—*Appearance and Reality* (Oxford, 1955), pp. 170-1.

1. Cf. "We found that some knowledge was absolute, and that, in contrast with this, all finite truth was but conditional. But when we examine it more closely, this difference seems hard

subject and the predicate, it goes only half way towards the acquisition of meaning, because it leaves out the difference without which the identity is unmeaning. In order, therefore, to invest the form 'A is A' with full meaning and truth, we should interpret the predicate A as a characteristic 'a' which is true of a part of the subject A. We now have the form 'A (a b...) is a' which is *meaningful*, because it exhibits in full the identity-cum-difference between the subject and the predicate, and also *true*, because the predicate belongs to the subject. In the language of the Jaina philosopher, the above form can be expressed as 'In one particular aspect (स्यात्), A is a'. The Law of Identity thus becomes significant if interpreted in the light of स्याद्वाद.

Here one important fact about judgment or proposition[1] should be clearly understood. A proposition which is once true is always true. Certain logicians have denied this dictum, and their denial appears to be due to, in the words of Mr Johnson, "a confusion between the time of which an assertion is made, and the time to which an assertion refers ; or as Mr Bosanquet has neatly put it—'between the time *of* predication and the time *in* predication".[2] Thus taking as example the proposition 'The mango is green,' we must say on the one hand that if the proposition is true at any time, it is true at all times ; but on the other we must not say that if the predicate 'being green' is true of a given subject at one time, it will be true at all times. The time *of* predication, i.e., the time at which the judgment is made, is, relatively to the content of the judgment, a mere accident. The time *in* predication is the relation of the predicated characteristic to the subject. 'Green,' in the above example, is true of 'mango' at only a particular moment or duration of time of the latter's existence, and thus the time here is an essential constituent of the subject of the judgment. With the change of this temporal context of the subject, the truth of the predicate may change. But this change has no effect on the time of the judgment and hence also on its truth. The problem however

---

to maintain. For how can truth be true absolutely, if there remains a gulf between itself and reality ? Now in any truth about Reality the word 'about' is too significant. There remains always something outside, and other than, the predicate. And, because of this which is outside, the predicate, in the end, may be called conditional. In brief, the difference between subject and predicate, a difference essential to truth, is not accounted for. It depends on something not included within the judgement itself, an element outlying and, therefore, in a sense unknown. The type and the essence, in other words, can never reach the reality. The essence realized, we may say, is too much to be truth, and, unrealized and abstract, it is assuredly too little to be real. Even absolute truth in the end seems thus to turn out erroneous."—Ibid., p. 482.

1. We agree with W. E. Johnson (*Logic*, Part I, p. 1) in regarding a proposition as 'that of which truth and falsity can be significantly predicated' and also in refuting the view that the propo sition is the verbal expression of the judgment as an error.
2. Johnson : *Logic*, Part I, p. 235. Also Bosanquet : *Logic* (2nd Edition), Vol. I, p. 203.

concerns the nature of propositions in general and not the Laws of Thought in particular. We understand the laws as laws of the truth or falsity of predicates only, and not, as some modern logicians have done in order to avoid the difficulties, as laws of the truth or falsity of propositions.

The Law of Identity is also formulated as 'whatever is, is', which may ontologically be interpreted to lay stress on the static character of things. But nothing, as shown, is static according to the Jaina philosopher, and so the formula is not acceptable to him.[1] The Vedantist would have no objection against this interpretation of the law, because he belives in reality as static.

12 (B). The Law of Contradiction is symbolically expressed as 'A is not both A and not-A', and may be regarded as only the complement of the Law of Identity. It supplies something without which the Law of Identity is not logically complete or distinctly intelligible. If A is A, A cannot be not-A. In other words, 'nothing can both be and not be.'

The Jaina philosopher has shown being and non-being as simultaneously true of a real and hence we cannot agree to the above interpretation of the law. Absolute being and absolute non-being are certainly exclusive of each other. But this is not the case with concrete being which alone is real according to the Jaina philosopher. Concrete being is being tolerant of non-being. Absolute being and absolute non-being are only figments of abstract logic.

The field of application of the Law of Contradiction, therefore, should be ascertained by the observation of concrete cases in the real world. Characteristics which cannot exist together simultaneously are contradictorily opposed, and the law can be usefully applied to the cases of such characteristics. Thus a patch of colour cannot be red and green at the same time and hence red and green can be accepted as contradictorily opposed. But a variegated linen showing patches of different colours can be red and green at the same time (though of course in different parts), and the Jaina philosopher, unlike the Vedantist and the Buddhist absolutists, does not find any contradiction in this. Our experience is thus the sole determinant of contradiction and no abstract logical formulas can give an insight into the nature of the concrete things of the world.

12 (C). The Law of Excluded Middle is symbolically represented as 'A is either B or not—B'. Interpreted in the plain sense, this law means that the negation of any predicate is an absolute alternative to it, that is, if one is false the other must be true. This means that falsehood can establish truth. But this discovery of truth is vague and practically useless, because one of the terms, viz. not-B, is indeterminate and absolutely incapable of giving a determinate fact which alone makes the predicate significant. This is a defect which makes the law trivial and insignificant.

13. The Laws of Thought are thus found to be vitiated by serious defects—all of

1. See JPN, pp. 8 Seq.

which are primarily due to their aprioristic foundations. By the idealist philosophers the laws were used for the refutation of the positions of the realists who could never be convinced of the validity of these laws as instruments of the discovery of truth. "The difference between the realist and the idealist," in the words of professor Mookerjee, "hinges upon this fundamental difference of view of the validity of the Laws of Thought—whether they are known empirically or *a priori*. It seems that the difference between them is irreconcilable, being more or less bound up with the innate difference of our predispositions and tendencies from self to self. The result is an uncompromising antagonism between our respective outlook and attitude."[1]

2 (ii). Opposition

14. The fountain-head of all this logical controversy is the estimation of the relation between being and non-being. The formulations of the Laws of Thought are inspired by the belief that there is innate opposition between being and non-being—an opposition which is absolutely incapable of dissolution. But the Jaina philosopher is unable to appreciate the *raison d'etre* of this belief. Opposition (*virodha*), according to him, is exhausted by the following three types of relation, none of which can be shown to obtain between being and non-being.[2]

14(A). The first type of oppositional relation is represented by the relation of destruction, which obtains between the destroyable and the destroyer (वध्य-घातक), e. g., between snake and mongoose, or fire and water. The destruction in such cases is possible only when two coexistent positive facts come together into collision and the one overpowers the other. There is not such relation of destruction between being and non-being, as the two, according to the opponent himself, do not coexist in a common substratum even for a moment. If, however, the two are admitted to coexist in a common substratum, none would destory the other, because both are equally powerful on account of their independent and equally powerful origin.

14(B). The second type is represented by the relation of non-coexistence (सहानवस्थान), which obtain between characteristics originating at different moments of time ; e.g., between greenness and yellowness of the selfsame mango at different moments of its existence. Yellowness in this context can only succeed greenness and can never coexist with it. This type of opposition also does not hold good between being and non-being. The characteristic of non-being cannot succeed the characteristic of 'being' in the same sense as yellowness succeeds greenness. Non-being cannot inherit the locus of being, because the locus of being has ceased to exist along with the cessation of being. And non-being without a locus is as ununderstandable as square-circle. The logical difficulties of pure being and pure non-being have already been discussed.[3]

1. JPN, pp. 15-6.
2. TV, iv. 42 (18).
3. Vide supra, section 1 (i).

14(C). The third type of oppositional relation is represented by the relation of obstruction, which obtains between the obstructed and the obstructor (प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक); e. g., the conjunction of a fruit with its stalk obstructs the gravitation of the fruit towards the earth. This type of opposition also is not possible between being and non-being. Being is not an obstructor of non-being, because the existence of being does not obstruct the existence of non-being. We have already seen how the object of our experience is a synthesis of being and non-being.[1]

15. None of these three types of opposition can be discovered by pure thought unaided by empirical knowledge. The destructive opposition is observed when two positive facts actually collide, the opposition of non-coexistence is witnessed when one fact vanishes in advance in order to give place to another fact, and the obstructive opposition is admitted when one fact is found to resist the occurrence of another. We cannot admit any collision between being and non-being, as one of the terms, viz. non-being, is not a positive fact. Nor do they exhibit the opposition of non-coexistence, because neither being nor non-being can be conceived as vanishing in order respectively to give place to non-being and being. The obstructive opposition also does not obtain between being and non-being, because none of the two can obstruct the occurrence of the other. The opposition between being and non-being thus cannot be illustrated by any empirical example. In fact, pure being and pure non-being are themselves only imaginary creatures and consequently the question of their mutual opposition should not arise at all. Determinate being and determinate non-being alone are true. Such being and non-being are only two diverse characteristics synthesized into the unity of the real. There is not any kind of opposition between them, as there is none between the colour and the shape of the same thing. Opposition or contradiction, in fact, arises when there is mere conjuction and no real synthesis. Characteristics are not contradictory because they are diverse, for the real holds diversity in unity. "Contradictions exist", says Bradley, "so far only as internal distinction seems impossible, only so far as diversities are attached to one unyielding point assumed, tacitly or expressly, to be incapable of internal diversity or external complement. But any such fixture is abstraction, useful perhaps, but in the end appearance. And thus, where we find contradiction, there is something limited and untrue which invites us to transcend it."[2]

3. Saptabhangi

(The Doctrine of Seven Ways of Predication or Seven Modes of Truth)

16. The सप्तभंगी (the doctrine of seven ways of predication or the seven modes of truth) is the logical consummation of the doctrines of अनेकान्तवाद (non-absolutism) and स्याद्वाद (relativism) described above. We have seen how a real is characterized by

1. Vide supra, section 1 (i).
2. *Appearance and Reality*, p. 505.

pairs of characteristics which are 'opposed' to each other. Now if we take any one of these pairs —say the pair of the characteristics, viz., existence and non-existence (being and non-being)[1] —and examine the nature of the real, revealed by these characteristics as predicates, we find that there are just seven, neither more nor less, ways in which the characteristics can be predicated of the real, each way of predication revealing a new mode of truth. We have seen[2] how a real is 'a focal unity of being and non-being (or existence and non-existence) which cannot be reached by logical thought'. Now as this unity transcends the reach of logical thought, it is also, for the purpose of predication, beyond the range of speech. In other words, a real is inexpressible or unspeakable (or indefinite from the standpoint of formal logic).[3] We thus get a third characteristic, viz., inexpressibility (which, as shown, stands for the unique synthesis of existence and non-existence), besides the two, viz., existence and non-existence. These are three quite independent characteristics. Now as the total number of combinations of three things taken one, two or three at a time is seven, the total number of predicates that can be constituted by various combinations of the three characteristics is also seven. These seven predicates are—(1) existence, (2) non-existence, (3) existence and non-existence, (4) inexpressibility,[4] (5) existence and inexpressibility, (6) non-existence and inexpressibility and (7) existence, non-existence and inexpressibility. There cannot be any eighth combination without repeating the same characteristic twice. What is now to be examined is whether each of these seven predicates reveals a new mode of truth. This can be best done by examining the import of the seven predicates together with the significance of the propositions embodying them.

3(i). Import of the Seven Predicates

17(1). The first predicate is 'existence' which means 'existence in a specific context,' that is, determinate existence. A jar certainly exists in its own context (स्याद् अस्ति घट:). It has its own substance (द्रव्य), space (क्षेत्र), time (काल) and mode (भाव). In one word, it has a determinate (personal) being. The determinate existence rebuts the possibility of absolute being and absolute non-being. This point has already been elaborated[5] and

---

1 The Jaina philosopher does not distinguish between being and existence,which are always concrete.

2 Vide supra, section 1 (i), § 4.

3 Vide JPN, p. 115.

4 This fourth predicate is sometimes given as the third, and in that case the third is given as the fourth. See TV, IV. 42(15(. In fact, the oldest source of these predicates, viz., the भगवतीसूत्र (X 11.10.469) assigns to it the third place and this is also the demand of the logic behind the dialectic of sevenfold predication. For the order followed by us, see TV, I. 6(5). Both these orders of enumeration are followed by the Jaina logicans without discrimination. See also the note on this point by Professor Dalsukh Malvaniya in his Introduction (pp. 40 ff.) to his edition of the न्यायावतारवार्तिक वृत्ति of शान्तिसूरि (Singhi Jain Series, XX).

5 Vide Supra, section 1 (i), § 5.

needs no repetition. The significance of the proposition follows from the unique import of the predicate.

It is however to be understood that none of the seven predicates denies the other predicates. Each predicate on the other hand implies the other six as equally important and true characteristics of the real. This implication is expressed by the word स्यात्[1] prefixed to every proposition, e.g., in स्यात् अस्त्येव घटः which means 'The jar certainly exists in its own context.' This should be carefully noticed in our exposition of the import of the predicates. The implication of एव (certainly) in the above proposition is the exclusion of the negation of 'existence.'

17(2). The second predicate is 'non-existence' which means 'non-existence in a specific context', that is, determinate non-existence. The jar certainly does not exist in another context (स्यान्नास्त्येव घटः). This determinate non-existence rebuts the possibility of absolute non-being and absolute being.

The first predicate is concomitant with the second and the second is concomitant with the first. And this is the reason why both can belong to the same subject without conflict and opposition.

17(3). The third predicate is 'existence and non-existence' which means consecutive togetherness of existence and non-existence, that is, distinguishable compresence of the two. The jar exists and does not exist respectively in its own context and in a different context (स्याद् अस्ति च नास्ति च घटः). This predicate gives a richer glimpse of the real than that provided by the first and the second. It is not however a mere combination of the two, but presents a complex character of the real—a character which reveals the equipollence of existence and non-existence in the constitution of the real.

17(4). The fourth predicate is 'inexpressibility' which stands for the unique synthesis of existence and non-existence. The jar is certainly inexpressible as having both existence and non-existence as its characteristics at the same time (स्याद् अवक्तव्य एव घटः). The third predicate revealed the equipollence of existence and non-existence. But this fourth goes further and gives a glimpse of the real as a unique synthesis of existence and non-existence—a synthesis which transcends the equipollence of existence and non-existence by dissolving them into a unity. This character of a real cannot be grasped by a definite concept and so is not expressible by a definite linguistic symbol which can express only what is positive or negative but never what is 'positive and negative rolled into one'.

This inexpressible or the unspeakable, that is, the indefinite is a peculiar concept of Jaina philosophy. In the words of Professor K. C. Bhattacharya, "The given indefinite—the 'unspeakable' or अवक्तव्य as it has been called—as distinct from the definite existent, presents something other than (the) 'consecutive togetherness' (expressed by the third predicate): it implies सहार्पण or co-presentation which amounts to non-distinction or

1 For further implications of स्यात्, vide supra, section 2, § 11.

indeterminate distinction of being and negation. It is objective as given : it cannot be said to be *not* a particular position (expressed by the first predicate) nor to be non-existent (expressed by the second predicate). At the same time it is not the definite distinction of position and existence (expressed by the third predicate 'existence and non-existence[1]') ; it represents a category by itself. The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected simply because it is not expressible by a single positive concept. A truth has to be admitted if it cannot be got rid of even if it is not understood."[2]

One formal difficulty about the term 'inexpressible' requires elucidation. In the third predicate—viz., existence and non-existence—the two characteristics are presented consecutively (क्रमार्पित), while in the fourth the same two are presented simultaneously (सहार्पित).[3] No difficulty is felt in conceiving two diverse characteristics consecutively. But if the same two are to be conceived at once as one concept, the difficulty arises, because the elements of existence and non-existence that are brought together to compose the concept are driven away as fast as we assemble them. This conceptual difficulty is reflected in the incapacity of language to express the two diverse characteristics at once. But this inexpressibility should not be taken to imply the unreality of the co-presented characteristics. Inexpressibility here means mere impossibility of any adequate verbal symbol to express the situation at once. It cannot imply the unreality of the co-presentation of existence and non-existence. Inexpressibility does not prove unreality because expressibility is not the sole criterion of reality.[4] An *ad hoc* symbol also cannot express the situation, because that would also generate its corresponding concepts consecutively.[5] A compound word or even a full proposition also is of no avail on account of the same difficulty. It is because of this complete paralysis of speech to express at once their unique nature that the co-presented characteristics are called 'inexpressible'. 'Inexpressible' thus is a negative term which simply means 'not expressible in language' and nothing more.[6] The proposition 'The jar is inex-

---

1 This 'non-existence', according to Professor K. C. Bhattacharya, is 'universal existence'. Cf JTA, p. 342, where he describes the second predicate as 'negation or universal existence'; cf. also, p. 341, where he says"......a determinate existent A *is* in one respect and *is not* in another respect. This does not simply mean that A is A and is not B : it means that existent A, as existence universal, is distinct from its particularity."

2 JTA, pp. 341-2, The bracketed portions are ours.

3 Vide AM, 16; TSV, I.6 (verses 50-1). SBT, p.60.

4 For detailed arguments see TSV, p. 140 ? कथं अवक्तव्यो जीवादिः......सत्तामात्रनिबन्धनत्वाभावाद् वाच्यतायाः.

5 सांकेतिकमेकपदं तद् अभिधातुं समर्थमित्यपि न सत्यं तस्यापि क्रमेणार्थद्वय-प्रत्यायने सामर्थ्योपपत्तेः--Ibid., p.140.

6 वक्तव्यत्वाभावस्यैव एकस्य धर्मस्याऽवक्तव्यपदेन प्रत्यायनात्.—Ibid., p. 141.
See JPN, pp. 122-3, where this view is ascribed to विमलदास. the author of SBT (pp. 69–70). But SBT has only reproduced TSV.

pressible', therefore, means 'The jar has a complex characteristic which is not expressible in language'. विद्यानन्दि has recorded a view which regarded the 'complex characteristic' as expressible at least by the term 'inexpressible' itself. But he rejects the view on the ground that if the term 'inexpressible' be admitted as capable of expressing the 'complex characteristic', any other word could be invested with that capacity by mere convention —a contingency which leads to self-contradiction in that it refutes the position that the 'complex characteristic' is inexpressible.[1] The purely negative interpretation of the term 'inexpressible' however raises a serious difficulty. It has been asserted by the great Jaina logician Samantabhadra that *if things were absolutely incapable of being expressed, the affirmation of the predicate 'inexpressible' would be illogical.*[2] This is in direct conflict with the negative interpretation. But Vidyanandi solves the problem by interpreting this assertion of Samantabhadra as follows: "*If things*, that is, reals as characterized by individual characteristics (like existence and non-existence taken one at a time) as well as the reals as characterized by complex characteristics taken simultaneously (as in the fourth predicate) were all alike (admitted to be) *absolutely incapable of being expressed, the affirmation of the predicate 'inexpressible'* of any real *would be illogical*, because the real (as admitted) is characterized by the absence of expressibility, that is, is incapable of being expressed even by the term inexpressible'." The implication of this interpretation is that though expressibility is absolutely negated of the fourth predicate, it is affirmed of the other predicates which take one characteristic at a time. The absolute negation of expressibility thus also does not violate the general principle of the Jaina philosopher that any significant affirmation is concomitant with negation, and any significant negation is concomitant with affirmation.[3] A real is inexpressible in respect of the fourth predicate and expressible in respect of the other individual predicates. Expressibility and negation of expressibility are thus to be understood in different contexts. 'Admission of expressibility' and 'negation of expressibility' in respect of the same aspect of the real is on a par with the admission of 'existence' and 'non-existence' in the same respect, which is a case of self-contradiction.[4]

17(5). The fifth predicate is 'existence and inexpressibility', that is, 'inexpressibility as qualified by existence (which was the first predicate)'. The jar exists (in its own context) and is inexpressible (स्याद् अस्ति चावक्तव्यश्च घट:). The proposition asserts the

---

1 तच्च न सर्वथैवावक्तव्यमेव.........सांकेतिकपदान्तरादिव विशेषाभावात्.—Ibid., pp. 140-1. I have given only the central theme of the arguments.

2 अवाच्यतैकान्तेऽ प्युक्तिर्ना वाच्यमिति युज्यते.—AM. ,32.

3 अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽ विनाभाव्येकधर्मिणि ।
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽ विनाभाव्येकधर्मिणि । —AM, 17–18. For elucidation, see JPN p. 152.

4 TSV, pp. 141 : कथमिदानीम् "अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्यावाच्यमिति युज्यते" इति उक्तं घटते.......सर्वत्र स्याद्वादन्याय-विद्वेषितापत्तेः । Also see JPN, pp. 123-4, and SBT. pp. 70–1.

compresence of 'existence' with the 'inexpressible'. The jar is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence, but it is none the less expressible (definite) *qua* existent. In other words, the 'indefinite' as affirming itself is a 'positive definite'. Otherwise, the indefinite would turn out to be an absolute affirmation. This fifth predicate is therefore significant in that it reveals the positive aspect of the fourth predicate.

17(6). The sixth predicate is 'non-existence and inexpressibility', that is, 'inexpressibility as qualified by non-existence (which was the second predicate)'. The jar does not exist (in other than its own context) and is inexpressible (स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च घटः). The proposition asserts the compresence of non-existence with the inexpressible. The jar is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence, but it is none the less expressible (definite) *qua* non-existent. In other words, the 'indefinite' as negating what is other than itself is a 'negative definite'. Otherwise, the indefinite would turn out to be an absolute negation. This sixth predicate is, therefore, significant in that it reveals the negative aspect of the fourth predicate.

17(7). The seventh predicate is 'existence, non-existence and inexpressibility', that is, 'inexpressibility as qualified by existence-and-non-existence (which is the third predicate)'. The jar exists (in its own context) and does not exist (in other than its own context) and is inexpressible (स्यादस्ति च नास्तिचावक्तव्यश्च घटः). The proposition asserts the consecutive presence of existence and non-existence with the inexpressible. The jar is inexpressible (indefinite) *qua* a synthetic unity of existence and non-existence, but it is none the less expressible (definite) *qua* existent and non-existent consecutively. In other words, the 'indefinite' as consecutive affirmation and negation is both a positive and a negative definite. This seventh predicate is significant in that it reveals the double character of the indefinite.

3 (ii). The Seven Predicates as Seven Exhaustive and Unique Modes of Truth

3(ii) (A). The Seven Predicates are Exhaustive

18. We have now explained the import and significance of the seven predicates. We have also seen how the number 'seven' is derived by different combinations of the three predicates, viz., existence, non-existence and inexpressibility, and also that no further combination is possible without repeating the same predicate twice. Of the seven predicates, the first and second are simple, the fourth is complex, and the remaining four are compounds constituted by all possible combinations of the first, second and fourth taken two or three at a time. Now if it could be proved that the first, second and fourth predicates—viz., existence, non-existence and inexpressibility—exhaust all possible elemental[1] predicates of a real, the conclusion would naturally follow that there are exactly seven, neither more nor less, predicates which can characterize a real in respect of the pair consisting of

1 By 'elemental', we mean 'unitary'. The fourth predicate which is a 'complex' is also considered 'unitary' because it stands for the synthetic unity of the real.

the characteristics of existence and non-existence. It should, however, be clearly understood in this connection that the seven predicates considered above merely exemplify the patterns which would be followed also by other heptads of predicates constituted by pairs of characteristics like permanence and impermanence, oneness and maniness, and so on. We should also here note that 'expressibility' cannot be regarded as an additional predicate, because the very act of affirmation or negation of a predicate implies it. 'Expressibility' together with its opposite 'inexpressibility' can, however, give rise to another heptad of predicates after the pattern illustrated by 'existence' and 'non-existence'.

19. To come to the main problem, let us see whether the triad—e. g., existence, non-existence and inexpressibility—exhausts all possible elemental predicates of a real. And for this purpose let us analyse the nature of our cognition.

20. Our simplest cognition or judgment exhibits two factors, viz., subject and a predicate, that is, a substantive and an adjective qualifying it. The substantive is the determinandum and the adjective is the determinans.[1] Thus the judgment 'This is jar' may be rendered as 'a particular real manifests the character (indicated by the adjectival import of the word) jar'.[2] Akalanka, in his तत्त्वार्थवार्त्तिक,[3] has discussed in detail the possible meanings of the predicate 'jar', which we shall here briefly notice. He states the proposition in

---

1 These terms are borrowed from W.E. Johnson who defines them as follows: "We find that in every proposition we are determining *in* thought the character of an object presented *to* thought to be thus determined. In the most fundamental sense, then, we may speak of a determinandum and a determinans: the determinandum is defined as what is presented *to be* determined or characterised by thought or cognition; the determinans as what *does* characterise or determine in thought that which is given to be determined. We shall regard the substantive (used in its widest grammatical sense) as the determinandum, and the adjective as the determinans."—*Logic*. part I, (Cambridge. 1921), p. 9.

2 I am indebted to W. E. Johnson for this rendering of the judgment. The passage which has suggested the rendering is as follows: "The exclamatory judgment 'Lightning' may thus be rendered formally complete by taking as subject term 'a manifestation of reality'. Here I do not propose to take simply as the equivalent of the exclamatory judgment 'Reality is being manifested in the lightning', but rather '*A particular partion of reality* manifests the character (indicated by the adjectival import of the word) lightning'.—*Logic*, Part I,. p. 10.

Johnson's view of judgment or proposition, expressed here, is indebted to the views of Bradley and Bosanquet, as he himself has admitted in the following words: "Our conclusion, briefly expressed, is that any proposition *characterises* some fact, so that the relation of proposition to fact is the same as that of adjective to substantive. Bradley has represented a proposition as ultimately an adjective characterising Reality, and Bosanquet as an adjective characterising that fragment of Reality with which we are in immediate contact. In adopting the principle that a proposition may be said, in general, to characterise a fact, I

the accredited form 'In some respect, this is jar (स्याद् घटः).' Here the object represented by the substantive 'this' has two aspects—native (स्वात्म) and alien (परात्म)—which vary according to the intention of the cognizer or speaker. Thus (1) if the intended native aspect is the aspect expressed by the concept or the word 'jar' (in its usual sense), the alien aspect is the aspect expressed by the concept or the word 'non-jar'. In other words, the object in its native aspect is jar (स्वात्मना स्याद् घटः), and in its alien aspect non-jar (परात्मना स्याद् अघटः).[1] The object thus is both jar and non-jar. The principle implied is that the object is a comprehensive fact which includes in itself the opposite characteristics like jar and non-jar. The object as determined by the particular characteristic cognized, that is, as determinandum is the native aspect, and the object as not so determined, that is, the non-determinandum is the alien aspect. Corresponding to the determinandum and the non-determinandum, there are also the determinans and the non-determinans. It is thus seen that the substantive and the adjective of a proposition have two aspects each —one positive, another negative. (2) If, again, the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar' as an *ad hoc* symbol, the corresponding alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar' as a symbol standing for the usual or any other conventional or attributed meaning of the word 'jar'. The upshot is the same as in the first analysis, viz., the object in its native aspect is 'jar' and in its alien aspect 'non-jar'. Similarly (3) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar' standing for the jar-particular, the alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar' standing for the jar-universal. Here also the object in its native aspect is 'jar', and in its alien aspect 'non-jar'. Similarly (4) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar' standing for the jar-concept, the alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar' standing for the external jar-shape (बाह्यो घटाकारः). In the same way, (5) if the intended native aspect of the object is the aspect expressed by the word 'jar' standing for its objective cognition (ज्ञेयाकार, that is, cognition *qua* contemplation, to use Professor Alexander's phrase), the alien aspect would be the aspect expressed by the word 'non-jar' standing for subjective cognition (ज्ञानाकार, that is, cognition *qua* enjoyment, again to use Professor Alexander's phrase). Thus here also the object in its native aspect is 'jar', and in its alien aspect 'non-jar'.

21. This analysis of a cognition has clearly demonstrated that the object of our cognition is always a fact having two aspects—(1) the aspect that is determined by the predicate of the cognition and (2) the aspect that is not so determined. The object is jar

---

am including with some modification what is common to these two points of view."——*Logic*, Part I, p. 14.

2 TV, I. 6(5).

1 तत्र स्वात्मना स्याद् घटः परात्मना स्याद् अघटः को वा घटस्य स्वात्मा, को वा परात्मा ? घटबुद्ध्यभिधानप्रवृत्तिलिङ्गः स्वात्मा, यत्र तयोरप्रवृत्तिः स परात्मा पटादिः। —TV, I. 6 (5).

as well as non-jar, existent as well as non-existent, and so on. It is determinandum as well as non-determinandum, that is, determinate as well as non-determinate. This double nature of the real, obtained by analysis, is symptomatic of the fact that the real is a complex of opposites inexpressible by definite linguistic symbol. Thus the predicate 'inexpressible' is also obtained. The real, therefore, is found to be possessed of the triad of predicates—viz., existence, non-existence and inexpressibility—all of which are elemental in the sense that each of them presents a unitary characteristic. The analysis does not yield any fourth predicate which is elemental, and so the triad should be regarded as exhaustive.

22. Now, as the triad of elemental predicates is found to be exhaustive, it follows, on grounds already given, that there are exactly seven, neither more nor less, predicates which can characterize a real in respect of pairs of 'opposite' characteristics. Let us now see whether each of these seven predicates is a unique mode of truth.

3 (ii) (B). The Predicates are Unique Modes

23. While discussing the import of the seven predicates in section 3(i), we showed also the significance of each one of them. And as uniqueness, in the ultimate anlysis, is nothing but significantness, the unique character of each of the predicates is self-evident. What, therefore, needs a critical estimate here is whether the predicates are modes of truth. By 'a mode of truth' we understand 'a true mode of the real'. The Jaina philosopher, as a realist, believes in the direct cognition of the real and for him, therefore, the judgment 'This is jar' is a judgment about the real. Consequently, he accepts a significant predicate which is not vitiated by any error as a true mode of the real. And as such the seven predicates stand for seven unique modes of truth.

3(iii). The Seven Propositions—Their Forms, Significance and Mutual Relation.

24. There are, as shown, seven significant predicates or modes of truth (भंगा:) and as each mode—though obtained by an analysis of any simple cognition or judgment and established by reflective thought—is *prima facie* subject to doubt because of its dialectical nature, there can be seven kinds of doubts (संशया:) about them. The seven doubts give rise to seven forms of curiosity (जिज्ञासा:), which, in their turn, give rise to seven questions (प्रश्ना:). The seven questions require seven answers (उत्तराणि) and the seven propositions, therefore, are asserted to meet the requirement.[1]

25. The accredited forms of the seven propositions—e. g., स्याद् अस्त्येव घट:, and the like—have been given while discussing the import of the predicates in section 3(i), and need no repetition. Their individual significance has also been discussed in the same

1 भंगा: सत्त्वादय: सप्त संशया: सप्त तद्‌गता: । जिज्ञासा: सप्त सप्त स्यु: प्रश्ना: सप्तोत्तराण्यपि ।
—Quoted in SBT, p.8. See TV, iv. 42 (15) and TSV. p. 132 where all the five heptads of भंग ? (अस्तित्व, नास्तित्व, etc), विप्रतिपत्ति (संशय), जिज्ञासा. प्रश्न and वचन (उत्तर) are given.

section. The only important problem, therefore, that remains to be examined is the significance of the seven propositions in general and their interrelation.

26. A proposition is a sentence which expresses what is either true or false,[1] and what is expressed is its significance. True and false propositions are equally significant: if ture, they express facts; if false, they fail to do so. The seven propositions are significant because expressive, and true because what they express are, on reflection, found to be facts. They are also not mere truisms, because they express truths which are not ordinarily recognized as such. These truths again are necessary, universal and constructive-necessary because neither experience nor logic contradicts them; universal because they are true of all reals; constructive because they give a synthetic view of reality. The propositions are also interrelated, and make a system. Existence and non-existence are mutually concomitant and they together qualify the same object.[2] All the seven propositions follow logically from this dictum. In fact, the very first proposition, when logically unfolded, leads to the other six as a matter of necessity. Each proposition taken singly is also significant in that it "consitutes", in the words of Professor Mookerjee, "an estimation of reality, which has been either advocated by a school of philosophers as a matter of historical fact or is capable of being entertained as a possible evaluation."[3] But an isolated proposition, according to the Jaina philosopher, does not give the whole truth. It may, on the contrary, give an untruth, if taken as negation of other truths; and it can at best, provided it only asserts itself without negating others, give a partial truth, that is, *naya* which is described as neither truth nor untruth.[4] The Jaina philosopher, therefore, rejects the validity of the isolated propositions because they stand for extremisms, and knits them together into a system which is known as non-extremism or non-absolutism (anekantavada).

3(iv). Pramana-saptabhangi and Naya-saptabhangi.

27. प्रमाण stands for the 'whole truth' and नय, as just stated, is 'neither truth nor untruth, but only a partial truth'; in other words, if the प्रमाण is a comprehensive

---

1 Cf. Aristotle: "Every sentence has meaning not as being the natural means by which a physical faculty is realized, but, as we have said, by convention. Yet every sentence is not a proposition; only such are propositions as have in them either truth or falsity. Thus a prayer is a sentence, but is neither true nor false."—*De Interpretation*, 17a.

2 अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽ विनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥
नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽ विनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वाद् वैधर्म्यं यथाभेद विवक्षया ॥ —AM, 17-8.

3 For further details, see JPN, pp. 166 seq.

4 Cf. नाऽप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।
स्यात् प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाऽप्यविरोधतः ॥ TSV, p. 123.

(सकलादेशिन्) view of reality, the नय is only a partial (विकलादेशिन्) view of it[1] in the sense that it takes into consideration only a particular aspect of the whole situation. In its widest sense, the term प्रमाण means 'valid knowledge', sensuous (consisting of मति and श्रुत) as well as supersensuous (consisting of अवधि, मनःपर्याय and केवल).[2] But the concept of validity, when analysed, is found to include 'comprehensiveness' without which knowledge is not completely valid. A प्रमाण thus turns out to be a comprehensive knowledge, though there are admittedly different grades of such comprehensiveness, ranging from the most perfect in the केवल-ज्ञान (omniscience) to the most imperfect in the lowest type of मति-ज्ञान (sense-perception). Knowledge as a natural function of the self is inherently comprehensive. This comprehensiveness however lapses as soon as the knowledge is influenced by the abstractionist tendencies of logical thought and language. The lapse in its turn may either halt at the assertion of a particular position without negating (but only implicitly recognizing) the truth of other plausible views, and thus give rise to what has been called नय (or more accurately, सुनय) ; or, it may lose the balance and climb down further by asserting a particular position as the only truth intolerant of other truths and thus give rise to what is known as दुर्नय (wrong view).[3] The contingencies

---

In this connection one may read with interest the following note of Bradley; "And hence it follows also that every 'part' of this whole must be internally defective and (when thought) contradictory. For otherwise how from one to others and the rest could there be any internal passage? And whithout such a passage and with but an external junction or bond, could there be any system or whole at all which would satisfy the intellect, and could be taken as real or possible? I at least have given my reason for answering this question in the negative. We may even, forgetting other points of view, say of the world,

Thus every part is full of vice,
Yet the whole mass a paradise."—

Appearance and Reality, p. 510.

1 See TSV, p. 118 (verse 3).

2 For an idea of मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय and केवलज्ञान, see my *Stu diesin Jaina Philosophy* Ch. II.

3 Cf. धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय-दुर्नयानाम्—AS, p. 290 (The passage belongs to अष्टशती,). Also see सन्मतितर्क, I. 21et seq. Also cf. अन्ययोगव्यवच्छेद, 28 :

सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधार्थो ।
मीयेत दुर्नीति-नय-प्रमाणैः ॥

Accordint to the last quotation, the propositional forms of दुर्नय, नय, and प्रमाण are respectively सद् एव । (a real is existent only), sat (a real is existent) and स्यात्सत् (a real is existent in some respect).

In this connection, the views of वीरसेन are worth mention. According to him, a सुनय (नय in the above quotations) gives prominence to a particular aspect and must

of नय (सुनय) and दुर्नय arise only when a knowledge situation is sought to be expressed in or understood through inadequate logical categories and linguistic symbols, which fail to express the knowledge in its pristine comprehensiveness unless their significance is rightly analysed. A right analysis leading to a comprehensive logical understanding and linguistic expression is called स्याद्वाद,[1] and what leads to only a partial apprehension and expression is नय. In other words, while the स्याद्वाद[2] is a complete logical estimate and linguistic expres-

---

have स्यात्—it does not matter whether it is expressly stated or taken as understood–in its propositional form, while a दुर्नय is a proposition which asserts the exclusive truth of a particular aspect as in the proposition सद्एव् (धवला Vol. IX, p. 183). Both सुनय and दुर्नय, however, give rise to a comprehensive knowledge inasmuch as the knowledge is ipso facto comprehensive and cannot be fragmentary. (जयधवला, Vol. I, p. 204 : दुर्नय-वाक्याद् अपि सुनयवाक्यादिव श्रोतुः प्रमाण मेवोत्पद्यते, विषयीकृतैकान्तबोधाभावाद् । A sunaya expresses the real in its entirety through a particular aspect. This expression of the real in its entirety is known as सकलादेश which is प्रमाणाधीन, that is, under the dominance of प्रमाण. The fragmentary expression of the real, on the other hand, is known as विकलादेश and is embodied in propositions like अस्त्येव, नास्त्येव, and so on, which are durnayas. The विकलादेश is नयाधीन, that is, under the dominance of naya. (जयधवला, Vol. I, pp. 201-4). These observations of वीरसेन leaves us in darkness regarding the line of demarcation between a sunaya and a प्रमाण inasmuch as both of them are found to be सकलादेश. The problem of विकलादेश has also been left obscure by वीरसेन. Akalanka has prescribed the use of the expression स्यात् even in the case of विकलादेश (TV, IV. 42, 17) and therefore he regards it as sunaya. But according to वीरसेन, the विकलादेश, though giving rise to प्रमाण, is never the less, in its propositional form, a durnaya.

The distinction between sunaya and प्रमाण is of course very meagre. A sunaya must recognise the reality of aspects other than the one expressed by itself, and in this respect its distinction from प्रमाण is nothing but formal. The element of neutrality or indifference (उपेक्षा) towards other plausible aspects as the distinctive feature of a sunaya is also not very important, because ultimately the indifference in the present context must be taken as conscious of other plausible aspects, and this consciousness is tantamount to an assertion of thom aspects. The distinction thus, if any is only quantitative and not qualitative. The proble of विकलादेश may also be viewed from a different angle. विकलादेश is of course an imperfect way of expression and as such it may be viewed as erroneous. The error must find place in its propositional expression and hence the propositions like अस्त्येव, नास्त्येव and so on, as vehicles of its expression may be justified. The observations of वीरसेन might have been influenced by those weighty considerations, and probably he did not think it necessary to dia: late on these details which obviously follow from his above statements.

1 For further information about syadvada and the meaning of the term syat, see section 2 above.

2 Cf. स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व प्रकाशने. :AM, 105.

sion of the real, the नय is only a partial logical estimate and linguistic expression of it. Now as the logico-linguistic analysis of reality is the subject matter of श्रुत-ज्ञान, the स्याद्वाद and the नय are regarded as the two aspects of the latter.[1]

28. A brief reference to the private-cum-public character of प्रमाण and नय and a further distinction between the two may be made here. A प्रमाण or a नय in its private (स्वार्थ) character is knowledge or intuition[2] (ज्ञान) and in its public (परार्थ) character, it is verbal expression (शब्द) conveying the intuition.[3] Each of the five प्रमाणs —viz., मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय and केवल—thus has two aspects, viz., intuitional and verbal,[4] and the verbal aspect, being representative of the intuitional, is as much comprehensive as the latter. The natural comprehensiveness of the verbal expression, however, lapses with the latters's association with logical categories and growth into linguistic symbols which the human intellect invents for a better understanding of the nature of reality, though the result is quite the contrary. The categories and symbols are further knit together into various theories which crystallize into mutually opposed schools of thought. The Jaina philosopher includes all these conflicting schools of thought under श्रुत-ज्ञान which may be right (सम्यक्) as well as wrong (मिथ्या). The right श्रुत again may be either प्रमाण or नय. It is प्रमाण if it is comprehensive, and नय if it is only partial. The implications of the terms 'comprehensive' and 'partial' have already been explained and need no further clarification. The other four ज्ञानs—viz., मति, अवधि, मनःपर्याय and केवल—are, however, necessarily comprehensive[5] inasmuch as logical categories and lignuis-

---

1 Cf. नयानामेकनिष्ठानां प्रवृत्तेः श्रुतवर्त्मनि ।
सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते ॥
—न्यायावतारसूत्र, 30. Also cf.
उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसंज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसंकथा ॥— लघीयस्त्रय,. 62.

Truly speaking, श्रुतज्ञान stands for the whole scripture, स्याद्वाद for the central non-absolutistic philosophy of the scripture, and naya for the specific philosophical propositions that are knit together into the scripture.

2 We have used this term in the sense of pure cognition uninfluenced by any logical abstraction.

3 Cf. मत्यादि-ज्ञानं वक्ष्यमाणं, तदात्मकं प्रमाणं स्वार्थं । शब्दात्मकं परार्थं । श्रुतविषयैकदेशज्ञानं नयो वक्ष्यमाणः स स्वार्थः, शब्दात्मकः परार्थः—TSV, p. 128.

4 पूज्यपाद does not recognize the verbal or the public (परार्थ) character of any knowledge (प्रमाण) except श्रुत-ज्ञान. See his सर्वार्थसिद्धि on TS, I. 6.

5 Cf. अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम्-न्यायावतारसूत्र. 29, with Siddharsi's विवृति । which says-अनेनानेकान्तमन्तरेण संवेदनप्रसरव्यवच्छेदं दर्शयति, भ्रान्तसंवेदनानामप्यनेकान्तोद्योतनपटिष्ठतया प्रवृत्तेः.....यदा संवेदनसामान्य मप्यनेकान्तविरहेण न प्रवर्तितुं उत्सहते, तदा तद्विशेषणभूतं प्रमाणं एकान्ते प्रवर्तिष्यते इति दूरापास्तावकाशा एवैषा वार्ता. Also cf. प्रमाणं समस्तवस्तुस्वरूपपरिच्छेदात्मकं मत्यादि, नयास्तु एकांशावलंबिनः—तत्त्वार्थभाष्य-टीका, Vol. I, p. 53.

tic symbols do not play any significant part in their case. Their intuitional comprehensiveness is not disturbed by the vagaries of conceptual thought and the defects of abstract linguistic symbols. Of these four, the केवल-ज्ञान is the most perfect inasmuch as it knows its object completely in all its details. The other three are imperfect in that they are capable of knowing only a limited number of objects with a limited number of attributes and modes. But, in spite of this, they are regarded as comprehensive because of their direct touch with the object and freedom from the association of false opinions and doctrines which destroy their natural freshness and purity. The case of श्रुत-ज्ञान, however, is quite different. It is knowledge derived from verbal expressions and artificial concepts engendered by them, which, on account of their inherent limitations, present a hazy or even a distorted view of the object, and an intellectual effort is needed to clear the haziness or rectify the distortion. The recapture of the full original intuition hidden under logical categories and linguistic symbols is the function of श्रुत *qua* प्रमाण (also called स्याद्वाद), to understand the standpoint and intention which inspire a particular statement of facts is the function of श्रुत *qua* नय,[1] and the blind insistence on the distorted view is दुर्नय.

29. But how can our language overcome its inherent limitations and express the original comprehensive intuition in full ? A word (predicate) can express only one characteristic (attribute or mode) at a time and a number of characteristics can be expressed only consecutively (क्रमेण) by a number of words. The simultaneous (यौगपद्येन) expression of all the characteristics of a real in its entirety (सकलादेश) is beyond the capacity of language, and hence the problem of the expression in language of the original comprehensive intuition arises. The Jaina philosopher has tried to solve the problem by a device which is symptomatic of his non-absolutistic position. From the substantial (द्रव्यार्थिक) standpoint, a word expresses a characteristic in its aspect of identity with the other coordinate characteristics, and this ontological identity (अभेदवृत्ति) among the characteristics of a real is taken as the basis for the extension of the import of a word to all the other coordinate characteristics; from the modal (पर्यायार्थिक) standpoint, on the other hand, a word expresses a characteristic in its aspect of difference (individuality) from the other coordinate characteristics, and here the basis of a similar extension of the import of the word is metaphorical identity (अभेदोपचार) among the characteristics of the real.[2] The

1. Cf. नयोज्ञातुरभिप्रायः—लघीयस्त्रयः, ५२
जावइया वयणवहा तावइया हौन्ति नयवाया—सन्मतितर्क, III. 47.
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजकोनयः—AM, 106.

2 Cf. यदा अभिन्नमेकं वस्तु एकगुणरूपेण उच्यते, गुणिनां गुणरूपम् अन्तरेण विशेषप्रतिपत्तेरसम्भवात्, एकोहिजीवोऽस्तित्वादिष्वेकस्य गुणस्य रूपेणाऽभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा निरंशः समस्तोवक्तुमिष्यते, विभाग-निमित्तस्य प्रतियोगिनो गुणान्तरस्य तत्रानाश्रयणात्, तदा सकलादेशः। कथमभेदवृत्तिः कथं वा अभेदोपचारः ? द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकाद् अभेदवृत्तिः, पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परव्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोपः, ततश्चाभेदोपचारः—TV, iv. 42 (14).

extension of the import of a word is thus found to be possible on the basis of identity, either ontological or metaphorical according to the standpoint of the speaker. And the expression स्यात् is used to manifest the intended extension of the import of the predicates of the propositions.[1] Each of the seven propositions of the सप्तभंगी can thus, if so intended, be made to mean the whole truth in its own peculiar way through the individual characteristic (e.g. existence, nonexistence and the like) directly expressed by its predicate.

30. It may be mentioned in this connection that the Jaina philosophers have enumerated eight distinct factors—viz., time (काल) and the like—which are conceived as differentiating limits as well as integrating bonds of the characteristics of a real and as such respectively conditions of the consecutive and simultaneous expression of these characteristics.[2] Thus (1) time (काल) is a differentiating limit, because a unitary entity cannot prima facie possess a number of different characteristics at one and the same time, and if it is found to do so, its unity is dissolved into plurality, there being as many entities as there are characteristics. This is the finding of the analytic (पर्यायार्थिक) standpoint. In the synthetic (द्रव्यार्थिक) standpoint, on the other hand, time is an integrating bond. The plurality of characteristics is found to be somehow bound into a unity by means of simultaneity. Similarly, (2) self-identity (आत्मरूप) of a characteristic is a differentiating limit, because it differentiates one characteristic from another. It is a uniting bond as well in view of its reference to an entity which is the common referend of all other coordinate characteristics. (3) The substratum, (अर्थ) likewise, is regarded as a differentiating limit in respect of its aspect that varies with each of its characteristics and as an integrating bond in respect of its aspect that is the constant reference of all those characteristics. In the same way, (4) the relation (सम्बन्ध) of identity-cum-difference that obtains between an entity and its characteristics functions as a differentiating limit when taken as a relation of difference, and as an integrating bond when taken as a relation of identity. Similarly, (5) the influence (उपकार) exerted by each characteristic upon an entity, viewed as an isolated event, is the differentiating limit and the same influence *qua* a common function of all characteristics is the integrating bond. (6) The substance-space (गुणि-देश), likewise, viewed as an inelastic space-point of a particular characteristic is a differentiating limit; but, viewed as a common locus of the coordinate characteristics, it is an integrating bond of those characteristics. In the same manner, (7) the association (संसर्ग)[3]

---

1 Cf. अथवा स्याच्छब्दोयं अनेकान्तार्थस्य द्योतकः। द्योतकश्च वाचकप्रयोग-सन्निधिमन्तरेणाऽभिप्रेतार्थविद्योतनाय नालमिति तद्द्योत्यधर्माधारार्थाभिधानाय इतरपदप्रयोगःक्रियते। अथ केनोपात्तोऽनेकान्तार्थोऽनेन द्योत्यते ? उक्तमेतत्अभेदवृत्त्या अभेदोपचारेण वा प्रयुक्तशब्दवाच्यताम् एवास्कन्दन्ति इतरे धर्मा इति—TV. iv. 42(15).

2 तस्य शब्देनाभिधानं क्रम-यौगपद्याभ्याम्। ते च कालादिभिर्भेदाभेदार्पणात्–TV, 42 (Varttikas 12 and 13)

3 This संसर्ग is different from सम्बन्ध (the fourth factor mentioned above) in that the former stands for 'difference qualified by identity' while the latter for 'identity qualified by difference.' In other words, in samsarga the element of difference is prominent while in sambandha the element of identity is salient.—SBT, pp. 33-4.

between an entity and its characteristics can be viewed as a differentiating limit as well as an integrating bond. Lastly, (8) the verbal symbol (शब्द) standing for a characteristic is a differentiating limit in so far as it is expressive of that particular characteristic, but, in so far as it is an expression for the thing possessed of similar characteristics, it is an integrating bond.[1]

31. The possibility of the simultaneous expression of all the characteristics of a real in its entirety being thus established, the concepts of प्रमाण-सप्तभंगी and नय-सप्तभंगी can be easily understood. Each of the seven propositions of the प्रमाणसप्तभंगी for stands for the whole truth. As a member (भंग) of the प्रमाणसप्तभंगी, the proposition 'A jar certainly exists in its own context (स्यादस्त्येव घट:) is intended to be expressive of all the characteristics of the jar in its entirety (सकलादेश). And this is the case with each of the other six propositions also. Each of these seven propositions expresses the whole subject by means of the particular characteristic predicated in it. The comprehensive character of each of the seven propositions does not make the six propositions other than itself redundant, because each stands for the whole truth in its own peculiar way through a particular characteristic which is directly expressed by the predicate—the remaining characteristics being indirectly implied (by the predicate).[2] Thus, for instance, if in the first proposition 'A jar certainly exists in its own context', the predicate 'existence' directly (प्राधान्येन) expresses the substantial continuity of the jar, it indirectly (गुणभावेन) implies the modal discontinuity of the some thing.[3] In the second proposition the position is reversed, that is, the modal aspect is directly expressed and the substantial aspect is indirectly implied. The meanings of the other five propositions are to be expounded on similar lines.

32. The same septad of propositions (सप्तभंगी) can be viewed as नय-सप्तभंगी if the predicate of each of the propositions is intended to stand for the characteristic which is directly expressed by it without any intention of affirming or denying the indirectly implied characteristics other than the one directly expressed. The intention of affirming the other characteristics indirectly implied would make the proposition a member of the (प्रमाण-सप्तभंगी,) while the intention of denying the same would make it a case of दुर्नय (untrue proposition), and this is why a proposition, in order to be a member of the नय-सप्तभंगी, must be inspired by the intention of asserting the particular chara cteristic only, without any further implication, positive or negative.

33. The use of the expression स्यात् (e. g. in स्यादस्त्येव घट:) is to be made both

1 See TSV, p. 136.

2 Cf. यद्येवं स्याद् अस्त्येव जीव इत्यनेनैव सकलादेशेन जीवद्रव्यगतानां सर्वेषां धर्माणां संग्रहाद् इतरेषां भंगानामानर्थक्य मासजति; नैष दोषः, गुणप्राधान्यव्यवस्था–विशेष-प्रतिपादनार्थत्वात् सर्वेषां भंगानां प्रयोगोऽर्थवान् —TV, iv. 42 (15).

3 Cf. ....तद्यथा, द्रव्यार्थिकस्य प्राधान्ये पर्यायगुणभावे च प्रथमः—Ibid.

in the propositions of the प्रमाण-सप्तभंगी and those of the नय-सप्तभंगी. It may however be dropped if its meaning is otherwise apparent. In the case of the propositions of the प्रमाण-सप्तभंगी the expression स्यात् does the positive function of implying simultaneously (यौगपद्येन) all other possible characteristics that are true of the subject, while in the case of the propositions of the नय-सप्तभंगी, the same expression does the negative function of prohibiting the denial of these characteristics. The cognitive attitude in the first case is 'indefinite', that is, without any artificial definiteness, while the cognitive attitude in the second case is 'definite', that is, with a definiteness which tends to define the object without denying its 'indefinite' character.[1]

34. विद्यानन्दि, who agrees with the above distinction between a प्रमाणवाक्य (i.e. a सकलादेशिन् proposition of the प्रमाण--सप्तभंगी (and) नयवाक्य i.e. a विकलादेशिन् proposition of the नय-सप्तभंगी), records a number of views on the subject and rejects them as untenable.[2] Thus there were thinkers who regarded the proposition, which predicated more than one characteristics of the subject, as a प्रमाणवाक्य, and the proposition, which predicated only one characteristc, as a नयवाक्य. But, according to this view, the first, the second and the fourth propositions of the सप्तभंगी would be cases of नयवाक्य and the remaining four propositions only would be cases of प्रमाणवाक्य, and this is obviously a consequence which no Jaina philosopher would admit as acceptable. There was again the view that a proposition about pure substratum (धर्मिमात्र) is प्रमाणवाक्य and that about a characteristic (धर्ममात्र) is नयवाक्य . But this is also untenable, because a pure substratum or a pure characteristic is incapable of being expressed by a proposition. There was a third view which regarded the seven propositions, when taken severally, as so many नयवाक्यs and the same, when taken jointly, as a प्रमाणवाक्य. But this also is absurd, because a number of partial truths cannot together make up the whole truth. Truth is a unitary whole and cannot be taken as composite of discrete parts. The part of a whole must itself be a whole. अभयदेवसूरि, in his commentary on the सन्मतितर्क-प्रकरण of सिद्धसेन-दिवाकर, mentions a view which regarded the first, the second and the fourth propositions of the सप्तभंगी as सकलादेशिन् (i. e. प्रमाणवाक्य) on account of their reference to the whole subject by virtue of the unitary character of their predicates, and the remaining four as विकलादेशिन (i.e., नयवाक्य) on account of their reference to the individual aspects of the subject by virtue of the multiple character of their predicates.[3] This is also untenable because of the unnecessary distinctions it makes between the identical subjects of the seven propositions.

---

1 For further elucidation of the problem, see fn. 3, § 29. Cf. सकलादेशोहि यौगपद्येनाशेषधर्मात्मकं घटादिरूपमर्थं कालादिभिरभेदवृत्त्याऽभेदोपचारेण वा प्रतिपादयति, सकलादेशस्य प्रमाणरूपत्वात्. विकलादेशस्तु क्रमेण भेदप्राधान्येन भेदोपचारेण वा सुनयैकान्तात्मकं घटादिरूपमर्थम् प्रतिपादयति, विकलादेशस्य नयरूपत्वात् । SBT, p. 32.

2 See TSV, pp. 137 ff.; also SBT, pp. 16-19.

3 See सन्मतितर्क-प्रकरण, Vol. 3, pp. 445-6 (Ahmedabad, samvat, 1984)

ABBREVIATIONS.

AJP......अनेकान्तजयपताका of Haribhadra.

AM......आप्तमीमांसा

AS......अष्टसहस्री of विद्यानंदि

JPN......The Jaina Philosophy of Non-absolutism by Dr. Satkari Mookherjee.

JTA..... The Jain Theory of अनेकान्त in 'Studies in Philosophy' Vo. 1.—By K. C. Bhattacharya, Calcutta, 1956.

SBT......सप्तभंगीतरंगिणी of विमलदास.

SKH......षट्खंडागम.

TSV......तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक

T......तत्त्वार्थवार्तिक (ed. by Pt. Mahendrakumar न्यायाचार्य).

The Problem of Time

J. S. ZAVERI

The riddle of time is among the oldest and most perplexing of all the problems which confront the philosopher as well as the scientist. Every body, be he a common man, a scientist, an engineer or a philosopher, acknowledges not only the existence, but also the usefulness of time. Its tremendous influence on the most common as well as most unusual events is universally recognised. Whenever we talk of any kind of happening, from a casual meeting of two friends to the explosion of a distant star, one of the first questions would be: "when did it happen". Time is the immediate and inevitable condition of the modification of every substance. It is an important factor in the movement and other activities of the animate and inanimate things. The velocity of their motions, acceleration etc. can only be known and made useful by the application of time. Similarly, freshness and staleness, oldness and youngness, before and after are all results of the influence of time.

But, if we ask a simple question "What is time ?" each of these people will probably give a different answer. For most of us common men time is an abstraction marked by events and harnessed by means of clocks and calendars. In mathematical Sciences it is a postulate necessary to explain the laws of Dynamics and useful for the construction of equations of velocities etc. In experimental Sciences (and engineering) it is a continuum which is very useful for calculations of experimental results, making formulæ and depicting them by graphs or vector diagrams. For the followers of Einstein's theory of relativity time is the fourth dimension of the four dimensional space—Time continuum. None of these people—common man, Scientist, Mathematician or Engineer—however, care whether time is an ultimate reality or not. It is the business of the metaphysician i.e. the philosopher to be directly concerned with the question of the reality of time.

For the metaphysician, the fundamental problem is whether time is subjective or objective. Expressed in a different (and perhaps a better) way the question becomes : Is time ultimately real or merely phenomenal ? Do things wear the modes of succession in time merely as a consequence of our own finite imperfect knowledge ? Is the entire Reality when directly apprehended by an absolute all-embracing experience (as that of a Kevalin i.e. omniscient) non-temporal ? Is time limited ? Continuous ? Is there a quantitative element in it ? Is it indivisible or infinitely divisible ? The questions are posed more with a view to indicate the nature of the problem rather than provide definite answers to them which will be far beyond the scope of the present article. All that we intend to do here is to deal very superficially with some of them by putting the modern conceptions side by side with the ancient ones.

Classical Philosophical Conceptions :

The word Kala meaning time is very ancient one in Indian philosophical literature. It is used to express many different meanings. In Rigveda Kala is said to be the 'Destroyer of the Universe'. It is also used there to mean an Era or Age. In Atharva Veda, Kala is accepted as an eternal reality and the determinant factor of all creation. In Upnishads, such as Brahadaranyaka, Maitrayana etc. the word Kala is used in many different senses. In Mahabharat there is an elaborate commentary on Kala. It has been used to mean 'Creator', 'Future', 'That which is bound to happen', 'Destiny', etc. etc. In Jain scriptures, we come across two words—Kala and Samaya—both meaning time.[1] The latter is also used to mean the smallest ultimate unit of time which is further indivisible and which therefore can be called a time-point.

According to Jains, Time is the necessary condition of duration (continuity), change (modification), motion, newness and oldness of substances.[2] Though time alone cannot cause a thing to have continuity of existence, duration necessarily implies moments of time in which existence is prolonged. Modification or change of states also cannot be conceived without time. Similarly, motion which implies the assumption of successive positions in space by an object can be conceived only with the existence of time. Lastly the distinction between the old and new, the before and the after cannot be explained without time.

Jain writers (sometimes) distinguish between (i) Parmarthika Kala i.e. absolute or transcedental time and (ii) Vyavaharika Kala (also called Samaya) i.e. empirical or conventional time. Absolute time is real and infinite (eternal) but it is formless and not perceptual. It is the determinant factor of continuity or duration (Vartana) of substances. The empirical time, on the other hand, is conventionally divided into instants, minutes, hours etc. and is limited by a beginning and an end.

Jains hold that every object known by us possesses innumerable characters. As in common conversation so also in philosophy a distinction is made between the qualities (dharm), and that which possesses them (dharmi). The latter, which is thus an ultimate substratum in which the qualities inhere is called a substance (dravya). A substance is ultimately real. Ultimate reality according to Jains consists of three factors : permanence, origination and decay. They believe that things change, that within the unity of the one thing there is a succession of different states. The old state is destroyed and is succeeded by a new one. But there is an eternal essence in every substance which enables its possessor to persist through transformations i.e. unceasing succession of its changing modes. Only what is identical and permanent can change. The self which changes with the flux of time is still the same old self.[3] There are six such ultimate substances which compose the entire universe viz. (1) Dharmastikaya (2) Adharmastikaya (3) Akasastikaya (4) Pudgalastikaya (5) Jivastikaya and (6) Kala.

1. Kalaha Samyadihi.
2. Vartana-parinama-Kriyah-partvapartvadibhih-lakshyah (Jain Siddhant Deepika, Chapter I Aph. 19 and 20).
3. Cf: Tempora mutantur, nos. et. mutamur in illis.

While there is unanimity of opinion about the ultimate reality of the first five, there is considerable disagreement amongst the Jains themselves regarding Kala. One section does not accept Kala as an ultimate reality but maintains that the unceasing mutability (paryaya) of other substances like Jiva and Pudgala etc. is itself symbolised into an 'existent' called Kala. It is merely a postulate required by our practical needs for expressing their modifications in terms of instants, minutes, hours, etc. But transcendentally they (instants etc.) have no existence independent of soul, matter etc. Thus according to this school of thought, time is a pl.enomenal appearence of higher reality like soul, matter etc. which, of course, are themselves ultimately real.

According to another traditional school, empirical time is considered a mode or state of trancedental time (which itself is accorded the status of a reality). In its turn the empirical time (hour, minute, etc.) is the modification of the soul, matter etc. A third school accords the status of reality to time without differentiating between empirical and transcedental time. This belief is again subdivided into atleast four viz. (1) Time exists as innumerable unconnected points, (2) it exists as a continuous unity composed of connected points and pervades the whole inhabited Universe (Loka), (3) it is a continuous unity but is confined to a limited space inhabited by human beings, and (4) it exists as a single point.

It will be out of place to enter into a detailed discussion of the various opinions. Suffice it to say that if Time is accepted as a continuous unity composed of mutually connected points, it becomes an Astikaya[1] and the contention will be in opposition to the Agamic belief according to which the number of Astikayas is five and not six. On the other hand the number of real existents (Dravya) is six and hence there is no contradiction to Agamic opinion if Time is accorded this status at least empirically.

The difference of opinion regarding Time is not confined to Jain schools alone. It is also to be found in the Vedic and Buddhist schools of philosophy. Naiyayika and Vaisheshika accept Time as an all pervading indivisible, continuous unity anJ ultimate reality. Its empirical divisions into hours, minutes, etc. are only symbolical. Purvamimansa also accept the independent real existence of Time. One Buddhist School (Sasvatovadins) also accept the existence of present, past and future Time. In direct opposition to the above, Samkhya, Yoga, Vedanta, Vijnanavadins and Shunyavadins do not accept the existence of time as an independent reality. The Samkhya thinker Vijnanabikshu says that eternal Time is an attribute of Prakriti and divisible time (hour, etc.) is produced by the space. In Yogashastra it is stated that Time is not an ultimate reality. Days and nights have symbolic existence for the sake of popular convenience. Here the 'Time' is defined as a Time-point. A time-point is destroyed as soon as it is produced and another point is produced. The points cannot possibly be integrated into a unity and so at the best the existence of Time

1 Astikaya means a substratum extended in space of a homogenous body (Kaya) composed of a number of units called pradesa (or asti). According to another difinition, it means that which exists (asti) like a body (Kaya) possessing extension.

can only be ideal and not real. Vedantists are notorious monists and do not accept the real existences of anything except Brahman. Like Shankaracharya, Ramanuja, Nimbarka, Madhava and Vallabha also reject the real existence of Time. Buddhist thinkers like Shantrakshita etc. also do no not accept the existence of Time as an ultimate reality.

Division of Time :

Empirical or conventional time is limited by a beginning and an end and is divisible into small and big intervals, but it is not infinitely divisible.

Samaya is the smallest unit of time or time-point. It cannot be sub-divided further into smaller intervals. The time-point (Samaya) is beyond human comprehension and can be intuited only by the omniscient. Countless samayas flow away in the twinkling of the eye. To explain the subtlety of the time-point two illustrations are commonly given in the Jain scriptures.

(1) When a strong man pierces a Thousand lotus petals put together, by a pointed sharp needle, it would appear as if the piercing of all the petals occurred instantaneously, but actually that cannot be the case. The second petal can be pierced only after the first one and the third after the second is pierced and so on. Innumerable time-points must elapse in piercing each of the petals.

Again (2) : When a strong youth quickly tears an old worn out fine piece of cloth it would appear that the whole action was instanteneous. But the cloth is made up of many yarns and each yarn is made up of many cotton fibres. Each fibre is again made up of infinite 'Samitis'. Each Samiti contains infinite 'Samudays' each of which is composed of infinite Sanghatas and infinite Paramanus one integrated to make a Sanghata. Now the tearing process accounts for the division of each component in turn. The time interval taken to tear a single fibre contains countless Samayas.

A table for time according to Jain system of units is given in the Appendix.

The Modern (Western) Metaphysical Views :

The modern metaphysical treatment of the subject insist upon distinguishing between what they call (1) perceptual time and (2) conceptual time. The former is the time as directly known to us in sense-perception while the latter is a concept elaborated by the process of synthesis and analysis of the essential features of the former.

Perceptual time consists of a quantitative element as well as a qualitative character. Different times can be quantitatively compared in respect of the duration comprised in them. On the other hand, lapses of duration also have their special direction i.e. transition from before to after.

The most important peculiarity of the perceptual time is that it has an unique relation to the perceiving subject. Its directions are irreversibly and unambiguously determined by reference to the "now" or the "focus of consciousness" of the percepient. What is actually focal is "now", what is ceasing to be focal is "past", what is just coming to be focal is "future".

Conceptual Time :

It is easily seen from the above that every individual has its own special perceptual time-system. For the purposes of the practical life it is essential to establish equations between these different individual time systems. It is imperative that one should be able to reconstruct mentally the temporal aspect of experience in a form independent of reference to the individual "now". Thus the establishment of a single conceptual time-system is ultimately required by our practical needs. This system could be constructed by a combined process of synthesis, analysis and abstraction of the perceptual data. The indefinite repetition of the conceptual synthesis of individual "now" leads to the thought of a duration reaching out endless by into past and future and this gives us the familiar concept of the Infinity of time. The conceptual time is therefore unlimited. It can be easily seen that by a similar indefinite repetition of the process of analysis, it is indefinitely divisible or possessed of no ultimately indivisible last part.

Similarly, there is enough valid ground for regarding it as mathematically continuous. All moments time are alike i.e. conceptual time is homogeneous throughout, This is an inevitable consequence of the abstraction from all referencc to the "now" of immediate feeling. There is absolutely no means of distinguishing before from after, past from future, And lastly it is commonly thought of as a unity of some kind.

Time is held to be merely phenomenal and not ultimately real. It is argued that perceptual time cannot be ultimately real because it involves reference to the 'now' of a finite and imperfect experience of an individual. Conceptual time, again, cannot be real because it is a mere postulate. It contains no principle of internal distinction and is thus not individual. It represents mere abstract possibility of a finite point of view. Neither it gives a point of view both individual and infinite and nor therefore can be the point of view of an absolute experience. The contention that time is phenomenal, the result of a process of construction forced on us by our practical needs is further supported by the arguments that by the recognition of this, both sides of the antinomy founded upon the concept of temporal infinity become relatively true. Time, then, must be the phenomenal appearance of a high reality which itself must be timeless.

Time in Scientific Principles :

We shall conclude the discussion after briefly examining the development of the conception of time in scientific literature from Sir Isac Newton to Dr. Albert Einstien.

"Absolute, true and mathematical time of itself and from its own nature, flows equally without relation to anything external", wrote Sir Isac Newton two and a half centuries ago. The entire structure of Newtonian laws of mechanics was based on the existence of time absolute and relative. Incidentally the ancient division of time into transcendental (absolute) and empirical may be compared to the absolute and relative time of Newtonian principles.

The concept of absolute time—of a steady unvarying inexorable universal time flow, streaming from the infinite past to the infinite future—was discarded by Dr. Albert Einstein,

According to him, time has no objective reality, no independent existence apart from the order of events by which we measure it. An instant, an hour or a day is nothing without an event to mark it. The subjectivity of time is best explained in Einstein's own words thus : "The experiences of an individual appear to us arranged in a series of events ; in this series the single event which we remember appear to be ordered according to the criterion of 'earlier' and 'later'. There exists therefore for the individual an I—time, or subjective time. This in itself is not measurable. I can, indeed, define it by means of a clock by comparing the order of events furnished by the clock with the order of the given series of events. Thus according to Eienstein we make time an objective concept by referring our own experience to a clock. Yet the time intervals provided by a clock are by no means absolute quantities imposed on the entire Universe. In fact there is no such thing as fixed interval of time, no such thing as simultaneity and no such thing as 'now' independent of a system of reference. If we try to ascertain, for example, what is happening on the star Arcturus "right now" a very complicated situation arises because this star is 38 light years away. If we were to send a radio message to Arcturus 'right now' it would take 76 years for us to receive a reply.[1] And when we see Arcturus now in 1960, we are actually seeing a ghost-light rays that left their source in 1923.

The space of our world is a three dimensional continuum. To describe any physical event involving motion, however, it is not enough simply to indicate position in space. It is necessary to state also how position changes in time. For instance, the fact that an air-liner is at latitude X, longitude Y and altitude Z means nothing to the traffic manager of airline unless the time co-ordinate is also given. So time is the fourth dimension and if one wishes to envisage the light as a whole as a physical reality, it must be envisaged as a continuous curve in a four-dimension space-time continuum.

Thus Einstein has elevated time to the status of a fourth dimension in the space-time continuum and equated it with the space. Today it has become common place to use the expression 'light years'. Space and time has been expressed incomparable units by using the velocity of light as the factor of conversion. Thus a distance of 1,86,000 miles is one light-second and one-light year corresponds to 5,879,000,000,000 miles (roughly six trillion miles) Similarly, the time interval of 15 minutes becomes 800,000,000,000 light feet and one light foot. is .0000000011 second. Thus by ordinary life standards the rational unit of time is very small indeed.

Conclusion.

We have now put down the various conceptions regarding time. The reader has already been warned in the beginning that it will not be easy to give specific answers to the various questions. Even to draw definite conclusions, it would be necessary to make a systematic inquiry into the meaning of the distinction between the real and the apparent and the general character of reality as such.

1. (Radio-waves travel at the same speed as light waves viz. 1,86,000 miles per second.)

Jains present a non-absolutistic attitude towards reality. There is no such thing as an absolute existence. They do not accept absolute permanence or total cessation. Change is as much real as permanence, and not a mere illusion of our senses. The distinction between Paramarthika and Vyavaharika Kala is a typical instance of their non-absolutist comprehension of the problem of reality. Time, therefore, is an ultimate reality (Dravya) but is not an Astikaya. To say that the existence of time is only subjective and it has no objective existence is an absolutist statement and is to be rejected by Jains. Again, the statement that time must be merely an appearance, an imperfect phenomenal manifestation of some higher reality, raises the question "of what is it the appearance". The answer by the Western metaphysician could obviously be "of the Absolute". But if the Absolute is held to be absolutely timeless how can time be its phenomenal manifestation ? Moreover, to the question "how then is time transcended in the absolute all embracing experience", the Western metaphysician's answer is bound to be "we cannot say".

We would just add a short paragraph on the conception of space-time equation. We have seen that micro-space can be very conveniently measured and stated in terms of light-years. We are not aware of a similar equation for micro-space. The Jain Agamas give some idea of the relative subtlety of time and space. As stated before, Samaya is indivisible ultimate constituent of time or time-point. Similarly a space-point which is the ultimate indivisible unit of space is called Pradesa. Now it is conceived (by Jainas) that a number of space points of a small space of one angula is more than the number of time-points of a countless number of cycles of time. Thus a space-point is subtler than a time-point. The equation, unfortunately, has little practical utility but at least proves that the idea of equating time with space is an ancient one.

APPENDIX

Division of time

Micro Time

Samaya	...	...	Indivisible unit of time. i.e. a time point.
Countless Samayas	...	...	One Avalika.
$4446 \frac{2458}{3773}$ Avalika	...	...	One normal pulse-beat

Measurable normal Time

7 Normal breaths	...	...	One Stoka
7 Stokas	...	...	One Lava
$38\frac{1}{2}$ Lavas	...	...	One Ghadi = 24 minutes.
77 Lavas	...	...	Two Ghadis = One Muhurt.

16777216 Avalikas or 3773 Breaths made one Muhurt = 48 minutes

30 Muhurt	...	one day and night
15 days	...	One paksa (fortnight)
30 days	...	One month.
12 months	...	One year,
7096 × 1012 years	...	One Purva.

Macro Time

Countless years	...	One Palyopama.
10 × 1014	...	One Sagropama.
20 × 10 Sagropamas	...	One Time-cycle.
Infinite Time cycles	...	One Pudgala Parvarta.

Jaina Monachism

S. B. DEO, M. A., Ph. D., Deccan College, Poona.

It is an often-stated fact that whereas Buddhism, a junior contemporary of Jainism, has been wiped off its fact from the region of its origin, Jainism has been still a thriving culture. Several reasons have been put forth by scholars for this phenomenon. However, the best method of understanding this long and chequered history of Jainism, is to know in all its aspects the nature of Jain (Jaina) monachism, its beginning, development and culmination, its relations with the laity, its conservatism, its peaceful role and its ethical nature. These will reveal the secret of the survival of Jainism in India. Such a study will also help the reader to compare the nature of Jaina monachism with that of Buddhist monachism.

Antiquity

Let us therefore begin at the very beginning. It is well known that the antiquity of Jaina monachism can be now traced back to at least the 8th Century B. C. from the point of view of historical treatment, though its adherents claim it a hoary antiquity on the basis of its mythology. Gone also are the days when Jain monachism was taken to be an off shoot of other Indian monachisms, as some scholars advocated it. Equally disproved is the opinion that Jainism started with twenty fourth Tirthankaras.

Origins.

The origin of Jain monastic institution has to be linked up with the origin of Sramanism. It is well known that both the Jaina and Buddhist texts frequently refer to numerous communities of wandering Sramanas and Nigganthas. The Sutrakritaya, Sthananga and the Aupapatika Sutras refer to a host of these. This is also corroborated by a number of Buddhist texts like the Anguttara—Nikaya, Samyutta—Nikaya and the Milindapanho. A detailed study of the discipline of these reveals that there were a number of basic features which were common to several of these wandering ascetics. The wandering mode of life, adhering to celibacy and acknowledging no caste barriers are the chief attributes which were common to all the various groups of Sramanas.

How did these Sramanas and Nigganthas originate ? Several theories have been put forth by various scholars in possible explanation of this. Garbe holds that the origin of Sramana monachism has to be linked up with the Kshatriya protest against Brahmin priesthood and their emphatic caste—superiority. This does not seem to be perfectly correct as Jainism and Buddhism were not against ideal priests but against the degenerate priesthood and the degenerate ideas that they propounded for sticking to their social

superiority. In this connection, it may be noted that the Uttaradhyayana uses the epithet *'Mahana'* in the sense of one who was the symbo! of purity and equanimity.

Another theory advocated by Ken and Hardy is that the Sramanas adopted their mode of life and discipline from the Brahamcasim. Some hold that the Brahamacasim and the Brahamvadin jointly contributed to the theoretical and practical make up of the Sramana Institute. There is yet some other who see in the Sramana discipline either a mere copy of or a degeneration of the Brahmanical rules for Sannyas. All these theories, though apprarentaly seem to hint at the possible solution of the problem, do not take into consideration the comprehensive historical and social background of the problem. Each seems to emphasise on a single aspect. The origin of the Sramana school of ascetics can not be the outcome of only one or two reasons, but must have been a process of slow amulgamation of indigenous elements prevalent prior to Lord Mahavira. Dr. Upadhye rightly designates these elements as *Magadhan* religion and holds that the Samkhya, Jain, Buddhistic and Ajivika tenets are no more perversions of the Aryan thought current, but are the out come of an indigenous stream of thought current in Magadha prevailent much before the Aryan advent in the Gangetic valley.

Jaina monachism, thus, can legitimately be taken to be an indigenousd iscipline, independent of Brahmanism. And this quality of being indigenous, being the upholder of the rights and claims of the masses, being the denouncer of costly ritual of the privileged classes, is the secret of the survival of Jaina monachism to this day.

The Tenets.

What then are the principles that were adopted and enunciated by the Jaina Sramanas that have such an everlasting value.

The entire structure of Jaina monastic discipline is based on, if we may say so, on the three *Guptis* and the five great *Vratas.* The three Guptis comprise mental, verbal and physical control in the thrice threefold way in the sense that one is not to do anything evil., nor get it done through somebody else, nor consent to somebody else doing it. Through this ninefold control over mental, verbal and physical channels of action, the monks were expected to follow the five great vows-Ahimsa, Sayta, Asteya, Brahmacharya and abstinence from night meal.

The Practice.

The compulsion of following the three *Guptis* and the five great vows gave rise to a framework of several rules and subrules which controlled the behaviour of a monk as a member of group. As we shall see later on, the spread of Jainism to different regions having different climatic conditions and social practices, gave rise to quite a numerous exceptions so as to meet the emergency. Let us, therefore, see under different heads of monastic conduct, the rules which guided the discipline of a Jaina monk. It may be made clear here that this article expect the readers to have a broad knowledge of the basic

rules of Jaina monachism, so that unnecessary repetition and consequent increase in bulk can be avoided.

Church Affairs.

The early texts like the Sthananga Sutra give a list of twenty persons who were not allowed entry to the church. A mere glance at the list would show that persons who could normally not be expected to fulfil the high standard of the discipline of monk-life were set aside. These included persons of un-accomodative nature, persons having physical defects and persons whose entry to the order was expected to be a nuisance rather than help to monastic life. The last included children under eight, pregnant woman, enuch, persons in debt, so on and so forth. However, cases are on record in later texts, when we find certain exceptions being allowed to the general rule. For instance, children even below eight years were initiated, eunuch who were supposed to be favourites of kings and who were expected to be helpful in wandering off royal displeasure were temporarily admitted to the order.

The ceremony of renunciation in the beginning was a simple but impressive ceremony. The Nayadhammakahao gives a graphic description of the renunciation and initiation of the prince Megha. By the time, however, we come to the Prakennakas, we have a formidable list of Muhurtas, Nakshatras, Karanas, Sakunas and Lagnas which should be looked into for proper time of renunciation. As Jainism spread to different regions and as it came to encompass within its fold persons from different economic strata of the society, there were regular shops dealing with monastic apparatus and the cost of the ceremony of renunciation varied between five to a lakh of rupees.

Similar is the case of the officers of the Church. Whereas, we meet with the principal officers of the Church in the early texts like the Sthananga and others, these texts do not give us any idea about the academic and other qualifications of these. It is to be noted that what is emphasised in these early texts is the ethical aspect as revealed in the *Scaryasampad* or the *Ganisampad.* This is as it should be. For prior to consolidation of church on a systematic basis, what needs an emphasis is the aspect of mental and moral purity. But as Jainism made wider strides, a systematic plan and a curriculum of studies was laid down. This we find in the Chedasutras, or to be more precise, the Vyavahara Sutra, where after a study of twenty years, a monk could be the master of the canon.

The Anga texts often refer to the principal officers like the Acharya, Upadhyaya, Ganin, Sthavira etc. But as the necessity arose with the creation of smaller units, we came across new designatories. The *Gana, Kula* and *Samgh* of the Anga texts, are further augmented by *Sakha*, *Phaddaga*, *Gumma* and *Gaccha* in the *Uparigs* and the Niryuktis. However, with further spread over wider regions, there seems to have grown up a tendency for marked groupism as is evidenced by the immemorable *Gacchas* in early medieval period. These were formed on regional incidental or personal basis as is well known. However, inspite of minor variations in monastic practices, the main fabric of Jaina discipline remained intact.

That inspite of such an inevitable expansion the masters of Jaina church were keenly awake to realities is evident in the rules regarding seniority and succession. In these, due respect was shown both to age and learning. No person who lost the confidence of the majority of his followers could continue in office. Due consideration was shown to physical incapacities—like sickness etc.—when question of seniority arose. Thus, this democratic set up was practically the life-breath of Jaina monastic organisation which has contributed enormously for its survival.

The rules for Jaina monastic life pertaining to other fields such as food, clothing, study etc. reveal a keen foresight in the working of human mind in relation to the social environment.

Take for instance, the rules regarding food. The basic list of the forty-two faults pertaining to food and begging alms remains the same in early as well as in later texts. However, in later texts like the Brhatkalpasutrabhasya, we come across a number of exceptions to the general rule. It is as it should be. For, with the spread of Jainism to diverse regions, the monks and nuns came across peculiar social customs and habits to which they had to adjust without marring the core of their monastic discipline. For instance, in regions like the Konkan or Sindhu-Sovra, people had diverse food habits. Or in the country of Thuna people used garments with their ends (sadasa), which was not the practice elsewhere always. Naturally, the monks could not overlook the society and its customs as they led a wandering life throughout the year except the four months of the rainy season. Besides this awareness of social customs, the rules regarding begging of food show at their basis a keen commonsense and the utmost regard to Ahimsa. For instance, the rules forbidding a monk from accepting food from a pregnant lady or a lady feeding her child or from a person who has to take out that food from a high place show nothing but commonsense which shows a foresight of avoiding any likely physical trouble that such a donor might have to undergo. Similarly, the non-acceptance of food which was specially prepared for the monk reveals the precaution against developing an attachment for the food as also between the monk and the donor. From the physical point of view spicy food was no good, and as such was not acceptable to the monk. The stories given in the *Pindaniryukti* in justification of and in explanation of the spirit of the rule may appear to many as far-fetched and cooked. But to an impartial sympathiser, these stories show the keen knowledge of human mind on the part of the framers of these rules.

There is not much difference between the rules regarding the acceptance of proper and pure food from those regarding a residence. The texts and the commentories go eloquent in citing stories in explanation of these rules. Too much extensive residences, too small ones, too lonely and deserted, situated too much in the bazar—all such were not to be accepted. However, whereas the earlier Anga texts give us all these basic rules, it is not till we come to the *Brhatkalpabhasya* that we have an elaborate description of the guarding of the nunnery, the covering of the door by a curtain, the system of defence in case of attack, so on and so

forth. It will thus be apparent, that Jaina monachism was elastic enough to adjust itself to the circumstances of diverse nature without, at the same time, affecting the core of monastic discipline. Even the monks were allowed to go to the rescue of such nuns. It may not be wrong to hold that such an awareness of circumstances on the part of Jaina church has led to the survival of Jaina monachism.

We had an occasion to refer to the laying down of a regular curriculam of studies over a period of twenty years. This we find only in the *Chedasutras* and not in the still earlier texts of Angas, Study formed the most important item of monastic life and the daily routine of monks and nuns. Even then, occasions indicative of bad omens and accepted as such by the people at large, were to be avoided. Apart from the natural phenomena like the eclipses of the sun and the moon, it is significant to note that monks and nuns were not allowed to study in the event of the death of great personalities like the king and others. Study on such an occasion was likely to be interpreted as a sign of indifference to the departed for whom the people at large were sorry. It was therefore in the fitness of things that such an occasion was taken to be unfit for the study.

The learning which a monk acquired out of such a study and the actual practice of the rules imbodied in the texts was deemed a greater qualification for a higher post in the hierarchy than a mere long standing as a monk. However, provision was also made in the case of older monks who could not master an essential text due to illness. In such a case, even though an younger monk had mastered it, he was not on that account given the higher post. On the contrary, the older monk of longer standing was asked to master it within a specific period after which he was given the higher post in preference to the younger monks of less standing who had mastered the texts. It is these major and minor aspects of human relations which were taken note of by the Jaina masters. It is, therefore, no wonder if these human touches have contributed to the growth, spread and survival of Jaina monachism.

More or less same basic rules as in the case of food and residence were made applicable in respect of clothing and other apparatus. The elaboration increases when we come to the Niryuktis which give innumerable rules regarding the type of clothing, the proper type of other equipment such as begging bowl, stick, bedding so on and so forth. Even proper Nakshatras for colouring the pot, the process for getting oil for it, the number of coatings to be given etc. are minutely and metaculously detailed down. This elaboration is characteristic of the mid-phases of the development and spread of Jainism to different regions. These sundry rules reflected the minute care the monks took in avoiding being found fault with by the people even in minor items of monastic discipline. For, it was by their actual behaviour rather than the theory of monastic discipline that they could impress the society, bring to their notice the rigours of monastic purity and then add to their ranks.

Equipped with these rules and their proper understanding and practice, the Jaina monks and nuns led a wandering life, staying for a night in the village and five nights in a town, save in the rainy season. The canonical texts give elaborate rules for such a touring

life and for study at one place in the rainy season. However, as in the case of other items of monastic discipline, quite a formidable list of rules arose when the monks spread out in the newer and newer regions. These are evidenced by the Niryuktis and the Brhatkalpa-bhasya, which not only give details about the omens and Nakshatras etc. associated with the proper time for starting on tour after the *Vassavasa,* but many other details regarding the method of asking of proper road, protecting the *Acharya* from robbers in case of attacks, writing signs on the road in the event of kidnapping etc. are given for the first time. Thus the monks were trained not only in monastic discipline but even in the practical ways of getting over the emergencies. And all this, without affecting the core of ideal monastic behaviour.

The most notable aspect of Jaina monachism is that its gates lay open to all, irrespective of caste or social status or creed, This spiritual democracy was the backbone of Jaina monachism. And this democratic method was worked out without getting the order or any member of it involved in political turmoil of any nature. The monks were not to visit anarchical regions, not to participate in political tangle in any country, not to visit regions where rebellions were current and not to take sides in case there were more than one claimants for the throne. In case of a blockade, they were not to go out of the city for begging alms in order to avoid being suspected as spies. It is indeed a tribute to the framers of Jaina monastic rules that they could think of such minute possibilities and frame rules in awareness of these.

The internal discipline of the order was rigourously adhered to and the defaulters were adequately punished according to the severity of the transgression committed. The democratic set up, which we have emphasised earlier, is revealed in this aspect of monastic discipline also. Nobody, by virtue of his position in the church hierarchy, could evade punishment for faults and transgressions committed knowingly or unknowingly. Right from the *Acharya* to a newly initiated novice all had to face punishments which involved either the undergoing of fasting or the cutting of standing (Panyaya) in the order. This levelling of all before discipline had a nice effect as it afforded solace to juniors against the lax behaviour of the elders.

The most significant aspect of Jaina monachism is its relations with the laity. These relations were neither so cordial as to degenerate into attachment, nor so formal as to develop into indifference. The laity always had a keen eye on the proper behaviour of the monks whereas the morks acted as the ideals of proper conduct before the laity. This balance is peculiar only to Jain monachism, and has acted so far as one of the most important factor in the upkeep of Jaina monastic discipline.

The survey of the remarkable aspects of Jaina monachism brings out the factor that contributed to the survival and growth of Jain monachism. The marked conservatism and yet the elasticity to adjust the democratic set up and yet the stem discipline, the harmony between standing and learning, the awareness of the working of human mind in relation to the social invironment and the last bent not the least, the mutual control between the laity and the monk order all these stand out remarkably when one studies the structure of Jaina monachism. And it is these factors that have contributed to its uniqueness and survival.

Asrava

(Contamination of Soul According to Jain Philosophy).

Harisatya Bhattacharyya, M.A., B.L., Ph. D.

Those who are even cursorily acquainted with the Jaina moral philosophy are sure to be impressed with its fundamental doctrine viz. the Asrava or the doctrine of the soul being vitiated by the non-physical Karma-matters flowing into it. The Asrava is a doctrine, peculiar to the Jaina philosophy and it has been emphasised by all the Jaina Omniscients and sages, from the Adisvara to the Vira. The great saint of the modern age, Bhiksu-Svami also laid considerable stress on this doctrine of the Asrava and all his moral teachings and exhortations to his followers may be summarised—'Stop the inflow of the dilatsing Karma—matters into the essentially pure Soul, In the following lines, we shall shortly describe the Asrava-operations, described in the Jain Philosophical works.

The Asrava paves the way for the inflow of the various forms of the Karma into the Self and the Jainas describe the particular states and activities of the Self which induce the inflow of a particular mode of the Karma in each case. Thus it is said that the Jnavarana and the Darsanavarana Karmas i. e. the Karmas which suppress the perfect knowledge and apprehension, inherent in the Soul are introduced by the 'Pradosa' or a tendency to under-appreciable the people who are well-versed in the Scriptures, the 'Nihuava' or a tendency to conceal knowledge, the 'Matsarya or a tendency to refuse the imparting of knowledge out of envy, the 'Antaraya' or a tendency to hinder the progress of knowledge, the 'Asadana' or a tendency to deny the truth, proclaimed by another, openly by speech or by bodily gestures or postures, or the 'Upaghata' or a tendency to refuse the truth, inspite of knowing it to be nothing but the truth. The Mohaniya Karmas are either the Darsana-moha which stupefy one's right faith or the Caritra moha which delude his right conduct. The former mode of the Mohania is introduced by the Avarnavada which consists in denouncing the 'Arhat' i.e. the Omniscient Being, the Sruta or the true Scripture, the 'Samgha' or the Assembly of Saints, the 'Dharma' or the true religion or in having a wrong idea about the gods. e.g. thinking them to be fond of animal sacrifices, wine, etc. The Caritra-mohaniya or the Karmas that are responsible for a wrong conception about the right conduct are said to be caused by the intense internal state, resulting from the activity of the Kasasayas or passions (as well as of the No-Kasayas or lesser passions viz., for joking, liking bad companies etc.). The Antaraya Karmas are what obstruct one's natural powers of gaining (Labha), giving (Dana) enjoying consumable things (Bhoga), enjoying non-consumable things

(Upabhoga) and of exercising powers (Virya). The inflex of the Antaraya Karma is caused by ones interfering with another exercise of his powers for 'Labha', 'Dana', 'Bhoga', 'Upabhoga' and 'Virya'.

The above are the four forms of the 'Ghatiya' Karma or Karma's which in some sense, are destructive (for the time being) of the fundamental nature of the Soul.

The next mode of the Karma, affecting the Soul, is the Aghatiya or the non-destructive,—the first form of which is the 'Vedaniya. It is again is of two sorts viz., the Sata—Vedaniya and the Asata—Vedaniya. The former mode of the Vedaniya Karma—the Sata-yields pleasure to the self and their inflow into the Soul is induced by 'Bhutanukampa' (or a feeling of compassion for all living beings ; Vrayanukampa, a feeling of compassion for all persons who have adopted the Vratas or vows ; 'Dana' acts of charity ; 'Saragasamyama', practice of self-control, though attended with an apparent feeling of attachment still, Samyamasamyama, self-control with respect to some of the passions-not of all (through the the practice of vows) ; 'Akama-nirjara', ungrudging surrender to the fruition of Karma ; Bala-tapa, penances, unattended with correct knowledge ; 'Yoga' contemplation ; 'Kshanti', a spirit of forgiveness ; and 'Sauca', a spirit of contentment consisting in want of all forms of greed. The other form of the Vedaniya in the Asata, which yield feelings of unpleasantness and is introduced by 'Dukkka', feelings of pain ; 'Soka', feelings of sorrow ; 'Tapa' feelings of repentance ; 'Akrandana' shedding tears ; 'Vadha', enjury to or loss of life ; 'Paridevana' pathetic moaning in order to attract others' compassion. These six sources of the unpleasant Karma's may be subdivided into eighteen—in consideration of the fact that these feelings may be aroused in one's own self or in others or both in one's own self as well as in others.

The influx of the Gotra (lineage) Karma's causes one's birth in a high or a low family, The Ucch-gotra-karma which accounts for one's birth in a high family, is introduced by 'Para-prusamsa', praising others ; 'Atma-ninda', condemning one's own self ; 'Sad-gunod-bhavana', discovering goodness in others : Asadguna-cchadana, not publishing the goodness of one's own self ; 'Nicairvrtti, (humility towards superiors) ; and Anutseka, want of pride for what one has got or achieved, The opposites of the first four of these six introduce the 'Niha-gotra-karma' i.e., Karmas which results in one's being born in a low family viz.,—the 'Para-ninda'' vilifying others ; 'Atma-prasamsa' extolling one's own self ; 'Sad-gunaccha-dana', not publishing the good qualities of others ; and Asad-gunodbhavana, giving publicity to the fact of one's own possession of some good qualities which he really does not possess. The Ayu is the period for which a being is confined within a particular body and is of four spans in accordance with whether it is the life-duration for the celestial beings or for the human beings or for the subhuman beings or for the infernal beings. Taking active interest in the affairs of the world, however slight the activity or the taking of interest may be, together with the non-practice of the Vratas or vows and the Silas or sub-vows, is the general cause of the influx of the Ayu-Karmas. The 'Deva-ayu' or the Karma ensuring a life-period fixed for the gods is introduced by 'Bala-tapa' i.e. penances not backed by

right knowledge ; Akamanirjara or calm surrender to the fruition of one's own acts ; Samyamasamyama self-control with respect to some of the passions only not of all (when found in a layman) ; Saraga-samyama self-control, though attended with a feeling of attachment still (when found in a monk) ; and 'Samyaktva' or right belief (when developed in a human or a sub-human being. The 'Manusya-ayu' or the life-period for a human being is also the result of the inflow of a corresponding group of Karmas and these Karma's are introduced by 'Alparambha' one's putting in a comparatively small amount of worldly activity ; Alpaparigraha', one's interest in worldly affairs being comparatively small ; as well as by 'Svabhava-mardava' or a natural humble disposition. The Tiryakayu-Karma is the Karma which secures for one, the life-span fixed for a sub-human being and its inflow is caused by one's 'Maya' or decietful attitude and acts. Finally, the Naraka-ayu-karma or the Karma which gives one the life-duration fixed for an infernal being is introduced by one's 'Vahvarambha', one's putting forth the greatest amount of wordly activities and 'Vahu-parigraha' or taking considerable interest in the affairs of the world. The Nama or the body-building Karma is either Subha i.e. good, or Asubha i.e. bad. The latter is introduced by the 'Yoga-Vakrata' or crooked or deceitful operations of the mind, body and and speech and by 'Visamvada' or continuous wrangling, and vilification of others, self-applauding etc., while the Subha-nama-karma which secures a goodbody is brought into the Soul by the opposites of the forgoing two. Tirthamkara or the Arhat is the exalted Being who attains Omniscience and other perfections, while still in a body and as such, it is the effect of an influx of some Karma's—called the 'Tirthamkara Karma. The Tirthamara-Karmas are certainly the best of all the Karma's and are introduced into the Soul by the following sixteen Bhavanas or subjective activities. 1. The first of these sixteen Bhavanas is the 'Darsana-visuddhi' i.e. the right faith with its excellent marks, viz , the Nihsamkita, the 'Nihkamksita' etc. etc. The rest of these attitudes are—2. the 'Vinaya-sampannata' or reverence for the path of liberation or for those who are on it ; 3. the 'Sila-vratesvanaticara' ; observance of the 'Silas' and the 'Vratas' ; 4. the Abhiksna-jnanopayoga', continuous pursuit of right knowledge ; 5. the 'Somvega' not for a moment forgetting the miseries of the wordly existence ; 6. the 'Saktitastyaga', charity according to one's capacity ; 7. the 'Saktitastapah', practice of penances according to one's capacity ; 8. the 'Sadhu-samadhi', helping the saints in every way, 9. the Vaiya-vrtyakarana', serving those who are really good ; 10. the 'Arhat-bhakti', reverence for the Omniscient Lord. 11. the Acharya-bhakti', reverence for the leader of the religious assembly ; 12. the Vahu-srutabhakti', reverence for the learned religious teachers ; 13. the Pravachana-bhakti', reverence for the religious discourses ; 14. the 'Avasyaka-parihani', attending to the six prescribed duties daily without fail ; 15. the 'Marga-prabhavana', propagation of the path of Liberation ; 16. the 'Pravachana-vatsalya', affection for the brothers-in-faith.

This finishes our rapid survey of the nature and the course of the Asrava. The influx of the foreign elements into the Soul causes its bondage. It is Asrava which serves as

the channel for the in-flow of those foreign elements. It should be noted that the Soul cannot be subjected to bondage, even if it comes in closest contact with things of sense' unless it is already in a weakened stato. This weakness in the Soul, which is preparatory for its Bandha or bondage, consists in the following five subjective conditions. First of all there is the 'Mithya-darsana' or wrong belief. The wrong belief may take the form of the 'Ekanta-darsana' or laying exclusive stress on only one aspect of a thing or phenomena ; or it may be an entirely perverse faith i.e., the 'Viparita-darsana'. The 'Samsaya' or sceptic attitude towards a matter of truth is another form of wrong belief. The ultra-obliging tendency, called the 'Vinaya', which considers all forms of faith, divinities and all practices involved in all the religions, to be of equal merit is a mode of the 'Mithya-darsana'. The last form of wrong belief is 'Ajnana' or utter ignorance, consisting in an inability to distinguish right from wrong.

The second subjective ground for the psychical bondage is 'Avirati'. It consists in non-restraint of the five senses and of the internal organ of mind and in want of a compassionate attitude towards all classes of animals.

'Pramada' or carelessness is another phenomena which weakens the Soul and prapares it for its bondage. Sleep (nidra) affection (sneha) and the careless permissions to the five senses as well as to the four passions to have their full play are forms of the Pramada. Another mode of the Pramada consists in 'Kathas-or careless talks about food, women, politics and scandalous matters. These also make one's self weak.

It is the 'Kasayas or the four-fold passions of anger, greed, deceitfulness and conceit which are important 'Bandha-hetus' or causes of psychical bondage.

The last but not the least of the Souls' infirmities which bring about its bondage is of course, the 'Yoga', which is a prone-ness on the part of the self to welcome foreign elements into it—a psychical inclinatory vibration in correspondence with peculiar activities of ones mind, body and speech.

Thus, the Asrava introduces foreign elements into the Soul' and if the Soul is already affected and weakened by its own subjective states of wrong belief, passions, non-restraint etc., those foreign elements find a fruitful soil and take deep roots in the nature of the Self and get the mastery of it—bringing about its bondage.

We have considered the act and attitudes which bring about the inflow of foreign forces and activities into the self as well as those which complete its bondage. These Asrava-inducing and Bandha-causing actions are the negative aspect of morality—indicating, as they do, the thoughts and practices which one, wishing to tread the moral path, is to begin by avoiding. There can be no question about this that those acts which invite in one's self Knowledge-obscuring, faith-suppressing, deluding and enervating influences must be avoided. There is further no doubting that acts, which cause unpleasant feelings, birth in a low family, a bad bodily structure, parts, constituents or a miserable status, would be avoided by all, more or less automatically. But if the state of one's ordinary existence is felt to be far

from the desirable and if the quest for the Moksa or the escape from the miseries of the empirical life is real, it can be said that the connection with this experiential world is to be progressively cut up. This implies that not only are the acts which introduce the evil karmas into the Self, with their unpleasant results to be avoided but also, those activities which cause the inflow of even the Subha-karma's with their results, all desirable for the time being, or for some duration, are also to be given up. The Jaina Philosophers maintain that even the Arhat so long as he is embodied in a frame, admittedly the most brilliant and auspicious one, has not the final liberation. His Moksa is complete only when He is 'Videha', i.e. only when the Arhat gives up the body and completely separates his self from it. Even the Tirthamkara-karma and the Tirthamkara-body stand in the way of the Arhat's complete emancipation, which becomes real only when that Karma and the body, resulting from it are finally shaken off. Karma, in all its forms, is an obstacle to the attainment of the final bliss and all acts, described in the fore-going lines, which cause the Asrava of the Karma, are to be scruplously avoided by a person who wants to be on the path of beatitude.

Jaina Moksa in the Perspective of Indian Philosophy

RAM JEE SINGH, Principal, P. B. S. College, Banka (Bihar).

Introductory :

The concept of Moksa is perhaps the biggest invention of human ingenuity in its quest of happiness. Sri Ramashankar Bhattacharya says that the science of Moksa is an experimental science of mental power[1]. The history of human existence is a history of endless effort to eliminate sorrow and attain happiness. This is human nature. But we do not get what we aspire after. We are a miserable lot. Death alone is the full-stop to our sufferings. But if we accept this ieda of death, it would mean a tragic blow to the sense of human adventure, freedom and effort. Thus our ingenuity came across with the idea of Soul-an eternal entity. Let the body perish soul : is immortal. We are children of immortality. The immortal in man imparts to it its own quality of happiness. This state of eternal joy bereft of all sufferings is regarded as Moksa or liberation. This liberation in itself seems to be a purely negative idea but since the search for absolute freedom involves the search for ultimate purpose of the life of the individual (Parama Purusartha)[2], there is a positive aspect also.

The concept of Mukti roughly distinguishes Indian from Western thought. The reason is to be found in the concept of Soul in Indian Philosophy, the basis of bondage and liberation. With the exceptions of Plato and Plotinus, the Western philosophy is quite unware of a philosophy of Self ; on other hand all Indian systems, both orthodox and hetrodox, recognise the idea as the first requisite for any philosophical adventure[3]. This is the spiritual basis of our ethical life. All the three pursuits of human life such as Dharma (virtue), Artha (wealth), and Kama (enjoyment) are regarded as simply subservient to it. Moksa is the highest pursuit (moska eva paramapurusartha). The genesis of the idea of Moksa is traced in 'the endevour of man to find out ways and means by which he could become happy or at least be free from misery',[4] or in the state of "sound sleep".[5] Common people in India however very little bother, whether this state of Mukti is logical or not, or actual or unreal. They accept it as an article of faith in the nature of religious dogma.

---

1. Darsanika, July 1955 article on "Moksa-Darsana"—p. 63
2. Deshmukh, C.D., The Concept of Liberation in the Philosophical Quarterly July, 1937 p. 135.
3. Udyotakara ; Nyaya-Vartika—p. 366.
4. Ramchandranm N., "Concept of Mukti in Indian Philosophy"
5. Shamsastry, R. (Dr.), "The Concept of Mukti in India, Proceedings of Indian Philosophical congresss 1944, p. 243.

Concept of Moska in Indian Philosophy :

Just as no school of Indian philosophy, not even the Carvakas, deny the concept of Self, similarly there is absolute unanimity regarding the central conception of Moksa as the highest goal of life,[1] although they differ with regard to the nature of Mukti and the means for its realisation, according to their different metaphysical positions and attitudes.

For example, in consonance with them materialistic conception of Soul (**Chaitanya—visista-deha eva-atma**) the Carvakas come to materialistic conception of liberation (dehocchedo moksah or Moksastu marana ch pranvayu-nivartanam). Similarly, in consistence with the doctrine of Middle Path and Dependent Origination the Buddhists reject both Eternalism (Sasvatavada) of the Upanisads and Nihilism (Uccedavada) of the Carvakas. They deny the continuity of an identical substance in man, but not the continuity of the stream of unbroken successive states of the five aggregates (**Panca-skandha**). The Soul or ego is nothing more than the collection of the five-aggregates and hence, Nirvana must be the destruction of the mental continum (**Cittam Vimucyate**) or at least the "arrest of the stream of consiousness (**Santati-anutpada**) leading to the ceasation of the possibilities of future experience (**Anagatanutpada**)".

In Nyaya, the destiny of the indivdual Self is determined by the concept of Self and its relation to consciosness which has not been regarded as an essential and inseperable attribute of the soul. Consciousness arises when the soul is related to the mind which in turn is related to the senses, and the senses are related to the external objects. So in the disembodied condition, self will be devoid of consciousness. Release is freedom from pain.[2]

So long as the soul is related to the body, pain is inevitable and pleasure and pain are produced by undesirable contacts with objects. Thus the state of freedom is like the state of deep dreamless sleep, devoid of consciousness,[3] stone—like existence[4] so much so that people would prefer to be jackal than to attain this lifeless brand of Mukti. Pleasure and pain go together like light and shade. So absolute cessation of suffering (atyantika-duhkha-nivvtti) must by implication mean cessation of pleasure too. Now to escape from this dilemma, faced by the majority of the Nyaya-thinkers like Vatsyayana, Sridhara, Udyana, Raghunath, Siromani, there is the opposite thesis of the Nyayaikadesins and other Naiyayikas like Bhasarvajna and Bhusana that freedom is bliss,[5] instead of a state of painless, passionless, unconscious existence free from the spatio-temporal conditions. However, they cannot do it unless they revise their conception of self and i s adventitious relation with soul.

Like Nyaya, the Self of the Vaisesikas has congnitions of things when it is connected with body.[6] So it is only when the Soul is free from the qualities (either pleasure or pain)

1. Haribhadra, Yoga-drsti-samucchaya, pp. 129-0. Bhava-Prabhrta of Kundakunda.
2. Nyaya-bhasya—III. 2.67.
3. Nyaya-Sutra – IV. 1. 1.163.
4. Naisadha—17.75.
5. Nyaya-sara-pp. 39-41., Nyaya-Bhasya., 1.1.22
6. Nyaya-kandali—. p.57,

produced by contact with name and from **(Atmavisesa-gunanam Atyantocchedah)** or as Sridhara would say **Navanam Atmavisesa-Gunanam-Atyantocched Mosca,** that is moksa is the absolute destruction of the nine specific qualities of the self. To save itself from the charge that this kind of Moksa comes perilously near the unconscious condition of a pebble or a piece of stone, the Vaisesikas propound a doctrine of Inherent Felicity in the State of Moksa. But they have yet to say how Felicity is Unconscious ?

The Mimamsakas, like the Nyaya-Vaisesikas, regard the soul as eternal and infinite, with consciousness as its adventitious attribute, related to the body. It survives death to reap the consequences of action. Since the Mimamsaka school is the outcome of the ritualistic period of the Vedic culture, the final destiny of an individual is regarded as the attainment of heaven-the usual end of rituals (svarga-kamo yaieta). But later on, the idea of heaven is replaced by the idea of liberation, for they realised that we have to fall back on the earth as soon as we exhaust our merit. The concept of heaven was indeed a state of unalloyed bliss (at least temporary). But the state of liberation is free from pleasure and pain, since consciousness is an adventitious quality of the soul. To the Prabhakaras, Moksa is the realisation of the Moral Imperative as duty (Niyoga-sidhi). To Kumarila, it is the "Soul's experience of its own intrinsic happiness with complete cessation of all kinds of misery",[1] which is very much like the Advaitic conception. However the general conception of the Bhattas is the realisation of the intrinsic happiness **(Atmasau-khyanubhuti)** Parthasarathi Misra[2] and Gagabhatta deny this. Narayanabhatta, Bhattasarvajna and Sucaritra Misra clearly admit the element of happiness in the state of Mukti, since to them soul is consciousness associated with ignorance (Ajnanophitacaitanya).

According to Sankhya, conseiousness is not a mere quality but its very essence. It is pure, eternal and immutable. Hence it is not blissful consciousness **(Anadda-svarupa)** or stream of consciousness **(Caitanya-pravaha)** or material consciousness **(Caitnya-dehavisista).** So Se.f **(Purusa)** of Sankhya remains untouched either by joy or sorrow", migration, bondage and liberation[3] Bondage and liberation are phenomenal, which requires the formal and final cessation of all the three kinds of sufferings without a possibility of return.[4] This neutral and colourless state of Kaivalya is again an unattractive picture with no appeal to the aspirant. Similarly' in Yoga, freedom is absolute isolation of Matter from Self. It is only that we can effect a cessation of the highest principle of matter **(Citta-mahat-budhi)** that the state of absolute isolation and redirection of our consciousness is possible which requires an abstruse practical discipline. However there is clear amvivalence in Sankhya doctrine of release so far as it says that "that it is the spirit (Purusa) that is to obtain release, yet the

12 Manameyoday., v. 26.

13 Sastra-dipika., 125-31.

14 Sankhya-karika of Isvara Krisna., 62.

15 Sankhya-Karika & Sankhya-Tattva-Kaumdi K. 64-68 ; Sankhya-Pravachana-Bhasya., 3.65-84.).

apparently predominant characterization of spirit is such that it is impossible that it should either be bound or released"[1].

Unlike Sankhya-yoga, the Self in Sankara is not only consciousness but also blissful consciousness, which is the produce of a sense of identification between the soul and Brahman. Hence unlike Sankhya-Yoga and Nyaya-vaisiska, there is an **intuition of identity** instead of an **intuision of difference**. Unlike Purva-Mimamsa, Moksa, in Advaita Vedanta is not only destruction of individual's relation with the world, (Prapanch-sambandha-vilaya) but dissolution of the world itself (Prapancha-vilaya). Identity and difference between God and Man. Man's body and soul are real. Then Soul is not pure and impersonal consciousness but a thinking substance with consciousness as its essential attribute. Hence, Moksa is not the self annulment in the absolute but a self-realisation through self-surrender and self-effacement, the supreme satisfaction of religious emotion. The liberation soul is not God but neither is he separated from his all-comprehensive existence.[2] even in the Kingdom of God (Vaikuutha), This is Sayujya-bhakti (unitive devotion). To Madhva, the distinction between God and self is real.[3] Though the Jiva is absolutely dependent upon God, they are active and dynamic.[4] Hence Moksa is "blessed fellowship" and not a mere in identification. Thus in the state of Mukti, there not only the utter absence of pain but also the presence of positive bliss. To Nimbarka, with whom the soul is both different non-different from (Bhedaveda), complete submission results in both-God and self-realisation, which is endless joy and bliss. Sudhadvaita school of Vallabha regards the relation between God and Soul as that of whole and part. Duality and distress go together. The moment, the soul is one with God, we get final release which is utter bliss. To the other Vaisnavites like Sri Chaitanyadeva, Jaideva, Vidyapati, Chandidas etc. to whom the ultimate reality is love and grace, liberation means love through divine grace. Bhakti is Mukti.

In the Gita we find the status of soul as different fragments of God, hence Moksa must be the unity with Purusottama-indeed a blissful state. However, it must be Equivalence (Sadharmya) with God and not Identity (Sarupya). But in the Upanisads as in the Advaita Vedanta, the realisation of the oneness with God is the ideal of man, which is a state of ecstasy and rapture, a joyous expansion of the Soul.

To the Kapalikas, Moksa is found in the sweet embrace of Hara & Parvati (Hara-Parvatyalingam), to the Pasupats, it lies in the holding of all dignity (Paramaiswaryam) ; to the Udasins (athiest), it is in the extinction of egoism (ahamkara nivritti) ; to the Vyayakarnas, it is in the power of speech (Brahma rupya hanya darsanam) ; to the Sarvaganas, it is in the eternal continum of the feeling of the highest felicity (Nitya niratishaya sukh

1. Godwin, W.F., "Theorieis of Consciousness and Liberation in the Sankhya phil. & the Phil. of G. Santayana. Proceed of Ind. long (1954)—p. 17.
2. Sadhu Santideva, The Critical Exam. of the Phil. of Religion., Vol. II. p. 986.
3. Madhva-bhasya on Brahma-Sutra—III. 3. 1.
4. Ibid—II. 3. 38.

bodah) , etc. Broadly, there are two different approaches to the conception of liberation in Indian Philosophy:—

1. Materialistic Conception of Moksa of the Charvas, and
2. Non-materialistic conception : –

(a) **Positive conception** :—VEDANTA & JAINISM

1. Sarupya—Becoming like God in Nature and Form=GITA.
2. Samipya—Blessed fellowship-Madva, Nimbarka, Vallabha, Chaitanya etc.
3. Salokya—Residing in the word of God worshipped (Vaikuntha=Ramnujists).
4. Sayujya—Becoming one with God=ADVAITA VEDANTA.

(b) **Negative Conception** :—BUDDHISM

1. Uccheda—Nihilism=Madhyamika Buddhism.
2. Nirodha—Cessation of suffering=Naya—Vaisesikas & Mimamsakas.

(c) **Neutralistic Conception** :—SANKHYA & YOGA.

However, there is ample evidence to prove that some of the Buddhist texts, some Naiyayikas and Mimamsakas go to prove a Positivistic conception of liberation.

III. THE JAINA OUTLOOK :—

Jainism is an important ideological phenomenon in the religio-philosophical history of mankind. By nature it attempts a rapproachment between the warring system by a breadth of vision which goes in the name of Syadavada or Anekantavada.[1] "It shares the realism of the Vedas, the idealism of the Upanisadas, the worship-cult of the Puranas, the colourfulness of the Epics, the logical analysis of the Naiyayikas, the atomism of the Vaisesikas, the metaphysical dualism of the Sankhyas, the mysticism of the Yogins, and most surprisingly even the monastic trends of the Advaita Vedanta, reflected specifically in Kundakunda & Yogindu."[2] It seems that "like a mother it has equal love for all her children"—says Yashovijaya Anandaghana figuratively describes the six systems of Indian Philosophy as different forms of sweets made of the same sugar. Sidhsena affirms that all heretic views combined, constitute the sayings of Lord Jina. This is non-absolutistic attitude of Anekantavada, which is an extension of Ahimsa in intellectual field. Absolutism or imperialism in thought, word and deed is unknown to the Jainas, the spirit of which is a foe to all kinds of force and fanaticism. Jainism has tried to develop a neither-nor attitude by avoiding extremes.

IV. Soul & Karma—The Basis of Freedom & Bondage :—

The Jainas believe the Doctrine of Soul as the Possessor of Material Karma[3] and the Doctrine of Extended Consciousness.[4] The Jainas subscribe to the Doctrine of

1. Jain. H. L. "What Jainism Stands For ? Jaina Antiquary, Vol. II No. 2 cf. Sastri, K. C. Jaina Dharma (2nd ed. Hindi), p. 63.
2. Reference may be made to author's article on 'Advaita Trends in Jainism' read before I. P. C. 1956 (Nagpur).
3. Mehta, M. L., Outlines of Jaina Philosophy., p. 61.
4. Tattvartha-Sutra. V. 16., Syadavada-Manjari. v. 8.

Constitutional Freedom of the Soul and its Potential Four-fold infinites, meaning thereby that the Soul is intrinsically pure and innately perfect. But Soul & Karma stand to each other in relation to beginningless conjuction[1]. Karma is an aggregate of very fine imperceptible material particles, which are the crystalised effect of the past activities or energies. The link between the matter & spirit is found in the Doctrine of the Subtle Body (Karma-Sarira or Linga-Sarira) a resultant of the unseen potency and caused by a Principle of susceptibility due to Passions and Vibrations. "The soul by its commerce with the outer world becomes literally penetrated with the particles of subtle-matter"[2]. Moreover, the mundane soul is not absolutely formless, because the Jainas believe in the Doctrine of Extended Consciousness, like the Doctrine of Pudgala in Buddhism and the Upanisads,[3], and also to some extent in Plato and Alexander, while the Sankhya, Yoga, Vedanta, and Nyaya Vaisesikas and the Budhists kept consciousness quite aloof from matter, The Jains could easily conceive of the inter-influencing of the soul and Karmic-matter, hence the relation between the soul and Karma became very easy. The Karmic-matter mixes with the soul as milk mixes with water or fire with iron. Thus formless (Amurta) Karma is effected by Murta Karma, as consciousness is affected by drink or medicine. This is the relation of concrete identity between the soul and the Karma. Logically, if like begets like, and the cause is non-different from the effect, the effect (body) is physical, hence the cause (Karma) has indeed a physical form[4]. But unless Karma is associated with the Jiva (soul), it cannot produce any effect, because the Karma is only the instrumental cause and it is the soul, which is essential cause of all experiences. Hence the Doctrine of Soul as the Possessor of Material Karma is inevitable to explain our concept of life. But why the conscious soul should be associated with the unconscious matter ? Unlike Sankhya, in propounding a Doctrine of Unconscious Teleology, the Jainas work out a Karma-phenomenology, according to which Karma is a substantive force or matter in a subtle form, which fills all cosmic space. It is due to Karma that the Soul acquires the conditions of nescience or ignorance. Ignorance or nescience is the "force which prevents wisdom shining from within, that is that which holds it in latency[5]". The relation between soul and non-soul is beginningless and is due to nesceince or Avidya. This is responsible for the worldly existence, or bondage which is determined by the Nature (Prakrit), Duration (Sthiti), Intensity (Anubhava) and Quantity (Pradesh),[6] of Karmas. Jiva takes matter in accordance with own Karmas because of self-

1. Nahar & Ghosh. An Epitome of Jainism., p. 285.
2. Radhakrishnana. S. Indian Philosophy, Vol. 1. p. 319.
3. Kath. IV. 12 ; Chand. III. 14.3. ; Svet. Up. I. 16.
4. Mehta, M. L. Ibid-p. 63 Nyayatar-vartika-p. 292.
5. Jain C. R. The Key of Knowledge. p. 743.
6. Tattvartha-Sutra. VIII. 3. Dharmasarmabhudhyama. XXI. 108. Panchastikaya-sara. V. 148 ; Vardhamana Purana XIV. 45 Adhyatmakamal-Martanda IV. 7. Dravya-Sangrah. 33. K. G. 16.

possession (kasayas). This is known as bondage[1], the cause of which are Delusion (mithya-drsti), Lack cf control (avirati), Inadvertence (Pramada), Passions (Kasaya) and vibrations (yoga)[2]. Nescience is at the root of all evils and cause of all wordly existence. The Jainas do not like to bother about its whence and why. It is regarded as co-eval with the soul, hence enternal and beginningless. Both the questions of the Self and Nescience are accepted as facts on the basis of uncontradicted experience. As the bondage is determined by the nature-Karmas, which are of eight fundamental varieties[3] with their numerous divisions and sub-divisions. Now as Vidyanandi Swami says that as Right Attitude, Knowledge, Conduct constitute the path of liberation, the anti-thesis of this trinity (Wrong Attitude, Knowledge, and Conduct) must lead to the bondage. If the very outlook is wrong one cannot expect Eight Knowledge and there cannot be Eight Conduct without Eight Knowledge.[4] Theory and practice are interlinked. So, on this realistic ground, the Jainas reject the metaphysical position of all those who subscribe to the Unitary Principle of the cause of Bondage.

V. JAIN MOKSA ; —

(a) Definition of Moksa : —

Moksa, the last of the Jaina moral categories, is the gist of Karma-phenomenology and its relation to the Science of Soul. Mukti is toto and total deliverance of the Soul from all Karmic veil — **sarvava-ranavimuktirmuktih.** As Umasvami defines, Moksa is the total and final freedom from all Karmic-matter, owing to the non-existence of the cause of bondage and the shedding (of all the Karmas)[5]. Ashrava is the influx of the Karma-particles into the Soul. It is nothing but the actions of the body, speech and mind. Jiva[6] takes matter in accordance with its own Karma because of self-possession.[7]. Now since the Karmic-inflow is the principle of bondage and hence its stoppage must be a condition of Moksa. So Samvara is opposite to Ashrava[8]. Samvara literally means controlling. But Samvara only arrests fresh-flow of Karma-particles, but what we require is not only stoppage of the fresh flow but also dissipation of the old one. This shedding or dissipation called Nirjara is possible by austerities[9]. This scheme of Samvara and Nirjara reminds us of the Hindu idea of the different varieties of Karma[10]. Uma Svami has two prefixes—VI (Visesharupena), PRA

---

1. Tattvartha-Sutra. VIII. 2.
2. *T. S. VIII. Dravya Sangraha 30; Sarvartha-Sidhi. p. 374-5.
3. Tattvartha-Sutra. VIII. 4 ; I. 2 ; Dravya Sangraha 31. ; Prasamrati-Prakarana of Uma Svati. 34.
4. Uttaradhyana Sutra. XXVIII. 30.
5. T. S., X. 2.
6. T. S. VI. 1-2.
7. T. S. VIII. 3.
8. T. S. IX. 1.
9. T. S. IX. 3.
10. Devi-bhagavata. 6, 10. 9. 14 ; Prakaranapanchika. p. 156.

(Prakrstarupena)[1] in defining Moksa, meaning thereby that Moksa is the total and exhaustive dissolution of all karmic-particles, which is the condition of omnisceince.

(b) The Nature of Moksa :—

The Agamic verse "Sukhamatyantikam yatra" etc. admits the experience of eternal bliss in the state of Mukti. "It is the safe, happy and quiet place which is reached by the great sages"[2]. Some of the Jaina Acharyas regard bliss as an attitude of knowledge[3]. Budhists, however, regard them as opposite. In Advaita Vedanta, consciousness and bliss co-mingle together in the undifferentiated one Brahman. Mallisena[4] redicules the Naiyayikas for reducing Moksa to a state which is indistingnishable from the pebbles etc. He says that our phenomenal-life is better in which happiness comes at intervals, than in the state of Mukti, which is emotionally dead and colourless. But the Jaina claim for attaining state of eternal happiness in the state of Moksa faces a serious dilemma. If it is a product (or spiritual Sadhana), it is non-eternal, and if it is not such a product, it must be conceeded that either it is constitutional and inherent or impossible to be attained. Hence, bondage and salvation are indistinguishable. So the very conception of Jaina Self and bondage makes the enjoyment of happiness well nigh impossible. This might be a logical objection, but the Jaina idea of Moksa is one of Infinite Bliss, which follows from the Doctrine of Four-fold Infinities of the Soul.

(c) Doctrine of Constitutional Freedom and Four-fold Infinities :—

The Jiva possesses four-infinities (anata chatustaya) inherently, which are obscure by the veil of four Ghatia (Destructive) Karmas. But the Jaina doctrine of constitutional Freedom of Soul together with Four Infinities present a difficulty. If Self is inherently good and essentially perfect how can Karma be associated with the Soul. If Karma is said to be the cause of bondage, and vice versa then there is fallacy of regressus ad-infinitum. But if Karma is beginningless, then how Soul can be essentially perfect. All the doctrines of Moksa-Sadhana then seem to be quite meaningless attempt since bondage and Moksa are both phenomenal and not real as Sankhya-Karika says—"Of certainity, therefore, not any (Spirit) is bound or liberated"[5]. It seems then that Moksa is not the product of a new thing but self-realisation. What I feel is that Soul is constitutionally free but it is potential freedom. It cannot be manifest without spiritual descipline. This is in consonance with the Jaina doctrine of Satkaryavada which makes a distinction between the Manifest and the Unmanifest. Sankhya and Advaita vedanta hold that Moksa is not the attainment of what is unattained but what is already attained (Praptasya Praptih). But where as Sankhya stresses the need of 'discrimination', and Advaita Vedanta emphasises 'identification', the Jainas work out a

1. T. S. X. 1.
2. Sutra-kratanga. I. 1 ; I. 15. 16.
3. Sarvartha-Sidhi of Pujyapada. X. 4.
4. Syadavadamanjari. V. 8.
5. Karika—63.

scheme of 'manifestation'. The logic is simple. If : what is non-existent cannot be produced,[1] hence it follows that the effect is existent even before the operation of the cause.

(d) Jivan Mukti and Videh Mukti :—

The Jainas like the Upanisadic thinkers[2] Budhists[3], Nyaya-Vaisesikas[4], Sankhyas[5] Yogins[6], Vijnabikshu and Vallabha etc. recognise the existence of Jivan Mukti together with Videh Mukti. But Ramanujists, Nimbarka, Madhava etc. do not accept Jivana Mukti. Apart from Jivan Mukti and Videh Mukti, there is an idea of karma Mukti (gradual salvation) in the Upanisads,[7] which resembles to the gradual ascendence of the stepping stones to Higher things, (Gunasthanakramaroha) or the field of Yogacharya, and the Bhumika of Vaidika philosophy. However, Mukti is Mukti - it must be one and indivisible. Any reference to the persistence of body etc. is meaningless. The duality of Mukti in Jainism is perhaps a legacy of the Upnisadic influence. Since the Jainas like Advaita Vedanta believe through the dawn of wisdom and the annulment of nesceince, Jivana Mukti is the one and only legitimate concept. Mukti refers to the Soul, not to the body, and the dissolution of the body is neither an inevitable pre-condition nor an integral feature of Mukti"[8].

(e) Nirvana & Moksa :

Moksa literally means 'release'—release of the Soul from eternal fetters of Karma. Nirvana (Buddhist) is derived from the Pali root 'nibuttu', which means 'blowing out'. However instead of taking it in a metaphysical sense of blowing out of (passions etc.) it is taken in the sense of extinction. However, there is ample evidence to believe that Buddha looks upon Nirvana as positive state of conscious. The distinction between Sopadhisesh and Nirupadhisesh Nirvana is a significant one. One refers to the annulment of the dirt of mind, while the other refers to the annulment of the very existence. What all we can say is that Budhistic Nirvana is mostly regarded as negative, leading to the passions[9]. However, according to the Vaisesikas, their conception of Nirvana means the total annihilation of all the attributes of the Soul. Moksa also refer to the concept of 'migration' and re-birth.

(f) Bhava Moksa & Dravya Moksa : —

The Jiva attains Moksa when it is free from the snares of Karma (Karma-phala-vinirmuktah moksa). The Moksa is either Bhava (objective) or Dravya (subjective). When

1. Introduction to Samaya Sara (Ed. A. Chakravarti). p. CLV. II
2. Kath. II, 3.14-15 ; Mundak, III2. 6 : Brah, IV. 4. 6-7.
3. Visudhi Magga, 16.73
4. Nyaya-bhasya IV. 2.2.
5. Sankhya-karika, k. 67.
6. Yoga-Sutra, IV. 30.
7. Kath, II. 3.5.
8. S. S. Suryanarain Sastri's paper "Jivana Mukti" The philosophical Quarterly, Jaln. 1939 (Vol. XIV No. IV).
9. Tattva-Sangrah, p. 184.

the Soul is free from four Ghatia Karmas (Jnaanvarniya, Darshnavarniya, Mohniya, Antaraya), it is Bhava Moksa, and when it is free from Aghatia Karma (Nama. Ayu, Gotra, Vedaniya) it is Dravya Moksa. Bhava moksa is negative since it is in this state the Soul is in the process of Nirajara, of course which is almost complete. But after freedom from Aghatia Karmas (Action-currents of non-jury), the Soul attains a state of never ending blissful beautitute. A person attains the state of Omniscience when Mohniya (Deluding), Jnanavarniya, (Knowledge-obscuring), Darsanavarniya (Faith-obscuring) and Antaraya (Obstructive) Karmas are destroyed[1]. After the attainment of Keval Jnana, a person is free from all kinds of Karmas and attains final liberation[2]. The Soul comes into its own and regains infinite knowledge, infinite faith, infinite bliss, and infinite power.

(g) The Abode of Moksa :—

When the Jiva attains freedom, it rises higher and higher and reaches the submit of Lokakasha which is called Sidha Shila (Region of the Free & Liberated). It may be pointed out that this is a new conception. The Vedic conception regards Atma as all pervasive and the Buddhist do not point any such thing as Atman, hence they do not posit a Locus of Moksa (Moksa-sthana). The nature of Soul is ever-progressive and never regressive. The Mandali sect of the Jainas regard that there is no such fixed place of Moksa but it is ever-progressing, in the nature of an ideal. But the Jaina concept of Dharma and Adharma (medium of motion and rest) present in each object leads us to think that there must be a fixed state where the motion must stop. The Hindu conception of Vaikuntha or Parma-dhama the Kingdom of God, not of Man.

Conclusion :—

Moksa in Jainism is not the product of something new. It is a rediscovery of man himself through self-relisation. True happiness lies within. 'Look within'—is what Jainism says. "Self-realisation is the ideal of the systems such as Nyaya-Vaisesikas and the Sankhya too[3]. Advaita Vedanta also is a philosophy of self-realisation par excellence—leading to the identification of the Soul and Brahman. Avidya is the common principle of bondage, so knowledge is essential for Mukti. The Karma-phenomenology of the Jainas is the outcome of their realistic and externalistic approach. Constitutional freedom of the Soul is a logical necessity. This is simple Satkaryavada. Unless the Soul has got some potentiality, how can it manifest ?

1. *Tattvartha-Sutra.*, X. *1*.
2. Ibid.
3. Dr. T. M. P. Mahadevan's Presidential Address to the Nagpur Session of Indian Philosophical Congress (Proceeding)—p. 7.

Kundakunda, Vattakera and Sivarya

ON THE TWELVE ANUPREKSAS.

Professor Dr. A. N. UPADHYE, Kolhapur.

The Anupreksas are, in general, topics of meditation or for reflection, twelve in number, and embrace a wide range of subjects practically covering all the principles and cardinal teachings of Jainism. They are in the form of reflections on (i) the transitory character of things (**anitya-anupreksa**), (ii) helplessness (**asarana-a**), (iii) the cycle of rebirth (**samsara-a**), (iv) lonelyness (**ekatva-a**), (v) separateness of the self and non-self (**anyatva-a**), (vi) the impurity of the body (**asuci-a**), the inflow of Karmas (**asrava-a**), (viii) the stoppage of the inflow of Karmas (**samvara-a**), (ix) the shedding of Karmas (**nirjara-a**), (x) the constitution of the universe (**loke-a**), (xi) the difficulty of attaining enlightment about true religion (**bodhi-durlabha-a**), (xii) the law expanded by the Arhat (**dharma-svakhyatatva-a**).[1]

These topics are associated with study as well as with meditation. The uitimate objective of Anupreksa—contemplation is the stoppage (**samvara**) of the influx of and the shedding of Karma. As intermediary steps, many a virtue is developed by the soul by contemplating on one or the other **Anupreksa.**

In the Ardhamagadhi canon all the twelve Anupreksas are not enumerated as a group: it is only in the later stratum, namely the **Mahanisihasutta** and the **Maranasamahi**, the twelve Anupreksa, called Bhavanas, are enumerated. Throughout the canon there are found captivating passages expounding individual Anupreksa, and they can be looked upon as gems of ascetic poetry, full of didactic appeal and moral fervour. The Anussatis in Budhism very much correspond to these Anupreksa[2].

A good deal of literature has grown round about the topics of Anupreksas in Prakrit, Apabhramsa, Sanskrit and modern Indian languages, both Aryan and Dravidian. The **Tattvarthasutra** (IX.2) and its commentaries have supplied a good capital of ideas in this context. It is proposed in this paper to deal with the contribution on Anupreksas by three authors, namely, Kundakunda, Vattakera aud Sivarya whose exposition has more or less a common pattern. These three authors are older than the **Tattvartha-Sutra.**

The **Barasa-anuvekkha** (B) of Kundakunda[3] is an important Prakrit text solely devoted to the twelvefold reflection. The printed text shows in all 91 gathas, but a palm-leaf Ms. with a Kannada gloss from the Laksmisena Matha, Kolhapur, omits gathas Nos. 35, 41, 45, 67 (identical wiih **Kattigeyanuppekkha** 104), 90 and 91 (which specifies Kundakundamuninatha as the author), and has a different gatha in place of No. 19, which happens to be identical

with the **Damsanapahuda**, gatha No. 3. As already pointed out by me years back,[4] there is an appearance of antiquity about this work. First, some of its gathas are common with the **Mulacara** VIII, and possibly they are ancient traditional verses. Secondly, five gathas from this work (Nos. 25-29) are quoted in the same order in the **Sarvarthasiddhi** (11. 10) of Pujyapada. Lastly, the method of exposition is quite traditional. For some of the ideas and similies (like **Jala-budbuda**) Pujyapada seems to have been indebted to Kundakunda.

In the method of exposition it is characteristic of Kundakunda that he uses both **Niscaya Vyavahare nayas**. Apart from his discussion about transitoriness etc. of external adjuncts, he necessarily insists on the meditation of the Atman which is eternal, the ultimate shelter, unique on account of its distinguishing characteristics, quite separate from all others, not to be lost sight of in this transmigratory circuit, worthy of being realised in this universe, pure as distinguished from its body, to be understood as quite apart from influx, stoppage, bondage and shedding of Karma, to be realized in purity without any confusion either with the routine of a monk's or householder's life, and to be known, fully for attaining spiritual happiness. Self-realization is the ultimate and the only object of twelve-fold reflection ; and Kundakunda does not lose sight of this unlike others who are often lost in didactic exhortations which obscure the central theme of self realisation. The **Anupreksas** cover a wider purpose of religious practices such as reporting of, renunciation of and atonement for sins and equanimous attitude and meditation. Kunda-kunda's gathas on **anitya-a** are as below :—

वरभवणजाण वाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ॥५॥
मादुपिदुसजणभिच्चसंबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥
सामग्गिंदियरूवं आरोग्गं जोव्वणं बलं तेजं ।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥
जलबुब्बुदसक्कधणुखणरुचिघणसोहमिव थिरं ण हवे ।
अहमिंद ट्ठाणाइं बलदेवप्पहुदिपज्जाया ॥२॥
जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घं ।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥
परमेट्ठेण दु आदा देवासुरमणुवराय विहवेहिं ।
वदिरित्तो सो अप्पा सस्सदमिदि चिंतए णिच्चं ॥७॥

The **Mulacara** (M) of Vattakera 6), chap. VIII, in 74 gathas is devoted to a discourse on the 12 Anupreksas or Bhavanas. The personality of Vattakera (who is the author of M according to the commentary of Vasunandi) is still in obscurity ; and his age, especially with reference to that of Kundakunda (who is also mentioned by some Mss. as the author of M) is a matter of investigation. The **Mulacara** is undoubtedly an ancient text and shows by its contents close affinity with Ardhamagadhi canonical texts and the **Nijjuttis**. The nature of the language excludes the possibility that it is a direct adaptation of the present-day canonical passages.

In the exposition of **Anupreksa** both the **Barasa-anuvekkha** and **Mulacara** show some common gathas parly or fully (B 1, a Kannada Ms. reads **siddhe-namamsidana-ya for namiuna-**

savva-siddhe & M 1 ; B 2 & M 2: B 3 & M 3, especially line 2 ; B 4 & M 4, especially line 1 ; B 14 & M 9, of. **Marana-samahi** 585 ; B 22-3 & M 11-2, cf also **Marana-smahi** 588 ; B 36 & M 19) ; and there are some similar ideas apart from common dogmatical and ideological inheritance (cf B 8 & M 5 ; B 24 & M 13 ; B 49 & M 45 ; B 52 & M 38). The **Mulacara** has further some gathas similar to those in the **Marana-samahi**, referred to above (M 46 & Mara. 618 ; M 50 & Mara. 621-2 ; M 57 & Mara. 628 ; M 68 & Mara 635). According to both, reflection on the **Anupreksas** gives rise to **Vairagya** or spirit of renunciation (M 73 Mera. 638). Some gathas, possibly of traditional nature, have their counterparts in texts like the **Trilokasara.**

Kundakunda and Vattakera show some marked differences in their approach and in some of the details. Kundakunda lays special stress on the positive aspect of the Anupreksas that the Atman must be realized as such ; he introduces both the Nayas ; and his description of **dharma** covers both the duties of monks and heasēholders. Vattakera does not go much beyond the literal and dogmatic meaning of each **Anupreksa** ; he has primarily the ascetic life in view ; and his exposition of **bodhi-durlabha-a** is more of a traditional nature and reminds one of canonical descriptions. Vattakera prefers the term **asubha-a** which is **asuci-a** according to Kundakunda who confines himself to bodily impurity without any reference to **artha, kama** etc. which figure prominently in the **Bhagavati-aradhana** and also **Marana-samahi**. According to Kundakunda Samsara is of five kinds (No. 24), but with Vattakera it is of four kinds, or of six kinds (with reference to **aniyoge-dvara**), or of many kinds with reference to **gatis** (Nos. 14-5). Vasunandi who is aware of fivefold division includes **bhavs.** (implied by ca) under **bhava**. Vattakera's gathas on **Anitya-a** are as below :—

ठाणाणि आसणाणि य देवासुरमणुयइड्ढिसोक्खाइं ।
मादुपिकुसयणसंवासदा य पोदी वि य अणिच्चा ॥३॥
सामग्गिं दियरूवं मादिजावणजीवियं बलं तेजं ।
गिहसयणासणभंडादिया अणिच्चेति चिंतेज्जो ॥४॥

The **Bhagavati-aradhana** of Sivarya 7) devotes nearly 160 verses (Nos. 1715-1875) to the exposition of twelve Anupreksa ; and they are introduced as **alambana** of **dharmadhyana** (in the manner of Thanamga) under its **Samsthana-vicaya** variety. In his exposition Sivarya impressess us more as a poet than a dogmatist or teacher. His style is fluent, simple and lucid, and with a racy flourish he embellishes his composition with strings of striking **upamas** (at times studiously collected) and **rupakas** many of which are used by subsequent authors. To illustrate the transient character of things, he mentions a large number of objects of comparison drawn from different walks of life. One is helpless in the face of Karmic consequences, so he appeals to all to seek shelter in **darsana, jnana, critra** and **tapas** which by stepping a little higher Kundakunda identifies with one's own self (Bha 1746 & B 13). If the Mahana-samahi stresses helplessness in the face of death, Sivarya emphasises the same in the face of Karmic consequences. One is really alone, lonely ;

relatives are not dependable, much less is the body ; and it is the Dharma consisting of Faith, Knowledge and Conduct that accompanies the soul (cf. Bha 1752 & B 20). Contact with people here in different births is like the meeting of birds on a tree at night : individuals have different temperaments, and their mutual attachment is necessarily utilitarian. Samsara is a dangerous wilderness or an unfathomable ocean in which one drifts driven by one's own Karmas through various forms of life. It is fivefold, therein the soul wanders with changing body, in different places, and with varying aptitudes—ever pursued by death and suffering manifold miseries. All along Karmas trap the soul which in its pursuit of pleasures suffers infinite pain in this endless Samsara. Under Lokanupreksa Sivarya describes more about changing human relations (illustrated by the story of Vasantatilaka etc.) 80, various births and wordly conditions than the cosmological details. Dharma alone is **subha,** while **artha** and **kama** are **asubha :** the body is all impure. An unguarded soul is like a leaky boat into which flows the Karmic fluid or like an oily surface to which the Karmic dust clings. The human life should be used to eradicate the causes of the influx of Karmas which are all-pervasive and which require to be stopped by curbing the senses, passions etc. Karmas get destroyed in their own way after giving the fruit or through the practice of penances. While discussing Dharma, Sivarya does not introduce the distinction of **sagara**-and **anagara dharma** but speaks of it in general. Dharma is supreme and thereby human beings attain the highest bliss. Dharma preached by Jina is compared with a wheel in this manner :

सम्मद्दंसणतुंबं दुवालसंगारयं जिणिंदाणं ।
वयणेमियं जगे जयइ धम्मचक्कं तवोधारं ॥ १

For a soul overcome by Karmas and moving in Samsara, enlightenment in religion is something rare and accidental like the yoke and yoke-pin coming together on wide sea 10) fortunate are those who have acquired it. Sivarya's exposition of **anitya-a** runs thus (Nos. 1716-28) :

लोगो विलीयदि इमो फेणोव्व सदेवमाणुसतिरिक्खो ।
रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसंदंसणसमाओ ॥
विज्जू व चंचलाइं दिट्ठपणट्ठाइं सव्वसोक्खाइं ।
जलबुब्बुदो व्व अधुवाणि होंति सव्वाणि ठाणाणि ॥
णावागदा व बहुगइपधाविदा होंति सव्वसंबंधी ।
सव्वे सिमासया वि अणिच्चा वह अब्भसंघाया ।
संवासो वि अणिच्चो पहियाणं पिडणं व छायाए ।
पीदी वि अच्छिरागो व्व अच्छिणच्चा सव्वजीवाणं ।
रत्ति रागम्म दुमे सउणाणं पिंडणं व संजोगो ।
परिवेसो व अणिच्चा इस्सरियाणाधणारोग्गं ॥
इंदियसामग्गी वि अणिच्चा संझा व होइ जीवाणं ।
मज्झण्हं व णरणं जोव्वणमणवट्ठिदं लोगे ।
चंदो हीणो व पुणो वड्ढदि एदि य उदू अदीदो वि ।
ण दु जोव्वणं णियत्तदि णदीजलमदिच्छिदं चेव ॥

घावदि गिरिणदिसोदं व आउगं सव्वजीवडगम्मि ।
सुकुमालदा वि हायदि लोगे पुव्वण्हछाहीं व ॥
अवरण्ह रुक्खछाही व अट्ठिद वड्ढदे जरा लोगे ।
रूवंपि पासदि लहुं जलो व लिहिदेल्लयं १० रूवं ॥
तेओ वि इंदधणुतेजसंणिहो होइ सव्वजीवाणं ।
दिट्ठपणट्ठा वि होइ मुवका व जीवाणं ॥
अदिवडइ बलंखिप्पं रूवं धूलाकदंबरं धारा ।
वीची व अद्भुवं वीरियंपि लोगम्मि जीवाणं ॥
हिमणिचओ विव गिहसयणासणभंडाणि होंति अधुवाणी ।
जस कित्ती वि अणिज्या लोरा संझब्भरागो व्व ॥
किह दा सत्ता कम्मवसत्ता सारदियमेहसरिसमिणं ।
ण मुणंति जगमणिण्णं मरणभयसमुत्थिया संता २ ॥

Though we are not definite about the relative chronology of Kundakunda, Sivarya and Vattakera, a comparative study of their exposition of Anupreksa is interesting. These three authors form a trio in this respect and their works have a close kinship, besides each having its individuality. The twelve **Anuprekas** are enumerated by them in the same order, and many ideas are common between them. Kundakunda addresses both monks and householders, while Sivarya and Vattakera have obviously the ascetic congregation in view. These two show greater affinity with canonical texts. Kundakunda and Sivarya have mentioned fivefold Samsara ; and in that context the latter's text, as it is available, seems to quote a few gathas from the former (B 26-7) (& BHa 1776 and 1778). One of the gathas of Sivarya No. 1824 occurs in the **Pancastikaya** where Amrtacandra calls it Siddhantasutra, possibly ancient verse inherited in traditional memory. Some gathas of Kundakunda have close resemblance with those of Sivarya (cf. B. 13, 48, 49 & 67 respectively) with (Bha 1746—, 1825-6 & 1847). Between Vattakera and Sivarya two verses are almost common (M 65 & 67 and Bha 1867 & 1870) ; both of them use the term **Iogadhamma** (M 28 & Bha 1811) ; and there are some gathas which show a good deal of common ideas and expressions (cf. M. 17, 26, 27, 31, 32, 37, 43, 44, 50, 56, 57, 61, & 66 respectively with Bha 1789, 1799, 1802-3, 1814, 1815, 1821, 1837, 1853, 1851, 1857 and 1869). Spe, of the verses of Sivarya have somewhat similarity with a few gathas in the **Marana-samahi** (cf. Bha 1776, 1822, 1837 and 1870 with Mara 598, 618, 621 and 634). These three texts, along with the section on Bhavanas in the **Marna-samahi,,** have formed the basic capital on which have grown the subsequent thoughts about Anupreksas.

FOOT-NOTES

1. K.K. Handiqui : *Yasastilaka and Indian Culture* (Sholapur (1949), pp. 291 ff.
2. These details are discussed in my introduction to the edition of the *Kattige-yanuppekkha* which is awaiting publication.
3. Satprabhrtadi-samgrahah, Manikacandra D. J. G., 17, Bombay 1920, pp. 425 ff.

4. A. N. Upadhye : *Pravacanasara*, intro. p. 40, Bombay, 1935.
5. There is a v. l. माडु पिडु सयणसंवासदा य पादी वि य अणिज्या as in the Mulacara.
6. Ed. Manikacandra D. J. G., 23, Bombay 1933.
7. Ed. *Mularadhana* with the Sk. commentaries of Aparajita and Asadhara, the metrical paraphrase of Amitagati and a modern Hindi translation, Sholapur 1935 ; also my Intro. to the *Brhat-kathakosa*, Bombay 1943, Z Intro. pp.50 ff.
8. For the stories of Vasantatilaka (1800) and Vimala (1806), see the *Brhat kathakosa* Bombay 1943, Tales Nos. 150 & 153.
9. Compare *Nandisutra* verse No. 5.
10. This illustration is fully explained in the *Kuvalayamala*, sections 326-27, ed. by me, Bombay 1959.

Bird's-Eye View of Jaina Metaphysics

Professor SATKARI MOOKERJEE, M.A., Ph. D.
Director, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda.

The Jaina metaphysics is franklv pluralistic like that of the वैशेषिक. There is much in common between the two schools and also pronounced differences on vital principles. One may find points of agreement in the metaphysical structure erected by the Jainas with several other schools. But it has a unique individuality of its own which is not swamped by its affinities with others. Among the seven ultimate principles तत्त्व's, there are only two categories which have antological status, *viz*. जीव's-the conscious individuals and अजीव-the unconscious principles of the physical world. The number of जीव's is infinite just it is found to be the case with सांख्य and न्याय वैशेषिक schools. The distinguishing character of जीव is consciousness which is a dynamic principle. Consciousness manifests itself in cognitive acts which are the natural transformations of it. There is here a vital difference from the सांख्य conception. Consciousness in सांख्य is held to be an unchanging principle and the different cognitive acts are accredited to unconscious बुद्धि (intelligence). If consciousness and बुद्धि be rolled into one, it will be the equivalent of the soul of the Jaina and भट्ट मीमांसक, as pointed out in the तत्त्व संग्रह[1]. Like the वैशेषिक, the Jaina holds that intelligence as an unconscious fact is a preposterous conception. Intelligence is inseparable from consciousness as its necessary function. The Jaina again does not differentiate the metaphysical soul (आत्मन्) from the epistemic subject ज्ञातृ as is done in सांख्य and monistic वेदान्त. The epistemological subject as the knower is not ontologically different from the soul. This is also practically identical with the न्याय वैशेषिक conception but with the vital difference that consciousness is integral to the Jaina Soul whereas it is an accidental emergent in the latter.

Though intrinsically, the soul according to the Jaina is infinite consciousness, bliss and power and freedom is its natural right, it is found to be In bondage on account of influx (आस्रव) of foreign Karmic matter into the soul substance. The association of the soul with *Karmic* matter is coeval with the former. Historically, the two are undated facts in mutual association existing from the eternal past. This is also not peculiar feature of Jaina thought but shared in common with all other schools which believe in an eternal soul or even a continuum of consciousness moments. In Indian thought the soul is not a created event and even according to theists it runs parallel to God. Here is the uncompromising difference of Indian metaphysics and religion with those of semitic creeds. The bodage of the soul is neither a matter of appearance nor of a purely physical character. Of course the soul develops emo-

1. Op. Cit., Sl 245 and the Commentary,

tional and conative dispositions enumerated as the four कषाय's (contaminations), *viz*. anger (क्रोध), pride (मान), deceit (माया) and avarice (लोभ), and these tendencies constitute its bondage. But these necessarily attract karmic particles from outside and the soul is contaminated just as a piece of moist linen is soiled with dust. These psychical dispositions and the Karmic contaminations are induced by the accidental association with matter. And because these are accidental overgrowths, they are liable to be eliminated by a course of ethico-spiritual discipline. The complete elimination (निर्जरा) of foreign matter from the soul will restore it to its natural freedom and perfection. Perfection is innate and imperfection and unfreedom (बंध) are accidents, though the latter are coeval with the soul from eternity· The complete dissociation with Karmic matter automatically leads to the extinction of the base impulses and predispositions. And this is called मोक्ष.

The Jaina prescribes a course of ascetic practice and discipline in order that the individual may 'arrest further degradation' (संवर) and get rid of the accumulated evil tendencies' (निर्जरा) and impulses which are the legacy of his infinite past career. The individual is responsible for his factual bondage (बंध) and also for his final emancipation (मोक्ष) There is no external force such as destiny or fatality which can be regarded as the cause of the misery of the soul. The dead weight of Karmic impulses accumulated from the undated past may to all appearance masquerade as the act of ineluctable destiny. But this will be a mistake, the destiny being the creature of the individual concerned, and it can be annulled by the individual's own efforts. Though from the religious point of view, external matter is a hostile factor, and the supreme spiritual interest of the individual soul lies in securing complete detachment and dissociation from the former and the highest perfection lies in the recovery of infinite knowledge, bliss and power which are innate properties of the soul, the Jaina does not seek to minimise the importance of external matter by relegating it to the field of illusion or appearance, as is done by the idealists of the *Buddhistic* and the वेदान्तिक persuation. The Jaina is a realist out and out. Matter may be a stubborn enemy but it is there in all its strength, and the best way to vanquish the enemy is to reckon with its powers and resources. The Jaina therefore has, like the वैशेषिक, made an incisive study of the physical world. The method is no doubt speculative and not experimental by the modern scientific standard. The अजीव, that is, non-living matter is investigated and divided into a list of categories. These categories are ultimate material principles, of which four, *viz*. धर्म, अधर्म, आकाश and पुद्गल are called अस्तिकाय's, that is extended bodies possessed of innumerable space-points (प्रदेश's), and the fifth is time (काल) which cannot be regarded as an extended body in terms of spatial dimension. Gross matter (*pudgal*) is of two kinds, *viz*. atoms and aggregates consisting of atoms held together in various ways of permutation and combination. The Jainas have given an elaborate classification of these atoms and their ways of combination and dissociation. Though the atomism of the Jainas has great affinity with that of the वैशेषिक school, there is a pronounced difference in that the atoms of the Jainas are homogeneous in character, whereas in the वैशेषिक system they are put under classes different and naturally exclusive. The वैशेषिक believes

that there are four classes of atoms, *viz.*, those of earth, water, fire and air, each forming a class with distinctive qualities and attributes. The atoms of Jaina metaphysics are all characterized by the same attribute *viz.*, colour, taste, touch and odour. It is the diverse combinations of atoms in variant proportions which give rise to the multiplicity of the physical entities found in the world. Each atom is an indivisible unit of matter occupying space. But it is capable of coalescence with other atoms and thus forming a body, which is the *raison detre* of its appellation as अस्तिकाय. Time, as we shall see, is also atomic in dimension, being an indivisible temporal unit. But it is not capable of forming a conglomerate of time-units. It is therefore placed in a separate position and differentiated from the other categories which are extended bodies, potential or actual. Time is not an अस्तिकाय, that is, an extended body. Each unit of time is sharply detached from its fellows. Herein lies its difference from space and other categories existing in space.

We have alluded to three cateogies or ultimate principles, *viz.*, the soul (जीव), matter (पुद्गल) and time (काल) in brief outline. Now we propose to deal with two other categories, *viz.*, धर्म and अधर्म which are the peculiar tenets of Jaina metaphysics. धर्म has got several meanings in Sanskrit literature. But in the present context it means a substance which makes movement possible. Being coextensive with cosmic space (लोकाकाश), it cannot move. Movement presupposes disjunction from one space-point and conjunction with another. But regarding what exists everywhere, the predication of movements is logically inconceivable and physically impossible. Things of limited magnitude have the capacity to move from one point to another in space. But this capacity will never materialize unless there is condition qua medium which makes movement feasible. It has been compared to the case of fish and water. The movement of fish is not movement of water, but the existence of water makes the movement of fish possible. It is a term untranslatable into English. It has been rendred by some as ether which is a concept of modern physics. But we have defined it and that makes it intelligible. In spite of the unavoidable incongruity, it may be described in Aristotle's words as the unmoved mover of things. *Adharma* is just the antithetical concept. It is the coudition of rest, that is, absence of movement. These two concepts are peculiar to this metaphysics. It is clear that though motion and rest are unpredicable of these two principles, they are regarded as necessary conditions which facilitate the two acts.

Akasa is also not translatable. Without committing ourselves to the changing connotation of the term, we tentatively render it as space. Its function is to provide accommodation to all that exist. It is not a void and nothing, as the सौत्रान्तिकs conceive it. Space according to the latter school is nothing different from the occupant of space. In and by itself it is only an ideal abstraction. Such is also their view regarding time. Time is not numerically different from what is regarded as temporal event. It is only an idea, purely subjective. But the Jaina, like the वैशेषिक, believes in objective space. There is however a peculiarity regarding space. Space is divided into cosmic space (लोकाकाश) and extra-cosmic space (अलोकाकाश). The former is what we are familiar with in our work-day life and

experience. The मीमांसक believes that space is visually perceivable. According to the वैशेषिक space is a matter of inference, which seems to be the position of the Jaina also. धर्म and अधर्म pervade cosmic space and do not exist outside its sphere. Extra-cosmic space is absolutely vacant, without any content. The admission of extra-cosmic space is most probably necessitated by the consideration that we cannot set a limit to the extension of space without posting it beyond the limit. As Kant has shown, the proposition 'there is no space beyond a limited sphere' presupposes the existence of space beyond. This is also the case with time. We cannot conceive of a limit to time because it entails the postulation of it. But as we shall see time as a substance or substances is only posited to function in and within cosmic space. The *raison detre* of the conception of this limited time perhaps lies in the consideration that time is not understandable without reference to a movement. There is no movement beyond cosmic space and so time will only be an otiose concept outside the sphere of motion.

The Jaina believes in the objective existence of time. But time is not a unitary substaace. The Jaina posits an indefinite number of time atoms spread over the entire gamut of cosmic space. There is no region in cosmic space which is not peopled with time—atoms. These time —atoms are static, immobile entities arranged in close proximity to one another, each occupying one space-point. It is compared to a row of trees existing in close vicinity. A man may move on touching the trees succcessively one after another. But the trees do not move, but determine the order of movement. The successive motions are characterlzed as present, past and future. The tree that is being touched determines the presentness and the previous contact determines the pastness and the untouched one determines the futurity. Time is thus a necessary term of referene. As time units are spread over the entire cosmic space, no movement is possible without contact with time. In time itself, the differences of past, present and future are simply *non est.* This is time *par excellence*, that is, the ontological time independent of and dissociated from moving things. Time is immobile by itself and the only function which it performs in and by itself is duration (वर्त्तना)[1] which conditions a thing to endure and preserve its existence in the midst of changes induced by its intrinsic nature and external condition[2]. Though things are bound to change from one state to another owing to their dynamic constitution, time is a necessary condition in which these transitions can take place. In this role, time is on a par with धर्म as the condition of motion, though both time and धर्म are immobile and static (निष्क्रिय)[3]. This holds of transcendental time (परमार्थकाल). But empirical time with which we are familiar in our experience as the condition of temporal changes *qua* past, present and future is determined by motion and is

1. सर्वार्थसिद्धि P. 239.

2. धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहा-द्विना तद्वृत्त्यभावात्तत्प्रवर्तनो[illegible]तः काल इति कृत्वा वर्त्तना कालस्योपकारः ibid. p. 291.

3. तत्त्वार्थसूत्र V. 7.

indistinguishable from the latter. The determination of time and things is reciprocal. A thing is present by reference to the present time and the time is determined as present by the action happening during it[1]. It is therefore not illegitimate that things are characterized as past, present and future by reference to past, present and future time. These determinations of time are extrinsie and not predicable of the metaphysical time. It boils down to the proposition that metaphysical time as atomic entities distributed over cosmic space is only responsible for duree (वर्तना) and not the transitions from future to present, and present to past, because these latter determinations have pointed reference to motion. As a matter of fact, time divisions are reciprocally determined and one cannot be posited without reference to the rest, as has been shown by नागार्जुन[2]. The metaphysical time is only the presupposition of empirical time and it therefore stands to reason that time, metaphysical and empirical both, is an irrelevancy in extra-cosmic space अलोकाकाश where there is no movement.

It is undeniable that metaphysical time, which is *ex hypothesi* absolutely static and immobile cannot account for conventional time—determinations such as pastness, presentness and futurity and posteriority and priority, because these characteristics are not fixed and permanent. Empirical time is susceptible of these characterizations. But empirical time is not one, but a multiplicity of moments, each of which is succeeded by another. Thus futurity is nothing but unrealized existence. It is only an anticipation of the present and is supplanted by the latter. The past is only the defunct present. Without these determinations, time has no meaning in pragmatic use. This pragmatic time has a pointed reference to action. It is for this reason time is calculated by reference to action which is also loosely regarded as the equivalent of time. There are thinkers who take action, that is motion, to be tbe time.[3] This is however not endorsed by the Jaina Philosopher. Action is symbolic of time and is understandable only by reference to the latter. It is true that in ordinary parlance action is made the term of reference for temporal determination. One action determines another either as simultaneous or as prior or posterior. E.g. "A comes when the cow is milked". Here it is not unusual to make one actian the determinant of another. But this usage is rather dictated by love of brevity. The determining action is symptomatic of the time in which it occurs. The two acts happening together is a case of simultaneity which is not intelligible without the presupposition of time. This also holds of priority and posteriority. Action cannot therefore be identical with time and as such cannot be used as its substitute except in a secondary sense.

1. अन्येन परिच्छिन्नोऽन्यस्य परिच्छेद-हेतुः क्रियाविशेषः काल इति व्यवह्रियते ।—Sarvarthasiddhi, p. 293.
2. अनपेक्ष्य पुनः सिद्धिर्नातीतं विद्यते ततः ।
   प्रत्युत्पन्नोऽनागतश्च तस्मात्कालो न विद्यते ॥—मध्यमकारिका, XIX. 3.
3. क्रियामात्रमेव कालस्तद्व्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेत्........।—तत्त्वार्थवार्तिक, V. 22 (26).

Moreover, to erect action into the status of time will make havoc of time-determinations[1]. For instance, an act of movemement is logically and psychologically dichotomized into past and future. The area traversed points to the past action, and the untraversed space is the province of future movement. Between the traversed past and the untraversed future, it is difficult to seize hold of what is present. A motion, as has been pointed out by नागार्जुन, is divisible into past and future aspects and the present is indiscernible[2]. But it is the present which is the dividing line between the past and the future—the area traversed and the area untraversed. But this seeming paradox does not affect time. The present is a felt fact without which the past and the future have no meaning. This shows that time as a metaphysical fact is to be posited over and above the empirical time symbolised by action. Of course, the sceptic may find delight in denying time, but the denial itself is a temmporal incident. However much the sceptic may confront us with his flourish of logic, he fails to gain our spontaneous consent. We are left unconvinced even if we find it difficult to defeat his arguments. There is a ring of insincerity in the sophistry employed by the professonal sceptic who may succeed in amusing the intellect but cannot persuade it to acquiesce in the negative conclusion.

It is the convension of almanac makers to make the motion of the sun and the moon the yardstick for time calculation. But this procedure is followed for the sake of convenience and not for the metaphysical reason that planatory motions are independent of time. These motions are symbols and not substitutes of time. The temporal determinations of motions as past, present and future are also not intelligible without reference to time standing at the back. Time again cannot be accounted for by space. Though Bergson asserts that determination of time by reference to space-points is only a superstition and to spatialize time amounts to immobilizing what is dynamic by its nature, it is the convention, which is inevitable, to measure time by space. Movement is not perceived apart from the moving body which moves in space and hence our calculation of time proceeds by measurement of space-points. But this necessary correlation of space and time in the act of measurement does not argue the superfluity of time. Space rather functions as the locus and not as the agent. Space is likened by Akalanka to a cooking vessel in which the grains are boiled[3]. It is the heat which is the efficient cause of boiling, though the vessel is indispensable. Space is rather the background and not the determining principle of duration. similarly duration

---

1. यद्यतीतोऽनागतश्च प्रत्युत्पन्नमपेक्ष्य हि ।
   कालोऽतीतोऽनागतश्च प्रत्युत्पन्ने भविष्यतः ॥
   अनपेक्ष्य पुनः सिद्धिर्न जातु विद्यते तयोः ।
   तेनातीतोऽनागतश्च कालो नाम न विद्यते ॥—मध्यमकवृत्ति, पृ० 384.
2. गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते ।
   गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥—मध्यमककारिका, II. 1.
3. तत्त्वार्थवार्तिक, V. 22 (8).

cannot be made the function of being (सत्ता)[1]. Being is existence and so far as our intellectual understanding of it is taken into consideration, the motion of existence is also not detachable from time. We understand even what is considered eternal in terms of time, that is, as existing in all the divisions of time. वेदान्तिस assert that being transcends time which is only relevant to acts and motions. So far as our ordinary understanding is taken into account, being is understood only in terms of time. Time is thus indispensable for our understanding of motion and temporal characterization of events in history as past, present and future.

Time is also indispensable for the explanation of change and evolution (परिणाम). Change presupposes continuance and emergence. A is said to change into A_1, A_2, etc. without forfeiting its character as A. A quantity of clay is made into vessels of various shapes, and the latter again change colour, durability and tactual properties (softness, hardness and the like) by undergoing a process of desiccation in a furnace. A man struggles with the base impulses and passions in his moral progress. He feels that he is a slave to his passions in spite of inner protest. By undergoing a course of moral discipline, he acquires mastery over them and moral freedom *pro tanto*. Intellectually also a man develops from an ignoramus to a knowledgeable person. He feels the change himself. Physical changes are to a large extent induced by motions of the constituent particles. Mental change, moral and intellectual, is not capable of explanation by arithmatical calculation like physical changes. Change is qualitative as well as quantitative. The former is not quite amenable to mathemetical measurement, but has a standard of its own. Change in physical nature is both qualitative and quantitative. It may be explained by natural laws or by reference to the exertion of an intelligent person. Whatever may be the varieties and kinds in which change may manifest itself, it is understandable only with reference to time. Change means cessation of one character and emergence of another, when these events have reference to one identical entity[2]. The entity must continue, that is to say, preserve its identity in the midst of transition from one state to another. The unbaked jar is black and becomes red or white when baked. The baked jar is not numerically different from the unbaked one. The qualities have changed, but they successively belong to the same substance[3]. The सांख्य, the मीमांसक, the Jain and also philosophers of रामानुज school believe in the reality of change of qualities in an identical entity continuing throughout the transitions.

The Budhists Fluxist makes change the point of departure and yet concludes by denying its possibility. In the sermons of the Buddha, as recorded in the पालि canon and also in the fragments of Sanskrit आगम, we find insistent emphasis upon impermanence. The Buddha does not seem to admit any permanent category except निर्वाण. But the सौत्रान्तिक Fluxist

1. Ibid., V. 22.

2. तत्त्वार्थवार्तिक V. 22 (10) : द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः ।
Also Yogabhasya, III. 13 : अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः ।

3. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।—तत्त्वार्थसूत्र, V. 30.

reduces impermanence to existence for a mathematical instant, that is, the infinitesimal division of time. Though there is constant reference to time the Buddha has not expressed any opinion on the reality of time either as an infinite individual or a plurality of moments. The सौत्रान्तिक reduces time to indivisible moments and ultimately moments are identified with momentary things. Time as an independent category is dismissed without slightest compunction. These Buddhists are uncompromisingly opposed to the advocacy of change as defined above.

Change, contends the Buddhist, is an irrational idea. The seed is said to change into a sprout. But the two events are so unlike with one another that it is impossible to find any element of identity in them. Qualitative and functionally, the sprout is not the seed and *vice-versa*. Does the seed persist in the sprout ? If it does, there would be no sprout. If the seed does not continue into the sprout, the latter cannot be regarded as the transformation of the former. The two are as different from each other as the North Pole from the South. It is evident on examination that the seed has ceased and the sprout has come into being in its place[1]. The relation is one of opposition like that between existence and non-existence. The sprout supplants the seed and can by no means be considered to be an event superadded to the continuant seed-substance. The preceding event ceases to be and the succeeding one emerges only by annulling the former. It is not again supposable that the seed exists and also ceases to exist to make room for the sprout. The supposition of continuity of the predecessor into the successor in the face of the obvious cessation of the former and contrast of character is logically unintelligible. The Buddhist therefore concludes that change is only an illusion. The causal relation between the two events necessarily presuproses the occurrence of two facts without any physical nexus. In other words, change is only an appearance if it entails the supposition of the identity of the cause with the effect which is endorsed unthinkingly by the advocates of change.

The objection recorded by the Buddhist is inspired by abstract logical considerations. Identity is believed to be antagonistic to change of qualities. The relation of substance and quality and so also of cause and effect cannot be explained by the abstract laws of logical thought. "A is a A and cannot be not A", seems to be an irrefutable proposition. Events occur staccato and because they are numericaliy different, they must be bereft of any continuity or identity. This is however the estimation of *apriori* logical thought without regard to the character of events. We find a core of identity in the midst of difference of qualities. The baked vessel is red and the unbaked one is not-red. But we are persuaded that the substance continues to be the same irrespective of the change of qualities. The sinner becomes a saint and we are not disturbed by the continuing identity of the person in spite of the difference in his moral character. If events are to occur *staccato* it would be difficult to affiliate the succeeding event to the preceding one as its effect. Causal relation will be an idea. Of course, the idealist and the absolutist make this change of quality, the ground of the

1. अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ।—न्यायसूत्र, IV.1.14.

denial of causation also. But so far as our theoretical and practical assessment is concerned, the absolutist's logic has very little effect on our thought. We believe in causality and in change as its indispensable characteristic. It is idle to seek to refute or to confirm the absolutist's logical standpoint. The realists have also put forward their explanations which are worthy of serious consideration. The नैयायिक realist believes in occurrence of different qualities in the same substance and the change of quality does not affect the identity of the substance. The quality only inheres in the substance, and inherence is only a relation. The quality may pass away leaving the integrity and identity of the substance intact. The relational explanation of the नैयायिक has not appealed to the सांख्य, the Jaina and the मीमांसक schools. They consider that the relation is one which is not capable of being assessed in terms of exclusive identity and difference. The relation of the seed to the sprout and conversely of the latter to the former is not amenable to the determination by identity and difference. Certainly the seed is not the same as its sprout. Nor are they detached facts like the seed and the jar. The relation between the cause and the effect is *sui generis*. It is altogether a different kind (जात्यन्तर) which cannot be subsumed under identity or difference. It is a third type in which the two are found as moments and yet not exhausted by them. If this is not admitted, one cannot explain why the barley-shoot is to be afiliated to the barley seed and not to any other cereal. This shows that there is a determining relation between the cause and the effect. It is not promiscuous. The dismissal of causation and change as appearance does not explain facts. However much the absolutist may attempt to explain away the exclusive, detrminate and selective relations of facts, he will not succeed in disabusing the common man of his notions. Those notions have the advantage of standing the test of experiment which continuously confirms the unsophisticated man in the truth of his belief. The Jaina and so also the सांख्य have accepted the principle of अनेकान्त which avoids the scylla of scepticism and the Charybdis of undifferenced being, both of which alternatives are constantly disfirmed by individual and collective experience.

We have made a digression which has been necessitated by the sceptics's denial of time and change. If change cannot be dismissed as mere appearance time has to be accepted as the ineluctable explanation of it. We now address ourselves to the problem why time has been regarded in Digambara tradition as a multiplicity of units having however the same charactor and function, differing only in respect of position in space. Almost all schools of philosophers are agreed on the point that time is responsible for our notions of priority and posteriority and change and the temporal determinations are but the different offshoots and corollaries of the notion of time. Now the emperical time is always understood in terms of priority and posteriority and by their very nature the latter are numerically different from one another. The prior is not the posterior and the present, past and future are not only different attributes, but mutually incompatible in one substratum in the same relation. So empirical time is a multiplicity of units, each sharply detached from one another, that is, what goes before and what comes next. The idea of

one constant monolithic time is either an abstraction or a metaphysical presupposition dictated by the law of parsimony. The Jaina philosopher is known for his implicit faith in the infallibility of normal experience and doubt and error are only exceptional aberrations. Taking the cue from the verdict of experience, the Jaina posits metaphysical time also as a multiplicity of units corresponding to emperical judgment of time, Empirical times are distinct and different from one another and the metaphysical time also should be in congruence with the experienced time units. This seems to be the **raison d'etre** of the belief in manifold time in contradistinction to the वैशेषिक conception of metaphysical time as one unit. As a matter of epistemological explanation one monolithic unchanging time without intrinsic difference has very little bearing on the temporal characterization of events. The multiplicity of temporal determinations is to be explained by reference to the multiplicity of events occuring successively. But the events **per** se are not regarded as the sufficient and self-contained cause of temporal determinations on account of their heterogeneous character. The Jaina is also found to agree on this point. Acts and events, though temporal in character, cannot be the conditions of temporal judgment. For this they must have necessary refference to another fact which is called time.

वेंकटाचार्य is perhaps the only philosopher, so far as our knowledge goes, who has criticized in the तत्त्वमुक्ताकलाप and his commentary सर्वार्थसिद्धि the conception of atomic time-units sponsored by the Jaina philosopher. He affirms that the postulation of the multiplicity of time-atoms is resorted to by the Jaina to explain the succession of motions. But this is a forlorn argument of despair[1]. The multiple time-units have no common character, and yet they discharge the same functions. As we have also observed before, there is no intrinsic difference between one time-atom and another, either by way of function or essential nature. The difference is only accidental and external, constituted by their location in different space-points. The felt unitary character of time is not capable of happy explanation when countered by numerical difference of the plural units without homogeneity of character. If one Time is posited as undergoing perpetual change without abrogating its ontological unity, this also can account for the successive transition of events occurring therein. In point of fact time is always changing into moments and the number of moments constitutes the conventional divisions of time as an hour, day, fortnight, month, etc. If however time is not intrinsically amenable to change, no differentiation of time can possibly be effected by reference to external conditions. All these external facts have reference only to time as such and so cannot superimpose any difference on it. If however the differentiation is supposed to be due to the internal divisions of time, the temporal divisions of events need not be determined by mere external reference. The objection of the Buddhist that one unitary fact undergoing change would split up the identity into different units need not pose an

1. तत्त्वमुक्ताकलाप with सर्वार्थसिद्धि p. 149 (काशी 1900) :

स्पन्दसन्ततिसिद्ध्यर्थं कालस्याणुत्वकल्पनम् ।
आशावसानतोकानां दुराशामात्रजृम्भितम् ॥

insurmountable hurdle. It will be met by the same arguments as are resorted to for explaining the occurrence of change in qualities and actions in one substance. This theory has apparently the merit of reconciling unity with multiplicity and also satisfying the law of parsimony.

The problem of unity or plurality of time has been mooted by Siddhasenagani, the commentator of the तत्त्वार्थाधिगमसूत्र-भाष्य. He quotes texts from the आगम, which are responsible for difference of opinion concerning the problem whether time is an independent substance, one or many, or only an attribute of the recognized five extensive substances (अस्तिकाय)[1]. Time is **prima facie** not an extensive body and so is not included in the list of अस्तिकाय given in the तत्त्वार्थसूत्र, V. 1 & 2. The अस्तिकायs are also substances. Now the aphorism "कालश्चेत्येके" (v. 38) has been read differently in the श्वेताम्बर and the Digambara tradition. The reading adopted by Siddhasenagani with the supplementary expression इत्येके, that is, 'according to some' sufficiently indicates the difference of opinion among the followers of Jain tradition. Time is also another substance. Siddhasenagani quotes a text which apparently alleges that time has no existence apart from sentient and insentient substances.[2] The **prima facie** import of this text seems quite clear in its indication that time as a substance is subsumed under the five extensives (अस्तिकायs). But another text is also quoted in which time is given as the sixth substance.[3] There are also texts which speak of time as a series of atoms pervading the entire cosmic space.[4] Both Digambara and श्वेताम्बर traditions seem to be agreed on the point that time is an independent substance in addition to the five extensives (अस्तिकायs), though there is difference of opinion regarding the issue whether time is one substance or a manifold of atoms. We have already explained the Digambara tradition at the outset. Now सिद्धसेनगणि seems to strike a note of his own which gives a materially different version. He unmistakably asserts that time is one substance having an infinite number of moments as its states and not discrete atomic units like the scattered pearls of a necklace.[5] The latter position is evidently endorsed by the Digambara tradition. This one Time-substance is constitutionally dynamic in the sense that it changes into moments by virtue of its intrinsic constitution like other substances. The Digambara tradition seems to be inspired by the modal standpoint (पर्यायार्थिकनय) in as much as it makes the moments emerge and perish without relation to any underlying continuing substance. The text of Siddhasenagani's commentary, as edited is not quite clear and free from ambiguity. But the trend of the argument unmistakably points to continuity of time in the midst of transitions. Even in the view which makes it

1. तत्त्वार्थभाष्य टीका Pt. 1, pp. 430 & 432 ; also p. 290
2. किमिदं भंते ! कालोत्ति पवुच्चति ? गोयमा ! जीवा चेव अजीवा चेव !—**Ibid**., p. 432.
3. कतिणं भन्ते ! दव्वा पण्णत्ता ? गोयमा छ दव्वा पण्णत्ता, तं जहाधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, जीवत्थिकाए, अद्धासमये । **Ibid** ; p. 430.
4. सर्वार्थसिद्धि, p. 313.
5. तत्त्वार्थसूत्रभाष्यटीका, Pt. I. p. 432. स च परिणामी न पुनरेक एव विच्छिन्नमुक्तावलीमणिवद्विद्यमानपूर्वापरकोटिवर्तमानः समयोऽभ्युपेयते ।

a flowing stream, it must be recognized, in conformity with the fundamental position of Jaina metaphysics, that emergence and destruction are not possible without a parmanent basis. Again priority and posteriority have been given as the criteria of time. But this interpretation is also based on the modal view of things. Priority and posteriority presuppose continuance. A sexagenerian is posterior to a nonagenerian. But these have reference to continued existence. The individuals exist for so long a time and the notions of priority and posteriority are understandable only with reference to existence and not time. As for simultaneity, it has reference to actions which happen to coincide at one moment. But these actions are also not different from the agents. So these criteria are not relevant to time. Time regarded as modes can account for these notions. But as substance it is one and so these differential characterizations are not compatible with one unchanging time which is the view of वैशेषिक school. We encounter two views in Jaina canon, of which one makes time an attribute of the five extensive substances. But whichever view may be endorsed, time is not entirely a transitory mode, since a mode is not intelligible as absolutely different from a substance. So time must be regarded as a dynamic substance undergoing transitions without end. Even the moment is not different from one Time-substance. In other words time must be one and many-one **qua** substance and many **qua** transitional modes.

सिद्धसेनगणि contends that this is the correct interpretation of the character of time is made quite evident in the next aphorism *viz.* "सोऽनन्तसमयः" (TS, V. 39). Time is a dynamic (परिणामी) substance possessed of infinite moments as modes. The moment **qua** mode is an indivisible part of time and is real and not a mere idea as the Buddhists afirm. Time is duration and past, present and future are only its specific transformations. Of these, the present is numerically one where as the past and future modes are each infinite. Time is dynamic because it changes into an infinite number of moments as its transitional states. The moment is devoid of temporal parts, but may be conceived as possessed of parts because it pervades the whole area of the world in which time is a ruling factor. The parts of the space governed by it may be conceived as parts of the time. Furthermore, it is the occasioning condition of the duration and change of things which are benefited by it, being helped to develop these charactristics. The role of time as benefactor must also vary with the benefits received by the beneficiaries. This implies that time is also undergoing a change in the performance of its causal functions. Besides, it is also dynamic as is chages by virtue of the attribute called अगुरुलघु (an untranslatable term, literally. 'neither heavy nor light')—an attribute which is liable to constant change and yet capable of preserving its identity. Time in short is a continuant as well as an emergent mode. The mode is also a substance. It is regarded as impartible because it perishes immediately after its emergence. So the moment **qua** substance cannot have further substantial parts. But it may be considered as possessed of parts in respect of the area of space governed by it and also as an active principle (भाव[1]). Time as mode also is the cause of the present and the effect of the past and changes from

1. तत्त्वार्थसूत्रभाष्यटीका, p. 434. यथा कालकृतदेशैरनवयव एवं द्रव्यो देशकृतदेशैरपि, केवलो भावतस्तु सावयव एव ।

the present to the past and was also future before it entered into the present. Accordingly, even viewed as mode, it is possessed of a plurality of parts, and as such is capable of being characterized as an अस्तिकाय. It is of course devoid of parts in terms of time and substance.[1] For this reason it is not regarded as an अस्तिकाय. Of course, time does not possess parts homogeneous with it existing together, as other substances do. And the past and future modes are not coexistent and the present is only one indivisible unit (समय). This is perhaps the reason for its exclusion from the category of extensives. But even the indivisible time-unit, as has been shown above, has extension over the area under its jurisdiction and the parts of the area covered are obviously understandable in terms of the parts of the time in the literal sense. Consequently time is entitled to being characterized as an extensive substance (अस्तिकाय). Tradition however restricts the use of this notion to five substances, but this does not annul its extensity.[2] Time should therefore be regarded as one and many, eternal and non-eternal. This interpretation perfectly accords with the conception of substance as an entity possessed of qualities and modes. Time has duration as its unvariant attribute, and the different transitions **qua** moments are its modes. The characterization of time as eternal or non-eternal in an exclusive reference is only the outcome of perverted approach and erroneous estimation (नयाभास). Siddhasenagani's exposition of time contains an implicit refutation of the Digambara tradition which lays down time as a number of static, discrete, detached and mutually exclusive atomic entities pervading the cosmic space. He differs also from the Digambara tradition in respect of time's sphere of jurisdiction. He definitely asserts that time as a governing principle has jurisdiction over a part of the cosmic space in which planetary movements are possible. As a matter of pragmatic convention there is no epistemological necessity for the postulation of time in a sphere from where planetary movement is ruled out.

The interpretation of time as propounded by Siddhasenagani saves it from its reduction to a subjective idea or a fiction. Every existent must be possessed of triple character *viz.* origination, cessation and continuance., To sum up, time according to Siddhasenagani is a unitary principle with an infinite plurality of parts **qua** moments which emerge into and pass out of existence in it (i.e. time). So time is also seen to possess the triple character. In other words it is a changing continuant. It is quite apparent that शंकराचार्य was only acquainted with the Digambara tradition and not the श्वेताम्बर conception as elaborately worked out by Siddhasena, which rather agrees with the view of time sponsored by him.

Let us examine the recognised अस्तिकाय as to whether they satisfy the definition of existents and substances. Now धर्म which is postulated as the necessary medium of motion and अधर्म as that of rest, that is motionlessness, are given out as existent facts, substances and अस्तिकाय (extensives) at that. Now धर्म is itself bereft of motion, being one individual

1. उत्पद्यमानसमयपरिणामिकारणमतीतसमयकार्यं वर्तमानावस्थामनुभूय वृत्तपर्यायमनुभविष्यति, प्राप्तवर्तमानत्वाच्च वर्त्स्यत्यपीत्येकैकसमयस्य द्रव्यता, अतः प्रदेशावयवबहुत्वात् कायव्यपदेश्योऽपि. Ibid.
2. न चैवाक्ताऽस्यास्तिकायताऽपह्नोतुं शक्या ।—Ibid.

entity and pervading the whole cosmic space. It is not an entity of limited dimension which only can move. Movement means that a thing detaches itself from a previous point of space and attaches itself to another point of space. Movement thus consists of a two fold process—one negative and the other positive, respectively disjunction and conjuction. But there can possibly be no such movement predicable of a substance which exists everywhere as a **fait accompli**. Bereft of movement, it is to all appearance reduced to a static unchanging fact. But an unchanging entity is indistinguishable from a non-entity. धर्म is an individual existing from eternity to eternity and has no attributes and qualities which can be liable to change. This is also the case with अधर्म and आकाश. There are immobile substances without any intrinsic quality or mode susceptible to change. Hence it lacks the two determinants of existence, viz. origin and decay., In one word, they are unchanging eternal facts—a conception which is repugnant to the fundamental concept of Jaina metaphysics. In Jaina ontology change, as defined before, is the essential character of things. Change and existence are conterminous and logically convertible. If the three subtances धर्म, अधर्म and आकाश, be static unchanging facts (कूटस्थ), they must be dismissed as downright fictions.

The objection raised is pertinent to the fundamental postulate of Jaina metaphysics. Change is undoubtedly Integral to a substance. धर्म and अधर्म are acknowledged substances. Accordingly they must be susceptible to change, actual and not merely hypothetical. These substances are bereft of movement without doubt. But movement is not the only way of change. There is another way viz. becoming, which consists repectively in the emergence and disappearance of new and old attributes. धर्म is the condition of motion. But for it things could not move. Movement entails disjuction and conjuction. These attributes have a definite origin and a definite end in time. In other words, they originate and perish. Of course, movement and by implication, origination and cessation, are primarily predicable of moving things. But conjunction necessarily relates to two terms, viz. (1) the point of space and (2) the agent in contest with it. This also holds good of disjunction **mutatis mutandis**. Accordingly with every movement there is a change not only in the thing moving but also in the apparently passive medium. There is conceivably no moment in which movement does not take place. As regards rest it is nothing but cessation of movement which has been stated as the connotation of rest by Panini[1]. धर्म and अधर्म are two substances which interpenetrate each other and are constantly undergoing change of attributes caused by things in motion and things at rest. At any rate, every act of movement implies rest, by virtue of the fact that it exists and endures, however short may be the span of time. Of course, it may be contended that these changing attributes are derived from external facts connected with the substances under review. They are not intrinsically and constitutionally determined by the nature of the substance. But change of attributes, whether intrinsically or extrinsically determined, is an undeniable incident occurring in these substances. Furthermore, every substance has the attribute called अगुरुलघु which is integral to it and which is liable to variant

1. ष्ठा गतिनिवृत्तौ ।—अष्टाध्यायी धातुपाठः

degrees of change from decrease to the minimal point to increase to the maximum. This intrinsic attribute is posited of all substances on the authority of scriptural statement. Now what has been said of धर्म and अधर्म is applicable to आकाश. Its function is to give accomodation to things, which is constantly changing with the things receiving accomodation. धर्म and अधर्म respectively make motion and rest possible. But the things either in motion or at rest must have supporting bases for their existence. So the definition of existence as change is aptly applicable to these apparently static substances. As regards individual जीवs that is, sentient beings and particles of matter, either in their discrete or concrete condition are always in movement and so constantly undergoing change. They are also changing their modes in and by themselves. So no difficulty has been raised in respect of these substances. All these substances are thus found to satisfy the fundamental condition of existence. They are regarded as substances because they are possessed of qualities and modes. A quality is dtstinguished from a mode by reason of its contancy, whereas a mode is *ex hypothesi* inconstant. A quality also as identical with the substance in which it occurs is not an absolutely static fact, and hence is an existential characteristic of it.

We now propose to deal with the metaphysical architectonic of Jaina philosophy and compare and contrast it with that of the वैशेषिक school which is justifiably regarded as the paragon of realism. The वैशेषिक posits six intitative categories, viz. substance, Quality, action, universals, ultimate differentia and inherence (समवाय) plus non-being (अभाव) as a negative category added later on. They are all objective reals and exist independently of a thinking mind. An act of cognition or thought is rather an external incident which does not spell any change of character in the thing cognized or thought of. Substance again is divided into nine types viz. the five elements—earth, water, fire, air and आकाश-and time, direction, soul and mind. Now, of the six वैशेषिक categories, the first three are accepted by the Jainas subject to necessary qualification dictated by the fundamental conceptions of Jaina ontology. According to the Jaina, a real is a changing constant with origination, cessation and continuance as the necessary concomitant elements. This conception of reality is in agreement with that of the सांख्य school so far as material existent is concerned. The सांख्य however derives the whole gamut of psycho-physical reality from one dynamic principle called प्रकृति by following the logic of अनेकान्त (non-determinism). The Jaina applies this logic to all existents, spiritual and material alike, without however seeking to affiliate them to one fundamental real as the pricks. The Jaina is a pluralist like the वैशेषिक. The difference of the ontological assessment as propounded by the Jaina from that of the वैशेषिक lies in the application of non-deterministic logic to each and every category. The general conception of substance as the substratum of quality and action endorsed by the Jaina is apparently in conformity with the वैशेषिक position with the difference that quality and action are regarded as natural evolutes of substance, whereas the वैशेषिक holds them to be fundamental reals, though necessarily connected with and dependent upon substance for their existence and manifestation. A quality and action cannot exist independently of substance, though they

are numerically different. Substance is not action or quality, and **vice versa**. Substance is the material cause (समवायी-कारण) of them and as such the former can exist independently of the latter which are its effects and inhere in the former (viz. substance). The Jaina does not believe in the production of an effect which is numerically and ontologically different from the cause. The Jaina theory of causation, in spite of apparent repudiation of the सांख्य theory of सत्कार्यवाद, is not different from the latter. There is only a terminological difference between the two schools. The Jaina asserts that the effect is neither absolutely different nor absolutely indentical with the cause. The effect is therefore not pre-existent in the cause in its finished form, but exists as identical with the causal substance. But this is also the position of the सांख्य as the relation between the cause and the effect is not held to be one of absolute identity. The two are identical **qua** common stuff, but there is a differentiation of mode, viz. shape, size, colour, causal efficiency, etc. This difference in the causal theory entails a fundamental difference in assessment of the relation of the first three वैशेषिक categories. Quality and action, according to the Jaina, are neither absolutely different from nor absolutely identical with the substance. The substance develops quality or action in and from itself. The quality is nothing but the substance transformed into a substance vested with the quality or action. Barring this difference of outlook and of consequential assessment of the ontological status, the first three categories are endorsed in common by the वैशेषिक and Jaina metaphysics.

There are of course minor differences regarding the number of substances and qualities. The fourth category is the universal or the सामान्य. The वैशेषिक posits universals as independent reals. Even universal is an individual unit which is however manifested in the different members of a class and is the **raison-detre** of the indefinite number of individuals being placed under one class. The Jaina has his difference from this conception. The universal is not independent of the individuals. Each individual develops a common character which is however numerically different from the universal developed in the other individuals belonging to the same class. The universal is not unitive but is as descrete as the individuals in which it occurs. In other words, the individual is the universal and there is no common unitive principle underlying the members of the class. Though the universal cowhood is not numerically indenticall in two or more cows, the latter are capable of classification on account of their similarity. This similarity serves as the universal **qua** a connective principle. The universal however is as individualistic as the individual in which it occurs and as such there is no common numerically identical universal. In this conception of individualistic universals, numerically different in different individuals, the Jaina philosopher is in fundamental agreement with धर्मकीर्ति.

As regards ultimate differentia (विशेष) which the peculiar concept of the वैशेषिक school. the Jaina dismisses it as a superfluity in common with the other opponents of the वैशेषिक theory. Composite bodies are differentiated from one another by virtue of class-character (universal) or quality or action. But simple entities like atoms, emancipated souls आकाश दिक्

(directions) and transcendental time are capable of being distinguished from other beings by virtue of respective ultimate differentia. An earthy atom, in the free state, is not distinguishable from another such atom because their attributes, universal quality, etc. are not intrinsically different. But each atom is numerically disitnct entity aud as such must have a distinctive character of its own. What constitutes this distinctive character ? Entities are distinguished only by reason of uncommon different attributes possessed by each. When other attributes are common, for example, earthy atoms possess the same universal 'earthiness', same or similar quality — their difference cannot be constituted by these common attributes. But since the substances are numerically different they must each have a different character, constituted by a different attribute. This ultimate differential attribute is called विशेष (ultimate differentia). This विशेष numerically differs with the individuals to which it belongs. But what again differentiates these विशेषs from one another ? They are not made distinct on account of another differentia, but per se. A विशेष distinguishes itself and also the substance to which it belongs. Not only this, a विशेष distinguishes also the attributes possessed by each substance. For instance, the odour of one earth atom is different from that of another and by themselves they are not distinguishable, since there is no qualitative difference between them. They are distinguished, however, because they belong to different substances which are distinguished by their respective ultimate differentia. Substances are not capable of self diffrentiation, and so also the qualities. It is for this reason they stand in need of a differentiating property. And this distinguishing property is called the ultimate differentia of substances.

The Jaina regards this conception as a superfluity. If the ultimate differentia can distinguish itself, why should not other entities be able to distinguish themselves. Each thing has a distinctive individuality of its own (स्वरूप). That will distinguish it. In fact, numerical difference of things is an unanalysable fact which is not necessarilly constituted by the difference of attributes. The attributes themselves, if not self-distinguishing, must require another and there will be no end of the series of distinguishing attributes unless the ultimate one is self-distinguishing. Each individual must be self distinctive (स्वलक्षण). Otherwise it will not be an individual, and the difference will only be an appearance, which is the position of monistic वेदान्त. Each thing has its own distinctive individuality. Udayana, in the आत्मतत्त्वविवेक, speaks of स्वरूपभेद which means that the numerical difference of a thing is constituted by its own identity. The identity of one is not the identity of another. This veiw was propounped by धर्मकीर्ति The Jaina endorses this view and by means of it dispenses with विशेष as an ultimate category.

As regards समवाय, the Jaina subsumes it under identity-in-difference (भेदाभेद) or rather a category which comprehends these two as moments and yet transcends them. The relation between quality and substance, individual and universal, part and whole, etc. is understandable as one which is neither difference nor identity but both held together by a kind of relation which is **sui generis**[1].

1. For an elaborate treatment and criticism of समवाय from the Jaina standpoint the reader is referred to the chapter on Relations in **The Jaina Philosophy of Non-Absolutism** by the author,

As regards non-being (अभाव), the Jaina dismisses it as a fiction. Absolute non-being is logically inconceivable. It is rather a consequential deduction from the distinctive individuality of facts.

As regards the number of substances and qualities, the Jaina does not go the whole way with the वैशेषिक. For instance, the Jaina conception of आकाश is different from that of the वैशेषिक. आकाश is not the **causa materialis** of sound, nor is sound a quality. Sound according to the Jaina is a material substance. And as regards दिक्, he subsumes it under आकाश. Many of the qualities are rejected or subsumed under different heads. As regards action, which is nothing but motion, the five different varieties are shown to be a dogmatic elaboration without any logical necessity. In this way, one may find difference and agreement in respect of many categories and subcategories, and the Jaina philosophical works abound in these speculations. Though one may find points of pronounced divergence and agreement of Jaina metaphysics with those of other schools, it will not be a fair attitude to deny it an individuality of its own. Agreement does not necessarily mean uncritical ecclecticism. It is a fact that the systematization of Jain logic, metaphysics and epistemology was made by Jaina philosophers after the systems of Indian philosophy, Brahmanical and Buddhist, had been put into shape. It is therefore quite reasonable and natural that the Jaina philosophers should have derived much benefit from the previous speculations and what reflects credit on them is that they have evolved a comprehensive system of philosophy in all its branches in conformity with the fundamental tenets of the Jaina canonical tradition. The germs of अनेकान्त are unmistakably discernible in the आगमs and the different conceptions of the metaphysical categories were also adumbrated in outline by the गणधरs who handed down the Jaina tradition. Consideration of space does not permit me to go into details and I therefore content myself with chalking out an ontline with emphasis upon controversial problems. An elaborate study of Jaina metaphisics will not be an unrewarding undertaking for a scholar.

The Contributions of French and German Scholars to Jaina Studies.

DILIPKUMAR BANERJEE, M.A., B.L., (Cal.) M.A. (Patna), M.A., (B.U.)
Pali Acharya.

The European Scholars have made Signal contributions to Indology in all its branches. Since the time India came in contact with the west, the European Scholars, specially the French and German have been taking active interest in the history and culture of India.

The discovery of the literary merits of the Sanskrit language by Sir William Jones, was a land-mark in the history of Indological research, as it opened up to the Western Scholars a new and vast field of research hitherto unexplored. The French and German Scholars began to make a Scientific Study of the Sanskrit language and by their patient researches laid the foundations of the Science of comparative philology.

Of all the Western Scholars the names of the French and German Lavants stand out prominently, as having made the most outstanding contribution to Indian studies in all its varied branches.

They have applied themselves assiduously to the critical Study of Sanskrit and the Sanskritic languages since the beginning of the 19th century. They studied these not only for the intrinsic literary merit of the language itself, but for the vast amount of historical, philological and Philosophical materials that lie embedded in them.

It is due to these Scholars that some of the forgotten chapters in the chequered annals of our land have been brought to light and considerable light has been thrown on some of the most important problems of Indian history.

In the present article we shall try to asses the contributions made by French and German Scholars to Jaina Studies. Early in the 19th Century the French and German Scholars were attracted towards Jainism, and began to make a specialised study of its literature and philosophy. Some of the German Scholars devoted their whole lives to the study of Jainology and trained a batch of Scholars who faithfully carried out researches in its various fields.

The first to open up the rich treasures of the Jaina literature was G. Bühler, a German Scholar, to whom the world is indebted for bringing Jainism and its literature within the field of study of the European Scholars. The first comprehensive and epoch-making accounts of the literature of the Jainas was written by ALBRESHT WEBER, who made a thorough and exhaustive study of the Jaina manuscripts.

The literature of the Jainas is very important from the point of view of the history of Indian languages : for the Jains always took care to make their writings accessible to the large masses of the people. Hence the canonical writings and the earliest commentaries are written in the अर्द्धमागधी, प्राकृत and महाराष्ट्री dialects. Sanskrit came to be the vehicle of expression at a comparative late period.

Some Scholars with a penchant for philology, made a special study of these Prakrits and threw considerable light on the development of the Indian verñaculars. Of these R. Pischel, in his 'Grammatik der Prakrit-Sprachen'. (Grammer of the Prakrit language) has for the first time made systematic study of the Prakrit grammer.

The collective term given by the Jainas to their Sacred books, is सिद्धान्त or आगम. Both the Swetambera and the Digambara Sects are unanimous in calling the twelve अंगs i.e. limbs, the most important parts of their canons. The सिद्धान्त of the Svetambara consists of the following texts.

I The Eleven अंगs

II The Twelve उवंगs (उपांगs).

III The Ten पईण्णाs (प्रकीर्णs) the scattered texts.

IV The six ched-Suttar (छेद सूत्रs)

V Individual texts. (Nandi & Anuyogadwara) नन्दी और अनुयोग द्वार

VI The four. मूलसुत्तs.

The German Scholars have critically edited most of the important texts. Of course the lists of the texts have been differently stated by different writers. Schubring, in his Work 'Mahavira,' gives a different list. Selected passages from the canonical texts have been translated by Schubring. The first सूत्र आचारांग has been translated by H. Jacobi. Schubring in his edition and translation of the first Section, the Bambhaeeraim (Rules for the holy life) has made an attempt to separate "the mosaic portions of the work, metrical and prose passages, and to throw light on the very entangled assortment of texts"[1] with much ingeniousness.

The sixth Anga called Naya-Dhammakahoo, which means "Examples and Religious narratives" had been edited with its commentary by W. Hutteman, "Die Jnata-Erzatungen im Seeksten Anga des Kanons des Jinishen". (The Jnata stories in the 6th Anga of the Jaina canon.)

Most of these narratives are in the nature of parables and illustrate some point of morality or other. As examples of folk literature, they are highly interesting. E. Leumann, has compared some parables with some of the Biblical parables. H. V. Glasenapp has shown in his study of the twelth Anga, the दिट्ठिवाद (Doctrine of various views) that the Karmic tales of the Jaina literature owe their genesis to this book.

"Die lehre vom karman in der Philosophic der Jains nach den karmagranthas dargestellt."

---

1. Winternitz-History of Indian Literature, Vol. II

(The doctrine of Karman in Jaina Philosophy as represented by the karmagranthas.)

The first Upanga the Uvavaiya (उववाय) has been translated with notes by E. Leumann-Das औपपातिक Sutra, Erstes उपांग der Jaina, JIEIL

As a piece of literary work, the Second Upanga, the रायपसेनिज is of greater importance. It is has been edited by Leumann.

The fifth, sixth and seventh उपांगs are "Scientific" works, dealing with astronomy, geography, cosmology and the division of time.

The Sixth called Jambu-diva-Pannatti deals with the mythical Geography of the Jainas, and has been edited by W. Kirfel, "Kosmographic der inder" (Cosmography of India). The Kalpasutra is a work dealing with the rules and regulations of the monks. It has been translated with a glossary W. Schubring.

The German Scholars have also made remarkable contributions to the non-canonical literature of the Jainas. G. Buhler. has published a work : Uber das leben des Jaina Monches Hemachandra ;—(on the life of the Jaina monk Hemachandra, also known as Hemacharya). He was a celebrated scholar, and one of the most versatile and prolific of writers and famous both as a scholar and as a poet.

The linguistic aspect of the Jaina Literature was also not neglected by the German scholars, and some of them made a special study of the Jaina literature from the philological standpoint. Hermann Jacobi—a famous German scholar and acknowledged authority on Jainology wrote "Uber das प्राकृत in der Erzalungs Litteratur der Jainas"—(on the प्राकृत in the narrative literature of the Jainas) a standard treatise on the development of Prakrit and the Indian vernaculars.

The next branch of the Jaina Literature, which received the close attention of the German scholars is the vast commentarial literature called णिज्जुत्तिस, चूर्णिस and भाष्यस. The value of all these commentaries, remarks Dr. Winternitz "lies in their serving as depository of very many ancient historical or semi-historical traditions on the one hand and of a great mass of popular themes on the other". These stories like the Buddhist Jatakas were intended to be used for edificatory purposes and give a cross section of the folk culture of the period.

The most interesting tales from these commentaries have been published by H. Jacobi, "Ausgewahete Erzahlungen in maharastri" (Selected narratives in महाराष्ट्री.)

The Jainas appropriated and adopted from other sources notably Brahmanical materials which they adapted to their own needs. For instance, the Jaina authors incorporated the Krisna cult into their religion at a very early period and consequently also interwove the the Krisna legend with their own treasury of legends. A Jinistic version of the destruction of the city of द्वारावती and the death of Krisna. In the commentary of the Uttarajjhayana Sutta is found the ancient legend of the descent of Ganga and the destruction of the Sixty thousand sons of Sagara,—as has been pointed out by R. Fick. Eine Jainistiche Bearbeitung der Sagara Sage—(A Jain adaptation of the Sagara Sage)

The Paceeka-Budha Stories of this collection show points of contact with Buddhist literature as has been demonstrated by 'Charpentier (Paceekabuddha Geschichten' Paceeka-Buddha Histories)

Next in order come the biographies of the 63 "Great Men" that is to say of the 24 तीर्थंकरs and their contemporaries, the 12 Chakravartins and the 27 heroes of antiquity which constitute the the most popular stories among the Jainas. These works are called पुराणs by the Digambaras, while the Svetambaras designate them as Caritras. H. V. Glasenapp has given a comprehensive account of these Caritras and determined their correct position.

The earliest religious novel (धर्मकथा) was तरंगवती by पादलिप्तसूरि. It was translated into German by E. Leumann. "Die Nonne" (The nun) and several other kathas have been translated by the German scholars, the most notable being Indische Novellen" (Indian Novel) by Charlotte he. Krausse.

Thus the German Scholars have rendered yeoman's service to the cause of Jainalogy and their contributions to the Jaina folk literature can not be over-estimated. It is owing to the patient researches of these scholars that a vast amount of historical and literary materials have been recovered from the scattered tales of Jaina narrative literature.

After the German Scholars, mention may be made of the French Scholars. Although the amount of work done is this particular field by the French Scholars is not so vast as that done by the German Scholars, still their contribution is by no means negligible.

The first French Scholar who made some remarkable contribution to Jaina studies is A. Guerinot—Essai de Bibliographe Jaina—(Essay on Jaina Bibliography). It contains references to 852 publications dealing with various Jaina subjects. This was followed by the publication of two other important works.—Notes de Bibliographie Jaina (Notes on Jaina Bibliography) and Quelques collections de livres Jaina (Some collections of Jaina Books)

L. de Millone published an important Catalogue of the Jaina antiquities in the Musee Guimet Paris-Peteit guide illustre au musee Guimet (small illustrated guide to the Guimet Museum).

A. Guerinot in his "Religion Jainas"—has given a valuable introduction to Jainism and its various sects. The French Scholars were specially interested in the historical and archaeological aspects of Jainism and produced some notable works on the same. D. Menant—in his Perlinage aux temples Jainas du Girnar—(Pilgrimage to the Jaina temples of Girnar)—has described the most important Jaina temples. Jourean Dubreil in his-Archeologie du Sud de L' Inde—(archaeology of South India) has discussed general important problems of Jaina archaeology. A. Guerinot in his Repertoire d' Epigraphic Jaina Precede d' une esquitsede l' histoire en Jainism (Catalogue of Jaina Epigraphy, preceded by a short sketch of the history of Jainism) has published all the available inscriptions on Jainism with historical notes.

Masson-Oursel-in his Esquisse d'ure Histoire de la philosophie Indienne (Sketch of the history of Indian Philosophy) has dealt with the philosophical aspect of Jainism. Thus we see that the German and French Scholars have made signal contributions to Jaina studies and have made us all indebted to them for their painstaking research in the different fields of Jainism and thereby opened a vast field of research for the future Jainalogists of our country.

Jaina Art Through The Ages

ADRIS BANERJEE

A. Plastic Art.

Ancient art to me is not just art, it is history and social science, psychology and human nature, even gossip with leanings towards sexology, if I am permitted that liberty. It is a great storehouse of informations about social customs, dress, manners, religious beliefs lapidary's art, architecture, flora and fauna.

More than that, the object of all ancient arts is, to create aesthetics. No human invention is capable of doing that unless it is an original creation. That is, the artist, the creator, has undergone extreme emotional experiences. It follows therefore that all those creations of Indian art, which we call great, are therefore the outcome of typical outbursts of intense emotion and inspiration. But this is exactly however the paradox of the situation. The bulk of the specimens of Indian art are religious and as such at the very beginning we have to make two great divisions—riligious and lay. Unfortunately, due to the series of visitations of loot, rapine, sack and plunder our great cities were left in ruins, with very little opportunities for us. Nevertheless, here and there, at unexpected corners we meet with undoubted specimens which cannot be called religious. The head of the Indian warrior now in National Museum, the polished head fragment of an eye with loops of hair coiled on the foreheads found at **Sarnath**, the heads of मथुरा, can by no stretch of imagination be called religious, yet therein lies a paradox again because the dividing line between religious and lay art in India is very indistinct. The railing of Bharhut, balusters at साँची, Jagayapatta, अमरावती, Bhattiprolu, Bodh-Gaya, & Nagarjunikonda contain secular subjects, a religious art leaning heavily on the contemporary phenomenon to inspire, to create and to endow.

Not even the common incidents of life are neglected to enrich the church art. The keen edges of intellectualism were blunted by the **humanity** of approach and methods. So long it has been argued that this was only the case with the early Buddhist art, but down we go through the ages—this fundamental characteristic is never lost sight of. In the caves of Udayagiri and Khandagiri, in Junagarh **chaitya** windows we find ample proofs of this. As a religious art, the Jaina plastic activity, did not concern itself with the perishable objects of this impermanent world or the materialistic world of nature, nor the passing moods of humanity, nor even definite types of human life, but endeavoured to reveal symbolically, the significance of human life and its ultimate destiny. Therefore, along with Jung we may feel that it had an 'archetype' whose aim was to educate and unify the society, through generic emotion, feeling, sentiments, and ideal to fulfil its destiny. Whether, therefore, it be the

crudness of primitivity, or the sporting Appolo of Greece or the महायोगी of Indian art the objective was the same.

With the progress of civilization, not merely animals, which were originally tribal totems, but also local heroes, fairies, personal fetishes, endowed by popular imagination with godhood or sanctity formed various archetypes of a great religious art. These archetypes were also liable to be modified in the social, philosophical, ethnic, economic and political cycles. Each religion would give a new definition to these symbols which were their common heritage. The establishment and clarification of the grammar of these symbols, will enable us to establish the character and scope of a sectarian art, even if its style, idioms and syntax happen to be the part and parcel of a national style.

The singularity of Jaina church art lies in the fact, that his art was not a personal destiny, but a collective way of thinking and devotion. The remote antiquity in which it originated and the ages, during which it underwent transformations to acquire the values we now put on them, were certainly not peaceful, but there was ambition and hope and deep-rooted faith in attaining salvation by following the way indicated by the तीर्थंकरs. Whether we look to the misty dawn of its history, in the chalcolithic age or to Mathura of the Northern Kshatrapas, we are struck by a deep piety serenity and economy of plastic expressions, notwithstanding the turbulent times through which the church and its art was passing, the calm dispassionate devotion for salvation from the travails of this materialistic world, when passions were high and times anarchic. Add to this, a catholicity of taste, notwithstanding the admitted puritanical austerity of the church, which enabled the artists to borrow motifs and ideas from the existing world and one appreciates the true character of Jaina art. Neither in architecture, nor in sculpture, nor in painting, Jaina church was provincial or sectarian but it depended on national aesthetic perception and experience to express itself. We will first therefore take up sculpture, then architecture of the Jaina church throughout the ages.

Whatever might have been their values, certain Jaina icono-plastic forms are met with in the chalcolithic art of the हरप्पा culture[1]. First of these is **Yoga** on which Jainism is based. पाणिनि and पतञ्जलि mention **Yoga**. The so called पाशुपत seal, seal No. 303 of हरप्पा, depicts Yogic आसनs.[2] The कायोत्सर्ग attitude, with आजानु-लम्बित-बाहु-द्वयम् is found on seal Nos. 300, 317, 318 found at Harappa.[3] The Jaina art depicts its तीर्थंकरs in two ways : when seated in समवसरण or when standing in कायोत्सर्ग. In the seals found at Harappa, going back to milleniums before the birth of Christ, we meet with the same representation, along with other strange gods, saints or divinities. The evidence is supported at Mohenjodaro

1. The whole question has been dealt with in great detail in my Origins of Jaina practices-Journal of Oriental Institute, Baroda. Vol. I, No. 4, pp. 308 ff.
2. Memoirs of Archaeological Survey of India, No. 31 ; M. S. Vats-Harappa, Vol. I. pp. 129-130 ; pl. xciii.
3. Ibid, pp. 331-32. pl. xciii.

too[1]. Nudity (दिगम्बरत्व) seems to have been one of the principal traits of the chalcolithic culture of Pakistan. It is noticeable in seal nos. 307—8, 317-18 of हड़प्पा and figures 13-14, 18-19 of Mohenjodaro.

The origins of a Jina image is still a matter of controversy, but we have objective evidence to show, that in the time of the Nandas, as well as in Post-Mauryan period images of **Jainas** were known. Thus in the हाथीगुम्फा inscription of the Kalinga emperor खारवेल we are informed : And he sets up (the image) the Jina of Kalinga which had been taken away by king Nanda....................[2].

Dr A. P. Banerjee Sastri brought to our notice certain fragments of well polished sculptures, found in Lohanipur Ward of Patna Municipality, and now kept in the Patna Museum. These lowlying area, now raised, seem to have formed a part of the ancient city of पाटलिपुत्र. These consist of two nude torsos not dissimilar to those found at (हड़प्पा). Dr. Banerjee-sastri took them to be images of Jaina तीर्थंकरs. The material is buff sandstone of चुनार. Later on some heads were also recovered.[3]

Orissan Incident.

The twin hills of Udayagiri and Kandagiri near भुवनेश्वर, in Puri district, were exploited since very early times, for founding Jaina monastic establishments. Altogether there are 35 excavations amongst which गणेश-गुम्फा, हाथीगुम्फा, the मंचपुरी, अनन्तगुम्फाs etc., are the principal ones. The dates range from 161 B. C. to 50 B. C. The Ananta has standing गज-लक्ष्मी, three headed hydra etc. The रानी and गणेशगुम्फाs are both double storied with friezes interrupted by doorways of cells in both the stories. The scenes include hunting of a winged deer, fighting scenes, kidnapping a woman etc. The late Sir John Marshall was of opinion that the sculptures of these caves were coarse and crude.[4] A great deal of this impression is due to the nature of of the sandstone. The style in both the stories of रानीगुम्फा are different. The upper group is comparatively well organised, were, the interrelations between the spatial units have been well controlled and the movements of the figures are free and vigorous. While the others lack cohesion and unity. Nevertheless, the success obtained in representing the plastic form and spatial organisation is undoubtedly convincing and shows a progressive quality from the days of Bharhut. They are remarkable for significant forms and yet are not the specimens of primitive art.

Attempts have been made from time to time to identify the scenes depicted in रानीगुम्फा and गणेशगुम्फा.[5] Thus scene 2 of रानीगुम्फा has been identified with the immortal भास's वासवदत्ता

1. Vats-op. cit, Vol, I p. 28 ; Marshall-Mohenjodaro and Indus Valley Civilization, Vol. I, pl. xii, figs. 13-14, 18-19, & 22.
2. Epigraphica Indica, Vol. xx, pp. 80 & 88. Line 12.
3. J. B. O. R. S., Vol. xxvi, pp. 120 ff. & plates.
   In this connection see also A. K. Bhattacharya's Article p.—2.
4. *Cambridge History of India*, vol. 1 p. 640
5. R, Mitra ; *Antiquities of Orissa* pl. 7 ; R.D. Banerjee : *History of Orissa*, vol. 1. etc,

and Udayana legends, which is met with in Jaina, Buddhist and Hindu traditions. The second scene in the गणेशगुम्फा is probably the flight of the couple to their capital, while scene 5 of the same cave represent the शकुन्तला story.[1]

शक-कुशाण Period :

From the eastern seaboard we have to make a long journey to the शूरसेन country and its capital मथुरा to meet the next known stage of the Jaina plastic activity, because, the evidence furnished regarding the flourishing condition of Jainism in Northern India available from **the disjecta membra** and images of one single site at मथुरा is indeed immense. Fortunately, most of them bear records and can be objectively dated. Nonetheless, the more important contribution is the material they supply for evaluating the incono-plastic art of the Jainas, when alien क्षत्रपs and कुशाण kings ruled over the greater portion of northern India. The earliest known images of **Jina** have been found at this place. मथुरा is merely a stage on a long dreary road through the empty corridors of time. V.A. Smith tried to explain the so-called Hellenistic influences on the Jaina art at मथुरा on geographical grounds[2]. This however is only one of the reasons. The other is the शकs, who were great imitators They had a language undoubtedly, when they were inhabiting the steppes of Central Asia, Tanasoxiana etc. But from the time that they occupied the fertile belt of the Oxus Zhob and later Kabul valleys etc., we find them in a different role. In the north-west, they addopted the Greek script, Calendar, Coinage and administrative system. When they entered India, thev preferred खरोष्ठी, the script of गान्धार, कपिशा काबुल Swat etc. That is why we find that the मथुरा Lion capital was inscribed in खरोष्ठी and not ब्राह्मी. The origins of गान्धार art is still a moot point but many feel that it originated under the शकs.

Another point which requires to be dealt with regarding the शकs-कुशाण art of मथुरा is the evidence they furnish regarding well established inconographic practice. The object of worship are the Jinas and तीर्थंकरs. The **Jainas** are to be recognized by their emblems or **chinhas** or लांछनs. Simply because they are naked it would be futile to regard them as दिगम्बर images[3]. That attitudes are generally shown in समवसरण when seated and कायोत्सर्ग when standing. Whether they are seated or standing, the attitude of meditation with half shut eyes directed towards the tip of the nose are invariably met with. This is the महायोगी type. In the standing specimens the hands are shown falling below the knees. This method has been in vogue in India since chalcolithic time.

During the Catholic rule of the Guptas, Jainism in मथुरा and other parts of India continued to flourish. Scores of images, heads and pedestals have been found at Mathura. Of these the most important is the inscribed image of seated **Jina** in year 57. The date has become a moot point[4]. The next is the fragment of pedastal of **Jina** image dated in the year

1. *Journal of the Indian Society of oriental Art*, vol. xiv, pp. 102.
2. *History af Fine Art in India and Ceylon*, p. 133.
3. The श्वेताम्बर and the दिगम्बर Images of the Jainas *A.R. ASI*, 1925-26, pp. 176.
4. JUPHS, Vol. XXIII, p.53. B 15 of Mathura Museum.

97 ascribed to Gupta Era[1]. Next comes number 238 of Mathura museum. Its peculiarity lies in the representation of loose locks falling on either shoulders. Since the inscription clearly states that it was an image of ऋषभनाथ, we need not have any doubt about its identity.

The next record of the Gupta period is found at Udayagiri near Bhilsa, in Madhya Bharat, dated in the year 106. The object was to record the installation of an image of तीर्थंकर पार्श्वनाथ at the mouth of the cave[2]. The next is the Kahaun Pillar Inscription of the time of Skanda Gupta in the Deoriya district of U.P., dated in the year 141 G,E. It records the setting up of five Jina images, by a certain Madra. The sculptures on the column itself dipict आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ and महावीर. To this period also belong the image of 22nd तीर्थंकर नेमिनाथ, on the Vaibhara hill (Rajgir) brought to our notice by R. Chanda. It bears an inscription mentioning an Emperor named **Chandra**, who is probably no other than Chandra Gupta II.[3] Therefore it is one of the earliest known Jina images of the Gupta period in eastern India. The modelling of the torso is graceful and slender and reminds one of that of the world famous preaching Buddha of Sarnath Museum. To this period also belongs the image of a **Jina** in कायोत्सर्ग on the वैभार hill.

चालुक्यs AND राष्ट्रकूटs

The great कुमारस्वामी by an error of judgment applied the term Gupta art to the early चालुक्यन art of south western India.[4] Historically or culturally, the Guptas had no connection over this territory. The resemblence by which the savant was misled was due to the influence which Gupta art exerted over its contemporaries and its successors. Actually, the beginning of the early चालुक्य rule and that of their successors (the राष्ट्रकूटs) heralds the dawn of a new thought epoch. It is the beginning of the declining slope, after classic stage had been reached. The remains of plastic art of this period are met with at बदामी, एलोरा, मेगुटि, ऐहोल temple nos. 53. and 39 लाकुंडी, पट्टदकल, वलगाम्वे and वेलगांव etc.

Eastern India.

Due to the Turkish deluge towards the end of the 12th cantury A. D., no province suffered so much as South Bihar and West Bengal ; with the result that Jaina antiquities are very rare. The temples have all been demolished long ago, but sculptures, defaced, damaged and neglected have survived here and there, which are very precious relics, since they enable us to avaluate the flourishing condition of Jainism just before the lamp went out. To this class belong the images of ऋषभनाथ on वैभार and सोनगिरि, पार्श्वनाथ on Udaigiri, वर्द्धमान on वैभार, the second image of ऋषभनाथ and मुनिसुव्रत in the temple at Rajgir.[5] Next come the images in the श्वेताम्बर temple at Nalanda and लछुआड़ in Munghyr district, which is a

1. *Ibid*, pp. 53 54.
2. *Corpus Inscriptionum Indicarum*, vol. III, pp.
3. ARASI, 1925-26, p. 125.
4. A.K. Koomaraswamy—A History of indian and Indonasian Art, pp. 75-6.
5. *AR, ASI*, 1925-26, Pls IVI-LVII.

village, in Jamui Subdivision, four miles south of Sikandra ; this village has only a धर्मशाला eracted by late Dhanpat Singh Bahadur of Murshidabad. But three miles south of it, situated picturesquely in valley between two hills, is a small temple. The image of महावीर is dated in 1505 V. S. (=1448 A. D.) ; but the second image belongs to the 11th century A. D. Kuluha hill, in the Hazaribagh district, is the birthplace of शीतलनाथ. There we have one image of पार्श्वनाथ at the foot of the hill and another in a grotto on the top. Near the tank cut in the virgin rock, are 20 small Jaina images dated 1443 V. S. There are also ten rock cut images at this place. To this period also belong same Jaina images noticed by Beglar at बेणुनागर or बेणीसागर, a village in Kolhan, on the border of Bihar and the मयूरभंज district of Orissa.

The Bodh-Gaya image in the modern temple is also an antiquity. There was an image of सम्भवनाथ, the third तीर्थंकर on ब्रह्मयोनि hill. The images in the cave at Pachar Pahar and श्रावक hill in Rafiganj P. S., of Aurangabad subdivision, of the Gaya district, may also be included in this period. चौसा, where the historic battle between Humayun and Sher Shah took place, has yielded 20 images of Jaina तीर्थंकरs including those of ऋषभनाथ and नेमिनाथ. These are now in Patna Museum.

Manbhum, which was a part of ancient राढ़ country, had routes bypassing the jungle tracts of Chotanagpur, which were used by caravans, since time immemorial, to connect the parts of Orissa with पाटलिपुत्र, Karna-सुवर्ण in Murshidabad district and Gaur which were the capitals of mediaeval Bengal. Simultanenously, there were rocks to connect the famous international port of Tamralipti with the cities of Orissa. These led to the growth of thrifty mercantile communities, residing in villages or small townships, all along the routes, who were prodominantly Jainas and have left vestiges of their faith. They betray the existence of a school of sculpture totally different from the Eastern Indian Mediaeval school of Bihar and Bengal and the thriving and the flourishing school of sculpture of Orissa. In all ages, in India, there have existed two schools of sculptures side by side. The first was official and extremely intellectual in character. While the second persisted in the homes of the poor and rural areas, which we call folk art. Even at Nalanda, an University of international status, we have examples of folk art in temple No. 12. The possibility that the art of Manbhum was a folk art cannot be completely ruled out. Nevertheless the idioms of expressions, the crude heaviness of forms that we meet with in the sculptures of Orissa, show that the artists of Manbhum were not merely provincial in origin, but drew inspiration both from Orissa and Bengal. The material too was local and differs from that of Bengal and Orissa.

Balarampura or Palma Balrampur, is a village, four miles from Purulia on the bank of river Kasai. Here there is a number of Jaina images and inscriptions now fixed by the roadside within the Court compound at Purulia. Boram, a village situated four miles south of Jaipur Railway Station, possesses three temples and large amount of Jaina images. कन्दन-कियारी is a village few miles away from Purulia. Here a large number of Jaina metal images were found about 12 years ago, and now kept in the Patna Museum. Chechaon-

garh, in the present Dhanbad district, whose ancient name, we learn from the rock inscription, was चित्तापर, is picturesquely situated on the दामोदर river and possesses the ruins of a large Shaivite religious establishment. 200′ to the west of main temple are the remains of an another temples which was Jaina. Bilonja has many Jaina images. Within half a mile to the south of Katrasgarh Railway Station, Jaina images are to be found along with a number of temples. One of these images is an inscribed piece. The same is the case with villages like Anai, Bhawanipur, Bauridih, Karchak, Kumrhi Chaliana etc.

In West Bengal, the most important is the image of पार्श्वनाथ in बहुलारा temple. In the extreme south eastern corner of बांकुड़ा district, interesting ruins were traced by J. C. French along with Jaina images. देवलभी also contains magnificient Jaina images.

Western India.

The earliest figures of human beings in western India are found in Junagarh caves, where two busts of women are found within horse-shoe shaped windows. The figures of women utilised as **Kinnari** brackets are also met with. The tradition is evidently derived from the demotic art of सांची and even distant south, at अमरावती etc. Figures of attendants are found at Dhank. These are fly-whisk-bearers. Horses are met with at Junagarh caves as bracket capitals.

The richly ornamented caves at अंकाइ-तंकाइ are the best examples of sculptures from 10th century A. D. in Khandesh. The elaborately carved doorways, the figures of **Jina**, the decorative motifs on the roof of cave No. 1, the sculptures of अम्बिका and other **Jina** images in cave No. 2 present to us the quality of contemporary art in Khandesh from c. 10th century A. D. onwards. The same is the case with cave No. 3, which has a roof with lotus patterns with four concentric circles of petals. It contained images of शान्तिनाथ etc. The **Jina** images are one of the most elaborately carved in India. They show an imagination rich in aesthetic conception with skill in execution.

The collossal of पार्श्वनाथ-unfinished, at Chamar Lena, is comparable with those at श्रवण-बेलगोला. The images of the Jinas, गोम्मटेश्वर and those on the मानस्तम्भ in Karusha caves also belong to this period.

Central India.

In central India the three well known places where Jaina sculptures are found are खजुराहो, ऊन and ग्वालियर. The endless procession of horizontal rows of sculptures, that decorate the walls of medieval temples, are not a meaningless barbarity. The vast fabric is bound together by an intimate system of thought. By studying them alone, an observer can easily guess to which deity the particular temple was dedicated. The extremely ornate character of these temples cannot be over-emphasised, because both in ancient and medieval India sculpture has had close affiliation with architecture. The sacred shrines of early and late medieval India, whether they be Hindu, Buddhist or Jaina, are found to be decorated with a mass of forms and motifs, so rare in the architecture of the West. This exuberance of ornamental and figural decorations received very disparaging treatment from early European writers.

But as Sir Flinders Petrie has pointed out, "The art of a country, like the character of its inhabitants, belongs to the nature of the land. The climate, the scenery and the contrasts of each country, all clothe the artistic impulse as diversely, as they clothe the people themselves".

B. ARCHITECTURE.

(1) Caves & Stupas.

Architecture has been described very truly as the 'printing press of all ages,' but several influences shaped the destiny of each national style. These were climate, materials, philosophy, customs, the geographical conditions etc. Twenty three years ago, the present writer had pointed out :—"The primeval forests, which were abundant in ancient times, supplied excellent wood for building purposes. The pink marble of राजपूताना, the trap and granite of the Deccan, the red sandstone of Jaipur and yellow of चुनार placed a wealth of material at the disposal of the architect. In western India the caves were produced, in actual geological formation, the रथ's of Mamallapuram were hewn out of amygdaloidal trap. Elsewhere, in the low lying plains of Bengal, in the valleys of the Indus, the alluvial soil was the only material available for building purposes, and this, when dried in the sun or baked in kiln, became excellent bricks, which were extensively used in these districts.

In every age and in every country, the climate has ruled over the destiny of building styles. It is true that climate is not the sole origin of a style, there are certainly other factors, but it was climate which set men to think about protection against the vagaries of nature. The Egyptians had a dry climate and bright atmosphere ; the mud of the Nile when dried in sun became as hard as stone. The Egyptians thus built houses of sundried bricks with flat roofs or open colonnaded first storey. When they began to use stone, they imitated their brick architecture. The seaboard of the Mediterranean had climate both temperate and brilliant but it was not free from rain like Egypt. Therefore we find that the Cretans laid their roof to a slight fall. A third instance in which the climate has influenced architecture is Mesopotamia. Here heat in the summer, rain and cold in the winter are extreme. Thin walls were useless to such conditions, thick walls were necessary to resist the heat and cold. Therefore, in Mesopotamia we find thick walls and square shape of buildings as in Egypt, but as neither timber nor stone were available, the mud brick constructions were carried overhead in the shape of the dome or the vault.

In India, the heat in the summer, the rainfall in the monsoon and cold in winter are extreme. Light too played a considerable part in the determination of the style. To counteract the heat and cold, thick and solid walls were built. The brilliancy of the sunshine led to the walls being built without great openings or windows. In one temple, one horseshoe shaped window was enough to light up the interior of a chaitya hall. Like the ancient Egyptians and the Sumerians, the Indians first began to build in reed or bamboo and mud. In order to meet the heavy rains of the monsoon they built their roofs with a tangential fall, so that the water will slide down, instead of percolating through the roofs. From the reed and bamboos the next steps were wood & stone. The Indian was a careful architect, and when he turned

from wood to stone, he carefully copied the wooden originals, so that the transition from one material to another may easily be perceived. The method of construction of the railings around the Buddhist स्तूप at भारहुत, सांची, and बोधगया, are absolutely wooden. The facades of the great chaitya caves of western India also confirm the above suggestion. The use of wood and stone also decided the style of early Indian architecture in another way. The absence of these two materials led the Sumerians to invent the arch and the dome at an early date, on the other hand, their abundance in India prevented the ancient Indians from making use of these two expedients in their buildings till a very late date in their history. The strongly marked horizontal and tangential lines of the landscape further determined the destiny of Indian architecture. In such surroundings of unlimited level plains and lofty mountains, the little marble temples of Greece, the slender Roman arches, and fluted columns with delicate foliage at the top, would have been absolutely unbecoming. The nature and environment demanded from the Indian mind a new kind of architecture, requiring originality, imagination and stability. He began to build curvilinear शिखरs in imitation of his humble reed and bamboo huts. His religion taught him that **Mukti** can not be obtained by remaining within the worldly pleasures and one must pray and practise austerities in the solitude of the jungles or mountains. He, therefore, carved wide **chaitya** halls and cells in the heart of the mountains, so that the pious may live and pray for the salvation of mankind. With what a great success he was able to transplant his ideas and sentiments in stone is borne out by the austere desolation of Bhaja, the secluded peace of Karle and lyric grandeur of अजन्ता and एलोरा.

Light also played a considerable part in shaping the distinctive features of Indian architecture. We have already noticed that the brilliancy of the sunshine led to the building of the solid walls without great openings or windows. The result of this was that, both the walls and roofs of the temples could be used for ornamental decorations and due to strong light they could be observed to the minutest detail ; while the tropical jungle, with myriads of vegetable and animal life, gave enough material for decorative motifs. The richness of decorative art was also due to Indian temperament, which has an inherent horror for empty spaces. Nowhere was the sheer joy of living more beautifully painted, or carved in wood, stone or bone, as is done even now in India. In the foggy atmosphere of England, in sunny space, in Italy, or in the sparkling Mediterranean, these would have been a meaningless barbarity. But amidst the exuberant flora and fauna of India they apply a colour of peculiar strength and charm to the monuments[1]."

Our knowledge of Jaina caves is neither complete nor comprehensive. Stray specimens here and there which have escaped the hands of the vandals and materialistic quarrymen, convey to us a faint impression of what they originally were. Secondly, with the whole of Rajasthan, Bundelkhand & Baghelkhand unexplored, our knowledge of Central India is nil. Only few in Eastern India and Western India have been tolerably described by pioneers and after that the blazed trail have been neglected with the result that weeds have grown and

1. The character of the Indian Art—Calcutta Review, April, 1937. pp. 85-92.

wilderness of ignorance has reclaimed them. My treatment therefore is rather geographical than historical.

Western India.

The caves at Junagarh are the earliest of these. There are also caves at Talaja in Kathiawad and Dhank in Gondal district. The first group is situated near बावा-प्यारा's monastery. These are arranged in three lines. The upper line faces south as they are on the north face of the rock. This consists of a large congregation hall and three smaller caves in a line. The hall measures 29'×16' and has an apse at the back. The three smaller caves with a verandah measure 11'×11' : The varandah is 13½' to 16'×4½' to 5½'[1].

The second series occurs at the bottom of a decent on the north west of Jama Masjid at the उपरकोट. They consist of a tank 11' square with a roofed verandah and a pedestal for an image. The southern varandah is supported by ornate pillars of two classes. To the north is a cave 35'×10"×27'×10". A door elaborately carved gives access to the chamber below, which measures 39½'×36'. It contains the railing with chaitya window motifs, with two figures. Notwithstanding the fact that many of the caves were quarried by नवाब's men, the caves are very interesting.

To the south east of बावाप्यारा's math there are other caves one of which contains a defaced क्षत्रप inscription containing the word केवलिज्ञान. Further, there are Jaina sacred symbols in one of these.

Inside the north wall of the city ramparts under a mosque built out of the despoiled remains of a Jaina temple, Burgess noticed a cave.

Other Caves.

There are also caves at Talaja, Lor hill in Babriwad and Sana hill near the village of Vankia. The caves at Talaja are 30 in number showing that at one time a large Jaina monastery flourished there. Most noteworthy of these is known as Ehbal मंडप,[2] measuring 75'×67½'. The facade bore the railing pattern with chaitya window motifs. This is little later in date than that of बावाप्यारा . Higher up is a congregational hall of primitive type but not earlier than the 1st century A. D.

The caves at Sana are 62 in number the largest of which is like that at Talaja.[3] It is also called Ehbal मंडप. Higher up the hill there is a cave named 'भीम-चौरी'. By the side of this is a cave 18'×31' in measurement and a tank in crescented form, and has a plain chaitya reminding us of a cave at शिवनेरि, the birth place of छत्रपति शिवाजी.

Dhank.

Dhank is situated at a distance of 30 miles north west of Junagarh. Few miles north west of Dhank is a glen near the village of सिद्धेश्वर where there is a group of five caves.

1. J. Burgess – *Cave temples of India*, p. 191
2. J. Burgess—*Antiquities of* कच्छ and काठियावाड़, p. 143, pl. xxiv.
3. *Ibid*, p. 149.

In a ravine to the west of these are other caves. The village of Dhank itself contains caves with sculptures. Near the village of Harishen, on the Jodhpur-Junagarh road, on the western side of Gadhka hill, there are nine caves.

अंकाई-तंकाइ

It is now the name of a hill fort in the present Nasik district of Bombay state, 900' in height. Actually they are also the names of twin hills joined by a saddle. Here are seven Jaina caves, extremely ornate, but badly defaced probably by Khan-Khanas army in the reign of Shah-Jehan. The first cave is double storyed having a richly carved doorway like चौबेरा देरा No. 1 at ऊन. The roof has been decorated with lotus leave pattern. The door of the shrine is also elaborately carved. The plan of the second cave is very similar to that of the preceding one. But it had a closed verandah. It has a figure of Indra and अम्बिका. The shrine has the figure of Jina, not yet identified.

The third cave has a perforated screen in front, with two figures similar to that of the preceding cave in the front row. On the back wall of the back room are found images of पार्श्वनाथ and शान्तिनाथ in कायोत्सर्ग. The whole space around the images is a carved relief as not yet identified.[1] The fourth cave measures 30'×8' and the doorway was richly ornamented like that of cave 1. The hall has a pillar on the left which bears an inscription in the characters of 12th century A. D. The rest of the caves do not deserve any description.

Chamar Lena.

The hill of this name in which the Jaina caves were excavated, lies to the north west of Nasik. The most noteworthy object is a colossal unfinished bust of पार्श्वनाथ. The caves belong to 10th or 11th century A.D.

वामचन्द्र.

This place is approximately 25 miles north-west of Poona and west-north-west of the celebrated fort of चाकन. There is a Jaina cave now converted into a शैव temple.

भामेर.

It is in the Nizampur division of Khandesh, 30 miles from Dhulia. There are some Jaina caves here too.

धाराशिव.

It is a village 37 miles north of Sholapur, on the Poona-Madras section of Western railway. About 2 miles north-west of this town in a ravine, are some Jaina caves, finished and unfinished and few more opposite to them. Due to the presence of haemetite in virgin rock in which the caves had been excavated, they are very much ruined.

Karusha Caves.

Karusha, is a village 43 miles east of धाराशिव. There are a series of caves with images of पार्श्वनाथ. On the south is गोम्मटेश्वर and महावीर. In the court is मानस्तम्भ with the usual four Jina figures facing four quadrants.

---

1. Burgess—*op. cit.*, p. 507.

बदामी.

A little to the east of the largest cave at बदामी, there is a small Jaina cave belonging to c. 650 A.D. The verandah is 31'×6½', and the cave itself 16' in depth. The sanctum contains an image of महावीर. At either end of the varandah are figures of गोम्मटेश्वर and पार्श्वनाथ.

ऐहोल.

The Jaina cave at ऐहोल, is to be found on a hill east-south-west of ऐहोल village. The roof was ornamented. The verandah has an image of पार्श्वनाथ with नाग couples on either side. At the right end is another Jina figure. The shrine contains an amage of महावीर. The walls of the chapel also bear sculptures.

Patna.

Near Pitalkhora, to the east of a village named Patna, is the Kanhar hill, which contains two Jaina caves, known as नागार्जुन's कोठरी and सीता's नाहनि.

Ellora.

Brahminical caves at Ellora are well known, but Jaina caves also exist on a northern spur of the hill called चरणाद्रि.

1. छोटा कैलाश, as the name suggests, is like the famous कैलाश cave, but smaller in proportions. The spire is unfinished possibly due to the decline of the Imperial राष्ट्रकूटs.

2. इन्द्रसभा and जगन्नाथ सभा consist of two double storyed and one single storyed caves with their attached buildings. The sculptures are indeed superior to that of छोटा कैलाश. They contain images of पार्श्वनाथ and गोम्मटेश्वर. Few inscriptions in Canarese characters of the 9th century A.D., are possibly the objective evidence of their date.

Eastern India.

The earliest Jaina caves not merely in Eastern India, but in the whole of India, are those to be found on the Barabar hills, some of which are complete and others are incomplete. These are करन चौपार or सुपिआ caves containing an inscription of Emperor अशोक. The existence of a platform 7½'×2½'×1'. 3" clearly demonstrates that it was meant for Jaina ascetics. Same is the case with Sudama which contains an apse at each end. Identical is the case with लोमस ऋषि, विश्व मेंढ़ी or विश्व झोंपड़ी cave which was meant for the आजीविकs, वहियक गोपी and वडथिक caves in the नागार्जुनी hill.

Next in importanee and date is the सोनभंडार cave in Rajgir and सीतामढ़ी cave in Gaya district. While the date of the latter is not in doubt, the image now placed by the local Hindus in it is of गज-लक्ष्मी, Khich is very late and very crude. There is some doubt about the date of the सोनभंडार If, however, a careful scrutiny is made of its wall it appears that the walls were polished to a certain height and left unfinished. Later on, in the 5th century A. D., the Jaina monks got that inscription in shell characters inscribed on its outer wall and the practice has been to ascribe that date to the cave. The second cave at Rajgir which undoubtedly belonged to the Jainas is to be found on the विपुल hill, known as भूषण की मढ़ी, so named from the traditional connection it has acquired from भूषण, the famous Hindi poet of mediaeval times, who is supposed to have resided there for a long time,

The other great holy place of the Jains, now neglected, is in Hazaribagh district, known as Kuluha hill. It is supposed to be the birthplace of शीतलनाथ. At the foot of the hill there is a rock carving of पार्श्वनाथ now known as द्वारपाल. On the top there are two grottoes, in which there is an image of पार्श्वनाथ and another **Jina** whose emblem has been lost. At Pachar Pahar, a hill two miles South-East of Rafiganj, is a cave half way on the hill, containing many Jaina images, including that of पार्श्वनाथ. This cave which has never been properly studied, has a मंडप in front and is located in a natural fissure of the rock. श्रावक hill is another granite outcrop, 3 miles away from Rafiganj. There is a cave in the hill with an image of पार्श्वनाथ.

Of स्तूपs we have two definite examples in the ruins of यशोविहार or कंकाली or जैनी-टीला at मथुरा, excavated in 1890-91,[1] and that at Rajgir on the विपुल hill.[2] Since the विपुल hill has received very little attention from the archaeologists, it will be worthwhile to describe it at some length. At its foot was the northern gate of the old city. At the western face of the hill Broadley had noticed several kunds. On this hill, is the temple of महावीर. About a quarter of a mile from the modern temple was a large platform seen by Broadley strewn with disjecta, but taken by him as Buddhistic in character. Then there is the स्तूप, which is definitely Jain.

Orissa.

The twin hills of खंडगिरि and उदयगिरि in the कटक district have been exploited for a long time to establish Jaina monastic establishments. The oldest is probably हाथीगुम्फा, belonging to 161 B.C. The मंचपुरी or the वैकुंठ or पातालपुरी also belongs to this period. The other most important caves are the अनन्ता, रानी and गणेशगुम्फा. According to कुमारस्वामी they range between 150 to 50 B. C.

South India.

The most important Jaina cave in the Peninsular region is the सित्तनवासल. The other less discussed is Kalugumalai in the Tinnevelley district, 75 miles north of Cape Comorin. It is an unfinished temple hewn out of virgin rock. The other side of Kalugumalai hill contains many rock carvings with inscriptions.

Central India.

The prinicpal Jaina antiquarian remains at Gwalior, are caves and rock-cut images of the **Jinas**. Most of them are in niches provided specially to contain these images, though some are cells. They belong to the 15th century. One of them is 57′ in height.

(2) Nagara Jaina Temples.

Northern India.

Authors on ancient Indian architecture state that there were three different styles in the architecture of this country : नागर, वेसर and द्रविड़. But in the 10th century A.D., the architects of ancient कर्णाट mention a fourth style called कलिंग. In an inscription in the temple of

1. V. Smith—*The Jaina Stupa and other antiquities of Mathura.*
2. *Annual Report of the Arachaeological Survey of India*, 1925-26 plate lvi, fig. (a).

अमृतेश्वर, in the village of Holal, it is found stated that an engineer (विश्वकर्मन्), named Bammoja, the pupil of Padoja, was master of 64 varieties of arts and sciences, clever builder of 64 varieties of mansions and master of four types of buildings : नागर, कलिंग, वेसर and द्रविड़[1], Evidently, the reference is to the रेखा type of temples.

Jaina temples as we shall see belong to all these four varieties or styles and it would be convenient to take them up accordingly. नागर style is generally equated with what Fergusson calls आर्यावर्त style. It is ordinarily taken to be the style pravalent in and around 'Nagar' or the capital city. My teacher late Dr. R. Bhandarkar, equated it with 'Nagar' near उनियारा in Jaipur district. But I feel that it stands for 'श्रीनगर' which remained the capital of Northern India from 9th century onward. This style was prevalent from Gaya and Konch in the Gaya district of Bihar, to the North-West Frontier Provinces, and from the Kangra valley in the north to Dharwar district of महाराष्ट्र. Generally, the sanctum is rectangular and the शिखर's rise to a point showing beauty of form in mass. But in this vast area, various sub-styles are met with. The first, in the metropolitan area, where the spire is like a cone e.g. at Bodh-Gaya, Konch, Nalanda and Khajuraho. The second type is met with in the temples in Orissa and Umga and Deo in Gaya district, where the outline of the tower presents a hyperbolic curve. The third is met with in the हेमाडपंथी temples of महाराष्ट्र and परमार temples of मालवा,[2] where the शिखर has a parabolic curve and four huge slabs in the four principal directions with miniature शिखरs filling up the intervening space, decreasing in size as they go up. Last are the temples of Gujrat with their clusters of शिखरs around the principal one, as if the various forms rising in a deep crescendo has stopped short of infinity below the blue dome, lending a false sense of height to the शिखर.

More important than the existence of epigraphs in Bihar and Bengal, are the structural remains, which bring to us more forcibly the fact of the existence of this faith amongst the original population of eastern India in ancient times. Next come images of shrines no longer in existence. Sculpture is an important source of information—a fact which has received little encouragement from the investigators—because, barring possibilities of these having been demolished by iconoclastic invaders, each individual image presupposes the existence of some kind of edifice in which it was actually housed and worshipped. A great deal of harm has been done towards this objective by connoisseurs and museum curators, whose well meant efforts, in saving these relics and acquiring to enrich their museum collections, prevented them from reporting the finds to the archaeological authorities, which might have resulted in fruitful study and excavations of the spots.

Late R. D. Banerji stated "The Jaina Zone of influence appears to have extended from the southern bank of the Ganges and western bank of the भागीरथी, right upto the northern

1. *Annual Report of the Assistant Archaeological Superintendent for Epigraphy*, Southern Circle, Madras, p. 49. App. B. p. 90.

2. *Journal of the U. P. Historical Society*, Vol. XVI.

frontier of the jungle country, where wild Gonds live and which is the province of गोंडवाना proper[1.]" amongst the first of these sites comes कुलरा, in the Bankura district. Bankura, I had already occasion to observe the connecting link between Chota-Nagpur plateau and Bengal[2]. कुलरा is about 3 miles distant from Ondal Station of the Eastern Railway, between Burdwan and Asansol. It contains one of the finest brick temples in the district. Inside the sanctum was a phallus of शिव and an image of the Jaina तीर्थंकर पार्श्वनाथ[3]. The temple itself was enclosed by a wall. The digging operations carried out in the working season of 1922-23 disclosed the remains within the mound over which the temple was eracted. These consisted of circular and rectangular votive स्तूपs[4]. कंकाली टीला at मथुरा has acquainted us with the fact, that the cult of स्तूपs formed a part of Jaina ritual and the तीर्थंकर image proves that the region was a centre of Jaina religion. We shall not therefore be wrong in assuming that the स्तूपs found buried below the fundations of the medieaval शिव temple might have belonged to the Jains.

In the extreme south eastern corner of the बांकुरा district interesting ruins were discovered by Mr. J. C. French, when he was the Collector of बांकुरा, which in the opinion of Late R. D. Banerji represent some of the earliest antiquarian remains in the district[5]. But the Jaina relics there belong to the 10th century A. D. The temples built of stone had collapsed long ago, but there is a fine big image of पार्श्वनाथ standing with the effigies of 23 other patriarchs, on the back slab. To Mr. French we are also indebted for a fine image of *Jina* पार्श्वनाथ. Deulbhirra also belongs to the Bankura district, but antiquarian remains at the place still remain unnoticed.

In the year 1872-73, Beglar who was engaged in a tour of the old 'Presidency' of Bengal was able with certain amount of accuracy to trace ancient roads as he left convinced that these communications gave rise to cities and religious establishments in these backward districts of Chota Nagpur and elsewhere.[6] Any of the ruins traced by him were Jaina. Dulmi or Dyapur Dulmi is a village50 miles from Purulia and is situated on the banks of सुवर्णरेखा, where Beglar met with abundant ruined temples, a fort and numerous sculptures[7]. Deoli is another village, about 12 miles from Dulmi, which contained Jaina temples and sculptures. One in the sacntum of one of the temples seen by Beglar used to be worshipped by local villagers as Aruantha, on whose pedestal is found a pair of antelopes from which it is clear that it was an image of the 16th Jain तीर्थंकर शान्तिनाथ.

1. *Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture.*
2. *JBORS.* Vol. xxvi.
3. *ARASI,* 1921-22, pl. xxix (d)
4. *Ibid,* 1922-23, p. 112 and 1923-24, pl. xii (c)
5. *Ibid,* 1925-26, p. 115.
6. *Cunningham—ABB.* Vol.
7. *Op. Cit, pp. 186-87.*

A mile and half north-west of Deoli, is the village of Suissa. In this village Beglar noticed a Digambara image of पार्श्वनाथ.[1] Pakbirra is another village, situated about 23 miles south-west of Purulia. It contains many fragments of Jaina figures. The biggest was a Digambara image of पद्मप्रभ which was then worshipped by local people as भिराम. There were two others, one of ऋषभनाथ and another a प्रतिमा-सर्वतो-भद्रिका with the figures of महावीर with the figures of महावीर with lion, शान्तिनाथ with deer, ऋषभनाथ with bull and कुंथुनाथ with goat. Close to this place Beglar's excavations yielded certain other sculptures which he has ascribed to Budhism. Of these one sculpture representing a man and woman under a tree is probably an image of Mahavira's parents. Another image represents अम्बिका or अम्बिला or धर्मदेवी, a यक्षिणी of the 22nd तीर्थंकर नेमिनाथ. These amply prove that Jainism was one of the principal creeds of Bengal since the Christian era.[2]

Central India.

In Central India there are two places which possess magnificent Jaina temples. First is ऊन and the second is खजुराहो. The modern village of ऊन the ancient ऊनविंशति कोटि, is situated in the southern part of the old Indore State, 18 Miles to the east of Khargaon.[3] The nearest railway station is Sanawad, on the मालवा section of the B. B. & C. I. Railway. Khargaon is connected with Sanawad by a road 42 miles long, which is metalled at places. ऊन seems to have been a famous centre of pilgrimage under the परमारs, and an important place which still bears vestiges of the brilliant architectural activity of the ruling dynasty. With the exception of खजुराहो in Central India, there is no other place north of the विन्ध्यs, which can boast of having so many temples. The largest and most elaborate temple at this place is the चौबारा देरा No. 1. It consists of a गर्भगृह surmounted by a curvilinear tower, an अन्तराल from गर्भगृह leading to the मंडप which again like the Nemawar temple has porches on three sides. Of these porches the front one facing east is the largest and most elegantly decorated. The ground surrounding the temple was paved with slabs of stone, portions of which have now been ripped up, by an utilitarian contractor. Years ago, an officer of the state is reported to have excavated the ground south east of the मंडप and discovered some old foundations and large Jaina images, one of which was inscribed.

In plan and design the मंडप of चौबारा देरा No. 1 is almost similar to that of सिद्धनाथ temple at Nemawar. It consists of a big hall, elegantly decorated with side porches in front and other two sides ; of which the front one facing east was the main entrance and is the largest and most beautifully ornamented. The hall of the मंडप is more magnificent than that of सिद्धनाथ temple at Nemawar. The carvings are elaborate and reminds one of the large सासबहू temple at Gwalior. Four richly carved pillars support the domical ceiling of the मंडप. The body of the pillars is richly ornamented. The pillars stand on a pedestal with recessed corners. The doorway giving access to the अन्तराल is another piece which calls for our atten-

1. *Ibid*, p. 190
2. *Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, Vol. XXVIII, pp. 43-47.
3. The conditions described in this paper are of 40 years ago.

tion. The whole composition is remarkable for its restrained design and conception. The dome of चौबारा डेरा No. 1, is less than that of सिद्धनाथ temple at Nemawar. The अन्तराल of चौबारा डेरा No. 1, is a small passage on the northern wall of which is to be found a '*Sarpabandha*' inscription. This generally consists of the Indian alphabets and the affixes used in the conjugation of verbs in Sanskrit. They are arranged in squares formed by the conventional folds of the body of a snake. The *Sarpabandha* inscription on the wall of the अन्तराल of चौबारा No. 1 is smaller than others. Here the alphabet and some of the conjugational terminations have been combined on the body of a single serpent. (The squares formed by the conventional coils of its body contain the 25 principal consonants consisting of the five *vargas*. The sibilants and the aspirates occupy the right sloping limb, which *ya*, *ra*, *la*, *va* occupy the left. The portions of the body between these two limbs bear the अनुस्वारs and three विसर्गs ; उपध्मानीय, जिह्वामूलीय and विसर्जनीय.

खजुराहो.

खजुराहो, situated in chhatarpur district of Madhya Pradesh, was an important centre of temple building during the reign of Chandellas. Here the most important Jaina temple is that of पार्श्वनाथ, the tower which is a mass of forms consisting of शृंगs distinguished by a feeling for mass, solidity and elevation. It also consists of very delicate and clever adjustments of weights to produce a central focus and balance in a composition really consisting of several elements. The forms are not simple but complex, but their constrast has created harmony in design. The second Jaina temple at Khajuraho is dedicated to *Jina* आदिनाथ. Only the sanctum and the passage between it and the मंडप have survived. Here, is an elegance of sculpturesque style. The tower or the शिखर has better proportion than many found at खजुराहो.

रणकपुर near Sadari in the Jodhpur district is situated in a remote valley of the अरावली hill. The natural beauty of the place is extreme. The temple was built by a Jaina named Dharanaka in 1439 A. D., in the raign of महाराणा कुम्भा of Mewar. It is quite near Kamalmere. The temple is 198 feet by 205 feet. In the centre stands the great temple with opening on four sides with a प्रतिमा-सर्वतो-भद्रिका at the centre. The upper storey has the same arrangement. It is a veritable jungle of domes and pillars, creating endless varieties of chiaroscuro. Fergusson has justly remarked that a vast meterial of Jaina temple architecture is to be found in early mosques built out of the material of despoiled Jaina temples. Notwithstanding the fact that they have been utilised to meet the needs of Islam, their inner contents such as the style, the ornaments, the forms and design in general betray the classic heritage. In fact patay, Sidhpur, Cambay and various other cities and ruined sites in Gujarat, Kutch and Kathiawar supply us with a mass material which has never been studied. They served as endless quarries.

Western India.

We have already pointed out that Gujarat temples were nothing but a subdivision of the नागर style of temple architecture. In the early days of research the scholars called it Jaina style, since a large number of existing examples were of that creed, thereby divorcing it from

the national background. In one respect however Gujarat like Orissa provide more conservative than the rest of India. The temple builders of Gujarat survived, loot, rapine and massacre and so did some of their canons.

अनहिलवाड or अनहिलपट्टन

This place is now simply known as पाटन. It is situated at a distance of 66 miles from Ahmedabad on the bank of the Sabarmati river. It was the capital of the चापोत्कट and सोलंकी dynasties. It was founded by वनराज (765 A. D). Its first sack came at the hands of महमूद of गजनी. The next spoil was carried out by कुतुबुद्दीन ऐबक. Then came उलुग खान. For five centuries its ruins were despoiled. The present town was built in about 18th Century. There was a big college founded by Hemchandra Suri.

The Jaina temples now extant generally date from 16th century onwards. It is however the muslim buildings that convey to us the medieval glories of पाटन, whose fall had sent a hysteric call for utmost saerifices throughout India. The oldest of these, is a structure known as the **Jami masjid,** which has now been dug to its very foundations and materials carted away. Its ruins represent one or more than one Jaina temples utilised to meet the relegious needs of victorious Islam. The material was marble.

Delmal or Dilwal.

This village is situated at a distance of 16 miles south-west of पाटन. Here is a temple dedicated to पार्श्वनाथ[1]. संखेश्वर, in the former Radhanpur territory, is a holy place of the Jainas, where is a brick temple of पार्श्वनाथ belonging to the 17th Century A. D. The Jaina temple at Sarotra also belongs to this period[2].

Taringi.

This place is situated amongst the hills on the west bank of the साबरमती river, in the Gadhwada district, about 26 miles the east-north-east of Siddhapura. There is a temple of अजितनाथ, erected by कुमारपाल (1143-74 A.D.), It has a मंडप open on three sides and an -अर्धमंडप on the front. On either side of the entrance is a small shrine. The enclosed path of प्रदक्षिणा is pierced by three windows.[3] नवसारी (Vulgo. Naosari) had a Jain temple with images of 24 तीर्थंकरs.

थान & मिआनी

At थान on the railway between Wadhwan and Rajkot, are two small temples to the south-west of the famous Sun-temple and another between them and the village[4]. Miani in the north-west corner of Porbandar has a Jaina temple.

Cambay.

Cambay, Khambhayat, Khambat is situated at a distance of 52 miles from Ahmedabad and 42 miles from Baroda. It is a town of immemorial antiquity and a paradise for of Palaeo-

1. Burgess & Cousens—*Architectural Antiquities of Northern Gujrat*, p. 89.
2. *Ibid*, pp. 93-95& 99, pl. x.
3. *Ibid*, pp. 114 ff., pls.cviii-cxl.
4. Cousens—*Somanatha and other Mediaeval Temples of Kathiawad*. pp. 50 ff.

Botanists. A vertical section of its buried ruins has long been overdue. In ancient inscriptions it is called स्तम्भतीर्थ, always an important part on the western coast. According to कीर्ति-कौमुदी (IV. 30), वस्तुपाल was a governor of Khambayat, and founded Jaina temples, पौषधशाला, and libraries. In 1299 A.D., this gem of the western coast fell to the rapacity of Allauddin Khilji. Not only was the city given up to loot, rapine and plundar ; but blood flowed in torrents.

The result was the *Jami* Masjid with despoiled materials of Hindu and Jaina temples which had been mercilessly desecrated[1].

Dholka is the head quarter of तालुका of the same name in the Ahmedabad district. Its ancient name is धवलक्कक. It was full of श्वेताम्बर Jaina temples in the reign of वीरधवल and they supplied materials for Bilal Khan's mosque etc.

गिरनार

The hill of Girnar, in the south of the Kathiawad peninsula, not far from junagadh is an important place. Its ancient name is Girinagara. It is regarded as sacred to नेमिनाथ, the 22nd तीर्थङ्कर. Historically, it is also celebrated, since we have the six rock edicts of अशोक inscribed here. On the same rock in the 2nd century of the Chiristian Era, Rudradaman, a क्षत्रप of Ujjain had his record inscribed. The embankment repaired by him, having been damaged, it was again repaired in the reign of Emperor Skandgupta, in the year 457 A.D. At गिरनार the oldest temple was perhaps that of कुमारपाल, but it has been repaired in the last century, and thereby lost all archaeological values. Nexe comes the temple of नेमिनाथ, which was repaired in 1278 A.D., therefore its earlier existence is undoubted. But repeated repairs & colourwashing have left no traces of ancient arts. The other temple is that built by वस्तुपाल in 1231-32 A.D. It is also called वस्तुपाल तेजःपाल temple. Its erection being ascribed to both of them, but according to the inscription it seems to have been erected by वस्तुपाल alone.

Mount आबू

Furgusson has very correctly stated "It is hardly to be wondered at, that Mount आबू, ancient Arbud, was early fixed upon by the Hindus and Jains as one of their sacred spots. Rising from the desert as abruptly as an island from the ocean, it presents on almost every side steep and rugged scarps some 4,000 fit. high, and the summit can best be approached by ravines cut into its sides." Amongst the temples on Mount आबू first comes that dedicated to आदिनाथ, also called 'Vimala Vasahi', built by a Judge of भीम I, in 1032 A. D. Regarding its decorations and ornaments, Cousens has paid an eloquent tribute. "The amount of beautiful ornamental detail spread over these temples in the minutely carved decoration of ceilings, pillars, doorways, panels, and niches is simply marvellous ; the crisp, thin, translucent, shell-like treatment of the marble surpasses anything seen elsewhere, and some of the designs are veritable dreams of beauty. The work is so delicate that ordinary

1, Burgess—*Muhammadan Architecture of Gujrat*, pp 25 ff., pls. XVIII-XXII etc,

chiselling would have been disastrous. It is said that much of it was produced by scraping the marble away, and that the masons were paid by the amount of marble dust so removed".

शत्रुंजय

One of the originalities of the Jainas was to build cities of temples. The most prominent of such examples is शत्रुंजय, an almost isolated hill, lying about a mile to the south of पालिताणा, rises gently from the plain to twin summits, linked together by a saddle or shallow valleys. These tops, with the intervening valley, now covered with hundreds of temples of all sizes and shapes might almost be described as a sacred city in the air. Where street after streets, and square after square, extend temples with their stately enclosures, half palace, half forts, raised in marble magnificence, upon the lonely and majestic mountain. The alabaster features of the **Jinas**, in their calm serene attitudes, rendered deemly visible by the silver lamps, with the nuns in white and the female worshippers in their multi-coloured saris moving about round and round in circles, chanting hymns create a magic land of incense, light and shade ; white and all the colours of the rainbow. At शत्रुंजय, temples were built by वस्तुपाल and तेजःपाल, and before them by कुमारपाल and also by विमल. These are on the southern summit of the hill. But these have lost all archaeological value due to subsequent repairs. Long long ago, Fergusson had mourned the lack of a monograph on शत्रुंजय illustrating its artistic and architectural merits. Even now it remains a desideratum.

(3) Vesara Jaina Temples

We have already seen that the Indian temple architecture, of which Jaina temples were a constituent element, was divided into four styles. Unfortunately, about the theory of Indian architecture in general, and temple architecture in particular, our total knowledge and vocabulary are so defective, that any writer feels a great deal of handicaps in presenting it accurately and impressively. The best example of this is the **Vesara** type of temples. The theories of contrast, composition, expression and concentration, so well known in comparative architecture, have never been applied to Indian compositions. No doubt the plan dominates the whole external expression of a building, yet divorced from composition it may be dull and boring, even if the plan is good. Architecture has two facts : design in abstract and its functional purpose ; and since there too cannot be comprehended unless it is accomplished with a knowledge of the original laws of design and its grammar, both of which are lost, we are left to satisfy our enquiries on the historical method.

Vesara, is generally taken to mean the चालुक्य temple. In this class of temples the sanctum as usual is rectangular but the spire rises in stepped series or regular receding steps; and ends in spherical dome. The majority of the temples at Aihole, पट्टकल and elsewhere in the Canarese speaking area and even outside it, posses this feature. Its deffusion and survival was indeed great. The hemispherical dome was continued in Poona even under the पेशवाs, when अफगान and Mughal avalanches had swept over the country and formed a morraine. In the south, this style is met with at Mahavalipuram and Khanchi. In the meanwhile both the style and the शिखर or the गोपुरम् show evolution in the metropolitan district. It shows descent from

cave architecture e.g. लाडखां's temple, or the twin Jaina fanes at Meguti near Aihole. R. D. Banerji thought that there were two types of शिखरs in the so called Vesara or चालुक्यन temples. According to him the early शिखर was of the type of नाचना-कुठारा or देशावतार temple at Deogarh or the later temple at सांची. The temple of लाडखां[1] and the twin temple of Meguti do resemble the नाचना-कुठारा[2] and सांची temples[3].

This series is followed by another group which shows a covered or open path of circumambulation around the sanctum, both circular and rectangular, which seem to me to be a Gupta Survival from भुमरा. They have a modest शिखर on the top. This is followed by a third like the Malegutti (near Aihole) and विरूपाक्ष temples (at पट्टदकल) which have the शिखर in the form of a stepped pyramid. Cousens and others have considered this an importation from the Dravida country. But this is a moot point. Vesara type is met with at महाबलिपुरम् shore temples, the temple of राजराजेश्वर at Tanjore, Vaital Deul at Bhuvanesvara and तेली-का-मन्दिर at Gwalior. Like the Bhimas ratha both the Vaitat Deul and तेली-का-मन्दिर have the top of the शिखर in the form of an upturned keel of a boat. The same as राजराजेश्वर temple at Tanjore, the great temple at Tiruvannamalai, the temple at श्रीरंगम् etc.

मेगुटि is the name of a hill in the neighbourhood of Aihole–that Indian "Dreamthorp", where centuries have passed without leaving any impression. I reached Aihole after dusk, when a boy and the silence made awful impression on me. The darker shades of the temples, the hill and the trees all seemed mysterious and forbidding. Kings, dynasties and empires have risen and fallen but Aihole has carried its life planned in the dawn of history. Careful scraping may, even now, reveal the hoof marks of चालुक्य, राष्ट्रकूट or होयसल cavalries. Possibly this very dust and these very stones were trodden by पुलकेशी, on his victorious return after defeating हर्ष. Changes here are as undreamt of as a double decker bus at Patna. According to H. Cousens, 'Meguti' or 'म्यागुटि' is a corruption from Canarese मेगुडि meaning a temple that is above. Just below the brow of a hill there is a ruined temple, which was partly excavated in rock and partly an erection, like the celebrated लाडखां's temple.

The lower temple at मेगुटि, consists of two verandahs in two storeys supported by four monolithic pillars and two pilasters on either flank. Behind the verandah of the first floor are a long room and 3 shrines excavated into the hill sides while the ground floor has an apology for a shrine. It was a a Jaina temple and a prototype of लाडखां, but later in date[4].

The temple however which gave the name to the hill, is stiil higher up on the brow of the hill. It is dated. It is a typical **Vesara** structure. The mass of the outer walls, consists of projections and recessions, with flanking pilasters, thereby creating a magnificent contrast of horizontal plane and verticals which creates effect and conveys decision. The pilasters are useful elements in abstract design, having no functional objective, but provide accents and

1. Cousens *Chalukyan Architecture*, pls. III to V.
2. Codrington-*Ancient India*, pl. XXII, fig B ; XXIII, figs B & C.
3. *AR. ASI*, 1912-13, pl.
4. Cousens—*op. cit.*, pp. 29-3, fig. 6.

rhythms and break up the solidity of the wall surface with playful light and shade. It is a study in rectangular forms without the aid of elaborate ornaments. It is not totally devoid of tradition but depends for effect on ideas of expression and plastic treatment of solid forms and masses.

The shrine itself is a long rectangular building consisting of the sanctum and its surroundings and the मंडप. The rectangular shrine has an enclosed प्रदक्षिणा-पथ, which goes all around it. Perforated stone windows aid in lighting up the interior adding a mystical touch of light and darkness. In front of the गर्भगृह is the passage (अन्तराल), connecting it with the chapel. Within the sanctum is a large image of a तीर्थंकर not identified and that of अम्बिका, the यक्षिणी of नेमिनाथ[1]. It can be objectively dated to 634 A. D.

Still later in date, is the temple No. 53 in the मल्लनाथ group ; and temple no. 39 in the north eastern corner of Aihole village, near the temple of विरूपाक्ष. Both have lost the finials of their शिखरs. The temple No. 39 was part of a group of deserted Jaina temples. It consists of usual गर्भगृह, अन्तराल and the मंडप. The doorway of the sanctum of the temple in front of 39 contains figures of Jinas. The main fane to which it is subsidiary, is a big temple, in one of which is a fine image of पार्श्वनाथ. The other two shrines are empty. Advance has been made in design over the previous temples. There are small figures of Jinas and mouldings on the outer walls. There is an image of पार्श्वनाथ at the front. These add a dignity and repose, avoiding the boring monotony in design. While the anthropomorphic figure of Jina, in conventional manner, is used to convey the character of the temple. It does not depend on its presence, nevertheless it is there. There was another Jaina temple near Kont Gudi[2].

About a quarter of a mile west of the village of पट्टदकल, there was a deserted (in 1921) Jaina temple. Cousens would place it in the reign of the राष्ट्रकूट emperer अमोघवर्ष I. There were two big elephant figures on either side of the Main entrance. It was however an unfinished temple. It had an upper storey.

लक्कुंडी or लोक्कीगुंडी, is a village, 7 miles South East of Gadag in the Dharwar district. It was the capital of the Hoyasala king बल्लाल III. There is a Jaina temple at the west end of the village about which Furgusson thought that "Though somewhat severe for a Chalukyan temple it is exceedingly well proportioned". The material is chlorite schist. It has pyramidal शिखर and consists of an अर्द्ध-मंडप, मंडप, अन्तराल and गर्भगृह. The shrine is on the first floor.

The elevation is not unlike that of the Jaina temple at पट्टदकल. The outerwalls however are more ornante but restrained and dignified taking advantage merely of the solar rays to create a magic world of monochrome forms. The grotesque lion's fanes found over the niches containing small effigies of a Jina is a novelty here. The interior contained a damaged image of तीर्थंकर महावीर. There was also an image of Jaina सरस्वती.

1. Cousens—*op. cit.*,—pp. 29-31, pls. III & IV

2. *Ibid*, pp. 49-50.

To the north of it existed another shrine but comparatively plain and dedicated to महावीर. While in the north west corner was a third Jaina fane, now known as the temple of नागनाथ because of the serpent over the head of पार्श्वनाथ.

बालगाम्बे is a small village to the south-west of Hire-Kerur in the Dharwar district. Formerly on a mound on the east of the village was an-identified **Jina** image 12′ in height. All about the village could be seen other Jaina image antiquities.

The celebrated Belgaum fort possesses two Jaina temples. That facing north consists of an open अर्ध-मंडप, मंडप, अन्तराल and गर्भगृह. The tower or the शिखर is pyramidal like the true Vesara type. The roof of the मंडप is ornate and once bore the images of अष्ट दिक्पाल. The door of the मंडप is also richly ornamented, and once bore the figures of a **Jina** at the centre of the top lintel. The entrance of the अन्तराल has perforated side screens. The doorway of the shrine was also elaborately carved. It was erected about 1205 A.D. There is a second Jaina temple facing south.[1]

Near the village of Jog, is a Jaina cruciform temple which have four porches on four sides and a चतुर्मुख प्रतिमा सर्वतो भद्रिका at the centre[2]. Bilgi in North Kanara, with its undulating landscape of hills and valleys has three Jain temples, the principal one having been dedicated to पार्श्वनाथ [3] Ahout 9 miles South West of Aihole in the village of Arasibide there are two Jaina temples, locally known as **Kumbha-ranagudi** and **Suligudi**".[4] The village of Hadavalli has a couple of flat roofed temples lacally known as Bastis. There are Chandranath and Gundan bastis."

(4) Dravida Temples.

द्राविड़ type means temples of Tamil country. In this style also the base of the sanctum was rectilinear or rectangular and the शिखर or the गोपुरम् rises in regular steps or pyramidal in shape ; but the finial is a solid or hollow barrel shaped vault such as are met with at तन्जोर, मदुरा and रामेश्वरम्. The barrel-shaped vaults of the गोपुरम्s were not however solely used in ancient times for the towers only. They were also used for the sanctum. Thus the मंडप of कैलाशनाथ temple at काञ्चीends in two cross shaped vaults instead of a plain pyramid or even a flat roof.

श्रवण-बेलगोला or the Belgola of the श्रावकs, is the chief Jaina holy place in Andhra राज्य. The श्रावक or the Jaina ascetic, in this instance, being गोम्मटेश्वर, whose collossus image has been cut out of solid rock. It is situated in Chennarayapatna ताल्लुका of Hassan district. To reach it one has to motor from Arsikere, or the French rock railway station or direct from Bangalore, a matter of 100 miles. The image is to be found on the larger of the twin hills known as दोड्डा बेटा, The other one called चिक्का बेट्टा has a large number of 'vastis' or

1. Cousens—*op. cit.* pp. 121-22, pls. cxxxvi & cxxxvii.
2. *Ibid*, p. 126, pls. cxxxiii-cxxxviii.
3. *Ibid.* p. 129.
4. *Ibid*, p. 131.

temples. Jaina fanes are also met with in the village as well as in neighbouring hamlets. An inscription (No. 354, 1830) states that those were 32 vastis at Belgola. All the Jaina temples on the चिक्का बेट्टा are within walled enclosure measuring 500′ x 225′. There is however an exception, a minor shrine.

गोम्मटेश्वर (Bahubali) who was the son of ऋषभनाथ, is shown in the semi-divine serinity in कायोत्सर्ग attitude, unmoved by creepers growing on his body, at hills rising to his thighs and serpents about his foot. The image, 57′ in height, was set up in the reign of चामुण्डराय in 983 A. D. Most of the temples however are in चोल-द्रविड़ style and belong to 11th to 12th century A.D. The Jaina मठ in the village contains paintings of scenes from the lives of Jinas and kings.

The smaller hill चिक्का बेट्टा or Chandragiri is 3052′ above sea level. It contains 13 vastis or temples within an enclosed area with almost similar plans. Each consists of a गर्भगृह (sanctum), सुखानसी (Vestibule), and a नवरंग (मंडप.) The most ornate of these, is the vasti or the temple ofपार्श्वनाथ. The image of पार्श्वनाथ is 15′ in height. It has a मानस्तम्भ beside it. The temple of Kattali is the largest on this hill, being 124′ × 40′. It is dedicted to आदिनाथ. It was erected by a general of the Hoyasala King विष्णुवर्धन at about 1118 A. D. The others are (3) चन्द्रगुप्त vasati, (4) शान्तिनाथ, (5) सुपार्श्वनाथ, (6) चन्द्रप्रभ, (7) चामुण्डराय (dedicated to नेमिनाथ) (8) शासन (dedicated to आदिनाथ), (9) Majjiganna (dedicated to Anantanatha) (10) Erudu Katte (आदिनाथ), (11) Savatigandha-varana (of शान्तिनाथ) (12) Terina (of बाहुबलि) and (13) शान्तीश्वर-वसतिs.

दोड्डा-बेटा

The larger hill called Dodda-betta is also known as Vindhyagiri, being 3,347′ high from sea level. It is on this hill that the statue stands. The **vasati** or temple consists of Akhnada-bagilu, Chennanna vasati, Odegal, Chauviss Tirthankara, Bramhadeva **vasatis** etc. The village has four temples and one monastery.

The Canarese country below the ghats possesses some piculliar class of Jain temples specially that at Mudabiri near Mangalore. It dates from Vijayanagara period.[1]

Jaina antiquities are met with at Arpakkam, Magarol, Aryaperum bakkam and Tiruparuttikunram or Jina Kanchi in Conjesverum तालुका. The place contains several temples such as **Chandraprabha**, वर्धमान, पुष्पदन्त and धर्मदेवी shrines ; वर्धमान अर्घ and मुखमंडप, Trikuta vasati, with its mandapas, संगीत मंडप, Irugappa etc. They contain paintings of Jina Charitra.

—:o:—

1. H. Cousens—*Achitectural Antiquities of Western India*. p. 34.

Jaina Iconography

A. K. BHATTACHARYYA,

Keeper, National Musem, New Delhi.

Though Jainism has contributed much towards the development of ancient Indian plastic art by providing iconic themes in no small measure in the field of iconographic studies, it has suffered considerably by default. In fact, later Jainism has been greatly enriched by iconic concepts imported into it through influence of Tantricism. Jainism, further, has been a living force throughout the age continuing its hold on the society even today—a factor which accounts for the continuity and consequent profuseness of the iconographic material. The paucity of studies in Jaina art and iconography is largely due to the manuscripts and texts being kept out of reach by the orthodox sections of their custodians. But it is perhaps more due to the possible confusion between Jaina icons and Budhist images in the popular mind on account of their apparent similarlity. In recent years, there has, however, been an increasing consciousness in this respect and scholars have considered it worth while to pursue this branch of study with the intensity and devotion it deserves.

In any study of religious art, such as Jaina art is, there is bound to be a large amount of traditions and traditional literature that one has to encounter. In the case of Jainism, it is certainly more so because of obvious reasons. Jaina iconography can, however, be studied, as any study of icongraphy may be so done, by either a reference to the available extant iconographic material or it can be studied starting from and correlating traditions and literary evidence with what material is available in sculptures and monuments. In a study of this nature it is better to proceed objectively with the extant iconographic material in hand and try to find out how far these correspond with textual prescriptions.

Jain icons can perhaps be traced as far back as the 3rd Millennium B.C. when at Harappa naked statuettes standing erect and revealing a characteristic composure were possibly sculptured. The torso of the only such specimen so far unearthed at Harappa is much in the same pose as the later Kayotsarga or posture of abandon. On the evidence of Vedic texts we can also say that certain naked deities were known to the Vedic culture as being heterodox in character. These are referred to as शिश्ने देवाs. It is now known, however, whether the statuette from Harappa represents any of the naked deities meant for worship or adoration. As in indian history, so in the sculptural art of the land there is a considerable gap between the pre-historic culture and the historic, and so far as extant Jaina icons are concerned it is no exception. It is not until the Mauryas that we get any further evidence of the continuity of image or icons of the Jaina sect. At Lohanipur near Patna is discovered

a torso, naked and with the position of the hands similar to the one available in the कायोत्सर्ग, and marked with features of a physical surrender, or rather withdrawal, and at the same time bearing Mauryan polish.[1] The latter feature establishes definitely the Mauryan character of the piece and takes us as far back as this period i.e. 3rd cent. B.C., for the earliest evidence of the Jaina image being in existence. The literary traditions of the Jainas take us several millions of years back, if time for the successive earlier pontiffs as calculated in Jaina traditions is taken into consideration. The only historical landmark there, is the existence of महावीर, the 24th and last of the तीर्थङ्करs, who had been a contemporary of Buddha. The immediate predecessor of महावीर, namely, पार्श्वनाथ, also seems to have been an historical person. In fact, according to traditional lore of the Jainas, महावीर's principal contribution was a liberalization and a systematization of the Jaina sacred codes as laid down by पार्श्वनाथ whose followers the parents of महावीर are started to have been. With more dateable and contemporary archaeological evidence it is possible to fix the fact of existence of a Jaina image within more precise compass of time. The हाथीगुम्फा inscription of King खारवेल of Orissa of the 1st cent. B.C., inscribed on the inner side of a cave-balcony in one of the cave-dwelling on Udayagiri hills in the Puri District, Orissa, records an image of Jina, the Kalinga Jina being restored by the king on a defeat of the Nandas. This takes us back on a very reliable evidence, to the time of the Nandas, who, it seems, had taken away this valuable booty from the Kalinga देश. But atleast this is certain that a large number of iconographic material were carved in the period of खारवेल on the facades of the caves, among them being included a few symbols taken from Buddhism and Brahmanism. The अभिषेक लक्ष्मी is a popular motif adopted by the Jains and sculptured on the तोरण facade of one of the रानीगुम्फा group of cave-temples on Udayagiri. Here the goddess not only holds herself a pair of lotuses rising from a पद्मसरोवर as described in the कल्पसूत्र but a profusion of these lotus-motifs clearly betrays the symbolism of fertility, abundance and beauty she represents. The symbolic representation of the railed chaitya-tree in worship on another entrance facade similarly reveals the unreserved adaptation of symbols of other faiths in early Jaina art. The surmounting tri-ratna, in its ornamental varieties here as well as elsewhere on the same hills, with a peculiar Jaina connotation, is one of the few earlier symbols, like स्वस्तिक and श्रीवत्स, readily accepted in this faith from the common stock of symbolism in Indian religious art.

During the Mauryas, the greatest emperor of the line, king अशोक is supposed by the Jainas to have professed Jainism as his personal faith. Although the records he has left by way of his well-distributed inscriptions, although reveal a definite inclination towards some of the common principles of Jainism, Buddhism, as also Hinduism, it is difficult to accept the hypothesis on the basis of these unsupported evidences in this regard. The शुंगs who followed the Mauryas in the political field did not leave any special evidence in the sculptural art under them either of their particular leaning towards or patronage of, Jainism. The कुषाणs

1. In this reference see the paper of Mr. A. C. Banerjee p. 4—Editor.

who occupied the political field in मथुरा and the regions round about after the शुंगs appear to have been more broad-minded and conciliatory in having liberally patronised the major faiths prevailing in their times. Jainism, therefore. from the 1st-2nd century A.D. flourished considerably not only in the religious sphere but also in developing an elaborate system of images, some of the best examples of which have come down to us. Individual figures of तीर्थंङ्करs in their full standing forms as well as Jina Chaumukhas i.e., quadruples, are abundantly in evidence. These images in some cases bear, characteristically enough, figures of devoted worshippers on the pedestal flanking a **Dharma-chakra** mostly in profile. The group of devotees here probably represent some of the Ganadharas or the chief disciples,—the holders of the Gana or the Order. In this period the individual identity of the image was not marked with any special emblems or लाञ्छनs which only developed much later except in the case of 1st and the 23rd तीर्थंङ्करs. In the case of the first तीर्थंङ्कर, i.e. आदिनाथ and the 23rd, i.e., पार्श्वनाथ, some iconographic features are available for their identification. In the case of the former, flowing hair fall on the shoulders of the pontiff and in the case of the latter, it is a serpent-hood that is shown as forming a company over his head. Some of the finer examples of this period, however, relate to representation of symbols on the stone-slabs known as आयागपट. The usual group sculptured there is the group of अष्टमंगल or Eight Auspicious symbols, the constituent items of which very both from each other in the several extant groups and also from the most popular group as set forth in literary texts. These आयागपटs are votive tablets meant as dedicatory slabs set up or donated by pious individuals whose name sometimes occurs in the inscriptions borne on these. The groups of symbols is generally carved in two rows, one at the top and the other in a parallel line down below with some fine figures of a Jina in पद्मासन at the centre. **Tri-ratnas** also find a prominent place all round the Jina figure, the **Tri-ratna** symbolizing सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन and सम्यग्चारित्र i.e. Perfect Knowledge, Perfect Faith and Perfect Conduct respectively. In a famous speciman of such a votive tablet now preserved in the National Museum, New Delhi set up by सीहनादिका, son of Koshika, son of the merchant Sihaka, the symbols in order are a pair of fish, दिव्ययान-श्रीवत्स, रत्नभाण्ड, **tri-ratna**, the lotus, the भद्रपीठ or इन्द्रयष्टि and the पूर्णकलश arranged in two rows of four each. There are two miniature pillars with persepolitan features surmounted by the motifs of lions back to back with the figures of the **Dharma-chakra** in one case and an elephant in the other, at the top. A variation of this first century आयागपट is noticed in another beautiful specimen in the Archaeological Section of the Provincial Museum, Lucknow, which shows a central तीर्थंङ्कर with **tri-ratna** devices on four sides with four bigger auspicious symbols encased within circular ends of the lower part of a variety of **swastika** with curved arms. Encased symbols are a **swastika** at the top, a pair of fish at the bottom, a भद्रपीठ at the left and a श्रीवत्स at the right. A circular band beyond this shows floral designs and flying celestial figures with four symbols at the four cardinal points, namely, a स्तूप at the top, a railed **bodhi** tree at the right, the figure of a seated Jina at the bottom and an indistinct object at the left, probably a कलश. The corner spaces of the square

tablet are also filled with mythological female figures. In one row but in two segments the lower horizontal band of this tablet shows indistinct traces of eight symbols some of which are corroded. Probably from left the symbols are a भद्रपीठ, पूर्णकुम्भ, a lotus and a **triratna**, in the first segment and a श्रीवत्स, a pair of fish, **swastika** and a रत्न-भाण्ड in the second segment. A large number of such आयागपट have been discovered from Mathura in this period, most of which depict some or all of the eight suspicious symbols. A couple of these from Mathura, however, reveal the स्तूप form, showing the gateway, the steps, the rails and a pair of flanking pillars, all in relief on the slab. These, therefore, indirectly bear evidence to the importance of स्तूप-worship that the contemporary Jaina art from Mathura also accepted in common with Buddhism.

It was also in this period of the Kushanas that we meet with for the first time panels with stories from the life of the Tirthankaras. The famous story of the birth of महावीर according to which नैगमेश or हरिनैगमेश (नेमेसो of the inscriptions), the nativity god of the Jains, was responsible for the transference of the foetus of ब्राह्मणी-देवानन्दा to that of the क्षत्रियाणी त्रिशला, is sculptured with the peculiar figure of the deity with a goats head. Such panels although not very common, specially found favour with artists as being connected with the popular deity नैगमेश who combines in himself the two aspects of देव-सेनापति (कार्तिकेय) and दक्ष प्रजापति, the god of creation, in Hindu mythology. Some stray pieces also depicting some other legend from the same place are also available in this period. The site of कंकाली टीला is supposed to have been one of a जैन-स्तूप in the कुशाण period. From the evidence of the आयागपट and from some such evidence of this site it is quite apparent that स्तूप and the चैत्य-tree adapted from the **Bodhi-druma** of Buddhism along with the Dharma-chakra were equally accepted as sacred symbols for depiction in early Jaina art. There is another group of symbols of which we do not have very early sculptural representation and this relates to the 14 dreams that the mother of तीर्थंकरs is supposed to have dreamt in connection with their conception of the great religious leaders. These symbols are generally available in the paintings of the early Jaina book-illustrations of the कल्पसूत्र and allied texts, although a few stray ones such as the elephant was sculptured as on the capitals of the pillars in the आयागपटs.

In the Mathura art of the कुशाणs, or for the matter of that, throughout the succeeding ages of Jaina art in India, it was only two poses of the तीर्थंकरs that were depicted by the Jaina iconographers. One relates to पद्मासन, the yogic posture in which the person sits rigorously with soles of feet and palms of hands facing up and the spinal straight and stiff so that maximum of concentration is ensured. The other is known as कायोत्सर्ग in which a spirit of abandon is manifest to the utmost. कायोत्सर्ग, literally, the giving up of the body is a physical as well as a metaphysical dedication to the cause of attainment of omniscience. It is a pose of not only negative surrender but also of positive attainment of knowledge through surrender. Here, in this pose the withdrawal of the senses is the primary objective, leading ultimately to मोक्ष which means in Jainism a freedom from bondage and entrance into a life blissful.

The successors of the कुषाणs in Mathura were the Guptas whose achievments lay not only in political extermination of the हूणs but in establishing an era of art and literature and also certainly of architecture. The Guptas were in their personal faith Brahmanical Hindus though they must have liberally patronized all the religions and their consequent art. In one of the inscriptions of कुमारगुप्त I there is mention of the establishment of an image of पार्श्व and in another, of the dedication of a Jain image by a certain lady. In the record of Skandagupta probably a Jaina पञ्च-तीर्थी image is stated te have been set up. After the Gupta empire had established itself firmly a prolific school of bronzes devoted to Jaina icons grew up in Akota, a few interesting specimens of which have been discovered recently testifying not only to the flourish of Jaina bronze art in the period but to the existence of a manufactory of this metal in this well-known period of Indian history. The Akota bronzes reaveal तीर्थङ्कर figures with features of that bold restraint which characterises the plastic art of the Gupta period. It is a happy and successful combination of the features of fine workmanship and balanced composition. In this period we have from the सोनभण्डार caves of the वैभार hill of राजगृह (mod. Rajgir) an interesting group of Jain sculptures started showing the pedestal with certain symbols which in later years came to be stabilised as emblems or लाञ्छनs. In these pedestals we find, as in the case of नेमिनाथ, the Dharma-chakra occupying the central position flanked by the figure of a शंख or conch-shell, one on each side of the chakra which in conformity with contemporary practice was shown with an anthropomorphic male figure before it. There is at least one figure of नेमिनाथ in which the stele shows a miniature figure of Sarasvati attached to it proving thereby how some of the most popular deities in Brahmanism had also been adopted, though in subordination to the Jinas, into the fold of Jaina iconography and religion. There are some specimens also in this period where the development of the motifs on the pedestal affords an interesting study by itself. An image of ऋषभनाथ from a Jain temple of Rajgir shows the representation of the लाञ्छनs, the bull, flanking a devotee adoring a female four-armed deity at the centre. In a few cases of later images the prostrate figure of a lady, probably the mother of the Jina is also shown on the pedestal, flanked by figures of the emblem of the तीर्थङ्कर concerned. In a Rajgir image of similar type depicting शान्तिनाथ there is such a female figure on the pedestal flanked by a deer each on the sides. It was late in the Gupta period also that the practice of showing the Navagraha along the two sides of a तीर्थङ्कर figure that came to be in vogue and the useful number of the Navagrahas was confined to eight, Ketu being left out the initial stages. In the सारनाथ school of sculpture during the later Guptas we have a few images which show the special features of this school as well as a few important themes introduced in Jaina iconography. It is an interesting scene of कमठs attack on पार्श्वनाथ that is depicted in one of the sculptures discovered from the Sarnath regious. The host of army of कमठ is shown attacking the penancing Jina in कायोत्सर्ग pose, who is being protected by an umbrella held by पद्मावती the devoted serpent diety, while the नागराज धरणेन्द्र is seated with folded hands, The features of the सारनाथ School with protruding lower lip, round shoulders,

the जालांगुली. the long lobes of ear, the rouuded knees-are all marked in the image under reference.

In the Khandagiri and Udayagiri caves and their outer facades, sculptures of the 8th-9th century only show a continuity of the Gupta tradititions but introduce as well certain features of the eastern or more particularly, of the Orissan school. Here life-size figures of individual तीर्थङ्करs with and without the लाञ्छनs are hewn out of the living rock at considerable heights. Here also we find individual figures of यक्ष and यक्षिणी sculptured with certain features peculiar to them. The earliest to be so sculptured separately among the यक्ष and यक्षिणी were only those that had gained popular acceptance for worship and devotion. One of them was अम्बिका, the deity of children. A huge individual figure of अम्बिका is carved on the rock in Khandagiri at some height. The concept of these यक्षs and यक्षिणीs is a clear influence from Tantricism which entered into **Jainism** about the 8th-9th century. These deities generally attached to तीर्थंकर, are otherwise known as शासनदेवताs meaning 'the deities upholders of the शासन or the preachings of the Jina. In fact, as the legends about some of these figures reveal, they were devoted followers of the Jaina faith and had shown in their life this devotion at great cost. Either by virtue of this devotion or through the influence that some of these people exercised in society, they were regarded as the right guardians of the teachings of the pontiff तीर्थङ्करs. The लाञ्छनs or emblems which were by necessity to be attributed to these figures in iconography for purposes of identification were in some cases connected with them by some stories apparently developing later. There are variations both in the interpretation of these लाञ्छनs as well as in their attribution to any यक्ष or यक्षिणी according as the figure belonged to the श्वेताम्बर or the दिगम्बर sect. The literary prescriptions of these लाञ्छनs also do not always tally with extant images. In fact, there is a long row of these तीर्थङ्करs with figures of यक्ष and यक्षिणी below in the Navamuni caves on the Khandagiri hills of Orissa which reveal interesting and queer emblems. These sculptures cut in relief belong to about the 9th to the 11th centuries A. D. At the entrance to the बारभुजी caves there are two interesting figures of चक्रेश्वरी and अजितबाला respectively on two sides, where the यक्षिणीs have been sculptured independently and prominantly with the effigies of the Jinas shown in miniature at the top. It is intercresting to note here that the iconography of some of these deities have been borrowed from the pantheon of Brahmanical Hinduism and suitably adapted to Jainism. Some of the figures reveal the common features and enable the careful student of iconography to compare with their respective counterparts in the other religions. चक्रेश्वरी, for example, is वैष्णवी not only because of the predominance of the weapon chakra in the hands of the deity but also because of the vehicle, गरुड़, which forms also the emblem for her. These यक्षs and यक्षिणीs, though originally human beings, the guardians of the Jaina teachings, as already stated, come to be attributed super-human powers of conferring boons to the devotees and, therefore, were given super human forms e.g. multiple hands with different weapons.

In the caves of बदामी in the 8th century we have evidence of Jain sculptures in the form of standing Jina figures in relief or figures of saints practising penance. It was, indeed,

a peculiar feature of Jainism that Jaina saints came to be sculptured in their pose of penance. A number of them also in the caves of Ellora provide interesting examples, where amidst serene atmosphere suggested by dozing gazelles staying in confidence, long continued penances of the saints are shown by creepers having grown over their body standing in कायोत्सर्ग, unconcerned to the happenings of the world. This motif in Jainism found a unique expression in the 10th century at Chandragiri in श्रवणबेलगोला, Mysore, where the famous colossal figure of गोम्मटेश्वर stands as a tribute paid to the heroic forbearance of a Jaina saint's life of penance. In the Ellora caves we have also a few sculptures depicting the scene of कमठ's attacks on penancing पार्श्वनाथ. Here कमठ with his host of army with deadly weapons, on the back of buffaloes, is shown attacking with all the fierceness while पद्मावती, recognizable by her serpent-hood, holds the protecting umbrella.

From during about the 8th-9th century of the Christian era a very important development took place in the matter of representing different तीर्थङ्करs. In the earlier images apart from the distinctive features of the falling hair on the shoulders in the case of आदिनाथ and the serpent-hood in the case of पार्श्वनाथ the pedestal was occupied with the **chakra** figured either frontally or in profile, flanked by worshipping devotees. A later development of the scene on the pedestal is a couple of the connected animal, as for example, the bull for आदिनाथ flanking the central **chakra** in addition to the devotees. During the centuries that followed, this device of doubly showing the animal was given up for a simplified mode of marking the animal at the centre of the pedestal. This change also suggests the tendency to do away with all semblance to Buddhist mannerism in art, according to which, as is well known, the **chakra** as the Wheel of Law occupied the central part of the pedestal flanked by a pair of deer, symbolizing the Deer Park. The differentiating style as evolved in Jainism, therefore, was a natural development brought about by the necessity to avoid the confusion between images of the two sects who mostly occupied common religious sites.

The transformation of the theme in the pedestal, further in Jainism was destined to become a distinctive contribution of the Jains to the art traditions of India. According to this development the गणधरs or the chiefs of the disciples were replaced by the शासनदेवताs or deified member-supporters of the शासन, that is, teachings of the Jina, as already noted. With the growth of the concept of the शासनदेवता in the Parikar or the compositional framework is also connected the practice of showing Brahmanic deities as attending on a central तीर्थङ्कर figure. A very interesting instance comes from Mathura where figures of बलराम and वासुदेव flank on two sides a figure of ऋषभनाथ with figures of शासन-देवताs, one male and the other female, on each side, lower down in the **parikara**. The emergence of these शासनदेवताs as independent deities was due partly to the influence of Tantricism in Jainism, as aforesaid. Starting originally as influential members of the Jaina laity these शासनदेवताs were gradually endowed with super-human powers and were given more than a couple of hands holding different weapons peculiar to the character and powers attributed to them. In some cases they were clear borrowers from Hindu mythology. While, however, Brahmani-

cal deities like Saraswati or Kubera were absorbed in this heterodox faith but made to be affiliated with one or the other of the 24 Jinas with the small effigy of the latter shown at the top. In some cases like that of लक्ष्मी or गणेश, the affiliation was not marked by any figure of a Jina, though it was implied by other associations.

In the development of the iconography of these शासनदेवताs or यक्ष and यक्षिणीs the initial stage was marked by the figuring of these lower in the **parikara** on the sides of the figure of a Tirthankara. Perhaps simultaneously the more popular or important of these pairs of deities were sculptured independently. Two of them, as already noted, were very much conspicuous in the earlier periods, namely, पद्मावती attached to पार्श्वनाथ and अम्बिका attached to नेमिनाथ. Other यक्षs and यक्षिणीs followed in quick succession and all the 24 तीर्थंकरs soon came to be associated with a couple each, a male and female, in iconography. As the individual iconography developed with a large number of varieties in the weapons and the number of hands, mythological stories grew up around each personality connecting the यक्ष or the यक्षिणी with a particular Jina by a special incident and thereby influencing their iconography. One very important development took place in the iconography of the यक्ष-यक्षिणीs and that was in attributing a separate emblem for each one of them, male or female. This apparently grew out of an emblem bias of the Jains in art and as a mechanical following of the practice adopted in the case of the Jina figures. The emblem as a symbol—either a design or an animal or a bird was also connected with the individual यक्षs or यक्षिणीs by a special story in each case.

With this background of the development of the यक्ष concept we may refer to the instances of independent figures as in the Jaina caves at Ellora where in the 7th-8th centuries we have colossal independent figures of some of the more important of these groups of deities, like अम्बिका and Gomedha. The process was complete by about 10th-11th century when the iconography of these figures reached its height of complexity. In fact, by this period large borrowings from Brahmanic sculpture-complex had taken place on the one hand and on the other, Tantricism had deeply penetrated into this faith as it did in most other contemporary sister faiths like Budhism. The original human personalities of these deified figures were lost and a large element of super-human character developed around these, which was iconographically expressed in multiple arms with a wide range of attributes, weapons and symbols. The transformation was deeply rooted and completely revolting so much so that they came to be known as Yakshas and यक्षिणीs i.e. super-human beings independently capable of conferring boons, much in the same way as Brahmanic cult deities. In iconography which was, in fact, the only channel through which the artist could play his imagination and satisfy his inherent love for a diversity of forms and expressions, the assimilation of the Brahmanic types and its consequent complexity opened up a large scope for sculptural forms. This was far more possible in such a flexible group of divinities than in the case of the Jinas, as all that related to the iconography of Jinas was crystallized long before. In other words, it was यक्ष iconography that remained a living force in Jaina art-expressions throughout the succeeding ages.

To take a typical example of the impact of Tantricism on Jainism and its iconography which resulted in a grand elaboration of the lower pantheon, the यक्षs and their kind, with unreserved absorption of Brahmanic deities, we may turn to the figure of चक्रेश्वरी of the बाराभुजी caves, Udayagiri hills, Orissa, which shows remarkably interesting absorption of the iconography of दुर्गा-महिषमर्दिनी with twelve arms holding most of the attributes of the Brahmanic counterpart. As we have already noted, under influence of Tantricism the more prominent of the यक्षs and यक्षिणीs became independent deities, both in their forms and in their function. The only slender link that they were allowed to retain in iconography was to have a small effigy of the respective Jina on their crown or further up in the aureole, to which we have already drawn reference.

From during the 10th century an elaborate group of iconographic representations grew up around खजुराहो in central India under the Chandellas. The temple structures architecturally conforming to a large extent to the contemporary style of the region, are effaced with details of icons carried out almost to the point of absurd verbosity. Each individual piece in its lyricism of form and melody of expression stands out as an embodiment of delicacy and grace. Sculptural details of the पार्श्वनाथ temple at खजुराहो while revealing the same contemporary sensuous charm hold up to us an elaborate panorama of the Jaina pantheon with all manner of complexity. These sculptures here as well as elsewhere transgrees far beyond the textual prescriptions so much so that any attempt at co-relation between the two is a determined failure. Yet the Jina images of this period standing out in their pristine forms and poses of the कायोत्सर्ग and पद्मासन in the midst of a whole host of not only यक्षs and यक्षिणीs but of the borrowed Brahmanic deities constitute a bold challenge to the already crystallised form of the faith itself and reveal a most powerful attempt at keeping equal pace with the brisk activities in the creative art of the period. Looking at the Jina figures one is transported to a realm of celestial beatitude. The touch of mediaval sensuality is able to tarnish only the exuberant figures of the subsidiary deities. Here, indeed, lies the unsullible trait of a figure representing Jina and a general plasticity of all the rest, in Jaina Art.

During the 10th century which was in the south marked by a great epoch of the colossi shows, apart from the श्रवण-बेलगोला figure of गोम्मटेश्वर, a continuity of this distinctive aspect of Jaina art in few more instances from near-about regions like कार्कल and यानूर. These colossal figures serve as a pointer to the height of supreme knowledge a Jaina ascetic is supposed to reach and is suggestive of the personal elevation that he strives to attain in this very life and existence.

In the west, from the early mediaeval period, Gujrat started to be the centre of Jaina art and architectural activities. Iconographic materials and sculptures enfacing the temples built by the Chalukyas of Gujrat are a testimony to this mediaeval activity. In miniature paintings the कल्पसूत्र texts and texts of other Jaina works like the कालकाचार्य-कथा starting from early 12th century A.D. provide iconographic material available as text illustrations. The full life-stories of some of the more important तीर्थंकरs like महावीर and पार्श्वनाथ are

illustrated in these miniatures providing a cros-section of miniature art of India of a particular period.

The most magnificent of stone carvings done throught a continuous period of over two centuries by the Jains started here also in Gujarat on Mount Abu, ancient अर्बुदाचल. The earliest of these temples dedicated to आदिनाथ and built by Vimala of the प्राग्वाट family, minister to king भीम I, in 1010 A D., reveals the immense possibilities of the plastic art in marble. A most prolific school of sculpture also flourished at चन्द्रावती near Mount Abu founded by the same minister Vimala. The touch of extravagance characterising the आदिनाथ temple was carried to a far greater extent in the temple dedicated to नेमिनाथ, the 22nd Jina, and completed in 1231 A.D. by तेजःपाल. It is here that detailed scenes from the life of नेमिनाथ including the scene of his marriage, his decision to renounce the world, are depicted panel by panel though with little clarity. Separate figures of तीर्थङ्करs, of a whole set of 16 विद्यादेवीs carved as petals of a full-blown lotus on the inner ceiling of the temple, figures of individual यक्षिणी and a few isolated figures of royal court-scene including portrait of ministers are all that form the subject matter of en elaborate iconography carved to permanence in the purest of stone.

Throughout the three centuries from about the 12th, Jaina monuments with their consequent sculptural iconography spread through the far flung regions of this vast sub-continent. But the one feature that runs in and through this entire activity is a trait of stylization of forms and conseqent stagnation. The grace and the delicacy of physical charm had already vanished out of the chisel of the sculptors, yet, so far as study of iconography is concerned one is feasted with a baffling mass of iconographic material in almost every temple of the period material which have very little or no bearing on the prescribed texts. The artist or the sculptor appears to have been given a completly free hand in the choice of his subject-matter or theme. The love for profusion itself appears to have got complete control over the artist and his imagination which was left with very little scope for artistic expression.

Jaina Epigraphy

Prof. P. B. DESAI, M. A.,
Department of History, Karnatak University, Dharwar,

Vast and varied is the Jaina epigraphic literature. Its antiquity goes back to the centuries before the advent of Christianity. Jaina inscriptions are found in almost all parts of India, in the north, south, east and west. They are engraved on the rocks of hills, slabs of stone, copper plates and pedestals of images. The scripts employed are different varying according to the age and the region. Their languages are many, such as Sanskrit, Prakrit, Kannada, Tamil and Telugu. As for their dimensions, they range from simple names of devotees or pilgrims to lengthy descriptions of prominent personages including teachers and pontiffs, running into several pages. Some of the records offer excellent specimens of prose and poetic compositions. All these records are highly useful for reconstructing the illuminating history of this pervasive religion with its philosophy and ethics.

Outstanding among the early epigraphs of North India is the famous हाथीगुम्फा inscription[1] of श्री-खारवेल, the lord of Kalinga. Inscribed in a cavity in the Udayagiri Hill near Bhubaneswar in Orissa, this record has revealed for the first time the existence of a unique emperor of Jaina persuasion who belonged to the महा-मेघवाहन family of the चेदी clan and flourished in the second or first century B.C. Besides being an implicit adherent of Jainism, खारवेल was its enthusiastic supporter and contributed for its prosperity. He brought back the Jaina image formerly snatched away by a king of the Nanda dynasty from Kalinga. He excavated caves for the Jaina monks in the कुमारीपर्वत, i.e. खंडगिरि hill and also built a monastery.

The epigraph concludes with the significant words :—

> "The prince of welfare, king of prosperity, mendicant monarch, ruler of piety, supremely triumphant is he, the glorious emperor खारवेल".

खारवेल's queen was also an ardent follower of Jainism. The following inscription[2] caused to be engraved by her in the Manchapuri cave in the Udayagiri Hill stands testimony to her piety and devotion to the faith.

> "This temple of the Arhats and cave for the श्रमण of Kalinga has been made. It has been made by the chief queen of the illustrious खारवेल, the overlord af Kalinga, who was the daughter of king लालाक."

Originally confined to a small area, Jainism soon started on a career of conquest and there is reason to believe that महावीर himself moved to Kalinga to preach his gospel. In the

1. *Ep. Ind.*, Vol., XX, p. 72 f.
2. Ibid., Vol. XIII, p. 159.

हाथीगुम्फा inscription cited above occurs an expression mentioning the setting in motion of the wheel of conquest on the कुमारी Hill[1] and this seems to contain an allusion to the visit of the great teacher to the Kalinga country.

The migration of श्रुतकेवली भद्रबाहु along with his disciple, the Maurya emperor Chandragupta, to the southern part of Mysore in the third century B.C. constitutes an important landmark in the history of Jainism in south India. This episode is narrated in an inscription at श्रवण बेलगोला[2] as follows :—

> "Success : Be it well. Victory has been achieved by the venerable वर्धमान, the establisher of the glorious holy faith and the embodiment of the nectar of happiness resulting from the perfection attained.".
>
> Now indeed, after the sun महावीर has completely set, भद्रबाहु-स्वामी who came in regular descent from the venerable supreme Rishi गौतम-गणधर, who was acquainted with the true nature of the eightfold great omens and was a seer of the past, the present and the future, having learnt from an omen and foretold in Ujjayinī a calamity lasting for a period of twelve years, the entire Sangha set out from the North to the South and reached by degrees a country containing many hundreds of villages and filled with happy people, wealth, gold, grain and heards of cows, buffaloes, goats and sheep".

Jainism, however, seems to have journeyed to the Tamil country through Kalinga and आन्ध्र, prior to its advent into कर्णाटक. This is indicated by epigraphic sources. In the southern parts of the Tamil country, particularly in the areas of the Pudukkottai, मदुरा and Tinnevelly districts, are found a large number of ancient relics in the form of beds popularly attributed to the Five पांडवाs. They are carved in hills and caverns, some of them bearing inscriptions in peculiar ब्राह्मी characters of about the third or second century B.C. As some of these beds are associated with Jaina symbols, it is possible to conclude that they were the creations of Jaina monks who had settled in those areas for the propagation of their faith before the third century B.C.[3].

Epigraphy has largely contributed to the historical study of the Jaina Church in the Tamil land. It is revealed by inscriptions that in course of time the Jaina monks organised monastic orders and developed a large number of strongholds for spreading their doctrines all over the area. They popularised their faith among the masses by introducing new devices such as the ceremonial worship of the secondary deities like Yaksha and यक्षिणी.

From numerous references in inscriptions to the teachers and lay followers of the fair sex, we come to know that Jainism claimed a considerable quantity of womanfolk in its fold.

---

1. The expression reads—सुपवत-विजय-चक्र-कुमारी-पव्वते, For explanation see my *Jainism in south India* and *some Jaina Epigraphs.*
2. *Ep. Carn.* Vol. II. Ins. No. 1. The inscription has been roughly assigned to A.D. 600.
3. For a detailed discussion of their interesting problem and different views held by scholars see *Jainism in South India* etc. (op. cit.), pp. 27 ff. and 93.

Conspicuous among the monastic orders of the Tamil church are कुरत्तियारs (feminine of Sanskrit *Guru*) or ordained lady teachers who appear to have enjoyed greater measure of freedom here than in other parts.[1]

Jainism wielded influence to the farthest limits of peninsular India and we may note with interest that this faith was entrenched in the cornerland of **Kerala**. Worthy of mention as Jaina centres in the southern part of this region are **Tiruchchanattumalai** and **Nagarkoyil** which have treasured Jaina vestiges to the present day. The former name which in its full form 'Tiruchcharanattumalai' means 'the sacred hill of the चारणs', is reminiscent of the Jaina tradition relating to the चारणs who were Jaina monks indowed with supernatural powers. This place possesses prominetly carved on its rock a figure of अम्बिका, the यक्षिणी of नेमिनाथ तीर्थंकर, who is mentioned as भटारि i. e. goddes, in an inscription found near the spot.

We now pass on to कर्नाटक where there is profusion of Jaina monuments and epigraphs. It is generally believed that the land south of the Vindhyas was monopolised by the Digambara order of the Jainas. But this belief is clearly believed by epigraphy which shows that the followers of the श्वेताम्बर school existed here side by side with the Digambaras from early times, though not predominantly. By way of illustration one piece of epigrapic evidence may be cited in support of this view.

A copper plate charter of the Kadamba king of मृगेशवर्मन[2] of about the 5th century announces the grant of a village in favour of the Jaina gods and the Jaina recluses. Among the latter, distinction is made between the great congregation of monks of white robes, i.e. the श्वेताम्बरs, and the great congregation of the निर्ग्रन्थ ascetics, i.e. Digambaras.

The Jaina scholars made substantial contributions to Sanskrit and some of their contributions are in the form of epigraphs. From the literary as well as historical point the Aihole प्रशस्ति[3] of the चालुक्य king पुलकेशिन् II is a rare piece of Sanskrit composition in ornate style inscribed on stone and its author and Jaina poet रविकीर्ति is entitled to an exalted place along with कालिदास and भारवि.

The Jaina inscriptions of कर्णाटक generally commence with the following Sanskrit verse in praise of the जिनशासन.

श्रीमत् परमगम्भीर-स्याद्वादमोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनम्, जिन-शासनम् ॥१॥

"May the doctrine of Lord Jina be victorious—the doctrine which is the commandment of the overlord of three worlds and which bears the glorious and supremely profound स्याद्वाद (theory of may-be) as its infallible characteristic mark".

1. The question has been surveyed in all its aspects in my article 'कुरत्तियारs in तामिल नाडु', see the *Journal of Indian History*, Vol. XXXVI, Part II, August 1958.
2. *Ind Ant.*, Vol. VII, p. 37.
3. *Ep.Ind.*, Vol. VI, pp. 1 ff.

A good number of inscriptions are devoted to the descriptions of Jaina scholars and teachers belonging to various monastic orders and their geneological accounts in Sanskrit. Here is a specimen passage praising a precepter[1].

> "His disciple, an emperor of philosophy, lord of great fame overspreading the whole sea-girt earth, a lion adorned with the pearls scattered in splitting the frontal globes of the rutting elephants, the five senses, honoured by the learned, favourite of सरस्वती, was कलधौतनन्दी Munipa".

A profound scholar and adept in polemic contests was the renowned teacher Samantabhadra who is described in the following speech attributed to him in an epigraph.[2]

> "At first the drum was beaten by me within the city of पाटलिपुत्र ; afterwards in the country of मालवा, सिन्धु and ठक्क, at कांचीपुर and at वैदिश. I have now arrived at करहाटक which is full of learned men, profound in scholarship and crowded with people. Desirous of disputation, O king, I exhibit the sporting of a tiger.
>
> "When the disputant समन्तभद्र stands in thy court, O king, even the tongue of धूर्जटी, i.e. शिव, who talks clearly and skilfully, turns back quickly towards the nape of the neck. What hope can there be for others ?"

श्रवण बेलगोला is a renowned sacred centre visited by thousands of Jaina devotees from all parts of India. But few are aware of the fact that there flourished in the south another holy place that equalled, nay, even excelled श्रवण बेलगोला in sanctity and eminence.

Explorations carried on at Koppal during the past years have revealed the importance of the place as a supremely sacred resort of the Jains. According to the testimony of epigraphs and tradition, Kopana was adorned by an exceeding large number of Jaina temples and shrines. The veracity of this statement is brought home to the explorer through the Jaina epigraphs and other relics that have survived to the present day at modern Koppal after the devastating activities of the hostile elements.

Allusions to कोपण as a Jaina तीर्थ **par excellence** are found in many inscriptions at श्रवण बेलगोला, one of which refers to its immense wealth of Jaina temples[3]. An inscription in the Shimoga district[4] extols it as "distinguished among the millions of Jaina sacred places". Kopana is mentioned as Koppam in the inscription of the Tamil country which testify to its sanctity and eminence. This sacred place maintained its reputation for nearly one thousand years, from the seventh to to the sixteenth century, after which period it passed under a spell of oblivion[5].

---

1. *Ep. Carn* Vol. II, No. 66.
2. Ibid., No. 67.
3. *Ep. Carn.*, Vol. II, Sh. No. 127.
4. *Ibid.* Vol. VII (Part I), Sh. No. 64.
5. For details about the antiquities and importance of Kopana *see Jainism in South India*, etc. (op. cit.), pp. 200-206 & 338 ff.

Let us now proceed to श्रवण बेलगोला itself. This Jaina centre is famous on account of the monolithic colossus of the epic personage बाहुबलि, popularly known as गोम्मटेश्वर, carved out of rock and perched on the top of a hill. This wonder of the world is the creation of चामुण्डराय, minister and general of the western Ganga ruler राजमल्ल (circa 983 A.D.). The story and legend associated with the erection of this unique image are graphically narrated in an inscription[1] at श्रवण बेलगोला thus :

> "The emperor Bharata, son of पुरुदेव caused to be made near Paudanapura an image, 525 bows high, resembling the form of the victorious-armed बाहुबलि केवली. After the lapse of a long time, a world-terrifying mass of innumerable कुक्कुट-सर्पs having sprung up in the region near that Jina, that enemy of sin obtained the name कुक्कुटेश्वर. Afterwards that region became invisible to the common people, though seen even now by many skilled in spells and charms.
>
> On hearing from people of the celebrated supernatural power of that Jina, a desire arose in his (i.e. chamundaraya's) mind to see Him, when he prepared himself to go, he was told by his preceptors that the region of that city was distant and inaccessible ; whereupon, saying in that case I will cause to be made an image of that god, गोमट (i.e. चामुण्डराय) had this god made. Combining in the himself learning, purity of faith, power, virtuous conduct, liberality and courage, the moon of the Ganga family, राचमल्ल, was celebrated in the world. Was it not that king's matchless power viz. चामुण्डराय alias गोम्मट, an equal of Manu, that thus caused this god to be made with great effort ?".

The image thus created has combined in itself the unsurpassed virtues not only of loftiness, but also of beauty and supernatural power. This unique feature of the image is further described in the inscription cited above.

> "When an image is very lofty, it may not have beauty ; when possessed of loftiness and real beauty, it may not have supernatural power : loftiness, real beauty and mighty supernatural power being all united in it, how worthy of worship in the world is the glorious form, comparable to itself, of गोम्मटेश्वर Jina.".

As in South India, a series of Jaina centres and holy spots have thrived also in North India. One such is Girnar in Kathiawar. On this sacred hill arose shrines dedicated to the eminent Jaina deities and details about these foundations are recorded in inscriptions. Two brothers, वस्तुपाल and तेजःपाल, of the प्राग्वाट family, who were ministers of the Chalukya king वीरधवल, have immortalised their names by their religious zeal and munificent endowments for the promotion of the Jaina faith at गिरनार and other holy places. A verse in a Sanskrit epigraph of 1230. A.D. at Girnar, while recounting the memorable services of वस्तुपाल, praises his generosity in the following terms[2].

1. *Ep. Carn.*, Vol. II, No. 234.
2. प्राचीनलेखमाला, part III, p. 186.

"After king भोज has passed away piercing through the sun and the illustrious Munja has acquired the supremacy of Heaven, here stands alone solitary वस्तुपाल intent upon wiping out the flow of tears of the poor and the needy".

Soon after the establishment of the great Vijayanagara empire, Jainism which was reduced to a faith of the minority at this time was threatened by a crisis. This was, however, averted by the foresighted and statesmanly action of the king बुक्कराय I who safeguarded the interests of its adherents and assured them a place of honour and status of equality among his subjects[1].

Under the benign patronage of the Vijayanagara rulers Jainism raised its head once again. Jaina temples and institutions were erected in the city of Vijayanagara, the very heart of the empire. One such shrine was dedicated to the rare deity Kunthu, the seventeenth तीर्थंकर. This event is related in an inscription at Vijayanagara,[2] dated 1385 A.D. through the following charming phrases.

"There is a city named Vijaya, which is resplendent with wonderful jewels, and which exhibits the spectacle of an unexpected moonshine by the multitude of its white-washed palaces. There the girls play on roads paved with precious stones, stopping by embankments of pearl-sand the water poured out at donations.

In this city the general Iruga caused to be built of fine stones a temple of the blessed Kunthu, the Lord of Jinas. Let there be prosperity to the religion of Jina !"

The general Iruga or Irugapa, a Jaina by persuasion, was a minister of king Harihara II. He is credited with the authorship of the Sanskrit lexicon नानार्थरत्नमाला.

Within half a century after this beneficient foundation, another temple dedicated to पार्श्वनाथ, the twentythird तीर्थंकर, came into being in this capital through the catholic act of the king देवराय II. The passage describing this transaction in another epigraph of 1426 A.D. at Vijayanagar[3] runs as follows.

"The illustrious lord Devaraja who was famed both for wisdom and modesty, caused to be built in a street of the above-mentioned city in the पान-सुपारी बाजार a temple of stone, which gives delight to the good, which is a bridge of entire merit, to the blessed पार्श्व, the lord of Jinas."

The above is only a glimpse of what Jaina Epigraphy has contributed to the unravelling of the hidden treasures of history and culture of Jainism.

1. *Ep. Carn.*, Vol. II, No. 344.
2. *South Indian Inscriptions*, Vol. I, No. 152.
3. Ibid., No. 153. This and the above record are in Sanskrit.

Jaina Discipline & Philosophy of Life

Dr. AMARESWAR THAKUR

Introductory

Jainism is one of the most ancient religions of India. The date of the birth of this monastic organisation is a very difficult task for the historian to ascertain. The orthodox section of the Jains claim that it exists from time immemorial and actually believe that the Jaina religion is the oldest of all religions. They further hold that this great religion was introduced in this sacred land of Bharata by Risabhadeva who was an illustrious ascetic and the first Tirthankara. He was the first king among men also and it was he who first taught men how to perform household duties. He taught them the arts of pottery, thrashing grains, cooking etc. "He taught men seventy two arts and women sixty four, for women had to be skilled in domestic and not in literary and industrial crafts". But his greatest glory was that he first made the people of India conversant with Jaina faith. He is believed to have flourished when the world had just passed out of the happiest age and lived for crores of years. On account of his founding the Jaina religion he was called Adinatha or Adideva. Since that hoary past there have been twenty four Tirthankaras in all including Parsvanatha and Mahavira, the twenty third and twenty fourth Tirthankaras. It is now admitted that Parsvanatha was an historical person and lived about 250 years before Mahavira. He is supposed to have been born in 817 B.C. in the town at present known as Varanasi. Though the orthodox opinion is that without a study of the lives and activities of all the Tirthankaras the understanding of Jainism must be incomplete, yet the modern scholars are prone to begin their survey of this religion with Parsvanatha and Mahavira or rather with Mahavira. It is further thought by some scholars that it was Parsvanatha who effectively organised the houseless monks remaining outside the pale of Brahmanism and thus was in reality the practical founder of Jainism as we find it now and that Mahavira did the work of a true reformer much improving upon what his spiritual predecessor did. This view may be partialty or wholly correct. The world knows, however, that but for Mahavira Jainism would not have attained the glorious position as it did as one of the greatest religions of India. Modern researches have shown that Mahavira (born—599 B.C.) was initiated at the age of 30 (569 B.C.). He initiated himself. After initiation he wandered throughout India for twelve years. In the thirteenth year he gained Kevala (omniscience). Now he took upon himself the task of showing the path of liberation from wordly illusions. In order to fulfil this task he had to found the four Tirthas viz. of sadhus (monks) sadhvis (nuns) shravakas (lay brothers) and shravikas (lay sisters). The Jaina shastra ordains that those who take refuge in this chaturvidha samgha or fourfold communion will find a way to ultimate salvation and

hence "these four tirthas are, as it were, four boats that will infallibly carry passengers they bear unto the desired haven of deliverance (moksa)". In order that you may be freed from the danger of rebirth you should be a monk or a nun if possible or a devout layman or a laywoman – exhorting people in this way Mahavira like all other previous Tirthankaras organised and regulated the four orders and became a perfect Tirthankara himself after one more year i.e. in the fourteenth year of his renunciation. It is thus evident that the history of the monks and nuns is as old as that of the Tirthankaras. It may be assumed that the advent of an ascetic of uncommon ability destined to be a Tirthankara was a necessary sequel to the thorough dislocation of the previous samgha due to all round unchastity, untruths, indiscipline and various other transgressions springing up among its members. This is partially borne out by the fact that Mahavira himself at the age of thirty entered the previously established order of Parsvanatha but had to leave it after twelve months when he noticed that the discipline among the monks of this order was too lax. Of the four constituents of the samgha the first two i.e. monks and nuns were of course its very life, but the importance of the other two i.e. laymen and laywomen could in no way be minimised. The household duties of the laymen and laywomen prevented them from renouncing the world and becoming monks and nuns, yet they served the cause of the samgha in various ways, first by keeping the rules of the samgha, though in a modified form, and secondly by supporting the professed ascetics by giving alms and lodgings to them whenever needed. In a way these two organisations consisting of persons from influential mercantile community and other high ranks and even of kings helped Jainism to have a firm root in India. They were indeed an integral part of the samgha and enabled it to withstand many political and religious storms that would have otherwise swept away Jainism from the very land of its birth. Mahavira realised the necessity of connecting the laity with the ascetics and introduced posadha vrata by which a layman had to pass some of his time as a monk.

One of the most outstanding events in the history of Jainism is the great schism of the community into the Svetambara and Digambara sects. It appears there were two differing views regarding the significance of the principle of aparigraha, the fifth mahavrata. Mahavira and his followers held that aparigraha meant complete non-possession and involved discarding all clothing and adopting the state of complete nudity. According to the Digambaras, Mahavira discarded clothes at the time of his initiation but the Svetambarvs tell us that he did it after thirteen months. The members of Parsvanatha's order held, however, that absolute nakedness was not a practical proposition and some covering (an under and upper garments) could be allowed. The genius of Mahavira kept the contending parties together during his life time. But after his death differences began to appear and at about 300 B.C. clothes versus no-clothing question sereously agitated the minds of the two branches of the church, but it was not till the lapse of 600 years after the demise of the great leader that the Digambaras finally separted from the main community. The division of the Jaina community into Svetambara and Digambara sects was complete by the end of the 1st century A.D.

There was another big schism in the Jaina community and it accurred much later. The Jains from the earliest times do not recognise a divine creative spirit. But the practice of worship was in vogue among them. The denial of God as the creator made them worship venerable men—their teachers and gurus, Arhats, Jinas and Arihantas. Images of these adorable personages were being gradually set up and temples began to be constructed. With the passing of the time idolatry became a regular cult with the Jains. Idols were introduced in the Jaina church perhaps in the 2nd or 1st century A.D. This cult of idolatry received, however, a serious set back after several centuries with the rise of the Sthanakavasi sect. This sect is non-Idolatrous from the time of its birth and arose out of the Svetambara sect. Lonka, an Ahmedabad Jain originally belonging to the Svetambara sect, being induced about 1474 A.D. by a Svetambara sadhu named Jnanaji to copy some Jaina scriptural books for him found in the course of reading them that idol worship was nowhere mentioned. This being pointed out gave rise to a great controversy as to the lawfulness of idolatry. Lonka Sa became a gread advocate of non-idolatry and his view was being gradually recognised. Lonka sect was founded and a sadhu of the Svetambara sect became its first guru. But abuses crept into it and some members of the sect being displeased with the ways of life its sadhus were following joned a reformer, Viraji of Surat, who was a layman of this sect. This layman became a sadhu and true ascetic and was highly admired for his character and strictness of life. These dissidents from the Lonka sect took the name of Sthanakavasins. They were thoroughly non-idolatrous but used to live in sthanakas or the places set apart specially meant for sadhus to live in. So the division of the Svetambaras into Svetambara idol worshippers (Mandirapanthi) and Svetambara Sthanakavasi became an established fact. This happened about 1653 A.D.

Yet there was another schism. After nearly 100 years (A.D. 1759) the Sthanakavasi sect which was already divided into many minor branches suffered another big cleavage and as a result came out Terapanthi sect. The history of the Terapanthi sect coming into existence is interesting and we briefly narrate it. Terapanthi sect was founded by Bhikanji Svami who was born in the year 1726 A.D. in the Marwar state. From the very boyhood he had a religious trend of mind and had a zealous regard for persons of holy character. He approached the sadhus of various sects such as those of Gacchavasi sampradaya, patiabandha sampradaya etc. But his religious thirst could not be quenched. He saw in them more of outward show than real religious spirit. So he turned his attention to Raghunathji who was an Acharya of one of the branches of the Sthanakavasi sect. Bhikanji was then a married man but lost his wife in the meantime. He took a vow of Brahmacharya for the rest of his life after obtaining permission from his mother got initiated by Raghunathji in the year 1751. Bhikanji Svami remained with his guru for eight years. He was a very sincere and devout student of the Jaina shastra and after a careful study of the same found that the path his guru and the sadhus under him were following was not a correct one in many respects. He pointed out the deviations some of which were serious and implored the guru to give a correct lead.

But the guru would not hear him and remained adamant. His only argument was that the time was extremely bad, people were of irreligious disposition and it was not possible to lead a true sadhu-life in that age. Svami Bhikanji could not be satisfied and with thirteen sadhus and thirteen laymen formed a small group and separated from Raghunathji. Sthanakavasa (residence in a fixed place) was not to the liking of Bhikanji Svami as it was against the rule of law and he began in the course of his wanderings to take shelter in vacant places and in places meant for residential purpose offered to him for use. One day the thirteen lay people were resting for religious worship in a vacant shop in a certain bazar in Jodhpur when Dewan Fatechandji Singhvi was passing through it. He asked them the reason of their not resorting to a Sthanaka. and the thirteen laymen apprised him of what Svami Bhikanji and his thirteen sadhus, who were following his lead, stood for. A poet who was accidentaly present there composed a short peom in appreciation of the right stand taken by Svamiji and jocosely designated the newly formed sect as Terapanthi (followers of the path of the thirteen), having in mind the number (i.e. thirteen) of the sadhus and of their followers. Bhikanji, when he heard of the poem, accepted the name Terapanthi and gave his own interpretation to the term—they were really the followers of the path of Tera (thine i.e of Lord Mahavira) and moreover they closely followed thirteen rules i.e. five mahavratas, the five samitis and three guptis. Svami Bhikanji reordained himself to his own order and initiated the thirteen sadhus again in 1760 A.D. and thus the age of the Terapanthi sect founded by Bhikanji Svami is just 200 years. The great Acharya died in 1803 A.D. at the age of 77. Since then seven other Acharyas of the sect passed away one after another from this world and the last of them was Kaluram Gani. He was born in 1876 A.D. and the year of his death was 1936 A.D. He was a vastly learned man and a great Tapasvi, practising the highest austerities. His lucid exposition of the shastra elicited unstinted admiration from all quarters. His extra-ordinary power of endurance, his uncommon self-restraint and calm serenity shown in death-bed will remain a by-word for ever among the Terapanthis. He died rather a premature death. Just three days before his death he nominated, Sri Tulasiramji, a monk of the sect and then a mere boy of 22 years, as his successor. It is a custom prevailing in the Terapanthi sect that every Acharya can nominate his successor. Sri Tulasiramji was born in the town of Ladnun (Rajasthan) in 1914 and initiated when he was only ten years of age. Though young in age he was quite mature in intellect and properly educated by his guru. He became a profound scholar and earned proficiency in various shastras and languages. He is at present one of the most notable personalities in India. He is a great man—great in intellectual achievements, great in learning, great in austerities and great in character. He is a lifelong Brahmachari, a powerful and fearless exponent of Jaina tenets, a man of genuine religious urge and an organiser of outstanding ability. He is at the head of a renowned and perfectly disciplined religious body comprising 700 monks and nuns and more than five lakhs of laymen and laywomen all over India. He does not know how to hurt and he is purity and simplicity incarnate. Though a sincere votary of non-injury he has taken up arms and his arms are

against carruption and all sinful dealings that reign supreme in India to-day : he has sponsored the **anuvrata** movement for fighting all immoral practices. His message of peace and moral awakening is inspiring, his persuasive eloquence is invigorating and his lead is always healthy. Monks and nuns look up to him as a saviour and the laity find solace in him in their troubles and distress. Sri Tulasiramji, the ninth Acharya of the Terapanthi sect, is indeed a wonder of the modern age.

Diksha – entrance into monkhood.

The Shravaka has remounced the five faults (atichara) : he is free from doubts, he has no predliection for another faith, he does not question the efficacy of Karma, has no regard for hypocretes and has given up all connections with them. He has taken the five anuvratas : he has promised never to intentionally destroy any jiva having more than one sense, he does not tell a lie for commercial or other gains and does not exaggerate things, he does not steal or take what is not given to him, does not buy stolen property and does not approriate any article which others may have lost, he remains faithful to his married wife and does not allow any evil thought about women to cross his mind, he has curtailed his desire and put a limit to his possessions. He has taken the three gunavratas and other seven vratas also. He has become a sincere desavrati. By taking all the twelve vows (vratas) he has kept his body in training and health and to a great extent has freed himself from love and hatred. In addition to these he has taken pratimas also which are eleven in number : he has undertaken to worship a Tirthankara and guru and cultivated belief in true dharma, he has promised not to take any uncooked vegetable and never to take his meal during night time, he has promised not to have any association with his wife and to give up all worldy pursuits involving destruction of life such as building a house, digging a tank etc., he has got rid of all attachments to earthly possessions and is fully prepared not to take any service from anyone, he refuses to allow any special cooking for him and to tender any advice to anybody in regard to worldly affairs. Finally he has begun to wear a sadhu's dress and to broadly follow the rules and customs prescribed for a sadhu. Above all he has now a strong desire to renounce the household life. In this state of preparedness the layman (shravaka) approaches the guru of the samgha and prays for ordination into monkhood. Sometimes the shravaka candidate comes of a wealthy and respectable family and is well educated. He is kept under observation by the guru for a year or so and during this period he is to prove his sincerity of purpose. The guru preaches to him the hardships and responsibilities of a monk's life and when he is convinced that the candidate is really keen about his religious career, that his desire to renounce the worldly life is genuine, that he has lost all attraction for wordly goods and on the whole is not totally ignorant of the aims, doctrines and principles of Jainism and further that he considers religious life as superior to laylife, then and then only his prayer for entering into the order is conceded and arrangement made for the diksha. The Terapanthis do not disqualify a person on the ground of age, though they are disinclined to entertain any proposal for diksha from a person less than nine years old. It may be noted that each

of the eight acharyas from Bharimalj Svami to Sri Tulasiramji got their initiation at below the age of sixteen.

Jaina diksha is a solemn affair. It is held in public and thousands of respectable people of all faiths (*including high government officials and state dignitaries*) assemble from far and near to witness it. In the afternoon of the day preceding the diksha a great procession is formed and led through the town. The candidate is attired in gorgeous dress and taken in a decorated car from house to house and to the sadhus and sadhvis present there. In the early morning of the diksha day the candidate gets his head shaved and a few hairs only remain to be pulled out by the acharya. He then takes his bath and it is his last bath—he will not take any other bath during the whole of his life. Then he comes to the place of the diksha with his dress on and makes obeisance to the sadhus and sadhvis. After this he retires to a private place, takes off his jewels and clothes and puts on the dress of a sadhu and humbly approaches the acharya. Now the acharya proceeds with the essential part of the function. First of all he demands the 'letter of permission' from the candidate's parents or guardians and in the case of a married person from the wife or husband. It is termed ajnapatra and requires to be attested by some respectable persons. Being read by the acharya it convinces everybody present in the assemblage that the candidate is renouncing the wo-ldly life out of his own free will and there is no element of force or compulsion in it. If the ajnapatra is not forth-coming, the diksa will remain postponed—so great an importance is attached to it. The diksha begins with the plucking out of the remianing few hairs from the head of the candidate which the acharya does by reciting mantras. It should be mentioned here that there may be more than one candidate and of both the sexes. When this is the case they are all simultaneously initiated. In the case of a female candidate only the plucking out of the hair is done by the head sadhvi as it is prohibited for a sadhu to touch a woman even. Then various diksha mantras are uttered by the acharya. All these mantras are in ardhamagadhi. The diksha being complete, the candidate becomes a sadhu or a sadhvi and is entitled to take a seat with the sadhus or the sadhvis. The Jaina diksha is not an ordinary diksha—it is a diksha into pancha mahavrata, pancha-samiti aud trigupti. The initiated person has given up his wealth and has cut off all connections with his relatives and friends and has begun his journey to reach the path leading to inward peace and happiness and to the end of samsara.

The great Vows.

Mahavira prescribed five great vows for all ascetics. These are ahimsa (non-injury or non-killing), asatyatyaga (giving up untruthfulness), asteya (non-stealing), brahmacharya (chastity) and aparigraha (relinquishing attachment to any person or thing). A sixth vow was added to these and this is ratribhojan-tyaga (giving up dining at night). It deserves to be mentioned here that Parsvanatha had recognised only four vows (ca-u-jjamo dhammo). He did not explicitly mention chastity (brahmacharya or maithunaviramana) and it was intended to include it in aparigraha. Now what does ahimsa mean ? Ahimsa is

simply a resolve not to commit himsa, i.e. not to hurt any living or sentient being. Himsa has been defined as asat pravrittya pranavyaropanam, asat pravrttirva (depriving a Jiva or living being of its life under the influence of evil or harmful inpulse caused by love, hatred or carelessness, or himsa is nothing but the evil or harmful impulse itself). Jiva (a living or sentient being) is not interpreted in the Jaina shastra in a limited sense. Jain view is that life exists where-ever growth and movement are seen. Under this principle not only human beings, birds, beasts, worms etc. are regarded as sentient but earth, fire, water, wind and plants also are recognised as endowed with life. The Jains divide all worldly beings first into movable and immovable ones. The immovables are (1) Prthvikayas (earth lives)—they are many and live in various earthbodies such as rocks, gravel, sandstones, vermilion antimony, coral etc. (2) Apkayas (water lives)—pure water, dew, exudation, fog and ice (3) Vanaspatikayas (plants)—trees, shrubby plants, grass, mushrooms etc. Movable beings are of three kinds. They are (4) Agnikayas (fire-lives) coal, burning chaff, burning coal, flame of fire, meteors, lighting etc. (5) Vayukayas (wind lives)—Whirlwinds, squalls, high winds, low winds, samvartaka wind (hurricanes) causing periodial destruction of the world, parivaha wind by which heavenly bodies are set in motion etc. These beings have only one organ of sense viz. touch. (6) Trasakayas (movable beings with organic bodies i.e. animals). They are divided into four varieties (a) Beings with two organs of sense viz. touch and taste—worms, shells, conches, sankhanaga (very small conchlike animals) cowries, leeches etc. (b) Beings with three organs of sense viz touch, taste and smell—ants, bugs, white ants etc. (c) Beings with four organs of sense viz. touch, taste, smell and sight—flies, mosquitoes, bees, scorpions etc, and (d) Beings with five organs of sense viz. touch, taste, smell, sight and hearing—denizens of hell ; higher animals like fishes, tortoises, crocodiles, makaras, horses cows, elephats, lions, tigers, lizards, snakes, bats, crows etc.; men living in Karmabhumi, Akarmabhumi and Antaradvipaka (minor continents) ; gods—Bhaumeyikas, Vyantaras, Jyotiskas and Vaimanikas. For a layman observance of the principle of non-killing starts from beings having two organs of sense. But monks and nuns vow not to kill or injure even a being with one organ of sense. The Uttaradhyayanasutra emphatically declares that a monk who hurts living beings, seeds and sprouts is called a bad monk. A monk or nun who is sincere takes every care to see that no violence is perpetrated against any living organism and with that purpose in view never scratches, digs, shakes or breaks any piece of earth, stone or clod ; never touches or drinks cold water and never drinks water from a river, pool or well ; never treads, stands, sits or lies on seeds or sprouted seeds and never touches green vegetables, plants and grass ; never ignites blows or extenguishes fire, never snaps the fingers and never fans the body with a chowrie or with a winnowing instrument or with a leaf or by hand.

Any body who has seen a Jaina sadhu must have noticed that he wears a piece of cloth over his mouth. This is to guard against injuring wind-lives and not, as is wrongly thought, to prevent the killing of invisible animal lives in the air. It is of course needless to say that the Trasakaya Jivas cannot have any cause of fear from a monk. He has bound himself not to

take any life in any form and it is quite definite that even an insect life will not escape his merciful attention. Ahimsa is really the foundation stone of jain faith and Jaina dharma has been rightly designated as ahimsa dharma. The principle of ahimsa which is exalted to a position of primary importance lays stress, however, not so much on saving a life as on refraining from killing it. Saving undoubtedly follows non-killing, yet the direct object of the monk is not to save others but to protect himself from sinning against the Law, by strictly adhering to non-injury.

The second great vow is a vow against untruthfulness (asatyatyaga or mrishavadaviramana). Asatya, anrita and mrishavada—these are synonymous terms and signify untruthfulness. The Dipika defines anrita as asadbhavodbhavanam (revelling or indulging in things not in existence i.e. unrealities). The causes that lead to untruthfulness are want of proper deliberation, anger, avarice, fear and the habit of jesting or cracking jokes. A sadhu always avoids these faults in order that he may not have to tell a lie. He will not take resort to falshood even to protect his life and religion. He always takes care however, to see that his truth-speaking does not cause any grief or pain to anybody. He will not go to the court and give evidence, because his evidence, though true, may mentally pain the defeated party. He will rather maintain silence than speak an unpleasant truth. He fully knows that truth is truth when it is pleasant and wholesome and untruth when harsh.

The third vow for a monk to take is the vow of non-stealing (asteya). It is also called adattadanaviramana (refraining from taking what is not given). 'Adattadanam steyam' so says the Dipika. Appropriating what is not given is really theft and a sadhu always desists from it. He will not take even a piece of straw found on the road or in the wood. 'Wealth is the outward life of man and if that is taken away the man is undone'. Sadhus are very particular about the quantity of alms they should take. If they take more than what is absolutely needed they will be guilty of breaking the vow of non-stealing. They require little and that little too they get by begging and not in other way. Being temporarily in need of a house to live in they obtain permission of the owner before they occupy it. They do not use beds, seats or any other furniture of the house also without the owner's permission.

The next vow is the vow of chastity—brahmacharya or maithunaviramanavrata. Abrahmacharya consists in sexual enjoyment and a monk abstains from it in work, thought and deed. He scrupulously observes this vow himself and does not allow or approve its violation by others. "The vow of chastity is maintained by not sitting on seats previously occupied by women, female animals, or eunuchs, and by not living in their vicinity, not participating in exciting conversation about women, not remembering former delights, not looking at a woman's form, not decorating one's own person, not eating or drinking to excess or partaking of too highly seasoned food". A monk considers it a sin even to touch a woman and will never sit on the same seat with her. With due alteration of details these rules apply to nuns as well.

The last great vow is the vow of non-possession (aparigraha). A monk renounces all parigrahas or properties. He has no land, no grains and no money; he does not keep in

his possession salt, oil, ghee, or brownsugar. As a matter of fact keeping any possession whether little or much, small or great, animate or inanimate is a great sin to him. The thought of possession is the result of avarice from which he tries to be always free. Renouncing love and hatred is the way to maintain the vow of aparigraha. Now a question arises whether a garment or a pot or a blanket or a duster or a book which a sadhu always keeps with him, is possession or not. We get a clear answer to this question from the Dasavaikalika sutra (VI. 19-21) which says that a sadhu keeps these things for the preservation of self-restraint or from a sense of shame and not out of attachment. Thus these things must not be considered as possessions. We get a further elucidation of the matter from the same authority which unequivacally declares : simple possession is not called possession by the saviour Mahavira ; it is attachment that is called possession (murccha pariggaho vutto). The selfsame truth is expressed more forcibly by Acharya Sri Tulasi. He says : "Murccha parigrahah, murcha mamatvam, saiva parigrahah, na tu vastuparigrahanamatrameva yatha—samyaminam dharmopakaranani". The body of a monk is not also a possession to him, because he has no attachment to it.

The sixth mahavrata is ratribhojana viramana (abstinence from all kinds of meal at night). The fact is that the monks never use fire and remain away from all kinds of light. Lest they should inadvertently destroy life, they promise not to take for the whole of their life any food whether eatable, drinkable, chewable or tastable after sun-set. Keeping food or water by their side at night is also prohibited. The monks are so regid in the observance of this vow that they do not take even medicine at night though this may cost them their lives.

The sadhus avoid the sins of violence (himsa), untruthfulness, stealing, anchastity, keeping possession and lastly taking meal at night by both karana and yoga. Karana means doing, causing to do and approving. Yoga means thought, word and deed. The sadhus do not commit these sins themselves, do not cause others to commit these sins and do not approve others commiting these sins ; they abstain from these sins by thought, word and deed.

Samitis and Guptis.

Samiti is samyamanukula pravrittih i.e. a rule of conduct conducive to restraint. There are five samitis for the practice of the religious life and the three guptis for the prevention of everything sinful. The samitis refer to the rules of outward behaviour and guptis to the rules for self-discipline i.e. for the controlling of mind, body and speech. These eight rules put together are the essence of the Jaina creed and specially binding on the monks. A sadhu is not to sin through walking, through speech, through food and drink, through carelessly placing and taking a thing, and through carelessly throwing away surplus food and refuse—this is in short what the rules imply. (1) The first samiti is irya samiti. A monk sees that in the course of his wandering be does not injure even an insect by stepping on it. He avoids generally field-paths and takes to paths trodden by men beasts and carts etc., so that he may not cause the death of any living creature. He walks carefully and examines

his way in front of a him upto the length of one yuga (four cubits). He pays attention to his walk only and not to the objects of sense or to his study. He generally walks in daytime and has a longhandled brush to sweep insects from his path. (2) Bhasha samiti comes next. A monk always uses gentle salutary sweet and righteous speech. He is very cautious and carefully refrains from inflicting pain on anybody by his speech. While speaking he avoids anger, pride deceit and greed, laugther, fear loquacity and slander. His speech is always blameless and concise—anavadya-bhashanam bhasa). (3) The third samiti is eshana samiti. Eshana means searching and eshana samiti consists in searching for faultless food and drink (nirdoshanna-panaderanvesanameshana). A monk carefully inspects his articles of food. He never eats any food which contains living beings, At the time of begging he satisfies himself that the food offered has not been prepared or procured for him. He does not take from the householder any food which is prohibited in the shastra such as meat, butter and honey. He accepts only the food which on inspection is found to be pure and harmless. He rejects the food when it is known that fire is burning beneath it. He gets his food drink and wearing apparel by begging and he begs these things from many houses in order that too heavy a tax is not levied on any particular householder. He particularly considers whether the condition or occupation of the giver forbids accepting alms from him. (4) Then comes the adananiksepa amiti. Upadhyadeh vastrapatradinam sayatnam vyaparanamadananikshepah : (i.e. while taking a thing such as cloth, vessel, book etc. or while laying a thing down on the ground, a monk exercises the greatest caution to see that no sentient being is destroyed). While in begging he takes a piece of cloth, he closely observes it and if there is any insect found he removes it gently. When he borrows a stool from the owner of the house he is temporarily residing in, he first of all carefully dusts it and then places it on the ground after the ground has been clearly swept. (5) The last of the samitis is utsarga samiti. A monk is always careful in the disposal of surplus food and water, excrements, waste papers, rags etc. (uccharadeh savidhip-aristhapanamutsargah). A sadhu begs so much food as is absolutely needed. When the food is, however, in excess of the need or anyhow unusable, he does not keep it overnight or carelessly throw it away but disposes of it in such a way that it may not injure any insect life and that no new life may spring out of it. He performs also the operations of nature in desert places. The Uttaradhyayanasutra lays down : A sadhu should leave his excrements, urine, saliva, mucus, uncleanliness of the body, offals of food, waste things, his own body (when he is about to die) and everything of this description in a place neither frequented or seen by other people, which offers no obstacle to self-control, which is not even covered with grass and leaves, where the ground has been cleared not long ago by burning the grass etc., which is spacious, has an inanimate surface layer, not too near the village, not perforated by holes and is exempt from insects and seeds.

Three Guptis.

'Manovakkayanigraho guptayah'—Guptis consist in controlling the mind, speech and body. Samitis are positive and guptis the negative virtues. Samitis invariably co-exist with

the guptis but the guptis exist without the samitis. Guptis are three in number viz. 'manogupti 'vachanagupti' and 'kayagupti'. (1) Manogupti—A monk always tries to keep his mind under control. He does not think of sensual pleasure and keeps his mind engaged in contemplation and study. He does not wish anybody misfortune and prevents his mind from thoughts on acts causing misery and destruction to living beings. He does not indulge in grief, joy and anger and maintains an impartial attitude making no difference between the rich and the poor. He thinks of no external objects, thinks only of his soul and the Tirthankaras. (2 Vachanagupti A monk tries also to control his speech. He abstains from saying bad things by adopting a vow of silence for a number of days or speaking as little as possible. He does not express any desire for anybod's misfortune and prevents his tongue from giving vent to any thought on acts causing misery and destruction to any living being. (3) Kayagupti—A monk in trying to control his body puts it in an immovable posture. He directs all his physical activities in such a way as not to hurt any living creature. "In standing, sitting, lying down, jumping, going and in the use of his organs, a zealous monk should prevent his body from intimating abnoxious desires, from doing acts which cause misery to living beings, or which cause their destruction."

A monk's eighteen points.

A monk takes a very strict care of eighteen points, viz. six great vows, six groups of living organisms and the six faulty actions. Any negligence in regard to any of these points will cause a fall from his monkhood. Of the six great vows the vow of ahimsa is of primary concern to him and he never fails to scrupulously observe it. A full knowledge of the six groups of livivg organisms thus becomes obligatory to him in the absence of which he will be in the dark as to which and whom not to hurt. The six faulty actions are : begging inappropriate food and drink, taking bath, making decoration, using a householder's pots, using raised seats and sitting in a householder's residence. (1) If a monk takes food and drink in begging which have been specially prepared procurred or purchased for mendicants, he will cause trouble to the householder and commit himsa in an indirect way. (2) Taking bath will also entail himsa as the water used for the purpose whether cold or heated, will flood away subtle living organisms in salt soil, cracks and clefts (3) A monk is shavenheaded, with measured clothing or no clothing at all and abandonment of every form of luxury and enjoyment is his creed. So he does not think of decorating his body in any way, whether with ointment or with lodhra flowers and lotuses. (4) Taking food and and drink in bronze pots or earthen jugs belonging to a householder will require their cleansing with water and the water necessary for the purpose will be carelessly thrown away injuring many living beings. A monk in order to save himself from the sin of indirect himsa does not use such pots. (5) A good monk generally abstains from using bed-steads, chairs, armchairs, stools and all other raised seats on the ground that these things have dark recesses and corners where living beings are difficult to be detected. When, however, the use of such a thing becomes absolutely necessary to a monk, he does it only after careful inspection. Last though not

least (6) a monk in the course of his begging scrupulously avoids sitting in a householder's residence in order to guard against unchastity, putting impediments to other mendicants and rousing the wrath of the householder. There is exception. however, in the case of a monk who is very old or ill or who is practising penance.

Karma—the cause of bondage.

The word karman is derived from the sanskrit root kri (to do) and means action or deed. In Jaina shastra it indicates the energy accummulated by action or to put it simply the result of action. Karma is stated to be atmagrihitapudgala (particles of matter received by the soul) ; when an individual under the influence of a beneficial or injurious impulse, or love or hatred does an act, the pudgalas of that act get connected with the soul and produce good or bad results in future. Every Jiva except a Siddha possessess a karmana sharira i.e., a body composed of these pudgalas which is very subtle. Atma is covered, as it were, by this sharira which is indestructible. When the audarika sharira (the body that is seen) is destroyed, the karmana sharira enters into another gati (state or condition). The pudgalas have forms and atma is formless, yet connection takes place between them and this connection is anadi (beginning-less)—atma is drawing pudgalas every moment by the stream of actions it is incessantly doing and in every action remains latent its result (phala) like oil in seeds and butter in milk. Our bandha or bondage is caused by the union of soul with karma-pudgalas (material particles of karma) and as these pudgalas have definite shapes they are capable of inflcting hurt or doing good. As in all other Indian faiths, so in Jainism too an enormous importance is attached to karma. Karma is the chief content of Jaina philosophy and the central idea of Jaina faith. With the Jainas karma is everything and caste is nothing. Karma (results of one's action) is all powerful and that it is so is regarded as an axiomatic truth. It explains all our inequalities in life and is the sole cause of our births and rebirths. So long as karma remains, the cycle of rebirths cannot be stopped—transmigration is the undivorceable spouse of karma, they say. Both good karma and bad karma will cause bondage—one with a golden and the other with an iron chain. Life ends in death and no happiness is everlasting—no body can deny this truth. So in ultimate analysis janma (birth) is duhkha (progenitor of sorrow). Thinking and intelligent people therefore fear the future rebirths more than the present troubles and karma being the root cause of rebirth, they always try to free the soul from karma. The Jaina sadhus have renounced their attraction for wordly prospects and devoted their life to the teachings and practices of their shastra with the sole object of extinguishing karma and thereby escaping re-embodiment and passing into a state which is absolutely free from births and deaths.

Ashrava and Samvara.

There are eight kinds of karma and they are : Jnanavaranîya (acting as an obstruction to right knowledge), Darshnavaraniya (acting as an obstruction to right faith), Vedaniya (causing to experience pleasure or pain), Mohaniya (leading to delusion), Ayuhkarman (determining the length of life), Namakarman (determining the name or the individuality of

the embodied soul), Gotrakarman (determining the gotra or caste of the embodied soul) and Antarayakarman (preventing one's entrance on the path leading to eternal bliss). The first four of these karmans are ghatin (highly injurious and difficult to be destroyed) and the last four aghatin (not so injurious and requiring no great efforts to be destroyed).

Now there are different channels through which karma flows into the soul. They are called in the Jaina philosophy 'ashravas'. They are, in other words, karmopadanahetavah (i.e. the ways through which the soul receives various karmans). The five senses, the four kashayas (emotions springing from love and hatred)—krodha (anger), mana (conceit or pride), maya (deceit and intrigue) and lobha (greed), five avratas (activities offending against the principles of ahimsa, mrishavadaviramana, asteya, brahmacharya and aparigraha) and the three yogas (propensities of the mind, speech and body)—these are the seventeen principal ashravas. There are twenty five minor ashravas also such as building a house or tilling a field, obeying the commands of some false faith etc.

Karman must be got rid of. Otherwise the attainment of moksha which is the highest goal of life will remain an impossibility. As to the accumulated karmans they will be dissipated, some in their natural course and some by the observance of austerities. The Uttaradhyayana (XXX—5 & 6) says—'As a large tank, when its supply of water has been stopped, gradually dries up by the consumption of the water and by evaporation, so the karman of a monk which he acquired in crores of births, is annihilated by austeritie, if there is no influx of bad karman'. So the main thing for a monk is to see that no new karman accrues to the soul. The influx of new karmans must be arrested and this arrest of karman is samvara (ashravanirodhah samvarah). The principle of samvara is considered as of supreme importance by the Jainas—this principle conjointly with the principle of nirjara is designated dharma (samvaro nirjara cha dharmah) which in its turn is essentially the means of purifying the soul (atmasuddhisadhanam dharmah). The Jaina shastra recognises fifty seven means of impeding karman : (1) five samitis (2) three guptis (3) twenty two parisahas (4) the ten great duties of monk like ksama, mardava etc. (5) the five charitras or rules of conduct and (6) twelve bhavanas or reflections. The samitis and guptis have been briefly dealt with. Parisaha means troubles and Mahavira himself commanded that in order to check the influx of karman the monks should paitiently endure the twenty-two troubles and not be vanquished by them. They should not mind the troubles arising out of hunger, thirst, cold, heat, gad-flies and gnats ; they should endure the troubles in regard to clothing, ungrudgingly receiving dirty old or torn garments or should even be without clothes ; they should never feel tired of ascetic life and should discard all liking for women ; they should have no fixed residence and should choose disagreeable places such as cremation grounds burial grounds, deserted houses, jungles haunted by ferocious animals etc. for the purpose of meditation ; they should not complain about lodgings and should sleep contentedly on the bare ground if no beds are lent to them ; they should overlook all cruel treatments from lay people ; if even beaten, they should not be angry or entertain any sinful thoughts ; if they

fail to get a thing or even food when on begging tour, they should not feel disappointed or disgusted ; they should bear, when falling sick, all pains patiently and should not long for medical treatment ; they should be indifferent to the pricking of grass or discomforts from dirt and dust ; they should not, when feeling uneasy or exhausted, long for relieving or pleasant things and show any predilection for men showing them marks of respect ; they should also repress the troubles of being puffed up with their learning or achievements or of being dejected at the thought of their ignorance ; finally they should free themselves from the trouble of harbouring any doubt regarding the value of asceticism and the truth of their own religion.

Besides these parishahas the monks subject themselves to other hardships also with a view to retarding the growth of karman. They endeavour always to be self-dependent and do not take any help from any body, not even from their own shravakas in the performance of their daily duties. They are perpetual wanderers and suspend their wandering only for four months of the rainy season. They always travel on foot and not by railway, steamer or boat. They carry themselves their books and other articles while going from one place to another and do not engage a servant or take any help from laymen for the purpose. When their eyesight becomes defective they do not use spectacles. They always walk barefooted, even in the hottest sun or in the severest cold. They barely take sufficient food and fast every day from sunset to sunrise. The Jaina shastra does not permit monks to take any direct medical aid from a doctor even in cases of serious illness. This rule, as is natural, is responsible for several unlucky incidents in the community but the monks have not become less strict on that account. It may be mentioned that His Holiness Kaluram Swami, the eighth acharya of the Terapanthi sect out of scrupulous regard for this rule of conduct did not allow himself to be operated upon by a doctor and the case proved fatal. Another hardship endured by the monks consits in their hair being plucked out by the root at least twice a year. This practice of 'plucking off' (lunchana) is very old and referred to in the Uttaradhyayana XXII. 24. It is further related that Bharata the eldest son of Rishabhadeva at his renunciation was ordered by Indra himself to pluck out five handfuls of his hair as is the custom of Jaina monks on entering the order..

The ten duties of the monks. consit in (1) showing forgiveness by controlling anger (2) cultivating humility by curbing arrogance (3) developing simplicity and honesty by keeping away from intrique and deceit (4) eschewing greed by driving away selfish thoughts (5) practising austerities by separating from worldly concerns (6) subduing mind, speech and body (7) lovingly speaking the truth (8) strictly observing celibacy and abstaining from all ideas of re-entry into the householder's life (9) claiming ownership to no wordly object and regarding none as a relation and (10) keeping the body clean and the soul free from impure thoughts. The five charitras or rules of conduct consist in (1) shunning all evil conduct and giving up to meditation keeping the mind in a state of equanimity (2) making confession of all transgressions (3) mutual rendering of help and service to

perform austerities (4) giving up all interests in worldly objects by casting away passion and keeping free from all perceptions of pain, fear, grief, disgust and smells and (5) cutting as under all attachments to the world and constantly meditating on the soul. As regards the second rule of conduct viz. confession it is very important and binding on all ascetics. Confession is done every morning and evening in which a sadhu recounts his guilts generally in the formula "may my sin be forgiven". Transgressions against the vows must be confessed to the acharya and when a transgression is of grave nature it must be confessed at once. Confession purges the sinner of the sins committed. If a sadhu continues with his sin the result becomes rather disastrous – he ceases to be a true sadhu. A sadhu coming from the begging round and before breakfasting stands motionless (kayotsarga) before the acharya (guru) remembers all transgressions in connection with his going out, coming in and accepting alms and narrates them to the latter. It is stated in the Uttaradhyayana XXIX—11 & 12, that by this pratikramana (confession) the sadhu obviates transgressions of the vow and thereby stops the ashrava and by kayotsarga he gets rid of past and present transgressions requiring prayaschitta.

Last of all, in order to impede the inflow of karman the monks should always keep in mind the twelve bhavanas or reflections on the vanity of life and on the execellence of Dharma. It is stated in the Sutrakritanga (1. 15. 6) that he whose soul is purified by meditating on the reflections is compared to a ship in water ; like a ship reaching the shore, he gets beyond misery. These bhavanas are (1) anityabhavana—reflection on the impermanence of wordly things. It should always be remembered that nothing but Dharma and the soul that clings to it can escape destruction (2) asharana bhavana—reflection on shelterlessness. It should constantly be borne in mind that man has no other shelter than Dharma. Dharma only can give true shelter against oppressions, disease and death and remaining in the path of Dharma only is the way to get out of the clutches of karman. (3) samsarabhavana—reflection on the endlessness of the cycle of rebirths. It must not for a moment be forgotten that a man should make the best use of his present human birth, for in the future rebirths he may be a beast, a bird or a denizen of hell. (4) ekatvabhavana—reflection on loneliness. It should always be thought that a man comes alone and will go alone and there will be none to accompany him at death to share the fruits of his action (5) anyatvabhavana—reflection on the non-identity of the soul and the body. Inflow of karman is stopped by realising that in reality soul is quite different from the body. (6) asauchabhavana–reflection on the impurity of the body. It should always be remembered that the body is made up of filth and dirt and other impure substances, and coming in contact with it the soul also has become soiled and as such the body deserves to be despised. (7) ashravabhavana—reflection on the channels of karman. It should always be understood that actions, passions and senses, if allowed to remain uncontrolled, will only broaden the channels of karman to enter into the soul with consequent aggravation of miseries (8) samvarabhavana—reflection on the ways of arresting karman, A mere determination to adopt means for reducing karman will

produce good results on the soul. (9) nirjarabhavana—reflection on the determination that karman may be expiated by the practice of austerities. (10) loka-bhavana—reflection on the loka (world). It should be comprehended that this world has not been created by anyone. Thinking of the worlds under the form of a man with hell at the feet and the siddhas at the top of the head will impede the flow of karman. (11) bodhidurlabhabhavana—reflection on ths non-availability of bodhi (right faith, right knowledge and right conduct). Constantly thinking that a human being only can acquire the triratna (these three jewels) one should firmly establish oneself in the path of religion. (12) dharmabhavana—reflection on dharma Constantly thinking that the highest religion consists in non-injury, keeping the triratna and strict observance of the rules laid down in the scriptures one will be able to check the progress of karman.

Nirjara.

Inspite of all efforts karmans accumulate to the soul but in order to attain moksha the soul must be freed from them. Though the connection of jiva (soul) with ajiva (karman) is eternal, it is not so perfect as to baffle the separation of one from the other. As a matter of fact karmans can be eliminated from the soul and the sadhus who have renounced everything worldly and aspire after liberation strive hard to that end by means indicated by the shastras. The elimination or destruction of karman is 'nirjara'. In reality it is a particular state of the soul and the Dipika defines it as "Tapasa karmavicchedadatmanairmalyaum" (the brightness of the soul attained through the elimination of karmans by means of austerities). The austerities are also nirjara though secondarily, because they are the cause. The austerities are of two kinds : external and internal. The external austerities are anasana, unodarika, vrttisamksepa, rasa-parityaga, kayaklesa and pratisamlinata. They are external because they relate to external things like food etc. and can be seen by others. (1) anasana—abstinence from food. It it either itvara (temporary), that is, one may take a vow of fasting for a definite period (for a day, for thirty, sixty or more days) or maranakala (taking a vow to fast till the rest of one's life). Another name of maranakala is yavatkathika. It is a voluntary starvation and not religions suicide. It is considered highly meritorious and called also santhara (2) unodarika or avamodarika—taking less food than usually taken. It is partial fasting and consists in gradually decreasing the quantity of food. This vow includes reducing the number of pots and clothes of daily use (3) vrittisamksepa or bhikshacharika—imposing restriction on food. A monk takes a vow to limit the kinds of food he will take, the places from which he will obtain food and the time for obtaining food (e.g., he will take only the food begged before noon) (4) rasaparityaga—abstinence from dainty food. A monk takes a vow not to take all his life, such highly nourishing food and drink as milk, curds, ghee, sugar etc. (5) kayaklesha—mortification of the flesh. It consists in the different postures as Virasana etc., sitting in meditation on heated slabs of stones in the full glare of the sun during the hottest summer or in the coldest places without sufficient clothing during the severest winter, and (6) pratisamlinata – taking care of limbs (angopangadikam samvritya

pravartanam). It consists in governing the senses, refraining as far as possible, from the exercise of intellect speech and body, controlling anger, deceit, pride and greed and using unfrequented lodgings and beds i e., living and sleeping in separate and unfrequented places where there are neither women nor cattle (Indriyayogakashayanighraho viviktasayyasanam cha pratisamlinata). The internal austerities are prayaschtta, vinaya, vaiyavritya svadhyaya, dhyana, and vyutsarga. (1) prayaschitta—expiation of sins. It is an act done for purification from sins (aticharavishuddhaye anushthanam prayaschittam). Alochana (confession), pratikramana (atonement or making amends), mula (re-initiating) etc. are the different forms of prayaschitha. (2) vinaya (politeness). It consists in rising from one's seat, folding of the hands, offeting of a seat, loving the guru and cordial obedience. It is of seven kinds—Jnana vinaya darshana vinaya charitra vinaya (reverence for superiority in knowledge, faith and character), manovinaya vachanavinaya and kayavinaya (an attitude of humility in mind, speech and body) and upacharavinaya (rising from one's seat, offering a seat etc.). (3) vaiyavritya -(service). Service should be rendered to the acharya, upadhyaya (instructor), old ascetics, one practising penance, a sick sadhu, a newly initiated sadhu and the great community. (4) svadhyaya (study)—Studying the doctrines and the scriptures in proper time and favourable environment is svadhyaya. It is fivefold : saying or learning one's lesson (vachana), questioning the teacher about it (pricchhana), repetition of what has been learnt by heart (paravartana), pondering over the meaning of what has been learnt (anupreksha), and religious discourse (dharmakatha). (5) dhyana (meditation)—Meditation is fourfold ; artadhyana—meditating on the separation from the beloved and wailing in grief from them and on the union with the detestable ; rudradhyana—meditating with anger on any personal injuries sustained ; dharmadhyana—meditating in accordance wiih the precepts of the sacred books, on the Law on the sayings of the Arihanta, on kashayas like love, hatred etc. and on the fruits of action ; sukladhyana—it is the purest and highest of all the dhyanas and to be performed after the dharmadhyana. It is all-sublime : it is concentrated purely on the siddhas. The first two dhyanas are bad and instead of destroying cause accumulation of karmans and thereby bondage. The last two lead to liberation and are for a Kevalin only to practise, who being freed from all earthly ills constantly medidates that he is going to be a Siddha. (6) vyutsarga (abandoning of the body).—A monk becomes absolutely indifferent to the body, food, drink, clothing and pots and remains without any bodily exertion when lying down, sitting or standing upright.

These six austerities are internal because they are the intimate cause of moksha and moreover, the mental faculties are stimulated by them, as it were.

Gunasthanas.

Every ascetic aspires to be an Arihanta at last and attain moksha. The Jaina shastra recognises fourteen stages (called gunasthanas) for the fulfilment of his object. In the first stage the layman being completely under the influence of ignorance knows nothing of truth and mistakes false religion for true religion. In the second stage he improves a little,

his ignorance is a little loosened and he begins to distinguish between what is real and what is false. In the third stage he does not mistake what is false for truth but is in doubt regarding what is true and what is false. In the fourth stage he dispels his doubt and though he has not been able to restrain his senses, yet obtains true faith or samyaktva. He understands now what is true and what is false and thinks in this way : what is the aim of my life ? Why should I rot in this worldly life ? How should I escape the miseries of life ? In the fifth stage he is determined to renounce the worldly life and to become a monk. He has by now partially controlled his senses but is under pramada (negligences). In the sixth stage he has taken to the life of an ascetic by receiving initiation. His passions are controlled but negligences still remain. In the seventh stage the monk shakes off sluggishness and all negligences. In the eighth stage he has partially subdued the kashayas (anger, pride deceit and greed). In the ninth stage the kashayas still persit but in a much weakened state. In the tenth stage three of the kashayas viz. anger, pride and deceit completely disappear though greed remains in a slight degree. In the eleventh stage mohaniya karman remains quiescent and greed though still more reduced is not extinct yet. In the twelfth stage the mohaniya karman is exhausted, parts only of the three other ghati karmans remain and greed is completely vanquished. In the thirteenth stage all the ghati karmans are entirely destroyed and though the aghati karmans remain they are completely powerless to bind the soul. The monk is now a Kevalin (all-knowing and all-seeing) or arihanta vanquisher of enemies i.e. ghati karmans). He is omniscent and obtains 'eternal wisdom, illimitable insight, everlasting happiness and unbounded powers'. He is still active in the exercises of his body, mind and speech and becomes a Tirthankara, if he undertakes to spread the religion and if he founds the four tirthas (the institutions of the monks, nuns, shravakas and shravikas). In the fourteenth stage the aghati karmans are also destroyed and the exercise of his body, mind and speech are completely stopped. He attains moksha and becomes a Siddha. He ascends, as an effulgence, on the crest of the sila from which he will never return to the land of birth, decay and death.

Triratna.

The ascetic moving on the path of liberation and passing through different stages acquires Triratna (three jewels) to fulfil his mission. These ratnas or jewels are —samyak jnana (right knowledge), samyak darshana (right faith) and samyak charitra (right conduct). The Jains lay the greatest emphasis on these jewels which they consider as the sum and substance of their doctrines and tattvas. A knowledge of the Jaina dharma and Jaina shastra is what is signified by right knowledge. 'Wise men call that knowledge right kuowledge which one gets whether concisely or in detailed form, from the tattvas as they exist'. Without right knowledge it will not be possible to apprchened what dharma is and how to follow it. Samyakdarshana, the central jewel, is right faith. Unless a man has correct faith, he will negligently discard what he knows. 'To hold the truth as truth, and untruth as untruth, this is true faith'. In consists in having an implicit regard for the nine categories of truth

and a mental attitude to know the truth. Right conduct is the most important of the jewels and without it right knowledge and right faith are of questionable value. A scrupulous regard for the five great vows accompanied by a firm determination to follow the minutest rules and regulations laid down for a monk in the shastra constitutes right conduct. Closing the ashravas, practising self-control and guarding against false precepts are the keyword of right conduct. An unflinching devotion to the Pancha Parameshvara—sadhu, upadhyaya, acharya, arihanta and Siddha is right conduct. "Then all the jewels, set together and no longer separated, shall adorn a glorious diadem for the thorn-crowned Man of Sorrows".

Conclusion

An ascetic's constant endeavour is to purify his mind and not to annihilate it as a remedy against all externalities. He tries to purify his mind first by gaining a thorough knowledge of life and non-life and then by strictly adhering to a conduct fully consistent with the principle of non-injury to any life. He is always conscious of his duties and devotes himself to the words of Englightened. His whole dependence is on the shastras and he always acknowledges allegiance to his guru. He is prefectly disciplined and remains well guarded in mind, word and body and renounces all bodily comforts. He voluntarily subjects his body to various forms of tortures and troubles and practises austerities of the hardest type. Reversion to householder's life is considered eating back the vomitted contents and he can never think of it even. He always finds delight in monkhood and study, tries to grasp the fundamental truths of Jainism and reach perfection by exertion in righteousness. He equals the ocean in depth, is not frightened by anybody and does not assail or is not assailed by anybody. He never talks loosely, is not egoistic and has only one aim—to get rid of worldly ties by cultivating self-discipline. He takes particular delight in teaching fundamental tenets of Jainism to the lay people and establishing them on the path of religion and virtue.

Books mainly consulted :

1. Jaina Siddhanta Dipika.
2. Uttaradhyayana Sutra.
3. Dashavaikalika Sutra.
4. Heart of Jainism (By Mrs. Sinclair Stevenson).
5. Lord Mahavira (By Sri Puran Chand Samsukha).
6. Sacred Books of the East Vol. XLV.
7. Tattvarthadhigama Sutra.
8. Jiva O Ajiva.

The Enigma of the Universe

[Muni Shri Mahendra Kumar, B. Sc. Hons.]

Human mind is an ocean of inquisitiveness and curiosity. Every now and then the waves of questions spring forth in it. Man tries to find answers to them by his rational and intellectual power. He has succeeded to subside some of them, but there are certain problems which are still confronting him. The two powerful currents of Science and Philosophy, have always been active to satisfy his curious mind. Some of the most important and ancient questions are about the UNIVERSE. "What is the shape of the universe ?" "What is the size of the universe ?" "When did the universe begin ?" "When will it end ?," etc. are the questions which have puzzled the human mind from time immemorial.

Scientists and philosophers have tried to give the solutions to the above questions from the very beginning. Especially, this subject has been elaborately elucidated in the Jain Philosophy. We shall discuss in this essay the views of Modern Science and Jain Philosophy regarding the universe.

MODERN SCIENTISTS' VIEW

1. How Big is the Universe ?

Before the advent of 'the Theory of Relativity' of Dr. Albert Einstein, there were two views regarding the dimensions of the universe :

1. The universe itself is infinite.
2. The universe is an island of matter afloat in an infinite ocean of space.

1. The universe, most scientists agreed, had to be infinite because as soon as they conceded that space might come to an end somewhere, they were faced with the embarassing question, "And what lies beyond that ?" Thus they were forced to hold the view that the universe is infinite.

2, The second view is based on Newton's Law of Gravitation. Now, if we consider the universe as having uniform[1] distribution of matter and being infinite, the Law of Gravitation contradicts it. If this be so, then the total gravitational force of all the masses of matter stretching away to infinity would be infinite, and the Heavens would be ablaze with infinite light.[2] But actually it is not so, and hence, the view that it is like an island of matter in the midst of infinite ocean of space, held the field.

---

1. The Universe and Dr. Einstein p. 100
   Perhaps more or less uniform distribution is meant—Editor
2. Ibid p. 101
   This result may not follow owing to mutual neutralisation of forces.

3. But the island universe too presented difficulties. The amount of matter it held was so small by contrast with infinity of space that inevitably the dynamic laws, governing the movements of the galaxies would cause them to disperse like the droplets of a cloud and the Universe would become entirely empty.[1] Thus, the other view was also not free from difficulties. To remove some of these difficulties, lhe 'Theory of Relativity' of Einstein, entered the field of Science. To Einstein, the picture of dissolution and disappearance seemed eminently unsatisfactory. According to him, it is wrong to picture the Universe in the garb of Euclidean geometry. Light rays do not travel in straight lines, when passing through a gravitational field. This proves that laws of Euclidean geometry do not hold true in a gravitational field. Now, the path of light in a gravitational field is determined by the geometrical structure of the field. The Universe is filled with gravitating bodies like stars, planets, galaxies etc.

4. The geometrical structure of the Universe as a whole must be shaped by the sum total of its material contents. For each concentration of matter in the Universe there is a corresponding distortion of the space-time continuum. Each celestial body gives curvature to its surrounding space. The total effect of all the matter of the Universe is an over-all curvature of space-time continuum. The result is that the universe (space-time continuum) is so curved that it bends back on itself forming a closed cosmic curve. Thus the space (Universe) is finite. But as it is a closed curve, a ray of light will come to its starting place, after travelling round the universe. Thus the universe of Dr. Einstein is finite and non-Euclidean.[2]

The above description may become more simplified in the words of the famous scientists. As Prof. Sir A. S. Eddington writes, "I suppose that every one has at some time plagued his imagination with the question, "Is there an end to space ?"[3]. If space comes to end what is beyond the end ? On the other hand, the idea that there is no end, but space beyond space for ever, is inconceivable. And so the imagination is tossed to and fro in dilemma. Prior to the 'relativity theory', the orthodox view was that space is infinite. But as none can conceive the idea of an infinite space we had to be content to admit in the Physical world an inconceivable conception disquieting but not necessarily illogical. Einstein's theory now offers a way out of the dilemma. Is space infinite ; or does it come to an end ? The space is finite but it has no end, "finite but unbounded" is the usual phrase.

Prof. N. R. Sen, D. Sc., the famous worker ont he theory of relativity quoting the view of Prof. Einstein, writes, "Einstein himself asserts that the universe consisting of large and small masses hanging apparently in infinite space is not in fact infinite."[4]

The views given above have made clear the shape and finiteness of the universe. Like most of the concepts of modern science, Einstein's finite, spherical universe cannot be visualized-any more than a photon or electron can be visualized, But by mathematical calculations, it is possible to compute the size of the universe. Astronomer Edwin Hubble

1. Ibid p. 101
2. Ibid p. 103
3. The Nature of the Physical World, p. 80.
4. Dr. Sen's article on 'Relativity', Published in the Proceedings of the Physics Seminar, Allahabad University, July, 1925.

of Mt. Wilson Observatory, has found out the average amount of matter in unit volume of space. Then using Einstein's field equations, the radius of curvature of the universe comes out to be 35 billion light years or 2.1×10^{23} miles[1]. This means that a sunbeam setting out through space at the rate of 186,000 miles per second would return to its source after having a complete round of the universe after a little more than 200 billion terrestrial years.

After the above calculations of the radius of curvature of the universe by Einstein, it was again computed on the basis of the theory of expanding universe and was found to be 5 billion light years[2].

The Einstein's theory of universe is not the only one acceptable by scientists. A slightly changed model was given by the Dutch mathematician William De Sitter[3].

Still the question that the universe is finite or infinite, is not completely solved. Since the curvature of the space may be negative or positive, the universe may be infinite or finite. Mathematical solutions of the fundamental cosmological equation indicate that such a universe is open and infinite, instead of being closed and finite, while Hubble's calculations of the brightness of galaxies, indicate that the universe is a closed system, a small universe only a few billion light years in radius[4].

Is the Universe Steady or Expanding ?

A strange phenomenon which entered the realm of cosmology, has presented the scientists again with a conundrum. That was the phenomenon, observed by the high power telescopes. When the motion of the distant galaxies in the external parts of the universe was studied, it was found that the galaxies are moving away from each other i.e. the universe is expanding. Just as a balloon, when filled with air expands, the universe is also expanding in the same way. This 'Expanding' phenomenon has divided scientists into two groups.

The actual phenomenon observed is the shift of the red lines in the spectra of the distant galaxies. This happens due to what is generally known as the Doppler effect. The shift of the red line suggests that the galaxies are receding from one another and, therefore, the universe is expanding.

But all the scientists are not of the same view, as[5] the theory of expanding universe is not accepted by all astronomers. Some explain the spectral shift by the theory of relativity i.e. it is an effect of the curvature of space. Some explain it by the fact that light loses energy during its long course by leak of photons.

The doubtfulness of the theory of expanding universe can be seen from the words of the famous physicist Sir James Jeans.[6] "But there is room for a good deal of doubt as to whether these huge speeds are real or not. They have not been obtained by any direct process of measurement."

---

1. The Universe and Dr. Einstein p. 105.
2. Dr. George Gamow, in the Chapter of "Modern Cosmology" in The New Astronomy, (A Scientific American Book) p. 14
3. Dr. George Gamow, in the Chapter of 'Evolutionary Universe' in 'The Universe', (A Scientific American Book) p. 66
4. Ibid 71-72
5. The Book of Popular Science, Vol. 3, p. 987
6. Mysterious Universe pp. 57-58.

Further he writes, "The only reason for thinking that the distant nabulae are receding from us is that the light we receive from them appears redder than it ought normally to do. Yet other things than speed are capable of reddening light. For instance, sunlight is reddened by the mere weight of the sun. It is reddened still more by the pressure of the sun's atomsphere, as we see at sunrise or sunset. The light emitted by certain stars of a different kind is reddened in a mysterious way, we do not yet understand. Further more on De Sitter's theory of the universe, distance alone produces a reddening of light, so that even if the distant nabulae were standing still in space, their light would appear unduly red, and we should be tempted to infer that they were receding from us.

There is another explanation given by Dr. Zwicky of California institute. According to him when radiation passes a large mass, such as a nabulae or a star, not only it is deflected by the gravitational pull of the mass, but it also deflects the mass to a small extent as a result of which it loses energy. The loss in energy, according to the quantum theory, means a diminution in the frequency of light, and hence, it looks redder. Later, experiments on the light from a number of globular clusters were made by ten Bruggencate, which confirmed the Zwicky's theory. There are many more other evidences, which suggest that the recessions of nabulae may be spurious.[1]

Thus, we can conclude the discussion by saying that the modern science accepts the universe which is a four dimensional space-time continuum of curved space. Regarding the dimensions of space there are still two possibilities; either it is finite or infinite. Also, it may be expanding or non-expanding.

The Life of The Universe

The question, "How old is the universe ?" has also played an important role in cosmology. Here again, there are two possibilities, suggested by the scientists :

1. The Universe came in existence at a fixed time in the past and will come to an end at a certain time in the future.

2. The Univerce has infinite existence with respect to time.

The first view is based on the theory of 'expanding universe.'

If we trace the motion of galaxies backward in time, assuming that each galaxy always had the velocity it has now (which may not be true), then Hubble's result implies that 2,000 million years (this figure is known as Hubble's constant) ago all the galaxies were crowded on top at one another.[2] The observation made after the above *determination*, makes a change in the above number, which should be now 10,000 million years.[3] The explanation of the enigma of the expanding universe has been given by several theories. Those of Abbe Lemaitre, a Belgian cosmologist and Dr. George Gamow of George Washington university, accept the first view, viz. the universe came in existence at a fixed time in the past.

According to Abbe Lemaitre the universe originated from a single stupendous primeval atom which exploded and thus precipitated the expansion which we still perceive.[4]

1. Ibid p. 59
2. Unity of Universe by D. W. Sciema, 1959, 1069
3. Ibid p. 70
4. The Universe and Dr. Einstein p. 109

An analogous theory was made public recently by Dr. George Gamow. According to this theory, nearly 5 billion years ago the universe was an inferno of homogenous primordial vapour (radiation) seething at unimaginable temperatures, such as no longer exist even in the interiors of stars (of the order of 15 billion degrees absolute). There were no elements, no molecules, no atoms, nothing ; but free neutrons in a state of chaotic agitation. The temperature began to fall, when the cosmic mass began to expand. At the age of five minutes its mean temperature fell down to one billion degrees absolute. At this time, the neutrons condensed into aggregates, electrons were emitted which attached themselves to nuclei, and atoms were formed. All the elements were thus created within the space of a few critical moments in the cosmic dawn, and are playing their parts since 5 billion years, in the expanding universe.[1]

The above views show that the universe had a beginning and now it is about 5 billion years old. The second Law of Thermodynamics is responsible for a theory which suggested that the universe will come to an end. The above law states that the fundamental processes of nature are irreversible. "The amount of matter in the universe is perpetually changing ; the change appears to be all in one direction towards dissolution. All the phenomena of nature indicate that the substance and energy of the universe are inexorably diffusing like vapour through the insatiable void, everywhere in the cosmos heat is turning to cold, matter is dissolving into radiation, and energy is being dissipated into empty space. The universe is thus progressing towards an ultimate "Heat-death" or it is technicallydefined as a condition of "maximum entropy". When the universe reaches this state some billions of years from now, all the processes of nature will cease. There will be no light, no life, no warmth, nothing but perpetual and irrevocable stagnation, time itself will come to an end.[2]

Thus the above theory suggests an end to the universe. Then[3], "the unescapable inference, is that everything had a beginning. Somehow and some time the cosmic processes were started, the stellar light ignited and the whole vast pageant of the universe brought into being". The theories of Dr. Gamow and Abbe Lemaitre already discussed, suggest a definite time of creation. Also there are other clues which give the same suggestion. The redioactive property of uranium serves as a clock. The estimations of the age of radioactive elements tell us that they came in existence five billion years ago.[4] This was the number 2 billion years ago, but it was found incorrect. The transmutation of matter into radiation enables astronomers to compute the duration of stellar life, and the figure they reach is two billion years on the average, which was in agreement with the earths age found by geophysicists.... But, now it is not in agreement with it, yet, the values of universe's age found by geophysicists and Gamow are in good agreeement. But the value of Hubble's constant, recently determined, gives the value as 100 billion years[5], which is much greater than the values of Gamow and geophysicists. Thus there is no difinite time of beginning yet determined.

1. The New Astronomy p. 18 and the Universe and Dr. Einstein p. 108.
2. The Universe and Dr. Einstein pp. 110, 111, 114
3. Ibid p. 114.
4. The Universe (Scientific American Book) p. 68
5. Unity of Universe p. 70

Now, let us see the theories, which suggest the eternity of the universe. There are five different theories:

1. The Self-pulsating Universe.
2. Cyclic Universe.
3. Hyperbolic Universe.
4. The Steady-State Universe.
5. Einstein's Universe.

The theories of 'self-pulsating universe' and 'hyperbolic universe' are based on the theory of expanding universe. The mathematical solution of the Einstein's equation by Friedmann, permits two kinds of universe.[1] "We can call one the pulsating universe. This model says that when the universe has reached a certain maximum permissible expansion, it will begin to contract, that it will shrink until its matter has been compressed to a certain maximum density, that it will then begin to expand again and so on through the cycle infinitum. The other model is hyperbolic one. It suggests that from an infinitely thin state an eternity ago, the universe contracted until it reached the maximum density, from which it rebounded to an unlimited expansion which will go on indefinitely in the future."

There are evidences on both the sides, and hence it is not yet decided whether it is pulsating or hyperbolic.[2]

Another independent explanation of the theory of self-pulsating universe is found in cyclic-universe, which is based on Einstein's principle of equivalance of mass and energy. In the light of Einstein's principle of equivalance of mass and energy "it is possible to imagine the diffused radiation in space congealing once more into particles of matter-electrons, atoms, and molecules,—which may then combine to form larger units, wnich in turn may be collected by their own gravitational influence into diffused nabulae, stars, and ultimately, galactic systems. And thus the life-cycle of the universe may be repeated for an eternity."[3]

There is a good deal of possibility of the above thory of cyclic universe, according to which the universe is a self-perpetuating pulsating universe, renewing its cycles of formation and dissolution, light and darkness, order and disorder, heat and cold, expansion and contraction through never ending eons of time.[4]

The famous physicist, Sir James Jeans writing about this 'cyclic universe' says, "That this Law (second Law of Thermodynamics) may fail under astronomical conditions of which we have no knowledge, is certainly conceivable.... There is of course no denying that the concept of a cyclic universe is far and the more popular of the two."[5]

In fact the Gamow's theory is accepting the model of hyperbolic universe, and thus the ultimate beginning and end of universe are pushed back to infinity. In the words of Dr. George Gamow, "Thus we conclude that our universe has existed for an eternity of time, that until about five billion years ago, it was collapsing uniformally from a state of

1. The Universe p. 68
2. See Ibid pp. 70-76
3. The Universe and Dr. Einstein pp. 111-112 and also see Mysterious Universe pp. 132-133
4. The Universe and Dr. Einsten p. 113.
5. Mysterious Universe p. 133.

infinite rarefaction; that five billion years ago it arrived at a state of maximum compression in which the density of all its matter may have been as great as that of the particles packed in the nucleus of an atom ... , and that the universe is now on the rebound, dispersing irreversibly towards a state of infinite rarefaction." [1]

Lincoln Barnett, concluding his chapter on the origin of the universe, also conveys the same idea of eternity of universe.[2]

A group of scientists, the chief spokesmen of which, being Fred Hoyle, Hermann Bondi and Thomas Gold, proposed the theory of 'Steady-State Universe'.

The sponsor of the theory, Fred Hoyle writes, "The question arises—if the galaxies are moving apart from each other, why does space not become more and more empty ? The answer of the theory is that new galaxies and clusters of galaxies are constantly being formed, their rate of formation just compensating for the separating effect of the expansion. So a stable situation is preserved." [3]

Thus, according to this theory, the large-scale features of the universe do not change with time. Only the galaxies and clusters of galaxies change. This theory as a consequence, leads to many startling conclusions :[4]

1. That the universe had no beginning and will have no end.
2. That space as well as time is infinite.
3. That matter is continually being created, throughout space.

There are evidences, found in the support of this theory.[5] Also certain observations have been found to be contradictory to this theory. Dr. George Gamow has considered the theory very questionable, and raised objections against it. While, on the other hand, the holders of the steady-state theory find many evidences against the evolutionary theory of Dr. George Gamow. Thus, at present, there is no single theory universally accepted.

If the theory of the expanding universe is not accepted, i.e. by simply taking the model of the universe as given by Einstein, then also the time factor comes out to be infinite making the universe beginningless and endless.

With regard to the infinity of time, Richard Hughes in his article on "Physics, Astronomy and Mathematics" says : "It follows from this that the time-dimension cannot come round full circle as we imagine space to do. By going far enough into the future we shall never reach the past. And yet it is not necessary to imagine that time either had a beginning or must have an end." [6]

The views of Einstein as quoted by Dr. N. R. Sen. D. Sc., are "................. our universe is infinite in the dimension of time running from the infinite past into the infinite future.................... " [7] Prof. A. S. Eddington expresses the infinity of time, as "The world is closed in its space dimensions like a sphere, but it is open at both ends in the time

1. The New Astronomy p. 23.
2. The Universe and Dr. Einstein p. 115
3. The Chapter on the 'Steady-State Universe' in 'The Universe' p. 77.
4. Ibid p. 77
5. Ibid pp. 85-86
6. Cosmology Old and New by G. R. Jain p. 229.
7. Or son's article on 'Relativity' published in the proceedings of the Physics Seminar, Allahabad University, July, 1925.

dimension. There is a bending round by which East ultimately becomes West, but no bending by which Before ultimately becomes After." [1]

Concluding the discussion on the life of the universe, we can say, that most of the theories, so far put forth by various scientists suggest that the universe has infinite existence with respect to time. The theories which believe that the universe came into existence at a certain fixed time (which is also different in different theories), and will ultimately come to an end, have found little support by the modern cosmologists.

Finally, as regards the fiiniteness of time and space the uncertainties become clear in the words of Prof. Henry Margenau. [2]

Jain Phiosophical View : Its Antiquity.

In the Jain philosophy, very elaborate, characteristic, and systematic exposition of the theory of the universe is to be found. The historical knowledge about Jainism has by now progressed a great deal. Some scholars have considered it older than Hinduism or Buddhism. [3]

In the field of history, the fact that Jainism has a pre-historic origin is admitted by most of the scholars. Also, the recent excavations made at Mohenjo-Dero and Harappa, have shown some indications about the existence of Jainism. [4] Thus the historical date of Jainism may extend to 3,000 B. C. Even if Jainism is connected with Lord Mahavira, (596-526 B. C.) its establishment goes back to the 6th century B. C. Thus, its antiquity is historically well established.

The discussion of the present subject, given here is based on the original Jain scriptures called Agamas, and also on the books, having Agamas as their basis, but written later on by Jain Acharyas.

The Definition of the Universe

Lord Mahavira, when asked by his disciple Gautama "What is Loka (i. e. universe.) ?" [5] replied, "The Loka is that which has six real entities, viz.

1. धर्मास्तिकाय—The medium of motion.
2. अधर्मास्तिकाय—The medium of rest.
3. आकाशास्तिकाय—Space-substance.
4. काल—Time.
5. पुद्गलास्तिकाय—Matter (including material energy.)
6. जीवास्तिकाय—Soul, a substance possessing consciousness."

The above mentioned third substance, which is called Akashastikaya or Akash, is defined as[6] the substance, which acts as a container of other substances. It may be called as 'space', because the term 'space' also means the same thing. Almost all philosophies and also science accept space as a real entity. In Jain philosophy, the space substance is believed to be infinte i. e. boundless. It is composed of infinite number of pradeshas (Pradesh is the

1. The Nature of the Physical World p. 83.
2. The Nature of the Physical Reality p. 163.
3. A History of Philosophical System. p. 6.
4. Voice of Ahimsa, Vol. 7, Nos. 3 & 4.
5. Jain Siddhant Dipika by Acharya Shri Tulsi, Prakash 1, Sutra 8; Bhagwati Sutra, 2-10-53; Uttaradhyayan Sutra, 28-7.
6. Ibid Prakash 1, Sutra 6.

imaginary indivisible part of any substance) or space-points. Thus, the space is a substance, which pervades everywhere, i. e. ubiquitious. This space substance is divided into two parts, on account of the existence of other five substances : (i) That portion of space which is inhabited by other substances, is called 'Loka' or लोक-आकाश i. e. universe or universal space, (ii) The rest of the space, which is empty, containing no other substance is called 'Aloka' or अलोक-आकाश i.e. non-universe or non-universal space.

Thus, the universe is finite and is surrounded in all directions by non-universal space, which is boundless. The shape of the Aloka was explained by Lord Mahavira to his disciple Gautama, by the illustration of an infinitely big sphere which is hollow from inside.[1]

This conveys the same idea that the universe is like an island of five substances (धर्मास्तिकाय etc.), afloat in the infinite ocean of space. But it should be noted here that the space, universal and non-universal is a single entity. The existence of non-universal space can also be proved logically.[2]

The substances धर्मास्तिकाय and अधर्मास्तिकाय, which are the media of motion and rest respectively can be called as positive ether and negative ether. They play an important role in the concept of the universe. Both the ethers धर्मास्तिकाय and अधर्मास्तिकाय are assumed to be pervading only the universal space (Loka) and not the non-universal space (Aloka). They are believed to be non-material and invisible. Each of them is one single entity i. e. they are non-atomic and non-discrete in structure. The space is also assumed to be non-material and invisible. But whereas, the existence of space is universally accepted, that of the ethers have been proved logically.[3] Two logical proofs are given in Jain Agamas. It has been proved that a substance is required, which should be (i) pervading the whole universe, (ii) itself immobile, and (iii) capable of assisting the motion of other objects. This is nothing but ether. If, ether is not accepted, and space is assumed to posses the attribute of assisting motion of other objects, a great difficulty will arise. Because, if the space itself acts like ether, it being infinite and indivisible, cannot check the motion of the dynamic bodies. Thus infinite number of souls, as well as material objects, would continue to roam about in the infinite space without any control. If this was so, their association and appearance as an organised finite inhabited universe would be exremely improbable, if not altogether impossible. The fact that the structure of the universe is permanent, that the universe is a cosmos and not a chaos implies the existence of another principle which guarantees the permanency of the universe's structure. We have to conclude, therefore, that it is not the space that determines the boundries of motion, but the ethers.

Thus, the concept of the universe in Jain philosophy can be stated as — the six substances, viz. positive and negative ethers, space, time, matter and soul form a finite universe, beyond which there is an infinite ocean of pure mathematical space, where no particle of matter (or energy) and soul can travel or stay, on account of the absence of ethers.

Four-point Theory

The theory of the universe (Loka) has been explained from four points of view. Lord

1. Bhagwati Sutra, Shatak, 11, Udd. 10.
   Also see Loka Prakash : 2-26.
2. For this, see Jain Siddhant Dipika (English annotation by J.S. Zaveri), 1-45 in 'Jain Bharti', Vol. VIII, No. 9, 28th Feb,, 1960, p 139.
3. Ibid. p. 139.

Mahavira, answering a question, 'from how many points of view the universe is explained,' to his disciple Gautama, states that[1]

There are four points of view to explain the universe :

1. Universe from substance point of view.
2. Universe from space point of view.
3. Universe from time point of view.
4. Universe from modes point of view.

The first we have already discusseed. The seoncd and third we shall discuss at length. The fourth means that each of the substances (positive ether, etc.) possesses infinite number of attributes and modes. In this postulate, the nature of reality is explained by the doctrine of 'persistence through modes'. which states that all realities are possessed of dual properties, one transitory and the other eternal. Due to the first, all things are in a state of flux i. e. they undergo transformations constantly, they cease to be and they become ; while due to the second property, they do not lose their existence throughout the transformations—the substance persists through modes. Although the detailed discussions of the doctrine cannot be made here, it would be enough to note here that it can be much useful to slove the problem of eternity of the universe.

Universe : Size and Shape

The universal space (लोक-आकाश) has a definite shape and size. The question of Gautam was, "What is the shape of the universe ?"[2] In reply to this, Lord Mahavira asserted, "The Universe has a definite shape, called 'Supratisthik'. It means that it is broader at the lower end while the upper portion is like a standing Mridang (i. e. a kind of tabor)", It can also be described thus, "Three Pyramids with rectangular base but with the tops chhoped off are put one above another, smaller faces of the lowest and middle, and the bigger faces of the middle and top touching together." [3] The same thing has been described by an illustration of a man. The shape of the universe is like an old man who is standing with his feet apart, putting his two hands on his waist.[4] In the Digamber tradition, the description is made thus : The universe is divided into the upper, middle and lower universes. The lower universe has the shape of 'Vetrasan' (i. e. Trapezian Pyramid), the middle universe has the shape of the upper part of a standing 'Mridang', and the upper universe has the shape of the standing 'Mridang'."[5]

Thus we can see that the shape of the universe is anthropomorphous. The shape would become more clear when we shall discuss the size in detail. The detailed structure of the universe is found in both Shvetamber and Digamber traditions, but they slightly differ from each other.

The description in the Digamber tradion is thus—

The height of the universe is 14 Rajjus (a Rajju is a linear astrophysical measure).

The breadth of the universe is 7 Rajjus throughout.

---

1. Bhagwati Sutra, Shatak 11, Udd. 10. Also see Lok-Prakash, 2 - 2.
2. Ibid 13-4-34, 7-1-4.
3. Jain Siddhant Dipika, English Annotation by J. S. Zaveri 1 : 6—10 in Jain Bharati, Vol. VIII, No. 10, 6th Mar., 1960.
4. Loka-Prakash 12-3, 4.
5. Tiloya Pannatti 1 : 137—138.

The length of the universe varies from point to point. Let us divide the whole universe into two parts, each of the same height (7 Rajjus). Then, the lower universe is of 7 Rajjus in height. The lower end of the lower universe is 7 Rajjus in length, while the upper end of the lower universe is 1 Rajju in length. Thus the lower universe forms a 'trapezian pyramid', whose height is 7 Rajjus, breadth is 7 Rajjus throughout, while the lower base is 7 Rajjus in length and the upper base is 1 Rajju in length. The area of the trapezium formed by the two parallel sides of 7 Rajjus and 1 Rajju and height 7 Rajjus is $= \frac{1}{2}(7+1) \times 7$ which is 28 sq. Rajjus. This multiplied by breadth, 7 Rajjus, gives the volume of the lower universe, which comes out to be *196* cubic Rajjus.

The upper universe is also 7 Rajjus in height and 7 Rajjus in breadth. The lower end and the upper end are 1 Rajju in length, while in middle it is 5 Rajjus in length. Thus the shape of the upper universe is a hexagonal pyramid. Thus the area of the hexagonal base will be $2\{\frac{1}{2}(5+1) \times \frac{7}{2}\}$ which is 21 sq. Rajjus. This multiplied by the breadth will give the volume which is thus 147 cubic Rajjus.

Thus the total volume of the universe is $196 + 147 = 343$ cubic Rajjus.[1]

The Shvetamber tradition describes the universe in a slightly different way. The height of the universe is 14 Rajjus, as before. The length and the breadth vary from point to point but are the same at the same height. These are given in terms of Khanduk which is the quarter of a Rajju. At the lower end the universe is 28 Khanduk in length and breadth. Then, as the height increases, the length and breadth change.[2] In the following table, the lengths and the breadths of the universe at the particular heights in terms of Khanduks are given.

The height from the lower end (in terms of Khanduk)	The length and the breadth (in terms of Khanduk)
0— 4	28
4— 8	26
8—12	24
12—16	20
16—20	16
20—24	10
24—28	4
28—30	4
30—32	6
32—33	8
33—34	10
34—36	12
36—38	16
38—40	20
40—42	20
42—44	16
44—46	12
46—48	10

1. Based on Ibid 1 : 140—200.
2. Based on Loka Prakash 12 : 8—111.

The height from the lower end (in terms of Khanduk)	The length and the breadth (in terms of Khanduk)
48 - 49	10
49 - 52	8
52 - 54	6
54 - 56	4

From the above table, it becomes clear that the universe is formed of 56 rectangular parallelopipeds, each having the same height of 1 Khanduk (¼ Rajju), and varying lengths and breadths. The sum of the volumes of all these parallellopipeds, gives the total volume of the universe which comes out to be 239 cubic Rajjus. There is an ambiguity regarding the third dimension, viz. breadth at various places. As later on, the volume of the universe is shown to be 343 cubic Rajjus[1]. This is calculated by breaking the universe into some parts and rejoining them so as to form a cube of length 7 Rajjus approximately.

Computation of a Rajju

A Rajju is a linear astrophysical measure said to be consisting of innumerable yojans. Several efforts have been made by authors to compute the volume of Rajju in some definite form.[2]

According to Colebrooke a Rajju is the distance which a Deva flies in six months at the rate of 20,57,152 yojans, in one 'Kshana' i.e. instant of time.[3] Mr. G. R. Jain has calculated the value of Rajju from this definiton, by taking, "Kshana" as "प्रतिविपलांश" which is equal to $\frac{1}{54,00,00}$ minute. This does not seem to be correct, as he himself accepts that Kshana is said to be an infinitesimal fraction of time. In fact a Kshana should be identical with a 'समय', which is the unit of time. To calculate the number of Samyas in six months, we can use the expression that[4] the number of samyas in 1 आवलिका is the same as the number 'Jagnya-Yukta असंख्यात'. This number is defined as "Jagnyaparita-असंख्यात raised to itself." The exact value of the number 'Jagnyaparita-asankhyat' may be found from its definition.[5] But as it is too difficult to compute its value from that, we may[6] assume the number शीर्षप्रहेलिका to be the maximum संख्यात number.[7] Then because

1. Ibid 12: 116-142
2. Cosmology Old and New, p. 116
3. Der Jainismus by Von Glassenapp, 118
4. Lok Prakash 1 : 169, 170
5. Also Anuyogadvara Sutra : The topic of 'Asankhyasankhyayak'.
   Ibid : Topic of 'Canana Sankhya',
   Lok Prakash 1 : 128—161
6. Although this assumption is not true, because the actual value of maximum संख्यात is much greater than 'शीर्षप्रहेलिका', we can find the lower limit of a Rajju by doing so.
7. Ibid 29 : 11—Anuyogdvara Sutra : Topic of 'Kalasamavatar'.

'minimum-parita-असंख्यात is just greater than this by only one, we may assume minimum-yukta असंख्यात to be equal to शीर्षप्रहेलिका. This is found to be different in two traditions of the श्वेताम्बर sect. One tradition, based on the 'Council of मथुरा', believes it to be : $(84,00,000)^{28}$ which is equal to 758263253073010241157973569973696406218966848080183-296×10^{140} or writing it approximately, it will be $= 7.58 \times 10^{193}$.

Another tradition, based on the 'Council of Vallabhipur' believes it to be : $(84,00,000)^{36}$ which is equal to 187955179550112595419009699813430770797465494261977747657257345718 6816x10^{180}, which if written approximately becomes 1.87×10^{240}. We calculate the value of Rajju, by taking the number as given by the first tradition. Then the number of Samyas in 1 Avalika will be $= (7.58 \times 10^{193})\ (7.58 \times 10^{193})$. Using the table of units of time, we find that

1 Muhurta (48 Minutes) = 1,67,77,216 Avalikas

6 months = 5,400 Muhurts.

Then a Rajju, which is the distance travelled in six months at the speed of 20,57,152 yojans per samaya, will be

$= 5{,}400 \times 1{,}67{,}77{,}216 \times (7.58 \times 10^{193})\ (7.58 \times 10^{193}) \times 20{,}57{,}152$ yojans. The approximate calculations of the above multiplication is

$= 1.86 \times 10(1.47 \times 10^{196}) + 17$ yojans.

Now 1 yojan = 8,000 miles

$\therefore$ 1 Rajju $= 14.88 \times 10\ (1.47 \times 10^{196}) + 20$ miles—(1-A)

or, in terms of light-years, since,

1 light-year $= 5.88 \times 10^{12}$ miles

1 Rajju $= 291 \times 10\ (1.47 \times 10^{196}) + 8$ light-years—(1-B).

Then, the volume of the universe if taken 343 cubic Rajjus, will be

$= 11.35 \times 10(4.41 \times 10^{196}) + 65$ cubic miles if the first value (1-A) is taken.

In the terms of cubic light-years, the volume will be

$= 8.45 \times 10(4.41 \times 10^{196}) + 27$ cubic light-years according to (1-B). Similarly the values of volume can be calculated by taking the volume as 239 cubic Rajjus.

Thus, from the above discussion, we can conclude that according to the Jain philosophy the universe has a difinite shape which is called, "सुप्रतिष्ठक" and a definite volume of the order of $10^{10^{196}}$ cubic miles.

Universe From Time-point of View

The universe is believed to be eternal in Jain philosophy. At various places in Agmas[1] we find this view expressed in different wordings. The universe as a whole is the collection of the six types of substance, of which the first three are infinite in number. All of these substances i.e. the whole universe is 'eternal in existence'. That is to say that the universe existed in the inflnite past, exists in the present and shall exist in the future.[2] In other words it was never created nor will be destroyed. It is beginningless and endless with respect to time. Where, in the philosophical world there is a view that the universe was created by God, the Jain philosophy has always refuted it.

1. Bhagwati Sutra : 25-5-5. Also see Ibid 12-7-2.
2. Loka Prakash 2-3.

The Jain philosophy advocates 'non-absolutism' regarding any view. It always avoids the absolute point of view. Therefore, the universe which is eternal with respect to its existence, always undergoes a series of infinite changes, and thus it can be 'non-eternal'. As we have already seen, the doctrine of 'persistence through modes' asserts that every substance persists through modes. In other words, all things living and non-living are characterised by the trio of continuous existence through creation and cessation. Since the universe is nothing but the collection of substances, the above principle hold true in the case of universe also. If there was no persistence of existence through transformations, we would not experience continuity—"This is that". On the other hand, if there was no transformation but absolute eternalism, we would not experience the ever changing pattern of the universe. While the absolutists find self-contradiction in asserting both staticity and change in the same reality with reference to identical space and time, the non-absolutist Jains maintain that one need not be *afraid* of accepting this as a truth—as the very nature of things—since our common exprience gives this as a fact.

The substance called " पुद्गलास्तिकाय " which is synonymous to the modern 'matter' (including material energy), forms the whole of the visible universe. The reste of the five substances are invisible. Therefore, the changes of the universe are percieved through the changes of the substance " पुद्गलास्तिकाय ". The number of this substance is infinite. This includes all the matter of universe, from परमाणु (the indivisible part of matter) to the celetial bodies such as the sun, the moon, the planets, etc. Now, according to the doctrine of 'persistence through modes', all these are the modes of the substance 'matter'. The 'परमाणुs' are the material cause of all the material bodies. They go on reacting with each other, creating and destroying the physical world.

The above phenomenon of nature can become more clear by the following illustration of a building. The owner of a building and his successors, go on replacing a damaged part of the building. In future a day will come when the original building would have been replaced wholly by new parts: but for the people, it is the same building, which was built hundreds of years ago. Also, the chain of heredity is not endless and the human energy is limited, otherwise this building would become a permanent entity of the physical universe. Similarly, in the physical entities, the atoms are added and reduced according to the natural laws, while the substantial bodies remain permanent. Thus, it becomes clear how the universe remains eternal, inspite of the infinite transformations.

The above discussion is related to the whole universe. Now pertaining to a certain portion of the universe, there is a theory of 'ascending and descending' cycle of time. It is believed that in the middle part of the universe, which is called 'Triyaglok', there are certain areas (including our earth) where along with the time, the processes of nature gradually undergo evoulution during the first half of the time-cycle, called as 'Utsarpani' (ascending), and degeneration during the other half, called as 'Avasarpani' (descending). In other words, during the utsarpani half-cycle, there is gradual winding up of the universe at a slow rate, until a state of the highest organisation is reached. After this there is again unwinding up of the universe, during which the universe runs down until a state of the highest dissolution is reached. Thus, the cycle is repeated again and again for eternity.

The period of one whole cycle is stated to be ($20x10^{14}$) अद्धा सागरोपमs.

One ' अद्धा सागरोपम ' consists of innumerable number of years. The number 7.58×10^{193} is the maximum numerical number. The exact computation of Addha Sagaropam is not possible. However, according to Mr. G. R. Jain,[1] each of the Utsarpanis and Avasarpanis consists of 4.13×10^{77} years.

Each of the half-cycle is again divided into six आराs (eons).

The period of each Ara in the Avasarpani half cycle is as follows :

1. The first Ara	4×10^{14}	Add. Sagaropams	
2. The second Ara	3×10^{14}	,,	
3. The third Ara	2×10^{14}	,,	
4. The fourth Ara	1×10^{14}	,,	minus 42,000 years.
5. The fifth Ara	21,000 years.		
6. The sixth Ara	21,000 years.		

In the Utsarpani half-cycle the order is exactly the otherwise. The present time is the fifth आरा of Avasarpani half-cycle. It has started nearly 2,500 years ago. After 18,500 years, the fifth Ara of the present half-cycle will be completed. Then the last आरा will begin during which the degeneration will reach its highest peak within 21,000 years. The predictions of the future degeneration are found in detail in Jain Scriptures.[2] Here it should again be noted that this time-cycle does not affect the other places of the universe as ours.

To sum up the discussion, we can say that the universe according to Jain phil.sophy is beginningless and endless, that series of infinite transformations (creation and ce: ation) take place in it, that a certain portion of the universe, though eternal, experiences the alternate cycles of evolution and dissolution along with the time.

Comparision and Contrast

Having discussed the various theories of science and the ancient theory of Jain philosophy, about the universe, we are now in a position to 'compare and contrast' them.

Taking first the Einstein's *cylindrical* universe, in which the space is so curved that it forms a closed and finite universe, the similarity becomes striking. Both (Einstein's universe and Jain's Loka) are finite. But whereas in Einstein's universe the space itself is finite, in the case of Jain's Loka, the space is infinite but the universe is finite. The principle of positive and negative ethers explains logically the finiteness of the universe. Another difference is that while in the Einstein's universe it is required to assume that space becomes curved, the Jain's theory does not require any such assumption. Regarding the steadiness of the universe, both of them are of the same view. Also the time-dimension in both extends to infinity, making the universe beginningless and endless.

The Einstein's universe, as already discussed before, cannot be easily visualised. Even scientists[3] consider it quite inconceivable to think that beyond a certain jumping-off boundary there is no space, and the mathematicians are not able to unmake there brain and visualize finite space. On the other hand, if the Jain's theory is accepted, it becomes quite

1. Cosmology Old and New p. 231
2. See Bhagwati Sutra, 7-6; and Jambudwipamapragyapti Sutra Kaladhikar
3. Exploring the Universe by H. Ward p. 16.

conceivable and logical to think that beyond the boundary of the universe, there is no medium of motion, and hence no particle of matter or energy can go beyond that. Also a ray of light would simply be reflected at the boundary.

In Einstein's universe, there is 'nothing' beyond the universe. The concept of 'empty space' is not accepted by it. But whereas regarding time, it is believed [1] that it is inconceivable that there was once a moment with no moment preceding it, how is it not inconceivable to think of a limit beyond which there is no space ?

The concept of 'Aloka' is also proved by the fact, that [2] "space could only be of literally infinite extent if it contained no matter at all." This means that in absence of matter, the space does not become curved but extends to infinity. This is exactly what happens in Aloka. Another fact, supporting the concept of Aloka, is "if we relied on appearances, we would call our universe infinite. To be sure, there would be space beyond it but that space would be inaccessible to us."[3] This exactly conveys the same idea that in absence of the media of motion the space beyond the universe is inaccessible to us.

Secondly, we take the case of expanding universe. The concept of the expanding universe, has become quite popular recently. The Jain's theory of universe, obviously rejects the process of expansion of space. The first arguement against it is that space cannot expand, firstly because it is immobile, and secondly because space itself is infinite i.e. there is no place where there is no space. The second argument against it is that even if we consider space to be finite, in what it will expand ? How can it expand in 'nothing' ? Besides these questions the already discussed scientific arguments against the theory of expanding universe also make the theory quite uncertain. We suggest that some other explanations of the red shift of the spectral lines should be tried to find.

The 'steady state-theory' of Fred Hoyle and others is also similar to the Jain's universe except the two assumptions it makes. The first is that the universe is expanding and the second is that new matter is being continually created in the universe. It is quite strange to note here that the theory has to assume the most illogical and incomprehensible idea of creation of 'new matter'. It is a well-known and well-established logical fact, that anything or any substance cannot be created out of 'nothing'. There must be something or some inscrutable stuff which is the 'eminent cause' of creation of anything or any substance.

The same fact is established by the principle of conservation of 'matter and energy', which is even today the fundamental base of the physical science. The same fact is again brought out by the principle of 'persistence through modes' which also states that a substance always persists, inspite of creation and cessation. Jain philosophy boldly denies the concept of creation of anything new from nothing.[4] Also, the 'steady-state theory' has to make such an incomprehensible assumption only because it has to explain the phenomenon of 'expansion of the universe', which itself is not at all a well-established and non-controversial theory. Thus, to explain one theory, which itself may not be true, the holders of the steady-state-theory have to conceive of another fanatical assumption. We can also say this in another

1. The Nature of Physical World by Prof. A. S. Eddington. p. 137.
2. From a lecture on 'The Expanding Universe', delivered at Science Congress Bombay, 1933 by Prof. A. C. Banerji, M. A. (cant.) M. Sc., F. R. A. S., I. E. S.
3. The Nature of Physical Reality, by Prof. Henry Margenau p. 164
4. Shri Bhikshu Nyaya Karnika by Acharya Shri Tulsi : 7—5

way that the theory of 'expanding universe' is such as it cannot be explained without making such an assumption which is just similar to the famous unreal imagination of 'horns on hare'. The holders of the theory make a funny argument that, "This suggestion (that new matter is being continually created) is, of course inconsistent with the conservation of matter, but since required creation rate turns out to be only about one Hydrogen-atom in a litre every million years, no observation is contradicted, but only an extreme extraplotation therefrom.[1] It should be noted here, that since the theory accepts the infinity of time, million years are just nothing in comparision to infinity. And therefore, in the past which extends to infinity (according to the steady-state-theory itself), infinite number of such Hydrogen-atoms must have been created. Also it considers space to be infinite and still expanding. It is also inconceivable that how an infinity can expand ? On the other hand, if the space is assumed to be finite, then the density of the space would become infinite, since the number of Hydrogen-atoms is infinite. In addition to this as we have already said before, the renowned scientist Dr. George Gamow, has given many other evidences against this theory. We suggest here if the theory of 'steady-state-universe', abandons the assumption of 'expanding universe' (by suggesting some other explanation of the phenomenon of red-shift of spectral lines), there is no necessity to assume the 'creation of new matter at all.' In that case, the theory will take a form, which would be not much dissimilar to the Jain's theory of universe.

The theory, which suggests the end of the universe after a certain time, has already been discussed. It is based on the 'second Law of Thermodynamics'. There are four things to be noted about it. The first is that it asserts that the matter and energy of the universe are inexorably diffusing like vapour through the insatiable void. This means that the 'matter and energy' can be destroyed. This is against the principle of conservation of matter and energy of science as well as that of "persistence-through-modes" of Jain philosophy. The interesting thing to note about this theory and the 'steady-state-theory' is that whereas this theory requires matter to be annihilated, the latter requires 'matter to be created' ; and thus both of them are contradictory to each other and also to the fundamental principle of physical science. It may be suggested here that if these two are combined together, there will be no need to postulate any creation or destruction of matter.

The second thing to be paid attention to is the suggestion of Sir James Jeans, already quoted as "that the second law of thermodynamics may fail under astronomical conditions of which we have no knowledge, is certainly conceivable". The scientists, who consider this as improbable may think over it again, firstly because the law gives rise to effects which are in accordance with the fundamental law of physical science, and secondly because in the field of science and even mathematics we have come across with the laws which do not hold under certain conditions (as for example, the laws of Euclidean geometry do not hold in the gravitational field).

The third thing to be noted about this theory is that it suggests an end of the universe and also of the time. The theories of 'cyclic-universe', 'self-pulsating universe, 'steady-state-universe, and 'evolutionary universe', are all of the view that the universe is eternal-beginningless and endless. Also the Jain's theory of the universe considers the existence of the

1. The Unity of the Universe, 1959, by Dr. D. W. Sciama p. 143

universe as eternal. Thus only the above theory is in contradiction with all other theories. This is the strongest weak point of the above theory.

The fourth thing which is remarkable about the above theory is the suggestion of some scientists about the 'reconstruction' of the universe. As we have already discussed the theory of cyclic-universe in detail, here it would be enough to remark that this suggestion is in accordance with the principle of conservation of matter.

There is a striking similarity between the theory of 'cyclic universe' based on the principle of equivalence of matter and energy, and the philosophical theory of 'ascending and descending' cycle of time. Both of them suggest more or less the same idea that the universe undergoes the cycles of alternate evolution and dissolution for an enternity of time. Also the theory of 'self-pulsating universe' which is given by the mathematical solution of the Einstein's equation by Friedmann, conveys the same idea, with the only difference that it speaks of alternate expansion and contraction while the theory of 'cyclic-universe' talks of evolution and dissolution.

The evolutionay theory of Dr. George Gamow, based on the model of hyperbolic universe is in agreement with the Jain's theory of the universe only in the point that both of them accept a beginninglesss and endless universe. The evolutionary theory, accepts only one contraction and expansion. Here the striking dissension between it and the Jain's theory of 'cyclic-universe', is that whereas the latter considers the present time to be the one, which is nearer to the end of the contracting (descending) period and predicts the ascending period to begin nearly 39,500 years from the present time, the former considers the present time to be the one, in which the expansion has just started nearly before 5 billion years. Another thing that can be suggested about the evolutionary theory of Dr. Gamow is that, if it can accept one cycle of contraction and expansion, and also the infinity of time, why cannot there be such infinite cycles ? The third thing to be noted about it is that the holders of the steady state-universe theory have given many evidences against the evolutionary theory and raised doubts against the possibility of it.

If in today's age of gigantic telescopes and fine spectrometers the enigma of the universe remains unsolved, how did the Jain seers, unperturbed by the absence of assistance from laboratories and observatories, study, discuss and soberly and boldly assert the finiteness of the universe, the infiniteness of time and space, the principle of positive and negative ethers, the exact size and shape of the universe, the principle of persistence through modes and the theory of cyclic-universe ? This question alone is sufficient incentive to the inquisitive to leave the tiny pond of knowledge by sensuous cognition and make him gaze eagerly towards the ocean of perfect knowledge by spiritual intutition.

——:0:——